☐ उपमिति-भव-प्रपंच कथा प्रथम खण्ड

☐ सम्पादक : महोपाध्याय विनयसागर

☐ प्रकाशक : देवेन्द्रराज मेहता
सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सज्जन नाथ मोदी, सुमेरसिंह बोथरा
मन्त्री, संयुक्तमन्त्री, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

एस० एम० बाफना
मैनेजिंग ट्रस्टी, सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
भायखला–बम्बई

☐ प्रकाशन : वर्ष १९८५

☐ मूल्य : ९०.०० नब्बे रुपया : दोनो खण्डो का १५०.०० एक सौ पचास रुपया

☐ मुद्रक : अजन्ता प्रिन्टर्स
घी वालों का रास्ता, जयपुर–३
पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर–२

☐ प्राप्ति स्थान :

१. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर (राज०)–३०२ ००३

२. सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल,
बापू बाजार, जयपुर (राज०)–३०२ ००३

३. सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
१८०, सेठ मोतीशा लेन,
भायखला–बम्बई–४०००२७

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती पुष्प ३१-३२ के रूप मे **उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के प्रथम हिन्दी अनुवाद** को राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, और सेठ मोतीशाह रिलीजियन्स एण्ड चेरीटेवल ट्रस्ट, भायखला-बम्बई द्वारा सयुक्त प्रकाशन के रूप मे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक हर्ष है।

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उद्भट विद्वान् श्री सिद्धर्षि गणि द्वारा लिखित संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ १०वी शताब्दी का है। रूपक के रूप में इतना वड़ा ग्रन्थ सम्भवत. पूर्व मे या पश्चात् काल मे नही लिखा गया। इसकी रचना शैली भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। धर्म जो सीमित दायरे से विस्तृत मानव-धर्म के स्तर का है, उसके विभिन्न पहलुओ को रूपक/उपमाओ के माध्यम से मनोवैज्ञानिक एव रुचिकर रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जो मूल लेखक के वहु आयामी व्यक्तित्व एवं अनुभवों के कारण ही सम्भव हुआ है।

सिद्धर्षि गणि प्रारम्भ मे गृहस्थ थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक विषयासक्ति का था। माता और पत्नी का उलाहना सुनकर, आक्रोश मे उन्होने घर छोड़ दिया। अपने समय के प्रमुख विद्वान् जैन श्रमण दुर्गस्वामी के प्रतिवोध से जैन श्रमण बने और धर्म तथा दर्शन का व्यापक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया। वाद में बुद्धधर्म की ओर आकर्षित हुए तथा वुद्ध श्रमण भी वन गये। पर, अपने मूल गुरु को दिये गये वचन के अनुसार वापस उनके पास आये और पुनः प्रतिवोध प्राप्त कर जैन श्रमण वने।

इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों को सघन रूप से जीने और त्यागने वाले सिद्धर्षि गणि जैसे सवेदनशील विद्वान् व्यक्ति ही ऐसे अद्भुत ग्रन्थ की रचना कर सकते थे। भारतीय दर्शन एवं जैन साहित्य के प्रमुख/मर्मज्ञ विद्वान् **डॉ० हर्मन जैकोबी** (जर्मन) को इस ग्रन्थ ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होने इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृत साहित्य का एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ वताया तथा मूल ग्रन्थ को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। वाद मे जर्मन भाषा मे इसका अनुवाद भी हुआ। ६० वर्ष पूर्व **श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया** द्वारा अनुदित **गुजराती**

अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। हिन्दी के प्रमुख विद्वान् **श्री नाथूराम प्रेमी** ने भी केवल प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी मे अनुवाद कर प्रकाशित किया। यह काम उनके देहावसान के कारण आगे नही बढ पाया।

पुस्तक के २ से ८ प्रस्तावो का अनुवाद **श्री लालचन्द जी जैन** ने किया तथा हमारे अनुरोध को स्वीकार कर जैन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् **महोपाध्याय श्री विनयसागर जी** ने प्रथम प्रस्ताव का अनुवाद, समग्र अनुवाद का मूलानुसारी अविकल सशोधन तथा सम्पादन का वृहद्भार भी वहन कर इस कार्य को सफलता के साथ सम्पन्न किया। प्रूफ सशोधन मे **श्री ओकारलाल जी मेनारिया** ने पूर्ण सहयोग दिया। एतदर्थ तीनो सस्थाये तीनो विद्वानो की आभारी है।

पुस्तक का मुद्रण कार्य अजन्ता प्रिण्टर्स एव पॉपुलर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा किया गया, जिसके लिये भी तीनो सस्थाये दोनों प्रेसो के सचालको की आभारी है।

आशीर्वचन प्रदान कर आचार्यप्रवर श्री **हस्तिमलजी** महाराज एव आचार्यप्रवर श्री **पद्मसागरसूरिजी** महाराज ने तथा सिद्धहस्त लेखक मुनिपुंगव श्री **देवेन्द्रमुनिजी** महाराज 'शास्त्री' ने विस्तृत भूमिका लिखकर हमे कृतार्थ किया है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तिमल जी महाराज के तो हम अत्यन्त ऋणी है कि जिनकी सतत् प्रेरणा से ही इसका हिन्दी अनुवाद सम्भव हो सका।

यदि विषय-प्रतिपादन, सैद्धान्तिक ऊहापोह आदि मे कही मान्यता अथवा परम्परा भेद आता हो तो उससे प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नही है।

हिन्दी भाषा-भाषी अतिविशाल समाज के कर-कमलो मे इस ग्रन्थ का सर्वाङ्ग पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। आशा है, पाठकगण इसके अध्ययन से आनन्द और ज्ञान दोनो प्राप्त करेंगे।

एस. एम. बाफना मैनेजिग ट्रस्टी	**देवेन्द्रराज मेहता** सचिव	**सज्जननाथ मोदी** **सुमेरसिह बोथरा** मन्त्री, सयुक्तमन्त्री
सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट भायखला—बम्बई	राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर	सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

सिद्धव्याख्यातुराख्यातु महिमान हि तस्य कः ?
समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमितिः कथा ।

मरुधरा/राजस्थान प्रदेश का यह परम सौभाग्य रहा है कि शताधिक ग्रन्थ प्रणेता श्राप्त टीकाकार उद्भट दार्शनिक याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि (६वी शती, चित्तौड़), कुवलयमाला कथाकार दाक्षिण्यचिह्नांक उद्योतनसूरि (६वी शती, जालौर), शिशुपालवध महाकाव्य के प्रणेता महाकवि माघ (भिन्नमाल), उपमिति-भव-प्रपंच कथाकार विद्वत् शिरोमणि सिद्धर्षि गरिण (१०वी शती, भिन्नमाल), सनत्कुमार-चक्रिचरित महाकाव्यकार जिनपालोपाध्याय (१३वी शती, पुष्कर), मुहम्मद तुगलक प्रतिवोधक विविधतीर्थकल्पादि ग्रन्थो के रचयिता जिनप्रभसूरि (१४वी शती, मोहिलवाडी), अष्टलक्षीग्रन्थकार महाकवि समयसुन्दर (17वी शती, साचोर), मस्तयोगी आनन्दघन (१७वी शती, मेड़ता), भक्तिमती परमयोगिनी मीरां (१७वीं शती, मेड़ता) आदि शताधिक साहित्यकारो की यह जन्मस्थली, क्रीड़ास्थली और कर्मस्थली रही है। आज भी इनकी यशोपताका/कीर्तिगाथा भारतीय गगन मे ही नही, अपितु दिग्-दिगन्त तक धवलता के साथ फहरा रही है, प्रसर रही है।

इन्ही विशिष्ट साहित्यकारों में सिद्धव्याख्याता सिद्धर्षि गरिण का नाम भी साहित्य जगत् मे अनामिका की तरह उट्टकित है और इनकी उपमिति-भव-प्रपंच कथा नामक कृति अमर कृति है। इनकी जीवन-गाथा के सम्वन्ध मे राजगच्छीय श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने सं १३३४ में रचित प्रभावकचरित में परम्परागत श्रुति के आधार पर 'सिद्धर्षि प्रवन्ध' मे आलेखन किया है। डॉ. हर्मन जैकोवी के मतानुसार सिद्धर्षि प्रबन्ध के अनुसार—ये माघ कवि के चचेरे भाई थे—का वर्णन इतिहास-सम्मत नही है।

अन्तः साक्ष्य के अनुसार निम्न घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सिद्धर्षि वौद्ध-दर्शन एवं वौद्ध श्रमण-चर्या के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होते हुए भी गुरु को प्रदत्त वचनानुसार जव गुरु दुर्गाचार्य के समीप आये, उस समय गुरु के यहाँ पर रखी हुई आचार्य हरिभद्रसूरि की चैत्यवन्दन सूत्र पर ललितविस्तरा टीका का उन्होने आद्यन्त अवलोकन किया, तो उनके नेत्र खुल गये और जैन दर्शन एवं जैन श्रमणचर्या

के प्रबल समर्थक बन गये तथा पुन. जैन श्रमणत्व स्वीकार किया। यही कारण है कि वे श्रद्धासिक्त हृदय से कहते है :—

आचार्यो हरिभद्रो मे धर्मवोधकरो गुरु ।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदित ॥ 1012

विष विनिर्धूय कुवासनामय, व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥ 1013

अनागत परिज्ञाय चैत्यवन्दनसश्रया ।
मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥ 1014

उपमिति-भव-प्रपच कथा-ग्रन्थकर्त्ता-प्रशस्ति

अर्थात् आचार्य हरिभद्रसूरि मेरे धर्मवोधकारक गुरु है। इस बात का मैंने प्रथम प्रस्ताव मे ही निवेदन/सकेत कर दिया है। १०१२।

श्री हरिभद्रसूरि ने कुवासना से व्याप्त विष का प्रक्षालन कर, मेरे लिये अचिन्तनीय वीर्य के प्रयोग से कृपापूर्वक सुवासना रूप अमृत का निर्माण किया ऐसे आचार्य श्री को नमस्कार हो। १०१३।

अनागत काल का परिज्ञान कर जिन्होने मेरे लिये ही चैत्यवन्दन से सम्बन्धित सूत्र पर ललितविस्तरा नामक वृत्ति की रचना की। १०१४।

सिद्धर्षि के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध मे श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ने ५८—५६ वर्ष पूर्व विस्तृत अध्ययन के रूप मे "श्री सिद्धर्षि" नामक ५०० पृष्ठो की पुस्तक लिखी थी, जो जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई थी। साथ ही प्रस्तुत पुस्तक मे भूमिका के रूप मे श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री ने विविध आयामो के आलोक मे लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर समीक्षात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला है। अत: लेखक के जीवन के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना पिष्टपेषण मात्र होगा।

श्री सिद्धर्षि ने इस रूपकात्मक कथा ग्रन्थ की रचना ज्येष्ठ शुक्ला ५ गुरुवार वि० स० ६६२ मे भिन्नमाल मे रहते हुए की थी। इसके अतिरिक्त लेखक की तीन कृतियाँ और प्राप्त है :—

१. श्रीचन्द्रकेवली चरित्र र० सं० ६७४.
२ उपदेशमाला बृहद्वृत्ति एवं लघुवृत्ति
३. न्यायावतार टीका

इन रचनाओ के आधार से स्पष्ट है कि लेखक का काल १०वी शती का है।

कुछ विशेषतायें

प्रथम प्रस्ताव में सिद्धर्षि ने स्वयं को जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह वस्तुत: अनुपमेय है। कथा के उपोद्घात में स्वयं सिद्धर्षि निष्पुण्यक नामक दीन-हीन महा-दु खी दरिद्री भिक्षुक के रूप में अवतरित होते है। भिखारी समस्त व्याधियो से ग्रस्त और उन्माद दशा से पीड़ित है तथा सकल्प-विकल्प के जालों से ग्रथित है। कदाचित् वह कुछ भव्यता प्राप्त करने पर सर्वज्ञ शासन के चतुर्विध सघ स्वरूप राज-मन्दिर में प्रवेश पाता है। तद्दया अर्थात् आचार्य भगवन्तों की कृपा प्राप्त कर, धर्मबोधकर अर्थात् सद्धर्माचार्यों का उपदेश/निर्देश प्राप्त कर, तद्दया के सान्निध्य में विमलालोक अंजन, तत्त्वप्रीतिकर जल और महाकल्याणक भोजन अर्थात् रत्नत्रयी का येन-केन प्रकारेण आसेवन/अनुष्ठान कर, पात्रता प्राप्त कर सपुण्यक बन जाता है। अर्थात् सर्वज्ञ शासनस्थ संघ का एक अंग बन जाता है। फिर वही सपुण्यक साधु/सद्धमाचार्य सिद्धर्षि के रूप मे स्वानुष्ठित रत्नत्रयी के प्रचार करने हेतु कथा के माध्यम से इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना करते हैं।

यह ग्रन्थ समग्र रूप से मनोवैज्ञानिक-धरा पर अवलंबित है। कथानायक जीव/आत्मा के साथ संसार में परिभ्रमण करते हुए जितनी भी घटनायें घटित होती हैं, वर्णित की गई है, वे सब यथार्थ हैं, कपोल कल्पित नही। ग्रन्थ मे वर्णित प्रत्येक घटनायें आज भी क्रोधादि कषायों और पांचो इन्द्रियो के विकारो से मोहाविष्ट मानव के जीवन से सम्पृक्त हैं। उसके जीवन से एक भी अछूती नही है। आज भी मानव इन घटनाचक्रो का येन-केन प्रकारेण स्वयं अनुभव भी करता है। दूसरों के जीवन में घटित होता देखता भी है और सुनता भी है। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने कथा का अवलंबन/माध्यम लेकर अनुभूतिपरक, दृष्ट एव श्रुत घटनाओ का सजीव चित्रण किया है। सिद्धर्षि स्वयं कहते हैं :—

> इह हि जीवमपेक्ष्य मया निज
> मदिदमुक्तमद सकले जने।
> लगति सम्भवमात्रतया त्वहो,
> गदितमात्मनि चारु विचार्यताम्।

(प्रथम खण्ड पृ. १३६)

अर्थात् मैंने मेरे जीव की अपेक्षा (माध्यम) से यहाँ जो कुछ कहा है वह प्राय: कर सब जीवों के साथ भी घटित होता है। जिन उपर्युक्त घटनाओ का वर्णन किया गया है, वे घटनाये आपके साथ घटित होती है या नही? इस पर आप अच्छी तरह विचार करें।

इस ग्रन्थ मे एक महत्व की बात का स्थल-स्थल पर विशेष रूप से लेखक ने वर्णन किया है, जो प्रत्येक मानव के लिये मननीय, अनुकरणीय और आचरणीय है। वह वर्णन है :—

कथानायक जीव मोहप्लावित होकर, अकरणीय, अशोभनीय, लज्जनीय, जघन्यतम कुकृत्य/दुष्कर्म पापो का आचरण करता है, जनसमूह को त्रस्त एव पीड़ित करता है। उस समय जब सद्धर्माचार्यो से पूछा जाता है—'भगवन् ! यह अधमाचरण क्यों करता है ?' प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य भगवान् या केवली कहते है '— 'इसमे इसका/आत्मा का कोई दोष नही है। यह तो पूर्णरूपेण निर्दोष है, निर्मलतम है, पवित्र है। यह तो मोहराज का जाल है। मोहराज के सेनानियो—क्रोधादि चार कषायो, पाचो इन्द्रियो के विकारों—तथा भवितव्यता के जाल मे फसा हुआ प्राणी है। इनसे जकडा हुआ है और आक्रान्त है। ये दुर्गुण ही इसको अग्रसर बनाकर, इसके परम हितैषी बनकर, इसके माध्यम से अपने अधमाधम कार्यों की सिद्धि करते है और प्राणी को भवचक्र मे परिभ्रमण कराते है। वस्तुत: इन कार्यों मे इसका कोई दोष नही है।' अन्त मे उपसहार मे कहते है—'भव्यजनो ! यह प्राणी घृणा योग्य नही है, अपितु इसमे व्याप्त दुर्गुण ही हेय है, घृणा करने योग्य है, त्याज्य है। भवमुक्त होने के लिये इन दुर्गुणो का त्याग करो।'

अन्य संस्करण

गद्य-पद्यात्मक यह चम्पूकाव्य विशालकाय ग्रन्थ है। अनुष्टुव् श्लोक पद्धति से इसका श्लोक परिमाण १६००० (सोलह हजार) है। रचना शैली प्राजल, वैदग्ध्यपूर्ण और उपमानात्मक होने से इसका अध्ययन करना, विषय गाम्भीर्य और रहस्य को समझना प्रत्येक के लिये सुकर नही है; अत: परवर्ती ग्रन्थकारो ने इसके साराश के रूप मे भी कृतियो का निर्माण किया है। वे है—

१. उपमिति-भव-प्रपचा नाम समुच्चय: कर्ता खरतरगच्छ सस्थापक वर्द्धमानसूरि: समय ११वी शताब्दी (१०६० से १०८०) यह कृति प्रकाशित हो चुकी है।

इसी का सक्षिप्त हिन्दी अनुवाद श्री कस्तूरमलजी बाठिया ने किया था जो श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, अजमेर से प्रकाशित हो चुका है।

२. उपमिति-भव-प्रपच कथा सारोद्धार . चन्द्रगच्छीय श्री देवेन्द्रसूरि : र० स० १२९८ : श्लोक परिमाण ५७३० : यह कृति केसरबाई ज्ञान मन्दिर, पाटण से स० २००६ मे प्रकाशित हो चुकी है।

इसी का गुजराती अनुवाद श्री मगलविजयजी गणि ने किया है। यह अनुवाद तीन भागो मे श्री वर्धमान जैन तत्त्व ज्ञान प्रचारक विद्यालय, शिवगज से स० २०२३ मे प्रकाशित हो चुका है।

३ उपमितिभवप्रपंचाकथोद्धार . हसरत्न : इसकी एक मात्र प्रति डेला उपाश्रय ज्ञान भण्डार, अहमदाबाद मे प्राप्त है। कृति अप्रकाशित है।

४. उपमितिभवप्रपंचोद्धार (गद्य) : देवसूरि : श्री विमलचन्द्र गणि के अनुरोध से रचित : श्लोक परिमाण २३२८ : इसकी प्रति पाटन के ज्ञान भण्डार मे प्राप्त है । कृति अप्रकाशित है ।

५. राजस्थानी/हिन्दी अनुवाद : श्री भंवरलालजी नाहटा की सूचनानुसार इसकी प्रति श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, अजमेर के संग्रहालय मे हस्त० प्रति के रूप मे प्राप्त है ।

उपमिति-भव-प्रपंच कथा के मुद्रित संस्करण—

मूल ग्रन्थ के अभी तक तीन सस्करण विभिन्न सस्थाओं द्वारा निकल चुके हैं :—

१. डॉ. हर्मन जेकोबी और पीटर्सन के संयुक्त सम्पादकत्व मे वीवीलोथिया इण्डिया की सीरीज मे सन १८९९ से १९१४ के मध्य मे बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित ।

२. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत/वम्वई से दो भागो मे सन् १९१८–१९२० में प्रकाशित ।

३. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाडा से वि० स० २०३४ मे दो भागों में प्रकाशित ।

मूल ग्रन्थ के तीनों ही संस्करण आज अप्राप्त हैं ।

अनुवाद

१. डब्ल्यू. किरफेल ने सर्वप्रथम इसका जर्मन भाषा में अनुवाद किया था जो सन् १९२४ में प्रकाशित हुआ था ।

२. श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ने इसका गुजराती भाषा मे अनुवाद किया था जो तीन भागों मे जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से सन् १९२५–१९२६ में प्रकाशित हुआ था ।

श्री कापड़िया ने "श्री सिद्धर्षि" के नाम से प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के रूप में विशाल पुस्तक भी लिखी थी । यह कृति भी जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई थी ।

३. श्री नाथूराम प्रेमी ने केवल प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी अनुवाद किया था, जो आज से ६० वर्ष पूर्व हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय, वम्बई से प्रकाशित हुआ था ।

ये तीनो भाषाओ के अनुवाद भी आज अप्राप्त हैं।

प्रस्तुत अनुवाद

इस प्राचीनतम मौलिक उपन्यास का पूर्ण हिन्दी अनुवाद न होने से हिन्दी-भाषी पाठक अद्यावधि इसके अध्ययन से वंचित रहे। यह गौरव का विषय है कि यह हिन्दी अनुवाद आज प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रकाशन का सारा श्रेय वस्तुत: श्री देवेन्द्रराजजी मेहता, सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर के हिस्से मे ही जाता है। इन्ही की सतत प्रेरणा से यह अनुदित होकर प्रकाश मे आ रहा है। अत. साहित्य जगत् की दृष्टि मे वे धन्यवादार्ह है।

पूर्वकृत अनुवाद मूलानुसारी न होने से लगभग ४ वर्ष पूर्व श्री मेहताजी ने मुझ से अनुरोध किया था कि मै इस अनुवाद का सशोधन एव सम्पादन कर दूं। मेरी अनिच्छा होते हुए भी उनके प्रेम के वशीभूत होकर मैंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया था। अनिच्छा का कारण था कि अनुवाद करना सरल है, किन्तु उसका सशोधन लेखक की शैली मे ही करना अत्यन्त जटिल एव अतीव दुष्कर कार्य है तथा कष्ट-साध्य है। तथापि श्रम एव समय-साध्य होने पर भी श्री मेहताजी की सतत प्रेरणा से मैंने निष्ठापूर्वक इसका सशोधन किया।

मैंने प्रथम प्रस्ताव का अनुवाद स्वतन्त्र रूप से किया और शेष प्रस्तावो का मूलानुसारी सशोधन किया।

प्रस्तुत अनुवाद न तो शब्दश: अनुवाद ही है और न साराशात्मक है। मूल लेखक के किसी भी विशिष्ट शब्द को नही छोडते हुए, कथा एव भाषा के प्रवाह को अक्षुण्ण रखते हुए मैंने अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। साधारणत. भाषा भी सस्कृतनिष्ठ न रखकर जनसाधारण की ही भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु विषय-गाम्भीर्य के अनुसार कुछ कठिन शब्दो का समावेश भी करना पडा है।

मैंने इस अनुवाद मे देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड से प्रकाशित सस्करण को ही मूल आधार बनाया है। शोध-छात्रो की सुविधा के लिये इस सस्करण का कौन से पृष्ठ का और कौन से पद्याक का अनुवाद चल रहा है? इसका सकेत मैंने पाद-टिप्पणी मे सर्वत्र पृष्ठाक देकर किया है। साथ ही पद्यांक भी अनुवाद के साथ ही [ ] कोष्ठक मे दिये है।

यद्यपि अनुवाद और संशोधन मैंने निष्ठा के साथ किया है तथापि यदि किसी स्थल पर मूल लेखक की भावना के विपरीत अनुवाद कर दिया हो, या कही अनुवाद मे स्खलना रह गई हो अथवा प्रूफ सशोधन मे अशुद्धिया रह गई हो, इसके लिये मै क्षमाप्रार्थी हूँ और सुविज्ञ पाठको से अनुरोध करता कि त्रुटियो को परि-मार्जित कर मुझे उपकृत करें।

मानवता के जीवन्त प्रतीक, सेवाव्रती, धर्मनिष्ठ श्री देवेन्द्रराजजी मेहता का मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि जिनकी सतत प्रेरणा एव सुयोग्य संबल के कारण मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका ।

अन्त मे, मैं मेरे सद्धर्माचार्य खरतरगच्छ विभूषण पूतात्मा स्वर्गीय आचार्य श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज का अत्यन्त ऋणी हूँ कि उनके वरद हस्त एवं कृपापाथेय के कारण ही मेरे जैसा अल्पज्ञ/क्षुद्र-व्यक्ति साहित्यिक-यज्ञ मे एक आहुति देने मे सक्षम हो सका ।

आश्विन शुक्ला ८ सं० २०४१
जयपुर

म. विनयसागर

आशीर्वचन

☐ आचार्य श्री हस्तिमल जी म० सा०

उपमिति-भव-प्रपच कथा (यह रूपक शैली का एक सस्कृत कथा ग्रन्थ है) ग्रन्थ के रचनाकार विद्वद्वर्य सिद्धर्षि गरिण ने इसकी रचना करके विषय-कषाय के पक मे निमग्न ससारी जीवों को त्याग-विराग की भूमिका पर आरोहरण करने के लिये एक वडा सरल आलम्बन दिया है, एतदर्थ अध्यात्म चेतना के जिज्ञासु उनके सदा कृतज्ञ रहेगे, ऐसा विश्वास है।

संसारी जीव हिंसा, मृषावाद, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के अधीन होकर, शब्दादि विषयो का रसिक बनकर विविध योनिओ मे भटकता और कष्ट उठाता है। ये ही भव विस्तार के कारण है। और, सदागम—सम्यक् श्रुति से भव-मुक्ति का द्वार प्राप्त होता है।

सर्वविदित बात है कि त्यागी मुनिओ की भक्ति भोग-वैभव के निमन्त्रण से नही होती, त्यागी की भक्ति त्याग से ही होती है। फिर भी परम्पराजन्य संस्कारों से व्यवहार दृष्टि वाले पात्र के लिये कही गई वैसी घटना, जैसा कि साहित्य विशारद श्री देवेन्द्रमुनि जी ने प्रस्तावना मे कहा है—जो व्यक्ति परमात्म-स्वरूप की साकारता मे श्रद्धा रखते हैं, उनके लिए जिनपूजा (पृ० ४८६), जिनाभिषेक (पृ० २१८) जैसे प्रसग पठनीय हो सकते है। (प्रस्तावना पृ० ६५) उनको साहजिक समझ, अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, पाठक लेखक के मूल उद्देश्य पर ध्यान रखे, हस दृष्टि से क्षीर-नीर का विवेकी होकर वीतराग भाव को जगाने वाले निरारंभी साधनो को ग्रहण करे एव शब्दादि विषय और काम-क्रोधादि विकारों से दूर रहकर आत्मलक्षी जीवन बनाये, इसी मे स्व-पर का कल्याण है।

आशा है, पाठक इसके पठन-पाठन से आन्तरिक विकारों का शमन कर भव-प्रपंच से मुक्ति मिलाने मे प्रयत्नशील होगे।

६ जुलाई, १९८५ यही शुभेच्छा।

आशीर्वचन

☐ आचार्य श्री पद्मसागर सूरि जी म० सा०

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि पूज्य विद्वान् शिरोमणि श्री सिद्धर्षि गणि की अपूर्व रचना उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का हिन्दी अनुवाद शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे इस महान ग्रन्थ का प्रवेश जैन जगत् के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

वैराग्य से परिपूर्ण इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से जनमानस मे दर्शन शुद्धि का परम साधन स्वरूप परमात्म-भक्ति एव जिनपूजा तथा धर्मश्रद्धा के गुणों में अभि-वृद्धि होगी। जीवन के गहन तत्त्वों की खोज मे उन्हे ज्ञान का एक नया प्रकाश मिलेगा। साथ ही ज्ञानियो के विचारो को जीवन के आचार में प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा भी मिलेगी। इस ग्रन्थ के पठन से रत्नत्रयी की प्राप्ति और शुद्धि सरल/ सहज बनेगी, ऐसी मेरी श्रद्धा है।

इस ग्रन्थ के अनुवादक, सम्पादक व प्रकाशको को मै इस कार्य के लिये हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा अनेक जीवो के हृदय-पटल मे सद्भावना और मानवता के गुण विकसित हों, यही मेरी शुभ-कामना है।

दि0 30-८-८४

पाली (राज0)

प्रस्तावना

भगवान् महावीर विहार यात्रा पर थे। चलते-चलते, वे जब उस वन के निकट पहुँचे, जिसमे चण्डकौशिक विषधर रहता था, तब वहाँ पर गायें चरा रहे ग्वालों ने महावीर से कहा—'इधर, एक भयङ्कर सर्प रहता है। अतः आप इधर से न जाकर, उधर वाले रास्ते से चले जावें।'

ग्वालो के कथन का, महावीर पर जरा भी असर न हुआ। वे, निर्विकार भाव से, अपने पथ पर आगे बढ़ चले।

ग्वालो ने, उन्हे उसी रास्ते पर जाते देखा, जिस पर जाने से उन्होने उन्हे मना किया था, तो वे भयभीत और आशंकित मन से सोचने लगे —'यह सत, अब बच नही सकेगा, शायद !'

मैंने, आगमों में उल्लिखित इस घटना-क्रम पर जब-जब भी चिन्तन किया, मुझे लगा—'भय, सर्प की विकरालता मे नही है, उसके जहरीलेपन मे भी नही है। अपितु, व्यक्ति के अपने मन में भय रहता है। कोई भी व्यक्ति, जब स्वयं क्रोध मे भरा होता है, तब उसे, सर्वत्र क्रोध ही क्रोध नजर आता है। उसके मन मे, जब अशान्ति समाई होती है, तब, सारा ससार उसे अशान्त दिखलाई पड़ता है। ईर्ष्या, द्वेष, कुण्ठा और सत्रासों से परिपूरित मन, सारे संसार मे, अपनी ही कलुषित कालिमा को छाया हुआ देखता है। और, अपने मन में जब शान्ति हो, सन्तोष हो, निर्मलता हो, समता हो, सरलता हो, अमरता हो; तब, विश्व का सारा वातावरण भी उसे शान्त सन्तुष्ट, निर्मल आदि रूपों में दृष्टिगोचर होगा।

वन-वन विहारी महावीर का मन, शान्ति, सन्तुष्टि, सहजता, समता, सरलता आदि मानवीय गुणो से ले कर दयालुता, परदुःख कातरता आदि अति-मानवीय गुणों को भी अपने मे प्रतिष्ठापित कर चुका था। मृत्यु का भय, हमेशा-हमेशा के लिये उसमे से विगलित हो चुका था और उसके स्थान पर उसमें अनन्त अमरता समाहित हो चुकी थी। ऐसे मे, ग्वालो के भय-आशंका पूरित निवेदन से, भला वे क्यों सहमते ? अपना पथ-परिवर्तन क्यो करते ?

ग्वालों द्वारा निषिद्ध पथ पर, अपने दृढ कदम बढाने के पीछे, महावीर का यह आशय भी नही था कि वे उन ग्वालो के ग्राम्य-मन पर प्रभाव डालना चाहते हों

कि निर्ग्रन्थ संत, काल की विकरालता से भी भयभीत नही होते। वल्कि, उनके मन मे, ग्वालो के पूर्वोक्त कथन-श्रवण से प्रादुर्भूत वह करुणापूरित भाव आन्दोलित हो उठा था, जिसमे, पापी चण्डकौशिक के विद्रोही-मन मे भरी विकरालता को विगलित करके, उसके स्थान पर, उसमे अमृतत्व समाहित कर देने की चाह निहित रही थी।

वस्तुत', स्वयं के अभ्युदय और उत्कर्ष की परम-समृद्धि को सम्प्राप्त कर लेना 'जिनत्व' और 'केवलित्व' की साधना की सफलता का द्योतक हो सकता है, पर, 'तीर्थङ्करत्व' की चरितार्थता तो तभी सार्थक वन पाती है, जव एक केवली, एक जिन, भव-भयत्रस्त मानवता के मन मे अमृतत्व को प्रतिष्ठित कर पाने मे सफल बनता है। महावीर के उक्त आचरण मे, गोपालो द्वारा वर्जित मार्ग पर ही अग्रसर होने के मूल मे, महावीर के तीर्थङ्करत्व की सफलता और चरितार्थता का एक सार्थक चिरस्थायी मानदण्ड स्थापित होने का सयोग पूर्व निर्धारित था; इस वात को, वे बखूबी जानते थे।

महावीर जानते थे कि चण्डकौशिक के मन मे वसी विकरालता को, भयकरता को निकाल कर फेंक देने के बाद, एक वार उसमे अमृत-ज्योति जगमगा उठी, तो फिर उसका सारा जीवन, अपने आप ज्योतिर्मय वन जायेगा।

महर्षि सिद्धर्षि प्रणीत, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के प्रस्तावना-लेखन के इस प्रसङ्ग मे, आगम-वर्णित उक्त घटनाक्रम और उससे जुडा मेरा चिन्तन, आज मुझे सहसा स्मरण हो आया। इसलिए कि महर्षि सिद्धर्षि का आशय भी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रणयन के प्रसङ्ग मे, बहुत कुछ वैसा ही रहा है, जैसा कि किसी तीर्थङ्कर के पवित्र जीवन-दर्शन के अध्ययन-मनन, चिन्तन से आप्लावित आचरण मे प्रतिस्फूर्त होना चाहिए। सिद्धर्षि जानते थे—चण्डकौशिक की भयङ्करता, बाह्य जगत् की भयङ्करता पर आधारित नही थी, वल्कि उसका आधार, उसके मन मे, उसके अन्तस् मे, गहराई तक जडे जमाये वैठा था। रावण भी, इसलिए 'राक्षस' नही था कि जगत् का वाह्य परिवेश राक्षसी था, बल्कि, वह इसलिए राक्षस था कि उसका स्वय का समग्र अन्त करण 'राक्षसत्व' से, 'रावणत्व' से सराबोर रहा।

इसलिए, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रणयन का श्रमसाध्य दायित्वपूर्ण आचार, इस आशा के साथ निभाया कि यदि एक जीवात्मा का अन्त करण भी, ज्ञान के आलोक से एक बार जगमगा उठा, तो उसका समग्र जीवन, ज्योतिर्मय बनने मे देर नही लगेगी। इस आशय को, उन्होने अपने इस कथा-ग्रन्थ मे स्वय स्पष्ट किया है—'इस ग्रन्थ को मै इसलिए बना रहा हूँ कि इसमे प्रतिपादित ज्ञान आदि का स्वरूप, सर्वजन-ग्राह्य हो सकेगा। यदि, कदाचित् ऐसा न भी हो सका, तो भी, ससार के समस्त प्राणियो मे से किसी एक प्राणी ने भी, इसका अध्ययन,

मनन और चिन्तन करके, अपने आचरण को शुद्धभाव रूप मे परिणमित कर लिया, और वह सन्मार्ग पर आ लिया, तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल हुआ मानूंगा।'[1]

संस्कृत भाषा एवं साहित्य का विकास-क्रम

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न शब्द है—'संस्कृत'। जिसका अर्थ होता है – 'एक ऐसी भाषा, जिसका संस्कार कर दिया गया हो।' इस संस्कृत भाषा को 'देववाणी' या 'सुरभारती' आदि कई नामो से जाना/पहिचाना जाता है। आज तक जानी/बोली जा रही, विश्व की तमाम परिष्कृत भाषाओ मे प्राचीनतम भाषा 'सस्कृत' ही है। इस निर्णय को, विश्वभर का विद्वद्वृन्द एक राय से स्वीकार करता है।

भाषा-वैज्ञानिको की मान्यता है कि विश्व की सिर्फ दो ही भाषाएं ऐसी है, जिनके बोल-चाल से संस्कृतियों/सम्यताओ का जन्म हुआ, और, जिनके लिखने/पढने से व्यापक साहित्य/वाङ्मय की सर्जना हुई। ये भाषाए है—'आर्यभाषा' और 'सेमेटिक भाषा'। इनमे से पहली भाषा 'आर्यभाषा' की दो प्रमुख शाखाए हो जाती है—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी शाखा का पुन: दो भागों मे विभाजन हो जाता हैं। ये विभाग है—ईरानी और भारतीय।

ईरानी भाषा में, पारसियों का सम्पूर्ण मौलिक धार्मिक साहित्य लिखा पड़ा है। इसे 'जेन्द अवेस्ता' के नाम से जाना जाता है। भारतीय शाखा मे 'सस्कृत' भाषा ही प्रमुख है। जेन्द अवेस्ता की तरह, सस्कृत भाषा मे भी समग्र भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। आज के भारत की सारी प्रान्तीय भाषाएं, द्रविड मूल की भाषाओ को छोड कर सस्कृत से ही नि.सृत हुई हैं। सस्कृत, समस्त आर्य-भाषाओ मे प्राचीनतम ही नही है, बल्कि, उसके (आर्यभाषा के) मौलिक स्वरूप को जानने/समझने के लिये, जितने अधिक साक्ष्य, सस्कृत भाषा में उपलब्ध हो जाते है, उतने, किसी दूसरी भाषा मे नही मिलते।

पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी आदि सारी यूरोपीय भाषाये सम्मिलित हो जाती है। इन सब का मूल उद्गम 'आर्यभाषा' है।

सस्कृत भाषा के भी दो रूप हमारे सामने स्पष्ट है—वैदिक और लौकिक, यानी लोकभाषा। वैदिक सहिताओ से लेकर वाल्मीकि के पूर्व तक का सारा साहित्य वैदिक भाषा मे है। जब कि वाल्मीकि से लेकर अद्यन्तनीय सस्कृत रचनाओ तक का विपुल साहित्य 'लौकिक सस्कृत' मे गिना जाता है, यही मान्यता है विद्वानो की।

---

१ उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रथम प्रस्ताव, पृष्ठ १०३

दर असल, आर्यों के पुरोहित वर्ग ने, अपने धार्मिक क्रिया-कलापो के लिए जिस परिष्कृत/परिमार्जित भाषा को अङ्गीकार किया, वही भाषा, संहिताओ, ब्राह्मणों, आरण्यको और उपनिषदों का माध्यम बनी। कालान्तर मे इसके स्वरूप-व्यवहार मे धीरे-धीरे होता आया परिवर्तन, जब स्थूल रूप मे दृष्टिगोचर होने लगा, तब उसे पुन परिष्कृत करके, एक नये व्याकरण शास्त्र के नियमो मे ढाल कर, नया स्वरूप प्रदान कर दिया गया। इस नये परिष्कृत स्वरूप को ही लौकिक सस्कृत के नाम से जाना गया।

कुछ आधुनिक भाषा-शास्त्रियो की मान्यता है—सस्कृत का साहित्य भण्डार, यद्यपि काफी प्रचुर है, तथापि, उसे जन-साधारण के बोल-चाल/पठन-पाठन की भाषा बनने का गौरव, कभी नही मिल पाया। इन विद्वानो की दृष्टि मे, सस्कृत एक ऐसी भाषा है, जिसमे, सिर्फ साहित्यिक सर्जना भर की सामर्थ्य रही, और है। उसकी यह कृत्रिमता ही, उसे शिष्ट व्यक्तियो के दायरे तक सीमित बनाये रही। इसलिए, इसे 'भाषा' कहने की बजाय 'वाणी' 'भारती' आदि जैसे समादरणीय सम्बोधन दिये गये।

किन्तु, उपलब्ध लौकिक साहित्य मे ही कुछ ऐसे अन्त:सूत्र उपलब्ध होते है, जिनसे, यह स्पष्टत: फलित होता है कि 'सस्कृत' शिष्ट, विप्र, पुरोहित वर्ग के सामान्य व्यवहार की भाषा तो थी ही, साथ ही, यह एक बडे जन-समुदाय के बीच भी बोल-चाल के लिए व्यवहार मे लायी जाती थी।

यह बात अलग है कि इसी मुद्दे को लेकर, विद्वानो मे दो अलग-अलग प्रकार की मान्यताए उभर कर सामने आ चुकी है। एक दृष्टि से, 'सस्कृत' मात्र साहित्यिक भाषा थी। बोल-चाल की सामान्य भाषा 'प्राकृत' थी। दूसरे मत मे—सस्कृत, भारतीय जन-साधारण के बोल-चाल की भी भाषा रही। किन्तु, प्राकृत भाषा के उदय के फलस्वरूप, इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होता चला गया। तथापि, शिष्ट-वर्ग मे, इसका दैनदिन उपयोग व्यवहार मे बना रहा।

आर्यावर्त के विद्वान् ब्राह्मण 'शिष्ट' माने जाते थे। भले ही, संस्कृत का परिपक्व बोध उन्हे हो, या न हो। पर, आनुवशिक परम्परा से, उनके बोल-चाल मे, शुद्ध सस्कृत का प्रयोग अवश्य होता रहा। यही वजह थी, उनके प्रयोगो को आदर्श मानकर, दूसरे लोग भी, उनकी देखा-देखी शब्दो का शुद्ध प्रयोग किया करते थे।[1] इन शब्दो के उच्चारण मे अशुद्धि होती रहे, यह एक दूसरी बात थी। क्योंकि वे,

---

१ एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणा कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमानकारणा किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चित् विद्याया पारङ्गता, तत्र भवन्त शिष्टा। शिष्टा शब्देषु प्रमाणम्।

—६-३-१०९ अष्टाध्यायी सूत्र पर भाष्य

संज्ञा पदों के रूप में, प्रायः प्राकृत शब्दों को ही संस्कृत जैसा रूप देकर प्रयोग करते थे। कई स्थानों पर, क्रियापदों में भी अशुद्धियां देखी जा सकती हैं। बहुत कुछ ऐसा ही अन्तर, रामायण में देखने को मिल जाता है।

ब्राह्मणों की शुद्ध वाणी और जनसाधारण की संस्कृत भाषा मे स्पष्ट अन्तर पाया जाता है।[1] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने भाष्य में 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर, एक वैयाकरण और एक सारथी के बीच हुए विवाद का आख्यान दिया है।[2] महर्षि पाणिनि ने भी, ग्वालों की बोली में प्रचलित शब्दो का, और द्यूत-क्रीड़ा सम्बन्धी प्रचलित शब्दों का भी उल्लेख किया है। बोल-चाल मे प्रयोग आने वाले अनेकों मुहावरों को भी पाणिनि ने भरपूर स्थान दिया है। जैसे—दण्डा-दण्डि, केशा-केशि, हस्ता-हस्ति आदि। महाभाष्य में भी, ऐसे न जाने कितने प्रयोग मिलेंगे, जिनका प्रयोग आज भी ग्राम्य-बोलियों तक मे मिल जायेगा।[3]

महर्षि कात्यायन के समय, संस्कृत में नये-नये शब्दों का समावेश होने लगा था। नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा था। जैसे—पाणिनि ने 'हिमानी' और 'अरण्यानी' शब्दों को स्त्रीलिङ्ग-वाची शब्दो के रूप मे मान्यता दी थी।[4] किन्तु, कात्यायन के समय तक, ऐसे शब्दों का प्रचलन, कुछ मायनों मे रूढ़ हो चुका था। या फिर उनका अर्थ-विस्तार हो चुका था। उदाहरण के रूप में, पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द का प्रयोग 'यवन की स्त्री' के लिये किया था। यही शब्द, कात्यायन काल में 'यवनी लिपि' के लिए प्रयुक्त होने लगा था।[5]

पाणिनि का समय, विक्रम पूर्व छठवीं शताब्दी, कात्यायन का समय विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी, और पातञ्जलि का समय विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी माना गया है। पाणिनि से पूर्व, महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी। निरुक्त में, वेदों के कठिन शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है। निरुक्तकार की दृष्टि में, सामान्यजनों की बोली, वैदिक संस्कृत से भिन्न थी। इसे इन्होंने 'भाषा' नाम दिया। और, वैदिक कृदन्त शब्दों की जो व्युत्पत्ति बतलाई, उसमें, लोक-व्यवहार में प्रयोग आने वाले धातु-शब्दों को आधार माना।[6]

---

१. एच. याकोबी—दस रामायण—पृष्ठ-११५

२. २-४-५६ अष्टाध्यायी सूत्र पर भाष्य,

३. करोतिरभूत प्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते।
—महाभाष्य १-३-१

४. हिमारण्ययोर्महत्त्वे। —१-१-११४ पर वार्तिक

५. यवनाल्लिप्याम्—४/१/१२४ पर वार्तिक,

६. नामिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। —निरुक्त २/२

सस्कृत के उन तमाम शब्दो का उल्लेख भी निरुक्त मे किया गया है, जो सस्कृत से प्रान्तीय भाषाओ मे, या तो रूपान्तरित हो चुके थे, या फिर उन्हे विशिष्ट प्रयोगो मे काम लिया जाता था।[1] पाणिनि ने 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' सूत्र के उदाहरण के रूप मे 'आयुष्मान् एधि देवदत्त' जैसे उदाहरणो के साथ-साथ, अलग-अलग क्षेत्रो मे प्रयुक्त और रूपान्तरित शब्दो एव मुहावरो का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। जिससे यह स्वत. प्रमाणित हो जाता है कि निरुक्तकार की ही भाति पाणिनि ने भी 'सस्कृत' को 'भाषा' माना है।

भारत के अनेको सस्कृत प्रेमी राजाओ ने, यह नियम बना रखा था कि उनके अन्त पुर मे सस्कृत का प्रयोग किया जाये। राजशेखर ने इस प्रसग की प्रामाणिकता के लिये साहसाङ्कपदवीधारी उज्जयिनी नरेश विक्रम का उल्लेख किया है।[2] और, इसी सन्दर्भ मे ग्यारहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजा धारानरेश भोज का नाम भी लिया जा सकता है।[3] ये सारे प्रमाण स्वत. बोलते है कि सस्कृत, मात्र ग्रथो मे प्रयुक्त की जाने वाली भाषा नही थी, अपितु वह 'लोक-भाषा' थी। बाद मे 'लोक' शब्द से जन-साधारण का बोध न करके, मात्र 'शिष्ट' व्यक्तियो का ही बोध किया जाने लगा, ऐसा प्रतीत होता है।

वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड मे, सीताजी के साथ, किस भाषा मे बातचीत की जाये? यह विचार करते हुए, हनुमान के मुख से, वाल्मीकि ने कहलवाया है[4]—'यदि द्विज के समान, मै सस्कृत वाणी बोलूगा, तो सीताजी मुझे रावण समझकर डर जायेगी।' वस्तुत., भाषा शब्द, उस बोली के लिए प्रयुक्त होता है, जो लोक-जीवन के बोलचाल मे प्रयुक्त होती है। महर्षि यास्क[5] ने और महर्षि पाणिनि[6] ने भी, इसी अर्थ मे 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। सिर्फ एक बात अवश्य गौर करने लायक है। वह यह कि 'भाषा' के अर्थ मे 'सस्कृत' शब्द का प्रयोग, इन पुरातन-ग्रथो मे नही मिलता।

वाक्य-विश्लेषण, तथा उसके तत्त्वो की समीक्षा करना, किसी भाषा का सस्कार कहा जाता है। प्रकृति, प्रत्यय आदि के पुनः सस्कार द्वारा 'सस्कृत' होने

---

१ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्येषु भाष्यन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। —निरुक्त-२/२

२ काव्यमीमासा—पृष्ठ-५०

३ सस्कृत शास्त्रो का इतिहास—प बलदेवजी उपाध्याय, पृष्ठ ४२८-४३, काशी—१९६९

४ यदि वाच प्रदास्यामि द्विजातिरिव सस्कृताम्।
रावण मन्यमाना मा सीता भीता भविष्यति॥
—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड ५-१४

५ भाषायामन्वध्यायश्च-निरुक्त १-४

६ भाषाया सदवसश्रुव —अष्टाध्यायी-३/२/१०८

के कारण इसका नाम 'सस्कृत' रखा गया, ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि, वाल्मीकि रामायण के उक्त उदाहरण से ऐसा अनुमानित होता है कि वाल्मीकि के समय मे, प्राकृत आदि का उदय, लोक-व्यवहार मे प्रचलित भाषा के रूप में हो चुका था। धीरे-धीरे, ये जन-साधारण मे प्रधानता प्राप्त करने लगी हो तब, इन भाषाओं से पृथकता प्रदर्शित करने के लिए इसे 'सस्कृत' नाम दे दिया गया। दण्डी (सप्तम शतक) ने तो स्पष्ट रूप से प्राकृत से इसका भेद प्रदर्शित करने के लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग 'देववाणी' के लिए किया है।[1]

भाषा-शास्त्रियो का मत है कि—देववाणी मे, प्राचीन काल मे, प्रकृति-प्रत्यय विभाग नही था। सम्भव है, तब उसका प्रतिपद पाठ आज की वैज्ञानिक विधि जैसा न दिया जाता हो। इससे देववाणी के जिज्ञासुओं को न केवल कठिन श्रम करना पड़ता रहा होगा, बल्कि, अधिक समय भी उन्हे देना पड़ता होगा। इसी कारण से, देवताओ ने, इसके अध्ययन-ज्ञान की सुगम और वैज्ञानिक परिपाटी निर्धारित करने के लिये, देवराज इन्द्र से प्रार्थना की होगी। और, तब इन्द्र ने, शब्दो को बीच से तोड़ कर, उनमे प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग की सरल अध्ययन प्रक्रिया सुनिश्चित की होगी। वाल्मीकि, पाणिनि आदि के द्वारा प्रयुक्त 'सस्कृत' शब्द, इसी संस्कार पर आधारित प्रतीत होता है। वैयाकरणों की यह भी मान्यता है कि देवराज इन्द्र द्वारा, इसकी सुगम, वैज्ञानिक एव व्यावहारिक पद्धति निर्धारित करने, और देवो की भाषा होने के कारण, इसे 'देववाणी' या 'दैवी वाक्' कहा जाता था। लोक-व्यवहार मे आने पर, इसका जो संस्कार, पाणिनि (500 ई. पूर्व) से लेकर पतञ्जलि (200 ई. पूर्व) तक लगातार चलता रहा, उसी से इसे 'संस्कृत' नाम मिला।

इन सस्कर्ताओ/वैयाकरणो ने, देववाणी का जो संस्कार किया, उसका, यह अर्थ कदापि नही लेना चाहिये कि पाणिनि से पूर्व काल मे, इसका स्वरूप असस्कृत अवस्था में था। क्योकि, व्याकरण का लक्ष्य, भाषा का निर्माण, या उसकी सरचना करना नही होता, अपितु, उसके शब्दो का शुद्ध स्वरूप निर्धारण करना होता है। सस्कृत के शब्दो का अस्तित्व, पाणिनि से पहिले था ही, इन्होने तो मात्र यह निर्देश किया कि 'षप' के स्थान पर 'शश', 'पलाष' के स्थान पर 'पलाश' और 'मजक' के स्थान पर 'मञ्चक' का प्रयोग, शुद्ध शब्द-प्रयोग है।

पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि मे, मिश्र देश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है। किन्तु, उसकी प्राचीनता, विक्रम से मात्र ४००० वर्ष पूर्व तक जा सकी है। जबकि विज्ञो ने संस्कृत की प्रथम रचना ऋग्वेद को हजारों वर्ष प्राचीन माना है। ऋग्वेद के रचनाकाल के विषय मे, विद्वानों ने पर्याप्त मतभेद है। किन्तु,

१. सस्कृत नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः।

—काव्यादर्श-१/३३

गणित के कुछ अकाट्य तर्कों के बल पर, लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने इसका जो रचना-काल बतलाया है, वह, विक्रम से कम से कम छ: हजार वर्ष पूर्व का ठहरता है। विश्व मे, किसी भी भाषा का ऐसा साहित्य नही है, जो आज से आठ हजार वर्ष पूर्व का हो। इस प्राचीनता के बावजूद, सस्कृत साहित्य की रसवती धारा, आज तक अविच्छिन्न रूप से सतत प्रवाहशील बनी हुई है। विश्व के अन्य साहित्यो के साथ, अविच्छिन्नता की कसौटी पर, सस्कृत साहित्य को जाचा-परखा जायेगा, तो यह साहित्य सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

वेदो की मन्त्र-सहिताओ की रचना के बाद इनकी व्याख्या का समय आता है। इस समय के ग्रन्थो को 'ब्राह्मण' नाम से कहा गया है। ब्राह्मणो के बाद 'आरण्यक' और फिर 'उपनिषद्' ग्रन्थ रचे गये। इनके बाद का काल, स्पष्ट रूप से वैदिक और लौकिक साहित्य के साहित्य का 'सधिकाल' माना जा सकता है। जिसमे, स्मृतियो, पुराणो और रामायण व महाभारत जैसे आर्षकाव्यो की रचनाओ को लिया जा सकता है। आशय यह है कि महर्षि वाल्मीकि की रामायण से पूर्व के साहित्य को हम 'वैदिक-साहित्य' और रामायण से लेकर आज तक के सस्कृत साहित्य को 'लौकिक-साहित्य' के नाम से अभिहित कर सकते है। विषय, भाषा, भाव आदि अनेको दृष्टियो से लौकिक साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है।

वैदिक साहित्य की यह विशेषता है कि उसमे, विभिन्न देवताओ को लक्ष्य करके यज्ञ-याग आदि के विधान और उनकी कमनीय स्तुतिया सजोयी गई हैं। इसलिये, इस साहित्य को मुख्यत धर्म-प्रधान साहित्य कहा जाता है। जबकि, लौकिक सस्कृत साहित्य, मुख्यत: लोकवृत्त प्रधान है। इसकी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ओर विशेष प्रवृत्ति हुई है। जिससे धर्म की व्याख्या/वर्णना मे, वैदिक साहित्य का विशेष प्रभाव स्पष्ट होने पर भी, कई मायनो मे नूतनता उजागर हुई है। ऋग्वेद काल मे, जिन देवी-देवताओ की प्रतिष्ठा थी, प्रमुखता थी, वे, लौकिक साहित्य की परिधि मे आकर गौण ही नही बन जाते, वरन्, उनमे से कुछ के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव जैसे देवो की उपासना को अधिक महत्त्व मिल जाता है।

तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी सहिताओ से, गद्य की जिस गरिमा का प्रवर्त्तन होता है, वह गरिमा, ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रतिष्ठित होती हुई उपनिषद् काल तक, अपना उदात्त स्वरूप ग्रहण कर लेती है। लौकिक साहित्य का उदय होते ही, गद्य का इस हद तक ह्रास होने लगता है कि ज्योतिष् और चिकित्सा जैसे वैज्ञानिक विषयो तक मे, छन्दोबद्ध पद्य-परम्परा अपना स्थान बना लेती है। व्याकरण और दर्शन के क्षेत्र मे, गद्य का अस्तित्व रहता जरूर है, किन्तु यहाँ पर, वैदिक गद्य जैसा प्रसाद-सौन्दर्य विलीन हो जाता है। और, उसका स्थान दुर्बोधता एवं दुरूहता ग्रहण कर लेती है।

साहित्यिक गद्य की गरिमा भी कथानको और गद्य काव्यों में दृष्टिगोचर होती है। फिर भी, वैदिक गद्य की तुलना मे इसमे कई एक न्यूनताए साफ दिखलाई दे जाती हैं।

पद्य की भी जिस रचना-तकनीक को लौकिक साहित्य मे अङ्गीकार किया गया है, वह, वैदिक छन्द-तकनीक से ही प्रसूत प्रतीत होती है। पुराणो मे और रामायण-महाभारत मे सिर्फ 'श्लोक' की ही बहुलता है। परवर्ती लौकिक साहित्य मे, वर्णनीय विषय-वस्तु को लक्ष्य करके छोटे-बड़े कई प्रकार के नवीन छन्दो का प्रयोग किया गया है, जिनमे, लघु-गुरु के विन्यास पर विशेप बल दिया गया है। कुल मिला कर देखा जाये, तो वैदिक पद्य साहित्य मे जो स्थान गायत्री, त्रिष्टुप्, तथा जगती छन्दों के प्रचलन को मिला हुआ था, वही स्थान उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका जैसे छन्द, लौकिक साहित्य मे बना लेते है।

सस्कृत साहित्य मे, सिर्फ धर्मग्रन्थो की ही अधिकता है, ऐसी बात नही है। भौतिक जगत के साधन भूत 'अर्थ' और 'काम' के वर्णन की ओर भी लौकिक साहित्यकारों का ध्यान रहा है। अर्थशास्त्र का व्यापक अध्ययन करने के लिए और राजनीति का पण्डित बनने के लिये कौटिल्य का अकेला अर्थशास्त्र ही पर्याप्त है। इसके अलावा भी अर्थशास्त्र को लक्ष्य करके लिखा गया विशद साहित्य सस्कृत मे मौजूद है। कामशास्त्र के रूप मे लिखा गया वात्स्यायन का ग्रन्थ, गृहस्थ जीवन के सुख-साधनो पर व्यापक प्रकाश डालता है। इसी के आधार पर कालान्तर मे अनेको ग्रन्थो की सर्जनाए हुई। 'मोक्ष' को लक्ष्य करके जितना विशाल साहित्य संस्कृत भाषा मे लिखा गया, उसकी बराबरी करने वाला विश्व की भाषा मे दूसरा साहित्य मौजूद नही है।

इन चारों परम-पुरुषार्थो के अलावा विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य और पशु-पक्षियो के लक्षणो से सम्बन्धित अगणित ग्रन्थ/रचनाए, संस्कृत-साहित्य की विशालता और व्यापकता का जीवन्त उदाहरण बनी हुई है। वस्तुत., सस्कृत के श्रेय: और प्रेय: शास्त्रो की विशाल संख्या को देख कर, पाश्चात्य विद्वानो द्वारा व्यक्त की गई घटनाएं और उनके उद्‌गार कहते है—संस्कृत-साहित्य का जो अंश मुद्रित होकर अब तक सामने आया है, वह ग्रीक और लेटिन भाषाओ के सम्पूर्ण-साहित्यिक ग्रन्थो के कलेवर से दुगुना है। इस प्रकाशित साहित्य से अलग, जो साहित्य अभी पाण्डुलिपियो के रूप मे अप्रकाशित पड़ा है, और जो साहित्य विलुप्त हो चुका है, उस सबकी गणना कल्पनातीत है।

भारतीय सामाजिक परिवेष, मूलत: धार्मिक है। फलत· भारतीय संस्कृति भी धार्मिक आचार-विचारो से ओत-प्रोत है। आस्तिकता इस का धरातल है। इसका उन्नततम स्वरूप, स्वयं को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् बना लेने मे, अथवा ऐसे ही परमस्वरूप मे अटूट आस्था प्रतिष्ठापित करने में दिखलाई पड़ता है। भारतीय

मान्यता है—सांसारिक क्लेश और राग आदि, मानव जीवन को न सिर्फ कलुषित वना देते हैं, वल्कि उसे सन्ताप भी देते है। सासारिक गृह, उसे कारागार सा लगता है, और जागतिक मोह, उसे पाद-वन्धन जैसा अनुभूत होता है। इन सारी विषमताओ, कुण्ठाओ और सत्रासो से उसे तभी छुटकारा मिल पाता है, जव वह, सर्व शक्तिमान् के साथ सादृश्य स्थापित कर ले, या फिर उससे तादात्म्य वना ले।

वैदिक स्तुतियो से लेकर आधुनिक दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप विश्लेपरण तक, धर्म का सारा रहस्य, सस्कृत साहित्य मे परिपूर्ण रूप से स्पष्टतः व्याख्यायित होता रहा है। वेदो मे, आर्यधर्म के विशुद्ध रूप की विवेचना है। कालान्तर मे, इस धर्म और दर्शन की जितनी शाखा-प्रशाखाए उत्पन्न हुई, विकसित हुई, नये-नये मत उभरे, उन सवका यथार्थ स्वरूप सस्कृत साहित्य मे देखा-परखा जा सकता है।

सस्कृत साहित्य के धार्मिक वैशिष्ट्य का यह महत्त्व, मात्र भारतीयो के लिये ही नही है, अपितु पश्चिमी देशो के लिये भी, यह समान महत्त्व रखता है। पश्चिमी विद्वानो ने, सस्कृत साहित्य का, धार्मिक दृष्टि से जिस तरह अनुशीलन किया, उसी का यह सुफल है कि वे 'तुलनात्मक पुराण साहित्य' (कम्परेटिव माइथालॉजी) जैसे एक अधुनातन शास्त्र को आविष्कृत कर सके। साराश रूप मे, यही कहा जा सकता है कि सस्कृत साहित्य, एक ऐसा विशाल स्रोत है, जिससे प्रवाहित हुई विभिन्न धर्म सरिताओ ने मानवता के मन-मस्तिष्क के कोने-कोने को अपनी सरस्वती से रसवान् वनाकर आप्यायित कर डाला।

सस्कृत साहित्य ने, संस्कृति की जो अनुपम विरासत भारत को दी है, उसे कभी विस्मृत नही किया जा सकता है। सस्कृत के काव्यो मे भारतीयता का अनुपम गाथा-गान सुनाई पडता है, तो सस्कृत नाटको मे उसका नाट्य और लास्य भी अपनी कोमल कमनीयता मे प्रस्तुत हुआ है। त्याग की धरती पर अकुरित और तपस्या के ओज से पोपित आध्यात्मिकता, तपोवनो, गिरिकन्दराओ मे सर्वधित होती हुई, जिस सस्कृति का स्वरूप निर्धारण करती रही, उसी का सौम्य दर्शन तो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, माघ, वाण और दण्डी आदि के काव्यो मे देखकर हृदयकलिका प्रमुदित/प्रफुल्लित हो उठती है।

सस्कृत का साहित्यिक मस्तिष्क कभी भी सङ्कीर्ण नही रहा है। उसके विचार, किसी भी सीमा रेखा मे सकुचित न रह सके। समाज के विशुद्ध वातावरण मे विचरण करते हुए उसके हृदय को सामाजिक दु ख-दर्दो ने स्पर्श कर लिया, तो वह दीन-दु.खियो की दीनता पर चार आँसू वहाये वगैर न रह सका। सहज सुखी जीवो के भोग-विलासो पर वह रीझ-रीझ गया। उसका हृदय सहानुभूति से स्निग्ध और द्रवित वना ही रहा। फलत , सस्कृत साहित्य मे, भारतीय सस्कृति का एक ऐसा निखरा स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जिसमे आध्यात्मिक विचारो के द्योतक मूल्य-

सस्कृत का कवि, साहित्यकार और दार्शनिक, किसी एक पक्ष का चित्रण नही करता। क्योकि, वह भलीभांति जानता है कि यह जगत् दु खो का, सघर्षो का समरागण है। किन्तु, दु ख मे से ही सुख का उद्‌गम होगा, सघर्ष मे से ही सफलता आविष्कृत होगी, सग्राम ही विजय का शखनाद करेगा, इस अनुभूत यथार्थ से भी वह परिचित है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य का लक्ष्य सदा-सर्वदा से मङ्गलमय, कल्याणमय पर्यवसान रहता आया है। यही दार्शनिकता, सस्कृत साहित्य मे अनुकरणीय, अनुसरणीय बनकर चरितार्थ होती आ रही है। दरअसल, सस्कृत नाटकों के दु:खान्त न होने का, यही मूलभूत कारण है, रहस्य है।

समाज के स्वरूप का यथार्थ चित्रण, साहित्य मे होता है। इसीलिए यह कहा जाता है—'साहित्य, समाज का दर्पण है।' समाज और सस्कृति, दोनो ही साथ-साथ जुड़े होते है। जैसे—सूर्य का प्रकाश और प्रताप साथ-साथ जुड़े रहते हैं। अत. साहित्य, जिस तरह समाज को स्वयं मे प्रतिबिम्बित करता है, उसी तरह, वह समाज से जुड़ी सस्कृति का भी मुख्य वाहक होता है। समाज, मानव समुदाय का बाह्य परिवेश है, तो सस्कृति उसका अन्त. स्वरूप है। जिस समाज का अन्त: और बाह्य परिवेश, भौतिकता पर अवलम्बित होगा, उसका साहित्य भी आध्यात्मिकता का वरण नही कर पाता। किन्तु, जिस समाज का अन्त: स्वरूप आध्यात्मिक होगा, उसका बाह्य-स्वरूप, भले ही भौतिकता मे लिप्त बना रहे, ऐसे समाज का साहित्य, आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नही रह सकता। भारतीय समाज का अन्त. स्वरूप मूलत. आध्यात्मिक है। इसलिए, सस्कृत साहित्य का भी हमेशा यही लक्ष्य रहा कि वह, आध्यात्मिकता का सन्देश सामाजिको तक पहुंचा कर उनमे नव-जागरण का चिरन्तन भाव भर सके।

भारतीय समाज मे सासारिक/भौतिक सुखो के सभी साधन, सदा-सर्वदा से सुलभ रहते आये है। यहाँ का सामाजिक, जीवन-सघर्षो से जूझता हुआ भी आनन्द की उपलब्धि को, आनन्द की अनुभूति को अपना लक्ष्य मान कर चलता रहा। विषम से विपमतम परिस्थितियो मे भी आनन्द को खोज निकालना, भारतीय मानस की जीवन्तता का प्रतीक रहा है। वह, आनन्द को सत्, चित् स्वरूप मानता है। इसलिए, भारतीय साहित्य का, विशेषकर सस्कृत साहित्य का लक्ष्य भी सत्+चित् स्वरूप आनन्द की उपलब्धि की ओर उन्मुख रहा। उसका अन्तिम लक्ष्य भी यही बना।

सस्कृत काव्यो की आत्मा 'रस' है। रस का उद्रेक श्रोता/पाठक के हृदय मे आनन्द का उन्मेष कर देता है। यह जानकर भी, संस्कृत साहित्य मे रीति, औचित्य, गुण तथा अलकार आदि का विस्तृत विवेचन, किया अवश्य गया है, किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य रस-निष्पत्ति ही है। काव्य-जगत् के इस काव्यानन्द को सच्चिदानन्द का परिपूर्ण स्वरूप माना गया है।

इस तरह, हम देखते है कि वेदो के अति रहस्यमय ज्ञान से लेकर जन-साधारण के मनो-विनोद सम्बन्धी कथाओ तक, जितना भी साहित्यिक वैभव विद्यमान है, वह सारा का सारा संस्कृत भाषा मे सुरक्षित है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है—'साहित्यिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक जीवन की समग्र व्याख्या संस्कृत साहित्य/वाङ्मय मे सर्वात्मना समाहित है।'

जैन साहित्य में संस्कृत का प्रयोग

जैन धर्म और साहित्य का कलेवर भी व्यापक परिमाण वाला है। इसके प्रणयन में संस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओ का मौलिक उपयोग किया गया। यद्यपि, जैन धर्म के अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर ने अपना सारा उपदेश प्राकृत भाषा मे ही दिया। उसे सङ्कलित/गुम्फित करने मे, उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि गणधरों ने भी प्राकृत भाषा को उपयोग मे लिया, तथापि, कालान्तर मे आगे चल कर, जैन मनीषियों ने संस्कृत भाषा को भी अपने ग्रन्थ-प्रणयन का माध्यम बनाया। और, संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि मे अपना अविस्मरणीय योगदान दिया। वैसे, जैन मान्यतानुसार, पुरातन जैन धर्म और दर्शन की परम्परागत अनुश्रुतियां यह बतलाती हैं कि जैन धर्म का मौलिक पूर्व साहित्य, संस्कृत भाषा-बद्ध था।

भगवान् महावीर के काल तक, प्राकृत भाषा, जन-साधारण के बोल-चाल और सामान्य व्यवहार में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। और, संस्कृत उन पण्डितों की व्यवहार-सीमा में सिमट चुकी थी, जो यह मानने लगे थे कि संस्कृतज्ञ होने के नाते, सिर्फ वे ही तत्त्वद्रष्टा और तत्त्वज्ञाता हैं। जो लोग संस्कृत नही जानते थे, वे भी यह स्वीकार करने लगे थे कि तत्त्व की व्याख्या कर पाना, उन्ही के वलबूते की बात है, जो 'संस्कृतविद्' हैं। इस स्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि महावीर युग तक, संस्कृत न जानने वालो की बुद्धि पर, संस्कृतज्ञ छा गये।

महावीर ने इस स्थिति को भली-भांति देखा-परखा और निष्कर्ष निकाला कि सत्य की शोध-सामर्थ्य तो हर व्यक्ति में मौजूद है। संस्कृत के जानने न जानने से, तत्त्वबोध पर कोई प्रभावकारी परिणाम नही पड़ता। वस्तुतः, तत्त्वज्ञान के लिए जो वस्तु परम अपेक्षित है, वह है—चित्त का राग-द्वेष रहित होना। जिस का चित्त राग-द्वेष से कलुषित है, वह संस्कृतज्ञ भले ही हो, किन्तु तत्त्वज्ञ नही हो सकता। क्योकि, सत्य का साक्षात्कार करने मे 'भाषा' कही भी माध्यम नही बन पाती।

महावीर की इसी सोच-समझ ने उन्हें प्रेरणा दी, तो उन्होने अपने द्वारा अनुभूत सत्य का, तत्त्व का स्वरूप-प्रतिपादन प्राकृत भाषा में किया। महावीर की भावना थी, यदि वे, जन-साधारण की समझ में आने वाली भाषा मे तत्त्वज्ञान का

का उपदेश करेंगे, तो वह उपदेश, एक ओर तो बहुजन उपयोगी बन जायेगा, दूसरी ओर संस्कृत न जानने वाला बहुजन समुदाय, यह भी जान जायेगा कि तत्त्व ज्ञान के लिए, किसी भाषा विशेष का जानकार होने का प्रतिबन्ध यथार्थ नहीं है।

महावीर के इस प्रयास का सुफल यह हुआ कि जैन धर्म और साहित्य के क्षेत्र में, लगभग पांच सौ वर्षों तक निरन्तर, प्राकृत भाषा का व्यवहार होता चला गया। इसलिए, जैन धर्म का मूलभूत साहित्य प्राकृत भाषा-प्रधान बन गया। महावीर के इस भाषा-प्रस्थान में, जैन मनीषियों का संस्कृत के प्रति कोई विद्वेष भाव नहीं था, बल्कि, उनका आशय, अपने धर्मोपदेश की प्रभावशालिता के लक्ष्य पर निर्धारित रहा। आर्यरक्षित[1] का वचन, स्वयं साक्षी देता है कि उनके समय में संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को समान आदर सुलभ था।[2] दोनों ही ऋषि-भाषा कहलाती थी।

तत्त्वार्थ सूत्र, जैन साहित्य का सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके रचयिता उमास्वाति (स्वामी) का समय, विक्रम की तीसरी शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। यही वह युग है, जिसमें, जैन परम्परा में संस्कृत के उपयोग का एक नया युग शुरु हुआ। तो भी, जैनधर्म और साहित्य के क्षेत्र में प्राकृत का उपयोग अनवरत चलता रहा। किन्तु, दार्शनिक युग के आते-आते, जैन मनीषियों को स्वतः यह स्पष्ट अनुभूत हुआ कि जैन धर्म और दर्शन की व्यापक प्रतिष्ठा के लिये, संस्कृत का ज्ञाता होना, उन्हें अनिवार्य है। दार्शनिक युग की विशेषता यह रही है कि इस युग में, भारतीय दर्शन की अनेकों शाखाओं में, प्रबल प्रतिद्वन्द्विता छिड़ी हुई थी। फलतः अपने मत की स्थापना में, ग्रन्थकारों को प्रबल तर्कों का सामना करना पड़ा। इन प्रतिद्वन्द्वी तर्कों का विखण्डन युक्ति पूर्वक करना, और स्वमत का स्थापन भी, तर्क पूर्ण कसौटी पर जांच-परख कर करना, इस युग के ग्रन्थकारों का महनीय दायित्व बन गया था।

इतना ही नहीं, इस युग में, यह भावना भी बलवती हो चुकी थी कि जो विद्वान्, संस्कृत भाषा में ग्रन्थ-प्रणयन की सामर्थ्य नहीं रखता, वह वस्तुतः विद्वत्कोटि का पाण्डित्य भी नहीं रखता। इस उपेक्षित भावना से परिपूर्ण वातावरण ने, जैन दार्शनिकों के मानस में भी मन्थन पैदा कर दिया। इसी मन्थन के नवनीत-स्वरूप, जैन धर्म-दर्शन के महत्त्वपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थों की सर्जनाएं हुईं। जिनमें, जैन-धर्म और दर्शन का स्वरूप एवं सिद्धान्त, विस्तार-विवेचना को आत्मसात् कर सका।

इस प्रयास से, जैन विद्वानों ने, सामयिक समाज पर यह छाप डालने में भी सफलता प्राप्त की कि जैन-विद्वान्, मात्र प्राकृत-भाषा के ही पण्डित नहीं हैं, वरन्

---

१ जन्म—ई पू ४ (वि सं ५२), स्वर्गवास—ई सन् ७१ (वि. सं. १२७)

२ सक्कयं पागयं चेव पसत्थं इसिभासियं ॥

सस्कृत भाषा के भी वे उद्भट विद्वान् है। और उनमे, स्व-सिद्धान्त प्रतिपादन की स्फूर्त-सामर्थ्य के साथ-साथ पाण्डित्य-प्रदर्शन का भी विलक्षण-सामर्थ्य है। पण्डित वर्ग की इस प्रतिद्वन्द्विता को देखते हुए, सम्भवत: जन-साधारण मे भी, सस्कृत के अध्ययन और ज्ञान का विशेष शौक उभरा होगा। जिसे लक्ष्य करके ही तत्कालीन पण्डित वर्ग ने अपने सिद्धान्तो और मन्तव्यो को प्रकट करने मे, लोकमानस के अनुरूप सरल-सस्कृत को अपने ग्रन्थो के प्रणयन की भाषा के रूप मे स्वीकार किया।

सिद्धर्षि, इस युगीन स्थिति से पूर्णत: परिचित प्रतीत होते है। इसका ज्ञान, उनके स्वय के कथन से होता है। उन्होने स्वीकार किया है कि सस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओ को, उनके ग्रन्थ-रचनाकाल मे, प्रधानता प्राप्त थी। किन्तु पण्डित वर्ग मे, सस्कृत भाषा को विशेष समादर प्राप्त था। प्राकृत-भाषा को इस समय के बच्चे तक भलीभाति समझते थे। जन-साधारण को बोध कराने की भी इसमे प्रबल सामर्थ्य है। फिर भी, यह प्राकृत भाषा, विद्वानो को अच्छी नही लगती। शायद, इसीलिए वे (पण्डित-जन) प्राकृत भाषा मे बोल-चाल नही करते।[1]

सिद्धर्षि द्वारा व्यक्त इन विचारो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के रचना काल मे, जनसाधारण के रोजमर्रा की जिन्दगी का अनिवार्य बोल-चाल प्राकृतमय था। इसलिए, सिद्धर्षि चाहते थे कि अपनी इस कथा को प्राकृत भाषा मे लिखा जाये। ऐसा करने मे, उन्हे यह आशंका भयभीत किये रही—'प्राकृत-भाषा मे उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा लिखने पर, उन्हे पण्डित वर्ग मे समादर सुलभ नही हो पायेगा। तभी तो उन्हे यह मान कर चलना पड़ा—सरल सस्कृत भाषा का प्रयोग, एक ऐसा उपाय है, जिससे, तत्कालीन जन साधारण को भी इस कथा को समझने मे कोई कठिनाई नही होगी, और ग्रन्थकार को भी पण्डित वर्ग के उपेक्षाभाव का शिकार न बनना पडेगा। इस मध्यम मार्ग का निश्चय दृढ करके, उन्होने यह निर्णय लिया कि सभी लोगो का—जनसाधारण और पण्डित वर्ग का भी—मनोरजन हो, ऐसा उपाय (सरल सस्कृत भाषा के प्रयोग की सामर्थ्य) होने के कारण, इन सबकी अपेक्षाओ/अनुरोधो को दृष्टिगत करते हुये, मैने इस ग्रन्थ की रचना सस्कृत भाषा मे की है।[2]

---

१ सस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हत.। तत्रापि सस्कृता तावत् दुर्विदग्धहृदि स्थिता ॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला। तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते ॥

—उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा, प्रथम प्रस्ताव

१ उपाये सति कर्त्तव्य सर्वेषा चित्तरञ्जनम्। अतस्तदनुरोधेन सस्कृतेय करिष्यते ॥

—वही

सिद्धर्षि के इस निश्चय से यह पुष्टि होती है कि उनके ग्रन्थ रचना काल मे, संस्कृत और प्राकृत का सघर्ष, उत्कर्ष पर पहुच चुका था। इसी संघर्ष के प्रतिफल स्वरूप, उस युग का सामाजिक, साहित्य और दर्शन की रचनाओ मे पाण्डित्य-प्रदर्शन से यह निष्कर्ष निकालने लगा था कि किस धर्म/दर्शन के प्रचारकों/समर्थको मे, कौन/कितना बडा पण्डित है, विद्वान् है। सम्भव है, इस प्रदर्शन से भी जनसाधारण का झुकाव, धर्म विशेष मे आस्था जमाने का निमित्त बनने लगा हो। अन्यथा, कोई और, ऐसा प्रबल कारण समझ मे नही आता, जिससे, बहुजनोपयोगी प्राकृत-भाषा को ताक पर रखकर, मात्र पण्डित वर्ग की भाषा को, ग्रन्थ-प्रणयन के माध्यम के रूप मे अङ्गीकार किया जाये।

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य को, विश्व-भर के सुविशाल वाङ्मय मे, एक सम्मानास्पद प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस सम्मान/प्रतिष्ठा के पीछे, भारतीय कथा साहित्य की वे उदात्त–भावनाए है, जिनसे प्रेरणा पाकर, मानवीय जीवन के विभिन्न-व्यापारो की विशद विवेचनाओ का विविधता-भरा सम्पूर्ण चित्राङ्कन किया गया है। इन शब्दचित्रो मे सुख-दु.ख, हर्ष-विषाद, सयोग-वियोग, आसक्ति-अनासक्ति, आदि मानव-मन की अन्तर्द्वन्द्वात्मक मन·स्थितियो की विचित्रता, और मानव-जीवन के अभ्युदय और अध.पतन से लेकर मानव-समूह की उत्क्राति और सक्रान्ति जन्य गाथाओ के समस्यामूलक समाधानों का अनुभूति-परक राग-रञ्जन समायोजित किया गया है।

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य मे, मानव-मन को आन्दोलित करती सासारिक समस्याओ की विभीषिकाए और पारलौकिक उपलब्धियो की एषणाए कही मिलेगी, तो कही-कही हार्दिक उदारता, बौद्धिक विशुद्धि, मानसिक मनोरञ्जन और आध्यात्मिक उत्कर्ष के विविध सोपानों पर उतरती, चढती, इठलाती भाव-प्रवणता के मनोहारी लास्य और नाट्य की अनदेखी भङ्गिमाए भी सहज सुलभ होगी। उन्मत्त गजराज, क्रुद्ध वनराज, द्रुतगामी अश्व और हरिण-समुदायो के क्रियाकलापो का बहुमुखी वर्णन कही मिलेगा, तो कही पर, कल-कल छल-छल करती सरिताओ के मधुर-स्वर मे मुखरित पक्षी समुदाय का कर्ण-प्रिय कलरव भी दृष्टि पथ से बच नही पाता। सघन-वन, गिरि कान्तार और उपत्यकाओ की क्रोड मे अनुगुञ्जित प्रकृति के मानवीयकरण का वर्णन स्वर, विश्वजनीन वाङ्मय के बीचो-बीच भारतीय आख्यान साहित्य की सर्वोत्कृष्टता का गुण-गान करने से चूक नही पाता।

इस सबसे, यह स्पष्ट फलित होता है कि जीवन स्वरूप की सम्पूर्ण अभि-व्यजना, भारतीय कथा/आख्यान साहित्य मे जितने व्यापक स्तर पर हुई है, उससे कम, अचेतन-स्वरूप की अभिव्यंजना की समग्रता, कही दिखलाई नही पडती। जड़

और चेतन की उभय-विध व्याख्याओं का समान-समादर, भारतीय कथा/आख्यान साहित्य में जैसा हुआ है, वैसा, विश्व की दूसरी किसी भी भाषा के साहित्य मे देखने को नही मिलता।

इन समग्र परिप्रेक्ष्यो को लक्ष्य करके, भारतीय आख्यान साहित्य का जब वर्गीकरण किया जाता है, तब इसे चार प्रमुख वर्गो मे विभक्त हुआ हम पाते है। ये वर्ग हैं :—

(1) धर्म कथा साहित्य (Religious Tale)
(2) नीतिकथा साहित्य (Didactic Tale)
(3) लोककथा साहित्य (Popular Tale)
(4) रूपकात्मक साहित्य (Alligorical literature)

डॉ० सूर्यकान्त ने, अपने 'संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास' में सस्कृत कथा साहित्य को सिर्फ दो वर्गो—नीतिकथा (Didactic Tales) और लोककथा (Popular Tales) मे ही विभाजित किया है।[1]

भारत, एक ऐसा देश है, जिसके जन-जन का जीवन, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त तक, धर्म से परिप्लावित रहता चला आया है। भारत के ऐतिहासिक सन्दर्भो में, कोई भी ऐसा क्षण ढूंढ़ा नही जा सकता, जिसमे यह प्रकट होता हो कि भारतीय जन-मानस धर्म-शून्य रहा है। धर्म की इस सार्वकालिक सार्वजनीन व्यापकता को लक्ष्य करते हुये, यही कहना/मानना पड़ता है कि भारत 'धर्ममय' है। धर्म-विहीन भारत का विचार, कल्पना मे भी कर पाना सम्भव नही हो पाता। बल्कि, यथार्थ यह है कि भारत को हमें 'धर्म-भूमि' कहना चाहिये। दुनियां भर में, यही तो एक ऐसा देश है, जिसकी धरती पर अनगिनत धर्मो की अवतारणाए हुई। ये धर्म. यहाँ विकसे, फूले और फले। और, जब-जब भी भारत भूमि पर धर्म-ग्लानि (ह्रास) का वातावरण बना, तब-तब किसी न किसी कृष्ण ने अवतीर्ण होकर, धर्म को समृद्ध बनाने की दिशा में, उसका पुनः-पुनः संस्थापन किया, या फिर किसी न किसी महावीर ने तीर्थंकरत्व की साधना-समृद्धि के बल पर धर्म-तीर्थ का वर्धापन किया। धर्म वट-वृक्षों के इन्ही बीजाकुरों के रस-सेक से, भारतीय आत्मा को शाश्वत-शान्ति मिलती रही, किंवा, उसे परमात्मत्व का साक्षात्कार होता रहा।

उक्त गुण-सम्पन्न तीन महान् धर्म-संस्कृतियाँ भारत में प्रमुख रही है। इन्होंने अपने धार्मिक/दार्शनिक सिद्धान्तों के व्यापक-प्रचार-प्रसार के लिए, आख्यानो कथाओ का जी भर कर उपयोग किया है। परिणामस्वरूप, वैदिक, जैन और बौद्ध,

---

१ संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास—पृष्ठ–३००

इन तीनों ही धर्मों का विशाल साहित्य, आख्यानो और कहानियो का विपुल अक्षय भण्डार बन गया है। इन तमाम कथाओ/आख्यानो को, हम ऐसा आख्यान कह/मान सकते हैं, जिसका समग्र कलेवर, धार्मिक स्फुरणा से ओत-प्रोत है, किंवा जीवन्त है। आख्यान-साहित्य के प्रथम वर्ग 'धर्मकथा-साहित्य' के अन्तर्गत, ये ही सारी कथाएँ अन्तर्निहित मानी जायेंगी।

इस तरह, 'धर्मकथा' को परिभाषित करते हुये, यह कहा जा सकता है—'जो कथा, धर्म से सम्बन्ध रखती हो, वह 'धर्मकथा' है। और, 'धर्म' वह है, जिसके द्वारा अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति होती है।'[1]

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से होती है। जिसका अर्थ है–'ज्ञान'। 'वेद' शब्द का व्यावहारिक उपयोग 'मत्र' और 'ब्राह्मण' दोनो के लिये किया जाता है।[2] 'मंत्र' मे देवताओ की स्तुतिया है। इन स्तुतियो/मत्रो का उपयोग यज्ञ आदि के अनुष्ठान मे किया जाता है। यज्ञ के क्रिया-कलापो तथा उनके उद्देश्यो आशयो/प्रयोजनो की व्याख्या करने वाले मंत्र और ग्रन्थ, 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं। 'ब्राह्मण' के तीन भेद है—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। 'आरण्यक' ग्रन्थो मे वानप्रस्थ-जीवन-पद्धति की विवेचना की गई है। जबकि उपनिषदो मे, मत्रो की दार्शनिक व्याख्या के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे, यज्ञ आदि का विधान जटिल हो जाने के फलस्वरूप, उसे सरल और सक्षिप्त बनाने की जब आवश्यकता प्रतीत हुई, तब, सरल सूत्र-शैली अपना कर जिन नवीन-ग्रंथो मे उसे प्रतिपादित किया गया, वे ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' कहलाये।[3] कल्पसूत्रो में यज्ञ-यागादि, विवाह, उपनयनादि कर्मो का क्रमबद्ध सक्षिप्त वर्णन है। कल्पसूत्र के भी चार भेद किये गये है—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व सूत्र। श्रौत सूत्रो मे—यज्ञ-याग आदि के अनुष्ठान नियमो का, गृह्य सूत्रो मे—उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि षोडश सस्कारो से सम्बद्ध निर्देशो का, धर्म-सूत्रो मे—वर्णाश्रम धर्म का, विशेष कर राजधर्म का और शुल्व सूत्रो मे—यज्ञ के लिए उपयुक्त स्थान निर्धारण, यज्ञ-वेदि का आकार-प्रकार निर्धारण और उसके निर्माण की योजना आदि का वर्णन है। 'शुल्व' का अर्थ होता है—'नापने का डोरा'। वस्तुत शुल्व सूत्रो को भारतीय ज्यामिति का आद्य ग्रन्थ कहा जा सकता है।

---

१ यतोऽभ्युदयनि श्रेयसार्थससिद्धिरजसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥
—महापुराण–१/१२०

२. मत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्ब यज्ञ-परिभाषा–३१

३ कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्–ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वय वृत्ति–विष्णुमित्र

स्वरूप-भेद के कारण, 'वेद' एक होता हुआ भी, तीन प्रकार का माना गया है। ये प्रकार हैं—ऋक्, यजुस् और सामन्। अर्थवशात् पादों/चरणों की व्यवस्था से युक्त छन्दोबद्ध मंत्रों की संज्ञा–'ऋचा' या 'ऋक्' की गई है।[1] इन ऋचाओं में से जो ऋचायें गीति के आधार पर गायी जाती है, उनकी सज्ञा 'सामन्' की गई है।[2] इन दोनों से भिन्न, यज्ञ मे उपयोगी गद्य-खण्डों को 'यजुस्' संज्ञा दी गई है।[3] इस तरह, जो प्रार्थना/स्तुति-परक छन्दोबद्ध ऋचाएं है, उनके संकलित स्वरूप को 'ऋग्वेद सहिता', गेयात्मक ऋचाओ के सकलित स्वरूप को 'सामवेद सहिता' और गद्यात्मक यजुस् मंत्रो के सकलन को 'यजुर्वेद सहिता' कहा गया। इन तीनो को 'वेदत्रयी' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। किन्तु आज वेदो की सख्या चार है। जिसमें अथर्ववेद नामक एक चौथे वेद को भी गिना जाता है। अथर्वन् का अर्थ होता है—'अग्नि का पुजारी'। इस अर्थ से यह आशय लिया गया है—अग्नि के प्रचण्ड और भैषज्य रूप से सम्बन्ध रखने वाले मंत्रो का जिस संहिता मे संकलन है, वह 'अथर्ववेद' है।

वेदो के सुप्रसिद्ध भाष्यकार महीधर की मान्यता है—ब्रह्मा से चली आ रही वेद-परम्परा को, महर्षि वेद व्यास ने ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम से चार भागो मे बांटा, और उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को दिया।[4] बाद मे मंत्रो के ग्रहण-अग्रहण, सकलन और उच्चारण विषयक भिन्नता के कारण वेद-सहिताओ की अनेकानेक शाखाएं बन गई, शाखाओ के साथ 'चरण' भी जुड गये। 'चरण' का अर्थ उस बटु-समदाय से जुड़ा है, जो एक साथ मिल-बैठ कर, अपनी परम्परागत शाखा से सबंधित संहिता मत्रों का ज्ञान/अध्ययन प्राप्त करता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ, सामवेद की एक हजार, और अथर्ववेद की नौ, कुल मिलाकर एक हजार एक सौ शाखाओ का उल्लेख किया है।[5] भारत का यह दुर्भाग्य है कि इनमे से अनेको शाखाओ से सम्बन्धित साहित्य, आज तक विलुप्त हो चुका है।

---

१ तेषा ऋक् यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था। —जैमिनी सूत्र—२/१/३५

२. गीतिषु सामाख्या—जैमिनी सूत्र–२/१/३६

३. शेषे यजु शब्द.—वही—२/१/३७

४ तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्त वेद वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजु सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनी-सुमन्तुभ्य. क्रमाद् उपदिदेश।
—यजुर्वेद · भाष्य

५. चत्वारो वेदा. साङ्गा. सरहस्या बहुधा भिन्ना। एकशतमध्वर्यु शाखा.। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एक विंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाऽथर्वणो वेद।
—पातंजलमहाभाष्य–पस्पशाह्निक

वैदिक साहित्य मूलत: धर्मप्रधान है। देवताओ को लक्ष्य करके यज्ञ आदि का विधान करके, उसमे जो कमनीय स्तुतिया सङ्कलित की गई है, वे, वैदिक साहित्य की एक विलक्षरग विशेषता बन चुकी है। इन स्तुतियो के माध्यम से, तमाम ऐसे कथानक वैदिक साहित्य मे भरे पड़े मिलते है, जिनका साहित्यिक-स्वरूप, उनके धार्मिक महत्त्व से कम मूल्यवान् नही ठहरता।

ऋग्वेद, देवो को लक्ष्य करके गाये गये स्तोत्रो का बृहत्काय सकलन है। इसमे, तमाम ऋषियो द्वारा, अपनी मनचाही मुराद पाने के लिये, भिन्न-भिन्न देवताओ से की गई प्रार्थनाए है। तत्त्वतस्तु, जीवन मे परमसत्य की प्रतिष्ठा कर लेना, जीवन का सबसे महान् लक्ष्य होता है। ऋग्वेद मे, परमसत्य का देवता वरुरग को माना गया है। किन्तु, वैदिक आर्य, इस देश मे, विजय पाने की लालसा से आये थे। इस विजय का देवता, उन्होने भ्राजमान इन्द्र को बनाया। शायद यही काररग है, जिस की वजह से, जीवन की यथार्थता का प्रतिनिधि देवता 'वरुरग', विजय के प्रतिनिधि देव इन्द्र की स्तुतियो की बहुलता मे, पीछे पडा रह गया। इसीलिये, वरुरग का स्थान, कुछ काल पश्चात् इन्द्र को मिल गया।

इस विविधतामयी वर्णना मे, कुछ ऐसे कमनीय भाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जिनसे यह सहज अनुमान हो जाता है कि ऋग्वेद जैसा आदिम ग्रन्थ भी काव्य कला के उपकरणो से परिपूर्ण है। अलकारो, ध्वनियो और व्यञ्जनाओ से अनुप्रारिगत गीतियो मे भरी रूपकता, हमे यह अहसास तक नही होने देती कि हम किसी देव-स्तोत्र का श्रद्धा-वाचन कर रहे है, अथवा, किसी शृङ्गार काव्य की सरस-पदावली का रसास्वादन कर रहे है। यम-यमी के पारस्परिक सवाद की दर्शनीय रसीली छटा, एक ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है।

यम और यमी का परस्पर सवाद चलते-चलते ही, बीच मे, यमी कामाग्नि संतप्त हो उठती है। तब, वह यम से कहती है—'हम दोनो को सृष्टा ने, गर्भ मे ही पति-पत्नी बना दिया था। उसने, जो त्वष्टा है, सविता है, और सभी रूपो मे विराजमान है। इसके व्रतों को कौन तोडेगा ? ओ यम ! हम दोनो के इस सम्बन्ध को पृथ्वी जानती है, और आकाश जानता है।'[1]

यमी के इस कथन का स्पष्ट आशय है—यौन-सम्बन्ध से पूर्व, सभी आपस में भाई-बहिन है। किन्तु, परम ऐकान्तिक उस रसमय-सम्बन्ध के स्फूर्त होते ही, अन्य सारे सम्बन्ध तिरोहित हो जाते है, दब जाते है, सिर्फ एक यही सम्बन्ध शेष रह जाता है, जिससे, जीवन की समग्रता रसाप्लावित हो उठती है। क्योकि, नर-नारी की परिनिष्ठा इसी मे है, जीवन का स्रोत यही है।

---

१ गर्भे नु नो जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौ । —ऋग्वेद–१०/५/१०

किन्तु, ऋग्वेद का यह यम, यथार्थतः नर है, वह वस्तुतः शिव है। इसने अपने जीवन मे संयम के फूल खिलाये हैं और निग्रह में ही विग्रह को अवसान दिलाया है। वह, यमी के उत्तर मे, कहता है—'ओ यमी! उस प्रथम-दिवस को कौन जानता है? किसने देखा है उसे? उसे कौन बता सकेगा? वरुण का व्रत महान् है। मित्र का धाम प्रभूत है। ओ कुत्सित मार्ग पर चलने वाली यमी! विपरीत कथन क्यो करती है? प्रत्यक्षतः तो हम भाई-बहिन ही है। फिर, इस सम्बन्ध के बदलने की आवश्यकता भी तो नही है। क्योकि, वरुण का यह आदेश है, मित्र का ऐसा व्रत है।[1]

साहित्यिक रसात्मकता से परिपूर्ण, पुरुरवा और उर्वशी का सवाद भी, इसी मण्डल मे मिलता है। सूक्त की शब्दावली दुरूह और कठिन अवश्य है, पर, उनसे व्यक्त होने वाले भाव, बेहद चुटीले है। पुरुरवा कहता है—'ओ मेरी बेदर्द पत्नी! ठहर, आ, कुछ बातें कर ले। हमने आज तक, खुलकर बाते तक नही की; हमारे मन को आज तक ठण्डक नही मिली।'[2]

उर्वशी उत्तर देती है—'ओ पुरुरवस्! क्या करूंगी तेरी इन बातों का? (तेरे घर से तो) मैं ऐसे आ गई हूँ, जैसे कि सबसे पहिली उषा। ओ पुरुरवस्! अब मैं, हवा की तरह (तेरी) पकड़ से बाहर हूँ।'[3]

प्रेम-पगे दो-चार क्षणो की भिक्षा मागने वाले पुरुरवा की प्रार्थना का कैसा निर्मम तिरस्कार किया उर्वशी ने। फिर भी, दोनों की परस्पर बाते चलती रही। पुरुरवा, अनुनय पर अनुनय करता रहा, अपनी उर्वशी को याद दिलाता रहा तमाम पुरानी यादे, जिनके व्यामोह मे उलझ कर, वह उसके घर वापिस चली चले। किन्तु, सब निरर्थक, सब निस्सार।.... ...आखिर, तार-तार होकर टूटने लगा पुरुरवा का दिल। वह, सहन नही कर पाता है अपनी अन्तः पीड़ा को, और चिल्ला उठता है उन्मत्त जैसा—'ओ उर्वशी! तेरा यह प्रणयी, आज कही दूर चला जायेगा;

---

१ को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ —वही १०/१०/७

२ हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन्॥ —वही १०/९५/१

३. किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरुरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि॥

—वही १०/९५/२

इतनी दूर, जहाँ से वह कभी नही लौटेगा । तब, वह सो जायेगा मृत्यु की गोद मे । और, वहाँ खूंख्वार भेड़िये, उसे (आनन्द से) खायेगे ।'[1]

पुरुरवा के हताश/निराश स्नेह को प्रकट करने वाले ये शब्द, उर्वशी की स्नेहिलता की कसौटी बन जाते है । पुरुरवा के एक-एक शब्द ने, उर्वशी के अतस् को कचोट डाला । परिणाम, वही होता है, जो आज भी एक सच्चे प्रेमी और रूठी प्रणयिनी की परस्पर नोक-भोक का होता है ।

उर्वशी कहती है[2]—'ओ पुरुरवस् ! मत भाग दूर, अपने प्राण भी व्यर्थ मत गवा, अमाङ्गलिक भेडियो का शिकार मत बन । क्योकि, स्त्रियो की मैत्री, मैत्री नही होती । इनका दिल तो भेडिये का दिल होता है ।'

दर असल, उर्वशी का यह उत्तर, समग्र स्त्री जाति के लिये शाश्वत श्रृंगार बन गया ।

पुरुरवा और उर्वशी के इस परिसवाद ने, लौकिक जगत् के सच्चे प्रेमी, और फुसला ली जाने वाली मानिनी प्रेयसी के स्पष्ट उद्‌गारो को, रसात्मकता का जैसे शिलालेख बना दिया । इसी सवाद की प्रतिध्वनि शतपथ-ब्राह्मण, विष्णु पुराण, और महाभारत मे भी मुखरित हुई है । जिसका अनुगुञ्जन, महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे, स्पष्ट सुनाई पडता है ।

भारत के मूर्धन्य कवियो ने जी भर कर पर्जन्य की महिमा के गीत गाये है । किन्तु, वैदिक कवि ने 'जीमूत' पर्जन्य का गुणगान किया है । यह जीमूत, क्षण भर मे ही, जल-थल एक कर देता है । धरती से अम्बर तक, जलधारा का एक वर्तुल सा बना देता है ।

वेद कहता है—'आओ, आज इन गीतों से उस पर्जन्य को गाओ; यदि उसे नमस्कार करके मनाना चाहो, तो पर्जन्य के गीत गाओ । देखो, यह महान् साँड गर्ज रहा है । इसके दान मे (कितनी) शक्ति है । (अपने इसी दान से) वनस्पतियो मे अपने बीज का गर्भाधान कर रहा है वह । ·· वह देखो, पेडो को किस तरह उखाड कर फैंके चला जा रहा है ? राक्षसों को किस तरह धराशायी किये चला जा रहा है ? इसका दारुण वज्र देखकर, धरती और आकाश डोल रहे हैं । जब, विद्युतपात करके यह दुराचारियो को धराशायी करता है, तब, निष्पाप लोग भी थरथरा उठते है ।' 'और, जिस तरह, रथी अपने कोडे से घोडो को आगे कुदा देता है, वैसे ही,

---

१. सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावत परमा गन्तवा उ ।
अधा शयीत निऋतेरुपस्थेऽधैन वृका रभसासो अद्य ।। —वही १०/९५/१४

२ पुरुरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन् ।
नवै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता ।। —वही १०/९५/१५

यह भी, वर्षा के द्वारा दूतो को आगे खिसका/सरका रहा है। सुनो....कही दूर, वह सिंह दहाड रहा है। यह शेर, पृथ्वी मे (वर्षा का) वीज डाल रहा है।'[1]

ये, वे वर्षा गीत है, जिनमे, एक विलक्षण प्रतिभा प्रस्फुरित हो रही है। इस वर्षा मे साड़ है, सिंह है, और वह सब कुछ भी है, जिससे हमारा ऐन्द्रियत्व सहल उठता है, फिर स्वय मे, उसे आत्मसात् कर लेता है।

एक दूसरे स्थल पर, 'जीमूत' मेघ का उपमान रूप मे प्रयोग, वैदिक वाङ्मय की साहित्यिकता और रूपकता को, एक ऐसी ऊँचाई तक पहुँचा देता है, जिस तक, शायद मेघ स्वयं न पहुंच सके। देखिये—'जव एक वीर योद्धा, कवच से सज-धज करके, रणाङ्गण मे उपस्थित होता है, और अपने धनुष से वाणो की वर्षा कर शत्रुदल पर छा जाता है, तव, उसका चेहरा 'जीमूत' जैसा हो जाता है।'[2]

सामान्य रूप से देखने/पढने पर तो यह उपमान, वड़ा ही वेतुका, किंवा फीका सा लगता है, किन्तु, जव 'जीमूत' शव्द की व्युत्पत्ति समझ मे आ जाती है, तव, इस उपमान का चमत्कार, स्वत: ही सामने आ जाता है। 'जीमूत' शव्द वनता है—ज्या+√ मीव् (गति) से। अर्थात् ऐसा वादल 'जीमूत' कहा जायेगा, जिसमें बिजली की प्रत्यञ्चा कौध रही हो। एक सच्चा शूरवीर, जव शत्रुदल पर टूटता है, तव उसका चेहरा 'जीमूत' जैसा ही होता है। क्योंकि, वलपूर्वक पूर्ण श्रम से और धूलि-धूसरित होने के कारण, चेहरा कृष्णवर्ण हो जाता है। साथ ही, शत्रुदल पर धनुष से वाणों की जव वर्षा करता है, तव उसकी लहराती/लपलपाती प्रत्यञ्चा (ज्या), वर्षणशील मेघ मे कौध रही विद्युल्लता जैसी, उस वहादुर वीर के चेहरे के सामने/आस-पास, क्षण-क्षण मे कौधती रहती है। अव, उक्त उपमान से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह उपमान, न तो फीका है, न ही वेतुका, वल्कि, एक नये रूपक की सर्जना का द्योतक वन गया है।

ऋग्वेद का यह प्राञ्जल वर्णन, कितना सजीव है? इसकी शव्द-गरिमा और उससे ध्वनित अर्थ-गाम्भीर्य कितना विशद है, पेशल है? इस विषय पर, वहुत

---

१. अच्छा वद तवस गीर्भिराभि. स्तुहि पर्जन्य नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृपभो जीरदानू रेतो दधात्यौषधीषु गर्भम्॥
वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति राक्षसान् विश्व विभाय भुवन महावधात्।
उता नागा ईषते कृष्ण्यावतो यत् पर्जन्य. स्तनयन् हन्ति दुष्कृत॥
रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्य. पृथिवी रेतसावति॥

—वही ५/८/३/१–३

२. वही ५-७५-१

कुछ लिखने से अच्छा होगा, इसके प्रयोग को समझा जाये, बल्कि, ठीक से समझा जाये। क्योंकि इसका एक-एक अक्षर जीवन्त है, शब्द-शब्द की पोर-पोर मे इक्षुरस जैसी मिठास भरी है। आवश्यकता है समझ की, अनुभूति की, और आनन्द लेने की चाह की।

वीरता और कर्मप्रवणता भरे इन आख्यानो का प्रस्थान, जब स्नेहिल धरातल का स्पर्श करता है, तब, एक वपुष्मान् (नर) और वपुषी (नारी) का गठबन्धन, मनु के नौ बन्धन पर होते देर नही लगती। इसी गठबन्धन से उभरती है वे श्रेष्ठ शालीनताए, जिनमे उषा, हस्रा (हसनशील वनिता) बन कर, अपने सम्पूर्ण सवृत प्रणय को अनावृत कर देती है। उषा के इसी अनावृत प्रणय-द्वार की देहलीज पर बैठकर, वैदिक जरन्त ऋषि/मुनि-गण ने, प्रत्यड्मनस् से की गई तपस्याओ के बल पर, शाश्वत सत्य का साक्षात्कार किया है। वेदो ने इसे 'ऋत्' नाम से पुकारा है।

इसी 'ऋत्' के आनन्द की मस्ती मे झूमकर वह गा उठता है—'सृष्टि के पहिले क्या था ? न सत् था, न असत्, न धरती थी, न आकाश था ! ··· मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? ····इत्यादि।'[1] ऋग्वेद का यह ऐसा गान है, जिससे आगे, मानव का मस्तिष्क अब तक नही जा पाया। और, इन ऋग्वेदीय प्रश्नो के जो समाधान अब तक दिये गये है, उन्हे सोम पानोचा की रङ्गमयी भाव-भङ्गिमा मे, उसने स्वय ही तलाश लिया था। और, तब, वह कह उठा था—'मैं ही मनु था। सूर्य भी मै ही था। कक्षीवान् ऋषि मै ही था। आर्जुनेय कुत्स को मैंने ही दबाया था। उशना कवि मैं ही हूँ। आर्य को पृथ्वी मैने ही दी थी। मर्त्य के लिए वर्षा मैंने ही बनाई। कलकलायमान जलधाराओ को मैं ही वहाता हूँ। देवता तक, मेरे इशारे पर चलते आये है।'[2]

यह सूक्त, पुरुष/आत्मा के परमात्मत्व को जिन सकेतो/प्रतीको के माध्यम से सर्वशक्तिमान घोषित कर रहा है, ठीक, वैसे ही, शक्ति-स्वरूपा नारी के महिमामय गौरव का गुणगान करने मे भी वैदिक ऋषि से चूक नही हुई। ऋग्वेद की ऋचा स्वय बोल उठती है—'सूर्य उदय हो गया है, साथ ही, मेरा भाग्य भी उदय हुआ है।

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहन गभीरम्॥
इत्यादि, —वही १०-१२९-१—७

२ अह मनुरभव सूर्यश्चाह कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्र।
अह कुत्समार्जुनेय न्यृञ्जेऽह कविरुशना पश्यता मा॥
अह भूमिमददामार्यायाह वृष्टि दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केत मायन्॥ —वही ४-२६-१—२

इस तथ्य से मै अवगत हूँ। तभी तो, अपने पति पर प्रभावी बन गई हूँ। मैं स्वय केतु हूँ, मूर्धा हूँ, और प्रभावुक हूँ। मेरा पति, मेरी बुद्धि के अनुरूप आचरण करेगा, मेरे पुत्र शत्रुघ्न हैं, मेरी पुत्री भ्राजमान् है, मैं स्वय विजयिनी हूँ, पतिदेव पर, मेरे श्लोक प्रभावुक हैं। जिस हवि को देकर, इन्द्र सर्वोत्तम तेजस्वी बने थे, वह (सब) भी मैं कर चुकी हूँ। अब, मेरी कोई सौत नही रही, कोई शत्रु नही रहा।'[1]

यह है वैदिक नारी का सबल-स्वरूप। वह जीवन के हर केन्द्र पर, वह केन्द्र चाहे भोग का हो या योग का, युद्ध का हो या याग का, हर जगह वह अपने पति जैसी ही बलवती है, आत्मा की प्रज्ञा जैसी।

ये है ऋग्वेद के कुछ अश, जिनमे भारतीय साहित्य और सस्कृति की शाश्वत-निधियाँ समाई हुई हैं। आज की भारतीयता का यही है आदि स्रोत, जिसमे, अनगिनत कथाओ के द्वारा मानव-चेतना को ऊर्ध्वरेतस् बनाने के न जाने कितने रहस्य, आज भी अनुन्मीलित हुये पड़े हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण का शुन:शेप आख्यान, शत-पथ ब्राह्मण मे दुष्यन्त पुत्र भरत और शकुन्तला से सम्बन्धित आख्यान, महाप्रलय की कथा मे मनु का विवरण भी प्रसिद्ध आख्यानो मे से है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे याज्ञवल्क्य के दार्शनिक वाद-विवाद, महाप्रलय मे मनु का वर्णन भी प्रसिद्ध आख्यानो मे से है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे याज्ञवल्क्य और जनक के सवाद तथा याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के बीच हुई दार्शनिक चर्चाए, भारतीय संस्कृति के ऊर्जस्विल आख्यानो मे माने/गिने जाते हैं।

इसी सन्दर्भ मे, जब उत्तर वैदिक आख्यान साहित्य पर दृष्टिपात किया जाता है, तो रामायण और महाभारत, ये दोनो ही आर्ष काव्य, अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य, कौरवो और पाण्डवो के पारिवारिक कलह की राष्ट्रीय व्यापकता को विश्लेषित करना रहा है। यह युद्ध यद्यपि अठारह दिनो तक ही चला, किन्तु इसकी वर्णना मे अठारह हजार श्लोको का एक विशाल-ग्रन्थ तैयार हो गया। सर्पदंश से, जब महाराज परीक्षित स्वर्गवासी हो जाते है, तब उनका पुत्र जनमेजय, सम्पूर्ण सर्पो के विनाश के लिए नागयज्ञ का अनुष्ठान करता है।

---

१. उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भग.। अह तद् विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहि.॥
अहं केतुरह मूर्धाहमुग्रा विवाचनी। ममेदनु क्रतु पति सेहानाया उपाचरेत्॥
मम पुत्रा शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तम॥
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः। इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्॥
इत्यादि। —वही १०-१०६-१—४

इसी अवसर पर, उसे यह सारी कथा, वैशम्पायन ने सुनाई थी। वैशम्पायन ने स्वय, यह कथा महर्षि व्यास से सुनी थी।

इस कथा मे, मुख्यकथा के अतिरिक्त अनेको आख्यान, प्रसङ्गवशात् आये है। जिनमे, शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गगावतरण, ऋष्यशृङ्गकथा, महाराज शिवि और उनके पुत्र उशीनर की, तथा, सावित्र्युपाख्यान और जलोपाख्यान आदि, कुछ ऐसे आख्यान है, जिन्हे विश्व-साहित्य मे एक विशेष गौरव की आँख से देखा/परखा/पढा जाता है। इसी महाभारत मे, श्रीकृष्ण का समग्र जीवन-वृत्त, एक हजार श्लोको मे गुम्फित है। इस अश को 'हरिवश कथा' के नाम से स्वतत्र रूप भी दिया गया है। भगवद्गीता का कृष्णार्जुन सवाद भी, महाभारत का ही एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

रामायण मे, महाभारत जैसा, आख्यानो का विपुल भण्डार तो नही है, फिर, भी, भारतीय काव्य-परम्परा का आद्य-ग्रन्थ होने का, इसे गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त है। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने इसमे जिस रामकथा का वर्णन किया है, उससे, भारत का प्रत्येक आबाल-वृद्ध भलीभाँति परिचित है।

रामायण मे भी मुख्यकथा के अतिरिक्त अनेको अवान्तर-कथाये जुड़ी हुई, प्रसङ्गवशात् आई हुई है। जिनमे, रावण का ब्रह्मा से वरदान पाना, राम के रूप मे विष्णु का अवतरित होना, गगावतरण, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध आदि आख्यान, सस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट एव गरिमापूर्ण आख्यानो के रूप मे स्वीकार किये जाते है।

इन दोनो महाग्रन्थो की भाव-भूमि को आधार मान कर, उत्तरवर्ती आख्यान-साहित्य की विस्तृत सर्जनाए हुई है। 'मालती-माधव' और 'मुद्राराक्षस' जैसे कुछ एक कथानको को छोडकर, शेष समूचा सस्कृत साहित्य, इन दोनो आर्ष काव्यो के प्रभाव से अनछुआ नही रह पाया। रघुवश, भट्टिकाव्य, रावणवहो और जानकीहरण जैसे महाकाव्यो ने रामायण की रसधारा मे स्वय को निमग्न कराया, तो किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, और नैषधीयचरित जैसे उत्कृष्ट महाकाव्यो की पृष्ठभूमि मे, महाभारत की ऊर्जस्विल भाव-लहरिया तरङ्गित होती स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

मानवीय-जीवन, बालू के घर की तरह, शीघ्र ढह कर गिर जाने वाली वस्तु नही है। बल्कि, इसमे स्थायित्व है। ऐसा स्थायित्व, जो अपनी भौतिक सत्ता को विनष्ट कर चुकने के वाद भी, अपने बाद की मानव-सन्तति को राह दिखा सकता है। किन्तु, यह तब सम्भव हो पाता है, जब व्यक्ति अपना जीवन उदात्तता, पर-दु.ख-कातरता, त्रस्त-पीड़ित–प्रताड़ित मानवता को शरण और सहकार-सम्बल करना, आदि महनीय शोभन गुणो से आपूरित बना लेता है।

इन्ही जैसे गुणो से, व्यक्ति के क्षणभगुर जीवन मे स्थायित्व और महनीयता समाहित हो पाती है।

वाल्मीकि-रामायण मे, उन समस्त शोभन गुणो का सुन्दर-समन्वय, राम के आदर्श व्यक्तित्व मे फलितार्थ किया गया है, जिससे, उनका जीवन, सिर्फ मृत्यु-पर्यन्त तक चलने वाला, साधारण आदमी के जीवन जैसा न रह पाया, वरन्, एक ऐसा चरित बन गया, जिसे आज भी, हर-पल, हर-क्षण जीवन्त बना हुआ अनुभव किया जाता है।

महाभारत की सर्जना के मूल मे भी, सिर्फ युद्धो की वर्णना करना ही महर्षि व्यास का लक्ष्य नही रहा, वल्कि उनका अभिप्राय, भौतिक-जीवन की निस्सारता को प्रकट करके, मोक्ष के लिये प्राणियो मे औत्सुक्य जगाना रहा है। इसीलिये, महाभारत का मुख्य-रस 'शान्त' है। वीररस तो उसका अगीभूत बनकर आया है।

महाभारत, वस्तुत: एक ऐसा धार्मिक ग्रन्थ है, जिससे, आधुनिक जगत् की हर-श्रेणी का व्यक्ति, अपना जीवन सुधारने की शिक्षा-सामग्री प्राप्त कर सकता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति की सरस्वती प्रवाहित करने वाली भगवद्गीता तो आज के आध्यात्मिक जगत् का उत्कृष्ट कीर्तिस्तम्भ है। महाभारत की इन्ही सब विलक्षण विशेषताओ को ध्यान मे रखकर, महर्षि व्यास ने, अपना आशय व्यक्त करते समय स्पष्ट किया था—'इस आख्यान को जाने बिना, जो पुरुष वेदाङ्ग तथा उपनिषदो को जान लेता है, वह व्यक्ति कभी भी अपने को विचक्षण नही कहलवा सकता।'[1]

भारतीय आख्यान साहित्य मे, बौद्धधर्म के कथा साहित्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बौद्ध कथाओ को समाविष्ट करने वाला 'अवदान' साहित्य, अपना मौलिक अस्तित्व रखता है। 'अवदान' का अर्थ होता है—'महनीय कार्य की कहानी'। जिस तरह, पालि साहित्य मे, महात्मा बुद्ध के पूर्व-जन्मो के शोभन गुणो का वर्णन 'जातक' मे हुआ है, उसी परिपाटी मे, सस्कृत मे विरचित यह 'अवदान' साहित्य है। इसमे 'अवदान शतक' सवसे प्राचीन संग्रह है।[2] इसमे सकलित कथाये, तथागत बुद्ध के उन शोभन गुणो की वर्णना करती है, जिनके बल पर उन्हे बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। इसकी कुछ कहानियो मे, पापाचरण करने वाले व्यक्तियो को दी जाने वाली यातनाओ की भी विवेचना की गई है। इस सकलन के अत.साक्ष्यों

---

१ यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विज ।
न चाख्यानमिद विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षण: ॥

२. डॉ० कावेल व नील द्वारा सम्पादित-कैम्ब्रिज–1896,
बौद्ध संस्कृत ग्रन्थमाला (दरभंगा) से प्रकाशित–1962

के आधार पर, इसका रचना-काल द्वितीय शतक माना जा सकता है। तीसरी शताब्दी मे इसका चीनी अनुवाद हुआ था।

'दिव्यावदान' भी बौद्धकथाओ का एक सकलन है। यह ग्रन्थ, पूर्णत: गद्य मे है। किन्तु, बीच-बीच मे जो गाथाये इसमे दी गई है, वे, छन्दवद्ध तो हैं ही, उनमे आलंकारिकता भी अच्छे स्तर की है। ग्रन्थ में अशोक से सम्बन्धित कथाएं हैं। इन कथाओ की ऐतिहासिकता और मनोरञ्जकता तो असदिग्ध है, परन्तु, इसकी भाषा को, पाली के सम्पर्क से मिश्रित होने के कारण, तथा कुछ स्थलो पर, भ्रष्ट-भाषा का भी प्रयोग होने के कारण, भाषा-शास्त्रियो ने, एक अलग प्रकार की धारा में प्रवाहित भाषा माना है। इसी तरह, इसमे संकलित कथाओ के कहने का ढंग भी अस्त-व्यस्त और बेतुका सा है।

समग्र बौद्ध साहित्य मे 'त्रिपिटक' प्रमुख है। ये त्रिपिटक हैं—विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओ के आचरण को सयमित रखने के लिये जो नियम बनाये, उन्ही की चर्चा 'विनयपिटक' मे है। 'सुत्तपिटक' मे, बुद्ध के उपदेशो और सवादो का संग्रह है। महाभारत के सुप्रसिद्ध यक्ष-युधिष्ठिर संवाद की तरह का यक्ष-युद्ध संवाद भी इसी सग्रह मे है। इसी सग्रह मे संकलित 'जातक' मे बुद्ध के पूर्व-जन्म के सदाचारो की अभिव्यक्ति करने वाली कथायें हैं। बौद्धधर्म कथाओ मे इसका विशेष महत्त्व है। 'बुद्धवंश' मे, गौतम-बुद्ध से पूर्व के चौवीस बुद्धो का जीवन-चरित वर्णित है। इनमें समाहित कथा साहित्य बौद्ध-धर्म कथा का उत्कृष्ट साहित्य माना जा सकता है। 'अभिधम्मपिटक' मे गौतम बुद्ध के उपदेशो के आधार पर, उनके दार्शनिक विचारो की व्यवस्था की गई है।

'विनयपिटक' के खन्दको मे, नियमों और कर्त्तव्यो के निर्देश के साथ-साथ अनेक आख्यान भी मिलते हैं। 'चुल्लवग्ग' मे सवादात्मक और चरित सम्बन्धी अनेको कथाएं हैं। 'दीघनिकाय' 'मज्झिमनिकाय' और 'सुत्तपिटक' मे भी, बहुत सारे आख्यान हैं। इसी तरह, 'विमानवत्थु', 'पेत्थवत्थु', 'थेरी गाथा' और 'थेर गाथा' मे भी कई तरह की कथाए हैं। इन सबको देखने से यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि जातक-साहित्य, उपदेशपर्ण मनोरञ्जक कथाओ/आख्यानो का विशाल भण्डार है। जिसके प्रभाव से, उत्तरवर्ती साहित्य भी अछूता नही रह सका।

पालि त्रिपिटक की गाथाए, बहुत प्राचीन हैं। उसमे प्रयुक्त छन्द, वाल्मीकि रामायण से भी प्राचीन है।[1] कुछ गाथाए तो वैदिक युग की हैं।[2] इन्ही गाथाओं को स्पष्ट करने के लिये, जातक कथाए कही गई है। बौद्ध धर्म का यथार्थ-परिचय

१ ओल्डेन वर्ग—गुरुपूजाकौमुदी, पृष्ठ—९०, दीघनिकाय—सम्पा ह्रीस डेविड्स एण्ड कारपेन्टर—वाल्यूम-I, इन्ट्रोडक्शन—पृष्ठ-८

२ डॉ० विन्टरनित्ज—हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिट्रेचर-II, P. १२३

कराने के कारण सुत्तपिटक का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व विशेष है। प्राचीन नीति कथाओ का सग्रह 'जातक' इसी मे सकलित है। जातक, सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का दशवाँ ग्रन्थ है। इसमे, अनेकों कहानियाँ हैं। कुछ छोटी है और कुछ बड़ी। कुछ कथाएं तो इतनी बड़ी हैं कि उनके स्वरूप को देखते हुये, उन्हे सक्षिप्त महाकाव्य कहा जा सकता है।

'जातक' का अर्थ होता है—'जन्म-सम्बन्धी कथाए'। तथागत ने अपने पूर्वजन्मो का, और घटनाओ का स्मरण करके, उन्हे अपने शिष्यो को सुनाया। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व, कई योनियों मे, उन्हे जन्म लेना पड़ा था। जिनमे मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि की योनियाँ रही। इन सब योनियो मे रहकर भी, उनका 'बोधिसत्त्व' यथावस्थित रहा। 'बोधिसत्त्व' का अर्थ होता है—'बोधि के लिये उद्यमशील प्राणी (सत्त्व)'। इन्ही कहानियो को कह कर, बुद्ध ने, लोगो को अपना उपदेश दिया। ये कहानियाँ, ईसा पूर्व की पाचवी शताब्दी से लेकर, ईसा के बाद की प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक रची गई। इनमे से अनेकों कहानियो का विकसित रूप रामायण और महाभारत मे भी पाया जाता है।[1]

बुद्ध ने परम्परागत लौकिक गाथाओ को सुभाषितो के रूप मे ग्रहण किया। 'विलारवत' जातक की एक गाथा मे 'विडालव्रत' का लक्षण दिया गया है। बुद्धकाल में, कोई ऐसी विडाल कथा प्रचलित रही होगी, जिसमे, चूहो को धोखा देकर कोई विडाल उन्हे खा जाता था। धर्म की आड़ मे धोखा देने वाले कृत्य का यह प्रतीकात्मक आख्यान है। इस प्रकार के कार्य को, उस समय मे 'विडालव्रत' के रूप में पर्याप्त मान्यता दी जा चकी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए बुद्ध ने, उसे जातक गाथा में सम्मिलित करके अपना लिया।[2] महाभारत[3], मनुस्मृति[4] एव विष्णु स्मृति[5] में भी, इस विडालव्रत का उल्लेख आया है।

'जातक' मे जातको की कुल सख्या ५४७ है। जिनमे, कुछ जातक नये आ गये हैं।[6] और, कुछ प्राचीन जातक इसमे नही आ पाये है।[7] तथापि यह जातक साहित्य, उपदेश पूर्ण और मनोरजक है।

---

१ जातक–प्रथम खड–भूमिका–भदन्त आ० कौस० पृ. २४

२. यो वे धम्म वज कत्वा निगूलहो पापमाचरे।
विस्सासयित्वा भूतानि विलार नाम त वत॥ —विलारवत जातक–१२८

३. महाभारत—५-१६०-१३

४ धर्मध्वजो सदा लुब्धादमिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्र. सर्वाभिसंधिक॥ —मनुस्मृति-अ ४-१९५

५ विष्णुस्मृति—९३-८

६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर—डॉ विन्टरनित्ज, वॉ II, पृष्ठ-१२४, फुटनोट १

७ वही—पृष्ठ–१२५, फुटनोट ४

जैन आख्यान/कथा साहित्य

प्राचीन जैन आगमो मे कथा-साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। 'आचाराग' मे, महावीर की जीवन-गाथा है, तो 'कल्पसूत्र' मे तीर्थङ्करो की जीवनियो की सक्षिप्त झाकी है। 'नायाधम्मकहाओ' के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययनो मे, और दूसरे श्रुतस्कन्ध के दश वर्गो मे अनेको मनोहारी और उपदेशात्मक कथाओं का चित्रण है। शिष्यो के प्रश्नो के उत्तररूप मे, वीर जीवन की झाकी 'भगवती' के सवादो मे प्रस्तुत की गई है। 'सूत्रकृताङ्ग' के छठे व सातवे अध्ययनो मे, आर्द्रककुमार के गोशालक और वेदान्तियो के साथ सम्वादो का, तथा पेढाल पुत्र उदक के साथ भगवान महावीर के सवादो का उल्लेख है। इसी के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्ययन मे, पुण्डरीक का दृष्टान्त महत्वपूर्ण है। 'उत्तराध्ययन' मे भी जो अनेको भावपूर्ण व शिक्षाप्रद आख्यान आये है, उनमे, नेमिनाथ की जीवन-गाथा का प्रथम उल्लेख, विशेष महत्त्व का है। श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि, और राजीमती की कथाए, तथा कपिल का आख्यान भी आकर्षक एव मनोहारी है। इसी के चोर,[1] गाडीवान,[2] तीन व्यापारियो के दृष्टान्त,[3] तथा हरिकेश–ब्राह्मण,[4] पुरोहित और उसके पुत्र,[5] पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यो के सम्वाद,[6] विशेष उल्लेखनीय है।

आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्ड कोकिल, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता, और शालिनीपिता इन दश श्रावको का जीवन चित्र, 'उपासकदशाग' के दश आख्यानो मे चित्रित है। इन्होने, ससार का परित्याग सर्वांशत· नही किया था, फिर भी, वे मोक्षप्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील बने रहे। इनके जीवन-चरितो का यही वैशिष्टय रहा है।

'अन्तकृद्दशाग' मे उन अनेको महापुरुषो और स्त्रियो का जीवन-चरित्र वर्णित है, जिन्होने उग्र तपश्चरण द्वारा, अपनी सासारिकता को विखण्डित करके मोक्ष प्राप्त किया। 'अनुत्तरोपपातिक दशाग' मे, ऐसे दश साधको की जीवनचर्या वर्णित की गई है, जो अपने साधना बल से, पहिले तो अनुत्तर विमानो मे जन्म लेते है, फिर मनुष्य जन्म प्राप्त कर, मोक्षगामी बनते हैं। स्थानाग[7], तत्त्वार्थराज वार्तिक[8]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र—अध्य० २१,
२. वही—अध्ययन–२७
३ वही—अध्ययन–२१
४. वही—अध्ययन–१२
५. वही—अध्ययन–१२
६ वही—अध्ययन–२३
७ ठाण—१०/११४
८. तत्त्वार्थराजवार्तिक— १/२०

और अगपण्णत्ती[1] मे, इन दश साधको के नामो मे, और उनके क्रम-वर्णन मे भी भिन्नता स्पष्ट देखी गई है ।

'विपाक सूत्र' मे शुभ-कर्मो का और अशुभ-कर्मो का परिणाम कैसा होता है ? यह वतलाने के लिये दश-दश व्यक्तियो के जीवन-चरित्रो को उद्‌धृत किया गया है । इसके प्रथम श्रुत-स्कन्ध मे, दुष्कृत-परिणामो का दिग्दर्शन कराने के लिये, जिन दश कथानको को चुना गया है, उनसे सम्बद्ध व्यक्तियो के नाम इस प्रकार हैं--मृगापुत्र, उज्भितक, अभग्नसेन, (अभग्गसेन), शकटकुमार, वृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उदुवरदत्त, शौर्यदत्त, देवादत्ता और अजुश्री । स्थानाग में, इनसे भिन्न नाम मिलते है, जो कि इस प्रकार है—मृगापुत्र, गोत्रास, अडशकट, माहन, नंदीषेण, शौरिक, उदुवर, सहसोद्‌वाह, आमटक और कुमारलिच्छवी ।[2] इन नामो का वर्तमान मे उपलब्ध नामों के साथ सुन्दर समन्वय किया है--प० वेचरदासजी दोशी ने, जो द्रष्टव्य है ।[3]

दूसरे श्रुतस्कन्ध मे, सुकृत परिणामो का दिग्दर्शन कराने वाले, जिन दश जीवनवृत्तो को चुना गया है, उनके नाम हैं—सुवाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदासकुमार (वैश्रमणकुमार), धनपति, महावलकुमार, भद्रनन्दी कुमार, और वरदत्तकुमार । इसी तरह के शिक्षाप्रद भावप्रधान आख्यान, उत्तराध्ययन सूत्र निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति और नदिसूत्र में भी है ।

श्वेताम्वर परम्परा के आगमोत्तरवर्ती आख्यान साहित्य से जुडे पउमचरिय (विमलसूरि), सुपार्श्वचरित (लक्ष्मणगणि), महावीर चरिय (गुणभद्र), तरंगवती, वसुदेव-हिण्डी, समराइच्चकहा (हरिभद्र), हरिवश, प्रभावकचरित, परिशिष्टपर्व, प्रवन्ध चिन्तामणि और तीर्थकल्प आदि अनेको ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमे धर्म, शील, पुण्य, पाप और संयम एव तप के सूक्ष्म-रहस्यो की विवेचना की गई है । जिनमे, मानवीय जीवन और प्राकृतिक विभूति के समग्र चित्र उज्ज्वलता और निपुणता के परिवेश में प्रस्तुत किये गये है ।

दिगम्वर परम्परा, श्वेताम्वर परम्परा मे उपलब्ध अङ्ग-साहित्य को स्वीकार नही करती । इसकी मान्यता है कि द्वादशाङ्ग साहित्य लुप्त हो चुका है । उसका जो कुछ भाग शेष वचा है, वह 'षट्‌खण्डागम', 'कषाय-पाहुड' और 'महावन्ध' जैसे उपलब्ध ग्रन्थो मे सुरक्षित है । फिर भी, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रंथो से यह ज्ञात होता है कि दिगम्वर परम्परा के अङ्ग-साहित्य मे भी अनेक आख्यान पाये जाते थे ।

---

१ ....उजुदासो सालिभद्दक्खो । सुणक्खत्तो अभयो वि य वण्णो वरवारिसेण णदगया । णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह अण्णे ।। —अगपण्णत्ती—५५

२. ठाणांग—१०/१११ ।

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग १, पृष्ठ २६३, प्रकाठ पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ।

वस्तुत , दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनो ही परम्पराओ मे मान्य आगमो के नाम्र लगभग एक जैसे ही है । जो कुछ थोडा बहुत अन्तर परम्परा भेद से परिलक्षित होता है, उसका कोई ऐसा महत्त्व नही है, जिसका दुष्प्रभाव, मौलिक मान्यताओ पर अपनी छाप डाल पाता हो ।

उपलब्ध दिगम्वर साहित्य मे आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओ का विशिष्ट स्थान है । इनमे ढेर सारे कथानक, आख्यान और चरित मिलते है । भावना की उपयोगिता, साधना के क्षेत्र मे कितनी महत्त्वपूर्ण है ? इसका बहुमुखी परिचय, 'भावपाहुड' का अध्ययन करने से स्वत मिल जाता है । निस्सग हो जाने पर भी, 'मान' कषाय की उपस्थिति के कारण बाहुबलि के चित्त पर कालुष्य बना ही रहा[1], अपरिग्रही मुनि मधुपिंग को 'निदान' के कारण द्रव्यलिङ्गी बने रहना पडा[2], वशिष्ठ मुनि की भी दुर्दशा, इसी निदान के कारण, कुछ कम नही हुई ।[3] बाहुमुनि को, क्रोधाविष्ट होकर दण्डक राजा का नगर भस्म कर देने के परिणामस्वरूप रौरव नरक तक भोगना पडा[4], दीपायन को भी द्वारका नगरी भस्म करने के फलस्वरूप अनन्तसंसारी बनना पडा[5], और भव्यसेन मुनिराज, द्वादशाङ्ग एव चौदह पूर्वों के पाठी होते हुये भी, सम्यक्त्व के अभाव मे, भाव-श्रामण्य प्राप्त नही कर पाये[6] ।

इन कथाओ के साथ, भावश्रमण शिवकुमार का एक ऐसा कथानक भी जुडा हुआ है, जिसमे इन्हे, युवतियो से घिरा रहने पर भी विशुद्ध चित्त और आसन्नभव्य बने रहने की भूमिका मे चित्रित किया गया है ।[7] कुन्दकुन्दाचार्य के ही 'शीलपाहुड' मे सात्यकि पुत्र का एक और भावपूर्ण कथानक वर्णित[8] है ।

'तिलोय-पण्णत्ति' मे त्रेसठ शलाका-पुरुषो की जीवन-घटनाओं का प्रभावपूर्ण वर्णन है । वट्टकेर के 'मूलाचार' मे एक ऐसी घटना का वर्णन किया गया है, जिसमे, एक ही दिन, मिथला नगरी की कनकलता आदि स्त्रियो, और सागरक आदि पुरुषो की हत्या का वर्णन है ।[9] 'मूलाराधना' मे अनेको सुन्दर आख्यान है । जिनमे, सुरत

---

१ भावपाहुड गाथा ४४
२ वही ,, ४५
३ वही ,, ४६
४ वही ,, ४६
५ वही ,, ५०
६ वही ,, ५१
७ वही गाथा ५२
८ शील प्राभृत गाथा ५१
९. मूलाचार १/८६-८७

की महादेवी[1], गोर सदीव मुनि[2], और सुभग ग्वाला[3] आदि के आख्यान मुख्य है। इनका विस्तृत वर्णन हरिषेण और प्रभाचन्द्र ने भी अपने-अपने कथानको मे किया है।[4]

समन्तभद्र स्वामी का 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' आख्यानो का भण्डार है। इसमे अजन चोर, अनन्तमती, उद्दायन, रेवती, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णुकुमार, और वज्रकुमार आदि के आख्यानो से ज्ञात होता है कि ये सब, सम्यक्त्व के प्रत्येक अङ्ग का परिपूर्ण पालन करने के लिये विख्यात थे। इनके अलावा कुछ ऐसे व्यक्तियो के आख्यान भी इसमे मिलते हैं, जो व्रतो का पालन करते हुए भी, पापाचरण के लिये प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। इसी मे, उस मेढक की भी प्रसिद्ध कथा वर्णित है, जो महावीर के दर्शन के लिए निकलता है, किन्तु रास्ते मे ही श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दब कर मर जाता है। और, तुरन्त महर्द्धिकदेव का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत, आदिपुराण (जिनसेनाचार्य), उत्तरपुराण (गुणभद्र), महापुराण (अपभ्र श, पुष्पदन्त) आदि विभिन्न पुराणो मे, तथा 'धर्म शर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' (दोनो हरिचन्द), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि), यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव), हरिवश (जिनसेन), पद्मचरित (रविषेण), पुरुदेवचम्पू (अर्हद्दास) एवं गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) आदि विभिन्न महाकाव्यो/चरितकाव्यो मे पाये जाने वाले आख्यान तथा कथाये, जैनधर्म-कथाओ की महनीयता को सिद्ध करते हैं। तमिल और कन्नड भाषा के जैन साहित्य मे भी, भारतीय आख्यान-साहित्य की अनुपम निधि भरी पडी है।

भारतीय आख्यान साहित्य मे 'नीतिकथा' साहित्य का विशेष स्थान है। सस्कृत साहित्य की नीतिकथाओं ने, विश्व के कथा साहित्य में अपना स्थान विशेष ऊचा बना लिया। क्योकि, वे, जिन-जिन देशों मे पहुंची, वही-वही पर लोकप्रिय बनती गईं।

अंग्रेजी के प्रख्यात आलोचक डॉ सेमुअल जान्सन ने, नीति-कथा की परिभाषा इस प्रकार की है—'विशुद्ध नीतिकथा, एक ऐसा निवेदन है, जिसमे कुछ बुद्धिहीन प्राणी एव कभी-कभी अचेतन पदार्थ, पात्रो के रूप मे नीति-तत्त्व की

---

१. मूलाराधना आ० ६, गाथा १०६१
२ वही, गाथा ६१५
३ वही, गाथा ७५६
४. वृहद् कथाकोष प्रस्तावना सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये।

शिक्षा देने हेतु आये हो, और वे, मानवीय हितो एव भावो को ध्यान मे रख कर, चेष्टा तथा सम्भाषण करने मे कल्पित किये गये हो।'[1]

डॉ जान्सन की उक्त परिभाषा के अनुसार नीतिकथा के तीन मूल-तत्त्व स्पष्ट होते हैं— १. पात्र, २ हेतु, एव ३ कल्पना तत्त्व। इन तीनो का स्वरूप-निर्धारण, उक्त परिभाषा के अनुसार, हम निम्नलिखित रूप मे कर सकते है—

१. पात्र–मानवेतर (बुद्धिहीन) चेतन प्राणी तथा अचेतन पदार्थ।

२. हेतु–किसी नीतितत्त्व की शिक्षा देना, या उसका स्वरूप-प्रतिपादन।

३. कल्पना तत्त्व–मानवीय हितो एव भावो को ध्यान मे रखते हुए, ऐसे पात्रो की कल्पना, जिनमे मानवोचित सम्भाषण और चेष्टाओ की कल्पना करना सहज सम्भव हो।

सस्कृत साहित्य की नीति-कथाओ के प्रमुख पात्र, मानवेतर प्राणी–पशु-पक्षी रहे है। ये अपनी-अपनी कहानियो मे, मनुष्य की ही भाति सम्पूर्ण व्यवहार करते हुये पाये जाते है। हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह, हास्य-रुदन, युद्ध-सन्धि, उपकार-अपकार एव चिन्ता-उत्कण्ठा जैसे भावात्मक व्यवहारो मे उनका आचरण, मानव जैसा ही होता है। यही पशु-पक्षी, अपनी-अपनी कहानियो मे, व्यावहारिक राजनीति एव सदाचार के सूक्ष्मतम रहस्यो और उनकी उपलब्धियो का, तथा इन सब की साधनभूत गूढ मत्रणाओ तक को, बडे स्वाभाविक ढग से प्रतिपादित करते देखे जाते हैं। किन्तु, उपलब्ध नीतिकथा साहित्य मे, एक भी ऐसी कथा नही मिलती, जिसमे, अचेतन/निर्जीव पात्रो को स्वीकार किया गया हो। हाँ, ऋग्वेद मे, उषा से सम्बन्धित एक कविता है।[2] किन्तु, उसमे दृश्य का प्राकृतिक सौन्दर्य ही अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ पर, प्रकृति, जीवन्त स्वरूप मे उपस्थित अवश्य हुई है, पर वह, किसी कथा/आख्यान के पात्र जैसा कार्य/व्यवहार नही करती। इसलिए इस उषा-वर्णन मे, प्रकृति के मानवीयकरण का विश्लेषण, हम स्वीकार करेगे। क्योकि पात्र बन कर, किसी कहानी मे कार्य/व्यवहार करना, एक अलग बात है। इस पात्र-कार्य/व्यवहार की समानता, प्रकृति के मानवीयकरण से एकदम विपरीत बैठती है। इसलिए, डॉ० जान्सन की परिभाषा मे 'कभी-कभी अचेतन पदार्थ' की पात्रता का सिद्धान्त-कथन चिन्तनीय प्रसङ्ग उपस्थित कर देता है।

सन् १८४२ मे, लन्दन मे फेबल्स (Fables) नाम से एक कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ था।[3] इसमे अलग-अलग लेखकों की जो लघुकथाए, सम्पादक द्वारा

---

१. Lives of the English Poets : Vol I, Edited By G Birckback Hill, Oxford, Goy P 283

२. ऋग्वेद १/४८/१–१६

३ Fables Editor G Moir Bussey. London, 1842

सकलित की गई थी, वे सब की सब, 'फेवल्स' के अन्तर्गत ही रखी गई थी । इनमे प्रख्यात ग्रीक नीतिकथाकार ईसप (Acsop) से लेकर डोडस्ले (Dodslay) तक की नीतिकथाए थी । इन कथाओ के पात्रो मे कही 'ईसप एव गर्दभ' है, तो कही पर 'दो बर्तन' है । शृगाल, सिंह, हाथी आदि पञ्चतन्त्र की कहानियो जैसे पात्र भी कुछ कथाओ मे थे । इन सब कहानियो को 'फेवल्स' कहना, उस समय ठीक माना जा सकता था, क्योकि, इस सग्रह के प्रकाशन काल तक, नीतिकथा की कोई भेद-दर्शिका व्याख्या/परिभापा, या ऐसा ही कोई लक्षण-विशेप, स्पष्ट नही हो पाया था । किन्तु आज, 'फेवल्स' का स्पष्ट स्वरूप सामने आ चुका है ।[1] तदनुसार, 'नीतिकथा' के अन्तर्गत वे ही कथाए ग्रहण की जा सकेगी, जिनमे अधिकतर पात्र मानवेतर क्षुद्र प्राणी हो, और, कही-कही, मानवीय पात्र भी आये हो । किन्तु, प्रमुख रूप मे नही, बल्कि, गौण रूप में ही ।

पशु-पक्षियो के माध्यम से व्यावहारिक उपदेश देने की परम्परा, भारत मे बहुत प्राचीन है । ऋग्वेद मे 'मनु और मत्स्य' की कथा आई है । छान्दोग्योपनिपद् मे दृष्टान्त के रूप मे उद्गीथ श्वान का आख्यान है । रामायण मे कुछ नीति-कथाए वर्णित है और कुछ उपमाओ द्वारा सकेतित । महाभारत मे भी विदुर के श्रीमुख से अनेको उपदेशप्रद नीतिकथाएं कही गईं है । ई. पू तीसरी शताब्दी के भारहूत-स्तूप पर भी अनेको नीतिकथाए उट्टकित की गई हैं ।[2] पातञ्जलि के महाभाष्य मे 'अजाकृपाणीय' 'काकतालीय' आदि लोकोक्तियो का, और 'सर्पनकुल' 'काक-उलूक' की जन्मजात शत्रुता का उल्लेख आया है ।

नीतिकथा का स्पष्ट रूप 'पञ्चतन्त्र' मे मिलता है । विष्णु शर्मा द्वारा रचित यह ग्रन्थ, नीति-साहित्य का सर्व प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । किन्तु, मौलिक 'पञ्चतन्त्र' आज उपलब्ध नही है । वैसे, पञ्चतन्त्र के आज कल आठ सस्करण उपलब्ध हैं, जिनमे, थोड़ा-बहुत हेर-फेर अवश्य है । इन सारे संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, डॉ. एजर्टन ने एक प्रामाणिक सस्करण प्रस्तुत किया है ।

'पञ्चतन्त्र' की रचना कब हुई ? निश्चय के साथ, आज कुछ भी नही कहा जा सकता । बादशाह खुसरू अन् शेर खां (५३१–५७९) के शासनकाल मे, इसका पहली बार अनुवाद पहलवी भाषा मे हुआ था । परन्तु, आज यह अनुवाद भी अप्राप्य हो गया है । इस अनुवाद के आसुरी (Syriac) और अरबी रूपान्तर अवश्य मिलते है । जिनके नाम क्रमश: 'कलि लग तथा दम नग' (५७० ई.) और 'कलीलह तथा दिमनह' (७५० ई.) रखे गये थे । इन नामों से यह अवश्य ज्ञात

1. Oxford Junior Encyclopaedia : Vol I, 'Mankind' oxford, 1955 p. 167
२ मैकडानल . इडियाज पास्ट—पृष्ठ–११७

होता है कि पहलवी भाषा मे अनूदित ग्रन्थ का नाम भी पञ्चतन्त्र के प्रथम तन्त्र मे वर्णित दोनो शृंगालो के नाम पर रहा होगा। और सम्भव है, इस रूपान्तर के समय तक, पञ्चतन्त्र का नामकरण भी यही हो गया हो।

पञ्चतन्त्र में चाणक्य का उल्लेख होने, और उस पर 'अर्थशास्त्र' का स्पष्ट प्रभाव होने से, यह भी अनुमानित होता है कि इसका रचना काल ३०० ई के निकट होना चाहिए। क्योकि अर्थशास्त्र को, दूसरी शताब्दी की रचना माना जाता है।

विश्व मे, जिन पुस्तको के सर्वाधिक अनुवाद हुए है, उनमे से एक 'पञ्चतन्त्र' भी है। भारत मे, यह सभी भाषाओ मे, लगभग अनूदित हो चुका है। पचास से अधिक विदेशी भाषाओ मे, दो सौ पचास सस्करण इसके निकल चुके है।[1] ग्यारहवी शताब्दी मे इसका हिब्रू मे, १३वी शताब्दी मे स्पेनिश मे, और १६वी शताब्दी मे लैटिन एव अग्रेजी भाषाओ मे अनुवाद हुआ था। इसके प्राचीनतम अनुवाद से यह पता चलता है कि इसमे कुल बारह तन्त्र रहे होगे। आज, सिर्फ पाच ही तन्त्र इसमे है।[2]

पञ्चतन्त्र के बाद सर्वाधिक प्रचलित सकलन, नारायण पडित का 'हितोपदेश' है। इसकी एक पाण्डुलिपि १३७३ ई की मिली है। जिसके आधार पर, इसका रचना काल १४वी शती से पूर्व का माना जा सकता है। डॉ कीथ का कथन है कि इसका रचनाकाल ११वी शती से बाद का नही हो सकता। क्योकि इसमे रुद्रभट्ट का एक पद्य उद्धृत है। ११९९ ई मे, एक जैन लेखक ने भी इसका उपयोग किया था। इससे भी उक्त कथन प्रमाणित हो जाता है।

'हितोपदेश' पञ्चतन्त्र की ही पद्धति पर लिखा गया है। बल्कि, इसकी कुल ४३ कथाओ मे से २५ कथाये, 'पञ्चतन्त्र' से ली गई है। इस सत्य को स्वय ग्रन्थकार ने प्रस्तावना भाग मे स्वीकार किया है। दोनो मे सिर्फ इतना फर्क है कि हितोपदेश मे, पञ्चतन्त्र की अपेक्षा, श्लोक अधिक है। इनमे से कुछ श्लोक 'कामन्दकीय नीतिसार' मे मिलते है।

बौद्धो की नीतिकथाएं जातको मे सकलित है। इनका सकलन ई पू ३८० मे विद्यमान था। एक चीनी विश्वकोश (६६८ ई.) मे बौद्धग्रथो से ली गई २०० नीतिकथाओ का अनुवाद है।[3] 'अवदानशतक' मे, और आर्यशूर रचित 'जातकमाला' मे भी बौद्धो की नीतिकथाओ का सकलन है।

---

१ सस्कृत साहित्य की रूपरेखा—पृष्ठ–३००

२ मैकडानल हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ–३७०

३. वही—पृष्ठ–३६८

जैन सिद्धान्तों की विवेचना/व्याख्या के लिये अनेकों नीतिकथाओं की रचना हुई है। प्राकृत साहित्य में इन कथाओं की भरमार है। इनका संस्कृत रूपान्तर, बहुत बाद की वस्तु है। 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' को भी संस्कृत साहित्य के नीतिकथा ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण सम्मान मिला है। १५वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे लिखी गई जिनकीर्ति की 'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' तथा 'पाल-गोपाल कथानक' रचनाएं, नीति-कथाग्रथो मे रोचक मानी गई है। प्रथम रचना मे, भाग्य को जीतने के लिए रावण के निष्फल प्रयास का वर्णन है। जबकि दूसरी रचना मे, एक ऐसे युवक का कथानक है, जो किसी मनचली स्त्री के चंगुल में फसने से इनकार कर देता है। फलस्वरूप वह स्त्री, उस युवक पर दोषारोपण करने लगती है। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित के 'परिशिष्ट पर्व' को हेमचन्द्र (१०८८–११७२) ने, नीति-कथाग्रन्थ के रूप मे रचा। इसमे, जैनसन्तो के मनोहारी जीवन-वृत्तो की कथाएँ समाविष्ट हैं। 'सम्यक्त्व कौमुदी' मे अर्हद्दास और उसकी आठ पत्नियो के मुख से सम्यक् धर्म की प्राप्ति का प्रतिपादन कराया गया है। जिसे, एक राजा और चोर भी सुनते हैं। इस ग्रंथ की पद्धति, एक ही कथा के अन्तर्गत अनेको कथाओं का समावेश करने की परम्परा पर आधारित है।

इन तमाम सन्दर्भो को लक्ष्य करके कहा जा सकता है कि 'नीतिकथा' का प्रमुख लक्ष्य है—'सरल और मनोरंजक पद्धति से, धर्म, अर्थ और काम की चर्चाओं के साथ-साथ सदाचार, सद्व्यवहार और राजनीति के परिपक्व ज्ञान को मानव-मन पर इस तरह अंकित कर देना कि वह मायावी और वञ्चको के जाल मे उलझने न पाये।'

लोक-कथा साहित्य का भी लक्ष्य स्पष्ट है—'लोक-मनरञ्जन'। इनके पात्र, पशु-पक्षी न होकर, मात्र मानव ही होते हैं।

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह-ग्रन्थ है। 'अपने समय की प्रचलित लोककथाओं को संकलित करके गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की' ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। मूल 'बृहत्कथा' आज उपलब्ध नही है। इसलिए, इसके आकार आदि के सम्बन्ध मे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अवशिष्ट नही रहा। परन्तु, दण्डी,[1] सुबन्धु,[2] बाण,[3] धनजय,[4] त्रिविक्रम भट्ट,[5] और गोवर्धनाचार्य[6] आदि ने इसका उल्लेख अपनी-अपनी रचनाओं मे, आदर के साथ किया है।

१ काव्यादर्श-१/३८
२ वासवदत्ता (सुबन्धु)
३ हर्षचरित-प्रस्तावना,
४. दश रूपक-१/६८
५. नलचम्पू-१/१४
६. आर्यासप्तशती-पृष्ठ-१३

इसके तीन रूपान्तर आज मिलते है—(१) नैपाल के बुद्धस्वामी रचित 'वृहत्कथा-श्लोक-सग्रह' (८ वी, ६ वी ई शती)। यह रचना भी आज अशत उपलब्ध है। इसके वर्तमान स्वरूप मे २८ सर्ग और ४५२४ पद्य है। इसकी भाषा मे, कही-कही पर प्राकृत स्वरूप दिखलाई देता है, जिससे यह सम्भावना अनुमानित होती है कि ये अश मूल ग्रन्थ से लिये गये होगे।

(२) काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रय मे रहने वाले कवि क्षेमेन्द्र द्वारा रचित—'वृहत्कथामञ्जरी' (१०३७ ई०)। इसमे ७,५०० श्लोक है।

(३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' (१०६३–१०८१ ई०) मे १२४ तरगे और २०२०० पद्य हैं। इसके सरस आख्यान मनोरजक है और हृदयगम शैली मे लिखे गये है। ग्रन्थकार ने स्वय स्वीकार किया है कि उसकी रचना का आधार गुणाढ्य की वृहत्कथा है।[1] कथा-सरित्सागर, विश्व का विशालतम कथा-सग्रह ग्रन्थ है।

कीथ, बुद्धस्वामी के 'वृहत्कथा-श्लोक-सग्रह' को गुणाढ्य की रचना का विशुद्ध रूपान्तर मानते है। काश्मीर की जनश्रुति के अनुसार यह श्लोकवद्ध थी। किन्तु दण्डी ने, इसको गद्यमय वतलाया है।[2] वृहत्कथा, भारतीय साहित्य मे उपजीव्य ग्रन्थ के रूप मे समादृत है। इस दृष्टि से, इसे रामायण और महाभारत के समकक्ष माना जा सकता है।

'वैताल पञ्चविंशतिका' भी वृहत्कथामजरी और कथासरित्सागर की पद्धति पर लिखी गई रचना है। इसमे, एक वैताल ने उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य को, पहेलियो के रूप मे 25 कथाएँ सुनाई है। ये, मनोरजक होने के साथ-साथ विशेप कौतूहल पूर्ण भी हैं। इसके दो सस्करण उपलब्ध होते है—१. शिवदास कृत सस्करण (१२०० ई०) गद्य–पद्यात्मक है। और २. जम्भलदत्त का केवल गद्यमय है।

'सिहासन द्वात्रिशिका' भी इसी शैली और परम्परा की रचना है। इसके कथानक मे, विक्रम के सिहासन की वत्तीस पुत्तलिकाए, राजा भोज को एक-एक कहानी सुनाती जाती है और कहानी सुनाने के वाद उड जाती है। इस रचना के दो उपनाम—'द्वात्रिशत्पुत्तलिका' और 'विक्रमचरित' मिलते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारो वाले इसके तीन अलग-अलग सस्करण प्राप्त होते है। इनमे से एक गद्य मे, दूसरा

---

१. प्रणम्य वाच नि शेषपदार्थोद्योतदीपिकाम्।
वृहत्कथाया सारस्य सग्रह रचयाम्यहम्॥

—वृहत्कथासार–पृष्ठ–१, पद्य-३

२. काव्यादर्श–१/२३, ६८

पद्य मे, और तीसरा गद्य-पद्यमयी भाषा-शैली मे है। इसका रचना-काल भोज के समय (१०१८–१०६३) के बाद का ठहराया गया है। दक्षिण भारत मे इसका अधिक प्रसिद्ध नाम 'विक्रमार्कचरित' है।

विक्रमादित्य से सम्बन्धित कथाओ के कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते है। ये हैं—अनन्त का 'वीरचरित', शिवदास की 'शालिवाहन कथा' और भट्ट विद्याधर के शिष्य आनन्द की 'माधवानल कथा'। एक अज्ञात लेखक का 'विक्रमोदया' तथा एक जैन संकलन—'पञ्चदण्डच्छत्र प्रबन्ध'।

'शुक सप्तति' मे, कार्यवशात् घर छोड कर गये मदनसेन की प्रियतमा का मन बहलाने के लिये, उसका पालतू तोता, हर रात्रि मे एक मनोरजक कहानी उसे सुनाता है। ७० दिनो के बाद मदनसेन घर लौटता है। इस तरह, तोते द्वारा कही गई कहानियो के आधार पर, इसका नामकरण किया गया है। इसका रचना काल चौदहवी शताब्दी के पूर्व का अनुमानित किया गया है। इसके भी तीन सस्करण प्राप्त होते है। मैथिली कवि विद्यापति की पन्द्रहवी शताब्दी की रचना 'पुरुष परीक्षा' में नीति और राजनीति से सम्बन्धित कथाए है। शिवदास के 'कथार्णव' की पैंतीस कथाएं चोरों और मूर्खो की कथाए है। अनेक कवियों की मनोरजक दतकथाए 'भोज-प्रबन्ध' मे सग्रहीत है। इसी परम्परा के सग्रह ग्रन्थो मे 'आरण्य यामिनी' और 'ईसब्नीति कथा' को गिना जाता है।

चारित्रसुन्दर का 'महिपाल चरित'[1] चौदह सर्गो का कथा ग्रन्थ है। इसका रोचक कथानक पन्द्रहवी शताब्दी मे रचा गया, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसी तरह का मनोरजक कथानक है—'उत्तम चरित कथानक'[2]। आश्चर्यपूर्ण और साहसिक घटनाएं इसमें वर्णित है। प्रत्येक कथानक, जैन धर्म के किसी न किसी पवित्र आदर्श की ओर इगित करता है। इसकी रचना गद्य-पद्यमय है। भाषा सस्कृतमय है। कुछ प्रान्तीय भाषाओ के शब्द प्रयोग, इसका रचना-स्थल गुजरात मे होने का सकेत करते है। 'पापबुद्धि और धर्मबुद्धि'[3] कथानक एक विनोदपूर्ण धार्मिक कृति है।

---

१ श्री हीरालाल हसराज, जामनगर द्वारा १९०९ मे सम्पादित। द्रष्टव्य—विन्टरनित्ज—ए हिस्ट्री आफ इन्डियन कल्चर—भाग—२, पृष्ठ—५३६-५३७

२ इसका गद्यभाग श्री ए. वेबर द्वारा जर्मनभाषा मे अनूदित और सम्पादित है। 'उत्तम-कुमारचरित' नाम से चारुचन्द्र द्वारा किया गया इसका पद्यबद्ध रूपान्तर भी श्री हीरा-लाल हंसराज, जामनगर द्वारा सम्पादित हो चुका है। द्रष्टव्य—विन्टरनित्ज—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन कल्चर, भाग-२, पृष्ठ—५३८

३ श्री ई. लवाटिनी द्वारा इटालियन भाषा मे सम्पादन और अनुवाद किया जा चुका। द्रष्टव्य—वही-पृष्ठ-५३८

'चम्पकश्रेष्ठि' जिनकीर्ति द्वारा काल्पनिक कथानक पर रचित एक मनोरजक कथानक है ।[1] इसमे जो तीन कथाए संकलित है, उनमे से पहला कथानक, भाग्य-रेखाओ को निरर्थक बनाने मे असफल महाराज 'रावण' का है । दूसरा कथानक, एक ऐसे भाग्यशाली बालक का है, जो प्राणनाशक पत्रक मे फेरबदल करके, अपने प्राणो की रक्षा कर लेता है । तीसरा कथानक एक ऐसे व्यापारी का है, जो जीवन भर तो दूसरो को ठगता है, किन्तु, जीवन की अन्तिम वेला मे, स्वय, एक वेश्या द्वारा ठग लिया जाता है । इसका रचनाकाल पन्द्रहवी शताब्दी अनुमानित किया जाता है ।

इसी स्तर की एक और रचना 'पाल-गोपाल कथानक' जिनकीर्ति द्वारा रचित है । इस मे, प्रस्तुत कथानक भी मनोरजक है । प्राणघातक पत्रक को बदल कर प्राण रक्षा करने वाले एक और कथानक के आधार पर 'अघटकुमार'[2] कथा का प्रणयन किया गया है । इस कथा के भी दो अन्य संस्करण मिलते हैं । जिनमे, एक छोटा, दूसरा बडा है । एक गद्यमय है और दूसरा पद्यमय । 'अम्बड चरित'[3] जादुई मनोविनोद से भरपूर, अमरसुन्दर की रचना है । इसमे अम्बड की कथा आधुनिक रूप मे वर्णित है ।

ज्ञानसागरसूरि की रचना 'रत्नचूडकथा'[4] मे पर्याप्त रोचक और मनोरजक कथाए है । इसमे एक ऐसी कथा आई है, जिसमे, 'अनीतिपुर' नाम की नगरी मे 'अन्याय' नाम के राजा और 'अज्ञान' नाम के मंत्री की कल्पनाए करके, इन सब का मनोहारी चरित्र-चित्रण किया गया है । इसका रचनाकाल, पन्द्रहवी शताब्दी का मध्य भाग अनुमानित किया जाता है । इसमे, अन्य और भी कथानक है । जिनमे से अनीतिपुर नगर, अन्याय राजा और अज्ञान मत्री के कथानक की कल्पना मे, सिद्धर्षि प्रणीत 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है ।

पञ्चतन्त्र की शैली पर लिखी गई 'सम्यक्त्व कौमुदी' धार्मिक और मनोरजक कथाओ से भरी-पूरी रचना है । कथा का प्रारम्भ और सम्पूर्ण कथावस्तु

---

१. श्री हर्टेल द्वारा अग्रेजी मे अनूदित-सम्पादित-वही-५२९

२. श्री चारलट क्रूसे द्वारा पद्यभाग का जर्मन मे अनुवाद किया गया है । सक्षिप्त पद्यभाग १९१७ मे निर्णयसागर प्रेस बम्बई 'अघटकुमार चरित' नाम से प्रकाशित हो चुका है । द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-५४०

३ श्री हीरालाल हसराज, जामनगर द्वारा सम्पादित एव श्री चारलट क्रूसे द्वारा जर्मन मे अनूदित । द्रष्टव्य–वही–पृष्ठ-५४०

४ यशोविजय जैन ग्रथमाला-भावनगर द्वारा सन् १९१७ मे प्रकाशित । श्री हर्टेल द्वारा जर्मनी में अनूदित । द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-५४१

गद्य में है। किन्तु, बीच-बीच मे कुछ गम्भीर बातों के लिए पद्यों का प्रयोग 'उक्तञ्च' 'अन्यच्च' 'तथाहि' 'पुनश्च' आदि शब्दो का सहारा लेकर किया गया है। काल्पनिक आख्यानो के आधार पर सरल, विनोदपूर्ण शैली मे रचित, धार्मिक कथा-वस्तुपूर्ण इस रचना के कर्त्ता का और रचना काल का भी, कोई निश्चय नही किया जा सका है। किन्तु, १४३३ ई० की, इसकी जो पाण्डुलिपि श्री ए. वेवर को प्राप्त हुई, उससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इसका रचनाकाल भी १४३३ ई. से बाद का नही हो सकता। इस रचना मे स्फुटित व्यंग्य, उन्नत आदर्श, सौम्य व्यवहार और लोक कल्याणकारी सिद्धान्तो का अक्षय वैभव पद-पद पर भरा पड़ा है।

'क्षत्रचूडामणि' मे जिन साहसिक, धार्मिक और मनोरंजनकारी कथाओं का समावेश वादीभसिह ने किया है और प्रत्येक पद्य के अन्त मे हितकर, मार्मिक और अनुभवपूर्ण गम्भीर नीति-वाक्यो का जिस तरह से समावेश किया है, उसे देखकर, इसे नीति-वाक्यों का आकर-ग्रन्थ कहना, अतिशयोक्ति न होगा। जीवन्धर कुमार का सम्पूर्ण चरित इसमे वर्णित है। इसकी मुख्य कथा के साथ-साथ अनेकों अवान्तर कथाए भी आती गई हैं।

इस रचना के जो तीन रूपान्तर प्राप्त होते है, उनमे से 'गद्य-चिन्तामणि' के कर्त्ता मूल-ग्रन्थ के रचयिता ही है। दूसरा रूपान्तर 'जीवन्धरचम्पू' महाकवि हरिचन्द की रचना है। तीसरा रूप गुणभद्राचार्य के 'उत्तरपुराण' मे मिलता है। जैन जगत के 'बृहत्कथाकोश' 'परिशिष्ट पर्व' व 'आराधना कथाकोश' तथा बौद्ध साहित्य के 'अवदान शतक' एवं 'जातक-माला' को ऐसे कथाग्रंथो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, जिनमे लोककथाओं की विनोदपूर्ण शैली के माध्यम से, उच्च-तम जीवन-साधना और आदर्शो की ओर स्पष्ट सङ्केत किये गये हैं।

इन तमाम, भारतीय-लोक कथाओ के विपुल साहित्य ने यात्रियो, व्यापा-रियो और धर्मप्रचारक साधु-सन्यासियो के माध्यम से, सुदूर देशो मे पहुच कर, वहाँ-वहाँ के कथा-साहित्य को न सिर्फ प्रभावित किया, वरन्, उसमें, भारतीय आख्यान साहित्य की एक ऐसी अमिट निशानी भर दी, जो लोकमङ्गलकारी, जीवन्त आदर्शो का मनोरजक उपदेश, मानवता को अनन्तकाल तक प्रदान करती रहेगी।

रूपक साहित्य : परम्परा एवं विकास

मानवीय हृदय के भावोद्गार, जब तक अपने अमूर्त्त स्वरूप मे रहते हैं, तब तक, उनका साक्षात्कार इन्द्रियो द्वारा हो पाना सम्भव नहीं होता। ये ही भावो-द्गार, जब किसी रूपक/उपमा मे ढल कर, मूर्त्त रूप प्राप्त करते है, तब, वे सिर्फ

इन्द्रिय ग्राह्य ही नही वन जाते, वरन् उनमे एक ऐसा अद्‌भुत शक्ति-सचार हो जाता है, जिससे वे, अपने साक्षात्कर्ता के मन/मस्तिष्क-पटल पर गम्भीर और अमिट छाप वना डालते है।

काव्य-जगत् मे अरूप/अमूर्तभावो के मूर्तीकरण का, उनके रूप-विधान के मूर्तीकरण का, उनके रूप-विधान के प्रचलन का, ऐसा ही मुख्य कारण होना चाहिए। रूपक-साहित्य की सर्जना-शैली के मूल मे भी, अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने का उपक्रम, आधारभूत-तत्त्व वनता है।

उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति और लक्षणा के दोनो प्रकार—सारोपा और साध्यवसाना, ऐसे प्रमुख उपकरण है, जो, रूपक-साहित्य की सर्जना शक्ति मे प्रमुख-पाथेयता का निर्वाह करने मे सक्षम है। इनमे से, सादृश्यमूला सारोपा की भित्ति पर रूपक का प्रासाद विनिर्मित होता है, और सादृश्यमूला साध्यवसाना की दीवालो पर, अतिशयोक्ति का भवन वनता है।[1] क्योकि, सारोपा लक्षणा, विषय और विषयि को, यानी उपमान और उपमेय को, एक ही धरातल पर खडा कर देती है।[2] जवकि साध्यवसाना लक्षणा, विषय मे विषयी का, अर्थात् उपमान मे उपमेय का अन्तर्भाव करा देती है।[3] अरूप मे रूप को पाने की शैली का, यही आधारभूत सिद्धान्त है।

अमूर्त को मूर्त वनाने के काव्य-शिल्प का वीजरूप सङ्केत, वृहदारण्यक उपनिषद् के उद्‌गीथ ब्राह्मण[4] मे, और छान्दोग्योपनिषद्[5] मे भी एक रूपकात्मक आख्यायिका के रूप मे मिलता है। श्रीमद् भगवद्‌गीता के सोलहवे अध्याय मे पुण्य और पापरूपी वृत्तियो का उल्लेख, दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के रूप मे किया गया है। वौद्ध साहित्य मे, जातक निदान कथा के 'अविदूरे निदान' की मार-विजय सम्वन्धी आख्यायिका और 'सन्तिके निदान' की अजपालवादि के नीचे वाली आख्यायिका मे, अरूप को रूपमय वनाने के शैली-शिल्प का दर्शन होता है।

जैन साहित्य मे, अनेको छोटे-मोटे आख्यान रूपक शैली मे मिलते है। जिनमे 'सूत्रकृताङ्ग' 'उत्तराध्ययन' और 'समराइच्चकहा' के कुछ रूपक विशेष उल्लेखनीय है। उदाहरण के लिये .—

---

१ एव च गौण-सारोपालक्षणासभवस्थले रूपकम्, गौणसाध्यवसानलक्षणा सभवस्थले त्वतिशयोक्तिरिति फलितम्। —काव्यप्रकाश-वामनीटीका-पृष्ठ-५६३

२ सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
—काव्यप्रकाश–भण्डा० ओरि० रि० इ० पूना, पृष्ठ-४७

३ विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।
—वही-पृष्ठ-४८

४ उद्‌गीथ ब्राह्मण—१/३

५. छान्दोग्योपनिषद्—१/२

एक सरोवर है। उसमे, जितना अविक पानी भरा है, उससे कम कीचड नही है। सरोवर मे अनेको श्वेतकमल विकसित है। इन सब के मध्य मे, एक विशाल पुण्डरीक विकसमान है। इसके मनोहारी स्वरूप को देखकर, पूर्व दिशा से एक व्यक्ति आता है और उस पुण्डरीक को तोड़कर अपने साथ ले जाने के लिये, सरोवर में घुस जाता है। यह व्यक्ति, उस पुण्डरीक तक पहुँचे, इसके काफी पहिले, वह, तालाब मे भरे कीचड़ मे फंस कर रह जाता है। इसी व्यक्ति की तरह, तीन और व्यक्ति, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओ की ओर से क्रमश आते है और पुण्डरीक की मनोहर शोभा देख कर, उसे तोड़ने और अपने साथ ले जाने की इच्छा करते है। इसी प्रयास मे, ये तीनों भी पूर्व-दिशा से आये पहिले व्यक्ति की ही भाति, उस तालाव मे भरे कीचड में फंस कर रह जाते है।

कुछ ही देर वाद, वहाँ, एक भिक्षु भी आ पहुँचता है। भिक्षु, सरोवर के तीर पर पहुँच कर, उसकी शोभा से आकृष्ट हो कर, चारो ओर देखता है। उसे, तालाव के चारो ओर, कीचड़ मे, उन चारो व्यक्तियों को फसा देखकर, यह समझते देर नही लगती कि वे क्यो और कैसे, इस दुर्गति मे पहुँचे है। अत., वह अपने स्थान से कुछ और आगे आता है, और सरोवर के किनारे पर पहुँचकर, वही खड़े रहते हुए ही कहता है—'ओ पुण्डरीक! मेरे पास आ जाओ।'

पुण्डरीक, भिक्षु की आवाज सुनते ही, अपने मृणाल से अलग होकर, उड़ता हुआ भिक्षु के हाथ मे आता है। यह देखकर, कीचड़ मे फसे चारो व्यक्ति, आश्चर्य-चकित रह जाते हैं।

इस कथानक मे जो प्रतीक अपनाये गये हैं, उन सब का प्रतीकार्थ स्पष्ट करके, कथा में अन्तर्निहित रहस्य/अभिप्राय को श्रमण भगवान् महावीर स्वय स्पष्ट करते हुए कहते है—'कथानक मे वर्णित सरोवर, यह ससार है। उसमे भरा हुआ जल, कर्म है और कीचड, सासारिक विपय-वासनाए हैं। सरोवर मे खिले श्वेत-कमल, सांसारिकजन हैं। उनके मध्य मे विकसित विशाल पुण्डरीक राजा है। चारो दिशाओं से आने वाले व्यक्ति, अलग-अलग मतो के अनुयायी व्यक्ति हैं और भिक्षु 'सद्धर्म' है। सरोवर का किनारा 'सघ' है। भिक्षु द्वारा पुण्डरीक को वुलाना सद्धर्म का 'उपदेश' है। और पुण्डरीक का उसके पास आ जाना 'निर्वाण-लाभ' है।[1]

उत्तराध्ययन मे 'नमि पवज्जा' का प्रतीकात्मक दृष्टान्त आया है। राजर्षि नमि जब विरक्त होकर अभिनिष्क्रमण मे सलग्न होते है, तभी ब्राह्मण का वेष बनाकर, देवराज इन्द्र, उनके पास पहुंचता है और प्रश्न करता है—'भगवन्! मिथलानगरी में, आज यह कैसा कोलाहल सुनाई पड़ रहा है?' उत्तर मिलता है—'पत्र-पुष्पो से

१ सूत्रकृताङ्ग–द्वितीय खण्ड-I अध्ययन,

मनोहारी चैत्य-वृक्ष, प्रचण्ड आँधी के वेग से गिरने जा रहा है। इसको आश्रय बनाकर रहने वाले पक्षी, शोकाकुल होकर कलरव कर रहे है।'

इस दृष्टान्त मे, नमि को 'चैत्यवृक्ष', और मिथला के नागरिको को 'पक्षि-समुदाय' रूप प्रतीको मे चित्रित किया गया है। इसी अध्ययन मे, 'श्रद्धा' नगर, 'सवर' किला, 'क्षमा'-गढ, ''गुप्ति' रूपी शतघ्नी (तोपे या बन्दूके), 'पुरुषार्थ' रूपी धनुष, 'ईर्या' रूपी प्रत्यञ्चा, 'धैर्य' रूपी तूणीर, 'तपस्या' रूपी बाण, और 'कर्म' रूपी कवच जैसे विभिन्न रूपक/प्रतीक उल्लिखित है।[1] इसी मे, दुष्ट बैलो का रूपक भी द्रष्टव्य है।[2] 'समराइच्च कहा' (हरिभद्रसूरि) का 'मधुबिन्दु' दृष्टान्त तो विशुद्ध रूपक शैली मे वर्णित है।

ये सारे उदाहरण, रूपक साहित्य के बीज-बिन्दु माने जाते है। किन्तु, इस शैली की काव्य-परम्परा का सर्वप्रथम सूत्रपात करने का श्रेय मिलता है—सिद्धर्षि को। इनकी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा[3]' को रूपक-साहित्य-परम्परा का सर्वप्रथम और अनुपम ग्रन्थ माना जा सकता है। उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा की प्रस्तावना मे, डॉ० जैकोबी ने इसे भारतीय रूपक साहित्य की प्रथम रचना स्वीकार किया है।[4] इससे पहिले की अपभ्रश रचना 'मदनजुज्झ' रूपकात्मक शैली की उपलब्ध है। किन्तु, उसमे अकित उसके रचनाकाल वि० स० ६३२ के अनुरूप प्राचीनता के पोषण मे, उसकी भाषा का अतरग परीक्षण हुए बिना, उसे प्रथम रूपक काव्य मानना, उचित न होगा।

जयशेखरसूरि की रचना 'प्रबोधचिन्तामणि' मे सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा को प्रमुखता से समर्थन मिला है।[5] साथ ही, कवि की स्वय की कल्पना-

---

१ उत्तराध्ययन—अध्ययन ६ व १०

२. वही—अध्ययन-२७

३. सिद्धव्याख्यातुराख्यातु महिमान हि तस्य क ।
समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमिति कथा ।।

—प्रद्युम्नसूरि का—समरादित्य सक्षेप

४ I did not find some thing still more important; the great literary value of the U. Katha, and the fact that is the first allegorical work in Indian Literature

५. सारोपा लक्षणा क्वापि क्वापि साध्यवसानिका ।
धौरेयता प्रपद्येते ग्रन्थस्यास्य समर्थने ।।

—प्रथम-अधिकार-५०

सामर्थ्य और पूर्ववर्ती आगमो की रूपकात्मक विधा को ग्रंथकार ने, अपनी रचना की सर्जना में बीज-बिन्दु स्वीकार किया है ।[1]

ग्यारहवी शताब्दी के मध्यभाग मे श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा लिखित 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान करने वाली लाक्षणिक शैली का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस नाटक मे ज्ञान विवेक, विद्या, बुद्धि, मोह, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति और उपनिषद् जैसे अमूर्त्त भावों की भी पुरुष-स्त्री पात्रों के रूप मे अवतारणा की है। नाटक का मूल प्रतिपाद्य आध्यात्मिक अद्वैतवाद का प्रतिपादन है।

चेदि के राजा कर्ण (१०४२ ई में जीवित) ने, कीर्तिवर्मा को परास्त किया था। परन्तु, उसके एक सेनानो गोपाल ने अपने बाहुबल से उसे हराने मे सफलता प्राप्त कर ली थी। तब, इसने कीर्तिवर्मा को पुनः सिंहासनस्थ कर दिया था। इसी गोपाल की प्रेरणा से, कीर्तिवर्मा के समक्ष, यह नाटक अभिनीत हुआ था। कीर्तिवर्मा, जेजाक भुक्ति चदेलवशीय राजा था। चन्देलो की कला-प्रियता के प्रतीक है—खजुराहो के शैव मन्दिर। सम्भव है, यहाँ चन्देलों की राजधानी रही हो। कीर्तिवर्मा के पूर्वज राजा धङ्ग का शिलालेख १००२ ई., खजुराहो के विश्वनाथ मंदिर मे मिलता है।

कीर्तिवर्मा, चन्देल वंश का एक प्रतापी और पराक्रमी राजा था। इसके अनेको शिलालेख, बुन्देलखण्ड के विभिन्न स्थानो पर प्राप्त होते हैं। महोवा के निकट 'कीर्तिसागर' नाम का तालाव इसी के द्वारा बनवाया हुआ है। देवगढ़ मे भी इसका एक शिलालेख (ई. १०६३) मिलता है। खजुराहो के लक्ष्मीनाथ मंदिर का एक शिलालेख (११६१ ई.) कीर्तिवर्मा के ही समय का है। जिसे इसके मंत्री वत्सराज ने खुदवाया था। कीर्तिवर्मा राजा विजयपाल का पुत्र था और अपने अग्रज देववर्मा के पश्चात् सिंहासनारूढ हुआ था। इसका राज्य, पर्याप्त विस्तृत भू-भाग पर बहुत वर्षों तक रहा। इन तमाम साक्ष्यो के बल पर कीर्तिवर्मा का काल ग्यारहवीं शताब्दी (ई.) का ठहरता है। यही समय, प्रबोध-चन्द्रोदय का रचना काल है।

---

१. अत्रात्मचेतनादीना यत् दाम्पत्यादिशब्दनम् ।
तत्सर्वं कल्पनामूलं सापि श्रेयस्करी क्वचित् ॥ ४७ ॥
मीनमैनिकयो. पाण्डुपत्रपल्लवयोरपि ।
या मिथ. संकथा सूत्रे बद्धा सा किं न बोधये ॥ ४८ ॥
नायकत्वं कषायाणां कर्मणां रिपुसैन्यताम् ।
आदिशन्नागमोऽप्यस्य प्रबन्धस्येति बीजताम् ॥ ४६ ॥

—प्रथम–अधिकार–४७-४६

मोह् के शिकजे मे जकडा व्यक्ति, अपने यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से विमुख हो जाता है। और जब, उसका विवेक जागता है, तव मोह पराजित हो जाता है। इसी के वाद व्यक्ति को शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है। 'विवेक के साथ उपनिषद् के अध्ययन और विष्णु-भक्ति के आश्रय से ज्ञानचन्द्र का उदय होता है'—इस मान्यता की विवेचना, प्रस्तुत नाटक मे, युक्तिपूर्ण सौन्दर्य के साथ की गई है। द्वितीय अङ्क मे, हास्य और दम्भ के वार्तालाप से, हास्य रस का सार्थक चित्रण किया गया है। जैन, वौद्ध और सोम-सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप मे स्फुटित हास्य-मिश्रित कौतूहल द्रष्टव्य है। श्रीकृष्ण मिश्र उपनिपदो के रहस्यवेत्ता रहे, तभी, उन्होने अद्वैत वेदान्त और वैष्णव धर्म का जो समन्वय, इस नाटक मे प्रस्तुत किया है, वह इसकी एक महनीय विशेषता है। कवित्व का चमत्कार भी इस नाटक में जमकर निखरा है। पात्रो की सजीवता प्रशंसनीय बनी है।

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवियो की रचनाओ पर 'प्रवोधचन्द्रोदय' का पर्याप्त प्रभाव पडा है। रामचरितमानस मे, पञ्चवटी के वर्णन-प्रसङ्ग मे जो आध्यात्मिक रूपक योजना है, उसमे इस नाटक के पात्रो को भी अपनाया गया है। हिन्दी जगत के ही प्रसिद्ध कवि केशव (१६वी शती) ने 'विज्ञान गीता' नाम से इसका छन्दोवद्ध अनुवाद कर डाला। अध्यात्म विद्या और अद्वैतवाद जैसे शुष्क दार्शनिक विषय को भी नाटकीय और मनोरञ्जक शैली मे प्रस्तुत करना, श्रीकृष्ण मिश्र के प्रयास की सर्वोत्तमता को असदिग्ध वना देता है।

अपभ्रश-प्राकृत की रचना 'मयणपराजयचरिउ'[1], भी रूपकात्मक शैली पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके प्रणेता, चगदेव के पुत्र हरदेव है। इसका रचनाकाल यद्यपि सुनिश्चित नही हो पाया, तथापि, इसकी रचना यशपाल की कृति 'मोहराज-पराजय' से पहिले की जा चुकी थी। नागदेव रचित 'मदनपराजय' (सस्कृत) इसी प्राकृत रचना के आधार पर लिखी गई है।

'मोहराज-पराजय' नाटक,[2] यशपाल की महत्त्वपूर्ण रचना है। यशपाल, चक्रवर्ती अभयदेव का राज्य-कर्मचारी था। अभयदेव ने १२२९ से १२३२ ई तक राज्य किया था। धारापद के कुमारविहार मे, यह नाटक अभिनीत भी हुआ था। इसके प्रथम अङ्क मे, मोहराज, राजा विवेकचन्द के मानस नगर को घेर कर आक्रमण कर देता है। फलत., विवेकचन्द, अपनी पत्नी शान्ति और पुत्री कृपासुन्दरी के साथ निकल भागता है। पचम अक मे, मोहराज को पराजित कर, पुन. विवेकचन्द सिंहासनासीन होते है। नाटक मे, ऐतिहासिक नामो के साथ लाक्षणिक चरित्रो के सम्मिश्रण मे, और मोहराज-पराजय की वर्णना मे, नाटककार की कुशलता और

---

१ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित।

२ गायकवाड सीरीज, बडौदा से प्रकाशित।

निपुणता, दोनो ही दर्शनीय वन पड़ी है। गुणो की दृष्टि से भी नाटक का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थकर्ता यशपाल, राजा अभयदेव के मत्री धनदेव और रुक्मिणी देवी के पुत्र थे। ये, जाति से मोड वैश्य थे।

इसी से मिलता-जुलता एक और नाटक, मेरुतुगसूरि की 'प्रवध-चिन्तामणि' के परिशिष्ट भाग मे पाया जाता है। इसकी रचना, वैशाख शुक्ला पूर्णिमा, वि०सं० १३६१ को पूर्ण हुई थी। महाराजा कुमारपाल द्वारा, आचार्य हेमचन्द्र के निकट जैन श्रावक व्रत ग्रहण कर अहिंसा व्रत अङ्गीकार करने के दृश्य को लक्ष्य कर, इसकी रचना की गई। मोहराज-पराजय के दूसरे, तीसरे व चौथे अङ्कों मे वर्णित कथावस्तु से, प्रबंध-चिन्तामणि की कथावस्तु मे, कुछ वदले हुए नामों के अलावा, अधिक अन्तर प्रतीत नही होता।

चौदहवी शताब्दी की रचना 'सकल्पसूर्योदय[1]' वेदान्तदेशिक की कृति है। इसमें दश अङ्क है। रूपककार ने, इसमे वेदान्त की विशिष्टाद्वैत शाखा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस नाटक के दूसरे अङ्क मे आर्हत्, बौद्ध, सास्य, अक्षपाद, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक आदि के मतो का खण्डन करके उनका उपहास भी उड़ाया गया है। तीर्थो के दोषों का उद्घाटन करके, उन्हे अयुक्त सिद्ध किया गया है। और, 'हृदयगुहा' को ही समाधि के लिये, नाटककार ने उपयुक्त वत-लाया है।

श्री जयशेखरसूरि का 'प्रवोध-चिन्तामणि' भी रूपक शैली का महत्त्वपूर्ण प्रवन्ध है। इसकी कथावस्तु का आधार—भगवान पद्मनाभ के शिष्य धर्मरुचि द्वारा प्ररूपित आत्मस्वरूप का चित्रण है।[2] इसकी रचना, स्तम्भनक नरेश की राजधानी मे विक्रम सम्वत् १४६२ मे की गई।[3] इसके पहिले अधिकार मे, परमात्मस्वरूप का चित्रण, और दूसरे मे भगवान् पद्मनाभ का चरित्र, तथा मुनि धर्मरुचि का चरित्र वर्णित है। तीसरे अधिकार मे मोह और विवेक की उत्पत्ति दिखला कर, मोह को राज्य प्राप्त कराया गया है। चौथे अधिकार मे संयमश्री के साथ विवेक का पाणिग्रहण होने के वाद, उसकी राज्य-प्राप्ति का निरूपण किया गया है। पांचवें मे, काम की दिग्विजय का वर्णन है। छठवे अधिकार मे कलिकृत प्रभाव का

---

१ आर० कृष्णमाचारी मदुरा द्वारा सम्पादित एवं एच० एम० वागुची द्वारा मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित।

२ प्रवोध-चिन्तामणि–२/१०

३ यमरसभुवनमिताब्दे स्तम्भनकाधीशभूषिते नगरे।
श्रीजयशेखरसूरि प्रवोधचिन्तामणिमकार्षीत्॥

—प्रवोध-चिन्तामणि-प्रस्तावना।

निरूपण है। इसी प्रसङ्ग मे, सामाजिक दुर्दशा का चित्रण, मार्मिक और यथार्थ रूप मे किया गया है। इसी सन्दर्भ मे, ग्रन्थकार की उक्ति[1]—'भगवान् महावीर की सन्तान होने पर भी, आज के साधु, विभिन्न गच्छो में विभक्त है और पारस्परिक सौहार्द्र के बजाय वे एक-दूसरे के शत्रु बने हुये है, बहुत ही मर्मस्पर्शी है। जयशेखर-सूरि की यह वेदना भरी टीस, आज तक, ज्यो की त्यो बरकरार है।

प्रो० राजकुमार जैन ने, 'मदन-पराजय' (स०) की प्रस्तावना मे 'मयण-जुज्झ' नामक अपभ्रंश रचना को बुच्चराय की कृति बतला कर, उसकी रचना समाप्ति की तिथि–आश्विन शुक्ला प्रतिपदा शनिवार, हस्तनक्षत्र, वि स १५८९, बतलाई है। श्री अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त, इस रचना की पाण्डुलिपि के लिखने की समाप्ति की तिथि—'स० १७६७ वर्षे पौषमासे शुक्लपक्षे १२ तिथौ प० दानधर्म लिखित श्रीमरोट्टकोट्टमध्ये' के आधार पर प्रदर्शित की है। इस रचना मे, भगवान् पुरुदेव द्वारा की गई मदन-पराजय का वर्णन है।

यहाँ, यह उल्लेखनीय है कि प्रो० राजकुमार जैन ने, इसी प्रस्तावना मे, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' का उल्लेख करने के साथ-साथ, एक और 'मदनजुज्झ' अपभ्रंश रचना का उल्लेख किया है। जिसका रचनाकाल, उन्होने वि० स० ९३२ लिखा है। किन्तु, उसके रचनाकार का नाम उन्होने निर्दिष्ट नही किया। यह विचारणीय है।

प० भूदेव शुक्ल का 'धर्मविजय' नाटक, रूपक साहित्य की एक भावपूर्ण लघु रचना है। इसमे पाच अङ्क हैं। जिनमे धर्म और अधर्म को नायक-प्रतिनायक बतला कर, उनके पारस्परिक युद्ध का वर्णन किया गया है। अन्त मे, धर्म अपने परिवार के साथ मिलकर अधर्म का सपरिवार नाश करके, विजय प्राप्त करता है। प० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते का अनुमान है कि इस नाटक की रचना १६वी शताब्दी मे हुई, और भूदेव शुक्ल, सम्राट अकबर के समकालीन रहे।[2]

नाटककार ने, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियो को बडी कुशलता से प्रतिबिम्बित किया है। उस समय, विभिन्न प्रदेशो मे व्यभिचार, दुराचार, झूठ, हिसा, चोरी जैसी अमानवीय वृत्तियो का भयङ्कर प्रचार था। जगह-जगह द्यूत-क्रीडाये होती थीं, खुले आम मद्यपान होता था। वैभवमयी अट्टालिकाओ के प्रागण

---

१. एकश्रीवीरमूलत्वात् सौहृदस्योचितैरपि।
सापत्न्य धारित तेन पृथग्गच्छीयसाधुभि ॥

—प्रबोध-चिन्तामणि-६/८९

२ श्री नारायण शास्त्री खिस्ते द्वारा सम्पादित, 'प्रिंस ऑफ वेल्स'—सरस्वती भवन सीरीज, बनारस से प्रकाशित–१९३० ई०

मे, नृत्यागनाओ के घुघरुओ की मुखरता, परकीयाओं को स्वाधीन और स्वकीया बनाना, धर्माधिकारियो द्वारा, धर्म के नाम पर विधवाओ का सतीत्व भङ्ग आदि-आदि हुआ करता था।

अधर्म द्वारा, अपने प्रतिनिधि पौराणिक से देश की स्थिति पूछे जाने पर, वह बतलाता है—'देश की नदियों मे पानी, बहुत कम रह गया है। सज्जनो का भाग्य, मन्द पड़ गया है। कुलीन स्त्रियां, मर्यादाये तोड रही है। युवतिया, अपने पति से विद्रोह करने लगीं हैं और गृहस्थ युवक, परस्त्री-लम्पट हो गये है। पिता, अपने नालायक पुत्रो का जीवित अवस्था मे ही श्राद्ध करना चाहता है। चोर और हिंसक, जंगलो की प्रत्येक दिशा मे अपना डेरा डाले पडे है।[1] यही सारी दुर्दशाए तो आज के समाज मे ज्यों की त्यो मौजूद हैं।

कवि कर्णपूर द्वारा रचित—'चैतन्य चन्द्रोदयं' नाटक भी रूपक शैली का है। इसकी रचना, जगन्नाथ (उडीसा) क्षेत्र के अधिपति, गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७६ ई० मे की गई थी। उस समय, कवि की उम्र मात्र २५ वर्ष थी।[2] इसमे, महाप्रभु चैतन्य के दार्शनिक दृष्टिकोणो और उनकी लीलाओं का अच्छा समावेश किया गया है। अमूर्त और मूर्त, दोनों प्रकार के पात्रो का सम्मिश्रण, इस नाटक मे किया गया है। नाटककार को चैतन्यदेव ने 'कर्णपूर' की उपाधि प्रदान की थी। इनका जन्म नाम परमानन्ददास था। और, इनके पिता शिवानन्द सेन, चैतन्यदेव के पार्षद थे। कवि कर्णपूर का जन्म १५०४ ई० मे, हुआ था। नाटक के मूर्त पात्रों में चैतन्य और उनके शिष्य हैं। नाटक के उल्लेख के अनुसार, इसकी रचना १४०७ शक सं० मे हुई थी।[3]

गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय' की रचना १६वी शताब्दी मे की थी। इसमे सासारिक-बन्धनों एवं क्लेशो का चित्रण करके, उनसे मुक्ति पाने का उपाय बतलाया गया है। आन्वीक्षिकी, मीमासा, श्रुति आदि को, इसमे पात्रो के रूप मे प्रस्तुत करके, न्यायसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। रत्नखेट के श्रीनिवास दीक्षित (१५०७ ई०) का 'भावना पुरुषोत्तम' नाटक भी उल्लेखनीय है। वादिचन्द्रसूरि का 'ज्ञान-सूर्योदय' नाटक भी, प्रसिद्ध रूपक कृति है। ये, मूलसंघी ज्ञानभूषण भट्टारक के प्रशिष्य और

१. धर्मविजय (नाटक), द्वितीय अङ्क।
२. सस्कृत साहित्य का इतिहास · प० श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ-५६४
३. शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते,
गौरो हरिर्धरणिमण्डलराविरासीत्।
तस्मिश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीला,
ग्रन्थोऽयमाविर्भवत्कतमस्य वक्त्रात्॥

—चैतन्य-चन्द्रोदय–पृष्ठ स० २०, १०

प्रभाचन्द्र भट्टारक के शिष्य थे। इस नाटक की रचना, माघ सुदी ८, वि० स० १६४८ के दिन, मधूकनगर मे हुई थी।[1] ज्ञानसूर्योदय मे, बौद्धो का और श्वेताम्बरों का उपहास किया गया है। नाटक की प्रस्तावना मे कमलसागर और कीर्तिसागर नाम के दो ब्रह्मचारियो का निर्देश है, जिनकी आज्ञा से सूत्रधार, प्रस्तुत नाटक का अभिनय करना चाहता है।

वेद कवि की दो रूपक रचनायें है। इनमे से एक 'विद्या-परिणय' मे, विद्या तथा जीवात्मा के विवाह का सात अङ्को मे वर्णन है। इसमे, अद्वैतवेदान्त के साथ शृङ्गार रस का मञ्जुल समन्वय प्रदर्शित किया गया है। शिवभक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, यह बतलाना ही नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। इसमे जैनमत, सोम-सिद्धान्त, चार्वाक और सौगत आदि पात्रो की अवतारणा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की शैली पर की गई है।

दूसरी कृति 'जीवानन्दन'[2] मे भी सात अङ्क है। और, इनमे, गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगो का पात्र रूप मे चित्रण है। शारीरिक व्याधियो मे राजयक्ष्मा सबसे बढ कर है। इससे छुटकारा, सिर्फ पारद रस के प्रयोग से मिलता है। स्वस्थ शरीर से स्वस्थ चित्त, और स्वस्थ चित्त से आत्मकल्याण मे सलग्न रह पाना सम्भव होता है। इसमे, अध्यात्म और आयुर्वेद दोनो के मान्य तत्त्वो का प्रतिपादन किया गया है।

वेद कवि, तजौर के राजा शाह जी (१६८४–१७१० ई०) तथा शरभो जी (१७११–१७२० ई०) के प्रधानमत्री थे। इनका असली नाम आनन्दराय मखी था। ये शैव थे और सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेद कवि' के रूप मे थी। इनका समय १८वी सदी का प्रथमार्ध है। इनके प्रथम नाटक का रचनाकाल १७वी शताब्दी का अन्त, और दूसरे नाटक का रचना काल अट्ठारहवी शताब्दी का आरम्भ, माना गया है।

इसी तरह, नल्लाध्वरी ने भी 'चित्तवृत्तिकल्याण' और 'जीवन्मुक्तिकल्याण' नामक, दो प्रतीक नाटकों का प्रणयन किया था। नाटककार, गणपति के उपासक थे।

१　तत्पट्टामलभूषण समभवद् दैगम्बरीये मते,
　चञ्चद्बर्हकर सभातिचतुर श्रीमत्प्रभाचन्द्रमा।
　तत्पट्टेऽजनि वादिवृन्दतिलक श्रीवादिचन्द्रो यति—
　स्तेनाय व्यरचि प्रबोधतरणि भव्याब्जसबोधन॥
　वसु-वेद-रसाब्जाङ्के वर्षे माघे सिताष्टमी दिवसे।
　श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोय बोधसरम्भ॥　　　—ज्ञान सूर्योदय-प्रस्तावना

२　अडयार मे १९५० ई० मे 'काव्यमाला' मे प्रकाशित। तथा हिन्दी अनुवाद के साथ १९५५ मे काशी से प्रकाशित।

'जीवन्मुक्तिकल्याण[1]' का नायक राजा जीव, अपनी प्रियतमा बुद्धि के साथ, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दशाओ मे भ्रमण करता हुआ, ससार के दु खों से जब विषण्ण हो जाता है और जीवन्मुक्ति की कामना करता है, तो काम-क्रोध आदि छः रिपु, उसके इस कार्य मे बाधा डालते है। तब, वह दया, शान्ति आदि आठ आत्मगुणों के द्वारा काम आदि को ध्वस्त करता है। अन्तत., चतुर्थ आश्रम मे प्रवेश करके, साधन चतुष्टय प्राप्त करता है। और, ब्रह्म-ज्ञान पाकर, जीवन्मुक्ति का लाभ उठाता है। शिव का प्रसाद और गुरु की कृपा, जीवन्मुक्ति मे कितनी सहयोगी है, यह, कवि ने सुन्दरता के साथ बतलाया है। नल्लाध्वरी, आनन्दराय मखी के ही समकालिक प्रतीत होते है।

नल्लाध्वरी ने, रामचन्द्र दीक्षित के समकालीन रामनाथ दीक्षित से विद्याध्ययन किया था, और २० वर्ष की उम्र मे ही उन्होने 'शृङ्गारसर्वस्व' (भाण) व 'सुभद्रापरिणय' (नाटक) की रचना की थी। बाद मे, परमशिवेन्द्र तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती से वेदान्त का अध्ययन करने के बाद, उक्त दोनो नाटको की रचना की। 'अद्वैतरसमञ्जरी' वेदान्तग्रथ की रचना भी, इसी काल से सम्बन्ध रखती है। इनमें, परस्पर श्लोक साम्य भी है।

पद्मसुन्दर का 'ज्ञान-चन्द्रोदय' और अनन्तनारायण कृत 'मायाविजय' भी रूपक प्रधान रचनाए है। इन्द्रहंसगणि रचित 'भुवन-भानुकेवली चरित' और यशोविजय कृत 'वैराग्यकल्पलता' भी रूपकात्मक रचनाए है। भुवनभानुकेवली चरित का नायक बलि राजा है। विजयपुर के चन्द्र राजा के पास जाकर, अपना चरित वह स्वयं कहता है। विद्वानो का अनुमान है कि यह रचना १४वी शती की होनी चाहिए। 'वैराग्यकल्पलता' सिद्धर्षि की उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के आधार पर तैयार की गई प्रतीत होती है। इसके ९ स्तवको मे, अनुसुन्दर चक्रवर्ती की कथा के बहाने से, जीव के संसरण की व्यथा-कथा और उससे छुटकारा पाने का उपाय, रूपकात्मक शैली मे वर्णित है।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन के दुरूह तत्त्वो को रोचक शैली मे प्रस्तुत कर, जनसाधारण में उनका प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से, कविगणों ने प्रतीक/रूपक स्वरूप वाले नाटकों/काव्यों को माध्यम बनाया। परन्तु, कृष्णानन्द वाचस्पति का नाटक 'अन्तर्व्याकरण नाट्य परिशिष्ट[2]' एक विशेष प्रकार का कौतूहल पैदा करने वाला नाटक है। इसके पद्यो के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो व्याकरण के नियमो की व्याख्या करता है, जबकि, दूसरा अर्थ, दर्शन और नीति की शिक्षा देने मे आगे आ जाता है। सम्भवत:, संस्कृत-साहित्य का यह एकमात्र नाटक

१ श्री शकर गुरुकुल, श्रीरगम् से प्रकाशित-१९४४ ई०

२. कलकत्ता से १८८४ मे प्रकाशित।

है, जिसमे अभिनय के द्वारा व्याकरण के तत्त्व, प्रदर्शित किये गये है। अपने द्विविध-तात्पर्य के कारण, यह नाटक विशेष महत्त्व का हकदार बन जाता है।

मलयालम मे लिखा गया 'कामदहनम्' सुप्रसिद्ध रूपक रचना है। इसी श्रेणी का साहित्य हिन्दी भाषा मे भी है, परन्तु, बहुत थोडा सा। दामोदरदास की रचना 'मोह-विवेक की कथा' एक सक्षिप्त रूपकात्मक रचना है। जिसकी पाण्डुलिपि पिरान-सुख जी ने १८६१ सम्वत् मे की थी।[1] इसमे, मोह और विवेक, काम और लोभ, क्रोध और क्षमा आदि मे परस्पर युद्ध का वर्णन किया गया है। जिसके अन्त मे, विवेक की विजय दिखलाई गई है। श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' तथा श्री जयशकर प्रसाद की 'कामना' और 'कामायनी' रचनाओ को, हिन्दी साहित्य की उत्कृष्ट रूपकात्मक रचनाए माना जा सकता है।

यूरोप के मध्यभाग मे, इसी प्रकार के नाटक विद्यमान थे, जिन्हे 'मारेलिटी' नाम से जाना जाता था। इन नाटको का मुख्य उद्देश्य होता था—'कल्पित पात्रो को मच पर लाकर, उनके माध्यम से दार्शनिक और धार्मिक तत्त्वो को स्पष्ट करना।' विज्ञान युग का प्रारम्भ होने पर, ये धार्मिक नाटक यूरोप मे तो बन्द हो गये, किन्तु, भारत मे, इनकी धारा/परम्परा, शताब्दियो से जन-मन रञ्जन करती चली आ रही है।

भारतीय वाङ्मय मे, विशेषकर सस्कृत साहित्य मे रूपक/प्रतीक पद्धति पर लिखे गये ग्रथो का, यह सक्षिप्त इतिहास है। जिसके अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उपमान-उपमेय पद्धति का सहारा लेकर, सशय, मोह, भ्रम, अज्ञान आदि से ग्रस्त जीवात्माओ को प्रबोध देने की परम्परा काफी कुछ प्राचीन है। किन्तु, विस्तृत या वृहदाकार ग्रन्थ की सर्जना, इस पद्धति के बल पर करने का साहस, सिद्धर्षि से पहिले, कोई भी नही कर सका। हाँ, इससे पूर्व श्रीमद् भागवत के चतुर्थ स्कन्ध मे, पुरंजन का आख्यान अवश्य मिलता है। पुरजन की विषयासक्ति ने उसे जो भव-भ्रमण कराया है, उसी का विवेचन इस आख्यान मे है। दरअसल, यह पुरजन, स्व-स्वरूप को भूलकर, स्त्री-स्वरूप पर इतनी गाढ-आसक्ति बना लेता है कि उसी के दिन-रात चिन्तन की बदौलत, अगले जन्म मे, उसे खुद स्त्री रूप की प्राप्ति होती है। पुरजन का भव-विस्तार चार अध्यायो मे, कुल १८१ श्लोको मे वर्णित है।

इस वर्णन मे बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रिया, प्राण, वृत्ति, स्वप्न, सुषुप्ति, शरीर और उसके नव-द्वार आदि के रोचक रूपक दर्शाये गये है। यहाँ, पुरजन को ब्रह्मस्वरूप हसात्मा बतलाया गया है और स्व-बोध के अभाव को पति-वियोग के रूप मे चित्रित किया गया है। अन्त मे, इस सारी रूपक कथा का रहस्य, स्पष्ट किया गया है।

---

१ लिखित पिरानसुखजी फीरोजाबाद मे, स० १८६१, नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय मे सुरक्षित पाण्डुलिपि

यह कथानक, बहुत लम्बा तो नही है, किन्तु, इसमे जो-जो भी रूपक, जिस-जिस रूप मे दिये गये है, वे सटीक, सार्थक और मनोहारी है। वावजूद इसके, इस वर्णन को, कथाचरित की उस श्रेणी मे नही रखा जा सकता, जिस श्रेणी मे सिद्धर्षि ने उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा को पहुँचाया है। इसलिये, पूर्वोक्त रूपक-परम्परा के सन्दर्भ मे, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' को, भारतीय रूपक साहित्य का 'आद्य-ग्रथ' मानना पड़ेगा।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा : विशेषताएं

सोलह हजार श्लोक परिमाण वाली, इस गद्य-पद्य मिश्रित रूपक कथा का महत्त्व, इसका सम्पादन करते हुये, लब्ध-ख्याति पाश्चात्य-मनीषी डॉ० हर्मन याकोबी ने स्वीकारते हुये कहा था—'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा, भारतीय साहित्य का पहिला और विशद रूपक-ग्रन्थ है।' लाखों की सख्या मे विकने वाली, मिस्टर बनियन की अंग्रेजी रचना 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' पढे-लिखे अग्रेजो मे काफी प्रसिद्ध रही है। किन्तु, इस अग्रेजी रचना में, सुप्रसिद्ध फ्रासीसी लेखक देग्य इलेविले की कृति—'दी पिलग्रिमेज ऑफ मैन' का बहुत कुछ अनुसरण/अनुकरण किया गया, यह तथ्य, 'दी इग्लिश लिट्रेचर' के लेखक-द्वय ने स्पष्ट करते हुये वतलाया कि 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' नामक अग्रेजी रचना (सन् १६७६) फ्रासीसी-कृति 'दी पिलग्रिमेज ऑफ मैन' से काफी अर्वाचीन है।

ये प्रमाण बोलते है—महर्षि सिद्धर्षि की 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' मात्र भारतीय साहित्य की ही नही, वरन्, विश्व-साहित्य की भी, सर्वप्रथम रूपक रचना है।

इन कथनो की सापेक्षता मे, हम निस्सकोच यह कह सकते है—'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' एक ऐसी संस्कृत रचना है, जो, रूपक शैली मे लिखी होने पर भी, सस्कृत–वाङ्मय की गौरवमयी काव्य-परम्परा, और सुविशाल आख्यान/कथा साहित्य श्रेणी की, एक गरिमा-मण्डित कृति मानी जा सकती है।

सिद्धर्षि के इस महाकथा-ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि पूरा का पूरा ग्रन्थ, रूपकमय है। आदि से लेकर अन्त तक, एक ही नायक के जन्म-जन्मान्तरो का कथा-विवेचन, इस तरह से किया गया है कि धर्म और दर्शन के विशाल-वाङ्मय मे जो-जो भी प्रमुख जीव-योनियां/गतिया वतलाई गई है, उन सबकी स्वरूप-स्थिति व्यापक-रूप मे वतलाने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट होता गया है कि किन-किन कर्मो/भावो से, जीवात्मा को किस-किस योनि/गति मे भटकना पड़ता है। और, किस तरह की मनोवृत्तिया/भावनाएं उन-उन स्थितियो से उसे उवारने मे सक्षम/सम्बल बन पाती है।

आशय यह है कि सिद्धर्षि की सम्पूर्ण कथा, दो समानान्तर धरातलों पर, साथ-साथ विकास/विस्तार को प्राप्त होती गई है। ये दोनों धरातल है—सासारिकता/भौतिकता और अध्यात्म। सासारिक/भौतिक धरातल पर तो पाठक को सिर्फ यही समझ मे आ पाता है कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जीवात्मा, किस-किस तरह की परिस्थितियो मे से गुजरता हुआ, कथा के अन्त मे, मोक्ष के द्वार तक पहुचता है। इन भौतिक परिस्थितियो मे, उसके वैभव सम्पन्न सुखदायी, वे जीवन-वृत्तान्त कथा मे आये है, जिनके अध्ययन से पाठको को विलासिता भरे भौतिक-सुखो के आनन्द/रस-पान का अवसर मिलेगा। और, कुछ ऐसी विषम, दीन परिस्थितियो का चित्रण भी मिलेगा, जिनमें, पाठक की सहृदयता/दयालुता द्रवित हो उठेगी। जबकि आध्यात्मिकता के अमूर्त्त-आकाश मे उडान भरती कल्पनाओ का आध्यात्मिक कथा-कलेवर, भव्य-जीव की शुभ रागमयी पुण्य-प्रसूत-केलियो के ऐसे दृश्य उपस्थित करता है, जिनमे भूला-भटका भव्य जीवात्मा, सोने की हथकडी जैसे पुण्य-बन्ध के अलावा कुछ और हासिल नही कर पाता। किन्तु, कभी-कभी, अशुभ-रागमय पापोद्भूत ऐसे विषम क्षणो/प्रसङ्गो का भी सामना करना पड जाता है, जिनमे, उसका भव्यत्व तक सिहर-सिहर उठता है, लडखडाने लग जाता है।

किन्तु, ग्रन्थकार का मूल आशय, इन दोनो ही प्रकार की स्थितियो का विश्लेषण नही है। उसका स्पष्ट आशय यह है कि जीवात्मा, जिन कारणो से समृद्ध/सम्पन्न बन कर विलासिता मे डूबता है, और, जिन कारणो से उसे दर-दर की ठोकरें खानी पडती हैं, उन सारे कारणो का भावात्मक स्वरूप-विश्लेषण किया जाये। और, पाठको को यह बतलाया जाये कि सुख और दु ख की सर्जना, उसके अन्तस् की शुभ-अशुभ रागमयी भावनाओ के आधार पर होती है। यदि, उसकी चित्तवृत्ति, उत्कृष्ट शुभ रागादिमयी है, तो उसे, उच्चतम स्वर्ग मे स्थान मिल सकता है। और, यदि उत्कृष्ट अशुभ-राग-आदिमयी चित्तवृत्ति होगी, तो, अपकृष्टतम नरक मे उसे जाना पड सकता है। अत इन दोनो ही प्रकार की, राग-द्वेष आदि से युक्त शुभ-अशुभ चित्तवृत्तियो/मनोभावनाओ से मुक्त होकर, एक ऐसी मध्यस्थ/तटस्थ चित्तवृत्ति, उसे बनानी चाहिए, जिसके बल से, स्वर्ग/नरक आदि भवो मे भ्रमण करने से, 'भव-प्रपञ्च' से वह बच सके। यानी, एक ऐसा विशुद्ध शुद्धभाव वह जागृत कर सके, जिसके जागरण से, किसी भी योनि मे, किसी भी भव मे, आना-जाना नही पडता।

इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर, पूरी की पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की कथा-योजना, दुहरे आशयो को साथ-साथ समाविष्ट करके लिखी गई है। इसका एक आशय तो, सामान्य जगत् के व्यवहारो मे दिखलाई पडने वाले स्थान, पात्र, घटनाक्रम आदि मे व्यक्त होता हुआ, सामान्य कथावस्तु को आगे बढाता है, जबकि दूसरा आशय, अदृश्य/भावात्मक जगत् के आध्यात्मिक विचार-व्यापारो मे स्फूर्त होता हुआ, सामान्य कथा-प्रसङ्गो मे अनुस्यूत होकर आगे बढ़ता है। इन दोनो

आशयों को समझाने के लिये यह आवश्यक था कि मूलकथा के दोनों स्वरूपों को, और उसकी प्रतीक/रूपक पद्धति-व्यवस्था को, आरम्भ मे ही स्पष्ट कर दिया जाये। अपने, इस दायित्व-निर्वाह मे, सिद्धर्षि ने चूक नही की। और, कथा-ग्रन्थ की प्रस्तावना/पीठबन्ध के पूर्व मे ही, कथा के दोनो स्वरूपो—अतरंग कथा शरीर और बाह्य कथा शरीर—का सक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन उन्होने किया है। इनका सार-सक्षेप इस प्रकार समझा जा सकता है।

सुकच्छ-विजय का राजा था—अनुसुन्दर। यह चक्रवर्ती सम्राट् था और इसकी राजधानी थी—मेरुपर्वत के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की प्रमुख नगरी क्षेमपुरी। वृद्धावस्था के अन्तिम दिनो में, अपना देश देखने की इच्छा से, वह भ्रमण के लिये निकल पड़ता है। घूमते-घूमते, वह शङ्खपुर नगर पहुचता है। शङ्खपुर के बाहर एक सुन्दर बगीचा था—'चित्तरम'। इसके बीच मे 'मनोनन्दन' चैत्य-भवन बना हुआ था। कुछ दिन पहिले, विहार करते-करते आचार्य समन्तभद्र भी शङ्खपुर आ पहुचे थे, और चित्तरम बाग के चैत्य भवन मे ठहरे हुए थे।

एक दिन, आचार्यश्री की सभा लगी हुई थी। उनके सामने प्रवर्त्तिनी साध्वी महाभद्रा बैठी हुई थी। इनके पास मे ही श्रीगर्भ नरेश की राजकुमारी सुललिता भी बैठी थी, इसी के पास पुण्डरीक राजकुमार बैठा हुआ था। आसपास अन्य सामाजिक/नागरिक बैठे हुए थे। इसी समय, अनुसुन्दर चक्रवर्ती का काफिला, उद्यान के बगल से निकलता है। रथो की गड़गड़ाहट और सेना के कोलाहल ने, सभा मे बैठे लोगो का ध्यान, अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

'भगवति! यह कैसा कोलाहल है?' जिज्ञासावश, राजकुमारी ने महाभद्रा से पूछा।

'मुझे नही मालूम।'—महाभद्रा ने, आचार्यश्री की ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'राजकुमार पुण्डरीक और राजकुमारी सुललिता को प्रबोध देने का यह अनुकूल अवसर है'—यह विचार करके, आचार्यश्री ने महाभद्रा से कहा—'अरे महाभद्रा! तुम्हे पता नही है कि हम सब, इस समय 'मनुजगति' नामक प्रदेश के 'महाविदेह' बाजार मे बैठे हुए हैं। आज एक 'ससारी जीव' चोर, चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है। दुष्टाशय आदि उसे पकड कर वधस्थल की ओर ले जा रहे है, ताकि उसे मृत्युदण्ड दिया जा सके। उसे, यह मृत्युदण्ड, 'कर्मपरिणाम' महाराज ने, अपनी राजमहिषी 'कालपरिणति', और 'स्वभाव' आदि से विचार-विमर्श करने के पश्चात् दिया है।

आचार्यश्री की बात सुन कर, सुललिता आश्चर्य मे पड गई। महाभद्रा की ओर देखकर वह बोली—'भगवति! हम तो शङ्खपुर मे बैठे है। यह तो मनुजगति

नही है ? और इस समय, चित्तरम उद्यान मे है, यह 'महाविदेह' वाजार कैसे हो गया ? यहाँ के राजा श्रीगर्भ है, 'कर्मपरिणाम' नही। फिर, आचार्यप्रवर यह सब कैसे कह रहे है ?'

यह सुनकर आचार्यश्री बोले—'धर्मशीला सुललिता ! तुम 'अगृहीतसकेता' हो। मेरी बात का गूढ अर्थ, तुम्हे समझ मे नही आया।'

सुललिता सोचने लगी—'आचार्य भगवन् ने तो मेरा नाम ही बदल दिया, दूसरा नाम कर दिया।' कुछ भी न समझ पाने के कारण, वह चुप होकर बैठी रह गई।

महाभद्रा ने, आचार्यश्री का सङ्केत स्पष्टत. समझ लिया। वे जान गई कि किसी पापी ससारी जीव का आयुष्य क्षीण हो चुका है, और वह, अपने पूर्वनिर्धारित मृत्युस्थल पर पहुचने का सयोग-उपक्रम कर रहा है। फलत महाभद्रा का मन, उस के नरक-गमन के प्रति, दयाभाव से ओत-प्रोत हो गया। वे वोली—'भगवन् ! यह चोर, मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता है क्या ?'

'जव उसे तेरे दर्शन होगे, और वह, हमारे समक्ष उपस्थित होगा, तभी उसकी मुक्ति हो सकेगी।'

'क्या मैं उसके सम्मुख जाऊ ?' महाभद्रा ने निवेदन किया।

'हाँ, जाओ, इसमे दुविधा क्यो है ?' आचार्यश्री ने अनुमति देते हुए कहा।

महाभद्रा, उद्यान से बाहर निकलकर राजपथ पर आई, और, अनुसुन्दर चक्रवर्ती को देखकर उसे आचार्यश्री के कथन का आशय वतलाया और, कहा—'भद्र ! 'सदागम' की शरण स्वीकार करो।'

महाभद्रा को देखने के कुछ ही क्षणो के बीच अनुसुन्दर को 'स्वगोचर' (जाति-स्मरण) ज्ञान हो गया। फिर, आचार्यश्री का कथन सुनने के वाद, महाभद्रा का सुझाव सुना, तो वह चुपचाप, उनके पीछे-पीछे चल पडा। और, आचार्यश्री के सामने पहुचकर खडा हो गया।

अनुसुन्दर को सभा मे आते समय, समस्त पार्षदो ने उसे चोर के रूप मे देखा। किन्तु, अनुसुन्दर, आचार्यश्री को देखकर अवर्णनीय सुख से भर गया। सुख की अधिकता से, उसे मूर्च्छा आ जाती है। कुछ ही देर मे, सचेत होने पर वह उठ बैठता है। तब, राजकुमारी सुललिता, उससे चोरी के विषय मे पूछती है। मगर, वह चुप बना रहता है। तब, आचार्यश्री निर्देश देते है—'राजकुमारी को तुम अपना सारा पूर्व वृत्तान्त सुना दो।'

वस, यही वह बिन्दु है, जहाँ से 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के 'भव-प्रपञ्च' का विस्तार से वर्णन शुरु होता है। अनुसुन्दर, यानी 'चोर', अपनी चोरी का सारा पूर्व-वृत्तान्त सुनाने लगता है।

कथा सुनने के अवसर पर, आचार्यश्री के सामने महाभद्रा, सुललिता और पुण्डरीक, बैठे रहते हैं। शेष सभासद वहाँ से चले जाते हैं। फिर, जो कथा शुरु होती है, उसमे, अनुसुन्दर, अपने भवभ्रमण की कहानी असंव्यवहार (निगोद स्थानीय) जीवराशि में से निकलकर संव्यवहार जीवराशि में आने से शुरु करता है और विकलाक्ष, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि तमाम जीव-योनियों मे अनन्त वार जन्म-मरण को प्राप्त करते करते, अपने वर्तमान भव तक, सुना डालता है। इन जन्म-जन्मान्तर की कथाओ मे, प्रसङ्गवश, पुण्डरीक और सुललिता के भी पूर्वभवो का वृत्तान्त वह सुनाता है। जिसे सुनकर, लघुकर्मी जीव होने के कारण, पुण्डरीक प्रतिबुद्ध हो जाता है। पर, पूर्वजन्मो के दोषो/पापों की अधिकता के कारण, वार-वार सम्बोधन करके कथा सुनाने पर भी सुललिता को प्रतिबोध नही हो पाता। आखिर, विशेष प्रेरणा के द्वारा उसे बड़ी मुश्किल से बोध प्राप्त हो पाता है। फलतः सबके सब, एक साथ दीक्षा ग्रहण कर लेते है।

इस सार-सक्षेप मे, आचार्यश्री और महाभद्रा तथा सुललिता के जो वाक्य ऊपर आये हैं, उनके आशयो से यह स्पष्ट पता चलता है कि इस महाकथा के साथ-साथ, एक रहस्यात्मक कथा भी चलती रहती है, जिसका सम्बन्ध भौतिक, दृश्यमान पात्रों से न जुड़कर, अन्तरग रहस्यात्मक मनःस्थितियो/चित्तवृत्तियो से है। इस अन्तरंग कथा का शुभारम्भ और कथा-विस्तार का उपक्रम, मूलग्रथ मे, जिस तरह शुरु किया गया है, उसका सार, इस तरह समझा जा सकता है—

मनुजगति नगरी के महाराजा 'कर्मपरिणाम' और उनकी प्रधान महारानी 'कालपरिणति' से 'सुमति' नामक बालक का जन्म होता है। इसकी देखरेख के लिये 'प्रज्ञाविशाला' नाम की धाय, नियुक्त होती है। प्रज्ञाविशाला, अपनी सहेली 'अगृहीतसकेता' से परामर्श के वाद, 'सदागम' नामक उपाध्याय को, सुमति का शिक्षक बनाकर, उसे सुमति को सौप देती है।

एक दिन, सदागम महात्मा, बाजार मे बैठे थे। राजकुमार सुमति और प्रज्ञाविशाला भी, उनके साथ बैठे थे। इसी बीच, अगृहीतसकेता भी वहाँ आती है और बैठ जाती है। थोड़ी ही देर मे, फूटे हुए ढोल की अस्त-व्यस्त, कर्णकटु ध्वनि, और लोगो का अट्टहास सुनाई पडता है।

कुछ ही क्षणों मे, एक 'ससारी जीव' नामक चोर को गधे पर बिठाये हुये, कुछ सिपाही वहाँ से गुजरे। चोर का शरीर राख से पोता हुआ था, उसके ऊपर गेरुए रग की, हाथ की छापे लगी थी। छाती पर कौडियो की माला लटकी हुई थी। टूटी मटकी का कपाल सिर पर रखा था। गले मे, एक ओर चोरी का माल लटका हुआ था। सिपाहियो की डाट फटकार, और उनके निन्दा-वचन सुनकर, वह थर-थर कांप रहा था।

यह दृश्य देखकर, प्रज्ञाविशाला को उस पर दया आ गई। उसने चोर के समीप जाकर उससे कहा—'भद्र! तू इन (सदागम) महापुरुष की शरण ग्रहण कर।'

चोर भी, सदागम का स्वरूप देखकर उनमे विश्वस्त हो गया । वह, उनके पास गया, और उन्हे देखता ही रह गया । क्षणभर बाद, वह आखे बन्द करके गिर पडा । जब उसे होश आया, तो चिल्लाने लगा—'हे नाथ ! मेरी रक्षा करे ।'

सदागम ने उसे अभय का आश्वासन दिया, चोर, आश्वस्त हो गया । अब, अगृहीतसङ्केता ने उस चोर से, उसके अपराध का, और राजपुरुषो द्वारा पकड़े जाने का कारण पूछा । चोर बोला—'आप पूछकर क्या करेगी ?' सदागम ने उसे निर्देश दिया—'अगृहीतसङ्केता, तेरा वृत्तान्त सुनने को उत्सुक है । अत , इसकी जिज्ञासा शान्त करने के लिये, तू अपना सारा वृत्तान्त बतला दे ।' चोर ने कहा—'मै, अपनी आपबीती घटना, सबके सामने नही बतलाऊ गा । किसी निर्जन स्थान मे चले ।'

सदागम के इशारे से, सब लोग उठकर चले गये । इन लोगो के साथ, प्रज्ञाविशाला भी उठकर जाने लगी, तो सदागम ने उसे वही बैठे रहने के लिए कहा । सुमति राजपुत्र भी वही बैठा रहा । पश्चात्, अगृहीतसङ्केता को लक्ष्य कर के, वह 'ससारी जीव' चोर, अपना वृत्तान्त सुनाने लगा ।

मेरी पत्नी, 'भवितव्यता' मुझे 'असव्यवहार' नगर के 'निगोद' नामक एक कमरे मे से निकाल कर 'एकाक्षनिवास' नगर मे ले आती है । यहाँ मुझे 'वनस्पति' नाम दिया जाता है । यहाँ, मै 'साधारण शरीर' नामक कमरे मे मदमत्त, मूर्च्छित, मृत की तरह श्वासे लेता पडा रहा । फिर कुछ दिनो बाद, यहाँ से निकाल कर, एकाक्षनगर मे ही किसी दूसरे मुहल्ले के दूसरे विभाग मे 'प्रत्येकचारी' के रूप मे असख्यकाल तक रखा ।' इसी तरह के वृत्तान्त सुनाता हुआ वह, अपने वर्तमान जन्म तक आ पहुँचता है ।

इन आरम्भिक घटनाक्रमो के वर्णन मे, जो द्वैविध्य, शुरु से ही कथानक मे उभरता है, उसका रहस्य, कथा के आठवे प्रस्ताव मे पहुँचने पर खुलता है । इस तरह, इस महाकथा का लम्बा-चौडा कथानक, दूसरे प्रस्ताव से शुरु होता है और आठवे प्रस्ताव के प्रारम्भ तक अपनी रहस्यात्मकता को बनाये रखता है । प्रथम प्रस्ताव, पीठबन्ध मे, ग्रन्थकार ने अपनी निजी कथा-व्यथा लिखी है । इस आत्म-कथा का महत्त्व, इसलिए मूल्यवान् बन गया कि वह भी रूपक-पद्धति मे, रहस्यात्मक-प्रतीक शब्दावली द्वारा व्यक्त की गई है । जिससे, मूलकथा की रहस्यात्मकता मे पहुँचने के पूर्व ही, पाठक का प्रौढ मन, कथाकार की प्रतीकात्मक शब्दावली के गूढ आशयो को समझने की निपुणता प्राप्त कर लेता है । बाद के प्रस्तावो मे वर्णित कथाक्रम का सार-सकेत इस प्रकार है ।

तीसरे प्रस्ताव मे—जयस्थल नगरी के राजा पद्म और उनकी महारानी नन्दा के बेटे राजकुमार नन्दिवर्द्धन के रूप मे, अनुसुन्दर का जीव, जन्म लेता है ।

नन्दिवर्द्धन को 'क्रोध' और 'हिंसा' के चंगुल मे फंस जाने पर, किस-किस तरह की दारुण व्यथाएँ सहनी पडी, और किन-किन भवो मे भ्रमित होना पड़ा, यह सब बतलाया गया है। मनुजगति नगरी के भरत प्रदेश मे क्षितिप्रतिष्ठ नगर के राजा 'कर्मविलास' की दो रानिया थी—शुभसुन्दरी, और अकुशलमाला। शुभ-सुन्दरी का पुत्र है—'मनीषी' और अकुशलमाला का पुत्र होता है— 'बाल'। बाल को 'स्पर्शन' की कुसगतिवश जो कष्ट भोगने पड़े, और तदनुसार, उसे जिन-जिन भवो मे भ्रमित होना पड़ा, उस सबका व्यापक वर्णन है। 'बाल' के रूप मे भी 'ससारीजीव' (द्वितीय प्रस्ताव) चोर, के भव-वर्णन को समझना चाहिए।

चतुर्थ प्रस्ताव मे—सिद्धार्थ नगर के राजा नरवाहन और उनकी रानी विमलमालती के पुत्र रिपुदारण को 'असत्य' और 'मान' (गर्व-घमण्ड) के वशीभूत हो जाने से, तथा भूतल नगर के राजा मलसचय और उनकी पत्नी 'तत्पक्ति' के दो बेटो —शुभोदय और अशुभोदय, में से अशुभोदय की पत्नी स्वयोग्यता के पुत्र राज-कुमार 'जड' को 'रसना' की आसक्ति/लुब्धतावश, तथा पांचवे प्रस्ताव मे—वर्धमान नगर के श्रेष्ठी सोमदेव और सेठानी कनकसुन्दरी के लड़के वामदेव को 'चौर्य' और 'माया' का वशवर्ती बनने से, तथा धरातल नगर के राजा शुभविपाक के अनुज अशुभविपाक की पत्नी परिणति के पुत्र मन्दकुमार को 'घ्राण' के प्रति लगाव होने से, छठवे प्रस्ताव मे—आनन्दपुर के श्रेष्ठी हरिशेखर एवं सेठानी बधुमती के पुत्र धनशेखर को 'मैथुन' और 'लोभ' का वशंवद हो जाने से, तथा मनुजगति के राजा जगत्पिता 'कर्मपरिणाम' व जगन्माता महादेवी के छः पुत्रो मे से द्वितीय पुत्र 'अधम' को विषयाभिलाष की पुत्री दृष्टिदेवी के साहचर्य से, सातवे प्रस्ताव मे—साल्हाद नगर के राजा जीमूत और उनकी पटरानी लीलादेवी के पुत्र घनवाहन को 'महामोह' और 'परिग्रह' के सम्पर्क से, तथा क्षमातल नगर के राजा 'स्वमलनिचय' और उनकी रानी 'तदनुभूति' के दूसरे पुत्र 'बालिश' को कर्मपरिणाम की कन्या 'श्रुति' के सहवास से कैसी-कैसी भयकर यातनाए, पीड़ाए भुगतनी पडी, और किन-किन योनियो मे कितनी-कितनी बार जन्म-मरण लेना पडा, इत्यादि का वर्णन, अवान्तर कथाओ सहित किया गया है।

आठवे प्रस्ताव मे चार विभाग है। इनमे से पहिले विभाग मे – सप्रमोद नगर के राजा मधुवारण और उनकी पटरानी सुमालिनी के यहाँ गुणधारण के रूप मे 'ससारी जीव' जन्म लेता है। इसके जीवनवृत्त द्वारा यह बतलाया गया है कि 'कर्म' 'काल' 'स्वभाव' 'भवितव्यता' का क्या कार्य है? इन सबके सयोग/सहयोग से किस तरह पुण्योदय और पापोदय आते-जाते है? दूसरे विभाग मे, उस रहस्य को सुलझाया गया है, जो कथा के आरम्भ होने के साथ-साथ, पाठक के मस्तिष्क मे भी घर कर चुका था। तीसरे विभाग मे, समस्त प्रमुख पात्रो का सम्मिलन कराकर उनकी जीवन-प्रगति का निर्देश किया गया है, और चौथे विभाग मे ग्रन्थ का सारा का सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। अन्त मे, प्रशस्ति के साथ ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है।

इस सक्षिप्त कथासार से स्पष्ट हो जाता है कि पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा मे हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह मे लिप्त होने मे, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के वशीभूत होकर पञ्चेन्द्रियो के विषयो मे लोलुपता रखने से, जीवात्मा को अनगिनत आपदाओ से घिर जाना पडता है। इन्ही सब से 'भव' का 'प्रपञ्च' विस्तार/विकास को प्राप्त होता है, जिसमे फसा जीवात्मा कभी नारकियो का, देवो का और कभी-कभी पशु-पक्षियो आदि का जन्म प्राप्त करके ससारी बना पडा रह जाता है। सयोगवश पुन' प्राप्त मानव-जीवन को दुबारा भी, इन्ही सब विषय-विकारो मे उलझा कर बरबाद कर दिया गया, तो न जाने फिर कब, उसे यह दुर्लभ मानव देह मिल पायेगी। इसलिए, निर्विकार, शुभ्र-चित्त से 'सदागम' की शरण स्वीकार कर यह प्रयास करना चाहिए कि निवृत्ति नगर का वह निवासी बन सके।

सिद्धर्षि के इस कथा-ग्रन्थ के नाम से ही पाठक के मन मे यह सहज जिज्ञासा उठती है कि आखिर यह 'भव-प्रपञ्च' क्या है ? जिसे लक्ष्य कर के, इतना विशाल ग्रन्थ रचा गया। इस प्रश्न का उत्तर, स्वय सिद्धर्षि ने, विवेकाचार्य के द्वारा अपनी रचना मे दिया है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए।

प्राय. सब प्राणी, अनादिकाल से असव्यवहारिक राशि मे रहते है। जब प्राणी वहाँ रहता है, तब, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आस्रव द्वार (कर्मबन्ध के हेतु) उसके अन्तरङ्ग स्व-जन-सम्बन्धी होते है। जैन ग्रन्थो मे वर्णित अनुष्ठान द्वारा विशुद्ध मार्ग पर आकर, जितने प्राणी, कर्म से मुक्त होकर मुक्ति पाते है, उतने ही जीव असव्यवहार राशि मे से निकलकर व्यवहार राशि मे आते है। यह केवल-ज्ञानियो के वचन है।

इस असव्यवहार राशि मे से बाहर निकले जीव, बहुत समय तक एकेन्द्रिय जाति मे अनेक प्रकार की विडम्बना भोगते है। विकलेन्द्रिय से लेकर पाच इन्द्रियो वाली तिर्यञ्च जाति मे परिभ्रमण करते है और अनेकविध कष्ट/दु ख भोगते है। भिन्न-भिन्न अनन्त भवो मे सहन/भोग करने के लिये, बधे हुये कर्मजाल परिणामो को भोगते हुए, भवितव्यता के योग से, बार-बार नये-नये रूप धारण करते है। अरहट घटी की तरह, ऊपर-नीचे घूमते रहते है। और, यहाँ पर वे सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीव-रूप धारण करते है। कई बार, वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय, सज्ञी पञ्चेन्द्रिय, जलचर, स्थलचर, और नभचर तिर्यञ्चो का रूप धारण करते है। इस प्रकार नाना-विध विचित्र रूपो मे अनेक स्थानों पर भटकते हुए जीव को महान् कठिनता से, मनुष्य भव मिलता है।

जैसे समुद्र मे डूबते हुए को रत्नद्वीप मिल जाये, महारोग से जर्जरित को महोदधि, विषमूर्च्छित को मत्रज्ञाता, दरिद्री को चिन्तामणि की प्राप्ति जितनी कठिन

होती है, वैसी ही कठिनाई से मनुष्य भव की प्राप्ति होती है। किन्तु, मनुष्य भव मे भी, हिंसा, क्रोध, आदि दुर्गुण इस तरह पीछे पड़े रहते हैं, जैसे धन के भण्डार पर वैताल पीछे पडा रहता है। इन सबसे, वह पीडित होकर, महामोह की प्रगाढ निद्रा में पडा रह जाता है, और अपने मनुष्य भव को निरर्थक खो देता है।

जो व्यक्ति, जिनवाणी रूप प्रदीप के द्वारा अनन्त भव-प्रपञ्च को भलीभांति जानते है, वे भी, महामोह के वशीभूत होकर मूर्खो की तरह दूसरो को उपताप, सताप देते है, गर्व मे डूब जाते है, दूसरो को ठगते है, धनलिप्सा मे डूबे रहते है, प्राणियो की हिंसा करते है, विषयभोगो में आसक्त रहते है, वे सबके सब भाग्यहीन प्राणी हैं। ऐसे व्यक्तियो को भी, मनुष्य भव, मोक्ष तक पहुचाने का कारण नही बन पाता, बल्कि अनन्त दु खो से भरपूर भव-प्रपञ्च (ससार-परम्परा) की वृद्धि कराने वाला हो जाता है।[1]

इस भव-प्रपञ्च विस्तार के नमूनो के रूप मे, पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' मे से किसी भी एक कथानक को पढा जा सकता है, और समझा जा सकता है। सहज और सरल तरीके से, सक्षेप मे ज्ञान करने के लिये, इस ग्रन्थ के आठवे प्रस्ताव मे, शङ्खनगर के महाराजा महागिरि, और उनकी रानी भद्रा के बेटे 'सिंह' का कथानक पढा जा सकता है।[2]

इस ससार मे चार प्रकार के पुरुष होते है। ये हैं—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और उत्कृष्टतम। इनका स्वरूप इस तरह से समझना चाहिए।

उत्कृष्टतम प्राणी वे है—जो संसार अटवी से विरक्त होकर, पापरहित होकर, इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करके समस्त कर्मो का नाश करते है और मोक्ष को प्राप्त हो जाते है। उत्कृष्ट प्राणी वे है—जो विगतस्पृह होकर, अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण रखते है, दोषो का सचय नही करते, शरीर का और इसके हर अंग का उपयोग धर्म की आराधना मे करते है, और मोक्षमार्ग की ओर प्रयाण करते है। मध्यम पुरुष वे है—जो, अपनी इन्द्रियो की प्रवृत्ति को सहज रूप मे बनाये रखते है, उनके विषय-भोगो में आसक्ति नही रखते, और कषाय आदि के दुष्प्रभाव मे होने पर भी लोक-विरुद्ध, नीति-विरुद्ध, धर्मविरुद्ध आचरण नही करते। और, जघन्य पुरुष वे है—जो इस ससार मे, ससार के विषय भोगो मे गाढ़ आसक्ति रखते हुए अपनी इन्द्रियो की और अन्त.करणो की प्रवृत्ति बनाए रखते है।

इनमे से, उत्कृष्टतम कोटि के पुरुष, मुक्ति को प्राप्त होते है। उत्कृष्ट पुरुष, मुक्ति पाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते है। मध्यम पुरुष, न तो मुक्ति के लिए

---

१. उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रस्ताव-३ पृष्ठ २७६-८६
२ उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रस्ताव ८, पृष्ठ ७२८-७३३

चेष्टा करते है, और न ही, कर्मबन्ध के अनुकूल परिणाम देने वाले कार्यों मे विशेष रुचि रखते हैं। जबकि अधम पुरुष, हर क्षण, इस तरह के क्रिया-कलापो मे सलग्न रहता है, जिनके द्वारा उसके भव-प्रपञ्च का विकास/विस्तार ही होगा। एक तरह से, ऐसे ही व्यक्तियो को लक्ष्य करके, यह कथा-ग्रन्थ सिद्धर्षि ने लिखा है, ताकि वे इसे उपयोग कर सके।

वस्तुत, कोई भी व्यक्ति, जन्म से उत्कृष्ट, मध्यम या अधम नही होता। उसके, अपने पिछले जन्मो के कर्मबन्ध, सस्कार बन कर उसके साथ पैदा अवश्य होते है, तथापि, जन्म ग्रहण कर लेने के बाद, बहुत कुछ इस बात पर, व्यक्ति के आगे का भव-प्रपञ्च निर्भर करता है कि उसने वर्तमान मनुष्य भव मे क्या, कुछ, कैसा किया। और, यह एक अनुभूत सत्य है कि व्यक्ति, जैसे परिवेप मे रहेगा, जिस तरह के समाज मे उठेगा-बैठेगा, उस सबका प्रभाव उस पर निश्चित ही पडेगा। इस तथ्य से, ग्रन्थकार भली-भाति परिचित रहे। फलत, इस स्थिति की उन्होने आध्यात्मिक/धार्मिक/मनोवैज्ञानिक/वैज्ञानिक तरीके से जो व्याख्या की है, वह, बहुत कुछ इन शब्दो से समझी जा सकती है।

इस ससार मे प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते हैं। प्रथम प्रकार के कुटुम्ब मे—क्षान्ति, आर्जव, मार्दव, लोभ-त्याग, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सत्य, शौच, और सन्तोष आदि कुटुम्बीजन होते है। यह कुटुम्ब, प्राणी का स्वाभाविक कुटुम्ब है, जो अनादिकाल से, उसके साथ रहता आता है। इस कुटुम्ब का कभी अन्त/विनाश नही होता। यह कुटुम्ब, प्राणी का हित करने मे ही सदा तत्पर रहता है। परेशानी की बात सिर्फ यह है कि, यह कुटुम्ब कभी-कभी तो अदृश्य हो जाता है और फिर प्रकट हो जाता है। उसका छुपना और प्रकट होना, स्वाभाविक धर्म है। यह हर प्राणी के अन्तस् मे रहता है। इसकी सामर्थ्य इतनी प्रबल है कि यदि यह कुटुम्ब चाहे तो प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकता है। क्योकि, यह अपने स्वभाव से ही, प्राणी को, उसके स्व-स्थान से उच्चता की ओर ले जाता है।

दूसरा कुटुम्ब, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, शोक, भय, अविरति आदि का है। यह कुटुम्ब, प्राणी का अस्वाभाविक कुटुम्ब है। किन्तु, यह दुर्भाग्य की बात ही कही/मानी जायेगी कि अधिकाश प्राणी, इसे ही अपना स्वाभाविक कुटुम्ब मान कर, उससे प्रगाढ प्रेम करने लगते है। इसका सम्बन्ध, अभव्य जीवो के साथ अनादि काल से है, जिसका अन्त कभी नही होता। कुछ भव्य-प्राणियो के साथ भी, इसका अनादि काल से सम्बन्ध जुडा होता है, किन्तु उसका अन्त, निकट भविष्य मे होने की सम्भावनाए बनी रहती हैं। यह कुटुम्ब, प्राणी का, एकान्तत अहित ही करता है। किन्तु, यह भी जब कभी, प्रथम कुटुम्ब की तरह अदृश्य हो जाता है, छुप जाता है, और फिर से प्रकट हो जाता है। यह भी, प्राणी के अंतरग में निवास करता है, और उसे सासारिक विषय-भोगो मे, प्रवृत्त कराकर

उसके भव-विस्तार में प्रमुख निमित्त बनता है। क्योंकि, इसका स्वाभाविक धर्म है– प्राणी को स्वस्थान से अध.पतित बनाना और दुर्गुणों के प्रति प्रेरित करना।

तीसरा कुटुम्ब/परिवार प्राणी का अपना शरीर, उसे पैदा करने वाले माता-पिता, और भाई-बहिन आदि अन्य कुटुम्बीजनो का होता है। यह कुटुम्ब, स्वरूप से ही अस्वाभाविक है। और, सादि सान्त है। इसका प्रारम्भ अल्पकालिक होता है, फलत:, इसका अस्तित्व पूर्णत. अस्थिर रहता है। यह कुटुम्ब, भव्य प्राणी को तो कभी हितकारी और कभी अहितकारी भी होता है। इसका धर्म उत्पत्ति और विनाश है। यह, हमेशा बहिरंग प्रदेश में ही प्रवर्तित होता है। भव्य प्राणी को, यह संसार और मोक्ष दोनों की प्राप्ति मे सहयोगी बनता है। जबकि अभव्य प्राणी के लिये, यह सिर्फ संसार-वृद्धि का ही कारण होता है। प्राय., यह कुटुम्ब, प्राणी के दूसरे कुटुम्ब के सदस्यो—क्रोध. मान. माया आदि को परिपुष्ट करने वाला होने से ससारवृद्धि का ही कारण बनता है। जब, कोई प्राणी, अपने प्रथम प्रकार के कुटुम्ब का अनुसरण/ अनुगमन करता है, तब, यह भी, उसके पोषण मे सहयोगी बन जाता है, और इस तरह, मोक्ष दिलाने मे कारण बनता है।

इसी तरह के तमाम विवेचनो से भरा-पूरा है यह महाकथा ग्रन्थ। धर्म और दर्शन, खासकर जैनधर्म/दर्शन के हर प्रसङ्ग को सिद्धर्षि ने छुआ भर नही है, बल्कि उसकी ऐसी स्पष्ट अवतारणा अपने पात्रो मे कर दी है, जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि, पाठक, कोई कथा नही पढ़ रहा है, बल्कि, कथा के पात्रो की घटनाओं को अपने बहिरंग और अतरंग परिवेश से प्रत्यक्ष-घटित होता अनुभव करता है।

तीसरे प्रस्ताव से लेकर सातवें प्रस्ताव तक कुल पांच प्रस्तावो मे, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह एव स्पर्शन, रसन, चक्षु, घ्राण और श्रोत्र में से एक-एक को लेकर, एक-एक प्रस्ताव मे इनके समग्र स्वरूप की स्पष्ट, सहज और सरल रूप मे व्याख्या की है। और, इन सबके संसर्ग/संपर्क से होने वाले दुष्परिणामो को, कई-कई कथानको के द्वारा व्याख्यायित किया है। इन पाँच-सात प्रस्तावो मे, धर्म और दर्शन के व्यावहारिक आचरण का एक-एक रोम तक व्याख्यायित होने से नही बच पाया। इसके अलावा भी, प्रसंगवश जिन विषयों शास्त्रों की विवेचना की गई है, उनमे आयुर्वेद, ज्योतिष, स्वप्न-शास्त्र निमित्त-शास्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, धातुविद्या, युद्धनीति, राजनीति, गृहस्थ धर्म, मनोविज्ञान दुर्व्यसन, विनोद, व्यंग्य आदि प्रमुख है। इन सबको, सिद्धर्षि ने जीवन-घटनाओ के सांसारिक/नैतिक/आध्यात्मिक विवेचन मे, जीभर कर उपयोग मे लिया है। जिससे, यह स्पष्टत: प्रमाणित होता है कि वे, मात्र दर्शन/धर्म के ही मर्मज्ञ नही थे, बल्कि, उनकी उदात्त ज्ञानसमृद्धि-चतुर्मुखी/ बहुमुखी थी।

'उपमिति-भव-प्रपच कथा' मात्र दार्शनिक/आध्यात्मिक विषयो को ही स्वय आत्मसात नही किये है, बल्कि इसमे शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य, करुणा आदि रसो का, छहो ऋतुओ का, नगर, पर्वत, वन, नदी आदि प्राकृतिक दृश्यो का सजीव चित्रण भी है।

मनुष्य के जन्म, जन्मोत्सव और शिक्षा-दीक्षा ग्रहण से लेकर, उसके विवाह आदि सस्कारो का, उसके पिता-भाई आदि दायित्वो के निर्वाह का और सम्मिलित परिवार के रूप मे एक गृहस्थी का, आचरणीय क्या होना चाहिए? परिवार, समाज और अपने देश के प्रति उसके क्या-क्या कर्त्तव्य है? समाज मे किस तरह की व्यावहारिक व्यवस्थाए होनी चाहिएं? इन सारे पक्षो पर सिद्धर्षि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से प्रकाश डाला है। और, उनके समकालीन समाज मे किस तरह का वातावरण था, कौन-कौन सी कुरीतिया, रूढिया थीं, जो सामाजिक नैतिक-उत्थान मे बाधा बनी हुई थी, इस पक्ष को भी उन्होने बिना कोई छिपाव किये, अपनी रचना मे दर्शाया है। जैन धर्म/दर्शन मे आस्था रखने वाले सामाजिको/नागरिको को श्रावक/श्राविका के लक्षण, दायित्व और कर्त्तव्यो को भी स्पष्ट करने मे उनसे चूक नही होने पाई। हिसा, चोरी, लूटपाट, ठगी, परवञ्चना और दुराचार जैसे घिनौने रूपो का खुलासा करने के साथ-साथ सच्चाई, ईमानदारी, परोपकारिता और दीन-दु.खियो के प्रति हमदर्दी जैसे सात्विक गुणो की वर्णना में भी वे पीछे नही रहे। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि सिद्धर्षि ने, अपने समकालीन समाज की दुखती नस को छुआ है, तो उसका उपचार/इलाज भी बतलाया है कि कैसे उसे दूर करके समाज को स्वस्थ्य बनाया जा सकता है। इन सारे वर्णनो के कुछ नमूने पुरुष प्रकार (पृष्ठ २०१), नारी स्वरूप (पृष्ठ ३८२) और लक्षण (पृष्ठ ४७४), राजा-रानी वर्णन (पृष्ठ १४८), मन्त्रीवर्णन (पृ० १५८), राज्य की सुख दुखता-(पृ० ५८१), दुर्जन दोप (पृ० ११२), धनगर्व (पृ० ४०४), पाखण्डी भेद (पृ० ३६५), मद मे अधापन (पृष्ठ ३३) आदि देखे जा सकते है।

संसारी की मूल स्थिति (पृष्ठ २८६), शोक का स्वरूप (पृ० ४०२, ६६६), ससारी जीव का स्वरूप (पृ० ५७६), मोह की प्रबलता (पृ० ७२९), महामोह (पृ० १६१), मिथ्या अभिमान (४००), भोगतृष्णा (१७४), राग की त्रिविधिता और वेदनीय के तीन प्रकार (पृ० ३६७), अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोष (पृष्ठ १७६), क्रोध, मान आदि कपायो का स्वरूप (पृ० ३७३), मिथ्या दर्शन (पृ० ३५९), मिथ्याभिमान से बनने वाली हास्यास्पद स्थिति (पृ० १०१), और चारो गतियो का (पृष्ठ ४१८) वर्णन, जीवात्मा के ससार-वृद्धि के कारणो के रूप मे देखा/पढा जा सकता है।

जो व्यक्ति, परमात्म-स्वरूप की साकारता मे आस्था रखते है, उनके लिए जिनपूजा (पृ० ४८९), जिनाभिषेक (पृ० २१८), साकार स्वरूपदर्शन की महिमा

(पृ० ४८६), जिनशासन (पृ० ४५), चण्डिकायतन (पृ० ३६७), अतिशय वर्णन (पृ० ५६६), और आराधना वर्णन (पृ० ७६६) जैसे प्रसङ्ग पठनीय हो सकते हैं।

साधु समाज के लिये साधु का स्वरूप (पृ० ४३६), साधु अवस्था (पृ० ५७६), साधुक्रिया (पृ० ६४१), साधु धर्म (पृ० ६३६), प्रव्रज्या विधि (पृ० ७३७), दीक्षा महोत्सव (पृ० २१७, २२८), आदि प्रसङ्ग तो पठनीय हैं ही, इनके साथ-साथ, अपने आचरण की प्रखरता बनाये रखने के लिए वैराग्य महिमा (पृ० ५६७), सम्यक्त्व (पृ० ७३), सम्यग्दर्शन (पृ० ४५१), चित्तानुशासन (पृ० ६४६), दया (पृ० २७१), ध्यान योग (पृ० ७५७), सद्धर्म साधन (पृष्ठ ६३६), चारित्र (पृ० ४४८), चारित्र सेना (पृ० ४५४), साधु के गुण (पृ० ६१), धर्म के परिणाम (पृ० ७१), क्षमा (पृ० १४६), सदागम का स्वरूप (पृ० ११८), सदागम का माहात्म्य (पृ० ११७), पुण्योदय (पृ० १३६), सम्यग्दर्शन के पांच दोष (पृ० ७३), विभिन्न साधुवर्गों पर आक्षेप के प्रसङ्ग मे क्रियाओ के अर्थ (पृ० ६१), तप के प्रकार (पृ० ७५६), मुक्ति स्वरूप (पृ० ४३०), और सिद्ध स्वरूप (पृ० ७०६) तथा सब एक साथ मोक्ष क्यों नही जाते (पृ० ४६) आदि प्रसङ्गों जैसे अनेक प्रसङ्ग पठनीय हैं, चिन्तनीय है और मननीय होने के साथ आचरणीय भी हैं।

सिद्धर्षि की भाषा सरल, सुबोध और हृदयग्राही तो है ही, उसमे भावों को स्पष्ट कर पाठक के मन पर अपना प्रभाव डालने की भी पर्याप्त सामर्थ्य है। इसके लिये, उन्हे, प्रसाद गुण को अङ्गीकार करना पड़ा। स्थिति और पात्र, जिस तरह की भाषा की अपेक्षा करते हैं, उसी तरह, भाषा का प्रयोग किया गया है। वे, जब 'कुटी प्रावेशिक रसायन' (पृ० ३५), विमलालोक अंजन (पृ० १२), तत्त्वप्रीतिकर जल (पृ० १२), महाकल्याणक भोजन (पृ० १२), आमर्ष औषधि (पृ० ४५), गोशीर्ष चन्दन (पृ० ४५), भैंस का दही और वैंगन (पृ० ८५-८६), नागदमनी औषधि (पृ० १४२) और धातु मृत्तिका (पृ० ३८) तथा लोहे को सोना वनाने का रस—'रसकूपिका' (पृ० ३८) जैसे प्रसङ्गों पर चर्चा करते हैं, तब उनके वैद्यक का ज्ञान और एक धातुविद् का बुद्धिकौशल, सामने आ जाता है। मद्यपान की दुर्दशा (पृ० ३९७) व मांस खाने के दुष्परिणाम (पृ० ४१३) से लेकर काम-क्रीड़ा (पृ० ५०४) जैसे प्रसङ्गों की, प्रसङ्गगत अपेक्षाओ को रखते हुए, वसन्त (पृ० ३८६), ग्रीष्म और वर्षा (पृ० ४५६) तथा शरद्-हेमन्त (पृ० ३३४) और शिशिर (पृ० ३८६) ऋतुओ का वर्णन भी दिल-खोलकर किया गया है।

कथावर्णन में सिद्धर्षि ने नीतिवाक्यों/सूक्तियों का भी भरपूर प्रयोग किया है। 'लक्षणहीन मनुष्यो को चिन्तामणि रत्न नही मिलता' (पृ० १२१), 'सद्गुरु के सम्पर्क से कुविकल्प भाग जाते हैं' (पृ० ५७), 'पहिले जो दिया जाता है, वही मिलता है' (पृ० १००), 'धर्म के अतिरिक्त, सुख पाने का कोई दूसरा साधन नहीं है' (पृ० ५७), 'पति-पत्नी परस्पर अनुकूल हो, तभी प्रेम वना रहता है (पृ० १०६), 'जुओं से वचने के लिए कपड़ों का त्याग कौन बुद्धिमान करेगा' (पृ० ११४)

'मनीषियो को ऐसे कार्य सदा करने चाहिए, जिससे मन मुक्ताहार, बर्फ, गोदुग्ध, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत एव स्वच्छ हो जाये' (पृ० ११-१८ प्रस्तावना) जैसी लगभग २८० सूक्तियो का, पूरे ग्रन्थ मे, इन्होने प्रयोग किया है। उपमा और रूपको की तो इतनी भरमार है कि शायद ही कोई पृष्ठ, इनसे अछूता बच पाया हो।

'भव-प्रपञ्च' का विस्तार और उसकी प्ररूपणा, प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य—प्रतिपाद्य विषय है। वह भी, उपमानो के माध्यम से। इसलिए, सिद्धर्षि ने, ससारी स्थितियो, पात्रो और घटनाओ का जो वाह्य-परिवेश, अपनी लेखनी का विषय बनाया, उसकी चरितार्थता तव तक विल्कुल ही वेमानी रह जाती, जव तक कि उसके विकास/विस्तार के मुख्य-निमित्त, अन्तरङ्ग-परिवेश को, कलम की नौक पर न बैठा लिया जाता। यह अन्तरङ्ग परिवेश, यद्यपि स्वभावत अमूर्त्त है, तथापि, मूर्त्त-ससार का कोई भी ऐसा कौना नही है, कोई भी घटना, पात्र और स्थिति नही है, जिसकी कल्पना तक, अतरंग-परिवेश के सहयोग/उपस्थिति के बगैर की जा सके ? इस अनिवार्यता के कारण, इस पूरे कथा ग्रथ मे, जितने भी राजा/महाराजा, राजकुमार, राजकुमारियां, रानिया, महारानिया, उनकी सेना, सेवक/अनुचर, पारिवारिकजन और सामाजिक आदि-आदि सिद्धर्षि ने कल्पित किये, उससे कुछ अधिक ही, अंतरंग-लोक मे, ऐसे ही पात्रो की कल्पना करना उन्हे लाजिमी हो गया। इतना ही नही, जो नगर, ग्राम, उद्यान, नदी, पर्वत, महल, गुफाए उन्होने धरती के लोक मे वर्णित की, वैसे ही, अतरंग लोक मे वर्णन करने का कौशल-सामर्थ्य, उन्हे अपने आप मे जुटाना पडा। पर, प्रसन्नता की बात यह है कि इस सारे कल्पना-जाल मे, सिद्धर्षि की विशाल-प्रज्ञा एक ऐसा पैनापन ले आने मे समर्थ हुई है, जिसका प्रवेश, शास्त्रो मे वर्णित स्वर्ग और नरक आदि चौदहो लोको मे वेरोक-टोक हुआ है। यह, इस कथा-ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

हर कथा मे, दो वर्ग होते है—एक तो नायक, यानी कथानायक का वर्ग, जो पग-पग पर, उसे साहस/सहयोग प्रदान करता है, ताकि वह, अपने लक्ष्य-साधन मे सफल हो सके। दूसरा वर्ग वह होता है, जो कथानायक के साथ कुछ इस तरह चिपका-चिपका रहता है कि उसके हर प्रगति-कार्य मे झट से उपस्थित होकर, कोई न कोई बाधा खडी कर देता है। इस दूसरे वर्ग को प्रतिनायक वर्ग कहा जा सकता है।

'उपमिति-भव-प्रपच कथा' मे कथानायक तो 'ससारी जीव' ही है, क्योकि ग्रन्थ के विशाल कथानक का मूल-सूत्र, ससारी जीव से, कही भी टूटने नही पाता। किन्तु, मजेदार बात यह है कि इस कथानायक की लडाई जहाँ-कही भी जिस-किसी से होती है, या, मित्रता और उठना-वैठना जिनके बीच होता है, वे सबके सब दिखावटी है। यह निष्कर्ष, तब निकल पाता है, जब इस सारे कथानक पर, दार्शनिक बुद्धि से गौर किया जाये। क्योकि पूरे-ग्रन्थ मे, जो परस्पर सघर्षरत दो पक्ष/प्रति-

इन्ही वतलाए गये हैं, वे हैं—सत्-प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति। यानी, सदाचार और दुराचार। दुराचार पक्ष की ओर से, कई वार यह कहा गया है कि हमारा प्रबल शत्रु 'संतोष' है, 'सदागम' है। जो, 'ससारी जीव' को उनके चंगुल से मुक्त कराके 'निवृत्ति नगरी' में पहुचा देता है। 'कर्मपरिणाम' के प्रमुख सेनापति 'महामोह' और उसके पक्ष/परिवार के 'अशुभोदय' आदि, अपनी सेना के साथ, 'सदागम' को पराजित कर समूल नष्ट करने के लिये प्रयासरत दिखलाये गये हैं। एक भी प्रसङ्ग, ऐसा पढ़ने को नही मिला, जिसमें, यह स्पष्ट हुआ हो कि 'महामोह' की सेना ने, 'संसारी जीव' को पराजित करने के लिए कूच किया हो। 'संसारी जीव' को तो कुछ इस तरह दिखलाया गया है, जैसे, वह 'संतोप' आदि का निवास स्थान महल/किला हो। यह गुत्थी, पाठक की वुद्धि को चकराये रहती है।

इस कथा-ग्रन्थ मे, धर्म के आचरणीय अनुकरण को मुख्यतः प्रतिपादित किया गया है। इसलिये, इसे हम, 'धर्मकथा' कहने में सकोच नही कर सकते। किन्तु, यही धर्म तो जीवात्मा की असली पूंजी है, सम्पत्ति है। इसके विना, हर जीवात्मा, सिद्धर्षि की तरह निष्पुण्यक/दरिद्री वन जायेगा। अतः इसे 'अर्थकथा' भी मानना चाहिये। परन्तु, यह 'अर्थ' यानी 'धर्म' प्राप्त कर लेना ही, जीवात्मा के लिए सब कुछ नही है। वल्कि, 'धर्म' तो उसके लिए एक 'माध्यम' वनता है, सीढ़ी की तरह। जिसका सहारा लेकर, 'मोक्ष' के द्वार तक, जीवात्मा चढ पाता है। और, यह 'मोक्ष' ही उसका 'काम'/'इच्छा'/'प्राप्तव्य' होता है। मोक्ष प्राप्ति की कामना किये वगैर, किसी भी जीवात्मा का प्रयत्न, मोक्ष-प्राप्ति के लिये नही होता। इस दृष्टि से, इसे 'कामकथा' मानना चाहिये। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए, अन्य अनेको अवान्तर कथाएं, सहयोगी वनी हुई हैं। जिनके द्वारा जीवात्मा की प्रवृत्ति, सासारिक पदार्थ भोग से हटकर, 'मोक्ष' की ओर उन्मुख हो पाती है। यदि, इन अवान्तर कथाओ का प्रसङ्ग-गत उपदेश/निर्देश/सुझाव जीवात्मा को न मिले, तो वह, संसारी ही वना पड़ा रह जायेगा। इसलिए, इन-अवान्तर सङ्कीर्ण कथाओ का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही सही, किन्तु, मूल्यवान प्रदाय, मोक्ष-प्राप्ति मे निमित्त वनता है। इस दृष्टि से, इस कथा-ग्रन्थ को 'सङ्कीर्ण कथा' भी कहा जाना, अनुचित न होगा।

इस तरह, हम देखते हैं, कि, 'उपमिति-भव-प्रपच कथा' हमें सिर्फ जगत् के जञ्जाल से छुडाने की ही दिशा नही देती, वल्कि, वह यह भी प्रकट करती है कि सब कुछ भूल/छोड कर, यदि मेरा ही चिन्तन/मनन कोई करे, तो उसको मोक्ष-लाभ होने मे कोई मुश्किल नहीं आ पायेगी।

भव-प्रपञ्च : जैन दार्शनिक व्याख्या

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का गहराई से अनुशीलन—परिशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि इस कथा मे जीव की आत्म-कथा है। छह द्रव्यो मे जीव-द्रव्य चेतन है और पाँच द्रव्य अचेतन/जड हैं। चार्वाक दर्शन ने पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु से चैतन्य की उत्पत्ति/अभिव्यक्ति मानी है, पर, जैन दार्शनिको ने उनके मन्तव्य का खण्डन करके आत्मा के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध किया है। जैन दर्शन मे आत्मा का स्वरूप क्या है ? वह इस कथा मे स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है।

जैन मनीषियो ने चैतन्य गुण की व्यक्तता की अपेक्षा से ससारी आत्मा के दो भेद किए है—त्रस और स्थावर[1]। त्रस आत्मा मे चैतन्य व्यक्त होता है और स्थावर आत्मा मे चैतन्य अव्यक्त रहता है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि जिनके त्रस नामकर्म का उदय होता है, वे 'त्रस आत्माए'[2] हैं, और, जो स्थिर रहती है, और जिन आत्माओ मे गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, वे, 'स्थावर आत्माए' है। जिनके स्थावर नामकर्म का उदय होता है, वे 'स्थावर जीव' कहलाते है।[3]

त्रस आत्मा के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पचेन्द्रिय—ये चार भेद है[4]। उत्तराध्ययन मे अग्नि और वायु को भी त्रस मानकर त्रस आत्मा के छह भेद बतलाये हैं[5]। उत्तराध्ययन में स्थावर आत्मा के पृथ्वी, जल, और वनस्पति, ये तीन भेद बताए गये हैं।[6] आचार्य उमास्वाति ने पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक—ये स्थावर आत्मा के पाच भेद[7] बताये है।

इन्द्रियो की अपेक्षा से ससारी आत्मा के भेद-प्रभेद किए गए है। इन्द्रिय आत्मा का लिग है। स्पर्श आदि पाँच इन्द्रिया मानी गयी है। अतः इन्द्रियो की अपेक्षा ससारी आत्मा के पाच भेद हैं। जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है—उसे एकेन्द्रिय जीव कहते है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और वनस्पति—ये एकेन्द्रिय जीव के पाच प्रकार है[8]। पाचो प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से

---

१ ससारिणस्त्रसस्थावरा —तत्त्वार्थ सूत्र २/१२
२ त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसा —सर्वार्थसिद्धि २/१२
३ (क) सर्वार्थसिद्धि २/१२ (ख) तत्त्वार्थवार्तिक २/१२, ३/५
४ द्वीन्द्रियादयश्च त्रसा —तत्त्वार्थ सूत्र २/१४
५ उत्तराध्ययन ३६/६६–७२
६ उत्तराध्ययन ३६/७०
७ तत्त्वार्थ सूत्र २/१३
८. वनस्पत्यन्तानामेकम्—तत्त्वार्थसूत्र २/२२

दो-दो प्रकार के होते हैं। बादर नाम-कर्म के उदय से बादर शरीर जिनके होता है—वे बादर-कायिक जीव कहलाते है। बादर-कायिक एक जीव दूसरे मूर्त्त पदार्थो को रोकता भी है, और उससे स्वयं रुकता भी है[1]। जिन जीवो के सूक्ष्म नाम-कर्म का उदय होता है, उन्हे सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है, और वे सूक्ष्मकायिक जीव कहलाते है। सूक्ष्मकायिक जीव न किसी से रुकते है, और न अन्य किसी को रोकते हैं, वे सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हैं।

पृथ्वीकायिक जीव वे है—जो पृथ्वीकाय नामक नाम-कर्म के उदय से पृथ्वीकाय मे समुत्पन्न होते हैं। उत्तराध्ययन,[2] प्रज्ञापना,[3] मूलाचार[4] और धवला[5] आदि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे पृथ्वीकायिक जीवों की विस्तृत चर्चा है, और उनके विविध भेद-प्रभेद भी बतलाए गए है। पृथ्वीकायिक जीवो के शरीर का आकार मसूर की दाल के सदृश होता है[6]। जलकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से, जलकाय वाले जीव, जलकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते है[7]। जीवाजीवाभिगम[8] और मूलाचार[9] मे ओस, हिम, महिग (कुहरा), हरिद, अणु (ओला), शुद्ध जल, शुद्धोदक और घनोदक की अपेक्षा से जलकायिक जीव आठ प्रकार के बतलाये गये है।

अग्निकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से जिन जीवो की अग्निकाय में उत्पत्ति होती है, उन्हे अग्निकायिक एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। उत्तराध्ययन,[10] प्रज्ञापना,[11] और मूलाचार[12] मे अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद-प्रभेद निर्दिष्ट है। सूचिका की नोक की तरह अग्निकायिक जीवो की आकृति होती है[13]।

---

१ धवला १/१/१/४५
२. उत्तराध्ययन ३६/७३–७६
३ प्रज्ञापना १/८
४ मूलाचार २०६–२०९
५. धवला १/१/१/४२
६ गोम्मटसार जीवकाण्ड, २०१
७ तत्त्वार्थ वार्तिक 2/१३
८ जीवाजीवाभिगम सूत्र १/१६
९. मूलाचार ५/१४
१० उत्तराध्ययन ३६/११०–१११
११ प्रज्ञापना १/२३
१२. मूलाचार ५/१५
१३ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २०१

वायुकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से वायुकाय युक्त जीव वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते है। उत्तराध्ययन,[1] प्रज्ञापना,[2] धवला[3] और मूलाचार[4] मे वायुकाय के जीवो के अनेक भेद प्ररूपित है।

वनस्पतिकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से वनस्पतिकाय युक्त जीव वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव की अभिधा से अभिहित किये गये है[5]। वनस्पति-कायिक जीव दो प्रकार के है—'प्रत्येक शरीरी' और 'साधारण शरीरी'[6]। जिन वनस्पतिकायिक जीवो का अलग-अलग शरीर होता है—वे प्रत्येक शरीर वनस्पति-कायिक शरीर कहलाते है[7]। दूसरे शब्दो मे एक शरीर मे एक जीव रहने वाले को प्रत्येक शरीरी वनस्पति कहा[8] है। आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित की अपेक्षा से वनस्पतिकायिक जीव के दो भेद किए[9] है। इन दोनो मे मुख्य अन्तर यही है कि प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के आश्रय मे अन्य अनेक साधारण जीव रहते है, पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के आश्रित अन्य निगोदिया जीव नही रहते[10]। उत्तराध्ययन मे प्रत्येक शरीरी वनस्पति के बारह प्रकार बताये है[11]। साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जिन अनन्त जीवो का एक ही शरीर होता है, उन्हें साधारण वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं[12]। साधारण शरीर जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, उनकी उत्पत्ति, उनके शरीर की निष्पत्ति, अनुग्रह, साधारण ही होते हैं[13]। एक जीव की उत्पत्ति से सभी जीवो की उत्पत्ति और एक के मरण से सभी का मरण होने से साधारण शरीरी वनस्पति जीव निगोदिया जीव के नाम से भी जाने जाते है[14]। निगोदिया जीव सख्या की दृष्टि से अनन्त है। स्कन्ध,

---

१. उत्तराध्यन ३६/११९–१२०
२. प्रज्ञापना १/२६
३. धवला १/१/१/४२
४ मूलाचार ५/१६
५. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५
६ षट्खण्डागम १/१/१/४१
७ धवला १/६/१/४१
८ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीव तत्त्व प्रदीपिका, १८५
९ गोम्मटसार, जीव प्रदीपिका टीका, गाथा १८५
१०. गोम्मटसार, जीव प्रदीपिका टीका, गाथा १८६
११ उत्तराध्ययन ३६/९५–९६
१२ (क) धवला १३/५/५/१०१ (ख) सर्वार्थसिद्धि, ८/११
१३. षट्खण्डागम १४/५/६/१२२–१२५
१४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गाथा १२५

अण्डर (स्कन्धो के अवयव), आवास (अण्डर के अन्दर रहने वाला भाग), पुलविका (भीतरी भाग) निगोदिया से जीवो का वर्णन किया गया है[1]।

इन पाँच स्थावरो मे यह जीव असख्यात और अनन्त काल तक रहा है। वहाँ पर उसने विविध प्रकार के दारुण कष्ट सहन किये है। जैन दर्शन की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि उसने इन पाँचो मे जीव मानकर उनका विश्लेषण किया है और उन स्थानो पर जीव ने किस-किस प्रकार की यातनाएं सहन की, उसका सजीव चित्रण आचार्य सिद्धर्षि ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया है। जब इस वर्णन को प्रबुद्ध पाठक पढता है तो वह चिन्तन करने के लिए बाध्य हो जाता है कि मेरी आत्मा ने मिथ्यात्व अवस्था मे किस प्रकार इस ससार की यात्रा की है, चिरकाल तक कष्टों मे झुलसने के पश्चात् अनन्त पुण्यवाणी का पुञ्ज, जब जीवात्मा ने एकत्र किया तब वह एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय बना, स्थावर से त्रस बना। एकेन्द्रिय अवस्था मे केवल एक स्पर्शेन्द्रिय थी, उसमे अन्य इन्द्रियों का अभाव था। एकेन्द्रिय अवस्था मे स्पर्शन, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है। निगोद तो जीवो का खजाना है। उसमे इतने जीव हैं, जितने अन्य जीव-योनियो मे नही है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे जो व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि का उल्लेख हुआ है, वह दार्शनिक युग की देन है, आचार्य सिद्धर्षि गणी तक यह कल्पना वर्णन की दृष्टि से मूर्त्तरूप ले चुकी थी। अनेक श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य उस पर अपनी लेखनी चला चुके थे। इसलिए आचार्य सिद्धर्षि ने भी उनका अनुसरण कर व्यवहार राशि एव अव्यवहार राशि का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। यदि पाठक-गण मूल ग्रन्थ का पारायण करेंगे तो उन्हे ज्ञानवर्द्धक विपुल सामग्री प्राप्त होगी।

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि अनन्त पुण्यवाणी के पश्चात् द्वीन्द्रिय अवस्था को, जीव प्राप्त करता है। द्वीन्द्रिय अवस्था मे स्पर्शन् और रसन्—ये दो इन्द्रियाँ उसे प्राप्त होती है। द्वीन्द्रिय अवस्था मे चारो प्रकार के कषाय और आहार आदि चारो प्रकार की संज्ञाए होती हैं। वे आत्माए सम्मूर्च्छनज होती हैं। असज्ञी और नपुंसक होती हैं। पर्याप्ति और अपर्याप्ति के भेद से वे दो प्रकार की होती हैं। जीवाजीवाभिगम[2], प्रज्ञापना[3], और मूलाचार[4] में द्वीन्द्रिय जीवों के नामो की सूची दी गई है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अवस्था को भी इस जीवात्मा ने अनन्त बार प्राप्त किया है। पञ्चेन्द्रिय मे वह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव योनियों को प्राप्त हुआ तथा वहाँ पर उसे मन की भी उपलब्धि हुई जिससे वह

१. धवला १४/५/६/९३
२ जीवाजीवाभिगम, १/२२
३. प्रज्ञापना १/४४
४. मूलाचार ५/२८

संज्ञी कहलाया। तिर्यञ्च गति में भी उसने अनेक कष्ट सहन किये। वह जीव वहाँ पर भयकर शीत, ताप, क्षुधा और प्यास को सहन करता रहा, उस पर भयकर ताडना और तर्जना पडी। परवशता मे आत्मा ने वे दु ख और कष्ट सहन किये। नरक तो दुःखो का आगार है ही। केशववर्णी ने गोम्मटसार की जीव प्रवोधिनी टीका मे स्पष्ट रूप से लिखा है—प्राणियों को दुखित करने वाला, स्वभाव से च्युत करने वाला, नरक कर्म है। और, इस कर्म के कारण उत्पन्न होने वाले जीव नारकीय कहलाते है।[1] नारकीय जीवो को अत्यधिक दु.ख सहन करने पडते है[2]। भगवती आदि आगम साहित्य मे वर्णन है कि नारकीय जीवो को अतीव दारुण वेदनाये भोगनी पडती है। क्षेत्रकृत और देवकृत, दोनो ही प्रकार की नारकीय वेदनाये सहन करनी पडती है। ये वेदनाये इतनी भयकर होती है कि उन्हे सहन करते समय प्राणी छटपटाता है, करुण क्रन्दन करता है। ये सारी वेदनाये जीव ने एक वार नही, अनन्त-अनन्त बार भोगी है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे कलम के धनी आचार्य ने जो वेदना का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है, वह वडा ही अद्भुत है, अनूठा है। इस जीव की जो यात्राये विविध योनियो मे हुई, उसका मूल कारण, कर्म है। कर्म राजा ने ही जीव को परतन्त्रता की वेडियो मे बाध रखा है।

शुद्धि और अशुद्धि की दृष्टि से ससारी आत्मा के दो भेद है—एक भव्यात्मा और दूसरी अभव्यात्मा। जिस आत्मा मे मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वह भव्यात्मा है; जैसे जो मूंग सीझने योग्य हैं, उन्हे अग्नि आदि का अनुकूल साधन मिलने पर सीझ जाते है। उसी तरह जो आत्माये मुक्त होने की योग्यता रखती है उन्हे सम्यग् दर्शन आदि निमित्त सामग्री के मिलने पर, वे कर्मो को पूर्ण रूप से नष्ट कर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। यह शक्ति जिन जीवो मे होती है—वे भव्यात्मा कहलाते है[3]। इसके विपरीत अभव्य आत्मा होती है। वे 'मूग शैलिक' जो कभी नही सीझता, उसी तरह अभव्य जीव को देव, गुरु, धर्म का निमित्त मिलने पर भी, वह मुक्ति को वरण नही कर पाता। वह सदा-सर्वदा ससार मे ही परिभ्रमण करता है।

अध्यात्म की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किए गये है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ये आत्मा के तीन भेद आगम साहित्य मे तो नही आये हैं, पर

---

१. (क) नरान् प्राणिन', कायति यातयति, कदर्थयति, खलीकरोति, बाधत इति नरकं कर्म तस्यापत्यानि नारका'। —गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १४१
   (ख) धवला १/१/१/२४
२. तत्वार्थ वार्तिक २/५०३
३. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५६
   (ख) ज्ञानार्णव ६/२०/६/२२

आचार्य कुन्दकुन्द[1], पूज्यपाद[2], योगेन्दु[3], शुभचन्द्र आचार्य[4], स्वामी कार्तिकेय[5], अमृतचन्द्र[6], गुणभद्र[7], अमितगति, देवसेन[8], और ब्रह्मदेव[9], प्रभृति मूर्धन्य मनीषियों ने अपने-अपने ग्रन्थो मे उपर्युक्त तीन आत्माओ का उल्लेख किया है। तीन आत्माओ की चर्चा प्राचीन जैन साहित्य में इस रूप मे न होकर अन्य रूप में उपलब्ध है। यह सत्य है कि वहिरात्मा और अन्तरात्मा जैसी शब्दावली आचाराग सूत्र मे प्रयुक्त नही है, तो भी, उनका लक्षण और विवेचन वहाँ पर किया गया है। जो आत्माए वहिर्मुखी है, उनके लिए वाल, मंद और मूढ़ शब्द का प्रयोग किया गया है। वे ममता से मुग्ध होकर वाह्य विषयो मे रस लेती है। जो आत्माए अन्तर्मुखी हैं, उनके लिए पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी प्रभृति शब्द व्यवहृत हुए है। पाप से मुक्त होकर सम्यग्दर्शी होना ही अन्तरात्मा का स्वरूप है। मुक्त आत्मा को आचारांग मे विमुक्त, पारगामी, तर्क तथा वाणी से अगम्य वतलाया गया है।

जो आत्मा अज्ञान के कारण अपने सही स्वरूप को भूलकर आत्मा से पृथक् शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री, पुरुष, धन आदि पर-पदार्थों में अपनत्व का आरोपण कर उनके भोगो मे आसक्त वनी रहती है, वह वहिरात्मा है। वहिरात्मा के भी द्रव्य-सग्रह की टीका मे तीन भेद किये गये है—१. तीव्र वहिरातमा—प्रथम मिथ्यात्व गुण-स्थानवर्ती आत्मा, २. मध्यम वहिरात्मा—द्वितीय सासादन गुणस्थानवर्ती आत्मा, ३. मंद वहिरात्मा—तृतीय मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा। वहिरात्मा मिथ्यात्वी होता है, उसे स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही होता। मिथ्यात्व के कारण ही उसकी प्रवृत्ति अशुभ की ओर होती है[10]। तथागत बुद्ध ने भी कहा है कि मिथ्यात्व ही अशुभाचरण का कारण है[11]। श्रीमद् भगवद् गीता मे भी यही भाव इस रूप मे व्यक्त किया गया है—रजोगुण से समुद्भव काम ही ज्ञान को आवृत्त कर, व्यक्ति को वलात् पाप की

---

१. मोक्ष पाहुड, गाथा ४
२. समाधि शतक, पद्य ४
३ (क) परमात्म प्रकाश १/११-१२ (ख) योगसार, ६
४. ज्ञानार्णव, ३२/५
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९२
६ पुरुपार्थसिद्ध्युपाय
७ आत्मानुशासन
८. ज्ञानसार, गाथा २९
९. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४
१०. इसिभासियाइं सुत्त, २१/३
११. अगुत्तर निकाय १/१७

ओर प्रेरित करता है[1]। मिथ्यात्व से यथार्थ का बोध नही होता। मिथ्यात्व एक ऐसा रंगीन चश्मा है, जो वस्तु-तत्त्व का अयथार्थ भ्रान्त रूप प्रस्तुत करता है। अज्ञान, अविद्या और मोह के कारण ही जीव इस स्वरूप मे रहता है।

मिथ्यात्व के अभाव से जब अन्तर्हृदय मे सम्यक्त्व का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, तब जीव, आत्मा और शरीर के भेद समझने लगता है। और, बाह्य पदार्थो से वह ममत्व बुद्धि हटाकर अपने सही स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है। अन्तरात्मा देहात्मबुद्धि से रहित होता है। वह भेद-विज्ञान से स्व और पर की भिन्नता को समझ लेता है।[2] आत्म-गुण के विकास की दृष्टि से नियमसार की तात्पर्य वृत्ति टीका मे अन्तरात्मा के भी तीन भेद किए हैं[3]— १. जघन्य अन्तरात्मा[4]—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा, २. मध्यम आत्मा[5]—पाचवें गुणस्थान से उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती तक के जीव इस श्रेणी मे आते हैं, ३. उत्कृष्ट अन्तरात्मा[6]—बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा इस श्रेणी मे आते हैं।

कर्ममल से मुक्त राग-द्वेष विजेता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आत्मा ही परमात्मा है। शुद्धात्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के अर्हन्त और सिद्ध—ये दो भेद किए गए है। तथा सकल परमात्मा और विकल परमात्मा—ये दो भेद भी किए गए है। बृहद् नयचक्र में परमात्मा के कारण-परमात्मा और कार्य-परमात्मा ये दो भेद किए गए है। अर्हन्त सकल-परमात्मा और कारण-परमात्मा के नाम से पहचाने जाते हैं, तो सिद्ध विकल-परमात्मा और कार्य-परमात्मा के नाम से जाने जाते हैं। अन्य भारतीय दर्शनों मे आत्मा के ये तीन रूप उल्लिखित नही हैं, पर इससे मिलता-जुलता रूप हम कठोपनिषद् मे देखते हैं। वहाँ पर आत्मा के ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा, ये तीन भेद किए गए हैं।[7] छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर डायसन ने आत्मा की तीन अवस्थाए बताई हैं—शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा[8]। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से साम्य देखा जा सकता है। बहिरात्मा से परमात्मा तक पहुँचने के लिये एक बहुत लम्बी यात्रा तय करनी पड़ती है। उस यात्रा मे अनेक बाधाये समय-समय पर समुत्पन्न होती हैं—कभी उसे मिथ्यात्व रोकता है तो, कभी उसे कषाय और राग-द्वेष आगे बढ़ने मे रुकावट डालते हैं। बहिरात्मा उनमें उलझ

---

१. श्रीमद् भगवद्गीता ३/३६
२. मोक्खपाहुड ५/६
३ नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा १४९
४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९७
५ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९६ (ख) द्रव्य संग्रह टीका, गाथा १४१
६. सत्यशासन परीक्षा का०
७. कठोपनिषद् १/३/१३
८. परमात्मप्रकाश की अग्रेजी प्रस्तावना (आ० ने० उपाध्ये) पृष्ठ ३१

जाता है। दर्शन मोहनीय कर्म के कारण जीव अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय और अधर्म को धर्म मानता है। जैन दृष्टि से आत्मा के स्वगुणो और यथार्थ स्वरूप को आवरण करने वाले कर्मों में मोह का आवरण ही मुख्य है। मोह का आवरण हटते ही शेष आवरण सहज रूप से हटाये जा सकते है। जिसके कारण कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भान नही होता, उसे दर्शन मोह कहते है। और, जिसके कारण आत्मा स्व-स्वरूप मे स्थित होने का प्रयास नही करता, वह चारित्र मोह है। दर्शन मोह से विवेक बुद्धि कुण्ठित होती है तो चारित्र मोह से सद्प्रवृत्ति कुण्ठित होती है। अत: आध्यात्मिक विकास के लिये दो कार्य आवश्यक हैं—पहला, स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का यथार्थ विवेक, और दूसरा है—स्व-स्वरूप मे अवस्थिति। आत्मा को स्व-स्वरूप के लाभ हेतु और आध्यात्मिक आदर्श की उपलब्धि के लिये दर्शन मोह, चारित्र मोह पर विजय-वैजयन्ती फहरानी होती है। इस विजय यात्रा में उसे सदैव जय प्राप्त नही होती, वह अनेक बार पतनोन्मुख हो जाता है। उसी का चित्रण आचार्य सिद्धर्षि ने बड़ी खूबी के साथ उपस्थित किया है। जो भी साधक विजय-यात्रा के लिये प्रस्थित होता है, उसे विजय और पराजय का सामना करना ही पडता है। पराजित होने पर यदि वह सम्भल नही पाता तो पुन: वह उसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से उसने विजय-यात्रा प्रारम्भ की थी। अन्तरात्मा में पहुँचा हुआ आत्मा भी पुन: बहिरात्मा बन जाता है। उसकी विकास यात्रा मे बाधा समुत्पन्न करने वाले अनेक कर्म-शत्रुओ की प्रकृतियां रही हुई है। कभी कोई प्रकृति अपना प्रभाव दिखाती है, तो कभी कोई प्रकृति।

हम पूर्व ही बता चुके है कि विकास यात्रा में अवरोध उत्पन्न करने वाला एक प्रमुख कारण कषाय है। कषाय जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। 'कष' और 'आय' इन दो शब्दो के सयोग से 'कषाय' शब्द बना है। यहाँ पर 'कष' का अर्थ ससार है अथवा कर्म और जन्म-मरण है। 'आय' का अर्थ लाभ है। जिससे जीव पुन:-पुन: जन्म और मरण के चक्र में पड़ता है— वह 'कषाय' है। कषाय आवेगात्मक अभिव्यक्तिया है। तीव्र आवेग को कषाय कहते हैं और मंद आवेग या तीव्र आवेगों के प्रेरको को नौ कषाय कहते है। नौ कषाय के हास्य, रति, अरति, भय, शोक, प्रभृति नौ प्रकार है। कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ, चार प्रकार का है, और प्रत्येक कषाय के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और अल्प की दृष्टि से चार-चार विभाग हैं। जब तीव्रतम क्रोध आता है, तो उस आत्मा का दृष्टिकोण विकृत हो जाता है, तीव्रतर क्रोध में आत्म-नियंत्रण की शक्ति नही रहती, तीव्र क्रोध आत्म-नियंत्रण की शक्ति मे बाधा समुत्पन्न करता है और मंद क्रोध वीतरागता उत्पन्न नही होने देता। क्रोध एक मानसिक उद्वेग है, उसके कारण मानव की चिन्तन-शक्ति और तर्क-शक्ति कुण्ठित हो जाती है, जिससे उसे हिताहित का भान नही रहता। वह उस आवेग मे ऐसे अकृत्य कर बैठता है, जिसका पश्चात्ताप उसे चिर-काल तक बना रहता है। क्रोध की उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक दोनो प्रकार से

होती है। प्रिय वस्तु का वियोग होने पर जो क्रोध उभर कर आता है, वह सहेतुक क्रोध है[1]। किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध वेदनीय पुद्गलो के प्रभाव से जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक क्रोध है।[2] भगवती सूत्र मे क्रोध के दो रूप बताये हैं—एक द्रव्य क्रोध और दूसरा भाव क्रोध। द्रव्य क्रोध से शारीरिक परिवर्तन होता है, वे शरीर की विविध भाव-भगिमाए क्रोध को व्यक्त करती है। भाव क्रोध मानसिक अवस्था है, वह अनुभूत्यात्मक पक्ष है। अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव क्रोध है और क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष द्रव्य क्रोध है। एकेन्द्रिय आदि सभी सासारिक जीवो मे तीव्रतम, तीव्रतर आदि सभी प्रकार के क्रोध रहते है, पर अभिव्यक्ति का साधन स्पष्ट न होने से उनकी अनुभूति दूसरे व्यक्ति नही कर पाते। क्रोध की तरह मान भी एक आवेग है। मान के कारण व्यक्ति स्वयं को महान और दूसरो को हीन समझता है। मान के कारण भी आत्मा अनेक अनर्थ समय-समय पर करता रहा है। उसके भी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और अल्प—ये चार भेद है। क्रोध मे व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करना चाहता है तो मान मे अपने से छोटा बनाकर, अपने अधीन रखना पसन्द करता है। यही क्रोध और मान में अन्तर है। कषाय का तीसरा प्रकार माया है। माया का अर्थ कपट है। जहाँ कपट है, वहाँ पर सरलता का अभाव रहता है। कपट शल्य है, इस शल्य के कारण साधना मे प्रगति नही होती। और, चौथा प्रकार कषाय का लोभ है। लोभ को पाप का बाप कहा गया है। वह समस्त सद्गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है[3], सम्पूर्ण दु.खो का मूल है। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का और लोभ से सभी सद्गुणो का नाश होता है।[4]। लोभ सभी कषायो में निकृष्टतम है। क्रोध वर्तमान जन्म और आगामी जन्म, दोनो के लिये, भय समुत्पन्न करता है।[5] लोभ के वशीभूत होकर प्राणी सदैव दु ख उठाता रहा है। इसीलिये ज्ञानियो ने कहा कि जन्म-मरण रूपी वृक्ष का सिञ्चन करने वाले कषायों का परित्याग करना चाहिये। सहज जिज्ञासा हो सकती है—इन आवेगो पर किस प्रकार नियन्त्रण किया जाये ? पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा का अभिमत है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक सशक्त आवेग के द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है, और उसे नष्ट भी किया जा सकता है।[6] आचार्य शय्यम्भव ने भी इसी बात को अपने शब्दो मे

---

१. स्थानाग सूत्र १०/७
२. अपइट्ठिए कोहे—निरालम्बन एव केवलं क्रोधवेदनीयोदयादुपजायेत।

—प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र १४

३. योगशास्त्र ४/१०, १८
४. दशवैकालिक ८/३८
५. उत्तराध्ययन ६/५४
६. स्पीनोजा नीति, अनुवादक-दीवानचन्द्र, हिन्दी समिति उ० प्र०, ४/७

इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—'शान्ति से क्रोध पर, मृदुता से मान पर, सरलता से माया पर और सन्तोष से लोभ पर विजय-पताका फहराई जा सकती है।'[1] इसी सत्य पर तथागत बुद्ध[2] ने और महर्षि व्यास[3] ने भी स्वीकार किया है।

कषायों का नष्ट हो जाना ही भव-भ्रमण का अन्त है, इसीलिये एक जैनाचार्य ने तो स्पष्ट शब्दो में कहा है—'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'—कषायो से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। सूत्रकृताङ्ग मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार महादोषों को छोडने वाला ही महर्षि, न तो पाप करता है और न करवाता है।[4] तथागत बुद्ध ने कहा कि जो व्यक्ति राग, द्वेष आदि कषायो को विना छोड़े काषाय वस्त्रो को अर्थात् सन्यास धारण करता है तो वह संयम का अधिकारी नही है। संयम का अधिकारी वही होता है, जो कषाय से मुक्त है। जिसके अन्तर्मानस मे क्रोध की आँधी आ रही हो, मान के सर्प फूत्कारे मार रहे हों, माया और लोभ के ववण्डर उठ रहे हो, राग और द्वेष का दावानल धूं-धूं कर सुलग रहा हो, वह साधना का अधिकारी नही है; साधना का वही अधिकारी है, जो इन आवेगो से मुक्त है। इसीलिए प्रस्तुत कथानक मे यह वताया गया है कि आत्मा. कभी क्रोध के वशीभूत होकर, कभी मान के कारण और कभी माया से प्रभावित होकर, अपने गन्तव्य मार्ग से विस्मृत होती रही है। प्रवल पुरुपार्थ से उसने कषायों पर विजय प्राप्त की, पर उसके बाद भी कभी वेदनीय कर्म ने उसके मार्ग मे बाधा उपस्थित की, तो कभी ज्ञानावरणीय कर्म ने उसकी प्रगति में प्रश्न-चिह्न उपस्थित किया। उसकी गति मे यति होती रही। एक-एक कर्म-शत्रुओं को परास्त कर वह आगे वढ़ा, यहाँ तक कि उसने मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशमन कर वीतरागता ही प्राप्त कर ली। किन्तु, पुनः उसका ऐसा पतन हुआ कि ग्याहरवें गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान में पहुँच गया। जहाँ से उसने विकास यात्रा प्रारम्भ की थी, पुनः उसी स्थिति को प्राप्त हो गया। पर, उस आत्मा ने पुरुषार्थ न छोड़ा, 'पुनरपि दधिदधिनी' की उक्ति को चरितार्थ करता रहा।

आचार्य सिद्धर्षि गणी ने इन तथ्यो को कथा के माध्यम से प्रस्तुत कर साधकों के लिए पथ प्रदर्शन का कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक वृत्तियो का सजीव चित्रण हुआ है। आचार्य ने विकास मे जो भी बाधक तत्त्व हैं, उन सभी को एक-एक कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह कथा अपने आत्म-विकास की कथा है, जो वहुत ही प्रेरक है और साधक को अन्तर्निरीक्षण के लिये उत्प्रेरित करती है।

---

१. दशवैकालिक ८/३९

२. धम्मपद २२३

३. महाभारत, उद्योग पर्व,,

४. सूत्रकृताङ्ग, १/६/२६

अध्यात्मरसिक कवि द्यानतराय ने जीव के भवभ्रमण की पीड़ा को व्यक्त करते हुए लिखा है—

हम तो कवहु न निज घर आये ।

घर घर फिरत बहुत दिन वीते, नाम अनेक धराये ।।

निज घर हमारा आत्मस्वरूप है और पर घर यह ससार है । अनन्त काल से यह जीवात्मा कर्म के अनुसार त्रिविध योनियो मे भटक रहा है । इस भटकन और भ्रमण का कारण कर्म है, जो आत्मा के साथ वधे हुए है, चिपके हुए हैं । यहाँ यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आत्मा सुख के सर-सब्ज वाग को भी स्वयं ही लगाता है और दु:ख के नुकीले कांटे भी वही वोता है, तो फिर इतना दु:ख और वैषम्य किस कारण से है ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यदि हम चिन्तन करें कि जव आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, तो उसने स्वय के सुख के लिए अनाचार/भ्रष्टाचार का सेवन कर दु:ख के काटे क्यो वोए ? इस जिज्ञासा का समाधान जैन मनीषियो ने कर्म-सिद्धान्त के द्वारा दिया है । उनका मन्तव्य है कि जीव अपने भाग्य का विधाता स्वय है, पर वह अनादि काल से कर्म के वन्धनो से आवद्ध है, जिससे वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आनन्दमय होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से स्वतन्त्र और आनन्दमय नही हैं । जीव जो भी क्रिया करता है, उसका नाम कर्म है । कर्म शब्द विभिन्न अर्थों मे व्यवहृत हुआ है । किन्तु, जैन दर्शन मे कर्म शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे हुआ है । आचार्य देवेन्द्र ने लिखा है कि 'जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है[1] ।' पडित सुखलाल जी का मन्तव्य है कि 'मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है[2] ।' इस प्रकार कर्महेतु और क्रिया, दोनो ही कर्म के अन्तर्गत है । जैन परम्परा मे कर्म के दो पक्ष हैं—राग, द्वेष, कषाय प्रभृति मनोभाव और दूसरा है—कर्म पुद्गल । कर्म पुद्गल क्रिया का साधन/निमित्त है और राग-द्वेष आदि क्रिया है । कर्म पुद्गल जो प्राणि की शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर, उससे अपना सम्वन्ध स्थापित कर कर्म शरीर की रचना करते है और समय विशेष के पकने पर अपने फल के रूप मे विशेष प्रकार की अनुभूतिया देकर पृथक् हो जाते हैं, उन्हे जैन दर्शन की भाषा मे द्रव्य-कर्म कहा गया है । गोम्मटसार मे आचार्य नेमीचन्द्र ने लिखा है—पुद्गल पिण्ड 'द्रव्य-कर्म' है और चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति 'भाव-कर्म' है । द्रव्य-कर्म सूक्ष्म कार्माण जाति के परमाणुओ का विकार है और आत्मा उसका निमित्त कारण है । आचार्य विद्यानन्दि ने द्रव्य-कर्म को आवरण और भाव-कर्म को दोष कहा है । क्योकि, द्रव्य-कर्म आत्म-शक्तियो के

---

१ कर्मविपाक (कर्म ग्रन्थ १)

२. दर्शन और चिन्तन, हिन्दी, पृष्ठ २२५

प्रकटन में बाधक है इसलिए उसे आवरण कहा है और भाव-कर्म आत्मा की विभाव अवस्था है इसलिए उसे दोष कहा है। जैन दर्शन ने आवरण और दोष या द्रव्यकर्म और भाव-कर्म के बीच कार्य-कारण-भाव माना है[1]। भाव-कर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म में भाव-कर्म निमित्त है। दोनों का परस्पर बीजांकुर की तरह, कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है, उनमे से किसी को भी पूर्वापर नही कहा जा सकता, उसी प्रकार द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म मे भी पहले कौन है या बाद मे कौन है, इसका निर्णय नही किया जा सकता। द्रव्य-कर्म की दृष्टि से भाव-कर्म पहले है और भाव-कर्म के लिए द्रव्य-कर्म पहले होगा। वस्तुत: इनमें सन्तति की अपेक्षा से अनादि कार्य-कारण-भाव है।

जैन दृष्टि से द्रव्य-कर्म पुद्गल जन्य हैं, इसलिये मूर्त्त हैं। कर्म मूर्त्त हैं, तो फिर अमूर्त्त आत्मा पर अपना प्रभाव किस प्रकार डालते हैं? जैसे वायु और अग्नि अमूर्त्त आकाश पर अपना प्रभाव नही डाल सकती, उसी तरह अमूर्त्त आत्मा पर मूर्त्त कर्म का प्रभाव नही हो सकता। इस जिज्ञासा का समाधान मूर्धन्य मनीषियों ने इस प्रकार किया है—जैसे अमूर्त्त ज्ञान आदि गुणों पर मूर्त्त मदिरा आदि नशीली वस्तुओ का प्रभाव पड़ता है वैसे ही अमूर्त्त जीव पर भी मूर्त्त कर्म का प्रभाव पडता है। दूसरी बात यह है कि कर्म के सम्बन्ध से संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त्त भी है। कर्म-सम्बन्ध होने के कारण स्वरूपत: अमूर्त्त होने पर भी कथंचित् मूर्त्त होने से उस पर मूर्त्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। जब तक आत्मा कर्म-शरीर के बन्धन से मुक्त नही होता तब तक वह कर्म के प्रभाव से मुक्त नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि मूर्त्त शरीर के माध्यम से मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह भी सहज जिज्ञासा हो सकती है कि मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा से किस प्रकार सम्बन्धित होते है? इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया गया है कि, जैसे मूर्त्त घट अमूर्त्त आकाश के साथ सम्बन्धित होता है वैसे ही मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। यह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध नीर-क्षीर-वत् होता है। यहाँ पर यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि जड कर्म परमाणुओ का चेतन के साथ पारस्परिक प्रभाव को माना जाए तो सिद्धावस्था मे भी जड कर्म शुद्ध आत्मा को प्रभावित करेंगे? पर, यह बात नही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में लिखा है—स्वर्ण कीचड़ में चिरकाल तक रहता है, तो भी उस पर जग नही लगता, पर लोहा तालाब में भी कुछ समय तक रहे तो जंग लग जाता है, वैसे ही सिद्ध आत्मा स्वर्ण की तरह है, उस पर कर्मो का जंग नही लगता। जब तक आत्मा कार्मण शरीर से युक्त है, तभी तक उसमें कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति रहती है। भाव-कर्म से ही द्रव्य-कर्म का आस्रव होता है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध आज का नही अनादि काल का है। जैन दृष्टि से शुभाशुभ

---

१ कर्म विपाक भूमिका, पृष्ठ २४

का फल स्वय को ही भोगना पडता है, दूसरो को नही । श्रमरा भगवान महावीर ने भगवती मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि 'प्राणी स्वकृत सुख-दु ख का भोग करते है, पर परकृत सुख-दुःख का भोग नही करते ।' जातक साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वोधिसत्त्व के अन्तर्मानस मे ये विचार लहरिया तरगित होती हैं कि मेरे कुशल कर्मो का फल ससार के सभी प्राणियो को प्राप्त हो, पर जैन दर्शन इस विचार से सहमत नही है । जैसा हम कर्म करेंगे वैसा ही फल हमे मिलेगा । दूसरा व्यक्ति उस कर्म-विभाग मे सविभाग नही कर सकता । जैन दर्शन ने कर्म सिद्धान्त के सम्बन्ध मे अत्यधिक विस्तार से चिन्तन किया है । जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक और अद्भुत है कि विश्व का कोई भी चिन्तक उसे चुनौती नही दे सकता । उस गहन दार्शनिक सिद्धान्त को आचार्य सिद्धर्षि गरगी ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे इस प्रकार सजोया है कि देखते ही वनता है । आचार्यश्री की प्रकृष्ट प्रतिभा ने ग्रन्थ मे चार चाँद लगा दिये है । कर्म का जीव के साथ अनादि काल का सम्बन्ध है, पर जीव चाहे तो उन कर्मो को अपने प्रवल पुरुषार्थ से हटा सकता है । कर्म से मुक्त होने के लिए जैन मनीषियो ने चार उपाय वताये है । वे हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ।

आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन आवश्यक है । सम्यग्दर्शन का अर्थ—तत्त्व रुचि है, सत्य अभीप्सा है । सत्य की प्यास जव तीव्र होती है, तभी साधना मार्ग पर कदम बढते हैं । उत्तराध्ययन[1] और तत्त्वार्थ सूत्र[2] मे सम्यग्दर्शन शब्द तत्त्व-श्रद्धा के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है, तो आवश्यक सूत्र मे देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति के अर्थ मे सम्यग्दर्शन का प्रयोग है । सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यग्दृष्टि आदि शब्द समान अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं । सम्यग्दृष्टि का जीव और जगत् के सम्बन्ध मे सही दृष्टिकोण होता है । जवकि मिथ्यादृष्टि का जीव और जगत् के सम्बन्ध मे गलत दृष्टिकोण होता है । मिथ्या दृष्टिकोण ससार का किनारा है और सम्यग्दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है[3] । सम्यग्दर्शन मुक्ति का अधिकार पत्र है । सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान नही होता । सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र नही होता । और सम्यग्चारित्र के बिना मुक्ति नही होती । इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है । सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है, जैसे चेतनारहित शरीर शव है, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित साधना भी शव की तरह ही है ।

सम्यग्दर्शन मुक्ति महल मे पहुँचने का प्रथम सोपान है, इसलिये दर्शन पाहुड[4] और रत्नकरण्ड श्रावकाचार[5] आदि मे जीवन विकास के लिए ज्ञान और

---

१. उत्तराध्ययन २८/३५
२ तत्त्वार्थ सूत्र १/२
३ अगुत्तर निकाय १०/१२
४ दर्श पाहुड, गाथा, श्रावकाचार १/२८
५. रत्नकरण्डक श्रावकाचार १/२८

चारित्र के पूर्व दर्शन को स्वीकार किया है। सम्यग्दर्शन होने पर ही साधक को भेद-विज्ञान होता है और वह समझता है कि 'मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरंजन और निराकार हूँ। जो यह विराट विश्व में दिखलाई दे रहा है, वह पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। आत्मा और शरीर ये पृथक्-पृथक् हैं। सुख और दु ख की जो भी अनुभूति हो रही है, वह मुझे नही किन्तु शरीर को है।' इस प्रकार भेद-विज्ञान का दीप जलते ही जीवन में समता का आलोक जगमगाने लगता है। इसीलिये आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा—'भेदविज्ञानत: सिद्धा., सिद्धा ये किल केचन'। जितने भी आज दिन तक सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेद-विज्ञान से हुए हैं। वस्तुत: सम्यग्दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। जीवन-दृष्टि के अभाव में जीवन का मूल्य नही है। जिस प्रकार की दृष्टि होती है उसी प्रकार की सृष्टि भी होती है अर्थात् दृष्टि की निर्मलता से ही ज्ञान भी निर्मल होता है और चारित्र भी। इसलिए सर्वप्रथम दृष्टि-निर्मलता को ही सम्यग्दर्शन कहा है।

इस विराट विश्व मे ऐसी कोई भी आत्मा नही है, जिसमे ज्ञान गुण न हो। भगवती आदि आगमों मे आत्मा को ज्ञानवान कहा है।[1] ज्ञान आत्मा का ऐसा गुण है, जो अविकसित से अविकसित अवस्था मे भी विद्यमान रहता है, पर मिथ्यात्व के कारण ज्ञान अज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पर, ज्यों ही सम्यग्दर्शन का संस्पर्श होता है, अज्ञान ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—'ज्ञान ही मानव जीवन का सार है।' अविद्या के कारण ही पुन:-पुन: जन्म और मृत्यु के चक्कर में आत्मा आती रहती है। वह एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करती है। जिस आत्मा में ज्ञान और प्रज्ञा होती है, वही आत्मा निर्वाण के समीप होती है। ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ होकर पापी से पापी व्यक्ति भी ससार रूपी समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान ऐसी जाज्वल्यमान अग्नि है, जो कर्मो को-भस्म कर देती है। इसीलिये कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि 'इस विश्व मे ज्ञान के सदृश अन्य कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है।' ज्ञान वह है, जो आत्मविकास करता हो। उसका दृष्टि-कोण सदा सत्यान्वेषी होता है। वह स्व का साक्षात्कार करता है। इसीलिये आचा-रांग के प्रारंभ में ही कहा गया कि 'साधक प्रतिपल, प्रतिक्षण यह चिन्तन करे कि, मैं कौन हूँ ?' छान्दोग्योपनिषद्[2] में भी ऋषियों ने कहा—जिसने एक आत्मा को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। उपाध्याय यशोविजय जी ने ज्ञानसार ग्रन्थ में लिखा है, जो ज्ञान मोक्ष का साधक है—वह श्रेष्ठ है। और, जो ज्ञान मोक्ष की साधना मे बाधक है, वह ज्ञान निरुपयोगी है। जिस ज्ञान से आत्मविकास नही होता,

---

१. (क) भगवती १२/१० (ख) आचारांग, ५/५/१६६
(ग) समयसार, गाथा ७ (घ) स्वरूप-सम्बोधन, ४
२ छान्दोग्योपनिषद् ६/१/३

वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान नही है । आत्मज्ञान, इन्द्रियज्ञान, बौद्धिक ज्ञान से भी बढकर है । आत्मज्ञान को ही जैन मनीषियो ने सम्यग्ज्ञान कहा है ।

सम्यग्ज्ञान की परिणति सम्यक् चारित्र है । सम्यक् चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा मे उठाया गया एक महत्त्वपूर्ण कदम है । आध्यात्मिक पूर्णता के लिये दर्शन की विशुद्धि के साथ ज्ञान आवश्यक है । ज्ञान के बिना जो श्रद्धा होती है—वह सम्यक् श्रद्धा न हो कर, अन्ध श्रद्धा होती है । श्रद्धा जब ज्ञान से समन्वित होती है, तभी सम्यक्-चारित्र की ओर साधक की गति और प्रगति होती है । एक चिन्तक ने लिखा है—दर्शन परिकल्पना है, ज्ञान प्रयोग विधि है और चारित्र प्रयोग है । तीनो के सहयोग से ही सत्य का साक्षात्कार होता है ।[1] जब तक सत्य स्वय के अनुभव से सिद्ध नही होता, तब तक वह सत्य पूर्ण नही होता । इसीलिये श्रमण भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन मे कहा—ज्ञान के द्वारा परमार्थ का स्वरूप जानो, श्रद्धा के द्वारा उसे स्वीकार करो और आचरण कर उसका साक्षात्कार करो । साक्षात्कार का ही अपर नाम सम्यक् चारित्र है ।

सम्यक् चारित्र से आत्मा मे जो मलिनता है, वह नष्ट होती है । क्योकि, जो मलिनता है, वह स्वाभाविक नही, अपितु वैभाविक है, बाह्य है, और अस्वाभाविक है । उस मलिनता को ही जैन दार्शनिको ने कर्म-मल कहा है, तो गीताकार ने उसे त्रिगुण कहा है और बौद्ध दार्शनिको ने उसे बाह्य-मल कहा है । जैसे अग्नि के सयोग से पानी उष्ण होता है, किन्तु अग्नि का सयोग मिटते ही पानी पुन. शीतल हो जाता है, वैसे ही आत्मा बाह्य सयोगो के मिटने पर अपने स्वाभाविक रूप मे आ जाता है । सम्यक् चारित्र बाह्य सयोगो से आत्मा को पृथक् करता है । सम्यक् चारित्र से आत्मा मे समत्व का सचार होता है । यही कारण है कि प्रवचनसार[2] मे आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि, चारित्र ही वस्तुत. धर्म है । जो धर्म है, वह समत्व है । जो समत्व है, वही आत्मा की मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध अवस्था है । चारित्र का सही स्वरूप समत्व की उपलब्धि है । चारित्र के भी दो प्रकार है—व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र । आचरण के जो बाह्य विधि-विधान हैं, उसे व्यवहार चारित्र कहा गया है और जो आचरण का भाव पक्ष है, वह निश्चय चारित्र है । व्यवहार चारित्र मे पञ्च महाव्रत, तीन गुप्तिया, पञ्च समिति और पञ्च चारित्र आदि का समावेश है, तो निश्चय चारित्र मे राग-द्वेष, विषय और कषाय को पूर्ण रूप से नष्ट कर आत्मस्थ होना है । सम्यक् चारित्र से सद्गुणो का विकास होता है । सम्यक् चारित्र से साधना मे पूर्णता आती है ।

---

१ जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ ८४, डॉ सागरमल जैन, प्र० प्राकृत भारती जयपुर

२ प्रवचनसार १/७

सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत सम्यक् तप का भी उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थ-सूत्र प्रभृति ग्रन्थों में सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इस त्रिविध साधना मार्ग का उल्लेख है, तो उत्तराध्ययन आदि मे चतुर्विध साधना का निरूपण हुआ है। उसमे सम्यक् तप को चतुर्थ साधना का अग माना है। तप साधक के जीवन का तेज है, ओज है। तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है, पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने की एक वैज्ञानिक पद्धति है। तप के द्वारा ही पाप कर्म नष्ट होते है, जिससे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है और आत्मा का शुद्धिकरण होता है। अनन्त काल से कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष व कषाय के कारण आत्मा के साथ एकीभूत हो चुके हैं। उन कर्म-पुद्गलो को नष्ट करने के लिये तप आवश्यक है। तप से कर्म-पुद्गल आत्मा से पृथक् होते हैं और आत्मा की स्वशक्ति प्रकट होती है तथा शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है। तप का लक्ष्य है—आत्मा का विशुद्धीकरण व आत्म परिशोधन। जैन-परम्परा मे ही नही, वैदिक और बौद्ध परम्परा ने भी तप की महिमा और गरिमा को स्वीकार किया है। इन तीनो ही परम्पराओ ने आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये तप का निरूपण किया है और तप के विविध भेद-प्रभेद भी किये है।

आचार्य सिद्धर्षि गणी ने उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा में जीवन-शुद्धि के लिये, ये चारों मार्ग प्रतिपादित किये है। उन्होने कथा के माध्यम से यह बताया है कि 'सम्यग्दर्शन की एक बार उपलब्धि हो जाने पर भी जीव पुनः मिथ्यात्वी बन जाता है, और वहाँ पर चिरकाल तक विपरीत श्रद्धान को स्वीकार कर जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने लगता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह पुनः प्रयासरत होता है और उससे आगे बढकर सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप को स्वीकार कर, वह एक दिन सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओ को नष्ट कर पूर्ण मुक्त बन जाता है। और, सदा-सदा के लिये उस जीवात्मा का भव-प्रपंच मिट जाता है तथा वह आत्मा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।'

मोक्ष का अर्थ मुक्त होना है। मोक्ष शब्द 'मोक्ष असने' धातु से बना है, जिसका अर्थ छूटना या नष्ट होना होता है। इसलिये समस्त कर्मो का समूल आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष है।[1] पूज्यपाद ने लिखा है—'जब आत्मा कर्म रूपी कलक शरीर से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है, तब अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुण रूप और अव्याबाध आदि सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, वह मोक्ष है'।[2] तत्त्वार्थ-वार्तिक मे आचार्य अकलङ्क ने लिखा है—'बन्धन से आबद्ध प्राणी, बन्धन से मुक्त हो कर अपनी इच्छानुसार गमन कर सुख का अनुभव करता है, वैसे ही कर्म के

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि १/४ (ख) तत्त्वार्थ-वार्तिक १/१/३७

२ सर्वार्थ-सिद्धि-उत्थानिका, पृष्ठ १

बन्धन से मुक्त होकर आत्मा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होकर ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करती है।[1] यही बात धवला,[2] सर्वार्थसिद्धि[3] और तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक[4] मे भी कही गई है। सभी विज्ञो ने यह तथ्य स्वीकार किया है कि आत्म-स्वरूप का लाभ ही मोक्ष है। कर्म-मलो से मुक्त आत्मा शुद्ध है। बौद्ध दार्शनिको ने मोक्ष के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए लिखा है—जैसे दीपक के बुझ जाने से प्रकाश का अन्त हो जाता है, वैसे ही कर्मो का क्षय हो जाने से निर्वाण मे चित्सन्तति का विनाश हो जाता है, इसलिये मोक्ष मे जीव का अस्तित्व नही है। पर, जैन दार्शनिको का अभिमत है कि मोक्ष मे जीव का अभाव नही होता। जीव एक भव से भवान्तर रूप परिणमन करता है। देवदत्त के एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने पर उसका अभाव नही माना जाता, वैसे ही जीव के मुक्त होने पर उसका अभाव नही होता।[5] आचार्य अकलक[6] ने भी बौद्ध दार्शनिको के अभिमत पर चिन्तन करते हुए लिखा है—'दीपक के बुझ जाने पर दीपक का विनाश नही होता, किन्तु उस दीपक के तेजस् परमाणु अन्धकार मे परिवर्तित हो जाते है, वैसे ही मोक्ष होने पर जीव का विनाश नही होता, अपितु कर्मो का क्षय होते ही आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यावस्था मे परिवर्तित हो जाता है। इसलिए मोक्ष मे जीव का अभाव नही होता।

कितने ही बौद्ध दार्शनिको का अभिमत है कि मुक्त जीव जिस स्थान से मुक्त होता है, वह जीव उसी स्थान पर स्थिर होकर रह जाता है। उस जीव का किसी दिशा और विदिशा मे गमन नही होता, और न वह जीव ऊपर या नीचे ही जाता है, क्योकि मुक्त जीव मे सकोच, विकास और गति आदि के कारणो का पूर्ण अभाव है। जैसे कोई व्यक्ति साकल से बधा हुआ है, उस व्यक्ति को साकल से मुक्त करने पर भी वह वही पर स्थिर रहता है, वही स्थिति मुक्त जीव की है।[7] पर, जैन दार्शनिको का अभिमत है कि, मुक्तात्मा एक क्षण भी मुक्त स्थल पर अवस्थित नही रहता, अपितु वह जिस स्थान पर मुक्त होता है, वहाँ से वह ऊर्ध्वगमन करता है।[8] आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है।[9] अधोलोक और तिर्यक् लोक मे जो गमन होता है,

---

१ तत्त्वार्थ-वार्तिक १/४/२७, पृष्ठ १२
२ धवला १३/५/५/८२, पृष्ठ ३४८
३ सर्वार्थसिद्धि ७/१६
४ तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, १/१/४
५ तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक १/१/४
६ तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/१७, पृष्ठ ६४४
७ (क) सर्वार्थसिद्धि १०/४, पृष्ठ ३६०
(ख) अश्वघोष कृत, सौन्दरानन्द
८ द्रव्यसग्रह टीका, गाथा १४
९ उत्तराध्ययन ३६/५६-५७

उसका कारण कर्म है, पर मुक्त जीव में कर्मो का अभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही करता है ।[1] ऊर्ध्वगमन का तात्पर्य यह नही कि वह निरन्तर ऊर्ध्वगमन ही करता रहे, जैसा कि माण्डलिक मतावलम्बियो का अभिमत है । जैन दृष्टि से मुक्त जीव लोक के अन्तिम भाग तक ही ऊर्ध्वगमन करता है । आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होने से वह वही पर स्थित हो जाता है ।[2] कितने ही दार्शनिक यह भी मानते हैं—मुक्त जीव जब देखते हैं कि ससार मे धर्म की हानि हो रही है और अधर्म का प्रचार बढ रहा है तो धर्म की सस्थापना हेतु वे मोक्ष से पुन: संसार में आते हैं ।[3] सदाशिववादियो का मन्तव्य है कि सौकल्प (१०० कल्प) प्रमाण समय व्यतीत होने पर संसार जीवों से शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीव पुन: संसार मे आते हैं ।[4] जब कि जैन दर्शन का मन्तव्य है—जीव ने एक वार भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का पूर्ण विनाश कर दिया और मुक्त बन गया, वह आत्मा पुन. संसार मे नही आता । जैन दार्शनिको ने अपने चिन्तन को परिपुष्ट करने के लिए लिखा है कि 'संसार के कारण-भूत मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि का मुक्त जीव मे अभाव है, अत वे ससार मे पुन: नही आते ।' यदि मुक्त जीवो का ससार मे आना माना जाये तो कारण और कार्य की व्यवस्था ही नही रहेगी । जो पुद्गल हैं, गुरुत्व स्वभाव वाले है, वे ही ऊपर से नीचे की ओर गमन करते हैं, पर मुक्तात्मा मे यह स्वभाव नही है ।[5] मुक्तात्मा अगुरु-लघु स्वभाव वाला है, इसलिये उसकी मोक्ष से च्युति नही होती । जो गुरुत्व स्वभाव वाले होते हैं, वे ही नीचे गिरते हैं । गुरुत्व स्वभाव के कारण ही आम का फल टहनी से गिरता है; नौकाओं मे पानी भर जाने से वे डूबती है ।[6] मुक्तात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, ज्ञाता और दृष्टा है, पर वीतरागी होने से न किसी के प्रति उनके अन्त-र्मानस मे राग होता है और न द्वेष ही होता है । राग और द्वेष का अभाव होने से उनमें कर्म-बन्धन नही होता और कर्म-बन्धन नही होने से वे पुन:ससार मे नही आते ।[7] एक वार आत्मा कर्मरहित हो गया, वह पुन कर्म से युक्त नही होता । जैसे एक वार मिट्टी के कणो से स्वर्ण-कण पृथक् हो गए, वे पुन: मिट्टी मे नही मिलते, वैसे ही मुक्त जीव हैं । आकाश मे अवगाहन शक्ति रही हुई है, अत: स्वल्प आकाश मे भी अनन्त सिद्ध उसी प्रकार रहते हैं, जैसे हजारो दीपको का प्रकाश स्वल्प स्थान मे समा जाता है । इसी तरह मुक्त जीवो मे परस्पर अविरोध है ।

१. द्रव्यसग्रह टीका, गाथा १४, ३७
२. तत्त्वार्थसूत्र १०/८
३. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीव प्रबोधिनी टीका गाथा ६६
   (ख) स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ ४२
४. (क) द्रव्यसग्रह, गाथा १४, पृष्ठ ४० (ख) स्याद्वादमञ्जरी, कारिका २६
   (ग) मुण्डकोपनिषद ३/२/६
५. तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/८ पृ. ६४३
६. (क) तत्त्वार्थसार ८/११-१२ (ख) तत्त्वार्थ-वार्तिक १/६/८, पृ० ६४३
७. तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/५-६

भारतीय दार्शनिक चिन्तको का यह अभिमत है कि मोक्ष मे दु ख का पूर्ण अभाव है, पर न्याय, वैशेपिक, प्रभाकर, साख्य और बौद्ध दार्शनिक यह भी मानते है कि जिस तरह मोक्ष मे दु ख का अभाव है, वैसे ही मोक्ष मे सुख का भी अभाव है। पर, कुमारिल भट्ट[1] जो वेदान्त दर्शन के एक जाने-माने हुए मूर्धन्य मनीपी दार्शनिक रहे है, उन्होने और जैन दार्शनिको ने मोक्ष मे आत्मीय अतीन्द्रिय सुख का उच्छेद नही माना है। जैन दार्शनिको ने सुख को दो भागो मे विभक्त किया है—एक इन्द्रियज सुख और दूसरा आत्मज सुख। मोक्षावस्था मे इन्द्रिय और शरीर का अभाव होने से, उसमे इन्द्रियज सुख का अभाव होता है, पर, आत्मजन्य सुख का अभाव नही है।[2]

मुक्त जीव क्या सर्वलोक-व्यापी है ? इस प्रश्न का चिन्तन करते हुए जैन मनीपियो ने लिखा है कि मुक्त जीव सर्वव्यापी नही है, क्योकि सासारिक जीव मे जो सकोच और विस्तार होता है, उसका कारण शरीर नामकर्म है। पर, मोक्ष अवस्था मे शरीर नामकर्म का पूर्ण अभाव होता है, इसलिये आत्मा सर्वलोकव्यापी नही है, क्योकि कारण के अभाव मे कार्य नही हो सकता।[3] यहाँ पर यह भी सहज जिज्ञासा हो सकती है कि एक दीपक को ढक दिया जाय तो उसका प्रकाश सीमित हो जाता है, पर उसका आवरण हटते ही उसका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही शरीर नामकर्म का अभाव होने से सिद्धो की आत्मा सम्पूर्ण लोकाकाश मे फैल जानी चाहिये। उत्तर मे जैन दार्शनिको ने कहा---दीपक के प्रकाश का विस्तार स्वत है ही, वह तो आवरण के कारण सीमित क्षेत्र मे है, पर, आत्म-प्रदेशो का विकसित होना अपना स्वभाव नही है। जो विकसित होते हैं, वे भी सहेतुक है। अतः मुक्त जीव लोकाकाश प्रमाण व्याप्त नही होता। सूखी मिट्टी के वर्तन की भाति मुक्त आत्मा मे कर्मो के अभाव के कारण सकोच और विस्तार नही होता है।[4] मुक्तात्मा का आकार मुक्त शरीर से कुछ कम होता है।[5] कारण कि चर्म शरीर के नाक, कान, नाखून आदि कुछ ऐसे पोले अग होते है, जहाँ आत्म-प्रदेश नही होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित

---

१ दु खात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तित।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलै ॥

—भारतीय दर्शन डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१२

२ (क) स्याद्वादमजरी, कारिका १, ८, पृष्ठ ६०, आचार्य मल्लिषेण
(ख) षट्दर्शन-समुच्चय, पृष्ठ २८८

३ (क) सर्वार्थसिद्धि १०/४ पृ. ३६० (ख) तत्त्वार्थसार, ८/६-१६

४ (क) द्रव्यसंग्रह टीका, गा १४, ५१, पृष्ठ ३६
(ख) परमात्मप्रकाश टीका गा ५४ पृ ५२

५ तत्त्वानुशासन २३२-२३३

होने से पहले शरीर से कुछ न्यून होती है, जैसे ५०० धनुष की अवगाहना वाले जो सिद्ध होंगे, उनकी अवगाहना ३३३ धनुष और ३२ अगुल होगी ।[१]

इस प्रकार जैन दर्शन ने मुक्त जीव का जो स्वरूप चित्रित किया है कि, वह किस प्रकार बन्ध से मुक्त होता है ? इस सम्बन्ध मे आचार्य सिद्धर्षि गणी ने अपनी 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' मे मुक्त जीव के स्वरूप का भी सांगोपाग निरूपण किया है। जीव, जगत् और परमात्मा की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियां कथा के द्वारा इस प्रकार सुलझाई गई हैं कि पाठक पढते-पढते आनन्द से झूमने लगता है। उस दार्शनिक और नीरस विषय को लेखक ने अपनी महान प्रतिभा से सरस, सरल और सुबोध बना दिया है। वस्तुत: आचार्य सिद्धर्षि की प्रतिभा अद्वितीय है, अनुपम है। उनकी प्रताप पूर्ण प्रतिभा को यह ग्रन्थ रत्न सदा सर्वदा उजागर करता रहेगा।

सिद्धर्षि : जीवनवृत्त

सिद्धर्षि, भीनमाल के सुप्रसिद्ध धनपति शुभंकर का 'सिद्ध' नामक पुत्र था, यह कुछ विद्वानो की राय है। कुछ विद्वानो की दृष्टि से, श्रीमालपुर में कोई धनी जैन सेठ, चातुर्मास के प्रसङ्ग मे, देवदर्शन के लिए जा रहा था। उसे नाली मे पड़ा हुआ 'सिद्ध' नाम का राजपुत्र मिला था। इसे, जुए मे हारते-हारते, कुछ साथी जुआरियो का रुपया उधार करना पडा था, जिसे न देने की वजह से, निर्दयतापूर्वक मार-पीट करके नाली में गिरा दिया था। सेठ ने उन जुआरियो को देय धन दिया, और सिद्ध को उठा कर अपने घर लिवा ले आया। पढा लिखा कर, उसका विवाह किया और अपना सारा कार्य-भार उसे सौप दिया। व्यापार सम्बन्धी बही-खातो आदि को लिखने मे, उसे प्राय: काफी रात गये, घर आना सम्भव हो पाता था। जिससे उसकी पत्नी अनमनी-सी और उदास रहती हुई काफी कमजोर हो चली थी।

जो विद्वान्, 'सिद्ध' को शुभंकर सेठ का पुत्र मानते है, उनकी दृष्टि से, शुभंकर ने ही इसे पढ़ा-लिखा कर योग्य बनाया था। और, इसका विवाह 'धन्या' नाम की कन्या से कर दिया था।

सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए, एक दिन, सिद्ध के मित्र, उसे किसी बाग मे ले गये। वहाँ उसे जुआ खेलने बैठा लिया, जिससे वह हार गया। दूसरे दिन, वह फिर जुआ खेला और हारा। गुस्से मे आकर, वह तीसरे दिन भी जुआ खेलने गया तो उसकी जीत हो गई। इस हार-जीत के आकर्षण और उत्सुकता ने, उसे

४. (क) द्रव्यसग्रह, टीका, गाथा १४ (ख) तिलोयपण्णत्ति ९/१६

पूरा जुआरी बना दिया। फलत: वह रात-रात भर जुआ खेलने मे, या दुराचार/वेश्यागमन मे लीन रहने लगा। इसी वजह से, उसकी पत्नी धन्या, दु खी और कृश हो चली थी।

इस मतभेद के आगे, प्राय एक-सा ही घटनाक्रम है। तदनुसार, एक दिन, धन्या की सास ने उससे उसकी उदासी के बारे मे पूछताछ की, तो वह चुप्पी लगा गई। किन्तु बहू की चुप्पी देखकर, सासु को और वेदना हुई। और, जिद करके पूछने लगी, तो धन्या, विलख-विलख कर रो पडी। आखिर, उसे बताना पडा कि, उसका पति, रात को काफी देर से घर आता है। उसकी सासु ने, उसे निश्चिन्त होकर सोने की अनुमति उस दिन दे दी और स्वय जागते रहने का विश्वास भी।

इसी रात, तीसरे पहर, सिद्ध जब घर लौट कर आया, तो उसने घर का बन्द दरवाजा हर रोज की तरह खटखटाया।

दरवाजे की खट-खट आवाज सुनकर, उसकी माँ-लक्ष्मी ने पूछा—'इतनी रात को कौन दरवाजा खटखटा रहा है ?'

'मैं, सिद्ध हूँ।' सिद्ध ने जबाव दिया।

लक्ष्मी ने बनावटी गुस्सा दिखलाते हुए पुन: कहा—'इतनी रात गये घर आने वाले सिद्ध को मैं नही पहचानती।'

'फिर, मै इतनो रात गये, कहा जाऊँ ?'—सिद्ध ने प्रश्न किया।

'जिस घर का दरवाजा, इस समय खुला हो, वही जा'—माँ ने, उसे ताड़ना/शिक्षा देने के उद्देश्य से कहा।

'ठीक है, माँ ! ऐसा ही करूंगा'—आहत स्वाभिमान भरे स्वर मे, सिद्ध ने जबाव दिया और वहाँ से लौट आया।

गाव मे घूमते-घूमते वह उपाश्रय के सामने पहुँचा, तो उसने देखा—'उपाश्रय का दरवाजा खुला है।'

रात्रि का, थोड़ा सा ही समय शेष रह गया था। इसलिए, वहाँ ठहरे हुए साधु-जन जाग गये थे और अपनी-अपनी क्रियाये कर रहे थे।

इन शान्त मुनिवरो को देख, वह विचार करने लगा—'धन्य है इनका जीवन ! जो ये धर्म की आराधना/साधना मे अपना समय बिताते है। एक मै हूँ, जिसे जुआ खेलने और दुराचार करने की वजह से, अपनी पत्नी व माँ के द्वारा अपमानित होना पडा।........अच्छा हुआ, सुबह का भूला, शाम को ठीक स्थान पर आ पहुँचा।'

यह विचार कर वह अन्दर गया, और वहाँ पर बैठे वृद्ध सन्त को वन्दन/प्रणाम किया।

गुरु ने पूछा—'कौन हो भाई ? कहाँ से आये हो ?'

सिद्ध ने उत्तर दिया—'रात, मैं देर से घर पहुँचा, तो माँ ने दरवाजा न खोल कर, उल्टा यह कहा—जहाँ का दरवाजा खुला हो, वहाँ चले जाओ। इसलिए, मैं यहाँ आया हूँ, और आपके पास ही रहना चाहता हूँ।'

गुरु ने उन्हें कहा—'हमारे पास, हमारा वेप लिये वगैर तुम नहीं रह सकते। और, फिर तुम्हारे जैसे व्यसनी के लिए, यह वेप लेना और उसकी मर्यादाओं का पालन करना कठिन है। क्योंकि, हमारा वेप लेने वाले को, नगे पैर पैदल चलना पड़ता है। भिक्षा में जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाये, वही खाना पड़ता है। सिर के वालों का लोच करना पडता है। इसलिए, तुम्हारे लिए यह वेप धारण कर पाना दुष्कर है।'

सिद्ध ने कहा—'हमारे जैसे जुआरी को धूप-वर्षा-सर्दी सब सहन करने पडते हैं। जहाँ जगह मिल जाये, वहीं रहना पड़ता है। जव दुर्व्यसनों के लिए हम इतने कष्ट उठाते रहे हों, तव, उन्नति के लिए क्या, कुछ सहन नहीं कर सकेंगे ? आप निःसंकोच, प्रातःकाल मुझे दीक्षा दें।'

गुरु ने कहा—'तुम्हारे माता-पिता कुटुम्बीजनों की आज्ञा के विना, हम दीक्षा नहीं देते। अतः उनसे आज्ञा मिलने पर ही दीक्षा दे पायेंगे।'

सिद्ध ने कहा—"जैसा आप उचित समझें।' और वहीं, वैठ गया।

प्रातःकाल होते ही, उसके पिता ने, पुत्र के वारे मे पूछा, तो लक्ष्मी ने सारा किस्सा उसे वता दिया। सुनकर, सेठ को वहुत दुःख हुआ। और, अपने वेटे को ढूंढ़ने के लिए घर से निकल पड़ा।

ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह उपाश्रय में भी पहुँचा। वहाँ सिद्ध को वैठा देखकर, उसने उसे घर चलने को कहा।

सिद्ध वोला—'पिताजी ! घर तो छोड़ दिया है। अव इनकी सेवा मे ही रहूंगा।'

सेठ ने कहा—'तू अकेला मेरा वेटा है। करोडों की सम्पत्ति है। यह सव किस काम आयेगी ? साधु-जीवन मे वहुत परीपह सहने पडेंगे।'

सिद्ध, अपनी वात पर डटा रहा, तो सेठ को आज्ञा देनी ही पड़ी। इस तरह जुआरी सिद्ध, सिद्धमुनि वना।

आचार्य सिद्धर्षि गणी निवृत्ति कुल के थे। भगवान् महावीर की युगप्रधान पट्टावली के अनुसार २१वें पट्टधर वज्रसेन हुए हैं, उन्होने सोपारक नगर मे श्रेष्ठी जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रों को आर्हती दीक्षा प्रदान की थी। उनके नाम थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। इन चारों के नाम से चार परम्परायें प्रारम्भ हुईं, जो नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर कुलो के नाम से

विश्रुत हुई ।[1] निवृत्ति कुल मे अनेक मूर्धन्य मनीषी गए हुए है । विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता जिनभद्र गरिए क्षमाश्रमए भी निवृत्ति कुल के थे । चौपन्न महा-पुरुषचरियम् ग्रन्थ के लेखक शीलाचार्य भी निवृत्ति कुल के थे और आचार्य अभयदेव ने जो नवागी टीका लिखी, उस टीका के सशोधक द्रोणाचार्य भी निवृत्ति कुल के थे । इसी महनीय कुल के महर्षि गर्गर्षि ने सिद्ध को भागवती दीक्षा प्रदान की ।

सिद्ध ने दीक्षानन्तर कठिन तपस्या की । जैन धर्म के सिद्धान्त-शास्त्रो का गहन अध्ययन/अभ्यास किया, और, सिद्धमुनि से सिद्धर्षि वन गया । 'उपदेशमाला' पर सरल भाषा मे 'बालावबोधिनी' टीका लिखी ।

एक दिन, उसके मन मे विचार उठा—'मुझे अभी बहुत शास्त्राभ्यास करना है । विशेषकर, उग्र तर्कवादी बौद्धो के शास्त्रो का ।' इसी विचार को क्रियान्वित करने के लिए, उन्होने अपने गुरु से आज्ञा मागी कि, वह किसी बौद्ध विद्यापीठ मे जाकर उनके शास्त्रो का अभ्यास कर सके ।

गुरु ने समझाया—'शास्त्र अभ्यास करना तो अच्छा है । किन्तु, बौद्ध, अपने तर्कों से लोगो को भ्रमित कर देते हैं । फलत , उनके यहाँ रहने से लाभ की बजाय हानि अधिक हो सकती है । अत· यह विचार छोड दो ।' किन्तु, सिद्धर्षि की विशेष जिद देखकर, उन्होने इस शर्त पर आज्ञा दी कि बौद्धो के तर्कों मे उलझकर, तेरा मन डगमगाने लगे, तो यहाँ वापिस आकर, हमारा वेष हमे वापिस कर देना ।'

सिद्धर्षि वचन देकर और वेष बदलकर, बौद्ध विद्यापीठ चले गये ।

सिद्धर्षि की मेहनत और प्रतिभा देखकर, बौद्धो ने उनके साथ सद्भाव रखा । धीरे-धीरे सिद्धर्षि पर उनके व्यवहार का और उनके कुतर्कों का असर होने लगा । फलत कुछ ही दिनो बाद, उन्होने बौद्ध-दीक्षा भी ले ली । जब, बौद्धो ने उन्हे अपना गुरु-पद देने का निश्चय किया, तो उन्हे अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई और अपना वेप वापिस करने जाने के लिए समय मागा । सिद्धर्षि की इस ईमानदारी ने उनके बौद्ध गुरु को प्रसन्न कर दिया । उन्होने भी आज्ञा दे दी ।

सिद्धर्षि, जब अपने जैन दीक्षा गुरु के सामने पहुँचे तो उन्हे वन्दन नही किया और यो ही सामने जाकर खडे हो गये ।

सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि, उसका बौद्ध वेष देखकर दु खी हुए, और सिद्धर्षि के ज्ञान-गर्व का अनुमान भी लगा बैठे । फलत युक्ति से काम बनाने की इच्छा से, वे उठे और सिद्धर्षि को, 'ललित-विस्तरा' ग्रन्थ देकर बोले—'इस ग्रथ को देखो, तब तक मैं चैत्यवन्दन करके आता हूँ ।' इतना कहकर, अन्य साधुओ के साथ वे चले गये ।

---

१ खतरगच्छ पट्टावली, देखिये जैन गुर्जर कवियो, भाग २, पृष्ठ ६६३.

सिद्धर्षि, ज्यो-ज्यो उस ग्रथ को पढ़ते गये, त्यो-त्यो उन्हे अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। और, जब तक गर्गर्षि वापिस लौटे, तब तक, उनका भूला-भटका मन, सही रास्ते पर आ चुका था।

सामने से आते गर्गर्षि को देखकर, वे अपने स्थान से उठे और उनके चरणों में गिर कर अपनी भूल की क्षमा-याचना करते हुए, वापस अपने रास्ते पर आने की इच्छा प्रकट की।

'तू मेरे वचनों को याद रखकर, प्रतिज्ञा-पालन करने के लिए यहाँ वापस आ गया, फिर तेरे जैसे विद्वान् शिष्य को वापस पाकर किस गुरु को प्रसन्नता न होगी ?

गुरु के वचन सुन कर सिद्धर्षि का मन प्रसन्न हो गया। गुरु ने उन्हें प्राय-श्चित्त दिया और अपने पद पर बैठा कर, साधना की प्रेरणा प्रदान की।

सिद्धर्षि ने, अपना दायित्व समझा और लोगो को बोध देने की भावना से इस 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की रचना की। सिद्धर्षि की यह मूल्यवान् कृति, उनके विद्वत्तापूर्ण प्रदाय को, भारतीय जन-मानस मे और भारतीय-साहित्यिक जगत मे, उन्हे अविस्मरणीय बनाये रखने की पर्याप्त सामर्थ्य रखती है।

इस महान् ग्रथ का सम्मान, सिर्फ भारत मे ही नही, इग्लेड और फ्रास के विद्वानो मे भी ख्याति अर्जित कर चुका है। पाठकगण, इसके सद्बोध-सन्देश को अपनाकर, अपना जीवन-पथ आलोकित बना सकते हैं।

सन् १९०५ में उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का मूल डॉ. हरमन जैकोबी ने "बंगाल रोयल एशियाटिक जरनल" मे प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। यह कार्य पहले डॉ० पीटर्स ने प्रारम्भ किया था। उन्होने ९६-९६ पृष्ठो के तीन भाग प्रकाशित किये। उसके पश्चात् डॉ. पीटर्स का निधन हो गया। उस अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के लिये डॉ. जैकोबी (बोन) को कार्यभार सम्भलाया गया। उन्होने द्वितीय प्रस्ताव को पुन: मुद्रित करवाया और सम्पूर्ण ग्रथ १२४० पृष्ठो मे सम्पन्न हुआ। उन्होंने प्रस्तुत ग्रथ पर मननीय प्रस्तावना भी लिखी। इस ग्रन्थ रत्न को प्रकाशित करने मे उन्हे लगभग १६ वर्ष का समय लगा।

सन् १९१८ मे श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धारक ग्रंथमाला, सूरत से उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ और सन् १९२० मे उसका उत्तरार्द्ध प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ पत्राकार प्रकाशित है।

संस्कृत भाषा मे निर्मित होने के कारण सामान्य जिज्ञासु पाठक इस ग्रथ रत्न का स्वाध्याय कर लाभान्वित नही हो सकता था, अत. विज्ञो के मस्तिष्क मे

इस ग्रथ के अनुवाद की कल्पना उद्बुद्ध हुई। श्रीयुत् मोतीचन्द गिरधरलाल कापडिया ने नौ वर्ष की लघुवय मे कुँवरजी आनन्दजी से यह ग्रथ सुना था, तभी से वे इस ग्रन्थ की महिमा और गरिमा से प्रभावित हो गये। उन्होने मन मे यह सकल्प किया कि यदि इसका अनुवाद हो जाये तो गुजराती भाषा-भाषी श्रद्धालु वर्ग लाभान्वित होगे, उन्हे नया आलोक प्राप्त होगा। कथा के माध्यम से द्रव्यानुयोग की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियाँ इस ग्रथ मे जिस रूप से सुलझाई गई है, वह अपूर्व है। अत उन्होने 'श्री जैन धर्म प्रकाश' मासिक पत्रिका मे सन् १६०१ मे धारावाहिक रूप से इस कथा का गुजराती मे अनुवाद कर प्रकाशित करवाना प्रारम्भ किया। पर, अनुवादक अन्यान्य कार्यो मे व्यस्त हो गया और वह धारावाहिक कथा बीच मे ही स्थगित होगई, तथा पुन इस का धारावाहिक प्रकाशन सन् १६१५ से १६२१ तक होता रहा। जिज्ञासु पाठको की भावना को सम्मान देकर सम्पूर्ण ग्रथ का अनुवाद जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर ने सम्वत् १६८० से लेकर १६८२ तक की अवधि मे तीन भागो मे ग्रथ के रूप मे प्रकाशित किया। प्रस्तुत ग्रथ पर मोतीचन्द गिरधर-लाल कापडिया ने सविस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जो "सिद्धर्षि" ग्रथ के नाम से स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुई है। यह प्रकाशन सन् १६३६ मे हुआ। प्रस्तावना मे कापडिया की प्रकृष्ट प्रतिभा के सदर्शन होते है। प्रतिभावान लेखक ने सरल और सुबोध भाषा मे उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के रहस्य को उद्घाटित किया है, वह अद्भुत है, अनुपम है। प्रस्तावना क्या है, एक शोध प्रबन्ध ही है, सिद्धर्षि पर।

आश्चर्य है—हिन्दी, जो भारत की राष्ट्र भाषा है, उसमे इस ग्रथ का अनुवाद अब हो रहा है! इस अनुवाद के मूल प्रेरक है—महामहिम आचार्यप्रवर १००८ श्री हस्तीमल जी महाराज ने जब इस ग्रथ को पढा तो उनके अन्तर्मानस मे यह विचार उद्बुद्ध हुआ कि इस प्रकार का सर्वोत्कृष्ट ग्रथ अभी तक हिन्दी पाठको को उपलब्ध नही हो सका है; यदि इस ग्रथ का अनुवाद हो जाये तो हिन्दी पाठको के लिये अत्यधिक श्रेयस्कर रहेगा। उन्होने अपनी मर्यादित भाषा मे श्री देवेन्द्रराज जी मेहता को सकेत किया कि यह ग्रथ बहुत ही उपयोगी है। अध्यात्मप्रेमियो के लिए आलोक स्तम्भ की तरह है। यदि इस ग्रथ का हिन्दी मे अनुवाद हो तो प्रबुद्ध पाठक लाभान्वित होगे। आचार्यप्रवर के सकेत को पाकर श्रीयुत् मेहता ने लालचन्द जी को अनुवाद करने के लिये उत्प्रेरित किया।

लालचन्द जी जैन एक उत्साही, भावुक हृदय के सज्जन है। उन्होने भावना से विभोर होकर अनुवाद का कार्य किया है। अनुवाद की पाण्डुलिपि परिष्कार के लिए श्री मान् देवेन्द्रराज जी मेहता सन् १६८० मे मेरे पास लाये, मैने ग्रथ को आद्योपान्त पढा, कुछ परिष्कार भी किया। हमारी विहार यात्रा निरन्तर चल रही थी। इतने बडे ग्रन्थ की पाण्डुलिपि विहार मे साथ रखना सम्भव नही था और मेरे सामने अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रथो का लेखन कार्य था, अत पाण्डुलिपि के परिष्कार का

कार्य महामनीषी विद्वद्रत्न महोपाध्याय विनयसागर जी को दिया गया। विनय-सागरजी ने बहुत ही तन्मयता के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन और सशोधन एव प्रथम प्रस्ताव का पूर्ण अनुवाद किया। अनुवाद का कार्य लालचन्द जी पहले कर चके थे, इसलिये आमूल-चूल परिवर्तन करना सम्भव नहीं था, इस कारण कही-कही पर मूल ग्रन्थ के भाव स्पष्ट नही हो पाए है। तथापि साधिकार यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ अपनी शानी का अद्भुत ग्रन्थ है। विनयसागर जी की प्रतिभा से ग्रन्थ के सम्पादन मे चार-चांद लग गये है। ग्रन्थ की भाषा सरल है, सुगम है और मुद्रण आकर्षक है। अनुवादक, सम्पादक और प्रकाशक सभी साधुवाद के पात्र है।

इस ग्रन्थ रत्न को इस रूप मे प्रकाशित करने का श्रय श्रीयुत देवेन्द्रराजजी मेहता को है। देवेन्द्रराजजी मेहता एक युवक और उत्साही सज्जन पुरुष है। शासन के उच्च पदाधिकारी होते हुए भी उनमे अहकार का अभाव है। सत्साहित्य के प्रकाशन के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि है। उसी अभिरुचि का मूर्त्त रूप है—प्राकृत भारती प्रकाशन सस्थान। एक दशक की स्वल्पावधि मे प्राकृत भारती ने बहुत ही महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट प्रकाशन विविध भाषाओ मे किए हैं। कुछ प्रकाशन इतने शानदार और कलात्मक हुए हैं कि देखते ही बनते है। प्राकृत भारती के प्रकाशनों को 'उत्कृष्ट प्रकाशन निस्सकोच कहा जा सकता है। श्रीयुत् मेहता ने प्रकाशन के क्षेत्र में ही नही, सेवा के क्षेत्र मे भी एक कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होने "श्री भगवान महावीर विकलांग सहायता समिति" की सस्थापना कर हजारो अपंग/विकलाग और असहाय व्यक्तियो की सेवा-सुश्रुषा कर श्रमण भगवान् महावीर के आदर्श सिद्धान्तो को मूर्त्तरूप प्रदान किया है। उनकी यह सेवा भावना प्रतिपल/प्रतिक्षण बढती रहे—यही मगल कामना और भावना है।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का सक्षिप्त हिन्दी सार श्री कस्तूरमल बांठिया ने तैयार किया जो सन् १९८२ में "बांठिया फाउन्डेशन," कानपुर से प्रकाशित हुआ है, पर उस सक्षिप्त सार मे मूल कथा का भाव भी पूर्ण रूप से उजागर नही हो सका है। इस वृहद्काय ग्रन्थ मे बहुत ही विस्तार के साथ कथा को प्रस्तुत किया है। आशा ही नही अपितु इस ग्रन्थ रत्न का सर्वत्र समादर होगा। प्रबुद्ध पाठक-गण इस ग्रन्थ रत्न का पारायण कर अपने जीवन को पावन बनायेंगे।

एक बात और मैं निवेदन करना चाहूँगा, वह यह है कि यह ग्रन्थ रत्न भारती-भण्डार का शृंगार है। इस ग्रन्थ रत्न में मूर्धन्य मनीषी लेखक ने चिन्तन के लिये विपुल सामग्री प्रदान की है। इसमे एक नही, अनेक ऐसे शोध-बिन्दु हैं, जिन पर शताधिक पृष्ठ सहज रूप से लिखे जा सकते है। मेरा स्वयं का विचार ग्रन्थ मे आए हुए चिन्तन-बिन्दुओ पर तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टि से लिखने का था, पर, दिल्ली के भीड भरे वातावरण मे यह सम्भव नही हो सका। एक के पश्चात् दूसरा व्यवधान आता गया और प्रस्तावना लेखन मे आवश्यकता से अधिक विलम्ब

भी होता गया। अत. मैने अन्त मे यही निर्णय लिया कि प्रस्तावना अति-विस्तार से न लिखकर सक्षेप मे ही लिखी जाय। उस निर्णय के अनुसार मैने संक्षेप मे प्रस्तावना लिखी है। मै सोचता हूँ कि यह प्रस्तावना प्रबुद्ध पाठको को पसन्द आएगी और शोधार्थियो के लिये कुछ पथ-प्रदर्शक भी बनेगी। आज भौतिकवाद के युग मे मानव भौतिक चकाचौध मे अपने आप को भूल रहा है। स्वदर्शन को छोडकर प्रदर्शन मे उलझ रहा है। ऐसी विकट वेला मे आत्मदर्शन की पवित्र प्रेरणा प्रदान करने वाला यह ग्रन्थ सभी के लिये आलोक स्तम्भ सिद्ध होगा।

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

१ जनवरी, १९८५
जैन भवन, नई दिल्ली

———

विषयानुक्रम

—★—

—★—

—★—

कोविदशेखर श्री सिद्धर्षि गणि प्रणीत

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

हिन्दी अनुवाद

१. प्रथम प्रस्ताव : पीठबन्ध

ऐं नमः

सिद्धर्षि गणि की प्रस्तावना

मंगलाचरण[ॐ]

जिन्होने महामोह की समस्त शीत[1] पीड़ाओं का नाश कर दिया है और जो लोकालोक का विशुद्ध दर्शन कराने में सूर्य के समान है, ऐसे परमात्मा को नमस्कार हो। जो विशुद्ध धर्म मे रत है, आत्म-स्वरूप के स्वभाव की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके हैं, संसार के विकार-समूह का नाश कर चुके हैं और महासत्त्व के पुञ्ज है, उन परमात्मा को मेरा नमस्कार हो। नाभिराजा के पुत्र आदिनाथ भगवान् जिन्होंने विश्व को सन्तप्त करने वाले राग-केसरी को विदीर्ण कर दिया है, जो प्रशमामृत का पान कर तृप्त हो गये है, उनको नमस्कार हो। अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त निर्मल आत्म-स्वरूप के धारक जिनेन्द्रो को, जिन्होने सिंह के समान द्वेष-गजेन्द्र रूप शत्रु के कुम्भस्थल का भेदन कर दिया है, उनको नमस्कार हो,[1] जिन्होने समस्त दोषो का दलन कर दिया है, मिथ्या-दर्शन का जड से उच्छेदन कर दिया है, कामदेव का नाश कर दिया है और समस्त शत्रुओं का नाश कर शत्रु रहित हो चुके है, उन महावीर स्वामी को नमस्कार हो। जिस किसी महात्मा ने खेल-खेल में समस्त प्राणियों को सन्ताप देने वाले अन्तरग कषायादि महासैन्य का हनन कर दिया है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। जो समस्त वस्तु [पदार्थ] समूह का विचार कर सकती है, विश्व के समस्त रहस्यो का उद्घाटन कर सकती है और समस्त पापो का प्रक्षालन कर सकती है ऐसी जिनेश्वर देव की वाणी को मै वन्दन करता हूँ। मुखचन्द्र की किरणों से दीपित, विकसित कमल की धारक और अपूर्व तेज से शोभित सरस्वती देवी को नमस्कार करता हूँ। जिनके प्रभाव से मेरे जैसा—(सामान्य) व्यक्ति भी परोपदेश में प्रवीण हो जाता है उन सदगुरुओ को मेरा विशेष रूप से नमस्कार हो। 卐[१-९]

ॐ पृष्ठ १ इस चिह्नान्तर्गत पृष्ठांक सर्वत्र श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड से प्रकाशित उपमिति भव प्रपञ्चा कथा, सन् १९१८ के सस्करण के समझें।

卐 [ ] कोष्ठकान्तर्गत सख्या सर्वत्र उपर्युक्त सस्करण की श्लोक सख्या की सूचक है।

1. मोह की पीडा को शीत-ठण्डी पीड़ा कहा जाता है, क्योकि यह प्रेम से उत्पन होती है और अन्त मे असह्य सन्तापदायक होती है। किन्तु इस पीडा का उद्भव (स्रोत) ठण्डा पड़ जाता है। ठण्डी पीडा सर्वदा कठोर और त्रासदायक होती है।

इस प्रकार विघ्नरूपी विनायक को शान्त करने वाले परमेष्ठि को नमस्कार करने के पश्चात् मैं विवक्षित ग्रन्थ की रचना करता हूँ। [१०]

कर्तव्य-सूचन

भव्य जीव अपने शुभ कर्मों से अतिदुर्लभ इस मनुष्य जीवन और श्रेष्ठ* कुल आदि अनुकूल सामग्री[1] को प्राप्त कर सभी हेय पदार्थों का त्याग करे, करने योग्य कार्यों को करे, श्लाघनीय वस्तु की प्रशसा करे और श्रवण करने योग्य वचनो को सुने। आत्म-हितेच्छु, जो भी कार्य मन को मलिन बनाने वाले और मोक्ष से हटाने वाले है उनका मन-वचन-काया से त्याग करे। मनीषियों को सर्वदा ऐसे कार्य करने चाहिये ,जिससे मन मुक्ताहार, बर्फ, गोदुग्ध, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत एव स्वच्छ हो जाय। विशुद्ध अन्तर्हृदय से सर्वज्ञ, तत्प्रणीत धर्म और उसका आचरण करने वालो की सर्वदा श्लाघा करनी चाहिये। समस्त दोषो का नाश करने के लिए श्रद्धा से विशुद्ध बुद्धिपूर्वक सर्वज्ञ-भाषित सार-गर्भित वचनो को भावपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ-भाषित श्रोतव्य वाणी जगत् की हितकारिणी है ऐसा चिन्तन कर यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। तदनुसार महामोहादि (अन्तरग शत्रुओ) का नाश करने वाली और ससार के प्रपञ्चमय विस्तार को बताने वाली कथा मै कहूँगा। [११-१८]

सर्वज्ञ-वाणी

सर्वज्ञ-भाषित वाणी पाँचो आस्रवो (हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह), पाँचो इन्द्रियो, महामोह से समन्वित चारों कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ), मिथ्यात्व, राग और द्वेषादि रूप अन्तरग-शत्रुओ की सेना के दोषों का उद्घाटन करने वाली है। अर्थात् ये आन्तरिक-शत्रु प्राणी को ससार मे कितना भटकाते है इसका स्वरूप सर्वज्ञ-वाणी स्पष्टत: बताती है। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सन्तोष, प्रशम, तप, सयम और सत्य आदि करोड़ो सैनिको से सुसज्जित आत्मबल की आन्तरिक सेना भी है, जिसके गुणो की गोरव गाथा भी जिनेन्द्र-वाणी में पद-पद पर प्रकट की गई है। एकेन्द्रिय आदि भेदो से अनन्त दु खरूपी भव-प्रपञ्च के स्वरूप का वर्णन भी जिन वाणी मे प्राप्त होता है। अतएव उसी सर्वज्ञ वाणी को आधार मानकर, मेरे जैसे सामान्य प्राणी द्वारा कहे गये वचनो को भी जैनेन्द्र-सिद्धान्त का निर्झर समझे। [१६-२४]

---

* पृष्ठ २

1. अनुकूल सामग्रियाँ अनेक प्रकार की हैं :—आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, नीरोग शरीर, इन्द्रिय सुख, बुद्धि, ग्रहण शक्ति, सद्गुरु का योग, तत्त्वश्रवण की इच्छा, आलस आदि काठियो का नाश, इत्यादि।

कथा के प्रकार

लोक में कथा के चार प्रकार कहे गये है—अर्थ, काम, धर्म और सकोर्ण (मिश्रित)। [२५]

साम आदि (साम, दाम, दण्ड, भेद) नीति सम्वन्धी, धातुवाद और कृषि विद्या का प्रतिपादन करने वाली तथा धनोपार्जन करने के उपायो से भरी हुई को अर्थ कथा कहा जाता है। यह अर्थ कथा मन को दूषित करने वाली और पाप के साथ सम्पर्क वढाने वाली होने से दुर्गति की ओर ले जाने वाली है। काम-वासना के उपादानो से गर्भित, कामक्रीडावस्था के नैपुण्य को वताने वाली, अनुराग और इंगितादि चेष्टाओं से वासना को उद्दीप्त करने वाली कथाएँ काम कथा कही गई है। यह काम कथा मलिन विषयों में राग को वढ़ाने वाली तथा विपरीत मार्ग मे ले जाने वाली होने से दुर्गति का कारण बनती है। दया, दान, क्षमा आदि धर्म के अगो मे प्रतिष्ठित और धर्म की उपादेयता को वताने वाली कथा को बुद्धिमानो ने धर्म कथा कहा है।※ यह धर्म कथा चित्त की निर्मलता के कारण पुण्य व निर्जरा का विधान करती है, अतः इसे स्वर्ग और मोक्ष का कारण समझना चाहिये। अर्थ, काम, धर्म इन तीनों की प्राप्ति के उपाय वताने वाली, नव रसो से युक्त और निष्कर्ष वाली मिश्रित कथा को सकीर्ण कथा कहते हैं। यह कथा विचित्र एव नाना प्रकार के अभिप्रायो से युक्त होने के कारण विविध प्रकार के फल देने वाली है तथा सभी विधाओ मे पारगत वनाने मे सहायक होती है [२६-३३]

श्रोता के प्रकार

इस प्रकार की कथाओ के श्रोता भी चार प्रकार के होते है, सक्षेप मे उनके लक्षण वताता हूँ। माया, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह और मद से परिपूर्ण अर्थ-सम्बन्धी कथा के जो इच्छुक है, वे तामस् प्रकृति वाले अधम श्रेणी के मनुष्य है। राग-ग्रस्त मन वाले विवेकहीन होकर जो काम कथा की इच्छा करते है वे राजस् प्रकृति के मध्यम श्रेणी के व्यक्ति है। एक मात्र मोक्ष की आकांक्षा वाले शुद्ध हृदय से जो विशुद्ध धर्मकथा को ही सुनना चाहते हैं, वे सात्विक प्रकृति के श्रेष्ठ मानव है। उभय लोक की कामना करने वाले किञ्चित् सत्त्वधारी मनुष्य संकीर्ण कथा को सुनने की इच्छा करते है, वे श्रेष्ठ मध्यम श्रेणी के है। [३४-३८]

रज और तम के अनुयायी सत्वशाली जीव, अर्थ और काम के निवारण मे समर्थ धर्मशासक और धर्म शास्त्रो की अवहेलना कर, स्वय अर्थ और काम के रग मे रग जाते है। अर्थ एव काम-रूपी घी की आहुति से उनकी राग, द्वेष और मोह रूपी अग्नि-ज्वाला बहुत वढ़ जाती है। जैसे मयूरी के केकारव से मयूर के शरीर में रोमांच वढ़ जाता है वैसे ही काम और अर्थ कथा के श्रवण से पाप कार्यो मे उत्साह बढ़

※ पृष्ठ ३

जाता है। अतएव काम और अर्थ सम्बन्धी कथा कभी भी नही करनी चाहिये। ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो घाव पर नमक छिडकेगा? परोपकारी मनीषियो को ऐसा कार्य करना चाहिये कि जिससे समस्त प्राणियो का उभय लोक मे हितसाधन हो। यद्यपि काम और अर्थ की कथा लोगो को प्रिय है, तथापि इन कथाओ के परिणाम अत्यन्त दारुण हैं। अतः विद्वानो को इन दोनो कथाओ का त्याग करना चाहिये। ऐसा समझकर उभय लोक की हित-कामना से जो अमृतोपम शुद्ध धर्म कथा को कहते है, वे धन्य है। [३९-४५]

संकीर्ण कथा का आशय

आकर्षण के साथ सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली होने से सकीर्ण कथा को कितने ही आचार्य सत्कथा की कोटि मे रखते हैं। जिस किसी भी प्रकार से प्राणियो को प्रतिबोधित किया जा सके, हितेच्छु उपदेशको को उसी कथा का आश्रय लेकर उसे उपदेश देने का प्रयत्न करना चाहिये। सासारिक मोहग्रस्त मुग्ध प्राणियो के मन मे एकाएक धर्म प्रतिभासित नही होता, वे धर्म की ओर आकर्षित नही होते, अत अर्थ और काम की कथा के द्वारा उसके मन को आकृष्ट करना चाहिये। अर्थ और काम कथा के माध्यम से उन्हे धर्म कथा की ओर प्रेरित करने पर वे उसे ग्रहण करने मे समर्थ हो जाते हैं। इसीलिये सकीर्ण कथा को भी विक्षेप* द्वारा सत्कथा कहा गया है। वैसे तो यह **उपमिति-भव-प्रपंच** कथा शुद्ध धर्म कथा ही है, परन्तु किसी-किसी स्थान पर वह सकीर्ण कथा का रूप भी ग्रहण करती है, फिर भी वहाँ पर वह धर्म कथा के गुण की अपेक्षा रखती है, अतः इसे धर्म कथा ही समझना चाहिये। (४६-५०)

भाषा-विचार

संस्कृत और प्राकृत दोनो ही प्रधान भाषाये है। उनमे भी पण्डितमन्य विद्वानो का झुकाव सस्कृत की ओर अधिक है। यद्यपि प्राकृत भाषा सहज भाव से बाल जीवों को सद्बोध कराने वाली और कर्ण-प्रिय है, फिर भी वह अहम्मन्य पण्डितो को वैसी नही लगती। साधनो के विद्यमान होने पर सब का मनोरजन करना चाहिये। इसलिए उनके अनुरोध को ध्यान मे रखकर, इस ग्रन्थ की रचना सस्कृत भाषा मे ही करूँगा। सस्कृत मे रचना होते हुए भी वह बडे-बडे वाक्यो और अप्रसिद्ध अतिगूढ शब्दो वाली न होकर, सर्व प्राणियो को समझ मे आने वाली (लोकप्रिय) भाषा होगी। (५१-५४)

कथा-शरीर—अन्तरंग

'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' इस नाम से इसका कथा-शरीर स्पष्ट है। इसमे भव-प्रपच (ससार के विस्तार) का वर्णन है। यह ससार का विस्तार, यद्यपि सभी लोगो द्वारा अनुभव किया जाता है, फिर भी परोक्ष जैसा लगता है, इसलिये इसका विस्तार पूर्वक विशेष वर्णन आवश्यक है। किसी प्रकार की भ्राति न हो और स्मृति

---

* पृष्ठ ४

सदा ताजी बनी रहे, इसलिये कथा के नाम का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् मै कथा-विषय (कथा-शरीर) पर सक्षेप मे विवेचन करूँगा। यह कथा दो प्रकार की है :— अन्तरंग और बाह्य। इनमे से पहले अन्तरग-कथा-शरीर मे क्या है ? यह बतलाऊँगा। [५५-५८]

इस कथा के आठ प्रस्ताव (खण्ड, विभाग) करूँगा। प्रत्येक प्रस्ताव मे जिन विषयों का वर्णन करूँगा उसका निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। [५९]

१ प्रथम प्रस्ताव में जिस हेतु से इस आकार-प्रकार मे इस कथा की रचना की गई है, उस हेतु का स्पष्टतः प्रतिपादन करूँगा। [६०]

२. दूसरे प्रस्ताव मे एक भव्य पुरुष सुन्दर मनुष्य-जन्म प्राप्त कर, आत्म-हित करने मे तत्पर होकर, सदागम[1] की सगति प्राप्त कर उसके साथ रहता है। एक ससारी-जीव सदागम के समक्ष अगृहीतसकेता[2] को उद्देश्य कर अपना चरित्र (आत्म कथा) कहता है; जिसे प्रज्ञाविशाला[3] के साथ भव्य पुरुष सुनता है। इस प्रसग मे संसारी जीव ने तिर्यञ्च[4] गति मे कौन-कौन से और कैसे-कैसे रूप धारण किये, उन सब भावों पर वे विचार करते हैं, उनका यहाँ प्रतिपादन करूँगा। (६१–६३)

३ तीसरे प्रस्ताव मे ससारी-जीव हिंसा और क्रोध के वशीभूत होकर तथा स्पर्शनेन्द्रिय में आसक्त होकर विविध दुःख और दारुण पीडाओ को प्राप्त करता है तथा मानव-भव से भ्रष्ट होता है, इन सबका वर्णन, स्वय ससारी-जीव के मुख से ही कराऊँगा [६४-६५]

४. चौथे प्रस्ताव मे मान जिह्वेन्द्रिय और असत्य मे आसक्त होकर ससारी-जीव दुःख-पीड़ित होकर कैसी-कैसी यातानाये प्राप्त करता है और अनेक दुःखो मे डूबा हुआ अपार अनन्त संसार में किस प्रकार बारम्बार भटकता है, यह सब वह स्वय बतलायेगा [६६-६७]

५. *पाँचवें प्रस्ताव में ससारी-जीव चोरी, माया तथा घ्राणेन्द्रिय के विपाको का विस्तार से वर्णन करेगा [६८]

६. छठे प्रस्ताव में ससारी-जीव लोभ, मैथुन और चक्षु इन्द्रिय के विपाको का वर्णन करेगा; जो इसके जीव ने पूर्व-भवों में अनुभव किया है [६९]

७. सातवे प्रस्ताव में ससारी-जीव महामोह, परिग्रह और श्रवणेन्द्रिय के सहयोग से कैसे-कैसे प्रपञ्च रचता है और करता है, यह बतलायेगा [७०]

---

* पृष्ठ ५

१. शुद्ध श्रुतज्ञानधारक सद्गुरु, पात्र।

२. भद्रजन, सरल स्वभावी, गतानुगतिक व्यवहार करने वाला पात्र।

३ दीर्घदर्शी, विचक्षण, मनीषी पात्र।

४ एक इन्द्रिय से चार इन्द्रिय वाले समस्त प्राणी तथा जलचर, स्थलचर, खेचर, पशु, पक्षी आदि प्राणियो को जैन परिभाषा मे तिर्यंच कहते हैं।

इस प्रकार तीसरे से सातवे तक पाँच प्रस्तावो में (हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन पाँचो आस्रवो से; त्वचा, जीभ, नाक, आँख, कान इन पाँच, इन्द्रियो से, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो कषायो से तथा महामोह के वशीभूत होने से) ससारी-जीव पर दु खो के पहाड टूट पड़ते हैं, उन घटनाओ का वर्णन किया जायेगा। इन घटनाओ मे से कुछ का तो ससारी-जीव स्वय भुक्तभोगी है और कुछ अन्य लोगो से सुनी हुई है, किन्तु उन सब पर उसकी स्वय की प्रतीति होने से वे समस्त घटनाए स्वय ससारी-जीव से सम्बन्धित और उसकी अपनी ही हैं, ऐसा कहा जायेगा। [७१-७२]

८ आठवे प्रस्ताव में पूर्व-वर्णित सातो प्रस्तावो की घटनाओं का मेल होता है और ससारी-जीव अपना आत्महित करता है। संसार पर तीव्र विराग उत्पन्न करने वाली ससारी-जीव की इस आत्मकथा को सुनकर भव्य पुरुष प्रतिबोध प्राप्त करता है, किन्तु ससारी-जीव द्वारा बारम्बार प्रेरित करने पर भी अगृहीतसकेता बडी कठिनाई से प्रतिबोधित होती है। केवल-ज्ञान रूपी सूर्य से देदीप्यमान निर्मलाचार्य को पूछकर संसारी-जीव ने (अपने पूर्व-भव में) यह सब वृत्तान्त समझ लिया था। सदागम के द्वारा ससारी-जीव को पुन -पुन स्थिर करने पर उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप उसने अपनी यह आत्मकथा प्रतिपादित की, ऐसा प्रतिपादन किया जायेगा। [७३-७७]

रूपक कथा की परिपाटी

इस कथा मे अन्तरंग लोगों के ज्ञान, आपसी बोलचाल, गमनागमन, विवाह, बन्धुता आदि समस्त लोक-व्यवहारो का वर्णन किया गया है, उसे किसी भी प्रकार से दूषित नही समझना चाहिये, क्योकि गुणान्तर की अपेक्षा से उपमा रूपक द्वारा बोध कराने के लिए ऐसे वर्णन किये गये है। कहा है—जो प्रत्यक्ष और अनुभव सिद्ध हो तथा युक्ति से दूषित न हो उसे सत्यकल्पित उपमान कहा जाता है और इस प्रकार के उपमान सिद्धान्त आगम ग्रन्थो मे प्राप्त होते है। जैसे कि, आवश्यक सूत्र मे मुद्गल शैल-पाषाण और पुष्करावर्तक मेघ की स्पर्द्धा एव नागदत्त चरित्र मे क्रोध आदि को सर्प की उपमा दी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन मे मत्स्य ने अपना चरित्र कहा है तथा सूखे पत्तो ने भी अपना सदेश दिया है, वैसे ही सिद्धान्त ग्रन्थो के आलोक मे यहाँ जो भी कथन उपमा–रूपक द्वारा किया जायेगा उसे युक्तियुक्त वचन ही समझना चाहिये। [७८-८३]

इस प्रकार इस कथा का अन्तरग शरीर क्या है? इसका वर्णन किया गया। अब मै कथा के बहिरग शरीर का प्रतिपादन करता हूँ। [८४]

कथा-शरीर—बहिरंग

मेरु पर्वत की पूर्व दिशा मे स्थित महाविदेह क्षेत्र में सुकच्छ नामक विजय

था। उस विजय की राजधानी क्षेमपुरी नामक नगरी थी। इस नगर मे सुकच्छ विजय के स्वामी अनुसुन्दर नामक चक्रवर्ती हुए।❀ आयुष्य के अन्तिम भाग मे अनुसुन्दर चक्रवर्ती को अपने देश को देखने की इच्छा हुई और वे आनन्द पूर्वक यात्रा पर निकल पडे। घूमते-घूमते वे शखपुर नगर पहुचे। नगर के बाहर मन को आह्लादित करने वाला चितरम नाम का उद्यान था। उस सुन्दर उद्यान के मध्य मे मनोनन्दन नामक एक सुन्दर जिन मन्दिर था। किसी समय इस उद्यान के मन्दिर मे समन्तभद्र नामक आचार्य पधारे। उनके सन्मुख महाभद्रा नामक प्रवर्तिनी साध्वी, सुललिता नामक सरल स्वभाव वाली राजकुमारी, पुण्डरीक नामक राजपुत्र एव अन्य अनेक लोगो की सभा जुड़ी हुई थी। आचार्य समन्तभद्रसूरि ने ज्ञान-दृष्टि से यह जानकर कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने महापाप किये है, उस समय इस प्रकार कहा—बाहर लोगो में अभी जो भारी कोलाहल सुनने मे आ रहा है, वह ससारी-जीव नामक चोर को वध्य-स्थल पर ले जाने के कारण है। आचार्यदेव के इस प्रकार के वचन सुनकर महाभद्रा साध्वी ने सोचा कि, जिस जीव का आचार्यश्री ने वर्णन किया है, वह अवश्य ही कोई नरकगामी जीव होना चाहिये। इस विचार से साध्वी को उस जीव पर करुणाभाव उत्पन्न हुआ और वह वध-स्थान को ले जाने वाले जीव के पास गई। साध्वी के दर्शन से जीव को स्वगोचर[1] (जाति स्मरण) ज्ञान हो गया। फिर उसने साध्वी से आचार्यश्री द्वारा कथित बात सुनी और वैक्रिय-लब्धि[2] द्वारा चोर का वेश धारण कर, साध्वीजी के साथ आचार्य के सन्मुख उपस्थित हुआ।[3] राजपुत्री सुललिता ने जो आचार्य के पास ही बैठी थी, इस नवागन्तुक चोर से चोरी के विषय में पूछा। आचार्य ने उसे निर्देश दिया कि, तुम अपना वृत्तान्त सुनाओ। एतएव चोर ने राजपुत्री को प्रतिबोधित करने के लिये तीव्र सवेग उत्पन्न करने वाली स्वयं की भव-प्रपञ्च रूप आत्मकथा उपमाओ के माध्यम से कह सुनाई। इसी अवसर पर राजपुत्र पुण्डरीक भी जो पास मे बैठा हुआ संसारी-जीव की कथा सुन रहा था, लघुकर्मी जीव होने से तुरन्त ही प्रतिबोधित हो गया। राजपुत्री सुललिता मे पूर्वजन्मो का कर्म-दोष अधिक था, अतः बारम्बार उसे उद्देश्य कर कथा कहने पर भी वह प्रतिबोध को प्राप्त नही हो रही थी। अन्त मे विशिष्ट प्रेरणा द्वारा इसे भी बडी कठिनाई से बोध प्राप्त हुआ। पश्चात् सभी ने अपना आत्म-हित किया और मोक्ष को प्राप्त हुए। इस बहिरग कथा-शरीर को अपने हृदय मे अच्छी तरह धारण करे—लक्ष्य मे रखे। आठवे प्रस्ताव मे इन सब का स्पष्टीकरण किया जायेगा [८५-१००]

❀ पृष्ठ ६

१. स्वगोचर ज्ञान को ही जातिस्मरण ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मतिज्ञान का एक भेद है। इस ज्ञान से पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मृति में आता है।

२. यह एक प्रकार की लब्धि है। इस लब्धि से मनुष्य मन चाहा रूप धारण कर सकता है।

३ चोर का रूप धारण कर गुरु के सन्मुख आने वाला चक्रवर्ती स्वयं है, ऐसा समझें।

इस ग्रन्थ अधिकारी

परमार्थ के लिये सर्वज्ञ-प्ररूपित सिद्धान्त-समुद्र में से बूंद के समान इस कथा को महासमुद्र में से खींचकर बाहर निकाला है। दुर्जन मनुष्य इस कथा को सुनने के योग्य नहीं हैं। अमृत बिन्दु और कालकूट विष का संयोग किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। दुर्जन मनुष्य के दूषणों पर भी विचार नहीं करना चाहिये। पाप को उत्पन्न करने वाली पापी मनुष्यों की कथा कहने से क्या लाभ? यदि दुर्जन की स्तुति भी करें, तो भी वह काव्य में से दोष ही ढूंढ निकालेगा और उन दोषों का विशेष रूप से प्रकाशन करेगा। यदि उसकी निन्दा करेंगे, तो वह और भी अधिक दोष निकालेगा, अतः ऐसे प्राणी के प्रति उपेक्षा-भाव रखना ही श्रेयस्कर है। दुर्जन प्राणी की निन्दा करने से स्वयं में भी उसकी दुर्जनता का कुछ अंश आता ही है और उसकी प्रशंसा करने में असत्य-भाषण होता है,* अतः उनके सम्बन्ध में उपेक्षा ही उचित है। क्षीर समुद्र जैसे निर्मल और विशाल हृदय वाले, गम्भीर मानस वाले, लघुकर्मी भव्य सज्जन ही इस कथा को सुनने के अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारी सज्जनों की निन्दा नहीं करनी चाहिये, उनकी प्रशंसा करने की भी आवश्यकता नहीं है, उनके सम्बन्ध में मौन रहना ही समुचित है, क्योंकि अनन्त गुणशाली सज्जनों की निन्दा करना महापाप है। मेरे जैसा सामान्य बुद्धि वाला उनके गुणानुरूप उनकी स्तुति या श्लाघा कर सके, यह अशक्य है। सज्जन पुरुषों की यह विशेषता होती है कि उनकी स्तवना-प्रशंसा न करने पर भी वे काव्य स्थित गुणों को देख सकते हैं, परख सकते हैं। यदि काव्य में कोई दूषण भी हो, तो वे उसको ढक सकते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से ही सार-ग्रहण करने वाले महात्मा होते हैं, अतः उनकी प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं है। मैं केवल ऐसे विशाल हृदय और बुद्धिवाले मनीषियों से अनुरोध करता हूं कि वे इस कथा को भली प्रकार सुनें। उनसे यह निवेदन करने के लिए ही मैंने उक्त वर्णन किया है [१०१-११०]

हे भव्य जीवों! मेरे अनुरोध को स्वीकार कर, आप अपने मन को स्थिर कर, कान खोलकर, मैं जो कह रहा हूं उसे कुछ समय तक ध्यान पूर्वक श्रवण करें [१११]

☐

उपोद्घातरूप दृष्टान्त कथा

अदृष्ट-मूलपर्यन्त नगर

१. ❀इस ससार मे 'अदृष्ट-मूल-पर्यन्त' नामक नगर उच्च अट्टालिकाओ और मनोहर भवनों से सुशोभित व अनन्त प्राणियो से भरा हुआ है, जो सनातन है। इसमें अनेक प्रकार की पण्य (वस्तुओ) और महामूल्यवान रत्नो से भरी दुकानों वाले आदि-अन्त रहित अनेक बाजार है। यह नगर सुन्दरतम एव विचित्र चित्रो से चित्रित देवालयों से सुशोभित है जिन्हें बच्चे बूढे एकटक देखते रह जाते हैं। यह नगर क्रीडा कलरव करने वाले बालकों की ध्वनि से गु जरति है। यह नगर अलध्य तथा तु ग (उच्च) दुर्ग से घिरा हुआ है। इस नगर की रचना ऐसी है कि मध्य भाग अति गंभीर और दुर्गम है, क्योंकि नगर के चारो ओर बडी-बडी खाईयाँ खुदी हुई हैं। सभी लोगो को आश्चर्यचकित करने वाले चपल लहरो से गुंजरित अनेक छोटे-बडे सरोवरों से यह नगर सुशोभित है। नगर के किले के पास ही चारो ओर अति-गहन भयकर अनेक अन्धकूप भी शत्रुओं को त्रास देने के लिए निर्मित है। यह महानगर अनेक प्रकार के फल-फूलों से पल्लवित और भ्रमरो से गु जित, कई देववनों से परिवेष्टित और अनेकानेक आश्चर्यो तथा चमत्कारो से परिपूर्ण है।
[११२-१२०]

निष्पुण्यक दरिद्री

२. इस नगर में एक निष्पुण्यक नामक गरीब ब्राह्मण रहता था, जो महोदर, महादुर्बुद्धि और स्वजन सम्बन्धियों से रहित था। वह अर्थ तथा पुरुषार्थ दोनो से हो हीन था। उसका शरीर भूख से जीर्ण होकर मात्र अस्थि-पजर रह गया था। वह मलिन निन्दनीय और गरीबी से ग्रस्त था। वह निरन्तर फूटा हुआ मिट्टी का पात्र लेकर घर-घर भीख माँगता था। वह ऐसा अनाथ था कि उसे सोने के लिए बिछौना तक उपलब्ध नही था, जमीन पर सोते-सोते उसकी पसलियाँ घिस गई थी और

❀ यह दृष्टान्त कथा मूल मे १-४० अनुच्छेदो मे दी गई है। आगे इसी की दार्ष्टान्तिक योजना—कथा का उपनय भी तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है, अत. इन अनुच्छेदो पर भी १-४० की सख्या दी गई है। जिससे अनुच्छेदवार तुलना करने मे सरलता रहे।

धूल से सारा शरीर मलिन हो रहा था। उसके पहिनने के चिथडे जाल-जाल हो रहे थे। [१२१–१२३]

३. इस दरिद्री को चिढाने के लिए नगर के दुर्दान्त डिम्भ (चचल और नट-खट वालक)* प्रतिक्षण लकडी, वडे-वड़े पत्थर (ढेले) और घूसे मार-मार कर उससे छेडछाड करते थे जिससे वह अधमरा और वहुत दुखी हो रहा था। सारे अगो पर घाव थे, इस कारण वह बार-बार चिल्लाता था 'हे माँ! मैं मर गया, मुझे बचाओ।' ऐसे ही दैन्य और आक्रोश पूर्ण वचनो से वह अपना दुःख प्रकट कर रहा था। उसे उन्माद और बुखार भी हो रहा था। कुष्ठ, खुजली और हृदय-शूल से ग्रसित वह सब तरह के रोगो का घर लग रहा था। इतनी अधिक वेदना से वह घवरा गया था। सर्दी, गर्मी, डास, मच्छर, भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार की पीडाओ से वह अशान्त, त्रस्त और दुःखी होकर नरक जैसी यत्रणा सहन कर रहा था। [१२४-१२७]

४ निष्पुण्यक दरिद्री का स्वरूप सज्जनो के लिये दया का स्थान, दुर्जनो के लिये हँसी-मजाक का पात्र, बालको के लिये खेल का खिलौना और पापियो के लिये एक उदाहरण-सा वन गया था। [१२८]

५ अदृष्टमूलपर्यन्त नगर मे अन्य भी कई दरिद्री रहते थे, पर निष्पुण्यक जैसा दुखी और निर्भागियो का शिरोमणि तो सम्पूर्ण नगर मे सम्भवतः कोई दूसरा नही था। [१२९]

निष्पुण्यक की मिथ्या कल्पनाएँ

६ निष्पुण्यक अनेक सकल्पो-विकल्पों द्वारा रौद्रध्यान (दुर्ध्यान) करते हुए सोचता रहता कि मुझे अमुक-अमुक घर से भिक्षा मिलेगी। अर्थात् उसका सारा समय रौद्रध्यान मे ही व्यतीत होता था, पर उससे प्राप्त क्या होता! सिवाय परिताप के। भिक्षा मे यदि उसे कही थोडा भूँठा अन्न भी मिल जाता तो वह ऐसा प्रसन्न हो जाता जैसे कही का राज्य मिल गया हो! अनेक प्रकार के तिरस्कार से प्राप्त भूँठा अन्न खाते हुए उसे सर्वदा यह शका वनी रहती कि कोई शक्र जैसे बलवान पुरुष मेरा भोजन चुरा न ले। उस थोडे से भूँठण से उस बेचारे की तृप्ति तो क्या होती, उसकी भूख और अधिक प्रज्वलित हो जाती। उस अन्न के पचते-पचते उसके शरीर मे वात-विसूचिका[1] (उदर पीडा) उठ खडी होती। वह भोजन उसके लिये असाध्य रोगो का कारण बनता और शरीर मे पहले से स्थित रोगो को वढाने मे सहायभूत वनता। इस वास्तविकता की उपेक्षा करते हुये निष्पुण्यक उसी भोजन को अच्छा मानता और उससे सुन्दर भोजन की तरफ दृष्टिपात भी नही करता। सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन चखने का कभी उसे स्वप्न मे भी अवसर प्राप्त नही हुआ।

---

* पृष्ठ ८

१ उदरशूल, सग्रहणी, हैजा

वह दरिद्री भीख मांगते हुये उस नगर के छोटे-बड़े घरों मे, भिन्न-भिन्न मुहल्लो और गलियो मे विना थके भटकता रहता। दुःखग्रस्त महादुर्भागी को यों भटकते हुये उसे कितना समय वीत गया, इसका भी उसे ध्यान नही रहा। [१३०-१३७]

सुस्थित महाराजा : कर्मविवर द्वारपाल

७ इस नगर में सुस्थित नामक एक प्रख्यात महाराजा राज्य करता था जो स्वभाव से ही सब प्राणियो पर अत्यधिक प्रेम रखने वाला था। एक वार घूमते हुये वह निष्पुण्यक दरिद्री राजा के भवन (महल) के पास पहुँच गया। उस भवन के द्वार पर स्वकर्मविवर नामक द्वारपाल नियुक्त था। उस अत्यन्त करुणाजनक भिखारी को देखकर द्वारपाल ने कृपा कर उसे अपूर्व राजमन्दिर (महल) मे प्रवेश करने दिया। [१३८-१४०]

राजमन्दिर का वैभव

८. अनेक रत्नों के प्रकाश से देदीप्यमान राजमन्दिर (महल) मे अन्धेरे का तो कही नाम भी नही था। कटिमेखला और झाझर (कदोरा और पायल) के घुंघरुओं से उत्पन्न स्वरो से उस राजमन्दिर (महल) मे स्वय ही अनेक राग उत्पन्न हो रहे थे। झूलती हुई मोतियो की लड़ियो से सुशोभित दिव्य वस्त्रों के सुन्दर पर्दे भवनो मे चारों ओर लटक रहे थे। पान चवाने से आरक्त सुन्दर मुख वाले भवन-निवासियो से वह राजमन्दिर शोभायमान था। भ्रमरो द्वारा गुंजरित और परिवेष्टित स्वर्ण जैसे सुन्दर रंग की विविध प्रकार से गूंथी हुई अनेक पुष्पमालाओं से उस भवन का आँगन सुगन्धित और सुवासित हो रहा था। शरीर पर लेप करने योग्य *अनेक सुवासित और सुगन्धित वस्तुएँ जमीन पर इतनी मात्रा में विखरी पड़ी थी कि उनसे वातावरण ही सुगन्धमय वन गया था। राजमन्दिर में रहने वाले सभी प्राणी हर्ष से विभोर होकर आनन्द से विभिन्न वाद्य यन्त्रो से मनोरजन कर रहे थे। जिनके आन्तरिक तेज से सभी शत्रु पलायन कर गये थे और जो वाह्य व्यापारो से भी निश्चिन्त हो गए थे ऐसे अनेक राजपुरुष उस राजमन्दिर मे निवास करते थे। सम्पूर्ण जगत् की चेष्टाओ को जानने वाले, स्वबुद्धि से अपने शत्रुओं को भली प्रकार पहचानने वाले और सम्पूर्ण नीतिशास्त्रो मे पारगत अनेक मत्री भी वहाँ निवास करते थे। युद्ध के मैदान में अपने समक्ष आये हुए साक्षात् यमराज को देखकर भी जो विचलित नही होते थे, ऐसे असख्य योद्धा वहाँ सेवारत थे। [१४१-१४७]

९. इस विशाल राजमन्दिर में अनेक व्यक्ति नियुक्तक (कामदार) थे जो सर्वदा करोड़ों नगरो, असख्य ग्रामो और अनेक परिवारो का परिपालन करते थे तथा शासन-प्रवन्ध संचालित करते थे। स्वामी पर अत्यन्त प्रीति और श्रद्धा रखने वाले विशिष्ट वलवान और वास्तविक सूझ-बूझ वाले अनेक तलवर्गिक (कोटवाल) कार्यकर्त्ता वहाँ रहते थे। अनेक वृद्ध स्त्रियाँ भी रहती थी, जिन्होने विषयो का सर्वदा

* पृष्ठ ९

त्याग कर दिया था और जो मदोन्मत्त युवतियो को अ कुश में रखने मे समर्थ थी। विलास करती अनेक सुन्दर ललनाओ से वह राजमन्दिर देवलोक को भी अपने वैभव से पराजित कर रहा था। अनेक योद्धाओ द्वारा वह राजमन्दिर चारो ओर से सुरक्षित था। [१४८-१५१]

१०. इस राजमन्दिर में सुरीले कण्ठ वाले नानाविध राग-रागिनियो व सगीत कला के मर्मज्ञ गायक, वीणा, बाँसुरी आदि वाद्यो के साथ सुन्दर आलाप से मधुर राग गाकर कर्णेन्द्रिय को अनेक प्रकार से मधुरता प्रदान करते थे। चित्ताकर्षक सुन्दर अनेक प्रकार के चित्र वहाँ इस प्रकार सजाये गये थे कि जिन्हे देखकर आँखे तृप्त हो जाती और उन्हे एकटक देखते रहने का मन होता था। वहाँ चन्दन, अगर, कपूर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ अत्यधिक मात्रा मे विखरे हुए थे जिससे कि घ्राण (नासिका) को तृप्ति मिलती थी। कोमल वस्त्र, कोमल शैय्या और सुन्दर स्त्रियो के योग से भी लोगो की स्पर्शनेन्द्रिय (स्पर्श) प्रमुदित होती थी। मन पसन्द स्वादिष्ट उत्तम भोजन से वहाँ प्राणियो की जिह्वा सन्तुष्ट और तृप्त होती थी और उनका स्वास्थ्य उत्तम रहता था। [१५२-१५६]

राजमन्दिर-दर्शन से स्फुरणा

११ तात्त्विक दृष्टि से सब इन्द्रियो के निर्वाण (तृप्ति) का कारणभूत ऐसे अद्भुत राजमन्दिर को देखकर वह भिखारी आश्चर्य-चकित होकर सोचने लगा कि, यह क्या है ? अभी तक उन्मादग्रस्त होने से वह राजमन्दिर के तात्त्विक स्वरूप को पहचान नही सका, पर धीरे-धीरे-चेतना प्राप्त होने पर वह सोचने लगा कि, इस राजमन्दिर मे निरन्तर उत्सव होते रहते हैं, पर द्वारपाल की कृपा दृष्टि से आज ही मै इसे देखने मे समर्थ हो सका हूँ, जो आज से पहले मैं कभी नही देख सका था। मुझे याद आ रहा है कि, मै कई वार भटकते हुए इस राजमन्दिर के दरवाजे तक आया हूँ पर दरवाजे के निकट पहुँचते-पहुँचते तो ये महापापी द्वारपाल मुझे धक्के देकर वहाँ से भगा देते थे। जैसा मेरा नाम निष्पुण्यक है वैसा ही मै पुण्यहीन भी हूँ कि देवताओ को भी अलभ्य ऐसे सुन्दर राजमन्दिर को पहले न तो मै कभी देख सका और न कभी देखने का प्रयत्न ही किया। मेरी विचार शक्ति इतनी मोहग्रस्त और मन्द हो गई थी कि यह राजमन्दिर कैसा होगा ? इसको जानने की जिज्ञासा तक मेरे मन मे कभी भी उत्पन्न नही हुई। चित्त को आह्लादित करने वाले इस सुन्दर राजभवन को दिखाने की कृपा करने वाला यह द्वारपाल वास्तव मे मेरा वन्धु है। मै निर्भागी हूँ, फिर भी मुझ पर इसकी वडी कृपा है।* सब प्रकार के सक्लेश से रहित होकर, परिपूर्ण हर्ष से इस राजभवन मे रहकर जो लोग आनन्द भोग रहे है, वे वास्तव मे भाग्यशाली हैं। [१५७–१६४]

महाराजा सुस्थित का दृष्टिपात

१२ निष्पुण्यक दरिद्री को कुछ चेतना प्राप्त होने पर जब उसके मन मे उपर्युक्त विचार चल रहे थे, तभी वहाँ जो कुछ घटित हुआ, उसे आप सुने। इस

* पृष्ट १०

राजमन्दिर की सातवी मजिल पर सब से ऊपर के भवन मे लीला मे लीन सुस्थित नामक महाराजा विराजमान थे। महाराजा वही बैठे हुए आनन्द मे व्यस्त नगर वासियो की दिनचर्या का व कार्य-कलापो का तथा नगर का अवलोकन कर रहे थे। इस नगर या नगर के बाहर ऐसी कोई वस्तु, घटना या भाव नहीं था जिसे सातवी मजिल पर बैठे सुस्थित महाराज न देख सकते हो। अत्यन्त वीभत्स दिखाई देने वाले, अनेक भयकर रोगो से ग्रसित, सद्गृहस्थो के हृदय मे दया उत्पन्न करने वाले निष्पुण्यक दरिद्री पर, उसके मन्दिर मे प्रवेश करते समय ही उनकी निर्मल दृष्टि पड़ गई थी। महाराजा की करुणा से ओत-प्रोत निर्मल दृष्टि पड़ते ही उस दरिद्री के कितने ही पाप धुल गये थे। [१६५-१७०]

धर्मबोधकर की विचारणा

१३. सुस्थित महाराज ने अपने भोजनालय की देख-रेख के लिए धर्म-बोधकर नामक राज्य सेवक को नियुक्त कर रखा था। उसने जब देखा कि दरिद्री पर महाराज की कृपा दृष्टि हुई है, तो वह साश्चर्य आशय पूर्वक विचार करने लगा कि मै यह कैसी अद्भुत नवीन घटना देख रहा हूँ। जिस पर महाराज की विशेष रूप से दृष्टि पड़ जाती है, वह तो तुरन्त ही तीनो लोको का राजा हो जाता है। यह निष्पुण्यक तो भिखारी है, रक है, इसका पूरा शरीर रोगों से भरा हुआ है, लक्ष्मी के अयोग्य है, मूर्ख है और सम्पूर्ण जगत् के उद्वेग को उत्पन्न करने वाला है। अच्छी तरह से विचार करने पर भी यह कुछ समझ मे नही आता कि ऐसे दीन रक पर महाराज की कृपा दृष्टि क्यों कर हुई ? अरे हाँ, ठीक है, मै समझ गया कि स्वकर्मविवर नामक द्वारपाल ने इसे यहाँ प्रवेश करने दिया, यह महाराज ने अवश्य देख लिया है। यह स्वकर्मविवर द्वारपाल तो बहुत सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करके ही किसी प्राणी को भवन में प्रवेश करने देता है। दरिद्री को भी कुछ सोच-समझकर ही उसने इसे भवन मे प्रवेश दिया होगा। ऐसा लगता है कि राजा ने सम्यक् दृष्टि[1] पूर्वक इसे देखा है। इसके अतिरिक्त जिस प्राणी का इस राजभवन की ओर पक्षपात (प्रेम) उत्पन्न होता है, वह महाराज सुस्थित का प्रिय बन जाता है। यह दरिद्री जो आँखों की पीड़ा से निरन्तर परेशान था, वह अब भवन के दर्शन से अपनी आँखें अच्छी तरह से खोल रहा है। अभी तक इसका मुँह अत्यधिक वीभत्स दिखलाई दे रहा था, पर अब इस सुन्दर राजभवन के दर्शन से इसे जो प्रमोद उत्पन्न हुआ है, उससे कुछ अच्छा हो गया लगता है। इसके धूलि-धूसरित अंग कुछ स्वस्थ हुए है और इसे बार-बार रोमांच हो रहा है। इससे लगता है कि इसे इस राजभवन पर अवश्य ही अनुराग उत्पन्न हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि यह दरिद्री भिक्षुक का

---

१. सम्यक् दृष्टि—प्रेमपूर्ण दृष्टि, यह एक पारिभाषिक शब्द है। पुद्गल परावर्त के समय जब ग्रन्थिभेद होता है तब सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उस समय की स्थिति और योगबल को सम्यक् दृष्टि कहते हैं।

आकार अवश्य धारण किये हुए है, पर अभी-अभी महाराज की जो कृपा दृष्टि इस पर हुई है, इससे यह अवश्य ही वस्तुत्व[1] (राज्य और धन) को प्राप्त कर लेगा, धनाढ्य बन जायेगा।※ ऐसा सोचकर धर्मबोधकर के हृदय मे भी उस दरिद्री पर करुणा उत्पन्न हुई। लोक मे यह कहावत सत्य है कि 'जैसा राजा वैसी प्रजा'। अर्थात् राजा का जैसा व्यवहार किसी एक प्राणी पर होता है वैसा ही उस पर प्रजा का भी होता है। ऐसा सोचते हुए धर्मबोधकर शीघ्रता से उसके पास आया और उसके प्रति आदर प्रकट करते हुए कहा, 'आओ, आओ, मै तुम्हे भिक्षा देता हूँ।' उस समय कुछ शरारती बच्चे निष्पुण्यक को छेड़ने और पीडा देने के लिये उसके पीछे पडे हुए थे, वे सब धर्मबोधकर के शब्द सुनकर भाग गये। [१७१-१८५]

तद्दया द्वारा भिक्षादान

१४ फिर वह उसको प्रयत्नपूर्वक भिक्षुको के बैठने के योग्य स्थान पर ले गया और उसे योग्य दान देने के लिये अपने सेवको को आज्ञा दी। [१८६]

धर्मबोधकर के तद्दया[2] नाम की एक अति सुन्दर पुत्री थी। अपने पिता की आज्ञा को सुनकर वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और शीघ्र ही महाकल्याणक खीर (पक्वान्न) लेकर निष्पुण्यक को भोजन कराने उसके पास गई। यह महाकल्याणक खीर का भोजन सर्व व्याधियो का नाशक, शरीर की वर्ण (रूप) तेज, शक्ति और पुष्टि को बढाने वाला, सुगन्धित, रसदार और देवताओ को भी अप्राप्य एव दुर्लभ अत्यन्त मनोहर था। उस दरिद्री के विचार अभी भी बहुत तुच्छ थे। अभी भी उसके मन मे अनेक शकाएँ उठ रही थी। जब उसे भोजन के लिये बुलाया तो वह सोचने लगा—मुझे आगे होकर बुलाकर इतने आग्रहपूर्वक भिक्षा देने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है, यह बात किसी भी तरह ठीक नही लगती। इसमे अवश्य कुछ दाल मे काला है। मुझे लगता है कि भिक्षा देने के बहाने कही एकान्त मे ले-जाकर मेरा यह भिक्षा से भरा हुआ पात्र भी मुझ से छीन लेगे या तोड देगे। तब मै क्या करूँ? सहसा यहाँ से भाग जाऊँ या यही बैठकर भोजन कर लूँ या यह कह कर कि मुझे भिक्षा की कोई आवश्यकता नही है, यहाँ से चला जाऊँ। ऐसे अनेक सकल्प-विकल्पो से उसका भय बढ गया जिससे वह यह भी भूल गया कि, वह कहाँ आया है और कहाँ बैठा है? अपने भिक्षा पात्र पर उसे इतनी गाढ मूर्च्छा (अधिक मोह) हो गयी कि उसकी रक्षा के लिये वह रौद्रध्यान (दुर्ध्यान) मे निमग्न हो गया। इसी दुर्ध्यान मे उसकी दोनो आँखें बन्द हो गई। उसके मन पर विचारो का इतना प्रबल प्रभाव पडा कि उसकी सभी इन्द्रियो के कार्य थोडी देर के लिये बन्द हो गये और वह लकडी की भाँति चेतना-रहित और सख्त हो गया तथा

※ पृष्ठ ११

१. वस्तुत्व-धन, राज्य, सुख। वस्तुत्व अर्थात् सम्यक् बोध प्राप्त कर, अन्त मे अनन्त सुख प्राप्त करना।

२. तद्दया—सद्धर्माचार्य की वात्सल्य और करुणामयी दया पात्र।

उसकी सारी हलचल वन्द हो गई। तद्दया वहाँ खडी-खड़ी वार-वार उससे भोजन लेने का आग्रह करते-करते थक गई, परन्तु निष्पुण्यक ने उसकी ओर किंचित् ध्यान नहीं दिया। वह तो केवल अनेक रोगो को पैदा करने वाला अपने पास रखे हुए तुच्छ भोजन से बढकर अच्छा भोजन दुनिया मे है ही नही, कही मिल ही नही सकता, ऐसे विचारो मे इतना फँस गया कि तद्दया द्वारा लाये गये सर्वरोगहरी, अमृत के समान स्वादिष्ट पक्वान्न भोजन का मूल्य भी वह नही समझ सका। [१८७-१९८]

निरर्थक प्रयत्न

१५. ऐसी असभावित घटना घटते देख कर पाकशालाध्यक्ष धर्मबोधकर ने अपने मन मे सोचा—इस गरीब को प्रत्यक्ष सुन्दर खीर का भोजन देने पर भी न* तो वह उसे ले ही रहा है, न कोई उत्तर ही दे रहा है, इसका क्या कारण है ? उल्टा इसका मुँह सूख गया है, आँखें बंद हो गई है और इतना मोहग्रसित हो गया है कि मानो इसका सर्वस्व लुट गया हो। इस प्रकार यह लकड़ी के कीले (टुकडे) की तरह निश्चेष्ट हो गया है। इससे लगता है कि यह पापात्मा ऐसे कल्याणकारी खीर के भोजन योग्य नही है। दूसरी तरह सोचे तो इसमें इन बेचारे का कोई दोष नही है। यह बेचारा तो शरीर की आन्तरिक और बाह्य व्याधियों से इतना घिर गया है और उनकी पीडा से इतना सवेदना-शून्य हो गया है कि कुछ भी जानने समझने मे असमर्थ हो रहा है। यदि ऐसा न हो तो वह अपने तुच्छ भोजन पर इतनी प्रीति क्यो करे ? यदि उनमे थोड़ी भी समझ हो तो वह ऐसा अमृत भोजन क्यो नही ग्रहण करे ? [१९९-२०४]

तीन औषधियाँ :—१. विमलालोक अंजन

१६. तव यह नीरोग कैसे हो ? इसका मुझे उपाय करना चाहिये। अरे हाँ, ठीक है, इसको निरोग करने के लिये मेरे पास तीन सुन्दर औषधियाँ हैं। उसमे से प्रथम मेरे पास विमलालोक नामक सर्वश्रेष्ठ अंजन (सुरमा) है। वह आँख की सब प्रकार की व्याधियो को दूर करने मे समर्थ है। उसे बराबर विधि-पूर्वक आँख मे लगाने से सूक्ष्म व्यवहित (पर्दे के पीछे या दूर रहे हुये), भूत और भविष्य काल के सर्वभावो को देख सके, ऐसी सुन्दर आँखे बना सकता है। [२०५-२०७]

२. तत्व-प्रीतिकर जल

१७. दूसरा मेरे पास तत्त्वप्रीतिकर नामक श्रेष्ठ तीर्थजल है, वह सब रोगों को एकदम कम कर सकता है। विशेषतः शरीर में यदि किसी प्रकार का उन्माद हो तो उसका सर्वथा नाश करता है और पण्डित लोग कहते है कि सम्यक् प्रकार से देखने मे यह सबसे अधिक सहायता करता है। [२०८-२०९]

---

* पृष्ठ १२

३. महाकल्याणक भोजन

१८ तीसरा वह महाकल्याणक परमान्न नामक खीर है, जिसे तद्द्या लेकर यहाँ खड़ी है, जो सर्व व्याधियो को समूल नष्ट करने मे समर्थ है। इसका बराबर विधि पूर्वक सेवन करने से शरीर का रूप रग बढता है। वह पुष्टिकारक, धृतिकारक, बलवर्धक, चित्तानन्दकारी, पराक्रम बढाने वाला, युवावस्था को स्थिर रखने वाला, वीर्य मे वृद्धि करने वाला, और अजर-अमरत्व प्रदान करने वाला है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है। यह भोजन ही इतनी श्रेष्ठ औषधि है कि इससे श्रेष्ठ औषधि विश्व मे दूसरी हो ही नही सकती। अतः मै इस बेचारे का इन औषधियो से उपचार कर इसे व्याधियो से छुडाऊँ, इस प्रकार धर्मबोधकर ने अपने मन मे सोचा। [२१०–२१२]

अंजन का अद्भुत प्रभाव

१९. फिर उसने सलाई पर अजन (सुरमा) लगाया और वह निष्पुण्यक सिर धुनता रहा तब भी उसने उसकी आँखो मे सुरमा लगा ही दिया। वह सुरमा आनन्दायक, बहुत ठडा और अचिन्त्य गुणवाला था। अत उस भिखारी की आँखो मे लगाते ही उसकी चेतना वापस आ गई। परिणाम स्वरूप थोड़ी ही देर मे उसने अपनी आँखे खोली तो उसे ऐसा लगने लगा मानो उसके सब चक्षु रोग नष्ट हो गये हो। उसके मन मे थोड़ा आनन्द हुआ। उसे आश्चर्य हुआ कि यह क्या हो गया! इतना लाभ होने पर भी पूर्वकालीन सस्कारो के कारण उसका अपने भिक्षा पात्र को पकडे रखने का स्वभाव नही गया। अब भी भिक्षा पात्र की रक्षा का विचार उसके मन मे बार-बार उठता रहता था। यह एकान्त स्थान है, अत कोई उसका भिक्षा पात्र उठाकर न ले जाय, इस विचार से वह वहाँ से भागने के लिये रास्ता ढूँढने को चारो तरफ नजरे घुमा रहा था। [२१३–२१८]

जल का विलक्षण प्रभाव

२०. निष्पुण्यक को सुरमा लगाने से कुछ चेतना प्राप्त हुई देखकर धर्मबोधकर ने मीठे वचनो से उससे कहा—'भद्र! तेरे सब तापो (रोगो) को कम करने वाला यह पानी तो जरा पी,* यह पानी पीने से तेरा शरीर सम्यक् प्रकार से स्वस्थ हो जायेगा।' धर्मबोधकर जब उस भिखारी को इस प्रकार की प्रेरणा दे रहा था तब भी वह द्रमुक (निष्पुण्यक) शकाकुल होकर अपने मन मे सोच रहा था कि यह पानी पीने से क्या होगा? इसका क्या निश्चय? ऐसे विचारो से उस मुढात्मा ने पानी पीने की इच्छा नही की। धर्मबोधकर ने जब उसकी ऐसी दशा देखी तब हृदय मे अत्यधिक दयाभाव होने के कारण उसके हित के विचार से उसकी इच्छा के विरुद्ध भी, बलपूर्वक मुँह खोलकर उसने तत्व-प्रीतिकर नामक जल उसके मुँह मे डाल दिया। यह पानी अत्यन्त ठडा, अमृत के समान स्वादिष्ट,

---

* पृष्ठ १३

चित्ताह्लादकारी और सव सतापो को नष्ट करने वाला था। उसके पीने से वह पूर्णरूपेण स्वस्थ के समान हो गया। उसका उन्माद वहुत कम हो गया, उसके रोग कम हो गये और उसके शरीर की दाह पीडा (जलन) ठडी पड गई। उसकी सभी इन्द्रियाँ सतुष्ट हुई। इस प्रकार उसको अन्तरात्मा के स्वस्थ्य होने से उसकी विचार-शक्ति भी किंचित् शुद्ध हुई और वह सोचने लगा :— [२१६–२२५]

२१. 'ओह! इन अत्यन्त कृपालु महापुरुष को मैंने महामोह के वश होकर मूर्खता से पापी और ठग समझा था। इन महापुरुष ने मुझ पर वडी कृपा कर, मेरी आँखो पर सुरमे का प्रयोग कर मेरी आँखो को विल्कुल ठीक कर दिया जिससे मेरी दृष्टि-व्याधि दूर हो गई। फिर मुझे पानी पिलाकर स्वस्थ वना दिया। वास्तव मे इन्होंने मुझ पर वडा उपकार किया है। मैने इन पर क्या उपकार किया है? फिर भी इन्होने मेरा इतना उपकार किया है। यह इनकी महानता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। [२२६–२२८]

झूँठन पर मूर्च्छा

२२. ऐसे विचारों के रहते हुए भी अपने साथ लाये हुए झूँठन से प्राप्त तुच्छ भोजन पर उसका चित्त मडरा रहा था। उस झूँठन से उसकी मूर्च्छा (प्रगाढ प्रेम) दूर नही हो रही थी। उसकी दृष्टि उसी झूँठन पर वार-वार पड रही थी। उसे इस स्थिति मे देखकर और उसके मन के आशय को समझ कर धर्मवोधकर ने कहा—'अरे मूर्ख द्रमुक! तेरा यह कैसा विचित्र व्यवहार है! यह कन्या तुझे परमान्न (खीर) का भोजन दे रही है, क्या तू देखता नही। इस दुनियाँ मे पापो भिखारी तो वहुत होगे पर मै निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि तेरे जैसा निर्भागी तो शायद ही कोई दूसरा हो, क्योकि तू अपने तुच्छ भोजन पर इतना आसक्त है। मै ऐसा अमृतमय परमान्न भोजन तुझे दिलवा रहा हूँ फिर भी तू अपनी आकुलता को त्यागकर उसे नही लेता। तुझे एक दूसरी बात कहूँ, इस राजभवन के वाहर अनेक दुःखी प्राणी रहते है, पर उनको न तो इस भवन को देखकर आनन्द हुआ और न उन पर हमारे महाराज की कृपा दृष्टि ही हुई, जिससे हमारा उनके प्रति आदर-भाव रहता, हम उनसे बात भी नही करते। पर तुझे तो इस राजभवन को देखकर प्रसन्नता हुई और हमारे महाराज की तुझ पर कृपा दृष्टि हुई इसीलिये हम तेरा इतना आदर कर रहे हैं। अपने स्वामी को जो प्रिय हो, वही प्रिय कार्य स्वामी-भक्त सेवक को करना चाहिये। इसी न्याय (विचार) से हम तुझ पर विशेष दयालु है।* हमें यह पूर्ण विश्वास था कि हमारे राजा योग्य पात्र (व्यक्ति) पर ही अपनी कृपा दृष्टि डालते है, कोई मूढ उनके लक्ष्य में नही आता। यह विश्वास भी आज तूने गलत सिद्ध कर दिया है। तेरे अत्यन्त तुच्छ भोजन पर तेरा मन चिपका हुआ है, जिससे तू इतना सुन्दर अमृतमय भोजन भी नही लेता। यह भोजन सर्वरोग नाशक, मधुर और स्वादिष्ट है, इसे तू किसलिये नही ले रहा है? अरे दुर्बुद्धि

* पृष्ठ १८

द्रमुक ! अपने पास के इस कुभोजन का त्याग कर और विशेषरूप से इस सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण कर, जिसके प्रताप से इस राजभवन मे रहने वाले प्राणी आनन्द कर रहे है। इसके माहात्म्य को तू देख।' [२२९–२३९]

२३ धर्मबोधकर के उपर्युक्त वचन सुनकर उसे कुछ विश्वास हुआ और मन मे कुछ निश्चय भी हुआ कि यह पुरुष मेरा हित करने वाला है, फिर भी वह अपने पास के भोजन का त्याग करने की बात से विह्वल हो गया। अन्त मे उसने दीन वचनो से कहा—'आपने जो बात कही उसे मै पूर्णतया सच मानता हूँ, पर मुझे आपसे एक प्रार्थना करनी है, वह आप सुने। हे नाथ! मेरे इस मिट्टी के पात्र (भिक्षा पात्र) मे जो भोजन है वह मुझे स्वभाव वश प्राणो से भी अधिक प्यारा है। इसे मैंने बहुत परिश्रम से प्राप्त किया है और भविष्य मे इससे मेरा निर्वाह होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। फिर आपका भोजन कैसा है ? इसे मैं वास्तव मे नही जानता। अत. मै अपना भोजन किसी भी अवस्था मे छोडना नही चाहता। महाराज ! यदि आपको अपना भोजन भी मुझे देने की इच्छा हो तो मेरा भोजन मेरे पास रहने दे और आप अपना प्रदान करें। [२४०-२४४]

विश्वास हेतु दृढ़ प्रयत्न—

२४ उसके ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर मन मे सोचने लगा—'अहो ! अचिन्त्य शक्ति वाले महामोह की चेष्टा को देखो। यह बेचारा द्रमुक सब रोगो का घर, इस तुच्छ भोजन मे इतना आसक्त है कि उसकी तुलना मे मेरे उत्तम भोजन को भी तृण के समान हेय समझता है। फिर भी यथाशक्ति इस बेचारे गरीब को पुन. शिक्षा देनी चाहिये। शायद इससे उसका मोह टूटे या कम हो और इस बेचारे का हित हो सके।' इस प्रकार सोचकर धर्मबोधकर ने भिखारी से कहा—'अरे भाई ! क्या तू यह भी नही समझता कि तेरे शरीर मे जो ये अनेको रोग हैं, उनका कारण यह तुच्छ भोजन ही है। तेरे पास जो तुच्छ भोजन है, यदि तू उसे अधिक मात्रा मे खायेगा तो तेरे सब रोग बढ जायेगे, अत अच्छी बुद्धि वाले प्राणी को इसका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये। हे भद्र ! तुझे सभी प्रत्येक वस्तु उल्टी दिखाई देती है, इसलिये तू ऐसा मानता है। पर जब तू मेरे भोजन का तत्त्वत: एक बार स्वाद लेगा तब तेरा ऐसा सोचना स्वत: ही बन्द हो जायेगा और तुझे रोकने पर भी तू अपने आप इस कुभोजन का त्याग कर देगा। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अमृत का पान करने के बाद जहर पीने की इच्छा करेगा ? फिर मै तुझसे पूछता हूँ कि क्या तूने अभी मेरे सुरमे की शक्ति और पानी की महिमा नही देखी ? क्या फिर भी तुझे मेरे वचन पर विश्वास नही है ? तू कहता है कि यह भोजन तूने बहुत परिश्रम से प्राप्त किया है,❀ अत तू इसका त्याग नही कर सकता। इसके सम्बन्ध मे मैं तुझे अभी विस्तार से बतलाता हूँ, जिसे तू मोह त्यागकर ध्यान से सुन। तुझे इसको प्राप्त करने में (क्लेश) कष्ट हुआ। सेवन से कितना क्लेश हो रहा है और भविष्य मे भी इससे अनेक प्रकार के क्लेश पैदा होगे, इसलिये इसका त्याग करना ही उचित है। तूने कहा कि 'भविष्य मे इससे तेरा निर्वाह होगा, इसलिये इसे

❀ पृष्ठ १५

नहीं छोड़ सकता।' इस विपरीत मति को छोड़कर तू मेरी बात सुन। भविष्य मे यह भोजन तेरे अनेक दु.खों को परम्परा का निर्वाह (पोषण) करेगा और तुझे अनेक दु खो मे पटक देगा। दु.ख मे डूबा हुआ तू क्या इस भोजन को रक्षा कर सकेगा ? नही। तेरा यह कहना कि मेरा यह स्वादिष्ट भोजन कैसा होगा ? इसका तुझे विश्वास नही है। इसका समाधान भी मै करता हू ँ तू उसे विश्वास-पूर्वक ध्यान से सुन। तुझे क्लेश न हो और जितनी तेरी इच्छा हो इस प्रकार थोड़-थोडा यह पर-मान्न स्वादिष्ट भोजन तुझे दिया करूँगा। अत तू मिथ्या भ्रम का त्याग कर और इस परमान्न को ग्रहण कर। यह सुन्दर भोजन तेरी सभी व्याधियो (दर्दों) को समूल (जड से) दूर करेगा, तेरे शरीर और मन को सन्तोष देगा, पुष्ट करेगा, रग-रूप सुन्दर करेगा और वीर्य मे वृद्धि करेगा। इस भोजन का भलो प्रकार सेवन करने से अनन्त आनन्द से परिपूर्ण होकर अक्षय स्थिति को प्राप्त कर; जिस प्रकार हमारे महाराज सुस्थित सुख मे रमण करते हैं, उसी प्रकार तू भी हो जायेगा। अतः हे भद्र ! अपने दुराग्रह को छोड। तेरा भोजन जो अनेक रोगों का कारण है उसका त्याग कर और इस परम औषध स्वरूप महाआनद के कारण स्वरूप स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण कर एव उसका उपभोग कर।' [२४५-२६१]

शर्त के साथ भोजन-दान

२५. धर्मबोधकर के इस वक्तव्य को सुनकर निष्पुण्यक ने कहा—'भट्टारक महाराज ! मुझे अपने भोजन पर इतना स्नेह है कि उसके त्याग की कल्पना मात्र से मैं पागल होकर मर जाऊँगा, ऐसा मुझे लग रहा है। अत हे महाराज ! यह मेरा भोजन आप मेरे पास रहने दें और अपना भोजन आप मुझे प्रदान करें', उसका ऐसा अत्यन्त आग्रह देखकर धर्मबोधकर ने मन मे सोचा—इस बेचारे को समझाने का अभी तो बाधारहित कोई दूसरा उपाय नहीं है, अतः वह अपना कुत्सित भोजन भले ही अपने पास रखे, अपना यह भोजन तो इसे देना ही चाहिये। जब उसे इस स्वादिष्ट भोजन का रस लगेगा तब अपने आप ही वह उस कुभोजन का त्याग कर देगा। इस प्रकार सोचकर धर्मबोधकर ने कहा—'भद्र ! तेरा भोजन तेरे पास रहने दे और हमारा यह परमान्न भोजन ग्रहण कर तथा उसका उपभोग कर।' दरिद्री ने कहा—'ठीक है, मै ऐसा करूँगा।' उसका ऐसा उत्तर सुनकर धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को सकेत किया और उसने द्रमक को भोजन दिया। दरिद्री ने तुरन्त उस भोजन को ग्रहण किया और वहीं बैठे-बैठे उसे खाया। इस भोजन से उसकी भूख शान्त हुई और उसके शरीर के प्रत्येक अंग-अंग मे जो रोग थे वे प्रचुर मात्रा मे कम हुये। पहले आँख मे सुरमे के प्रयोग से और फिर पानी पीने से उसे जो सुख प्राप्त हुआ था, उससे अनन्त गुणा सुख इस सुन्दर भोजन के करने से प्राप्त हुआ और उसके हृदय मे अतीव प्रसन्नता हुई। ऐसा होने पर उस दरिद्री को धर्मबोधकर पर प्रीति एव भक्ति उत्पन्न हुई और वह हर्षित होकर बोला, 'मै भाग्यहीन हूँ, सब

प्राणियों में अधम हूँ और आप पर मैने किसी प्रकार का उपकार नही किया, फिर भी आप मुझ पर इतनी अनुकम्पा (दया) दिखा रहे है, अतः हे प्रभो ! आपके सिवाय दूसरा कोई भी मेरा नाथ नही है।' [२६१-२७०]

औषध सेवन का उपदेश

२६. *इसके इस कथन पर धर्मबोधकर ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो थोडी देर यहाँ बैठकर जो मै कहता हूँ उसे सुनो और उस पर तदनुसार आचरण करो।' विश्वास के साथ दरिद्री के वहाँ बैठने पर, उसका हित करने की इच्छा से उसके मन को आनन्दित करने वाले सुन्दर मृदु शब्दो मे धर्मबोधकर बोले—'तूने कहा कि मेरा आपके सिवाय कोई दूसरा नाथ नही है, पर तुझे ऐसा नहीं बोलना चाहिये, क्योकि राजाओ मे श्रेष्ठतम राजाधिराज सुस्थित तेरे स्वामी है, महाराज जगम और स्थावर (चल-अचल) सब प्राणियो और पदार्थो के स्वामी है, उसमे भी इस राजभवन मे रहने वाले प्राणियों के तो वे विशेष रूप से नाथ है। जो भाग्यशाली प्राणी इन महाराज का दासत्व स्वीकार करते है, उनके इस भवन निवासी सभी प्राणी अल्पकाल मे ही दास बन जाते है। जो प्राणी अत्यन्त पापी होते है और भविष्य मे भी जिनका उत्थान होना सम्भव नही, वे बेचारे तो इन महाराज का नाम भी नही जानते। जो भावि-भद्र महात्मा इस राजभवन मे दिखाई देते हैं, उन्हे पहले तो स्वकर्मविवर द्वारपाल प्रवेश करवाता है, फिर बिना किसी शका के वे वस्तुत. इन्हें महाराज के रूप मे स्वीकार करते है। अन्दर प्रवेश करने के बाद कुछ मुग्ध (मोह के वशीभूत) होते हैं, उन्हे जब मै सब बात समझाता हूँ, तब वे समझते है। इस प्रकार हे भद्र! तेरे सद्भाग्य से जब से इस विशाल राजभवन मे तेरा प्रवेश हुआ है, तब से महाराज सुस्थित ही तेरे स्वामी है। अब तू मेरे कथनानुसार जहाँ तक तू जीवित रहे तब तक शुद्ध चित्त से इन महाराज को अपना स्वामी स्वीकार कर। जैसे-जैसे तू उनके गुणो का उपभोग करता जायेगा, वैसे-वैसे तेरे शरीर मे पैदा हुये अनेक रोग धीरे-धीरे शमित होते जायेगे। तुझे जो रोग हो रहे है, उनके शमन का और समूल नाश करने का उपाय यही है कि तू श्रद्धापूर्वक तीनों औषधियों का बार-बार प्रयोग कर। इसलिए हे सौम्य! सब प्रकार के संशयों को छोडकर इस राजभवन मे सुख से रह। प्रत्येक समय बार-बार अंजन, पानी और भोजन का उपभोग करता रह। इस प्रकार इन तीनो औषधियो का बार-बार उपयोग करने से तेरे सभी रोग समूल नष्ट होगे और इन महाराज की विशेष सेवा करते-करते अन्त मे एक दिन तू स्वय नृपोत्तम (महाराज) बन जायेगा। यह तद्या तुझे प्रतिदिन ये तीनो औषधियाँ देती रहेगी। अब मुझे अधिक कुछ नही कहना है, पर तुझे फिर याद दिलाता हूँ कि तू इन तीनो औषधियो का बार-बार निरन्तर उपयोग करते रहना।' [२७१–२८५]

---

* पृष्ठ १६

दरिद्री का आग्रह

२७. धर्मबोधकर की उपर्युक्त मधुर बाते सुनकर निष्पुण्यक का हृदय आह्लाद से भर गया और उनकी बात को स्वीकार करते हुये भी वह कुछ सोचकर बोला—'स्वामिन् ! आपने इतनी बात कही तो भी मै अभी भी अपने तुच्छ भोजन रूपी पाश को छोड़ नही सकता। इसके अतिरिक्त मुझ से जो भी कर्त्तव्य कराना हो उसे आप कहिये।' [२८६-२८७]

निष्पुण्यक को उपदेश

२८. दरिद्री के ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर सोचने लगा—*इसे तो मैने तीनों औषधियो का उपयोग करने की बात कही, तो उसके उत्तर मे यह क्या कहने लग गया ? अरे, हाँ, अब समझा, अभी तक इसके मन मे ऐसा ही विचार चल रहा है कि मै अभी उसके साथ जो बातचीत कर रहा हूँ, उसका उद्देश्य किसी भी तरह उस से कुभोजन का त्याग करवाने का ही है। ऐसा विचार वह तुच्छता-वश कर रहा है। सच कहा है '—'क्लिष्ट (मलिन) चित्त वाले प्राणी सम्पूर्ण जगत् को दुष्ट मानते हैं और शुद्ध विचार वाले प्राणी सम्पूर्ण ससार को पवित्र मानते है।' दरिद्री को अपने प्रयत्न का गलत अर्थ लगाते देखकर धर्मबोधकर तनिक मुस्कराये और बोले—भद्र ! तू तनिक भी मत घबरा। मै तेरे पास से अभी तेरा तुच्छ भोजन नही छुडाता। तू विना डरे अपने भोजन का उपयोग कर सकता है। मैने पहले जो तुझे कुभोजन का त्याग करने को कहा था, वह तो मात्र तेरे हित के लिये कहा था, पर जब तुझे यह बात रुचिकर नहीं है तो मै अब इस सम्बन्ध मे चुप रहूँगा। पर तुझे क्या करना चाहिये, इस प्रसंग में अभी मैने जो उपदेश दिया और महाराज का गुणगान किया, उसमे से तूने अपने हृदय मे कुछ धारण किया, या नही ?" [२८८-२९३]

निष्पुण्यक की स्वीकारोक्ति

२९. दरिद्री ने कहा—'हे स्वामिन् ! आपने जो कुछ भी कहा उसमे से कोई भी बात मेरे ध्यान में नही रही। आपके कर्णप्रिय मधुर भाषण को सुनकर मै केवल अपने मन मे प्रसन्न हो रहा था। सज्जनो की वाणी का परमार्थ (आशय) समझ में न आये तो भी वह वाणी स्वत· ही अति सुन्दर होने से मनुष्यो के चित्त को प्रसन्न करती है। दूसरे, जब आप बोल रहे थे तब मेरी आँखे आपके सामने थी, पर मेरा चित्त कही ओर भटक रहा था, जिससे आप जो कुछ कह रहे थे वह एक कान मे प्रवेश कर दूसरे कान से निकल जाता था। हे स्वामी ! उस समय मेरे मन की ऐसी विषम स्थिति का एक कारण था उस, समय मुझे जो भय था उसका अब नाश हो गया। अतः उस समय मेरे मन की ऐसी स्थिति क्यो हुई, उसका कारण बताने मे अब मुझे कोई आपत्ति नही है। मेरे मन की चचल स्थिति का कारण आप सुने—आपने मुझ

* पृष्ठ १७

पर अत्यन्त करुणा कर जब मुझे भोजन देने के लिये बुलाया तब मेरे मन मे ऐसा विचार आया कि यह मनुष्य भोजन देने के बहाने से मुझे किसी स्थान पर ले-जाकर मेरा भोजन छीन लेगा। ऐसे विचारो के वशीभूत होने के कारण मेरा चित्त घबरा गया था। उसके बाद आपने प्रेम पूर्वक मेरी आँख मे सुरमा लगाकर जब मुझे जागृत किया और मेरी घबराहट कुछ कम हुई तब ऐसा विचार करने लगा कि मै जल्दी यहाँ से भाग जाऊँ। उसके बाद आपने जल पिलाकर जब मेरे शरीर को शान्ति प्रदान की और मेरे साथ बातचीत की तब मझे आप पर कुछ विश्वास हुआ। उस समय मैने विचार किया कि, जो प्राणी मेरा इतना उपकार करता है और जिसके पास इतनी बडी विभूति (ऐश्वर्य) है, वह मेरा अन्न चुराने वाला कैसे हो सकता है? फिर आपने कहा कि अपने इस (कुत्सित) भोजन का त्याग कर और इस (स्वादिष्ट भोजन) को ग्रहण कर, तब फिर मेरा मन डाँवाडोल हो गया और विचार करने लगा कि, यह स्वय तो मेरा भोजन लेना नही चाहता, किन्तु मुझ से इसका त्याग करवाना चाहता है। पर मेरे से तो उसका त्याग हो नही सकता, तब मैं क्या उत्तर दूँ अन्त मे मैने कहा कि, मेरा भोजन मेरे पास रहने दे और आप अपना भोजन मुझे दे। आपने यह स्वीकार किया और मुझे भोजन दिलवाया। जब मैने उसका स्वाद चखा तब मुझे मालूम हुआ कि आप मुझ पर अत्यन्त स्नेहशील हैं। फिर मझे विचार आया कि यदि मैं आपके कहने से अपने भोजन का त्याग कर दूँगा तो* उस भोजन के प्रति मूर्च्छा (आसक्ति) के वशीभूत आकुल-व्याकुल होकर (पागल होकर) मर जाऊँगा। मेरे हित को ध्यान मे रखकर ये जो कुछ कह रहे हैं, तत्त्वत वह सच्ची बात है किन्तु मैं इसका त्याग नही कर सकता। अरे! यह तो मेरे ऊपर धर्म-सकट आ पडा। उस समय ऐसे संकल्प-विकल्प मेरे मन मे चल रहे थे जिससे आप जो कह रहे थे, वह चिकने घडे पर गिरे पानी की तरह बह गया। आपने जब मेरी बात मान कर कहा कि, अब मैं तुझे इस कुभोजन का त्याग करने के लिये नही कहूँगा तब मै कुछ स्वस्थ हुआ। आपके कहने का आशय मैं समझ सका। मेरा चित्त ऐसा अस्थिर है और मै बहुत पापी हूँ। अत हे नाथ! मुझे अब क्या करना चाहिये, वह आप मुझे फिर से कहें जिससे कि मैं उसे अपने चित्त मे धारण कर सकूँ। [२९४–३१०]

औषध सेवन के योग्य अधिकारी के लक्षण

३०. निष्पुण्यक से सब वृत्तान्त सुनकर दया के सागर धर्मबोधकर ने जो बात पहले समझाई थी वही फिर से विस्तार पूर्वक कही। उसके बाद यह समझ कर कि वह विमलालोक अजन, तत्त्व प्रीतिकर जल, महाकल्याणक भोजन, सुस्थित महाराज और उनके विशिष्ट गुणो से अनभिज्ञ है, वे बोले—'भाई! मुझे महाराज ने पहले ही आज्ञा दे रखी है कि उनकी ये तीनो औषधियाँ मैं योग्य पुरुष को ही प्रदान करूँ। यदि ये तीनों औषधियाँ किसी अयोग्य व्यक्ति को दी गई तो वे उपकार

* पृष्ठ १९

के बदले उल्टी अनर्थकारी हो जायेगी। महाराजा की उपर्युक्त आज्ञा सुनकर मैंने पूछा कि 'कोई व्यक्ति योग्य है या नहीं, इसे किस प्रकार पहचाना जाय ? उनके उत्तर में महाराजाधिराज ने इन औषधियों के योग्य प्राणी के लक्षण इस प्रकार बताये।

जो प्राणी इन औषधियों को लेने योग्य अभी तक नहीं बने हैं, उन्हें स्वकर्म-विवर द्वारपाल इस राजभवन में प्रवेश ही नहीं करने देता। मैंने स्वकर्मविवर द्वारपाल को आज्ञा दे रखी है कि जो प्राणी इन तीनों औषधियों को ग्रहण करने की योग्यता रखता हो उसी को राजभवन में प्रवेश करने दे और जो अयोग्य हो उनको भीतर नहीं आने दे। फिर भी कोई व्यक्ति इस राजभवन में प्रवेश कर गया हो पर जिसे इस भवन को देखकर आनन्द प्राप्त नहीं होता, और जिस पर मेरी कृपा दृष्टि नहीं पड़ती, ऐसे व्यक्ति को किसी दूसरे द्वारपाल ने भूल से प्रवेश करा दिया है, ऐसा तुझे उसके लक्षणों से समझ लेना चाहिये और ऐसे व्यक्ति का प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये। अर्थात् उनको पुनः बाहर निकाल देना चाहिये। जो मेरे भवन को देखकर हर्षित होते हैं, आत्मा विकसित (प्रमुदित) होती है ऐसे भावी-भद्र (भविष्य में अच्छे होने वाले) रोगियों पर मेरी विशेष कृपा दृष्टि होती है। स्वकर्मविवर ने जिस प्राणी को भवन में प्रवेश कराया हो और जिस पर मेरी कृपा दृष्टि पड़ी हो, वह इन तीनों औषधियों के योग्य है, ऐसा समझना चाहिये। ये तीनों औषधियाँ उस प्राणी की कसौटी (परीक्षक) हैं। इनके प्रयोग से उस प्राणी पर इन औषधियों का कैसा गुण (प्रभाव) होता है, यह जानकर ही निश्चय करे कि यह प्राणी भवन में रखने योग्य है या नहीं ?* जिनके मन में इन औषधियों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और इनका प्रयोग जिनको बिना किसी प्रयास के गुणकारी हो, उन्हें सुसाध्य रोगी समझना चाहिये। जो प्रारम्भ में औषधि का सेवन न करे, पर बल या प्रयास पूर्वक समझाने से जो कालक्षेप के साथ धीरे-धीरे औषधियों का सेवन करे, उन्हें कष्ट साध्य रोगी समझना चाहिये और जिनकी औषधि पर थोड़ा भी विश्वास न हो, जो औषधियाँ देने का प्रबन्ध करने पर भी न ले तथा औषधियाँ देने वाले के प्रति द्वेष करें, उन्हें असाध्य रोगी और नराधम समझना चाहिये। [३११-३२५]

इस प्रकार हमारे महाराजा ने सम्प्रदाय (पहले) से ही हमें कह रखा है, उसके अनुसार तू कृच्छ (कष्ट) साध्य रोगी है। ऐसा तेरे लक्षणों से भी स्पष्ट है। तुझे दूसरी एक और बात कहता हूँ, सुन। मेरी यह उपचार करने की पद्धति अनन्त शक्ति से भरपूर और सब व्याधियों का नाश करने वाली है, फिर भी जो प्राणी हमारे महाराज को जीवन पर्यन्त भाव पूर्वक राजा स्वीकार करते हैं और इस सम्बन्ध में अपने मन में किसी प्रकार की शंका नहीं रखते, उन्हें ही ये औषधियाँ लाभकारी होती हैं। अतः तू शुद्ध मानस से हमारे महाराज को अपना स्वामी स्वीकार कर, क्योंकि महापुरुष भाव और भक्ति से ही अपने बनाये जा सकते हैं। भूतकाल में भी अनन्त प्राणियों ने महाराज को भक्ति पूर्वक अपना स्वामी स्वीकार कर, आनन्दित

* पृष्ठ १६

और रोग रहित होकर अपना कार्य सिद्ध किया है। तेरे रोग बहुत कठिन है, तेरा मन अभी भी अपथ्यकारी कुभोजन पर चिपक रहा है, इससे मुझे लगता है कि तेरे लिये असाधारण प्रयत्न किये बिना तेरी व्याधियो का नाश नहीं हो सकेगा। अत हे वत्स सावधान होकर यत्न पूर्वक अपना चित्त स्थिर कर, इस विशाल राजभवन में प्रसन्नता पूर्वक रह। मेरी यह पुत्री तुझे बार-बार तीनो औषधियाँ देती रहेगी। तू उनका सेवन कर और अपनी आत्मा को आरोग्य (स्वस्थ) कर।

धर्मबोधकर ने जो बात विस्तार पूर्वक कही वह द्रमुक ने स्वीकार की और धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को उसकी परिचारिका बना दिया। द्रमुक ने अपना भिक्षापात्र सदा के लिये एक जगह पर रख दिया और उसकी रक्षा करते हुए उसका कुछ समय इस स्थिति में व्यतीत हुआ। [३२६–३३५]

औषध सेवन के लाभ और अपथ्य भोजन से हानि

३१. तद्दया रात-दिन उसे तीनो औषधियाँ देती रही पर द्रमुक को अभी भी अपने कुभोजन पर अत्यधिक आसक्ति रहने से उसे औषधियो पर पूर्ण विश्वास नही हो पाया। मोहवश वह अपने पास का कुभोजन अधिक खा लेता और तद्दया द्वारा दिया हुआ भोजन बहुत ही कम खाता। तद्दया जब उसे कहती तब वह कभी-कभी थोडा सुरमा आँख मे डालता और बार-बार प्रेरित करने पर थोडा-सा तीर्थ जल पीता। तद्दया विश्वास पूर्वक उसे महाकल्याणक भोजन प्रचुर मात्रा मे देती, *पर वह थोड़ा खाकर बाकी अपने भिक्षापात्र मे डाल देता। उसके तुच्छ भोजन के साथ इस सुन्दर भोजन की मिलावट हो जाने से वह उच्छिष्ट भोजन निरन्तर बढता रहता और रात-दिन खाने पर भी वह समाप्त नही होता। अपने भोजन मे इस प्रकार वृद्धि होते देखकर वह अत्यधिक प्रसन्न होता, पर किसके प्रताप से और किस कारण से उसके भोजन मे वृद्धि हो रही है, इस बात पर वह कभी विचार नही करता। केवल अपने भोजन मे आसक्त वह निष्पुण्यक तीनो औषधियो के प्रति निरन्तर कम रुचि वाला होने लगा और स्वय सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी बनकर सासारिक मोह मे अपना समय व्यतीत करने लगा। अपना अपथ्यकारी तुच्छ भोजन रात-दिन खाने से उसका शरीर तो अवश्य हृष्ट-पुष्ट हुआ पर तीनो औषधियो का अरुचि से कभी-कभी थोडा-थोडा सेवन करने से, उसकी व्याधियो का समूल नाश नही हुआ। महाकल्याणक भोजन वह बहुत थोडा ले रहा था और सुरमे तथा जल का प्रयोग भी यदा-कदा करता था, फिर भी उसे प्रचुर लाभ तो हुआ, और उसकी व्याधियाँ भी कम हुई, पर वस्तुस्वरूप का पूर्ण भान न होने से और अपथ्य भोजन का अधिक सेवन करने से, उसके शरीर पर कुभोजन के विकार स्पष्टत दिखाई देते थे। अपथ्य भोजन के विशेष उपभोग से कई बार उसे उदरशूल होता, कई बार शरीर में दाह ज्वर होता, कभी मूर्च्छा (घबराहट) आ जाती, कभी ज्वर आ जाता, कभी सर्दी-जुकाम हो जाता, कई बार जड (सज्ञाहीन) हो जाता, कई बार,

---

* पृष्ठ २०

छाती और प्रसलियो मे दर्द होता, कई बार उन्मादित-सा--(पागल)-हो जाता और कई बार पथ्य भोजन पर अरुचि हो जाती। इस प्रकार ये सब रोग उसके शरीर में विकार उत्पन्न कर उसे कई बार त्रास देते थे। [३३६-३४७]

तद्दया द्वारा उद्बोधन

३२ इस प्रकार व्याधियो एव पीडाओ से घिरे हुए और रोते हुए निष्पुण्यक को एक बार कृपामयी तद्दया ने देखकर विचार किया और कहा—'भाई ! पिताजी ने पहले से ही तुझे कहा है कि तेरे शरीर मे ये जो व्याधियाँ है वे कुभोजन पर तेरी प्रीति के कारण ही है। हम तुम्हारी सब वास्तविकता को देख समझ रहे है, पर तुम्हे आकुलता न हो इसलिये हम तुम्हे कुत्सित भोजन को खाने से नही रोकते। इन तीनो औषधियों के, जो महान् शान्ति प्रदाता है, सेवन मे तेरी शिथिलता है और सब प्रकार के सन्ताप को पैदा करने वाले इस कुभोजन पर तेरी रुचि है। इस समय तू पीडा से छटपटाता हुआ रुदन कर रहा है पर तुझे शान्ति प्रदान कर सके, ऐसा कोई कारण वर्तमान मे तो विद्यमान नही है -जिसे अपथ्य पर अत्यन्त आसक्ति होती है, उसे औषधि नही लग सकती। मै तेरी परिचारिका हूँ इस कारण मुझ पर भी अपवाद (उपालम्भ) आता है। मै तुझे इतना समझाती हूँ, फिर भी तुझे स्वस्थ करने की आभा तो मेरे मे शक्ति नही है।' [३४८-३५३]

तद्दया की उपर्युक्त बात सुनकर निष्पुण्यक ने कहा, 'यदि ऐसा ही है तो अब से आप मुझे तुच्छ भोजन का उपयोग करने से बार-बार रोके। क्योकि यह भोजन करने की मुझे इतनी अधिक इच्छा रहती है कि स्वय त्याग करने का उत्साह मुझ मे आ सके, ऐसा, मुझे नही लगता। आपके प्रभाव से इस कुभोजन का थोडा-थोडा त्याग करते हुए इसका पूर्ण त्याग करने की शक्ति मुझ मे पैदा होगी।' यह सुनकर तद्दया ने तुरन्त कहा—'साधु ! साधु !! तेरे जैसे व्यक्ति को इस प्रकार करना ही चाहिये।' इस बातचीत के बाद वह उसे कुभोजन का सेवन करने पर बार-बार टोकती रही। इस प्रकार बार-बार टोकने से वह कुभोजन थोडा-थोड़ा त्याग भी करने लगा,* जिससे उसकी व्याधियाँ कम होने लगी। जो विशेष पीड़ा होती थी वह बद होने लगी और औषधियो का शरीर पर प्रभाव होने लगा। जब तद्दया पास मे होती तो निष्पुण्यक अधिक मात्रा मे सुभोजन और अल्पमात्रा मे कुभोजन करता। इससे उसकी व्याधियाँ कम होने लगी, परन्तु जब वह थोडी दूर चली जाती तब अपथ्य भोजन पर अब भी उसकी आसक्ति अधिक होने के कारण उसका सेवन करने लग जाता और औषधियो का सेवन थोड़ा भी नही करता, जिससे फिर से अजीर्ण आदि विकार उत्पन्न हो जाते। [३५४-३५६]

धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को सम्पूर्ण लोक (पूरे भवन) की देख-रेख के लिये पहले से ही नियुक्त कर रखा था, अत- उसे तो अनन्त प्राणिगणों की सार-सम्भाल के काम मे व्यस्त रहना पड़ता था, जिससे वह निष्पुण्यक के पास तो कभी-कभी ही आ पाती थी। बाकी पूरे समय तो वह अकेला ही रहता था। ऐसे

*पृष्ठ २१

समय मे अपथ्य भोजन करने से उसे कोई टोकता नही था, जिससे उसके व्याधि-विकार फिर से प्रकट होने लगे थे और वह फिर जैसा का तैसा हो जाता था। 'वही खड्डा और वही मेढा वाला उक्ति उस पर चरितार्थ हो रही थी। [३६०–३६२]

सद्बुद्धि की नियुक्ति

३३ एक समय धर्मबोधकर उसे इस प्रकार व्याधियो से पीडित होते हुए देखा और उससे अब भी इस प्रकार पीड़ित रहने का कारण पूछा। इसके उत्तर मे निष्पुण्यक ने अपनी सारी वास्तविकता बताते हुए कहा—महाशय ! आपकी पुत्री तद्दया मेरे पास सर्वदा नही रह सकती, फलतः उसकी अनुपस्थिति मे मेरी व्याधियाँ अधिक बढ़ जाती है। अतः प्रभो ! आप मेरे लिये कुछ ऐसी व्यवस्था कीजिये कि फिर मुझे स्वप्न में भी पीड़ा न हो। [३६३–३६५]

धर्मबोधकर ने कहा–'भाई ! तेरे शरीर मे बार-बार पीडा होने का कारण तेरा अपथ्य सेवन है। तद्दया को तो बहुत से काम सौपे हुए है, इसलिये वह तो पूरे समय एक या दूसरे काम मे व्यस्त रहती है, अत तुझे अपथ्य सेवन से बार-बार रोक सके, ऐसी कोई स्त्री हो तो तेरी परिचारिका नियुक्त करूँ। तू अभी तक यह नही जान पाया है कि तेरा आत्महित किस मे है ? तू पथ्य भोजन से दूर भागता रहता है और अपने अपथ्य भोजन को करने मे सर्वदा प्रयत्नशील रहता है, फिर मै तेरे बारे मे क्या करूँ ? धर्मबोधकर के ऐसे वचन सुनकर निष्पुण्यक ने कहा–'प्रभो आप ऐसा न कहे। अब से मैं आपकी आज्ञा का कभी उल्लघन नही करूँगा, आपकी आज्ञा का बराबर पालन करूँगा।' [३६६–३६९]

निष्पुण्यक का कैसे भला हो, इस विचार मे परार्थ-हित मे उद्यत मानस वाले धर्मबोधकर थोडी देर सोचते रहे। फिर उसकी बात सुनकर उन्होने कहा— एक सद्बुद्धि नामक लडकी मेरी आज्ञाकारिणा है। उसे दूसरा अधिक काम नही है। मेरा विचार उसे तेरी परिचारिका बनाने का है। वह लडकी तेरे पास निरन्तर रहेगी और तेरे लिए पथ्य क्या है और अपथ्य क्या है, इसका सुझाव तुझे देती रहेगी। ऐसी अच्छी दासी मै तेरी सेवा मे नियुक्त कर रहा हूँ, इसलिये अब तुझे भी घबराने की आवश्यकता नही है। वह अच्छी जानकार है, इसलिये विपथगामी और शिष्टाचार रहित प्राणी पर वह किंचित् भी उपकार नही करती। अत यदि तुझे सुख प्राप्त करने की इच्छा हो और दुःख से भय लगता हो तो वह जैसा कहे वैसा प्रतिदिन करना।* तुझे विशेष रूप से आदेश देता हूँ और शिक्षा प्रदान करता हूँ कि तू उसके कथनानुसार ही करना। उसे जो प्रिय नही, वह मुझे भी प्रिय नही यह तुझे समझ लेना चाहिये। तद्दया अनेक कार्यो मे व्यस्त है, फिर भी वह कभी-कभी तेरे पास आती रहेगी और तुझे जागृत करती रहेगा। तेरे परमार्थ और हित-कामना से मै फिर कह रहा हूँ कि यदि तुझे सुख पाने की इच्छा है तो सद्बुद्धि को

* पृष्ठ २२

प्रसन्न रखने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना। जो प्राणी सद्बुद्धि की सम्यक् प्रकार से आराधना (सेवा) कर उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न नही करते उन पर हमारे महाराज, मैं स्वय और इस भवन मे रहने वाला कोई भी व्यक्ति प्रसन्न नही रहता। जिस पर सद्बुद्धि की अकृपा हो, वह प्राणी सर्वदा दु ख भोगने के लायक गिना जाता है। उसकी प्रसन्नता के अतिरिक्त इस लोक में सुख देने वाला कोई दूसरा हेतु नही है। मेरे जैसे जो स्वाधीन है वे तो तेरे जैसो से दूर रहने वाले होते हैं अर्थात् वे तो तेरे पास कभी-कभी ही आ सकते है पर सद्बुद्धि तो सर्वदा तेरे पास ही रहेगी, अत. अपने सुख के लिये तुझे उसकी आराधना कर उसे सर्वदा प्रसन्न रखना चाहिये।' जब निष्पुण्यक ने इस सम्वन्ध में हाँ भरी तव धर्मवोधकर ने सद्बुद्धि को उसकी परिचारिका नियुक्त किया और तव से वह निष्पुण्यक की ओर से निश्चिन्त हुआ। [३७०–३८१]

सद्बुद्धि का फल

थोड़े दिन सद्बुद्धि निष्पुण्यक के पास रही, इससे उसमे क्या परिवर्तन आया, वह सुने—अभी तक द्रमुक आसक्तिवश तुच्छ भोजन अधिक करता था, पर अव वह तुच्छ भोजन बहुत कम करता और उसके विषय मे उसे चिन्ता भी नही रहती। वहुत समय से उसकी अपथ्य भोजन की आदत पडी हुई थी जिससे वह अभी भी कभी-कभी थोड़ा सा अपथ्य भोजन कर लेता था, पर तृप्ति मात्र के लिये ही, और वह भी बहुत गृद्धि (आसक्ति) से नही। इससे उसके मन की शान्ति और स्वास्थ्य का नाश नही हो पाता। वह अभी तक बहुत आग्रह करने से औषधियो का सेवन करता था, पर अव स्वयं प्रसन्नता पूर्वक तानो औषधियो का सेवन करता और औषधि सेवन की रुचि भी उसमे जागृत हो गई। अपथ्य भोजन के प्रति प्रीति घटने और औषध सेवन के प्रति प्रीति बढ़ने से उसे जो लाभ हुआ उसे भी बताता हूँ—पहले उसके शरीर मे रही हुई व्याधियो से उसे जो पीड़ा होती थी वह अव क्षीण होने लगी और रोग भी कम होने लगे। कभी-कभी थोडी पीड़ा उठ खड़ी भी होती तो वह थोड़ी देर मे शान्त हो जाती और अन्त मे मिट जाती। वास्तविक सुख का रस कैसा होता है, इसका रस अव उस दरिद्री को मिलने लगा। उसका भयकर रूप दूर होता गया और स्वास्थ्य लाभ से शरीर मे शान्ति व्याप्त होती गई जिससे उसके मुख पर सन्तोष दिखाई देने लगा। [३८२–३८८]

सद्बुद्धि के साथ वार्ता

३४. एकान्त मे रहते हुये, अपने मन में अत्यन्त प्रसन्न होते हुये उसने एक दिन निराकुलता से सद्बुद्धि से कहा—'भद्रे ! मेरे शरीर मे यह कैसी नवीनता आ गई है। आश्चर्य है ! तू देख तो सही ! अभी तक जो शरीर सब दु.खो से आकीर्ण था वही शरीर अब सुख से परिपूर्ण दिखाई दे रहा है।' सद्बुद्धि ने उत्तर दिया—'भद्र ! भली प्रकार पथ्य सेवन से और शरीर को हानि पहुंचाने वाली समस्त दोष-मूलक वस्तुओं के प्रति अलोलुप (अनासक्त) रहने से ही यह सव लाभ हुआ है। पूर्वकालीन अभ्यास

के कारण तू कभी-कभी अपथ्य सेवन कर भी लेता है, पर उस समय तेरे पास मेरे रहने से तुझे बहुत लज्जानुभूति होती है।* कुभोजन का सेवन करने मे जब लज्जा लगे तब उसका प्रभाव बहुत थोडा होता है। फिर उस पर आसक्ति नही होने से बार-बार उसे खाने की इच्छा भी नही होती। इस प्रकार की चित्त-वृत्ति होने के बाद यदि कभी कुभोजन थोडा सा खा भी लिया तो वह शरीर की व्याधियो को नही बढा पाता। तेरे मन मे जो आनन्द और सुख का अनुभव हो रहा है, इसका यही कारण है।' [३८६-३९४]

सम्पूर्ण त्याग के प्रति सचेष्ट

३५ निष्पुण्यक ने कहा—यदि ऐसी बात है तो मै उस कुत्सित भोजन का सर्वथा त्याग ही कर देता हूँ, जिससे मुझे उच्च कोटि का सुख भली प्रकार मिल सके। [३९५]

सद्बुद्धि ने कहा—बात तो बिल्कुल ठीक है, पर उसका त्याग सम्यक् प्रकार से समझ कर करना, जिससे छोडने के बाद पूर्व आसक्तिवश तुझे उसके लिये पहले जैसी आकुलता-व्याकुलता न हो। एक बार उसका त्याग करने के बाद फिर से उस पर स्नेह होने लगे, उससे तो उसका त्याग नही करना ही अच्छा है, क्योंकि तुच्छ भोजन पर स्नेह रखने से व्याधियाँ बढ जाती हैं। कुभोजन बहुत थोडा खाने से और तीनो औषधियो का सेवन अधिक करने से तेरी व्याधियाँ कम हुई है और तेरे शरीर मे शान्ति आई है, यह भी बहुत दुर्लभ है। एक बार सर्वथा त्याग करने के बाद ऐसे तुच्छ भोजन की इच्छा करने वाले की व्याधिया महामोह के प्रताप से क्षीण नही हो सकती। इस सम्बन्ध मे सम्यक् प्रकार से विचार करने के पश्चात् यदि मन मे यह पूर्ण प्रतीति हो कि इनका वास्तव मे त्याग करना चाहिये तभी उत्तम पुरुषो को सर्वथा त्याग करना चाहिये। सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर उसके मन मे जरा घबराहट हुई इससे वह अच्छी तरह से निश्चय नही कर सका कि उसको क्या करना चाहिये। [३९६-४०१]

द्रमुक का शुभ संकल्प

३६ एक दिन उसने महाकल्याणक भोजन भरपेट खाने के बाद लीला-भाव से (हँसते हुए) थोडा सा कुभोजन भी खा लिया। उस समय अच्छा भोजन खाने से वह तृप्त हो गया था और सद्बुद्धि के पास होने से कुभोजन के गुण उसके चित्त पर अधिक असर करने लगे थे, जिससे वह विचार करने लगा—अहो! मेरा यह तुच्छ भोजन अत्यन्त हेय, लज्जाजनक, मैल से भरा, घृणोत्पादक, कुरस वाला, निन्दनीय और सर्व दोषो का भाजन (स्थान) है। ऐसा जानते हुए भी मै अभी तक उस कुभोजन पर अपने मोह का नाश नही कर सका। मुझे लगता है, इसका सपूर्ण त्याग किये बिना मुझे कभी भी पूर्ण सुख प्राप्त नही हो सकेगा। मै इसका त्याग कर दूँ और मेरी पूर्व-लोलुपता के कारण बाद मे उसे मै फिर से याद करने लगूँ तब भी वह दुःखो का घर हो सकता है, ऐसा सद्बुद्धि ने कहा है। यदि मैं इसका सर्वथा

---

* पृष्ठ २३

त्याग नही करता हूँ तो सर्वदा दु:ख के समुद्र मे ही पड़ा रहूँगा। फिर मुझे क्या करना चाहिये ? मै बिल्कुल सत्त्वहीन (शक्तिहीन) निर्भागी हूँ अथवा मोहग्रस्त होने के कारण ऐसे संकल्प-विकल्प मुझे होते रहते हैं। मैं तो इस कुभोजन का सर्वथा त्याग कर देता हूँ: फिर जो होगा, सो देखा जायेगा। अथवा वास्तव मे होगा भी क्या ? त्याग करने के बाद कुभोजन का नाम भी मुझे याद नही रहेगा। राज्य प्राप्त होने के बाद अपने पूर्व-समय का चाण्डालपन कौन याद करेगा ? इस प्रकार निश्चय कर उसने सद्बुद्धि से कहा-*'हे भद्रे ! मेरा यह भिक्षापात्र लो और इसमें रखा सब कुत्सित भोजन फेक कर इसे धोकर स्वच्छ कर दो।' सद्बुद्धि ने कहा-'इस विषय मे तुझे धर्मबोधकर का परामर्श लेना चाहिये; क्योकि अच्छी तरह विचार कर किये हुये काम में पीछे से परिवर्तन नही करना पड़ता।' [४०२-४११]

निष्पुण्यक-सपुण्यक : दृढ़ निश्चय और त्याग का आनन्द

फिर वह निष्पुण्यक अपने साथ सद्बुद्धि को लेकर धर्मबोधकर के पास गया और उन्हें अपनी पूरी मन:स्थिति से अवगत कराया। धर्मबोधकर ने कहा-'हे भद्र ! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। मुझे तो इतना ही कहना है कि जो कुछ करना हो, अच्छी तरह से दृढ़ निश्चय करके ही करना चाहिये जिससे भविष्य मे कभी लोगों मे हँसी का पात्र न बनना पड़े।' दरिद्री ने उत्तर दिया-'नाथ ! बार-बार वही बात मुझे क्यो कहते हैं ? इस विषय में अब मेरा इतना दृढ निश्चय हो गया है कि कुभोजन की ओर मेरा तनिक भी मन नही जाता।' उसका ऐसा उत्तर सुनकर विचक्षण धर्मबोधकर ने अन्य विचारशील लोगों के साथ विचार कर निष्पुण्यक से उसके भिक्षापात्र का त्याग करवा दिया, उसे शुद्ध जल से अच्छी तरह स्वच्छ कराया और उसमें महाकल्याणक भोजन भरवाया। इससे निष्पुण्यक अत्यधिक प्रमुदित हुआ जिससे उस दिन से ही पथ्य भोजन के प्रति उसकी रुचि बढ़ती गई। यह देखकर धर्मबोधकर भी प्रसन्न हुए, तद्दया भी हर्ष से थिरक उठी, सद्बुद्धि के आनन्द की सीमा नहीं रही और सपूर्ण राजमन्दिर के लोग हर्ष-विभोर हो गये। उस समय लोग कहने लगे-'यह निष्पुण्यक, जिस पर महाराज सुस्थित की कृपा दृष्टि हुई, जो धर्मबोधकर को प्रिय है, जिसका तद्दया ने लालन-पालन किया, जो प्रतिदिन सद्बुद्धि से अधिष्ठित है जिसने थोड़ा-थोड़ा अपथ्य भोजन का प्रतिदिन त्याग किया, तीनो औषधियों के सेवन से जो अनेक व्याधियो से रहित जैसा हो गया है, अतः अब वह निष्पुण्यक न रहकर महात्मा सपुण्यक हो गया है।' उसके बाद लोग उसे सपुण्यक के नाम से पहचानने लगे। पुण्यहीन प्राणियों को इतनी अनुकुलता कहाँ से मिल सकती है ? जो जन्म से दरिद्री और निर्भागी होता है, वह चक्रवर्ती पद के योग्य हो ही नहीं सकता। [४१२-४२१]

---

* पृष्ठ २४

राजमन्दिर में सपुण्यक की स्थिति

३७. उसके बाद सपुण्यक सद्‌बुद्धि और तद्दया के साथ राजमन्दिर मे रहने लगा। उसी दिन से उसमे जो परिवर्तन आया और वहाँ उसकी जो स्थिति बनी, उसका वर्णन करता हूँ। अब वह शरीर को हानि पहुंचाने वाला अपथ्य भोजन नहीं करता जिससे उसके शरीर मे कोई बडी पीडा तो होती ही नही। कभी पूर्व दोष से छोटी-मोटी सहज पीडा हो भी जाती तो वह भी थोडी देर मे ठाक हो जाती। अब उसे किसी प्रकार की आकाक्षा (इच्छा) न होने से वह लोक-व्यापार का विचार नही करता और अत्यन्त आनन्द से सर्वदा विमलालोक अञ्जन अपनी आँखो मे लगाता, बिना थकान के प्रसन्नचित्त होकर तत्त्वप्रीतिकर जल प्रतिदिन पीता और महाकल्याणक भोजन निरन्तर पेट भर करता। अञ्जन, जल और भोजन के प्रयोग से प्रतिक्षण जैसे उसके बल, धैर्य और स्वास्थ्य मे वृद्धि होने लगी वैसे ही रूप, शक्ति, प्रसन्नता, बुद्धि और इन्द्रियो की पटुता मे भी वृद्धि होने लगी। उसके शरीर मे बहुत से रोग होने से वह अभी तक पूर्ण स्वस्थ्य तो नही हुआ था, फिर भी उसके शरीर मे बहुत भारी परिवर्तन हुआ दिखाई दे रहा था। अभी तक जो वह भूत-प्रेत जैसा अत्यन्त भयकर और कुरूप लगता था और किसी को उसके सामने देखना भी अच्छा नही लगता था,* किन्तु अब वह सुन्दर मनुष्य का आकार धारण करने लगा था। पहले दरिद्रपन मे तुच्छता, अधैर्य, लोलुपता, शोक, मोह, भ्रम आदि क्षुद्र भावो की अधिकता थी, वे तीनो औषधियो के सेवन से प्राय नष्ट हो चुके थे और वे उसे तनिक भी पाडित नही करते थे, जिससे वह निरन्तर आनन्दित मन वाला बन गया था। [४२२–४३०]

औषधदान निर्णय : कथा की उत्पत्ति का प्रसंग

३८ एक दिन अत्यन्त प्रसन्न चित्त होकर उसने सद्‌बुद्धि से पूछा—'भद्रे! ये तीनो सुन्दर औषधिया मुझे किस कर्म के योग से मिली होगी?' सद्‌बुद्धि ने कहा—भाई! पहले जो दिया जाता है, वही वापस मिलता है, ऐसी लोक मे कहावत है। इससे ऐसा लगता है कि पहले कभी तूने अन्य किसी को ये वस्तुएँ दी होंगी।' सद्‌बुद्धि का उत्तर सुनकर सपुण्यक सोचने लगा—यदि किसी को देने से ही वापस मिलती हो तो मै अनेक प्रकार से सकल कल्याणकारी इन तीनो औषधियो का किसी योग्य पात्रो को प्रचुर दान दूँ, जिससे भविष्य मे अगले जन्मों मे वे मुझे अक्षय रूप मे मिलती रहे। [431–434]

३९. उसके म. के इस विचार को सुस्थित महाराज ने सातवी मजिल में बैठे ही जान लिया। धर्मबोधकर को अतिशय प्रिय लगा, तद्दया ने उसे बधाई दी, सब लोगो ने उसकी प्रशसा की और सद्‌बुद्धि का तो वह अत्यन्त प्रिय हो गया। इस

---

* पृष्ठ २५

स्थिति को जानकर उसे स्वय को लगने लगा कि, मै पुण्यवान हू अत: लोगो मे उत्तम स्थान को प्राप्त हुआ हू । अब कोई भी मेरे पास आकर ये तीनो औषधियाँ मॉगेगा तो मै अवश्य दूँगा। ऐसे विचार से वह प्रति-दिन इच्छापूर्वक किसी आगन्तुक की प्रतीक्षा करता रहता। अत्यन्त निर्गुणी प्राणी की भी जब महात्मा प्रशसा करते है, तब वह इस अधम दरिद्री की तरह अभिमानी हो जाता है। वहाँ राजमन्दिर मे रहने वाले सभी व्यक्ति नित्य तीनो औषधियो का भली प्रकार सेवन करते थे, उनके सेवन के प्रभाव से वे चिन्ता रहित होकर परम ऐश्वर्यशाली हो गये थे। निष्पुण्यक जैसे कुछ व्यक्ति जिन्होने थोडे समय पहले ही राजभवन मे प्रवेश किया था, वे तीनो औषधियाँ अन्य लोगो से अच्छी मात्रा मे अच्छी तरह प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार राजभवन मे कोई भी उसके पास औषधि लेने नही आता था और वह औषध-इच्छुक व्यक्ति की राह मे आँखे विछाये वैठा रहता था। [४३५-४४१]

हास्यास्पद स्थिति

४०. इस प्रकार वहुत समय तक औषध-इच्छुक व्यक्ति की प्रतीक्षा करने पर भी जव कोई औषध लेने उसके पास नही आया तव एक दिन उसने सद्बुद्धि से इसका कारण पूछा। सद्बुद्धि ने कहा—भद्र! तुम्हे वाहर निकलकर यह घोषणा पुकार-पुकार कर करनी चाहिये कि इन तीनो औषधियो की जिसे भी आवश्यकता हो वह आकर ले जावे, ऐसा करने पर कोई लेने वाला शायद मिल जावे तो वहुत अच्छा होगा। सद्बुद्धि के परामर्श से वह उच्च-स्वर मे पुकारने लगा—भाइयो! मेरे पास तीन महागुणकारी औषधियाँ है, जिन्हे आवश्यकता हो, आकर मुझ से ग्रहण करे। इस प्रकार वोलते हुये वह घर-घर घूमने लगा। उसकी घोषणा सुनकर, जो अत्यन्त तुच्छ प्राणी थे, वे कभी-कभी उससे थोडी-थोडी औषधि ले लेते थे। इसके जैसे ही अन्य तुच्छ प्राणी सोचते थे—अहा! पहले उस भिखारी को हमने देखा था, यह अव पागल हो गया लगता है।* देखो तो सही, राज्य कर्मचारियो से स्वय औषधियाँ लेकर अव वह हमे वॉटने चला है। उसके विषय मे ऐसे विचार करते हुए कितने ही तुच्छ व्यक्ति उसकी मजाक करते, कितने ही हँसी उडाते और कितने ही उसके प्रति उपेक्षा से उसका अत्यन्त निरादर करते। [४४२-४४७]

सद्बुद्धि द्वारा समाधान

अन्य प्राणियो को दान देने की उसकी रुचि और उत्साह को भग करने वाले लोगो के व्यवहार को देखकर एक वार सपुण्यक ने सद्बुद्धि से पूछा—भद्रे! मेरी औषधि तो केवल भिखारी ही ग्रहण करते हैं, सम्पन्न आदमी तो कोई लेते हा नही। मेरी इच्छा यह है कि सव लोग मुझसे औषधि ग्रहण करे, उपयोग करे। निर्मल दृष्टिधारिके! तुम विशुद्ध चिन्तन करने वाली हो, भूत-भविष्य का विचार करने मे तुम वहुत प्रवीण हो, अत महात्मा पुरुष मुझसे औषधि क्यो नही ग्रहण करते, इसका क्या कारण है? [४४८-४५०]

* पृष्ठ ०६

सपुण्यक के प्रश्न को सुनकर 'उस सपुण्यक ने तो मुझे महाकार्य में लगा दिया' ऐसा विचार करती हुई विचक्षणा सद्बुद्धि ने महाध्यान में प्रवेश किया और इस प्रकार की कार्य-बाधा का अन्तरंग कारण क्या है, उसका मन मे निर्णय किया और कहा—'सभी प्राणी तुझ से औषधि ग्रहण करें उसका एक ही उपाय है, वह यह है कि राजमार्ग मे जहाँ लोगों का अधिक आवागमन होता है, वहाँ लकड़ी के एक विशाल पात्र मे तीनों औषधियाँ रखकर, अपने मन में विश्वास रखकर, तू दूर बैठ जा। पहले की तेरी दरिद्रता को देखकर जो लोग तेरे हाथ से औषधि नही लेना चाहते, उनमे से भी कुछ को उसकी आवश्यकता हो सकती है। वहाँ किसी को न देखकर वे अपने आप ही औषधि ग्रहण करेंगे। उनमे से कोई सच्चा पुण्यवान और गुणवान प्राणी भी तेरी औषधि ले जाय तो तेरा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा, ऐसा मैं मानती हूँ। कोई ज्ञानी या तपस्वी पात्र (व्यक्ति) उसमें से औषधि ग्रहण करेगा तो तेरा कल्याण हो जायेगा।' सद्बुद्धि के ऐसे कुशल उत्तर से सपुण्यक के आनन्द मे वृद्धि हुई और सद्बुद्धि के बताये हुये उपाय के अनुसार उसने कार्य किया।

यह शाश्वत सत्य है कि उस दरिद्री द्वारा बनाई औषधियों को जो प्राणी ग्रहण करेंगे वे सर्व रोग-रहित बनेंगे, क्योंकि नीरोग रहने की कारण-भूत ये तीनों औषधियाँ ही है। यहाँ जो वास्तविक सत्य कहा गया है, वह सब के लिये है। उनके ग्रहण से रचनाकार पर बड़ा उपकार होगा, अत उस विषय मे मुझ पर अनुकम्पा (कृपा) करने वाले सभी ये तीनों वस्तुएँ लेने की कृपा करें। ये सब के लेने योग्य हैं।

इस प्रकार संक्षेप मे दृष्टान्त आपको कह सुनाया, अब उसका उपनय (रहस्य, आशय) क्या है ? वह सुनाता हूँ, सुने। [४५१-४६०]

संक्षिप्त उपनय

यहाँ जिसे अदृष्टमूलपर्यन्त नगर कहा है वह यह विशाल संसार है, जिसका कोई आरम्भ और अन्त दिखाई नही देता। यहाँ जिस निष्पुण्यक दरिद्री का वर्णन किया गया है वह महामोह द्वारा मारा हुआ, अनन्त दुःखों से भरपूर, पुण्यहीन और पूर्वकाल का मेरा जीव समझें। पूर्व मे कहा गया था कि उस निष्पुण्यक के पास भिक्षा-ग्रहण करने के लिये मिट्टी का ठीकरा है, उसे गुण और दोष के आधार रूप आयुष्य को भिक्षापात्र समझें। निष्पुण्यक को जो नटखट बाल त्रास देते थे, उन्हे कुतीर्थी समझें। उसे जो वेदना होती है, उसे मन की विकृत स्थिति समझें। राग आदि को रोग और* अजीर्ण आदि को कर्म का संचय समझें। भोग शब्द से स्त्री, पुत्र आदि ग्रहण करें, वे ही जीव की अत्यन्त आसक्ति के कारण संसार की बढोतरी करने वाले होते है, अतः उन्हे कुत्सित भोजन समझें। राजमन्दिर की सातवीं मंजिल पर विराजमान महाराज सुस्थित का वर्णन किया है, उन्हे सर्वज्ञ परमात्मा श्री जिनेश्वर भगवान् समझें। आनन्द उत्पन्न करने वाला और अनेक प्रकार की राजलक्ष्मी से परिपूर्ण राजमन्दिर को जिन-शासन समझें। इस राजमन्दिर का द्वारपाल स्वकर्मविवर कहा है उसे स्वीय कर्मों का उच्छेदक समझें। इसके अतिरिक्त

* पृष्ठ २७

दूसरे द्वारपाल भी कहे गये है, उन्हे मोह, अज्ञान, लोभ आदि है, ऐसा तत्त्वचिन्तक समझे। [४६१-४६९]

उस राजभवन के राजाओ को आचार्य, मन्त्रियो को उपाध्याय, योद्धाओ को गण की चिन्ता करने वाले विद्वान् गीतार्थ और तलवर्गिक-सरदारो को सामान्य साधु समझे। शान्त प्रकृति की स्थविरा स्त्रियो को आर्या-साध्वी समझे। राजभवन की रक्षा करने मे प्राणो की बाजी लगाने वाले सेनापतियो को श्रावक सघ समझे। विलासी स्त्रियो के वर्णन को भक्ति करने वाली श्राविकाएँ समझे। राजभवन मे शब्द, रस, गन्ध आदि विषयो मे आनन्द आने का जो वर्णन किया गया है, वैसा ही आनन्द वास्तविक विशुद्ध धर्म के प्रभाव से होता है। मुझे प्रतिबोध देने वाले आचार्यदेव को धर्मबोधकर समझे और उनकी मेरे ऊपर महाकृपा कर्म को तद्दया समझे। मनीषीगण विमलालोक अञ्जन (सुरमा) को ज्ञान, तत्त्वप्रीतिकर जल को सम्यक्त्व और महाकल्याणक भोजन को चारित्र समझे। सद्बुद्धि परिचारिका को अच्छे मार्ग की ओर प्रवृत्ति करवाने वाली शोभन बुद्धि और तीनो औषधियो को धारण करने वाले काष्ठपात्र को यह उपमिति-भव-प्रपच कथा समझे।

इस प्रकार सक्षिप्त उपनय के द्वारा कथा की सामान्य रूप-रेखा प्रस्तुत की। अब इसी उपनय-योजना को विस्तार के साथ गद्य मे प्रस्तुत करता हूँ। [४७०-४७७]

□

दार्ष्टान्तिक योजना : कथा का उपनय

अवतरण

तत्त्ववेदी पुरुषो का यह मार्ग है कि जन-कल्याण की भावना मे सलग्न होने से बिना कारण किसी भी प्रकार का मन मे सकल्प (विचार) नही करते। यदि कभी अनजान में उनके चित्त मे बिना प्रयोजन ही किसी प्रकार का विचार उत्पन्न हो भी जाये तब भी वे बिना प्रयोजन नही बोलते। यदि तत्त्वहीन लोगो के मध्य मे रहते हुए, कभी कुछ बोल भी दे, तो बिना कारण वे इ गिनादि चेष्टा नही करते। यदि तत्त्वज्ञ पुरुष बिना प्रयोजन ही कायिक चेष्टा करते है तो तत्त्वहीन और तत्त्वज्ञ मे कोई भेद नही रह जाता, अर्थात् उनका तत्त्ववेदीपन नष्ट हो जाता है। अतएव जो स्वय तत्त्ववेदी मनीषियो की पक्ति (गणना) मे रहने के अभिलाषी हो उनको प्रति समय* स्वय के विचार, वाणी और व्यवहार (मन-वचन-काय योग) की सार्थकता पर पुन-पुन चिन्तन करना चाहिये और जो इस स्थिति को समझने की क्षमता रखते हो ऐसे तत्त्वज्ञ मनीषियो के सन्मुख ही स्वय की स्थिति को प्रकट करना चाहिये। वे तत्त्ववेदी, निरर्थक सकल्प-विकल्पमय विचार वाणी और आचरण को सार्थक मानने वाले प्राणियो को अनुकम्पा (कृपा) करके रोक देते है। इसलिये मै भी अपनी इस प्रवृत्ति की सार्थकता का प्रारम्भ मे ही आवेदन करता हूँ। मेरी इच्छा इस 'उपमिति-भव-प्रपच' कथा को प्रारम्भ करने की है। इसी कथानक को मैने दूसरे दृष्टान्त के द्वारा आपके सम्मुख प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त कथा आपके ध्यान मे आ गई हो तो, हे भव्यजनो! मेरा आपसे अनुरोध है कि आप अन्य विक्षेपो (बाधाओ) को त्याग कर इस कथा के दार्ष्टान्तिक-(अन्तरग) अर्थ को ध्यानपूर्वक सुने।

[१]

अदृष्टमूलपर्यन्त नगर

दृष्टान्त मे 'विविध प्रकार की जनमेदिनी से व्याप्त सदा स्थिर रहने वाला अदृष्टमूलपर्यन्त नगर कहा है' उसे आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनादि अनन्त, अविच्छिन्न रूप वाला और अनन्त प्राणियो के समूह से भरा हुआ ससार समझे।

---

* पृष्ठ २८

इस ससार कोरनगकीस नगरता केरूप में कल्पित (आरोपित) किया है' यह युक्तिसगत है। 'उस नगर में धवल गृहो की हारमाला बताई है' उसे इस ससार नगर में देवलोक आदि स्थानो को समझे। 'उस नगर मे बाजार-मार्ग बताये है' उसे इस ससार नगर में एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होने को पद्धति समझें। विभिन्न प्रकार के व्यापार करने की किराणारूपी वस्तुओ, को' नाना प्रकार के सुख-दुःख समझे। 'उन वस्तुओ के मूल्य के समान' उन्हे यहाँ अनेक प्रकार के पुण्य-पाप समझे। उस नगर को 'विचित्र प्रकार के चित्रो से उज्ज्वल प्रतीत होने वाले अनेक देवकुलो (देव मन्दिरों) से मडित कहा गया है' उसे इस ससार नगर मे आगे पीछे की स्थिति (पूर्वापर-सदर्भ) का विचार नही करने वाले, भ्रम से विकल, भद्रजनो के चित्त को आक्षिप्त (दूषित) करने वाले विवेकशून्य सुगत (बौद्ध), कणभक्ष (कणाद) (वैशेषिक दर्शन के प्रणेता), अक्षपाद (गौतम, नैयायिक दर्शन के प्रणेता), कपिल (सॉख्य दर्शनकार) आदि द्वारा प्रणीत कुदर्शनो को कुमत समझे। 'नगर मे हर्षोन्मत्त बालको के कलरव की बात कही गई है' उसे यहाँ क्रोध, मान, माया, और लोभ रूपी दुर्दान्त कषायो का कोलाहल समझे। कषायो का यह कोलाहल विवेकी महापुरुषो के हृदय मेउद्वेग एवं विक्षोभ उत्पन्न करने वाला होता है।

'यह नगर ऊंचे दुर्ग से घिरा हुआ कहा गया है' उसे यहाँ ससार नगर को चारो ओर से वेष्टित करने वाला अनुल्लघनीय महामोह समझे। 'नगर के चारो ओर परिखाएं (खाइयाँ) कही गई है' उसे यहाँ राग द्वेष तृष्णामयी परिखाएँ समझे, जो अत्यन्त गहरी है और विषय-वासना जल से सदा लबालब भरी रहती है। 'नगर मे विशाल सरोवरों का उल्लेख किया है' उसे यहाँ शब्दादि विषय रूप सरोवर समझे, जो इन्द्रियादि विषयरूपी जल से सर्वदा तरंगायित है और जो ववेकहीन (मिथ्यात्ववासित) पक्षीरूपी प्राणियो का आधार (निवास) स्थान होने न प्राणियो से भरा हुआ है। 'नगर-वर्णन मे शत्रुओ को त्रासदायक गहन न्धकूपो का उल्लेख किया गया है' उसे इस ससार नगर मे प्रिय का वियोग, अनिष्ट का सयोग, स्वजन-मरण और धन हरण आदि त्रासदायक भावों को गम्भीर अन्धकूप समझे। गम्भीर अन्धकूप के समान ही त्रासदायक भावो की जडे इतनी कि उनका मूल नजर नही आता। 'नगर मे अनेक विशाल उद्यानो का वर्णन किया है' उसे यहाँ ससार नगर में प्राणियों के शरीर समझे, जो स्वकीय कर्मरूपी अनेक प्रकार के वृक्ष, फूल और पत्तो से लदा हुआ है। इस शरीररूपी इन्द्रिय और मनरूपी भौरा निरन्तर गुञ्जारव किया करता है। प्रारम्भ मे जिसे अदृष्टमूलपर्यन्त नगर कहा गया है वही ससार नगर है।

[२]

निष्पुण्यक दरिद्री

वहाँ 'अदृष्टमूलपर्यन्त नगर में निष्पुण्यक नामक दरिद्री है ऐसा कहा गया है' उसे इस ससार नगर मे सर्वज्ञ-शासन की प्राप्ति होने से पूर्व का मेरा जीव

समझो । पुण्यहीन होने के कारण उसका निष्पुण्यक नाम यथार्थता का बोधक है। वहाँ 'इस दरिद्री को महोदर वाला कहा गया है' वैसे ही यह जीव विषयरूपी कुभोजन से अतृप्त रहते हुये भी अधिक सेवन के कारण उसे महोदर समझो । निष्पुण्यक को 'सगे-सम्बन्धियों से रहित बताया गया है' वैसे ही यह * जीव अनादि काल से ससार की रखड-पट्टी मे अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और स्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दु ख का अनुभव भी अकेला ही करता है, अतएव परमार्थत जीव का कोई स्वजन-सम्बन्धी भी नही है । जैसे उस दरिद्री को दुर्बुद्धि कहा है' वैसे ही यह जीव भी विपरीत बुद्धि और मूर्ख है, क्योंकि यह जीव अनन्त दु खो को प्रदान करने वाले इन्द्रियों के विषयो को प्राप्त कर प्रसन्न होता है । परमार्थत कषाय उसके शत्रु है फिर भी उनकी सेवा करता है तथा उनके साथ भाईचारे का व्यवहार रखता है, मिथ्यात्व जो वास्तव मे ही अन्धत्व का बोधक है उसको शुभ दृष्टि रूप मे ग्रहण करता है, नरक-गमन का कारणभूत अविरति अवस्था को प्रमोद का कारण मानता है, अनेक प्रकार की अनर्थ-परम्परा को उत्पन्न करने वाले प्रमाद समूह रूप शत्रुओ की ओर मित्रवृन्द के समान प्रेम की दृष्टि से देखता है, धर्म-धन को लूटने वाले, चोरो के समान मन-वचन-कायरूपी अशुभ योगो को बहुत धन-सम्पदा को कमाने वाले पुत्र के समान मानता है और ससार मे निविड बन्धनो से जकडने वाले पुत्र, स्त्री, धन, स्वर्ण आदि को अत्यन्त आह्लाद का कारण मानता है । अतएव यह जीव सचमुच मे ही दुर्बुद्धि का धारक है ।

पूर्व मे इस दरिद्री को अर्थहीन कहा गया है' वैसे ही इस जीव के पास भी शुद्ध धर्म की एक कोडी भी नही होने से यह दारिद्र्य की मूर्ति ही है। जैसे 'उस दरिद्री को पौरुषहीन कहा गया है' वैसे ही यह जीव स्वकीय कर्मों का उच्छेदन करने मे शक्ति-सामर्थ्यहीन होने के कारण पौरुषहीन पुरुषाकार का धारक मात्र है । जैसे भूख के कारण उस भिखारी का शरीर सूखकर काटा हो गया था' वैसे ही कदापि तृप्त नही होने वाली और प्रतिक्षण उग्रता के साथ बढने वाली विषय सेवनरूपी भूख से इस जीव का शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसा समझो । जैसे 'उस रक को अनाथ कहा गया है' वैसे सर्वज्ञरूपी स्वामी नही मिलने से इस जीव को भी अनाथ समझो । जैसे 'जमीन पर सोते-सोते भिखारी की पसलियाँ घिस गई थी' वैसे ही पापो की अत्यन्त कुत्सित और कठोरभूमि पर लोट-पोट होते रहने के कारण इस जीव के सारे अगोपाग घिस गये हो ऐसा समझो । जैसे 'उस भिखारी का शरीर धूलि-धूसरित कहा गया है' वैसे ही निरन्तर बधने वाले पापकर्म के परमाणुरूप धूल से इस जीव का भी सर्वांग मलिन हो गया है । जैसे उस रक के पहिनने के चिथडे जाल-जाल हो रहे थे' वैसे ही महामोह की कलाओं की ओर सकेत करने वाली छोटी-छोटी ध्वजा के समान लीरियो से इस जीव का शरीर ढका होने से उसकी आकृति अत्यन्त बीभत्स बन गई है, ऐसा समझो । 'उस दरिद्री को निन्दनीय और गरीब कहा है' वैसे ही यह जीव भी विवेक के भण्डार सज्जन पुरुषो द्वारा

* पृष्ठ २६

निन्दा प्राप्त करता है और भय-शोक आदि उत्पन्न करने वाले क्लिष्ट। कर्मों द्वारा घिरा हुआ होने से अत्यन्त ही दीन और गरीब है।

जैसा कि पूर्व मे कहा गया है कि 'वह निष्पुण्यक भिखारी अदृष्ट-मूलपर्यन्त नगर मे निरन्तर भीख मागने के लिये घर-घर भटकता था' वैसे ही यह जीव भी ससारनगर में विषयरूपी * तुच्छ भोजन प्राप्त करने की लालसा रूप पाश से जकडा हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म मे, दूसरे जन्म से तीसरे जन्म मे, ऊंच-नीच कुलो मे निरन्तर भटकता रहता है। 'भीख लेने के लिये उसके पास टूटा-फूटा मिट्टी का ठीकरा (भिक्षपात्र) था' उस भिक्षापात्र को यहाँ जीव का आयुष्य समझे, क्योंकि यह पात्र ही विषयरूपी कुत्सित अन्न और चारित्ररूप महाकल्याणकारी भोजन ग्रहण करने का आधार है और इसी आयुष्य को लेकर यह जीव निरन्तर ससारनगर मे भटकता रहता है।

[३]

दुर्दान्त बाल

'इस दरिद्री भिखारी को चिढाने के लिये नगर के दुर्दान्त बच्चे प्रतिक्षण लकड़ियाँ, बडे-बडे पत्थर और घूंसे मार-मारकर उससे छेडछाड करते थे, जिससे वह अधमरा और बहुत दुःखी हो रहा था' ऐसा कहा गया है उसे इस जीव के कुविकल्प, सारहीन तर्क तथा इन कुविकल्पो को उत्पन्न करने वाले ग्रन्थ एव उन कुतर्क ग्रन्थों के प्रणेता और उपदेशकों को कुतीर्थी समझे। ये लोग जब-जब इस पामर जीव को देखते है तब-तब उस पर सैकड़ो निकृष्ट हेतुरूप मुद्गरो का आघात करके उसके तत्त्वाभिमुख शरीर के टुकडे-टुकडे कर देते है। इस प्रकार आघातो से जर्जरित (अधमरा) हो जाने पर वह प्राणी (जीव) कार्य और अकार्य का भेद करने में समर्थ नही रह पाता, भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थो मे भेद नही कर पाता, पेय और अपेय का स्वरूप नही जान पाता, हेय और उपादेय के भेद को समझ नही सकता, स्वय के और दूसरों के गुण और दोष के निश्चित कारण क्या है उन्हे लक्ष्य में नही ले सकता, अर्थात् उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। कुतर्क से चिन्तन-शक्ति नष्ट होने पर वह जीव सोचता है। परलोक नही है, अच्छे-बुरे कर्मो का फल मिलता ही नहीं है, आत्मा हो ऐसा सम्भव नहीं है, सर्वज्ञ होता ही नही है और सर्वज्ञ-भाषित मार्ग मोक्षमार्ग है ऐसी कल्पना भी व्यर्थ है। (इस प्रकार के कुविचार ही इस जीव को अधमरा करने वाले दुर्दान्त बाल है)। इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान से हीन होकर, विपरीत मनोवृत्ति को धारण कर यह जीव प्राणियो की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरे के धन-हरण करता है, विषयासक्त हो जाता है अथवा पराई स्त्रियो के साथ सभोग करता है, परिग्रह का सचय करता है, इच्छाओ पर अकुश नही रखता, मास भक्षण करता है, मदिरापान करता है, श्रेष्ठ उपदेश को ग्रहण नही करता है, कुमार्ग का प्रचार करता है, वन्दनीय पुरुषो की निन्दा करता है, गुणहीनो की सेवा करता है, स्व और पर के गुण-दोषो के कारणो की ओर ध्यान नहीं देता है और दूसरो की निन्दा करता हुआ यह प्राणी समस्त पापो का

* पृष्ठ ३०

आचरण करता है। इस प्रकार विविध प्रकार के पापो का सेवन करने के कारण वह प्राणी निविड विविध पाप-समूह का वन्धन कर नरक मे पडता है। वहाँ नरक मे उस जीव को कुम्भीपाक (भयकर अग्नि) मे पचाया जाता है, करवत से काटा जाता है, वज्र जैसे तीक्ष्ण काँटेदार शाल्मली वृक्ष पर चढाया जाता है, सडासी से मुख खोलकर तपा हुआ सीसा पिलाया जाता है, स्वय का मास खिलाया जाता है, अत्यन्त तपी हुई भट्ठियो मे भू जा जाता है, पीप, चरवी, खून, मल, मूत्र और आतडियो से कलुषित वैतरणी नदी मे तिरना पडता है और तलवार के समान तीक्ष्णधारा वाले वृक्ष के पत्तो से शरीर छदित किया जाता है। इस प्रकार निज के पाप-समूह से प्रेरित होने से परमाधार्मिक असुर समस्त प्रकार की पीडाये प्रदान करते है।

नरक गति मे विश्व के समस्त पुद्गल राशि का एक साथ भक्षण करने पर भी उस जीव की भूख शान्त नही होती। विश्व के समस्त समुद्रो का पानी एक वार मे पीने पर भी उसकी * प्यास नही बुझती। भयकर शीत-वेदना और भयकर गर्मी भोगनी पडती है। अन्य नारकीय जीव उसको अनेक प्रकार के दु.ख देते है। ऐसी अवस्था मे यह जीव भयकर दु खो से आकुल-व्याकुल होकर बूम पाडता हुआ 'ओ माँ, मुझे बचाओ! ओ बाप! मुझे बचाओ'!! कहता हुआ चिल्लाता रहता है, परन्तु वहाँ उसके शरीर को बचाने वाला कोई नही होता है।

कदाचित् नारकीय भयकर महादु खो से उस जीव का पिण्ड छूट जाता है तो, वह तिर्यञ्च गति मे उत्पन्न होता है। तिर्यञ्च गति मे भी उस जीव को अत्यधिक बोझा ढोना पडता है। बेत, लकडी आदि से उसकी कुटाई होती है। उसके कान, पूँछ आदि छेदे जाते है। जोक आदि कीडे उसका खून चूसते हैं। उसको भूख सहन करनी पडती है। प्यास से मर जाता है, इत्यादि विभिन्न प्रकार की यातनाये उस जीव को भोगनी पडती है।

तिर्यञ्च गति से भी निकल कर कदाचित् यह जीव मनुष्य भव प्राप्त करता है, तो यहाँ भी यह जीव अनेक प्रकार के दु खो से पीडित होता है। मनुष्य भव मे हजारो प्रकार के रोगों से घिरा हुआ कष्ट पाता है। बुढापे के विकार उसको जर्जरित कर देते है। दुष्ट लोग दु ख देते है। प्रियजनो का वियोग विह्वल कर देता है। अनिष्ट पदार्थ या प्राणियो का सम्बन्ध व्यथित कर देता है। धन का हरण होने से रक बन जाता है। स्वजन-सम्वन्धियो के मरण से आकुल-व्याकुल हो जाता है और विविध प्रकार के सकल्प-विकल्पो से व्यथित रहता है।

कदाचित् यह जीव देवगति मे देव बन जाता है, तो वहाँ भी उसे विविध प्रकार की वेदनाये सहन करनी पडती है। इन्द्रादि के आदेशो का विवश होकर पालन करना पडता है। अन्य देवो के उत्कर्ष को देखकर खेद होता है। पूर्वभवो मे आचरित स्वय की भूलो का स्मरण होने से ग्लानि होती है। अन्य देवो की

---

* पृष्ठ ३१

सुन्दर देवांगनाओ को देखकर जलन होती है। उसकी प्रार्थना को जब अन्य देवांगनाएँ ठुकरा देती है तब जल-भुनकर रह जाता है। अन्य की देवांगनाएँ कैसे प्राप्त हों? इसी उधेड़बुन मे मन मे शल्य की गाँठे बाँधता रहता है। महर्द्धिक देवों से निन्दित होता है। देवलोक से च्युत (मरण) होने का समय निकट आने पर विलाप करता है। मौत को निकट देखकर रो-रोकर चिल्लाता है और अन्त मे मरण प्राप्त कर समस्त प्रकार की अशुचियो से भरे हुए गर्भ की कीचड मे पडना है।

दरिद्री के दीन-वचन

इस प्रकार की स्थिति मे उस दरिद्री की अवस्था के वर्णन मे पहले कहा जा चुका है कि---'आघातो से वह अधमरा हो रहा था और समस्त शरीर पर घाव हो रहे थे। इस कारण वह वार-वार चिल्लाता था--हे माँ! मै मर गया, मुझे बचाओ! ऐसे ही दैन्य और आक्रोश-पूर्ण वचनो से वह अपना दुःख प्रकट कर रहा था।' जीव की वह और यह दोनो अवस्थाएँ पूर्णरूप से समान है। महाअनर्थकारी इन समस्त दशाओ का कारण उसके मानसिक सकल्प-विकल्प, उन कुविकल्पो को प्रोत्साहित करने वाले कुदर्शन-ग्रन्थ और उन ग्रन्थों के प्रणेता एव उनके प्रचारक कुतीर्थी (कुगुरु) ही हैं।

भिखारी के रोग

कथा मे कहा गया है---'वह भिखारी उन्माद, ज्वर आदि बीमारियो का घर लग रहा था' उसे इस जीव के सम्बन्ध मे महामोह आदि समझे। उन्मादग्रस्त प्राणी जैसे अनेक प्रकार के अकरणीय कार्य करता है वैसे ही यह जीव मोह-मिथ्यात्व और अज्ञान से प्रेरित होकर अविचारित कार्य करता है। जैसे ज्वर से सारा शरीर जलता रहता है वैसे ही राग के कारण सर्वाङ्ग ताप से तप्त (पीडित) रहता है। जैसे शूल की भयकर पीडा हृदय और पसलियो मे असह्य वेदना उत्पन्न करती है वैसे ही द्वेष के कारण हृदय में वैर-विरोध की प्रवल वेदना सर्वदा बनी रहती है। खुजली की तरह काम (विषय-वासना) की तीव्रतम अभिलाषा मन को सर्वदा कुरेदती (खुजलाती) रहती है। जिस प्रकार गलितकुष्ठ व्याधि से पीडित प्राणी जन-समूह द्वारा तिरस्कृत होता है और उस कारण उसका * मन उद्वेगो से उद्वेलित रहता है। उसी प्रकार यह जीव भय, शोक और अरति (अप्रीति) से उत्पन्न होने वाली दीनता के कारण लोगो की जुगुप्सा का पात्र बनता है और उससे उसका चित्त उद्वेग से व्यथित रहता है, इसमे उसकी दीनता को ही गलितकुष्ठ समझे। जैसे नेत्ररोग से देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञान के कारण इस जीव की विवेक दृष्टि नष्ट हो जाती है। जैसे जलोदर की व्याधि से कार्य करने का उत्साह नष्ट हो जाता है वैसे ही प्रमाद के वशीभूत होकर शुभ अनुष्ठानो की ओर इस जीव का उत्साह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार यहाँ उन्माद

* पृष्ठ ३२

को मोह, मिथ्यात्व-ज्वर को राग, शूल को द्वेष, खुजली को काम, गलितकुष्ठ को भय-शोक अरति, नेत्र-रोग को अज्ञान और जलोदर को प्रमाद समझें।

रोगों के उपादान कारण

इस प्रकार मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, दीनता, अज्ञान और प्रमाद आदि भाव-रोगो से यह जीव सर्वदा विह्वल बना रहता है और इस कारण उसकी चिन्तन शक्ति नष्ट हो जाती है। जैसा कि पूर्व मे कहा गया है कि उसकी विचार-शक्ति लुप्त हो जाने से वह भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि से विवेकशून्य होकर स्वनिर्मित चिन्तनरूपअन्धकार मे भटकता रहता है और 'परलोक इत्यादि नही है' के कुविकल्पो से ग्रस्त रहना है। अज्ञान और कुविकल्प इन दोनो को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण के रूप मे कुतर्क-ग्रन्थ, उनके प्रणेता और उपदेशक है तथा राग, द्वेष, मोह आदि उपादान कारण के रूप मे अ तरग कारण है। अतएव पूर्वोक्त समस्त अनर्थों की परम्परा को प्रगाढ रूप से उत्पन्न करने वाले और बढाने वाले परमार्थत (वस्तुत) राग, द्वेष मोहादि को समझें। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कुशास्त्रो के सस्कार तो यदा-कदा ही होते है किन्तु राग, द्वेष, मोहादि तो सर्वदा ही अनर्थ-परम्परा को उत्पन्न करते है। यह भी लक्ष्य मे रखना चाहिये कि किसी के लिये कुदर्शन-शास्त्रो का श्रवण अनर्थ की परम्परा का निमित्त बनता है और किसी के लिये नही भी बनता है। यह विभेद है, किन्तु रागादि के कारण तो जीव निश्चत रूप से महा अनर्थ के गड्ढे मे गिरता ही है, इसमें किसी प्रकार का कोई विकल्प या सदेह नही है। इन रागादि दोषो से अभिभूत जीव अज्ञान रूप महा-अन्धकार मे प्रवेश करता है, अनेक प्रकार के विकल्पो से मन को दूषित करता है, सैकडो अकरणीय कार्य करता है और महाकठोर कर्म-समूहो का सचय करता है। ऐसे सचित कर्मो के परिणाम स्वरूप यह जीव कदाचित् देवगति मे उत्पन्न होता है, कदाचित् मनुष्य गति मे पैदा होता है, कदाचित् पशुभाव (तिर्यञ्च योनि को प्राप्त करता है और कदाचित् महानरक में पडता है। ऊपर चारो गतियो के दु.खो का वर्णन किया जा चुका है, तदनुसार यह जीव अनन्तवार 'अरघट्ट घटीयन्त्र' के न्यायानुसार महादु खो का अनुभव करता है और चारो ओर भटका करता है। ऐसी अवस्था होने से, जैसा कि उस भिखारी के वर्णन मे पहले कहा गया था कि 'वह सर्दी, गर्मी, डाँस, मच्छर, भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार की पीडाओं से व्यथित और दु खी होकर नरक जैसी यन्त्रणा सहन कर रहा था' ये सब दशाये इस जीव के साथ पूर्णतया मेल खाती है।

[४]

कृपा, हास्य, क्रीड़ा-स्थान

इस दरिद्री के प्रसग मे पूर्व मे कहा जा चुका है कि—'इसका स्वरूप सज्जनो के लिये दया का स्थान, दुर्जनो की दृष्टि मे हँसी-मजाक का पात्र, बालको के लिये

खिलौना और पापियो के लिये एक उदाहरण सा बन गया था। [पद्य० २८]' इस जीव के साथ इसकी सगति इस प्रकार है :—यह जीव निरन्तर असातावेदनीय कर्म की परम्परा रूप कीचड मे फसा हुआ है, उसको जब प्रशमरसनिमग्न, आत्मसुख के अनुभवी, भगवत्स्वरूप और श्रेष्ठ साधुगण देखते हैं तो उनके हृदय मे सर्वदा करुणाभाव का सचार होने से यह जीव उनकी कृपा का पात्र बनता है। ※ जो सरागसयमी[1] साधुगण वीररस के आवेग से तपस्या करते है, धर्म के प्रति रागरूपी नशे मे वृत्त होकर आचार-व्यवहार का पालन करते है वे अभिमानियो की तरह अहकार से मत्त होते है, ऐसे साधुओ की दृष्टि मे यह जीव हँसी-मजाक का पात्र बनता है। सरागसयमी यह सोचते है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों मे से धर्म नामक मुख्य पुरुषार्थ के बिना इस प्राणी मे धर्म या मानवता हो ही नही सकती। इन्ही विचारो से ग्रस्त ये इस जीव को अनादर की दृष्टि से देखते है। ऐसे अभिमानी सयमियो की दृष्टि मे यह जीव हास्य का कारण बनता है। जिनका चित्त मिथ्यात्व से ओतप्रोत है तथा जिनको किसी प्रकार किंचित् विषय-सुख के कण मिल गये है उन्हे यहाँ बाल कहा गया है। ऐसे बालजीवो की दृष्टि मे यह जीव क्रीड़ा का स्थान बन जाता है। दुनिया मे देखते है कि धन के मद मे अन्धे बने हुए लोग छोटे व्यक्तियो का कदर्थना-विडबना करने मे, उनको तिरस्कृत करने मे अपनी शान समझते है। पापी प्राणी किस प्रकार पाप एकत्रित करते है और उन पापो का फल किस प्रकार भोगना पडता है, इसकी प्ररूपणा करते समय इस जीव को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करते है। इसी प्रकार जब भगवान् पाप-कर्मों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं उस समय भव्य प्राणियो को ससार से विरक्ति और वैराग्य प्राप्ति हो, इस हेतु से इस प्रकार के जीवो का दृष्टान्त देते है। इस प्रकार यह जीव कृपा, हास्य और क्रीड़ा का स्थान और पापियो का उदाहरण रूप बनता है।

[५]

दुःख की प्रतिमूर्ति

इस दरिद्री के वर्णन में पहले कहा जा चुका है कि :—'अदृष्टमूलपर्यन्त नगर मे अन्य भी कई दरिद्री रहते थे, पर निष्पुण्यक जैसा दुःखी और निर्भागियो का शिरोमणि तो सम्पूर्ण नगर में सम्भवत: कोई दूसरा नही था। [प० १२६]' उपर्युक्त कथन स्वय मैने मेरे जीव का अत्यन्त विपरीत एव गर्हित आचरण देखकर और अनुभव करके किया है। कारण यह है कि, मेरे इस जीव में जन्मान्ध को भी तुच्छ प्रमाणित करने वाला महामोह-अन्धत्व है नारकीय वेदना को हँसकर टाल देने वाला राग है, दूसरो पर उपमातीत द्वेष है, वैश्वानर (अग्नि) को हँसी

※ पृष्ठ ३३

1. सरागसयमी—त्याग पर राग रखने वाला साधु। त्याग के लिए त्याग करने वाले नही किन्तु मोह से त्याग करने वाले सरागसयमी कहलाते है।

मे टालने वाला क्रोध है, मेरुपर्वत को भी लघु मानने वाला मान है, सर्पिणी की गति को भी मात देने वाली माया है, स्वयभूरमण समुद्र को भी छोटा मानने वाला लोभ है, स्वप्न मे लगी हुई प्यास के समान विषयो मे लम्पटता है। भगवान् का शासन-धर्म प्राप्त होने से पूर्व मेरे जीव की उपरोक्त दशा ही थी और यह अवस्था स्वय द्वारा अनुभूत है। मै ऐसा सोचता हूँ कि अन्य प्राणियो मे ऐसे दोषो की उत्कटता शायद न हो! इस बात की मेरे जीव के सम्बन्ध मे किस प्रकार सगति बैठती है, इसको आगे, जिस समय मुझे प्रतिबोध होता है उस समय विस्तार से कहूँगा।

[६]

निष्पुण्यक की मनोकल्पनाएँ

पूर्व मे कह चुके है कि —'यह रक उस अदृष्टमूलपर्यन्त नगर मे भिक्षा के लिये हर घर की ओर भटकता-भटकता सोचता था कि अमुक देवदत्त या बन्धु-मित्र अथवा जिनदत्त के घर से मुझे अच्छी तरह से बनाई हुई रसवती और स्वादिष्ट भिक्षा प्रचुर मात्रा मे मिलेगी। उस भिक्षा को लेकर मै शीघ्र एकान्त स्थान पर चला जाऊँगा, जहाँ मुझे कोई भी देख नही सके। वहाँ बैठकर उस भिक्षा मे से कुछ खा लूँगा और बाकी बची हुई दूसरे दिन के लिये छिपाकर रख दूँगा। अन्य भिखारियो को कदाचित् यह मालूम पड जायगा कि मुझे अच्छी और ज्यादा मात्रा मे भिक्षा मिलती है तो वे मेरे पास आकर मुझ से माँगेगे और मुझे परेशान करेगे, किन्तु मर जाऊ तब भी मै उनको नही दूगा। जब मेरे साथ जबरदस्ती छीना-झपटी करेगे तो मै उनके साथ लडाई करूँगा। जब वे वे मुझको हाथा-पाई करते हुए मुट्ठियाँ और *लकडियो से मारेगे तब मै बडा मुद्गर लेकर उन सब को चकनाचूर कर दूँगा। वे दुष्ट मेरे से बचकर कहाँ जायेगे? ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के बनावटी कुविकल्पो के जाल से उस दरिद्री का मन आकुल-व्याकुल रहता है और वह प्रतिक्षण रौद्रध्यान मे पडा रहता है; किन्तु उसको नगर मे घर-घर भटकने पर भी थोडी सी भी भिक्षा नही मिल पाती। इसके फलस्वरूप उसके हृदय मे अनन्तगुणा खेद बढता रहता है। यदि कदाचित् भाग्यवश इसे थोडी सी भूठन मिल जाती है, तो मानो विशाल राज्य पर राज्याभिषेक हो गया हो ऐसा हर्षोन्मत्त होकर वह अपने से समस्त विश्व को तुच्छ समझता है।' उपरोक्त सारी बनावटी कल्पनायें जो कही गई है उनको इस जीव के साथ पूर्ण सगति बैठती है जो इस प्रकार है —

इस ससार मे अहर्निश परिभ्रमण करते हुए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँचो इन्द्रियो के विषय, स्वजन-सम्बन्धिया का समूह, धन, सोना आदि और कामक्रीडा एव विकथा आदि मे अत्यधिक आसक्ति ससार-वृद्धि का कारण

* पृष्ठ ३४

होने से तथा रागादि भाव-रोगो का कारण होने से समनत्रय रूप अजीर्ण पैदा किया करता है। इन्हे ही कुत्सित अन्न (भूठन) समझो। महामोह से मग्न जीव यह भी सोचता है—"मैं अनेक स्त्रियो के साथ विवाह करूँगा। मेरी पत्नियाँ इतनी अधिक रूपवती होगी कि जो अपने रूप से तीनो लोक की महिलाओ को पराजित कर सकेगी, अपने सौभाग्य से कामदेव को भी आकर्षित कर सकेगी, अपने हाव-भाव विलासो से मुनिजनो के हृदयो को चलायमान कर सकेगी अपनी कलाओ से बृहस्पति को भी हसी मे उडा देगी और अपनी विशिष्ट प्रतिभा से स्वय को महापण्डित मानने वाले पण्डितो के चित्त को भी रिझाने मे निपुण होगी। ऐसी गुणवती मनोरमा पत्नियो का मै हृदयवल्लभ हो जाऊँगा। ये मेरी पत्नियाँ पर-पुरुष की गन्ध तक सहन नही कर सकगी, मेरी आज्ञा का कभी भी उल्लघन नहीं करेगी, मेरे मन को निरन्तर आह्लादित करेगी, उन पर जब कृत्रिम क्रोध करूँगा तो वे मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करेगी, मुझे मनावेगी। अपनी कामवासना की पूर्ति के लिये वे मुझे हर तरह से चापलूसी कर प्रसन्न रखेगी, मेरी इगिताकार आदि चेष्टाओ (मनोभावो) को मुझे बतावेगी. विविध प्रकार के बिब्बोकादि हाव-भावो द्वारा मेरे मन को अपनी ओर आकर्षित करेगी. आपसी ईर्ष्या के कारण एक दूसरे पर कटाक्ष (व्यग्य) वाक्यो से अभिलापा पूर्वक मुझे बारम्बार घायल करेगी। इन्द्र के परिवार को भी मखौल मे उडा देने वाला विनीत, दक्ष, शुद्ध चित्तवाला सुन्दर वेषवाला, अवसर का जानकार, हृदयाह्लादक, मेरे ऊपर अनुराग रखने वाला, समस्त प्रकार के उपचार करने मे कुशल, शूरवीर उदार सकल कला कौशलो मे सम्पन्न, सेवा-भक्ति मे प्रवीण ऐसा मेरा परिवार होगा। इन्द्र के राजमहलो की हँसी उडाने वाले ऐसे सात मजिले मेरे अनेक राजमहल होगे, जो अपने अपरूप चमक से चकाचौध करने वाले अमत के कारण शुभ्रता को धारण किये हुए मेरे चित्त जैसे निर्मल होगे, जो बहुत उत्तुग (ऊचे) होने के कारण हिमालय पर्वत का भ्रम पैदा करेगे, जो विविध प्रकार के सुन्दर चित्रो से सुशोभित होगे, अनेक चदरवो से रमणीय होगे, शालभजिका आदि विविध प्रकार की पुत्तलिकाओ की रचनाओं मे शोभायमान होगे, बडी-बडी शालाओ (हालो) से युक्त होगे, जिसमे अनेक प्रकार के छोटे-मोटे कमरे होगे जिसमे अत्यन्त विशाल और विभिन्न प्रकार के सभा-मण्डप बने हुए होगे, जिसके चारो ओर परकोटा बना हुआ होगा। अर्थात् मेरा महल अत्यन्त आकर्षक और आनन्ददायक होगा। ❀ मेरे इस राजमहल मे मरकत, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, पद्मराग, वज्र, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त,चूडामणि, पुष्पराग आदि विविध प्रकार के रत्न सर्वदा प्रकाश करेगे। सोने के अम्बार से मेरा राजमहल पीले रग के प्रकाश से प्रकाशित रहेगा। मेरे घर मे चाँदी, धान्य आदि

❀ पृष्ठ ३५

विविध पदार्थों का इतना विशाल संग्रह होगा कि सामान्य प्राणी विश्वास नही कर सकेंगे कि मेरे घर में धान्यादि इतने पदार्थ है। मुकुट, बाजूबन्द, कुण्डल, प्रालम्ब (लम्बे हार) आदि विविध भाँति के आभूषण मेरे चित्त को आनन्दित करेंगे। चीनांशुक (रेशमी), सूती और देवाशुक (देववस्त्र) आदि विविध जाति के वस्त्र मेरे चित्त को अनुरंजित करेंगे। मेरे महल के सामने ही क्रीडा करने योग्य उद्यान मेरे चित्त मे आनन्द को बढाते रहेंगे। इन उद्यानो मे रत्न, सोना आदि विविध धातुओ से निर्मित कृत्रिम क्रीडा-पर्वत शोभित होंगे; जो बावडी, विशाल कुजालिका (पानी देने की बडी नाली), फव्वारे और अनेक जलाशय होने से अत्यन्त रमणीय होगे। बकुल, पुन्नाग, नाग, अशोक और चम्पा आदि अनेक जाति के वृक्षों से पल्लवित और रमणीय होंगे। पाँच प्रकार के सुगन्धित और मनोरम फूलो के भार से जिसकी शाखाँये झुक गई है तथा कुमुद, कोकनद आदि कमलो से यह अत्यन्त शोभित होगे और गुञ्जारव करते भ्रमरो की आवाज से कर्णप्रिय गीतो की झकार चलती होगी। अर्थात् मेरे महल के सन्मुख ऐसे उद्यान होंगे। सूर्य के रथ की सुन्दरता को भी पराजित करने वाले अनेक प्रकार के रथ मेरे मन को प्रमुदित करेंगे। इन्द्र के ऐरावत हाथी को भी मात देने वाले करोड़ो हाथो मेरे चित्त को हर्षित्त करेंगे। इन्द्र के घोडे की चाल को भी लज्जित करने वाले करोड़ो घोडे मेरे मन को सतुष्ट करेंगे। मेरे सन्मुख दौडते हुए, मुझे दिल से चाहने वाले, दूसरो (शत्रुओं) को भगा देने मे कुशल, परस्पर एक मन वाले और शत्रुओ के साथ गुप्त रीति सेनहो मिलने वाले सख्यातीत पैदल सेना मेरे मन को उल्लसित करेंगी। प्रतिदिन नमन करने वाले अनेक राजाओ के मुकुटो मे खचित मणिरत्नो की प्रभा से मेरे चरण रक्तवर्णी होगे। विशाल भूमि का मै मण्डलाधिपति महाराजा होऊँगा। बुद्धि-चातुर्य मे देवताओ के मन्त्री बृहस्पति को भी पराजित करने वाले महामात्र (महामन्त्री) मेरे राज्यतन्त्र का सचालन करेंगे।' उपरोक्त सारी अभिलापाये उस दरिद्री की स्वादिष्ट भिक्षा की इच्छा के समान ही इस जीव की इच्छाएँ समझो।

शारीरिक पुष्टता के वितर्क

पुन यह जीव विचार करता है—'विपुल समृद्धि का स्वामी होने से, चिन्ता रहित होने से और समस्त प्रकार के साधनो से परिपूर्ण होने से मै विधि पूर्वक 'कुटीप्रावेशिक' रसायन बनाऊँगा। इस रसायन के प्रयोग से शरीर पर झुर्रियाँ, सफेद बाल, गजापन आदि किसी भी प्रकार को खोटो से रहित, बुढापा और मरण के विकार से रहित, देवकुमारों से भी अधिक कान्ति-दीप्ति वाला, समस्त प्रकार के विषयों के भोग भोगने मे समर्थ तथा महाबलशाली मेरी देह हो जाएगी।' इस प्रकार के इस जीव के ये मनोरथ पूर्वकथित भिखारी को भिक्षा प्राप्त होने पर *एकान्त स्थान पर ले जाने के मनोरथ के समान ही समझे।

* पृष्ठ ३६

एकान्त में भिक्षा खाने की अभिलाषा

पुन यह जीव अपने मन मे विचार करता है —"ऐसा सुन्दर और बलिष्ठ शरीर हो जाने से मेरा चित्त अत्यन्त प्रमुदित होगा और मै अगाध प्रेमरस के समुद्र मे डूबकर, पूर्व वर्णित सुन्दर ललनाओं के साथ काम क्रीडा करूंगा। कदाचित् निरन्तर वर्धमान मदनरस के वशीभूत होकर अनवरत सुरत क्रीडा द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय को तृप्त करूंगा। किसी समय रसनेन्द्रिय (जिह्वा) की तृप्ति के लिये मन को लुभाने वाले और समस्त इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले मनोज्ञ षड्रस भोजन का आस्वादन करूंगा। कभी कपूर मिश्रित चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि अति सुगन्धित पदार्थों का शरीर पर विलेपन कर, तज-इलायची-लोंग-जायफल और जावत्री इन पांचों सुगन्धित पदार्थों से सुवासित ताम्बूल को चबाते हुए घ्राणेन्द्रिय (नासिका) को तृप्त करूंगा। कभी निरन्तर वाद्यमान मृदंग की ध्वनि के साथ मानो देवांगनाओं का नृत्य हो रहा हो ऐसे भ्रम को पैदा करने वाले, मनोरम ललनाओं के हाव-भाव कटाक्षों से युक्त अंग-विक्षेप, अंग-निदर्शन आदि विलास-विक्षेपों से युक्त दर्शनीय नृत्यों को देखते हुए मैं अपनी चक्षुरिन्द्रिय (आँखो) को तृप्त करूंगा। किसी समय मधुर कण्ठ वाले और संगीत विद्या में प्रवीण गायकों द्वारा प्रयुक्त वेणु, वीणा, मृदंग, काकली आदि वादित्रों की ताल-लय के साथ गायकों के गीत-गान सुनते हुए मैं अपनी कर्णेन्द्रिय (कान) को रससिक्त करूंगा। कभी समस्त कलाओं मे पारंगत, समान अवस्था वाले, हृदय की गोपनीय बातें आपस मे करने वाले, शूरवीर, उदार, पराक्रमी और सौन्दर्य में कामदेव को मात देने वाले अपने मित्रों के साथ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा करते हुए समस्त इन्द्रियों को एक साथ ही तृप्त करूंगा।' इस प्रकार इस जीव की ये अभिलाषायें पूर्व वर्णित प्राप्त भिक्षा को एकान्त स्थान पर ले जाकर खाने की भिखारी की अभिलाषा के समान ही समझें।

कुभोजन का संग्रह

पुन: यह जीव अपने मन में विचार करता है 'मैं इस प्रकार का दीर्घ-काल तक निरतिशय सुख भोगते हुए, देवकुमारों के समान, शत्रु-पत्नियों के हृदय मे दाह उत्पन्न करने वाले, स्वजन-सम्बन्धी एवं प्रिय स्नेहीजनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हुए भी सभी को समान रूप से । प्रसन्न रखने वाले तथा मेरे समान ही मेरे सैकड़ों पुत्र होंगे। इस प्रकार मेरे मन के समस्त मनोरथ पूर्ण होंगे, मेरे समस्त शत्रु नष्ट हो जायेंगे और मैं अपनी इच्छानुसार अनन्त काल तक विचरण करता रहूंगा, अर्थात् सुख पूर्वक रहूंगा।' इस प्रकार इस जीव के ये मनोरथ पूर्ववर्णित बाकी बची हुई भिक्षा को दूसरे दिन के लिये छिपा कर रखने के मनोरथ के समान ही समझें।

रौद्रध्यान और दरिद्री

पुन यह जीव सोचता है—'मेरी विविध प्रकार की अतुल सम्पत्ति और ऐश्वर्य की बात जब दूसरे राजा लोग सुनेंगे तब वे ईर्ष्या से अन्धे होकर, सब मिलकर मेरे राज्य पर चढाई कर देगे और उपद्रव एव मारकाट चालू कर देंगे। ऐसी स्थिति मे मै अपनी चतुरंगिणी (हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल) सेना को साथ लेकर उन पर टूट पड़ूँगा। जब वे सैन्य-बल के दर्प मे मेरे साथ युद्ध करेगे तब उनके साथ लम्बे समय तक चलने वाला महायुद्ध प्रारम्भ हो जाएगा। शत्रुगण सगठित होने से तथा साधन सम्पन्न होने से जब वे अपने प्रबल आक्रमण से मुझे थोडा सा पीछे धकेल देगे* तब मेरा क्रोध भडक उठेगा और लडने का जोश भी जाग उठेगा। उस जोश के आवेग मे मै एक-एक के बल-पराक्रम को चकनाचूर कर दूँगा, सब को मार दूँगा। युद्ध-भूमि से भागकर पाताल मे भी जायेंगे तब भी वे मुझसे बच नही सकेंगे।' पूर्ववर्णित उस रक की भिक्षा के बचाव मे अन्य भिखारियो के साथ लडाई के हवाई-किले के समान इस जीव की पूर्वोक्त मनोदशा को समझे।

पुनः यह जीव कल्पना करता है—'इस प्रकार समग्र भूमण्डल के समस्त राजाओ पर विजया होने से मेरा चक्रवर्ती पद पर अभिषेक किया जायेगा। इसमे त्रिभुवन (स्वर्ग, मृत्यु, पाताल) मे ऐसी कोई वस्तु शेष नही रहेगी जो कि मुझे उपलब्ध न हो।' राजपुत्रादि की अवस्था मे उत्पन्न जीव इस प्रकार के बहुधा निष्प्रयोजन हजारो सकल्प-विकल्पो के जाल मे फँसकर अपनी आत्मा को आकुलित बनाये रखता है और रौद्रध्यान से पूरित होता है। इससे यह जीव सघन कर्मों को बाँधता है और उसके फलस्वरूप नरक मे पडता है तथा अनेक प्रकारो के दुख और मानसिक वेदनाओ को भोगता है। पूर्वभवो मे पुण्योपार्जन न करने के कारण उसे मानसिक-सन्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नही होता है। इस विवेचन से यह समझना चाहिये - "जब यह जीव राजकुमार जैसी अवस्था मे विशाल हृदय वाला होता है तब उसे उस समय सामान्य वस्तुएँ प्राप्त करने की कोई अभिलाषा नही होती, किन्तु वह विपुल और महर्घ्य अर्थ की कामना करता है, स्वाभाविक रूप से महत्वाकांक्षी होता है। ऐसे समय मे भी जिन्होंने शान्तरस रूपी अमृतपान का आस्वादन कर उस रस की महत्ता को समझा है और जो विषयरूपी विष के दारुण विपाको को जानते है, जो सिद्धिवधू को प्राप्त करने के अध्यवसायी है, ऐसे भगवत्स्वरूप श्रेष्ठ साधुजनो की दृष्टि मे इस जीव की राजकुमारादि अवस्थायें तुच्छ दरिद्री जैसी प्रतीत होती है, तो फिर इस जीव की अन्य दयनीय अवस्थाओ का उनकी दृष्टि मे स्थान ही कहाँ है ?"

---

* पृष्ठ ३७

जीवन की प्रगल्भता

तत्त्वमार्ग से अनभिज्ञ यह जीव जब ब्राह्मण, वैश्य, अहीर, और अन्त्यज (नीच जाति) आदि जातियों में उत्पन्न होता है तब उस समय उसकी अभिलाषायें अत्यन्त तुच्छ होने के कारण कदाचित् उसे छोटे-छोटे दो-तीन ग्राम प्राप्त हो जाते हैं तो वह स्वयं को चक्रवर्ती मान बैठता है। एक-आध खेत का मालिक हो जाता है तो स्वयं को महामण्डलीक राजा मान लेता है। उसे कोई कुलटा स्त्री प्राप्त हो जाये तो वह उसे देवांगना समझ बैठता है। स्वयं की देह के कुछ अग बेडोल होने पर भी स्वयं को मकरध्वज (कामदेव) समझता है। मातंगों (ढेड-चमार) के मोहल्ले मे रहने वालों के समान अपने परिवार को इन्द्र के परिवार के समान समझता है। कदाचित् उसे तीन-चार सौ या तीन-चार हजार रुपये प्राप्त हो जाये तो स्वयं को कोट्याधिपति मान लेता है। किसी समय उसके खेत मे पाँच या छ द्रोण (३० किलो के लगभग एक द्रोण होता है) अनाज की पैदावार हो जाये तो स्वय को बडा कुबेर मान बैठता है। कदाचित् अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण सुख पूर्वक कर लेता है तो स्वयं को राज्यपालक मान लेता है। कदाचित् उदरपूर्ति निमित्त कोई काम-धन्धा मिल जाये तो वह उसे उत्सव मानता है। कदाचित् भिक्षा प्राप्त हो जाये तो जीवन मिल गया हो ऐसा मानता है। किसी समय में राजा अथवा अन्य किसी को शब्दादि इन्द्रिय सुखों को भोगते देखकर उनके सम्बन्ध में वह विचार करता है— 'अहो! यह इन्द्र है, देव है, वन्दनीय है, पुण्यशाली है, महात्मा है, सचमुच मे यह भाग्यशाली पुरुष है, मुझे भी यदि ❀ विषय-सुख भोगने का अवसर मिल जाये तो मैं भी इसके समान विलास करूँ।' इस प्रकार व्यर्थ के विचारों मे गोते लगाता हुआ यह जीव केवल खेद को प्राप्त करता है।

राज्य सेवा

इस प्रकार की निष्फल कल्पनाओं से दुःखित होकर, यह जीव उन वस्तुओं को प्राप्त करने की अभिलाषा से राजसेवा करता है। राजा की उपासना (सेवा) करता है। सर्वदा उनके सन्मुख झुका हुआ रहता है। उनके मनोनुकूल बाते करता है। स्वयं शोकाक्रान्त होने पर भी स्वामी को हँसते देखकर स्वयं भी हँसता है। स्वय के घर में पुत्र उत्पन्न होने से आनन्दमग्न होते हुये भी स्वामी को रोते देखकर स्वय भी रोने लगता है। राजा के प्रिय व्यक्ति स्वय के शत्रु हों तब भी उनकी प्रशसा करता है। राजा के शत्रुओं की जो स्वयं के घनिष्ठ इष्टमित्र हों तब भी राजा के सन्मुख उनकी निन्दा करता है। राजा के आगे-पीछे दौड़ता रहता है। श्रम से चूर होते पर भी राजा के पैर दबाता है। उनके अशुचिपूर्ण स्थानों की भी हाथ से सफाई करता है। राज्य के आदेश से समस्त प्रकार के जघन्य कार्य भी करता है। यमराज

❀ पृष्ठ ३८

के मृग के समान युद्धभूमि में चला जाता है। तलवार, भाला आदि के आघात सहने के लिये स्वयं का सीना (छाती) आगे कर देता है। धन की कामना वाला यह दरिद्री जीव इस प्रकार के दुःख भोग कर भी कामनायें पूर्ण होने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त करता है।

खेती

यह जीव किसी समय खेती करता है तब रात-दिन खेत में खपा रहता है। हल चलाता है, जंगल में रहकर पशुओं की जिन्दगी का अनुभव करता है, अर्थात् पशु जैसा जीवन बिताता है। अनेक प्रकार के छोटे-मोटे जीवों का नाश करता है। वर्षा के अभाव में सन्ताप करता है और बीजनाश होने पर दुःखी होता है।

व्यापार

पुनः यह जीव कदाचित् व्यापार करता है तब उसमें वह झूठ बोलता है, विश्वासु और भोले लोगों को ठगता है, परदेश जाता है, सर्दी-गर्मी को सहता है, भूखा रहता है, प्यास को भी भूल जाता है, अनेक प्रकार के त्रास और परिश्रम से होने वाले सैंकड़ों दुःखों को झेलता है, समुद्री यात्रा करता है, जहाज डूब जाने या भग्न हो जाने पर मौत की स्थिति का आलिंगन करता है, जलचरों का भोजन बन जाता है। कदाचित् पर्वतों की गुफाओं में घूमता है, राक्षसों की गुफाओं में जाता है, रसकूपिका (लोहे को भी स्वर्ण बनाने वाला रस) की खोज करता है, खोजते समय उसको रसकूपिका के रक्षक अपना भक्ष्य भी बना लेते हैं। किसी समय दुःसाहस कर बैठता है, भयंकर रात्रि में श्मशान में जाता है, मृतकों को ढोता है, उनका मांस बेचता है, विकराल वेताल की साधना करता है, साधना में त्रुटि रहने पर वह वेताल कुपित होकर उसे मार भी देता है। कदाचित् खनिज विद्या (मिनरोलोजी) का अभ्यास करता है, भूमि में रहे हुये धन-भण्डारों के लक्षणों का निरीक्षण करता है, किसी स्थान पर धन-निकल जाये तो उसे देखकर प्रसन्न होता है, उस धन को ग्रहण करने के लिये रात्रि में भूतों को बलि देता है, निधान-पात्र को निकालता है किन्तु उस पात्र में धन के स्थान पर कोयले देखकर अत्यन्त दुःखी होता है। किसी समय धातुवाद (मेटलर्जी) का अनुशीलन करता है। धातुवाद के जानकार (विज्ञ) की सेवा-शुश्रूषा करता है, उसके आदेशों का पालन करता है, अनेक प्रकार की जड़ी-बूँटियों को इकट्ठा करता है, धातुमृत्तिका (तेजमतूरी) लाता है, पारद (पारा) को समीप लाकर रखता है उस पारे को जलाना, उड़ाना आदि क्रियाओं में अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है, उसे रात-दिन धोंकता रहता है, प्रतिक्षण उसे फूँकता है, पीत और श्वेत रंग की किंचित् भी सिद्धि होते देखकर हर्षवशात् फूलकर कुप्पा हो जाता है। रात-दिन आशा के लड्डू खाया करता है। स्वयं के पास थोड़ा-बहुत संचित धन होता है, उसे भी इस प्रकार

की सिद्धियो के पीछे फूँक देता है और अन्त मे किसी भी प्रकार की सफलता न मिलने पर निराश होकर मृत्यु को प्राप्त करता है।

धन की खोज

पुन. यह प्राणी विषयभोगो को प्राप्त करने की लालसा से धन सग्रह के लिये चोरी करता है, जुआ खेलता है, यक्षिणी (देवी-देवताओ) की आराधना करता है, मन्त्रों का जप करता है, ज्योतिष की गणना करता है, निमित्त (शकुन) का योग मिलाता है, लोगो का हृदय अपनी ओर आकर्षित करता है,* तत्सम्बन्धी समस्त कलाओ का अभ्यास करता है। अधिक क्या कहे ? धन प्राप्ति के लिये ऐसा कोई काम बाकी नही रहता जिसे वह न करता हो, ऐसा कोई वचन नही जिसे वह नही बोलता हो और ऐसा कोई विचार नही जिसका वह चिन्तन नही करता हो। धन के लिये इधर-उधर फर्र-फर्र मारता हुआ घूमता-रखडता रहता है। इतनी भाग-दौड़ करने पर पूर्वोपार्जित पुण्य से शून्य (रहित) होने के कारण इच्छित धन के स्थान पर तिल के छिलको का तीसरा हिस्सा भी उसे नही मिलता। यदि मिलता है तो केवल रात-दिन का मानसिक सन्ताप और रौद्रध्यान से ग्रस्त होने से गुरुतर कर्मो का बन्धन और इस बन्धन के गुरुतर बोझ से यह जीव दुर्गति मे जाने योग्य स्थितियो की अभिवृद्धिकरता है।

वास्तविक भिक्षुपन

यदि कदाचित् किंचित् पूर्वोपार्जित पुण्योदय से इस जीव को हजारों या लाखों रुपये अथवा मनोनुकूल पत्नी अथवा शारीरिक सौन्दर्य अथवा विनीत परिवार अथवा धान्य का भण्डार अथवा कतिपय ग्रामों का स्वामित्व अथवा राज्यादिक प्राप्त हो जाये तो जैसे पूर्वकथित 'निष्पुण्यक दरिद्री को भिक्षा में थोडी सी झूँठन प्राप्त हो जाने पर वह सन्तुष्ट हो जाता था' वैसे ही यह जीव अहंकार रूपी सन्निपात से ग्रस्त हो जाता है। गर्वोन्मत्त होकर वह किसी की प्रार्थना को भी नही सुनता है, दूसरो की ओर दृष्टि भी नही उठाता है, गर्दन भी नही झुकाता अर्थात् अकड़कर चलता है, मधुर वचनो का प्रयोग भी नही करता है, बिना कारण ही आँखें बन्द रखता है और वृद्धजनो को अपमानित करता है। इस प्रकार अत्यन्त क्षुद्र अभिप्रायो से जिसका मूलस्वरूप नष्ट हो चुका है ऐसा जीव ज्ञान दर्शन चारित्रादि रत्नो से परिपूर्ण परमोच्च भगवत्स्वरूप मुनिपुङ्गवो की दृष्टि मे दीन-हीन भिखारियो से भी निष्कृष्टतम कैसे प्रतिभासित नही होगा ? अर्थात् मुनिपुगवों की दृष्टि में पूर्वोक्त क्षुद्र अभिप्रायों वाला और विवेकहीन जीव निकृष्ट ही प्रतीत होता है।

भिक्षुक से भी अधम

जब यह जीव पशुयोनि मे अथवा नरक मे रहता है उस समय इस जीव को दी गई 'भिखारी-दरिद्री' की उपमा का भी यह अतिक्रमण कर देता है, क्योकि

* पृष्ठ ३९

महर्द्धिकमहातेजस्वी इन्द्रादि देव शब्दादि इन्द्रियों के विषयो को यथेच्छ सुखपूर्वक भोगने मे योग्य, दीर्घकाल पर्यन्त सुखी अवस्था में रहने वाले भी यदि सम्यक्-दर्शन रूपी रत्न से रहित होते है तो विवेकरूपी धन से समृद्ध महर्षियों की दृष्टि मे वे दरिद्रता से आक्रान्त की प्रतिमूर्ति और विद्युत् चपलता के समान जीवन धारण करने वाले प्रतीत होते है। ऐसी दशा मे ससार रूपी उदर की गुफा में रहने वाले शेष समस्त प्राणियों के लिये तो उन महर्षियो की दृष्टि मे स्थान ही कहाँ है ?

धनवान की कुशंकाएँ

जैसे पूर्वोक्त अनेक प्रकार के तिरस्कार से प्राप्त झूठा अन्न खाते हुए उस भिखारी को सर्वदा यह शंका बनी रहती थी। कि 'कोई शक्र जैसे बलवान् पुरुष मेरा भोजन चुरा न ले' वैसे ही महामोह मे पडा हुआ यह जीव धन, औरत और उसके द्वारा कल्पित एवं मान्य वैभव जिसको उसने अत्यन्त कष्ट झेलकर प्राप्त किया है उनका उपभोग करते समय वह सर्वदा भयभीत बना रहता है। वह चोरो से डरता है, राज-भय-से त्रस्त रहता है, चचेरे भाई आदि स्वजनो से कांपता रहता है और याचको से उद्विग्न रहता है। यहाँ अधिक क्या कहे ? वह अत्यन्त निःस्पृही वीतरागी मुनिपुगवो से भी शकित रहता है। वह सोचता है—ये मुनिराज मुझे उपदेश देकर वचन चातुरी से ❀ छलकर मेरे धन को लूटना चाहते हैं। इस प्रकार कुविचाररूपी विष के नशे मे पडा हुआ यह क्षुद्रजीव सोचता रहता है—अरे! यह सारा धनमाल-मकान आदि कही आग की चपेट में आकर नष्ट न हो जाए, बाढ मे नष्ट न हो जाए, चोर आदि लूट न ले जाएँ, इसलिये इसकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिये, किन्तु उसका किसी पर भी विश्वास न होने से उसका कोई सहायक नही होता। अतएव वह अकेला ही रात में उठकर जमीन मे बहुत गहरा गड्ढा खोदता है, किसी को ज्ञात न हो इस प्रकार धीमी गति से चलकर अपना धन उस गड्ढे मे रखता है और गड्ढे को पूर कर समतल कर देता है। उस पर धूल और कचरा आदि डालता है ताकि उस स्थान को कोई पहचान नही सके। भविष्य मे स्वय भी उस स्थान को कही भूल न जाए इसलिये उस पर अनेक प्रकार के चिह्न (निशान) लगाता है। कोई भी प्राणी किसी प्रयोजन से उस स्थान की ओर आवागमन करे तो वह पुन पुनः उसको ध्यान पूर्वक देखता है। कदाचित् उस स्थान पर स्वाभाविक रूप से किसी की दृष्टि पड़ जाए तो उसके हृदय मे शकाएँ बलवती हो जाती है और सोचता है—'ओह ! इसको मालूम पड़ गया है, इस प्रकार की शकाओ से ग्रस्त और व्याकुलता के कारण उसे रातभर नीद नही आती। रात मे ही उठकर उस स्थान पर जाकर, उस गड्ढे से धन निकालकर दूसरा

❀ पृष्ठ ४०

गड्ढा खोदकर उसमे धन रखता है। धन को गाडते समय भय के कारण चारो ओर देखता रहता है, कही कोई मुझे देख न ले इस भय से अपना शारीरिक व्यापार बन्द कर देता है अर्थात् निष्पन्द और निश्चेष्ट-सा होकर कार्य करता है। फिर भी उसका मन उस गाडे हुए धन के बन्धन मे ऐसा बध जाता है कि उस स्थान से उसका मन एक कदम भी पीछे नही लौटता। उस धन की रक्षा के लिये सैकडो प्रयत्न करने पर भी कदाचित् सयोगवश उस स्थान को कोई पहचान जाए और उस धन का हरण कर ले तो उस समय उस पर अकाल मे ही वज्रपात सा हो जाता है। वह मृतप्राय होकर प्रलाप करता है—ओ बाप! हाय माँ! अरे भाई! मै मर गया। इस प्रकार व्यथित वचनो से रुदन करता हुआ वह विवेकीजनों की करुणापूर्ण सान्त्वना प्राप्त करता है। धन-नाश के आघात से वह मूर्छित हो जाता है और कदाचित् मृत्यु को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार थोडे से धन पर मरने वाले प्राणियो के व्यवहार और चेष्टाओ का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया है।

कामुक की चेष्टाएँ

इसी प्रकार स्वय की स्त्री के मोहपाश मे बधा हुआ यह जीव ईर्ष्यारूपी शल्य से पीडित होता है। अन्य किसी प्राणी की मेरी पत्नी पर दृष्टि न पड जाए इस भय और ईर्ष्या से वह अपने घर से बाहर नही निकलता। उसकी रातो की नीद हराम हो जाती है, माता-पिता का भी त्याग कर देता है, स्वजन-सम्बन्धियो के प्रेम मे शैथिल्य लाता है, अपने इष्टमित्रो को भी घर पर आने का निमन्त्रण नही देता, धर्मकार्यो का तिरस्कार करता है, और लोकनिन्दा का भी भय नही रखता। वह तो केवल स्त्री के मुख को अनवरत देखता रहता है, मानो वह परमात्मा की मूर्ति हो और स्वय एक योगी हो! इस प्रकार सारे कामकाज छोडकर वह प्रतिक्षण उसका ही ध्यान करता हुआ घर मे बैठा रहता है। उसकी वह स्त्री जो कुछ करती है वह उसे अच्छा लगता है, वह जो कुछ बोलती है उसे आनन्दकारी प्रतीत होता है, वह जो कुछ चाहती है उसे उसकी चेष्टाओ से समझकर वह वस्तु प्राप्त करने योग्य है ऐसा मानता है। * मोह-विडम्बित जीव मन मे विचार करता है—यह मेरे ऊपर अनुराग रखती है, मेरा हित करने वाली है, इसके समान सुन्दर, उदार और सौभाग्यादि गुणो से युक्त अन्य दूसरी स्त्री सारे विश्व मे नही है। यदि कदाचित् कोई पुरुष उसकी पत्नी का माता, बहिन, बेटी अथवा पुत्री की दृष्टि से उसकी ओर झाके तब भी वह अपनी मूर्खता के कारण उन पर अत्यन्त कुपित हो जाता है, विह्वल हो जाता है, मूर्छित हो जाता है और जैसे मर ही रहा हो ऐसी दशा को प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा मे क्या करना चाहिये,

* पृष्ठ ४१

इसका भी उसे भान नही रहता। कदाचित् किसी कारण से उसका पत्नी से वियोग हो जाये अथवा वह मर जाये तब वह रोता है, शोक करता है अथवा मर भी जाता है। यदि उसकी स्त्री दुराचारिणी होने से अन्य पुरुषो के साथ सम्पर्क रखती हो अथवा कोई पुरुष बलात्कार पूर्वक उसका हरण कर ले जाये तो यह मोहान्ध जीव जीवन पर्यन्त मन ही मन मे जलता रहता है या अत्यधिक दुःख से प्राण भी त्याग कर देता है। इस प्रकार एक-एक वस्तु के प्रतिबन्धन में आसक्त यह जीव अनेक प्रकार के दु खो को सहता है तथापि विपरीत बुद्धि के कारण उन वस्तुओ के रक्षण मे तत्पर बना रहता है और मेरी किसी वस्तु का कोई हरण न कर ले इस शका से सर्वदा उद्वेलित रहता है।

तृप्ति का अभाव

पूर्व मे निष्पुण्यक के प्रसग मे कह चुके है—'उस थोडे से भूँठन से उस बेचारे की तृप्ति तो क्या होती, उसकी भूख और अधिक प्रज्वलित हो जाती।' उसी प्रकार इस जीव को भूँठन के समान अर्थ, स्त्री और विषयभोगो की इच्छानुसार प्राप्ति और उपभोग करने पर भी उसकी इच्छाओं का कभी शमन नही होता, प्रत्युत उसकी तृष्णाएँ निरन्तर बलवती होकर बढती रहती है। जैसे उसे यदि कदाचित् सौ रुपये प्राप्त हो जाये तो वह हजार की कामना करता है, हजार प्राप्त हो जाये तो लाख की अभिलाषा करता है, लाख प्राप्त हो जाये तो करोडपति बनने की इच्छा करता है, कोट्याधिपति हो जाये तो राज्य-प्राप्ति की कामना करता है, राजा बन जाता है तो चक्रवर्ती बनने की मृगतृष्णा जग जाती है, यदि कदाचित् चक्रवर्ती भी बन जाता है तो देवत्व की आकांक्षा करता है, देवत्व भी प्राप्त हो जाये तो इन्द्रत्व की प्रार्थना करता है। इन्द्र भी बन जाये तो सौधर्मादि देवलोको से ऊपर उत्तरोत्तर अनुत्तरकल्प का अधिपति बनने का मनोरथ करता है। इस प्रकार इस जीव की भी मनोरथो की सकल्पमाला मृगतृष्णा के समान निरन्तर बढती ही रहती है, वह कभी समाप्त नही होती। जैसे भयकर ग्रीष्म ऋतु मे जिसका शरीर चारो ओर से झुलस रहा हो, जो अत्यधिक प्यास से बेहाल होकर मूर्छित हो गया हो ऐसा कोई बटाउ (पथिक) अचेतनावस्था में स्वप्न मे जलतरगो से सुशोभित सरोवरो से कितना भी पानी पी ले तब भी उसकी प्यास रचमात्र भी बुझती नही, वैसे ही इस जीव की अर्थ, स्त्री और विषयभोगो की प्यास कदापि शान्त नही होती। अनादि ससार मे रखडते हुये इस जीव ने अनन्तबार देवभव प्राप्त किया, विषय-भोगो की सामग्री का छककर उपभोग किया, महामूल्यवान सख्यातीत रत्न प्राप्त किये, रति के विभ्रम को भी खण्डित करने वाली विलासिनी ललनाओ के साथ विलास किया और तीनो लोकों मे अतिशय मनोरम मानने योग्य अनेक प्रकार की क्रीडाएँ की, * तथापि यह जीव जैसे प्रबल भूख लगने से पेट कमर को लग जाता है वैसे ही वह पूर्व मे भुक्त विषय भोग अथवा

---

* पृष्ठ ४२

भुक्त भोजन की बात को भूल जाता है, उसे याद भी नही करता, केवल नई-नई भोग सामग्री प्राप्त करने की अभिलाषा में सूखकर काटा होता रहता है।

उदरशूल

पूर्व में कह चुके है कि.—'बेचारा निष्पुण्यक उस कदन्न को बड़ी लोलुपता से खाता है। उस झूँठन के पचते-पचते उसके शरीर में वात-विशूचिका उठ खडी होती और यह पीडा उसे अत्यन्त दु खित करती।' इसका जीव के साथ सम्बन्ध इस प्रकार योजित करें —रागादि में लुब्ध यह जीव जब झूँठन के समान धन, विषय और स्त्री को प्राप्त कर उसका आसक्तिपूर्वक उपभोग करता है तब उसे कर्म-संचय रूप अजीर्ण होता है। कर्मों के उदय में आने पर जब वह उनको पचाता रहता है (निर्जरा करता है) तब नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में भटकने रूप उदरशूल पैदा होता है। इस प्रकार सञ्चित कर्म इस जीव को अत्यधिक पीड़ित और त्रस्त करते है। पुनश्च जैसा कि पूर्व में कह चुके है:—'वह भोजन उसके लिये असाध्य रोगो का कारण बनता और शरीर में पहले से स्थित रोगों को बढ़ाने में सहायभूत बनता' वैसे ही यह जीव जब रागादि से ग्रस्त होकर विषयादि का उपभोग करता है तब उस आसक्ति के कारण पूर्ववर्णित महामोह के लक्षण वाली अनेक नवीन व्याधियाँ उत्पन्न होती है और वह पहले जिन व्याधियो से पीडित था उनमें अतिशय वृद्धि होती है; क्योकि कर्म-सचय ही कुभोजन है। इससे नये कर्मो का बन्धन होता है ओर पूर्व कर्मों को स्थिति, अनुभाग (रस) भी-अधिक तीव्र बनते है।

सुस्वाद से विहीन

पूर्व में कहा जा चुका है —'इस वास्तविकता की उपेक्षा करते हुये निष्पुण्यक उसी भोजन को अच्छा मानता और उससे सुन्दर भोजन की तरफ दृष्टिपात भी नही करता। सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन चखने का कभी उसे स्वप्न में भी अवसर प्राप्त नही हुआ।' यह कथन इस जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है। इस जीव की चित्तवृत्ति महामोह से कुण्ठित (ग्रस्त) होने से वह अनेक दोषो को उत्पन्न करने वाले धन, विषय, स्त्री आदि को सुखदायक और आत्महित-कारी मानता है। स्वाधीन (जब इच्छा हो तब प्राप्त कर सके) अतिशय आनन्द और तृप्तिदायक महाकल्याणकारी पारमार्थिक चारित्ररूपी खीर का भोजन जब प्राप्त होता है तब यह बेचारा जीव उसे प्राप्त नही कर पाता, क्योकि महामोहरूपी निद्रा से कार्याकार्य को बताने वाले उसके विवेकरूपी नेत्र खुलते ही नही है। अनादि काल से परिभ्रमण करते हुये इस जीव को पहले कदाचित् यह महाकल्याणक भोजन प्राप्त हो गया होता तो समस्त क्लेश-समूह का नाश करने वाला मोक्ष उसे कभी का मिल गया होता तथा वह इतने समय तक ससार में भटकता भी नही। यह मेरा जीव तो अभी भी ससार में भटक रहा है, इससे यह प्रमाणित है कि मेरे इस जीव ने सच्चारित्र रूपी सुभोजन कभी प्राप्त ही नही किया।

अनन्त काल से परिभ्रमण

पूर्व में कह चुके हैं — 'वह दरिद्री भीख माँगते हुये अदृष्टमूलपर्यन्त नगर के छोटे-बड़े घरों में, भिन्न-भिन्न मोहल्लो और गलियों मे बिना थके भटकता रहता।' इस जीव की स्थिति भी इसके समान ही है। इस जीव ने भी अनादि काल से अनन्त पुद्गल परावर्त किये है अर्थात् अनन्त पुद्गल परावर्त जितना समय यह जीव ससार मे परिभ्रमण करता रहा है।* पुनश्च 'दु खग्रस्त महादुर्भागी को यो भटकते हुये उसे कितना समय बीत गया इसका भी उसे ध्यान नही रहा।' इस की सगति इस प्रकार है — यह जीव कितने काल तक भव भ्रमण द्वारा ससार में रखडता रहा, इस काल का निर्णय करना अशक्य है, क्योकि जिस काल का प्रारम्भ ही न हो, अनादि हो उसकी गणना करना (सीमा मे बाधना) न केवल अशक्य है अपितु असम्भव भी है।

इस प्रकार यह मेरा पामर जीव इस ससार रूपी नगर के उदर में भूठे सकल्प-विकल्प, कुतर्क, कुतीर्थिक-दर्शन रूप दुर्दान्त बाल-समह से तत्त्वाभिमुख सुन्दर शरीर पर मिथ्यात्व रूप मार खाता हुआ महामोह आदि अनेक रोगो से ग्रस्त शरीर वाला हो गया है और इन निकृष्ट व्याधियो के अधीन होकर, नरकादि स्थानो मे अत्यन्त पीड़ाएँ सहन करने से इसका स्व-स्वरूप भ्रष्ट हो गया है। जिनका चित्त विवेक बुद्धि से निर्मल हो गया है ऐसे सज्जनो की दृष्टि मे यह जीव कृपा का पात्र बनता है। फिर भी यह जीव आगे-पीछे के विचारो से शून्य और व्याकुलित चित्त वाला होने से तत्त्वबोध (सम्यक्-ज्ञान) से बहुत दूर रहता है। इन सब कारणो से प्राय समस्त प्राणियो की तुलना मे यह जीव जघन्यतम (अधम) है। अधम मनोवृत्ति के कारण कुत्सित भोजन के समान धन, विषय, स्त्री आदि प्राप्त करने की आशा से दुराशा रूपी पाश मे जकडा रहता है। कदाचित् उसकी इच्छाओ की नाममात्र की भी पूर्ति हो जाती है तो वह किंचित् तृप्ति (सन्तोष) का अनुभव करता है, किन्तु यह तृप्ति स्थिर नही रहती। वह सदा असन्तुष्ट रहता है। उसे अभिलाषित वस्तुएँ किस प्रकार प्राप्त हो, किस प्रकार वे बढती रहे और किस प्रकार उनको सुरक्षित रखूँ, इन्ही विचारो में वह सर्वदा डूबा रहता है। इन विचारो के फलस्वरूप वह गुरुतर, निविड और दुर्दम्य आठ प्रकार के कर्म-सचय रूप अपथ्यरूपी नाश्ता-भोजन (संबल) बाँध लेता है। इस अपथ्य भोजन का सेवन करने से इस जीव को राग आदि व्याधियाँ अत्यधिक बढ जाती है और वह इन व्याधियो को भोगता है। विपरीत बुद्धि के कारण इन बीमारियो की जड क्या है? इसकी उपेक्षा कर, सर्वदा कुपथ्य भोजन का अधिक मात्रा में सेवन करता है, किन्तु सच्चारित्र रूप अतिस्वादिष्ट परमान्न (खीर) को चखना भी वह पसन्द नही करता। फलस्वरूप यह जीव 'अरघट्टघटीयन्त्र' के न्यायानुसार अनन्त पुद्गल परावर्त पर्यन्त समस्त योनियो (उत्पत्ति स्थानो) मे घूमता रहता है, भटकता रहता है।

* पृष्ठ ४३

[७]

उस दरिद्री के प्रसंग मे आगे क्या हुआ ? अब इसका वर्णन करते है :—

इस कथा-प्रबन्ध का विषय तीन काल का है, अत' भूत-भविष्य-वर्तमान काल को ध्यान मे रखकर क्रियापदो का विभिन्न रूप मे प्रयोग किया गया है, किन्तु उनका आशय एक समान ही है। व्याकरणवेत्ताओ के अनुसार कथन करने वाले की विवक्षा के अनुसार ही कारक की प्रवृत्ति होती है और कारक के अनुसार ही काल की प्रवृत्ति होती है। कारक (कर्ता) के समान काल का भी एक स्वरूप वाली वस्तु मे, वस्तु की स्थिति के परिवर्तन से विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति देखी भी जाती है और अभीष्ट भी है। जैसे यह मार्ग पाटलिपुत्र जाता है, इस मार्ग मे पाटलिपुत्र से पहले वहाँ कुँआ था/हुआ करता था/कभी था/होगा/रहेगा, इत्यादि काल के रूप एक कुँए के लिए ही हैं, किन्तु विवक्षा के अनुसार इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों मे किया जा सकता है और यह पद्धति उपयुक्त भी है, अस्तु।

सुस्थित महाराज और स्वकर्मविवर द्वारपाल

'इस नगर मे सुस्थित नामक एक प्रख्यात महाराजा राज्य करता था, जो स्वभाव से ही सब प्राणियों पर अत्यधिक प्रेम रखने वाला था।' ऐसा पूर्व मे कहा है। इस सुस्थित राजा को ही यहाँ परमात्मा, जिनेश्वर, सर्वज्ञ, भगवान् समझे। समस्त प्रकार के क्लेश नष्ट हो जाने से, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्तवीर्य के धारक होने से, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और अतिशय * अनन्त आनन्दसिन्धु स्वरूप होने से जिनेश्वर ही वास्तविक रूप में सुस्थित नाम के योग्य हैं। अविद्या, अज्ञान आदि क्लेश-समूहो के अधीन रहने वाले अन्य कोई भी इस नाम के योग्य नही हैं; क्योंकि मिथ्यात्व के कारण वे दुःस्थित (दुःख की स्थिति मे रहने वाले) हैं। ये भगवान् समस्त प्राणीवर्ग का अत्यन्त सूक्ष्मरूप से रक्षण करने का उपदेश देते है, मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र ही हो सके ऐसा कुशलता के साथ सिद्धान्त-मार्ग का प्रवचन करते हैं और वे स्वभाव से ही अत्यन्त वात्सल्य भाव से सराबोर हृदय के धारक हैं। मनुष्य और देवताओ के अधिपति चक्रवर्ती और इन्द्रादिक से अधिक कीर्ति के धारक होने से इन्हे प्रख्यात कहा गया है, क्योंकि देव और मनुष्य भी प्रशस्त मन वचन काय के योग में प्रवृत्त होकर अनवरत इनकी स्तुति करते है, अतएव सर्वज्ञ भगवान् ही महाराज शब्द को धारण करने के योग्य हैं।

कथा प्रसंग मे कह चुके हैं—'एक बार घूमते हुए वह निष्पुण्यक दरिद्री राजा के भवन के पास पहुँच गया। उस भवन के द्वार पर स्वकर्मविवर नामक

---

* पृष्ठ ४४

द्वारपाल नियुक्त था। उस अत्यन्त करुणाजनक भिखारी को देखकर द्वारपाल ने कृपाकर उसे अपूर्व राजमन्दिर मे घुसने दिया।' इस कथन की सगति इस प्रकार है— कदाचित् यह जीव 'घर्षण-घूर्णन' न्याय से जव यथाप्रवृत्तिकरण करता है तव आयुष्य कर्म को छोडकर, शेप सातो कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति को कम कर, सव कर्मो को एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति तक ले आता है और सभी कर्मो की अधिक स्थिति का क्षय करता है। जव यह जीव सात कर्मो की एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति मे से भी कथचित् स्थिति का क्षय कर लेता है तव आचाराग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादशाग आगम रूप अथवा उसके आधारभूत चतुर्विध साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप श्री सघ के लक्षण वाला आत्मनृपति सुस्थित महाराज के राजमन्दिर को प्राप्त करता है। इस सर्वज्ञ शासन रूपी मन्दिर का स्वकर्मविवर अर्थात् स्वयं के कर्मो का विच्छेदक (विनाशक) जो कि यथार्थ नाम और गुण का धारक है, वही द्वारपाल होने की योग्यता रखता है। यही स्वकर्मविवर इस मन्दिर मे प्रविष्ट होने मे सहायक होता है। यहाँ राग, द्वेप, मोह आदि और भी अनेक द्वारपाल है किन्तु ये द्वारपाल इस जीव को राजमन्दिर मे घुसने नही देते, अपितु अनेक प्रकार के रोडे अटकाते है। यह जीव सर्वज्ञदेव के मन्दिर के द्वार के समीप अनन्तवार आया और आता रहता है, किन्तु राग, द्वेप, मोह आदि द्वारपाल उसको धक्का देकर दूर भगा देते है। कदाचित् ये राग-द्वेपादि द्वारपाल इस जीव को दरवाजे के भीतर तो आने देते है, परन्तु वास्तविक रूप मे यह जीव प्रविष्ट हुआ, ऐसा प्रतीत नही होता। क्योकि राग, द्वेप, मोह आदि से आकुल-व्याकुल चित्त वाले और वाहर से मुनि अथवा श्रावक के चिह्नो को धारण करने वाले कदाचित् सर्वज्ञ-मन्दिर के भीतर प्रवेश भी कर जाएँ तो भी वे सर्वज्ञ-शासन मन्दिर के वाहिर ही है, ऐसा समझे। अर्थात् वाह्य दृष्टि से साधु अथवा श्रावक का आडम्वर रखने वाले साधना पथ की ओर अग्रसर नही हो सकते, अतएव वस्तुत. वे सर्वज्ञ-शासन भवन के वाहिर ही है। राजभवन के द्वार तक पहुँचने पर, स्वकर्मविवर द्वारपाल इस जीव को ग्रन्थिभेद करवाकर सर्वज्ञ-शासन मन्दिर मे प्रवेश करवाता है। इस प्रकार इस जीव का मन्दिर-प्रवेश युक्तिसगत प्रतीत होता है।

[८]

राजमन्दिर का वैभव

निष्पुण्यक के कथानक मे कहा गया था—"इस दरिद्री ने पूर्व मे कभी नही देखा ऐसा विविध प्रकार के ऐश्वर्य और समृद्धि से परिपूर्ण, राजा, प्रधान (मत्री), सेनापति, कामदार और कोतवाल आदि से अधिष्ठित, वृद्धजनो से युक्त, सैन्यवृन्द से आकीर्ण, विलासवती सुन्दर ललनाओ से पूर्ण, उपमा रहित, ❀ अत्युत्तम

❀ पृष्ठ ४५

शब्दादि इन्द्रिय विषयों के भोगों से भरपूर तथा जहाँ सर्वदा उत्सव होते रहते है, ऐसा राजमन्दिर देखा।" इसी प्रकार इस जीव ने ससारचक्र मे परिभ्रमण करते हुए आज तक वज्र के समान दुर्भेद्य और क्लिष्टतम कर्म की जटिल गाठ का भेदन (ग्रन्थिभेद) नही किया था। उसे स्वकर्मविवर प्राप्त होने से ग्रन्थिभेद कर जब वह सर्वज्ञ-शासन के मन्दिर में प्रवेश करता है तब उसे यह सर्वज्ञ-शासन मन्दिर उस राजमन्दिर के समान ही ऐश्वर्यादि विशेषणो से युक्त प्रतीत होता है। तुलना इस प्रकार है :—

इस मौनीन्द्र (जिनेश्वर) शासन मे अज्ञानरूपी अन्धकार पटल के प्रसार का नाश करने वाले, ज्ञान रूपी विविध प्रकार के रत्नपुञ्जों को धारण करने वाले, जाज्वल्यमान निर्मल प्रकाश से तीन भुवन के समस्त प्रदेशो को प्रकाशित करने वाले विशिष्ट प्रकार के ज्ञान दृष्टिगोचर होते है। यहाँ भगवान् के प्रवचन मे मुनिपुङ्गवो के शरीर को शोभित करने वाली, रमणीय मणि-रत्नो से जडित श्रेष्ठ आभूपणो की सुन्दराकृति को धारण करने वाली आमर्ष औषधि आदि अनेक प्रकार की लब्धियाँ विद्यमान है। इस जिन शासन में अत्यधिक सुन्दर होने के कारण चित्र-विचित्र वस्त्रों के आकार को धारण करने वाले अनेक प्रकार के तप सज्जन पुरुषों के हृदय को आकर्षित करते है। इस परमेश्वर-मत में चपल उज्ज्वल वस्त्रो के चंदरवों में सुन्दर रचना और सम्यक् प्रकार से गुम्फित लटकते हुए मोतियों के गुच्छो को धारण करने वाले चरण-करण रूप मूल गुण और उत्तर गुण चित्त को आह्लादित करते है।

शासन प्राप्ति का फल

ऐसे जैनेन्द्र शासन में तदनुकूल आचरण करने वाले भाग्यशाली प्राणियों के सत्यवचन ताम्बूल के समान है। जैसे ताम्बूल मुख की शोभा है, मुख को सुगन्धित करता है और चित्त को आह्लादित करता है वैसे ही उनके उदार सत्यवचन श्रेष्ठत्व की सुगन्ध फैलाते हैं और मन को आनन्दित करने वाले है। जैन शासन मे मनोरम पुष्पपुञ्जो की आकृति को धारण करने वाले अठारह हजार शीलाग (अत्युत्तम चारित्र के अंग) अपनी सुगन्धि को समस्त दिशाओ मे फैलाते है। जैसे फूलो का समूह भ्रमरो को आनन्दित करता है वैसे ही ये शीलाग "मुनिपुङ्गवरूपी भ्रमरों को प्रमुदित करते है और जैसे फूलो को गूंथा जाता है वैसे ही ये शीलाग भी चित्र-विचित्र प्रकार की रचना से गुम्फित किये जाते हैं। पारमेश्वर मत मे सम्यक् दर्शन गोशीर्ष चन्दन के विलेपन के समान है। जैसे गोशीर्ष चन्दन का शरीर पर विलेपन करने से मानव को शीतलता प्राप्त होती है, वैसे ही यह सम्यग् दर्शन, मिथ्यात्व और कषायों के संतापों से जलते हुए भव्यजीवो के शरीर को अत्यन्त शीतलता प्रदान करते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञभाषित जैन दर्शन मे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र की प्रधानता है। जो भाग्यशाली प्राणी सर्वज्ञ-वाणी के अनुसार आचरण करते हैं वे अपने लिए नरक के अन्धकूप मे पडने का मार्ग बन्द

कर देते है, तिर्यञ्च गति के कारागृह को भग्न कर देते है, अधम मानवता के दु खो का दलन कर देते है, तुच्छ जाति के देवो के मन मे होने वाले सन्तापो का मर्दन कर देते हैं, मिथ्यात्व रूपी वेताल का नाश कर देते है, रागादि शत्रुओ को निप्पन्दित कर देते है, कर्मसचय रूप अजीर्ण को जीर्ण (शक्ति रहित) कर देते हैं, वृद्धावस्था के विकारों को तिरस्कृत कर देते है, मृत्युभय को हँसी मे उडा देते है और देवलोक तथा मोक्ष के सुखो को हस्तामलक कर लेते है। अथवा इस दर्शन का आचरण करने वाले भव्य प्राणी सासारिक सुखो की अवगणना करते है, इन सुखों की आवश्यकता का किंचित् भी अनुभव नही करते, अपनी बुद्धि से ससार के समस्त प्रपचो को हेय दृष्टि से देखते है और मोक्ष प्राप्ति के लिए तन्मयता पूर्वक अपने अन्त करण को उसकी ओर उन्मुख कर देते है। मुझे परमपद प्राप्त होगा, इस सम्बन्ध मे उन्हे किसी प्रकार का सदेह नही रहता, क्योकि उपाय और उपेय परस्पर विरुद्ध नही होते। वे समझते है कि परमपद की प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही एकमात्र मार्ग है और यह मार्ग अप्रतिहत शक्ति वाला है। * ऐसा प्रशस्त मार्ग उन्हे मिल जाने से उनको दृढ निश्चय हो गया है कि, इससे अधिक प्राप्त करने को कुछ भी शेष नही रहा, मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो गये। इन विचारो से उनको पूर्णतया मानसिक तोष प्राप्त होता है। (यह गोशीर्ष चन्दन के विलेपन से प्राप्त शान्ति और सम्यग् दर्शन प्राप्त भव्यो की मानसिक शान्ति की तुलना है।)

रत्नत्रयी का मार्ग प्राप्त करने के पश्चात् पारमेश्वर मत के भव्य उपासको को कदापि शोक नही होता, दैन्यभाव नही होता, उनकी उत्सुकता विलीन हो जाती है, काम-विकार नष्ट हो जाते है, जुगुप्सा के प्रति घृणा हो जाती है अर्थात् किसी भी वस्तु या प्राणी के प्रति जुगुप्सा के भाव नही जगते, उन्हे कदापि चित्तोद्वेग नही होता, तृष्णा कोसो दूर भाग जाती है और वे त्रास-पीडा को समूल नष्ट कर देते है। अधिक क्या ? उनके मन मे धैर्य रहता है, गम्भीरता निवास करती है, अतिप्रबल औदार्य होता है, प्रबल आत्म-विश्वास होता है और स्वाभाविक प्रशम-सुखरूपी अमृत का अनवरत आस्वादन करते रहने से उनके हृदय मे सर्वदा उत्सव चलते रहते है। इसी कारण उनकी राग-प्रबलता मन्द हो जाती है, रति-प्रकर्ष अर्थात् शुभराग—गुणानुराग बढ जाते है, मद—अहकाररूपी व्याधि नष्ट हो जाती है, मन मे सर्वदा प्रफुल्लता रहती है, आयुधो द्वारा नष्ट करने वालो और विलेपन करने वालो पर जैसे चदन की दृष्टि सम रहती है वैसी ही सम दृष्टि होने से उनका आनन्द कभी नष्ट नही होता।

जैनेन्द्र शासन मे स्थित भव्य-प्राणी स्वाभाविक हर्षातिरेक से प्रमुदित होकर पाँच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा) के माध्यम से सर्वदा गाते रहते है। आचार्यादि दश (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर,

---

* पृष्ठ ४६

तपस्वी, ग्लान, क्षुल्लक, स्वधर्मी, कुल, गण, सघ) की वैयावच्च (सेवा-शुश्रूषा) करने रूप अनुष्ठान के माध्यम से सर्वदा नृत्य करते रहते है। तीर्थकरो के जन्माभिषेक, समवसरण, पूजा, रथयात्रादि महोत्सवो को सम्पादन करने के माध्यम से सर्वदा कूदते रहते है। अन्य प्रतिवादियों की युक्तियो का चतुराई से निराकरण करने के पश्चात् (अर्थात् विजय प्राप्त कर) चित्तानन्द के बहाने उत्कृष्ट सिहनाद आदि अनेक प्रकार की गर्जना करते है। किसी समय मे तीर्थकर, भगवन्तो के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकों के महोत्सवो के माध्यम से हर्षित होकर मर्दल (मादल) आदि वाजित्र बजाते है। इस प्रकार मौनीन्द्र शासन मे सर्वदा आनन्द ही आनन्द छाया रहता है और इस शासन मे रहने से समस्त प्रकार के सन्ताप नष्ट हो जाते है। इस जैनेन्द्र शासन को इस जीव ने कभी भी भावपूर्वक स्वीकार किया हो ऐसा प्रतीत नही होता, क्योकि इस जीव का ससार मे परिभ्रमण अभी तक विद्यमान है। यदि इस जीव ने इस शासन को शुद्ध भाव से स्वीकार किया होता तो कभी की ही इसको मोक्ष की प्राप्ति हो गई होती।

पूर्व कथा मे राजभवन के दो विशेषण कहे गये थे – १. अदृष्टपूर्व और २. अनन्त विभूति सम्पन्न। राजमन्दिर के इन दोनो विशेषणो की तुलना सर्वज्ञ शासन मन्दिर के साथ सम्यक् प्रकार से मेल खाती है।

राजमन्दिर के राजा

पूर्व मे राजमन्दिर के विशेषणो मे कहा गया है– 'राजा, प्रधान (मत्री), सेनापति, कामदार और कोतवाल आदि से अधिष्ठित था।' इन विशेषणो की तुलना इस प्रकार है :– जिनेश्वर देव के शासन मन्दिर मे आचार्यो को राजा समझे। जिनके अन्तर्ज्वलित महातप के तेज से रागादि शत्रुवर्ग पलायन कर गये है, जिनके वाह्य-व्यापार शान्त हो गये है और जो जगत् को आनन्द प्रदान करने के साधन हैं। जैसे राजागण रत्नो से भरपूर और प्रभुत्व सम्पन्न होते है वैसे ही ये आचार्यगण भी गुणरत्नो के भण्डार और प्रभुत्व सम्पन्न होते है। अतएव इनके लिए राजा शब्द का प्रयोग सर्वथा उचित है।

राजमन्दिर के मन्त्री

मन्त्रियो के वर्णन प्रसग मे पहले कह चुके है - 'सपूर्ण जगत् की चेष्टाओं को जानने वाले, स्वबुद्धि से अपने शत्रुओ को भली प्रकार पहचानने वाले और सम्पूर्ण नीतिशास्त्रो मे पारगत अनेक मन्त्री भी वहाँ निवास करते थे।' इसको सगति इस प्रकार है सर्वज्ञ शासन मे उपाध्यायो को मन्त्री समझें। वीतराग प्रणीत आगम रहस्य के ज्ञाता होने के कारण जो समस्त जगत् के व्यापारो को स्पष्टतया जानते है, जो प्रज्ञावल से रागादि अन्तरग शत्रुवर्ग को पहचानते है,

शास्त्रो के रहस्य को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थो के वेत्ता और उन रहस्यो पर विचार करने मे कुशल (चतुर) होते है। जैसे समस्त नीतिशास्त्रो के पारगत मन्त्रिगण अपने बुद्धि-कौशल से राज्य के समस्त अगो पर समीक्षा करते रहते हैं वैसे ही ये उपाध्याय अपने असाधारण बुद्धि-वैभव से सर्वज्ञ-शासन के समस्त अगो की समय-समय पर समीक्षा करते रहते है। अतएव ये उपाध्याय अमात्य शब्द को सम्यक् प्रकार से चरितार्थ करते हुए शोभित होते हैं।

सेनापति

पूर्व मे कह चुके है कि - 'युद्ध के मैदान मे अपने समक्ष आये हुए साक्षात् यमराज को देखकर भी जो विचलित नही होते थे, ऐसे असख्य योद्धा वहाँ सेवारत थे।' इसकी योजना इस प्रकार है :—गीतार्थ-वृषभो (सम्पूर्ण ज्ञान के धारक, षड्दर्शनवेत्ता, गण के नियन्त्रक और धौरेय वृषभ के समान शासन का भार वहन करने मे समर्थ साधुओ) को यहाँ महायोद्धा—सेनापति समझे। जिनका अन्त करण सत्व (तप, श्रुत, सत्व, एकत्व, बल) की विशिष्ट भावनाओ से वासित है, देवो द्वारा महाभयकर उपसर्ग (उपद्रव) करने पर भी जो किंचित् भी क्षुब्ध नही होते और जो घोर परीषहो से तनिक भी भयभीत नही होते। इनके सम्बन्ध मे अधिक क्या कहे ? यमराज के समान भयकर उपद्रव करने वालो को सामने देखकर जो तनिक भी त्रस्त नही होते। जैसे महारथी सग्राम के अन्त को विजय मे परिणत करते है वैसे ही ये गीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लक्ष्य में रखकर गच्छ, कुल, गण और सघ को मोक्ष प्राप्ति करवाते हुए ससार-समर का अन्त ला देते हैं। अतएव इन गीतार्थ वृषभों को महायोद्धा सेनापति कहा जाता है।

[६]

नियुक्तक (कामदार)

राजमन्दिर-प्रसंग मे पहले कहा जा चुका है—'इस विशाल राजमन्दिर मे अनेक व्यक्ति नियुक्तक (कामदार) थे जो सर्वदा करोडो नगरो, असख्य ग्रामो और अनेक परिवारो का पालन करते थे तथा शासन-प्रबन्ध सचालित करते थे।' इन कामदारो को यहाँ सर्वज्ञ शासन मे गण-चिन्तक समझे। जो बाल, वृद्ध, ग्लान, प्राघूर्णक (अतिथि साधु) आदि की सहिष्णुभाव से परिपालन करने योग्य अनेक पुरुषो से परिवृत, कुल, गण और सघरूपी करोडो नगर और गच्छ रूप असख्य ग्राम एव आकरो मे गीतार्थ होने के कारण उत्सर्ग और अपवाद के ज्ञाता, योग्य स्थान पर कार्यक्षम व्यक्ति को नियुक्त करने में चतुर और उनका पालन करने मे समर्थ होते हैं। जो समस्त कालो मे निराकुल होकर प्रासुक और ऐषणीय भक्त (भोजन), पान, औषध, उपकरण (वस्त्र-पात्रादि) एव उपाश्रय आदि के सम्पादन द्वारा शासनतन्त्र

॥ पृष्ठ ४७

का सम्यक् प्रकार से सचालन करते है। इन्हे समस्त दृष्टियों से योग्य समझकर आचार्य इनकी गणचिन्तक पद पर नियुक्ति करते है। अतएव इनके लिए नियुक्तक पद का प्रयोग सर्वथा समुचित है।

राजमन्दिर के तलवर्गिक

पहले कह चुके है– 'स्वामी पर अत्यन्त श्रद्धा और प्रीति रखने वाले, विशिष्ट बलवान और वास्तविक सूझबूझ वाले अनेक तलवर्गिक (कोतवाल) कार्यकर्त्ता वहाँ रहते थे।' इन तलवर्गिको को जैनेन्द्र शासन भवन मे सामान्य साधु समझे। जो आचार्य के आदेशो का सावधानी पूर्वक सम्पादन (पालन) करते है, उपाध्याय की आज्ञा का पालन करते है, गीतार्थ-वृषभों का विनय करते है, गण-चिन्तक द्वारा प्रयुक्त मर्यादा का लघन नही करते, गच्छ, कुल, गण और सघ के प्रयोजनो मे पूर्णरूप से स्वय को नियोजित कर देते है, इन गच्छ, कुल, गण, सघादि पर किसी प्रकार की विपदा आ पडे तो स्वय के प्राणो का मोह किये विना ही उस विपदा को दूर करने मे प्रयत्नशील रहते है और जो शूरता, भक्ति एव विनीत स्वभाव से ओतप्रोत होते है। अतएव सामान्य साधु को जो यहां तलवर्गिक कहा गया है, वह यथोचित है।

इस प्रकार मौनीन्द्र शासन को राजभवन के समान कहा गया है। इस शासन मे आचार्यदेव की आज्ञानुसार उपाध्याय उसका चिन्तन करते है, गीतार्थ-वृषभ उसका रक्षण करते है, गणचिन्तक उसकी पुष्टि करते है और साधुगण चिन्ता रहित होकर उस निर्णीत मार्ग का अनुसरण करते है। इस प्रकार यह शासन मन्दिर भी राजमन्दिर के राजादि के समान आचार्यादि से अधिष्ठित (व्याप्त) है।

मन्दिर में वृद्धाएँ

कथा-प्रसंग मे पहले कह चुके है कि—'राजमन्दिर मे अनेक वृद्ध स्त्रियाँ भी रहती थी, जिन्होने विषयो का सर्वदा त्याग कर दिया था और जो मदोन्मत्त युवतियो को अकुश मे रखने मे समर्थ थी।' सर्वज्ञ शासन मे इसकी योजना इस प्रकार है—स्थविरा को यहाँ आर्या (साध्वियाँ) समझे। ※ स्थविराओं के लिए दो विशेषणो का प्रयोग किया गया है, वे दोनो ही विशेषण साध्वीवर्ग के लिए युक्तिसगत है। ये आर्याएँ स्वय का शिष्य वर्ग (साध्वी वर्ग) और श्रमणोपासक वर्ग की पत्नियाँ अर्थात् श्राविकाएँ जब प्रमाद के कारण धर्मकार्यो मे आलस्य करती है तब वे परोपकार करने का स्वभाव होने के कारण तथा भगवन्तो द्वारा आगमो मे प्ररूपित स्वधर्मीवात्सल्य को महानिर्जरा का कारण जानकर, उनको कर्त्तव्य मार्ग का स्मरण कराती है, अकरणीय कार्यो से रोकती है, शुभ कार्यो की

※ पृष्ठ ४८

सर्वज्ञ मन्दिर मे निवास करने वाले विनीत, महर्द्धिक और महाकौटुम्बिक के समान है, ऐसा समझें। अशुभ दृष्टि वाले अन्य जीवो का तो सर्वज्ञ मन्दिर में निवास ही कैसे हो सकता है ?

राजमन्दिर में रमणियाँ

पूर्व में कहा गया है :—"विलास करती अनेक सुन्दर स्त्रियों से वह राजमन्दिर देवलोक को भी अपने वैभव से पराजित कर रहा था।" मौनीन्द्र-शासन मे इसकी सघटना इस प्रकार है :—सम्यक् दर्शन धारण कर, अणुव्रतो का आचरण और जिनेश्वर देव एव साधुगणो की भक्ति करने मे परायण श्राविकावृन्द को विलास करने वाली रमणियाँ समझें। ये श्रमणोपासिकाये भी श्रमणोपासक के समान सर्वज्ञ रूपी महाराजा की अन्त.करण पूर्वक आराधना करने मे प्रवृत्त होती है एव उनकी आज्ञा का पालन करने मे प्रयत्नशील रहती है। वे विशुद्ध श्रद्धा (दर्शन) से अपनी आत्मा को दृढतर बनाती है, अणुव्रतों को धारण करती है, गुणव्रतो को ग्रहण करती हैं, शिक्षाव्रतो का अभ्यास करती है, विभिन्न प्रकार के तप करती है, स्वाध्याय मे तल्लीन रहती है, साधुवर्ग को उनके लिए उपयोगी और दाता के लिए शोभाजनक दान देती है, सद्गुरुओ के चरणो का वन्दन कर हर्षित होती है, सुसाधुओ को नमन कर सन्तुष्ट होती हैं, प्रशस्य धर्मकथाएँ सुनकर प्रमुदित होती है, स्वजन-सम्बन्धियो से भी अधिक स्वधर्मीजनो को समझती है, स्वधर्मीबन्धुओ से रहित प्रदेश मे रहने पर उद्वेग को प्राप्त करती है, साधुजनो को दान दिये बिना भोजन करना उन्हे अप्रीतिकर लगता है और भगवद् धर्म की आसेवना से स्वय ने इस ससार समुद्र को प्रायश. पार कर लिया ऐसा स्वीकार करती है। इस प्रकार की ये श्रमणोपासिकाएँ सर्वज्ञ शासन मन्दिर के मध्य भाग मे पूजा के उपकरणो का आकार धारण कर, श्रमणोपासको (अपने पतियों के साथ) के साथ बन्धी हुई अथवा एकाकी (विधवा या कुमारी) रूप मे निवास करती हैं। उक्त गुणों से रहित स्त्रियाँ भी यदि राजमन्दिर मे निवास करती हुई दृष्टिगोचर होती है तो वे बाह्य दृष्टि से ही है। वस्तुतः गुणहीन नारियाँ तो सर्वज्ञ मन्दिर के बाहिर ही है, ऐसा समझें। यह भगवन्तो का शासन मन्दिर विशुद्ध भाव से ही ग्रहण करने का है। अतएव बाहिर की छायामात्र से उसमें प्रविष्ट प्राणियो को परमार्थत. शासन मन्दिर से बहिर्भूत ही समझें।

[१०]

राजमन्दिर के विषय

पाँचो इन्द्रियो के शब्दादि अनुपम विषय की उपभोग्य सामग्रियो से परिपूर्ण वह राजमन्दिर अत्यन्त सुन्दर लगता था। ऐसा पूर्व मे कह चुके हैं। इसकी सगति इस प्रकार है .—समस्त इन्द्र जिनेश्वर-शासन मन्दिर के मध्यभाग में निवास करते हैं। अन्य महर्द्धिक देवता भी प्राय. कर इसी शासन मन्दिर मे निवास करते है। जहाँ

विमानों के अधिपति देवगण और इन्द्रादि रहते हों वहाँ शब्दादि इन्द्रियों के अनुपम विषयोपभोगो की परिपूर्ण सामग्री मे ॐ वह स्थान रमणीय हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है । इन्द्रिय विषयो की प्राप्ति के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि पुण्योदय से भोग प्राप्त होते है । यह पुण्य दो प्रकार का है—1. पुण्यानुबन्धी पुण्य और 2 पापानुबन्धी पुण्य । इसमे पुण्यानुबन्धी के उदय से प्राप्त इन्द्रिय विषयो के लिये निरुपचरित (अनुपम) विशेषण सार्थक है । क्योकि, जैसे सम्यक् प्रकार से बनाया हुआ स्वादिष्ट पथ्य भोजन खाते हुए भी अच्छा लगता है और वह शरीर को पुष्ट भी बनाता है वैसे ही पुण्यानुबन्धी पुण्य के योग से प्राप्त भोग भी प्राणी के अध्यवसायो को निर्मल बनाते हैं । प्राणियों के अध्यवसाय उदार होने से वे भोग उसके लिये बन्धन नही बनते अर्थात् वह प्राणी विषयों में लुब्ध और आसक्ति से अन्धा नही होता । भोगो के प्रति लोलुपता न होने के कारण विषयों का उपभोग करता हुआ भी प्राणी पूर्वबद्ध पाप परमाणुओं के बन्धनो को शिथिल करता है और शुभ फलदायक पुण्य-परमाणुओं का सचय करता है । ऐसे पुण्य जब उदय मे आते हैं तब वे इस प्राणी के हृदय मे ससार के प्रति विरक्तिभाव जागृत करते है, तथा सुख की परम्परा प्रदान करते हुए क्रमशः मोक्ष प्राप्ति के हेतु बनते हैं । इसीलिये इन्हे सुन्दर परिणाम वाला कहा गया है । पापानुबन्धी पुण्य के उदय से जो शब्दादि विषयभोग प्राप्त होते हैं वे कालकूट विष से विनिर्मित मोदकों के समान भयकर परिणामो को प्रदान करते है । अतएव पापानुबन्धी पुण्य को तत्त्वत 'भोग' शब्द से व्यवहृत करना भी उचित नही है, क्योकि मरु-भूमि मे जलकल्लोल की मृग-तृष्णा के समान उन भोगो के पीछे दौडते हुए पुरुष का समस्त परिश्रम व्यर्थ जाता है और उसकी तृष्णा को अत्यधिक बढा देता है, किन्तु उसको मन चाहे भोग कदापि प्राप्त नही होते । कदाचित् प्राप्त भी हो जाएँ तो उनका उपभोग करते समय वे क्लिष्ट (क्रूर) अध्यवसायों को उत्पन्न करते है । तुच्छ और अधम विचारो से उन पुरुषो की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और विषयलुब्ध बन जाते हैं । इस प्रकार वे प्राणी पुण्य से प्राप्त विषयभोगो का कुछ समय तक उपभोग कर अपने पुण्यकर्मो को पूर्ण रूप से व्यय (समाप्त) कर देते हैं और पुन. अपनी आत्मा को गुरुतर पापकर्मों के भार से बोझिल बना लेते हैं । ये बन्धे हुए गुरुतर पापकर्म जब उदय में आते है और उनके कटुक फल जब भोगने पडते हे तब यह जीव अनन्त काल तक ससार-सागर मे परिभ्रमण करता रहता है । इसीलिये पापानुबन्धी पुण्य से प्राप्त शब्दादि इन्द्रिय भोगो को दारुण परिणाम वाला कहा गया है ।

ससार मे रहने वाले जिन प्राणिगणो के लिये ये शब्दादि इन्द्रिय भोग सुन्दर परिणाम प्रदान करते हैं उन प्राणियो को उक्त विवेचन के अनुसार भगवत् शासन मन्दिर के निवासी ही समझे, बहिर्भूत नही । अतएव बुद्धिमानो को चाहिये कि

ॐ पृष्ठ ५०

शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कराने वाले जैनेन्द्र शासन मन्दिर मे विशुद्ध भाव से स्थिरता करे। इस शासन मे रहने वाले प्राणियों को ये सुन्दर भोग तो अनायास ही प्राप्त हो जाते है, इनको प्राप्त कराने वाला अन्य कोई हेतु (कारण) नही है। अतएव✻ परम्परा (क्रमश) अप्रतिपाति (कदापि क्षय न होने वाले) सुख को प्रदान करने का मुख्य कारण होने से पारमेश्वर दर्शन मन्दिर निरन्तर उत्सवमय है, ऐसा कहा गया है। पूर्वोक्त कथानक मे निष्पुण्यक ने जिस प्रकार सर्व विशेषणों से युक्त राजमन्दिर को देखा उसी प्रकार समस्त विशेषणो से युक्त सर्वज्ञ शासन मन्दिर को यह जीव देखता है।

[११]

मन्दिर दर्शन : स्फुरणा

कथा प्रसग में कह चुके है :—"तात्त्विक दृष्टि से सब इन्द्रियों के निर्वाण का कारणभूत ऐसे अद्भुत राजमन्दिर को देखकर वह भिखारी आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा कि, यह क्या है? अभी तक उन्मादग्रस्त होने से वह राजमन्दिर के तात्त्विक स्वरूप को पहचान नही सका।" इसी प्रकार यह जीव कर्म-विवर (मार्ग) प्राप्त होने पर, बडी कठिनाई से सर्वज्ञ शासन को प्राप्त कर, यह क्या है? जानने की जिज्ञासा करता है, परन्तु उन्माद से तुलना करने योग्य मिथ्यात्व (विपरीत बुद्धि) के अश जब तक प्रचुर मात्रा मे विद्यमान रहते हैं तब तक वह जीव जिनमत के विशिष्ट गुणो को तत्त्वत, पहचान नही पाता।

कथानक मे कह चुके है .—"पर धीरे-धीरे चेतना प्राप्त होने पर वह सोचने लगा कि इस राजमन्दिर मे निरन्तर उत्सव होते रहते है, पर द्वारपाल की कृपादृष्टि से आज ही मैं इसे देखने मे समर्थ हो सका हूँ, जो आज से पहले मै कभी नहीं देख सका था। मुझे याद आ रहा है कि, मै कई बार भटकते हुए इस राजमन्दिर के दरवाजे तक आया हूँ, पर दरवाजे के निकट पहुँचते-पहुँचते ये महापापी द्वारपाल मुझे धक्के देकर वहाँ से भगा देते थे।" इस कथन की संगति जीव के साथ इस प्रकार है .— निकट भविष्य मे जिनका कल्याण होने वाला है ऐसे भव्यप्राणी किसी प्रकार सर्वज्ञ शासन को प्राप्त तो कर लेते है परन्तु उसके विशिष्ट गुणो की उन्हे जानकारी नही होती। फिर भी मार्गानुसारी होने से उनके हृदय में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते है—अहो! अर्हद्-दर्शन अत्यन्त अद्भुत है, यहाँ जो निवास करते है वे मानो मित्र हो, बन्धु हो, समान प्रयोजन वाले हो, समर्पित हृदय वाले हो, एकात्मीभूत हों—इस प्रकार का परस्पर व्यवहार करते है। ये मानो, अमृत का पान कर तृप्त हो गए हों, उद्वेग रहित हो, औत्सुक्य रहित हो, उत्साह से भरपूर हो, परिपूर्ण मनोरथ वाले हो और सर्वदा समस्त विश्व के समग्र प्राणियों का हित

✻ पृष्ठ ५१

साधन करने मे तत्पर हों, ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव यह सर्वज्ञ मन्दिर श्रेष्ठतम है, ऐसा मैं आज ही जान सका। विचारशक्ति के अभाव मे इसकी सुन्दरता को आज से पूर्व कभी नही पहचान सका। यह जीव अनन्तवार ग्रन्थि प्रदेश तक पहुँचा भी, किन्तु ग्रन्थिभेद न करने के कारण इस सर्वज्ञ शासन का इसने कभी अवलोकन नही किया; क्योकि राग-द्वेष-मोहादि रूपी क्रूर द्वारपाल इस जीव को बारम्बार वहाँ से दूर भगा देते थे। फलत: यह जीव इस शासन मन्दिर का अशमात्र ही देख पाया, परन्तु मन्दिर के जिस विभाग मे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस खण्ड को वह आज तक नही जान पाया और न उसने कभी इस सम्बन्ध मे विचार ही किया।※

जिज्ञासा : स्फुरणा

पूर्व मे कह चुके है कि उस दरिद्री को पुन: पुन. विचार करने पर इस प्रकार की स्फुरणा जागृत हुई —"जैसा मेरा नाम निष्पुण्यक है वैसा ही मै पुण्यहीन भी हूँ क्योकि देवताओं को भी अलभ्य ऐसे सुन्दर राजमन्दिर को पहले न तो मै कभी देख सका और न कभी देखने का प्रयत्न ही किया। मेरी विचारशक्ति इतनी मोहग्रस्त और मन्द हो गई थी कि, यह राजमन्दिर कैसा होगा ? इसको जानने की जिज्ञासा तक मेरे मन मे कभी भी उत्पन्न नही हुई। चित्त को आह्लादित करने वाले इस सुन्दर राजभवन को दिखाने की कृपा करने वाला यह द्वारपाल वास्तव मे मेरा बन्धु है। मै निर्भागी हूँ, फिर भी मुझ पर इसकी बड़ी कृपा है। सब प्रकार के सक्लेश से रहित होकर, परिपूर्ण हर्ष से इस भवन मे रहकर जो लोग आनन्द भोग रहे है, वे वास्तव मे भाग्यशाली है।" इस कथन की योजना इस प्रकार है — किसी समय तीर्थंकरो के समवसरण का दर्शन करने से, जिनेश्वरो के स्नात्र महोत्सव का अवलोकन करने से, वीतराग भगवान् का बिम्ब (प्रतिमा) देखने से, शान्त तपस्वीजनो का साक्षात्कार करने से, अथवा शुद्ध (सम्यक्त्व धारक) श्रावको की सगति करने से, अथवा उनके द्वारा विहित अनुष्ठानो को देखने से इस प्राणी के अध्यवसाय शुभ ध्यान के कारण विशुद्ध हो जाते है, मिथ्यात्वभाव दूर खिसक जाता है और भावों मे सरलता एवं मृदुता आ जाती है। ऐसे प्रसगो पर इस जीव को जब सर्वज्ञ दर्शन गोचर हुआ हो, तब उसे ऐसे विचार आते है और इन विचारो पर उसे प्रीति होती है। आज तक ऐसे सुन्दर विचार करने का अवसर न मिलने के कारण उसके मन मे खेद होता है। फलत- इस मार्ग के उपदेशको को बन्धु की बुद्धि से ग्रहण करता है और इस मार्ग का अनुसरण करने वालो के प्रति उसके हृदय मे बहुमान के भाव जागृत होते है। इस प्रकार की विचार सरणि उन्ही जीवो की होती है जो लघुकर्मी जीव सन्मार्ग के निकट आये हो और जिन्होने ग्रन्थिभेद न

※ पृष्ठ ५२

किया हो, अथवा ग्रन्थिभेद कर सम्यक् दर्शन प्राप्त करने की स्थिति मे आ गए हो और जो कितने ही समय से भद्र (सरल) स्वभाव को धारण कर रहे हो। सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व प्राणी की ऐसी दशा होती है, उसी का यहाँ विस्तार से दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है।

[१२]

महाराज सुस्थित का दृष्टिपात

तदनन्तर समग्र कल्याणो के कारणभूत परमेश्वर की दृष्टि इस जीव पर पड़ती है, इस प्रसग मे कथानक मे कह चुके है .—"निष्पुण्यक दरिद्री को कुछ चेतना प्राप्त होने पर, जब उसके मन मे उपर्युक्त विचार चल रहे थे, तभी वहाँ जो कुछ भी घटित हुआ, उसे आप सुने— इस राजमन्दिर की सातवी मजिल पर सबसे ऊपर के भवन मे सततानन्दी लीला मे लीन सुस्थित नामक महाराज विराजमान थे। महाराज वही से बैठे हुए आनन्द मे व्यस्त नगरवासियो की दिनचर्या व * कार्य-कलापो का तथा नगर का अवलोकन कर रहे थे। इस नगर या नगर के बाहर ऐसी कोई वस्तु, घटना या भाव नही था जिसे सातवी मजिल पर बैठे सुस्थित महाराज न देख सकते हो। अत्यन्त वीभत्स दिखाई देने वाले, अनेक भयकर रोगो से ग्रसित, सद्गृहस्थो के हृदय मे दया उत्पन्न करने वाले निष्पुण्यक दरिद्री पर उसके मन्दिर मे प्रवेश करते समय ही उनकी निर्मल दृष्टि पड़ गई थी। महाराज की करुणा से ओतप्रोत निर्मल दृष्टि पड़ते ही इस दरिद्री के कितने ही पाप धुल गये थे।" इस कथन की संगति और तुलना निम्न प्रकार है :—इस जीव के जब कर्म किंचित् क्षीण होते हैं, सरल स्वभाव होता है तब वह मार्गानुसारी गुणो की ओर बढ़ता जाता है। योग्यता की भूमि पर जब जीव पहुँचता है तब ही परमात्मा की दृष्टि उस पर पड़ती है। जीव के लिये यह सयोग (घटना) अद्भुत और आश्चर्यकारी होती है। यहाँ महाराज को निराकार (कर्मरहित एवं शरीर रहित) अवस्था मे रहने वाले परमात्मा, भगवान्, सर्वज्ञ समझे। ये परमात्मा इस मर्त्यलोक की अपेक्षा से एक दूसरे पर निर्मित मजिलो के समान सात राजलोकरूप लोकप्रसाद शिखर पर निवास करते हैं। लोक के अन्त मे सिद्धशिला पर विराजमान परमेश्वर अदृष्ट-मूलपर्यन्त नगर के भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापारो के साथ तुलना योग्य इस समस्त ससार के विस्तार को एक समय मे एक साथ ही देख सकते है। इतना ही नही, किन्तु चौदह राजलोक के बाहर अलोक मे रहने वाले आकाश द्रव्य को देखने की भी उनमें शक्ति होती है। लोकालोक के समस्त भावो को प्रत्यक्ष कराने वाला केवलज्ञान होने से वे नगर के और नगर बाहिर के समस्त भावों को हस्तामलक न्याय से देख सकते हैं। अनन्तवीर्य और अनन्त सुख से परिपूर्ण होने के कारण वे सर्वदा वास्तविक आनन्द का अनुभव करते रहते हैं और तद्रूप लीला

---

* पृष्ठ ५३

मे मग्न रहते है। ससार मे इन्द्रियजन्य भोगों का आनन्द वस्तुत: विडम्बना रूप होने के कारण आनन्द ही नही है और भोगरूपी आनन्द को भोगने वाला उस आनन्द के स्वरूप को समझता भी नही है।

भगवत्कृपा

जैसे महाराजा ने अनेक रोगो से ग्रस्त और बीभत्स रूप वाले उस निष्पुण्यक दरिद्री को करुणा दृष्टि से देखा वैसे ही जब यह प्राणी सवयं की निजभव्यता का परिपाक होने पर, उन्नति के पथ पर क्रमश: आगे-आगे बढता जाता है तब उसके ऊपर भगवान् का अनुग्रह होता है; क्योकि भगवत्कृपा के बिना मार्गानुसारिता प्राप्त नही होती। उनका अनुग्रह होने पर ही भगवन्तो के प्रति भावपूर्वक बहुमान की भावना होती है, अन्यथा नही; क्योंकि इसमे कर्मो का क्षय अथवा उपशम अथवा अन्य कारण या साधन गौण होते है। प्रगति के लिए कर्मक्षय अथवा उपशम आवश्यक अवश्य है किन्तु तज्जन्य विकास स्थायी नही होता। अर्थात् ऊपर-ऊपर की प्रगति फलदायक नही होती। वस्तुत भगवद् अनुग्रह होने पर ही जीव का वास्तविक विकास होता है। इसी बात को ध्यान मे रखकर यह कहा गया है कि इस जीव पर जिनेश्वर देव ने विशेष रूप से कृपापूर्ण दृष्टि डाली। ये परमेश्वर ही अचिन्त्य शक्ति के धारक और परमार्थ करने मे तल्लीन होने के कारण इस जीव को मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त करने मे श्रेष्ठ हेतु (कारण–साधन) है। ये निराकार होने पर भी समग्र विश्व के समस्त जीवो का कल्याण करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं, अर्थात् रूपरहित होने पर भी इनके आलम्बन से भव्य जीव मोक्ष मे जा सकते है। तथापि उस प्राणी का भव्यत्व, कर्म, काल, स्वभाव और नियति आदि सहकारी कार्य-कारणों को ध्यान मे रखते हुए ही वे जगत् पर उपकार करने मे प्रवृत्त होते है। यही कारण है कि एक साथ सब प्राणी मोक्ष नही जा सकते। अर्थात् जिस जीव के काल, स्वभाव आदि कारण परिपाक दशा को प्राप्त होते है वे ही प्राणी प्रगति की ओर अग्रसर होते हैं और उन्हीं जीवो पर भगवान् की दृष्टि पडती है। जिस जीव का कल्याण होने वाला है और जो भद्रिक परिणामी है उन्ही पर भगवान् का अनुग्रह होता है। इस कथन को आगमानुसार समझे।

[१३]

धर्मबोधकर की विचारणा

कथन कर चुके है :—"सुस्थित महाराज ने अपने भोजनालय की देखरेख के लिए धर्मबोधकर नामक राज्यसेवक को नियुक्त कर रखा था। उसने जब देखा कि दरिद्री पर महाराज की कृपादृष्टि हुई है।" इसका तात्पर्य यह है कि धर्म का बोध करने मे तत्पर होने से ❀ धर्मबोधकर यथार्थ नाम के धारक और मुझे सन्मार्ग का

❀ पृष्ठ ५४

उपदेश करने वाले आचार्य महाराज ने मेरे ऊपर जिनेश्वर देव की कृपादृष्टि को पडते हुए देखा, ऐसा समझे। जिन योगी महात्माओं की आत्मा विशुद्ध ध्यान से निर्मल होती है और जो दूसरों का हितसाधन करने मे तत्पर रहते है वे देश-काल से व्यवहित जीवों की भगवत् अवलोकन की योग्यता को भी जान सकते हैं। छद्मस्थ होने पर भी विशुद्ध बुद्धि के कारण निकटस्थ प्राणियो की योग्यता की पहचान कर सकते है। जब सामान्य श्रुतज्ञानी भी उपयोग पूर्वक विचार कर योग्यता-अयोग्यता का निर्धारण कर सकते है, तो फिर विशिष्ट ज्ञानियो की तो बात ही क्या ? मुझे सदुपदेश देने वाले आचार्य भगवान् तो विशिष्ट ज्ञानी थे, क्योकि मेरे सम्बन्ध में भविष्य मे होने वाले वृत्तान्त को वे पहले ही जान चुके थे। इनके द्वारा ज्ञात वृत्तान्त का तो मैंने स्वय ने अनुभव किया है, अतएव ये सब वृत्तान्त मेरे द्वारा अनुभूत सिद्ध हैं।

धर्मबोधकर की शंका

जैसा कि पहले कह चुके हैं :—"उस समय वह (धर्मबोधकर) साश्चर्य आशयपूर्वक विचार करने लगा कि, मैं यह कैसी अद्भुत नवीन घटना देख रहा हूँ। जिस पर महाराज की विशेष रूप से दृष्टि पड़ जाती है वह तो तुरन्त ही तीनों लोको का राजा हो जाता है। यह निष्पुण्यक तो भिखारी है, रक है, इसका पूरा शरीर रोगों से भरा हुआ है, लक्ष्मी के अयोग्य है, मूर्ख है और सम्पूर्ण जगत् में उद्वेग उत्पन्न करने वाला है। अच्छी तरह से विचार करने पर भी यह कुछ समझ में नही आता कि ऐसे दीन रंक पर महाराज की कृपादृष्टि क्योंकर हुई ?" पुन: वह विचार करने लगा :—"अत्यन्त भाग्यहीन मनुष्यों के घर में अमूल्य रत्नो की वृद्धि नहीं होती फिर यह विस्मयकारक घटना कैसे घटित हुई ?" वैसे ही इस जीव के सम्बन्ध में सद्धर्माचार्य के मन में जो विचार उत्पन्न होते है, उनकी योजना इस प्रकार है:—यह जीव पूर्वावस्था मे गुरुकर्मी (कर्मभार से भारी) होने के कारण समस्त प्रकार के पाप कर्म करता था, सब प्रकार के असभ्य और असत्य वचन बोलता था और अनवरत रौद्रध्यान करता रहता था। जब यही जीव अच्छे निमित्तो को प्राप्त कर, अच्छे आचरण वाला, सत्य और प्रियभाषी तथा प्रशान्तचित्त नजर आता है तब पूर्वापर विचार करने में चतुर विवेकीजनों के हृदय मे स्वाभाविक रूप से ये विचार उत्पन्न होते हैं कि, सद्धर्म की साधक मन वचन काया की श्रेष्ठ प्रवृत्ति भगवत् अनुग्रह के बिना कदापि प्राप्त नही हो सकती। और, हमने तो इस जीव का इसी भव मे ही अधमता पूर्ण मन वचन काया का व्यापार देखा है, अतएव इसकी ये दोनो स्थितियाँ पूर्वापर विरुद्ध दिखाई देती है। समझ मे नहीं आता कि ऐसे निकृष्ट पापो से उपहत जीव पर भगवान् का अनुग्रह कैसे हो सकता है ? क्योंकि यदि भगवान् का अनुग्रह हो जाता है तो वे उस जीव को मोक्ष प्राप्त करवाकर * शीघ्र

* पृष्ठ ५५

ही तीन भुवन का स्वामी वना देते है, अतएव इस जीव पर भगवत्कृपा हुई हो ऐसी सम्भावना ही दृष्टिपथ मे नही आती। पुनश्च, इस प्राणी मे अभी जो मन वचन काया की सुन्दर प्रवृत्ति दिखाई दे रही है उसका अन्य कोई कारण न दिखाई देने से इस पर भगवान् की कृपादृष्टि पडी ही हो, ऐसा निश्चय भी किया जा सकता है। ऐसा मान लेने पर संदेह को दूर करने का एक कारण तो मिल जाता है, किन्तु फिर भी हमारा मन दोलायित है कि यह कसी आश्चर्यजनक घटना है ?

दृष्टिपात के कारण

इस प्रकार वस्तुस्थिति का पर्यालोचन करते हुए धर्मवोधकर ने निश्चय किया कि सम्भवतः महानरेन्द्र सुस्थित की इस भिखारी पर दृष्टि पडने के दो ही कारण हो सकते है। जिन कारणो से इस रक पर परमेश्वर की दृष्टि पडी है इसका निर्णय किया जा सकता है, जो युक्तिसगत भी है। पहला कारण यह है—सम्यक् प्रकार से परीक्षा करने वाले स्वकर्मविवर द्वारपाल ने इसको यहाँ (राजमन्दिर मे) प्रवेश करने दिया। इससे यह निश्चित है कि यह महाराजा की विशेष दृष्टि और कृपा के योग्य है। दृष्टिपात का दूसरा कारण यह है—यह नीति तो पूर्व से ही निर्धारित है कि इस राजमन्दिर को देखकर जिसका मन प्रसन्नता से खिल जाता है, ऐसा प्राणी महाराजा को अत्यधिक प्रिय लगता है। राजमन्दिर को देखकर इस जीव को अत्यधिक आनन्द हुआ है, स्पष्टत प्रतीत होता है। क्योकि, इसकी आँखे अनेक रोग और पीडा से आक्रान्त होने पर भी इस राजभवन को पुन· पुनः देखने को इच्छा से प्रतिक्षण खुलती रहती है, प्रभुकृपा के सम्पादन से इसका वीभत्स मुख भी सहसा दर्शनीय प्रतीत हो रहा है, इसके धूलिधूसरित शरीर के सारे अग भी रोमराजि विकसित हो जाने से पुलकित (रोमाञ्चित) दिखाई दे रहे है। ये सारी स्थितियाँ अन्तर के आनन्द के बिना हो ही नही सकती। अतएव स्पष्ट है कि राजमन्दिर के प्रति प्रीतिभाव ही महाराज की कृपा का कारण है। इसी प्रकार सद्धर्माचार्य भी इस जीव के विषय मे पूर्वापर विचार करते हुए इस प्रकार कल्पना करते है कि—जब सद्धर्माचार्य विचारपूर्वक इस जीव के सम्बन्ध मे लक्ष्य करते है तब उन्हे प्रतीत होता है कि इस प्राणी के कर्मो ने ही इसे विवर (मार्ग) दिया है और भगवत् शासन को प्राप्त कर इसका मन प्रसन्नता से भर गया है। यही कारण है कि बारबार आँखे खोलता वन्द करता हुआ जीव, अजीव आदि पदार्थो की ओर जिज्ञासा वुद्धि से देखता है, प्रवचन (शास्त्रो) का अर्थलेश समझ मे आने के कारण ही सवेग तत्त्व के दर्शन से इसका प्रसन्न मुख दिखाई देता है और श्रेष्ठ अनुष्ठान की किंचित् प्रवृत्ति होने के कारण ही इसका धूलि-धूसरित अग भी रोमाचित प्रतीत हो रहा है। इन लक्षणो से यह निश्चित है कि इस जीव पर भगवान् का विशेष रूप से अनुग्रह हुआ है। इन कारणो से स्पष्ट है कि, धर्माचार्य द्वारा भी इस जीव के सम्बन्ध मे निश्चय करने के लिए पूर्वोक्त दोनो ही कारण

यहाँ भी साधनभूत है। अर्थात् १. स्वकर्मों द्वारा प्रदत्त मार्ग (विवर) और २. भगवत् शासन के प्रति पक्षपात (आकर्षण) अथवा भगवत् शासन के प्रति हार्दिक सतोष। (इन्ही दोनों कारणो से जीव शासन की ओर अभिमुख होता है)।

प्रगति निर्णय

पुनश्च धर्मबोधकर ने इस भिखारी के सम्बन्ध मे विचार किया :—"ऐसा जान पडता है कि यह दरिद्री भिक्षुक का आकार अवश्य धारण किये हुए है, पर अभी-अभी * महाराज की जो कृपादृष्टि इस पर हुई है इससे यह अवश्य ही उत्तरोत्तर कल्याण-परम्परा को प्राप्त करता हुआ कालान्तर मे वस्तुत्व (राज्य और धन) को प्राप्त कर लेगा, धनाढ्य बन जायेगा।" ऐसा पूर्व मे कह चुके है। इसी प्रकार धर्माचार्य भी इस जीव पर परमात्मा की कृपादृष्टि पडी है ऐसा निश्चय करते है और इन विचारो को सन्देह रहित होकर दृढ निश्चय करते हैं कि भविष्य मे यह उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ परम कल्याण को प्राप्त करेगा।

प्राणी पर करुणा

जैसा कि कह चुके है :—"ऐसा सोचकर धर्मबोधकर के हृदय मे भी उस दरिद्री पर करुणा उत्पन्न हुई। लोक मे यह कहावत सत्य है :—'यथा राजा तथा प्रजा' अर्थात् राजा का जैसा व्यवहार एक प्राणी पर होता है वैसा ही उस पर प्रजा का होता है।" वैसे ही इस जीव पर परमेश्वर के अनुग्रह को देखकर, जो स्वय परमात्मा की आराधना करने मे तत्पर रहते हैं ऐसे सद्धर्माचार्य भी इस जीव की ओर करुणाभाव से देखते हैं। ऐसे भव्य जीवों पर करुणाभाव दिखाना भी भगवान् की आराधना करना ही है।

भिक्षादान की ओर उन्मुख

निष्पुण्यक के प्रसंग में पहले कह चुके है :—"ऐसा सोचते हुए धर्मबोधकर शीघ्रता से उसके पास आया और उसके प्रति आदर प्रकट करते हुए कहा—आओ! आओ! मैं तुम्हे (भिक्षा) देता हूँ।" इस प्रकार कहकर उस भिक्षुक को अपने पास बुलाया। इस कथन की सगति इस प्रकार है :—पूर्वोक्त कथन के अनुसार अनादि संसार मे भटकते हुए जब इस जीव की भवितव्यता परिपक्व हो जाती है, क्लिष्ट कर्म क्षीण प्राय हो जाते हैं, केवल उनमे से थोडे से ही कर्म शेष रह जाते है, वे शेष कर्म उसे मार्ग देते हैं, मनुष्य भव आदि सामग्री उसे प्राप्त हो जाती है और वह सर्वज्ञ शासन का दर्शन करता है, सर्वज्ञ शासन श्रेष्ठ है ऐसी उसको प्रतीत होती है, पदार्थ ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा होती है, शुभकार्य करने की किंचित् इच्छा होती है तब जिसकी सहज पापकलाएँ अभी भी विद्यमान है ऐसे भद्र (सरल)

---

* पृष्ठ ५६

स्वभावी जीव पर भगवद् दर्शन के पश्चात् प्रगाढ करुणा लाकर, इस जीव मे विशुद्ध मार्ग पर आने की योग्यता है ऐसा निश्चय कर सद्धर्माचार्य उसकी ओर उन्मुख होते है। अर्थात् धर्माचार्य इस जीव के समीप जाते है। इन भावो को धर्मबोधकर उस दरिद्री के सन्मुख जाता है—के साथ तुलना करे।

भिक्षादान : तत्त्वानुसन्धान

तदनन्तर उस जीव पर प्रसन्न होकर धर्माचार्य उसको कहते है :—"हे भद्र! यह लोक अकृत्रिम (शाश्वत) है, काल अनादि अनन्त है, यह आत्मा शाश्वत है, अविनाशो है, ससार का समस्त प्रपच कर्मजनित है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग कर्मबन्धन के कारण है। ये कर्म दो प्रकार के है —१. कुशलरूप और २ अकुशलरूप, अथवा शुभ और अशुभ। इनमे कुशलरूप शुभकर्म पुण्य अथवा धर्म कहा जाता है और अकुशलरूप अशुभ कर्म पाप अथवा अधर्म कहा जाता है। पुण्य के उदय से सुख का अनुभव होता है और पाप के उदय से दु ख का अनुभव। पाप और पुण्य की तरतमता (कमी-वेशी) से इनके अनन्त भेद होते है और उनके भिन्न-भिन्न भेदो के कारण ही जीव अधम, मध्यम, उत्तम आदि अनेक प्रकार के रूप प्राप्त करता है। फलत विचित्र स्वरूप वाला ससार का समस्त विस्तार कर्मजनित ही है। सद्धर्माचार्य के इस प्रकार के वचन सुनकर, ❋ पूर्वकालीन अनादि कुवासनाओ के कारण यह जीव जो अद्यावधि अनेक प्रकार के कुविकल्प करता रहता था, जैसे कि क्या यह विश्व अण्डे से उत्पन्न हुआ है ? ईश्वर-कर्तृक है ? ब्रह्मनिर्मित है ? अथवा प्रकृति का विकार है ? अथवा प्रतिक्षण नाशशील है ? क्या पाँच स्कन्धात्मक यह जीव पाँच महाभूतो से उत्पन्न हुआ है ? अथवा मात्र ज्ञान रूप ही है ? अथवा समस्त शून्यरूप ही है ? कर्म है या नही ? सर्वशक्तिमान ईश्वर के कारण ही समस्त जीव विभिन्न रूप धारण करते है ? ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के कुविकल्प उसके मन मे होते रहते थे। जैसे भीषण युद्धस्थल मे महाबलवान् शत्रुदल को देखकर कायर मनुष्य मैदान से भाग खडा होता है वैसे ही इस जीव के पूर्वोक्त कुविकल्प सहज ही दूर हो जाते है। ऐसे समय मे इस जीव को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि ये धर्माचार्य जो कथन करते है वह सचमुच स्वीकरणीय है। वस्तुतत्त्व (सत्यासत्य) की परीक्षा करने मे ये (धर्माचार्य) मेरे से अधिक वस्तुत्व के जानकार है। इसी प्रसग मे कथानक मे पहले कह चुके है :—"उस समय कुछ शरारती बच्चे निष्पुण्यक को छेडने और पीडा देने के लिये उसके पीछे पडे हुए थे, वे सब धर्मबोधकर के शब्द सुनकर भाग गए। [पृ०१८५]।" इस कथन की योजना इस प्रकार है :—कुविकल्प ही शरारती बच्चे है। ये ही इस जीव को अनेक प्रकार से तिरस्कृत और त्रस्त करते है। धर्मबोधकर के समान सद्गुरु के शुभयोग और सम्पर्क से ये कुविकल्परूपी

❋ पृष्ठ ५७

शरारती लड़के दूर भाग जाते हैं। कुविकल्पों के दूर होने पर जब यह जीव सद्गुरु की वाणी को सुनने के लिये किंचित् प्रवृत्त होता है तब परहितपरायण सद्धर्माचार्य इस जीव को सम्बोधित करते हुए सन्मार्ग का उपदेश देते हैं।

सन्मार्ग देशना

हे भद्र ! सुनो, संसार मे भटकते हुए जीव पर वात्सल्यभाव को धारण करने वाला यदि कोई पिता है तो वह धर्म है, धर्म ही प्रगाढ़ स्नेहदात्री माता है, धर्म ही अभिन्न हृदय वाला भ्राता है, धर्म ही समान स्नेह रखने वाली बहिन है, धर्म ही समस्त सुखों की खान अनुरागवती और गुणवती भार्या है, धर्म ही विश्वसनीय अनुकूल सर्वकलाओं में कुशल समान प्रीति वाला मित्र है, धर्म ही देवकुमार के समान सुन्दर आकृति का धारक और चित्त को अत्यधिक हर्षित करने वाला पुत्र है, धर्म ही शीलरूपी सौन्दर्य गुण से जयपताका फहराने वाली और कुल की उन्नति करने वाली पुत्री है, धर्म ही सदाचारी बन्धुवर्ग है, धर्म ही विनीत परिवार है, धर्म ही राजाधिराज है, धर्म ही चक्रवर्तित्व है, धर्म ही देवत्व है, धर्म ही इन्द्रत्व है, धर्म ही जरा-मरण के विकार से रहित और सुन्दरता मे तीन भुवन को तिरस्कृत करने वाला वज्राकार शरीर है, धर्म ही समस्त शास्त्रो के अर्थरूप शुभ शब्दो को ग्रहण करने मे चतुर कान हैं, धर्म ही विश्व को देखने में सक्षम कल्याणदर्शी आँखे हैं, धर्म ही मन को प्रमुदित करने वाली अमूल्य रत्नराशि है, धर्म ही चित्त को आह्लादित करने वाला विषघातादि आठ गुणों को धारण करने वाला ❀ स्वर्णपुञ्ज है, धर्म ही शत्रु को पराजित करने में प्रवीण चतुरंग सैन्यबल है और धर्म ही अनन्त रतिसागर (मोक्षसुख) में अवगाहन कराने वाला विलास-स्थान है। अधिक क्या कहे ? धर्म ही अनन्तकाल तक निर्विघ्न और ऐकान्तिक सुख को प्रदान करने वाला है। धर्म के अतिरिक्त सुख प्राप्त करने का अन्य कोई साधन नहीं है।

विशेष उपदेश

जब मधुर-भाषी ज्ञानी धर्माचार्य उपदेश दे रहे थे तब इस जीव का चित्त आकृष्ट होने से वह आँखे फाड़-फाड़कर उनकी ओर देखता था। उस समय उसके मुख पर प्रसन्नता झलक रही थी। उसने विक्षेपकारक विकथाओं का त्याग कर दिया था। किसी समय हृदय मे शुभभाव जागृत होने पर वह मुस्कराता है, कभी चुटकी बजाता है। उक्त चेष्टाओं से इस जीव को धर्म के प्रति रस पैदा हुआ है ऐसा जानकर आचार्य ने पुनः उपदेश देना प्रारम्भ किया।

हे सौम्य ! यह धर्म चार प्रकार का है :—१. दानमय, २. शीलमय, ३. तपमय और ४. भावनामय। यदि तुझे सुख प्राप्त करने की आकांक्षा है तो चारो प्रकार के धर्म का तुझे आचरण करना चाहिये। यथाशक्ति सुपात्र को दान दे,

---

❀ पृष्ठ ५८

समस्त पापो का (सर्वविरति रूप) अथवा स्थूल पापो का (देशविरति रूप) त्याग कर अथवा जितना तेरे से शक्य हो तदनुसार प्राणातिपात (हिंसा), मृषावाद (असत्यवचन), चौर्य वृत्ति, परदारागमन, परिग्रह (अपरिमित वस्तु सग्रह), रात्रि-भोजन, मद्यपान, माँस-भक्षण, सजीव फलभक्षण, मित्रद्रोह और गुरुपत्नी-गमन आदि ऐसे अन्य प्रकार के पापो का परित्याग कर, निवृत्त बन। तू यथाशक्ति किसी प्रकार की तपस्या कर। अनवरत शुभभावना रखा कर। इस प्रकार करने से नि.सशय ही इस भव और परभव मे तेरा समस्त प्रकार से कल्याण होगा।

[१४]

तद्दया

पहले कथानक मे कह चुके है :—"फिर धर्मबोधकर उसको प्रयत्न पूर्वक भिक्षुओ के बैठने योग्य स्थान पर ले गया और उसे योग्य दान देने के लिये सेवको को आज्ञा दी। धर्मबोधकर के तद्दया नामक एक अति सुन्दर पुत्री थी। अपने पिता की आज्ञा को सुनकर वह तुरन्त उठ खडी हुई और शीघ्र ही महाकल्याणक खीर लेकर निष्पुण्यक को भोजन कराने उसके पास गई।" इसकी सगति-योजना ऊपर कर चुके है। तदनुसार चार प्रकार के धर्म का वर्णन इस जीव को निकट बुलाने के समान है। इस जीव का चित्त धर्म की ओर आकर्षित हुआ, इसे भिक्षुको के बैठने योग्य स्थान समझे। धर्मभेद (दानादि चार भेद) वर्णनात्मक आचार्य के प्रवचन को उसे योग्य दान देने के लिये सेवको को आज्ञा प्रदान करना समझे। आचार्य की इस जीव पर महती कृपा ही यहाँ तद्दया नामक धर्मबोधकर की पुत्री है। महाकल्याणक परमान्न के समान यहाँ दान-शील-तप-भावरूप चार प्रकार का धर्मानुष्ठान है। धर्माचार्य की कृपा से यह जीव धर्मरूप परमान्न प्राप्त कर सकता है। इसे अन्य किसी साधन से प्राप्त नही कर सकता, ऐसा लक्ष्य मे रखे।

दरिद्री को आशंका

कथा प्रसग मे कह चुके है :—"उस दरिद्री के विचार अभी भी बहुत तुच्छ थे। अभी भी उसके मन मे अनेक शकाएँ उठ रही थी। जब उसे भोजन के लिये बुलाया तो वह सोचने लगा। पहले जब मैं भिक्षा के लिये लोगो से याचना करता था तब ये लोग मुझे * अनादरपूर्वक दूर भगा देते थे। यदि कभी थोडा सा अन्न देते तो भी वह तिरस्कार के साथ। आज ये ही सुवेषधारी राजपुरुष स्वय आकर, मुझे आगे होकर, बुलाकर इतने आग्रहपूर्वक भिक्षा देने के लिये इतना प्रयत्न कर रहे है, मुझे प्रलोभित कर रहे है। यह क्या आश्चर्य है ? यह बात किसी तरह ठीक नही लगती। कही मुझे ठगने का प्रयत्न तो नही है ? मुझे लगता है कि भिक्षा देने के बहाने कही एकान्त मे ले जाकर मेरा यह भिक्षा से भरा हुआ पात्र भी

* पृष्ठ ५९

मुझ से छीन लेगे या तोड देगे। तब मै क्या करू ? सहसा यहाँ से भाग जाऊँ ? या यही बैठकर भोजन कर लू ? या यह कहकर कि मुझे भिक्षा की कोई आवश्यकता नही है, निषेध कर यही खडा रहूँ ? अथवा इन लोगो को झाँसा देकर किसी स्थान पर शीघ्रता से छिप जाऊँ ? समझ मे नही आता कि मै किस प्रकार इनके जाल से मुक्त होऊँ ? ऐसे अनेक सकल्प-विकल्पो से उसका भय वढ गया। भय से उसका गला सूख गया। हृदय व्याकुल हो जाने से वह यह भी भूल गया कि वह कहाँ आया है और कहाँ बैठा है ? अपने भिक्षापात्र पर उसे इतनी गाढ मूर्च्छा हो गई कि उसकी रक्षा के लिये वह रौद्रध्यान (दुर्ध्यान) मे निमग्न हो गया। इसी दुर्ध्यान मे इसकी दोनो आँखे बन्द हो गई। उसके मन पर इन विचारो का इतना प्रवल प्रभाव पडा कि उसकी सभी इन्द्रियो के कार्य थोड़ी देर के लिये बन्द हो गये और वह लकड़ी मे लगाई हुई कील की भाँति चेतना रहित और सख्त हो गया तथा उसकी सारी हलचल बन्द हो गई। तद्दया वहाँ खडी-खडी वार-वार उसे भोजन लेने का आग्रह करते-करते थक गई, परन्तु निष्पुण्यक ने उसकी ओर किंचित् भी ध्यान नही दिया और वह तो केवल अनेक रोगो को पैदा करने वाले अपने पास रखे हुए तुच्छ भोजन से वढकर अच्छा भोजन दुनियाँ मे है ही नही, कही मिल ही नही सकता, ऐसे विचारो मे इतना फस गया कि तद्दया द्वारा लाये गये सर्व रोगहारी, अमृत के समान स्वादिष्ट परमान्न भोजन का मूल्य भी वह नही समझ सका।" यह सारा कथन जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है। इस कथन की जीव के साथ सगति इस प्रकार समझे :—

मोहमुग्ध के अधम विचार

इस जीव का हित करने की दृष्टि से सद्धर्माचार्य धर्म के गुणों का प्रतिपादन करते हुए चार प्रकार के धर्मानुष्ठान करने का उपदेश देते है। उस समय यह जीव महा अन्धकारमय मिथ्याज्ञानरूप काच, पटल, तिमिर, कामला (नेत्र की व्याधियाँ) आदि व्याधियो से ग्रस्त होने के कारण विवेकरूपी नेत्रों की ज्योति क्षीण होने से, अनादि काल से ससार में परिभ्रमण का अभ्यस्त होने से, मिथ्यात्व के संताप और उन्माद के कारण भ्रमित हृदय होने से, प्रवल चारित्र-मोहनीय रूप रोग के कारण चेतना विह्वल होने से, विषय धन स्त्री आदि के ऊपर गाढ मूर्च्छा (प्रगाढ मोह) होने के कारण पराभूत चित्तवृत्ति वाला होने से इस प्रकार सोचता है :—* मैं पहले जव धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? आदि के विचारो की शोध नही करता था तव किसी समय मे इन श्रमणो के पास पहुँच भी जाता तो कभी ये मेरे से सीधे मुँह वात भी नही करते थे। किसी अवसर मे ये मुझे धर्म के दो चार शब्द भी सुनाते थे तो वे भी अवगणना से अथवा खीजे हुए भावो से। अभी जब कि मैं इनसे कुछ नही पूछ रहा हूँ फिर भी मुझे धर्माधर्म की जिज्ञासा वाला जानकर, यह

* पृष्ठ ६०

हमारे आदेशो का पालन करेगा ऐसा मानकर, कण्ठ और तालु सूख जायेगे इसकी चिन्ता किये विना ही ऊँचे स्वरो में, सुन्दर वचनो के घटाटोप से ये श्रमण लोक के स्वरूप का प्रकाश (वर्णन) करने वाला, जिसे स्वय ने नही देखा है तव भी मेरे सामने धर्म के गुणो का प्रवचन कर रहे है। इसके वाद मेरे चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर ये मेरे से दान दिलवाते है, शील ग्रहण करवाते है, तपस्या करवाते हैं और भावनाओ का चिन्तन करवाते है।

उपदेशक पर आशंका

असमय ही इन श्रमणो के इस विचित्र वचनाडम्वर का क्या रहस्य है? अरे हाँ, समझ मे आ गया। मेरी अनेक सुन्दर स्त्रियाँ हैं, मेरे पास अनेक प्रकार का धन सग्रह है, विविध धान्यो के वडे-वडे भडार है, गाय, भैस, घोडा आदि चतुष्पद और कुप्यादि (वर्तन) सामग्री भी विपुल है। मेरी समस्त सम्पदा की इनको जानकारी हो गई है। साराश यह है कि इस जानकारी का ये लाभ लेना चाहते है। इसीलिये ये कहते है:—तुझे दीक्षित करें, तेरे पापो को नष्ट करे, तेरे कर्मरूपी वीजो को जलादें। तू वेष धारण कर, गुरु के चरणकमलो की पूजा कर, अपनी पत्नी धन-सोना आदि समस्त सर्वस्व गुरु चरणो मे न्योछावर कर। यही इनका उद्देश्य जान पडता है। पुन: यह जीव कल्पना करता है .—हमारे कथनानुसार आचरण करने से तू पिण्डपात (शरीर छोडकर) शिव (परमात्मा) वन जाएगा। इस प्रकार अपने मधुर वाग्जाल मे फसाकर, शैवाचार्य के समान ये श्रमण मुझे ठगेंगे। अथवा जैसे व्राह्मण दुनिया को कहते हैं —स्वर्णदान महाफलदायक होता हैं, गोदान से विशिष्ट उत्कर्ष होता है, पृथ्वीदान से अविनाशी होता है, पूर्तधर्म (यज्ञ अथवा कूप खनन) से अतुल फल मिलता है, वेदपारगामी को दान देने से अनन्त गुणा फल प्राप्त होता है। यदि व्राह्मणों को दूध देने वाली, सद्य प्रसवा, वछडे वाली, वस्त्रो से सजी हुई, स्वर्णश्रृ गवाली रत्नो से मडित और पूजा की-हुई गाय का दान किया जाए तो दानदाता को चारो समुद्रो से वेष्टित अनेक नगर और ग्रामो से व्याप्त और पर्वतो तथा जगलो से युक्त पृथ्वी का दान देने के समान फल प्राप्त होता है तथा यह फल अक्षय होता है। इस प्रकार मुग्धजनो को ठगने के लिए शास्त्रो मे प्रक्षिप्त श्लोको तथा काव्यो के द्वारा जैसे व्राह्मण भोली भाली दुनिया को ठगते है वैसे ही ये श्रमण भी मुझे ठगकर मेरा धन हरण कर लेगे। अथवा सुन्दरतम विहार (वौद्ध भिक्षुको के रहने का स्थान) वनवाओ, उन विहारो मे वहुश्रुत (पडित) साधुओ को ठहराओ, सघ की पूजा करो, भिक्षुओ को दक्षिणा दो, सघ के कोषागार मे अपना धन मिला दो, सघ के कोष्ठागार मे तुम्हारे धान्य के कोठार मिला दो, सघ की संज्ञाति (गोकुल) मे अपना ❀ चतुष्पद (चार पैरो वाले) जानवरो को दे दो, वुद्ध-धर्म

❀ पृष्ठ ६१

और सघ की शरण स्वीकार करो, ऐसा करने से तुम्हे शीघ्र ही बुद्धपद प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार ये रक्तभिक्षुक (बौद्धभिक्षुक) अपनी वाक्चातुरी से माया जाल फैलाकर, शास्त्रो का उल्लेख कर जैसे प्राणियो को लूटते है वैसे ही ये श्रमण भी मुझे बहकाकर मेरा सर्वस्व हरण करना चाहते है। अथवा सघ को भोजन कराओ, ऋषियो को भोजन कराओ, सुन्दर एव स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ प्रदान करो, मुखशुद्धि के लिये सुगन्धित पदार्थ भेट करो। दान देना ही गृहस्थ का परम धर्म है, दान से ही ससार को पार किया जा सकता है। इस प्रकार मुझे प्रलोभित कर, अपने शरीर का पोपण करने वाले नग्न साधुओ की तरह ये श्रमण भी कही मेरा धन तो हरण नही कर लेगे। अन्यथा मुझे आदर देते हुए मेरे सन्मुख ससार प्रपच का इतना विस्तार क्यो करते ? उनके इन सब प्रयत्नो का निष्कर्ष यह है कि, ये सब साधु लोग वही तक अच्छे है जब तक इनके पास नही जावे और इनके अनुगामी (वशवर्ती) न हो जाएँ। इनको यदि यह विश्वास हो जाए कि यह श्रद्धालु हमारे चक्कर मे आ गया है तो ये मायावी साधु उसको अपने वचनजाल मे फसाकर उसका सर्वस्व हरण कर लेते है। ये लोग मेरे साथ भी यही चाल चल रहे है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। इस श्रमण ने तो अपना जाल फैलाना शुरु कर दिया है, अब मुझे क्या करना चाहिए ? सोचता हूँ– क्या इनको कुछ कहे बिना ही यहाँ से उठकर चला जाऊँ ? अथवा इन्हे स्पष्ट शब्दो मे कह दूँ कि धर्मानुष्ठान करने की मेरी शक्ति नही है, अथवा यह कह दूँ कि मेरा सारा धन चोर लूट कर ले गये है, मेरे पास अर्थ नाम की कोई वस्तु शेष नही रही है जो कि मैं किसी पात्र को दान दे सकूँ। अथवा यह कह कर इस साधु को रोक दूँ कि मुझे आपके धर्मानुष्ठानो से कोई रुचि नही है और इस सम्बन्ध मे आप कभी भी मुझे कुछ भी नही कहे। अथवा क्रोध से भौहे चढाकर इनको घुडकी देकर स्पष्ट शब्दो मे कह दूँ कि आप अप्रासगिक बेकार बाते करते है। समझ मे नही आता कि यह साधु मुझे ठगने के प्रयत्नो से कब बाज आएगा और कब अपनी इस पचायत से मुझे मुक्त करेगा, अर्थात् मेरा पिण्ड छोडेगा।

साधु की निःस्पृहता

यह जीव पूर्वोक्त विकल्प-जालो मे डूबा रहता है। इस बेचारे की चेतना दिङ्मूढ होने के कारण यह सोच भी नही पाता कि ये भगवत्स्वरूप सद्गुरु ज्ञानवान होने से ससार के समस्त पदार्थो को तुपमुष्टि के समान नि सार समझते हैं, अतुलनीय सन्तोपामृत का पान करने से इनका अन्त:करण पूर्णतया तृप्त है, ये विपयरूपी विष के दारुण फलो से अच्छी तरह परिचित है, इनको एकमात्र मोक्ष प्राप्ति की लय लगी हुई है, समस्त पदार्थो पर समदृष्टि रखते है और नि·स्पृही है। यही कारण है कि जब ये उपदेश देने मे प्रवृत होते है तब इनके मन मे इन्द्र और रक के प्रति कोई भेद नही रहता, महर्द्धिक देवताओ और निर्धन पुरुषो के बीच

किसी प्रकार का अन्तर नही रखते, चक्रवर्ती और भिखारी जीव मे ये किसी प्रकार की विभेद रेखा नही देखते और उदार धनवान का आदर या कृपण का अनादर की दृष्टि से व्यवहार नही करते । इनके विचारो मे * परमैश्वर्य और दारिद्र्य दोनो समान हैं, महर्ध्य रत्नो की राशि —कठोर पत्थरो का ढगला, देदीप्यमान स्वर्णराशि — मिट्टी का ढगला, चान्दी का समूह - धूल की ढेरी, अनाज के कोठार —नमक का ढेर और चतुष्पद जानवर तथा वर्तन आदि सार रहित पदार्थों के तुल्य हैं। इनकी दृष्टि मे अपने रूप लावण्य से रति को भी तिरस्कृत करने वाली रमणियाँ और लकड़ी का जीर्ण-शीर्ण स्तम्भ भी समान है। इस प्रकार की विशुद्ध मनोवृत्ति वाले श्रमण इस प्राणी को जो उपदेश प्रदान करते है, इसमे उनकी केवल परोपकार करने की प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है, अन्य कोई स्वार्थजन्य कारण नही है। ये श्रमण तो अपना स्वार्थ सम्पादन भी परमार्थत स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चर्या आदि के माध्यम से सिद्ध करते है। स्वार्थसिद्धि के लिये इनकी उपदेश देने मे प्रवृत्ति नही होती। ये इससे या अन्य प्राणियो से किसी प्रकार के लाभ की अभिलाषा रखे यह तो कल्पना भी नही की जा सकती, अर्थात् पूर्णरूप से असम्भव है। परन्तु यह नष्ट बुद्धि वाला प्राणी वस्तुत इन श्रमणो की मनोवृत्ति को किंचित् भी नही समझ पाता। यही कारण है कि ये सद्गुरु जो अत्यन्त उदार विचार वाले होते है उनको भी यह जीव अपनी क्षुद्र मनोवृत्ति के कारण अपने जैसे निम्न विचारो वाला समझ बैठता है और महामोह के वश मे पडे हुए, शुद्ध तत्त्व दर्शन से रहित शैव, ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षुक और नग्न साधुओ के समान इनको भी मान बैठता है। कर्म-ग्रन्थि का भेदन करने पर भी यह जीव यदि दर्शन मोहनीय कर्म के तीन पुञ्ज (शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध) कर लेता है तो वह पुन मिथ्यात्व के पुज मे विचरता रहता है। इसी दशा मे इस जीव के मन मे पूर्वोक्त कुविकल्प उत्पन्न होते हैं।

मिथ्यात्व की प्रबल छाया

उक्त विकल्पजालो से आकुलित चित्त वाले इस जीव के मानस मे पुन' मिथ्यात्व का जहर तेजी से फैलता जाता है। इसी विष के प्रभाव से इस जीव का पहले जो मौनीन्द्र दर्शन के प्रति आग्रह था वह शिथिल हो जाता है। वह पदार्थ ज्ञान की जिज्ञासा छोड़ देता है, सद्धर्मनिरत प्राणियो का तिरस्कार करता है, विवेक-विकल प्राणियों को बहुमान देता है, पहले स्वयं जो कुछ थोडा-थोडा सुकृत कार्य करता था अब उसमें भी प्रमाद करता है, भद्रिक (सरल) स्वभाव को छोड देता है, विषयभोगो मे मस्त हो जाता है (आनन्द मानता है), विषयभोगो को प्राप्त कराने के साधन धन-सोना आदि को तात्त्विक बुद्धि से देखता है, सत्योपदेश करने वाले गुरुओ को वंचक (धूर्त) समझता है, सद्गुरु की वाणी को सुनता भी नही है,

---

* पृष्ठ ६२

धर्म की निन्दा करता है, धर्मगुरुओ के मर्मस्थानो का उद्घाटन करता है, झूठे विवाद खडे करता है और पग-पग पर गुरु का अपमान करता है।

पुन यह जीव सोचता है :—अपनी मान्यता को पुष्ट करने वाले ग्रन्थों का इन्होने पहले से ही अच्छी तरह से निर्माण कर रखा है। ऐसे शास्त्र इन श्रमणो के पास होने से मैं इनको पराजित करने में समर्थ नही हो सकता। अब ये मायावी झूठे विकल्पों के द्वारा मायाजाल फैलाकर, मुझे ठगकर, मेरी आत्मा को स्वय का भक्ष्य बनायेंगे। अतएव पहले से ही इनका सम्पर्क छोड देना चाहिये, ये मेरे घर पर आते हो तो रोक देना चाहिये, मार्ग मे मिल भी जाएँ तो सभाषण नही करना चाहिये और इनका तो नाम भी नही सुनना चाहिये।* इस प्रकार महामोहग्रस्त यह प्राणी कुत्सित अन्न के समान धन, विषय और स्त्री आदि मे गाढासक्ति धारण करता है और इसके सरक्षण मे ही रात-दिन लगा रहता है। इसी कारण सच्चे उपदेशक गुरुओं को भी यह जीव मायावी और ठग समझ लेता है और रात-दिन रौद्रध्यान मे डूबा रहता है। इन कुविचारो से जब इस जीव की विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है तब सद्गुरु इस जीव को जमीन मे गडे हुए खडे लकडी के खम्भे (स्तम्भ) की कील के समान समझते है। जब जीव विवेकभ्रष्ट और निश्चेष्ट सा होता है तब धर्माचार्य कृपापूर्वक स्वादिष्ट परमान्न भोजन के तुल्य श्रेष्ठ अनुष्ठान करने का उपदेश देते है परन्तु बेचारा पामर जीव उसको समझ नही पाता। इस जीव की ऐसी दयनीय स्थिति को देखकर विवेकीजनो को आश्चर्य होता है कि विषय, स्त्री, धनादि जो नरक के गड्ढे मे गिराने वाले है उन पर प्रगाढ आसक्ति को रखने के कारण यह जीव, धर्माचार्य प्रतिपादित मोक्ष सुख को प्रदान करने वाले श्रेष्ठ अनुष्ठानो का तिरस्कार करता है तथा उन सत्कृत्यो की ओर अपना विरोध प्रकट करता है।

[१५]

तीन औषधियाँ : निष्फल प्रयत्न

पूर्व मे कथा प्रसग मे कहा जा चुका है :—"ऐसी असम्भावित घटना घटते देखकर पाकशालाध्यक्ष ने अपने मन मे सोचा—इस गरीब को प्रत्यक्षत: सुन्दर खीर का भोजन देने पर भी न तो वह उसे ले ही रहा है, न कोई उत्तर ही दे रहा है, इसका क्या कारण है? उल्टा इसका मुँह सूख गया है, आँखे बन्द हो गई है और इतना मोहग्रसित हो गया है कि मानो इसका सर्वस्व लुट गया हो। इस प्रकार यह लकडी के कील की तरह निश्चेष्ट हो गया है। इससे लगता है कि यह पापात्मा ऐसे कल्याणकारी खीर के भोजन के योग्य नही है।" यह कथन इस जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है। सद्गुरु इस प्रकार विस्तार पूर्वक धर्मदेशना दे और अन्य

* पृष्ठ ६३

प्रयत्न भी करे फिर भी जब वे इस जीव की भद्रिकता नष्ट होते देखते हैं, विपरीत आचरण देखते है तब उनके हृदय में सहजभाव से ये विचार आते है कि यह जीव कल्याण का भाजन (पात्र) हो ऐसा प्रतीत नही होता, अतएव यह भगवद्धर्म के योग्य नही है। सद्गतिगामी न होकर कुगतिगामी ही दृष्टिगोचर होता है। दुर्दल (घडने के अयोग्य पत्थर या लकडी) होने के कारण धर्मात्माओ के द्वारा यह सस्कारित होने के योग्य नही है। ऐसे मोह से मारे हुए प्राणी पर मैंने जो प्रयास किया उससे मेरा सारा परिश्रम निष्फल गया।

दोषोत्पत्ति के कारण

पूर्व मे कहा जा चुका है—"धर्मबोधकर पुन विचार करने लगा—दूसरी तरह सोचे तो इसमे इस बेचारे का कोई दोष नही है। यह बेचारा तो शरीर की आन्तरिक और बाह्य व्याधियो से इतना घिर गया है और उनकी पीडा से इतना सवेदनाशून्य हो गया है कि कुछ भी जानने-समझने मे असमर्थ हो रहा है। यदि ऐसा न हो तो वह अपने तुच्छ भोजन पर इतनी प्रीति क्यो करे? यदि उसमे थोडी भी समझ हो तो वह ऐसा अमृत भोजन क्यो नही ग्रहण करे?" इस प्रकार जैसे विचार धर्मबोधकर के मन मे चल रहे थे वैसे ही धर्माचार्य भी इस जीव के सम्बन्ध मे ऊहापोह करते हैं कि यह जीव विषय भोगो मे गाढासक्ति रखता है, कुमार्ग पर चलता है और सदुपदेश देने पर भी ग्रहण नही करता है। इसमे इस बेचारे पामर जीव का कोई दोष नही है। फिर दोष किसका है? वस्तुत मिथ्यात्वादि भावरोगो का ही दोष है। इन्ही भावरोगो के कारण इसकी चेतनाशक्ति (विवेकबुद्धि) मारी जाती है और इसी कारण यह जीव न कुछ जान पाता है, न समझ पाता है और न विचार कर पाता है। यदि यह जीव भावरोगो से मुक्त होता तो क्या वह आत्म हितकारी प्रवृत्तियो को छोडकर कदापि अनिष्टकारी प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त हो सकता था?

[१६-१७-१८]

तीन औषधियाँ

पुन धर्मबोधकर विचार करने लगा—"तब यह * नीरोग कैसे हो? इसका मुझे उपाय करना चाहिये। अरे हाँ, ठीक है, इसको नीरोग करने के लिये मेरे पास तीन सुन्दर औषधियाँ है। उसमे से प्रथम मेरे पास विमलालोक नामक सर्वश्रेष्ठ अजन (सुरमा) है, वह आँख की सब प्रकार की व्याधियो को दूर करने मे समर्थ है। उसे नियमित रूप से विधिपूर्वक आँख मे लगाने से सूक्ष्म व्यवहित (पर्दे के पीछे या दूर रहे हुए), भूत और भविष्य काल के सर्वभावो को

* पृष्ठ ६४

देख सके, वह ऐसी सुन्दर आँखे बना सकता है। दूसरा मेरे पास तत्त्व प्रीतिकर नामक श्रेष्ठ तीर्थजल है, वह सब रोगो का एकदम शमन कर सकता है। विशेषतः शरीर मे यदि किसी भी प्रकार का उन्माद हो तो उसका सर्वथा नाश करता है और सम्यक् प्रकार से देखने मे यह सबसे अधिक सहायता करता है अर्थात् सत्यग्रहण करने मे दृष्टि को चतुर बनाता है। तीसरा वह महाकल्याणक नामक परमान्न (खीर) है, जिसे तद्दया लेकर यहाँ खड़ी है जो सर्व व्याधियो को समूल नष्ट करने मे समर्थ है। इसका नियमित विधिपूर्वक सेवन करने से शरीर का रूप-रग बढता है। वह पुष्टिकारक, धृतिकारक, बलवर्धक, चित्तानन्दकारी, पराक्रम को बढाने वाला, युवावस्था को स्थिर रखने वाला, वीर्य मे वृद्धि करने वाला और अजर-अमरत्व प्रदान करने वाला है, इसमे तनिक भी सदेह नही है। ये परमान्नादि औषधियाँ इतनी श्रेष्ठ है कि इनसे श्रेष्ठ औषधियाँ विश्व मे दूसरी हो ही नही सकती। अत. मैं इस बेचारे का इन औषधियो से उपचार कर इसे व्याधियो से छुडाऊँ। इस प्रकार धर्मबोधकर ने अपने मन मे निश्चय किया।" जैसे धर्मबोधकर ने सोच-समझकर निश्चय किया वैसे ही सद्धर्माचार्य ने जीव की समस्त दशाओ पर ऊहा-पोह कर निर्णय किया कि इस जीव की पूर्व की प्रवृत्ति को देखने से यह निश्चित है कि यह भव्यजीव है, केवल प्रबल कर्मो से उत्पीडित होने के कारण इसका चित्त डावाडोल हो रहा है और सन्मार्ग से भ्रष्ट हो रहा है। जीव की इन विषमताओं को देखकर सद्गुरु की यह अभिलाषा होती है कि इस दीन का रोग रूप कर्मसमूहो से किस प्रकार छुटकारा हो। गम्भीर दृष्टि से तात्पर्य का पर्यालोचन करते हुए धर्माचार्य के मन मे यह प्रतिभासित हुआ कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रयी औषधियाँ ही इस जीव को रोगमुक्त करने का एक मात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त कोई उपाय ध्यानपथ मे नही आता।

यहाँ ज्ञान को अंजन समझे। यह समस्त पदार्थो का स्पष्ट रूप से प्रतिपादक होने से इसको विमलालोक कहते है। आँखो के भीतर होने वाली, समस्त प्रकार के व्याधि रूप अज्ञान का नाश ज्ञान ही करता है और यही ज्ञान तीनो कालो मे होने वाले पदार्थो के समग्र भावो को प्रकट करने वाला विवेकचक्षु इस जीव को प्रदान करता है।

दर्शन को तीर्थजल समझे। जीव-अजीव आदि पदार्थो मे श्रद्धा उत्पन्न करवाने का हेतु होने से इसे तत्त्वप्रीतिकर कहते है। इस दर्शन का जब उदय होता है तब सब कर्मो की स्थिति कम होकर, एक कोटा कोटि सागरोपम से भी कुछ कम शेष रह जाती है और उस समय दर्शन (तत्त्वश्रद्धान रूप) प्राप्त होने पर इस कर्मस्थिति मे भी क्रमश. कमी आती जाती है। कर्मो को यहाँ रोग का रूपक माना है। इन समस्त रोगों को घटाने का मुख्य हेतु दर्शन ही है। यही दर्शन दृष्टि सम्बन्धी

ज्ञान मे भी यथावस्थित अर्थ को ग्रहण करने की प्रवीणता भी प्रदान करता है और प्रवल उन्माद के ❀ सदृश मिथ्यात्व का नाश भी करता है।

चारित्र को यहाँ परमान्न समझे। सदनुष्ठान, धर्म, सामायिक, विरति (व्रत) आदि चारित्र के ही पर्यायवाची शब्द है। यह चारित्र मोक्ष-प्राप्ति का प्रधान कारण होने से और मोक्ष प्राप्ति मे जीव का अत्यधिक कल्याण अन्तर्हित होने से इसे महाकल्याणक कहते है। यह परमान्न रूपी चारित्र ही रागादि प्रवलतम व्याधि-समूहो का जडमूल से नाश कर देता है। यह परमान्न (खीर) वर्ण, रूप-रग, पुष्टि, धृति (धैर्य), वल, मानसिक प्रसन्नता, ओज, युवावस्था को स्थायी रखने वाला और पराक्रम आदि के समान आत्मिक गुणो को प्रकट करता है। प्राणी मे इस प्रकार का विद्यमान महाकल्याणक चारित्र धैर्य का उत्पत्ति स्थान है, औदार्य का कारण है, गम्भीरता की खान है, शान्तभाव का शरीर है, वैराग्य का स्वरूप है, अन्तर्वीर्य (पौरुष) के उत्कर्ष का प्रवल हेतु है, निर्द्वन्द्वता का आश्रय है, मानसिक शान्ति का मन्दिर है और दया आदि गुणरत्नो का उत्पत्ति स्थान है। इतना ही नही, अपितु यह चारित्र अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य और आनन्द से परिपूर्ण, अक्षय, अव्यय तथा अव्याबाध-स्थान इस जीव को प्राप्त करा देता है। यह चारित्र ही इस जीव को अजर अमर भी बना देता है। अतएव यह पामर जीव जो कर्म का मारा हुआ है उस पर ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप औषधियो का प्रयोग कर इसको रोगमुक्त करू। इस प्रकार सद्धर्माचार्य अपने हृदय मे इस प्राणी के लिये विचार करते है।

[१६]

अंजन का अद्भुत प्रभाव

कथा प्रसग मे कहा जा चुका है—"फिर उसने (धर्मबोधकर) सलाई पर अजन (सुरमा) लगाया और वह निष्पुण्यक शिर धुनता रहा तब भी उसने उसकी आँखो मे सुरमा लगा ही दिया। वह सुरमा आनन्ददायक, बहुत ठण्डा और अचिन्त्य गुण वाला था। अत. उस भिखारी की आँखो मे लगते ही उसकी चेतना वापिस आ गई। परिणाम स्वरूप थोडी ही देर मे उसने अपनी आँखे खोली तो उसे ऐसा लगने लगा मानो उसके सब नेत्र-रोग नष्ट हो गए हो! उसके मन मे थोडा आनन्द हुआ। उसे आश्चर्य हुआ कि यह क्या हो गया!" इस कथन की जीव के साथ सगति इस प्रकार है पहले यह जीव भद्र स्वभावी था, भगवत्शासन के प्रति इसकी रुचि थी, अर्हत् प्रतिमाओ की वदन्ना-अर्चना करता था, साधुओ की उपासना करता था, धर्म का वस्तु स्वरूप जानने की जिज्ञासा प्रकट करता था और दानादि मे प्रवृत्त होता था। इन प्रवृत्तियो से इस जीव ने धर्माचार्यो के हृदय मे 'यह जीव पात्र है' ऐसा वुद्धिभाव उत्पन्न किया था, परन्तु उसके बाद प्रबल अशुभ कर्मो के उदय

❀ पृष्ठ ६५

से विस्तृत धर्मदेशना श्रवण करने के प्रसग मे अथवा अन्य कोई निमित्त को प्राप्त कर यह जीव उक्त श्रेष्ठ परिणामो से परिभ्रष्ट होता है। फलस्वरूप यह न तो देव-मन्दिर जाता है, न उपाश्रय जाता है, साधुओ को देखते हुए भी वन्दना नही करता, श्रावकजनो को आमन्त्रित नही करता, घर में चल रही दान-प्रवृत्ति को वद कर देता है. धर्मगुरुओं को दूर से देखकर ही भाग जाता है और पीठ पीछे उनके अवर्णवाद बोलता है (निन्दा करता है)। इस प्रकार इस जीव की विवेक चेतना को नष्ट हुई देखकर सुगुरु स्ववुद्धि-रूप शलाका मे इसको प्रतिवोध देने योग्य उपाय रूप अजन लेते है। किस-किस प्रकार के उपाय रूप अजन लेते हैं ? जैसे, किसी समय आचार्य बहिर्भूमि आदि के कारण नगर के वाहिर गये हुए हो और मार्ग मे कदाचित् वह प्राणी दृष्टिपथ मे आ जाए तो वे उसके साथ मधुर-भाषण करते है, हित-कामना के भाव प्रदर्शित करते है, स्वय का सरल स्वभाव व्यक्त करते है और हम तुझे ठगने वाले नही है ऐसा उसके हृदय मे विश्वास जागृत करते है। स्वय के प्रति उस जीव का * विशेष सद्भाव देखकर वे उसे कहते है—हे भद्र ! तुम साधुओ के उपाश्रय मे क्यो नही आते हो ? तुम अपनी आत्मा का हित साधन क्यो नही करते हो ? मनुष्य जन्म को क्यो निष्फल वना रहे हो ? क्या तुम शुभ और अशुभ के भेद को नही जानते हो ? तुम पशुभाव का अनुभव कैसे करते हो ? हम तुम्हे पुन पुन. वतला रहे हैं कि यह उपदेश ही तुम्हारे लिये पथ्य है, हितकारी है। अतएव तुझे हमारे कथन पर वारम्वार विचार करना चाहिये। ये सव वाते शलाका (सलाई) पर अजन लगाने के समान समझनी चाहिये। यहाँ उपदेश रूप कारण मे सम्यग् ज्ञान रूप कार्य का उपचार किया गया है।

विचित्र उत्तर

धर्माचार्य की इस प्रकार की वाणी सुनकर, यह जीव आठ प्रकार के उत्तर देने की मन मे योजना कर बोला – १ हे श्रमण ! मुझे किंचित्मात्र भी समय नही मिलता। २. भगवान् के समीप जाने से मुझे कुछ मिलने वाला नही है। ३. वेकार (कामधन्धो से रहित) आदमियो को ही धर्म की चिन्ता होती है। ४. मेरे जैसा आदमी इधर-उधर घूमता रहे तो कुटुम्बीजन (औरत, वच्चे) भूखे मरे। ५. घर के वहुत काम पडे है, वे अधूरे रह जाएँ। ६. व्यापार-धन्धा वन्द करना पड़े। ७ राजसेवा नही कर सकता। ८. खेती वाडी का काम भी चोपट हो जाए। जीव के इस कथन की तुलना को निष्पुण्यक के शिर धुनने के समान समझनी चाहिये।

व्यवहार से धर्मोपासना

निष्पुण्यक के इस प्रकार के वचन सुनकर, करुणापूरित हृदय वाले धर्माचार्य अपने मन में सोचते है—यह वेचारा प्राणी विशेष शुभ (पुण्य) कर्म न

---

* पृष्ठ ६६

करते के कारण अवश्य ही दुर्गति मे चला जाएगा, अतएव मुझे इसके प्रति किसी भी प्रकार का उपेक्षाभाव नही रखना चाहिये। ऐसा सोचकर पुन सद्गुरु उसे कहते है. – हे वत्स ! तूने जैसा कहा वैसा ही होगा। फिर भी मै तुझे एक बात (वचन) कहता हूँ, तू उस वचन को स्वीकार कर। तू दिन या रात के किसी समय मे भी (जब तुझे समय मिले तब) एक बार अवश्यमेव उपाश्रय आकर साधुओ के दर्शन कर चले जाना। इस बात का तू अभिग्रह (नियम) धारण कर। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का व्रत ग्रहण करने को मैं तुझे नही कहूँगा। जीव ने सोचा - क्या करू ? मार्ग मे ही महाराज मिल गये और उनकी इस सामान्य बात को भी स्वीकार नही करू तो अच्छा नही लगेगा। अतएव अनिच्छा होने पर भी मन मसोसकर उसने यह अभिग्रह ले लिया। जीव ने धर्माचार्य का एक वचन स्वीकार किया, इसे निष्पुण्यक के शिर धुनते हुए भी आँखो मे अजन लगाने के समान समझे। इसके बाद यह प्राणी प्रतिदिन उपाश्रय जाने लगा। साधुओ का नियमित सम्पर्क होने से, साधुओ की अकृत्रिम (बनावट रहित) शुभानुष्ठानमय जीवन-चर्या देखने से, उनके नि.स्पृहता आदि गुणो का अवलोकन करने से और स्वय जीव के पाप-परमाणुओ का दलन प्रारभ होने से उसे विवेक कला प्राप्त होने लगी, अर्थात् उसकी विवेकबुद्धि पुन सक्रिय हो गई। इस कथन को निष्पुण्यक की नष्ट-चेतना पुन प्राप्त हुई के सदृश समझ। विवेक जागृत होने पर जीव को पुन.-पुन धर्म-पदार्थो को जानने की जिज्ञासा होने लगी, इसे निष्पुण्यक के पुन -पुन आँखे उघाड़ने और भीचने के तुल्य समझे। जीव का क्रमश अज्ञान नाश होने लगा, इसे निष्पुण्यक के नेत्र रोग शान्त हुए के समान समझे। धर्माचार्य के उपदेश से अज्ञता नष्ट होने से एव बोध होने से जीव को किंचित् शान्ति प्राप्त हुई, इसे निष्पुण्यक को विस्मय हुआ के कथन के सदृश समझे।

भिक्षापात्र पर प्रेम

जैसा पूर्व मे कह चुके है —"इतना लाभ होने पर भी पूर्वकालीन सस्कारो के कारण उसका अपने भिक्षापात्र को पकड़े रखने का स्वभाव नही गया।* अब भी भिक्षापात्र की रक्षा का विचार उसके मन मे बार-बार उठता रहता था। यह एकान्त स्थान है, अत कोई उसका भिक्षापात्र उठाकर न ले जाए, इस विचार से वह वहाँ से भागने के लिए रास्ता ढूँढने को चारो तरफ नजरे घुमा रहा था।" वैसा ही यहाँ इस जीव के साथ समझे, जो इस प्रकार है – जब तक यह जीव प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य लक्षणो से युक्त अधिगम सम्यक्त्व (अन्य के उपदेश से प्राप्त सम्यक्त्व दर्शन) प्राप्त नही करता तब तक व्यवहार-बोध (बाहरी ज्ञान) होने पर भी प्राणी मे विवेक की अल्पता के कारण धन-विषय-कलत्रादि के प्रति कुत्सित भोजन के समान परमार्थ बुद्धि जागृत नही होती।

---

* पृष्ठ ६७

ऐसा तुच्छ विचार वाला प्राणी अपनी अधम मन की कल्पनाओं के आधार पर उदार हृदय एव नि.स्पृह मुनिपुंगवो के प्रति भी ऐसे ही निराधार विचार किया करता है कि इनके निकट रहने पर ये मेरे से किसी वस्तु की याचना करेंगे, ऐसी शंकाएँ वारवार किया करता है। इसी कारण न तो वह उनसे निकट सम्पर्क बनाये रखता है और न उनके पास अधिक समय तक रुकता ही है।

[२०]

जल का विलक्षण प्रभाव

जैसा कि पहले कह चुके हैं.—"निष्पुण्यक को सुरमा लगाने से कुछ चेतना प्राप्त हुई देखकर धर्मबोधकर ने मीठे वचनो से उससे कहा.—हे भद्र ! तेरे सब तापो (रोगों) को कम करने वाला यह तत्त्व प्रीतिकर पानी तो जरा पी। यह पानी पीने से तेरा शरीर सम्यक् प्रकार से स्वस्थ हो जाएगा। धर्मबोधकर जब उस भिखारी को इस प्रकार की प्रेरणा दे रहा था तब भी वह द्रमुक (निष्पुण्यक) शंकाकुल होकर अपने मन मे सोच रहा था कि यह पानी पीने से क्या होगा ? इसका क्या निश्चय ? ऐसे विचारों से उस मूढात्मा ने तत्त्व प्रीतिकर जल को पीने की इच्छा नही की। धर्मबोधकर ने जब उसकी ऐसी दशा देखी तब हृदय मे अत्यधिक दयाभाव होने के कारण उसके हित के विचार से उसकी इच्छा के विरुद्ध भी 'बलपूर्वक भी हित-साधन करना चाहिये' ऐसा मानते हुए, बलपूर्वक उसका मुँह खोलकर उसने तत्त्वप्रीतिकर नामक जल उसके मुँह मे डाल दिया। यह पानी अत्यन्त शीतल, अमृत के समान स्वादिष्ट, चित्ताह्लादकारी और सब सन्तापों को नष्ट करने वाला था। उसके पीने से वह पूर्णरूपेण स्वस्थ के समान हो गया। उसका उन्माद बहुत कम हो गया, उसके रोग कम हो गए और उसके शरीर की दाहपीड़ा (जलन) ठंडी पड़ गई। उसकी सभी इन्द्रियाँ संतुष्ट हुईं। इस प्रकार की उसकी अन्तरात्मा के स्वस्थ होने से उसकी विचारशक्ति भी किंचित् शुद्ध हुई और वह सोचने लगा।" वैसे ही उक्त कथन इस जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है, जिसकी योजना इस प्रकार है.—

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति में कठिनता

जब यह जीव कुछ समय निकाल कर साधुओ के उपाश्रय मे आता है तब साधुओं के सम्पर्क से उसको द्रव्यश्रुत (छिछला ज्ञान या सामान्य व्यावहारिक ज्ञान) की प्राप्ति होती है। द्रव्यश्रुत-सम्पन्न होने से उस जीव मे किंचित् विवेकबुद्धि अवश्य जागृत होती है किन्तु वह विशिष्ट श्रद्धा से रहित होता है। यही कारण है कि वह धन-विषय-कलत्र को परमार्थ (हितकारी) बुद्धि से ही ग्रहण करता है और उन पर प्रबल आसक्ति रखता है। इस गाढासक्ति के कारण ही वह यह समझता है कि साधुगण भी इन्ही विषयो की चाहना करते होगे। इस प्रकार की

शंकाओ से घिरा हुआ यह जीव जव धर्मकथा चलती हो तब जान-बूझकर उसे नही सुनता, अर्थात् धर्मकथा श्रवण का त्याग करता है। उसकी डावाडोल मानसिक स्थिति मे जव आचार्य उस जीव से मिलते है तव अत्यन्त कृपालु होने के कारण वे विचार करते है:—यह जीव विशिष्टतर गुणो का पात्र कैसे वने? अतएव जव कभी वह जीव उनके पास वैठा होता है तव वे उसको सुनाते हुए, दूसरो को लक्ष्य करके सम्यग् दर्शन के गुणो का और उसकी दुर्लभता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो प्राणी इस सम्यग् दर्शन को स्वीकार करता है वह स्वर्ग और मोक्ष का फल प्राप्त करता है। उस व्यक्ति को न केवल पारलौकिक फल ही प्राप्त होता है अपितु इहलोक मे भी उसे मन की अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। यह सब योजना इस जीव मे चैतन्य आने के बाद आचार्य द्वारा जल का पान करने हेतु आमन्त्रण के तुल्य समझें।

उपदेशक का अनादर

धर्माचार्य के पूर्वोक्त वचन सुनकर डावाडोल बुद्धि वाला यह जीव इस प्रकार सोचता है: –ये श्रमण सम्यग् दर्शन के गुणो की अत्यधिक प्रशसा करते है,* किन्तु ज्यो ही मैं सम्यग् दर्शन अगीकार करू गा त्योही ये मुझे अपना वशवर्ती समझकर अवश्य ही मेरे पास से धनादिक की याचना करेगे। मुझे प्राप्त वस्तु का त्यागकर अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा रूप आत्म-प्रवचना की क्या आवश्यकता है? मैं नही जानता कि इन श्रमणो के मन मे क्या है और ये मुझसे कितना त्याग करवायेंगे? इस प्रकार के विचारो मे बहका हुआ प्राणी आचार्य के वचनो को जैसे सुना ही न हो, अगीकार नही करता है। इस कथन को जैसे निष्पुण्यक पानी पीने को निमत्रण देने पर भी पानी पीने की इच्छा नही करता वैसे ही इस जीव की मनोदशा को समझें।

मार्गदेशना : अर्थ पुरुषार्थ

जीव की ऐसी मनोदशा देखकर धर्मगुरु सोचते हैं कि क्या उपाय करना चाहिये कि जिससे यह बोध को प्राप्त हो। ऊहापोह के पश्चात् वे इस मार्ग का अवलम्बन लेते है। जैसे, किसी समय मे यह जीव उपाश्रय मे आया हुआ है जानकर, उसके आने से पूर्व ही अन्य प्राणियो को इगित करते हुए धर्माचार्य मार्गदेशना (धर्मोपदेश) देना प्रारम्भ करते है –हे भव्यप्राणियो! तुम सब प्रकार के विक्षेपो का त्याग कर मैं जो कह रहा हूँ उसे ध्यान पूर्वक सुनो। इस ससार मे चार प्रकार के पुरुषार्थ होते है—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। कई लोग इन पुरुषार्थो मे से अर्थ को ही प्रधान पुरुषार्थ मानते है। आचार्य इस प्रकार धर्मदेशना की भूमिका बाँधते है इसी बीच यह प्राणी सभास्थल मे आ जाता है, उस समय उसको सुनाते हुए

* पृष्ठ ६८

आचार्य आगे कहते है—धनवान पुरुष वृद्धावस्था से जीर्ण शरीर वाला होने पर भी पच्चीस वर्ष की अवस्था का उन्मत्त तरुण पुरुष माना जाता है। धनवान अत्यन्त कायर (डरपोक) होने पर भी, मानो बडी-बड़ी लडाइयो मे इसने अदम्य साहस और वीरता दिखाई हो तथा वह अतुलबली एव महापराक्रमी हो, ऐसे उसके प्रशसागीत चाटुकारो द्वारा गाये जाते है। जिसको सिद्ध-मातृका पाठ –(क. ख. ग) भी न आता हो उसे भी समस्त शास्त्रो के पारगत और तीव्रतम चतुरबुद्धि के धारक मानकर भाटगण उस धनवान की स्तुति करते है। कुरूप और नितान्त अदर्शनीय होने पर भी उसके चाटुकार सेवक उस धनवान को कामदेव के सौन्दर्य को भी पराजित करने वाला मानते हैं। रत्ती मात्र भी जिसका वर्चस्व (प्रभाव) न हो, फिर भी धनवान को समस्त वस्तुओं का सावन करने मे पूर्ण प्रभावशाली मानकर धनलोलुपी उसकी ख्याति करते है। जघन्य कुल की दासी से अथवा वेश्या से उत्पन्न होने पर भी मानों ये प्रख्यात, उन्नत, श्रेष्ठवंश (जाति) मे उत्पन्न हुए हो इस प्रकार धनार्थी उस धनवान की प्रख्याति करते है। सात पीढ़ियो मे भी जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो, तो भी मानो सगे भाई हो इस प्रकार का सब लोग उस धनवान के साथ सम्बन्ध एव व्यवहार रखते है। यह सब अर्थ (धनदेव) की लीला है। पुनश्च, समस्त प्राणियो का पुरुषत्व तथा सब इन्द्रियाँ समान होते हुए भी लोक मे कितने ही पुरुष दाता होते हैं और कितने ही याचक, कितने ही राजा होते है और कितने ही सैनिक या सेवक, कितने ही इन्द्रियो के अनुपम भोगो के भोक्ता होते है और कितने ही दु.ख उठाते हुए भी अपनी उदरपूर्ति करने मे असमर्थ और कितने ही पोषक (पालन करने वाले) होते है और कितने ही पोषित। इस जगत् मे इस प्रकार के जो अनेक भेद दिखाई पड़ते है वे सब अर्थ (धन) का सद्भाव और असद्भाव से उत्पन्न होते है, अतएव सब पुरुषार्थो मे अर्थ ही प्रधान पुरुपार्थ है। कहा भी गया है—*

अर्थाख्य. पुरुषार्थोऽय प्रधान. प्रतिभासते।
तृणादपि लघुं लोके धिगर्थरहितं नरम्।

अर्थ नाम का पुरुषार्थ सब पुरुषार्थो में मुख्य प्रतीत होता है। धनहीन मनुष्य इस लोक मे तृण से भी अधिक तुच्छ माना जाता है अतएव वह धिक्कार के योग्य है।

अर्थ द्वारा आकर्षण

धर्माचार्य के मुख से अर्थ की महिमा सुनकर वह जीव सोचने लगा—अरे! आचार्य महाराज ने तो बहुत ही बढिया बात कहनी प्रारम्भ की है, अतएव

* पृष्ठ ६९

वह उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनने लगा, सुनते हुए मैं आपकी सब बात समझ रहा हूँ, यह जतलाने के लिये वह अपनी गर्दन को हिलाता है, आँखे खोलता है और मीचता है, चेहरे पर मुस्कराहट लाता है और मुख से धीमे-धीमे बोलता है —बहुत अच्छी बात कही, बहुत अच्छी बात कही। इस प्रकार जीव के शारीरिक लक्षणो को देखकर सद्धर्माचार्य समझ जाते है कि इसको बात (उपदेश) सुनने का कौतूहल पैदा हो गया है, ऐसा समझकर अपने प्रवचन को पुन आगे बढाते हुए कहते है।

काम पुरुषार्थ

भो भव्यलोको! कितने ही लोग काम को ही प्रधान पुरुषार्थ मानते है। उन लोगो का विचार है कि, ललित ललनाओ के मुखकमल मे रहे हुए मधु का पान करने मे चतुर भ्रमरों के समान आचरण (अधरोष्ठपान) किये विना पुरुष का पौरुष वस्तुत स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि अर्थ-सग्रह का, कलाकौशल प्राप्त करने का, धर्मप्राप्ति का और मनुष्य जन्म पाने का वास्तविक फल तो काम ही है। यदि समस्त प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री प्राप्त हो भी जाए किन्तु काम के साधनो का उपयोग करने की कला न आती हो तो वह सब निष्फल ही है। जो प्राणी कामभोग का सेवन करने में प्रवीण होते है उनको भोग के साधनभूत धन, स्त्री, स्वर्ण आदि स्वत ही प्राप्त हो जाते हैं। "सम्पद्यन्ते भोगिनां भोगा" अर्थात् भोगी को भोग प्राप्त होते हैं। इस प्रसिद्ध उक्ति से बालगोपाल और स्त्रियाँ भी परिचित है। कहा भी है—

स्मित न लक्षेण वचो न कोटिभि--र्न कोटिलक्षै : सविलासमीक्षितम्।
अवाप्यतेऽन्यैरदयोपगूहनं, न कोटिकोट्यापि तदस्ति कामिनाम्॥

अर्थात् अन्य पुरुषो को लाख रुपये व्यय करने पर भी जो स्मित हास्य (मुस्कराहट) प्राप्त नही होता, करोड रुपया व्यय करने पर भी जो मधुर वचन नही मिलते, कोटिलक्ष (दस खरब) व्यय करने पर भी उसके सन्मुख मादकतापूर्ण कटाक्ष फेंका नही जा सकता (जो मादक कटाक्ष प्राप्त नही होता) और कोटाकोटि द्रव्य खर्च करने पर भी जो निष्ठुर आलिंगन प्राप्त नही होता, ये सब कामी पुरुष को सहज प्राप्त हो जाते है।

कामप्रवण पुरुष को कमी किस बात की है? अतएव काम ही प्रमुख पुरुषार्थ है। कहा भी है—

कामाख्य. पुरुषार्थोऽयं प्राधान्येनैव गीयते।
नीरस काष्ठकल्प हि धिक्कामविकल नरम्॥

अर्थात् यह विश्व इस काम-पुरुषार्थ के गीत प्रमुख रूप से गाता है। नीरस काष्ठ के समान कामरहित पुरुष को धिक्कार है।

इस काम पुरुषार्थ की प्रशसा सुनकर इस प्राणी का हृदय हर्षातिरेक से उछलने लगा और स्पष्ट वाक्यो मे कहने लगा— अहो ! आचाय भट्टारक ने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कहा। बहुत समय के बाद आज धर्माचार्य ने बहुत ही सुन्दर व्याख्यान (प्रवचन) देना प्रारम्भ किया है। यदि आप इस प्रकार की सुन्दर देशना प्रतिदिन प्रदान करें तो, मैं एक क्षण का अवकाश न होने पर भी जैसे-तैसे समय निकालकर, सारी बाधाओ का त्यागकर एकाग्रचित्त होकर सुनूंगा। निष्पुण्यक का मुख खोलने के समान सद्गुरु ने अपने सामर्थ्य से इस जीव का मुख खोला।

मोह का प्रभाव : गुरु का पर्यालोचन

जब यह प्राणी देशना के मध्य मे साधु ! साधु ! ! बोलने लगता है तब धर्माचार्य अपने मन मे विचार करते हैं—अहो ! महामोह का खेल देखो ! मोहराज से मारे हुए ये प्राणी प्रसगोपात्त कही हुई अर्थ और काम की कथा से प्रसन्न होते है, खिल उठते है और प्रयत्न करने पर भी धर्मकथा को सुनकर रजित नही होते। यहाँ हमने अर्थ और काम से प्रतिबद्ध (वशवर्ती) क्षुद्र प्राणियो के हृदयो मे किस प्रकार के अभिप्राय (विचार) होते है * इसका दिग्दर्शन कराया तो यह बापडा इसी को सुन्दरतम मान बैठा। इस प्राणी को श्रवणाभिमुख करने का मेरा परिश्रम सफल हुआ। इसको प्रतिबोध देने के लिये मेरे द्वारा चिन्तित प्रयोगबीजो (विचारणा बीज) मे अकुर निकल आया है। मैं समझता हूँ अब यह प्राणी मार्ग पर आ जाएगा। ऐसा मन मे सोचकर आचार्य पुन: बोले – हे भद्र ! हम तो वस्तु का जैसा स्वरूप विद्यमान हो वैसा ही प्रतिपादन करते है। हम झूठ बोलना तो जानते भी नही है। धर्माचार्य के वचनो पर इस जीव को विश्वास होने पर वह बोला – भगवन् ! आप जैसा कहते है वैसा ही है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। पुन: गुरु ने कहा – भद्र ! यदि ऐसा ही है तब बतलाओ कि मैंने जो अभी अर्थ और काम की महत्ता दिखाई वह क्या तुम्हारी समझ मे आ गई ? वह बोला – अच्छी तरह से समझ मे आ गई। पुन: गुरु बोले—सौम्य ! हम चारो पुरुषार्थों की महत्ता प्रदर्शित कर रहे थे, उसमे अर्थ और काम के स्वरूप का वर्णन कर चुके। अब हम तीसरे धर्म पुरुषार्थ का स्वरूप बताते है, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। वह जीव पुन. बोला—मेरा पूर्ण ध्यान है, हे भगवन् ! आप आगे वर्णन करिए।

धर्म पुरुषार्थ का स्पष्ट वर्णन

तब धर्माचार्य अपने प्रवचन को आगे बढाते हुए कहने लगे—हे श्रोतागणो ! कितने ही लोग धर्म को ही मुख्यतम पुरुषार्थ मानते है। समस्त

---

* पृष्ठ ७०

प्राणियो मे जीवत्व समान होने पर भी कितने ही प्राणी ऐसे कुलो मे होते है जो परम्परा से (अनेक पीढियो से) धन से समृद्ध होते है, जो आनन्द के धाम होते हैं और जो विश्व मे पूजित (सम्माननीय) होते हैं। कितने ही प्राणी ऐसे कुलो मे उत्पन्न होते है जहाँ धन नामक पदार्थ की गन्ध का सम्बन्ध भी नही होता (धन का लवलेश भी नही होता), समस्त दु खो का आगार होता है और जो समस्त लोगो द्वारा निन्दनीय माना जाता है। यह महदन्तर क्यो पडता है? एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए जुडवाँ दो भाइयो मे विशेष अन्तर देखने मे आता है। जैसे कि, इन जुडवाँ भाइयो मे से एक तो रूप (सौन्दर्य) मे कामदेव, समता मे मुनि, बुद्धिवैभव मे अभयकुमार, गम्भीरता मे समुद्र, अडिगता मे मेरुशिखर, शूरवीरता मे अर्जुन, धन मे कुबेर, दान मे कर्ण, नीरोगता मे वज्र-शरीर और प्रसन्नता मे महर्धिक देवताओ के समान होता है। इस प्रकार समस्त गुणो और कला-कौशल से शोभित एक भाई तो सब प्राणियो के मन और नेत्रो को आह्लादित करने वाला होता है, जब कि दूसरा जुडवा भाई बीभत्स आकृतिधारक होने से सब को उद्वेगदायक, अपनी दुष्ट प्रवृत्ति से माता-पिता को सन्तापदायक, मूर्खशिरोमणि होने से पृथ्वी पर विजयकारक (भूतल मे एकमात्र मूर्ख), तुच्छता मे आकडा और सेमल की रूई से भी हलका, चपलता मे वानरलीला को भी मात देने वाला, कायरता मे चूहो को भी पीछे पटकने वाला, निर्धनता से रकाकृति का धारक, कृपणता से टक्क जाति के मनुष्यो का * लघन करने वाला, रोगाक्रान्त शरीर और उसकी विविध पीडाओं से विक्लव तथा बूम मारते रहने से जगत् के लोगो की दया प्राप्त करने वाला, दैन्य उद्वेग और शोकादि से व्याप्त चित्त वाला होने से नारकी के घोर दु खो के समान घोर सन्ताप को प्राप्त करता है। सब लोग उसको समस्त दोषो का घर मानते हुए पापिष्ठ और अदर्शनीय कहकर उसकी बारम्बार निन्दा करते है। (अर्थात् एक माँ-बाप की सन्तान होने पर भी जुडवाँ भाइयो मे इतना महदन्तर किस कारण से होता है?)

अन्तर और हानि

पुनश्च, सोचिए— ऐसे दो पुरुष उन्नत तेज, बल, बुद्धि, उद्योग और पराक्रम मे जो समस्त दृष्टियो से एक समान हो, अर्थात् मानसिक, शारीरिक और औद्योगिक दृष्टि से एक-सरीखे हो, वे जब अर्थोपार्जन के लिये प्रवृत्त होते है तब उनमे से एक व्यक्ति चाहे वह खेती-बाडी करे, पशु पालन करे, व्यापार करे, राज्य-सेवा करे अथवा अन्य जो कोई भी कार्य हाथ मे ले तो वह उन-उन कार्यो मे इच्छित सफलता को प्राप्त करता है। जब कि दूसरा व्यक्ति उसी के समान उद्योग या व्यापार करता है तब भी वह उसमे तनिक भी सफल नही होता, विफल ही होता है। इतना ही नही, अपितु पूर्वजो की जो कुछ सचित सम्पत्ति होती है वह भी विपरीत आपत्तियो के कारण खो बैठता है। इसमे भी क्या कारण है?

---

* पृष्ठ ७१

विशेषता के कारणों की खोज

पुनश्च, यह भी विचार करना चाहिये कोई दो पुरुप जब स्पर्श, रस, घ्राण. चक्षु और कर्ण (पाँचो इन्द्रियो) के उन्नत प्रकार के विपयो को एक साथ प्राप्त करते है तब उनमे से एक तो प्रबल शक्ति वाला इन विपयो को प्रवर्धमान अत्यधिक प्रेम के साथ बारम्बार भोग करता है और दूसरा पुरुप असमय मे ही कृपण हो जाता है अथवा उसे किसी प्रकार का रोग हो जाता है, फलस्वरूप भोगो को भोगने की इच्छा होते हुए भी वह भोग नही पाता। इस प्रकार का जीवो मे विभेद (अन्तर) बहुत बार देखने मे आता है किन्तु इसका क्या कारण है ? यह दृष्टिपथ मे नही आता, समझ मे नही आता। कारण के बिना कोई कार्य नही हो सकता। यदि इस प्रकार के कार्य अकारण ही होते रहते हो तो आकाश के समान सर्वदा होते रहने चाहिये अथवा खरगोश के शृग के समान कदापि नही होने चाहिये। जब कि यह विभेद कभी तो प्रत्यक्षत दिखाई देता है और कभी नहीं दिखाई देता। अतएव यह निश्चित है कि यह विभेद अकारण नही है, इसमे कोई न कोई कारण अवश्य है।

धर्म और अधर्म के परिणाम

इसी बीच मे इस बात को कुछ समझकर वह जीव बोला— भगवन् ! इन विभेदो का उत्पादक कारण क्या है ? जीव का प्रश्न सुनकर धर्माचार्य बोले—हे भद्र ! सुनो-- समस्त प्राणियो को जो सुन्दर विशेषताएँ (सामग्री आदि) प्राप्त होती है उनका अन्तरग कारण धर्म ही है। यह धर्म ही प्राणियो को अच्छे कुल मे उत्पन्न करता है, धर्म ही उसे गुणो का धाम बनाता है, यही सब अनुष्ठानो को सफल बनाता है, प्राप्त हुए भोगो का निरन्तर उपभोग करवाता है और अन्य समस्त शुभ विपयो को प्राप्त करवाता है, अर्थात् धर्म के प्रताप से ही समस्त श्रेष्ठ सयोग प्राप्त होते है। इसी प्रकार सब जीवो को जो अशोभन विशेषताएँ (अप्रिय साधन) प्राप्त होते है उनका अन्तरग कारण भी अधर्म ही है। अधर्म के कारण ही जीव अधम कुलो मे उत्पन्न होता है, सब प्रकार के दोपो (दुर्गुणो) का आश्रय स्थान बन जाता है, सब प्रकार के व्यवसायो मे असफल होता है, शक्ति-वैकल्य के कारण प्राप्त भोगो को भोग नही पाता और अन्य अनेक प्रकार के अप्रिय, अमनोज्ञ एव अशुभ विपयो को प्राप्त करता है, अर्थात् अधर्म के कारण समस्त प्रकार के अशुभ सयोग प्राप्त होते है। अतएव यह स्वीकार करना चाहिये कि जिस धर्म के प्रभाव से समस्त प्रकार की सम्पदाएँ जीवो को प्राप्त होती है वह धर्म ही प्रमुखतम पुरुषार्थ है।* अर्थ और काम की पुरुष कितनी भी अभिलाषाएँ करे किन्तु धर्म के बिना ये प्राप्त नही हो सकती। धर्मयुक्तो को कल्पना नही करने पर भी ये स्वत ही प्राप्त

---
* पृष्ठ ७२

हो जाती हैं। अतएव अर्थ और कामार्थी प्राणियो को वस्तुतः धर्म पुरुषार्थ की साधना करना ही आवश्यक एवं युक्त है। इसी कारण धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है। यद्यपि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द रूप आत्मा की मूल अवस्था को प्रकट करने वाला मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ ही है, यह मोक्ष पुरुषार्थ समस्त क्लेश-राशियों को नष्ट करने वाला है और प्राणी स्वतन्त्र रूप से स्वाभाविक आनन्द का भोग कर सके ऐसी आह्लादमयी स्थिति को प्राप्त कराने वाला होने से प्रमुख पुरुषार्थ है तदपि धर्म पुरुषार्थ की साधना के फलस्वरूप ही परम्परा से मोक्ष पुरुषार्थ साध्य होने से धर्म को प्रधानता दी गई है। मोक्ष पुरुषार्थ प्रधान होते हुए भी वस्तुतः मोक्ष का सम्पादक धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है। कहा भी है—

धनदो धनार्थिनां धर्मः कामिनां सर्वकामदः।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥

अर्थात् धर्म धनेच्छुओं को धन, कामार्थियों को काम प्रदान करता है और धर्म ही परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) का साधक होता है।

अतएव धर्म से प्रधानतम कोई पुरुषार्थ नहीं है। पुनः कहते हैं.—

धर्माख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधान इति गम्यते।
पापग्रस्त पशोस्तुल्यं, धिग् धर्मरहितं नरम् ॥

अर्थात् धर्म नाम का यह पुरुषार्थ सब पुरुषार्थों मे प्रधान है। पापग्रस्त धर्महीन प्राणी जो पशुतुल्य है, ऐसे मानव को धिक्कार है।

धर्म के कारण : स्वभाव : कार्य

उक्त धर्मदेशना सुनकर वह जीव बोला —'हे भगवन्! अर्थ और काम तो प्रत्यक्ष मे दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु आपने जिस धर्म का वर्णन किया उसे तो हमने कही भी नही देखा! अतएव आप उसका प्रत्यक्ष स्वरूप मुझे बतावे।' यह सुनकर धर्माचार्य ने उत्तर प्रदान किया—भद्र! मोहान्ध प्राणी इसको प्रत्यक्ष मे नही देख पाते हैं, जब कि विवेकी इस धर्म को स्पष्टतः प्रत्यक्ष देखते हैं। सामान्यतः धर्म के तीन स्वरूप देखे जाते हैं:- कारण, स्वभाव और कार्य। इसमे सदनुष्ठान का पालन करना यह धर्म का कारण है, जो प्रत्यक्षतः देखने मे भी आता है। स्वभाव दो प्रकार का है:—सास्रव और अनास्रव। इसमे सास्रव स्वभाव जीव मे शुभ परमाणुओं का संग्रह रूप है और अनास्रव स्वभाव पूर्वोपार्जित कर्म परमाणुओं का नाशरूप (विलय रूप) है। इन दोनो प्रकार के धर्म के स्वभावों को योगीजन तो प्रत्यक्ष मे देख सकते हैं और हमारे जैसे अनुमान से देख सकते हैं। धर्म का कार्य तो प्रत्येक जीव मे जो अनेक प्रकार की शुभ प्राप्तियाँ हैं वे स्पष्टतः दृष्टिपथ मे

आने से सब को स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार धर्म के कारण, स्वभाव और कार्य – इन तीनो रूपो को प्रत्यक्षत देखते हुए भी तू कैसे कहता है कि मैंने धर्म को नही देखा ? धर्म के जो तीन भेद दिखाए उसमे से तीसरा भेद कार्य ही धर्म के नाम से कहा जाता है, प्रसिद्ध है। इसमे विशिष्ट बात यह है कि जैसे 'मेघ तन्दुलों (चावलो) की वर्षा करता है, मेघ तो पानी वरसाता है किन्तु पानी पडने से कार्य रूप तन्दुल पैदा होते है। यहाँ कारण मे कार्य का उपचार है वैसे ही सदनुष्ठान रूप कारण मे कार्य का उपचार करने से इसको धर्म कहा जाता है। ऊपर स्वभाव वर्णन मे सास्रव स्वभाव कहा है उसे यहाँ पुण्यानुवन्धी पुण्य रूप समझे और जो अनास्रव भेद कहा गया है उसे यहाँ (जैन परिभाषा मे) निर्जरा रूप समझे। उक्त दोनो प्रकार के सास्रव-अनास्रव * स्वभाव को भी विना किसी उपचार से साक्षात् धर्म नाम से ही सम्बोधित करते है, धर्म ही कहते हैं। प्राणियो मे आरोग्य, सौभाग्य, यश, कीर्ति, धनप्राप्ति आदि जो देखने मे आती है उसे ही कार्य मे कारण का आरोप करके लोग उसे धर्म के नाम से ख्यापित करते है, पहचानते है। जैसे, 'यह मेरा शरीर पूर्व कर्म है.' अर्थात् शरीर रूप कार्य का कारण पूर्वकृत कर्म है तो भी शरीर रूप कार्य में कारण का आरोप कर उसे ही कर्म कह देते हैं।

यह कथन सुनकर जीव वोला—भगवन् ! आपने धर्म के तीन रूप वतलाए, इन तीनो मे से ग्रहण करने योग्य कौनसा है ?

धर्माचार्य - भद्र ! सद्नुष्ठान कारण ही ग्रहण करने योग्य है। यही कारण, स्वभाव और कार्य दोनो की प्राप्ति करवा देता है।

जीव – सदनुष्ठान कौन–कौन से है ?

धर्माचार्य – सौम्य ! सदनुष्ठान दो प्रकार का है– साधु धर्म और गृहस्थ (श्रावक) धर्म। और इन दोनो प्रकार के धर्मों का मूल सम्यग् दर्शन है।

जीव—भगवन् ! आपने पहले किसी समय मुझे सम्यग् दर्शन का उपदेश दिया था, किन्तु उस समय मैंने आपकी बात ध्यान पूर्वक नही सुनी थी। अत. कृपा कर पुन· कहिए कि इस सम्यग् दर्शन का स्वरूप क्या है ?

जीव की जिज्ञासा देखकर आचार्य प्रथमावस्था के योग्य सम्यग् दर्शन का सामान्य स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित करते है—

सम्यग् दर्शन का सामान्य स्वरूप

हे भद्र ! जो राग, द्वेष, मोहादि से रहित हो, जो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य और आनन्दस्वरूप हो, जो समस्त जगत् का कल्याण करने मे

* पृष्ठ ७३

तत्पर हो, जो सकल (परिपूर्ण) और निष्कल रूप (सम्पूर्णाश मे एकरूप) हो, जो ऐसे अनेक गुणो से युक्त हो वही परमात्मा है। वही परमार्थत सच्चा देव है। ऐसी विवेक बुद्धि से अन्त करण (शुद्ध भाव) पूर्वक भक्ति करना [देवतत्त्व], उन्ही परमेश्वर द्वारा प्ररूपित जीव अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, सवर निर्जर, बन्ध और मोक्ष–इन पदार्थो (तत्त्वो) को सन्देह रहित होकर स्वीकार करना, स्वरूप समझना और इन पर प्रतीति (विश्वास) रखना [धर्मतत्त्व] और उन परमात्मा द्वारा उपदिष्ट ज्ञान दर्शन चारित्रात्मक मोक्ष मार्ग मे जो प्रवृत्ति करते है वे ही सच्चे साधु गुरु होने और वन्दन करने योग्य होते है [गुरुतत्त्व], ऐसी बुद्धि होना ही सम्यग् दर्शन है। जीव में सम्यग् दर्शन है या नही ? इसको जानने के लिये पाँच लक्षण या वाह्यचिह्न बतलाये गये है (इन्ही को समकित के पाँच लिग कहते है) १ प्रशम १. सवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य। ऐसे सम्यग् दर्शन को अगीकार करने वाले प्राणी को विश्व मे बलवान लोगो द्वारा बताये हुए दु खी और अविनीत जीवो पर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावो का सम्यक् प्रकार से आचरण करना चाहिये। स्थिरता (धर्म के प्रति दृढता), तीर्थ (चैत्य) सेवा आगम-कुशलता (अर्हद् दर्शन सम्बन्धी निपुणता), भक्ति और प्रवचन (शासन) प्रभावना ये पाँच भाव सम्यग् दर्शन को उज्ज्वलतम दीप्तिमान बनाते है। इस सम्यग् दर्शन को दूषित करने वाले ये पाँच दोष है -शका, काक्षा, विचिकित्सा, परपाखण्ड प्रशसा और सस्तवना। यह दर्शन समस्त प्रकार के कल्याणो का करने वाला है। दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकटित आत्मा के परिणाम को ही विशुद्ध सम्यग् दर्शन कहते है।

सम्यग् जल से व्याधि की शान्ति

आचार्यदेव की वाणी सुनकर इस जीव के हृदय मे सम्यक् प्रकार से धर्म के प्रति विश्वास जागृत होने से उसके कितने ही कठोर कर्म नष्ट हो जाते है और वह जीव सम्यग् दर्शन को * प्राप्त करता है। सत्तीर्थोदक के समान यह तत्त्व प्रोतिकर (तत्त्व प्रतीति रूप) जल धर्माचार्य ने इस जीव को बलपूर्वक पिलाया, इसको धर्मबोधकर द्वारा निष्पुण्यक को बलपूर्वक तत्त्व प्रीतिकर जल उसके मु ह मे डाल दिया कथन के समान समझे। जब इस जीव को सम्यग् दर्शन पर सामान्य रूप से प्रतीति हुई उस समय उसके जो मिथ्यात्व की सत्ता उदय मे थी वह क्षीण (नष्ट) हो गई, जो उदय मे नही आई थी वह उपशान्त दशा को प्राप्त हो गई और अनुदीर्ण सत्ता अब केवल प्रदेशोदय से अनुभव की जाए ऐसी स्थिति को प्राप्त हो गई। पूर्व मे कहा था कि निष्पुण्यक का उन्माद नष्टप्राय हो गया, किन्तु पूर्णत नष्ट हो गया ऐसा नही कहा गया था, वैसे ही इस जीव का मिथ्यात्व क्षीण हो गया, पूर्णत नष्ट नही हुआ समझे। जैसे तीर्थजल पीने से निष्पुण्यक की व्याधियाँ

---

* पृष्ठ ७४

कम हो गई वैसे ही सम्यग् दर्शन प्राप्त करने से इस जीव की कर्मरूपी व्याधियाँ क्षीण हो गई। कर्म कमजोर पडने से चर (त्रस) अचर (स्थावर) समस्त प्राणियो को दु ख देने वाला दाह भी दलित हो जाता है, शान्त हो जाता है। इसी कारण सम्यग् दर्शन को अत्यन्त शीतल कहा गया है। जैसे तत्त्व प्रीतिकर जलपान से निष्पुण्यक की जलन ठण्डी पड गई और अन्तरात्मा स्वस्थ हुई वैसे ही सम्यग् दर्शन प्राप्ति के परिणाम स्वरूप इस जीव की कर्म-दु ख स्वरूप जलन शीतल पड़ गई और उसका मानस स्वस्थ एव प्रसन्न हो गया।

[२१]

कथा प्रसंग मे कह चुके है कि स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने पर निष्पुण्यक सोचने लगा - "ओह! इन अत्यन्त कृपालु महापुरुष को मैने महामोह के वश होकर मूर्खता से ठग और पापी समझा और कल्पना की थी कि ये मेरा भोजन छीन लेगे, अतएव कुत्सित विचार करने वाले मुझको धिक्कार है। इन महापुरुष ने मुझ पर वडी कृपा कर, मेरी आँखो पर सुरमे का प्रयोग कर मेरी आँखो को विल्कुल ठीक कर दिया, जिससे मेरी दृष्टि-व्याधि दूर हो गई। फिर मुझे पानी पिलाकर स्वस्थ वना दिया। वास्तव मे इन्होने मुझ पर वडा उपकार किया है। मैने इन पर क्या उपकार किया है? फिर भी इन्होने मेरा इतना उपकार किया है। यह इनकी महानता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।" इसी प्रकार सम्यग् दर्शन प्राप्त होने पर यह जीव भी धर्माचार्य के सम्वन्ध में ऐसे ही विचार करता है। वस्तु का यथावस्थित स्वरूप ज्ञात होने से वह रौद्र भावो का त्याग करता है, मदान्धता की प्रवृत्ति छोड देता है, कुटिलता का त्याग करता है प्रगाढ लोभवृत्ति को छोड देता है, राग के वेग को शिथिल करता है, द्वेष की प्रवलता को वढने नही देता और महामोहजनित दोषो को काट फेकता है। इन प्रवृत्तियो से इस जीव का मानस प्रफुल्लित हो जाता है, अन्त करण निर्मल हो जाता है, वुद्धि-चातुर्य वढने लगता है, धन-स्वर्ण-कलत्रादि के प्रति मूर्च्छाभाव नही रहता, जीवादि तत्त्वो के स्वरूप जानने का आकर्षण और आग्रह होता है और समस्त प्रकार के दोष क्षीण हो जाते है। फलस्वरूप यह जीव दूसरे जीवो के गुण-विशेषो को समझता है, स्वकीय दोषो को लक्ष्य मे लेता है, अपनी पुरानी अवस्था का स्मरण करता है और उस दशा मे सद्गुरु ने मेरे लिये क्या-क्या प्रयत्न किो उनको स्मृतिपथ मे लाता है तथा यह समझता है कि आज मैं जिस स्थिति मे पहुँचा हूँ वह सब इन धर्माचार्य का प्रयत्न और प्रताप ही है। पुनश्च, मेरा यह जीव जो उस पूर्व की दशा मे तुच्छ विचारो के कारण धर्म और गुरु आदि के सम्वन्ध मे अनेक प्रकार के कुतर्क एव कुविकल्प करता रहता था, उसे आज विवेक वुद्धि प्राप्त हुई है। विवेक दृष्टि प्राप्त होने पर वह चिन्तन करने लगा —अहो मेरी पापिष्ठता! अहो मेरी महामोहान्धता! * अहो मेरी निर्भाग्यता! अहो मेरी

* पृष्ठ ७५

कृपणातिरेकता ! अहो मेरी अविचारिकता ! मूर्खता ! मुझे धिक्कार है। मैंने अत्यन्त तुच्छ विचारों और धनादि पर गाढासक्ति के कारण ऐसे आचार्य भगवन्तों के प्रति कुत्सित विचार किये। ये सत्पुरुष तो निरन्तर परहितैकपरायण हैं, दोषरहित होकर सन्तोष (धन) से शरीर का पोषण करते हैं, मोक्ष-सुखरूपी अविनाशी धन को प्राप्त करने में विशुद्धभाव से प्रयत्नशील हैं तुषमुष्टि (फोतरों की भरी हुई मुट्ठी) के समान संसार के विस्तार को निस्सार समझते हैं, स्वशरीर को पिंजरे के समान बन्धन समझकर ममत्वबुद्धि से रहित हैं। ऐसे ये धर्माचार्य आदि साधुगण हैं। ऐसे सत्पुरुष भी धर्मदेशना या अन्य किसी प्रपच के द्वारा अथवा धूर्तता से मेरा धन-विषय-कलत्रादि हरण कर लेंगे, इत्यादि अनेक प्रकार की कुकल्पनाएं मैंने पहले की थी। ऐसे दुष्ट विचारों के कारण मैं महाअधम हूँ, नीचातिनीच हूँ। मुझे धिक्कार है। यदि यह धर्माचार्य जो परोपकारपरायण हैं, मेरे ऊपर अकारण ही उपकार नहीं करते, तो सद्गतिरूप नगर में जाने के लिए निर्दोष और प्रशस्त मार्ग दिखाते हुए, सम्यग् ज्ञान प्रदान करने के बहाने से नरकगमन योग्य मेरी चित्तवृत्ति को क्यों रोकते? मिथ्यात्व दर्शन से ग्रस्त मुझ मूर्ख के बुद्धिकौशल से सम्यक् दर्शन प्राप्त करवाकर, मैं समस्त दोषों से मुक्त हो सकूँ, इसके लिये ये विशेष प्रयत्न क्यों करते? ये श्रमण तो पूर्णतया निःस्पृह हैं। इनकी दृष्टि में स्वर्ण और प्रस्तर एक समान हैं, परहित करने का इनका व्यसन है अतएव सर्वदा इसी आचरण में तत्पर रहते हैं और किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे बिना ही दूसरों का उपकार करते रहते हैं। ऐसे परोपकारी महात्माओं का तो मेरे जैसा प्राणी प्राणार्पण करके भी इनका प्रत्युपकार नहीं कर सकता. अर्थात् उपकार का बदला चुका नहीं सकता, तब फिर धन-दानादि की तो बात ही क्या? इस प्रकार सम्यग् दर्शन प्राप्त होने से यह जीव अपने विगत जीवन की स्वकीय दुश्चर्या को याद कर पश्चात्ताप करता है और सन्मार्गदायी धर्माचार्य के प्रति जो विपरीत शकाएं थी उनका नाश करता है।

कुविकल्प के प्रकार

प्राणियों को कुविकल्प दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं—१ कुशास्त्र श्रवण से जो मिथ्या वासनाएँ (संस्कार) उत्पन्न होती हैं। जैसे, यह त्रिभुवन (स्वर्ग-मृत्यु-पाताल) अण्ड से उत्पन्न हुआ है, महेश्वर (सर्व शक्तिमान् परमेश्वर) निर्मित है, ब्रह्मादि प्रणीत है, प्रकृति का विकार रूप है, क्षणिक है, विज्ञानमात्र है. शून्यरूप है इत्यादि। इन कुविकल्पों को आभिसंस्कारिक कहते हैं अर्थात् बाहर के संस्कारों से उत्पन्न होते हैं। २ दूसरे प्रकार के कुविकल्प सहज कुविकल्प कहलाते हैं। यह कुविकल्प सुख की अभिलाषा करने वाले, दुःख से शत्रुता रखने वाले, द्रव्यादि में आसक्ति और उसके संरक्षण में एकाग्रचित्त वाले तथा तत्त्वमार्ग से विमुख प्राणियों को होते हैं। ऐसे प्राणी अशकनीय बातों में शका करते हैं, अचिन्तनीय बातों की*

* पृष्ठ ७६

चिन्ता करते है, अभाषणीय वाचा का प्रयोग करते है और अनाचरणीय कर्त्तव्यो का आचरण करते है। इन दोनो प्रकार के कुविकल्पो मे से आभिसस्कारिक कुविकल्प सद्गुरु के सम्पर्क से कदाचित दूर हो जाते है, किन्तु दूसरा सहज कुविकल्प तो जब तक प्राणी की बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त होती है तब तक नष्ट नही होता; केवल अधिगमज सम्यग् दर्शन प्राप्त होने पर ही यह दूर हो सकता है।

[२२]

तुच्छ भोजन पर मूर्च्छा

पहले कथा प्रसग मे कह चुके है —"निष्पुण्यक के आँखो मे अजन और तत्त्वप्रीतिकर जल पिलाने वाले धर्मबोधकर के प्रति उसको विश्वास हुआ और उनका महोपकार मानते हुए भी अपने साथ लाये हुए झूठन से प्राप्त तुच्छ भोजन पर उसका चित्त मडरा रहा था। उस झूठन पर से उसकी मूर्च्छा (प्रगाढ प्रेम) दूर नही हो रही थी। उसकी दृष्टि उसी झूठन पर बारम्बार पड रही थी।" इस कथन की जीव के साथ सगति इस प्रकार है :—

त्याग का भय

ज्ञानावरणीय और दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से इस जीव को सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन हुआ। इससे ससार प्रपच के प्रति इसकी जो तत्त्वबुद्धि थी (अर्थात् सांसारिक पदार्थो को अपना मानता था) वह नष्ट हो गई, जीवादि तत्त्वो का उसे ज्ञान हुआ और उस ज्ञान पर उसको आस्था हुई, सम्यग् दर्शन को प्रदान करने वाले धर्माचार्यो को उसने महोपकारी के रूप मे स्वीकार किया, तथापि जब तक इस जीव के बारह कषायो का उदय और नो-कषाय प्रबल रूप मे विद्यमान रहते है तब तक अनादिकाल से अभ्यस्त वासनाओ (सस्कारो) के वशीभूत होने के कारण कुत्सित भोजन के समान धन-विषय-कलत्रादि पर होने वाली मूर्च्छा (गाढासक्ति) को रोकने मे वह शक्तिमान् (सफल) नही होता। इसका कारण यह है कि कुशास्त्र श्रवण से असत्सस्कार पड जाने के कारण 'यह समस्त सृष्टि अण्डे से उत्पन्न हुई' इत्यादि अनेक प्रकार के सस्कारजन्य कुतर्क उत्पन्न होते हैं, धन-कलत्रादि पर अपनत्व की बुद्धि तथा उसके सरक्षण के प्रयत्न और अशकनीय धर्माचार्यादि पर शका इत्यादि सहजजन्य कुविकल्प मिथ्यादर्शन के उदय (प्रभाव) से उत्पन्न होते है। ये कुविकल्प मरुस्थली मे सूर्य के चिलके से नजर आने वाली जलकल्लोलमाला (मरु मरीचिका) के समान असत्य होते है। मिथ्या ज्ञान विशेष और कुतीर्थिको द्वारा प्रस्थापित तर्क अन्य प्रमाणो से बाधित होने पर सम्यग् दर्शन प्राप्ति के समय नष्ट हो जाते हैं तथापि धन-विषय-स्त्री पर मूर्च्छा लक्षण रूप जो मोह होता है वह अपूर्व शक्तिमान् होता है और वह तत्त्वबोध होने पर भी दिङ्मूढ जीव के साथ चिपका हुआ रहता है। प्रबल मोहग्रस्त जीव कुशाग्रलग्न जलबिन्दु के समान समस्त पदार्थो को चपल (नश्वर) मानते हुए भी नही मानता

है, धनहरण और स्वजनमरण आदि देखता हुआ भी नही देखता है, विचक्षण बुद्धिमान् होने पर भी जडमूर्ख की तरह चेष्टा करता है और समस्त शास्त्रार्थ-विशारद होने पर भी महामूर्ख शिरोमणि की तरह आचरण करता है। फलस्वरूप इस जीव को स्वच्छन्दचारिता प्रिय होती है, इच्छानुसार चेष्टा (आचरण) करना अच्छा लगता है और व्रत, नियम रूपी नियन्त्रणों से घबराता है। अधिक क्या कहे ? मौका पडने पर कौए का मास खाने से भी नही चूकता।

भोजन लेने का आग्रह

कथा प्रसग मे पहले कह चुके है:— "उसे इस स्थिति मे देखकर और उसके मन के आशय को समझ कर धर्मबोधकर ने कहा— अरे मूर्ख द्रमुक ! तेरा यह कैसा विचित्र व्यवहार है ? यह कन्या तुझे परमान्न का भोजन दे रही है, क्या तू देखता नही ? इस दुनिया मे पापी भिखारी तो बहुत होगे, पर मै निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि तेरे जैसा निर्भागी तो शायद ही कोई दूसरा हो ! क्योंकि तू अपने तुच्छ भोजन पर इतना आसक्त है। मैं ऐसा अमृतमय परमान्न भोजन तुझे दिलवा रहा हूं फिर भी तू अपनी आकुलता को त्यागकर उसे नही लेता। तुझे एक दूसरी बात कहूँ इस राजभवन के बाहर अनेक दु खी प्राणी रहते है पर उनको न तो इस भवन को देखकर आनन्द हुआ और न उन पर हमारे महाराज की कृपा-दृष्टि ही हुई, जिससे हमारा उनके प्रति आदर भाव नही रहता, हम उनसे बात भी नही करते। पर, तुझे तो इस राजभवन को देखकर आनन्द हुआ और हमारे महाराज की तुझ पर कृपा-दृष्टि हुई, इसीलिये हम तेरा इतना आदर कर रहे है। अपने स्वामी को जो प्रिय हो, वही प्रिय कार्य स्वामीभक्त सेवक को करना चाहिये। इसी न्याय (विचार) से हम तुझ पर विशेष दयालु हुए है। हमे यह पूर्ण विश्वास था कि हमारे राजा योग्य पात्र (व्यक्ति) पर ही अपनी कृपादृष्टि डालते है, कोई मूढ (मूख) उनके लक्ष्य मे नही आता। यह विश्वास भी आज तूने गलत सिद्ध कर दिया है। तेरे अत्यन्त तुच्छ भोजन पर तेरा मन चिपका हुआ है, जिससे तू इतना सुन्दर अमृत तुल्य भोजन भी नही लेता। यह भोजन सर्व-रोग नाशक, मधुर, और स्वादिष्ट है। इसे तू किसलिये नही ले रहा है ? अरे दुर्बुद्धि द्रमुक ! अपने पास के इस कुभोजन का त्याग कर और विशेष रूप से इस सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण कर, जिसके प्रताप से इस राजभवन मे रहने वाले प्राणी आनन्द कर रहे है. उसके माहात्म्य को तू देख।" धर्मबोधकर के समान ही यहाँ सद्गुरु भी जीव के साथ इसी प्रकार आचरण करते है। तुलना कीजिए—

सद्गुरु का स्नेहमिश्रित क्रोध

जब यह जीव सम्यग् ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने पर भी कर्म-परतन्त्रता के कारण नाममात्र की भी विरति (त्याग) नही करता है तब आचार्यदेव उसकी ऐसी अवस्था

❀ पृष्ठ ७७

और विषयभोगो के प्रति गाढासक्ति देखकर स्वत. ही मन में विचार करते है—अहो ! इस प्राणी की आत्मा के साथ कैसी दुश्मनी है ? जैसे कोई निर्भागी पुरुष रत्नद्वीप मे जाकर भी रत्नो के स्थान पर कांच के टुकडे लेकर आता है वैसे ही यह प्राणी महर्घ्य (अमूल्य) रत्नराशि के समान व्रत-नियमादि के अनुष्ठान को ※ स्वीकार न कर, कांच के टुकडो के समान विषय भोगो को प्रेम पूर्वक स्वीकार करता है। ऐसे विचार करते हुए आचार्यदेव स्नेह मिश्रित क्रोध से उपालम्भ देते हुए प्रमादयुक्त इस जीव को इस प्रकार कहते है अरे ज्ञान-दर्शन के विद्वेषी ! यह तेरी कैसी अनात्मज्ञता है ? मै प्रतिक्षण चिल्ला-चिल्लाकर तुझ कहता हूँ फिर भी तू कान नही धरता ? स्वय का अकल्याण करने वाले वहुत से प्राणियो को हमने देखा है, किन्तु उन सव प्राणियो मे तो सचमुच मे तू ही मूर्खशिरोमणि दिखाई देता है। क्योकि, तू भगवान् की वाणी का जानकार है, जीवादि पदार्थों (तत्त्वो) पर श्रद्धा रखता है और मेरे जैसे तुझे प्रोत्साहित करने वाले है। ये सामग्रियाँ वडी कठिनाई से प्राप्त होती है यह तू समझता है, ससार से पार पाना अत्यन्त दुष्कर है यह भी तू जानता है, कर्म के भयकर परिणाम तेरे ध्यान मे है, राग-द्वेषादि की रौद्रता तेरे द्वारा अनुभूत है फिर भी तू इन विषयो को जो समस्त प्रकार के अनर्थों की जड हैं, जो चन्द दिन रहने वाले है, तुषमुष्टि के समान निस्सार है, उनमे प्रीति करता है ! निरन्तर अनुराग रखता है ! हम तुझे अनर्थकूप मे गिरते हुए देखकर, तुझ पर दया लाकर समस्त प्रकार के क्लेश और दोषो को नाश करने वाली, समस्त पापो का परिहार करने वाली त्यागमयी भगवद् वाणी सुनाते हैं उसे तू तिरस्कार की दृष्टि से देखता है ! यह तू नही जानता कि तेरे प्रति हमारा आकर्षण (आदर) किस कारण से है ? तो तू सावधानी पूर्वक सुन– तू सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ शासन मे प्रविष्ट हुआ है। भगवत्शासन को जव तूने पहली वार देखा था तव तेरे मन मे प्रमोद हुआ था। जब तू शासन रूपी मदिर का दर्शन कर रहा था तव भगवान् की कृपादृष्टि तुझ पर पड़ी थी ऐसा हमने देखा था। जव हम को यह प्रतीति हुई कि तुझ पर भगवत्कृपा हुई है तव ही हम तेरा इतना आदर कर रहे है। जो भगवान् को प्रिय हो उनकी ओर प्रेमभाव रखना, भगवद्भक्तो के लिये उचित ही है। अद्यावधि जो प्राणी सर्वज्ञ शासन-मन्दिर मे प्रविष्ट नही हुए है अथवा किसी भी प्रकार से प्रवेश करने मे सफल होने पर भी शासन-मन्दिर को देखकर भी हर्षित नही होते, उन प्राणियो पर भगवत्कृपा नही होने से वे शासन मदिर के वाहिर ही समझे जाते है। मन्दिर से वहिर्भूत ससार के अनन्त जीवो को देखते हुए भी हम उनके प्रति औदासीन्य वृत्ति ही रखते है। ऐसे प्राणी आदर के योग्य भी नही होते। इस सम्वन्ध मे अद्यावधि हमारा यह पूर्ण विश्वास था और इसी उपाय (प्रयोग) से हम यह निर्णय करते थे कि सन्मार्ग के पथिक वनने योग्य कौन-कौन से जीव है ? अद्यावधि इस प्रयोग का हमने अनेक प्राणियो पर सफलता-

※ पृष्ठ ७८

पूर्वक परीक्षण किया था किन्तु हमारा यह प्रयोग कदापि निष्फल नहीं हुआ था। हमारे इस सुनिश्चित और सफलतम परीक्षण प्रयोग को तूने अपने विपरीत आचरण से झूठा बना दिया है, असफल सिद्ध कर दिया है। अतएव हे दुर्मति! तू ऐसा मत कर। मैं तुझे जैसा कहता हूँ * वैसा ही तू अब भी कर। तू बुरे आचरणों का त्याग कर, दुर्गति रूपी नगरी में जाने योग्य अविरति का परिहार कर, निर्द्वन्द्व आनन्द को देने वाली और सर्वज्ञ प्रतिपादित सम्यग् ज्ञान-दर्शन का फल देने वाली "विरति" को अंगीकार कर। यदि तू ऐसा नहीं करेगा तो तेरे ज्ञान-दर्शन निष्फल हो जायेंगे। भगवत् प्ररूपित इस विरति को स्वीकार करने से और उसका सम्यक् रीत्या पालन करने से यह सकल कल्याण-परम्परा को सम्पादित करती है। पारलौकिक कल्याण की बात को छोड भी दें, तो भी क्या तू नहीं देखता कि भगवत्प्रतिपादित विरति पर प्रीति रखने वाले सुसाधुगण आनन्द में कितने सराबोर रहते हैं, इन्होंने अमृतरस का पान किया हो ऐसे स्वस्थ दिखाई देते हैं, विषयाभिलाषा और काम-विकलता से उत्सुकता और प्रिय-विरह-वेदना आदि अनेक दुःखों का इनके मानस पर किंचित् भी असर नहीं होता अर्थात् मानसिक पीडा से रहित होते हैं, कषायरहित होने से लोभ का मूल धनार्जन, रक्षण, नाश आदि दुःखों से ये पूर्णतया अनभिज्ञ होते हैं, तीनों लोकों के वन्दनीय होते हैं और स्वयं को संसार-समुद्र को पार कर लिया हो ऐसे मानने वाले ये साधु सर्वदा प्रमुदित रहते हैं। (यह मानसिक और आत्मिक सुख "विरति" को अंगीकार करने से ही ये साधुगण प्राप्त करते हैं।) अनेक गुणों से परिपूर्ण विरति को क्या तू अपनी आत्मशत्रुता के कारण ही स्वीकार नहीं करता?

[२३]

तुच्छ भोजन पर दृढ़ प्रेम

जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं -"धर्मबोधकर के उपर्युक्त वचन सुनकर उसे कुछ विश्वास हुआ और मन में कुछ निश्चय भी हुआ कि यह पुरुष मेरा हित करने वाला है। फिर भी अपने पास के भोजन का त्याग करने की बात से वह विह्वल हो गया। अन्त में उसने दीन वचनों से कहा आपने जो बात कही उसे मैं पूर्णतया सत्य मानता हूँ, पर मुझे आपसे एक प्रार्थना करनी है, वह आप सुनें। हे नाथ! मेरे इस मिट्टी के पात्र (भिक्षापात्र) में जो भोजन है वह मुझे स्वभाववश प्राणों से भी अधिक प्यारा है। इसके में विरह में मैं क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। इसे मैंने बहुत परिश्रम से प्राप्त किया है और भविष्य में मेरा इससे निर्वाह होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। फिर आपका भोजन कैसा है? इसे मैं वास्तव में नहीं जानता। आपके इस एक दिन के भोजन से मेरा होगा भी क्या? अतः मैं अपना भोजन किसी भी अवस्था में छोडना नहीं चाहता। महाराज! यदि आपको अपना भोजन मुझे देने की इच्छा हो तो मेरा भोजन मेरे पास रहने दें और आप अपना

* पृष्ठ ७९

भोजन भी प्रदान करें; अन्यथा इसके विना भी चलेगा।" इस कथन की योजना निम्नाकित है :—

भोगासक्त का तुच्छ निवेदन

इस जीव को चारित्र ग्रहण करने के भाव (विचार) होते है किन्तु कर्मो द्वारा परतन्त्र होने के कारण गुरुदेव के सन्मुख यह जीव निष्पुण्यक के समान ही वोलता है। अव इस जीव को भी धर्मगुरु के प्रति पूर्ण विश्वास हो जाता है और ज्ञान-दर्शन के लाभ की प्रतीति भी हो जाती है तथापि इस जीव की धनादि के प्रति गाढ मूर्च्छा दूर नहीं होती। धर्म गुरु तो धन-विषयादि का पूर्णतया त्याग कर चारित्र ग्रहण करने को कहते है।* इस वात से जीव विह्वल हो जाता है और दीनतापूर्वक गुरुदेव से कहता है—भगवन्! आप जो आदेश प्रदान कर रहे है, कह रहे है वह पूर्णतया सत्य है, किन्तु आपसे मेरी एक विज्ञप्ति (निवेदन) है, कृपा कर आप सुनें। मेरी यह आत्मा धन-विषय-कलत्रादि में प्रवल रूप से आसक्त है, इनको छोड़ना मेरे लिये किसी भी प्रकार से शक्य नही है, इनका त्याग तो मेरे लिये प्रत्यक्ष मौत है। इनको मैंने वडे परिश्रम और विविध क्लेश सहकर प्राप्त किया है, इनका असमय में ही मैं कैसे त्याग कर दूं? मेरे जैसे प्रमादी जीव आप द्वारा प्रतिपादित विरति का स्वरूप पूर्णतया समझ भी नही सकते। एक वात और कहूँ— ये धन-विषयादिक पदार्थों का संचय मेरे जैसों के लिये भविष्य मे भी चित्त की प्रसन्नता के कारण वन सकते हैं, किन्तु आपके द्वारा प्ररूपित अनुष्ठानों की साधना तो राधावेध के समान अत्यन्त कठिन है, मेरे जैसे प्राणी के लिये यह साधना कैसे शक्य हो सकती है? मेरी दृष्टि मे आपका यह सारा प्रयत्न योग्य स्थान पर नही हो रहा है। कहा भी है—

> महतापि प्रयत्नेन तत्त्वे शिष्टेऽपि पण्डितै:।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि, प्रयासस्तेषु निष्फल:॥

अर्थात् पण्डितो के विशेष प्रयत्न से तत्त्व जानकर भी प्राणी अपनी प्रकृति की ओर ही आकर्षित होता है। (प्राणी अपनी प्रकृति (स्वभाव) को छोड़ता नही, जैसा होता है वैसा ही वना रहता है।) अतएव ऐसे प्राणियो के प्रति प्रयत्न करना व्यर्थ है। फिर भी आपश्री का मुझे विरति प्रदान करने का आग्रह ही है तो, जो धन-विषय-कलत्रादि मेरे पास हैं, उनके विद्यमान रहते हुए आप अपना चारित्र व्रत मुझे प्रदान कर सकते हों तो प्रदान करें। अन्यथा मुझे इस चारित्र की कोई आवश्यकता नही है।

[२४]

प्रतीति के लिये दृढ़ प्रयत्न

जीव ने जव इस प्रकार उत्तर दिया तव हितकारी परमान्न भोजन को ग्रहण करने के सम्बन्ध मे प्राणी को विमुख देखकर जैसे कथा प्रसंग में कहा गया

---

* पृष्ठ ८०

है "उसके ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर मन मे सोचने लगा—अहो ! अचिन्त्य शक्ति वाले महामोह की चेष्टा को देखो ! यह बेचारा द्रमुक सब रोगो का घर, इस तुच्छ भोजन मे इतना आसक्त है कि उसकी तुलना मे मेरे उत्तम भोजन को भी तृण के समान हेय समझता है, किन्तु मैंने पहले जो निश्चय किया था कि इस सम्बन्ध मे इस पामर का कोई दोष नही है । दोष तो इसके चित्त को व्यथित करने वाले इसके रोगो का है । फिर भी यथाशक्ति इस बेचारे गरीब को पुन शिक्षा देनी चाहिये । शायद इससे उसका मोह टूटे या कम हो और बेचारे का हित हो सके ।" वैसे ही धर्मगुरु भी इस जीव के सम्बन्ध मे विचार करते है अहो ! इस प्राणी का महामोह तो कोई अपूर्व प्रकार का ही दिखाई देता है । यह महामोह के प्रभाव से अनन्त दु खों का हेतु और राग-द्वेषादि अन्तरग रोगो को बढाने वाले धन-विषयादि पर एक मात्र हितकारी बुद्धि रखने वाला बन गया है । यह भगवद् वचनो को जानता हुआ भी अनजान बन गया है, जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा रखता हुआ भी अश्रद्धा दिखाता है और मेरे द्वारा निर्दिष्ट समस्त कष्टो का नाश करने वाली विरति को अगीकार नही करता है । इसमे इस बेचारे सतप्त जीव का क्या दोष है ? यह सब तो कर्मो का दोष है । ये कर्म ही जीव के अच्छे अध्यवसायो को छिन्न-भिन्न कर देते है ।

उपदेशक की मानसिक स्थिरता

मै इसको प्रतिबोध देने के कार्य मे प्रवृत्त हुआ हूँ, अत इसके व्यवहार को देखकर मुझे विरक्त नही होना चाहिये । कहा भी है —

अनेकश कृता कुर्याद् २ देशना जीवयोग्यताम् ।
यथा स्वस्थानमाधत्ते शिलायामपि मृद्घट ॥
य ससारगत जन्तु बोधयेज्जिनदेशिते ।
धर्मे हितकरस्तस्मान्नान्यो जगति विद्यते ॥
विरति परमो धर्म. सा चेन्मत्तोऽस्य जायते ।
तत प्रयत्नसाफल्य किं न लब्ध मया भवेत् ॥३॥

अन्यच्च महान्तमर्थमाश्रित्य यो विधत्ते परिश्रमम् ।
तत्सिद्धौ तस्य तोष. स्यादसिद्धौ वीरचेष्टितम् ॥४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पुन प्रत्याय्य पेशलै ।
वचनैर्बोधयाम्येन गुरुश्चित्तेऽवधारयेत् ॥५॥

अर्थात्—अनेक प्रकार से वारम्वार देशना दी जाए तो वह प्राणी मे योग्यता उत्पन्न करती है, जैसे कठोर प्रस्तर-शिला पर मिट्टी का घडा नियमित रूप से रखने से वह धीमे-धीमे अपना स्थान (गड्ढा) बना लेता है ।

※ पृष्ठ ८१

ससारी प्राणियो के लिये श्रेष्ठ और हितकारी जिनोपदिष्ट धर्म के अतिरिक्त विश्व मे कोई भी उपाय नही है ।

विरति (त्यागभाव) सर्वश्रेष्ठ धर्म है । मेरे द्वारा यह धर्म इस जीव को किसी भी प्रकार प्राप्त हो जाए तो मेरा प्रयत्न सफल हो जाएगा । तब मैं समझूगा कि मैंने क्या नही प्राप्त किया ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त कर लिया ।

महान् अर्थ का आश्रय (विशिष्ट कार्य का अवलबन) लेकर जो परिश्रम करते हैं, उस कार्य की सिद्धि पर उनको आत्म सन्तोष होता है । यदि कदाचित् कार्य सिद्ध न हो तो भी ग्लानि नही होती, क्योंकि विशिष्ट कार्य की सफलता के लिये उसने साहस के साथ पूर्ण परिश्रम किया था ।

अतएव पुन: सब प्रकार के प्रयत्न कर, इसे विश्वस्त कर मधुर वचनो से इसको प्रतिबोधित करूं, इस प्रकार सद्धर्माचार्य अपने हृदय मे निश्चय करते है ।

विशिष्ट प्रयत्न

धर्मबोधकर ने विचार कर निष्पुण्यक की शकाओ को निरस्त करते हुए उसको विशेष रूप से समझाने का प्रयास किया उसका विस्तृत विवेचन कथा-प्रसग मे कर चुके है । साराँश इस प्रकार है—इस प्रकार धर्मबोधकर ने विशेष रूप से उस कुत्सित भोजन के दोष भिखारी निष्पुण्यक को समझाए । यह भोजन त्याग करने योग्य ही है यह भी युक्तिपूर्वक समझाया । निष्पुण्यक की जो मान्यता थी कि भविष्य मे इससे ही मेरा निर्वाह होगा उसे भी दूषित बताया । स्वय के परमान्न को प्रशंसा की और उसे यह भी समझाया कि यह भोजन तुझे सर्वदा मिलेगा । जल और अजन से तुझे जो शान्ति मिली, उसका उदाहरण देकर उसका आत्म-विश्वास जागृत करते हुए कहा--"द्रमुक ! अधिक क्या कहूँ ? तू इस कुभोजन का त्याग कर और अमृततुल्य मेरा स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर ।" वैसे ही सद्धर्माचार्य भी इसी परिपाटी का अवलम्बन लेते है, जो इस प्रकार है—

चारित्र रस का आस्वादन

आचार्यदेव भी जीव को समझाते हैं कि धन-विषय-कलत्रादि रागादि दोषो के कारण हैं, ये ही कर्म-संचय के कारण हैं और ये ही अनन्त ससार मे परिभ्रमण के कारण हैं । ऐसा स्पष्ट करते हुए पुन: कहते है—हे भद्र ! ये धनादि पदार्थ बड़े कष्ट से प्राप्त होते हैं, इनका उपभोग करते समय भी अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं और भविष्य मे भी ये अनेक कष्टो को पैदा करते है, अतएव ये धनादि त्याग करने योग्य हैं । हे भद्र ! मोह के कारण अभी तेरी विपरीत चित्तवृत्ति होने से तेरी बुद्धि इन भोगो को सुन्दर मान रही है । पुन: यदि तू एक बार भी चारित्र-रूपी रस का आस्वादन कर लेगा तो हमारे कहे बिना ही तू इन भोगो की ओर

नाममात्र की भी स्पृहा (अभिलाषा) नही करेगा। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अमृत को छोड़कर विष की चाहना करेगा? हम चारित्रिक परिणामो का जो उपदेश देते है, यह उपदेश तुझे यदा-कदा ही प्राप्त होता है; इससे तू यह समझता है कि भविष्य मे तेरा निर्वाह कैसे होगा? तू यह मानता है कि धन-विषय-कलत्रादि प्रकृतिभाव मे रहने के कारण सदा तेरे पास रहेंगे और तेरा कालान्तर मे भी निर्वाह होता रहेगा, ऐसा मत मान। कारण यह है कि धनादि पदार्थ धर्मरहित प्राणियो के पास सर्वदा नही रहते है। यदि कदाचित् रहे तो भी विचारशील प्राणी कदापि उन्हे निर्वाहक के रूप मे अंगीकार नही करते। समस्त प्रकार के रोगो को बढाने वाला यह कुपथ्य भोजन सर्वदा प्राप्त होता रहे, * तो यह पोषक है ऐसा कोई मान नही सकता। ये धनादि समस्त अनर्थ-परम्परा की जड़ है, अत ये सुन्दर और पोषक है यह बुद्धि रखना अयुक्त है। जीव की यह प्रकृति भी नही है। जीव की स्वाभाविक प्रकृति तो अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य और आनन्दरूप है और धन-विषयादि का प्रतिबन्ध तो कर्ममलजनित वैभाविक प्रकृति है, अर्थात् विभ्रम है, ऐसी तत्त्ववेदी पुरुषो की मान्यता है। जब तक जीव अपने वीर्य (पौरुष पराक्रम) की स्फुरणा नही करता तब तक चारित्रिक परिणाम भी अल्पकालिक ही रहते है, वीर्य को उल्लसित करने पर चारित्रिक भाव दृढ और स्थायी बने रहते है और ये ही भाव इस जीव के कालान्तर मे निर्वाहक बनने की योग्यता रखते है, अतएव विचारशील प्राणियो को चारित्रिक भावो के लिए प्रयत्न करना चाहिये। इसी चारित्रिक पराक्रम से महापुरुष परीषह और उपसर्गो को सहन करते है, धनादिक का तिरस्कार करते है, रागादि समूह का निर्दलन करते है, कर्मजाल का उन्मूलन करते है, ससार सागर को तिर कर पार कर जाते है और सततानन्दमय शिवधाम (मोक्ष) मे निवास करते है। अब तू ही बता कि मैने जो तुझे ज्ञान प्रदान किया, क्या उससे तेरा अज्ञानमय अन्धकार नष्ट नही हुआ? अथवा मेरे से प्राप्त दर्शन द्वारा तेरे कुविकल्प रूपी वेताल का नाश नही हुआ? फिर तू मेरे वचनो पर अविश्वास कर विकल क्यो हो रहा है? अतएव हे भद्र! ससारवर्धक इन धनादिको का त्याग कर और मेरी दया (तद्दया) द्वारा लाया हुआ चारित्र-(परमान्न) को तू ग्रहण कर। इस चारित्र-भोजन को ग्रहण करने से तेरे समस्त कष्टो की परम्परा नष्ट हो जाएगी और तू शाश्वत स्थान प्राप्त करेगा।

[२५]

शर्त स्वीकार

जैसा पहले कहा जा चुका है:—"धर्मबोधकर के इस वक्तव्य को सुनकर निष्पुण्यक ने कहा —भट्टारक महाराज! मुझे अपने भोजन पर इतना स्नेह है कि उसके त्याग की कल्पना मात्र से मैं पागल होकर मर जाऊँगा, ऐसा मुझे लग रहा है। अत हे महाराज! यह मेरा भोजन मेरे पास रहने दे और आप अपना भोजन मुझे

---

* पृष्ठ ८२

प्रदान करे।" वैसे ही आचार्यदेव के वारम्बार प्रेरित करने पर गलिआ बैल के समान पैरो को पसारता हुआ यह जीव भी इसी प्रकार कहता है—भगवन् ! मैं धन-विषय-कलत्रादि को किसी भी कीमत पर छोड़ नही सकता, अतएव आप यदि इनको मेरे पास विद्यमान रखते हुए किसी प्रकार का चारित्र दे सकते हो तो दीजिये।

भोजन-ग्रहण

जैसा कह चुके है:—"उसका ऐसा अत्यन्त आग्रह देखकर धर्मबोधकर ने मन मे सोचा—इस बेचारे को समझाने का अभी तो बाधारहित कोई दूसरा उपाय नही है, अत. वह अपना कुत्सित भोजन भले ही अपने पास रखे, अपना यह भोजन तो इसे देना ही चाहिये। जब उसे इस स्वादिष्ट भोजन का रस लगेगा तब अपने आप ही वह उस कुभोजन का त्याग कर देगा। इस प्रकार सोचकर धर्मबोधकर ने कहा—"तेरा भोजन तेरे पास रहने दे और हमारा यह परमान्न भोजन ग्रहण कर तथा उसका उपभोग कर।" दरिद्री ने कहा—"ठीक है, मैं ऐसा करूँगा।" उसका ऐसा उत्तर सुनकर धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को संकेत किया और उसने द्रमुक को भोजन दिया। दरिद्री ने तुरन्त उस भोजन को ग्रहण किया और वही बैठे-बैठे उसे खाया। इस भोजन से उसकी भूख शान्त हुई और उसके शरीर के अग-अंग पर जो रोग थे वे प्रचुर मात्रा मे कम हुए। पहले आँख मे सुरमे के प्रयोग से और फिर पानी पीने से उसे जो सुख प्राप्त हुआ था उससे अनन्तगुणा सुख इस सुन्दर भोजन के करने से प्राप्त हुआ और उसके हृदय मे अतीव प्रसन्नता हुई। ऐसा होने पर उस दरिद्री को धर्मबोधकर पर प्रीति और भक्ति उत्पन्न हुई। उसके मन मे जो शंका थी वह दूर हुई और वह हर्षित होकर बोला—"मैं भाग्यहीन हूँ, सब प्राणियो मे अधम हूँ और आप पर मैंने किसी प्रकार उपकार नहीं किया फिर भी आप मुझ पर इतनी अनुकम्पा (दया) दिखा रहे है, अत. हे प्रभो! आपके सिवाय दूसरा कोई भी मेरा नाथ नही है।"

सर्वविरति और देशविरति

जब यह जीव विविध प्रकार से उपदेश देने और प्रयत्न करने पर भी धनादि के प्रति प्रबल मूर्च्छाभाव का त्याग नही करता तब धर्माचार्य जीव के सम्बन्ध मे इस प्रकार विचार करते है—यह प्राणी इस समय सर्वविरति चारित्र को ग्रहण नही कर सकता, अत. इस समय इसे देशविरति चारित्र ही * प्रदान करू। देशविरति का पालन करने से इस जीव मे विशेष गुण उत्पन्न होंगे और इन गुणो से उसकी महत्ता को समझ कर, यह स्वत ही समस्त प्रकार के सम्पर्कों (बन्धनो) का त्याग कर सर्वविरति अंगीकार कर लेगा। इस प्रकार दूरदृष्टि से विचार कर उसको देशविरति चारित्र प्रदान करते है।

---

* पृष्ठ ८३

उपदेश का क्रम

उपदेश देने का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम तो प्रयत्नपूर्वक सर्वविरति का उपदेश देना चाहिये, किन्तु जब यह प्रतीत हो कि यह जीव सर्वविरति से विमुख है, ग्रहण करने में असमर्थ है तब देशविरति की प्ररूपणा करनी चाहिये अथवा देशविरति चारित्र प्रदान करना चाहिये। यदि प्रारम्भ मे देशविरति का ही उपदेश दिया जाय तो प्राणी उसी पर अनुरक्त होकर सीमित ही त्याग कर सकेगा और सूक्ष्म (स्थावर) जीव हिंसा की आचार्य से अनुमति प्राप्त कर लेगा, अतएव प्रारम्भ मे सर्वविरति का ही उपदेश देना चाहिये। यहाँ देशविरति चारित्र का पालन थोडा सा परमान्न-भक्षण के समान समझे। इस चारित्र का पालन करने से जीव की विषयाकाक्षा रूपी भूख किंचित् शान्त हो जाती है, राग-द्वेषादि अन्तरग (भाव) रोग क्षीण हो जाते है, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति से जो सुख हुआ था उससे अत्यधिक प्रवर्धमान स्वाभाविक स्वास्थ्यरूप प्रशम सुख प्राप्त होता है, श्रेष्ठ भावनाओ के योग से चित्त प्रमुदित हो जाता है और देशविरति चारित्र के दायक धर्माचार्य के प्रति 'ये मेरे परमोपकारी है' ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है तथा उनके प्रति भक्ति जागृत होती है। फलत. यह जीव सद्गुरु को इस प्रकार कहता है— 'आप ही मेरे नाथ है।' मैं तो खराब लकडी के समान गाढकर्मी अधम जीव हूँ, फिर भी आपने स्वसामर्थ्य और प्रयत्नो से मुझे योग्य और गुणो का पात्र बना दिया।

[२६]

औषध-सेवन का उपदेश

निष्पुण्यक के कथन को सुनकर धर्मबोधकर ने उसे पुन. समझाया, उसका विस्तार से वर्णन मूल कथा-प्रसग मे कर चुके है, उसका साराश यह है—"इस प्रसग मे धर्मबोधकर ने उस रंक को अपने पास बुलाया, मधुर वचनो से उसके चित्त को आनन्दित किया, उसके सन्मुख महाराजा के गुणो की प्रशसा की, स्वय का अनुचरभाव दिखाते हुए उसे दासत्व स्वीकार करने को प्रेरित किया, महाराज के विशेष गुणो को जानने की उसके हृदय मे उत्कठा जागृत की, ज्ञान-प्राप्ति से ही व्याधियाँ कम होती है और इन व्याधियो को नष्ट करने का कारण तीन औषधियाँ हैं उसे समझाया। इन औषधियो का बारम्बार प्रयोग करने का निर्देश दिया, इनके प्रयोग से ही महाराज की सेवा सफल होती है और महाराज की आराधना से महाराज के समान ही विशाल राज्य प्राप्त होता है ऐसा प्रतिपादित किया।"

ऐसे ही धर्मगुरु भी ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न और देशविरतिधारी इस जीव को विशिष्ट स्थिरता प्रदान करने हेतु इसी प्रकार आचरण करते हैं। जैसे—

आराधना और महाराज्य प्राप्ति

धर्माचार्य कहते है—"हे भद्र! तूने जो कहा कि 'आप ही मेरे नाथ हैं' ये वचन तेरे जैसे जीवों के लिये तो ठीक है किन्तु साधारणतया तुझे ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि तुम्हारा और हमारा नाथ तो परमात्मा सर्वज्ञ भगवान् ही है। वे ही त्रिभुवन के चराचर प्राणियो के पालक होने के कारण नाथ होने योग्य है। विशेषतया सर्वज्ञ-प्रणीत ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रधान दर्शन का जो पालन करते है उनके तो वे प्रमुख रूप से नाथ है ही। कितने ही महात्मा सर्वज्ञदेव का किंकर भाव स्वीकार कर, केवलज्ञानरूप राज्य प्राप्त कर, * समस्त विश्व को अपना किंकर बना लेते है। अन्य जो पापी प्राणी होते है वे तो सर्वज्ञदेव का नाम भी नही जानते। भविष्य में जिनका कल्याण होने वाला होता है उन्ही प्राणियो को जब उनके कर्म-विवर (मार्ग) देते हैं तब ही इस दर्शन को प्राप्त करते है। तू इस पगोथिये पर चढा है और स्वकर्मविवर ने तुझे यहाँ पहुँचाया है, अतएव तूने अन्त करण से सर्वज्ञदेव को स्वीकार किया है। इस सर्वज्ञदेव को प्राप्त करने के तरतमभेद से संख्यातीत स्थान हैं। तुझे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो और तू स्वयं भविष्य मे प्रगति करे, इसलिये हमारा यह प्रयत्न है। देव को सामान्यतया प्राणी जानते है किन्तु सद्गुरु-सम्प्रदाय के विना उनके विशिष्ट स्वरूप (गुणो) को नही जान पाते। इस प्रकार धर्माचार्य जीव के सन्मुख भगवान् के गुणो का वर्णन करते है। स्वय को भगवान् का सेवक बतलाते हैं और उसे भगवान् को विशेषकर नाथ के रूप में स्वीकार करने को समझाते है। वे भगवद्गुण-वर्णन द्वारा उन गुणों के प्रति जीव के हृदय मे कौतुक (आश्चर्य) उत्पन्न करते है। उन विशिष्ट गुणों को जानने के लिए रागादि भाव-रोगो को क्षीण करने का उपाय ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तीन औषधिया बतलाते हैं। इन औषधियो का प्रतिक्षण सेवन करने का उपदेश देते है। इन औषधियों के सेवन को ही भगवान् की आराधना बतलाते है और भगवदाराधन से ही विशाल राज्य की प्राप्ति के समान ही परमपद प्राप्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करते है। जीव द्वारा गृहीत गुणो को विशेष रूप से दृढ़ करने के लिए उसके हित को लक्ष्य मे रखकर आचार्यदेव ऐसा कहते हैं।

[२७]

दरिद्री का आग्रह

जैसा कि कथानक मे पहले कह चुके है—"धर्मबोधकर की उपर्युक्त मधुर बाते सुनकर निष्पुण्यक का हृदय आह्लाद से भर गया और उनकी बात को स्वीकार करते हुए भी वह कुछ सोचकर बोला—स्वामिन्! आपने इतनी बात कही तो भी मैं अभी भी अपने तुच्छ भोजनरूपी पाप को छोड नही सकता। इसके

* पृष्ठ ८४

अतिरिक्त मुझे जो भी कर्त्तव्य करना हो, उसे आप कहिये।" वैसे ही चारित्र मोहनीय कर्म से विह्वल चित्त वाला यह जीव भी इस प्रकार विचार करता है— अरे! ये धर्माचार्य तो विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक मुझे बारम्बार धर्मदेशना देने लग गये है। फलत यह स्पष्ट है कि ये धन-विषय-कलत्रादि का मेरे से त्याग करवाना चाहते हैं किन्तु मैं किसी भी अवस्था मे इनका पूर्णरूपेण त्याग नही कर सकता, तब क्यो नही मेरे विचार इनको स्पष्ट रूप से बतला दूँ? जिससे ये धर्माचार्य व्यर्थ मे ही बारम्बार अपना कण्ठ शोषण न करे। ऐसा निश्चय कर यह जीव धर्माचार्य को अपना अभिप्राय स्पष्ट शब्दो मे बता देता है।

[२८]

निष्पुण्यक को उपदेश

जैसा कि पहले कह चुके है—"दरिद्री के ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर सोचने लगा—इसे तो मैंने तीनो औषधियो का उपयोग करने की बात कही, तो उसके उत्तर मे यह क्या कहने लग गया? अरे हाँ, अब समझा, अभी तक इसके मन मे ऐसा ही विचार चल रहा है कि मैं अभी उसके साथ जो वातचीत कर रहा हूँ, उसका उद्देश्य किसी भी तरह उससे कुभोजन का त्याग करवाने का ही है। ऐसे विचार वह तुच्छतावश कर रहा है। सच कहा है—'क्लिष्ट (मलिन) चित्त वाले प्राणी सम्पूर्ण जगत् को दुष्ट मानते है और शुद्ध विचार वाले प्राणी सम्पूर्ण ससार को पवित्र मानते है।' दरिद्री को अपने प्रयत्न का विपरीत अर्थ लगाते देखकर धर्मबोधकर तनिक मुस्कराये और बोले—"तू तनिक भी घबरा मत। मैं तेरे पास से अभी तेरा तुच्छ भोजन नही छुडाता। तू बिना डरे अपना भोजन कर सकता है। मैने पहले जो तुझे कुभोजन का त्याग करने को कहा था, वह तो मात्र तेरे ही हित के लिए कहा था, पर जब तुझे यह बात रुचिकर नही है तो मैं अब इस सम्बन्ध मे चुप रहूँगा।* पर तुझे क्या करना चाहिये, इस प्रसग मे अभी मैंने जो उपदेश दिया और महाराज का गुणगान किया, उसमे से तूने अपने हृदय मे कुछ धारण किया या नही?" वैसे ही इस जीव के सम्बन्ध मे धर्माचार्य चिन्तन करते हैं और उसको सम्बोधित कर कहते है वह धर्मबोधकर के चिन्तन और वक्तव्य के समान स्पष्ट है, अत इसकी योजना स्वकीय बुद्धि के अनुसार कर लेनी चाहिये।

[२९]

निष्पुण्यक की स्वीकारोक्ति

धर्मबोधकर का प्रश्न सुनकर दरिद्री निष्पुण्यक ने उसका उत्तर बडे विस्तार से दिया, जो कथा-प्रसग मे विस्तार से पहले कह चुके है। पूर्व प्रसग का

---

* पृष्ठ ८५

साराश यह है:—"दरिद्री ने कहा—हे स्वामिन्! आपने जो कुछ भी कहा उसमे से कोई भी बात मेरे ध्यान में नही रही। आपके कर्णप्रिय मधुर भाषण को सुनकर मैं केवल अपने मन मे प्रसन्न हो रहा था।" यह कहते हुए निष्पुण्यक ने अपनी मनोदशा का स्पष्टतया वर्णन किया। अन्त मे जब धर्मबोधकर ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया—"तेरा भोजन तू अपने पास रख, मैं इसका त्याग करने के लिए नहीं कह रहा हूँ।" तब उसके मन का भय और आकुलता दूर हो गई। निराकुल होकर पुन: निष्पुण्यक ने शेष समस्त आत्मवृत्तान्त सुनाते हुए अपनी मानसिक स्थिति का स्पष्ट शब्दो मे निरूपण किया और अन्त मे कहा कि—"हे नाथ! मेरी ऐसी मानसिक दशा है, मेरा चित्त अस्थिर है, ऐसी स्थिति मे मुझे क्या करना चाहिये, वह आप मुझे फिर से कहे जिससे कि मैं उसे अपने चित्त मे धारण कर सकू।"

धर्माचार्य का प्रश्न

धर्मबोधकर के समान ही सद्धर्माचार्य भी उसके चित्तगत अभिप्राय को जानकर उसको कहते हैं—सब वस्तुओ का त्याग करना तुम्हारे लिये शक्य नही है तो हम भी तुम्हे सर्वत्याग को नही कहते है। हमने तो केवल तुम्हे स्थिर (दृढ) करने के लिये ही तुम्हारे सन्मुख विविध प्रकार से भगवद्गुण-वर्णनादि का प्रतिपादन किया है। तूने जो थोड़ा-थोडा सा सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्र को ग्रहण किया है उसे निरन्तर पोषण करते हुए वृद्धि करते रहो, इसीलिये तुझे हम उपदेश देते है। अब तुम ही कहो कि तुम्हे कुछ समझ मे आया या नही?

व्यग्रता का प्रदर्शन

धर्मगुरु का प्रश्न सुनकर जीव उत्तर देता है—भगवन्! मैं आपके कथन को सम्यक् प्रकार से ग्रहण नही कर सका, समझ नही सका, तथापि आपकी कोमल, कर्णप्रिय और मधुर वचनावली सुनकर मन ही मन आनन्दित होता हूँ और विचार करता हूँ कि गुरुजी की व्याख्यान (भाषण) कला बहुत बढ़िया है। जब-जब भी आप कुछ कहते हैं तब मैं शून्य-हृदय होने (कुछ भी समझ मे न आने) पर भी आँखे फाड़कर ऐसा दिखावा करता हूँ कि मैं अत्यन्त बुद्धिमान् हूँ और एक-एक शब्द समझ रहा हूँ। इस बनावट के साथ बैठा हुआ सुनता रहता हूँ। ऐसी स्थिति मे भगवन्! मेरे जैसे प्राणी में विशिष्ट तत्त्वज्ञान की स्थिरता कैसे हो सकती है? क्योकि, जब भी आप असाधारण प्रयास के साथ तत्त्वज्ञान के गूढ रहस्यों का प्रवचन करते है उस समय मे मैं मानों ऊंघते हुए के समान, पीए हुए के समान, उन्मत्त के समान, मनरहित सम्मूर्छिम के समान, शोकापन्न के समान, मूर्छित के समान अथवा शून्य-हृदय के समान मेरी चित्तवृत्ति होने के कारण मैं कुछ भी ध्यान नही देता हूँ।

※ पृष्ठ ८६

भगवन् ! मेरी चित्त की जो ऐसी विकृत दशा हो रही है, उसका कारण भी आप सुने।
अनन्तर यह जीव गुरुदेव के सन्मुख पश्चात्ताप-पूर्वक अपने अशिष्ट व्यवहार की गर्हा करता है, अशिष्ट भाषण के लिये खेद प्रकट करता है, पूर्व समय के अविचारित कुविकल्पो को प्रकट करता है, अथ से इति तक अपनी पूर्ण आत्मकथा का निवेदन करता है और अन्त मे धर्माचार्य से कहता है—भगवन् ! मै जानता हूँ कि मेरा परमहित करने की लालसा से ही आप विषयादिक की निन्दा करते है, सग-त्याग का वर्णन करते है, इनका त्याग करने वाले त्यागियो के प्रशमसुख की प्रशसा करते है और उससे प्राप्त होने वाले परमपद की श्लाघा करते है,* परन्तु मैं तो कर्मो से परतन्त्र (पराधीन जकडा हुआ) हूँ। जैसे भैस का दही और वैगन का अधिक मात्रा मे भक्षण करने पर ऊँघ दूर नही होती, जैसे अमन्त्रित तीव्र विष पीने पर विह्वलता (मूर्च्छा) दूर नही होती वैसे ही धन-विषय-कलत्रादि पर चिरकालीन सम्पर्क के कारण अनादिकाल से चली आ रही मूर्च्छा को दूर करने मे मैं तनिक भी शक्तिमान नही हूँ। इस मूर्च्छा से विह्वल चित्त होने के कारण, जैसे प्रगाढ निद्रा मे सुप्त पुरुष को जोर-जोर से चिल्लाकर कोई उठाता है तो उसके शब्द निद्राधीन को कर्णकटु और उद्वेगकारी प्रतीत होते है वैसे ही आपकी भगवद् वाणी सम्बन्धी धर्मदेशना भी मुझे प्रवल उद्वेगकारी और अप्रिय लगती थी। जब भी मैं देशना सुनते हुए आपकी वाणी मे रही हुई मधुरता, गम्भीरता, उदारता, भाव-सौन्दर्य पर ऊहापोह करता था तब यदा-कदा बीच-बीच मे मेरा चित्त भी आह्लादित हो जाता था। अनन्तर जब आपने कहा कि, "तू अशक्त है अतएव हम सर्वस्व त्याग नही कराते" तब कही जाकर मेरा मानसिक भय दूर हुआ और निराकुल होकर अपनी समस्त आत्मकथा को आपके सन्मुख कहने मे सक्षम हो सका। अन्यथा तो जब-जब भी आप देशना देने को प्रवृत्त होते थे तब-तब मेरे चित्त मे सकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते थे—अरे ! ये तो स्वय नि स्पृह है इसीलिये मुझ से भी धन-विषय-कलत्रादि का त्याग करवाना चाहते है अर्थात् अपने जैसा मुझे बनाना चाहते हैं किन्तु मे तो इनको छोड़ने मे सक्षम नही हूँ, फलत ये निरर्थक प्रयास कर रहे है। इस प्रकार मेरे मन मे अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प चलते रहते थे किन्तु प्रवल भय के कारण अपने विचार प्रकट करने मे समर्थ नही हो सका था। अब मेरा आपसे अनुरोध है कि मुझे क्या करना चाहिये ? इसे आप मेरी शक्ति को लक्ष्य मे रखकर मुझे निर्देश प्रदान करे।

[३०]

औषध-सेवन के योग्य अधिकारी

निष्पुण्यक के आत्म-निवेदन के पश्चात् का वर्ण्य-विषय मूलकथा मे विस्तार से प्रतिपादित कर चुके है। उसका निष्कर्ष यह है :—"दरिद्री निष्पुण्यक के आत्म-वृत्तान्त को सुनकर, कृपालु धर्मबोधकर ने पहले जो बाते संक्षेप रूप मे

* पृष्ठ ८६

उसको वतलाई थी उन्ही को यहाँ उसे विस्तार से समझाते हुए कहा—विमलालोक अजन, तत्त्व प्रीतिकर तीर्थजल और महाकल्याणक परमान्न ये हमारी तीनों औषधियाँ अभूतपूर्व चमत्कारी है। इन औषधियों का सेवन करने के लिये कौन सा जीव योग्य है और कौन सा अयोग्य ? इस सम्बन्ध में महाराजाधिराज सुस्थित के सम्प्रदाय (परम्परा) में जो निश्चित विधान (नियम) बना हुआ है, उसी के आधार से अधिकारी के लक्षण निश्चित करके हम इन औषधियो का सेवन कराते है। पुन. धर्मबोधकर ने कहा—हे भद्र ! तुम्हारा रोग अत्यन्त कष्टसाध्य है, असाधारण प्रयत्नो के बिना तुम्हारे रोग उपशान्त हो जाएँ ऐसा दिखाई नही देता। अतः तुम अनवरत सावधानी और प्रयत्नपूर्वक अपना चित्त स्थिर करते हुए इस राजमन्दिर मे सुखपूर्वक रहो और समस्त रोगों को समूल नष्ट करने मे महाराज की इन अभूतपूर्व औषधियों का अहर्निश (प्रतिदिन) नियमित रूप से सेवन करो। यह मेरी पुत्री तद्दया तुम्हारी परिचारिका है। यह तद्दया तुम्हे समय-समय पर औषधियाँ देती रहेगी।' धर्मबोधकर ने जो बात विस्तारपूर्वक कही उसे द्रमुक ने स्वीकार की। द्रमुक ने अपना भिक्षापात्र सदा के लिए एक स्थान पर रख दिया और उसकी रक्षा करते हुए, उसका कुछ समय इस स्थिति मे व्यतीत हो गया।" उक्त प्रसग की जीव के साथ तुलना इस प्रकार है :—

धर्माचार्य का पुनः कथन

जब यह जीव निश्छल हृदय से अपनी आप बीती अक्षरशः निवेदन करते हुए निर्देश मागता है, मुझे अब क्या करना चाहिये ? तब सद्धर्माचार्य भी उस पर अनुकम्पा (दया) लाकर, स्वयं ने जो इस जीव को उपदेश दिया था किन्तु मोहग्रस्त होने के कारण इस जीव ने उस ओर लक्ष्य नही दिया था, उसी उपदेश को पुन॰ विस्तार के साथ उसे सुनाते है। अनन्तर यह जीव कालान्तर मे भी धर्म-भ्रष्ट न हो जाए और यह अपने धर्म मे सर्वदा दृढ़ रहे, इस बात को लक्ष्य मे रखते हुए धर्माचार्य उसके सन्मुख ❀ धर्म-सामग्री की दुर्लभता का प्ररूपण करते है, राग-द्वेषादि भाव-रोगो की प्रबलता पर विवेचन करते है और यह भी प्रतिपादित करते है कि जीव स्वतत्र नही है, क्योंकि कर्म-परतन्त्र होने के कारण कर्मो के निर्देशानुसार कार्य करता है, इत्यादि विषयो का प्रतिपादन करते हुए सद्गुरु इस जीव को कहते हैं—हे भद्र ! जैसी सामग्री से तुम सम्पन्न हो वैसी सामग्री अधन्यो (भाग्यहीनो) को कदापि प्राप्त नही होती। हम भी अपात्र (अयोग्य) व्यक्तियो पर किसी प्रकार का प्रयास नही करते, क्योकि जिनेश्वर देवो की यह आज्ञा है कि जो जीव योग्य हो उन्ही को ज्ञान दर्शन चारित्र प्रदान करना चाहिये, अयोग्य प्राणियो को नही। अयोग्य जीवो को प्रदान करने से ज्ञानादि उनके स्वार्थ के साधक नही बनते, प्रत्युत

❀ पृष्ठ ८७

विपरीत प्रकार की उपाधिया और अनर्थ–परम्परा की बढोत्तरी करते है। कहा भी है :—

धर्मानुष्ठानवैतथ्यात् प्रत्यपायो महान् भवेत् ।
रौद्रदु'खौघजनको दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ॥

अर्थात् जैसे औपध का सेवन योग्य रीति से न किया जाय तो वह लाभ के वदले हानि पहुँचाती है वैसे ही धर्मानुष्ठान का विपरीत आचरण करने से वह भयकर दु खो को उत्पन्न करता है।

गुरु-परम्परा

हे भद्र ! इस भगवद् आज्ञा का ज्ञान हमे सुगुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ है। भगवत्कृपा से ही हम जीवो की योग्यता और अयोग्यता के लक्षणो को जानते है। ज्ञान दर्शन चारित्र के माध्यम से ही जीव की साध्यता-असाध्यता, योग्यता-अयोग्यता का परीक्षण सफलतापूर्वक किया जा सकता है, ऐसा भगवान् ने प्रतिपादन किया है।

सुसाध्य अधिकारी

जो जीव प्रारम्भिक अवस्था मे हो फिर भी उनके सन्मुख यदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का कथन किया जाए तो वे उसे सुनकर प्रसन्न होते है, जिनको इन तत्त्वो पर अत्यधिक प्रीति हो और इन औपधो का सेवन करने वाले जीवो की श्रेष्ठता का जिनके मानस पर प्रतिभास पडता हो, जो सुखपूर्वक इन औपधियो को ग्रहण करते हो और जिनको इन औषधियो के सेवन मात्र से तत्काल ही विशेप अन्तर प्रतीत होता हो, तो वे जीव लघुकर्मी होने के कारण शीघ्र ही मोक्ष जाने की योग्यता रखते है। जैसे सुन्दर काष्ठपट्टिका पर सहजता से चित्र-निर्माण किया जा सकता है वैसे ही इन जीवो को समझें। राग-द्वेषादि भाव रोगो का नाश करने में ऐसे जीव सुसाध्य की कोटि मे आते है, ऐसा समझे।

कष्टसाध्य अधिकारी

जिन प्राणियो के समक्ष प्रारम्भ मे ज्ञानादि रत्नत्रयी की बात की जाये तो उसे सुनकर जिन्हे अरुचि होती है, अनुष्ठान परायण व्यक्तियो का जो तिरस्कार करते हैं, धर्माचार्य द्वारा विशिष्ट प्रयत्न करने पर जो प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं, औषध त्रयी ग्रहण करने मे हिचकिचाहट करते है, जिनको इन औषधियो के सेवन से तत्काल मे लाभ नही दिखाई देता, अर्थात् बहुत समय बाद इन औषधियो का सामान्य प्रभाव दिखाई देता है और जो पुन· पुनः अतिचार (दोप) लगाते है, ऐसे जीव निश्चय ही गुरुकर्मी होने के कारण दीर्घकाल के पश्चात् मोक्ष जाने की योग्यता अर्जित करते हैं। मध्यम प्रकार की काष्ठपट्टिका पर चित्रालेखन मे जैसे शिक्षक की आवश्यकता होती है वैसे ही इस प्रकार के जीव सद्गुरु की ओर से बारम्बार

प्रेरित होने पर ही योग्यता प्राप्त करते है। भावरोगों की शान्ति के लिए इस प्रकार के प्राणियो को कष्टसाध्य कोटि मे मानना चाहिये।

असाध्य अधिकारी

जिन प्राणियो के समक्ष ज्ञानत्रयी औषध की बात की जाए तो उन्हे ये बाते तनिक भी अच्छी नही लगती, शताधिक प्रयत्नो के पश्चात् यदि इन्हे ये औषधियाँ प्रदान की जाए तो भी वे उसे ग्रहण नही करते, उपदेष्टा (उपदेशक-धमगुरु) पर भी विद्वेष रखते है, ऐसे प्राणी महापापी और अभव्य होते है। फलत: ये अभव्य प्राणी ज्ञानत्रयी औषध के लिए पूर्णतया अयोग्य होते है। भाव-व्याधि का नाश करने में ऐसे जीव असाध्य की कोटि मे आते है, ऐसा समझे।

चेष्टाओं से अधिकारी का निर्णय

हे सौम्य! भगवत् कृपा से हमने सुसाध्य, कष्टसाध्य और असाध्य प्राणियो के लक्षणों का ज्ञान प्राप्त किया है। इन्ही लक्षणो के आधार पर हम जीव की योग्यता और अयोग्यता का अकन करते है अर्थात् यह इसके योग्य अधिकारी है या नही ? सुसाध्य, कष्टसाध्य और असाध्य मे से किस कोटि का है ? निश्चित करते हैं। जिस प्रकार तुमने अपना आत्म-स्वरूप (आत्म-कथा) कहा है वैसा ही हम भी तेरा स्वरूप देख रहे हैं। तू परिशीलना (नियन्त्रण) योग्य कष्टसाध्य जीव है।* तू कष्टसाध्य होने से जब तक तेरी रागादि व्याधियों का नाश करने के लिए हम असाधारण प्रयास नही करेंगे तब तक तेरी व्याधियों का शमन नही हो सकता। फलत हे वत्स! यदि तू इस समय सब प्रकार के सम्बन्धो का त्याग करने मे शक्तिमान नही है तो फिलहाल इस विशाल सर्वज्ञ-शासन मे शुद्धभाव पूर्वक मन को दृढ कर, बाह्य आकाक्षाओ का त्याग कर और अचिन्त्य (अनन्त) वीर्यातिशय से जो भगवान् समस्त दोषो का नाश करने मे समर्थ है उन परमेश्वर को तू परिपूर्ण भक्ति से अपने हृदय मे अनवरत स्थापित कर तथा देशविरति चारित्र में स्थिर रह। तू इस ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रतिदिन अधिक से अधिक परिमाण मे आराधन कर। तू इस रत्नत्रयी की उत्तरोत्तर क्रम से विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम आसेवना करता हुआ बढता जा। इस ज्ञानत्रयी की विशिष्ट सेवना से ही तेरे राग-द्वेषादि भावरोगो का उपशमन हो सकेगा, अन्यथा इन भावरोगो को नाश करने का अन्य कोई मार्ग नही है।

इस प्रकार मार्गदेशना देने वाले सद्धर्माचार्य के हृदय मे जो इस जीव के प्रति दया उत्पन्न होती है उसी को यहाँ तद्दया के नाम से जीव की परिचारिका वर्णित की गई है, ऐसा समझे। यह तद्दया परिचारिका परमार्थत: धर्माचार्य के

---

* पृष्ठ ८८

हृदयगत निर्देशों का परिपालन करने मे पूर्णतया सक्षम होती है, अर्थात् तदनुसार ही जीव की परिचर्या करती हे (ऐसा उपनय समझे)।

तदनन्तर यह जीव उसी समय सद्‌गुरु के वचनो को अगीकार करता है, यावज्जीवन आपके निर्देशानुसार ही कर्त्तव्यो का पालन करूँगा, ऐसा दृढ निश्चय (प्रत्याख्यान) करता है और देशविरति का पालन करता हुआ कितने ही समय तक सर्वज्ञ-शासन-मन्दिर मे निवास करता है। साथ ही यह जीव धन-विषय-कलत्र और कुटुम्बादि का आधारभूत भिक्षापात्र (आयु कर्म) के समान स्वय के जीवितव्य का भी पालन करता है।

इसी बीच वहाँ निवास करते हुए जो कुछ घटित हुआ उसका अब वर्णन करते हैं।

[३१]

औषध-सेवन से लाभ और अपथ्य भोजन से हानि

जैसा पहले कह चुके है —'तद्दया रात-दिन उसे तीनो औषधियाँ देती रही पर द्रमुक को अभी भी अपने कुभोजन पर अत्यधिक आसक्ति रही जिससे उसे औषधियो पर पूर्ण विश्वास नही हो पाया।" इस कथन की जीव के साथ तुलना इस प्रकार करे—आचार्यदेव की दया इस जीव को विशेष रूप से बारम्बार ज्ञानत्रयी औषध प्रदान करती है तथापि कर्म-परतन्त्र और धनादि पर गाढासक्ति होने के कारण यह जीव इस दया-औषध को अधिक महत्व नही देता, अर्थात् इस दया का अधिक लाभ नही उठा पाता।

जैसे कथानक मे निष्पुण्यक "मोहवश अपने पास का कुभोजन अधिक खा लेता और तद्दया द्वारा दिया हुआ भोजन बहुत ही कम खाता।" वैसे ही महामोह से मारा हुआ यह जीव धनोपार्जन, विषयभोग आदि सासारिक कार्यो मे गाढानुराग के साथ व्यस्त रहता है और धर्माचार्य द्वारा दयापूर्वक प्रदत्त व्रत-नियमादि का अनादरपूर्वक यदा-कदा थोडा बहुत पालन करता है अथवा कभी पालन नही भी करता है। जैसे "तद्दया जब उसे कहती तब वह कभी-कभी थोडा सुरमा आँख मे डालता।" वैसे ही यह जीव भी गुरुदेव की दया से प्रेरित होने पर और उनके अनुरोध को ध्यान मे रखकर कभी-कभी थोडा बहुत ज्ञान का अभ्यास करता है, सर्वदा नही। जैसे कथा मे निष्पुण्यक "तद्दया द्वारा बारम्बार प्रेरित करने पर थोडा सा तीर्थजल पीता।" वैसे ही यह जीव भी प्रमादवश होकर जब अनुकम्पा-परायण धर्मगुरु बारम्बार प्रेरित करते तब सम्यग् दर्शन को ❀ उत्तरोत्तर प्रदीप्त करता हुआ आगे बढता किन्तु अपनी इच्छा से या उत्साह से नही।

❀ पृष्ठ ८९

कुत्सित भोजन में बढ़ोत्तरी

जैसे पहले कथा-प्रसंग में कह चुके है.—"तद्दया विश्वासपूर्वक उसे महाकल्याणक भोजन प्रचुर मात्रा मे देती, पर वह थोडा खाकर बाकी अपने भिक्षा-पात्र मे डाल देता। उसके तुच्छ भोजन के साथ इस सुन्दर भोजन की मिलावट हो जाने से यह उच्छिष्ट भोजन निरन्तर वढ़ता रहता और रात-दिन खाने पर भी समाप्त नही होता। अपने भोजन मे इस प्रकार वृद्धि देखकर वह अत्यधिक प्रसन्न होता पर किसके प्रताप से और किस कारण से उसके भोजन मे वृद्धि हो रही है, इस वात पर वह कभी विचार नही करता। केवल अपने भोजन मे आसक्त वह निष्पुण्यक तीनों औषधियो के प्रति निरन्तर कम रुचि वाला होने लगा और स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी बनकर साँसारिक मोह मे अपना समय व्यतीत करने लगा। अपना अपथ्यकारी तुच्छ भोजन रात-दिन खाने से उसका शरीर तो अवश्य हृष्ट-पुष्ट हुआ पर तीनों औषधियो का अरुचि से कभी-कभी थोडा-थोडा सेवन करने से उसकी व्याधियो का समूल नाश नही हुआ। महाकल्याणक भोजन वह इतना थोड़ा ले रहा था और सुरमे तथा जल का प्रयोग भी यदा-कदा करता था, फिर भी उसे प्रचुर लाभ तो हुआ और उसकी व्याधियाँ भी कम हुई, पर वस्तु-स्वरूप का बराबर भान न होने से और अपथ्य भोजन का अधिक सेवन करने से उसके शरीर पर कुभोजन के विकार निरन्तर दिखाई देते थे। अपथ्य भोजन के विशेष उपभोग से कई वार उसे उदरशूल होता, कई बार शरीर मे दाह-ज्वर होता, कई वार मूर्च्छा (घवराहट) आ जाती, कभी ज्वर आ जाता, कभी सर्दी-जुकाम हो जाता, कई बार जड़ (संज्ञाहीन) हो जाता, कई वार छाती और पसलियो में दर्द होता, कई वार उन्मादित-सा (पागल) हो जाता और कई वार पथ्य भोजन पर अरुचि हो जाती। इस प्रकार ये सब रोग उसके शरीर मे विकार उत्पन्न कर, कई वार उसे त्रास देते थे।" वैसे ही इस जीव के साथ भी होता है, जो इस प्रकार है—

अणुव्रत का माहात्म्य

किसी समय मे चातुर्मास के प्रारम्भ मे दयालु आचार्य इस जीव पर दया लाकर विशेषरूप से विरति ग्रहण-हेतु अणुव्रत की विधि वतलाते है। उसे सुनकर यह जीव तीव्र सवेग के कारण त्याग की भावना भी करता है किन्तु चारित्रावरणीय कर्म की प्रवलता के कारण तथा स्वय की मन्दवीर्यता के कारण वह कोई-कोई व्रत नियम अल्परूप मे ग्रहण करता है। जैसे तद्दया द्वारा निष्पुण्यक को वारम्वार भोजन देने पर भी वह उसमें से थोडा सा भोजन लेता वैसे ही आचार्य की अनुकम्पा से प्राप्त चारित्र-भोजन को यह जीव भी अल्प मात्रा में ही लेता। दयालु आचार्य के अनुरोध पर यह जीव अनिच्छापूर्वक कुछ व्रत भी ग्रहण कर लेता था। इस कथन को जिस प्रकार निष्पुण्यक शेष भोजन को अपने भोजन मे मिला देता था, उसी के

समान समझे। अनिच्छापूर्वक मन्द संवेग के कारण ग्रहण किये हुए व्रत भी इस भव या परभव मे अवश्य ही धन-विषयादि के साधनो की अभिवृद्धि करते ही हैं। इस कथन को सुन्दर भोजन की मिलावट से उच्छिष्ट भोजन की बढोत्तरी के सदृश समझे। मन्द सवेग द्वारा गृहीत व्रत-नियमो के प्रभाव से प्राप्त हुए धन-विषयादि का अनवरत उपभोग करते रहने पर भी व्रत-नियमो मे दृढ होने के कारण धन-विषयादि सामग्री समाप्त नही होती। अर्थात् जैसे-जैसे धन-विषयादि सामग्री का उपभोग करता रहता है वैसे-वैसे व्रत-नियमों के प्रभाव से अन्य सामग्रियाँ प्राप्त होती जाती हैं। यह जीव तो मनुष्य भव अथवा देव भव में अपनी सम्पत्ति की निरन्तर वृद्धि देखकर हर्षित हो जाता है परन्तु यह पामर जीव यह नही सोचता कि ये धनादि सामग्री तो धर्म के प्रभाव से ही प्राप्त होती है, इसमें हर्ष करने जैसा क्या है? वस्तुत: यह तो धर्म के प्रभाव से ही बढती है, तो धर्म-सम्पादन ही युक्त है। वस्तु-स्थिति का ज्ञान न होने से यह जीव विषयादि मे अनुरक्त होकर ज्ञान, दर्शन और देशविरति चारित्र की आराधना मे शिथिल हो जाता है। जानता हुआ भी अनजान की तरह मोहदोष के कारण अपना समय निरर्थक ही खो देता है। इस प्रकार जहाँ तक इस जीव का मन धनादि मे चिपका हुआ रहता है और धर्मानुष्ठान की ओर कम आदर रहता है वहाँ तक चाहे जितना भी काल व्यर्थ में बिता दे परन्तु उसके रागादि भावरोगो का ❀ नाश नही होता। सद्गुरु के अनुग्रह से मन्द सवेग होने पर भी यदि यह जीव अल्प मात्रा मे भी धर्मानुष्ठान करता है तो उसे गुणो की प्राप्ति होती है और उसके भावरोगो का उपशमन होता है।

आत्म-स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण जब यह जीव धन-विषय-कलत्रादि पर प्रबल अनुराग रखता है, अधिक परिग्रह रखता है, महाजाल के समान वाणिज्य-व्यापार करता है, खेतीबाडी करता है और इसी प्रकार के अन्य धन्धे करता है तब राग-द्वेषादि भावरोगो को बढने का ठोस अवसर मिल जाता है। जैसे व्याधियो को बढने का दृढ कारण मिल जाने से व्याधियाँ बढने लगती हैं और उससे प्राणी दु:खी होता है वैसे ही ये भावरोग भी बढ जाने से अनेक प्रकार के विकारो के प्रभाव से इस जीव को प्रभावित करते है। ऐसे समय मे अनिच्छा से ग्रहण किये हुए सदनुष्ठान भी इस जीव का बचाव करने मे सक्षम नही होते। यह जीव कभी अकाल मे शूल की पीडा के समान धन-व्यय की चिन्ता से पीडित होता है, कभी दूसरो के प्रति ईर्ष्या की दाह से जलता रहता है, कभी सर्वस्वनाश की कल्पना से मुमुर्षु की तरह मूर्छित हो जाता है, कभी कामज्वर के सन्ताप से तडफता रहता है, कभी ऋणदाता द्वारा बलपूर्वक धन ले जाने पर शीत लहर से जड़ीभूत

❀ पृष्ठ ९०

होने के समान निस्पन्द हो जाता है, कभी लोगों द्वारा 'अहो ! यह जानकार होकर भी कैसे विपरीत आचरण कर रहा है, इससे तो जडमूर्ख भी अच्छा' सुनकर खेद को प्राप्त करता है, कभी इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग की व्यथा से वह पासलियो और हृदय मे उठने वाले शूल के समान त्रस्त हो जाता है, कभी प्रमादी जीव मिथ्यात्व रूपी उन्माद से सतप्त हो जाता है और कभी उसे सदनुष्ठानरूपी पथ्यकारी भोजन पर अत्यधिक अरुचि हो जाती है। इस प्रकार अपथ्य सेवन मे अनुरक्त यह जीव देशविरति चारित्र के मार्ग पर चलता हुआ भी अनेकविध विकारो से ग्रस्त होकर दु खी बना रहता है।

[३२]

तद्दया द्वारा उद्बोधन

तदनन्तर का कथानक मूल कथा-प्रसग मे विस्तार से दिया जा चुका है, उसका साराश निम्नलिखित है:—

"इस प्रकार व्याधियों एव पीडा से घिरे हुए और रोते हुए निष्पुण्यक को तद्दया ने देखकर विचार किया और कहा–'अपथ्यकारी भोजन करने से ही तेरी ये सब बीमारियाँ बढी है।' तद्दया की बात सुनकर निष्पुण्यक ने कहा– 'इस तुच्छ और अपथ्य भोजन पर मेरी इतनी अधिक इच्छा रहती है कि मैं उसका स्वय त्याग करने मे तनिक भी समर्थ नही हूँ। फलत. अब आप ही मुझे इस अपथ्य भोजन का उपयोग करने से बार-बार रोकें।' तद्दया ने उसकी बात स्वीकार की। पश्चात् तद्दया के बार-बार रोकने से वह कुभोजन का थोड़ा-थोडा त्याग भी करने लगा जिससे उसकी व्याधियाँ कम होने लगी। जब तद्दया पास मे होती तो वह अपथ्य का त्याग करता, अन्यथा नही। तद्दया तो पहले से ही सम्पूर्ण लोक की देख-रेख के लिए नियुक्त थी, अत: उसे तो अनन्त प्राणीगणो के सार-सभाल के काम में रुकना पड़ता था जिससे वह निष्पुण्यक के पास तो यदा-कदा ही आ पाती थी। तद्दया की अनुपस्थिति मे वह अपथ्य भोजन का सेवन करता था जिससे वह पुन: व्याधि-विकार से पीडित हो जाता था।"

निष्पुण्यक के समान जीव की भी ऐसी ही दशा होती है। यहाँ ध्यान मे रखना चाहिये कि सद्गुरु को इस जीव पर जो दया आती है वही दया यहाँ मुख्य रूप से कार्यकर्त्री है। इसी बात को रूपक के आलोक मे दया को प्रधान रूप से कर्ता बताया है।

उपालम्भ

दयासमुद्र सद्धर्माचार्य जब इस प्रमादी जीव से पुन. मिलते है तो उसे सांसारिक उपाधिजन्य पीडाओ की आकुलता से क्रन्दन करते हुए पाते है तब वे उसे

उपालम्भ देते है—भद्र ! मैंने तुझे पहले ही कहा था कि विषयासक्त जीव का मन सर्वदा सन्तप्त रहता है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है, स्वाभाविक है। ※ जो प्राणी धनोपार्जन और उसके रक्षण मे सर्वदा व्यस्त रहते है उनसे अनेक प्रकार की विपत्तियाँ दूर नही रहती, अर्थात् विभिन्न विपत्तियो से घिरा रहता है, तब भी तू विषयादि पर गाढासक्ति रखता है और ज्ञान दर्शन चारित्र जो समस्त क्लेशसमूह रूपी महा अजीर्ण का नाश करने वाले है तथा परम स्वास्थ्य (परम शान्ति) के कारण है उनको तू उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। ऐसी अवस्था मे अब तू ही बता कि हम क्या करें ? यदि हम तुझे त्याग के सम्बन्ध मे कुछ कहते है तो तू आकुल-व्याकुल हो जाता है। तेरे ऊपर अनेक प्रकार के उपद्रव होते रहते है, यह हमारी दृष्टि से छिपा हुआ नही है, फिर भी हम अनदेखी कर जाते है और चुप बैठे रहते है। तेरी आकुलता के भय से तुझे गलत रास्ते पर जाते हुए भी नही रोकते हैं। जो प्राणी ज्ञान दर्शन चारित्र का आदर करते हैं, असत्कार्यो का परिहार करते हैं और इस रत्नत्रयी का अनुष्ठान करते है वे ही इन विकारो को दूर करने मे सक्षम हो सकते है, अनादर और उपेक्षा करने वाले प्राणी नही। हमारे देखते हुए भी तू रागादि भाव-रोगो से पीडित रहता है तब तुम्हारे गुरु होने के कारण लोगो की दृष्टि मे हमे भी उपालम्भ का पात्र बनना पडता है। गुरु द्वारा दिये गये इस उपालम्भ को तद्दया द्वारा निष्पुण्यक को दिये गये उपालम्भ के तुल्य समझे।

इच्छा, आसक्ति और भावना

गुरुदेव का इस प्रकार उपालम्भ सुनकर जीव ने उत्तर देते हुए कहा—भगवन् ! अनादिकालीन सस्कारो के कारण तृष्णा लोलुपता आदि के भाव मुझे मोहित करते है। तृष्णा लोलुपता के वशीभूत होने के कारण आरम्भ (हिंसा) और परिग्रह के कटुफलो को जानता हुआ भी मैं इनको छोड नही सकता। ऐसा होते हुए भी मेरी ओर आप उपेक्षाभाव न रखे तथा प्रयत्न पूर्वक असत्प्रवृत्तियो से मुझे रोके। इससे सभव है कि अभी तो मै दोषो का थोड़ा-थोडा त्याग कर रहा हूँ किन्तु भविष्य मे कदाचित् आपके प्रभाव से परिणतियो के परिवर्तन होने पर समस्त दोषो को त्याग करने की शक्ति प्राप्त कर सकू।

तद्दया का उद्यम

धर्माचार्य जीव की प्रार्थना को स्वीकार करते है और किसी-किसी समय जब जीव प्रमादाचरण करता है तब उसे उस आचरण से रोकते है। धर्माचार्य के निर्देशानुसार आचरण (प्रवृत्ति) करने से अभी तक अशुभ प्रवृति के कारण जीव को जो पीडाये होती थी उनका उपशमन होने लगा और धर्माचार्य के प्रसाद से ज्ञानादि गुणो का विकास होने लगा। जैसे तद्दया के कथनानुसार प्रवृत्ति करने से

※ पृष्ठ ६१

निष्पुण्यक ने किंचित् स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया वैसे ही इसे भी समझे। विशिष्ट उज्ज्वल परिणाम न होने के कारण यह जीव भी जब गुरु महाराज प्रेरित करते हैं तब ही स्वहितकारी शुभ प्रवृत्ति का आचरण करता है, परन्तु गुरु महाराज की प्रेरणा के अभाव में यह जीव अपने सत्कर्त्तव्यो के प्रति शिथिल हो जाता है और पुनः असत्कार्य, आरम्भ (हिंसा) एवं परिग्रह की प्रवृत्तियों के जंजाल में फस जाता है। इससे रागादि भावरोग वेग के साथ बढ़ने लगते हैं जिससे मानसिक तथा शारीरिक अनेक व्यथाएँ भी उत्पन्न हो जाती है। जब प्राणी की ऐसी अवस्था हो जाती है वही उसकी विह्वलता है। इसे निष्पुण्यक की विह्वलता के सदृश समझें। धर्माचार्य जिस प्रकार इस जीव को सदनुष्ठान की ओर बारम्बार प्रेरित कर सन्मार्ग पर ले आते है उसी प्रकार प्रेरित कर सन्मार्ग पर लाने के लिए और भी बहुत से जीव होते है। समस्त जीवों पर अनुग्रह करने मे सलग्न होने के कारण जिस-जिस समय जो जीव सम्पर्क में आता है उसी को वे प्रेरित कर सकते हैं। यही कारण है कि सर्वदा गुरु महाराज का सानिध्य प्राप्त न होने से यह जीव शेषकाल मे स्वयं के लिए अहितकारी अशुभ प्रवृत्तियो का आचरण करने लगता है। उस समय उसे कोई रोकने वाला न होने से पूर्वोक्त अनर्थ-परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। इस कथन को जैसे तद्दया की अनुपस्थिति में निष्पुण्यक अपथ्य भोजन का सेवन करता है, ❀ उससे पुन. उसके रोग बढते हैं और अनेक प्रकार के विकार पैदा होते है वैसे ही जीव के साथ होता है।

[३३]

सद्बुद्धि की नियुक्ति

अनन्तर के घटनाचक्र का मूल कथा-प्रसंग में विस्तार से प्रतिपादन कर चुके हैं, उसका निष्कर्ष यह है :—"धर्मबोधकर ने निष्पुण्यक को पुनः व्याधियों से पीडित देखकर उससे इसका कारण पूछा। उसके उत्तर मे निष्पुण्यक ने अपनी समस्त वास्तविकता बताते हुए कहा—'हे नाथ! आप मेरे लिए अब ऐसी व्यवस्था करे कि फिर मुझे स्वप्न मे भी पीडा न हो।' निष्पुण्यक की बात सुनकर धर्मबोधकर ने कहा—'यह तद्दया अन्य अनेक कार्यो मे व्यस्त रहने के कारण तुझे अपथ्य सेवन से रोक नही पाती है। अत जो निरन्तर तेरी सार सभाल कर सके ऐसी व्यग्रता रहित अन्य परिचारिका की नियुक्ति कर देता हूँ, किन्तु तुझे उसके समस्त निर्देशो का पालन करना होगा।' निष्पुण्यक की स्वीकृति प्राप्त कर धर्मबोधकर ने उसकी सार-सभाल के लिए असाधारण चातुर्यपूर्ण सद्बुद्धि नामक परिचारिका की नियुक्ति कर दी। पश्चात् सद्बुद्धि के सम्पर्क से और उसके निर्देशानुसार आचरण करने से निष्पुण्यक की अपथ्य भोजन पर लोलुपता दूर हुई। इससे इसके रोग क्षीण होने लगे, विकार दूर होने लगे, शारीरिक सुख का किंचित्

❀ पृष्ठ ९२

अनुभव होने लगा और उसके आनन्द मे बढोतरी होने लगी।" ये ही बाते जीव के साथ भी सम्यक् प्रकार से घटित होती है, जो इस प्रकार है—

स्वच्छ हृदय से स्वीकृति

जैसे अन्धा आदमी दौडता हुआ दीवार अथवा थभे से टकराकर, चोट खाकर वेदना से विह्वल हो जाता है और अपनी व्यथा को दूसरो के सामने रो-रोकर कहता है वैसे ही यह जीव भी करता है। धर्माचार्य द्वारा निषिद्ध कार्यो को करने के फलस्वरूप उसे अनेक विपदाओ का अनुभव होने पर उसे गुरुवचनो पर विश्वास होता है और वह अपने अनेक प्रकार के कष्टो का गुरु के सन्मुख उल्लेख करता हुआ कहता है—भगवन् ! आपके सदुपदेश के अनुसार जब मै चोरी से कोई वस्तु ग्रहण नही करता, राज्यविरुद्ध कोई कार्य नही करता, वेश्या और परस्त्रीगमन आदि कोई दुष्कृत्य नही करता, इसी प्रकार के धर्म और लोक विरुद्ध कोई आचरण नही करता और महारम्भ (हिसा) तथा परिग्रह मे अनुराग नही रखता तब तो सब लोग मुझे साधु पुरुष समझते है, मुझ पर विश्वास करते है और मेरी प्रशसा करते हैं। ऐसे समय में शारीरिक परिश्रमजन्य दु'ख भी मुझे दु ख प्रतीत नही होता, हृदय मे भी स्वस्थता और प्रसन्नता प्रतीत होती है। 'सद्धर्माचरण करने से सद्गति प्राप्त होती है' इन विचारो से मेरा चित्त आनन्दित हो जाता है। परन्तु, जब अशुभ प्रवृत्ति करते समय आपकी ओर से किसी प्रकार की रोक-टोक नही होती अथवा आपकी निषेधाज्ञा का यह सोचकर कि 'आपको क्या मालूम पडेगा' उल्लघन कर निर्भयता के साथ जब मैं धन-विषय-कलत्रादि पर आसक्ति रखता हुआ तस्करी से धनादि पदार्थ ग्रहण करता हूँ, काम-लाम्पट्य के कारण वेश्यादि से गमन करता हूँ, इसी प्रकार के आप द्वारा निषिद्ध धर्म या लोक विरुद्ध कृत्य करता हूँ तब लोगो की निन्दा, राज्य की ओर से दण्ड तथा सर्वस्वहरण, शारीरिक खेद, मानसिक सन्ताप और समस्त प्रकार के अनर्थ इस लोक मे ही प्राप्त करता हूँ। जब मैं यह सोचता हूँ कि 'असदाचरण ही पाप है और इस पाप से दुर्गति प्राप्त होती है' तब मेरा हृदय जलता रहता है और मै तनिक भी सुख या शान्ति प्राप्त नही करता। फलत· हे कृपानाथ! अब आप कोई ऐसा प्रबन्ध कर दे जिससे मैं आपकी आज्ञानुसार आचरण करने रूप कवच पहनकर अनर्थ-सन्तति रूप बाणो के जाल से सुरक्षित रह सकूँ।

स्वायत्तता का महत्त्व

जीव के मन की स्पष्ट बातो को सुनकर धर्माचार्य ने कहा—भद्र! दूसरों के रोक-टोक करने से और दूसरो पर विश्वास होने से अकार्य रोके जा सकते हैं, परन्तु दूसरो का सहयोग यदा-कदा ही सम्भव होता है।* दूसरे के उपदेश से असत्कार्य के त्याग का विशेष सुन्दर फल तुझे अथवा दूसरो को कितना उत्तम मिलता है यह तूने देखा ही है। हम तो सर्वदा अनेक प्राणियो पर उपकार करने मे

* पृष्ठ ९३

व्यस्त रहते हैं, अतएव सर्वदा तेरे निकट रहकर तुझे अशुभ कर्त्तव्यो से रोकना हमारे लिए सभव नही है। वस्तुत: जब तक तेरी स्वय की सद्बुद्धि जागृत नही होगी तब तक जिसको हम त्याग करने का कहते हैं उसी पर तेरी आसक्ति होने के कारण होने वाली अनर्थ-परम्परा रोकी नही जा सकती। स्वय की सद्बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है जो अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखे बिना ही केवल स्वय के प्रयासो से ही जीव को अशुभ प्रवृत्तियो से विमुख कर सकती है और इसी से तू भी अनर्थ-परम्परा से मुक्त हो सकता है।

सद्बुद्धि की महत्ता

यह सुनकर जीव ने कहा—भगवन्! यह सद्बुद्धि तो मुझे आपके प्रसाद से ही प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नही। यह सुनकर गुरुदेव ने कहा—भद्र! मैं तुझे सद्बुद्धि देता हूँ। हमारे जैसो के तो सद्बुद्धि वचनाधीन ही रहती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि सद्बुद्धि प्रदान करने पर भी जो पुण्यशाली प्राणी होते हैं वह उन्ही को अच्छी तरह फलती है, अन्य भाग्यहीनो को नही। इसका कारण यह है कि पुण्यशाली प्राणी ही उसके प्रति आदरभाव रखते है, अन्य प्राणी नही। इस सद्बुद्धि के अभाव मे ही देहधारियो को समस्त प्रकार के अनर्थकारी कष्ट होते है। वस्तुत: विश्व मे समस्त प्रकार के कल्याणकारी सुखो की परम्परा का आधार सद्बुद्धि ही है। जो महात्मा इस सद्बुद्धि को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं वे ही वास्तव मे सर्वज्ञदेव की आराधना करते है, अन्य नही। किसी भी प्रकार से तुझे सद्बुद्धि प्राप्त हो इसीलिये हम विस्तृत एव विशेष उपदेश द्वारा तुझे समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यदि सद्बुद्धि रहित प्राणियो को कदाचित् व्यवहार से ज्ञान दर्शन चारित्र की प्राप्ति हो भी जाए और किन्ही को ज्ञानादि प्राप्त न भी हो तो भी कोई विशेष अन्तर नही पडता। कारण यह है कि इस प्रकार का व्यावहारिक (छिछला) ज्ञान स्वकार्य सिद्ध नही कर सकता। अधिक क्या कहूँ? सद्बुद्धि रहित पुरुष और पशु मे कोई अन्तर नही होता। वस्तुत यदि तू दु:ख से घबराता है और सच्चे सुख की अभिलाषा रखता है तो हमारे द्वारा प्रदत्त इस सद्बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखना। तू यदि इस सद्बुद्धि को सम्यक् प्रकार से आदर के साथ सुरक्षित रख सका तो ऐसा हम मान लेगे कि, तूने प्रवचन की आराधना की, त्रिभुवनपति सर्वज्ञ को बहुमान दिया, हमको सन्तुष्ट किया, लोकोत्तर वाहन (मार्ग) स्वीकार किया, लोक-सज्ञा (जडरुचि) का त्याग किया, सद्धर्म का आचरण किया और भव समुद्र से आत्मा को पार कर लिया। ऐसा ही तू भी समझ लेना।

इच्छा और प्राप्ति का परस्पर सबन्ध

सद्धर्माचार्य के ऐसे वचनामृत के प्रवाह से इस जीव का हृदय प्रफुल्लित हो गया और उसने आचार्य के वचनो को प्रमुदित हृदय से स्वीकार किया। इसके

बाद आचार्यदेव इस प्राणी को सदुपदेश देते है. —'जब तक यह जीव विपरीत ज्ञान के कारण दु खदायी धन-विषय-कलत्रादि मे सुख का आरोप करता है और सुखदायी वैराग्य, तप, सयम आदि मे दु ख का आरोप करता है तब तक ही उसका दु ख के साथ सम्बन्ध होता है। जब यह जीव भलीभाति जान जाता है कि विषयभोगो की ओर प्रवृत्ति ही दु ख है और धनादि आकाक्षाओ की निवृत्ति ही सुख है तब उसकी समस्त कामनाएँ नष्ट हो जाने से उसे निराकुल स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है और वह सतत आनन्द मे रहता है।' ❀ अब मैं तेरे परमार्थ की बात कहता हूँ:—'जसे-जसे यह जीव नि स्पृही होता जाता है वैसे-वैसे उसमें पात्रता (योग्यता) आती जाती है। पात्रता आने पर सब सम्पदाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती है। जैसे-जंसे प्राणी सम्पदा-भिलाषी होता है वैसे-वैसे उसकी अयोग्यता का निश्चय करके सम्पदाएँ भी उससे बहुत दूर चली जाती है। फलत तुझे भी दृढ निश्चय कर, सासारिक पदार्थों के उपभोग की ओर अभिलाषा नही रखनी चाहिये। यदि तू वास्तव मे इस प्रकार का आचरण करेगा तो तुझे कभी स्वप्न मे भी मानसिक और शारीरिक पीडा की गन्ध भी नही मिलेगी।' गुरु महाराज के उक्त उपदेश को जीव अमृत के समान ग्रहण करता है। अब इस प्राणी को सद्बुद्धि प्राप्त हो गई है ऐसा समझकर धर्मगुरु अपने हृदय मे निश्चय करते है कि अब यह जीव विपरीत मार्ग पर कभी नही जाएगा। इन विचारो से धर्मगुरु इस जीव के प्रति निश्चिन्त हो जाते है।

पीडा : गुण और प्रमोद

सद्बुद्धि प्राप्त होने पर यद्यपि यह जीव श्रावक अवस्था मे रहता हुआ विषयों का उपभोग करता है, धनादि ग्रहण करता है तथापि इन पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर भी गाढानुराग न होने से ये पदार्थ अतृप्ति या असतोष के कारण नही बनते थे। ज्ञान दर्शन चारित्र के प्रति चित्त का अनुराग होने के कारण उसे जो भी और जितने भी परिमाण मे धनादि पदार्थ प्राप्त होते थे उसी मे वह जीव सतुष्ट रहता था, अर्थात् उतनी ही सामग्री उसके लिये सतोषदायक थी। सद्बुद्धि के प्रभाव से वह ज्ञान दर्शन चारित्र की विशिष्ट प्राप्ति के लिए जितना प्रयत्न करता था, उतना अब वह धनादि की प्राप्ति के लिए नही करता था। फलस्वरूप उसके रागादि भावरोगो मे नवीन वृद्धि नही होती थी और पुराने भाव-रोग क्षीण होते जाते थे। ऐसी अवस्था मे भी कभी-कभी पूर्वोपार्जित कर्मों की परिणति के कारण शारीरिक और मानसिक पीडाएँ उत्पन्न हो जाती किन्तु तीव्र अनुबन्ध नही होने के कारण अधिक समय तक स्थिर नही रहती। इस कारण से इस जीव को सन्तोष के गुणो और असन्तोष के दोषो का अन्तर समझ मे आने लगा और उत्तर गुणो की प्राप्ति से उसका चित्त प्रमुदित रहने लगा।

❀ पृष्ठ ९४

[३४]

सद्बुद्धि के साथ वार्ता

पहले कथा-प्रसग मे जो बात विस्तार से कही गई है उस पर सक्षेप मे यहाँ विचार करते है—"उस निष्पुण्यक ने एक दिन निराकुलता से सद्बुद्धि के साथ विचार-विमर्श किया। उसने सद्बुद्धि से कहा -- 'भद्रे ! मुझे आश्चर्य है कि अब मेरा शरीर और मन इतना प्रमुदित रहता है, इसका क्या कारण है ?' सद्बुद्धि ने उत्तर मे कहा—'कुत्सित भोजन के प्रति तेरी लोलुपता की समाप्ति और विमलालोक अजन आदि तीनों पथ्य एव हितकारी औषधियो के नियमित सेवन से ही तुझे यह सफलता प्राप्त हुई है।' इसी प्रसग को सद्बुद्धि ने युक्तिपूर्वक उसे समझाया।" यही बात इस प्राणी के साथ भी पूर्णतया घटित होती है।

सद्बुद्धि से प्रशम सुख

सद्बुद्धि के साथ विचार-विमर्श करने से इस प्राणी को यह बात विशेष रूप से ध्यान मे आती है कि मेरे शरीर और मन मे निवृत्ति स्वरूप स्वाभाविक सुख जो मुझे अभी प्राप्त हुआ है उसका प्रमुख कारण धन-विषय-कलत्रादि पर-पदार्थो पर आसक्ति का त्याग और ज्ञान दर्शन चारित्र के प्रति आदरभाव एव सम्यक् आचरण ही है। यद्यपि पूर्व सस्कारों के कारण यह जीव विषयादि मे प्रवृत्ति करता है तथापि उसमे सद्बुद्धि जागृत रहने के कारण वह इस प्रकार विचार करता रहता है:—'मेरे जैसे जीव को इस प्रकार का आचरण करना न युक्तिसगत है और न शोभास्पद है।' इन विचारो के फलस्वरूप उसका विषयादि पदार्थो पर आसक्तिभाव नही होता और अनासक्त होने के कारण उनके प्रति तीव्र आकर्षण या आग्रह नही होता। यही कारण है कि इस जीव को प्रशम सुख प्राप्त होता है। सद्बुद्धि ने इस प्रकार इस प्राणी को युक्ति पुरस्सर समझाया, ऐसा समझे।

[३५]

पूर्ण त्याग के प्रति सचेष्ट

कथा-प्रसंग में कहा जा चुका है:—"प्राप्त हुए प्रशान्त सुख के रस मे आनन्दित होकर ※ उस निष्पुण्यक ने सद्बुद्धि परिचारिका के सन्मुख इस प्रकार कहा —'यदि ऐसी बात है तो मै उस कुत्सित भोजन का सर्वथा त्याग ही कर देता हूँ जिससे मुझे उच्चकोटि का सुख भली प्रकार मिल सके।' निष्पुण्यक की बात सुनकर सद्बुद्धि ने उत्तर दिया —'बात तो बिल्कुल ठीक है, पर उसका त्याग सम्यक् प्रकार से समझ कर करना जिससे छोड़ने के बाद पूर्व प्रेमवश तुझे उसके लिए पहले जैसी आकुलता-व्याकुलता न हो। एक बार उसका त्याग करने के बाद फिर से उस पर

※ पृष्ठ ९५

स्नेह होने लगे, उससे तो उसका त्याग नही करना ही अच्छा है, क्योकि तुच्छ भोजन पर मोह रखने से व्याधियाँ बढ जाती है। कुभोजन थोडा खाने से और तीनो औषधियों का सेवन अधिक करने से तेरी व्याधियाँ कम हुई है और तेरे शरीर मे शाति आई है, यह भी अति दुर्लभ है। एक बार सर्वथा त्याग करने के बाद ऐसे तुच्छ भोजन की इच्छा करने वाले की व्याधियाँ महामोह के प्रताप से क्षीण नही हो सकती। इस सम्बन्ध मे सम्यक् प्रकार से विचार करने के पश्चात् यदि तेरे मन मे यह पूर्ण प्रतीति हो कि 'इसका वास्तव मे त्याग करना चाहिये' तभी उत्तम पुरुषो को सर्वथा त्याग करना चाहिये। सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर उसके मन मे जरा घबराहट हुई, इससे वह अच्छी तरह से निश्चय नही कर सका कि उसको क्या करना चाहिये।" इस जीव के सम्बन्ध मे भी ऐसी ही स्थिति बनती है।

सर्व संग-त्याग के लिए पर्यालोचन

गृहस्थावस्था मे रहते हुए जब इस जीव की सासारिक पदार्थो के प्रति लालसा समाप्त हो जाती है और ज्ञान दर्शन चारित्र के आचरण मे दृढानुराग हो जाता है तब उसे यह प्रतीत होता है कि वास्तविक सुख का स्वरूप क्या है और वह कहाँ है? यह ज्ञान होने पर उसे अविच्छिन्न रूप से प्रशम सुख (परम शाति) प्राप्त हो इसकी अभिलाषा उसके मन जागृत होती है। फलस्वरूप इस जीव के मन मे समस्त पर-पदार्थो को त्याग करने की बुद्धि होती है। उस समय वह स्वय की सद्बुद्धि के साथ गहराई से ऊहापोह करता है कि मैं सर्व सग का त्याग करने मे समर्थ हूँ या नही? सद्बुद्धि पूर्वक पर्यालोचन करने से उसे प्रतीत होता है—इस अनादि ससार मे चिरकालीन सस्कारो के कारण यह जीव विषयादि पदार्थो को अपना मानकर सहजभाव से आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करता रहता है। यदि यह जीव समस्त दोषो से निवृत्तिरूप भागवती दीक्षा ग्रहण करके भी अनादिकालीन कर्मजनित पूर्व प्रवृत्तियो का अनुसरण कर, पुन विषयादि पदार्थो के प्रति स्पृहा रखता है तो स्वय की आत्मा को विडबित करता है। इससे तो दीक्षा नही ग्रहण करना * ही अधिक श्रेयस्कर है। क्योकि, तीव्र लालसा रहित होकर, विषयादि पदार्थो का उपभोग करता हुआ गृहस्थ (श्रावक) भी मुख्य रूप से ज्ञान दर्शन चारित्र का आचरण करता हुआ द्रव्यस्तव का आश्रय लेकर कर्मरूप अजीर्ण का नाश करता जाता है और इससे रागादि भाव-रोगो को कम करता हुआ कर्मो को क्षीण करता जाता है। ऐसे भाव-रोगो की कमी भी अनादिकाल से भवभ्रमण करते हुए इस जीव को पहले कभी प्राप्त नही हुई थी, अत भावरोगो की ऐसी क्षीणता इस जीव को प्राप्त हो जाए यह भी अत्यन्त दुर्लभ बात है। यदि प्रव्रज्या (भागवती दीक्षा) ग्रहण करने के पश्चात् विषयादि पदार्थों के प्रति आकाक्षाएँ जागृत होती है तो प्रतिज्ञा-भग (प्रत्याख्यान भग) के कारण चित्त मे अत्यधिक सन्ताप होता है और रागादि भावरोगो की अत्यधिक वृद्धि होती है। फलत गृहस्थावस्था (देशविरति अवस्था) मे जो भाव-रोगो की कमी थी उतनी भी उसे प्राप्त नही होती।

चारित्र मोहनीय कर्म का उदय

जिस समय जीव स्वय की सद्‌बुद्धि के साथ ऊहापोह करता है उसी समय सर्व संग-त्याग की वृद्धि को चारित्र मोहनीय कर्म के अश उसे झकझोरते रहते है, इस कारण उसकी वृद्धि डांवाडोल हो जाती है। फलत. उसके वीर्य (पराक्रम) की हानि होती है और वह इस प्रकार के झूठे वहानो का आलम्बन लेता है। जैसे, यदि मैं दीक्षा ग्रहण कर लूं तो मेरे कुटुम्ब का क्या होगा ? मेरे मुखड़े को ※ देखकर जीने वाले ये मेरे विरह मे कितना दु ख प्राप्त करेगे ? क्या विना अवसर ही इनका त्याग कर दूँ ? अभी तक यह लडका जवान भी नही हुआ है, लडकी अभी तक कुंवारी ही है, मेरी वहिन का पति परदेश गया हुआ है, अथवा मेरी वहिन विधवा है अत. इसका पालन भी मुझे ही करना चाहिये, मेरा यह भाई अभी घर का भार सभालने मे शक्तिमान नही है, मेरे माता-पिता दोनो ही वृद्ध है. जर्जरित हो रहे है और उन दोनो का मेरे ऊपर अत्यधिक स्नेह है, मेरे ऊपर प्रगाढ प्रेम रखने वाली पत्नी अभी गर्भवती है और वह मेरे विरह मे जीवित भी नही रह सकती। अत: अस्त-व्यस्त स्थिति वाले इस कुटुम्ब का मै परित्याग कैसे करूं ? अथवा मेरे पास विपुल धन-भडार है, बहुत लोग मेरे कर्जदार है, मेरा विशाल परिवार और मेरे भाई लोग मेरा अच्छी तरह से आदर सत्कार करते है, इनका पालन-पोषण करना मेरा कर्त्तव्य है। अत: कर्जदारों से ऋण (धन) वसूल कर उसे परिवार और बन्धुजनो में वाटकर, कुछ धन धर्म कार्य मे लगाकर, गृहस्थ धर्म के समस्त कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात् माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं स्वेच्छा से दीक्षा ग्रहण करूंगा। अतएव असमय मे ही दीक्षा ग्रहण करने के विचारों से क्या लाभ है ?

कातर प्राणी के बहाने

पुन: दीक्षा ग्रहण करना और उसका पालन करना अपने भुजवल से स्वयम्भूरमण समुद्र को तिरने के समान है, गंगा के वेगवान प्रवल प्रवाह के सामने तिरने के सदृश है, लोहे के चने चवाने के समान है, लोहे के मोदक खाने के समान है, छिद्रो से भरपूर कम्वल मे सूक्ष्म पवन भरने के समान है, मेरु पर्वत को अपने मस्तक से भेदन करने के समान है, डाभ के अग्रभाग से समुद्र का माप लेने के समान है, तैलपूर्ण पात्र को लेकर सौ योजन तक दौड़ते हुए भी एक भी तैलविन्दु न गिरने देने के समान है, दाये और वायें घूमते हुए आठ चक्रो के छेद मे जाने वाले वाण के के द्वारा अष्टचक्र के ऊपर रही हुई पुतली की दाई आँख भेदन के समान है अर्थात् राधावेध-साधन के तुल्य है, पैर कहाँ पड रहे हैं ध्यान मे रखे विना ही तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है। क्योकि, यहाँ (दीक्षा के पश्चात्) परीषह सहन करने पडते हैं, देवादि उपसर्गो का सामना करना पडता है, समस्त पापयोगो से

※ पृष्ठ ९६

निवृत्ति लेनी पडती है, यावज्जीवन मेरुगिरि के भार के समान शील का बोझ उठाना पडता है, स्वय को सर्वदा मधुकरीवृत्ति (गौचरी) से जीवन यापन करना पडता है, विकृष्ट तपस्या से देह को तपाना पडता है, सयम को आत्मभाव मे लाना पडता है, राग-द्वेषादि का समूल नाश करना पडता है, अन्तर मे स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार के प्रसार को रोकना पडता है। अधिक क्या कहूँ ? प्रमाद-रहित चित्त से मोहरूपी महावैताल का नाश करना पडता है।

मेरा शरीर तो कोमल शय्या और स्वादिष्ट भोजन से पालित-पोषित है और मेरे मन के सस्कार भी वैसे ही है। ऐसी दशा मे दीक्षा रूप महानतम बोझ को उठाने का मेरे मे तनिक भी सामर्थ्य नही है। साथ ही यह बात भी सोचने की है कि जब तक सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक द्वन्द्वो से मुक्त होकर दीक्षा ग्रहण न की जाए तब तक पूर्णतया शान्ति-साम्राज्य को प्राप्त कराने वाले और समस्त क्लेशो से छुडाने वाले * मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। ऐसी अवस्था मे मुझे तो समझ ही नही पडती कि अब मैं क्या करूँ ? 'स्वय को क्या करना चाहिये' इस सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे अक्षम होने के कारण सदेह रूपी हिडोले पर चढा हुआ यह प्राणी कितना ही समय अपने ऊहापोह मे ही बिता देता है।

[३६]

द्रमुक का शुभ संकल्प

तत्पश्चात् मूल कथा-प्रसग मे जो बात कही गई है उसका निष्कर्ष यह है —"एक दिन उसने महाकल्याणक भोजन भरपेट खाने के बाद लीलामात्र से (हँसते हुए) थोडा सा कुभोजन भी खा लिया। उस समय अच्छा भोजन खाने से तृप्त हो गया था और सद्बुद्धि के पास होने से सुन्दर भोजन के गुण उसके चित्त पर अधिक असर करने लगे थे, जिससे वह विचार करने लगा —'अहो ! मेरा यह तुच्छ भोजन अत्यन्त खराब, लज्जाजनक, मैल से भरा, घृणोत्पादक, खराब रस वाला, निन्दनीय और सर्व दोषो का भाजन है।' इन विचारो के फलस्वरूप उसको अपने तुच्छ भोजन पर घृणा उत्पन्न हुई और इससे उसने अपने मन मे निश्चय किया कि 'चाहे जैसे भी हो मुझे इस कुत्सित भोजन का त्याग करना ही चाहिये।' ऐसा दृढ सकल्प करके उसने सद्बुद्धि को आदेश दिया—'मेरे भिक्षापात्र मे पडा हुआ कुभोजन फेक दो और इस भिक्षापात्र को धोकर साफ कर दो।' यह सुनकर सद्बुद्धि ने कहा—'इस विषय मे तुम्हे धर्मबोधकर से परामर्श लेकर ही इसका त्याग करना चाहिये।' अनन्तर निष्पुण्यक सद्बुद्धि के साथ धर्मबोधकर के पास गया और अपनी मन स्थिति से उनको अवगत कराया। धर्मबोधकर ने उसे समझाया, उसके विचारो का परखा और इस सम्बन्ध मे उसके दृढ़ निश्चयात्मक विचार जानकर निष्पुण्यक के

---

* पृष्ठ ९७

पास से कुत्सित भोजन का त्याग करवा दिया और पवित्र जल से उस पात्र को स्वच्छ करवाकर, उस पात्र को परमान्न भोजन से भर दिया। जिस दिन यह कार्य सम्पन्न हुआ उस दिन राजमन्दिर मे महोत्सव मनाया गया और लोगो की जिह्वा पर आज तक जिसका नाम निष्पुण्यक था उसको आज से सब लोग सपुण्यक के नाम से पहचानने लगे।" इसी प्रकार की बाते गृहस्थावस्था में विद्यमान और दोलायमान (डाँवाडोल) बुद्धि वाले इस जीव के साथ भी कई बार घटती है। जैसे :—

विशेष शुद्ध अनुष्ठान

जब यह जीव प्रशम सुख के रस के आस्वादन का अनुभव कर लेता है तब सासारिक प्रपंचों से विरक्त चित्त वाला होकर भी किसी प्रकार का आश्रय लेकर वह गृहस्थ जीवन में रहता है। वह सर्वत्याग किये बिना ही विशिष्टतर तप और नियमो को धारण कर प्रगति करता रहता है। निष्पुण्यक द्वारा परमान्न का अधिक उपभोग करने के समान ही इस उपनय को समझे। उक्त अवस्था मे प्रवृत्ति करने वाला यह जीव अर्थोपार्जन और काम का सेवन करते हुए भी इन कार्यो के प्रति आदर (अनुराग) भाव नही रखता; इसे लीलामात्र से खराब भोजन खाने के तुल्य समझें।

वैराग्य के प्रसंग

गृहस्थावस्था मे रहते हुए यदि कदाचित् भार्या विपरीत आचरण करती हो, पुत्र दुर्विनीत हो, पुत्री शिष्टाचार का उल्लंघन कर जाए, भगिनी भ्रष्ट आचरण करे, स्वकीय द्रव्य को धर्म कार्यो मे व्यय करने पर भाइयों को अरुचिकर प्रतीत हो, माता-पिता दूसरो के सन्मुख आक्रोश व्यक्त करे या शिकायत करे कि यह तो घर-बार की ओर ध्यान भी नहीं देता है, बन्धुवर्ग दुराचारी हो, भृत्यगण आज्ञा का पालन न करते हो, स्वदेह का विविध भाँति से लालन-पालन करने पर भी यह शरीर कृतघ्न मनुष्य की तरह रोगादिक विकारो का प्रदर्शन करे और धन का भडार बिजली के झबकारे के समान असमय (अल्प समय) में ही नष्ट हो जाता हो, उस समय चारित्र रूप परमान्न का भक्षण कर तृप्त हो जाने से इस जीव को यह प्रतीति होती है कि कुभोजन के समान ही ये समस्त पदार्थ नश्वर हैं; तब सपूर्ण ससार के विस्तार का यथावस्थित स्वरूप उसके मन मे प्रतिभासित होता है। संसार स्वरूप का आभास हो जाने से इस जीव का मन संसार से विरक्त हो जाता है और उसके मन मे सवेग उत्पन्न होता है। सवेग-पूर्ण मन होने से यह जीव विचार करता है—'अरे! मुझे परमार्थ का ज्ञान होने पर भी मैं स्वकीय जीवन के हितकारी कार्यो को छोडकर * अभी तक भी गृही-जीवन मे रह रहा हूँ! अर्थात् चारित्र ग्रहण नही करता! स्वजन-सम्बन्धी और धन-विषयादि का फल तो इस प्रकार का है! अर्थात् विपरीत

---

* पृष्ठ ६८

कारी है। तथापि, इन पर पर्यालोचन (ऊहापोह) न करने के कारण ही मेरा इनके प्रति स्नेह और मोह दूर नही हो रहा है। यह निश्चित है कि अज्ञान लीला के कारण ही मैं इनके प्रति लुब्ध होकर विरक्तिपथ की ओर नही बढ पा रहा हूँ। इनकी अनर्थ-परम्परा को देखता हुआ भी व्यामूढ हृदय होकर मैं किसके लिए आत्म-वचना करूँ ? अतएव अच्छा यही है कि अन्तरग और बहिरग सग-समूह जो कचरे अथवा सेवाल के समान है और जो कोशेटा (रेशम का कीडा) के समान स्वय को अपने तन्तुओ से जकड लेता है, का सर्वथा परित्याग कर दूँ।

मन की दृढ़ता

यद्यपि यह जीव ज्यो-ज्यो सर्वत्याग का विचार करता है त्यो-त्यो विषय आदि रस से स्निग्ध चित्त को यह त्याग सर्वथा दुष्कर प्रतीत होता है तथापि वह निश्चय करता है कि मुझे तो सर्वसग का त्याग कर ही देना चाहिये, भविष्य मे जो होना होगा, हो जाएगा। अरे ! भविष्य मे होना भी क्या है ? इन समस्त असुन्दर पदार्थो का परित्याग करने पर भविष्य मे मेरा बुरा भी क्या होगा ? अरे ! इसका त्याग करने पर तो जो आज तक कभी प्राप्त नही हुआ ऐसा अनुपम आनन्दोल्लास मन को प्राप्त होगा। जब तक यह जीव कीचड़ मे फसे हुए हाथी के समान परिग्रह रूपी कीचड मे फंसा हुआ रहता है तब तक ही उसे समस्त पदार्थो का त्याग करना दुष्कर प्रतीत होता है, किन्तु जब वह विषयरूपी दलदल से बाहर निकल आता है तब इस जीव मे विवेक दृष्टि जागृत होने से वह धन-विषयादि पदार्थो की ओर दृष्टिपात भी नही करता। 'ऐसा कौन मूर्ख होगा जो विशाल साम्राज्य का अधिपति होने के बाद पुन अपनी पूर्वावस्था चाण्डालपन की अभिलाषा करेगा ?' ऐसा विचार करते हुए यह जीव दृढ निश्चय करता है कि सर्वसग का परित्याग कर देना चाहिये। इनका त्याग करने से किसी प्रकार की हानि नही होने वाली है।

निष्पुण्यक : सपुण्यक

तदनन्तर यह जीव पुन सद्बुद्धि के साथ पर्यालोचन कर निश्चय करता है कि इस सम्बन्ध मे मुझे सद्धर्माचार्य से पूछना चाहिये। निश्चयानन्तर वह जीव धर्माचार्य के पास आकर विनय पूर्वक स्वय के विचार निवेदन करता है। धर्मगुरु जीव के विचारो को ध्यान पूर्वक सुनते है। पश्चात् धर्माचार्य कहते है—'भद्र ! बहुत अच्छा, तेरे अध्यवसाय (विचार) बहुत ही उत्तम है, किन्तु तुझे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि इस प्रशस्त मार्ग पर महापुरुष चलकर आगे बढे है फिर भी यह मार्ग कायर प्राणियो के लिए भयोत्पादक है। तू इस मार्ग पर चलना चाहता है तो तू दृढ धैर्य का आलम्बन अवश्य लेना। जो प्राणी धैर्य रहित और विकल चित्त वाले होते है वे इस मार्ग पर चलकर दूसरे किनारे तक नही पहुँच सकते। फलत इस मार्ग पर कदम रखने से पूर्व तू पूरी तरह सोच समझकर दृढ निश्चय कर लेना।' इस प्रकार

गुरु महाराज ने जो विचार उसे बतलाये उन्हे निष्पुण्यक की परीक्षा कर दृढ करने के तुल्य समझे। धर्माचार्य की बात सुनकर यह जीव उनके वचनो को भावपूर्वक स्वीकार करता है। तदनन्तर सद्धर्माचार्य इसकी योग्यता का भलीभांति परीक्षण कर, अपने साथ मे रहे हुए गीतार्थ श्रमणो के साथ विचार-विमर्श कर, पात्र समझ कर जीव को प्रव्रज्या (दीक्षा) प्रदान करते है। यहाँ समस्त सम्बन्धो का त्याग पूर्वोक्त निष्पुण्यक के कुभोजन त्याग के समान समझे। इस भव मे इस जीव ने जो भी पाप किये है उन का क्षालन करने के लिए धर्माचार्य उसे प्रायश्चित्त प्रदान कर उसके मानव जीवन को शुद्ध करते है। इसे यहाँ निष्पुण्यक के भिक्षापात्र को पवित्र जल से स्वच्छ करने के समान समझे। भिक्षापात्र को ही जीवितव्य (मनुष्य भाव) समझे। चारित्र (दीक्षा) प्रदान करना इसे यहाँ स्वच्छ किये हुए भिक्षापात्र को सुन्दर और स्वादिष्ट परमान्न से भर देने के समान समझे।

जब सद्धर्माचार्य के उपदेश से जीव दीक्षा ग्रहण करता है तब भव्य प्राणियो के चित्त को आह्लादित करने के लिए ॐ सघ पूजा, चैत्य पूजा आदि सन्मार्ग की प्रवृत्ति के कारणभूत महोत्सव किये जाते है। 'इस प्राणी को हमने ससार रूपी अटवी से पार कर दिया' इन विचारो से धर्माचार्य का मन भी सतुष्ट होता है। इन कारणो से इस प्राणी पर धर्माचार्य की दया (कृपा) भी बढ़ती जाती है तथा इस दया के प्रभाव से उसकी सद्बुद्धि भी अत्यधिक निर्मल होती जाती है। ऐसे प्रशस्य अनुष्ठानो को देखकर लोग भी प्रशंसा करते है और सर्वज्ञ-शासन की उन्नति भी होती है। इन सब बातो को मूलकथा के निम्नांकित श्लोक के समान समझे।

> धर्मबोधकरो हृष्टस्तद्दया प्रमदोद्धुरा।
> सद्बुद्धिर्वर्द्धितानन्दा मुदित राजमन्दिरम् ॥४१७॥

अर्थात् यह देखकर धर्मबोधकर भी प्रसन्न हुए, तद्दया भी हर्ष से पागल हो गई, सद्बुद्धि के आनन्द की सीमा नही रही और सम्पूर्ण राजमन्दिर के लोग हर्ष-विभोर हो गए।

इस जीव को चारित्ररूपी मेरु पर्वत के विपुल भार को धारण करते देखकर भक्तिरस के निर्झर से परिपूर्ण मानस और रोमाचित शरीर वाले भव्य लोग उसकी प्रशसा करने लगे अहो! इसको धन्य है। यह वास्तव मे कृतार्थ हो गया है। इसने अपना मनुष्य जन्म सार्थक कर दिया है। इसकी समस्त सत्प्रवृत्तियो को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सर्वज्ञदेव ने इस पर कृपापूर्ण दृष्टि की है। इस पर सद्धर्मोपदेशक धर्माचार्य की अनुकम्पा (दया) हुई है। इसी कारण से इसमे सद्बुद्धि जागृत हुई है, सद्बुद्धि के कारण ही बाह्य (धन दि पदार्थ) और अन्तरग (क्रोधादि कषाय) संग का त्याग किया है, ज्ञानत्रयी को अगीकार किया है और राग-द्वेषादि

ॐ पृष्ठ ९९

विकारजन्य भावो का निर्दलन किया है। सच है कि महान् पुण्यशाली प्राणी ही इस प्रकार का कार्य कर सकते है। इस घटना के पश्चात् लोगो ने इस जीव का निष्पुण्यक नाम बदल कर सपुण्यक रख दिया और इसी नाम से उसे पुकारने लगे। इसका परिवर्तित सपुण्यक नाम गुणानुसार और युक्तियुक्त था।

[३७]

राजमन्दिर में सपुण्यक की स्थिति

मूल कथा-प्रसग मे वर्णित घटनाचक्र का साराश यह है कि "अब वह सपुण्यक शरीर को हानि पहुँचाने वाला अपथ्य भोजन नही करता जिससे उसके शरीर मे कोई बडी पीडा तो होती ही नही। कभी पूर्व दोष से छोटी-मोटी सहज पीडा हो भी जाती तो वह भी थोडी देर मे ठीक हो जाती। अजन, जल और परमान्न नामक तीनो श्रेष्ठ औषधियो का अनवरत सेवन करने से प्रतिक्षण उसके वल, धैर्य और स्वास्थ्य आदि मे भी वृद्धि होने लगी। उसके शरीर मे बहुत से रोग होने से वह अभी तक पूर्णतया नीरोग तो नही हुआ था फिर भी उसके शरीर मे भारी परिवर्तन हुआ हो ऐसा दिखाई दे रहा था। अभी तक जो वह भूत-प्रेत जैसा अत्यन्त वीभत्स और कुरूप लगता था और किसी को उसके सामने देखना भी अच्छा नही लगता था, वह अब सुन्दर मनुष्य का आकार धारण करने लगा था। नीरोग हो जाने से वह निरन्तर आनन्दित मन वाला बन गया था।" ये सब बाते जीव के साथ भी पूर्णतया समानता रखती है। यथा--

आत्मभाव में रमणता

घर, धन, परिवार आदि द्वन्द्वो का भावपूर्वक त्याग करने के कारण राग-द्वेषादि विकारो से उत्पन्न होने वाली पीडा अब इस जीव को नही होती थी। यदि कदाचित् पूर्वसचित कर्मो के उदय से किसी समय पीडा हो भी जाती तो वह छोटी-मोटी होती और वह अधिक समय तक नही रहती। अब यह प्राणी किसी भी प्रकार के लोक-व्यापारो की अपेक्षा रखे बिना ही अनवरत वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा लक्षण रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करते हुए अपने सम्यग् ज्ञान की वृद्धि करता है। शासन की शोभा और उत्कर्ष बढाने वाले शास्त्राभ्यास द्वारा अपने सम्यग् दर्शन को दृढ करता है। विविध प्रकार के उत्तम तप नियमादि का अनुशीलन कर अपने सम्यक् चारित्र को ❀ आत्मीभाव करता है अर्थात् उसकी जीवनचर्या चारित्रमयी बन जाती है। यहाँ इस ज्ञानत्रयी की आराधना को उक्त तीनो औषधियो का इच्छापूर्वक सेवन के सदृश समझे। इस प्रकार परिणति (विचार और आचरण) हो जाने से इस प्राणी मे बुद्धि, धैर्य, स्मृति, बल आदि

❀ पृष्ठ १००

विशिष्ट गुण प्रादुर्भूत होते है। यद्यपि अनेक पूर्वजन्मो मे सचित कर्मसमूहो के प्रभाव से अनेक रागादि भावरोग विद्यमान होने के कारण वह प्राणी अभी तक पूर्णरूप से नीरोग (स्वस्थ) नही हुआ था तथापि वह पूर्व भावरोगो की मन्दता का अनुभव करता है। फलस्वरूप इस जीव का जो आज तक अशुभ प्रवृत्तियो की ओर अनुराग था वह समाप्त हो गया और उसके स्थान पर शुभ प्रवृत्ति की ओर प्रीति बढने से उसे आनन्दोल्लास का अनुभव होने लगा।

रोगनाश

तीनो औषधियो के सेवन के प्रभाव से जैसे उस दरिद्री के चिरकालीन तुच्छता, पराक्रमहीनता, लुब्धता, शोक, मोह, भ्रम आदि विकार नष्ट हो गये और वह किंचित् उदारचित्त बन गया वैसे ही यह जीव भी ज्ञान दर्शन चारित्र की सेवना (आराधना) के प्रभाव से अनादिकालीन सस्कारो से प्राप्त तुच्छता आदि विकारभावो को नष्ट करता है, इससे इसका मानस भी किंचित् उज्ज्वल और उदार हो जाता है।

[३८]

औषधदान एवं कथोत्पत्ति-प्रसंग

पहले कथा-प्रसग मे कह चुके हैं —"एक दिन अत्यन्त प्रसन्न चित होकर उसने सद्बुद्धि से पूछा—'भद्रे ! ये तीनो सुन्दर औषधियाँ मुझे किस कर्म के योग से मिली होगी ?' सद्बुद्धि ने कहा—'भाई ! पहले जो दिया जाता है, वही वापस मिलता है, ऐसी लोक कहावत है। इससे ऐसा लगता है कि पहले कभी तूने अन्य किसी को ये वस्तुएँ दी होगी।' सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर सपुण्यक सोचने लगा—यदि किसी को देने से ही वापस मिलती हो तो मैं अनेक प्रकार से सकल कल्याण-कारी इन तीनो औषधियो का किन्ही योग्य पात्रो को प्रचुर दान दूँ, जिससे भविष्य मे अगले जन्मो मे वे मुझे अक्षय रूप मे मिलती रहे।" इसी प्रकार इस जीव के साथ भी बनता है। जैसे—

दान और प्राप्ति का सम्बन्ध

ज्ञान दर्शन चारित्र का विशिष्ट सेवन (आचरण) करने से प्रशमानन्द का अनुभव करता हुआ यह जीव सद्बुद्धि के प्रभाव से इस प्रकार विचार करता है—'समस्त प्रकार के कल्याणो की परम्परा को प्राप्त कराने वाली यह ज्ञानादि रत्नत्रयी अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी मुझे अश रूप में प्राप्त हुई है। यह पूर्वकालीन शुभ प्रवृत्तियो के बिना प्राप्त हो नही सकती, अतएव यह निश्चित है कि मैंने पूर्वजन्मो मे किसी प्रकार के श्रेष्ठ आचरण या सत्कार्य किए होगे, उसी के फलस्वरूप इस जन्म में यह ज्ञानादि रत्नत्रयी मुझे प्राप्त हुई है।' इन विचारो मे गोते लगाता हुआ वह पुनः

चिन्तन करता है—'मुझे भविष्य मे भी अविच्छिन्न रूप से यह रत्नत्रयी प्राप्त होती रहे इसका मुझे उपाय करना चाहिये ।' विचार करते हुए उसे यह प्रतीत होता है कि पूर्वभवो मे मैंने किसी को दान दिया होगा उसी के फलस्वरूप मुझे यहाँ रत्नत्रयी प्राप्त हुई है । ऐसा अनुभव करता हुआ वह पुन. चिन्तन करता है कि तब फिर मुझे इस ज्ञानादि रत्नत्रयी का योग्य अधिकारियो (सत्पात्रो) को दान करते रहना चाहिये जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो और भविष्य मे मुझे यह रत्नत्रयी अनवरत रूप से प्राप्त होती रहे ।

[३९]

पहले कथा मे कहा जा चुका है .—"उसके मन के विचार को सुस्थित महाराज ने सातवी मजिल मे बैठे-बैठे ही जान लिया । धर्मबोधकर को वह अतिशय प्रिय लगा, तद्दया ने उसे बधाई दी, सब लोगो ने उसकी प्रशसा की और सद्बुद्धि का तो वह अत्यन्त प्रिय हो गया । इस स्थिति को जानकर उसे स्वय को लगने लगा कि 'मैं पुण्यवान् हूँ, अत लोगो मे उत्तम स्थान को प्राप्त हुआ हूँ । अब कोई भी मेरे पास आकर ये तीनो औषधियाँ माँगेगा तो मै अवश्य दूँगा ।' ऐसे विचार से वह प्रतिदिन इच्छापूर्वक किसी आगन्तुक की प्रतीक्षा करता रहता था । अत्यन्त निर्गुणी प्राणी की भी जब महात्मा प्रशसा करते है तब वह इस अधम दरिद्री की तरह अभिमानी हो जाता है । वहाँ राजमन्दिर मे रहने वाले सभी व्यक्ति* नित्य तीनो औषधियो का सेवन करते थे, उनके सेवन के प्रभाव से वे चिन्तारहित होकर परम ऐश्वर्यशाली हो गए थे । निष्पुण्यक जैसे कुछ व्यक्ति जिन्होने थोडे समय पहले ही राजभवन मे प्रवेश किया था, वे तीनो औषधियाँ अन्य लोगो से अच्छी मात्रा मे अच्छी तरह से प्राप्त कर लेते थे । इस प्रकार राजभवन मे कोई भी उसके पास औषधि लेने नही आता था और वह औषध-इच्छुक व्यक्ति की राह मे आँखे बिछाये बैठा रहता था ।" इस जीव के साथ भी इसी प्रकार बनता है, देखिये—

मिथ्याभिमान का फल

अन्य प्राणियो को रत्नत्रयी औषध का दान देने की इच्छा करने वाला जीव सोचता है—'भगवान् ने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है, सद्धर्माचार्य की दृष्टि मे मेरा मान है अर्थात् मै उनका मानीता हूँ, आचार्यदेव की दया मुझ पर अनुग्रह करने के लिए सर्वदा तत्पर रहती है, आशिक रूप मे मेरी सद्बुद्धि का विकास हो गया है और सब लोग मेरी श्लाघा करते है, अतएव सपुण्यक अर्थात् अधिक पुण्योदय के कारण मै जनसमूह मे बहुत श्रेष्ठ हो गया हूँ ।' उक्त विचारो से ग्रस्त होकर वह मिथ्याभिमान धारण करता है । अत्यन्त निर्गुणी प्राणी की भी जब महात्मा गण प्रशसा कर देते है तब वह अपने मन मे घमण्ड करने लगता है । उसका

* पृष्ठ १०१

यह दरिद्री जीव प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि ऐसा न हो तो यह जीव अपने समस्त प्रकार के जघन्य कृत्यो को भूलकर ऐसा झूठा अभिमान क्यो करे ? ऐसा मिथ्याभिमान हो जाने पर यह जीव विचार करता है—'जब कोई ज्ञान दर्शन चारित्र का इच्छुक प्राणी विनय पूर्वक मुझ से पूछेगा तब मैं उसके सन्मुख रत्नत्रयी के स्वरूप का प्रतिपादन करूँगा, अन्यथा नही।' इस प्रकार के अहकारात्मक विचारो मे फसा हुआ जीव मौनीन्द्रशासन (जिनशासन) मे बहुत समय तक रहता है किन्तु उसकी इच्छानुसार विनय सहित कोई भी प्राणी उससे प्रश्न करने के लिए उसके पास नही आता है; क्योकि जैनेन्द्र-शासन में निवास करने वाले जीव स्वत ही उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन चारित्र के विशेष रूप से धारक होते है, फलत: वे बाहरी उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते। कितने ही प्राणी तुरन्त में ही स्वकीय कर्म-विवर (मार्ग) प्राप्त होने से इस शासन मे प्रविष्ट हुए है और जिनकी मनोवृत्ति सन्मार्ग की ओर अभिमुख है तथा जो अभी तक विशिष्ट ज्ञान से रहित हैं वे भी इस घमण्डी जीव की ओर दृष्टिपात भी नही करते; क्योकि भगवत् शासन मे और भी अनेक महाबुद्धिशाली, सद्बोध प्रदान करने मे अत्यन्त पटु गीतार्थ पुरुष होते है। ऐसे गीतार्थो के पास जाकर राजमन्दिर मे तत्काल प्रविष्ट प्राणी इच्छानुसार किसी प्रकार के क्लेश के बिना ही सहजता से ज्ञानादि की अभिवृद्धि करते है। फलत. यह जीव ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाला कोई प्राणी न मिलने पर भी गर्व के कारण स्वय को उच्चकोटि का मानता हुआ अपना बहुत सा समय व्यर्थ मे ही बिता देता है किन्तु स्व-अर्थ का किसी भी प्रकार से पोषण नही कर पाता।

[४०]

हास्यास्पद स्थिति और सद्बुद्धि द्वारा समाधान

आगे का वृत्तान्त मूल कथा-प्रसंग मे विस्तृत रूप से दिया जा चुका है जिसका सारांश निम्न है :—"औषधेच्छुक कोई भी व्यक्ति प्राप्त न होने पर एक दिन सपुण्यक ने सद्बुद्धि से इसका उपाय पूछा। सद्बुद्धि ने कहा—'भद्र ! तुम्हे बाहर निकल कर घोषणा करनी चाहिये उससे जिसको आवश्यकता होगी वह लेने आएगा, उसको देना।' सद्बुद्धि के परामर्श से वह राजकुल मे उच्च स्वर मे पुकारने लगा—'भाइयों ! मेरे पास तीन महागुणकारी औषधियाँ है, जिनको आवश्यकता हो, आकर मुझसे ले जाएँ।' इस प्रकार बोलते हुए वह घर-घर घूमने लगा। उसकी घोषणा सुनकर कितने ही इसके जैसे ही तुच्छ प्रकृति के प्राणी थे वे कभी-कभी उससे थोड़ी सी औषधि ले लेते थे। कई तुच्छ प्राणी उसको पहचान कर उसकी हँसी उड़ाते और कितने ही उसे पागल समझकर उसका तिरस्कार करते। ऐसी स्थिति देखकर सपुण्यक ने सद्बुद्धि को सारी स्थिति से परिचित कराया।* सपुण्यक

* पृष्ठ १०२

की बात सुनकर सद्‌बुद्धि ने कहा—'भद्र ! पहले की तेरी दरिद्रता को देखकर ये मूर्ख लोग तेरा अनादर करते है और तेरे हाथ से दी हुई औषधियाँ ग्रहण नही करना चाहते । यदि तेरी यही अभिलाषा है कि सभी प्राणी तुझ से औषधि ग्रहण करें तो इसका एक ही उपाय मेरे ध्यान मे आता है, वह यह है कि राजमार्ग में जहाँ लोगो का अधिक आवागमन होता है वहाँ एक विशाल काष्ठपात्र मे तीनो औषधियाँ रखकर, अपने मन मे विश्वास रखकर तू दूर बैठ जा। इसको कौन ग्रहण करेगा, इसकी चिन्ता तू क्यो करता है ? जिन्हे भी आवश्यकता होगी वे वहाँ किसी को न देखकर चुपचाप अपने आप ही औषधि ग्रहण कर लेगे । तुझे इससे क्या कि किसने ग्रहण की ? उनमे से यदि कोई एक भी सच्चा पुण्यवान और गुणवान प्राणी तेरी औषधि ले जाएगा तो तेरा मनोरथ परिपूर्ण हो जाएगा।' सपुण्यक ने सद्‌बुद्धि के कथनानुसार वैसा ही किया।" इस जीव के साथ भी इसी प्रकार घटित होता है, तुलना करिये :—

परोपकार और संकोच

इस जीव को दान देने की इच्छा होते हुए भी उसे रत्नत्रयी इच्छुक कोई योग्यपात्र न मिलने के कारण वह शान्त चित्त से सद्‌बुद्धि पूर्वक विचार करता है। विचारणा करते हुए उसे यह प्रतीत होता है कि मौन धारण कर (चुपचाप) बैठे रहने से किसी और को ज्ञान दर्शन चारित्र प्रदान किया जा सके यह तनिक भी सभव नही है । अन्य प्राणियो को रत्नत्रयी का दान देने के समान अन्य कोई परोपकार नही है, परमार्थत यही परोपकार है । इह लोक मे सन्मार्ग प्राप्त हो जाए और जन्मान्तरो मे भी अबाधित रूप से प्राप्त होता रहे ऐसी अभिलाषा वाले प्राणियो को सर्वदा परोपकार परायण होना चाहिये, क्योकि उक्त परोपकार का यह सहज गुण है कि वह पुरुष मे श्रेष्ठ गुणो के उत्कर्ष का आविर्भाव करता है। पुनश्च, यदि सम्यक् रीति से परोपकार किया जाए तो वह धीरता मे वृद्धि करता है, दीनता का हरण करता है, उदार चित्त बनाता है, स्वार्थीपन नष्ट करता है, मन को निर्मल करता है और प्रभुता को प्रकट करता है। ऐसा होने से परोपकार परायण पुरुष के वीर्य (पराक्रम) का विकास होता है अर्थात् परोपकार मे विशेष रूप से प्रवृत्ति होती है और उसके मोहनीय कर्मो का नाश होता है । फलत वह जीव जन्मान्तरो मे भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सन्मार्ग को प्राप्त करता रहता है और उस सन्मार्ग से कदापि पतित नही होता । अतएव यदि स्वय ज्ञान-दर्शनादि का ज्ञाता हो तो भी अन्य प्राणियो के सन्मुख ज्ञानादि के यथातथ्य स्वरूप का प्रकाश करने के लिये यथाशक्ति प्रवृत्ति अवश्य ही करनी चाहिये और इस सम्बन्ध मे उसे दूसरे लोगो की अभ्यर्थना या याचना की अपेक्षा नही रखनी चाहिये ।

सर्वज्ञ-शासन में सर्वविरति चारित्रधारी श्रमण के रूप मे रहता हुआ यह जीव योग्य देश और योग्य काल की अपेक्षा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण (विचरण) करते हुए देशना के माध्यम से विस्तार पूर्वक भव्य प्राणियो को ज्ञान दर्शन का मार्ग बतलाता है। इस कथन को सपुण्यक द्वारा की गई औषधिदान घोषणा के तुल्य समझे।

ज्ञानादि ग्रहणकर्ता के प्रकार

जब यह जीव ज्ञान दर्शन चारित्र के मार्ग का उपदेश देता है तब उस उपदेष्टा से हीनबुद्धि वाले (मन्दमति) प्राणी कदाचित् उस देशना से ज्ञानादि ग्रहण करते हैं, परन्तु जो व्यक्ति महामति (जड मूर्ख) होते है उनको उपदेष्टा प्राणी के पूर्वावस्था के दोषो का ध्यान होने से उसके उपदेश को हास्यास्पद समझते है। यह जीव उन प्राणियों की दृष्टि में सर्वथा तिरस्कार योग्य होने पर भी महात्मा गण उसका अनादर नही करते; क्योकि महात्माओ का हृदय विशाल होता है अर्थात् महात्माओं का यह सहज गुण होता है। इसमें इस प्राणी की कोई विशेषता या उसका अपूर्व गुण नही है।

ग्रन्थ-व्यवस्था

यह जीव पुनः विचार करता है कि अभी तक तो मेरा उपदेश पूर्णतः मन्दमति ही ग्रहण करते है, बुद्धिमान नही। मेरा ज्ञानादि सम्बन्धी उपदेश सर्वजन-ग्राह्य कैसे हो सकता है? इसके लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये।* पश्चात् स्वय की सद्बुद्धि के साथ ऊहापोह करते हुए उसे मार्ग दिखाई पड़ता है। अहो! मैं इन समस्त प्राणियों को साक्षात् मे इस प्रकार उपदेश देता हूँ किन्तु उस उपदेश को ये लोग ग्रहण करे ऐसा दिखाई नही देता (क्योकि ये लोग मेरी पूर्व जाति और योग्यता को ही सामने रखकर मुझे देखते हैं।) अतएव अब मैं ऐसा करूँ कि सर्वज्ञ-दर्शन के सारभूत ज्ञान दर्शन चारित्र का मैं जिन सब लोगो के सन्मुख प्रतिपादन करना चाहता हूँ उन लोगों के जानने योग्य (ज्ञेय-ज्ञान), श्रद्धान करने योग्य (दर्शन) और अनुष्ठान करने योग्य (चारित्र) अर्थ की एक ग्रन्थ के रूप में रचना करूँ और उस ग्रन्थ में विषय और विषयी के अभेद को स्पष्ट करूँ। ग्रन्थ में ऐसी व्यवस्था (पद्धति) अपना कर इस ग्रन्थ को मैं मौनीन्द्र-शासन के अनुयायी भव्यजनों के समक्ष खोलकर (स्वतन्त्र रूप से) रख दूँ। ऐसा करने से इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ज्ञानादि का स्वरूप सर्वजन-ग्राह्य हो सकेगा। मैं ग्रन्थ बनाता हूँ (वह यदि सब लोगों के लिए उपयोग और बोधदायक हो सके तो अत्युत्तम है।) यह ग्रन्थ सर्वजनोपयोगी न भी हो तब भी यदि समस्त प्राणियों मे से एक प्राणी भी इस ग्रन्थ का अध्ययन कर शुद्ध भाव पूर्वक परिणमित हो जाता है, सन्मार्ग पर आ जाता है तो मेरा (इस जीव का) ग्रन्थ-रचना

* पृष्ठ १०३

का परिश्रम सफल हुआ, ऐसा मै समझूंगा। यही सोचकर यथानाम और यथागुण वाली उपमिति-भव-प्रपचा कथा नामक कथा की (जिसमे ससार के प्रपच को उपमान के रूप मे दिखाया है) मैने (इस जीव ने) रचना की है। इस कथा मे प्रकृष्ट और प्राञ्जल शब्दार्थ न होने से अर्थात् उच्च कोटि की रचना न होने से इसे स्वर्ण-पात्र मे स्थापित की हुई नही कह सकते, परन्तु काष्ठपात्र मे रखने योग्य मानी जा सके ऐसी मैने सयोजना की है। इस ग्रन्थ मे मैने ज्ञान दर्शन चारित्र रूप तीनो औषधियो का मेरे साधारण शब्दो मे महत्व दिखाने का प्रयास किया है।

अभ्यर्थना

हे भव्य प्राणियों! अब मैं आप सब से अभ्यर्थना करता हूँ उसे आप सुने। उस भिखारी सपुण्यक द्वारा राजमार्ग मे रखे हुए काष्ठपात्र मे से तीनो औषधियो को ग्रहण कर जो रोगी उनका अच्छी तरह से सेवन करते है वे नीरोगता को प्राप्त करते हैं। साथ ही उस काष्ठपात्र मे रखी हुई औषधियो का ग्रहण उचित भी है, क्योंकि ऐसा करने से जैसे उस सपुण्यक (पहले का भिखारी) पर उपकार होता है और वह ऐश्वर्यशाली बन जाता है वैसे ही मेरे जैसे जीव पर जिनेश्वरदेव की कृपापूर्ण दृष्टि पडने के कारण और सद्गुरु के चरण कमलो के प्रसाद से तथा उनके प्रताप से प्रकटित सद्बुद्धि के आविर्भाव से मैंने इस कथा मे जो ज्ञान दर्शन चारित्र की रचना की है उसे जो भव्य प्राणी ग्रहण करेंगे उनके राग-द्वेषादि भाव-रोग अवश्य ही नष्ट हो जाएगे। कारण यह है कि पदार्थ का जो स्वरूप कथनीय है वह कहने वाले के गुण-दोषो की अपेक्षा रखकर स्वेच्छित साध्य की प्राप्ति मे प्रवर्तित नही होता। अर्थात् कथनीय बात यदि उत्तम, योग्य और यथास्थित है तो काफी है, उस साध्य की प्राप्ति मे उसका कथन करने वाले के साथ कोई सम्बन्ध नही होता। जैसे कोई भूख से पीडित होने के कारण अत्यन्त दुर्बल सेवक स्वामी की आज्ञा से समस्त परिवार के लिए बनाई हुई भोजन सामग्री उन लोगो के खाने के लिए परोसगारी करता है तो वह परोसा हुआ भोजन स्वामी और परिवार की भूख मिटाता है, न कि उस सेवक की भूख को। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कथनीय विषय के स्वरूप का जो यथास्थित रूप कथन करने मे आता है उसमे वक्ता के निजी दोषो का उनसे कोई सम्बन्ध नही होता। वैसे ही मैं तो स्वय ज्ञान दर्शन चारित्र की दृष्टि से अपूर्ण हूँ फिर भी, भगवान् ने आगम ग्रन्थो मे जिस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र का प्रतिपादन किया है तदनुसार ही मैने इस ग्रन्थ मे भी निवेदन (प्रतिपादन) किया है। इसको जो भव्य सत्व ग्रहण करेंगे उनकी रागादि भावरोग रूप भूख शान्त होने से वे अवश्य ही निरोगी बनेंगे, क्योकि यह उनका स्वरूप ही है।

ग्रन्थकर्त्ता का निवेदन

भगवत् सिद्धान्त मे कथित एक पद भी शुद्धभाव पूर्वक श्रवण किया जाए तो वह समस्त रागादि भावरोगो के जाल को समूल * नाश करने मे समर्थ होता

---

* पृष्ठ १०४

है और उसको स्वाधीन होकर सहजभाव से तुम सुन सकते हो। पूर्व समय के महापुरुषो द्वारा प्रणीत कथाओ तथा प्रबन्धो का विशुद्ध भाव पूर्वक श्रवण मात्र से रागादि व्याधियाँ सम्यक् रीत्या नष्ट हो जाएँ यह भी सम्भव है। उसी प्रकार इस उपाय से ससार समुद्र को तैरने के इच्छुक सब सज्जन पुरुष मेरे ऊपर कृपारस से परिपूर्ण अनुग्रह कर, मेरे द्वारा रचित यह कथा-प्रबन्ध भी सुनने योग्य समझकर सुनेगे ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

उपसंहार

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे जो निष्पुण्यक का दृष्टान्त दिया गया है उसके प्रत्येक पद का उपनय यहाँ विस्तार के साथ दिया गया है। कदाचित् बीच-बीच मे यदि किसी पद का उपनय नही दिया गया हो या रह गया हो तो आगे-पीछे के प्रसंग को लक्ष्य मे रखकर स्वकीय बुद्धि से योजना कर लें। जो सकेत समझ गये हो उनको उपमान बताने के बाद उपमेय को समझना कठिन नही होता। अर्थात् कथा के भीतरी सकेत (आशय) को जो समझ गए हो उनके लिए उपमान का कथन करने पर उसके आधार से उपमेय (रहस्यार्थ, तात्पर्यार्थ) को समझने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती; वे स्वतः ही समझ जाते है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उपमान रूप मे कथा की रचना की गई है। अब आगे जिस कथा की रचना कर रहा हूँ उसमे यथासाध्य एक भी पद का उपमेय के बिना प्रयोग नही होगा; परन्तु इस प्रसंग मे उपनय को किस पद्धति से विस्तार के साथ योजित किया जाय इस रहस्य से आप सब भलीभाति परिचित हो ही गए हैं। फलतः इस कथा के अग्रिम प्रस्तावो में आपकी सुखपूर्वक गति (प्रवृत्ति) हो सकेगी। ग्रन्थ के उपोद्घात रूप मे इससे अधिक लिखने की अब कोई आवश्यकता नही रही।

इह हि जीवमपेक्ष्य मया निज,
यदिदमुक्तमदः सकले जने।
लगति सम्भवमात्रतया त्वहो,
गदितमात्मनि चारु विचार्यताम् ॥१॥

मैंने मेरे जीव की अपेक्षा (माध्यम) से यहाँ जो कुछ कहा है वह प्रायः कर सब जीवो के साथ भी घटित होता है। जिन उपर्युक्त घटनाओ का वर्णन किया गया है, वे घटनाएँ आपके साथ घटित होती है या नही? इस पर आप अच्छी तरह से विचार करे।

निन्दात्मनः प्रवचने परमः प्रभावो,
रागादिदोषगणदौष्ट्यमनिष्टता च।
प्राक्कर्मणामतिबहुश्च भवप्रपञ्च:,
प्रख्यापित सकलमेतदिहाद्यपीठे ॥२॥

इस पीठवन्ध रूप प्रथम प्रस्ताव मे मैंने अपनी निन्दा, सर्वज्ञ-शासन का सर्वोच्च प्रभाव, राग-द्वेष आदि दोषों की दुष्टता, पूर्वकृत कर्मो की अनिष्टता और विविध प्रकार का ससार का प्रपच आदि सव का वर्णन किया है।

ससारेऽत्र निरादिके विचरता जीवेन दु खाकरे,
जैनेन्द्र मतमाप्य दुर्लभतर ज्ञानादिरत्नत्रयम्।
लव्धे तत्र विवेकिनाऽऽदरवता भाव्य सदा वर्द्धने,
तस्यैवाद्य कथानकेन भवतामित्येतदावेदितम् ।।३।।

दु ख की खान रूप इस अनादि ससार मे भ्रमरण करते हुए जीव को जैनेन्द्र शासन (धर्म) की प्राप्ति होने पर भी सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यग् चारित्र रूप रत्नत्रयी की उपलब्धि होना अत्यधिक दुष्कर है। ज्ञानादि रत्नत्रयी प्राप्त होने पर विवेकशील प्राणियो को आदर के साथ सर्वदा उसको वढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। यही बात मैंने इस कथानक के प्रथम प्रस्ताव मे आपसे निवेदन की है।

श्री सिद्धर्षि गणि रचित उपमिति-भव-प्रपंच कथा के पीठवन्ध नामक प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी अनुवाद

पूर्ण हुआ।

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

२. द्वितीय प्रस्ताव

द्वितीय प्रस्ताव

पात्र एवं स्थान सूची

स्थान	मुख्य पात्र		सामान्य पात्र	
मनुजगति नगरी	कर्मपरिणाम	मनुजगति नगरी का महाराजा	प्रियनिवेदिका	दासी
	कालपरिणति	कर्मपरिणाम की पट्टरानी	अविवेक	मन्त्री
	भव्यपुरुष-सुमति	महाराजा का पुत्र		
	अगृहीतसकेता प्रज्ञाविशाला	सखियाँ		
	सदागम	धर्माचार्य		

स्थान	मुख्य पात्र		सामान्य पात्र	
असव्यवहार नगर	अत्यन्ताबोध	महत्तम–राज्यपाल	तत्परिणति	प्रतिहारी
	तीव्रमोहोदय	बलाधिकृत–सेनापति	तन्नियोग	कर्मपरिणाम का दूत
	ससारी जीव	कथा प्रवाचक		
	लोकस्थिति	कर्मपरिणाम महाराजा की बड़ी बहिन		
	भवितव्यता	संसारी जीव की पत्नी		

एकाक्ष निवास नगर

पाँच मोहल्ले

(१) वनस्पति
(२) पृथ्वीकाय
(३) अप्काय
(४) तेजस्काय
(५) वायवीय

विकलाक्षनिवास नगर — उन्मार्गोपदेश — राज्यपाल

तीन मोहल्ले — माया — राज्यपाल की पत्नी

(१) द्विहृषीक
(२) त्रिकरण
(३) चतुरक्ष

पंचाक्षपशुसंस्थान नगर — उन्मार्गोपदेश — राज्यपाल — हरिण

जलचर | संमूर्च्छिम — पुण्योदय — गुप्तमित्र और बन्धु — हाथी
स्थलचर | गर्भज
खेचर

उरःपरि
भुजपरि

तिर्यग्-गति वर्णन

१. मनुजगति नगरी ❀

इस लोक मे सुमेरु के समान अनादि काल से प्रतिष्ठित, समुद्र के समान महासत्व-सेवित, कल्याण-परम्परा के समान मनोरथ पूर्ण करने वाली, तीर्थंकरो द्वारा प्रवर्तित दीक्षा के समान सत्पुरुषो को प्रमोद देने वाली, समरादित्य कथा की तरह अनेक वृत्तान्तो से भरपूर, त्रैलोक्य विजेता के समान श्लाघा प्राप्त और सुसाधुओ की क्रिया के समान पुण्यहीन प्राणियो को अति दुर्लभ ऐसी मनुजगति नामक नगरी है। यह नगरी धर्म की उत्पत्ति भूमि है, अर्थ का मन्दिर है, काम का उत्पत्ति स्थान है, मोक्ष का कारण है और पच कल्याणक आदि प्रसंगो पर होने वाले महोत्सवो का स्थान है। इस नगरी मे विचित्र प्रकार के सुवर्ण-रत्नो की दीवारो से शोभित अति मनोहर मेरु पर्वत जैसे उन्नत और विशाल देवालय हैं जिनमे अनेक देवता रहते है। इस नगरी मे अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओ का स्थान रूप होने से देवलोक को भी नीचा दिखाने वाली, क्षितिप्रतिष्ठित आदि अनेक पुरो (छोटे नगरों) से शोभित, भरत आदि नाना प्रकार के मोहल्ले और आसपास मे कुलशैल के आकार को धारण किये हुए अत्युच्च अनेक गढ (किले) हैं। इस नगर के मध्य मे लम्बी आकृति वाली, भिन्न-भिन्न विजयरूप दुकानो से शोभित, अनेक महापुरुषो की टोलियो से व्याप्त महाविदेह रूप बाजार है; जहाँ मूल्य देकर शुभ-अशुभ वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। इस नगरी के चारो ओर पर्वत के आकार को धारण करने वाला मानुषोत्तर नाम का अति उच्च गढ है। वह इतना ऊँचा है कि चन्द्र-सूर्य की गति भी रुक जाती है और परचक्रभय (शत्रु सेना के भय) से पूर्णतया मुक्त है। इस ऊँचे गढ से कुछ दूरी पर उसके चारो ओर समुद्र जैसी मोटी खाई है। इस नगरी मे विबुधो द्वारा निर्मित भद्रशालवन रूपी अनेक सुन्दर बगीचे हैं। इस नगरी मे नाना प्रकार के प्राणियो रूपी जल को प्रवाहित करने के लिये अनेक नदियाँ रूपी चौडी-चौडी गलियाँ (सडके) है। इस नगर मे अनेक नदियो के सगम का आधारभूत और अनेक सडको से मिलने वाले लवणोदधि और कालोदधि समुद्ररूप दो राजमार्ग है। इन दो राजमार्गो से ❀ विभाजित जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड, अर्द्ध पुष्करद्वीप नामक तीन बड़ी बस्तियाँ है। इस नगरी मे लोगो के सुख का कारण अपने-अपने योग्य स्थान पर नियुक्त कल्पवृक्ष जैसे स्थानान्तर (छोटे-छोटे) राजागण हैं।

करोड़ो जिह्वाओ से भी इस नगरी का वर्णन करना सम्भव नही है, फिर मेरे जैसे सामान्य बुद्धि वाले की तो क्षमता ही क्या है? इस नगरी मे अनन्त

❀ पृष्ठ १०५

❀ पृष्ठ १०६

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव हुए है, होंगे और कितने ही वर्तमान में भी विद्यमान है। यह नगरी अनन्त गुणो से भरी हुई होने से इस लोक और परलोक में दुर्लभ है। सभी शास्त्रो मे इस प्रशसित नगरी का वर्णन है। ऊँचे-नीचे स्थानो मे चलकर जब प्राणी थक जाता है तब इस नगरी मे आकर परम निर्वृत्ति प्राप्त करता है। इस नगरी के लोग नम्र, बुद्धिमान्, पवित्र और भाग्यवान है, अत धर्म के अतिरिक्त कुछ भी उनके मन मे स्थान प्राप्त नही करता। इस नगरी की स्त्रियाँ अशिष्ट और निम्नस्तर के कार्यो को छोड देने के लिये सर्वदा तत्पर रहती हैं और पुण्यशाली बनकर जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित धर्म का निरन्तर सेवन करती है। इस नगरी का अधिक क्या वर्णन करूँ? सक्षेप मे कहूँ तो स्वर्ग, नरक और मृत्युलोक मे कोई ऐसी वस्तु नही, जो इस नगरी मे भली प्रकार रहने वाले प्राणियो को प्राप्त न हो। यह नगरी रत्नाकर से परिपूर्ण, विद्या की उत्तम भूमि, मन और नेत्र को आनन्द देने वाली, दु ख-समूह का नाश करने वाली, सर्व प्रकार के आश्चर्यों से भरपूर, उत्तमोत्तम विशेष वस्तुओ से परिपूर्ण, महात्मा मुनियो से व्याप्त, सुश्रावको से अलकृत, तीर्थंकरो के जन्माभिषेक से समस्त भव्य प्राणियो को सतोष देने वाली, भव्य प्राणियो के मोक्ष का कारण रूप और पापी प्राणियो के ससार को बढाने वाली है। पुण्य, पाप, जीव, अजीव आदि तत्त्व है या नही? यदि है तो कैसे आकार में हैं? क्यो है? आदि विषयो पर विशेषतया तार्किक (तर्कपूर्ण) विचार इसी नगरी मे होता है। जो अधम प्राणी इस नगरी मे आकर भी सम्यक् दर्शन आदि गुणो से नही जुडते, उन्हे लोग भाग्यहीन कहते है। इस नगरी के अतिरिक्त स्वर्ग, नरक और मर्त्य तीनो लोको मे कोई ऐसा स्थान नही है जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चारो पुरुषार्थो की सम्पूर्ण रूप से साधना की जा सकती हो।
[1-13]

२. कर्मपरिणाम और कालपरिणति

उपर्युक्त वर्णित मनुजगति नगरी मे अतुल बल पराक्रमी कर्मपरिणाम नामक महाराजा राज्य करता है। अपने पराक्रम से उसने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनो लोको पर विजय प्राप्त कर रखी है। इसकी शक्ति का प्रचण्ड तेज इतना प्रबल है कि इन्द्र भी उसे रोक नही सकता। यह राजा अपने प्रचण्ड प्रताप को सर्वत्र फैलाने की इच्छा से सब नीतिशास्त्रो का उल्लघन कर सम्पूर्ण ससार की ओर तृण के समान तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। यह राजा प्राणियो के प्रति सभी अवस्थाओ मे नितान्त निर्दय (दया रहित) है, अनुकम्पा रहित है।❋ वह जो दण्ड देता है उसकी क्रियान्विति मे किसी प्रकार की अपेक्षा का कोई स्थान

❋ पृष्ठ १०७

नहीं है। इसके विपरीत इसको हंसी-मजाक भी बहुत पसन्द है। वह स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है और लोभ आदि योद्धाओं से घिरा रहता है। वह नाट्यकला मे पूर्ण पारंगत और अत्यन्त विचक्षण है। वह अपने मन में अभिमानपूर्वक ऐसा मानता है कि उसके जैसा मल्ल (योद्धा) सकल विश्व मे दूसरा कोई नहीं है और जब किसी प्राणी को बलात् आघात पहुँचाने के लिए कमर कस लेता है तब किसी की तनिक भी अपेक्षा नही करता और अनेको प्राणियों को निर्धन बना देता है। कभी हँसी करने का मन हो तो वह सभी प्राणियों को विचित्र प्रकार से त्रस्त कर उनसे अपने सन्मुख नाटक करवाता है और उनको हो रही पीडा को देखकर स्वयं आनंदित होता है। यद्यपि ये सभी पीडित लोग इससे बहुत बड़े हैं किन्तु इसके प्रबल प्रताप को न चाहते हुए भी उन्हें वह सब कुछ करना पड़ता है, जो वह कहता है। [१-६]

किसी समय कर्मपरिणाम राजा कई लोगो को नारकी के वेष में अनेक प्रकार की वेदनाओं से दुःखी और पुकार मचाते देखकर प्रसन्नता से बारम्बार झूमता रहता है। जैसे-जैसे इन प्राणियों को महादु.खो से पीडा पाते देखता है वैसे-वैसे मन मे अति सन्तुष्ट और उल्लसित होता है। अभिमानवश कभी यह राजा, जो लोग भयभीत होकर उसकी आज्ञा मानने को सदा तत्पर रहते है उन्हे आदेश देता है, "अरे प्राणियो! इस रंगभूमि पर तुम तिर्यञ्च का आकार धारण कर ऐसा सुन्दर नाटक तुरन्त करो जिनसे मेरा मन प्रसन्न हो।" वे प्राणी कौवे, गधे, बिल्ली, चूहे, सिंह, चीता, बाघ, हिरण, हाथी, ऊँट, बैल, कबूतर, बाज, जूँ, कीड़ा, कीडा और खटमल का रूप धरकर और ऐसे अनेक प्रकार के तिर्यंच के रूप धारण कर महाराज को प्रसन्न करने के लिये विविध प्रकार के अत्यधिक हास्योत्पादक नाटक दिखाते हैं और महाराजा उन्हे नचवाता है। कई प्राणी कुबड़े मनुष्य का, कई वामन का कई गूंगे, अन्धे, बहरे, लकड़ी के सहारे चलने वाले वृद्ध, असहाय आदि विचित्र प्रकार के मनुष्य वेष धारण कर नाटक के पात्र बनकर नाटक करते हैं। कई प्राणियों से देवता का अभिनय करवाता है और वे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, शोक, उच्च देवों से भय और त्रास पा रहे हो, ऐसा दिखाते हैं। इस प्रकार वे प्राणी नये-नये वेष धारण कर भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्र बनकर नाटक दिखाते हैं जिसे देखकर कर्मपरिणाम महाराज आनन्दित होते हैं। [७-६]

स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करने वाले स्वच्छन्द महाराज पुन. नाटक देखने की अभिलाषा होने पर लोगो से कुछ अच्छे वेष धारण करवाते हैं और पात्रों के लिये फिर से भिन्न प्रकार की योजना प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यह महापराक्रमी राजा प्राणियो को अनेक प्रकार से त्रास देता रहता है, परन्तु त्रास से उन बेचारे प्राणियो की रक्षा कर सके, ऐसा कोई प्रभावशाली व्यक्ति उनको नही मिल पाता। वे महाराज तो इतने स्वतन्त्र और अपनी इच्छानुसार काम करने वाले स्वेच्छाचारी हैं कि उन्हे जो करने की इच्छा हो, वह करते हैं। उनके पास कोई प्रार्थना भी नहीं

कर सकता। यदि कोई उनके कहे अनुसार करने का निषेध करे, रोकने का प्रयत्न भी करे तो वे किसी का कहना भी नही सुनते। [१०-१२]

महाराजा अपने आनन्द के लिये जो ससार नामक नाटक करवाते है वह भी अत्यधिक विचित्र प्रकार का होता है। ये नाटक कई बार स्नेहियो के वियोग से करुण होते है और कई बार प्रेमियो के मिलन से सुन्दर (शृंगारमय) दिखाई देते है। किसी समय अनेक रोगो से भरपूर, किसी समय दरिद्र दोष से पूर्ण, किसी समय आपत्ति मे पडे हुए प्राणी समूह के दृश्य से बहुत भयकर लगते हैं। किसी समय सम्पत्ति के सयोग से अत्यन्त मनोहर लगते हैं तो कई बार उत्तम कुलोत्पन्न प्राणियों को अपने कुल की मर्यादा का त्यागकर, * अत्यन्त अधम कार्यो मे प्रवृत्त दिखाकर अत्यधिक विस्मय उत्पन्न करते हैं। उच्च कुल मे उत्पन्न किन्तु कुसग से बुरे चाल-चलन में प्रवृत्त कुलटा स्त्रियाँ अपने पर अत्यन्त प्रेम रखने वाले पति का त्यागकर, तुच्छ मनुष्यो से प्रेम करते हुये दिखाकर अत्यधिक आश्चर्य उत्पन्न करती है। कई बार अपने धर्म-शास्त्रो का उल्लघन कर उसकी मर्यादा को ताक पर रखकर काम करने वाले विषयासक्त पाखण्डियो के हँसने योग्य नृत्य से चमत्कृत करते है। ऐसी विचित्र घटनाओ से पूर्ण यह ससार नाटक होता है जिसे महाराजा बिना किसी आकुलता के लीला पूर्वक करवाते है। [१३-१८]

उस नाटक मे राग-द्वेष नामक तबले होते है, जिन्हे दुष्टाभिसन्धि नामक पुरुष बजाता है। मान, क्रोध आदि उस्ताद गवैये अति मधुर कठ से गाते हैं। महामोह नामक सूत्रधार नाटक का सचालन करता है। भोगाभिलाष नामक नन्दी और अनेक प्रकार की चेष्टाओ द्वारा आनन्द और हास्य उत्पन्न करने वाला काम नामक विदूषक होता है। कृष्ण आदि लेश्या नाम के रग उसके पात्रो को विभूषित करते हैं। योनि (यवनिका—पर्दा) मे प्रवेश करने वाले पात्रो के लिये योनि (नेपथ्य के योग्य वस्त्रो के अनुरूप वेषभूषा) की व्यवस्था करता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन सज्ञा नामक मजीरे होते हैं। लोकाकाश का उदर उस नाटक की विशाल रगभूमि है और स्कन्ध नामक पुद्गल नाटकोपयोगी सामग्री का सचय है। ऐसी सामग्री से परिपूर्ण उस नाटक मे भिन्न-भिन्न पात्रो को नये-नये रूप देकर और बारम्बार उसमे परिवर्तन कर, सभी पात्रो की अनेक प्रकार से विडम्बना करते हुए कर्मपरिणाम महाराजा बहुत ही आनन्दित होते है। अधिक क्या कहे! इस विश्व मे कोई ऐसी वस्तु नही कि जिससे ये महाराजा अपने मनोनुकूल कार्य को सिद्ध न करते हो। [१९-२६]

महादेवी कालपरिणति

तीन गण्डस्थलो से मद झरते हुए जंगली हाथी जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार सर्वत्र घूमता है और किसी के रोकने से नही रुकता, इच्छानुसार चेष्टाए करता है उसी प्रकार अपनी इच्छानुसार कार्य करने वाले कर्मपरिणाम राजा के

---

* पृष्ठ १०८

सम्पूर्ण अन्त पुर मे तिलक समान, अपने रूप, लावण्य, वर्ण, विज्ञान, विलास और नृत्य आदि गुणो से भरपूर, नियति यदृच्छा आदि अनेक रानियो मे भी प्रधानतम और अत्यधिक रमणीय कालपरिणति नामक महादेवी है। वह महादेवी ऋतुओ मे शरद जैसी, शरद् ऋतु मे कुमुदिनी जैसी, कुमुदिनी मे कमलिनी जैसी, कमलिनी मे कलहसिका जैसी और कलहसिकाओ मे राजहसिका जैसी है। महाराजा को वह कालपरिणति महारानी प्राणो से भी अधिक प्रिय है। स्वय की चित्तवृत्ति के समान वह जो कुछ करती है उसे प्रमाणभूत माना जाता है। मन्त्रिमण्डल के परामर्श के समान वह महाराजा कोई भी कार्य करने से पूर्व महारानी से परामर्श लेता है। श्रेष्ठ मित्रमण्डली के समान वह महारानी महाराजा के* विश्वास का स्थान है। अधिक क्या कहे! सक्षेप मे कहे, तो कर्मपरिणाम राजा का राज्य उस महादेवी पर ही आधारित है। वास्तव मे वह महादेवी ही राज्य चलाती है। जैसे चद्रिका से चन्द्र, रति से कामदेव, लक्ष्मी से विष्णु, पार्वती से शकर अलग नही रह सकते वैसे ही कर्मपरिणाम राजा विरह-व्यथा के भय से कभी भी महारानी कालपरिणति को अपने से पृथक् नही रखते। स्वय जहाँ जाते, जहाँ बैठते वहाँ महारानी को सर्वदा साथ ही रखते। वह महारानी भी अपने पति पर अतिशय अनुरागिनी होने के कारण कभी भी उनकी आज्ञा का उल्लघन नही करती। 'पति-पत्नी परस्पर अनुकूल हो तभी प्रेम निरन्तर बना रहता है, अन्यथा प्रेम न तो बढता है और न रहता ही है।' इस नियम के अनुसार प्रवृत्ति करने से उनका प्रेम इतना गाढ और परिपूर्णता को प्राप्त हो गया था कि उसके टूटने की शका करने का कोई कारण विद्यमान नही था।

महादेवी का कठोर शासन

कालपरिणति महारानी महाराजा की कृपा से, यौवन की मस्ती से, स्त्री-हृदय की तुच्छता से, स्त्री-स्वभाव की चचलता से और अनेक प्राणियो की विडबना के कौतूहल से वह अपने मन मे अपना प्रसार सब जगह करने मे अपने को समर्थ मानती हुई, सुषमा दु षमा आदि नाम की अपनी प्यारी सखियो से परिवेष्टित जिन्हे वह अपने अग के समान ही मानती है और समय, आवलिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सवत्सर, युग, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पुद्गलपरावर्त आदि परिवार और नौकर-चाकरो से 'मै इस लोक मे सर्वकार्य करने मे समर्थ हूँ' ऐसा गर्व अपने मन मे रखते हुए, अपने पति कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से निर्देशित ससार नामक नाटक को करवाने मे अपने पति के साथ बैठकर अभिमानपूर्वक आज्ञा देती है—इस योनि रूपी पर्दे के भीतर अभी जो पात्र तैयार होकर बैठे है वे सब मेरी आज्ञा से बाहर निकले और सब से पहले रोने का नाटक करे। उसके बाद अपनी माताओं के स्तन से दुग्धपान करे। फिर धूलि-धूसरित वदन से घुटने के बल रेगते हुए चले। डगमग चलते हुए पग-पग पर जमीन

* पृष्ठ १०६

पर गिर पडें । मल-मूत्र को अपने शरीर से लिपटाकर दुर्गन्धित करे। फिर बाल-स्वभाव को छोडकर कुमारपन धारण करे, भिन्न-भिन्न प्रकार के हाव भावादि पूर्ण खेल खेले । सब प्रकार की कलाओ मे कुशलता प्राप्त करने के लिये अभ्यास करे । फिर कुमारावस्था छोडकर युवावस्था को धारण करे। समस्त विवेकी प्राणियो मे हास्य उत्पन्न करने वाले कटाक्षो से कामदेव महागुरु के उपदेशानुसार कार्य करे और ऐसा करने मे अपने कुल-कलंक या अन्य कठिनाइयो की उपेक्षा करे। कामदेव जैसा कहे वैसा भिन्न-भिन्न प्रकार से विलास करे, नाचे और तूफानी मस्ती करे। परदारागमन जैसे अनार्य (अनुचित) कार्य करे। इस प्रकार युवावस्था पूर्ण कर मध्यम (प्रौढ) अवस्था धारण करे उसमे सात्विक प्रकृति, बुद्धि, पुरुषार्थ और पराक्रम बतावे। इस प्रकार मध्यम वय पूर्ण कर वृद्धावस्था धारण कर * जिसमे कपाल पर रेखाएँ, सफेद बाल, अग-भग, अवयवो की शिथिलता और शरीर पर लार टपकती हुई मेल आदि के लगने से शरीर की अति विचित्र अवस्था का दृश्य उपस्थित करे। विकृत और विपरीत स्वभाव का आचरण करे। इस प्रकार जीवन के अनेक स्वरूपो से पूर्ण नाटक दिखाकर अन्त मे शरीर का त्यागकर मुर्दे का अभिनय करें। उसके बाद पुन योनि के पर्दे के पीछे चले जावे। वहाँ गर्भ रूपी कीचड मे रहकर विविध दु.खो का अनुभव करे। फिर दूसरा रूप धारण कर नया नाटक दिखाने के लिये पर्दे से बाहर आवे। इसी प्रकार बार-बार पर्दे से निकले, पर्दे के पीछे चले जावे। जनमे, मरे और अनन्त बार नये-नये नाटक दिखावे।

इस प्रकार आज्ञा देने वाली कालपरिणति महारानी ससार नामक नाटक मे अभिनय करने वाले सभी पात्रो को एक क्षण भी निष्क्रिय नही बैठने देती। क्षण-क्षण मे बेचारो से नये-नये रूप धारण करवाती है। बार-बार वेष परिवर्तन मे साधनभूत नये-नये पुद्गल स्कन्ध नामक उपकरण जो अति चपल स्वभाव वाले है, उन पर भी यह महारानी अपनी सत्ता चलाती है और उन उपकरणो से भी नये-नये रूप धारण करवाती है। वे पात्र भी बेचारे सोचते है कि क्या करे! जहाँ राजा भी इस रानी के वश मे है वहाँ बचने की तो कोई सभावना ही नही। इस प्रकार मुक्त होने का कोई मार्ग न देखकर वे लाचार हो जाते हैं और महारानी जो आदेश देती है उनका पालन करते हुए, अनेक प्रकार के वेष धारण करते हुए अपनी आत्म-विडम्बना को देखते रहते हैं। यह महारानी ऐसी प्रबल है कि महाराजा की उपस्थिति मे भी स्पष्ट रूप से स्वकीय व्यवहार के द्वारा अपने प्रभाव की अधिकता को प्रदर्शित करती है। महाराजा का प्रभाव तो मात्र नाट्यशाला मे ससार नामक नाटक मे अभिनय करने वाले पात्रो से बारबार नये-नये रूप धारण करवाने मे ही चलता है (वह भी जब महारानी समयानुसार आज्ञा दे तभी), परतु इस महादेवी का प्रभाव तो नाट्य ससार से बाहर रही हुई निर्वृत्ति नगरी पर भी चलता है, क्योकि उस निर्वृत्ति नगरी मे जो लोग रहते हैं, उनको भी क्षण-क्षण मे

* पृष्ठ ११०

भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित करने की चतुराई इस महादेवी मे है । इस प्रकार अपनी सत्ता रंगभूमि से बाहर भी निष्पादित होने से अपने पति से भी अपने को बडी मानने वाली अभिमानिनी महादेवी क्या-क्या नही कर सकती ? ऐसे अविच्छिन्न चलते अत्यन्त अद्‌भुत नाटक को कराने मे और देखने मे निरन्तर प्रवृत्त महाराजा और महारानी का मन अत्यधिक प्रमुदित रहता है और वे दोनों इस नाटक को देखने में ही अपने राज्य की सफलता मानते है ।

•

३ : भव्य पुरुष सुमति का जन्म

संसार नाटक देखते हुए और नये-नये खेल करते हुए कर्मपरिणाम राजा और कालपरिणति महारानी आनन्द से समय बिता रहे थे । एक समय वे एकान्त में आनद कल्लोल करने बैठे थे तभी राजा को आनन्द मे देखकर महारानी ने कहा :—

नाथ ! भोगने योग्य सभी पदार्थो का मैंने भोग किया है और पीने योग्य सभी पेय पदार्थों का का पान किया है तथा मान करने योग्य को मान देकर बहुत अभिमानपूर्वक जीवन बिताया है । हे प्रभो ! आपके पादपद्मो की कृपा से इस संसार मे कोई भी ऐसा सुख नही बचा जिसका आस्वाद मैंने न पाया हो । मेरे सुन्दर नाथ ! आपकी कृपा से मैं समस्त प्रकार के कल्याण प्राप्त कर चुकी हूँ और देखने योग्य समस्त पदार्थों को देख चुकी हूँ, परन्तु हे देव ! अभा तक मैंने पुत्र का मुख नही देखा है, अतः आपकी कृपा से मुझे एक पुत्र प्राप्त हो जाये तो मेरा जीवन * सफल हो, अन्यथा यह जीवन निष्फल है । [१-५]

राजा—देवी ! तुमने बहुत ही अच्छी बात कही । यह बात मुझे भी रुचिकर लगती है । सभी कामो मे हम दोनो एक समान सुखी-दु खी होते है अत हे प्रिये ! इस विषय मे तू थोडा भी खेद मत कर; क्योकि जिस काम मे हम दोनो एकमत हो जाते हैं वह काम तत्काल सफल हो जाता है । [६-७]

रानी—प्रभो ! आपने बहुत ठीक कहा, मुझ पर बहुत कृपा की । आपके कथनानुसार पुत्र अवश्य होगा. ऐसा मुझे विश्वास है और इस विषय मे मै अभी से गांठ बाँध लेती हूँ । [८]

पति ने जो वचन कहे, उन्हे सुनकर महादेवी की आँख मे हर्ष से आँसू आ गये । पति के वचन पर पूर्ण विश्वास होने से उसे अतिशय सतोष हुआ ।

उसके बाद एक दिन वह कमल के समान नेत्रो वाली महादेवी अपने शयन कक्ष मे सो रही थी तभी रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उसने एक स्वप्न देखा कि 'सर्वांगसुन्दर एक पुरुष ने उसके मुख से होकर पेट मे प्रवेश किया, फिर वह उदर से बाहर निकला और उसे उसका कोई मित्र ले गया ।' स्वप्न देखने से महादेवी की आँख खुल गई । इस स्वप्न से उसे कुछ आनन्द और कुछ

---

* पृष्ठ १११

खेद हुआ। फिर तत्क्षण अपने पति के पास जाकर, उस विचक्षण महारानी ने अपने स्वप्न दर्शन की बात कही। [१०-१२]

राजा – महादेवी! इस स्वप्न का जो फल मेरे मन में जच रहा है उसे कहता हूँ, सुनो। तुझे आनन्द देने वाला एक श्रेष्ठ पुत्र होगा पर वह अधिक समय तक तेरे घर मे नही रहेगा। किसी धर्माचार्य के वचन से बोध प्राप्त कर अपने लक्ष्य को सिद्ध करेगा। [१३-१४]

रानी—मेरे पुत्र होगा, बस इतना ही मेरे लिए बहुत है। मुझे तो इसी से पूर्णानन्द प्राप्त होगा। पश्चात् वह अपनी इच्छानुसार चाहे कुछ भी करे। [१५]

उसी रात को कालपरिणति रानी को गर्भ रहा। वह हर्ष पूर्वक गर्भ क पालन करने लगी। जब गर्भ तीन मास का हुआ तब रानी को दोहद हुआ कि "मैं विश्व के समस्त प्राणियो को अभयदान दूँ, याचको को धन दूँ और जो अपढ, अज्ञानी है उन्हे ज्ञान दूँ, ये सभी वस्तुए जिसे जितनी चाहिये उतनी दूँ।" ऐसी-ऐसी जो-जो इच्छाएँ उसे होती गई वे सब उसने महाराजा को बतादी और महाराजा की आज्ञा से उसकी सभी इच्छाएँ पूरी होने लगी। इस प्रकार गर्भ-वहन करते हुए, गर्भकाल पूर्ण होने पर शुभ दिन शुभ मूहूर्त मे महादेवी ने समग्र लक्षणो से युक्त एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। [१६-१९]

जन्मोत्सव

प्रियनिवेदिका नामक दासी ने तत्काल जाकर राजा को सहर्ष पुत्र जन्म की बधाई दी। पुत्र जन्म का सवाद सुनकर महाराजा को वर्णनातीत अत्यधिक आह्लाद का अनुभव हुआ और राजा ने दासी को आशा से अधिक पुरस्कार देकर प्रसन्न किया। राजा को उस समय जो अपूर्व आनन्द हुआ वह उसके रोमाचित-पुलकित होने से प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था। आनन्द से ओत-प्रोत राजा ने अपने राज्य-मन्त्रियो को आदेश दिया, "मन्त्रियो! महारानी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है, अत इस प्रसग मे ॐ घोषणापूर्वक अच्छे-बुरे, योग्य-अयोग्य का विचार किये बिना सभी प्राणियो को मनोवाछित दान दो। गुरुओ का आदर-सत्कार करो। स्वजन-सम्बन्धियो का सन्मान करो। मित्रो को समग्र प्रकार से सन्तुष्ट करो। कैदियो को बन्दीगृह से मुक्त करो। आनन्द के बाजे बजाओ। इच्छानुसार प्रगल्भ हर्ष से नाचो, कूदो, खाओ, पीओ, स्त्रियो के सग क्रीडा करो। कर लेना बन्द करो। दण्ड माफ करो। भयभीत लोगो को धीरज बन्धाओ। सर्व प्राणी स्वस्थ चित्त होकर सुख पूर्वक रहे और किसी भी प्रकार के अपराध की गध भी मत आने दो।"

ॐ पृष्ठ ११२

'आपकी जैसी आज्ञा' कहकर मन्त्रियों ने महाराज को नमस्कार किया और उनकी आज्ञाओ को तुरन्त क्रियान्वित किया। सर्व प्राणियो को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला वह जन्म-दिन-महोत्सव आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ।

नामकरण

तत्पश्चात् योग्य समय पर कर्मपरिणाम महाराजा ने विचार किया कि जब इस पुत्र का महादेवी की कुक्षि में प्रवेश हुआ था तब देवी को स्वप्न आया था कि एक सर्वांगसुन्दर पुरुष ने उसके मुख द्वारा शरीर मे प्रवेश किया है, अतः इस पुत्र का नाम भी इस घटना के अनुरूप रखना चाहिये। ऐसा विचार कर महाराजा ने अपने पुत्र का नाम भव्यपुरुष रखा। महारानी को जब यह वात ज्ञात हुई तब उसने महाराजा से प्रार्थना की, 'हे देव ! यदि आप स्वीकृति प्रदान करें तो मैं भी पुत्र का एक दूसरा नाम रखना चाहती हूँ।' राजा ने कहा, 'ऐसी मगलमयी वात में कभी मतभेद हो सकता है ? इसमे क्या आपत्ति है ? तू ने मन में जो कुछ भी नाम निश्चित किया हो उसे प्रसन्नता पूर्वक कह।' तब महादेवी ने कहा, 'यह पुत्र जब गर्भ में था तब मुझे वहुत से अच्छे-अच्छे श्रेष्ठ कार्य करने की वुद्धि होती थी इसलिये मैं इसका दूसरा नाम सुमति रखना चाहती हूँ।' राजा ने कहा, 'देवी ! यह तो दूध मे शक्कर डालने जैसा हुआ; क्योंकि तुम्हारी निपुणता से उस भव्य-पुरुष का सुमति जैसा नाम अधिक सुन्दर रहेगा।' इस प्रकार कहकर, सुमति नाम से सन्तुष्ट होकर राजा ने हर्षपूर्वक नामकरण महोत्सव वड़ी धूम-धाम से मनाया।

※

४. अगृहीतसंकेता और प्रज्ञाविशाला

सउ मनुजगति नगरी में अगृहीतसंकेता नामक एक व्राह्मणी रहती थी। लोगों के मुख से यह सुनकर कि राजकुमार का जन्म-महोत्सव चल रहा है और उसका नामकरण हो गया है, उसने अपनी सखी से कहा—प्रिय सखि प्रज्ञाविशाला ! लोगों में जो नयी आश्चर्योत्पादक वात चल रही है क्या वह तूने सुनी है ? लोग कह रहे हैं कि कालपरिणति महारानी ने भव्यपुरुष नामक पुत्र को जन्म दिया है।

प्रज्ञाविशाला—प्रिय वहिन ! इसमे आश्चर्य की क्या वात है !

अगृहीतसकेता—मैंने पहले सुना था कि यह कर्मपरिणाम महाराजा अपने स्वरूप से ही निर्बीज (पुत्रोत्पादक शक्तिहीन) है और कालपरिणति राणी वन्ध्या (वांझ) है। फिर भी उनके पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह सचमुच ही महान् आश्चर्य की वात है।

राजा और रानी की जननशक्ति

प्रज्ञाविशाला—अरे भोली ! तेरा अगृहीतसंकेता नाम ठीक ही है, क्योंकि तू अपने नाम के अनुसार विषय के भीतर रही हुई वात को भली प्रकार नही समझ

सकी । यह राजा तो अत्यधिक वीज वाला है (पुत्रोत्पादक शक्ति इसमे साधारण लोगो से अनन्त गुणा अधिक है), पर कही लोग उसे दृष्टि (नजर) न लगादे इसलिये अविवेक आदि उसके मन्त्रियो ने यह बात फैला रखी है कि वह निर्बीज है।* महारानी भी अनन्त पुत्र-पुत्रियो को जन्म देने की सामर्थ्य रखने वाली है, पर दुर्जनो की उसे नजर न लग जाये इसीलिये मत्रियो ने उसे भी दुनिया मे वध्या बताया है। सुन—इस ससार मे जितने भी पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न होते है उन सब मे परम-वीर्य रूप से इन राजा-रानी का हाथ होने से परमार्थ से तो ये ही उन सब के वास्तविक माता-पिता है। फिर ये राजा-रानी जब नाटक देखते है तब इनका माहात्म्य कितना अधिक हो जाता है, क्या तूने वह देखा-सुना नही ? यह महाराजा अपनी इच्छानुसार सब पात्रो को मनुष्य, नारकी, तिर्यंच, देवरूप ससार के अन्तर्गत अनेक लाख योनियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप धारण करवा कर नाटक करवाते है। महाराजा जिन प्राणियो को भिन्न-भिन्न रूप धारण करवाते है उन सब को यह महारानी गर्भावस्था, बालकपन, कुमारपन, यौवन, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, मृत्यु और फिर पुनः अन्यत्र गर्भप्रवेश, वहाँ से निकलकर फिर गर्भप्रवेश आदि स्थितियो मे अनन्त बार परिवर्तन करवाती है।

अगृहीतसकेता—प्रिय सखि ! जो बात तू कह रही है वह तो मैने सुन रखी है, पर मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मपरिणाम महाराजा सर्व पात्रो को भिन्न-भिन्न रूप धारण कराने मे शक्तिमान है और कालपरिणति महारानी उनकी अवस्थाओ मे बार-बार फेर बदल कर सकती है, इससे क्या यह कहा जा सकता है कि वे लोगो के माता-पिता है ?

प्रज्ञाविशाला—प्रिय सखि ! तू तो बिल्कुल भोली है। गाय जैसा जानवर भी आधी बात कहने से पूरी बात समझ लेता है, पर तू तो इस स्पष्ट बात को भी नही समझ सकती। सुन, यदि वास्तविक दृष्टि से विचार करे तो यह ससार एक नाटक है, अतः उस नाटक को जो उत्पन्न करने वाले है वे परमार्थतः सब के माँ-बाप गिने जा सकते हैं, समझी ?

अगृहीतसकेता—प्रिय बहिन ! यदि वे सम्पूर्ण ससार के माँ-बाप है, फिर भी दुर्जन प्राणियो की उन पर नजर न लगे, इस भय से अविवेक आदि मत्रियो ने दुनिया मे राजा को निर्बीज और रानी को वध्या प्रसिद्ध किया है, तब फिर भव्यपुरुष का जन्मोत्सव वे इतने भव्य रूप से क्यो मना रहे है, इसका क्या कारण है ?

सदागम का स्वरूप

प्रज्ञाविशाला—इस भव्यपुरुष को राजा-रानी के पुत्र रूप मे प्रसिद्ध करने का क्या कारण है ? सुन—इस नगरी मे एक शुद्ध सत्यवादी सदागम

---

* पृष्ठ ११३

नामक महापुरुष है। वह सर्व प्राणियों का हित करने वाला है, सकल भावो और स्वभावों को अच्छी तरह जानने वाला है। राजा और रानी की गुप्त से गुप्त वातो का रहस्य, उसके स्थान और उनके मर्मों को वह विशेष रूप से जानता है। (उस महात्मा सदागम से मेरी अच्छी पहचान है, मैं कभी-कभी उनसे मिलती रहती हूँ)। एक समय की घटना है कि एक वार मैं उनके पास गई तो उन्हे विशेष आनन्द मे देखा। अतः उनसे मैंने आग्रहपूर्वक हर्ष का कारण पूछा। उत्तर में उन्होने कहा, 'भद्रे ! तुझे इतना कुतूहल है तो तू मेरे हर्ष का कारण सुन। इस कालपरिणति रानी ने एक वार एकान्त में महाराजा से कहा कि, 'राजन् ! मैं स्वय वन्ध्या नही हूँ। फिर भी लोग मुझे वन्ध्या कहते है, इस झूठे आरोप से अव मैं दुःखी हो गई हूँ। यद्यपि मेरे अनन्त पुत्र हैं, फिर भी मुझ पर दुर्जन प्राणियो की, दृष्टि न लग जाय इस भय से अविवेक आदि मत्रियों ने मुझे वन्ध्या प्रसिद्ध किया, जिससे लोगो मे ऐसी वातें हो रही हैं; जैसे, मेरे अपने वालक भी * दूसरो के वालक हों। यह तो ऐसी वात हो गई कि जूँओ से वचने के लिये कपड़े का ही त्याग कर दिया जाय। मेरे ऊपर वन्ध्यापन का जो झूठा आरोप लगाया गया है उसे अव आपको किसी भी प्रकार दूर करना चाहिये और मेरे सिर पर लगे इस कलक के टीके को मिटाना चाहिये।' राजा ने कहा, 'देवि ! मुझे भी मत्रियो ने निर्वोज प्रसिद्ध किया है, इसलिये अपने दोनो के सिर पर कलक का टीका एक समान है। तू थोड़ा धैर्य रख। दुनिया में अपना जो अपयश हुआ, उसको दूर करने का उपाय अव मुझे मिल गया है।' ऐसा उपाय क्या है ? रानी के द्वारा पूछने पर राजा ने कहा, 'देवि ! प्रधान आदि के अभिप्राय की परवाह न करके इस मनुजगति नगरी नामक महाराजधानी मे तेरे उदर से एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ है, ऐसा प्रसिद्ध करेंगे और उस पुत्र का जन्मोत्सव धूमधाम से मनायेंगे। इस प्रकार करने से चिरकाल से मेरे ऊपर निर्वीजपन का और तेरे ऊपर वाझपन का जो अपयश एवं कलक लगा हुआ है वह दूर हो जाएगा।' राजा के वचन सुनकर रानी ने उन वचनों को सहर्ष स्वीकार किया। पश्चात् उन्होने अपने विचारो को कार्यरूप में परिणित किया। प्रज्ञाविशाला ! इस भव्यपुरुष का जो जन्म हुआ है, वह मुझे वहुत प्रिय है। महाराजा और महारानी के इस पुत्र-जन्म से मैं अपनी आत्मा को सफल मानता हूँ और इससे मुझे हर्ष हुआ है।'

सदागम से ऐसा सुनकर मैंने उनसे कहा—आपके हर्ष का कारण वहुत अच्छा है। इस कारण से इस प्रकार भव्यपुरुष को महाराजा और महारानी के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध किया गया है, अव तेरी समझ में यह वात आ गई होगी।

अगृहीतसंकेता—अच्छा वहिन अच्छा, वहुत ठीक कहा। तुम्हारी वात से मेरा सदेह दूर हो गया। मैं जव यहाँ आ रही थी तव वाजार मे जो वातचीत

---

* पृष्ठ ११४

चल रही थी उस से लगता है कि राजा-रानी पर अब तक जो निर्वीर्य और वाझपन का कलक लगा हुआ था, वह दूर हो गया है ।

प्रज्ञाविशाला—प्रिय सखि ! वाजार मे तुमने क्या मुना ?

भव्यपुरुष के भावी गुणों का वर्णन

अगृहीतसकेता—वाजार मे वहुत से मनुष्यो के बीच मैंने एक अग्रगण्य अतिसुन्दर आकृति वाले पुरुष को देखा । इस सुन्दर पुरुष को नगर के जिज्ञासु लोग विनयपूर्वक पूछ रहे थे—भगवन् ! आज जिस राजपुत्र का जन्म हुआ है वह कैसे गुणो को धारण करने वाला होगा ?

उत्तर मे भद्रपुरुष ने कहा—भद्रजनो ! सुनो, यह बालक कालक्रम से वढता-बढता सर्व गुण-सम्पन्न बनेगा । इसमे इतने अधिक गुण होगे कि उन सब गुणो का तो वर्णन भी नही किया जा सकता और यदि मैं वर्णन करने भी लगूँ तो उन सव गुणो को तुम याद नही रख सकते, तथापि इसके गुणो का सक्षेप मे वर्णन करता हूँ । सुनो, यह बालक रूप का उदाहरण, यौवन का भण्डार, लावण्य का मन्दिर, प्रश्रय का दृष्टान्त, औदार्य का निकेतन, विनय का भण्डार, गम्भीरता का सदन, विज्ञान का स्थान, दाक्षिण्य की खान, चातुर्य का उत्पति स्थान, स्थिरता की परिसीमा, धीरता का प्रत्यादेश, लज्जाशील, किसी भी विषय को झट से समझने की शक्ति का उदाहरण और धृति, स्मरणशक्ति, श्रद्धा तथा जिज्ञासा रूपी सुन्दरियो का पति होगा । अनेक भवो मे उसने अच्छे कर्म करने का अभ्यास कर रखा है इससे वह अतिशय प्रगतिशील होने से वालकपन मे भी केलिप्रिय नही बनेगा ।* वह लोगो पर वात्सल्यभाव दिखाएगा, गुरुजनो के प्रति विनम्रता का आचरण करेगा, धर्मानुरागी होगा, विषय-भोगो मे अलोलुप होगा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन अन्तरग शत्रुओ का विजेता बनेगा और सब के चित्त को अत्यन्त आनन्द देने वाला बनेगा ।

इन सब बातों को सुन कर लोगो ने भय और हर्ष मिश्रित दृष्टि से चारों तरफ देखकर कहा—महाराज और महारानी की प्रकृति अतिविषम (क्रूर) होने से वे हम सब को अनेक प्रकार के निरन्तर दु:ख देते रहते हैं । पर, यह एक काम तो उन्होने बहुत ही अच्छा किया जो सब देश-देशान्तरों मे प्रसिद्ध मनुजगति नगरी मे भव्यपुरुष सुमति को जन्म दिया । ऐसे सुन्दर बालक को जन्म देकर उन्होने अपने समस्त दुश्चरित्रों को धो दिया और अपने पर लगे निर्बीज एव बाझपन के कलक को भी मिटा दिया ।

हे बहिन ! यह सब वृत्तान्त मैंने बहुत ध्यानपूर्वक सुना था तभी से मेरे मन में यह शका उठ रही थी कि राजा-रानी तो बाझ है फिर उनके यहाँ पुत्र का

---

* पृष्ठ ११५

जन्म कैसे हुआ ? यह पुरुष कौन है जो सर्वज्ञ के समान इस भव्यपुरुष के भविष्य का कथन करता है ? उसी समय मैंने अपने मन मे निश्चय किया था कि मैं अपनी अतिप्रिय सखी के पास जाकर दोनों शकाओ का समाधान करूगी, क्योंकि इन सब वातों मे वह बहुत चतुर है। मेरे मन मे जो दो शकाए उत्पन्न हुई थी उनमे से पहली तो तुमने दूर करदो, अब मेरी दूसरी शका को भी दूर कर।

❀

५. सदागम का परिचय

सदागम का परिचय प्राप्त करने की अगृहीतसकेता की उत्सुकता जानकर प्रज्ञाविशाला ने अपनी सखी को इस महापुरुष का परिचय इस प्रकार दिया :—

प्रिय सखि ! कार्यकलापों के आधार से मैं उन्हे जानती हूँ कि वह मेरा परिचित परमपुरुष सदागम ही होगा। उसी को तूने उक्त बाते करते हुए देखा है ऐसा मुझे लगता है, क्योंकि वह भूत, भविष्य और वर्तमान के सब भावो को हाथ मे रखे हुए आवले की तरह जानता है और उन भावों का प्रतिपादन करने मे वह अत्यन्त पटु है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष नही हो सकता। सदागम के अतिरिक्त इस मनुजगति नगरी मे चार और महापुरुष अभिनिवोध, अवधि, मनपर्यव और केवल नामक रहते है। यद्यपि वे सदागम जैसे ही है पर किसी के सामने उन भावों का प्रतिपादन करने की शक्ति उनमें नही है। वे चारों ही अपने स्वरूप से गूंगे हैं। इन चारो महापुरुषों के माहात्म्य और स्वरूप का वर्णन भी भगवान् सदागम ही लोगों के सामने करते हैं; क्योंकि वह सत्पुरुषो की चेष्टाओ का अवलम्बन करने वाला है और दूसरों के गुणो को प्रकाशित करने का सदागम (श्रुतज्ञानी) का स्वभाव ही है।

अगृहीतसंकेता—सखि ! सदागम को यह राजपुत्र अत्यन्त प्रिय है तथा इस बालक के जन्म से सदागम अपनी आत्मा को सफल मानता है, इसका क्या कारण है ?

प्रज्ञाविशाला—यह सदागम महापुरुष है। परोपकार-परायण होने से वह अन्य प्राणियों का उपकार करने में सतत प्रयत्नशील रहता है, इसलिये ऐसा ही आचरण करता है जिससे सर्व प्राणियों का हित हो। केवल पापिष्ठ प्राणी ही उसके वचन का अनुसरण नही करते। महात्मा सदागम के माहात्म्य (ज्ञान-वैभव और परोपकारी स्वभाव) को ये पापी प्राणी नही समझते। यही कारण है कि महात्मा सदागम सर्वदा हितकारी उपदेश देते हैं फिर भी उनमें से कई लोग इनको ही दोष देते है।❀ कितने ही उन्हें धिक्कारते हैं, मजाक उड़ाते हैं। कितने ही यह तो स्वीकार करते है कि इनका उपदेश ग्रहण करने

❀ पृष्ठ ११६

योग्य है, पर उसके अनुसार आचरण करने मे वे अपने को अशक्त पाते है। कितने ही तो उनके वचन मे डरकर दूर से ही भाग खडे होते है। कितने ही उन्हे ठग समझकर शकालु बनते है और बहुत से प्राणी तो उसके वचन को मूल मे ही नही समझते। कितने ही उनका वचन सुनते है पर उसमे रुचि नही रखते। कुछ प्राणियो की उनके वचनो पर रुचि तो होती है किन्तु उसके अनुसार आचरण नही कर पाते और कुछ उन पर आचरण करना शुरु करके फिर शिथिल पड जाते है। इस प्रकार सदागम को परोपकार करने की बहुत इच्छा होते हुए भी उनकी धारणा के अनुसार फल प्राप्त नही होता। प्राणियो मे ऐसी अपात्रता होने के कारण सदागम को निरन्तर अत्यधिक खेद होता रहता है। कुपात्र प्राणी को उपदेश देने का बहुत प्रयत्न किया जाय और वह निष्फल हो जाये तो सद्गुरु के चित्त मे खेद का हेतु बनता है। यह राजपुत्र भव्यपुरुष है, अतः उन्हे लगता है कि यह सुपात्र होगा। कोई प्राणी भव्य हो पर वह दुर्मति हो तो वह सुपात्र नही हो सकता। किन्तु, यह राजपुत्र तो भव्यपुरुष और सुमति (सद्बुद्धि) भी है इसलिये सुपात्र है और इसी कारण वह सदागम को अत्यन्त वल्लभ लगता है।

सदागम के आनन्द का कारण

सदागम अन्तःकरण से यह मानता है कि इस बालक के पिता कर्मपरिणाम महाराजा होने से इसके कर्म-परिणाम (कर्मफल) सुन्दरतम होगे तथा इसकी माता काल-परिणति होने से इसका काल अनुकूल होकर व्यतीत होगा। उनको लगता है कि राजपुत्र का बालभाव दूर होने पर, स्वभाव की सुन्दरता से, कल्याण-परम्परा सन्निकट होने से और उसके जैसे पुरुष को मेरे दर्शन करने से प्रसन्नता होने पर जब वह मेरे पास आयेगा तो उसको इस बात का वितर्क (बोध) होगा कि जिस नगर मे सदागम जैसा परमपुरुष रहता है, वह मनुजगति नगरी बहुत सुन्दर है। मेरे मे कुछ योग्यता होगी ही तभी तो इस महापुरुष से मेरा समागम हुआ है। अब इस श्रेष्ठ पुरुष की विनयपूर्वक आराधना कर इनकी कृपा से ज्ञान का अभ्यास करूगा। ऐसे-ऐसे विचार वह बालक करेगा और बालक के विचारो से प्रभावित होकर उसके माता-पिता अनुकूल होने से वे पुत्र को मुझे समर्पित कर देगे अर्थात् यह सुमति मेरा शिष्य बनेगा और मैं अपना ज्ञान इस बालक को देकर कृतकृत्य हो जाऊगा। इस दृष्टि से भव्यपुरुष सुमति के जन्म को सदागम अपनी आत्मा की सफलता मानता है और इस प्रसग मे अपने मन मे सन्तोष होने से वह राजपुत्र के गुणो का लोगो के सन्मुख वर्णन करता है।

सदागम का माहात्म्य

अगृहीतसकेता—सखि! इस सदागम का ऐसा क्या माहात्म्य है कि पापिष्ठ प्राणी उसे नही समझ सकते और इसीलिये उनके कहने के अनुसार वे आचरण नही कर सकते?

प्रज्ञाविशाला—प्यारी सखि ! ध्यानपूर्वक सुन । कर्मपरिणाम महाराज की शक्ति को किसी भी स्थान पर रोका नही जा सकता अर्थात् वह अप्रतिहत शक्तिशाली है । यह महाराजा ससार-नाटक करवाते हुए निरंतर अपनी इच्छानुसार धनवान को भिखारी,* भाग्यशाली को भाग्यहीन, रूपवान को कुरूप, पण्डित को मूर्ख, शूरवीर को कायर, अहकारी (अभिमानी) को दीन, तिर्यच को नारकी, नारकी को मनुष्य, मनुष्य को देव और देव को पशु वना देता है। वह वड़े-वड़े राजाओ को कीड़ा (कीट), चक्रवर्ती को भिखारी और दरिद्री को ऐश्वर्यशाली वना देता है। अरे ! इसके वारे मे अधिक क्या कहे ? अपनी इच्छानुसार वड़े से वड़ा भाव परिवर्तन करते हुए उसको कोई रोक नही सकता। अतुल शक्तिशाली महाराजा भी सदागम के नाममात्र से भयभीत हो जाता है और उसकी गंध से भी दूर भाग खड़ा होता है। यह महाराजा सब लोगो को ससार नाटक में तब तक ही विडम्बित कर सकता है जब तक कि यह सदागम महापुरुष जोर से हुंकार नहीं करता । यदि ये एक बार भी गर्जना कर दे तो कर्मपरिणाम महाराजा उसके भय से भयभीत होकर, युद्ध मे जैसे कायर अपने प्राण गंवा देता है उसी प्रकार प्राणियो को छोड़कर भाग खड़ा होता है । इस प्रकार हांक लगाकर सदागम ने अभी तक अनन्त प्राणियों को कर्मपरिणाम राजा के जाल से छुड़ाया है ।

कर्मपरिणाम से मुक्त जीवों का स्थान

अगृहीतसंकेता—सदागम ने अनन्त प्राणियों को उसके जाल से छुड़ाया है ऐसा तू कहती है, तब वे प्राणी दिखाई क्यों नही देते ?

प्रज्ञाविशाला कर्मपरिणाम राजा के राज्य-शासन से वाहर एक निर्वृत्ति नामक महानगर है । सदागम की हुंकार से जिन पर कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा नहीं चलती और जो यह जान जाते है कि सदागम ने उन्हे कर्मपरिणाम के चंगुल से छुड़ा लिया है वे कर्मपरिणाम महाराज के सिर पर पॉव रखकर, उड़कर निर्वृत्तिनगर में पहुँच जाते हैं । उस नगर में पहुँचने के वाद सर्व प्रकार के उपद्रवो और त्रास से रहित होकर वे वहाँ सर्वकाल परमसुखी जीवन व्यतीत करते है । इसीलिये सदागम द्वारा छुड़ाये गये प्राणी यहाँ दिखाई नही देते ।

समस्त प्राणियों के सुखी नहीं होने का कारण

अगृहीतसंकेता—यदि ऐसा ही है तो फिर वे परमपुरुष सब लोगों को क्यों नही छुड़ाते ? यह अतिविषम प्रकृति वाला महाराजा कर्मपरिणाम तो सभी पामर जीवो को अतिशय दुःख देता है । यदि जैसा तुम कह रही हो वैसी शक्ति महापुरुष सदागम में है तब लोगों की कदर्थना को देखकर चुप रहना उन जैसे श्रेष्ठ पुरुष के लिये योग्य नही है ।

* पृष्ठ ११७

प्रज्ञाविशाला – तेरी बात ठीक है। परन्तु महापुरुष सदागम का यह स्वभाव है कि जो प्राणी उनके वचनो से विपरीत आचरण करते है, ऐसे कुपात्रो-की वे सर्वदा उपेक्षा करते है। जिन प्राणियो के प्रति सदागम उपेक्षाभाव रखते हैं वे आश्रयहीन है, ऐसा समझकर कर्मपरिणाम राजा उनकी अत्यधिक कदर्थना करते है। जो प्राणी स्वय सुपात्र बनकर महापुरुष सदागम के निर्देशानुसार कार्य करते हैं उन्हे सदागम अपनी प्रकृति का अनुसरण करने वाला समझकर कर्मपरिणाम राजा की तरफ से दी जाने वाली यत्रणाओ से पूर्णतया मुक्ति दिला देते है। जिन लोगो की भगवान् सदागम पर प्रीति-भक्ति होने पर भी उनके वचनानुसार पूर्ण रूप से अनुष्ठान (आचरण) करने मे सामर्थ्यहीन होने से उनके वचनो मे से जो अत्यधिक, अधिक, अल्प या अत्यल्प भी आचरण करते है, * या जो सदागम पर अत.करण पूर्वक भक्ति रखते है और कुछ नही तो जो केवल अन्तरात्मा से उसका नाम भी स्मरण करते है और इस महात्मा के वचनो का नाममात्र (अत्यल्प) भी अनुसरण करते है, उन पर यह महात्मा 'धन्य, कृतार्थ, पुण्यशाली, सुलब्धजन्म' आदि शब्दो से उनका पक्ष लेते है। जो प्राणी इस पूज्य महात्मा का नाम भी नही जानते पर जो स्वभाव से ही भद्र होते हैं वे अन्धे की लाठी की तरह मार्गानुगामी बन जाते है, वे अनाभोग से भी सम्यग् बोध के अभाव मे भी, नही जानते हुए भी) इस महात्मा के वचनो का अनुसरण करने वाले बनते है। यद्यपि ऐसे अनेक प्रकार के प्राणियो को कर्मपरिणाम महाराजा ससार-नाटक मे कुछ समय तक नचाते है तदपि वे सदागम को प्रिय है ऐसा जानकर उनसे नारकी, तिर्यच, असयमी मनुष्य या अधम देवता का अभिनय नही करवाते। ऐसे लोगो से अनुत्तरविमानवासी देवता, ग्रैवेयक देवता, कल्पोपपन्न देवता, पातालस्थ कल्पोपपन्न महर्द्धिक देवता, ज्योतिषी, चक्रवर्ती या महामाण्डलिक आदि का प्रधान पुरुष के रूप मे अभिनय करवाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अभिनय की स्थितियो मे उनसे नाटक करवाता है परन्तु उनसे निम्न कोटि के पुरुषो का अभिनय कभी नही करवाता। इतना प्रचण्ड शक्तिशाली कर्मपरिणाम महाराजा भी पूज्य सदागम के भय से कापता रहता है। यह एक ही बात सदागम के माहात्म्य को समझने के लिये पर्याप्त है।

सदागम का स्वरूप

हे मृगाक्षि ! यदि तुझे अभी भी कौतुक हो कि सदागम महात्मा का कैसा स्वरूप है ? तो मैं वह सुनाती हूँ, तू सुन—परमार्थ से देखे तो यह महात्मा तीनो जगत् का स्वामी है। वस्तुत सब पर स्नेह रखने वाला, ससार का शरणस्थल, सब का बन्धु, विपत्ति के अन्धकूप मे पडे हुए प्राणियो का आश्रयदाता और ससार अटवी मे भटकते हुओ को सन्मार्ग बताने वाला भी यही है। समस्त व्याधियो की सच्ची औषधि देने वाला महान् वैद्य और सर्व व्याधियो का अन्त करने वाली महान् औषधि भी यही है। समग्र वस्तुओ का प्रकाशक होने से जगद्दीपक, प्रमाद-राक्षस के

* पृष्ठ ११८

पंजे से तत्काल छुडाने वाला, अविरति रूप कचरा और लील को धोने वाला, मन वचन काया के दुष्ट योगो से छुटकारा दिलवाने वाला और शब्दादि पाँच चोरो द्वारा प्राणी के धर्मधन को लूटने पर उनके चंगुल से छुडाने वाला भी यही पूज्य पुरुष है, अन्य कोई समर्थ नही है। महाघोर नरक के दु खों से रक्षण करने वाला, पशुत्व (तिर्यंच गति) के दु खो से रक्षण करने वाला तुच्छ मनुष्यता के अनेक दु:खो का विच्छेदक, अधम असुरपन के मानसिक सतापो का नाशक, अज्ञान-वृक्ष का * उच्छेद करने में कुठार के समान महानिद्रा को भगाने वाला, प्राणियो का प्रतिबोधक, स्वाभाविक आनन्द का सच्चा कारण, और सुख-दु ख रूप अनुभव की मिथ्या बुद्धि का विनाशक भी यही महापुरुष है। प्रबल क्रोधरूपी अग्नि का शमन करने में जल के समान, मानरूपी महापर्वत को चूर्ण करने में वज्र के समान, मायारूपी विशाल बाघिन का नाश करने मे शरभ के समान और महालोभरूप महासागर का शोषण करने मे वडवानल के समान भी यही है। हास्यविकार को प्रगाढ़ता के साथ शमन करने मे सक्षम, मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली रति का नाशक, पीडा तथा भय से ग्रस्त प्राणियों के लिए अमृत समान और भ्रान्त एवं भयाकुल प्राणियों के सरक्षण मे समर्थ भी यही है। शोक से हिम्मत हारने वालों प्राणियों को आश्वासन देने वाला, जुगुप्सा आदि विकारो को पूर्णरूप से शमन करने वाला, कामरूप पिशाच को दृढता के साथ उच्चाटन करने में पटु और मिथ्यात्व रूप अन्धकार को ध्वस्त करने मे प्रचण्ड सूर्य के समान भी यही है। चार प्रकार के जीवित (आयु) का उच्छेदन करने वाला भी यही महापुरुष है, क्योकि प्राणियो का जहाँ जन्म-मरण न हो ऐसे शिवलोक मे ले जाने वाला भी यही है। शुभ-अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियो से होने वाली लोक विडम्बना को यह महात्मा अशरीरी स्थान प्राप्त करवाकर काट फेकता है। अपने भक्तो को अक्षय, अव्यय सर्वोत्तमता प्राप्त करवाकर, ऊँच-नीच गोत्र से होने वाली विडम्बना का उच्छेद करता है। दान, महावीर्य, योग आदि शक्तिपु ज प्राप्ति का कारणभूत भी यही सदागम है। जो अधम और भाग्यहीन पुरुष महापापी होते है और जिन्हे इन महापुरुष के नाम के प्रति सन्मान नही होता, ऐसे प्राणियो को निरन्तर कर्मपरिणाम महाराजा उपर्युक्त अनेक प्रकार से विडवित करता है और उनसे संसार नाटक करवाता है। जिनका थोड़े समय मे कल्याण होने वाला होता है ऐसे पुण्यशाली उत्तम पुरुष बहुत आदरपूर्वक सदागम का निर्देश मानते है और सम्मानपूर्वक उसकी आज्ञानुसार आचरण करते हैं। फलतः वे अनेक प्रकार की कदर्थना करने वाले कर्मपरिणाम महाराजा की थोडी भी परवाह नही करते और उसका अपमान कर. संसार-नाटक से मुक्त होकर, निर्वृ त्ति नगर में पहुँच कर वहाँ आनन्द पूर्वक रहते हैं। कदाचित् वे कर्मपरिणाम महाराजा के प्रदेश में रह भी जाएं तब भी किसी प्रकार की चिंता किए बिना वे सदागम की कृपा से कर्मपरिणाम

* पृष्ठ ११९

महाराजा को तृण तुल्य गिनते है। इस विषय मे अधिक क्या कहूँ ! इस दुनिया मे या अन्यत्र ऐसी कोई सुन्दर वस्तु (पदार्थ) नही है जो कि सदागम के भक्त को प्राप्त नही हो सकती हो। हे सखि ! इस प्रकार मैने तेरे समक्ष परमपुरुष सदागम का लेशमात्र सक्षिप्त परिचय दिया है। विशेष रूप से उनके सब * गुणो का वर्णन करने मे तो कोई समर्थ नही हो सकता। [१-२८]

सदागम के पास जाने की विज्ञप्ति

प्रज्ञाविशाला द्वारा वर्णित सदागम के परिचय को सुनकर अगृहीत-सकेता को बहुत आश्चर्य हुआ। मन मे शँकाएँ उठने से वह विचार करने लगी कि मेरी इस सखी ने जैसे गुणो का वर्णन किया है वैसे गुण यदि उसमे वास्तव मे हो तो उसके जैसा दूसरा कोई प्राणी विश्व मे नही है। अत: मैं स्वय उसे देखकर निश्चय करूँ कि वह इस प्रकार के गुणो का धारक है या नही ? दूसरे के कहने से, अथवा सुनी हुई बात से सदेह दूर नहीं हो सकता। [२६-३१]

इस प्रकार विचार कर अगृहीतसकेता ने प्रज्ञाविशाला से कहा मुझे अभी तक तो पूर्ण विश्वास था कि मेरी सखी सत्यवादिनी है पर अभी तूने जिस प्रकार से सदागम के गुणो का वर्णन किया है वह तो मुझे असभव सा लगता है और तू मेरी दृष्टि मे अनर्गलभाषिणी प्रतीत होती है। मै मन मे यह भी सोचती हूँ कि सम्भव है तेरा उससे विशेप परिचय है, जिससे उसके प्रति अपने अनुराग को लेकर तूने उसके बारे में इतना अधिक कहा है। अन्यथा क्या कर्मपरिणाम महाराजा कभी किसी से डर सकते है ? क्या एक प्राणी मे इतने सारे गुण एक साथ कभी हो सकते है ? यद्यपि मुझे इतना तो विश्वास है कि मेरी प्यारी सखी कभी मुझे धोखा नही देगी तदपि सदेह पर आरूढ मेरा मन हिचकोले खा रहा है। इसलिये तुझे तेरे आत्म-परिचित परमपुरुष सदागम के दर्शन मुझे विशेष रूप से कराने की आवश्यकता है।

प्रज्ञाविशाला—तेरा यह विचार मुझे भी बहुत पसद आया। महापुरुष सदागम का तुझे भी दर्शन करना चाहिये और इसके लिए तुझे उनके पास जाना चाहिये। तदनन्तर वे दोनो सखियाँ सदागम के पास जाने के लिये चल पडी।

*

६. संसारी जीव तस्कर

महाविदेह क्षेत्र में सदागम

बडे-बडे विजय रूप अनेक दुकानो की पक्तियो से शोभायमान और अनेक महापुरुषो से खचाखच भरा हुआ वहाँ महाविदेह रूप बाजार था। दोनो बहिने उस बाजार मे गई, वहाँ उन्होने अनेक प्रधान पुरुषो से परिवेष्टित भूत, भविष्य और वर्तमान के सर्वभावो का वर्णन करते हुए भगवान् सदागम को देखा। दोनो

* पृष्ठ १२०

सखियां उनके पास गई और उन्हे नमस्कार कर, उनके चरणकमलो के समीप बैठ गई। उनकी आकृति को देखने मात्र से और उनके सामने बहुमान पूर्वक बार-बार देखने से अगृहीतसकेता का सशय दूर हो गया और उसके चित्त मे आनन्द की वृद्धि हुई। उसके चित्त मे इस महापुरुष के प्रति विश्वास उत्पन्न हुआ और वह अन्त करण पूर्वक मानने लगी कि उनके दर्शन से उसकी आत्मा कृतार्थ हुई है। फिर उसने प्रज्ञाविशाला को लक्ष्य करके कहा—

अहो महाभाग्यशालिनि ! तू धन्य है। तेरा जीवन बहुत श्रेष्ठ है कि तुझे ऐसे महात्मा पुरुष का परिचय प्राप्त हुआ। मैं भाग्यहीन होने के कारण ही समस्त पापो को धो डालने वाले ऐसे महाभाग्यवान पुरुष के दर्शन से आज तक वचित रही। भाग्यहीन प्राणी इन भगवान् सदागम को प्राप्त नही कर सकते; क्योकि लक्षणहीन मनुष्यो को चितामणि रत्न नही मिल सकता। हे मृगलोचना ! इन महाभाग्यशाली सदागम का दर्शन आज मैंने तेरी कृपा से किया है जिससे मेरे सर्व पाप धुल गये है और मैं पवित्र हो गई हूँ। हे कमलपत्राक्षि ! तूने इन महात्मा के जिन गुणो का वर्णन मेरे समक्ष किया था, ❀ वे सब इनमे हैं, यह तो इनके दर्शन मात्र से मेरे मन मे निश्चय हो गया है। इन महापुरुष का विशेष गुण-गौरव तो मैं अभी जानती नही तब भी मुझे यह तो लग रहा है कि इनके जैसा अन्य कोई पुरुष इस विश्व मे नही है। इनमे इतने सारे गुण एक साथ होगे ? ऐसा संशय तो मुझे हुआ था, पर वह अभी इनके दर्शन से एकदम नष्ट हो गया है। तू बडी छिपी रुस्तम है और मेरे प्रति सच्ची सद्भावना तेरे मे नही है, इसीलिये तूने इन पुरुषोत्तम का मुझे कभी दर्शन नही कराया। पर बहिन ! अब से तो मैं प्रतिदिन तेरे साथ आकर इन महात्मा पुरुष के दर्शन और इनकी उपासना किया करू गी। हे सुन्दरांगि ! तू तो यहाँ बहुत बार आई हुई है, अत इनमे कैसे-कैसे गुण हैं, इनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इनका आचार कैसा है, इनकी अत-करण पूर्वक आराधना किस प्रकार की जा सकती है, आदि सब बातें तू तो जानती है परन्तु हे मितभाषिणी ! यह सब तुम्हे मुझे भी बताना पडेगा. जिससे कि मैं भी इन परम-पुरुष की आराधना करके तेरे जैसी बन सकू। [१-१४]

प्रज्ञाविशाला—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, प्यारी सखि ! यदि तू इस प्रकार करेगी तो मेरा परिश्रम सफल हो जाएगा। हे सुलोचना ! तेरे विशेष ज्ञान और वचन-कौशल को धन्य है। तेरी कृतज्ञता प्रकट करने की वृत्ति भी प्रशस्य है। इस सदागम का ज्ञान तुझे न होने से तू इनको नही पहचानती थी पर अब सचमुच तू इस विषय में योग्य हो गई लगती है। इस प्रकार यदि तू प्रतिदिन मेरे साथ विचार करेगी तो यद्यपि अभी तो तू परमार्थ को नही जानती, पर धीरे-धीरे तू परमार्थ तत्त्व की पूर्णरूपेण ज्ञाता बन जायेगी। इस प्रकार बातचीत करते हुए उन दोनो सखियो को बहुत आनन्द मिला। फिर उन्होने सदागम महात्मा को

❀ पृष्ठ १२१

नमस्कार किया। उस दिन तो वे अपने-अपने स्थान पर चली गई, परन्तु उसके पश्चात् वे दोनो सखियाँ प्रतिदिन सदागम के पास आने लगी और उन महात्मा की सेवा-भक्ति करने लगी जिससे उनके दिन आनन्द लीला पूर्वक व्यतीत होने लगे। [१५-२०]

राजपुत्र सम्बन्धी निर्णय

बुद्धिमान महात्मा सदागम ने एक बार विशाल दृष्टि वाली प्रज्ञाविशाला को उद्देश्य कर कहा—सर्व गुणसम्पन्नता को प्राप्त करने वाले राजपुत्र भव्यपुरुष को बचपन से ही तुझे अपने स्नेह से सिक्त कर देना चाहिये। अत. हे भद्रे ! तू राजकुल मे जाकर वहाँ अपना परिचय बढा और राजपुत्र की माता कालपरिणति महारानी का मन मुग्ध कर किसी भी प्रकार से तू अपने को उस राजपुत्र की धाय बनाले। यदि यह बालक तुझ मे विश्वास करेगा तो चाहे वह कितने ही सुख मे पले फिर भी वह मेरे वश मे रहेगा। ऐसे सुपात्र मे अपना समस्त ज्ञान-कोष स्थापित कर मैं शीघ्र ही कृतकृत्य हो जाऊँगा। [२१-२५]

सदागम की आज्ञा सुनकर, 'हे आर्य ! आपकी जैसी आज्ञा' कहकर ॐ मस्तक झुकाकर, उनके वचनो का आदर करते हुए, जैसा उन्होने कहा उसी प्रकार उसने किया। अर्थात् प्रज्ञाविशाला राजपुत्र की धाय नियुक्त हो गई। भव्यपुरुष ऐसी सुन्दर धाय को प्राप्त कर प्रसन्न हुआ और उस धाय के द्वारा लालित-पालित होता हुआ देवताओ के समान सुखानुभव करता हुआ लीलापूर्वक बढने लगा। अनुक्रम से वृद्धि प्राप्त करते हुए वह राजपुत्र कल्पवृक्ष की भांति सब लोगो के नेत्रो को आनन्द देने लगा। सदागम ने उसमे जिन-जिन श्रेष्ठ गुणो का वर्णन किया था वे सब गुण उसमे कुमारावस्था से ही प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। [२६-२६]

सुमति की गुण विचारणा

एक दिन प्रज्ञाविशाला उस राजपुत्र को सदागम का परिचय कराने उनके पास ले गई। महापुण्यशाली जीव भावीभद्र कुमार को महाभाग्यवान सदागम को देखते ही हर्षातिरेक हुआ। अन्त करण पूर्वक उनको नमस्कार कर राजकुमार उनके पास बैठा और वे जो अमृत जैसे मनोहर वाक्य बोल रहे थे उन्हे ध्यान पूर्वक उत्साह से सुनने लगा। चन्द्र किरण जैसे निर्मल गुणधारक राजपुत्र भव्यपुरुष का मन सदागम के प्रति आकर्षित हुआ और वह अपने मन मे विचार करने लगा— 'अहा ! कितने मधुर वचन है ! इनका रूप कितना अद्वितीय है ! इनके गुण कितने आकर्षक है ! मैं सचमुच मैं भाग्यशाली हूँ कि ऐसे महात्मा पुरुष के मुझे दर्शन हुए। इस मनुजगति नगर मे जहाँ ऐसे महापुरुष रहते है, वह भी भाग्यशाली है। इन बुद्धिमान महात्मा के दर्शन कर आज मेरे पाप धुल गये है। वास्तव मे भगवान् सदागम भूत, भविष्य और वर्तमान के सारे भावो का वर्णन बहुत ही सुन्दर पद्धति से करते है।

ॐ पृष्ठ १२२

यदि ये महात्मा मेरे उपाध्याय (शिक्षक) वन सके तो मैं इनके पास समस्त कलाओं को इनसे ग्रहण करूं। [३०-३७]

सदागम को उपाध्याय का स्थान

राजपुत्र के मन में जो विचार उत्पन्न हुए उनको उसने प्रज्ञाविशाला को वतलाया और उसने उसके माता-पिता को सब बात समझाई। उनको भी यह बात सुनकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उसके पश्चात् शुभ दिन देखकर उन्होने महोत्सवपूर्वक अपने पुत्र को शिक्षण हेतु सदागम को समर्पित किया। परम्परानुसार सदागम महात्मा का अद्भुत पूजा सत्कार कर भव्यपुरुष सुमति को उनका शिष्य बनाकर सोप दिया। उस समय उस गभीर कुमार के शरीर पर श्वेत चन्दन का लेप किया गया, उसे धवल वस्त्र आभूषण पहनाये गये और श्वेत पुष्पो से ही उसका शृंगार किया गया। अब वह कुमार महानन्द और प्रमोद पाते हुए विनयपूर्वक शिष्य वनकर उन उपाध्याय के पास जाने लगा उसकी कलाग्रहण की कामना से है और सदागम की भी इच्छा उसे कलाए सिखाने की है। इसके पश्चात् प्रतिदिन राजकुमार प्रज्ञाविशाला के साथ धीमान् सदागम के पास जिज्ञासापूर्वक विद्याध्ययन के लिये जाने लगा। [३८-४३]

संसारी जीव

एक दिन बाजार मे महात्मा सदागम आनन्द से बैठे थे। उनके साथ प्रज्ञाविशाला और राजकुमार भी बैठे थे। सदागम के चारो ओर दूसरे अनेक मनुष्य भी बैठे थे। वे महात्मा उनसे अनेक विषयो पर वार्तालाप कर रहे थे। ॐ उस समय अगृहीतसकेता भी अपनी सखी प्रज्ञाविशाला के पास आकर, सदागम को नमस्कार कर, शुद्ध जमीन देखकर बैठ गई। उसने अपनी प्यारी सखी से कुशल समाचार पूछे, राजपुत्र का सम्मान किया और सदागम के सामने आँखे स्थिरकर बैठ गई। [४४-४७]

उस समय एक दिशा मे से अचानक कोलाहल सुनाई देने लगा। उस दिशा की तरफ से फूटे हुए अस्त-व्यस्त ढोल की कर्ण कटु ध्वनि आ रही थी। तूफानी लोगो के अट्टहास की आवाज भी आ रही थी। ऐसे विचित्र कोलाहल को जानने के लिए उत्सुक सम्पूर्ण सभा की दृष्टि उस तरफ आकर्षित हुई। उस समय उन्होने अपने निकट ही एक ससारी जीव नामक चोर को देखा जिसके कारण से वह कोलाहल उठा था। उस चोर के सारे शरीर पर राख चुपड़ी हुई थी, उसकी चमडी पर गेरुए रंग के हाथ छापे हुए थे, सारे शरीर पर घास की राख से काले तिलक (टीका) बनाये गये थे, गले मे कनेर के डोडो की माला पड़ी हुई थी और छाती पर कोड़ियो की माला लटकी हुई थी। टूटी हुई मटकी का ठीकरा सिर पर छत्र की तरह रखा हुआ था, गले के एक तरफ चोरी का माल लटका

ॐ पृष्ठ १२३

हुआ था, और उसे गधे पर बिठा रखा था। उसके चारो ओर राज्य कर्मचारी चल रहे थे, लोग उसकी निन्दा कर रहे थे, उसका पूरा शरीर थरथर काप रहा था, भय से छाती धडक रही थी और वह फटी हुई आँखो से चारो तरफ देख रहा था।

चोर का सदागम की शरण में आना

यह दृश्य देखकर प्रज्ञाविशाला को उस पर करुणा आई। उसने मन मे सोचा कि महात्मा सदागम के अतिरिक्त और कोई भी इस बेचारे को शरण नही दे सकता। ऐसा सोचकर वह उस ससारी जीव के पास गई और बहुत प्रयत्नपूर्वक समझाकर उस चोर को सदागम के दर्शन कराये एव कहा- 'भद्र! तू इन महापुरुष की शरण ग्रहण कर।' वह चोर भी जैसे ही सदागम के पास आया वैसे ही उसमे अपूर्व विश्वास पैदा हो गया तथा ऐसी चेष्टा और विचार करने लगा मानों वह कोई अपूर्व अवर्णनीय अवस्था का अनुभव कर रहा हो। सब लोगो के देखते-देखते वह अपनी आँखे बन्द कर जमीन पर पड गया। कुछ समय तक वह वैसे ही बिना हिले-डुले निश्चल पड़ा रहा। 'इस चोर को एकाएक क्या हो गया?' ऐसे विचार से नगर के जो लोग उसके पीछे आये थे, वे आश्चर्य करने लगे। उसके पश्चात् धीरे-धीरे उस चोर को चेतना आने लगी और वह थोडा सावधान हुआ। फिर उठकर सदागम को लक्ष्य कर जोर-जोर से पुकारने लगा—'हे नाथ! मेरी रक्षा करे, हे नाथ! मेरी रक्षा करे।' उसकी पुकार सुनकर 'तू भय का त्याग कर, अभय हो, अभय हो।' कहकर सदागम ने उसे आश्वासन दिया। उसके बाद वह सदागम की शरण मे आया, सदागम महात्मा ने भी उसको स्वीकार कर लिया। जो राजपुरुष सदागम के माहात्म्य और अद्भुत शक्ति को जानते थे वे मन मे समझ गये कि अब यह पुरुष अपनी राजसत्ता में नही रहा। अतः भय से कापते हुए एक-एक कदम पीछे चलते हुए बाहर निकल गये और उस स्थान से दूर जाकर बैठ गये। ससारी जीव को भी इससे कुछ शाति मिली।

चोर का वृत्तान्त

अगृहीतसकेता ने संसारी जीव से पूछा—'भद्र! तूने क्या अपराध किया था कि इन यम जैसे राजपुरुषो ने तुझे पकड रखा था?' प्रश्न सुनकर ससारी जीव ने कहा—'आप इस विषय मे पूछ कर क्या करेगी? यह कहने योग्य विषय नही है। ❀ भगवान् सदागम यह सब वृत्तान्त अच्छी तरह जानते हैं अत: यह सब बताने की आवश्यकता भी नही है।' तब सदागम ने कहा—'भद्र! इस अगृहीतसकेता को तेरा वृत्तान्त सुनने की उत्सुकता है, अत: उसकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये तू अपनी दशा बतलादे, इसमे कोई दोष (आपत्ति) नही है।' तब संसारी जीव ने कहा—'नाथ! जैसी आपकी आज्ञा! परतु मे आप बीती दु.खद

❀ पृष्ठ १२४

घटना का वर्णन सब के सन्मुख नही कर सकता, अत. आप ऐसी आज्ञा प्रदान करे कि हम किसी निर्जन स्थान में बैठकर वातचीत कर सके।'

सदागम ने जैसे ही सभा की तरफ आँख से इशारा किया वैसे ही सभा मे आये हुए विचक्षण लोग तत्क्षण उठकर दूर चले गये। दूसरे लोगो के साथ जब प्रज्ञाविशाला भी उठने लगी तब सदागम ने उसे कहा कि, तू भी वैठकर सुन। सदागम के कहने से उसके पास ही राजपुत्र भव्यपुरुष भी वैठा रहा। पश्चात् इन चारो के समक्ष अगृहीतसकेता को उद्देश्य कर संसारी जीव ने अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया।

७. असंव्यवहार नगर

अत्यन्त-अबोध और तीव्र मोहोदय

इस ससार मे अनादि काल से प्रतिष्ठित (स्थापित और अनन्त लोगो से परिपूर्ण एक असव्यवहार नगर है। इस नगर में अनादि वनस्पति नाम के कुल पुत्र रहते हैं। वहाँ पूर्व-वर्णित कर्मपरिणाम महाराजा के सम्बन्धी अत्यन्त-अवोध नामक सेनापति और तीव्रमोहोदय नामक महत्तम (सूवेदार--राज्यपाल) उस पद पर सर्वदा के लिये नियुक्त हैं। उस नगर मे रहने वाले सभी लोग कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से, अत्यन्त-अवोध और तीव्रमोहोदय के प्रताप से अस्पष्ट चेतना वाले ऊंघते हुए से दिखाई देते हैं। कार्य-अकार्य का विचार नही होने से नशे मे हो, ऐसे एक-दूसरे मे आसक्त और मूर्च्छित से दिखाई देते हैं। स्पष्ट दिखाई देने वाली कोई भी चेष्टा न करने से मृत जैसे दिखाई देते है। अत्यन्त-अवोध और तीव्रमोहोदय इन सव जीवों को सर्वदा के लिये निगोद नामक कोठरी मे डालकर एक पिण्ड जैसा गड्डमड्ड करके रखते है। वे समस्त जीव अत्यन्त मूढ होने से कुछ भी नही जानते, कुछ भी नही बोलते, हिलते-डुलते नही, छेदन-भेदन को प्राप्त नही होते, जलते नही, भीगते नही, टूटते-फूटते नही, आघात नही पाते और व्यक्त वेदना का अनुभव नही करते। इसके अतिरिक्त भी किसी प्रकार का वे लोक-व्यवहार नही करते। उस नगर मे रहने वाले जीवो का अपना कोई और किसी प्रकार का व्यवहार नही होने से इस नगर का नाम असव्यवहार नगर पड़ गया। उस नगर मे संसारी जीव नामक मैं भी एक कुटुम्वी था। इस नगर मे रहते हुए मुझे अनन्त काल वीत गया।

तत्परिणति का निवेदन

एक दिन राज्यपाल तीव्रमोहोदय सभा बुलाकर वैठे थे और उनके पार्श्व मे अत्यन्तअवोध सेनापति वैठा था। इतने में ही तत्परिणति नामक प्रतिहारिणी ने सभा मण्डप मे प्रवेश किया। वह समुद्र तरग के समान मोतियों के समूह को धारण करने वाली, वर्षा ऋतु की लक्ष्मी की तरह समुन्नत पयोधरा, मलयाचल पर्वत की मेखला की तरह चन्दन की सुगन्ध को धारण करने वाली और वसन्त ऋतु की

लक्ष्मी की तरह सुन्दर पत्र (पत्रवल्ली) तिलक और आभूषणो से शोभित थी। उसने जमीन तक अपने हाथ, पाव और मस्तक झुका कर प्रणाम किया और फिर अजली जोडकर निवेदन किया ❀ —'देव! अपने सुगृहीतनामधेय महाराज कर्मपरिणाम की ओर से तन्नियोग नामक दूत आपके दर्शन करने की इच्छा से आपके पास आया है। आपकी आज्ञा की राह देखते हुए वह अभी प्रतिहार भूमि मे खडा है। इस सम्बन्ध मे आपकी क्या आज्ञा है?'' प्रतिहारिणी के ऐसे वचन सुनकर ससभ्रमपूर्वक तीव्रमोहोदय ने अत्यन्तअबोध की ओर दृष्टि घुमाई, तब उसने प्रतिहारिणी को आज्ञा दी—'तू उसे शीघ्र प्रवेश करने दे।' प्रतिहारिणी ने आज्ञा को शिरोधार्य कर तन्नियोग दूत को तुरन्त राज्यसभा मे उपस्थित किया।

लोकस्थिति की सम्पूर्ण विचारणा

तन्नियोग दूत ने अपनी मर्यादानुसार विनयपूर्वक राज्यपाल और सेनापति को प्रणाम किया। उन्होने दूत का आदर सत्कार किया और बैठने के लिये आसन दिया। दूत ने पुन. उचित प्रणाम किया और आसन पर बैठा। फिर राज्यपाल तीव्रमोहोदय ने आसन छोड खड़े होकर हाथ जोडकर सिर पर लगाते हुए पूछा— अपने महाराजा, महारानी और राज्य-परिवार के अन्य लोग कुशल-मगल से तो है?

तन्नियोग—जी हाँ, सब कुशलपूर्वक है।

तीव्रमोहोदय—तुम्हे यहाँ भेजकर देवचरणो (महाराजा) ने हमे याद किया, यह उनकी हम पर बड़ी कृपा है। अब तुम्हारे आने का क्या कारण है? वह कहो।

तन्नियोग—कर्मपरिणाम महाराज के आपसे अधिक कृपापात्र और कौन है! मेरे यहाँ आने का कारण सुनाता हूँ, सुनिये। आपको यह तो ध्यान मे ही होगा कि अपने महाराजा की बडी बहिन लोकस्थिति है जो बहुत ही माननीय है, सब अवसरो पर परामर्श करने योग्य है, अचिन्त्य प्रभावशाली और इतनी प्रबल है कि उसके कथन का कभी कोई उल्लघन नही कर सकता। अपनी बहिन पर प्रसन्न होकर महाराजश्री ने उन्हे सर्वकाल के लिये यह अधिकार प्रदान कर कहा—

"बहिन! अपने से सर्वदा शत्रुता रखने वाला और किसी प्रकार नष्ट न होने वाला सदागम हमारा महाशत्रु है। वह बीच-बीच मे अवसर देखकर जब-तब अपनी सेना को पराजित कर, अपने राज्य मे प्रवेश कर, कितने ही लोगो को बाहर निकाल कर अपनी निर्वृत्ति नगरी मे लेजाकर रखता है, जो अपने लिये अगम्य है। अगर ऐसी घटनाएँ लम्बे समय तक चलती रही तो अपनी जनसख्या कम हो जायेगी और अपना अपयश फैलेगा। यह बात तो किसी भी प्रकार से ठीक नही है। अत. बहिन! तुम्हे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे मेरे स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही हो,

❀ पृष्ठ १२५

इसके लिये तुम्हे असव्यवहार नगर की भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये और सदागम जितने प्राणियो को हमारे यहाँ से मुक्त कर, मेरी सत्ता से बाहर निकाल कर निर्वृत्ति नगर ले गया है उतने ही प्राणियो को तुम्हे असव्यवहार नगर से यहाँ लाकर मेरे सत्ता स्थान पर रखना चाहिये। ऐसा करने से समग्र स्थानो पर जीव प्रचुर परिमाण में हैं ऐसा ही लगेगा। और, सदागम ने अमुक प्राणियो को छुड़ाया, किसी को इस बात का पता लगाने का अवसर भी नही मिलेगा। इससे भी अधिक आवश्यक बात तो यह है कि इस प्रकार नगरो की जनसख्या मे कमी नही होगी जिससे अपना अपयश भी नही होगा।"

महाराज ने जब लोकस्थिति के सम्मुख उपर्युक्त प्रस्ताव रखा तब उसने भी 'बडी कृपा' कह कर ॐ उस अधिकार को स्वीकार किया। यद्यपि मैं स्वयं महाराजा का अनुचर हूँ तथापि विशेषत. लोकस्थिति के अधिकार मे ही हूँ। इसीलिये मुझे लोग तन्नियोग के नाम से जानते हैं। अभी हाल ही मे सदागम ने कितने ही लोगो को छुडाया है। इसलिये भगवती लोकस्थिति ने उतने ही प्राणियों को यहाँ से ले जाने के लिये मुझे आपके पास भेजा है। यह आज्ञा आपने सुन ही ली, अब आप जैसा उचित समझे वैसा करे।

'जैसी भगवती लोकस्थिति की आज्ञा' कहकर राज्यपाल और सेनापति ने बतलाया कि देवी ने जो आज्ञा दी है उसका पालन करने को वे तैयार है। उसके बाद पुन राज्यपाल बोला।

तीव्रमोहोदय—भद्र तन्नियोग ! तुम उठो और हमारे साथ चलो। यह असव्यवहार नगर कितना विशाल है, यह तुझ दिखाते है। फिर तू वापस जाकर तूने जो कुछ देखा है, उसका वर्णन महाराज के समक्ष करना जिससे कि उनको अपने अधीनस्थ नगरो मे जनसख्या घटने का जो भय है, वह निर्मूल हो जायेगा।

तन्नियोग—चलिये, महाशय ! जैसी आपकी आज्ञा।

असंव्यवहार नगर-दर्शन

ऐसा कहकर तन्नियोग खडा हो गया और उसी समय वे तीनो व्यक्ति असव्यवहार नगर देखने निकल पड़े। घूमते हुए तीव्रमोहोदय ने हाथ उठाकर गोलक नामक असख्य बडे-बड़े प्रासाद (महल) बताये। प्रत्येक प्रासाद मे निगोद नामक असख्य कमरे थे। इन कमरो को विद्वान् साधारण शरीर भी कहते है। फिर इन कमरो मे रहने वाले अनन्त जीवो को बताया। यह सब देखकर तन्नियोग दूत तो आश्चर्य चकित हो गया। फिर तीव्रमोहोदय ने पूछा, 'तूने देखा, यह नगर कितना विशाल है?' उत्तर मे तन्नियोग ने कहा, 'हाँ, मैंने बहुत अच्छी तरह से देखा।' फिर अपने हाथ से तालो बजाकर जोर-जोर से अट्टहास करते हुए तीव्रमोहोदय ने कहा,

ॐ पृष्ठ १२६

'तू सदागम की मूर्खता तो देख। वह तो सुगृहीतनामधेय कर्मपरिणाम महाराजा की सत्ता मे रहने वाले सब जीवो को निर्वृत्तिनगर मे ले जाने की इच्छा रखता है, पर इस वेचारे को यह खबर ही नही कि ऐसे कितने प्राणी है ? देख, अपने इस नगर मे असख्य प्रासाद महल) है, प्रत्येक महल मे असख्य कमरे है और प्रत्येक कमरे मे अनन्त जीव निवास करते है। इस सदागम का अनादि काल से यह दुराग्रह रहा है कि अपने लोगो को वह निर्वृत्तिनगर मे ले जाता है। पर, इतने समय से वह परिश्रम कर रहा है फिर भी एक कमरे मे रहने वाले प्राणियो का अनन्तवा भाग (किंचित् मात्र) भी वह यहाँ से नही ले जा सका है, तब महाराजाधिराज जनसख्या मे कमी होने की चिन्ता क्यो करते है ?'

तन्नियोग बोला—आप जो कह रहे है वह ठीक है। महाराजा को भी आप पर पूरा विश्वास है और उन्हे भी यह बात ज्ञात है। फिर मै भी यहाँ से जाकर महाराजश्री के समक्ष आप द्वारा कही हुई सारी बाते अवश्य बताऊँगा। पर, मुझे आपको एक दूसरी बात भी कहनी है कि लोकस्थिति महादेवी ने यह आज्ञा दी है और साथ मे यह भी कहा है कि उनकी आज्ञा-पालन मे थोडा भी विलम्ब नही होना चाहिये। अत. उन्होने जो आज्ञा दी है उसकी पूर्ति के लिये आप शीघ्र प्रबन्ध करिये।

इस प्रकार बातचीत करके राज्यपाल और सेनापति बाहर के दरवाजे के पास खड़े होकर आपस मे विचार करने लगे।

तीव्रमोहोदय—ठीक, तब यहाँ से बाहर भेजने योग्य कौन से जीव हैं ?

अत्यन्तअबोध—आर्य ! इस विषय मे आपको अधिक विचार करने की क्या आवश्यकता है ? * अपने, नगर मे सब लोगो को इस वास्तविकता से अवगत करा दे, इस विषय मे घोषणा करवा दे, डोडी पिटवा दे कि महाराजा कर्मपरिणाम की आज्ञा से कुछ लोगो को यहाँ से राजधानी की तरफ भेजना है, अतः जिन्हे जाने की इच्छा हो वे अपने आप तैयार हो जाये। जिस जगह इन जीवो को यहाँ से जाना है वह जगह अधिक अनुकूल होने से तथा अभी जहाँ वे रहते है वहा भीड मे फसे हुए होने से, कई लोग अपने आप जाने के लिये तैयार हो जायेगे। फिर तन्नियोग को पूछकर कि कितने प्राणियो को वहाँ ले जाना है, जो लोग जाने को तैयार होगे उनमे से अपनी पसन्द के प्राणियो को छाटकर तन्नियोग द्वारा बताई गई सख्या मे प्राणियो को वहाँ भेज देगे।

अत्यन्तअबोध की अबोधता

तीव्रमोहोदय—भद्र ! तू स्वयं अपनी पहनी हुई या पहनने की वस्तुओं की विशेषताओ को भी नही जानता ! इसी प्रकार इन लोगो ने जब दूसरा कोई

---

* पृष्ठ १२७

स्थान देखा ही नही है तव उस स्थान के स्वरूप को कैसे जान सकते है ? वहाँ अनुकूलता है या प्रतिकूलता; इसको भी कैसे जान सकते हैं ? अनादि काल से वे यही रहते हैं और इनको यही रहने मे आनन्द आता है। अनादि काल से यहाँ रहते हुए इनका आपस में इतना स्नेह हो गया है कि वे एक दूसरे के वियोग की कामना भी नही करते। भाई ! देख, एक ही कमरे मे रहने वाले सभी प्राणी परस्पर इतने प्रेम से रहते हैं कि एक साथ सास लेते है, एक साथ सास छोडते है, साथ मे आहार लेते हैं, साथ मे नीहार करते है, एक मरता है तो साथ मे उसके सभी स्नेही मरते हैं, एक जीता है तो साथ मे सब जीते है। इस प्रकार जव ये दूसरे स्थान के गुणों को नही जानते और परस्पर स्नेह-बन्धन से इतने जकड़े हुए है तव अपने आप दूसरे स्थान पर जाने का निर्णय कैसे ले सकते है ? अतः यहाँ से ले जाने के योग्य कौन लोग हैं ? इसका पता लगाने के लिये कोई दूसरा उपाय ढूँढना चाहिये।

उपर्युक्त कथन सुनकर सेनापति अत्यन्त अवोध सोच मे पड़ गया कि अब क्या करना चाहिये।

भवितव्यता

[इधर ससारी जीव अगृहीतसङ्केता को उद्देश्य कर अपने विषय मे जो वृत्तान्त कह रहा था उसे आगे वढाते हुए उसने कहा :—]

वहिन अगृहीतसंकेता ! मेरे भवितव्यता नामक पत्नी है। वास्तव मे कहूँ तो यह साड़ी पहनी हुई भी स्त्री परिवेश मे एक सुभट है। मैं तो नाम-मात्र के लिये उसका पति हूँ। सच पूछा जाय तो मेरे घर का और सब लोगो के घरो का सम्पूर्ण कर्त्तव्य तन्त्र तो यह अकेली ही चलाती है। उसमें अचिन्त्य शक्ति होने के कारण वह स्वाभिलषित कार्य को स्वतः ही पूर्ण करती है और किसी अन्य पुरुष की सहायता की इच्छा नही करती। अमुक कार्य स्व-पुरुष के लिये अनुकूल है या प्रतिकूल, इसका विचार नही करती, अवसर नही देखती। प्राणी पर दूसरी आपत्तियाँ आ पड़ी है, इसे भी नही देखती। वुद्धि-वैभव में वृहस्पति जैसा व्यक्ति भी उसे रोक नही सकता। पराक्रम में देवेन्द्र भी उसे पीछे नहीं हटा सकता। योगी भी उसका सामना करने का साहस नहीं जुटा सकते। अत्यन्त असम्भव कार्य को भी यह महादेवी हस्तगत के समान खेल ही खेल में शक्य बना देती है। सम्पूर्ण लोक के जिस प्राणी का प्रयोजन जव, जहाँ, जिस प्रकार करना हो उसे लक्ष्य मे रखकर * प्रत्येक प्रयोजन को उस प्राणी के सम्बन्ध मे उसी समय, उसी जगह, उसी प्रकार घटित करती है। ऐसा करते हुए उसे तीन लोक मे कोई भी रोक नही सकता। [अर्थात् किस प्राणी के वारे मे कौन सा कार्य कव करना, कितने समय तक करना, किस स्थान पर करना, कैसे करना आदि सव वातो की कुञ्जी मेरी पत्नी भवितव्यता के हाथ मे है। उसे कोई रोक नही सकता]। देवताओ के राजा इन्द्र या मनुष्यो के राजा चक्रवर्ती से भी यदि कोई कहे कि भवितव्यता तुम्हारे अनुकूल है तो वे हृदय

* पृष्ठ १२८

में प्रसन्न हो जाते हैं, मुख-कमल विकसित और नेत्र विस्तरित हो जाते हैं, कहने वाले को पारितोषिक देते हैं, अपने को वडा मानते है, महोत्सव कराते हैं, आनन्द की दुन्दुभि वजाते है, अपने को कृतकृत्य और अपना जन्म सफल मानते हैं। ऐसी अवस्था मे सामान्य लोगो की तो वात ही क्या ? इन्ही इन्द्र या चक्रवर्ती को यदि कोई कहे कि अभी भवितव्यता आपके अनुकूल नही है, तो वे भयातिरेक से थर-थर कांपने लगते है, दीनता दिखाने लगते है और पल भर मे उनका मुख विवर्ण हो जाता है, आँखे भिच जाती हैं, कहने वाले पर क्रोध करते हैं, चिन्ता से गहरे विचार मे डूव कर सूखने लगते है, शोक-वाहुल्य मे अपने कर्त्तव्य भी भूल जाते हैं और भवितव्यता को प्रसन्न करने के लिये क्या उपाय किये जाय, इसकी योजना वनाने लगते हैं। अधिक क्या कहूँ ? भवितव्यता के असतुष्ट होने पर पल भर भी उनके चित्त को शांति नही मिलती और किस प्रकार वह अनुकूल हो, इस विषय का उद्वेग उनके मन मे वरावर वना रहता है। जव इन्द्र और चक्रवर्ती की भी ऐसी दशा होती है तव सामान्य प्राणी का तो कहना ही क्या ? पुनश्च, उस महादेवी भवि-तव्यता की जैसी इच्छा होती है वह वैसा ही करती है। दूसरा कोई प्राणी उसकी प्रार्थना करे, उसके पास रोये या उसे रिझाने का प्रयत्न करे तो उसकी भी वह कोई परवाह नही करती। मै स्वयं भी उससे इतना भयोद्भ्रान्त हूँ कि वह देवी इच्छानुसार जो कुछ करती है उसे मुझे वहुत अच्छा मानना पडता है। यद्यपि मैं उसका पति हूँ फिर भी उसके भृत्य की भाति 'जय देवी, जय देवी' कहते हुए उसके पास वैठा रहता हूँ। इस देवी का विशेष स्वरूप इस प्रकार है :—

मेरी यह पत्नी भवितव्यता सर्वत्र उद्योगो मे व्यस्त रहती है। अमुक भुवन के लोगो को अमुक वस्तु उचित है और अमुक वस्तु उचित नही, यह सव वह जानती है। जो प्राणी सो गये हो उनके विपय मे भी वह जागृत रहती है। वह सव प्राणी और वस्तुओ को अलग-अलग कर सकती है। मदोन्मत्त गन्धहस्तिनी की भाति विना किसी प्रकार की आकुलता के वह सारे विश्व मे विचरण करती है। किसी से लवलेश भी नही डरती। कर्मपरिणाम महाराजा भी उसे वहुत सन्मान देते हैं, उसकी पूजा करते है। क्योकि, आवश्यकता पडने पर कुछ काम हो तो महाराजा को भी उसका अनुसरण करना पड़ता है, उसको अपने अनुकूल करना पडता है। इसके अतिरिक्त दूसरे महात्मा भी जव अपना कुछ कार्य करने की इच्छा रखते है तव भवितव्यता के अनुकूल होने पर ही करते हैं। इसीलिये तो कहा गया है—

वुद्धिरुत्पद्यते तादृग् व्यवसायश्च तादृश :।
सहायास्तादृशाश्चैव यादृशी भवितव्यता ॥

जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही वुद्धि उत्पन्न होती है, काम भी वैसा ही सूझता है और सहायता भी उसी प्रकार की मिलती है।

ससारी जीव अगृहीतसकेता से कहता है —मेरी गृहिणी भवितव्यता मे इतने सारे गुण है, यह सब बात वह अत्यन्तअबोध सेनापति जानता था।

उपर्युक्त कथनानुसार जब सेनापति अपने मन मे विचार कर रहा था तब उसके मन मे तरग उठी कि, अहा! इसका तो बहुत ही सरल उपाय विद्यमान है, फिर व्यर्थ मे ही चिन्ता मे अपने को क्यो आकुल-व्याकुल करता हूँ? ससारी जीव की पत्नी भवितव्यता इन प्राणियो के स्वरूप को अच्छी तरह जानती है कि ※ किन-किन जीवो को यहाँ से बाहर भेजना चाहिये, अत उसको बुलाकर उसी से इस सम्बन्ध मे पूछूँ।

संसारी जीव को भेजने का निर्णय

अपने मन मे जो विचार आये वे सब अत्यन्तअबोध सेनापति ने राज्यपाल तीव्रमोहोदय से कहे। उसे भी यह बात अच्छी लगी। अत. भवितव्यता को बुलाकर पूछने की सम्मति दे दी। एक पुरुष को उसी समय भवितव्यता को बुलाने के लिये भेज दिया जो उसे साथ मे लेकर तुरत वापिस आया। प्रतिहारी ने उसे अन्दर प्रविष्ट करवाया। सामान्य रूप से सभी स्त्रियाँ देवी मानी जाती है फिर यह भवितव्यता तो अतुल प्रभावशालिनी थी ही, इसलिये राज्यपाल और सेनापति ने मुख से उसे 'पाय लागू कहा। महादेवी भवितव्यता ने भी आशीर्वाद देकर उन दोनो का अभिनन्दन किया। उन्होने भवितव्यता को बैठने के लिये आसन दिया, जिस पर वह बैठी। फिर जब राज्यपाल ने सेनापति की तरफ आँख के इशारे से बात प्रारभ करने का सकेत किया, तब सेनापति ने सारी बात कही कि तन्नियोग दूत महाराजा की तरफ से कुछ लोगो को यहाँ से ले जाने के लिये आया है। वृत्तान्त सुनकर भवितव्यता हँस पड़ी।

अत्यन्तअबोध—भद्रे! क्या हुआ, आप हँसी क्यो?

भवितव्यता—कुछ नही।

अत्यन्तअबोध—तब बिना प्रसग हँसने का क्या कारण है?

भवितव्यता—इसलिये कि तुमने जो बात कही उसमे कुछ भी सार नही है।

अत्यन्तअबोध—वह किस प्रकार?

भवितव्यता—इस विषय मे आप मुझ से पूछ रहे है? इससे लगता है कि आप वास्तव मे अत्यन्तअबोध (बिल्कुल अज्ञान दशा मे) ही है। ऐसे विषयों में मैं उद्योग (प्रयास) कर चुकी हूँ। अनन्त काल में होने वाली समस्त घटनाएँ मेरे ध्यान मे हैं। सर्वभावो को मैं जानती हूँ। तब फिर वर्तमान काल मे घटने वाली

※ पृष्ठ १२६

वात मेरे लक्ष्य मे कैसे नही होगी ? अत· मुझे बुलाकर पूछने की कोई आवश्यकता ही नही थी । इसीलिये मैने कहा कि इस वात मे कुछ सार नही है ।

अत्यन्तअबोध आपकी वात सही है। आपसे पूछते समय मैं आपके माहात्म्य को भूल ही गया था। मेरे इस अपराध को आप क्षमा करे। अब यहाँ से जो लोग आगे भेजने योग्य है उन्हे आप कृपा कर भेज दीजिये। हमे अब इस विषय मे कुछ भी प्रयास करने की आवश्यकता नही है।

भवितव्यता—एक तो मेरा पति ससारी जीव भेजने योग्य है और दूसरे उसी की जाति के ये सब जीव भेजने योग्य हैं।

अत्यन्तअबोध—इस विषय मे आप अच्छी तरह जानती हैं, अत· हमे तो इस विषय मे कुछ भी बोलने की आवश्यकता नही है।

८. एकाक्षनिवास नगर

भवितव्यता अत्यन्तअबोध और तीव्रमोहोदय के पास मे निकल कर मेरे पास आई और मुझे सब वृत्तान्त सुनाया। मैंने उत्तर मे कहा—'जैसी महादेवी की इच्छा।' फिर जितनी संख्या मे जीवो को ले जाने के लिये तन्नियोग सदेशा लाया था उतनी सख्या में मेरे जैसे अन्य जीवो सहित मुझे वहाँ से भेजा गया। उस समय भवितव्यता ने राज्यपाल और सेनापति से कहा—'मुझे और आपको इनके साथ जाना पडेगा, क्योकि स्त्री के लिये पति ही देव समान है इसलिये मैं तो ससारी जीव से अलग रह भी नही सकती। फिर एकाक्षनिवास नगर आपकी सत्ता मे है, जहाँ इनको पहले जाना है, इसलिये आपको इनके साथ रहकर इनकी रक्षा और पहरेदारी करनी होगी। अतएव हम तीनो का इनके साथ रहना उपयुक्त है, अन्यथा कोई आवश्यकता नही थी। भवितव्यता की इस आज्ञा को राज्यपाल और सेनापति ने 'जैसा आप ठीक समझें' कहकर स्वीकार किया। ❀ फिर हम सब वहा से चलकर एकाक्ष निवास नगर आ पहुँचे।

पहला मोहल्ला : वनस्पति

इस एकाक्षनिवासन गर मे पाँच वडे मोहल्ले है। उन पाँच मे से एक मोहल्ले की तरफ हाथ से इगित करके तीव्रमोहोदय ने कहा—'भद्र ससारी जीव ! तू इस मोहल्ले मे ठहर। यह मोहल्ला अपने असव्यवहार नगर से वहुत ही मिलता जुलता है, अत यहाँ रहने मे तुझे आनन्द आयेगा। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार असव्यवहार नगर के गोलक भवन मे निगोद नामक अनेक कमरे थे जिसमे अनन्त जीव पिण्डीभूत बनकर स्नेह-सम्बन्ध से मिलकर रहते थे उसी प्रकार इस मोहल्ले

❀ पृष्ठ १३०

मे भी जीव रहते है। अन्तर केवल इतना है कि असव्यवहार नगर के लोग लोक-सम्बन्धी किसी भी व्यवहार मे नही पडते, अतः वे असव्यवहारी अथवा अव्यवहारी कहलाते है। वे भगवती लोकस्थिति की आज्ञा से केवल एक बार ही तुम्हारी तरह उस स्थान से दूसरे स्थान को जाते है और फिर वहाँ लौटकर नही जाते। पर, इस मोहल्ले के लोग तो लोक-व्यवहार करते है और बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जातेहै, इसीलिये इनको साव्यवहारिक अथवा व्यवहारी कहते है। असव्यवहार नगर मे रहने वाले लोगो को अनादि वनस्पति जैसे सामान्य नाम से पहचाना जाता है जब कि इस साव्यवहारिक मोहल्ले मे रहने वालो को 'वनस्पति' जैसा नाम दिया जाता है। यही इन दोनो मे अन्तर है। फिर यहाँ असख्य प्रत्येक-चारी जीव भी है जो गोलक भवन और निगोद रूपी कमरो के विना अलग-अलग घरो मे रहते है। अत तू यहाँ ठहर। तुझे पहले से असव्यवहार नगर का परिचय है, उसके जैसा ही यह (साधारण वनस्पति) मोहल्ला है, अतः तुझे यहाँ अच्छा लगेगा।' इस प्रकार सुनकर मैने कहा—'देव! जैसी आपकी आज्ञा।'

फिर मुझे एक कमरे मे ठहराया गया। मेरे साथ जो दूसरे लोग लाये गये थे उनमें से कुछ को इसी मोहल्ले मे रखा गया, कुछ को स्वतन्त्र कर दिया और कुछ को दूसरे मोहल्लो मे ले गये। हे भद्रे! मै तो साधारण शरीर नामक कमरे मे रह गया। वहाँ अनन्त जीवो के साथ पिण्डीभूत होकर पहले की तरह निद्राधीन, मदिरापान से मत्त, मूर्च्छित और मृत की तरह उनके साथ ही स्वासे लेता, उनके साथ ही स्वासे छोडता, उन्ही के साथ आहार करता और उन्ही के साथ नीहार करता हुआ अनन्त काल तक रहा।

एक समय मेरे विषय मे कर्मपरिणाम महाराज की फिर आज्ञा आई जिसके अनुसार राज्यपाल और सेनापति ने मुझे उस कमरे से वाहर निकाला तथा भवितव्यता ने मुझे एकाक्षनिवास नगर के उसी मोहल्ले के दूसरे विभाग मे असख्यकाल तक प्रत्येकचारी के रूप मे रखा।

एकभववेद्य गुटिका

इधर कर्मपरिणाम महाराजा ने लोकस्थिति को पूछकर, महाराणी कालपरिणति के साथ विचार-विमर्श कर, नियति और स्वभाव आदि को निवेदन कर और भवितव्यता की अनुमति लेकर विचित्र आकार को धारण करने वाले ❀ लोक-स्वभाव की अपेक्षा से तथा अपनी ही शक्ति से सब कार्य सम्पन्न कर सके ऐसे परमाणुओ से निर्मित 'एकभववेद्य' नामक गोलियाँ बनाई और उन गोलियो को भवितव्यता को देते हुए उन्होने कहा—'भद्रे! तू समस्त लोक-व्यापार करने मे उद्यत होने से और क्षण-क्षण मे लोगो के अनेक प्रकार के सुख-दुःख के कार्य सम्पादन करती हुई थक गई लगती है, अतः ये गोलियाँ ले और उन प्राणियो को

❀ पृष्ठ १३१

दे । जव-जब प्राणी की यह पहली गोली जीर्ण हो जाय (घिस जाय) तव तू उन्हे दूसरी गोली दे देना । इन गोलियों के प्रभाव से विविध रूपो मे होते हुए भी एक साथ निवास करने वाले प्रत्येक प्राणी जन्म पर्यन्त तेरी इच्छानुसार समस्त कार्य स्वत ही पूर्ण करेंगे, इससे तेरी समस्त व्याकुलता दूर हो जाएगी ।' राजा की आज्ञा को भवितव्यता ने स्वीकार किया । पश्चात् वह सर्व प्राणियो पर सब कालो मे समय-समय पर गोलियो का प्रयोग करने लगी ।

मै जब असव्यवहार नगर मे था तब भी वह मुझे जब-जब मेरी गोली घिस जाती तब-तब दूसरी गोली देती और इस प्रयोग से वह मेरा एक समान आकार वाला सूक्ष्मरूप मात्र बार-बार बनाती रहती । जब मैं एकाक्षनगर मे आया तब भी तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोध को आश्चर्य मे डालने के लिये मुझे अनेक प्रकार के स्वरूपो मे बदलती रहती । जब मै एकाक्षनगर मे रहने लगा तब यह भवितव्यता कभी मेरा सूक्ष्म रूप बनाती, किसी समय पर्याप्त, कभी अपर्याप्त और कभी बादर (दिखाई देने वाला) बनाती । बादर मे भी वह कभी पर्याप्त और कभी अपर्याप्त दशा मे रखती । बादर दशा में भी वह कभी मुझे साधारण वनस्पति के कमरे मे रखती और कभी मुझे प्रत्येकचारी (प्रत्येक वनस्पति बनाती । प्रत्येकचारी मे वह मुझे कभी अकुर. कभी कद, कभी मूल, कभी छाल, कभी स्कन्ध, कभी शाखा-प्रशाखा, कभी नवाकुर, कभी पत्र, कभी फूल, कभी फल, कभी बीज, कभी मूलबीज, कभी अग्रबीज, कभी पर्वबीज, कभी स्कन्धबीज, कभी बीजांकुर और सम्मूर्छिम आदि अनेक रूपो मे बदलती रहती । कभी वृक्ष, गुल्म, लता, बेल, घास आदि के आकार वाला मुझे बनाती । जब मै इन अवस्थाओ मे रहता था तब ऐसे समय मे किसी दूसरे नगर के लोग आकर भवितव्यता के सन्मुख कपायमान दशा मे मुझे छेदते, भेदते, दलते, पीसते, मरोडते, तोडते, बीधते, जलाते और अनेक तरह से कष्ट देते । उस समय मे भवितव्यता मेरे पास खड़ी-खडी देखती रहती, पर मुझे प्राप्त इन कदर्थनाओ के प्रति वह उपेक्षाभाव ही रखती ।

दूसरा मोहल्ला : पृथ्वीकाय

इस प्रकार से ❀ दु.ख सहन करते हुए मुझे अनन्त काल बीत गया । अन्त मे जब मुझे दी हुई गोली घिस गई तब भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली दी । इस गोली के प्रभाव से मैं एकाक्षनगर के दूसरे मोहल्ले मे गया, वहा पार्थिव नामक जीव रहते है । इन लोगो के मध्य मे जाकर मैं भी पार्थिव बन गया । यहाँ भी भवितव्यता ने मुझे नई-नई गोलियाँ देकर मेरे सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि रूप बनाये । मुझे काला, आसमानी, सफेद, पीला, लाल आदि रूप दिये । रेत, पत्थर, नमक, हरताल, पारा, सुरमा, शुद्ध पृथ्वी आदि अनेक रूप मुझ से धारण करवाये । इस प्रकार असख्येय काल तक वह मेरी विडम्बना करती रही । वहाँ मेरा भेदन

❀ पृष्ठ १३२

किया गया, दलन किया गया, चूरा बनाया गया, काटा गया और मुझे जलाया गया। इस प्रकार इस मोहल्ले मे मैने महा भयकर दु ख सहन किये।

तीसरा मोहल्ला : अप्काय

पार्थिव लोगो मे रहते हुए जब अतिम गोली भी घिस गई तब भवितव्यता ने मुझे एक नयी गोली दी। इस गोली के प्रभाव से मै एकाक्षनगर के तीसरे मोहल्ले मे गया। वहा आप्य नामक कुटुम्बीजन रहते है। पार्थिव रूप छोडकर वहाँ जाने पर मेरा भी आप्य रूप हो गया। यहाँ भी भवितव्यता मेरी जब एक गोली घिस जाती तब दूसरी गोली देकर मेरा रूप परिवर्तित कर देती। इस प्रकार असख्य काल तक मुझे ओस, हिम (बर्फ), फु हार, हरतनु (जलबिन्दु) और शुद्ध जल आदि अनेकविध रूपो मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भेद से विचित्र प्रकार के आकारो मे परिवर्तित करती रही। इस मोहल्ले मे रहते हुए मैने गर्मी, सर्दी, क्षार-पीड़ा, खनन-पीडा और शस्त्रो से होने वाली अनेक प्रकार की वेदनाए सही।

चौथा मोहल्ला : तेजस्काय

आप्य लोगो मे रहते हुए जब मेरी गोली घिस गई तब भवितव्यता ने फिर मुझे दूसरी गोली दी जिससे मे इस प्रकार के चोथे मोहल्ले मे पहुँचा। इसमे तेजस्काय नामक असख्य ब्राह्मण रहते है। मै भी वहाँ वर्ण से देदीप्यमान, स्पर्श से उष्ण, आकृति से दाहक (जलाने वाला) और स्थान से पवित्र तेजस्कायिक (अग्नि) ब्राह्मण बन गया। वहाँ रहते हुए मेरे ज्वाला, अगारे, ढकी हुई अग्नि, अग्निशिखा, आलात (जलती हुइ लकडी), शुद्धाग्नि, बिजली, उल्का, वज्राग्नि आदि कई रूप परिवर्तित हुए। मुझे बुझाने आदि के नानाविध दुःख इस मोहल्ले मे सहने पडे। इस बस्ती मे सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त रूप धारण करते हुए मै असख्य काल तक भटकता रहा।

पांचवां मोहल्ला : वायुकाय

तेजस्काय बस्ती के ब्राह्मणो के साथ रहते हुए जब मेरी पुरानी गोली घिस गई तब भवितव्यता ने फिर मुझे नई गोली दी। इस गुटिका के उपयोग से मै नगर की पाँचवी बस्ती मे गया। वहाँ वायवीय नामक असख्य क्षत्रिय रहते थे। मै भी वहाँ वायवीय क्षत्रिय बन गया। वहाँ मै नेत्रो वाले प्राणियो के लिये अदृष्टिगोचर होने पर भी स्पर्श से पहचाना जा सकता था, और वहाँ मेरे शरीर की रचना ध्वजाकृति की बनी। वहाँ मुझे तूफान, बटोलिया, * गु जावात, झझावात, सवर्तकवात, घनवात, शुद्ध वायु आदि अनेक रूपो मे समय-समय पर परिवर्तित किया गया। पखे आदि शस्त्र के घात और निरोध से मुझे वहाँ विविध प्रकार के दु ख सहने पडे। वहाँ भी पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर रूप धारण करवाकर भवितव्यता ने असख्य काल तक मुझे भटकाया।

---

* पृष्ठ १२३

इस वस्ती मे वहुत समय तक रहने के वाद जव मेरी वह गोली भी घिस गई तव फिर दूसरी गोली देकर भवितव्यता मुझे वापिस पहले मोहल्ले मे ले आई। यहाँ भी मुझे अनन्त काल तक रहना पडा। मुझे वार-वार नई-नई गोली देकर फिर से दूसरी, तीसरी, चौथी वस्तियो मे असख्य काल तक रखा गया। इस प्रकार भवितव्यता ने तीव्रमोहोदय और अत्यन्तावोध के समक्ष मुझे एकाक्षनिवास नगर की सभी वस्तियो मे वार-वार अनन्तवार भटकाया।

❀

६. विकलाक्षनिवास नगर

एक दिन भवितव्यता ने किंचित् प्रसन्न होकर कहा, 'आर्यपुत्र! आप इस नगर मे वहुत समय तक रहे, अत' अव इस स्थान से भी आपको अरुचि हो गई होगी। इस अरुचि को मिटाने के लिये अव मै आपको दूसरे नगर मे ले जाती हूँ।' मुझे तो भवितव्यता की आज्ञा माननी ही थी अत कहा, 'जैसी देवी की आज्ञा।' महादेवी ने फिर दूसरी तरह की गोलियो का प्रयोग किया।

मनुष्य लोक मे एक विकलाक्षनिवास नामक नगर है। उस नगर मे तीन वडी वस्तिया हैं। उस नगर का पालन करने के लिये कर्मपरिणाम महाराजा ने उन्मार्गोपदेशक नामक अधिकारी की नियुक्ति कर रखी है। इस अधिकारी की माया नामक स्त्री है। भवितव्यता द्वारा दी गई गोली के प्रभाव से मैं पहली वस्ती मे गया। वहां सात लाख कुल कोटि की सख्या मे असख्य द्विहृषीक (दो इन्द्रियो वाले) कुलपुत्र रहते हैं। मैं भी उनके साथ वैसा ही द्विहृषीक हो गया। पहले एकाक्षनगर मे मेरी सुप्त, मत्त और मृत जैसी स्थिति थी, वह यहा आने से दूर हुई और ऐसा लगने लगा मानो मेरे मे कुछ चेतना (शक्ति) आ गयी हो। अर्थात् मैं स्थावर न रहकर त्रस जाति मे आ गया।

प्रथम मोहल्ला : द्विहृषीक

मेरे पाप का अभी तक अन्त नही आया। यहाँ भी मेरी स्त्री ने एक गोली देकर मुझे महा अपवित्र स्थान मे कृमि बनाया। मुझे मूत्र, आन्त्र, रुधिर, जम्वाल (कचरे) से भरे हुए उदर मे रहते हुए देखकर विशाल नेत्रो वाली मेरी स्त्री भवितव्यता वहुत प्रसन्न होती। किसी समय कुत्ते आदि के शरीर पर पडे हुए दुर्गन्धी पूर्ण घावो मे मुझे दूसरे अनेक जीवो के साथ देखकर वह वहुत हर्षित होती। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज मे अथवा विष्टा मे परस्पर घर्षण से दु.ख पाते हुए, एक प्रकार के कृमि की आकृति धारण करते मुझे देखकर भवितव्यता प्रमुदित होती। फिर दूसरी गोली देकर मुझे जलोका जीव के रूप मे परिवर्तित कर मेरी स्त्री मायादेवी के साथ मिलकर खुश होती। मुझे दु ख पाता देखकर वह हँसती और अधिक दु ख देती। वह कहती, 'मायादेवि! ❀ उन्मार्गोपदेशक तेरा पति है

❀ पृष्ठ १३४ ❀

जिसका तू बहुत अभिमान करती है किन्तु तू मेरे पति का सामर्थ्य तो देख ! मेरा पति भूखा हो और उसे दर्द की जगह पर छोड दूँ तो वह चिपट कर अपनी पूरी शक्ति से पूरा खून चूस लेता है। मेरे पति की त्याग-शक्ति भी कुछ ऐसी वसी नही है, यह भी देख। यदि कोई उसे हाथ से लेकर दवावे तो सव खून का वह उसे दान कर देता है।' [१-८]

हे अगृहीतसकेता ! इस प्रकार मै अपनी स्त्री के हाथ से दु ख पाते हुए भी जब वह ऐसा-वैसा कहकर मेरी हँसी उडाती तव तो मै दुगुना दु खी हो जाता। फिर एक बडी गोली देकर उसने महासमुद्र मे मुझे शख बनाया। जब शख वजाने वाले ने मुझे छिन्न-भिन्न किया तब दु ख से मुझे रोता देखकर वह वहुत प्रसन्न हुई। भिन्न-भिन्न रूपो मे मेरी स्त्री के साथ उस बस्ती मे रहते हुए और अनेक प्रकार की विडम्बना को सहन करते हुए असख्यात काल वीत गया। [९-११]

दूसरा मोहल्ला : त्रिकरण

अन्यदा अपनी इच्छानुसार करने वाली भवितव्यता ने मुझे फिर एक गोली दी जिसके प्रभाव से मै विकलाक्षनिवास नगर की दूसरी वस्ती मे पहुँच गया। वहाँ आठ लाख कुल कोटि प्रमाण असख्य त्रिकरण नाम के गृहपति रहते हैं, मैं भी उनके साथ त्रिकरण (तीन इन्द्रिया) नामधारी जीव वन गया। वहाँ भी मुझे भवितव्यता ने जू, खटमल, मकोडा, कु थुआ और चिउटी आदि के विभिन्न रूपो मे परिवर्तित किया। भूख से पीडित होकर मुझे यहाँ से वहाँ भटकता, बच्चो से पिसता और जलता देख कर मेरी स्त्री सन्तुष्ट होकर आनन्द मे डूब जाती। इस बस्ती मे भी मुझे नयी-नयी गोलिया देकर और मुझे नये-नये अनेक रूपो मे परिवर्तित कर, असख्य बार मुझे भवितव्यता ने इधर-उधर भटकाया। [१-३]

तीसरा मोहल्ला : चतुरक्ष

एक दिन फिर मेरी स्त्री ने लीला पूर्वक दूसरी गोली देकर मुझे विकलाक्ष-निवास नगर की तीसरी बस्ती मे भेजा। वहाँ नौ लाख कुल कोटि प्रमाण चतुरक्ष (चार इन्द्रिय वाले) नामक असख्य कुटुम्वी रहते है, मै भी वहाँ जाकर चतुरक्ष कुटुम्वी वना। वहां पतगा, मक्खी, डास, बिच्छु आदि के विभिन्न आकारो मे मुझे परिवर्तित किया गया। इस वस्ती में रहते हुए विवेकहीन प्राणियो द्वारा किये गये मर्दन (मसलना, कुचलना) आदि से मैने अनेक प्रकार के दु ख पाये। जव-जब मेरी पुरानी गोली घिसती तब-तव नई-नई गोलिया भवितव्यता मुझे इस बस्ती मे भी देती रहती। इस प्रकार गोलिया देकर मुझे असख्य रूपो मे परिवर्तित करते हुए इस तीसरी वस्ती मे भी उसने मुझ से नाटक करवाया। इन तीनो बस्तियो मे वार-वार असख्य रूप धारण करवा कर असख्य हजार वर्षो तक मुझे भवितव्यता ने भटकाया। यहा भी मेरी पत्नी ने किसी समय पर्याप्तक और किसी समय अपर्याप्तक रूप से इन तीनो वस्तियो मे मेरे से अनेक प्रकार के खेल कराये। [४-१०]

१०. पंचाक्षपशु-संस्थान

एक बार भवितव्यता ने यह जानकर कि अब मुझे पचेन्द्रिय बनाने का समय आ पहुँचा है, प्रसन्नचित्त होकर कहा—* 'आर्यपुत्र ! यदि इस विकलाक्षनिवास नगर मे रहने से तुम प्रसन्न नही हो तो मै तुम्हे दूसरे नगर मे ले जाऊँ ?' मैने कहा, 'देवि ! तुम्हे जैसा ठीक लगे वैसा करो, क्योकि सभी कामो मे तुम जो करती हो, वही मेरे लिये प्रमाण है ।' फिर मुझे दी गई अंतिम गोली भी घिस गई है, ऐसा जानकर मुझे दूसरे नगर मे ले जाने के लिये उसने नई गोली दी । [११-१४]

पंचाक्षपशु-संस्थान

इस लोक मे एक पचाक्षपशु-सस्थान नामक नगर है । इस नगर पर भी उन्मार्गोपदेशक का ही नियत्रण है । इस नगर मे ५३½ लाख कुलकोटि प्रमाण पचाक्ष नामक (पाँच इन्द्रिय वाले) जीव कुलसमूह मे रहते है । वे जलचर, थलचर और खेचर (आकाशगामी) जाति के होते हैं । उनको स्पष्ट चेतना होती है और ये सज्ञी कहलाते है । विद्वान् लोग उन्हे गर्भज सज्ञी का नाम भी देते है । इन जीवो मे यदि किसी को अस्फुट चेतना हो तो उसे असज्ञी भी कहा जाता है और वे सम्मूर्च्छिम होते हैं । मैं गोली के प्रभाव से अस्पष्ट चैतन्य वाला सम्मूर्च्छिम पचाक्ष जाति मे उत्पन्न हुआ । खेलने की रसिक मेरी स्त्री ने वहाँ मेरा बिना कारण ही सब दिन चिल्लाने वाले मेढक का रूप धारण करवाकर मुझे नचाया । इस प्रकार असख्य भिन्न-भिन्न आकारो मे सम्मूर्छिम जाति मे भटका कर फिर उसने मुझे गर्भज का आकार धारण करने वाला बनाया । [१५-२१]

गर्भज पचेन्द्रिय प्राणियो मे भी सर्वप्रथम मुझे जलचर बनाया । जलचर मे मुझे मत्स्य रूप दिया गया । वहाँ मच्छीमार मुझे पकड़ कर, काट कर, अग्नि मे पका कर हजारो प्रकार के दु ख देने लगे । फिर मुझे चार पैर वाला थलचर बनाया । वहाँ मुझे खरगोश, सूअर, हिरण आदि का रूप दिया गया और उस समय शिकारी तीर मार कर मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते और मुझे अनेक प्रकार से पीड़ा पहुँचाते । फिर स्थलचर मे रहते हुए मुझे भुजपरिसर्प और उरपरिसर्प जाति मे गो, साप, नेवला आदि जाति का बनाया जिसमें बहुत समय तक क्रूरतावश एक दूसरे का भक्षण करते हुए मुझे बहुत दु.ख सहन करने पडे । फिर किसी समय मुझे खेचर जाति मे कौवा, चील, उल्लू आदि के रूप धारण कर इस जाति के पक्षियो के बीच मे रहते हुए मुझे सख्यातीत कष्ट सहने पडे । असंख्य प्राणियो से भरपूर उस पचाक्ष-पशु-सस्थान नगर मे प्रत्येक कुल मे मैं जलचर, थलचर और खेचर बना । इस नगर मे मेरी पत्नी ने सात-आठ बार, एक के बाद दूसरे नये-नये रूप सतत रूप से धारण करवाये और वह मुझे दूसरी जगह ले जाकर फिर वापिस उसी नगर मे ले आती । इस प्रकार इस नगर के समस्त स्थानो मे बीच-बीच मे ले जाकर और लाकर, विभिन्न

---

* पृष्ठ १३५

रूप प्रदान कर अनन्त प्रकार से ꠰ मेरी विडम्बना की। मैं वहाँ काल की अपेक्षा से निरन्तर तिर्यंच रूप मे तीन पल्योपम और कुछ अधिक सात करोड वर्ष तक इस नगर मे रहा। इस प्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त, सञी-असञी रूप मे पचाक्षपशु-सस्थान मे भवितव्यता ने मुझे अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ प्रदान की। [२२-३०]

अतिरसिक हरिण

एक बार भवितव्यता ने मुझे उसी नगर मे हरिण का रूप प्रदान किया। हरिण के झुण्ड के साथ रहते हुए भय से चपल मेरी आँखे दशो दिशाओ मे चकाचौंध होकर फिरती रहती। जंगल मे बडे-बड़े झाडो को फादते हुए मैं जहा-तहां भटकता रहता। एक समय एक शिकारी का बच्चा बहुत मधुर स्वर से गीत गाने लगा। यह गीत इतना मधुर था कि हरिणो का पूरा झुण्ड उसके पास दौडा गया। दौड़ना और छलाग मारने की चेष्टा को छोडकर हरिण झुण्ड स्तब्ध सा निश्चेष्ट हो गया। उनकी आखे भी निश्चल हो गईं, उनकी सभी इन्द्रियो का व्यापार निवृत्त हो गया और मधुर गीत सुनते हुए उनकी अन्तरात्मा कर्णेन्द्रिय मे ही रसमग्न हो गई। झुण्ड के सब हरिणों को बिना हिले-डुले देखकर शिकारी हमारे पास आया। उसने धनुष पर बाण चढाया, शिकारी की मुद्रा से निशाना बांधा, कन्धे को कुछ पीछे ले जाकर प्रत्यंचा को कान तक खीच कर तीर छोड दिया। उस तीर ने मुझे बीध दिया और मैं तुरन्त भूमि पर गिर गया। उस समय भवितव्यता द्वारा दी गई मेरी गोली भी घिस गई थी।

यूथपति हाथी

हरिण के भव में काम मे लाने योग्य मेरी एकभववेद्य गोली जब समाप्त हो गई तब मेरी स्त्री भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली दी। इस गोली के प्रभाव से मैं हाथी बना। धीरे-धीरे मैं बड़ा हुआ और अनुक्रम से हाथियों के एक झुण्ड का मुखिया बना। प्रकृति से सुन्दर कमलवनो मे, सल्लकी के पत्रों से भरपूर वृक्षों के वनो मे और अत्यन्त कमनीय जगलो मे मैं हथनियो के झुण्ड से घिरा हुआ रहता था और अपने चित्त को आनन्द के सागर मे डुबकी लगवाता हुआ अपनी इच्छानुसार घूमता-फिरता था। एक दिन अकस्मात् हमारा झुण्ड भयभीत हुआ, जानवर इधर-उधर भागने लगे, बांस की गांठे फूटने से तड-तड़ की आवाज होने लगी और धुएं के बादल उठने लगे। यह क्या हुआ? देखने के लिये जैसे ही मैंने अपने पीछे देखा तो मालूम हुआ कि ज्वाला की लपटो से महाभयकर दावानल मेरे पास आ गया है। दावानल को देखते ही मन मे मौत का भय समा गया। मेरी शक्ति और पुरुषार्थ समाप्त हो गया, मेरा अहकार चला गया, मैं दीन बन गया। स्वरक्षण का आश्रय लेकर, अपने झुण्ड को छोड़कर मै एक तरफ भागने लगा। भागते हुए मैं थोडी दूर गया। वहां एक गांव के पास जानवरो को पानी पिलाने का जूना-पुराना

꠰ पृष्ठ १३६

सूखा हुआ अन्धकार वाला कुआ था, जो ऊपर पडे हुए कचरे और घास से ढक गया था। भयभ्रान्त होकर वेग से दौडने के कारण वह अन्धकूप मुझे दिखाई नही दिया और मेरे आगे के दोनो पाव उसमे चले गये। मेरे शरीर के पिछले हिस्से को कुछ सहारा नही होने से तथा मेरा शरीर बहुत भारी होने से मै उस अन्धकूप मे गिर पडा। गिरने से और शरीर भारी होने से मै * अत्यन्त घायल हो गया और मेरा शरीर चूर-चूर हो गया। मै कुछ देर तो मूर्छित रहा, फिर कुछ चेतना आई, पर मै ऐसा फसा हुआ था कि मै अपने शरीर को थोडा भी हिला-डुला नही सकता था। मेरे सम्पूर्ण शरीर मे तीव्र वेदना होने लगी और मुझे पश्चाताप होने लगा। मै सोचने लगा कि मेरी सेवा करने वाले, चिरकाल से परिचित, उपकार करने वाले, मेरे मे अनुरक्त और आज्ञापालक साथियो को आपत्ति मे छोडकर स्वार्थवश अकेला भाग आने वाले मेरे जैसे कृतघ्नो को तो यही सजा मिलनी चाहिये। मेरी निर्लज्जता तो देखो! मुझे अब कौन यूथाधिपति (मुखिया) कहेगा? अब पछतावा बेकार है! जैसा किया वैसा भरना होगा। ऐसे विचारो से मेरे मन मे कुछ मध्यस्थता (सान्त्वना) प्राप्त हुई। ऐसी दशा मे मैने अपनी तीव्र वेदना को सहन करते हुए वहा सात राते बितायी।

अब भवितव्यता मेरे ऊपर प्रसन्न होकर बोली, 'धन्य! आर्यपुत्र धन्य! तुम्हारे अध्यवसाय (विचार) बहुत सुन्दर है। तुमने अत्यधिक कठिन दुख सहे है। तुम्हारी इन चेष्टाओ से अब मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिये अब तुझे दूसरे नगर मे ले जाऊगी।' मैने कहा, 'जैसी देवी की आज्ञा।' फिर भवितव्यता ने एक सुन्दराकृति पुरुष की ओर इशारा कर कहा, 'हे आर्यपुत्र! मै तुझ पर प्रसन्न हूँ, अतएव तेरी सहायता के लिये पुण्योदय नामक इस पुरुष को तेरे साथ भेज रही हूँ। अब तू इसके साथ जा।' मैने फिर कहा 'जैसी देवी की आज्ञा।' इस बीच मे मेरी पुरानी गोली घिस गई थी अत भवितव्यता ने मुझे एक दूसरी गोली दी और कहा, 'आर्य पुत्र! जब तू यहा से जायेगा तब यह पुण्योदय तेरा गुप्त सहोदर और मित्र की भाति प्रच्छन्न रूप से तेरे साथ रहेगा।'

भव्यपुरुष का मूल प्रश्न : स्पष्टीकरण

संसारी जीव इस प्रकार अपनी कथा सुना रहा था तब भव्यपुरुष ने प्रज्ञाविशाला के कान के पास जाकर पूछा— 'माताजी! यह पुरुष कौन है? यह किसकी कथा कह रहा है? असव्यवहार आदि नगर कहा है? यह कौन सी गोली है जिसके एक-एक बार लेने से प्राणी नये-नये रूप धारण करता है और विविध सुख-दुख का अनुभव करता है? एक ही पुरुष इतने अधिक समय तक एक ही स्थान पर कैसे रह सकता है? मनुष्य प्राणी के असम्भव से लगने वाले चिउटी और कृमि जैसे रूप कैसे हो सकते है? मुझे तो इस चोर की पूरी कथा किसी पागल के

मस्तिष्क से निकली इन्द्रजाल सी कल्पित लग रही है। अत हे माता ! इस कथा का भावार्थ क्या है ? वह मुझे समझाइये।'

प्रज्ञाविशाला ने कहा—इस चोर का वर्तमान मे विशेष रूप क्या है, यह इसने अभी तक नही बताया है। सामान्य रूप से तो यह ससारी जीव नामक ❀ पुरुष है। इसी नाम से इसने अपनी कथा कही है। यह सारा वृत्तान्त ठीक ही है। यह घटना किस प्रकार से है ? मै तुझे समझाती हूँ।

यहां असव्यवहारिक जीव राशि को ही असव्यवहार नगर कहा गया है। पृथ्वी, जल. तेज, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पाँचो एकेन्द्रिय जाति के जीवो की उत्पत्ति और निवास का स्थान एकाक्षनिवास नगर कहा है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवो को विकलेन्द्रिय कहा जाता है, अत उनकी उत्पत्ति और निवास-स्थान को विकलाक्षनिवास नगर कहा है। पाच इन्द्रिय वाले तिर्यंचो के स्थान को पचाक्षपशु-सस्थान नगर कहा है। एक भव मे भोगने योग्य उदय में आये हुए कर्मो को 'एकभववेद्य' गोली कहा गया है। इन कर्मों के उदय से जीव नाना प्रकार के रूप धारण करता है और सुख-दु ख आदि का अनुभव भी करता है। यह पुरुष (जीव-आत्मा) स्वय तो अजर अमर है, यह कभी जीर्ण नहीं होता, इसकी कभी मृत्यु नही होती है, अतः यह अनन्त काल तक रहे तो इसमे कुछ नवीनता नही है। हे भद्र ! ससारी जीव ही कृमि और चिउटी जैसे रूप धारण करता है. इसमे आश्चर्य क्या है ? अभी तू बालक है, मुग्ध है, इसलिये यह सब बात नही जानता। पुत्र ! देख, इस विश्व मे त्रिभुवन मे ऐसा कोई भी चरित्र नही जिसे संसारी जीव न धारण करता हो। अतः हे वत्स ! इस ससारी जीव ने जो कुछ भोगा है, वह सब इसे कहने दे। फिर मैं उचित अवसर पर निराकुल होकर इस सब का भावार्थ (रहस्य) तुझे समझाऊगी।

भव्यपुरुष ने अपनी धात्री प्रज्ञाविशाला की बात को 'जैसी माता की आज्ञा' कहकर शिरोधार्य की।

उपसंहार

उत्पत्तिस्तावदस्यां भवति नियमतो वर्यमानुष्यभूमौ,
भव्यस्य प्राणभाजः समयपरिणतेः कर्मणश्च प्रभावात्।
एतच्चाख्यातमत्र प्रथममनु ततस्तस्य बोधार्थमित्थं,
प्रक्रान्तोऽयं समस्त. कथयितुमतुलो जीवसंसारचार॰ ॥१॥

अतुलनीय संसार मे सचरण करने वाले जीव का जो वर्णन यहाँ किया गया है, उस भव्य प्राणी की उत्पत्ति, समय-परिणति (काल परिणति) और कर्म

❀ पृष्ठ १३८

के प्रभाव से नियमत उत्तम मनुष्य भूमि मे होती है, जिसका वर्णन अग्रिम प्रस्तावों में किया जाएगा और तत्पश्चात् उसके बोध-प्रसग का पूर्ण वर्णन किया जाएगा।

स च सदागमवाक्यमपेक्ष्य भो ! जडजनाय च तेन निवेद्यते।
बुधजनेन विचारपरायणस्तदनु भव्यजनः प्रतिबुध्यते ॥२॥

हे पाठको ! सदागम (श्रुतज्ञानी सद्गुरु) के वचनानुसार यह घटनाक्रम ससार मे सचरणशील जड बुद्धि वाली (अगृहीतसवेता) को लक्ष्य कर कहा जा रहा है, जिसे सुनकर बुधजन (प्रज्ञाविशाला) और उसके पश्चात् विचारपरायण भव्यजन (भव्यपुरुष-सुमति) प्रतिबोध को प्राप्त करते है।

प्रस्तावेऽत्र निवेदित तदतुल ससारविस्फूर्जित,
धन्यानामिदमाकलय्य विरति. ससारतो जायते।
येषा त्वेष भवो विमूढमनसा भो. ! सुन्दरो भासते,
ते नून पशवो न सन्ति मनुजा. कार्येण मन्यामहे ॥ ३ ॥

इस (दूसरे) प्रस्ताव मे प्रतिपादित इस अतुलनीय ससार के विस्तार (और उसमे स्थान-स्थान पर जाकर अनन्तकाल तक भोगे हुए दु खो) के वर्णन को सुनकर भाग्यशाली पुरुषो को तो ससार से विरक्ति होती है, किन्तु जो विमूढ मन वाले (मूर्ख) प्राणी है उन्हे तो यह ससार का प्रपच ही अच्छा लगता है। ऐसे मूढ प्राणी अपने कार्यो से मनुष्य रूप मे पशु ही है, ऐसा हम समझते हैं।

उपमिति-भव-प्रपंचा कथा में संसारी जीव के
चरित्र में तिर्यग्गति वर्णन नामक
द्वितीय प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

३. तृतीय प्रस्ताव

तृतीय प्रस्ताव

पात्र एवं स्थान-सूची

वैश्वानर (क्रोध) के प्रसग में

स्थल	मुख्य-पात्र	परिचय	सामान्य-पात्र	परिचय
जयस्थल नगर	पद्म	राजा	प्रमोदकुम्भ	बधाई देने वाला दासी पुत्र
	नन्दा	रानी	राजकुमार	नन्दिवर्धन के सहपाठी
	नन्दिवर्धन	ससारी जीव, पद्म राजा का पुत्र	मतिधन	पद्मराजा के मत्री
	बुद्धिसमुद्र	कलाचार्य	बुद्धिविशाल	पद्मराजा के मत्री
	विदुर	राज्यसेवक	प्रज्ञाकर	पद्मराजा के मत्री
	जिनमतज्ञ	नैमित्तिक	सर्वरोचक	पद्मराजा के मत्री
	वैश्वानर	धायपुत्र, अन्तरग राज्य मे नन्दिवर्धन का मित्र	स्फुटवचन	शार्दूलपुर के राजा अरिदमन का दूत
	पुण्योदय	नन्दिवर्धन का अन्तरग मित्र		
चित्तसौन्दर्य नगर (अन्तरग नगर)	शुभ-परिणाम	राजा		
	निष्प्रकम्पता	पहली रानी		
	क्षान्ति	रानी निष्प्रकम्पता की पुत्री,		
	चारुता	दूसरी रानी		
	दया	रानी चारुता की पुत्री		

स्पर्शन-प्रबन्ध

नगर	अन्तरंग-पात्र	परिचय
क्षितिप्रतिष्ठित	कर्मविलास	राजा
	शुभसुन्दरी	रानी, मनीषी की माता
	अकुशल-माला	रानी, बाल की माता
	सामान्य-रूपा	रानी, मध्यमबुद्धि की माता
	मनीषी	राजकुमार, रानी शुभसुन्दरी का पुत्र
	बाल	राजकुमार, रानी अकुशलमाला का पुत्र
	मध्यमबुद्धि	राजकुमार, रानी सामान्यरूपा का पुत्र
	स्पर्शन	राजकुमार बाल का मित्र
	भवजन्तु	स्पर्शन-प्रसंग-मुक्त मोक्षगामी पुरुष
	बोध	मनीषी राजकुमार का अंगरक्षक
	प्रभाव	बोध का अनुचर

स्पर्शन मूल-शुद्धि

राजसचित्त नगर (अन्तरंग नगर)	राजकेसरी	राजा
	विषया-भिलाप	मन्त्री
	विपाक	नागरिक
	महामोह	रागकेसरी का पिता
	सन्तोष	सदागम का अनुचर

मिथुनद्वय अन्तर कथा

		अन्य पात्र
तथाविध नगर	नगर	भोगतृष्णा
ऋजु	राजा	आर्जव
प्रगुणा	रानी	अज्ञान
मुग्ध	राजकुमार	पाप
अकुटिला	मुग्ध की पत्नी	
कालज्ञ	व्यन्तर	
विचक्षणा	व्यन्तरी	
प्रतिबोधक	केवलज्ञानी आचार्य	
शुभाचार	ऋजुराजा का छोटा पुत्र	
व्यन्तर	कामदेव मंदिर का अधिष्ठायक देवता	

नगर	बहिरंग-पात्र	परिचय		सामान्य-पात्र	परिचय
क्षितिप्रतिष्ठित	शत्रुमर्दन	राजा	कुशस्थल नगर	नन्दन	राजपुरुष
	मदनकन्दली	रानी			
	विभीषण	अन्तःपुर का सेवक			
	प्रबोधनरति	आचार्य			
	सुबुद्धि	मंत्री			
	सुलोचन	राजकुमार			
	धवल	सेनापति			
कुशावर्तपुर नगर	कनकचूड	जयस्थल नगर का राजा, कनकशेखर का पिता, नन्दिवर्धन का मामा			

	कनकशेखर	कुशावर्तपुर का राजा	चतुर	कनकशेखर का अग्ररक्षक
	कनकमंजरी	राजा कनकचूड और रानी मलयमंजरी की पुत्री. नन्दिवर्धन की दूसरी रानी	सुमति वरांग केशरी	} कनकचूड के प्रधान
			शूरसेन	
			कपिंजला	वृद्धगणिका, कनकमंजरी की धाय माता
			चूतमंजरी	कनकचूड राजा की रानी
			मलयमंजरी	कनकचूड राजा की रानी
			मणिमंजरी	कनकचूड राजा की पुत्री
विशालानगरी (बाह्य)	नन्दन	विशाला का राजा, नन्दिवर्धन का श्वसुर		
	प्रभावती	नन्दन राजा की रानी, विमलानना की माता		
	पद्मावती	नन्दन राजा की रानी, रत्नवती की माता		
	विमलानना	नन्दन राजा की पुत्री, कनकशेखर की रानी	विकट	नन्दन राजा का दूत
	रत्नवती	नन्दन राजा की पुत्री, नन्दिवर्धन की पत्नी	दारुक	दूत

कनकपुर (बाह्य)	विभाकर	राजकुमार	प्रभाकर	कनकपुर का राजा
			मधुसुन्दरी	प्रभाकर राजा की रानी
			प्रवरसेन	अम्बरीष भिल्ल-पल्ली का प्रधान

रौद्रचित्तपुर (अन्तरग नगर)	दुष्टाभि-सन्धि	राजा	समरसेन	कलिंग देश का राजा, विभाकर का सहायक
	निष्करुणता	रानी	द्रुम	वंग देश का राजा, विभाकर का मामा
	हिंसा	दुष्टाभिसन्धि की पुत्री		
तामसचित्त (अन्तरंग नगर)	द्वेषगजेन्द्र	राजा		
	अविवेकिता	रानी		
	वैश्वानर	पुत्र		
शार्दूलपुर नगर (बहिरंग नगर)	अरिदमन	राजा	रणवीर	चोरपल्ली का नायक
	रतिचूला	रानी		
	मदनमजूषा	राजकुमारी	विमलमति	अरिदमन का मंत्री
	विवेकाचार्य	केवली	स्फुटवचन	अरिदमन का प्रधान
	धराधर	विजयपुर का राजकुमार		

---

१. नन्दिवर्धन और वैश्वानर

❀ तिर्यंच गति मे प्राणी की सासारिक स्थिति कैसी विचित्र होती है इसका उल्लेख पिछले प्रस्ताव मे किया गया है। मनुष्य भव मे प्राणी की कैसी स्थिति होती है, इसका वर्णन अब प्रस्तुत किया जा रहा है।

सदागम, भव्यपुरुष और प्रज्ञाविशाला के समक्ष अगृहीतसकेता को लक्ष्य कर ससारी जीव अपनी कथा आगे कहता है—

नन्दिवर्धन का जन्मोत्सव

भद्रे अगृहीतसकेता! उसके पश्चात् नवीन एकभववेद्य गोली लेकर मैं तिर्यंच गति से निकलकर आगे जाने लगा। इस मनुजगति नगर (देश) मे एक भरत नामक मोहल्ला (प्रदेश) है। वहाँ नगरों में तिलक के समान जयस्थल नामक नगर है। उस नगर मे सर्व गुण-सम्पन्न पद्मराजा राज्य करते थे। उनके कामदेव की पत्नी रति जैसी सुन्दर नन्दा देवी नाम की रानी थी। भवितव्यता ने मुझे नन्दा देवी की कोख मे प्रवेश कराया। उचित समय तक मैं नन्दा के गर्भ मे रहा। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुण्योदय के साथ मैने अपनी माँ की कोख से जन्म लिया। नन्दा रानी ने मुझे देखा और उसे पुत्र हुआ ऐसा उसे अभिमान हुआ। इस समय प्रमोदकुम्भ नामक दासीपुत्र ने महाराजा को मेरे जन्म की बधाई दी। समाचार सुनकर पद्मराजा को बहुत आनन्द हुआ और हर्ष से उनका शरीर रोमाचित हो गया। बधाई लाने वाले प्रमोदकुम्भ को पुरस्कार दिया और महाराजा ने धूमधाम से मेरा जन्मोत्सव मनाने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार बहुत दान दिया गया, जेल से कैदी मुक्त किये गये, नगर-देवताओ का पूजन किया गया, दुकानो और गृह-द्वारो को तोरण, बन्दनवार आदि लटका कर सजाया गया। बड़े-बड़े राज-मार्गों पर जल और सुगन्धित पदार्थों का छिड़काव किया गया, आनन्द के बाजे बजने लगे, सुन्दर और उज्ज्वल वस्त्र पहिन कर नागरिक राजभवन मे आने लगे, अतिथियो का यथायोग्य मान-सन्मान के साथ आदर सत्कार किया गया। शहनाई और दूसरे बाजे बजने लगे, स्त्रियाँ धवल मगल गाने लगी। कचुकी, बौने, कुबड़े और नागरिक स्त्रियो के साथ नाचने लगे। इस प्रकार मेरा जन्म-महोत्सव आनन्द पूर्वक मनाया गया। इसके एक महीने बाद ससारी जीव की जगह मेरा नाम नन्दिवर्धन रखा गया। मुझे भी यह अभिमान हुआ कि मैं राजपुत्र हूँ। मैं अपनी क्रीडाओ से माता-पिता को आह्लादित करता हुआ, पाँच धाय माताओ से ❀ लालित-पालित होता हुआ क्रमशः तीन वर्ष का हो गया।

❀ पृष्ठ १३९ ❀ पृष्ठ १४०

वैश्वानर का जन्म-स्वरूप

मैं असव्यवहार नगर से आगे चला तभी से मेरे अन्तरंग और वहिरग दो प्रकार के परिवार थे। इसी अन्तरग परिवार मे पहले से ही अविवेकिता नामक ब्राह्मणी मेरी धाय थी। मेरा जन्म हुआ उसी दिन मेरी धाय ने भी एक लडके को जन्म दिया। उसका नाम वैश्वानर रखा गया। यह लड़का गुप्त रूप से तो प्रारम्भ से ही मेरे साथ था, पर अव वह सब को दिखाई देने योग्य स्पष्ट आकार मे मेरे साथ उत्पन्न हुआ। मैने जव इस ब्राह्मण पुत्र वैश्वानर को देखा तब उसका आकार था—उसके टेढे-मेढे और लम्बे-चौडे वैर और कलह नामक दो पैर थे। स्थूल, कठिन और छोटी-सी ईर्ष्या तथा स्तेय नाम की जघाए (पिंडलिया) थी। अत्यन्त टेडी-मेढी और विषम अनुशय (द्वेष) तथा अनुपशम (अशान्ति) नामक दो ऊरु (सांथल) थे। एक तरफ से ऊँची पैशुन्य नामक कटि (कूल्हा) थी। परमर्मोद्घाटन नामक टेढा, विषम और लम्बा पेट था। अन्तस्ताप नामक सिकुड़ी हुई छोटी सी छाती थी। आडे, टेढे, मोटे. पतले क्षार और मत्सर नामक भुजाएँ थी। वांकी, टेढी और लम्बी शिर को अधर रखने वाली क्रूरता नामक गर्दन थी। होठो से वाहर निकले हुए और दूर-दूर, बडे-वडे असभ्यभाषण नामक दान्तो से वह वडा ही भयकर लगता था। चण्डत्व और असहिष्णुता नामक जिन कानों के छेद मात्र दिखाई देते हो ऐसे दो कानो से वह हसी का पात्र बना हुआ था। तामसभाव नामक वहुत चपटी नाक थी जो उस स्थान पर केवल चिन्ह के रूप मे शेष रह गई थी जिससे वह हसी का पात्र वन गया था। रौद्रत्व और नृशंस नामक दो गोल-मटोल आँखे थी जो चिरमी जैसी लाल सुर्ख लगती थी जिससे उसका रूप महा भयंकर लगता था। अनार्य आचरण नामक मोटा तिकोना ललाट था जो हिलते रहने से नाटक की प्रतीति कराता था। परोपताप नामक अग्निशिखा जैसे पीले और घने केशभार से वह अपना वैश्वानर नाम यथार्थ कर रहा था। इस प्रकार के वैश्वानर नामक ब्राह्मण पुत्र का मेरे साथ ही जन्म हुआ था।

अनादि काल से परिचय के कारण मेरा वैश्वानर पर स्नेह उत्पन्न हो गया। मैंने उसे अपना सच्चा मित्र समझ कर ही ग्रहण किया था, पर वास्तव मे तो वह मेरा शत्रु था, यह वात उस समय मेरी समझ मे नही आई। यह मेरा अन्तरग परिजन और मेरी धाय अविवेकिता का पुत्र है इसलिये मेरा हितकारी ही होगा ऐसा दृढ विश्वास उस समय मेरे मन मे था। मेरे मन के इस निर्णय का पता वैश्वानर को लग गया। 'अरे ! राजपुत्र तो मेरे प्रति प्रेम करता है' ऐसा सोचकर वह मेरे पास आने लगा। जव वह मेरे पास आया तो मैंने उसे गले से लगाकर उसके प्रति स्नेहभाव दिखाया। परिणाम स्वरूप हमारे वीच मित्रता वढने लगी। फिर हमारी मित्रता इतनी बढ़ी कि घर या वाहर जहाँ कही मैं जाता, मेरा मित्र हमेशा मेरे साथ रहता, एक क्षण भी मेरे से अलग नही रहता।

पुण्योदय को मानसिक खेद

वैश्वानर के साथ मेरी मित्रता को देखकर पुण्योदय नामक मेरा अन्तरग मित्र जो गुप्तरूप से मेरे साथ आया था मन मे अत्यधिक रुष्ट हुआ। उसने सोचा, अरे ! * वैश्वानर तो मेरा शत्रु है परन्तु यह नन्दिवर्धन वस्तुस्थिति को समझे बिना ही अन्तरग रूप से साथ रहते हुए भी मेरे अनुराग का तिरस्कार कर, समस्त दोषो का भण्डार और परमार्थत जो शत्रु है उस वैश्वानर के साथ मैत्री करता है। अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है ! सत्य ही है—'अज्ञानी मूर्ख प्राणी पापी-मित्र के स्वरूप को नही समझते, ऐसे मित्र की सगति का परिणाम कितना भयकर होगा इसे वे नही जानते, उसका साथ छोडने का सदुपदेश देने वाले की बात का आदर नही करते, पापी-मित्र के लिये दूसरे सन्मित्रो का भी त्याग कर देते है, पापी-मित्र की सगति के वश होकर वे कुमार्ग पर चल पड़ते है। जैसे अन्धे दौड़ते हुए दीवार से जोर की टक्कर खाकर पीछे हटते हैं उसी तरह कुसगति मे पडे हुए लोगो की जब बहुत अधिक दुर्गति हो जाती है तभी वे कुमार्ग से पीछे हटते है, किन्तु दूसरो के उपदेश से नही।' यह नन्दिवर्धन कुमार ऐसे पापी-मित्र की सगति करता है, अत. यह भी मूर्ख ही है। अभी मेरे समझाने से या रोकने से क्या फल होगा। भवितव्यता ने मुझे उसके सहचारी के रूप मे रहने को कहा है। पूर्व-भव मे कुमार जब हाथी था तब इसने माध्यस्थ भाव से बहुत वेदना सही तथा समता पूर्वक निश्चल रहा, उस समय उसने मेरे मन पर अच्छा प्रभाव डाला; अत: यद्यपि यह अभी पापी-मित्र की कुसगति मे पड गया है तथापि बिना योग्य अवसर के इसे छोड देना उचित नही है। ऐसा विचार करते हुए मेरा साथी पुण्योदय यद्यपि मुझ पर क्रोधित हुआ था तब भी पहले की ही भाति छिपकर मेरे साथ रहा।

वैश्वानर के साथ प्रीति : मित्रों के साथ असद् व्यवहार

वैश्वानर मेरा अन्तरग मित्र था। उसके अतिरिक्त भी मेरे कई बहिरग मित्र थे। उन सभी मित्रो के साथ अनेक प्रकार की क्रीडा करते हुए मैं बडा होने लगा। खेल मे मेरे से अधिक उम्र के, उच्चकुल के, अधिक पराक्रम वाले लडके भी वैश्वानर से अधिष्ठित (क्रोधी मुद्रा वाला) होने के कारण मेरे से भय से काँपते थे, मेरे पाँव पडते थे, मेरी चाटुकारिता करते थे, मेरे रक्षक बन कर मेरे आगे दौडते थे और मेरे वचनो का तनिक भी अनादर नही करते थे। अधिक क्या ! मेरी झलक मात्र से, मेरी परछाई से भी वे डर जाते थे। इस सब का वास्तविक कारण तो गुप्तरूप से मेरे साथ रहने वाला अनन्त शक्तिमान मेरा मित्र पुण्योदय ही था, पर महामोह के वश मुझे ऐसा लगता था कि मुझ से बड़े लडके भी जो मुझ से डरते है उसका कारण मेरा अन्तरग मित्र वैश्वानर ही है। क्योकि, मेरा वह मित्र जब मुझ पर अधिष्ठित होता है तब अपनी अतुलनीय शक्ति से मेरी तेजस्विता को बढाता है,

* पृष्ठ १४१

मुझे उत्साहित करता है, मेरे बल को जागृत करता है, मेरे तेज को बढाता है, मन को स्थिर करता है, धैर्य उत्पन्न करता है और मेरे बडप्पन को जागृत करता है। सक्षेप मे कहूँ तो पुरुष के योग्य सभी गुणो का वैश्वानर मुझ मे नियोजन करता है। ऐसे विचारो से वैश्वानर पर मेरी प्रीति वढने लगी और वह मेरा परम मित्र वन गया।

कलाभ्यास

क्रमश: बढता हुआ जब मै आठ वर्ष का हुआ तब मेरे पिता पद्मराजा ने मुझे शिक्षा प्रदान करवाने का विचार किया। इस कार्य के लिये ज्योतिषी से शुभ दिन पूछा गया, ❀ एक विद्वान् प्रधान कलाचार्य को वुलाया गया, विधिपूर्वक उनकी पूजा की गई और इस प्रसग के योग्य सभी क्रियाएँ पूर्ण कर आदर पूर्वक मेरे पिता ने मुझे कलाचार्य को सौंपा। मेरे भाई-भतीजे और अन्य राजपुत्र भी शिक्षा ग्रहण करने के लिये इन्ही कलाचार्य को पहले सौंपे गये थे। उन सव के साथ मैं भी कला-ग्रहण (अध्ययन) करने लगा। अभ्यास के समग्र साधन होने से, पिता का शिक्षा के प्रति प्रवल उत्साह होने से, कलाचार्य का मेरे अभ्यास के प्रति विशेष आकर्षण होने से, वालपन मे चिन्तारहित होने से, पुण्योदय के सर्वदा साथ होने से, क्षयोपशम उत्कृष्ट होने से और उस समय भवितव्यता के अनुकूल होने से, दूसरे किसी भी कार्य मे ध्यान न देकर एकचित्त से शिक्षा ग्रहण करते हुए मैं अल्प समय मे ही कलाचार्य से सभी कलाएँ सीख गया।

वैश्वानर की मित्रता का दुष्प्रभाव

मेरा मित्र वैश्वानर जो मुझे अत्यन्त प्रिय था मेरे पास ही रहता था और मेरे शिक्षा काल मे भी कभी-कभी कारण-अकारण मुझे मिल जाया करता था। मेरा प्यारा मित्र जब भी मुझे मिलता मैं कलाचार्य के उपदेश को भूल जाता, मेरे उत्तम कुल को कलक लगने की परवाह नही करता यह सब जानकर मेरे पिताजी को दु ख होगा इसका भय नही रखता, मै इन बातो के परमार्थ (रहस्य) को समझ नही पाता, हृदय की अर्न्तज्वाला को भी मैं नही पहिचान पाता और मेरी शिक्षा व्यर्थ हो रही है इसे भी नही समझता। मैं तो केवल वैश्वानर को मेरा परम मित्र मानते हुए उसके कहने के अनुसार पसीने से लथपथ होकर, अगारे जैसी लाल आँखे और भवे चढाकर मैं अन्य विद्यार्थियो से लडाई-झगडा करता, सव की गुप्त बातो की चुगली कलाचार्य से करता और अशिष्ट वचन वोलता। यदि कोई बीच मे पड़कर मुझे समझाने का प्रयत्न करता तो मै सहन नही करता और पास मे डण्डा या जो कुछ होता उससे उसको पीट देता। वैश्वानर इसके साथ है, यह जानकर वे सभी सहाध्यायी भय से त्रस्त होकर जैसा मुझे अनुकूल लगे वैसा ही वोलते, मेरी चाटुकारिता करते और मेरे पाँव पडते। अधिक क्या! सभी राजपुत्र शक्तिशाली थे

❀ पृष्ठ १४२

फिर भी जैसे नागदमनी औषधि से सर्प हतप्रभ हो जाते हैं वैसे ही मेरी गधमात्र से अपनी स्वतन्त्र चेष्टा को त्याग कर उद्विग्न मन से भय से कापते हुए, जेल मे पडे हुए कैदियो की तरह महादु ख से अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये वहाँ शिक्षण लेते हुए अपना समय व्यतीत कर रहे थे। मेरे से वे इतने भयभीत थे कि ये सब घटनाएँ कलाचार्य को कहने का साहस भी नही कर पाते थे, क्योकि उनको भय रहता कि ऐसा करने से उन सब का नाश होगा। सर्वदा सन्निकट रहने के कारण कलाचार्य मेरी समस्त उच्छखल चेष्टाओ को जानते ही थे और मेरी अनुशासन-हीनता का अन्य विद्यार्थियो पर क्या प्रभाव पड रहा है इसे जानकर भी वे मुझे दण्ड देने का साहस नही कर पाते थे, क्योकि वे स्वय भी मन मे मेरे से भयभीत थे। यदि किसी बहाने से कभी वे मुझे कुछ कहने का प्रयास भी करते तो मैं उनका भी तिरस्कार करता, इतना ही नहीं कभी तो उन्हे मार भी देता। इसके बाद तो अन्य राजकुमारो की तरह वे भी मेरे से दूर ही रहने लगे।

इन सब घटनाओ पर विचार करते हुए महामोह के वशीभूत मै सोचने लगा—'अहो ! मेरे परम मित्र वैश्वानर का प्रताप और माहात्म्य ! अहो इसका हितकारीपन ! ❀ अहो इसका कौशल ! अहो इसका वात्सल्य भाव ! और मुझ पर उसका प्रेम पूर्ण दृढ अनुराग ! जब वह मुझ से प्रेम पूर्वक मिलता है तो मेरा पराक्रम बढ जाता है जिससे सर्वत्र राजा की भाति मेरा एक छत्र शासन चलता है। यह सब मेरे मित्र वैश्वानर का ही प्रताप है। वह मुझे एक क्षण भी नही छोड़ता अत. वह मेरा सच्चा भाई, मेरा शरीर (अग), मेरा सर्वस्व, जीवन और परम तत्त्व है। इस वैश्वानर के बिना पुरुष कुछ भी नही कर सकता वह मास का पुतला मात्र रह जाता है।' ऐसे विचारो से मेरा वैश्वानर पर दृढ अनुराग अधिकाधिक बढता गया।

वैश्वानर में अनुरक्त नन्दिवर्धन

एक बार मैं और वैश्वानर एकान्त मे बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे, उस समय मैंने विश्वस्त होकर कहा—

श्रेष्ठ मित्र ! मुझे कुछ अधिक कहने की तो आवश्यकता नही है, मात्र इतना बता देना चाहता हूँ कि मेरे प्राण तेरे अधीन है और तुझे अपनी इच्छानुसार उन्हे प्रयुक्त करना है।

इस प्रकार मेरी बात सुनकर वैश्वानर ने सोचा कि चलो अपना परिश्रम तो सफल हुआ, क्योकि यह अब पूर्णरूपेण मेरे वश मे हो गया है। ऐसा विचार कर वैश्वानर मुझ पर अधिक प्रेम दिखाने लगा। परस्पर प्रेम मे अनुरक्त प्राणी एक दूसरे का कहा हुआ सुनते है, किसी भी प्रकार के सकल्प-विकल्प बिना उसे ग्रहण करते है, उस पर अन्तरग से व्यवहार करते है और जो काम करने को कहा गया हो उसको तुरन्त पूर्ण करते है। अतएव अब उचित समय आ गया है यह जानकर

❀ पृष्ठ १४३

उसने मुझे कहा—कुमार तेरी बात ठीक है, इसमे जरा भी शका नही। यह सब मैं जानता हूँ, फिर भी मेरे समक्ष तुम यह सब बताते हो इसका कारण केवल तुम्हारी कृपा ही है। इस महाप्रसाद (कृपा) का फल ऐसा है कि जो प्राणी इसे प्राप्त करते है वे हर्षाधिक्य मे आकर व्यक्त अर्थवाली वास्तविकता को भी बार-बार कहते है। इसमे कौन सी नवीनता है ! पर, मित्र ! यदि तेरा निर्देश हो तो तेरे प्राणो को भी मैं अक्षय बनादूँ, यही मेरी अभिलाषा है।

नन्दिवर्धन—यह कैसे कर सकते हो ?

वैश्वानर—मैं कुछ रसायन विद्या भी जानता हूँ।

नन्दिवर्धन—ऐसी बात है तब मेरे प्राणो को अक्षय कर दो।

वैश्वानर—जैसी कुमार की आज्ञा।

वैश्वानर का प्रसाद

इसके पश्चात् वैश्वानर ने क्रूरचित नामक बडे तैयार किये और जब मैं एकान्त मे बैठा था तब मेरे पास ले आया और कहा—कुमार! यह बडे मैंने अपनी शक्ति से तैयार किये है। इसके खाने से अधिक शक्ति प्राप्त होती है, प्राणी की इच्छानुसार आयुष्य लम्बी होती है और जो कुछ इच्छा हो वह भी पूर्ण होती है, अत इन बडो को तुम ग्रहण करो अर्थात् ये बडे तुम खाओ।

हमारे बीच बातचीत चल रही थी तभी पार्श्व के कमरे मे बैठा हुआ कोई पुरुष मन्द स्वर मे बोला—तेरे इच्छित स्थान (नरक) मे अब यह उत्पन्न होगा, इसमे क्या सन्देह है ?

इस प्रकार कोई बहुत ही धीमी आवाज से बोला जो मुझे नही सुनाई पडा, पर वैश्वानर ने उसे सुन लिया और मन मे विचार करने लगा—'ओह! मेरी इच्छा पूर्ण होगी। मेरे द्वारा तैयार किये बडे खाने से यह नन्दिवर्धन महा नरक मे जायगा। वहाँ जन्म लेगा और लम्बी आयु पायेगा। इस ध्वनि का अन्य क्या अर्थ हो सकता है? मुझे तो महानरक का स्थान ही अधिक अभीष्ट है।' यह बात जानकर मेरे मित्र के मन मे सतोष हुआ।

मैंने कहा—तेरे जैसा मित्र मेरे अनुकूल होगा तो कौनसी कामना पूर्ण नही होगी ?

मेरे वचन सुनकर वैश्वानर ❋ द्विगुणित प्रसन्न हुआ। मुझे बडे दिये, मैंने तुरन्त बड़े ले लिये। फिर उसने कहा—कुमार! तुम्हे मुझ पर एक और कृपा करनी होगी। जब-जब मैं दूर से तुम्हे सकेत करूँ तब बिना किसी सकल्प-विकल्प के इनमे से एक बडा तुम खा लेना। मैंने हँसते हुए कहा—इस विषय मे प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है? मैं अपने प्राण, आत्मा, सर्वस्व तुझे सौप ही चुका हूँ।

वैश्वानर—महती कृपा! मैं अन्त करण से कुमार का आभारी हूँ।

❋ पृष्ठ १४४

विदुर की सूचनायें

इधर एक दिन मेरे पिता पद्म राजा ने राजवल्लभ विदुर नामक विश्वसनीय सेवक को बुलाकर कहा—विदुर! कुमार नन्दिवर्धन को जब मैंने कलाचार्य के पास भेजा था तब उसे शिक्षा दी थी कि वह एकाग्रचित्त होकर मात्र कला-ग्रहण मे ही अपना मन लगाये। मैंने उसे यह भी आदेश दिया था कि वह मुझ से मिलने भी नही आये (क्योंकि यहाँ आने से अभ्यास की एकाग्रता मे विघ्न पडता है)। समय-समय पर मैं स्वय आकर उससे मिल लूगा। पर, राज्य-कार्य मे अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण मेरा वहाँ जाना नही हो सकेगा, अत. तुम प्रतिदिन स्वय गुरुकुल जाकर उसके अभ्यास, स्वास्थ्य आदि का पता लगाकर मुझे सूचित करना। विदुर ने राजाज्ञा को मान्य किया।

मेरे पिता की आज्ञानुसार विदुर प्रतिदिन मेरे पास आने लगा। फलतः मेरे सहपाठी छात्रो को तथा कलाचार्य को मैं कितना क्षुब्ध करता था, सब को कितना त्रास देता था आदि व्यवहार उसने स्वय देखा। मेरे पिता को यह सब बतलाने से आघात लगेगा ऐसा सोचकर कुछ दिन तो उन्हे कुछ नही बतलाया, पर प्रतिदिन मेरे त्रासदायक रूप को बढता देखकर एक दिन उसने पिताश्री को सब बता दिया। पिताश्री ने सब सुनकर विचार किया, 'यह विदुर कभी असत्य नही बोल सकता, पर कुमार भी तो ऐसा अयोग्य आचरण नही कर सकता? अवश्य ही इसमे कुछ रहस्य है जो मेरी समझ मे नही आ रहा है। विदुर के कथनानुसार यदि कुमार कलाचार्य को भी त्रास दे रहा हो तो उसे कला-शिक्षा ग्रहण करवाने से क्या लाभ?' ऐसे विचारो से मेरे पिता के मन मे दुख हुआ और उन्हे चिन्ता होने लगी। फिर मेरे पिता ने दृढ निश्चय किया कि, 'इस विषय मे स्वय कलाचार्य को बुलाकर, उन्ही से सब बात पूछकर निर्णय लेना उचित होगा। वास्तविकता जानने के बाद उसके निवारण के उपाय सोचकर उन्हे कार्य रूप मे परिणित करने का प्रयत्न करूँगा।' इस प्रकार निश्चय कर उन्होने विदुर को आज्ञा दी कि वह सम्मानपूर्वक कलाचार्य को बुला लाये।

पद्मराजा और कलाचार्य का वार्तालाप

विदुर स्वय जाकर कलाचार्य को बुला लाया। कलाचार्य को आते देखकर मेरे पिताजी उनके स्वागत मे खडे हुये, उन्हे आसन दिया, पूजा सत्कार किया और उनकी आज्ञा लेकर सिंहासन पर बैठे।

पद्म राजा—आर्य बुद्धिसमुद्र! सभी कुमारो की शिक्षा ठीक से चल रही है न?

कलाचार्य—देव! आपकी कृपा से सब की शिक्षा बहुत भली प्रकार चल रही है।

पद्म राजा—बहुत अच्छा! कुमार नन्दिवर्धन ने भी कुछ कलाएँ ग्रहण की या नही?

कलाचार्य—हाँ, कुमार नन्दिवर्धन सब कलाओ मे कुशल हो गया है, सुनिये—* सर्वलिपियो का ज्ञान तो मानो उसका स्वय का हो ऐसा हो गया है, गणित तो मानो उसने ही बनाया हो ऐसा हो गया है, व्याकरण तो उससे ही उत्पन्न हुआ हो ऐसा उत्तम ज्ञान उसे हो गया है। ज्योतिष तो मानो उसमे घर कर गया है. अष्टाग निमित्त तो उसके आत्मभूत हो गए है, छन्द शास्त्र मे इतना प्रवीण हो गया है कि दूसरो को भी समझाता है। उसने नृत्य शास्त्र का भी अभ्यास किया है, सगीत का भी शिक्षण लिया है। प्रियतमा के समान हस्ति शिक्षा, साथी के समान धनुर्वेद, मित्र के समान आयुर्वेद, आज्ञापालक के समान धातुवाद और मनुष्य के लक्षण, व्यापार के क्रय-विक्रय का ज्ञान, लक्ष्यभेदी बाण, निशाना ताक कर अमुक पत्ते को ही किस प्रकार बीधना आदि विद्याए तो उसकी दासी बन गई हैं। आपके समक्ष अधिक क्या वर्णन करू ? सक्षेप मे ऐसी कोई कला नही बची है जिसमे कुमार पारगत न हुआ हो।

उपर्युक्त वर्णन सुनकर पद्म राजा की आँखो मे हर्ष के अश्रु छलक आये। पश्चात् उन्होने कलाचार्य से कहा, आर्य ! ठीक है, ऐसा ही होना चाहिये और ऐसा हो, इसमे कोई आश्चर्य भी नही है। आप जैसे गुरु की शिक्षा-दीक्षा से कुमार को क्या प्राप्त नही हो सकता ? आप जैसे गुरु को प्राप्त कर कुमार वास्तव मे भाग्यशाली है।

कलाचार्य -देव ! ऐसा न कहिये। हम क्या है ! सब आपका ही प्रताप है।

पद्म राजा—इन औपचारिक वचनो की क्या आवश्यकता है ? वस्तुत आपकी कृपा से ही कुमार नन्दिवर्धन समस्त गुणो को धारण करने वाला बना है, जानकर हमे अत्यधिक आनन्द हुआ है।

कलाचार्य - देव ! कार्य करने के लिये नियुक्त व्यक्ति को कभी भी अपने स्वामी को ठगना नही चाहिये। इस नियम के अनुसार मैं आपसे कुछ विशेष बात कहना चाहता हूँ। वह बात योग्य या अयोग्य कैसी भी हो आप मुझे क्षमा करेंगे। देव ! यथ र्थ और मनपसद दोनो विशेषताये वाणी मे मिलना कठिन है। (क्योंकि सच्ची बात कई बार अच्छी नही लगती और मधुर बोलने वाले सदा सच्ची बात नही कह पाते, कारण सच्चाई मे कटुता आ ही जाती है।)

पद्म राजा—आर्य ! आपको जो कुछ कहना हो नि सकोच कहिये। सत्य बोलने मे क्षमा मागने की क्या आवश्यकता है ?

कलाचार्य—महाराज ! ऐसा कह रहे है तो सुनिये। आपने कहा कि कुमार नन्दिवर्धन सर्व गुण-सम्पन्न हुआ, इस प्रसग मे मेरा कहना है कि कुमार के स्वाभाविक स्वरूप को देखते हुये ऐसा ही होना चाहिये, इसमे सन्देह नही है। परन्तु, जैसे कलक से चन्द्रमा, काटे से गुलाब, कजूसी से धनाढ्य, निर्लज्जता से स्त्री,

---

* पृष्ठ १४५

कादरपन से पुरुष और परपीडा से धर्म दूषित होता है उसी प्रकार समस्त गुणों का भण्डार कुमार भी वैश्वानर नामक मित्र की संगति से दूषित हुआ है ऐसा मैं समझता हूँ। क्योंकि, सभी कलाओं की कुशलता के लिये अलंकार रूप प्रशम (शांति) परमावश्यक है। वैश्वानर पापी मित्र है, अत जितने समय तक वह कुमार के साथ रहता है उतने समय वह अपनी शक्ति से कुमार के प्रशम (शांति) का नाश करता है। वह वैश्वानर कुमार का महान शत्रु है, परन्तु दुर्भाग्य से महामोह के वशीभूत कुमार उसे अपना बडा उपकारी मानता है। कुमार के शांतिरूपी अमृत को इस पापी-मित्र ने नष्ट कर दिया है. अतः उसमें दूसरे कितने भी गुण क्यो न हो, किन्तु समस्त ज्ञान की सारभूत प्रशम (शांति) के बिना सारे गुण व्यर्थ है।

वैश्वानर के संपर्क से मुक्त करने पर विचार

कलाचार्य की बात सुनकर पद्म राजा को वज्राहत के समान महान दुःख हुआ। थोड़ी देर बाद महाराजा ने विदुर से कहा. * हे भद्र! चन्दन रस के छींटों से शीतल पवन देने वाले इस आलावर्त (वस्त्र का पखा) को बन्द कर। मुझे बाह्य ताप इस समय कुछ भी पीडा नहीं दे रहा है। तू जाकर तुरन्त कुमार को बुलाकर यहाँ ला। कुमार को मैं स्पष्ट कह दूँगा कि अब से वह पापी-मित्र वैश्वानर की संगति बिल्कुल नहीं करे ताकि इस कारण से मुझे जो दुःसह आन्तरिक ताप हुआ है उसका निवारण हो सके।

विदुर ने पंखा बन्द कर जमीन पर रखा और दोनों हाथ जोड़ सिर झुका कर नमस्कार करते हुए कहा—जैसी महाराज की आज्ञा। परन्तु, आपने जो बड़ा कार्य मुझे सौंपा है उसे ध्यान में रखकर, यद्यपि मुझे आपकी आज्ञा के सम्बन्ध मे कुछ भी बोलने का अधिकार तो नहीं है, फिर भी नियुक्त परामर्शी के स्थान पर यदि मैं अपना विचार प्रकट करूं तो आप उस पर ध्यान देने की कृपा करेंगे और मुझ पर क्रोधित न होंगे।

पद्म राजा—भद्र! हितकारी बात कहने वाले पर कौन क्रोध करेगा, तुझे जो कुछ कहना हो निःसंकोच कह।

विदुर—देव! आप कुमार को यहाँ बुलाकर, समझाकर वैश्वानर का साथ छुड़वाने की सोच रहे है, पर मैंने तो कुमार के अल्प परिचय से ही यह जान लिया है कि कुमार वैश्वानर का अतरंग मित्र बन चुका है और उसकी संगति छुड़वाने मे अभी कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। कुमार इस पापी-मित्र को अपना पूर्णरूपेण हितेच्छु समझता है और उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि वह थोड़ी देर भी दूर रहता है तो कुमार का धैर्य नष्ट हो जाता है और उसे चिन्ता होने लगती है तथा उसके बिना अपने को तृण जैसा तुच्छ समझने लगता है। अत. यदि आप कुमार से इस पापी-मित्र की संगति छोड़ने के लिये कहेंगे

* पृष्ठ १४६

तो मैं कल्पना करता हूँ कि इससे उसे बहुत उद्वेग होगा, सभव है वह आत्महत्या भी करले या अन्य कोई अनर्थ कर बैठे। अत: आप स्वय इस सम्बन्ध मे कुमार से कुछ कहे, यह मुझे तो उचित नही लगता।

कलाचार्य—राजन्! विदुर ने आपके समक्ष जो विचार रखे हैं वे वास्तव मे युक्तिसंगत और सत्य है। मैने स्वय भी उस पापी-मित्र की सगति से कुमार को छुडाने का बहुत बार कठिन प्रयत्न किये है। मेरे मन मे बार-बार विचार आता है कि किसी भी प्रकार कुमार और इस पापी-मित्र वैश्वानर की मित्रता भग हो जाये तो कुमार वास्तव मे अपने नाम को सार्थक करने वाला नदिवर्धन अर्थात् आनन्द में वृद्धि करने वाला बन जाय। पर, इन दोनो का सम्बन्ध इतना अधिक प्रगाढ हो गया है कि कुमार कही कोई अनर्थ न कर बैठे इसी भय से वैश्वानर की सगति मैं नही छुडा सका। इसीलिए मैं मानता हूँ कि कुमार और वैश्वानर का साथ छुडाने का प्रयत्न करना अशक्य अनुष्ठान जैसा ही है।

पद्म राजा- आर्य! फिर इसका क्या उपाय किया जाय?

कलाचार्य—यह तो बहुत गहन बात है। मै भी इसका उपाय नही जान पाया हूँ।

विदुर- देव! मैने सुना है कि भूत, भविष्य और वर्तमान काल के सर्व पदार्थो को जानने वाला सिद्धपुत्र जिनमतज्ञ नामक एक प्रसिद्ध नैमित्तिक आजकल अपने नगर मे आया हुआ है। सभवत वह बता सके कि इस सम्बन्ध मे अपने को क्या उपाय करना चाहिये?

पद्म राजा—बहुत अच्छा। तो फिर तुम स्वय जाकर उन्हे यहाँ बुला लाओ।

विदुर—जैसी महाराज की आज्ञा।

❀

२. क्षान्ति कुमारी

विदुर जिनमतज्ञ नैमित्तिक को बुलाने गया और थोडे ही समय मे उन्हे साथ लेकर वापिस आ गया। राजा ने नैमित्तिक को दूर से देखा ※ और उनकी आकृति को दूर से देखकर ही उन्हे सतोष हुआ। उन्हे बैठने को आसन दिया और उनका उचित आदर सत्कार किया। उसके पश्चात् नन्दिवर्धन के सम्बन्ध मे अभी तक जो कुछ घटित हुआ वह सब उन्हें कह सुनाया। उसे सुनकर बुद्धि-नाडी के सचार (स्वरोदय) से नैमित्तिक ने कहा—महाराज! आप जो प्रश्न पूछ रहे है, इस सम्बन्ध मे अन्य कोई मार्ग नही है। उसका मात्र एक ही उपाय है और वह भी बहुत कठिन है।

पद्म राजा—हे आर्य! वह उपाय क्या है? आप निःसंकोच कहे।

चित्तसौन्दर्य नगर

जिनमतज्ञ—सुनिये महाराज! एक चित्तसौन्दर्य नामक नगर है जो समस्त उपद्रवों से रहित और सर्व गुणों का निवास स्थान है, कल्याण-परम्परा का कारण है और मन्दभाग्य प्राणियो को दुर्लभ है।

इस नगर में रहने वाले पुण्यशाली जीवों को रागादि चोर किसी प्रकार का दु.ख नही पहुँचा सकते। इस नगर के निवासियो को क्षुधा, तृषा आदि किसी प्रकार भी प्रभावित नही करती हैं। अतः विद्वान् प्राणी इस नगर को सर्व उपद्रवों से रहित कहते है। [१–२]

इस नगर मे रहकर लोग ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनते है और उस नगर में रहने वालों को कला में जितनी कुशलता प्राप्त होती है उतनी अन्य किसी स्थान पर प्राप्त नही हो सकती। वहाँ के निवासियो को उदारता, गम्भीरता, धैर्य, वीरता आदि गुण सहज ही प्राप्त होते है। इसीलिये इस नगर को सर्व गुणो का निवास स्थान कहा गया है। [३–४]

चित्तसौन्दर्य नगर के भाग्यशाली निवासियो को क्रमशः उत्तरोत्तर विशिष्ट प्रकार की सुख की श्रेणिया प्राप्त होती रहती है और जो सुख प्राप्त होता है उससे कभी अध.पतन नही होता। अत. इस नगर को कल्याण-परम्परा का कारण कहा गया है। [५–६]

यह नगर समग्र उपद्रव-रहित, समस्त गुणो से विभूपित और कल्याण-परम्परा का कारणभूत होने से सर्वदा आनन्द देने वाला और पुण्यशाली जीवों का निवास स्थान है। इसीलिये मन्दभाग्य प्राणियो को उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। [७–८]

※ पृष्ठ १४७

शुभपरिणाम राजा

इस नगर में सकल प्राणियों का हितकारक, दुष्ट-दलन में विशेष प्रयास करने वाला, सज्जन मनुष्यो के रक्षण में विशेष ध्यान देने वाला और कोष तथा दण्ड देने की दक्षता से परिपूर्ण शुभपरिणाम नामक राजा राज्य करता है।

वहाँ के निवासियो के चित्त मे होने वाले सभी प्रकार के सतापो को वह राजा शात करता है और उससे किञ्चित् भी सम्बन्ध रखने वाले प्राणियो को भी अत्यधिक आनन्द प्रदान करता है तथा जगत् के सर्व प्राणियो को सत्कार्यो की ओर प्रवृत्त करता है। इसलिये विद्वान् उसे समस्त लोगो का हितकारक कहते हैं। [१-२]

राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, मद, भ्रम, काम, ईर्ष्या, शोक, दैन्य आदि दुःख देने वाले भावो को और जो अपनी दुश्चेष्टाओ से बारम्बार लोगो को सताप देते है, उन सब को यह राजा जड़-मूल से उखाड फैंकने वाला है और इस विषय मे वह सर्वदा सावधान रहता है। [३-४]

ज्ञान, वैराग्य, सतोष, त्याग, सयम, सौजन्य आदि मनुष्य मात्र को आह्लादित करने वाले गुणो और मान्य पुरुषो द्वारा सम्मत ऐसे अन्य गुणो का परिपालन करने मे यह राजा सर्वदा तत्पर रहता है। इस कार्य को यह राजा अन्य सभी कार्यो की अपेक्षा अधिक मनोयोग से करता है। [५-६]*

महाराजा का भण्डार बुद्धि, धैर्य, स्मृति, सवेग, समता आदि गुणरत्नो से प्रतिक्षण बढता रहता है। रथ, हाथी, अश्व और पैदल चार प्रकार की सेना से रक्षित अन्य राजाओ के समान इसने दान, शील, तप और भावरूपी चार प्रकार की सेना से अपने राज्य-दण्ड का निरन्तर विस्तार किया है। [७-८]

इसीलिये इस राजा को दुष्टो का निग्रह करने वाला, शिष्टो का परिपालक और कोष तथा दण्ड से समृद्ध कहा गया है। [६]

निष्प्रकम्पता रानी

इस महाराजा की निष्प्रकम्पता नामक महारानी है। वह अद्वितीय शारीरिक सौन्दर्य से विजय-ध्वज धारण करने वाली, कला-कौशल से त्रिभुवन मे विजय प्राप्त करने वाली, नाना प्रकार के विलासो से कामदेव की प्रिया रति के विभ्रमो को तिरस्कृत करने वाली और अपनी पति-भक्ति से अरुन्धती के माहात्म्य को भी पीछे छोड देने वाली है।

देवता, असुर और मनुष्यों की स्त्रियो मे सब से सुन्दर स्त्रियाँ अपने शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनकर साधु-समुदाय को विचलित करने का सामूहिक प्रयत्न करे और दूसरी तरफ अकेली निष्प्रकम्पता को रखा जाय तो उनका

* पृष्ठ १४८

चित्त केवल निष्प्रकम्पता महादेवी की तरफ ही आकर्षित होगा, अतएव अद्वितीय शारीरिक सौन्दर्य की धारिका होने से महादेवी को विजय-ध्वज धारण करने वाली कहा गया है। [१-३]

तीनो लोको में रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र, चन्द्र आदि प्रसिद्ध कलाकार हैं और इनके अतिरिक्त अन्य जो भी लोक-विख्यात कलाकार है वे सब लोभ, काम, क्रोध आदि भाव शत्रुओं से पराजित हैं, अतएव परमार्थतः कलाओं मे निपुण कलाकार नही माने जा सकते। परन्तु इस महादेवी में तो ऐसा अपूर्व कला-कौशल है कि खेल-खेल मे ही इसने सब शत्रुओं को जीत कर त्रिभुवन को अभिभूत कर दिया है। इसीलिये महारानी को कला-कौशल से त्रिभुवन में विजय प्राप्त करने वाली कहा गया है। [४-६]

कामदेव की स्त्री रति के विलास तो मात्र कामदेव को संतुष्ट करने वाले होते हैं. मुनि तो इन विलासो की वात भी नही जानते, किन्तु इस महादेवी के व्रतनिर्वाहादि विलास तो मुनिवरो के चित्त को भी आकर्षित करने वाले हैं। इसीलिये इस महादेवी को स्वकीय विलासों से रति को भी तिरस्कृत करने वाली कहा गया है। [७-८]

महादेवी की पतिभक्ति के सम्बन्ध मे तो इतना ही कहने का है कि अपने पति शुभपरिणाम महाराजा पर जब किसी प्रकार की भी आपत्ति आ पडती है तब यह महादेवी अपने प्राण देकर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से पति को आपत्ति से उबार लेती है। इसीलिये उसे पति-भक्ति में अरुन्धती से अतिशय माहात्म्य वाली कहा गया है, क्योंकि महासती अरुन्धती अपने पति का संरक्षण करने में सक्षम नही हुई थी। [९-११]

इस महारानी का अधिक क्या वर्णन करे! संक्षेप मे कहें तो राजा के सभी कार्य सम्पन्न कराने वाली यह निष्प्रकम्पता महादेवी है। यही कारण है कि राजा के विशाल राज्य में वह एक अति प्रमुख स्त्री मानी जाती है। [१२]

क्षान्ति कुमारी

शुभपरिणाम राजा और निष्प्रकम्पता महारानी के एक क्षान्ति नामक पुत्री है, वह सुन्दरतम युवतियों से भी सुन्दर, अनेक आश्चर्यो का जन्म स्थान, गुणरत्नों की मंजूषा और शरीर की विलक्षणता से महामुनियों के मन को भी आकर्षित करने वाली है।

जो प्राणी क्षान्ति की सेवा करते है उनके लिए वह आनन्ददायिनी है।* वह इतनी भली है कि उसका स्मरण करने मात्र से वह समस्त दोषो का हरण (नाश) करवा देती है। विकसित नेत्रों वाली क्षान्ति जिस मनुष्य की तरफ

---

* पृष्ठ १४९

लीला मात्र के लिये भी देखती है, उसे विद्वान् लोग महात्मा की उपाधि देकर उसकी प्रशसा करते है। मैं मानता हूँ कि जो भाग्यशाली प्राणी इस युवती-रत्न का आलिंगन प्राप्त करने मे समर्थ होगा वह समस्त मनुष्य लोक का चक्रवर्ती होगा। उससे अधिक सुन्दर बाला इस ससार मे और कोई नही है, अत विद्वानो ने इसे सुन्दरियो मे सर्वोत्तम कहा है। [१-४]

शुक्लध्यान, केवलज्ञान और प्रशम ऋद्धि आदि चमत्कारिक अद्भुत भाव जो इस ससार मे विद्यमान है वे सब क्षान्ति की कृपा से और उसकी आराधना से अनेक सज्जन प्राणियो ने अनेक बार प्राप्त किये है, कर रहे हैं और करेंगे। इसीलिये क्षान्ति को अनेक आश्चर्यो का जन्म स्थान कहा गया है। [५-६]

जैसे रत्न मजूषा होती है वैसे ही यह गुणरूपी रत्नो की मजूषा है। दान, शील, तप, ज्ञान, कुल, रूप, पराक्रम, सत्य, शौच, सरलता, अलोभ, शक्ति, ऐश्वर्य आदि जितने भी श्रेष्ठ गुण इस लोक मे है जो अमूल्य रत्न जैसे है, उन सब का आधार स्थान क्षान्ति ही है। क्षान्ति से रहित होने पर ये सारे गुण आश्रयहीन होकर शोभा-रहित हो जाते है। इसीलिये विद्वानो ने क्षान्ति को गुणरत्नो की मजूषा कहा है। [६-१०]

क्षान्ति अर्थात् क्षमा ही महादान है, क्षान्ति ही महातप है, क्षान्ति ही महाज्ञान है और क्षान्ति ही महादम (इन्द्रिय दमन) है। क्षान्ति ही सर्वोत्तम शील है, क्षान्ति ही श्रेष्ठतम कुल है, क्षान्ति ही सर्वोच्च शक्ति है, क्षान्ति ही पराक्रम है, क्षान्ति ही सन्तोष है, क्षान्ति ही इन्द्रिय-निग्रह है, क्षान्ति ही महान शौच (पवित्रता) है, क्षान्ति ही महान दया है, क्षान्ति ही अद्वितीय रूप (सौन्दर्य) है, क्षान्ति ही सर्वश्रेष्ठ बल है, क्षान्ति ही सर्वोत्तम ऐश्वर्य है, और क्षान्ति को ही धैर्य कहते है। क्षान्ति ही परब्रह्म है, क्षान्ति को ही परम सत्य कहते है, क्षान्ति ही सचमुच मे मुक्ति है, क्षान्ति ही सर्वार्थसाधिका है, क्षान्ति ही जगद्वन्द्या है, क्षान्ति ही जगत की हितकारिणी है, क्षान्ति ही जगत मे ज्येष्ठ (महान्) है, क्षान्ति ही कल्याणदायिका है, क्षान्ति ही जगत्पूज्या है, क्षान्ति ही परम मगल रूप है, क्षान्ति ही समस्त व्याधियो का हरण करने मे श्रेष्ठतम औषध है और शत्रुओ का नाश करने वाली चतुरगिणी सेना भी क्षान्ति ही है। अधिक क्या कहे! क्षान्ति मे ही सब कुछ प्रतिष्ठित (समा जाता) है। इसीलिये उसे मुनियो के मन को भी आकर्षित करने वाली कहा गया है। इस प्रकार की रूपवती सुन्दरी को देखकर ऐसा कौनसा सचेतन प्राणी होगा जो उसको अपने हृदय मे धारण नही करेगा? [११-१६]

क्षान्ति के साथ कुमार का पाणिग्रहण करवाने का संकेत

जिस प्राणी के हृदय मे यह कन्या अपनी लीला से बस जाती है उसका भाग्य बदल जाता है और वह स्वय इस कन्या के समान रूप-गुण वाला बन जाता

है। * अतः सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली इस कन्या को प्राप्त करने के लिये सम्यक् गुणाकांक्षी प्रत्येक प्राणी सर्वदा अपने हृदय से इसकी कामना क्यो नही करेगा ? [२०-२१]

ऐसा होने से अब आप समझ गये होगे कि गुणो के उत्कर्ष के कारण यह सर्वांगसुन्दरा कन्या कुमार के मित्र वैश्वानर के प्रतिपक्ष (शत्रु, विरोधी) के रूप में बैठी है। वैश्वानर इस राजकन्या के दर्शन मात्र से भय-विह्वल होकर दूर भाग जायेगा। वैश्वानर समस्त दोषों की खान है तो यह कन्या समग्र गुणों का मन्दिर। यह पापी वैश्वानर साक्षात् जाज्वल्यमान अग्नि है तो क्षान्ति कुमारी हिम जैसी शीतल है। अत: इनका परस्पर विरोधभाव होने के कारण ये दोनो कभी एक साथ नही रह सकते। इसीलिये मैं कहता हूँ कि, हे राजन्! यदि तुम्हारा कुमार इस भाग्यशाली कन्या के साथ विवाह करे तो उस पापी मित्र के साथ उसकी मित्रता स्वतः ही समाप्त हो जायगी। [२२-२६]

कुमार और कन्या के सम्बन्ध का प्रयत्न

जिनमतज्ञ नैमित्तिक की विस्तृत बात सुनकर विदुर ने अपने मन में विचार किया कि अहो! इन्होंने जो बात कही उसका भावार्थ ऐसा लगता है कि चित्तसौन्दर्य में शुभ परिणामों की जो निष्प्रकम्पता (स्थिरता) है, उसी से जन्मी क्षान्ति (क्षमा) ही कुमार नन्दिवर्धन और उसके पापी-मित्र वैश्वानर की मित्रता को दूर करने में समर्थ हो सकती है। इस मैत्री को दूर करने का दूसरा कोई उपाय दिखाई नही देता। इन्होंने जो कुछ कहा वह युक्तियुक्त है। अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है! क्योंकि जिनमत को जानने वाले कभी अयुक्त बोल ही नही सकते।

नैमित्तिक की बात सुनकर पद्म राजा ने अपने पास मे बैठे मतिधन महामंत्री की ओर देखा। महामंत्री ने राजा की ओर देखकर शिर झुका कर नमन किया, तब राजा ने कहा—आर्य मतिधन! तुमने यह सब सुना ?

मतिधन—हाँ महाराज! मैंने सब वार्ता ध्यान पूर्वक सुनी है।

राजा—आर्य! देखिये, नदिवर्धन कुमार में बडे लोगो के योग्य अनेक गुण हैं, पर वे सब उसके पापी-मित्र वैश्वानर की संगति से दोषयुक्त और फल रहित बन गये हैं। यह स्थिति मेरे लिए बहुत ही संतापदायक और उद्वेगकारक बन गई है। अत: हे आर्य! आप जाइये, अथवा आपके किसी वाक्पटु मुख्य सेवक को चित्तसौन्दर्य नगर भेजिये। उस देश में न मिल सकती हो ऐसी श्रेष्ठतम भेट-वस्तुएँ एकत्रित कर उसे दीजिए, सम्बन्ध करने और बढ़ाने योग्य मधुर और विवेक पूर्ण वचन उसे अच्छी तरह से सिखाइये और उसके माध्यम से शुभपरिणाम महा-

---

* पृष्ठ १५०

राजा से उनकी पुत्री क्षान्ति कुमारी को हमारे कुमार के लिये मागने का प्रबन्ध करिये ।

मतिधन जैसी महाराज की आज्ञा ।

मतिधन बाहर जाने का उपक्रम कर ही रहा था तभी जिनमतज्ञ नैमित्तिक ने कहा—महाराज ! इस प्रकार जाने की आवश्यकता नही है । चित्तसौन्दर्य नगर मे इस प्रकार नही जाया जा सकता ।

पद्म राजा—ऐसा क्यो आर्य ?

जिनमतज्ञ—नगर, राज, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि इस लोक की समस्त वस्तुए दो प्रकार की होती है—* अन्तरग और बहिरग । इनमे से जो बहिरग वस्तुएँ हैं उनमे आपका गमनागमन हो सकता है और आपका आदेश आदि व्यापार चल सकता है, परन्तु अन्तरग वस्तुओ के सम्बन्ध में ऐसा नही हो सकता । मैंने जिस नगर, राजा, रानी और उनकी पुत्री का वर्णन किया है वे सभी अन्तरग वस्तुएँ है, इसीलिये वहाँ आपका दूत नही पहुँच सकता ।

राजा - आर्य ! तब वहाँ जाने मे कौन समर्थ है ?

जिनमतज्ञ—महाराज ! जो अन्तरग राजा हो वही यह कार्य कर सकता है ।

राजा—आर्य ! वह राजा कौन है ?

अन्तरंग और बहिरंग तन्त्र

जिनमतज्ञ—महाराज ! उस अन्तरग राजा का नाम कर्मपरिणाम है । उस कर्मपरिणाम राजा ने यह चित्तसौन्दर्य नगर शुभपरिणाम राजा को पारितोषिक मे दिया है इसलिये शुभपरिणाम स्वय कर्मपरिणाम के वशवर्ती रहता है ।

राजा - आर्य ! क्या ये कर्मपरिणाम महाराजा मेरी प्रार्थना सुनेगे ?

जिनमतज्ञ—महाराज ! यह कर्मपरिणाम राजा कभी किसी की प्रार्थना नही सुनता । अधिकाश मे वह अपनी इच्छानुसार ही कार्य करता है । सत्पुरुष उसकी प्रार्थना करे इसकी वह अपेक्षा भी नही रखता । उसके समक्ष विवेकपूर्ण वचन कहने से भी वह कभी नही रीझता । अन्य प्राणियो के आग्रह से वह नही झुकता और किसी के दु ख को देखकर वह दया नही करता । उसे जब कुछ कार्य करने की इच्छा होती है तब वह अपनी बड़ी बहिन लोकस्थिति से परामर्श लेता है, अपनी स्त्री कालपरिणति के साथ वह उस कार्य के सम्बन्ध मे विचार करता है और अपने मित्र स्वभाव के साथ इस सम्बन्ध मे बात करता है । इसी नदिवर्धन

* पृष्ठ १५१

कुमार की समस्त जन्मों मे स्त्रीरूप में साथ रहने वाली भवितव्यता का वह अनुगमन करता है, पर कभी-कभी अपनी प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे वह नदिवर्धन कुमार की शक्ति से थोड़ासा डरता भी है। इस प्रकार यह कर्मपरिणाम महाराज इन अंतरंग लोगो को पूछ कर अपनी इच्छानुसार कार्य करते है। स्वेच्छानुसार कार्य करते समय वहिरंग तन्त्र के लोग कितना भी निवेदन करे, रुदन करे, तव भी उस पर कुछ भी प्रभाव नही पडता है। अधिक क्या ? उसके मन मे जो आता है वह वही करता है। अतः उसकी प्रार्थना करना या उससे कुछ मागना व्यर्थ है। जव उसको रुचिकर लगेगा तव वह स्वय शुभपरिणाम राजा को कहकर उनकी पुत्री क्षान्ति को आपके कुमार को दिलवा देगा।

पद्म राजा—आर्य ! यदि ऐसा ही है तव तो हमारा वहुत दुर्भाग्य है। कर्मपरिणाम राजा के मन में यह काम करने की कव इच्छा होगी यह तो हम नही जानते और कुमार को उसके पापी-मित्र से जव तक दूर नही किया जायेगा तव तक उसके सभी गुण निष्फल रहेंगे। अत. इसके निराकरण की वर्तमान मे तो कोई सम्भावना नही लगती। यह तो ऐसी वात हो गई कि हम इस समय जीवित होते हुए भी मृतक के समान है।

जिनमतज्ञ—महाराज ! इस विषय मे शोक करना व्यर्थ है। जहाँ परिस्थिति ऐसी है कि अपना कुछ वश नही, वहाँ हम लोग क्या कर सकते हैं ?

जो कार्य होने योग्य हो उसमे यदि मनुष्य आलस्य करे तो वह धिक्कार योग्य है, पर जहाँ कार्य किसी भी प्रकार होने योग्य न हो उस विषय मे वह अपराधी नही गिना जा सकता। [१]

नीति-शास्त्र में भी कहा है कि:—

जो व्यक्ति अपनी और विपक्ष की शक्ति तथा कमजोरी का विचार किए विना अपने से न हो सकने वाले कार्य करने का प्रयास करते हैं वे विद्वानो के सम्मुख हँसी के पात्र वनते हैं। [२]

इस स्थिति को ध्यान मे रखकर जैसा होना होगा वही होगा, ऐसा सोचकर इस समय चिन्ता का त्याग कर समय की प्रतीक्षा करना ही उचित है। [३] ❀

तुम्हारे मन को शान्ति मिले ऐसा दूसरा भी उपाय वताता हूँ। निरालम्वता धारण करिये, आप जैसे लोगों को दीनता दिखाना शोभा नहीं देता। [४]

पद्म राजा—आर्य ! आपने वहुत ठीक कहा। आपने जो अन्तिम वात कही है उससे मेरे मन को थोडी शान्ति प्राप्त हुई है। हमारे मन की शान्ति का अन्य क्या उपाय है ? वह कहिये।

❀ पृष्ठ १५२

जिनमतज्ञ—महाराज ! कुमार का पुण्योदय नामक एक मित्र है वह अपना रूप छिपा कर रहता है । यह पुण्योदय मित्र जब तक कुमार के निकट रहेगा तब तक उसका पापी-मित्र वैश्वानर कुमार से कितने भी अनर्थ करवाये वह उन सब को कुमार के लाभ का कारण बना देगा । यह बात सुनकर मेरे पिता को कुछ शान्ति मिली ।

सभा-विसर्जन : विदुर को निर्देश

इस समय जब सूर्य आकाश के मध्य मे आया तब शहनाई और नौबत बजने लगी, अन्त मे शख ध्वनि हुई । समय बताने वाले काल-निवेदक ने कहा—

इस ससार मे तेज की वृद्धि क्रोध से नही होती, पर मध्यस्थ भाव से होती है, ऐसा बताते हुए सूर्य मध्यस्थता (मध्याह्न काल) को प्राप्त हुआ है ।

यह सुनकर मेरे पिता पद्म राजा ने कहा- अरे ! मध्याह्न काल हो गया है ! अत अब अपने को उठना चाहिये । ऐसा कहकर राजा ने कलाचार्य और नैमित्तिक की पूजा की और उन्हे सम्मान पूर्वक विदा किया तथा सभा विसर्जित की । नैमित्तिक के वचनो से मेरे पिता को अब पता लग गया था कि मुझे सुधारना अशक्य अनुष्ठान है तभी पुत्र-स्नेह से उन्होंने विदुर को आज्ञा दी—'उस पापी-मित्र की सगति से कुमार किसी भी प्रकार दूर रह सकेगा या नही, इस विषय मे तुम कुमार के अभिप्राय की परीक्षा करते रहना ।' 'जैसी महाराज की आज्ञा' कहकर विदुर वहाँ से निकला । मेरे पिता भी सभा मण्डप छोडकर महल मे गये और अपने दैनिक कार्य मे लग गये ।

दूसरे दिन विदुर मेरे पास आया । उसने मुझे प्रणाम किया और मेरे पास बैठा । मैने पूछा—विदुर ! क्या कल तुम नही आये थे ? विदुर ने अपने मन मे विचार किया कि, अरे ! महाराज ने मुझे आज्ञा दी है कि कुमार के अभिप्राय की बराबर परीक्षा करू और उस पर दृष्टि रखू । उन जिनमतज्ञ नैमित्तिक से दुर्जन की सगति के कितने भयकर परिणाम होते हैं उस पर कल मैंने जो वार्ता सुनी है, उसे ही कुमार को कह सुनाता हूँ, जिससे यह पता लग सके कि उसके मन मे कैसे भाव है । ऐसा विचार कर विदुर ने कहा - कुमार ! कल कुछ जानने समझने योग्य बात हो गई थी ।

नन्दिवर्धन—ऐसी क्या बात हुई ?

विदुर—एक उत्तम कथा सुनी थी ।

नन्दिवर्धन—वह कथा कैसी थी ? वह सुनाओ ।

विदुर—मै वह कथा सुनाता हूँ, पर आपको वह ध्यान पूर्वक सुननी पड़ेगी ।

नन्दिवर्धन—मैं ध्यान पूर्वक सुनूंगा, कहो ।

विदुर ने निम्न कथा सुनाई ।

❀

३. स्पर्शन कथानक

मनीषी और बाल

इस मनुजगति ❀ नामक नगरी (देश) के भरत नामक मोहल्ले (प्रदेश) मे क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर है। इस नगर पर अचिंत्य शक्ति सम्पन्न कर्मविलास नामक राजा का राज्य है। उसके दो रानियाँ है एक शुभसुन्दरी और दूसरी अकुशलमाला। शुभसुन्दरी से जो पुत्र हुआ उसका नाम मनीषी रखा गया और अकुशलमाला से जो पुत्र हुआ उसका नाम बाल रखा गया। मनीषी और बाल बढते हुए, अपनी इच्छानुसार वन-प्रांतर मे विविध प्रकार की क्रीडा रस का आनन्दानुभव करते हुए क्रमशः कुमारावस्था को प्राप्त हुये। एक बार वे स्वदेह नामक उद्यान मे विचरण कर रहे थे कि उन्होने अपने पास किसी पुरुष को देखा। अभी दोनों कुमार उस पुरुष को देख ही रहे थे कि वह एक तदुच्छ्रय (उन्नत) वल्मीक के ढेर पर चढ गया। उसके पास ही एक मूर्छा नामक वृक्ष था, जिसकी शाखा पर रस्सी बाँध कर, उसके एक सिरे पर फांसी का फन्दा लगाकर, अपने गले को उसमें फसाकर नीचे लटक गया। अरे! ऐसा दुस्साहस मत करो! दुस्साहस मत करो! दुस्साहस मत करो!! कहते हुये दोनों कुमार दौड़ते हुए उसके पास आये। बाल ने रस्सी काट दी जिससे वह पुरुष जमीन पर गिर गया। उस समय उसकी दोनो आँखे ऊपर चढी हुई थीं और वह मूर्च्छित था। दोनों कुमार उसके शरीर पर हवा करने लगे और उस पुरुष में चेतना आने लगी। मूर्च्छा दूर होने पर वह आँखे खोलकर चारो ओर देखने लगा, तब उसने अपने सामने दोनों कुमारों को देखा। उस समय कुमारो ने उससे पूछा—नीच पुरुषो की तरह गले मे फांसी लगाकर आत्महत्या करने का यह अधम कार्य तुमने क्यों किया? तुम्हारे इतने पतित विचारो का कारण क्या है? यदि तुम्हें बताने में कोई आपत्ति न हो तो हमे बताओ। उस पुरुष ने दीर्घ निश्वास लेते हुए कहा– मेरी कथा मे कुछ रस नही है अतः उसे छोडिये। मेरी आत्मोत्पीडन की अग्नि को शान्त करने के लिये मैं फांसी लगाकर मरना चाहता था, आपने मुझे रोक कर किंचित् भी अच्छा नही किया, कृपाकर अब आप मुझे अपना कार्य करने दे, उसमे बाधक न बनें। ऐसा कहकर वह पुरुष फिर वृक्ष से बंधी रस्सी से अपने को लटकाने लगा। बाल ने फिर उसे रोका और कहा—भाई! हमारे आग्रह से तू अपनी कथा हमे सुना दे। फिर भी यदि हम तेरे दु:ख-शमन करने का कोई उपाय न कर सके तो तेरी जैसी इच्छा हो वैसा करना। पुरुष ने कहा यदि आपका इतना ही आग्रह है तो सुनिये—

❀ पृष्ठ १५३

भवजन्तु की अन्तर-कथा : स्पर्शन का संग और मुक्ति

मेरा एक भवजन्तु नामक मित्र था और उससे मेरी मित्रता ऐसी थी जैसे कि वह मेरा दूसरा शरोर हो, मेरा सर्वस्व, मेरा प्राण और मेरा हृदय ही हो। उसका मुझ पर इतना स्नेह था कि वह एक क्षण के लिये भो मेरा वियोग नही सह सकता था। वह सदैव मेरा लालन-पालन करता और छोटी से छोटी बात मे भी मुझे पूछ कर कार्य करता। मुझे बार-बार पूछता, भाई स्पर्शन ! तुझे क्या प्रिय है ? तेरी क्या इच्छा है ? आदि। उसके उत्तर मे मे जिस वस्तु के लिये कहता, वह मेरे लिये वह वस्तु ले आता, उसका मुझ पर इतना स्नेह था। जो मेरी इच्छा के प्रतिकूल हो या मुझे अप्रिय लगे वैसा कोई कार्य मेरा मित्र कभी नही करता था। एक दिन मेरे दुर्भाग्य से मेरे उस मित्र ने सदागम नामक पुरुष को देखा। मन मे पूज्य भाव लाकर मेरे मित्र भवजन्तु ने सदागम से एकान्त मे बातचीत की, उस समय उसे ऐसा लगा कि जैसे वह आनन्द की प्राप्ति कर रहा हो। * उसके पश्चात् भवजन्तु की मुझ पर प्रीति कम होने लगी। पहिले वह मेरा जिस तरह पालन-पोषण करता था, जिस तरह मेरे साथ एकात्म था उसमे कमी आने लगी। मेरे कथनानुसार उसने कार्य करना बन्द कर दिया। बात इतनी बढी कि वह मेरे सुख-दु.ख की बात भी न पूछता और उल्टा मुझे शत्रु समझने लगा। मेरे अपराव ढूँढने लगा और मेरी इच्छा के प्रतिकूल आचरण करने लगा। तब मुझे विचार आया कि अरे ! यह क्या हो गया ? मैने इसका कुछ अपकार्य तो किया नही, फिर मेरा मित्र असमय मे ही ऐसा क्यो हो गया ! मानो छट्ठी का बदला हुआ हो अर्थात् जन्म से ही मेरा शत्रु हो। अरे ! मै कैसा दुर्भागी हूँ ? मेरे तो भाग्य ही फूट गये। मानो मुझ पर कोई वज्र गिरा हो, मानो किसी ने मुझे पीस कर चकनाचूर कर दिया हो, मानो मेरा सर्वस्व हरण हो गया हो, इन्ही विचारो मे मैं कलपता रहा। इस प्रकार मैं शोक की प्रतिमूर्ति बन गया और मुझे असह्य दु ख होने लगा। गहन विचार करते हुए मुझे लगा कि मेरे मित्र मे सदागम से एकान्त मे बात करने के पश्चात् ही ऐसा परिवर्तन आया है। अत: निश्चय ही इस पापी सदागम ने मेरे परम मित्र को ठगा है। अरे रे ! यह तो अब भी मेरे बार-बार समझाने पर भी, रोने धोने पर भी मेरी बात नही सुनता, बल्कि मेरे हृदय को चोरता हुआ मेरा मित्र बराबर सदागम से एकान्त मे बाते करता रहता है। जैसे-जैसे मेरा मित्र भवजन्तु सदागम से अधिकाधिक बातचीत करता है, मुझे लगता है, वैसे-वैसे उसे उसकी बात अधिक रुचिकर लगती है और वह मेरे प्रति अधिकाधिक निर्लिप्त होता जा रहा है। मेरे प्रति मेरे मित्र की निर्लिप्तता जैसे-जैसे बढती जाती वैसे-वैसे मेरा दु ख बढता जाता।

एक दिन तो मेरे मित्र भवजन्तु ने सदागम के साथ एकान्त मे पर्यालोचन करते हुए मेरे साथ के सब सम्बन्ध पूर्णरूप से तोड दिये, मुझे मन से भी निकाल

---

* पृष्ठ १५४

दिया। मेरे कहने से उसने पहले कोमल रुई का गद्दा, तकिया, शय्या ले रखे थे किन्तु अब मुझे जो कुछ अधिक प्रिय था उन सब का उसने त्याग कर दिया। हंस की पांखों से भरे आसनों को छोड़ दिया। कोमल उत्तरीय वस्त्र, रेशमी वस्त्र कम्बल, चीनांशुक और लम्बे वस्त्र आदि सब का त्याग कर दिया। सर्दी और गर्मी की ऋतु में कस्तूरी, गोचंदन आदि के लेप जो मुझे बहुत प्रिय थे, उनका भी उसने त्याग कर दिया। कोमल शरीरलता से आनन्द और आह्लाद प्रदान करने वाली और मुझे अत्यधिक प्रिय स्त्रियों का तो उसने सर्वथा त्याग कर दिया। बात यहाँ तक बढ़ी कि वह भवजन्तु सिर के बालों का लुंचन करता, कठिन धरती पर सोता, शरीर पर मैल चढ़ने देता, फटे हुए वस्त्र पहिनता, स्त्री के अंगों का स्पर्श भी नहीं करता। भूल से यदि कभी स्त्री का कोई अंग भी छू जाय तो उसका प्रायश्चित्त करता। अत्यधिक सर्दी वाले माघ के महीने की ठण्ड सहन करता। जेठ-आषाढ की गर्मियों मे धूप की आतापना सहता। मेरे घोर शत्रु की भांति जो बात मुझे अच्छी न लगे, उसका वह अवश्य आचरण करता।

उसका यह रूप देखकर मैंने विचार किया कि भवजन्तु ने तो मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है और वह मुझे अपना शत्रु समझता है। परन्तु, बड़े लोगों का कहना है कि प्रेमी लोग मृत्यु पर्यन्त स्नेह का त्याग नहीं करते। यद्यपि भवजन्तु इस ❀ पापी-मित्र सदागम की छलना में आकर मुझे दुःख दे रहा है तब भी ऐसे असमय में मुझे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभी वह भोला है। बहुत समय तक वह मुझ से एकात्म होकर प्रेम करता रहा है और मुझे अभीष्ट लगे ऐसे प्रिय कार्य करता रहा है। अभी सदागम की संगति से उसमें विपरीत भाव पैदा हो गये हैं। थोड़े समय पश्चात् सदागम चला जायेगा या उसकी संगति छूट जायेगी तब मेरा मित्र अवश्य ही अपनी पूर्व-स्थिति में आ जायेगा और पूर्ववत् मेरे प्रति स्नेह भाव रखेगा। भवजन्तु द्वारा बहिष्कृत होने पर भी, ऐसे विचारों से अभिभूत होकर कि 'मेरे मित्र का सदागम की संगति से पीछा छूट जाएगा' मैं इसी प्रतीक्षा में झूठी आशा से बंधा, मित्र-विरह के दुःख से दुःखी, कुछ समय तो इस शरीर रूपी महल में रहा। एक दिन सदागम की बात मानकर उसने मेरा प्रत्यक्षतः स्पष्ट रूप से तिरस्कार कर दिया। उसने मुझे धक्के देकर अपने शरीर से बाहर निकाल दिया। मेरा मित्र परमाधामी नारकी जैसा दयारहित होकर, मेरे गिड़गिड़ाने की उपेक्षा कर, मेरा तिरस्कार करते हुए मुझ पर क्रोधित होकर कहने लगा—'जहाँ तू अपनी आँखों से मुझे न देख सके, मैं ऐसे स्थान पर जा रहा हूँ' ऐसा कहकर वह वहाँ से कहीं चला गया। अभी मुझे पता लगा है कि मेरा वह मित्र भवजन्तु तो निर्वृत्ति नगर में पहुँच गया है, जहाँ मेरा जाना असम्भव है। अतः मैंने सोचा कि अपने मित्र से तिरस्कृत, बकरी के गले में लटके आँचल की भांति मित्ररहित व्यर्थ जीवन जीने से क्या लाभ? ऐसा सोचकर मैंने अपने गले में फांसी लगाई।

❀ पृष्ठ १९९

बाल का स्पर्शन पर स्नेह

स्पर्शन की उपर्युक्त बात सुनकर बाल ने कहा—बहुत अच्छा, स्पर्शन ! भाई, तूने तो बहुत ही अच्छा किया । तुम्हारा व्यवहार तो उचित ही प्रतीत होता है । अपने प्रिय मित्र से तिरस्कार मिले, यह तो असहनीय है । मित्र के विरह से जो पीडा होती है वह अन्य किसी उपाय से नही मिट सकती । लोग कहते है किः—

क्षमाशील पुरुष भी तिरस्कार को सहज भाव से सहन करे यह अशक्य है । सोने से अलग होकर पत्थर भी राख हो जाता है । [१]

प्रतिष्ठित मनुष्य मित्र के विरह मे जीवित नही रहते । यदि जीवित रहते है तो वह उनके योग्य भी नही है । जैसे सूर्य अस्त होने पर दिन भी उसके साथ ही विदा हो जाता है । [२]

अहो ! तेरा मित्र-प्रेम, दृढ-स्नेह, कृतज्ञता, साहस, सत्यभाव वास्तव मे श्लाघनीय है । दूसरी ओर भवजन्तु की क्षरण मे आसक्ति और क्षरण मे विरक्ति विचित्र है अहो ! उसकी कृतघ्नता, मूढता, घातकी-हृदय, अनार्य-क्रिया और प्रवृत्ति सब अद्‌भुत लगते है । हे भद्र ! ऐसा होने पर भी अब मै तुझे एक बात कहता हूँ, तू सुन ।

स्पर्शन—आर्य ! आप किसी भी प्रकार के सकल्प-विकल्पो से रहित हो कर जो कुछ कहना चाहते हो, कहिये ।

बाल बोला—कैसे ही प्रतिकूल प्रसगो मे भी पीछे न हटने वाले, मित्रता के वास्तविक अभिमान को रखने वाले और स्नेह के लिये प्राणो को झोकने वाले तेरे जैसे प्रेमी मनुष्य को जो करना चाहिये वही तूने किया है । [१]

परन्तु, अब मुझ पर कृपा कर तुझे अपने प्राण रखने पडेगें। मैं तुझे आत्म-हत्या तो नही करने दूँगा, अन्यथा मेरी भी तेरे जैसी ही गति होगी । तेरी ऐसी स्वाभाविक मित्र-वत्सलता से मै प्रसन्न हुआ हूँ । सत्पुरुष दाक्षिण्यता के सागर होते है । अमुक मनुष्य अच्छा है या नही ❀ यह उसके सत्कार्यो से ही जाना जाता है । अत. मै तुझे जो कह रहा हूँ उस पर किसी भी प्रकार की ऊहापोह किये बिना ही तुझे वह करना चाहिये, ऐसी मेरी प्रार्थना है । यह बात ठीक है कि किसी को आम खाने की इच्छा हो तो वह इमली से पूरी नही होती । फिर भी मुझ पर कृपा कर, भवजन्तु के विरह का जो तुझे दु.ख हुआ है उसके प्रतीकार के रूप मे मेरे साथ सम्बन्ध स्थापित कर. उसकी पूर्ति तू मुझ से कर सकता है ।

स्पर्शन—बहुत अच्छा आर्य ! आप पर किसी प्रकार का उपकार न करने वाले मुझ जैसे व्यक्ति पर भी वात्सल्य लाने वाले आपने अति स्नेह-सिंचित वचनामृत से मेरे प्राणो को बचाया है । आप जैसे महान् प्राणी से मै अब अधिक क्या

❀ पृष्ठ १५६

कहूं ? अभी तक मेरे मन में जो शोक-संताप हो रहा था वह अभी तो नष्ट हो गया है. आपने अभी तो मेरे भूतपूर्व मित्र भवजन्तु को भुला दिया है। आपके दर्शन से मेरी आँखे शीतल, मेरा चित्त आनन्दित और मेरा शरीर शान्त हो गया है। अधिक क्या ! अब तो मैं ऐसा समझता हूं कि आप स्वयं ही मेरे मित्र वही भवजन्तु हैं।

उसी समय से स्पर्शन और बाल का स्नेह अधिकाधिक प्रगाढता को प्राप्त करने लगा।

मनीषी की विचारणा

मनीषी जो उस समय वहाँ उपस्थित था सोचने लगा कि जो व्यक्ति बहुत विचार पूर्वक काम करता है, वह अपने अनुरक्त, प्रेमी, निर्दोष मित्र का त्याग कभी नहीं कर सकता। फिर सदागम भी दोष-रहित प्रेमी का त्याग करने का परामर्श कभी नहीं दे सकता। मैंने ऐसा सुना है कि सदागम जो कुछ बोलता है या आचरण करता है, वह पूरी तरह सोच समझ कर करता है। अतः इस घटना के पीछे कोई गहरा कारण होना चाहिये। स्वयं मुझे तो यह स्पर्शन कोई अच्छा व्यक्ति नहीं लगता। बाल ने इसके साथ मित्रता बढाई यह मेरे विचार से ठीक नहीं हुआ। इस प्रकार वह अपने मन में सोच रहा था तभी स्पर्शन ने उसके साथ भी बात करना प्रारम्भ किया। मनीषी ने भी लोक-व्यवहार को निभाने के लिये उससे बात की और स्पर्शन के साथ लोक-दिखाऊ मित्रता स्थापित की।

स्पर्शन के सम्बन्ध पर राजा के विचार

फिर बाल, स्पर्शन और मनीषी तीनों नगर की ओर लौटे। सभी ने राजभवन में प्रवेश किया। उन्होंने कर्मविलास राजा को कालपरिणति रानी के साथ राज्य सभा में बैठा देखा। राजकुमारों ने अपने माता-पिता को नमस्कार किया। माता-पिता ने उन्हें आशीर्वाद दिया और बैठने को आसन दिया, पर वे आसन पर न बैठकर जमीन पर बैठ गये। उन्होंने अपने पिता से स्पर्शन का परिचय कराया और जंगल में जो घटना हुई थी वह कह सुनायी। साथ ही यह भी कहा कि हम दोनों ने इस स्पर्शन के साथ मैत्री भाव स्थापित किया है। घटना सुनकर कर्मविलास महाराजा बहुत प्रसन्न हुए और मन में सोचने लगे कि इस स्पर्शन को मैंने पहले भी कई बार देखा है। जैसे अपथ्य-सेवन से व्याधि बढती है. अर्थात् संसार कर्म-व्याधि को बढाने वाला है वैसा ही यह है। दोनों राजकुमारों के साथ इसकी मित्रता हुई, यह ठीक ही हुआ। मेरी तो अनादि काल से ऐसी प्रकृति हो गई है कि जो प्राणी स्पर्शन के अनुकूल रहता है उसके साथ मैं प्रतिकूल रहता हूं और जो इस पर किसी प्रकार का स्नेह न रख कर इसके प्रतिकूल रहता है उसके साथ मैं अनुकूल रहता हूं। जो इसका सर्वथा त्याग करता है उसे तो मुझे भी छोड़ देना पड़ता है। अब मुझे गहराई से देखना है कि ये कुमार इसके साथ कैसा आचरण करते हैं ? फिर मुझे जैसा योग्य लगेगा वैसा करूंगा। इस प्रकार सोचकर कर्मविलास

ने कहा —बच्चो ! यह स्पर्शन प्राण-त्याग कर रहा था तब तुमने इसे बचाया यह बहुत अच्छा किया * और इसके साथ मैत्री स्थापित कर अत्यधिक प्रशस्त कार्य किया। तुम्हारा और स्पर्शन का सम्बन्ध खीर और शक्कर जैसा है।

रानी अकुशलमाला के विचार

बाल की माता अकुशलमाला ने सोचा कि, अहो ! बाल का स्पर्शन के साथ जो सम्बन्ध हुआ है वह बहुत अच्छा हुआ। मै वास्तव में भाग्यशाली हूँ। मेरे पुत्र की इस नवीन मित्रता से मेरा भी गुणानुरूप यथार्थ नाम होगा। जो लोग स्पर्शन के अनुकूल रहते है वे मुझे बहुत प्रिय लगते है, वे ही मेरा पालन-पोषण करते है और वे ही मेरा स्नेह प्राप्त कर सुख का अनुभव कर सकते है, अन्य लोग नही। मैने पहले भी इसी प्रकार की परिस्थिति कई बार देखी है। मेरे पुत्र की आकृति (मनोभाव) देखकर ऐसा लगता है कि उसे स्पर्शन से बहुत रागात्मकता हो गई है। (भविष्य मे भी वे दोनो परस्पर अनुकूल वर्ताव करेगे, ऐसी सम्भावना है।) अगर ऐसा हुआ तो मेरे मन की सभी इच्छाएँ पूर्ण होगी। इस प्रकार मन मे सोचते हुए अकुशलमाला ने बाल से कहा—बेटे बाल ! तू ने बहुत अच्छा किया। तेरे मित्र के साथ तेरा वियोग न हो यही शुभाशीष है।

रानी शुभसुन्दरी की प्रतिक्रिया

मनीषी की माता शुभसुन्दरी ने सोचा कि मेरे पुत्र का ऐसे पापी-मित्र के साथ सम्बन्ध हुआ यह किंचित् भी उचित नही हुआ। यह स्पर्शन वास्तव मे मित्र नही शत्रु है। यह अनेक अनर्थकारी परम्पराओ का कारण है और मेरा तो स्वभाव से ही शत्रु है। पहले भी इसने मुझे अनेक बार अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाया है। अत: इसके साथ हमारा किसी प्रकार मिलाप सम्भव नही है। मेरे पुत्र की मुखाकृति से और आँखो की विरक्तता से तो ऐसा लगता है कि उसका इस नये मित्र पर विरक्ति भाव ही है। इस स्थिति को जानकर मेरे मन मे कुछ शान्ति है। अतएव मुझे तो ऐसा लगता है कि यह पापी मेरे पुत्र पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने मे सफल नही हो सकेगा। फिर भी भविष्य के विषय मे कुछ कहा नही जा सकता, क्योकि यह पापी दुरात्मा स्पर्शन बहुत दुष्ट है। ऐसे अनेक विकल्प शुभसुन्दरी के मन मे उत्पन्न होने लगे जिससे उसे कुछ व्याकुलता भी हुई, किन्तु वह गम्भीर स्वभाव वाली होने से मौन धारण कर बैठी रही।

इस समय मध्याह्न हो जाने से सभा विसर्जित हुई और सभी अपने-अपने स्थानो पर चले गये।

❀

---

* पृष्ठ १५७

४. स्पर्शन-मूलशुद्धि

उस दिन से बाल का स्पर्शन के साथ स्नेह सम्बन्ध बढने लगा। मनीषी तो आश्चर्य चकित होकर सब कुछ देखता रहता है, पर वह स्पर्शन का किसी प्रकार विश्वास नही करता। स्पर्शन भी दोनो राजकुमारो के पास ही रहता, पूरे समय वह अन्दर-बाहर उनके आगे-पीछे लगा रहता, दोनो राजकुमारो के साथ विविध स्थानो पर घूमता रहता और अनेक प्रकार की क्रीडाएँ करता रहता।

मनीषी के विचार : निर्णय

एक समय मनीषी ने अपने मन मे विचार किया कि स्पर्शन के प्रसग से भी जब चित्त स्थिर नही रहता तब फिर इसके साथ विचरण करने वाले का मन भटके और सुख प्राप्त न हो तो क्या आश्चर्य ? इसका वास्तविक रूप क्या है ? कैसा है ? यह भी अभी तक समझ मे नही आया। जब तक इस विषय का रहस्य समझ मे नही आता तब तक इसका भी निर्णय नही हो सकता कि इसके साथ परिचय बढाया जाय अथवा नही ? अत: अभी तो यह आवश्यक है कि इसका वास्तविक मूल कहाँ है ? इसका पता लगाया जाय और इसके सम्बन्ध मे समग्र वास्तविकता की छान-बीन की जाय। उसके पश्चात् जैसा उचित हो वैसा आचरण किया जाय। ऐसा मनीषी ने निर्णय किया।

बोध को जांच के आदेश : प्रभाव की नियुक्ति

मनीषी ने स्पर्शन के बारे मे पता लगाने के लिये अपने बोध नामक अंग-रक्षक को एकात मे बुलाकर कहा—भद्र ! मुझे इस स्पर्शन पर अत्यन्त अविश्वास है, अत: तुम इस बात का पता लगाओ कि यह कौन है ? कहाँ से आया है ? इसके सम्बन्धी कौन है ? आदि बातो से मुझे सूचित करो। बोध ने कहा—'जैसी राजकुमार की आज्ञा' और वह वहाँ से निकल पड़ा। * बोध के पास प्रभाव नामक एक योग्य व्यक्ति था जो दूत का कार्य कर सकता था। प्रभाव ने देश-विदेश की अनेक भाषाओ का अध्ययन किया था। अनेक प्रकार के वेष धारण करने मे वह कुशल था। अपने स्वामी का कार्य करने के लिये मन-प्राण से जुट जाने वाला था। अपने काम को बराबर समझने वाला और किसी की पकड मे न आने वाला एक चतर व्यक्ति था। बोध ने प्रभाव को अपने पास बुलाया और उसे स्पर्शन के बारे मे सब पता लगाने को कहा। फिर प्रभाव ने स्पर्शन का पता लगाने के लिये अनेक देशों मे कुछ समय तक घूमकर कई बातो की सूचना एकत्रित की। एक दिन वह वापस बोध के पास आया और प्रणाम कर भूमि पर बैठ गया। बोध ने भी यथोचित सत्कार कर

---

* पृष्ठ १५८

कहा कि, भद्र ! तुमने स्पर्शन के सम्बन्ध मे क्या जानकारी प्राप्त की है ? बताओ। बोध का आदेश प्राप्त कर प्रभाव ने कहा 'जैसी देव की आज्ञा' ऐसा कहकर वह अपनी जानकारी देने लगा—

राजसचित्त नगर : रागकेसरी राजा

मैं यहाँ से निकल कर अलग-अलग बहिरग (बाह्य) प्रदेशों मे गया, पर वहाँ तो मुझे स्पर्शन की मूल प्रवृत्ति के बारे मे कुछ भी जानकारी प्राप्त नही हुई। फिर मैं अन्तरग प्रदेश मे गया। वहाँ मैंने राजसचित्त नामक नगर देखा। वह नगर जगली भील लोगो की पल्ली (बस्ती) जैसा दिखाई देता था। उसमे चारो तरफ काम आदि चोर लोग भरे हुए थे। वह पापी लोगो का निवास स्थान, मिथ्याभिमानियो की खान और अकल्याण की परम्परा का साधक था। वह चारो तरफ अन्धकार से घिरा हुआ था और वहाँ प्रकाश की एक किरण भी नही थी। इस नगर मे रागकेसरी नामक राजा राज्य करता था जो सभी दुष्ट लोगो का सरदार, सब पापजन्य प्रवृत्तियों का कारण, सन्मार्गरूपी पर्वतो के लिये वज्रपात जैसा, इन्द्रादिको के लिये भी दुर्जेय और अतुलबलशाली था।

विषयाभिलाष मन्त्री

इस रागकेसरी राजा के विषयाभिलाष नामक मुख्य मन्त्री था। वह राजा के सब कार्यो मे पूर्ण सहायक था। सब स्थानो पर उसकी आज्ञा अप्रतिहत होती थी। सम्पूर्ण ससार को अपने वश मे करने मे वह निपुण था। प्राणियो को मोह मे लिप्त करने का उसे विशेष अभ्यास था। पाप-अनीति का कोई कार्य करना हो तो उसे करने मे वह चालाक और कुशल था। स्वय किसी भी कार्य के करने मे दूसरो के उपदेश की अपेक्षा नही रखता था। अत. राजा ने राज्य का सम्पूर्ण कार्यभार उसे सौप दिया था।

राजसचित्त में कोलाहल

भ्रमण करता हुआ मै राजसचित्त नगर के महलो के मध्य चौक मे पहुँच गया। उस समय अचानक ही वहाँ बडा कोलाहल हो रहा था। उस कोलाहल के साथ ही मिथ्याभिनिवेश आदि कई रथ बाहर निकलते हुए मुझे दिखाई दिये। रथो के आगे भाट लोग योद्धाओ की प्रशसा मे उनके शौर्य का वर्णन कर रहे थे। उन रथो मे लौल्य (लोलुप) आदि अनेक राजा बैठे थे। आगे देखा तो अपनी चिघाड से दिशाओ को गु जाते हुए ममत्व आदि हाथी राजमार्ग पर निकल रहे थे। दूसरी ओर अज्ञान आदि घोडे अपनी हिनहिनाहट से दिशाओ को बधिर करते हुए चल रहे थे। उनके आगे चापल्य आदि असख्य पैदल योद्धा हाथो मे नाना प्रकार के शस्त्र लिये दौड रहे थे। उस समय कामदेव के प्रयाण को सूचित करते हुए ढोल और तासो के शब्द सुनाई देने लगे। क्षणमात्र मे ही मानो झझावात से प्रेरित बादल घुमड आये हो, वैसे ही विलास रूपी ध्वजाओ से व्याप्त और विब्बोक रूपी शख एव रणभेरियो की

ध्वनियों से चारो दिशाओं को गुंजायमान करते हुए अपरिमित संख्या में सैनिक एकत्रित होने लगे।

विपाक से वार्ता

उपर्युक्त चतुरगिणी सेना को देखकर मैने सोचा कि, अरे! यह सब क्या है? क्या कोई वडा राजा विचरण के लिए बाहर निकला है? यदि वह राजा है तो इस प्रकार सेना को साथ लेकर घूमने निकलने का क्या प्रयोजन है?※ इस प्रकार मैं वितर्कों मे झूल रहा था, उसी समय विषयाभिलाष मत्री के सम्बन्धी विपाक को मैने देखा। वह बहुत दारुण, अपने स्वरूप से ससार की विचित्रता बताने वाला, ज्ञानी मनुष्यो को भी उपदेश देने वाला, विवेकी प्राणियो मे वैराग्य उत्पन्न करने वाला और अविवेकी प्राणियो के लिये पहेली के रूप में प्रतीत होता था। मैंने उस के साथ मीठी-चूँठी बाते करते हुए उससे पूछा—भाई! यह राजा अभी जो प्रयाण कर रहा है उसका क्या प्रयोजन है? मुझे जानने की उत्सुकता है, यदि आप जानते हों तो बताये। विपाक बोला—आर्य! तुम्हे प्रयोजन जानने का कौतूहल है तो मै बताता हूँ, सुनो :—

एक बार सुगृहीतनामधेय रागकेसरी राजा ने अपने मत्री विषयाभिलाप को बुलाकर कहा—'आर्य! अब तो तुम कुछ ऐसा करो कि सम्पूर्ण जगत मेरे वश मे हो जाय।' मन्त्री ने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। राजा का यह कार्य करने में कौन समर्थ है इस पर पूर्णरूपेण विचार कर मन्त्री ने मन मे सोचा कि राजा का ऐसा कठिन कार्य करने मे अत्यन्त चतुर मेरे स्पर्शन आदि पाँच विशेप पुरुषो के अतिरिक्त जिन पर मुझे पूरा विश्वास है, अन्य कोई समर्थ नही हो सकता। ये अपने अचिन्त्य पराक्रम से निपुणता के साथ इस कार्य को सम्पन्न कर देगे। अतएव इस सम्बन्ध मे मुझे चिन्तित होने की आवश्यकता नही है। इस प्रकार सोचकर मन्त्री ने स्पर्शन आदि अपने पाँच मुख्य पुरुषो को अपने पास बुलाया। ये पाँचो पुरुष मन्त्री के अत्यधिक विश्वासपात्र, अनुरागी और समर्थक थे। उन्होने पहले भी कई जगह अपना पराक्रम बताया था। बहुत समय तक मन्त्री के सच्चे सेवको के समान उसकी विजय-पताका को फहराया था। मनुष्य के हृदय को अपने प्रति आकर्षित करने मे वे कुशल थे। शूरवीरो को निर्देश देने वाले, चचल प्राणियो मे अग्रगामी, अन्य प्राणियो को ठगने की कला मे पारगत, साहसिको मे अन्तिम श्वास तक भी पीछे न रहने वाले और बहुत कठिनाई से वश मे आ सके ऐसे दुर्दान्त प्राणियो मे उदाहरण रूप थे। अपने ऐसे क्रूर स्पर्शन आदि मुख्य पाँचों पुरुषो को मन्त्री ने इस जगत को वश मे करने का कार्य सौंपा।

सन्तोष और स्पर्शन का सम्बन्ध

विपाक से इतनी बात सुनकर मैने अपने मन मे सोचा कि, 'अरे! बात तो मिल रही है। इससे स्पर्शन का मूल भी समझ मे आ रहा है।' विपाक ने अपनी

※ पृष्ठ १५६

बात आगे चलाई—उसके बाद से ही इस विस्तृत जगत मे ये पाँचो पुरुष घूम रहे है और इन्होने सम्पूर्ण जगत को अपने वश मे कर लिया है। इन्होने रागकेसरी राजा को भी अपने वश मे कर लिया है। ससार के सब लोगो से ये इस प्रकार काम लेते हैं जैसे सब उनके सेवक हो। परन्तु सुना है, धान्य समूह पर उपद्रव करने वाली ईलियो के समान उनके काम काज को ठप्प करने वाला उपद्रवकारी सतोप नामक एक चोर पुरुष उत्पन्न हुआ है। यह सन्तोप उनका सामना कर, उन्हे हराकर, कई लोगो को रागकेसरी राजा की सीमा से बाहर निकालकर निर्वृत्ति नगर मे ले गया है।

विपाक की बात सुनकर मैंने सोचा कि हमारे सम्मुख बाल और मनीषी को स्पर्शन ने जो बात कही थी, उसमे तो भवजन्तु को सदागम द्वारा मोक्ष मे ले जाने की बात थी और यह विपाक कहता है कि सन्तोष नामक प्राणी ने स्पर्शनादि से अभिभूत पुरुषो को भगाकर निर्वृत्ति नगर में ले जाकर स्थापित किये है, अत· मोक्ष दिलाने वाला सदागम है या सन्तोष ? इस प्रकार इन दोनो की बातो में विरोधाभास-सा लगता है, पर अभी इस व्यर्थ के विचार की क्या आवश्यकता है ? अभी तो विपाक जो कहता है उसे ध्यान से सुनूं, फिर अवकाश के समय इस पर विचार करूँगा।

रागकेसरी को क्षोभ और सान्त्वना

तत्पश्चात् विपाक ने अपनी बात पुन· आगे चलाई,—※ सन्तोष नामक प्राणी स्पर्शन आदि पुरुषो को बहुत पीडा पहुँचा रहा है, पराजित कर रहा है, यह बात उनके मुख्य पुरुषो ने आज रागकेसरी को बताई। अपने सेवकों का पराभव राजा ने पहले कभी नही सुना था, अत: यह दुस्सह बात वह सहन नही कर सका और बात सुनते ही राजा की आँखे क्रोध से लाल हो गई, होठ फडकने लगे, भौहे भयकर रूप से चढ गई और कपाल पर रेखाये पड गयी। उसका पूरा शरीर पसीने से लथपथ हो गया, जमीन पर जोर-जोर से हाथ-पैर पटकने लगा और प्रलय काल की महा भयकर अग्नि जैसा रूप धारण कर, अत्यन्त क्रोधित होते हुए अपशब्द बोलने लगा तथा अपने सेवको को आज्ञा देने लगा—'अरे! दौडो, शीघ्र ही प्रयाण का डका बजाओ, चतुरग सेना तैयार करो।' राजाज्ञा को सेवको ने शिरोधार्य किया।

अपने राजा को इतना अधिक चिन्तित देखकर विषयाभिलाष मत्री ने कहा—देव! इतने आवेश मे आने की क्या आवश्यकता है ? यह सतोष वेचारा किस खेत की मूली है ? इसको किसी प्रकार का बढावा देने की आवश्यकता नही है। जो केसरी सिंह कपाल मे से मद झरते हाथियो के झुण्ड को लीला मात्र मे चूर्ण कर सकता है वह क्या हरिण को मारने के लिये चिन्ता करेगा ? आपके सम क्ष उस वेचारे का क्या अस्तित्व ? उसकी क्या शक्ति ? महाराज! इसके बारे मे आपको इतनी चिन्ता क्यो ?

※ पृष्ठ १६०

महाराजा ने कहा—मित्र ! तेरी बात सच्ची है, पर अपने लोगों को पीडित कर इस पापी सन्तोष ने मुझे बहुत उद्वेलित किया है, अतः जब तक मैं उसे जड से उखाड न फेंकू तब तक मुझे शान्ति नही मिलेगी ।

मत्री ने कहा – देव ! यह तो छोटी-सी बात है । इसके लिये आपको इतने आवेश मे नही आना चाहिये । आवेश का त्याग कीजिये ।

मत्री की बात सुनकर रागकेसरी राजा कुछ स्वस्थ हुआ, फिर विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध के अनुरूप कार्यवाही की गई । अपने समीप स्नेहजल से पूरित प्रेमबन्ध नामक स्वर्ण कलश स्थापित करवाया, केलिजल्प नामक आनन्द क्रीडा का जयघोष करवाया, चाटुकारिता-पूर्ण मगल गीत गवाये और रतिकलह नामक उद्दाम बाजे बजवाये । अपने शरीर पर चन्दन का लेप कर, आभूषण धारण कर राजा रथ पर चढने को तैयार हुआ तब स्मरण आया कि, अरे ! इस विषय मे मैंने अभी तक पिताजी से तो पूछा ही नहीं । यह मेरी कितनी बडी भूल है, कितना आलस्य है, कितना अविनय है ! यद्यपि यह छोटी-सी बात है, फिर भी मैं इतना व्याकुल हो गया कि पिताजी को नमन करना भी भूल गया ! इस प्रकार विचार करते हुए राजा पिताजी को नमन करने गया ।

रागकेसरी के पिता महामोह

विपाक के इतना कहने पर मैंने पूछा—हे भद्र ! इस रागकेसरी राजा का पिता भी है ? वह कौन है ? विपाक ने कहा—भाई प्रभाव ! तू तो बहुत भोला है । क्या तू इतना भी नही जानता कि इस महाराजा का पिता महामोह है जो अद्भुत कामो का करने वाला और त्रिलोक मे प्रसिद्ध है, उसका तुझे पता नहीं ? तू तो अनोखी बात करता है । अरे ! स्त्रियाँ और बच्चे भी इसको जानते है । सुन—

यह महामोह सम्पूर्ण जगत को लीला मात्र से घुमाता रहता है । बडे-बडे चक्रवर्ती और इन्द्र भी इसके सेवक होकर रहते है । अपनी वीरता के दर्प मे जो लोग अन्य सब की आज्ञा का उल्लघन करते रहते है वे भी महामोह की आज्ञा का तनिक भी उल्लघन नही कर सकते ।* वेदान्तवादियो के सिद्धान्त मे जैसे परमात्मा को चराचर (स्थावर और जगम) जगत मे व्यापक कहा गया है वैसे ही महामोह अपने वीर्य (पराक्रम) से राग-द्वेष आदि रूपो के द्वारा समस्त लोको मे व्याप्त है । जैसे वेदान्त मे कहा है कि समस्त जीव परमात्मा से ही उत्पन्न होते है और उसी मे लय हो जाते है वैसे ही मद आदि महामोह से ही प्रवर्तित होते हैं और उसी मे समा जाते है । परमार्थ को जानने वाले और सन्तोषजन्य वास्तविक सुख को जानने वाले प्राणी भी इन्द्रियो के सुख मे ललचा जाते है, यह सब महामोह का प्रताप है । समग्र शास्त्रो का अध्ययन कर जो अपने को पण्डित मानते हैं, ऐसे लोग भी विषयो मे आसक्त हो जाते हैं इस सब का कारण भी महामोह ही है । जैनेन्द्र-मत के तत्त्वज्ञ प्राणी

* पृष्ठ १६१

जो इस लोक में कषायों के वशीभूत हो जाते हैं, उनका कारण महामोह का शासन ही है। ऐसा भव्य मनुष्य जन्म और जैन-शासन जैसे सुन्दर शासन को प्राप्त करके भी जो प्राणी अपने घर में आसक्त रह कर संसार में भटकते हैं, उनका कारण भी महामोह ही है। महामोह के परिणाम स्वरूप ही जब अपने पति को धोखा देकर, कुल की मर्यादा छोड़ कर स्त्री पर-पुरुष में आसक्त होती है, यह भी महामोह का ही परिणाम है। यह महामोह व्याकुलता-रहित होकर अपने घरों से सब का त्याग कर यति-भाव में रहने वाले कई साधुओं को भी विडम्बित करता है। गन्धहस्ती के समान यह महामोह स्वेच्छानुसार मनुष्यलोक, पाताल और स्वर्ग में स्वयं आनन्द से विलास करता है। प्रगाढ मित्रता से विश्वासपात्र बने हुए मित्रों को भी जो ठगते हैं उनका कारण भी महामोह ही है। अपने उत्तम कुल की विशुद्ध मर्यादा का त्याग कर जो प्राणी परस्त्रीगमन करते हैं, उनका कारण भी यह महामोह ही है। जो शिष्य गुरु के प्रताप से ही योग्य बने हैं, गुणवान बने हैं, वे भी उसी गुरु के प्रतिकूल हो जाते हैं, उसका कारण भी यह नराधम महामोह ही है। कुछ लोग चोरी, डाका, हत्या आदि घृणित कार्य करते हैं और उन कामों में आनन्द मानते हैं, उसका प्रवर्तक भी महामोह ही है। [१-१७]

उपरोक्त प्रसिद्धि वाले महामोह राजा ने सम्पूर्ण विश्व का परिपालन करते हुए एक बार सोचा कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ अतः अपने राज्य का भार अब मुझे अपने पुत्र को सौंप देना चाहिये, क्योंकि मैं एक ओर रहकर भी अपने बल से राज्य संभालने में असमर्थ हूँ। ऐसा सोचकर विचक्षण महामोह राजा ने एक दिन अपना सम्पूर्ण राज्य अपने बड़े पुत्र को सौंप दिया और * अब वह निश्चिन्त होकर विश्राम कर रहा है तथा राज्य सम्बन्धी अधिक चिन्ता नहीं करता। फिर भी यह विश्व इस महाराजा के प्रभाव से ही चलता है। ऐसे बड़े जगत को चलाने और उसका परिपालन करने में इसके अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है? महामोह राजा ऐसे आश्चर्योत्पादक और अद्भुत कार्य करने वाला है तथा त्रिलोक में भी भली-भांति विख्यात है। उनके सम्बन्ध में तुझे मुझ से पूछना पड़ा यह तो अद्भुत ही लगता है। [१८-२२]

मैंने कहा—भाई! आप मुझ पर क्रुद्ध न हों। मैं तो यात्री हूँ। मैंने पहले सामान्य रूप से महामोह राजा का नाम तो सुना है, विशेष रूप से नहीं। किन्तु, वह रागकेसरी का पिता होता है यह मैं नहीं जानता था। तेरे स्पष्ट कथन से मेरा जो भ्रम था वह भी दूर हो गया। ऐसी बात है, तब तो आपने जो बात शुरु की थी, भद्र! उसका शेष भाग भी कहिये जिससे मुझे सम्पूर्ण बात समझ में आ जाय।

महामोह का वर्णन : युद्ध के लिये प्रस्थान

विपाक ने अपनी बात आगे चलाई। फिर रागकेसरी राजा अपने पिता महामोह महाराज के चरणों के निकट गया। महामोह की तमस नामक लम्बी-लम्बी

* पृष्ठ १६२

भौहें थी। अविद्या नामक सूखी लकडी जैसा कम्पमान और वृद्धावस्था से जीर्ण-शीर्ण उनका शरीर दिखाई देता था। तृष्णा नामक वेदी पर बिछाये हुए विपर्यास नामक आसन पर वे बैठे थे।

रागकेसरी ने अपने हाथ और मस्तक से भूमि का स्पर्श करते हुए पिता के पाँवो मे नमस्कार किया चरण-स्पर्श किया। पिता महामोह ने उसे आशीष दी और वह उनके पास धरती पर बैठ गया। पिता ने उसे आसन दिलवाया। पिता के प्रेम-वचन से राजा आसन पर बैठा। फिर अपने पिता के कुशल समाचार पूछे और वहाँ आने का कारण बताया। पिता ने सब बाते सुनी और कहा—

महामोह—पुत्र! जीर्ण वस्त्र की भाति अब मेरे जीवन का अन्तिम शेष भाग बचा है। जंसे खुजली वाले हाथी से जितना अधिक काम लिया जा सके उतना ही अच्छा है वैसे ही मेरे बोरडी के ठूठ जैसे शरीर से जितना काम लिया जा सके उतना ही ठीक है। अतः जब तक मैं जीवित हूँ तब तक तुझे लडाई मे जाने की आवश्यकता नही है। तू अपना यह विस्तृत राज्य सभाल और बिना किसी शका के राज्य का पालन कर। तेरे प्रस्थान का जो प्रस्तुत प्रयोजन है उसे मै पूर्ण कर दूँगा।

रागकेसरी—(दोनो कान बन्द कर) पिताजी! आप ऐसा नही बोले, ऐसी बात न करे, पाप शान्त हो और सब अमगल दूर हो। आपका शरीर अनन्त काल तक स्थायी रहे। आपके शरीर को किसी प्रकार की बाधा-पीडा न हो इसी मे आनन्द मानने वाला मैं आपका दास हूँ। अत. ऐसे कार्य मे आप मुझे ही प्रयुक्त करे। इस विषय मे आपसे अधिक क्या कहूँ? मैं शत्रु को पराजित करने जा रहा हूँ, आप मुझे आज्ञा दे।

महामोह—पुत्र! इस बार तो मुझे ही जाना पड़ेगा। तुझे तो मै यही राज्य मे रहने की आज्ञा देता हूँ।

इतना कहकर महामोह राजा खडे हो गये। पिता का इस सम्बन्ध में इतना दृढ आग्रह देखकर रागकेसरी ने कहा– पिता श्री! यदि आपकी ऐसी ही इच्छा और आज्ञा है तो फिर मै आपके साथ तो चलूँगा ही। इस सम्बन्ध मे आप मुझे मत रोकियेगा।

महामोह–वत्स! ठीक है, ऐसा कर सकते हो। मैं भी तुम्हारा विरह एक क्षण भी सहन नही कर सकता। पर, यह बहुत बडा और दुष्कर कार्य होने से मैने अकेले ही जाने का सोचा था। खैर, तूने साथ मे चलने की इच्छा व्यक्त की यह उत्तम ही है।

रागकेसरी—आपकी बड़ी कृपा। *

---

* पृष्ठ १६३

उसके पश्चात् रागकेसरी राजा ने अपने साथ चलने वाले दूसरे समस्त राजाओ को भी समाचार भेज दिये कि पिता श्री महानरेन्द्र महामोह भी साथ चलेगे। यह बात सुनकर पूरी सेना मे उत्साह छा गया। फिर महामोह, रागकेसरी, विषयाभिलाप व अन्य समस्त मत्रीगण और सामत सेना के साथ सतोप नामक प्रबल तस्कर पर विजय प्राप्त करने निकल पडे। इस घटना से पूरा राजसचित्त नगर उद्वेलित हो गया और यह जो कोलाहल सुन रहे हो वह इसी सेना के प्रयाण का कोलाहल है। हे भद्र! महाराजा और राजा के विजय-यात्रा पर निकलने का यह प्रयोजन है। तुझे यह बात जानने की बहुत उत्सुकता थी इसीलिये मैंने तुझे सब बात कह सुनाई, अन्यथा अतित्वरा के कारण मुझे भी बोलने का समय नही था, क्योकि सेना की प्रथम पक्ति मे नायक के स्थान पर मेरी नियुक्ति हुई है।

विपाक का आभार

विपाक के मुख से इतना विस्तृत वर्णन सुनकर मैंने उसके प्रति आभार-प्रदर्शित करते हुए कहा—'आर्य! मैं किन शब्दो मे आपका आभार प्रदर्शन करूँ? सज्जन पुरुष सर्वदा परोपकार करने मे तत्पर रहते है। जब ऐसे सज्जन दूसरो का भला करने मे व्यस्त होते है तब वे अपना स्वय का काम भी भूल जाते हैं या उसे गौण कर देते है, अपने परिश्रम से उत्पन्न धन का दूसरो के लिये उपयोग करते है, दूसरो के लिये अनेक प्रकार के दु ख सहन करते है; स्वय को चाहे कितनो विपत्तियाँ सहन करनी पडे उसकी ओर ध्यान नही देते, आवश्यकता पडने पर अपना मस्तक कटाने को भी उत्सुक रहते है, अपने जीवन को भी सकट मे डालने को तत्पर रहते है और दूसरो के काम को अन्त:करण से अपना काम मानकर करते है।' मेरे ऐसे वचन सुनकर विपाक मन मे प्रसन्न हुआ। मेरे प्रति अपने मस्तक को थोडा झुकाया और अपने जाने की सूचना देता हुआ मुझे प्रणाम कर विपाक वहाँ से विदा हुआ।

बोध को रिपोर्ट

अपनी बात को बोध के समक्ष आगे चलाते हुए प्रभाव बोला—आपने मुझे जो राजकार्य सौपा था वह लगभग पूर्ण हो चुका है। आपकी आज्ञा थी कि मैं स्पर्शन के मूल का पता लगाकर आपको सूचित करूँ। विपाक ने स्पर्शन के जितने गुणो का वर्णन किया है वे अपने स्पर्शन से सब मिलते है, इसका मुझे स्वय को अनुभव हो गया है। विपाक के कथनानुसार स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रवण इन पांच पुरुषो को सन्तोष को जीतने के लिये भेजा गया था, उन्ही पाँच मे एक स्पर्शन है। इससे उसके मूल का तो पता लग गया पर सन्तोष की बात अभी तक मुझे भी बराबर समझ मे नही आई। मुझे ऐसा लगता है कि यह सन्तोष तो सदागम का ही कोई सेवक होना चाहिये। अगर ऐसा न हो तो आगे और पीछे की बात मे जरूर कुछ विरोध आता। वस्तुत मुझे इतना सोचने की क्या आवश्यकता है?

मेरे स्वामी के पास जाकर ज्ञात सब वृत्तान्त वर्णित कर दूँ जिससे वे स्वयं सब यथार्थता समझ लेंगे। ऐसा विचार कर मैं आपके समीप आया हूँ। (आर्य ! मेरे मन में यह दुविधा है कि यहाँ तो भवजन्तु को सदागम ने निर्वृति नगर मे भेजा और वहाँ रागकेसरी राजा के पास प्रार्थना-पत्र आया कि सन्तोष नामक चोर सारे लोगों को निर्वृत्ति नगर में ले जा रहा है, इसमे क्या रहस्य है ?) अब सब वृत्तान्त जानकर आपको जैसा योग्य लगे वैसी आज्ञा दें।

प्रभाव का आभार

इस विस्तृत विवरण को सुनकर बोध बहुत प्रसन्न होकर बोला—प्रभाव ! तूने अत्यधिक प्रशस्य कार्य किया। फिर वे दोनों साथ-साथ राजकुमार मनीषी के पास आये और नमस्कार के पश्चात् प्रभाव ने स्पर्शन के बारे मे जो विस्तृत जानकारी प्राप्त की थी वह सब मनीषी को कह सुनाई। राजकुमार यह सब वृतान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और इतनी जानकारी प्राप्त करने मे प्रभाव ने जो कष्ट उठाया उसके लिये उसका आदर सत्कार किया।

❀

५. स्पर्शन की योगशक्ति

एक दिन मनीषी और स्पर्शन साथ-साथ बैठे थे, तब अवसर देखकर कुमार मनीषी ने स्पर्शन से पूछा—भाई स्पर्शन ! तुझे तेरे परममित्र भवजन्तु से अलग कराने में सदागम का ही हाथ था ❀ या उस समय उसके साथ और भी कोई था ?

स्पर्शन को सन्तोष का महाभय

स्पर्शन—आर्य मनीषी ! उनके साथ एक और भी था, पर अब उस बात को जाने दीजिये। मुझे उस पापी, क्रूर कर्म करने वाले से इतना डर लगता है कि मैं उसका नाम भी नही लेना चाहता। सदागम तो भवजन्तु को केवल मुझ से दूर रहने का उपदेश ही देता था, पर मुझे अनेक प्रकार के दु:ख देने वाला तो सदागम का एक सेवक ही था जो महाघातक कार्य करता था और अपने क्रूर कर्मों से मुझे दु:खी करता था। वही भवजन्तु को मुझ से अलग करता था और मेरे विरुद्ध उसे उकसाता था। उस पापी अनुचर ने ही मेरे मित्र भवजन्तु को शरीर-प्रसाद से बाहर निकाल कर निर्वृत्ति नगर ने पहुँचा दिया। इन सब घटनाओं का कारण वह अनुचर ही था। सदागम तो मात्र उपदेश देता था।

मनीषी—पर, भाई ! उस अनुचर का नाम क्या था ? यह तो बता।

❀ पृष्ठ १६४

स्पर्शन— मैंने अभी तो आपसे कहा कि मुझे उस पापी का इतना भय लगता है कि मै उसका नाम भी नही लेना चाहता। मैंने पहले भी तुम्हे इसीलिये उसके बारे मे कुछ भी नही बताया था। वह महापापी है, उसका नाम लेने से भी क्या लाभ ? पापी मनुष्य की बात करने से भी पाप की वृद्धि होती है, यश मे घब्बा लगता है, लघुता प्राप्त होती है, मन मे बुरे विचार आते है और धर्मबुद्धि का क्षय होता है।

मनीषी—तेरी बात तो ठीक है, पर मुझे उसका नाम जानने की बहुत उत्सुकता है। जब तक तू मेरे पास है तब तक तुझे उस अनुचर या अन्य किसी से भी डरने की आवश्यकता नही है। नाम-ग्रहण मात्र से पाप नही लग जाता, अग्नि का नाम लेने से मुँह नही जल जाता, अत. तू निर्भय होकर उसका नाम बता।

मनीषी का इतना अधिक आग्रह देखकर स्पर्शन भय से चारो ओर देखने लगा, फिर धीरे से बोला— भाई! यदि ऐसा ही है तो सुनो, उस दुर्नामक पापी का नाम सन्तोष है।

मनीषी का विचारपूर्वक आत्म निर्णय

अब मनीषी अपने मन मे सोचने लगा, स्पर्शन के मूल का जो पता प्रभाव ने लगाया था वह ठीक ही लगता है। उसने जो पता लगाया उससे सन्तोष का सम्बन्ध नही जुडता था, वह भी अब जुड गया है। मैने प्रारम्भ से ही सोचा था कि इस स्पर्शन का अधिक परिचय अच्छा नही है, वह ठीक ही था। विषयाभिलाष मन्त्री ने इस स्पर्शन को लोगो को ठगने के लिये ही भेजा है और उस काम को पूरा करने के लिये ही वह इधर-उधर भटक रहा है, अतएव यह व्यक्ति सगति (मित्रता) के योग्य कदापि नही है। फिर भी अभी तक मैंने उसे मित्र की भाति माना है और ऊपर-ऊपर से स्नेह भी दिखाया है तथा बहुत समय तक इसके साथ खेला भी हूँ, अत इसे एकदम छोड़ देना भी उचित नही होगा। परन्तु, अब मैं उसके स्वरूप को अच्छी तरह से जान गया हूँ, अत उसका अधिक विश्वास करना भी उचित नही है। अब मै उसके मनोनुकूल आचरण नही करूँगा, मेरा आत्मस्वरूप उसे नही बताऊँगा, मेरी गुप्त बात उसको नही कहूँगा, फिर भी उसे यह पता नही लगने दूँगा कि मेरा उसको चाहना दिखावा मात्र है, क्योकि वह विचित्र स्वभाव का व्यक्ति है। अतएव अभी तो इसके साथ समय व्यतीत करना और उसके साथ पहले जैसा व्यवहार ही रखना चाहिये, पहले की भाति सम्बन्ध रखते हुए उसके साथ घूमना-फिरना चाहिये, वह जो भी काम करने को कहे उनमे से आत्मिक प्रयोजन को नष्ट न करने वाले काम करने चाहिये * तथा जब तक मैं उसका सर्वथा त्याग न कर सकूँ तब तक उसके साथ इसी प्रकार का व्यवहार रखते हुए उस पर अधिक

* पृष्ठ १६५

आसक्ति नही रखनी चाहिये। यदि मैं उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार रखूँगा तो वह मुझे किसी प्रकार की हानि नही पहुँचा सकेगा, ऐसा मनीषी ने मन मे विचार कर आत्म-निर्णय किया। तदनन्तर मनीषी और वाल पहले की ही भांति स्पर्शन के साथ क्रीडा करते हुए, विविध स्थानो का भ्रमण करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

स्पर्शन का प्रश्न : संसार में सारभूत क्या है ?

एक वार स्पशन ने अपने मित्र-मण्डली में कहा, भाइयों! ससार में सारभूत क्या है? सभी प्राणी किस की इच्छा करते हैं?

वाल—मित्र! इसमें पूछना क्या है? यह तो सर्व विदित है।

स्पर्शन—कहिये, वह क्या है?

वाल—मित्र! वह सुख है।

स्पर्शन—यदि ऐसा ही है तो प्रतिदिन उसका सेवन क्यो नही करते?

वाल—उसके सेवन का उपाय क्या है?

स्पर्शन—मैं स्वय उसका उपाय हूँ।

वाल—वह कैसे?

योग-शक्ति की महत्ता

स्पर्शन—मुझ में योगशक्ति है जिससे म प्राणी के शरीर मे या वाहर किसी जगह छिपकर वैठ सकता हूँ। फिर वे प्राणी भक्तिपूर्वक मेरा ध्यान करे, कोमल और सुन्दर स्पर्श के साथ सम्वन्ध स्थापित करे. तो उन्हे इतना अधिक सुख मिलेगा कि उस सुख से वढकर अन्य कोई सुख उन्हें प्रतीत नही होगा। अत: सुख-सेवन का उपाय मैं स्वयं हूँ। (अब तो मेरी वात पूरी तरह समझ मे आई?)

इतना सुनते ही मनीषी के मन मे विचार उठा कि, अरे! यह तो अव हमें ठगने का प्रपंच कर रहा है। खैर. देखें अव आगे यह क्या करता है?

वाल—मित्र! तुम्हारे साथ हमारा इतने दिन से सम्वन्ध है, फिर आज तक तुमने यह वात हमसे क्यो नही कही? तुमने आज तक हमें अवश्य ही ठगा है। हम दुर्भागी हैं, क्योकि सुख प्राप्त करने का इतना सरल उपाय पास में होते हुए भी हम अभी तक उस सुख का सेवन नहीं कर सके। तेरे पास इतनी प्रवल योग-शक्ति होने पर भी तूने उसे प्रकट नही किया यह तो तेरी असामान्य गम्भीरता है। पर, अव तो कृपा कर हमे अपना कुतूहल दिखा, तेरी योगशक्ति का प्रयोग कर सुख प्राप्त कराने में हमारी सहायता कर।

क्या मेरी शक्ति वताऊँ? ऐसा मन मे सोचते हुए स्पर्शन ने सदेह पूर्वक मनीपी के मुख की तरफ देखा और उससे पूछा। (वाल ने जैसी इच्छा प्रकट की

वैसी ही इच्छा मनीषी की भी है या नही ? यह जानने के लिये उसने उससे प्रश्न किया)। मनीषी को भी क्या और कैसे होता है यह जानने का कुतूहल था, अत: उसने कहा—मित्र ! बाल ने तुम्हे जिस प्रकार करने को कहा है, वैसा ही करो। इसमे विचार करने जैसा या विरोध प्रकट करने जैसा क्या है ?

योग-शक्ति का प्रयोग

मनीषी का उत्तर सुनकर स्पर्शन ने पद्मासन लगाया, शरीर को स्थिर किया, मन के विक्षेप को बाह्याकर्षण से मुक्त किया, दृष्टि को निश्चल कर नासिका के अग्रभाग पर स्थिर किया, मन को हृदय-कमल पर स्थिर किया, धारणा को स्थिर किया, जिस विषय पर ध्यान करना था उस पर एकाग्र हुआ, इन्द्रियो की समस्त वृत्तियो का निरोध किया, स्वय स्वरूप-शून्य की भाति बन गया, समाधि धारण की, अन्तर्ध्यान के लिये आवश्यक आत्मसयम को प्रकटाकर अदृश्य हो गया तथा मनीषी और बाल के शरीर मे प्रवेश कर उनके शरीर का जो प्रदेश उसको अधिक रुचिकर था उसमे स्थित हुआ। उस समय बाल और मनीषी को अपने मन मे अत्यन्त नवीनता का अनुभव हुआ और दोनो के मन मे कोमल स्पर्श को प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई। *

योग-शक्ति का बाल पर प्रभाव

जब स्पर्शन ने अपनी योग-शक्ति के बल से बाल के शरीर मे प्रवेश किया तब वह मृदु शय्या, सुन्दर आरामदायक कोमल वस्त्र, हाड-मास और त्वचा को सुख देने वाले मर्दन, सुन्दर ललित ललनाओ के साथ अनवरत रति-क्रिया, ऋतु से विपरीत परिणाम उत्पन्न करने वाले विलेपन, शरीर को प्रिय लगने वाले सर्व प्रकार के स्नान और उद्वर्तन (पीठी) आदि स्पर्शनप्रिय पदार्थो मे आसक्त हो गया। जैसे भस्मक व्याधि वाले को जितना भी खाने को दे वह सब खा जाता है वैसे ही स्पर्शन के वशीभूत बाल कोमल शय्या आदि सब वस्तुओ को अतृप्ति पूर्वक प्रचुरता से भोगने लगा। बेचारा बाल कोमल स्पर्श के विषय-सुख मे विकल होकर इतना फस गया कि अनेक प्रकार के प्रबन्धो के होते हुए भी उसके मन को थोड़ा भी सन्तोष प्राप्त नही होता, जिसके परिणाम स्वरूप उसकी मन की शाति ही नष्ट हो गई। जैसे खुजली वाले प्राणी को खुजलाने मे ऊपर-ऊपर से आनन्द मिलता है किन्तु अन्त मे उससे उसके शरीर को कष्ट ही मिलता है वैसी ही स्थिति उसकी भी हो गई थी। किन्तु शुद्ध विचारो के अभाव मे और वस्तु-स्थिति की अनभिज्ञता के कारण जब-जब वह सुन्दर शय्या आदि का उपभोग करता तब-तब वह सोचता कि, 'अहा ! कितना सुन्दर सुख है ! अहा ! मुझे कितना आनन्द प्राप्त हो रहा है' ऐसे मिथ्या विचारो से मन मे फूलकर कुप्पा हो जाता और आँखे मूँदकर, विपरीत भावो के कारण स्वय परम सुख भोग रहा हो, ऐसा मानकर व्यर्थ ही विपरीत रस मे अवगाहन करता और सुख मे लीन हो जाता।

---

* पृष्ठ १६६

योग-शक्ति का मनीषी पर प्रभाव

इसके विपरीत मनीषी को जब-जब कोमल और मृदु शय्या आदि की इच्छा होती है तब-तब वह अपने मन मे विचार करता है कि, अरे ! अभी मेरे मन मे जो विकार उत्पन्न हो रहा है वह स्पर्शन द्वारा उत्पन्न किया हुआ है, यह स्वाभाविक इच्छा नही है। अस्वाभाविक कामनाये सुख का कारण कैसे हो सकती है ? अतः इस सम्बन्ध मे मैने दृढ निश्चय कर लिया है कि स्पर्शन वस्तुत: पूर्ण रूप से मेरा शत्रु है। दृढ निश्चय के पश्चात् वह स्पर्शन के अनुकूल कोई भी कार्य नही करता। चूंकि उसे मित्र-रूप से स्वीकार किया है और उसकी मित्रता का त्याग करने का अभी समय नहीं हुआ है, अतः कालयापन की दृष्टि से और उसे बुरा न लगे इसलिये मनीषी कभी-कभी स्पर्शन के अनुकूल कुछ आचरण भी कर लेता है। परन्तु, उसमें किंचित् भी आसक्त नहीं होता। संतोष से उसका मन स्वस्थ रहता है। निरोग शरीर वाले को जैसे पथ्य भोजन सुखकारक होता है वैसे ही शयन आदि के उपभोग से उसे सुख प्राप्त होता है। सुविज्ञ मनीषी बाल की भांति शयन आदि उपभोगो के साथ मैत्री नही करता, जिससे भविष्य मे उसे किसी प्रकार का दुःख उठाना पडे वह ऐसे कर्म का बन्ध नही करता।

बाल की मान्यता

एक दिन अन्तर्ध्यान किये हुए स्पर्शन ने प्रकट होकर बाल से कहा—मित्र ! मेरे परिश्रम का कुछ फल हुआ ? तुझे उससे किसी प्रकार का सुख प्राप्त हुआ ? तेरा कुछ उपकार हुआ या नहीं ?

बाल ने उत्तर दिया—मित्र ! मैं तुम्हारा आभारी हूँ। तुमने सचमुच मुझ पर बहुत कृपा की है। मैं कल्पना भी नही कर सकता, ऐसे स्वर्ग के सुख का तुमने मुझे अनुभव करवाया है। वास्तव में इसमे कितनी नवीनता है ! ऐसा लगता है कि विधाता ने तुझे दूसरे प्राणियो को सुख देने के लिये ही उत्पन्न किया है।

सच है, तेरे जैसे दुनिया मे दूसरो का उपकार करने के लिये ही जन्म लेते हैं और मेरे जैसो का जन्म तेरे जैसो से ही सार्थक होता है। तेरे जैसे उत्तम मनुष्यो का यह सौजन्य है कि वे अपने स्वभाव से ही सर्वदा अन्य मनुष्यों के सुख के कारण बनते हैं। [१-२]

बाल का यह उत्तर सुनकर स्पर्शन ने विचार किया कि चलो, एक कार्य तो निर्विघ्न रूप से सफल हुआ। यह बाल तो अब मेरा सेवक हो गया और इतना अधिक मेरे वश मे हो गया कि मैं काली वस्तु को सफेद कहूँ या सफेद को काली कहूँ तब भी वह बिना किसी विचार के उसे स्वीकार कर लेगा। ऐसा सोचते हुए स्पर्शन ने कहा—मित्र ! मेरा इतना ही प्रयोजन था, ❋ तेरा उपकार हुआ इससे मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ।

❋ पृष्ठ १६७

मनीषी का गूढ उत्तर

फिर स्पर्शन मनीषी के पास गया और बोला—मित्र ! तुम्हारी इच्छित वस्तु प्राप्त कराने मे मेरा प्रयास सफल हुआ या नही ? मनीषी ने उत्तर दिया—'अरे भाई ! इस विषय मे अधिक क्या कहूँ तेरी शक्ति तो इतनी अधिक है कि वाणी से उसका वर्णन नही कर सकता ।' ऐसा गूढ उत्तर सुनकर स्पर्शन ने अपने मन मे विचार किया कि, अरे यह जो कुछ कह रहा है उसमे कुछ गहरा भेद है । यह मनीषी वास्तव मे दुष्ट है । मेरे जैसा व्यक्ति किसी भी प्रकार से इसका मनोरजन नही कर सकता । ऐसा लगता है कि मेरे वास्तविक स्वरूप को यह जान गया है, अत यहाँ तो मर्यादा मे रहना ही अच्छा है, इस सम्बन्ध मे इससे अधिक बात करना श्रेयस्कर नही है । मन मे ऐसा सोचते हुए स्पर्शन ने धूर्त मनुष्य की भाति शब्द-ध्वनि की (सीटी बजाई) और उसने अपने हाव-भाव से किसी प्रकार के विपरीत भाव को प्रकट नही होने दिया तथा मौन धारण कर लिया ।

अकुशलमाला की प्रेरणा

बाल ने अपनी माता अकुशलमाला के पास जाकर स्पर्शन की योगशक्ति का सम्पूर्ण वर्णन किया । स्पर्शन ने किस प्रकार उसे सुख प्राप्त करवाया और उसमे कितनी अधिक शक्ति है, इसका उल्लेख किया । यह सब सुनकर अकुशलमाला ने कहा—पुत्र ! मैने तो पहले ही तुझे कहा था कि तेरी इस स्पर्शन के साथ मित्रता हुई है, यह बहुत अच्छा हुआ । यह मित्रता तेरे लिये सुख की परम्परा का कारण बनेगी । मुझ मे भी ऐसी योगशक्ति है जिसका परिचय मै फिर कभी तुझे दूँगी ।

यह नई बात सुनकर बाल ने कहा—यदि ऐसा है तो माताजी ! अभी तुरन्त ही यह कुतूहल दिखाइये, मेरा आपसे यही आग्रह है ।

अकुशलमाला ने कहा—जब मै अपनी योगशक्ति का प्रयोग करूँगी तब तुझे इस सम्बन्ध मे सब कुछ बताऊँगी ।

शुभसुन्दरी का परामर्श

जिस प्रकार बाल ने अपनी माता को स्पर्शन सम्बन्धी सब बात कही उसी प्रकार मनीषी ने भी अपनी माता शुभसुन्दरी को स्पर्शन का सब वृत्तान्त कहा । सुनकर शुभसुन्दरी ने कहा—वत्स ! इस पापी-मित्र के साथ तू किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखे, यह मुझे अच्छा नही लगता; क्योंकि परम्परा से भी स्पर्शन का परिचय प्राप्त करने वाले को अनेक दु ख प्राप्त होते है ।

मनीषी—माताजी ! आप का कहना उचित है, पर आप इस सम्बन्ध मे तनिक भी चिन्ता न करे । मै इस स्पर्शन के वास्तविक स्वरूप को पहचान गया हूँ । वह मुझे वश मे करने के अनेक उपाय करता रहता है, किन्तु वह मुझे ठग नही सकता । मात्र अभी मै उसका त्याग नही कर रहा हूँ, पर त्याग के लिये योग्य

अवसर की प्रतीक्षा मे हूँ, क्योकि मैने उसे एक बार मित्र के तौर पर स्वीकार किया है अतः असमय मे एकदम छोड देना उचित नही है।

पुत्र के ऐसे वचन सुनकर शुभसुन्दरी ने कहा—वत्स! तेरा यह विचार बहुत सुन्दर है। तेरी व्यवहार कुशलता उचित ही है। तेरी वत्सलता, नीतिमार्ग पर प्रवृत्ति की तत्परता, गभीरता और स्थिरता धन्य है। व्यवहार का एक नियम है—

जिसे एक समय ग्रहण किया हो, उसमे कुछ दोष होने पर भी सज्जन मनुष्य उसका एकाएक त्याग नही करते, जैसा कि तीर्थंकर महाराज जब गृहस्थाश्रम मे होते है तब वे असमय मे गृहस्थी का त्याग नही करते। [१]

एक वार स्वीकार किये हुए व्यक्ति को उसके दोषी होने पर भी असमय मे त्याग करने से सज्जन पुरुषों मे निन्दा होती है और अपना उद्देश्य भी पूर्ण नही होता है। [२] *

परन्तु, वैसी दोष वाली वस्तु या व्यक्ति का त्याग करने का उचित अवसर प्राप्त होने पर भी जो प्राणी मूर्खतावश उसका त्याग नही करता, तो परिणामस्वरूप उसका स्वय का भी नाश हो जाता है, इस विषय मे तनिक भी शका नही की जा सकती। [३]

किसी कारणवश हेय बुद्धि से ग्रहण की गई वस्तु का त्याग करने के लिये विद्वान् पुरुष सुअवसर की प्रतीक्षा करते हैं। ऐसे पुरुष नि.सदेह प्रशसा के योग्य है। [४]

कर्मविलास राजा ने जब अपनी दोनो रानियो से सब वृत्तान्त सुना तब वह मन ही मन मे मनीषी पर प्रसन्न हुआ और बाल पर रुष्ट हुआ।

तदनन्तर बाल कोमल शय्याओ पर आराम करने, सुन्दर स्त्रियो के साथ स्पर्शनेन्द्रिय रति-सुख भोगने आदि स्पर्शन की सभी प्रिय वृत्तियो मे अधिकाधिक आसक्त होने लगा और अहर्निश उनका ही सेवन करने लगा। बाल ने राजकुमार के योग्य दूसरे सब कार्यो को छोड दिया, अपने देव और गुरु को प्रतिदिन नमन करने का जो नियम था उसका भी त्याग कर दिया, कलाभ्यास भी छूट गया, कुल-मर्यादा का त्याग करना आरम्भ कर दिया और पशु-धर्म को ग्रहण कर लिया। उसकी ऐसी प्रवृत्ति के लिये लोग निन्दा करने लगे तो वह उनकी उपेक्षा करने लगा। अभी तक उसका विचार था कि अपने कुल को कलक लगे ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिये, उस विचार का भी त्याग कर दिया। मै दूसरे प्राणियो के बीच निन्दा और हँसी का पात्र बन रहा हूँ यह उसकी समझ मे ही नही आ रहा था। अपना हित करने वाले लोगो के प्रति उपेक्षा दिखाने लगा और सद् उपदेश ग्रहण करना छोड़ दिया। वह केवल जहाँ-तहाँ स्त्री-सग, कोमल

* पृष्ठ १६८

जन्या या अन्य जो कुछ भी स्पर्शन को सुखकारी है उन कार्यों को करने या भोगने मात्र मे लग गया । उन स्पर्शनजन्य उपभोग का क्या दुष्परिणाम होगा ? इसको विचार किये बिना ही लोलुपता के साथ उन कार्यों मे प्रवृत्त हो गया । उसकी ऐसी प्रगाढ आसक्तिपूर्ण प्रवृत्ति देखकर मनीषी को उस पर दया आने लगी और कभी-कभी वह उसे अपने द्वारा स्पर्शन की मूल-प्रवृत्ति के विषय मे की गई जांच के बारे मे बताता और कहता—भाई बाल ! यह स्पर्शन बड़ा ठग है, थोड़ा भी विश्वास करने योग्य नही है, यह सचमुच ही प्रबल शत्रु है । जब बाल के समक्ष वह यह सब कुछ कहता और उसे स्पर्शन के विरुद्ध भड़काता तब बाल कहता—'भाई मनीषी ! जिस बात का तुमने अनुभव नही किया उस विषय मे व्यर्थ ही बात करने से क्या लाभ ? जो मेरा परम मित्र है, मुझे अनन्त सुख-सागर मे अवगाहन करवाता है, उसे तू मेरा शत्रु कहता है ! यह कैसी उल्टी बात है ?' ऐसा विचित्र उत्तर सुनकर मनीषी अपने मन मे विचार करने लगता, वास्तव मे बाल मूर्ख लगता है । उसे रोकना अभी तो संभव नही है, अतः अभी तो स्वयं को उससे बचाना ही पर्याप्त है । नीति-शास्त्र मे भी कहा है :—

मूर्ख मनुष्य जब अकार्य करने मे तत्पर हो, तब उसे रोकने के लिये वाणी द्वारा समझाने आदि का जो प्रयत्न किया जाता है वह राख मे घी डालने जैसा है । ऐसे मूर्ख को शताधिक बार उपदेश देने पर भी वह कुकृत्य करने से नहीं रुकता । राहु को कितना भी वाक्यो द्वारा समझाओ किन्तु वह तो चन्द्र को ग्रसेगा ही । दुर्बुद्धि प्राणी जब अकार्य करने मे संलग्न हो जाता है तब समझदार व्यक्ति को उपदेश द्वारा उसे नही रोकना चाहिये ।

ऐसा सोचकर मनीषी ने बाल को जो सद्शिक्षा देने का सत्प्रयास किया था, उसका त्याग किया और मौन धारण कर लिया । [१४]

ॐ

६. मध्यमबुद्धि

कर्मविलास राजा के उपर्युक्त शुभसुन्दरी और अकुशलमाला के अतिरिक्त एक और रानी थी जिसका नाम सामान्यरूपा था । इस रानी के एक अत्यन्त वल्लभ मध्यमबुद्धि नामक पुत्र था । मध्यमबुद्धि पर बाल और मनीषी का बहुत प्रेम था । दोनो ने उसके साथ बहुत समय तक क्रीडा की थी । राज्य सम्बन्धी कुछ कार्य के लिये महाराजा की आज्ञा से वह विदेश गया हुआ था । वह अभी-अभी वापिस क्षितिप्रतिष्ठित नगर मे लौटा था । आते ही उसने बाल और मनीषी को स्पर्शन के साथ देखा । * वह दोनों भाइयो तथा स्पर्शन से आलिंगनपूर्वक मिला । फिर मध्यमबुद्धि को कुछ कौतुक होने से अपना मुंह बाल के कान के पास ले जाकर गुप्तरूप से पूछा—'अरे भाई । यह नया व्यक्ति कौन है ?' बाल ने उत्तर दिया—'बन्धु ! यह

---

* पृष्ठ १६६

तो अत्यन्त प्रभावशाली अपना मित्र स्पर्शन है।' मध्यमबुद्धि ने जब उसका विशेष स्वरूप पूछा तब बाल ने स्पर्शन के सम्बन्ध में सब वृत्तान्त कह सुनाया, जिसको सुनकर मध्यमबुद्धि को भी स्पर्शन पर अनुराग हुआ। फिर बाल के कहने से स्पर्शन ने मध्यमबुद्धि पर भी अपनी शक्ति का प्रयोग किया। स्पर्शन योगशक्ति से अन्तर्ध्यान होकर मध्यमबुद्धि के शरीर मे प्रवेश कर गया जिससे उसे बहुत आश्चर्य हुआ और उसमें कोमल स्पर्श प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने सुन्दर कोमल शय्या, ललित ललनाओ के सग सुरत-क्रिया आदि द्वारा स्पर्श सुख का आनन्द करवाया और उसके मन मे भी अपने प्रति प्रेम उत्पन्न किया। स्पर्शन पुन. प्रकट हुआ और मध्यमबुद्धि से पूछा कि, उसका प्रयोग सफल हुआ या नही ? उत्तर में मध्यमबुद्धि ने सहसा उसके प्रति आभार प्रदर्शित किया। स्पर्शन ने भी मन मे सोचा, कोई बात नही, यह भाई भी मेरे चगुल में फस गया है।

मध्यमबुद्धि को संशय : मनीषी की चेतावनी

यह देखकर मनीषी अपने मन में विचार करने लगा कि पापी स्पर्शन ने इस मध्यमबुद्धि को भी लगभग अपने वश में कर लिया है। यदि यह मेरी बात माने तो इसे यथार्थता का ज्ञान कराऊँ, जिससे बेचारा उसके चक्कर मे फसकर और न ठगा जाय। ऐसा सोचकर मनीषी ने मध्यमबुद्धि को एकान्त में ले जाकर गुप्त रूप से कहा—'भाई ! यह स्पर्शन अच्छा व्यक्ति नही है। इसे तो विषयाभिलाष ने लोगो को ठगने के लिए यहाँ भेजा है और यह हर घडी लोगो को ठगने का कार्य ही किया करता है।' जब मध्यमबुद्धि ने इस सम्बन्ध मे विस्तार से पूछा तब मनीषी ने स्पर्शन के मूल के सम्बन्ध मे जो बात बोध और प्रभाव से सुनी थी वह सपूर्ण कथा आदि से अन्त तक कह सुनाई। यह सब वृत्तान्त सुनकर मध्यमबुद्धि ने मन मे विचार किया कि स्पर्शन का मुझ पर कितना प्रेमभाव है यह मैने स्वय अनुभव किया है। फिर इसकी शक्ति भी अचित्य है और यह सुख का हेतु भी है, यह सब मैने स्वयं देखा है पर यह मनीषी भी तो कभी गलत बात नही कहता ! क्या करना चाहिये ? मैं नही जानता कि इसमें सच्चाई क्या है ? और ऐसी स्थिति मे मुझे इस प्रकार संकल्प-विकल्प करने से क्या लाभ ? माताजी के पास जाकर उनसे ही सब बात पूछना ठीक है। फिर वे जैसी आज्ञा देगी वैसा ही मैं आचरण करूंगा।

मध्यमबुद्धि का माता से प्रश्न और उत्तर

ऐसा विचार कर मध्यमबुद्धि अपनी माता सामान्यरूपा के पास आया और चरण-स्पर्श कर नमन किया। उसने उसे आशीष दी। मध्यमबुद्धि उसके पास भूमि पर बैठा। फिर उसने स्पर्शन के सम्बन्ध मे सब वृत्तान्त अपनी माता को कह सुनाया। सब बात सुनकर सामान्यरूपा ने कहा—वत्स ! अभी तो तुझे स्पर्शन और मनीषी दोनो के वचनो के अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिये, जिससे तू दोनों का अविरोधी बनकर मध्यस्थ बना रह सकेगा। बाद मे जब तुझे इस सम्बन्ध मे विशेष

जानकारी प्राप्त हो तव जो पक्ष वलवान लगे उसे ग्रहण करना। व्यवहार-शास्त्र मे कहा है :—

दो भिन्न-भिन्न कार्यों के सम्बन्ध मे जव मन मे शका उत्पन्न हो तव सर्वदा थोड़े समय तक मिथुनद्वय के दृष्टान्त के समान कालक्षेप करना चाहिये। [१]*

यह सुनकर मध्यमबुद्धि बोला —माताजी ! मिथुनद्वय की कथा कैसी है? तब सामान्यरूपा ने कहा कि पुत्र ! तू मिथुनद्वय की कथा सुन—

मिथुनद्वय की अन्तर्कथा

एक तथाविध नामक नगर है। वहाँ ऋतु नामक राजा राज्य करता है। उसके प्रगुणा नामक रानी है। इन के कामदेव जैसा रूप और सुन्दर आकृति वाला मुग्ध नामक एक पुत्र है। इस राजकुमार के रति जैसी लावण्यवती अकुटिला नामक पत्नी है। मुग्धकुमार और अकुटिला का परस्पर वहुत प्रेम था। अनेक प्रकार से इन्द्रिय-सुखो का उपभोग करते हुए वे अपना समय व्यतीत कर रहे थे। अन्यदा वसत ऋतु के एक सुन्दर प्रभात मे मुग्धकुमार अपने महल के वराण्डे मे आनन्द पूर्वक सृष्टि-सौन्दर्य देखते हुए खडा था, तभी दूर से मनोहर विकसित विविध प्रकार के पुष्पो और हरियाली से छाये हुए अपने वगीचे को देखकर उसमे क्रीडा करने की उसकी इच्छा हुई। अत. अपनी स्त्री अकुटिला से वोला—देवि ! आज इस उद्यान की शोभा कुछ विशेष ही वढी हुई लगती है, चलो हम फूल एकत्रित करने के बहाने वहाँ आनन्द-क्रीडा करे। अकुटिला ने उत्तर दिया, जैसी प्राणनाथ की आज्ञा। तत्पश्चात् हीरो से जडित स्वर्ण की पुष्प टोकरियाँ लेकर वे दोनो वगीचे मे गये और फूल चुनने लगे। फूल चुनते-चुनते मुग्धकुमार ने कहा—प्रिये ! देखें हम दोनो मे कौन पहले फूलों से अपनी टोकरी भरता है? तू दूसरी तरफ जा, मैं इस तरफ जाता हूँ। अकुटिला ने उसकी वात स्वीकार की। पुष्प चुनते-चुनते वे एक दूसरे से वहुत दूर निकल गये। वीच मे वड़ी-वड़ी झाड़ियाँ होने से वे एक दूसरे की दृष्टि से ओझल हो गये।

कालज्ञ और विचक्षणा की करतूत

उसी समय उस प्रदेश पर एक व्यन्तर युगल उडता हुआ आया था। उसमे जो पुरुष था उसका नाम कालज्ञ और स्त्री का नाम विचक्षणा था। वे दोनो जब आकाश मे विचरण कर रहे थे तव इन्होने इस मनुष्य-युगल को उद्यान मे फूल चुनते हुए देखा। कर्मो की परिणति अचिन्त्य होने से मनुज दम्पति की अत्यधिक सुन्दरता के कारण, कामदेव द्वारा अविचारित कार्य करवाने के कारण, बसन्त ऋतु का समय मन्मथ का उद्दीपक होने से, वन प्रदेश की रमणीयता से, व्यन्तरो का क्रीडा-प्रिय स्वभाव, इन्द्रियो की अत्यधिक चपलता, विषयाभिलाष की दुर्निवारिता,

---

* पृष्ठ १७०

मनोवृत्तियों की अनियन्त्रित चपलता और भवितव्यता के वशीभूत होने से कालज्ञ को अकुटिला मानवी पर और विचक्षणा व्यन्तरी को मुग्धकुमार पर तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ।

कालज्ञ की युक्ति

अपनी व्यन्तरी को धोखा देकर प्रच्छन्न रूप से इच्छित कार्य करने की दृष्टि से कालज्ञ व्यन्तर ने अपनी स्त्री विचक्षणा से कहा—देवि ! तुम थोड़ी आगे चलो, प्रभु-भक्ति के लिये कुछ पुष्प इस राज उद्यान से चुनकर मैं आ रहा हूँ। विचक्षणा का मन भी मुग्धकुमार ने हरण कर रखा था जिससे वह मौन रही। कालज्ञ व्यन्तर बगीचे मे जहाँ अकुटिला पुष्प चुन रही थी वही गहरी झाड़ी वाले प्रदेश मे नीचे उतरा और विचक्षणा व्यन्तरी की दृष्टि से ओझल हो गया। तदनन्तर कालज्ञ ने विचार किया कि, अरे ! यह मनुष्य-दम्पति किसलिये एक दूसरे से दूर-दूर फिर रहे हैं इसका पता लगाना चाहिये। फिर उसने विभग-ज्ञान का उपयोग किया जिससे उसे मालूम हो गया कि वे एक दूसरे से दूर क्यो हैं। ❀ अकुटिला को वश मे करने का यही एकमात्र उपाय समझ कर उसने तुरन्त मुग्धकुमार का वैक्रिय रूप धारण कर लिया, हाथ मे सोने की टोकरी ले ली, उसमें फूल भर लिये और अकुटिला के पास जाकर एकाएक बोला—प्रिये ! मैं तो तेरे से जीत गया हूँ, तू हार गई। 'ओह ! आर्यपुत्र तो बहुत जल्दी आ गये और मुझ पर विजय प्राप्त करली' इस विचार से अकुटिला कुछ खिन्न हुई। उसकी खिन्नता को देखकर मुग्धकुमार रूपधारी व्यन्तर ने कहा—प्रिये ! रुष्ट होने की क्या बात है, यह तो साधारण बात है। अब हमने बहुत से पुष्प एकत्रित कर लिये है, अतः चलो, पास के कदलीगृह मे चले। देखो यह कदलीगृह कितना सुन्दर है। यह ता सम्पूर्ण उद्यान का आभूषण है। बेचारी भोली-भाली अकुटिला कुछ विशेष जानती न थी इसलिये वास्तविकता के अज्ञान मे उसने सब कुछ स्वीकार किया। वहाँ से मुग्धकुमार रूपी व्यन्तर और अकुटिला कदलीगृह में गये और वहाँ केले के पत्तों की शय्या बनाकर आमोद-प्रमोद करने लगे।

विचक्षणा का रूप परिवर्तन

इधर विचक्षणा व्यन्तरी ने आकाश मे ही सोचा, अरे ! मेरा पति कालज्ञ तो अभी तक पृथ्वी पर है, वह वापिस आये और उस मनुष्य की स्त्री अपने पति से दूर रहे तब तक रति-रहित कामदेव के समान उस पुरुष को मना-समझा कर, रिझाकर, मान देकर उसके साथ अपना जन्म सफल करूँ। यह मनुष्य-दम्पति एक दूसरे से अलग क्यो हुए हैं, इसका पता उसने भी विभग-ज्ञान के उपयोग से लगा लिया और तुरन्त स्वय अकुटिला का वैक्रिय रूप धारण कर, हाथ मे सोने की टोकरी फूलो से भरकर मुग्धकुमार के पास आई और जोर से हँसते हुए बोली—'आर्यपुत्र ! मैंने तुम्हे जीत लिया है, तुम हार गये।' मुग्धकुमार ने तनिक चकित होते हुए सामने

❀ पृष्ठ १७१

देखकर कहा—वल्लभे! सचमुच ही आज तो तुमने मुझे जीत लिया, बोलो अब क्या करे? अकुटिला रूपधारी विचक्षणा व्यन्तरी ने कहा—जो मैं कहूँ वह आज तो तुम्हें करना ही पडेगा। कुमार ने कहा—क्या करना है यह तो बताओ? व्यन्तरी ने कहा—चलो हम लता-मण्डप से छाये कदलीगृह मे चले और वहाँ जाकर उद्यान की सुन्दरतम विकसित पुष्पावली मे आनन्द का उपभोग करें।

केलिगृह में दो युगल

मुग्धकुमार ने प्रस्ताव स्वीकार किया और वे उसी कदलीगृह मे गये जहाँ कालज्ञ व्यन्तर और अकुटिला पहले से ही मौजूद थे। वहाँ उन्होने एक जोडे को देखा। अधिक ध्यान से देखने पर उन्हे आश्चर्य हुआ और वे एक दूसरे को एकटक देखने लगे। दोनो युगलो मे रंचमात्र भी अन्तर नही था, जिस तरफ से भी देखो सब समान था। वास्तविक मुग्धकुमार ने अब विचार किया—अहो! भगवती वनदेवी के प्रभाव से आज तो मै और मेरी स्त्री दोनो ने एक समान दो स्वरूप धारण कर लिये हैं। यह तो हमारे महान् उत्कर्ष का कारण बना है। चलो, चलकर पिताजी को यह आनन्ददायक समाचार देवें। उसने दूसरे युगल से भी अपनी इच्छा बतायी, उन्होने भी स्वीकार किया और चारो व्यक्ति ऋतु राजा के पास आये।

राज-परिवार को हर्ष

इन एक समान दो युगलो को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ। प्रगुणा रानी और राज्य परिवार के अन्य लोगो को भी बहुत विस्मय हुआ। उन्होने मुग्धकुमार से पूछा—पुत्र! यह सब कुछ कैसे हुआ? जरा हमे भी समझाओ।

मुग्धकुमार—पिताजी यह तो वन देवता का प्रभाव है।

ऋतु राजा—वह कैसे?

तब मुग्धकुमार ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वृत्तान्त सुनकर सरल प्रकृति वाले ऋतु राजा ने विचार किया कि, 'अहा! मै धन्य हूँ, भाग्यशाली हूँ, मुझ पर वन देवता की बड़ी कृपा हुई है।' हर्ष के उत्साह मे असमय मे ही उसने पूरे नगर मे बडा महोत्सव मनाने का आदेश दे दिया। अनेक प्राणियों को बडे-बडे दान दिये गये, धूमधाम से नगर देवता का पूजन-अर्चन किया गया। फिर पूरे राज्य-मण्डल को बुलाकर उनके मध्य मे राजा ने कहा—

'मेरे एक ही पुत्र और एक ही पुत्रवधु थी * जिसके स्थान पर अब दो पुत्र और दो पुत्रवधुए हो गई है। अत: हे लोगो! खूब खाओ, पीओ, गाओ, बजाओ, नाचो और आनन्द करो।' राजा के कथन को ही दोहराती हुई प्रगुणा रानी ने भी आनन्द मगल के बाजे बजवाये और प्रसन्नता मे हाथ ऊचे कर-करके नाचने लगी, द्विगुणित आनन्दित हुई। अकुटिला भी बहुत प्रमुदित हुई। अन्त:पुर की सभी स्त्रियाँ हर्ष से से नाचने लगी। इस प्रकार सम्पूर्ण नगर प्रमुदित हुआ और सर्वत्र आनन्द छा गया।

* पृष्ठ १७२

कालज्ञ व्यन्तर की विचारणा

केलिप्रिय होने के कारण कालज्ञ व्यन्तर यह सब लीला देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु उसके मन में विचार-द्वन्द्व चल रहा था कि यह दूसरी स्त्री कौन है ? जब उसने अपने विभग-ज्ञान का उपयोग किया तब उसे ज्ञात हुआ कि यह तो स्वय की स्त्री विचक्षणा ही है । यह जानकर वह मन मे क्रोधित हुआ और उसने सोचा कि, 'इस दुराचारी पुरुष मुग्धकुमार को ही मार डालूँ । मैं इस विचक्षणा को देवागना होने के कारण मार तो नही सकता पर इसे इतना दु.ख पहुचाऊँ कि इसके पश्चात् यह कभी पर-पुरुष की गन्ध भी नही ले सके ।' ऐसा दृढ निश्चय कालज्ञ व्यन्तर ने किया परन्तु उसी समय भवितव्यता की प्रेरणा से उसके मन में विचार आया कि मैंने जो सोचा वह ठीक नही है. जब मैं स्वय शुद्ध आचरण का पालन नही कर सका तब मुझे विचक्षणा को पीडा पहुँचाने का क्या अधिकार है ? जैसा उसका दोष है वैसा ही मेरा दोष है । मुग्धकुमार का मारना भी योग्य नही है, क्योकि कुमार को मारने पर यदि अकुटिला को कुछ भनक पड़ गई तो वह मेरे से विपरीत हो जाएगी और वह मेरा सेवन नही करेगी तथा विचक्षणा भी सर्वदा के लिए मेरे से विरक्त हो जाएगी । तव मै क्या करूँ ? अपनी स्त्री को चपलवृत्ति को अनदेखा करके अकुटिला को लेकर यहाँ से कही दूर चला जाऊं ? नही, यह भी उचित नहीं । यह सब अस्वाभाविक होगा । यदि अकुटिला को कुछ सदेह हो गया तो वह मेरे साथ आनद का उपभोग नही करेगी और उसके विना यहाँ से जाना व्यर्थ होगा । अतः दूसरों की ईर्ष्या न कर, समय निकालना और यही रहना मेरे लिये हितकर है ।

विचक्षणा के विचार

विचक्षणा ने भी यही विचार किया कि, अरे ! यह तो मुग्धकुमार का रूप बनाकर मेरे पति कालज्ञ ही आये लगते हैं । उनके सिवाय अन्य कौन इस प्रकार यहाँ आ सकता है ? उनके देखते हुए मैं पर-पुरुष का सेवन किस प्रकार करूँ ? ऐसे विचार से विचक्षणा के मन मे वहुत लज्जा आयी । फिर अपनी आँखो के सामने अपना पति अन्य स्त्री से सम्बन्ध करे यह देखकर उसे भी बहुत ईर्ष्या हुई । ऐसे सयोगों मे यहाँ रहना तो दुष्कर है, पर अब यहाँ से चले जाने से भी क्या लाभ होगा ? इन विचारो से व्याकुल होते हुए भी उसने सोचा—अब तो यहाँ रहने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नही है । उसे दूसरा कोई रास्ता न सूझने से 'जो होगा देखा जायगा' ऐसा सोचकर मन को धैर्य देती हुई वह भी वहीं पर रह गई । अब उन दोनो ने नये वैक्रिय रूप धारण करने बन्द किये, एक दूसरे पर ईर्ष्या करना छोडा, देवमाया से मनुष्यों के सब कर्त्तव्य निभाते हुए और वे दोनों नवीन रूपो मे भोग भोगते हुए लम्बे समय तक इसी स्थिति मे वही रहे ।

❀

७. प्रतिबोधकाचार्य

उस तथाविध नगरी के बाहर मोहविलय नामक उद्यान मे अनेक शिष्यों से परिवेष्टित केवलज्ञानादि लक्ष्मी के समुद्र ❀ प्रतिबोधक नामक आचार्य पधारे। ऐसे महान् आचार्य के आगमन की सूचना वनपालक ने महाराजा ऋतुराज को निवेदित की। गुरुदेव के आगमन के समाचार सुनकर महाराजा नगर के लोगो के साथ उन्हे वन्दन करने उद्यान मे आये। देवताओ ने आचार्यश्री के बैठने के लिये एक सुन्दर स्वर्ण कमल बनाया था। उस कमल पर बैठकर आचार्यदेव उपदेश दे रहे थे। गुरुदेव के दर्शन कर, जमीन तक मस्तक झुकाकर राजा ने उनके चरण-कमलो मे नमस्कार किया तथा अन्य सभी मुनियो को भी नमस्कार किया। आचार्य भगवान् ने कर्मरूपी वृक्ष को तोडने मे तीक्ष्ण कुल्हाडी के समान 'धर्मलाभ' आशीर्वाद से राजा का अभिनन्दन किया, वैसे ही अन्य मुनियो ने भी उसे धर्मलाभ आशीर्वाद दिया। राजा भूमि पर बैठे। कालज्ञ व्यन्तर आदि जो राजा के साथ आये थे वे भी आचार्यश्री व मुनियों को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठे।

प्रतिबोधकाचार्य की देशना

आचार्यश्री का उपदेश चल रहा था। उन्होने अपने उपदेश मे ससार की निर्गुणता (निस्सारता) बताकर कर्मबन्ध के हेतुओ का विस्तार से वर्णन किया। ससार रूपी कैदखाने मे पडे रहने की स्थिति के अवगुण बताते हुए निन्दा की। मोक्षमार्ग की प्रशसा की। मोक्षसुख मे कितनी विशेषता है उसे अधिक स्पष्ट रूप से समझाया। विषय सुख के लालच मे पडे रहने से किस प्रकार ससार मे परिभ्रमण होता है उसकी वास्तविकता समझाई और इस प्रकार के सुख से शिव-सुख प्राप्ति मे विघ्न और अनन्त काल पर्यन्त भटकते रहने की यथार्थता को बतलाया।

व्यन्तरों के शरीर से निर्गत स्त्री

आचार्य भगवान् की वाणी सुनकर कालज्ञ व्यन्तर और विचक्षणा व्यन्तरी पर जो मोह का जाल फैला हुआ था वह दूर हुआ। उन दोनो मे सम्यग्दर्शन के परिणाम जागृत हुए जिससे कर्मरूप इन्धन को जलाकर राख करने मे समर्थ प्रबल पश्चात्ताप रूपी अग्नि प्रज्वलित हुई और उसी क्षण वे अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप करने लगे। उस समय उनके शरीर मे से एक स्त्री बाहर निकली। उस स्त्री का शरीर लाल और काले परमाणुओ से बना हुआ लगता था। उसका

❀ पृष्ठ १७३

स्वरूप अत्यन्त बीभत्स और विवेकी प्राणियों को उद्वेलित करने वाला था। वह स्त्री आचार्यश्री के तेज को सहन न कर सकी, अतः शीघ्र ही निकल कर सभा से बाहर दूर जाकर उल्टा मुँह करके बैठ गई।

पश्चात्ताप और स्वरूप-दर्शन

कालज्ञ और विचक्षणा के हृदय पश्चात्ताप से इतने पानी-पानी हो गये कि उनकी आँखों से आँसू ढलने लगे और वे दोनों एक साथ आचार्यश्री के पाँवों में पड़ गये। पाँव छूकर कालज्ञ व्यन्तर ने कहा—भगवन्! मैं तो अधमाधम हूँ। प्रभु! मैंने अपनी पत्नी को भी ठगा है, पर-स्त्री के साथ विषय भोग किया है, सरल हृदय वाले मुग्धकुमार को भी ठगा है, ऋतुराजा और अगुणा रानी के मन में नकली पुत्र पर मोह उत्पन्न किया है। इस प्रकार के कार्यों द्वारा मैंने दूसरों को ही नहीं वस्तुतः अपने आप को ही ठगा है। प्रभु! मैं बहुत पापी हूँ, इस प्रकार के घृणित पापकर्मों से मेरी शुद्धि किस प्रकार होगी?

विचक्षणा—भगवन्! मुझ पापिनी की भी शुद्धि कैसे होगी? मुझ पापिन ने भी वही सब पाप किये हैं, जिन्हें अब फिर से दोहराने की क्या आवश्यकता है? आप तो दिव्य ज्ञानी हैं, अतः आप सब वास्तविकता को जानते ही हैं, आपसे क्या छिपाना। (प्रभु! मैं क्या करूँ जिससे मेरा उद्धार हो सके, कृपया बताइये।)

आचार्य—इस विषय में विषाद करने की आवश्यकता नहीं है। तुम दोनों का इसमें कोई दोष नहीं है। तुम लोगों का वास्तविक रूप तो निर्मल है।

कालज्ञ-विचक्षणा—भगवन्! तब यह किसका दोष है?

आचार्य—भद्रों! यह सब दोष उस स्त्री का है जो तुम्हारे शरीर में से निकलकर उधर दूर पीठ फेरकर बैठी है।*

कालज्ञ-विचक्षणा—भगवन्! इस स्त्री का नाम क्या है?

आचार्य—भद्रों! इसका नाम भोगतृष्णा है।

कालज्ञ-विचक्षणा—भगवन्! वह इन सब दोषों की कारण किस प्रकार है?

आचार्य—इस भोगतृष्णा के स्वरूप को सुनो—

जिस प्रकार रात्रि अन्धकार को चारों तरफ फैलाती है, उसी प्रकार यह भोगतृष्णा रागादि दोषों के समूह को चारों तरफ फैलाती है। यह महानीच और अयोग्य कार्य करने वाली है, अतः यह जिस प्राणी के शरीर में प्रवेश करती है उसमें सहसा अकरणीय कार्यों को करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। जैसे अग्नि का पेट घास-फूस काष्ठ से नहीं भरता, जैसे जल से समुद्र तृप्त नहीं होता वैसे ही प्रचुर भोगों को

* पृष्ठ १७४

भोगने से भी यह भोगतृष्णा कभी तृप्त नही होती। जो मूर्ख प्राणी समझते है कि इसे इन्द्रिय सुखो का भोग देकर शात कर देगे, वे बेचारे मानो जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्र को पकड़ने का प्रयत्न करते है। जो नराधम मोहवश भोगतृष्णा को अपनी प्यारी स्त्री बनाते है वे महाभयकर अनन्त ससार-समुद्र मे भटकते रहते हैं। जो उत्तम प्राणी भोगतृष्णा को दोषयुक्त समझकर उसे अपने शरीर से बाहर निकाल देते है और उसके लिये अपने मन के द्वार सदा के लिये वन्द कर देते है वे सब प्रकार के उपद्रवो से मुक्त होकर, समग्र पापो को धोकर, अपनी आत्मा को निर्मल कर परमपद को प्राप्त करते है। जो सत्पुरुष भोगतृष्णा रहित होते है वे तीनो लोको मे सभी प्राणियो द्वारा वन्दनीय होते है, पर जो प्राणी इसके वश मे होते हैं वे सज्जन पुरुषो द्वारा निन्दा के पात्र बनते है। [१-८]

इसकी प्रकृति ऐसी विलक्षण है कि जो अधम प्राणी इसके वशीभूत होकर इसके अनुकूल प्रवृत्ति करते है उन्हे तो यह बहुत दुःख देती है और जो उत्तम प्राणी इसके प्रतिकूल प्रवृत्ति करते है उन्हे यह असीम सुख पहुँचाती है। जब तक प्राणी के मन मे यह पापिनी भोगतृष्णा बसी हुई रहती है तब तक उसे ससार प्यारा और मोक्ष कड़ुआ लगता है, परन्तु जब पुण्यशाली प्राणियो के मन से इसका विलय हो जाता है तब संसार के सारे पदार्थ उस प्राणी को धूल के समान निस्सार लगते हैं। जब तक मन मे इसका वास रहता है तब तक प्राणी अशुचि के ढेर रूप स्त्री के अगोपांगो को कुन्द, कमल और चन्द्रमा की उपमा देता है, पर इसके मन से निकलते ही स्वप्न मे भी उसे इन अगोपागो के सेवन की इच्छा नही होती। [९-१४]

पुरुषार्थ और मनुष्यता मे समान होते हुए भी कई प्राणी इसी भोगतृष्णा के कारण दूसरो की गुलामी जैसे अधम कार्य करते है। जिन महात्माओ के शरीर से भोगतृष्णा निकल जाती है वे दुनिया की दृष्टि मे चाहे निर्धन हो पर वास्तव मे वे धीर-वीर पुरुष इन्द्र के भी स्वामी बन जाते है। (क्योकि भोगतृष्णा से निवृत्त होने पर इन्हे किसी की अपेक्षा नही रहती, अतः इन्द्र भी इन्हे नमस्कार करते है।) इस भोगतृष्णा का शरीर तामसी और राजसी परमाणुओ के योग से बना है, ऐसा अन्य शास्त्रो मे कहा गया है। [१५-१७]

[आचार्यश्री सभा को और विशेषकर कालज्ञ और विचक्षणा को उद्देश्य कर पुनः कहने लगे।]

इस पापी स्त्री ने ही तुम्हे पाप कर्मो मे प्रवृत्त कराया है। तुम दोनो का इसमे कोई दोष नही है। * तुम दोनो स्वरूप से निर्मल हो पर इस स्त्री के कारण ही तुम दोनो मे यह दोष उत्पन्न हुए है। यह भोगतृष्णा ही समस्त दोषो की जननी है। वह इस धर्म-सभा मे खड़ी रह सकने मे असमर्थ है इसीलिये वहाँ दूर जाकर, तुम्हारे यहाँ से बाहर निकलने की प्रतीक्षा कर रही है। [१८-२०]

* पृष्ठ १७५

विचक्षणा-कालज्ञ—भगवन् ! इस पापिन भोगतृष्णा से सदा के लिये हमारी मुक्ति कब होगी ?

तृष्णा से मुक्त होने की कुञ्जी

आचार्य—इस भव मे तो तुम्हारा इससे सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकेगा पर इसका धीरे-धीरे नाश करने के लिये महा मुद्गर के समान आज तुम्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। सद्गुरुओं के सम्पर्क द्वारा इसे बारंबार तेज करते रहने से, भोगतृष्णा के अनुकूल कोई आचरण नही करने से, मन में इसका विचार आने से विकार पैदा होंगे इस बात को ध्यान में रखकर ऐसे विकार के प्रसंग में तुरन्त उसके विपरीत भावनाओ द्वारा उसका प्रतीकार करने से यह दुबली-पतली (क्षीण) होती जायेगी और तुम्हारे शरीर मे रहते हुए भी तुम्हे पीडित नही कर सकेगी। इस प्रकार का आचरण करने से तुम दोनों अगले जन्म मे इस भोगतृष्णा का सर्वथा त्याग करने मे समर्थ बन सकोगे।

कालज्ञ और विचक्षणा इस बात को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। 'प्रभो ! आपने हम पर महती कृपा की' ऐसा कहते हुए वे आचार्यश्री के चरणो में झुक गये।

यह सब सुनकर ऋतु राजा, प्रगुणा रानी, मुग्धकुमार और अकुटिला के मन मे बहुत पश्चात्ताप हुआ और साथ ही विशुद्ध अध्यवसाय भी उत्पन्न हुए। राजा और रानी सोचने लगे कि, 'पुत्र और पुत्रवधु के द्विगुणित होने के भ्रम मे पड़कर निरर्थक ही हमने दोनों से कुकर्म सेवन करवाये, यह बहुत बुरा हुआ।' कुमार सोचने लगा 'मैंने परस्त्री-गमन कर कुल मे कलक लगाया।' अकुटिला सोचने लगी कि 'मेरा शील भग हुआ यह बडा अकार्य हुआ।' चारों के मनमे एक-साथ विचार आया कि हम सभी ये बातें आचार्यश्री को बतादे जिससे ये महापुरुष हमे पापो से शुद्धि का कोई रास्ता बता देगें।

आर्जव, अज्ञान और पाप का प्रकट होना

राजा, रानी, कुमार और कुमारवधू जब इस प्रकार सोच रहे थे तभी 'मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा' 'मै तुम्हारी रक्षा करूंगा' बोलते हुए एक बालक इन चारों के शरीर में से प्रकट हुआ। इसका शरीर इन चारों के शुद्ध परमाणुओं से बना हुआ था, वह उज्ज्वल वर्ण वाला और तेजस्वी था, उसकी आकृति इतनी सुन्दर थी कि उसके सामने दृष्टिपात करने से आँखें शात और मन प्रसन्न होता था। यह छोटा बालक आचार्य भगवान् के मुंह के सम्मुख देखते हुए सब से आगे आकर आचार्यश्री के समक्ष बैठ गया। इस बालक के पश्चात् एक और बालक प्रकट हुआ जिसका रंग काला और आकृति वीभत्स थी, जिसके सामने देखने से मन मे उद्वेग पैदा होता था। इस दूसरे बालक के शरीर में से एक अन्य उसके जैसा ही पर अधिक बेडौल और

बीभत्स आकृति वाला तथा उससे भी अधिक दुष्ट स्वभाव वाला तीसरा * बालक प्रकट हुआ, जो बाहर निकलते ही अधिकाधिक बढता गया। उसे बढते देखकर पहले निर्मल वर्णधारक सुन्दर बालक ने उसके सिर पर लात मारकर उसके बढाव को रोक दिया और उसे फिर से उसके प्रकृत असली) रूप मे ले आया। यह देखकर काले रग वाले दोनो बालक आचार्यश्री की सभा से बाहर चले गये। इस प्रकार तीनो बालकों का आश्चर्यजनक चरित्र चल रहा था तभी आचार्यश्री ने ऋतु राजा आदि को उद्देश्य कर कहा– भद्रजनो! आप सब सोच रहे है कि हमने विपरीत आचरण किया है, पर आप लोगो को इस विषय मे विषाद करने की कोई आवश्यकता नही है, क्योकि इसमे तुम्हारा स्वय का कोई दोष नही है, तुम सब अपने स्वरूप से तो निर्मल हो।

ऋतुराजादि—भगवन्! तब इसमे किसका दोष है?

आचार्य—इस श्वेत वर्ण के बालक के बाद जो श्याम वर्ण का बालक तुम्हारे शरीर मे से निकला उसी का यह सब दोष है।

ऋतुराजादि—प्रभु! इसका नाम क्या है?

आचार्य—इसका नाम अज्ञान है।

ऋतुराजादि—इस अज्ञान मे से एक और दूसरा काला बालक प्रकट हुआ था जिसे इस उज्ज्वल बालक ने लात मारकर बढने से रोक दिया था, उस बालक का क्या नाम है?

आचार्य—इसका नाम पाप है।

ऋतुराजादि—उज्ज्वल रग के बालक का क्या नाम है?

आचार्य—इसका नाम आर्जव (सरलता) है।

ऋतुराजादि—यह अज्ञान कौन है? इसमे से पाप कैसे प्रकट हुआ? आर्जव ने उसे बढने से कैसे रोका? यह सब विस्तार से जानने की हमारी उत्कट अभिलाषा है, अत आप हम पर कृपा कर यह सब विस्तार से बतलाइये।

आचार्य—यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो सुनो।

अज्ञान का स्वरूप

तुम्हारे शरीर मे से जो अज्ञान (बालक) बाहर निकला वही सब दोषो का कारण है। जब तक यह शरीर मे रहता है तब तब प्राणी कार्य और अकार्य के भेद को नही समझ सकते और कहाँ जाना चाहिये तथा कहाँ नही जाना चाहिये यह भी तत्त्वत. नही जान सकते। भक्ष्य और अभक्ष्य तथा पेय और अपेय का ज्ञान भी इसके प्रभाव से प्राणी को नही रहता। अन्धा मनुष्य जैसे खड्डे मे गिर जाता है वैसे ही

* पृष्ठ १७६

अज्ञानवश व्यक्ति कुमार्गगामी बन जाता है। अन्ध होकर कुमार्ग मे प्रवृत्ति करने वाला प्राणी भयकर कठोर कर्मो को बाधता है और उन अशुभ कर्मो के प्रभाव से इस ससार समुद्र मे अनेक प्रकार के दु खों को भोगते हुए भटकता रहता है। राग और द्वेष को प्रवृत्त करने वाला भी यह अज्ञान ही है। भोगतृष्णा को भी जब किसी प्राणी को वशवर्ती करना होता है तब उसे भी अज्ञान की सहायता लेनी पडती है। अज्ञान न हो तो भोगतृष्णा वापिस मुड जाती है, शायद थोडे समय तक वह ठहर भी जाय तो तुरन्त वापिस चली जाती है। यह आत्मा स्वरूप से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निर्मल होने पर भी अज्ञान के प्रभाव से पत्थर जैसी जडता को प्राप्त हो जाती है। देवताओं, मनुष्यों ओर मोक्ष की दैवी-सम्पत्तियों का हरण करने वाला और सन्मार्ग को रोकने वाला अज्ञान ही है। अज्ञान ही नरक है क्योकि वह महा अन्धकारमय है। अज्ञान ही वास्तविक दारिद्र्य है, अज्ञान ही परम शत्रु है, अज्ञान ही रोगो को घर है, ※ अज्ञान ही वृद्धावस्था है, अज्ञान ही समस्त विपत्तियो का पुञ्ज है और अज्ञान ही मृत्यु है। यदि अज्ञान न हो तो यह घोर ससार समुद्र जिसे पार करना बहुत कठिन लगता है वह ससार मे रहते हुए भी बाधक नहीं लगता। प्राणी मे जो कुछ भी अयुक्त व्यवहार और उन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति दिखाई देती है, परस्पर विरोधी विचार दिखाई देते है, उन सब का कारण यह अज्ञान ही है। जिन प्राणियो के मन मे प्रकाश को ढकने वाला यह अज्ञान रहता है वे ही पाप कर्म में प्रवृत्ति करते है। जिन भाग्यवान प्राणियो के चित्त मे से यह अज्ञान निकल जाता है उनकी अन्तरात्मा परम शुद्ध हो जाती है और वैसे प्राणी फिर सदाचार मे ही प्रवृत्ति करते है। अत्यन्त विशुद्ध मन वाले ऐसे प्राणी पाप-पक से मुक्त होकर अन्त मे परम पद मोक्ष को प्राप्त करते है और त्रिलोक मे वन्दनीय बनते हैं। यहाँ जिस अज्ञान का वर्णन किया गया है, तुम चारों उसके वशीभूत हो गये थे, इसीलिये यह सब विपरीत आचरण हुआ है। इसमे आप लोगो का कोई दोष नही है, दोष तो इस अज्ञान का ही है। [१-१६]

पाप का स्वरूप

यह अज्ञान ही सर्वदा पाप नामक दूसरे डिम्भ (बालक) को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार अज्ञान ने यहाँ भी पाप को उत्पन्न किया है। सज्जन पुरुष पाप को सब दु खो का कारण बताते है, यह ठीक ही है। प्राणियों को यह हठात् उद्वेग रूपी भयकर समुद्र मे ढकेल देता है। ऐसा कहा जाता है कि संसार के सब क्लेशो का कारण यह पाप है, अत. सज्जन पुरुषो को जो पाप का कारण हो ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिये। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, शुद्ध तत्त्वज्ञान मे अश्रद्धा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये सब पाप के कारण है। मनीषी को चाहिये कि पापोत्पादक इन कारणों से प्रयत्न पूर्वक दूर रहे। ऐसा करने से पाप नही बंधेगे, और पाप का बन्धन नही होगा तो दु ख की संभावना भी नही रहेगी।

※ पृष्ठ १७७

आप लोगों को भी अज्ञान के कारण ही पाप की प्राप्ति हुई है। हिंसा आदि समग्र दोषो की प्रवृत्ति का मूल कारण यह अज्ञान ही है। [१७-२२]

आर्जव का स्वरूप

अभी आप लोगों ने देखा कि बढते हुए पाप को लात मारकर आर्जव ने रोक दिया था, अत आर्जव का स्वरूप सुनें। [२३]

यह आर्जव स्वरूप (स्वभाव) से ही प्राणियो के चित्त को अत्यन्त शुद्ध करने वाला होने से बढते हुए पाप को रोक सकता है। सर्व प्राणियों मे आर्जव यही काम करता है और आप लोगो के सम्बन्ध में भी उसने अपनी पद्धति से अज्ञान-जनित पाप को जीतने का कार्य कर दिखाया है। प्रकृति से हम्मुख वालक का रूप धारण करने वाला यह आर्जव सर्वदा हर्षित होकर 'मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा' ऐसा निरन्तर कहता रहता है। जिन भाग्यशाली प्राणियो के चित्त मे इस आर्जव का निवास होता है, वे कभी भूल से अज्ञानवश कुछ पाप कर्म कर भी लेते हैं तब भी बहुत थोडे पाप का बन्ध करते हैं। आर्जव युक्त प्राणी जब शुद्ध मार्ग को जान जाते हैं तब कर्मों का नाश कर मोक्ष की तरफ प्रवृत्ति करते हैं। इस प्रकार ऋजुता युक्त शुभ्र मन वाले भाग्यशाली प्राणी जीवन पर्यन्त निष्कपट आचरण करते हुए इस ससार सागर को पार कर लेते है। [२३-२६]।

धर्माचरण-कर्त्तव्य

आप सब भद्र प्राणियो को आर्जव भाव प्राप्त हुआ है * और उसके स्वरूप को भलीभाति समझ गये हैं। अब आप लोग सम्यक् धर्म का आचरण कर अज्ञान और पाप का प्रक्षालन कर दें। [३०]

विद्वान् मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि अज्ञान और पाप से मुक्त होने के लिये इस ससार मे विशुद्ध धर्म ही आदर करने योग्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब दु:ख का कारण है। अपने प्रियजनो के साथ का सयोग अनित्य है, ईर्ष्या और शोक से व्याप्त है, यौवन अस्थिर (चपल) है और बुरे आचरणो का निवास स्थान है। अनेक प्रकार के क्लेश से उत्पन्न सम्पत्ति भी अनित्य है और यह जीवन जो समस्त कल्पनाओ का धारक है वह भी अनित्य है। जो जन्मता है वह मरता ही है। मृत्यु के बाद जन्म और फिर मृत्यु इस प्रकार जन्म-मरण का चक्कर पुनः पुन. चलता ही रहता है। उसमे भी कर्म के अनुसार अधम स्थानो मे भी जन्म लेना पडता है, अतः ससार मे किसी भी प्रकार का सुख नही है। इस ससार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही असुन्दर (नाशवान) हैं। अतएव विवेकी प्राणियो को नाशवान एव अनित्य पदार्थों के साथ आस्था या सम्बन्ध रखना युक्त नही है। इस ससार में यदि कोई वस्तु चाहने योग्य है तो वह सनातन, कलक-

---

* पृष्ठ ११७

रहित जगत्वंद्य धर्म ही है, क्योंकि वह उत्कृष्ट अर्थ (मोक्ष) को दिलाने वाला है। अतः समस्त कामनाओं को त्यागकर परार्थ-साधक सुज्ञ चारित्रवान धीर पुरुषों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये। [३१–३६]।

प्रतिबोध एवं दीक्षा

आचार्यश्री का अमृत तुल्य उपदेश सुनकर उन सब का चित्त संसारवास से निवृत्त हुआ।

ऋतु राजा ने कहा—भगवन्! आपने जैसा उपदेश दिया, मैं वैसा करने को तैयार हूँ।

प्रगुणा रानी ने भी राजा की ओर दृष्टिपात किया और कहा—महाराज! इस शुभ कार्य में अब थोड़ी सी भी देरी नहीं करनी चाहिये।

मुग्धकुमार ने कहा—पिताजी! आपका कहना यथार्थ है। माताजी! आपकी बात भी सही है। इस प्रकार का अनुष्ठान करना पूर्णतया योग्य है और हमें ऐसा करना ही चाहिये।

अकुटिला की आँखें भी आनन्दाश्रु से प्रफुल्लित हो गईं, पर बड़ों के समक्ष लज्जावश वह कुछ बोली नहीं, किन्तु लोगों ने जो कहा उसके प्रति संकेत से अपनी सहमति प्रदर्शित की। [३७–४०]

तब वे चारों आचार्य के चरणों में गिरे और ऋतु राजा ने कहा—भगवन्! आपने जो आज्ञा दी उसे स्वीकार करने के लिये हम प्रस्तुत हैं। उत्तर में आचार्यश्री ने कहा—तुम्हारे जैसे भव्य प्राणियों का ऐसा ही करना चाहिये।

तत्पश्चात् ऋतु राजा ने पूछा—भगवन्! इस कार्य के लिये शुभ दिन कौन-सा होगा? तब आचार्य ने कहा कि 'आज का दिन ही उत्तम है।' अतः राजा ने वहाँ रहते हुए ही महादान दिया, देव-पूजन किया, अपने छोटे पुत्र शुभाचार को राजगद्दी पर बिठाया और अपनी समस्त प्रजा को आनन्दित किया।

तदनन्तर ये चारों दीक्षा ग्रहण करने योग्य सभी कार्य पूर्ण कर प्रव्रज्या लेने के लिये आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित हुए। आचार्यश्री ने सद्भाव पूर्वक उन्हें दीक्षा दी। उसी समय अज्ञान और पाप रूपी बालक जो दूर खड़े इन चारों के धर्मसभा से बाहर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे वे भाग गये और उज्ज्वल बालक आर्जव अपने सूक्ष्म परमाणुओं से इन चारों के शरीर में फिर से प्रविष्ट हो गया। [१–२]।

कालज्ञ और विचक्षणा को सम्यक्त्व की प्राप्ति

उस समय कालज्ञ और विचक्षणा अपने मन में सोचने लगे कि, अहो! इन चारों मनुष्यों को धन्य है. इनका जन्म सफल हुआ। ये सच्चे पुण्यशाली जीव

है इसी से आचार्यश्री के उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा लेने को तत्पर हुए है। इस संसार समुद्र को पार करना अत्यन्त दुष्कर है, पर इन्होने तो इस भव समुद्र को पार करने की तैयारी कर ही ली है। यह चारित्र-रत्न ही ससार समुद्र को पार करने का मुख्य साधन है, किंतु हम अत्यन्त भाग्यहीन है कि देवयोनि मे हमे चारित्र प्राप्त नही हो सकता। ❀ फिर भी हमे उत्तम लाभ तो प्राप्त हुआ ही है और वह यह है—मिथ्यात्व को चूर-चूर करने वाला, अनन्त भवो मे भी कठिनता से प्राप्त होने वाला सर्वोत्तम सम्यक्त्व जो हमे प्राप्त हुआ है। इतने तो भाग्यशाली हम भी है ही, क्योंकि दरिद्री को रत्नो का ढेर कभी नही मिलता। ऐसा सोचते हुए वे दोनो व्यन्तर-दम्पति आचार्यश्री के चरणो को नमन कर, उनसे आज्ञा लेकर अपने स्थान को जाने के लिये निकल पडे। जैसे ही वे सभा-स्थान से बाहर निकले कि तुरन्त ही भोगतृष्णा जो बाहर खडी उनकी प्रतीक्षा कर रही थी उन दोनो के शरीर मे प्रविष्ट हो गई, पर अब यह व्यन्तर-युगल शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त कर चुका था अतः वह इनको किसी प्रकार की बाधा पहुँचाने मे असमर्थ थी। [३–९]

व्यन्तर-व्यन्तरी को स्पष्टोक्ति

एक दिन विचक्षणा और कालज्ञ एकान्त मे बैठे थे। उस समय विचक्षणा ने पूछा—प्राणनाथ! जब आपको मालूम हुआ कि मैने आपको ठगा है और पर-पुरुष से समागम कर रही हूँ तब आपके मन मे मेरे प्रति कैसे विचार हुए होगे? उत्तर मे कालज्ञ ने उस समय मुग्धकुमार को मार डालने के और अन्त मे एकाएक ऐसा साहस न कर कुछ विलम्ब से यह कार्य करने के जो विचार आये थे वे सब कह सुनाये। ऐसा विचार-युक्त उत्तर सुनकर विचक्षणा ने कहा—आर्यपुत्र! आपका नाम कालज्ञ है वह सर्वथा उपयुक्त ही है। [आप अपने नाम के अनुसार समय को पहचानने वाले और उसकी शोध करने वाले है, इसमे तनिक भी शका नही हो सकती। उस समय आपने त्वरितता न कर, जो कालक्षेप किया वह अच्छा ही किया। इस प्रकार हम सब जीवित बच गये, आचार्यश्री के दर्शन कर सके, चारो ने दीक्षा ग्रहण की और हमे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, यह सब धैर्य रखने का ही सुफल प्राप्त हुआ है।] [१०–११]

अब कालज्ञ ने विचक्षणा से पूछा—प्रिये! मुझे परस्त्री के साथ रमण करते देख कर तेरे मन मे क्या-क्या विचार उठे थे? उत्तर मे विचक्षणा ने उस समय उसके मन मे जो-जो विचार उठे थे वे सब कह सुनाये। तब कालज्ञ ने कहा—सच ही तेरे मन मे मेरे प्रति ईर्ष्या होते हुए भी तूने जल्दबाजी न कर, समय निकाला यह तेरी विचक्षणता ही है, तूने भी अपना नाम सार्थक किया है। वल्लभे! हमने जो समय व्यतीत किया तो भोग भी भोगे, प्रीति भी बनी रही और अकाल मे विरह भी नही भोगना पडा, अन्त मे हमे धर्म भी प्राप्त हुआ, ऋतु राजा

❀ पृष्ठ १७९

आदि पर हमने बहुत उपकार किया। अतः हमने जो कालक्षेप किया वह हम दोनों के लिये तो सफल ही हुआ। विचक्षणा ने उत्तर दिया—नाथ! इस बात मे क्या संदेह है? जो भी कार्य विचार-पूर्वक किया जाता है वह अच्छा ही होता है। [१२-१५]।

इसके बाद उस व्यन्तर-दम्पति के परस्पर प्रेम में वृद्धि हुई और वे शुद्ध धर्म की प्राप्ति से आत्मा को कृतार्थ करते हुए आनन्द से रहने लगे। [१६]।

कथा का निष्कर्ष

सामान्यरूपा, मध्यमबुद्धि को उपरोक्त कथा द्वारा दो युगलों का दृष्टान्त देकर कहती है—हे पुत्र! उपरोक्त दृष्टान्त से तू समझ गया होगा कि जब कभी किसी विषय में संदेह पैदा हो जाय तो कालक्षेप करना ही गुणकारक होता है। अतएव ऐसी संदेहास्पद अवस्था में जिसमे कि निर्णय लेना शक्य नहीं है तुम्हें भी कालक्षेप करना चाहिये। पश्चात् इस अवधि में गुणावगुण का निर्णय करने के बाद जो मार्ग ग्रहण करने योग्य लगे उसे ग्रहण करना। मध्यमबुद्धि ने अपनी माता की आज्ञा को शिरोधार्य किया। अब स्पर्शन पर जो वास्तव में सब का भाव शत्रु है, मनीषी के कहने से मध्यमबुद्धि प्रगाढ प्रीति नहीं रखता। बाल के कहने से कभी-कभी उस पर थोड़ा ऊपरी स्नेह दिखाता रहता है फिर भी स्वयं सर्वदा सचेत रहता है। इस प्रकार मध्यमबुद्धि त्याग और स्नेह के बीच झूलते हुए समय व्यतीत कर रहा है। [१७-२०]।

*

८. मदनकन्दली

अकुशलमाला की योगशक्ति

बाल ने एक दिन अपनी माता अकुशलमाला से कहा—माताजी! आप अपनी योगशक्ति का बल दिखलाइये। उत्तर मे उसने कहा—पुत्र! तू मेरे सम्मुख खड़ा हो जा, मैं अपनी योगशक्ति का प्रयोग करती हूँ। फिर अकुशलमाला ने ध्यान किया, प्राण-वायु को रोका और सूक्ष्म परमाणुओं द्वारा बाल के शरीर में प्रवेश किया। इधर स्पर्शन भी हर्ष पूर्वक बाल के शरीर में प्रविष्ट हो गया।* दो सूक्ष्म शरीरो के प्रविष्ट होने से बाल को अधिकाधिक कोमल स्पर्शवाली वस्तुओं को प्राप्त करने की अभिलाषा होने लगी जिससे वह बार-बार व्याकुल होने लगा। परिणाम स्वरूप वह दूसरे सब कर्त्तव्य छोड़कर इसी कार्य में संलग्न हो गया और रात-दिन अनेक स्त्रियों के साथ सुरत-क्रिया आदि भोग भोगने में लीन हो गया। यहाँ तक कि वह मूढात्मा जुलाहे, चमार, डूम, ढेढ आदि नीच जाति की स्त्रियों पर

* पृष्ठ १८०

भी आसक्त होने लगा और लोलुपता पूर्वक उनके साथ भोग भोगने लगा। इस प्रकार सत्कार्य के विरुद्ध चलने वाले बाल को अकार्य मे ही प्रवृत्त देखकर लोग उसकी निन्दा करने लगे और उसके मुँह पर ही उसे पापी, मूर्ख, अज्ञानी, निलज्ज, निर्भागी, कुल-कलकी आदि कहने लगे। लोगों की निन्दा की उपेक्षा कर बाल तो यही मानता कि वह माताजी और स्पर्शन की कृपा से सुख-सागर मे गोते लगा रहा है। लोगो को जो बोलना हो बोलते रहे, इनके कहने की चिन्ता क्यो करू ?

अकुशलमाला भी कभी-कभी उसके शरीर से बाहर आकर उससे पूछ लेती कि उसकी अद्भुत योगशक्ति का उस पर कैसा प्रभाव हुआ ? तब बाल कहता—माताजी ! इसमे किसी प्रकार का सदेह नही है कि आपने मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है, मुझे सुखसागर मे सराबोर कर दिया है। माताजी ! अब मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा करके जीवन पर्यन्त मेरे शरीर का त्याग न करे। अकुशलमाला ने यह स्वीकार किया और कहा—वत्स ! तुझे यह रुचिकर है तो दूसरे सब काम छोडकर मैं तेरा ही काम करूँगी। माता को अपने अधीन देखकर बाल मन से फूला न समाया। वह सोचने लगा—'स्पर्शन तो मेरे वश में है ही, कार्य-साधक समस्त सामग्री मेरे अनुकूल है ही। अहो ! इस ससार मे मेरे जैसा भाग्यशाली, मेरे जैसा सुखी अन्य कोई शायद ही होगा' ऐसे विचारो से वह अत्यधिक प्रफुल्लित होकर अधिक कुव्यसनी बनता गया। [२१-३५]

मध्यमबुद्धि का परामर्श

बाल के उपरोक्त चाल-चलन से राज्य भर में उसकी बहुत निन्दा हो रही थी अतः लोक-निन्दा से डरने वाले मध्यमबुद्धि ने स्नेह-विव्हल होकर एक दिन प्रेम से उसे समझाया—भाई बाल ! तेरा इस प्रकार का लोक-विरुद्ध आचरण किसी भी प्रकार उचित नही है। त्याग करने योग्य अयोग्य वस्तुओ का उपभोग करना अति निन्दनीय, पाप से परिपूर्ण और कुल को कलक लगाने वाला है। बाल ने उत्तर दिया—भाई मध्यमबुद्धि ! ऐसा लगता है कि तुझे मनीषी ने ठगा है, अन्यथा स्वर्ग के जैसे उत्तम सुख भोगने वाले मुझ को क्या तू नही देखता ? जो मूर्ख प्राणी जाति-दोष के कारण किसी सुन्दर स्त्री आदि का त्याग करते है वे ऐसे ही हैं जैसे जो दूषित स्थान मे पड़े होने के कारण महारत्न का त्याग करते हैं। उसका उत्तर सुनकर मध्यमबुद्धि अपने मन मे सोचने लगा कि यह बाल उपदेश (शिक्षा) के अयोग्य है, इसे किसी प्रकार की शिक्षा देना व्यर्थ है। मैं व्यर्थ ही वाक्परिश्रम कर रहा हूँ। इस प्रकार बाल, मध्यमबुद्धि और मनीषी सुख-पूर्वक अपना समय बिता रहे थे। * [३६-४१]

वसन्त ऋतु का आगमन

अन्यदा काम को उत्तेजित करने वाली वसन्त ऋतु का समय आ गया।

---

* पृष्ठ १८१

वन में अनेक प्रकार के विकसित सुन्दर पुष्प-समूहों पर गुंजायमान भौरों की गुंजार से वन उद्यान अति सुन्दर हो गये। पति के साथ विचरण करने वाली प्रेम-मग्न पत्नी के हृदय को आनन्द देने वाली कोयल की मीठी कुहुक से वन प्रदेश गूज उठा। विकसित केशू के फूलो के अग्रभाग ऐसे लाल हो रहे थे मानो वियोग से दुःखी स्त्री के शरीर का मांस-पिण्ड हो। आम्र-मजरी चारो दिशाओं को सुगंधित करती हुई वसन्तराज के साथ प्रमुदित होकर धूलि-क्रीडा कर रही थी। देवता और किन्नरों के युगल वन में आकर अनेक प्रकार की क्रीडाएँ कर रहे थे जिससे मनुष्य-लोक का वन स्वर्ग के नन्दनवन की रमणीयता को प्राप्त कर रहा था। वल्लरियाँ उत्कर्ष को प्राप्त हो रही थीं। घर-घर और वृक्षो की शाखाओं मे झूले पडे थे और कामदेव को उद्दीपित करने वाली सुगंधित मलय पवन मन्द-मन्द चल रही थी। [४२-४७]

लीलाधर उद्यान

ऐसे मन्मथकालीन वसन्त ऋतु में आनन्दित होकर मध्यमबुद्धि को साथ लेकर बाल क्रीडा के लिये एक दिन बाहर निकल पड़ा। जब वह बाहर निकला तब योग-शक्ति से उसके शरीर मे प्रविष्ट उसकी माता और उसका मित्र स्पर्शन भी सूक्ष्म रूप से उसके शरीर में ही विद्यमान थे। ऐसे लुभावने समय में कुमार मध्यमबुद्धि के साथ नगर के बाहर स्थित नन्दनवन के समान लीलाधर उद्यान में पहुँचा। इस उद्यान के मध्य में एक बड़ा मन्दिर था, जिसके ऊँचे श्वेत शिखर मन्दिर के दर्शनार्थी की आँखों को आह्लादित करते थे। अनेक विशाल तोरणों से मन्दिर शोभित हो रहा था। मन्दिर में लोगों ने स्त्रियो के हृदय को आह्लादित करने वाले रतिपति कामदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित कर रखी थी। इस देवता की विशिष्ट पूजा प्रत्येक त्रयोदशी को होती थी। आज भी त्रयोदशी होने से कुमारिकायें सुन्दर पति की प्राप्ति के लिये, विवाहित स्त्रियाँ सौभाग्य की वृद्धि के लिये और कुछ स्त्रियाँ अपने पति के प्रेम को प्राप्त करने के लिये पूजा करने आ रही थीं। मोहान्ध कामी पुरुष अपनी पसन्द की स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त करने के लालच से पूजा करने के बहाने मन्दिर मे आ रहे थे। [४८-५४]

कामदेव की शय्या पर बाल

कामदेव के मन्दिर मे आज बहुत कोलाहल हो रहा था जिसे सुनकर कौतुक देखने की इच्छा से बालकुमार ने अपने भाई मध्यमबुद्धि के साथ मन्दिर मे प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने देखा कि रतिनाथ कामदेव को कई भक्तिपूर्वक प्रणाम कर रहे थे, कई प्रयत्न पूर्वक पूजा कर रहे थे और कई गुण-कीर्ति गाकर स्तुति कर रहे थे। बाल ने मन्दिर की प्रदक्षिणा देते हुए देव मन्दिर के निकट ही गुप्त स्थान पर वासभवन (शयनकक्ष) देखा। रतिनाथदेव का वह वासभवन (कक्ष)

देखने मे अत्यन्त रमणीय, मन्द मन्द प्रकाश से युक्त और कौतुक उत्पन्न करने वाला था। ※ इसमे क्या होगा ? यह देखने के लिए मध्यमबुद्धि को द्वार के पास खडा कर बाल सहसा ही उस कक्ष के अन्दर चला गया। वहाँ उसने एक अति विशाल शय्या देखी जिस पर कोमल बिस्तर-तकिये तथा निर्मल स्वच्छ एव कोमल चादर बिछी हुई थी। इस शय्या के मध्य मे रति के साथ कामदेव सो रहे थे। देवताओ को भी अप्राप्य उस कोमल सुन्दर महाशय्या को बाल ने देखा। शयन-कक्ष मे प्रकाश अति मन्द था अत· यह क्या है जानने के कौतुक से शय्या को दो-चार बार हाथ फिरा कर देखा तब उसे लगा कि यह कामदेव की शय्या होनी चाहिये। उस शय्या के कोमल स्पर्श के वशीभूत होकर वह सोचने लगा कि ऐसी कोमल शय्या अन्यत्र तो कही मिल ही नही सकती। उस समय उसके शरीर मे स्थित उसकी माता और स्पर्शन की प्रेरणा से उसमे चपलता जागृत हुई। चापल्य दोष से ग्रस्त होकर वह सोचने लगा कि मैं इच्छानुसार इस शय्या पर सोकर इसका उपयोग करू। उस समय उसे यह विचार नही आया कि इस शय्या मे स्वय कामदेव रति महादेवी के साथ सो रहे है। देव-शय्या पर सोने वाले को कितने दुःख उठाने पडते है इसका भी उसे विचार नही आया। बाल ने यह भी नही सोचा कि अन्य लोग यदि देख लेगे या उन्हें पता लग गया तो मेरी कितनी हँसी होगी। द्वार पर उसकी राह देख रहा मध्यमबुद्धि उसकी हँसी करेगा। भविष्य मे क्या होगा इसका तनिक भी विचार किये बिना मोह के वशीभूत होकर वह शय्या पर चढ गया और उस पर सोकर कुचेष्टाये करने लगा। अपने अगो को मरोडने लगा और उस विशाल शय्या के स्पर्श-सुख को प्राप्त कर वह सोचने लगा--अहो ! इसका सुख ! इसका स्पर्श कितना आह्लादकारी है ! तथा उसके प्रति अपूर्व प्रीति वाला बनकर अपने आप को भाग्यशाली मानता हुआ वह शय्या पर लोट-पोट होने लगा। [५५-७१]

मदनकन्दली का स्पर्श

[क्षितिप्रतिष्ठित नगर के अन्तरग राज्य का राजा कर्मविलास था और वही बाल, मनीषी, मध्यमबुद्धि आदि कुमार भी रहते थे।] नगर के बहिरग राज्य पर प्रख्यात महातेजस्वी शत्रुमर्दन नामक राजा राज्य करता था। उस राजा के उत्तम कुलोत्पन्न कमल के समान नेत्रों वाली प्राणो से भी अधिक प्रिय मदनकन्दली नामक रानी थी। वह महारानी अपने हाथ मे पूजा की सामग्री लेकर अपने परिवार के साथ कामदेव की पूजा करने के लिये उस दिन मदिर मे आई थी। मदिर के मध्य मे स्थित कामदेव की पूजा कर वह भी शयनकक्ष की तरफ आई। उसे देखकर और स्त्री जानकर लज्जा और भय से बाल थोड़ी देर के लिये काष्ठ के समान निस्पन्द और स्थिर हो गया। ※ शयनकक्ष में प्रकाश अति मन्द था, शय्या के मध्य मे सोये

※ पृष्ठ १८२ ※ पृष्ठ १८३

हुए कामदेव की रानी हाथ के स्पर्श से पूजा करने लगी। चन्दन से रति और कामदेव का विलेपन करते हुए रानी ने वाल के सम्पूर्ण शरीर को अपने कोमल हाथ से स्पर्श किया। वाल के शरीर मे सूक्ष्म रूप से स्थित माता और स्पर्शन की प्रेरणा से मलिन-बुद्धि वाल के मन मे विचार आया कि इस कोमलागी स्त्री के हाथ का स्पर्श मात्र मुझे कितना मृदु लग रहा है। मैंने अपने जीवन मे कभी भी ऐसे कोमल स्पर्श का अनुभव नही किया। अहो ! मैं अभी तक अन्य स्पर्शों को व्यर्थ ही कोमल मान रहा था। अब तो मुझे ऐसा लग रहा है कि तीनो लोको मे भी इस स्त्री से अधिक कोमल कोई वस्तु हो ही नही सकती।

कामदेव की पूजा समाप्त कर मदनकन्दली रानी वहाँ से अपने स्थान पर चली गई। [७२-८२]

बाल की विचित्र दशा

मदनकन्दली के वहाँ से चले जाने पर 'मुझे यह स्त्री किस प्रकार प्राप्त हो' इसी विचार और चिन्ता में वाल का हृदय विह्वल और व्यथित हो गया। उसके मन में अवर्णनीय अन्तस्ताप होने लगा, वह अपने आपको भूल गया और शय्या में पड़ा-पड़ा लम्बे-लम्बे निःश्वास छोड़ने लगा। जैसे मूर्छित हो, मूक हो, पागल हो, सर्वस्व हार गया हो, ग्रहाविष्ट हो, तप्त शिला पर मत्स्य पड़ा हो वैसे ही वह शय्या पर इधर से उधर लोट-पोट होते हुए तड़फने लगा।

मध्यमबुद्धि का वासभवन में प्रवेश

उस समय मध्यमवुद्धि जो शयनकक्ष के वाहर खडा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, सोचने लगा कि, अरे ! इतना समय हो गया, अभी तक बाल वाहर क्यों नही निकला ? अन्दर क्या कर रहा है ? जरा भीतर जाकर देखूँ तो सही ! यह सोचकर मध्यमवुद्धि शयनकक्ष में प्रविष्ट हुआ और हाथ से छूकर उसने कामदेव की शय्या को देखा। उसे हाथ लगाते ही उसका भी मन उस तरफ आकर्षित हो गया, क्योंकि वह शय्या अत्यन्त कोमल थी। जब उसने अधिक ध्यानपूर्वक देखा तव उसे मालूम हुआ कि शय्या के एक हिस्से पर वाल तड़फड़ा रहा है। उसकी दशा देखकर मध्यमवुद्धि सोचने लगा कि, अहो ! इस भाई ने यह क्या अकार्य कर डाला ? देव की शय्या पर चढना योग्य नही है। रति के रूप को भी शर्माने वाली अत्यन्त सुन्दर गुरुपत्नी हो तव भी वह सर्वथा अगम्य है। यह शय्या अत्यधिक सुख देने वाली होने पर भी देव प्रतिमा से अधिष्ठित होने से मात्र वन्दनीय है, उपभोग्य नही। यह सोचकर मध्यमवुद्धि ने बाल को जगाया, पर वह कुछ भी नही वोला, तव मध्यमवुद्धि ने कहा—अरे भाई ! तूने यह न करने योग्य कार्य किया है, देव की शय्या पर चढना या सोना ठीक नही। इस प्रकार वाल को अनेक तरह से समझाने लगा, पर उसने तो कुछ भी उत्तर नही दिया।

व्यन्तर-कृत पीड़ा

उसी समय मन्दिर के अधिष्ठायक व्यन्तर ने वहाँ प्रवेश किया। उसने बाल को आकाश-बन्धन से बाध दिया और जमीन पर पछाडा, फिर उसके सारे शरीर मे तीव्रतम वेदना उत्पन्न की जिससे वह मरणासन्न हो गया। इस भयकर प्रसग को देखकर मध्यमबुद्धि ने हाहाकार किया। 'यह क्या है ?' देखने की इच्छा से बहुत से लोग मन्दिर से शयनकक्ष की तरफ दौडे आये। व्यन्तर ने धक्के मार कर बाल को शयनकक्ष के बाहर धकेल दिया ❀ और बहुत जोर से जमीन पर पटका, परिणामस्वरूप उसकी आँख की पुतली फूट गई और प्राण कण्ठ मे आ गये। सब लोगो ने बाल को उस स्थिति मे देखा। उसके पीछे ही दीन मन वाला मध्यमबुद्धि भी शयनकक्ष से बाहर निकला। मध्यमबुद्धि के बाहर आते ही लोग उसे पूछने लगे कि 'यह सब क्या गडबड है ?' पर लज्जावश वह कुछ भी उत्तर नही दे सका। उस समय वह व्यन्तर किसी पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हुआ और उस पुरुष के द्वारा उसने सब घटना लोगो को कह सुनाई। मकरध्वज के भक्त जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्होने यह घटना सुनकर बाल को देव का अपमान करने वाला महापापी जानकर उसका अत्यन्त तिरस्कार किया। उसके सम्बन्धी कहने लगे 'अपने कुल को कलकित करने वाला विषवृक्ष जैसा यह बाल अपने कुल मे उत्पन्न हुआ है' ऐसा कहकर वे सब उसकी निन्दा करने लगे। 'अब यह अपने पाप के फल भोगेगा, इसे सजा भुगतनी ही चाहिये।' ऐसा कहकर सामान्य लोग भी उसकी आलोचना करने लगे। 'जो प्राणी बिना विचारे निन्दनीय काम करते है वे सब अनर्थो और दु खो को सहन करते हैं, इसमे नवीनता भी क्या है ?' ऐसा कहकर विवेकी लोगो ने उसकी उपेक्षा की। उस समय व्यन्तर ने भयकर रूप धारण कर कहा—तुम्हारे सब के सामने ही इस दुरात्मा बाल के टुकडे-टुकडे कर देता हूँ। यह सुनकर मध्यमबुद्धि ने हाहाकार किया और उस पुरुष के पावो मे पड़ गया, जिसके शरीर मे व्यन्तर ने प्रवेश किया था। उसने कहा—'अरे ! अरे ! कृपा करो, दया करो, मेरे भाई के प्राणो की मैं आप से भिक्षा मागता हूँ। कृपा कर आप इसे न मारे।' मध्यमबुद्धि के रुदन से लोगो को भी उस पर दया आई और उन्होने व्यन्तर से कहा—हे भट्टारक ! इस बेचारे को एक बार क्षमा करदो, फिर से वह देव का अपमान कभी नही करेगा। मध्यमबुद्धि पर करुणा लाकर और लोगो के कहने से उस समय व्यन्तर ने बाल को छोड़ दिया। थोडी देर बाद जब बाल के शरीर मे चेतना आई, शरीर पर घाव लगने से चमडी कठोर हो गई थी वह नरम होने लगी और कुछ स्फूर्ति आई तब मध्यमबुद्धि उसे शीघ्रता पूर्वक मन्दिर से बाहर ले आया और बड़ी कठिनता से उसे राजमहल मे ले गया।

❀ पृष्ठ १८४

बाल और कर्मविलास

कर्मविलास राजा ने जब अपने परिजनो से यह सब घटना सुनी तब अपने मन मे विचार किया कि, बाल को यह क्या हो गया है ? उसके ऐसे आचरण से अब मुझे उसके प्रतिकूल होना पडेगा, तब उसका क्या हाल होगा ? यह तो अभी इन लोगो को ज्ञात ही नही है। देवता का अपमान करने वाले ऐसे दुराचारी पुत्र को तो कठोर दण्ड मिलना ही चाहिये। यह सोचकर कर्मविलास राजा ने अपने परिवार से कहा—अरे ! ऐसे अविनयी तूफानी छोकरे की अब क्या चिन्ता करे ? यह तो अब हमारे अनुशासन के योग्य भी नही रहा। [मै आज्ञा देता हूँ कि] कोई भी व्यक्ति अब इसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखे। राजा की आज्ञा को सबने शिरोधार्य किया।

बाल का अन्तस्ताप : मध्यमबुद्धि का परामर्श

मध्यमबुद्धि ने बालकुमार से पूछा—भाई ! अब तो तेरे शरीर मे कोई दर्द नही है न ?

बाल—शरीर मे तो दर्द नही है, पर मेरे मन मे सन्ताप हो रहा है और वह बढता जा रहा है।

मध्यमबुद्धि—पर, इस मनस्ताप का कारण क्या है ? क्या तू उसे जानता है ?

कामदेव सर्वदा वक्र होता है और उसकी प्रवृत्तियाँ भी विपरीत होती हैं, अतः बाल ने सीधा उत्तर न देते हुए कहा—मै तो नही जानता, पर कामदेव के मन्दिर मे शयन कक्ष के बाहर जब तू खडा था तब क्या तूने किसी स्त्री को कक्ष में प्रवेश करते या बाहर निकलते देखा था ?

मध्यमबुद्धि—हाँ, एक स्त्री को देखा तो था, पर उससे तुझे क्या ?

बाल—वह कौन थी ? उसे तू पहचानता भी होगा ?

मध्यमबुद्धि—हाँ, अच्छी तरह जानता हूँ। वह शत्रुमर्दन की रानी मदनकन्दली थी।

मध्यमबुद्धि का उत्तर सुनकर* बाल चिन्ता मे पड गया और गहरे नि:श्वास छोडते हुए सोचने लगा कि ऐसी स्त्री मुझे कैसे मिल सकती है ? व्यवहार-कुशल मध्यमबुद्धि समझ गया कि यह भाई मदनकन्दली पर आसक्त हो गया लगता है। पुन: मध्यमबुद्धि ने विचार किया कि यह मदनकन्दली अतिशय सुन्दर और रूपवती होने से लोगो को अपनी ओर आकर्षित करती है और लोगो के मन में अपने प्रति अभिलाषा उत्पन्न करती है। कक्ष का द्वार छोटा होने से जब वह

---

* पृष्ठ १८५

शयनकक्ष से बाहर निकल रही थी तब मुझे भी उसका स्पर्श हुआ था और ऐसा लगा था कि ससार मे किसी भी अन्य वस्तु का स्पर्श इतना मादक नही हो सकता। उस समय मेरा मन भी उसके साथ विलास करने के विचार से डावाडोल हो गया था। पर 'कुलीन मनुष्यो के लिये पर-स्त्रीगमन उचित नही' यह सोचकर मैं तुरन्त पीछे हट गया। यह भाई भी यदि मेरी बात माने तो इसे समझा कर अनुचित कार्य करने से इसे रोकू। ऐसा सोचकर मध्यमबुद्धि ने बाल से कहा—अरे भाई! बाल! क्या अभी तक तू मूर्ख अज्ञानी ही रहा? अविनय का कितना बुरा परिणाम होता है क्या तूने स्वय अभी उसका अनुभव नही किया है? तेरे प्राण तो कण्ठ तक आ गये थे, तेरे दुर्विनय से भगवान् कामदेव तुझ पर बहुत क्रोधित हुए थे, बडी कठिनता से तो मैंने तुझे उनके हाथ से छुडाया है। क्या तू इतनीसी देर मे सब कुछ भूल गया? अत. भाई अब तो तू इन बुरे विचारो को छोड़ दे। तू ऐसा सोचले कि यह मदनकन्दली दृष्टि-विष सर्प के मस्तक मे रही हुई मणि है। इस स्त्री की इच्छा के परिणाम स्वरूप तू स्वय जल कर राख हो जायेगा और तेरे हाथ कुछ भी नही लगेगा, यह तू निश्चित समझले। मध्यमबुद्धि के विचार सुनकर बाल समझ गया कि मेरे मन मे क्या विचार चल रहे हैं यह उन सब को जान गया है अत. अब इससे छुपाना व्यर्थ है, यह सोचकर बाल ने उसे स्पष्ट कहा—अरे भाई! यदि ऐसा है तो तूने मुझे छुडवाया ऐसा क्यो कहते हो? तूने तो मुझे अधिक पिटवाया है। तेरे कहने से ही कामदेव ने मुझे छोड दिया इससे मेरी शारीरिक वेदना तो मिटी, पर मुझ पर वितर्क-परम्परा रूप अगारे डाल दिये जिससे मेरा पूरा शरीर जल रहा है, धधक रहा है। कामदेव ने जब मुझे बाँधा तभी मै मर गया होता तो इतना अन्तस्ताप तो नही होता। मुझे छुडवाकर तो तूने बहुत बडा अनर्थ कर दिया है। मेरे मन में इतना अधिक सताप हो रहा है कि उसे शान्त करने के लिये तो मदनकन्दली के मिलन रूपी अमृत सिंचन के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपाय नही है। मै तुझे अब अधिक क्या कहूँ।

मध्यमबुद्धि अपने मन मे समझ गया कि इसका भला करो तो इसे बुरा लगता है। उसे यह भी निश्चित मालूम हो गया कि वह मदनकन्दली के प्रति इतना अधिक आकर्षित हुआ है कि वर्तमान में तो वह आसक्ति किसी भी प्रकार कम नही हो सकती। यह किसी भी प्रकार इससे पीछे हट सकता हो ऐसा नहीं लगता। यह सब देखकर वह चुप हो गया।

❀

9. बाल, मध्यमबुद्धि, मनीषी और स्पर्शन

बाल का अपहरण : मध्यमबुद्धि द्वारा शोध

सूर्यास्त हुआ तो बाल को लगा जैसे सूर्य (प्रकाश) उसके हृदय से ही निकल गया और चारो ओर अन्धकार फैल गया। रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त

होने पर सड़कों पर लोगों का गमनागमन बन्द हो गया। 'जो काम वह कर रहा है वह उचित है या नहीं' इसका विचार किये बिना ही वाल रात्रि के दूसरे प्रहर मे महल से निकला और राजमार्ग पर जिधर शत्रुमर्दन राजा का महल था उसी तरफ चलते हुए कितनी ही दूर पहुँच गया। इधर मध्यमबुद्धि ने यह सोचकर कि इस वाल का क्या होगा ? ❀ वह भी उसके पीछे पीछे चल पड़ा। आगे-आगे वाल और पीछे-पीछे छुपता हुआ मध्यमबुद्धि जा रहे थे कि वाल ने एक पुरुष को देखा। उस पुरुष ने लात मारकर वाल को मयूरबन्ध (मजबूत रस्सो) से वांध दिया तो वाल जोर-जोर से चिल्लाने लगा, तब मध्यमबुद्धि ने 'आ रहा हूँ' 'आ रहा हूँ' जोर से दो तीन आवाज लगाई। मध्यमबुद्धि दूर से देख ही रहा था, तब तक तो वह पुरुष वाल को उठाकर आकाश मे उड़ने लगा। वाल अधिक चिल्लाने लगा तो उसने वाल का मुँह कपड़े से ढक दिया। वाल को उड़ाकर वह आकाश मे पश्चिम दिशा की तरफ जाने लगा। 'अरे दुष्ट विद्याधर ! तू मेरे भाई को कहाँ ले जा रहा है ?' ऐसी आवाजे लगाते हुए तलवार खीचकर विद्याधर की दिशा में मध्यमबुद्धि भी जमीन पर भागने लगा। चलते-चलते वह नगर के वाहर निकल गया, तब तक तो आकाश मे उड़ते हुए वह विद्याधर इतनी दूर निकल गया कि वह उसकी आँखों से भी ओझल हो गया।

उस समय मध्यमबुद्धि एकदम निराश हो गया तब भी भाई के स्नेहवश दौड़ना चालू रखा, यह सोचकर कि आगे किसी स्थान पर तो विद्याधर वाल को छोड़ेगा ही। दौड़ते-दौड़ते पूरी रात बीत गई। पाँव मे जूते न होने से अनेक काँटे, कील, पत्थर लगते रहे, चुभते रहे। मध्यमबुद्धि दौड़-दौड़ कर थक गया, भूख-प्यास से पीडित हो गया, शोक से विह्वल और दीन हो गया, फिर भी पश्चिम दिशा की तरफ चलता ही गया। गाँव-गाँव मे अपने खोए हुए भाई की खोज-खबर पूछते हुए वह सात दिन-रात इसी प्रकार चलते हुए अन्त मे कुशस्थल नगर मे पहुँचा।

मध्यमबुद्धि का आत्महत्या का प्रयत्न : वाल का मिलन

कुशस्थल नगर के वाहर मध्यमबुद्धि थोड़ा रुका, वहाँ उसने एक पुराना काम मे न आने वाला गहरा कुँआ देखा। 'भाई के विना जीने से क्या लाभ' ऐसा सोचकर, उसने कुँए मे डूब कर आत्मघात करने के निर्णय से अपने गले मे एक शिला (मोटा पत्थर) बाँधी। उसी समय वहाँ नन्दन नामक एक राजपुरुष ने मध्यमबुद्धि को ऐसा दुःसाहस करते हुए देखकर जोर से आवाज लगाई—भाई ! ऐसा दुःसाहस मत करो, मत करो।' कहते हुए वह दौड़कर मध्यमबुद्धि के पास आया और कुँए की जगत पर से उसे कूदते हुए धर पकड़ा, उसके गले से बंधा हुआ बड़ा पत्थर अलग किया, उसे जमीन पर विठाया और फिर ऐसा अधम कार्य (आत्मघात) करने का कारण पूछा। उत्तर में मध्यमबुद्धि ने किस प्रकार अपने भाई वाल से वियोग हुआ, वह सब घटना कह सुनाई। सुनकर नन्दन ने कहा—'भाई ! यदि

❀ पृष्ठ १८६

ऐसा है तो तुझे विषाद नहीं करना चाहिये, तेरे भाई के साथ तेरा मिलन अवश्य होगा।' मध्यमबुद्धि ने पूछा—मिलन किस प्रकार होगा? उत्तर में नन्दन ने कहा, सुन—

इस नगर में हमारे स्वामी राजा हरिश्चन्द्र राज्य करते हैं। उन्हे विजय, माठर, शत्रु आदि निकट मे रहने वाले अन्य मांडलिक राजागण बार-बार त्रास देते थे। हरिश्चन्द्र राजा का रतिकेलि नामक विद्याधर परम मित्र है। जिस समय शत्रुओ का उपद्रव चल रहा था, उस समय यह विद्याधर राजा के पास आया और उसे ऐसी क्रूरविद्या देने का वचन दिया जिसके प्रभाव से वह शत्रुओ से कभी भी पराभव को प्राप्त न होगा। राजा ने विद्याधर मित्र का आभार माना। फिर विद्याधर ने यह विद्या सिद्ध करने के लिये राजा को छ: महिने तक पूर्वाभ्यास (साधना) करवाया और आज से आठ दिन पहले वह विद्याधर राजा को साथ लेकर किसी स्थान पर गया। उससे अरि-विद्या की साधना करवायी और दूसरे दिन एक अन्य पुरुष के साथ राजा को वापिस नगर मे ले आया। राजा के साथ लाये हुए उस पुरुष के मांस और खून से सात दिन तक होम-क्रिया करवाई। उस पुरुष को आज ही छोडा गया है, मेरे विचार से यही तेरा भाई होना चाहिये। राजा ने उस पुरुष को अभी-अभी मुझे सौंपा है। यह सुनकर मध्यमबुद्धि बोला—भद्र! यदि ऐसा है तो शीघ्र ही उस पुरुष को मुझे दिखाने की कृपा करें जिससे मै यह पता लगा सकूँ कि वह मेरा भाई है या नहीं। अच्छा, कहकर नन्दन तुरन्त ही उसको लेने के लिये गया और बाल को उठाकर शीघ्र ही वहाँ ले आया।

बाल की दुरवस्था

बाल के शरीर मे केवल हड्डियाँ रह गई थी, खून और मांस तो लगभग समाप्त प्राय हो चले थे, मात्र साँस चल रही थी जिससे लगता था कि वह जीवित है। वह इतना कमजोर हो गया था कि उसकी जुबान भी बन्द हो गई थी। ऐसी स्थिति मे बाल को देखकर मध्यमबुद्धि ने बड़ी कठिनता से उसे पहचाना, फिर तुरन्त ही नन्दन से कहा—'भाई! जिसके बारे मे मैं तुझ से पूछ रहा था, यही मेरा भाई है। सचमुच तू नाम और काम से भी नन्दन ही है, तेरा नाम सार्थक है, तुमने आज मुझ पर बहुत बडा उपकार किया है।' उत्तर में नन्दन बोला—'भाई मध्यमबुद्धि! तुझ पर करुणा लाकर मैंने यह राजद्रोह का कार्य किया है। अभी मैं तेरे भाई बाल को लेने गया तब सुना कि आज रात को राजा फिर रक्त से विद्या को तृप्त करेगा, तब इस पुरुष की आवश्यकता पडेगी। अतः मेरा तो जो होना होगा वह होता रहेगा तू तो इसे लेकर शीघ्र ही यहाँ से भाग जा, बाद मे जो होगा उसे मै देख लूँगा।' मध्यमबुद्धि ने नन्दन का उपकार मानते हुए उसकी आज्ञा को स्वीकार किया और

✱ पृष्ठ १८७

कहा कि 'भद्र ! किसी भी प्रकार तू अपने प्राण बचाना' ऐसा कहकर बाल को उठाकर मध्यमबुद्धि चल पडा । मन मे भय था इसलिये रात-दिन दौडते हुए आगे बढ़ता गया । बीच मे कही-कही थोड़ा रुक कर बाल को पानी पिलाता, हवा करता, पेय आहार देता । इस प्रकार अपनी शारीरिक-पीडा की चिन्ता न कर, बडी कठिनाई से बाल को लेकर वह वापिस अपने नगर मे पहुच गया ।

बाल का अनुभूत वृत्तान्त

अपने स्थान पर पहुँचने के थोडे दिनो बाद बाल मे कुछ शक्ति आई । एक दिन मध्यमबुद्धि ने उससे पूछा – 'भाई ! यहाँ से जाने के बाद तुमने क्या-क्या अनुभव किया ?' उत्तर में बाल ने कहा—भाई ! तेरे सामने ही वह गगनचारी विद्याधर मुझे बाधकर उडा ले गया और यमपुरी के समान एक महा भयकर श्मशान मे ले पहुँचा । वहाँ मैंने देखा कि धधकते अगारो से भरे हुए अग्निकुण्ड के पास एक पुरुष खडा था । विद्याधर ने उस पुरुष से कहा—'महाराज ! आपका इच्छित कार्य आज सिद्ध होगा । विद्या सिद्ध करने के लिये जैसे लक्षणो वाले पुरुप की आवश्यकता थी, वह मुझे प्राप्त हुआ है ।' उस पुरुप ने उत्तर दिया—'आपकी बहुत कृपा ।' फिर विद्याधर बोला—'विद्या का एक-एक जाप पूरा होने पर * मैं तुम्हारे हाथ मे जो आहुति दूँगा उसे तुम अग्नि मे डालना ।' उस पुरुप ने विद्याधर का कथन स्वीकार कर जाप करना प्रारम्भ किया । विद्याधर यम-जिह्वा के समान अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाली चमकती एक कटार लेकर मेरे पास आया और मेरी पीठ मे से एक बड़ा मास का टुकडा काटा और उसी भाग को दबाकर खून निकाला । मास और खून से अपनी अजुली भरी । उस समय वहाँ जो दूसरा पुरुष जाप कर रहा था उसकी एक विद्या का जाप पूरा होने पर विद्याधर ने उसे वह आहुति के रूप मे प्रदान की । उस पुरुष ने उस आहुति को अग्निकुण्ड मे डाला । पुन. उसने जाप करना प्रारम्भ किया । परमाधामी राक्षस जैसे नारकीय जीव के शरीर को काटते है वैसे ही विद्याधर मेरे शरीर के भिन्न-भिन्न भागो से मास काटता और उसी स्थान को दबाकर खून निकालता, उसे अपनी अंजुली मे भर कर जाप करते हुए पुरुप के हाथ मे देता और विद्या का एक जाप पूरा होने पर वह पुरुष उसे अग्निकुण्ड मे डालता । उस समय मुझे इतनी अधिक पीडा होती कि वेदना-विह्वल होने से मुझे मूर्च्छा आ जाती और मैं मूर्छित होकर जमीन पर गिर पडता । पर वह निर्दयी विद्याधर तो मेरे हृष्टपुष्ट शरीर को देखकर हर्षित होता और मेरे दर्द की उपेक्षा कर मेरे शरीर के मास को अधिक से अधिक काटता । उस समय आकाश मे होने वाले अट्टहास के समान, प्रलयकर मेघ गर्जना के समान, गुलगुलि शब्दकारी समुद्र के समान, भूकम्प से घूमती हुई पृथ्वी के समान शृगाल चमचमाती-लपलपाती जीभ से भयोत्पादक रुदन करने लगे, भयकर रूपधारी वेताल नाचने लगे और खून की वर्षा होने लगी । ऐसी भयकर और बीभत्स परिस्थिति में भी उस पुरुष (राजा) का चित्त किंचित् भी चलायमान नही हुआ । अन्त मे

* पृष्ठ १८८

जब १०८ जाप पूरे हुए तब वह क्रूरविद्या राजा के पास आई और "मैं सिद्ध हुई" ऐसा कहते हुए प्रकट हुई। राजा ने उसे नमस्कार किया और वह क्रूरविद्या उसके शरीर मे प्रविष्ट हो गई। मेरे शरीर में से मास और खून के निकल जाने से दयोत्पादक स्थिति में मुझे रोता देखकर राजा को थोडी दया आई और उसने स्वास लेते हुए दातो से आवाज की। तब विद्याधर ने उसे रोकते हुए कहा—'राजन्! इस विद्या का ऐसा कल्प (नियम) है कि जिस प्राणी की विद्या को आहुति दी जा रही हो उस पर साधक को दया नही करनी चाहिये।' फिर विद्याधर ने मेरे शरीर पर एक प्रकार का लेप लगाया जिससे मुझे इतनी अधिक पीडा हुई मानो मैं चारो ओर से अग्नि मे जल रहा हूँ, वज्र से चूर-चूर हो रहा हूँ, घाणी मे पेला जा रहा हूँ। अत्यधिक वेदना होने पर भी मेरा सुद्ध पापी शरीर उस समय भी समाप्त नही हुआ। क्षणमात्र मे मेरा शरीर दावानल से दग्व काष्ठ जैसा हो गया। उसी दशा मे विद्याधर और राजा मुझे उठाकर नगर मे ले गये। मेरे शरीर पर सूजन लाने के लिये मुझे खूब खट्टी वस्तुएँ खिलाई गई जिससे मेरा पूरा शरीर सूज कर शून्य-सा हो गया। राजा ने मेरे मास और खून की आहुति देकर * सात दिन तक प्रतिदिन १०८ जाप किये। उसके वाद तूने मुझे जिस अवस्था मे देखा, वह तो तू अच्छी तरह जानता ही है। यह मेरी अनुभव कथा है। इस दु:ख का जब मैं अनुभव कर रहा था तब मुझे ऐसा लगा कि ऐसा दुःख तो शायद नरक मे भी नही होगा।

मध्यमबुद्धि ने बाल का उपरोक्त वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त दुःख के साथ कहा—भाई बाल! सचमुच ऐसा दु:ख किसी को प्राप्त न हो। अरे? यह पापी विद्याधर कैसा दयाहीन और यह विद्या भी कैसी रौद्र होगी?

मनीषी की व्यवहार-बोधक शिक्षा

लोकाचार का अनुसरण कर उस समय मनीषी भी बाल के हाल-चाल पूछने और वार्ता की जानकारी लेने वहाँ आया। वह बाहर खड़ा था तभी मध्यमबुद्धि को उपरोक्त प्रकार से शोक प्रकट करते हुए सुना, वह अन्दर आया। मध्यमबुद्धि और बाल ने उसे बैठने का आसन दिया सत्कार किया और उससे बातचीत करने लगे। थोडी बातचीत के पश्चात् मनीषी ने पूछा—भाई! मध्यमबुद्धि! तू इस प्रकार शोक क्यो करता है?

मध्यमबुद्धि—मेरे शोक का कारण अलौकिक है, असाधारण है।

मनीषी—ऐसा क्या असाधारण कारण है?

उस समय मध्यमबुद्धि ने उसे बाल के साथ उद्यान मे जाने से लेकर विद्याधर द्वारा उसे उडा ले जाने और उसके खून व माँस से किये गये हवन आदि का सब वृत्तान्त कह सुनाया।

---

* पृष्ठ १८६

मनीषी पहले से ही यह सब सुन चुका था, पर अपने को अनभिज्ञ बतलाते हुए और आश्चर्य प्रकट करते हुए उसने सब वृत्तान्त सुना। फिर बोला—बाल को यह क्या हो गया है? यह तो अच्छा नही हुआ। मैंने तो इसे पहले ही कह दिया था कि तू पापो स्पर्शन के साथ मित्रता करता है वह किंचित्मात्र भी हितकारी नही है। इस बाल को जो भी दु:ख प्राप्त हुए हैं वे सब मेरी समझ से स्पर्शन द्वारा किये गये हैं, अर्थात् स्पर्शन-जनित अनर्थ-परम्परा के कारण ही हुए है। यह पापी स्पर्शन आर्यपुरुषो के अयोग्य कार्य करने का प्रेरणा स्रोत है। जब प्राणी आर्यपुरुष के अयोग्य कार्य करने का संकल्प कर लेता है तब अधमवृत्ति के कारण पाप का प्रबल उदय हो जाने से, जैसे मछली कांटे मे फसे मास के टुकड़े को खाने के लोभ में काटे में फंस जाती है वैसे ही प्राणी एक भी कार्य सिद्ध किये बिना आपत्तियों के जाल मे फंस जाता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। विपरीत मार्ग और आचरण से किसी प्राणी का कार्य कभी भी सिद्ध नही होता है। सुख प्राप्ति के लिये आर्य-पुरुष के अयोग्य कार्य करने का सकल्प करना, यह विपरीत मार्ग है। ऐसे खोटे सकल्प ही धैर्य का नाश करते हैं, विवेक का विनाश करते है, चित्त को मलिन करते हैं, पूर्व मे बाधे हुए पाप-कर्मो को उदय मे लाते है और अन्त मे प्राणी को सर्व अनर्थो के मार्ग पर लाकर छोड़ देते है। अतः आर्यपुरुष के अयोग्य एवं अशोभनीय कार्य करने के सकल्प मे सुख-लाभ की गध मात्र भी नही आ सकती। बाल को ऐसी भयकर पीड़ा भोगनी पडी जिसका एक मात्र कारण यही है कि उसने मेरी शिक्षा को नहीं माना। (अपने मन मे आया वैसे किया और स्पर्शन के साथ सम्बन्ध बढ़ाता गया। बाल ने शिक्षा नही मानी उसका फल तो उसे स्वय ही भोगना पडेगा।) इसमे तू क्यो शोक कर रहा है?

बाल—भाई मनीषी! ऐसे सम्बन्ध रहित वचन बोलने से, असम्बद्ध प्रलाप करने से क्या लाभ? सत्पुरुष विशिष्ट कार्य सम्पादन करने को जब तैयार होते है तब बीच-बीच मे दु ख पडने से उनके मन में दु ख नही होता और न वे अपने काम से पीछे हटते हैं। यदि अभी भी कमल जैसी कोमल शरीर वाली मदनकन्दली मुझे मिल जाय तो इन दु.खो का तो अस्तित्व ही क्या है?

बाल के दुर्व्यवहार पर विभिन्न प्रतिक्रियायें

जैसे किसी मनुष्य को विकराल सर्प ने काटा हो तो उसे बचाने का कोई उपाय शेष नही रहता वैसे ही यह बाल अब उपदेश, मत्र या तत्र से सच्चे मार्ग पर नहीं आ सकता। 'इसकी अतर व्याधि अब असाध्य हो गई है' ऐसा सोचकर मनीषी ने दाये हाथ की अगुली के इशारे से मध्यमबुद्धि को बुलाया और उस स्थान से उठकर * वे दोनों बाहर निकले तथा पास ही के दूसरे कमरे मे गये। फिर

* पृष्ठ १९०

मनीषी ने मध्यमबुद्धि से कहा—भाई मध्यमबुद्धि ! यह बाल तो अपने नाम के अनुसार मूर्ख ही है। अपना सच्चा आत्महित कहाँ है, यह नाम मात्र भी नही समझता। फिर इसके पीछे पडे रहकर क्या तेरा भी विचार विनाश को प्राप्त होने का है ?

मध्यमबुद्धि—भाई मनीषी ! तूने मुझे वस्तुत उचित शिक्षा दी है, इसमे तनिक भी शका नही है। यह बाल जब तेरा सच्चा परामर्श भी नही मानता तब इसके साथ सम्बन्ध रखना मेरे लिये व्यर्थ है। बाल के साथ मे अभी जो घटना घटी है वह बहुत ही लज्जाजनक है। क्या पिताजी को अभी तक इस बात की खबर नही लगी होगी ?

मनीषी—अरे ! पिताजी ही नही, पूरा नगर इस लज्जाजन्य घटना को जान गया है। भाई ! सूर्य के प्रकाश को क्या किसी कपडे से ढँक कर बन्द किया जा सकता है ?

मध्यमबुद्धि—इस बात की सब मनुष्यो को कैसे खबर लग गई ?

मनीषी—भाई ! कामदेव के मन्दिर में जो घटना घटी थी वह तो बहुत से लोगो के सामने ही घटी थी। उस रात मे जब विद्याधर बाल को उडाकर ले गया, उस समय तुमने 'मै आया, मै आया' करके जोर से आवाजे लगाई थी, तब बहुत से मनुष्य नीद मे से उठ गये थे और उन्होने ही यह सब घटना नगर मे फैलाई है।

मध्यमबुद्धि सोचने लगा कि, अरे ! बाल चाहे जैसा भी हो, अपना भाई है. इसलिये वह तो यह सब वृत्तान्त गुप्त रखता था पर यह सब घटना तो अत्यधिक प्रकाश मे आ गई लगती है। कितना भी गुप्त रूप से किया हुआ काम भी, विशेपकर पाप तो तुरन्त ही प्रसिद्ध हो जाता है। दुर्बुद्धि लोग अपने पापाचरण को छुपाने का प्रयत्न करते है, पर वास्तव मे वह व्यर्थ है। ऐसा प्रयत्न करना ही मोह-विलसित अधिकता को ही सिद्ध करता है। अपने मन मे ऐसा सोचते हुए मध्यमबुद्धि बोला—भाई मनीषी ! यह वृत्तान्त सुनकर तूने क्या सोचा ? पिताजी ने क्या सोचा ? माताजी को कैसा लगा ? और नगरवासियो ने क्या विचार किया ? यह सब मै तुझ से सुनना चाहता हूँ।

मनीषी—'भाई मध्यमबुद्धि ! सुन, सज्जन प्राणी को दुर्गुणी प्राणी के प्रति उपेक्षा रखनी चाहिये, इस भावना से मैंने बाल के प्रति मध्यस्थ भाव रखा। क्लेश पाते प्राणी पर सज्जन पुरुषो को दया रखनी चाहिये, इस विचार से मुझे तुझ पर महती करुणा आई। पापी-मित्र (स्पर्शन) की सगति से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की पीडाओ से मैं मुक्त रहा, इस विचार से मुझे अपनी आत्मा पर अधिक श्रद्धा (पूर्ण विश्वास) हुई। महात्मागण गुणो पर और गुणी प्राणियो पर प्रमोद (विशेष कृपा) वाले होते हैं, इस विचार से पुण्यशाली भवजन्तु द्वारा समस्त अनर्थो के मूल इस पापी-मित्र स्पर्शन को दूर भगाये जाने पर मुझे विशेप प्रमोद

हुआ और उसके प्रति अत्यधिक बहुमान उत्पन्न हुआ। पिताश्री को जब यह बात मालम हुई तब वे जोर से अट्टहास कर हँसे। मैने जब उनसे हँसने का कारण पूछा तब उन्होने बताया कि, वत्स ! जो प्राणी मेरे प्रतिकूल होते है उन्हे जैसी शिक्षा मिलनी चाहिये वैसा ही दण्ड बाल को मिला है, इसलिये यह सब सुनकर मुझे हर्ष होता है। माता सामान्यरूपा तो शोक मे रोने लगी और पुत्र कहाँ गया होगा, इस विचार से बहुत उदास हुई। अपने पुत्र को ऐसा कोई कष्ट नही आया यह जानकर मेरी माता शुभसुन्दरी आनन्दित हुई। बाल को कोई उडाकर ले गया है, यह जान-कर नगर के सब लोग तो अत्यन्त प्रसन्न हुए। ※ तू बाल के पीछे गया, यह सुनकर नगर के लोगो को तुझ पर करुणा आई और मेरी स्वस्थ प्रवृत्ति (व्यवहार) को देखकर समस्त नगर निवासी मेरे प्रति आकर्षित हुए।

मध्यमबुद्धि—यह सब बाते तुझे कैसे मालूम हुई ?

मनीषी—कुतूहल से मैं नगर मे घूमने निकला था तभी लोगो को पर-स्पर बाते करते हुए मैंने सुना था। वे कह रहे थे—अरे ! कुलकलकी, अत.करण से महादुष्ट, मर्यादारहित, दुराचारी और सर्वदा विषय-वासना-वश होकर निन्दनीय मार्ग पर चलने वाला लपटी, सपूर्ण नगर को अनेक प्रकार से पीडित करने वाले बाल को कोई महात्मा उडाकर ले गया, यह बहुत अच्छा हुआ। यह सुनकर उनमे से एक बोल पडा—हाँ, यह तो बहुत अच्छा हुआ। पर, इस बाल को किसी ने छिन्न-भिन्न कर मार डाला, ऐसी बात यदि सुनने को मिले तो और भी अधिक अच्छा; क्योंकि इस पापी का तो किसी प्रकार नाश हो तभी नगर की स्त्रियो के शील की रक्षा हो सकती है। यह सुनकर उन लोगो मे से तीसरे मनुष्य ने कहा—हाँ रे ! यह तो बहुत अच्छी बात हुई, पर इसके पीछे लगकर मध्यमबुद्धि दु ख पाता है यह अच्छा नही। मुझे तो वह भला आदमी लगता है। तभी एक और व्यक्ति बोल पडा—अरे भाई ! जाने दे न ! पापी के मित्र कभी अच्छे होते होगे ? जो सच्चा सोना होता है उनमें तो मेल होता ही नही। अच्छा आदमी यदि पापी का साथ करता है तो दु.खो की परम्परा और अपकीर्ति को प्राप्त करता ही है, इसमे आश्चर्य क्या है ? जो प्राणी प्रारम्भ से ही ऐसे पापकार्य मे आसक्त अधम व्यक्ति के सम्बन्ध का त्याग करता है, उसे किसी प्रकार का दोष नही लगता। इस सम्बन्ध मे मनीषी उदाहरण स्वरूप है। वह स्वय महात्मा है, इसलिये पापप्रवण बाल की सगति को छोडकर कलक रहित होकर पूर्णतया सुख मे रहता है। भाई मध्यमबुद्धि ! लोग अन्दर ही अन्दर आपस मे इस प्रकार की बाते करते थे जिसे सुनकर मैंने यह सब जाना है और इसीलिये तुझे बाल का साथ छोड़ने को कहा है।

मध्यमबुद्धि को बोध और बाल की संगति का त्याग

मध्यमबुद्धि ने सोचा कि सचमुच दोषो मे आसक्त व्यक्ति को इस भव मे सुख की गध भी नही मिलती, उसे एक के बाद दूसरा दु ख और दूसरे के बाद

※ पृष्ठ १६१

तीसरा दु ख इस प्रकार दु ख ही दु.ख प्राप्त होते है। ऐसे प्राणी को दु'ख की पीड़ा से ही छुटकारा नही मिलता और ऊपर से लोगो का आक्रोश भी सहना पड़ता है। साथ ही अपने ही व्यक्ति शत्रुओं के कार्य-साधक बन जाते है। एक तो दु ख से जलता हो, उस पर लोगो मे निन्दा हो तो 'गाँठ पर फोडा' अथवा 'जले पर डाम' लगाने जैसा असर होता है। कुबुद्धि बाल को ऐसा ही हुआ है। बाल के साथ सम्बन्ध रखने से मैं भी लोगो मे दया का पात्र बना और कुछ तत्त्वविचारक लोगो ने तो मुझे बाल जैसा ही समझा। पापी बाल का साथ दुःख की खान और सज्जन पुरुषो द्वारा निन्दनीय है, यह बात अब मेरी समझ मे आ गई है, अत. अब मुझे उसकी सगति कदापि नही करनी चाहिये। यह भी सिद्ध हो गया कि गुणो मे प्रवर्तमान व्यक्ति को इसी भव मे सकल सपत्ति प्राप्त हो जाती है और उसका उदाहरण मनीषी हमारे सामने है। उसने प्रारम्भ से ही बाल और स्पर्शन की सगति नही की जिससे अभी तक उस पर कोई कलक नही लगा वह पूर्ण रूप से सुख से रहा और सज्जन पुरुषो का प्रशसनीय बना। ❀ ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी कई बार लोग दोष के प्रति निरन्तर आकर्षित होते है और गुण के प्रति हतोत्साहित होते है, इसका कारण पाप-कर्म का उदय ही है। मैंने तो गुण और दोष के अन्तर को प्रत्यक्षत. देख लिया है। मनीषी के कथनानुसार मुझे तो अब गुण-प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। [१–९]

इस प्रकार मन मे विचार करते हुए उसने मनीषी से कहा –अभी तो मैं लोगो मे प्रकटतया घूमने और मुँह दिखाने योग्य नही रहा, क्योकि बाल का वृत्तात पूछकर लोग मुझे बार-बार तग करेगे। बाल का वृत्तात अत्यन्त निन्दनीय और लज्जाकारी होने से उसे बार-बार कहना अच्छा नही लगता। बाल ने कैसे-कैसे कष्ट उठाये और कदर्थना प्राप्त की, यदि यह सब वृत्तात दुर्जन लोग मुझसे सुनेगे तो वे प्रसन्न होकर उस पर और अधिक हसेगे। अत: भाई मनीषी! कुछ समय के लिये राजभवन मे रहना ही मेरे लिये उचित है। लोग बाल की घटना को भूल न जाय तब तक बाहर निकलना मुझे अच्छा नही लगता। [१०–१३]

मनीषी—जैसा तुझे अच्छा लगे वैसा कर, मुझे उसमें कुछ भी आपत्ति नही है। मुझे तो इतना ही कहना है कि इस पापी-मित्र (स्पर्शन) का सम्बन्ध छोड़ दे। [१४]

उस दिन से मध्यमबुद्धि महल मे ही रहने लगा, बाहर जाना आना बिलकुल बन्द कर दिया। बातचीत समाप्त होने पर मनीषी भी अपने स्थान पर चला गया।

❀

❀ पृष्ठ १९२

१०. बाल की दुरवस्था

इधर अकुशलमाला और स्पर्शन बाल के शरीर से निकल कर प्रकट हुए। अकुशलमाला कहने लगी—वाह बेटे! बहुत अच्छा किया। उस झूठे वाचाल मनीषी का तिरस्कार कर तूने बहुत अच्छा किया। मेरे से उत्पन्न पुत्र को तो ऐसा ही करना चाहिये। तू मेरा सच्चा पुत्र है।

स्पर्शन—माताजी! ऐसे पुरुषो के साथ तो ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये। ऐसा आचरण कर मेरे प्यारे मित्र ने मेरे प्रति दृढ अनुराग को प्रकट कर दिखाया है। अरे! इतना कहने की भी क्या आवश्यकता? अब तो अपने तीनो का एक दूसरे के सुख-दुःख मे एक समान भाग लेने जैसा सम्बन्ध जुड गया है। यदि कोई प्राणी बडा काम करने को तैयार हो तो उसके बीच मे विघ्न-बाधाएँ तो आती ही है, पर क्या कभी वह उनसे डरता है?

बाल—मेरा भी ऐसा ही कहना है, किन्तु मनीषी इस बात को नही समझता है।

स्पर्शन—तुझे उससे क्या काम है? यह पापकर्मा मनीषी तो तेरे सुख मे विघ्न करने वाला है। तेरे सुख के वास्तविक कारण तो मै और तेरी माता ही हैं।

बाल—इसमे क्या सदेह है? यह तो सदेह-रहित बात है।

इतनी बात-चीत होने के बाद अकुशलमाला और स्पर्शन अपनी योग-शक्ति से पुनः बाल के शरीर मे प्रविष्ट हो गये।

जैसे ही ये दोनो बाल के शरीर मे प्रविष्ट हुए, वैसे ही मदनकन्दली के साथ विषय-सुख भोगने की तीव्र इच्छा बाल को जागृत हुई। फलतः उसके शरीर मे दाह होने लगी, उबासियाँ आने लगी और वह बिछौने पर पडकर तडफडाने तथा अपने शरीर को इधर से उधर पछाडने लगा। मध्यमबुद्धि ने दूर से बाल की चेष्टाएँ देखी, उस पर दया आई, पर मनीषी के वचनो का स्मरण कर उसने बाल से कुछ नही पूछा।

बाल का मदनकन्दली के शयनकक्ष में प्रवेश

उस समय सूर्य अस्त हो गया था। रात्रि के प्रथम पहर मे बाल महल से निकल पडा। * उसे बाहर निकलते देख मध्यमबुद्धि के मन मे उसके प्रति तिरस्कार उत्पन्न हुआ, परन्तु वह इस समय पहले के समान उसके पीछे नही गया। बाल शत्रुमर्दन राजा के राजभवन के पास पहुँचा और चोरी छिपे राजभवन मे घुस गया। दूर से मदनकन्दली का महल दिखाई दिया तो वह उस तरफ चलने लगा

---

* पृष्ठ १९३

और लोगों के झुण्ड मे सम्मिलित हो गया। उस समय रात्रि का अन्धकार भी था और पहरेदार भी किसी अन्य कार्य मे व्यस्त थे, अत बाल छिपते हुए मदनकन्दली के शयनकक्ष मे पहुँच गया। कक्ष के मध्य मे जाज्वल्मान मणि-रत्नो की दीप-पंक्ति के नीचे उसने एक महर्घ्य विशाल पलग देखा। उस समय मदनकन्दली शयनकक्ष के पास वाली प्रसाधन-शाला मे अपने शरीर पर चन्दन आदि का विलेपन कर रही थी, वस्त्रालकारो से सुसज्जित हो रही थी। शय्या खाली देखकर मूर्ख के समान ही बाल उस पर चढ गया। अहा ! शय्या कितनी कोमल है ! इस भावना से उसका मन आनन्दित हुआ। अपना प्रावरण (ओवरकोट) उतारकर वह शय्या पर लोट-पोट होने लगा।

राजा शत्रुमर्दन का शयनकक्ष में प्रवेश

इतने मे ही शत्रुमर्दन राजा सब कार्यो से निवृत्त हो, सभा विसर्जन कर, अपने अगरक्षको के साथ सभा मण्डप से शयन-कक्ष की तरफ चल पडा। हाथ मे जलती हुई मशाले लेकर कुछ सेवक महाराजा को मार्ग बता रहे थे। बातचीत करते, धीरे-धीरे चलते हुए राजा शयन-कक्ष के द्वार तक पहुँचा। बाल ने दूर से ही देखा कि राजा स्वय आ रहा है। शत्रुमर्दन राजा के भव्य राजस्व तेज से, स्वय का हृदय सत्वहीन होने से, बुरे काम के आचरण के भय से, कर्मविलास राजा की विरुद्धता से, अकुशलमाला का योगशक्ति द्वारा फल प्रदान करवाने की आतुरता से और स्पर्शन का अपने कार्यो का विपाक (फल) दिलवाने को तत्पर होने से बाल के अगोपाँग भयातिरेक से काँपने लगे तथा वह स्वय ही घबराकर पलग से नीचे गिर पडा। पलग जमीन से काफी ऊँचा था, आगन रत्नमय चौकियो से जडा था और बाल का शरीर शिथिल एव अस्त-व्यस्त था, अत: उसके गिरने से बहुत जोर का धमाका हुआ।

बाल का पकड़ा जाना

यह क्या हुआ ? जानने के लिये राजा एकदम शयन गृह मे प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने बाल को देखा। 'यह यहाँ कैसे पहुँच गया ?' राजा के मन मे इस सम्बन्ध मे अनेक तर्क-वितर्क होने लगे। पलग के तकिये पर बाल का प्रावरण पडा था और शय्या अस्त-व्यस्त हो रही थी, जिससे राजा समझ गया कि यह पलग पर से नीचे गिरा है। यह जानकर राजा को दृढ निश्चय हो गया कि यह अत्यन्त दुष्ट प्राणी है और मेरी रानी की अभिलाषा करने वाला है, अतएव राजा को उस पर बहुत क्रोध आया। बाल की दीनता को भी वह जान गया, परन्तु ऐसे अत्यन्त अधम पुरुष की दुष्टता को अब समाप्त करना ही चाहिये, यह सोचकर राजा ने उसकी पीठ पर जोर से लात मारी, उसके दोनो हाथ पीछे करके मरोड़े और उसी के प्रावरण से उसको मजबूती से बाँध दिया।

बाल को असह्य यातना

फिर अपने सेवक विभीषण को बुलाकर राजा ने कहा—अरे विभीषण ! यह महान् अधम पुरुष है। इसे इसी राजमहल के आगन मे रखकर इतना अधिक पीडित करो कि इसका करुण क्रन्दन मैं सारी रात सुनता रहूँ। विभीषण ने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। फिर जोर-जोर से रोते हुए बाल को पकड कर निकट ही के एक फर्श पर घसीट कर ले गया। वज्र जैसे तीक्ष्ण काटो वाले लोहे के थम्भे से बाधा और ऊपर से उस पर कोडे बरसाये। उसके शरीर पर गरम तेल डाला, उसकी अगुलियो मे लोहे की कीले ठोकी और पूरी रात उसे ऐसी अनेक नारकीय जीवो को दी जाने वाली पीडाएँ दी। * विभीषण द्वारा दी गई भयकर असह्य पीडा से बाल सारी रात हृदय-विदारक करुण क्रन्दन करता रहा।

जनता का तिरस्कार

उसके रुदन की आवाज कितने ही लोगो ने रात मे सुनी थी और कईयों ने दूसरो से सुनी। 'राजमहल मे क्या घटना घटी है ?' यह जानने की उत्सुकता से प्रभात मे राजमहल के निकट लोगो का समूह एकत्रित हो गया। वहाँ बाल को उस दशा में देखकर लोगों ने कहा—'अरे ! यह पापी अभी तक जीवित है !' नागरिको के आक्रोश पूर्ण ऐसे कडुवे वचन सुनकर बाल को जो असह्य दु:ख था वह सौ गुणा बढ गया। उस समय विभीषण ने नागरिको को रात की घटना कह सुनाई, जिसे सुनकर, उसकी निर्लज्ज धृष्ठता को देखकर वह बाल सब की दृष्टि मे गिर गया और सब लोग उसके शत्रु बन गये। अत: नगर के प्रमुखो ने राजा से प्रार्थना की—महाराज ! आपके साथ भी जो इस प्रकार का नीच व्यवहार करे वह तो दुष्ट मनुष्य ही है, इसे तो ऐसा दण्ड मिलना चाहिये कि जिससे भविष्य मे कोई ऐसा नीच काम नही कर सके।

मृत्यु-दण्ड का निर्देश

शत्रुमर्दन राजा के एक सुबुद्धि नामक प्रधान था। उसकी बुद्धि श्री अर्हत् परमात्मा के आगम (शास्त्र) के ज्ञान से पवित्र थी। उसने एकबार नम्रता पूर्वक राजा से प्रार्थना की थी कि किसी भी हिसा के काम में उससे परामर्श नही लिया जाय। राजा ने प्रधान की प्रार्थना स्वीकार की थी, अत: सुबुद्धि प्रधान का परामर्श लिये बिना ही राजा ने अपने सेवको को आज्ञा दी कि, 'इस अधम की विविध प्रकार से कदर्थना कर इसे मार डालो।' बाल को मृत्युदण्ड की आज्ञा सुनकर जनसमूह अतिशय प्रमुदित हुआ मानो विशाल राज्य की प्राप्ति हुई हो। फिर बाल को एक गधे पर बिठाया गया। उसके गले मे फूटे सकोरों की माला पहनायी गई। चारो तरफ से लोग उसे लकड़ी, मुट्ठी और पत्थरो से मारने लगे। दीन

---

* पृष्ठ १६४

स्वर मे आक्रन्दन करते हुए और लोगो के हृदय-भेदी, कर्ण-कटु एव आक्रोश पूर्ण वचन सहन करते हुए कोलाहल के बीच मे उसे नगर के राज्यमार्गों, तिराहो, चोराहो, चौक, बाजारो आदि मे घुमाया गया। नगर बहुत बडा था इसलिये उसे सब स्थानो पर घुमाने मे सारा दिन बीत गया। सध्या के समय उसे राजसेवक वध-स्थल पर ले आये। उसके गले मे फासी का फन्दा डालकर उसे वृक्ष की शाखा पर लटका दिया गया। बाल को इस दशा मे देखकर नगरवासी वापिस चले गये।

भवितव्यता (भाग्य) से बाल के गले मे बन्धी रस्सी टूट गई और वह नीचे गिरा जिससे मूर्छित हो गया, मुर्दे जैसा चेष्टारहित हो गया। फिर वन का मन्द-मन्द शीतल पवन उसके शरीर पर लगने से धीरे-धीरे उसे चेतना आई। जमीन पर घिसटते हुए और नि स्वास लेते हुए धीरे-धीरे वह अपने घर की तरफ जाने लगा।

स्पष्टीकरण

कुमार नन्दिवर्धन को विदुर कहता है कि यह सब कथा सदागम के समक्ष ससारी जीव ने कही और अगृहीतसकेता आदि ने सुनी। इतनी कथा सुनकर अगृहीतसकेता ने बीच ही मे पूछा— अरे ससारी जीव ! तूने जो कथा कही उसमें क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा का नाम अतुलपराक्रम-सम्पन्न कर्मविलास बतलाया था, फिर आगे चलकर तूने उसी नगर का निपुण प्रशासक शत्रुमर्दन राजा बतलाया, तो एक ही नगर के दो राजा कैसे हो सकते है ?

ससारी जीव—भोली बहिन ! जब मेरा जीव नन्दिवर्धन था और विदुर मुझे यह कथा सुना रहा था तब मैंने भी उससे यह प्रश्न पूछा था। उत्तर मे उसने कहा था—'कुमार ! कर्मविलास को अन्तरग राज्य का राजा समझना चाहिये और शत्रुमर्दन को बहिरग राज्य का राजा। इस प्रकार समझने पर तुम्हे किञ्चित् भी विरोध प्रतीत नही होगा। बहिरग राजाओ की * प्रशासकीय आज्ञा बहिरग नगरो के अपराधियो पर ही चलती है, इतर राज्यो पर नही। परन्तु अतरग राजा तो गुप्त रहकर अपनी शक्ति से अच्छे-बुरे निमित्त एकत्रित कर देता है। (जो अच्छे कार्य करते है उनके साथ अच्छे निमित्त और जो बुरे काम करते हैं उनके साथ बुरे निमित्त प्रयुक्त कर देता है। फिर उन्ही निमित्तो से प्राणी अपने कर्म के अच्छे-बुरे फल भोगता है)। बाल को जो-जो दुःख हुए वे कर्मविलास राजा की प्रतिकूलता के कारण ही हुए ऐसा तुझे परमार्थ से समझना चाहिये।' विदुर का यह उत्तर सुनकर मेरे मन की शका नष्ट हुई। अब तू समझी ? फिर विदुर ने नन्दिवर्धन कुमार को आगे कथा सुनाई।

मध्यमबुद्धि की व्यवहारिक विचारणा

विदुर कहने लगा—बडी कठिनता से एक पहर रात्रि बीतने पर बाल अपने घर के निकट आया। इधर मध्यमबुद्धि ने उस दिन प्रात काल ही लोगो से

* पृष्ठ १६५

बाल पर बीती गत रात की घटना सुन ली थी। बाल पर उसे अभी भी थोडा स्नेह था अत: उसे कुछ खेद हुआ और वह सोचने लगा कि, 'हा! बाल को इतना अधिक दु ख क्यों हुआ?' गहन विचार करने पर उसका मन प्रमुदित हुआ। वह सोचने लगा कि, अहो! देखो, मनीषी के वचन के अनुसार करने और न करने का फल इस भव मे ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है जो विचारणीय है। उसके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करने पर मुझे किञ्चित् भी दु.ख-क्लेश नही हुआ और न मेरा अपयश ही फैला। पहिले जब मैंने उसकी बात नही मानकर विपरीत आचरण किया था तो क्लेश भी पाया और अपयश भी मिला था। बाल तो सर्वदा ही मनीषी के वचनो से विपरीत ही चलता है, इसलिये उस पर अनेक प्रकार के अत्यधिक दु:ख पडते है, अपयश का ढोल बजता है और अन्त मे मृत्यु भी हो तो क्या बडी बात है! उस समय सचमुच ही मुझे मनीषी के वचनो पर प्रीति हुई और मैंने उसके अनुसार चलने का निश्चय किया, अत: मै वास्तव मे भाग्यशाली हूँ। सज्जन पुरुषो ने कहा भी है कि—

नैवाभव्यो भवत्यत्र, सता वचनकारक.।
पक्षि. काङ्कटुके नैव, जाता यत्नशतैरपि ॥

जो प्राणी अभव्य है, जिसका भविष्य मे सुधार नही हो सकता, ऐसा प्राणी सज्जन पुरुषो के वचन के अनुसार कभी भी नही चल सकता। सैकड़ो प्रयत्न करने पर भी कौवा कभी काँव-काँव छोड़कर मीठी बोली नही बोल सकता।

इस प्रकार विचार करते हुए बाल के प्रति उसके मन मे जो थोडा स्नेह बचा था वह भी समाप्त हो गया, इससे उसके मन को शाति प्राप्ति हुई। मन प्रमुदित हो जाने से इसी प्रकार के विचारो मे उसका वह पूरा दिन व्यतीत हो गया। रात मे जब बाल राजमहल मे पहुँचा तब लोकाचार निभाने के लिये उससे सहज रूप से बात की और उसके हालचाल पूछे, तब बाल ने उसकी जो-जो विडम्बनाएँ हुई थी वे सब खेद पूर्वक कह सुनाई। उसकी बाते सुनकर उसके व्यवहार से उसके प्रति अनादर होने से मध्यमबुद्धि ने सोचा कि ऐसे प्राणी को शिक्षा देना निरर्थक है। शिष्टाचार के कारण उसने ऊपरी तौर पर थोडासा शोक प्रकट किया। बाल के सभी अग चूर-चूर हो गये थे और मन दुःख से आकुल-व्याकुल हो गया था। फिर उसे राज्य की ओर से भी बहुत भय था, अत. वह छिपकर महल मे ही पड़ा रहा। बिल्कुल बाहर न निकल कर निरन्तर प्रच्छन्न रूप से महल मे ही रहने लगा। इसी स्थिति मे उसका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया। [२-७]

❀

११. प्रबोधनरति आचार्य

एकदा नगर के बाहर स्थित निजविलसित नामक उद्यान में प्रबोधनरति नामक आचार्य पधारे। गन्धहस्ती के साथ जैसे अनेक छोटे-बडे हाथी रहते हैं वैसे ही आचार्य अनेक अतिशय गुणवान् छोटे-बडे शिष्य परिवार से परिवृत थे, जो करुणा-रस के प्रवाह (भण्डार), ससार समुद्र को पार करने के लिये सेतु, तृष्णालता का छेदन करने मे परशु, मान पर्वत का विदारण करने मे वज्र, उपशम (समता) तरु की जड, ❀ सतोपामृत मे सागर, सर्व विद्या-समुद्र मे प्रवेश करने के लिये तीर्थ (घाट), विशुद्ध आचार का निकेतन, प्रज्ञाचक्र की नाभि, लोभ समुद्र के लिए वाडवाग्नि, क्रोध सर्प के लिये महामत्र, महामोह के अन्धकार को दूर करने मे सूर्य, शास्त्र-रत्नो की परीक्षा करने मे कसौटी, रागवन को जलाने मे दावानल, नरकद्वार को बन्द रखने के लिये बड़ी अर्गला के समान और शुद्ध मार्ग को बतलाने वाले तथा अतिशय ज्ञान रत्न के भण्डार थे। सक्षेप मे कहे तो वे आचार्य सर्व गुण-सम्पन्न थे।

मनीषी के प्रति कर्मविलास का पक्षपात

इधर कर्मविलास राजा को जब मालूम हुआ कि मनीषी तो सर्वदा स्पर्शन से विपरीत ही चलता है तब उन्हे उसके प्रति अधिक पक्षपात उत्पन्न हुआ और उसने शुभसुन्दरी से कहा—प्रिये! तू तो अच्छी तरह जानती है कि अनादि काल से मेरी प्रकृति एक समान चलती आ रही है। जो स्पर्शन के साथ अनुकूल होकर रहते है उनके प्रति मुझे प्रतिकूल होना पड़ता है और जो स्पर्शन के प्रतिकूल होकर रहते है उनके प्रति मुझे अनुकूल होना पडता है। जहाँ मै प्रतिकूल प्रवृत्ति करता हूँ वहाँ अकुशलमाला मेरी सहायता करती है और उसी के द्वारा मै अपना कार्य करता हूँ, परन्तु जहा मुझे अनुकूल प्रवृत्ति करनी होती है वहाँ तू मेरी सहायता करती है। मेरी ऐसी प्रकृति और प्रवृत्ति होने के कारण बाल स्पर्शन के अनुकूल है इसीलिये अकुशलमाला के सहयोग से मैने मेरी प्रतिकूलता का थोडासा फल उसे चखा दिया, किन्तु यह मनीषी स्पर्शन के प्रतिकूल रहता है तो भी अभी तक मैने उसे अपनी अनुकूलता का नाममात्र का भी फल नही दिया है। मनीषी की स्पर्शन पर आसक्ति न होने पर भी उसे कोमल शय्या, स्त्री-सभोग आदि अनुभवो मे अनेक प्रकार का सुख प्राप्त होता है और ससार मे उसका सुयश भी फैला है, दु ख की तो गध भी उसके पास नही फटकती। इस सब का मूलभूत कारण तुम्हारे द्वारा मै ही हूँ, फिर भी जब मेरी उस पर कृपा हुई है तब उसे केवल इतना ही फल मिले यह तो समुचित नही है। उसे अभी तक जो लाभ प्राप्त हुआ है वह तो कुछ भी नही है, इसलिये हे प्रिये! उसे विशेष लाभ प्राप्त करवाने के लिये तू मेरी इच्छानुसार प्रयास कर, क्योकि वह विशेष लाभ के योग्य है।

❀ पृष्ठ १९६

शुभसुन्दरी ने कहा—बहुत अच्छा, आर्य पुत्र ! आप जो कह रहे हैं वह बहुत सुन्दर है। मेरे मन में भी यही था कि मनीषी आपकी विशेष कृपा के योग्य है। आपकी आज्ञानुसार मैं प्रयास करूँगी।

उद्यान में तीनों भाई

ऐसा कहकर शुभसुन्दरी ने अपनी योग-शक्ति प्रकट की और अन्तर्ध्यान होकर सूक्ष्मरूप से मनीषी के शरीर में प्रविष्ट हो गई। मनीषी का मन अत्यधिक प्रमुदित हुआ, सम्पूर्ण शरीर अमृत सिंचन से सराबोर हो गया, उसे निजविलसित उद्यान में जाने की इच्छा हुई और उस तरफ जाने के लिये वह निकल पड़ा। फिर उसके मन मे विचार आया कि, वहाँ अकेला कैसे जाऊं? मध्यमबुद्धि को घर में रहते काफी समय बीत गया है, अब तो लोग बाल की बात भी भूल गये हैं, अतः बाहर निकलने मे लज्जित होने का अब कोई कारण नही है, तब उसे भी अपने साथ उद्यान मे क्यो न ले जाऊ ?* इस विचार से मनीषी मध्यमबुद्धि के पास आया और अपना विचार उसे सुनाया। इधर कर्मविलास राजा ने अपनी स्त्री सामान्यरूपा को उत्साहित किया कि उसे भी अपने पुत्र को उसके कर्म का फल प्राप्त करवाना चाहिये। सामान्यरूपा रानी मध्यमबुद्धि की माता थी। वह अकुशल-माला और शुभसुन्दरी से शक्ति मे कुछ कमजोर थी और चित्रविचित्र फल देने वाली थी। वह भी मध्यमबुद्धि के शरीर मे सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हुई और उसकी प्रेरणा से मध्यमबुद्धि की भी निजविलसित उद्यान मे जाने की इच्छा हुई। मध्यमबुद्धि ने बाल को भी उद्यान मे साथ चलने को कहा, जिससे अनमना-सा वह भी उद्यान में जाने को तैयार हुआ। इस प्रकार बाल, मनीषी और मध्यमबुद्धि तीनो ही निजविलसित उद्यान मे गये।

जिन मन्दिर और आचार्य के दर्शन

कुतूहल से नाना प्रकार के विलास करते हुए वे तीनो निजविलसित उद्यान मे स्थित प्रमोदशिखर जिन मन्दिर में पहुँच गये। वह देव मन्दिर मेरु पर्वत के समान उन्नत (बहुत ऊँचा) था, साधुओ के हृदय की तरह विशाल था और सौन्दर्य तथा औदार्य के योग से वह देवलोक को भी लज्जित करने वाला था। युगादिदेव श्री आदीश्वर भगवान् की मूर्ति उस मन्दिर मे विराजमान थी। इस मन्दिर के चारो तरफ उच्च विशाल किला गढ (परकोटा) बना हुआ था। लोकनायक आदीश्वर भगवान् की मधुर स्वर से स्तुति करते और स्तोत्र बोलते हुए श्रावको की कर्णप्रिय ध्वनि को सुनकर 'यहाँ क्या है!' जानने के कौतुक से तीनो कुमार जिनेश्वर देव के मन्दिर मे प्रविष्ट हुए। उन्होने वहाँ महा भाग्यवान्, शान्त, धीर प्रबोधनरति आचार्य महाराज को देखा। वे दक्षिण दिशा मे विराजमान थे, देव भवन के आगन

* पृष्ठ १९७

के आभूषण समान थे, और अतिशय विनयी साधुओं के मध्य मे विराजमान थे। वे महा तपस्वी थे और ससार समुद्र से पार उतारने वाले तीर्थंकर महाराज के निष्कलंक शुद्ध सनातन धर्म का उपदेश प्राणियो को दे रहे थे। उस समय वे अनेक तारामण्डल से आवेष्टित चन्द्र की तरह शोभायमान थे। [१–८]

मनीषी निर्मल चित्तवाला भावी भद्रात्मा था अत. उसने पहले जिनेश्वर भगवान् की मूर्ति को और फिर आचार्य श्री को नमस्कार किया। तत्पश्चात् सर्व मुनियो के चरणकमलों की वन्दना की। मनीषी के पीछे-पीछे किंचित् शुद्ध मन से मध्यमबुद्धि ने भी भगवान्, आचार्य और साधुओं को नमस्कार किया। किन्तु पापिन माता अकुशलमाला और स्पर्शन के शरीराधिष्ठित होने के कारण अकल्याणकारी बाल ने किसी को भी नमस्कार नही किया। उसने न तो किसी की वदना ही की और न चरण-स्पर्श ही किया, अपितु एक स्तब्ध मन वाले ग्रामीण की भाति इधर-उधर ताकता हुआ मनीषी और मध्यमबुद्धि के पीछे जाकर खडा हो गया। गुरु महाराज ने उन तीनो को धर्मलाभ आशीर्वाद दिया और प्रेम से सभाषण किया। फिर वे तीनो आचार्यश्री के सन्मुख जमीन पर बैठ गये। [९-१३]

राजा शत्रुमर्दन का उद्यान गमन

इधर सूरि महाराज उद्यान मे पधारे हैं, यह लोगो से सुनकर जिनभक्त सुबुद्धि मन्त्री भी मुनि-वदन के लिये तत्पर हुआ और शत्रुमर्दन राजा को भी प्रेरित करते हुए निवेदन किया कि मुनीन्द्र की वदना करने आप पधारे। कहा है कि, 'साधु महात्मा के चरण-स्पर्श से जो इस जन्म मे अपनी आत्मा के पाप-मल को धो लेते हैं * वे महा भाग्यवान और वास्तव में विचारशील बुद्धिमान प्राणी हैं।' सुबुद्धि मन्त्री के वचन सुनकर मदनकन्दली और अन्य अन्त.पुर की रानियो सहित शत्रुमदन राजा भी आचार्यश्री को वन्दन करने उद्यान की तरफ जाने के लिये निकला। राजा को उद्यान की तरफ सपरिवार जाते देखकर नगर की प्रजा और सेना को भी आश्चर्य हुआ तथा वे भी उद्यान की तरफ चल पडे। सैन्य सहित शत्रुमर्दन राजा ने उद्यान में स्थित मदिर में विराजमान युगादिदेव के चरणो मे वन्दन कर अन्त.करण के अपार हर्ष सहित आचार्य प्रबोधनरति और सर्व साधुओ को नमस्कार किया। आचार्यदेव और साधुओ ने आशीर्वाद दिया। पश्चात् विनय से मस्तक झुकाकर सब भूमि पर बैठ गए। [१४–२०]

सुबुद्धि-कृत जिनपूजा और स्तुति

सुबुद्धि मन्त्री ने भी युगादिप्रभु के मन्दिर मे आकर तीर्थंकर भगवान् के चरण-कमलो मे नमस्कार किया और देवपूजा की समस्त क्रियाएँ विवेक एव विधि पूर्वक सम्पन्न की। धूप, दीप आदि से देवपूजन करते समय भक्ति से उसके सर्व अगों मे एक प्रकार का अपूर्व उत्साह उत्पन्न हुआ। फिर तीर्थंकर महाराज को

---

* पृष्ठ १९८

जमीन पर हाथ और मस्तक लगाकर (पचाग) प्रणाम किया। उस समय उसके मन में भावना जाग्रत हुई कि इस प्राणी को ससार अरण्य मे तीर्थंकर महाराज के दर्शन या देव-वंदन का लाभ मिलना अत्यन्त कठिन है। यह भावना इतनी अपूर्व हृदय-स्पर्शी हुई कि उससे उसका मन अतिशय निर्मल हो गया। आनन्दाश्रु से उसकी आँखे डबडबा गईं और नेत्र-जल से उसने अपने पाप-मल को धो डाला। फिर विचक्षण सुबुद्धि भगवान् की मूर्ति पर दृष्टि स्थिर कर, पचाग नमस्कार कर जमीन पर बैठा और भक्ति पूर्वक शक्रस्तव (नमोत्थुणं) बोला। फिर हाथ की दसो अंगुलियो को भीतर ही भीतर कमल के डोडे की तरह मिलाकर, दोनो हाथ की कोहनियो को पेट पर लगाकर, योगमुद्रा पूर्वक एकाग्र चित्त से लय लगाकर मधुर स्वर से भगवान् आदिनाथ की स्तुति करने लगा। [२१–२७]

"हे जगदानन्द! हे मोक्षमार्गविधायक! आपको नमस्कार हो। हे जिनेन्द्र! विदित अशेषभाव! (विश्व के समस्त भावो के जानकार), सद्भावनायक! (सद्भावों के प्रदर्शक) आपको नमस्कार हो! हे प्रणष्टसंसार-दुःख-विस्तार परमेश्वर! आपको नमस्कार हो! हे वचनातीत! त्रैलोक्य-नरशेखर! आपको नमस्कार हो। संसार समुद्र में डूबते अनन्त प्राणियों के उद्धारक! महाभयकर संसार अटवी के सार्थवाह! आपको नमस्कार हो। हे प्रभो! अनन्त परमानन्दपूर्ण मोक्षधाम में रहने वाले आपका लोग भक्तिभाव से यही साक्षात् दर्शन करते हैं। हे विभो! यदि ऐसा न हो तो आपकी मूर्ति की स्तुति करने वाले प्राणियो के मन में जैसा अतिशय प्रमोद होता है वैसा प्रमोद त्रैलोक्य के किसी भी अन्य पदार्थ से क्यो नही प्राप्त होता? मुझे तो आपकी मूर्त्ति में आपका साक्षात्कार हो रहा है। हे नाथ! हे सदानन्द! जब तक संसारी प्राणियों के चित्त में आपका निवास नही होता तभी तक पाप के परमाणुओ का ताप उनके हृदय में रहता है, पर जैसे ही आपका निवास प्राणियों के चित्त मे हो जाता है वैसे ही तुरन्त समस्त पाप-परमाणुओं का एकदम नाश हो जाता है।* हे नाथ! इससे उनके सब पाप धुल जाते हैं और सद्भाव के अमृत सिंचन से उन्हे निरन्तर अपूर्व मोद (आनन्द) प्राप्त होता है। हे स्वामिन्! जिन्हे आपका सान्निध्य (आश्रय) प्राप्त नही होता वे रागादि चोरो से लुट जाते है। हे देव! आपको निःशंक मन से ग्रहण कर, मद मत्सर आदि छः रिपुओ के कंठ पर पैर रखकर (नाश कर) प्राणी मोक्ष को प्राप्त होते है। हे नाथ! यदि आप प्राणियों को अहिंसारूपी हाथ के सहारे से धारण नही करते, ऊपर नही खीचते तो सारा संसार नरक रूपी भयंकर अंधकूप में पड़ गया होता। हे जिनेन्द्र! भव्य प्राणियो को आपका शरीर अत्यन्त कमनीय, सर्व क्लेश रहित, विकार रहित, श्रेष्ठ और बहुत मनोहर प्रतीत होता है। आपके रमणीय शरीर को देखते ही प्राणी को ऐसा लगता है कि हे वीतराग प्रभो! आप स्वयं अनन्त वीर्य-युक्त और सर्वज्ञ हैं। फिर भी अभव्य प्राणियो को वैसे नही लगते; इसका

---

* पृष्ठ १९९

कारण उनका अपना पापाचरण है। पापी मनुष्यो को दृष्टि मे विकार होने से वे शुद्ध रूप से आपको नही देख सकते। हे प्रभो! राग-द्वेष और महामोह के सूचक हास्य, शस्त्र, विलास और अक्षमाला से रहित! हे निष्पाप! पवित्र! नाथ! आपको नमस्कार हो! हे प्रभो! आप तो अनंत गुणो से भरपूर है, आपकी स्तुति मैं क्षुद्र प्राणी कैसे कर सकता हूँ? मैं तो जड़बुद्धि वाला हूँ परन्तु आप के प्रति प्रगाढ़ सद्भावना से बंधा हुआ हूँ। हे नाथ! मेरे मन मे जो शुभ भावनाये है, जिन्हे मै वचन द्वारा प्रकट नही कर सकता, उन सबको आप तो स्वय भली प्रकार जानते है अतः भव-परम्परा का नाश करने वाली आपकी निश्चल भक्ति मुझे भव-भव मे प्राप्त हो, ऐसी कृपा करे। [२८–४३]

इस प्रकार त्रिलोकनाथ आदीश्वर भगवान् की स्तुति कर, खडे होकर, जिनमुद्रा धारण कर क्षमाश्रमणादि पूर्वक फिर से पचांग प्रणाम किया। अन्त मे मुक्ताशक्ति मुद्रा धारण कर अति सुन्दर प्रणिधान सूत्रो द्वारा प्रभु की स्तुति कर नमस्कार किया। इन सुकृत्य कार्य-कलापों से मन्त्री अपनी आत्मा को बहुत कृतार्थ समझने लगा। फिर आनन्दाश्रुओं से आचार्यश्री के चरण-कमलों का सिंचन करते हुए गुरु महाराज को दोषनाशक द्वादशावर्त वन्दन किया। मन में-समताभाव धारण कर सर्व साधुओं को भक्ति भाव से नमस्कार किया। आचार्यश्री और साधुओ से धर्मलाभ आशीर्वाद प्राप्त कर मन्त्री शुद्ध भूमि पर बैठा और आचार्यश्री से सुख-साता पूछी। [४४–४७]

आचार्य का धर्मोपदेश

आचार्यश्री ने विशेष धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। उपदेश मे उन्होने इस ससार की निर्गुणता की व्याख्या की और बतलाया कि इस ससार को बढाने वाले वास्तविक कारण कर्म ही हैं। जो प्राणी पुरुषार्थ द्वारा सर्व कर्मो से मुक्ति प्राप्त करते हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते है। आचार्यश्री प्रबोधनरति महाराज की अमृत सिंचन जैसी मधुर वाणी को सुनकर प्राणी मानसिक सन्ताप रहित हुए और उनके मन मे आनन्द व्याप्त हुआ। [४८–५०] ※

१२. चार प्रकार के पुरुष

शत्रुमर्दन राजा ने अपने तेजस्वी नख-किरण-प्रकाशित दोनो हाथो को कमल के डोडे के समान जोड़ कर, स्वय के ललाट तक लाकर, नमस्कार कर सूरि

※ पृष्ठ २००

महाराज से पूछा—भगवन् ! सुख की इच्छा करने वाले प्राणी को इस संसार मे सर्व संपत्ति को प्राप्त कराने वाली कौनसी वस्तु को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये ? [५१–५२]

धर्म की उपादेयता

आचार्य—राजन् ! इस संसार में प्राणी को प्रयत्नपूर्वक सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म का आचरण करना चाहिये, क्योंकि धर्म ही समस्त पुरुषार्थों को प्राप्त कराने वाला होने से विशेष रूप से ग्रहणीय है। धर्म प्राणी को अनन्त सुख के भण्डार मोक्ष में ले जाता है और जब तक प्राणी इस संसार में रहता है तब तक आनुषगिक रूप से उसे सुख राशि भी प्राप्त कराता है। [५३–५४]

शत्रुमर्दन—यदि ऐसा ही है, तब समस्त सुखो के साधनरूप धर्म को सब लोग आचरण में क्यों नहीं लेते ? जानते हुए भी और सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए भी क्लेशों को क्यो प्राप्त करते हैं ? । [५५]

इन्द्रियों का माहात्म्य

आचार्य—राजन् ! सुख प्राप्त करने की इच्छा तो शीघ्र ही हो जाती है, पर धर्म की साधना जल्दी नहीं हो सकती; क्योंकि जो प्राणी अपनी पाचों इन्द्रियों को जीत लेता है वही धर्म की साधना कर सकता है। अनादि भवाटवी में परिभ्रमण करते हुए ये इन्द्रियाँ बहुत बलवान बन जाती हैं, अतः दुर्बुद्धि वाले प्राणी इन्हे सरलता से नही जीत सकते। इसलिये ऐसे प्राणी केवल सुख प्राप्त करने की इच्छा तो करते हैं पर उसको प्राप्त कराने वाले धर्म का आचरण नहीं करते, प्रत्युत सुख-कारक धम से दूर भागते हैं। [५६–५८[

शत्रुमर्दन—सुख प्राप्ति की इच्छा वाले प्राणी जिन इन्द्रियों को वशीभूत करने में असमर्थ होकर उन पर विजय प्राप्त नही कर सकते और धर्म से दूर भागते हैं वे इन्द्रियाँ कौन-कौन सी हैं, उनका स्वरूप क्या हैं और वे क्यों अति दुर्जय है ? मैं यह सब कुछ तत्त्वतः जानना चाहता हूँ, कृपा कर मुझे समझाइये। [५९–६०]

आचार्य—हे राजेन्द्र ! स्पर्श, जीभ, नाक, आँख और कान ये पाँच इन्द्रियाँ कही जाती हैं। कोमल स्पर्श से आनन्द और कठोर स्पर्श से दुःख, सुस्वादु भोजन से जिह्वा का आनन्द और कडुवे भोजन को थूंक देने की इच्छा, सुगन्ध से मन प्रसन्न और दुर्गन्ध से नाक बंद करने की इच्छा, सुन्दर वस्तु और प्राणी को देखने से मन प्रसन्न तथा असुन्दरता से दुःखी, मधुर संगीत से प्रसन्नता और कर्कश ध्वनि से विषाद आदि इन्द्रियों के विषय हैं। इन पाँचो इद्रियो को इष्ट विषय की प्राप्ति से आनन्द और अनिष्ट की प्राप्ति से द्वेष होता है।

इन्द्रियाँ दुर्जय क्यो हैं ? अब इस विषय का विवेचन कर रहा हूँ। ध्यान-पूर्वक सुनो और धारण करो। कितने ही मनुष्य इतने बलवान होते हैं कि लड़ाई में हजारों योद्धाओं से अकेले झझ लेते हैं और मदोन्मत्त हाथियों को भी वश में कर

लेते है, ऐसे बलवान पुरुषो को भी ये इन्द्रियाँ जीत लेती है। इन्द्र आदि महाशक्ति-वान प्राणी जो तीनो लोको को अपनी शक्ति से अगुली पर नचा सकते है, उन्हे भी इन्द्रियाँ क्षणभर मे अपने वश मे कर लेती है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे बडे देव न केवल इन्द्रियो के वशीभूत हो जाते है अपितु इनके किंकर बन जाते है। सर्व शास्त्रो मे प्रवीण और परमार्थ के जानकार व्यक्तियो को भी जब इन्द्रिया अपने अधीन कर लेती है तब वे बालक की तरह मूर्खतापूर्ण व्यवहार करते है। ये इन्द्रियाँ * अपनी शक्ति-पराक्रम के सन्मुख देव, दानव और मानवो से भरपूर तीनो लोको को पामर तुल्य मानती है। हे राजन् ! इसीलिये मैने कहा कि इन्द्रियाँ दुर्जय हैं। इस प्रकार इन इन्द्रियो के गुणो का सामान्य रूप से मैने वर्णन किया है। [६१-६९]

तत्पश्चात् ज्ञान द्वारा मनीषी का वृत्तान्त जानकर दन्तपक्ति से निसृत आभा से मानो अधर रक्त हो गये हो ऐसे सूरि महाराज ने सब को ज्ञान देने के लिये कहा—हे राजन् ! सर्व इन्द्रियो को वश मे करने की तो बात ही क्या करूँ ? पर एक स्पर्शनेन्द्रिय ही ससार मे इतनी बलवान है कि अकेली इस इन्द्रिय को जीतना भी ससार के अनेक प्राणियो के लिये महा कठिन है, जब कि यह अकेली तीनो लोको के चल-अचल प्राणियो पर विजय प्राप्त कर सब को अपने वश मे रखती है। [७०-७२

स्पर्शनेन्द्रिय के जेता

शत्रुमर्दन—महाराज ! इस स्पर्शनेन्द्रिय को वश मे करने वाला कोई तो होगा या त्रैलोक्य मे उस पर विजय प्राप्त करने वाला कोई भी नही है ? [७३]

आचार्य—राजन् ! स्पर्शनेन्द्रिय को वश मे करने वाले पुरुष ससार मे हैं ही नही, ऐसा तो नही कह सकते। पर उसे वश मे करने वाले पुरुष विरले हो है, यह कह सकते हैं। विजेता विरले ही क्यो है ? इसका कारण मैं आपको बताता हूँ, आप सुने। [७४]

इस ससार मे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और उत्कृष्टतम चार प्रकार के पुरुष होते है। इन चारो प्रकार के पुरुषो का स्वरूप इस प्रकार है। [७५]

उत्कृष्टतम प्राणी का स्वरूप

इनमे से उत्कृष्टतम (उत्तमोत्तम) पुरुष का स्वरूप पहले बताता हूँ—अनादि काल से प्राणी का सम्बन्ध स्पर्शनादि इन्द्रियो के साथ चलता आ रहा है। वह प्रत्येक भव मे इन्द्रियो का लालन-पालन करता आ रहा है अतः उसे इन्द्रिया बहुत प्रिय लगती है। जब सर्वज्ञ देव द्वारा प्ररूपित आगमो के आधार से उत्कृष्टतम पुरुषो को इन्द्रियो का स्वरूप विशेषकर स्पर्शनेन्द्रिय का स्वरूप समझाया जाता है कि ये इन्द्रियाँ अत्यधिक दोष उत्पन्न करने वाली हैं तब वे उससे सन्तुष्ट हो जाते है अर्थात् उससे विरक्त हो जाते है। यही कारण है कि महात्मा पुरुषो ने इन्द्रियो का

* पृष्ठ २०१

तिरस्कार किया है। इतना जानने के पश्चात् गृहस्थावस्था में रहते हुए भी जिनागम के द्वारा वस्तु-स्वरूप को बराबर समझकर स्पर्शनेन्द्रिय की लोलुपता में किसी प्रकार के अनाचरणीय कार्य का आचरण नही करते। आगे चलकर ऐसे प्राणियो को जिनागम का विशेष ज्ञान होता है जिससे उन्हे शासन के प्रति स्थिरता प्राप्त होती है और वे स्पर्शनेन्द्रिय के साथ अपने जो थोड़े बहुत सम्बन्ध शेष रह गये होते है उन्हे भी त्याग कर, भागवती दीक्षा लेकर, मन को अत्यन्त निर्मल कर, सतोष भाव धारण कर, अत्यन्त नि.स्पृह बनकर कृतार्थ हो जाते है। तत्पश्चात् इस भयंकर ससार अटवी से विरक्त होकर, पाप रहित होकर, मन मे महोसत्त्व को धारण कर स्पर्शनेन्द्रिय के जो प्रतिकूल हो उसे स्वीकार करते है, किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल किसी भी कार्य का सेवन नही करते। वे भूमि पर सोते हैं, कोमल शय्या का त्याग करते है, अपने सिर और दाढी मू छ के बालो का लु चन करते है। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय के प्रतिकूल अनेक शारीरिक कष्टो को वे प्रसन्नता से वरण करते है और स्पर्श सुख की किंचित् भी इच्छा नही रखते जिससे उन्हे क्लेशजन्य किसी भी प्रकार की आकुलता नही होती। इस प्रकार समग्र कर्मों से होने वाले क्लेशो का नाश कर, स्पर्शनेन्द्रिय पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर अन्त में वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। हे राजन्! ऐसे प्राणियो को विचक्षण पुरुष उत्कृष्टतम वर्ग के मनुष्य कहते है और जो प्राणी इस प्रकार की प्रवृत्ति करते हैं वे महा भाग्यशाली होते है। पर, यह सच है कि ऐसे उत्कृष्टतम वर्ग के प्राणी इस ससार मे विरले ही होते हैं।
[७६-८४]

मनीषी की विचारणा

आचार्य श्री प्रबोधनरति के ऐसे वचन सुनकर विशुद्धचेता मनीषी ने अपने मन मे सोचा कि, अहो! आचार्य भगवान् ने स्पर्शनेन्द्रिय का जैसा स्वरूप अभी बतया और कहा कि इस लोक मे यह दुर्दमनीय है, ठीक ❀ ऐसा ही स्पर्शन का स्वरूप बोध और प्रभाव ने मुझे पहले बताया था। उन्होने कहा था कि, यह महाबलशाली स्पर्शन अन्तरग नगर का निवासी योद्धा है। इससे लगता है कि स्पर्शनेन्द्रिय ही स्पर्शन के नाम से पुरुष के रूप में हम सब को ठग रही है, अन्यथा ऐसा कैसे हो सकता है? आचार्य ने जिस उत्कृष्टतम पुरुष का वर्णन किया है, वैसा ही वर्णन स्पर्शन ने भवजन्तु के विषय मे मेरे समक्ष किया था। उस समय स्पर्शन ने यह भी कहा था कि सदागम के प्रभाव से उसने मुझे छिटक दिया था और सन्तोप के सहयोग से निर्वृत्ति नगरी को चला गया था। बोध और प्रभाव ने जो वर्णन पहले किया था वह अभी आचार्य श्री द्वारा किये गये वर्णन से मिलता है, जिससे इसका रहस्य समझ मे आ जाता है; अतएव इस सम्बन्ध में मुझे किसी प्रकार का सदेह नही रहा। अन्य तीन प्रकार के पुरुषो का वर्णन सुनने से मुझे सारा रहस्य

❀ पृष्ठ २०२

समझ में आ जायगा। ये आचार्य श्री अपनी विशाल ज्ञान दृष्टि से चराचर जगत के सर्व भावों को जानते हैं और वे सर्व प्रकार की शंकाओं का समाधान करने में भी समर्थ हैं। [८५-९२]

मध्यमबुद्धि के विचार

विस्मित दृष्टि से मनन पूर्वक मनीषी जब उपरोक्त विचार कर रहा था तब मध्यमबुद्धि ने उसकी ओर चित्त को केन्द्रित कर उससे पूछा—भाई मनीषी! लगता है तू अपने मन में कुछ गहन विचार कर रहा है। क्या तुझे कोई नवीन तत्त्व मिला है ?। [९३-९४]

मनीषी—हे भाई! ये महात्मा मुनि महाराज स्पष्ट शब्दों में सब बात करते हैं, फिर भी क्या तुझे तत्त्व की बात समझ में नहीं आई ? मुझे तो निःसन्देह स्पर्शन ऐसा ही लग रहा है जैसा इन महात्मा ने अभी-अभी स्पर्शनेन्द्रिय का वर्णन किया है। [९५-९६]

यह सुनकर मध्यमबुद्धि को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—स्पर्शन और स्पर्शनेन्द्रिय दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं ? मनीषी ने उत्तर में अपने मन में जो कारण था वह कह सुनाया और भवजन्तु का स्पर्शन के साथ भूतपूर्व मित्रता के सम्बन्ध का उदाहरण देकर स्पर्शन और स्पर्शनेन्द्रिय की समानता को स्पष्टतः सिद्ध किया। [९७]

बाल के तुच्छ विचार

उस समय बेचारा बाल तो पापकर्मों की प्रबलता के कारण यों ही चारों तरफ देख रहा था। गुरु महाराज के हितकारक उपदेश के प्रति वह पूर्णतः अनादर भाव प्रदर्शित कर रहा था।

उस समय आचार्य श्री के मुख-कमल से निकली अमृतवाणी का पान करती विशालाक्षी मदनकन्दली रानी भी वहीं राजा के पास बैठी थी, जिस पर बाल की पाप-दृष्टि गई। पापी बाल सोचने लगा—'अहा! मेरे हृदय में निवास करने वाली मेरी हृदयवल्लभा मदनकन्दली भी यहाँ आई है! अहा! स्वर्ण कांति प्रभायुक्त इसका शरीर देखने मात्र से इसकी सम्पूर्ण कोमलता/मृदुता प्रकट हो जाती है। इसके दोनों पैरों के भीतर की शिराएँ (नाड़ियां) दिखाई नहीं देतीं, जो कछुए की पीठ जैसी उन्नत हैं और सर्व प्रकार से श्रेष्ठ हैं वे रक्त कमल जैसे दिखाई देते हैं। इस मदनकन्दली की दोनों जंघायें स्व-सौन्दर्य से कामदेव के मन्दिर के तोरण का आकार धारण करती हुई शोभायमान हो रही हैं। इस सुन्दर स्त्री के नितम्ब पर पहनी हुई मेखला (कंदोरे) से ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव रूपी हाथी बंधा हुआ हो और इसकी ओर दृष्टिपात करने वाले को अमृत पान करा रही हो। इस स्त्री की सुन्दर कटि (कमर) ऊपर के बोझ से कृशीभूत, त्रिवली से

शोभित रोमराजी को धारण करती हुई सुन्दरतम दिखाई देती है। ❀ सत्कामरस से भरपूर वापिका जैसी इस की नाभि मनोहर और सज्जन पुरुषो के हृदय के समान गम्भीर लगती है। इसके पयोधर कठोर, गोल, पुष्ट, कलशाकार, उन्नत, विशाल और अति सुन्दर है। इसकी बाहुलताएँ (भुजाएँ) सुकुमार, मनोहर और महान पुण्य सचय से प्राप्त हो सके ऐसी रमणीय है। सुन्दर-रूपधारक इस सुन्दरी ने हाथो की शोभा से रक्ताशोक के नवीन और मनोरम रक्त पल्लवों को भी जीत लिया हो ऐसा मै समझता हूँ। इसकी गोलाकार गर्दन पर आकर्षक तीन रेखाये शोभित हो रही हैं, इन रेखाओ को मानो विधाता ने त्रिभुवन विजेता के रूप मे अंकित की हो। इसके कोमल अधर प्रवाल के समान शोभित हो रहे है। मृदु और निर्मल कपोलो से निसृत दीप्ति से यह शोभायमान हो रही है। इसके मुख में कुन्दपुष्प की कलियो के समान दन्तपक्ति विलास करती हुई ज्योत्स्ना का पुंज हो ऐसी शोभायमान हो रही है और ऐसा लगता है कि इसके जैसी दन्तपक्ति तीन भुवन मे किसी की भी न हो! इसकी विशाल आखे किंचित् श्वेत, किञ्चित् कृष्ण लालरेखा से शोभित और सूक्ष्म पक्ष्मल (भापणो) युक्त होने से आनन्द को बढाती है। इसकी नासिका का अग्रभाग उन्नत है। इसकी भ्रूलता लम्बी और सुकोमल बालो वाली है। इसका कपाल अलकावलो (जुल्फो) से आकर्षक लग रहा है। इसके कानो की रचना करके विधाता को भो मन मे अभिमान हुआ होगा कि मैंने इसके शरीर के रूप और गुण के अनुरूप ही कानो का निर्माण किया है। इस का सुगन्धित तेल से स्निग्ध कुटिल केशपाश (जूडा) अत्यधिक आकर्षक लगता है। इस केशपाश मे खचित मालती पुष्पो की सुगन्ध से आकर्षित होकर चारो ओर भौरे (भ्रमर) मडरा कर इस की शोभा को द्विगुणित कर रहे है। कामदेव को जाग्रत करने वाले उसके कर्णप्रिय मधुर स्वर को सुनकर कोयल भी लज्जित हो जाती है और समझती है कि इसके सम्मुख मेरा स्वर विस्वर हो गया है। ससार के सारभूत श्रेष्ठ पुद्गलो को चुन-चुन कर ब्रह्मा ने इस रमणी के रूप-लावण्य की रचना को हो, ऐसा स्पष्टत. लगता है, अन्यथा ऐसे सौन्दर्य और लावण्य का निर्माण हो ही नही सकता। जैसा इसका रूप सुन्दर है वैसा ही इसका स्पर्श भी कोमल होना चाहिये, इसमे क्या सदेह है? अमृत के कुण्ड मे थोडी भी कडुहाअट कैसे हो सकती है? यह अति चपल नयनवाली नजर चुराकर स्निग्ध दृष्टि से बार-बार मेरी तरफ देख रही है, इससे लगता है कि वह भी मुझे चाहती है।' ऐसे विपरीत विचारो से बाल का मन आकुल-व्याकुल हो गया और भविष्य मे इस सुन्दरी के ससर्ग से प्राप्त होने वाले सुख की कल्पना मे उसका मूढ मन खो गया। [९८-१२१]

उत्कृष्ट प्राणी का स्वरूप

सूरि महाराज ने अपना उपदेश आगे चलाया—राजेन्द्र! मैने तुम्हे

❀ पृष्ठ २०३

सर्वोत्कृष्ट पुरुषो का स्वरूप बताया वह आप समझ गये होगे ! अब मै उत्तम पुरुषों के स्वरूप का वर्णन करता हूं। [१२२]

सूरि महाराज के ऐसा कहने पर मनीषी ने सोचा कि यह तो बहुत अच्छा हुआ। आचार्य श्री यह भली प्रकार समझायेंगे। मध्यमबुद्धि को भी उसने कहा कि आचार्य श्री के उपदेश को ध्यान पूर्वक सुनना और समझना। [१२३]

आचार्य ने अपने प्रवचन में कहा—मनुष्य-जन्म प्राप्त कर जो प्राणी स्पर्शनेन्द्रिय को शत्रु रूप से पहचान लेते हैं वे उत्कृष्ट/उत्तम प्राणी है।* इस वर्ग के प्राणियो का भविष्य उत्तम होने से वे अपने मन मे निर्णय कर लेते हैं कि स्पर्शनेन्द्रिय प्राणियो के लिये किंचित् भी लाभकारी नही है। फिर जब वे बोध (ज्ञान) और प्रभाव (धर्मोपदेश) द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय के मूल स्वरूप की जांच करते हैं तब उन्हें स्पष्टत: पता चल जाता है कि वास्तव मे यह इन्द्रिय कैसी है ? जब उन्हें इस इन्द्रिय की यथार्थता ज्ञात हो जाती है, तब वे समझ जाते है कि यह इन्द्रिय तो निरन्तर प्राणियों को ठगने का कार्य ही करती है। तब वे सर्वदा उसके प्रति शंकाशील रहते हैं, उससे सचेत रहते है और कभी उसका विश्वास नही करते। इतना ही नही, वे विगतस्पृह होकर अपनी इच्छा पर अंकुश रखते है और स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल कोई भी आचरण नही करते, इस प्रकार वे विचक्षण तज्जनित दोषो का संचय नही करते। शरीर धर्म करने का साधन है, इसलिये उसे टिकाने के लिये आवश्यक कार्य वे स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल भले ही करते हैं पर उसमें उनकी रचमात्र भी आसक्ति नहीं होती, अत: वे सुख को प्राप्त करते है। इस प्रकार के मनुष्य इस लोक मे निर्मल यश प्राप्त करते है और उनका आशय निष्कलंक और स्वच्छ होने से परभव मे भी वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं तथा स्वयं क्रमश मोक्ष मार्ग के निकट पहुंच जाते है। इस विषय में उनको प्रेरित करने वाले सद्गुरु तो नाम मात्र के लिये कारणभूत होते हैं, पर वास्तव मे तो वे मोक्षमार्ग के प्रति स्वयं ही प्रयाण करते है। ऐसे प्राणी स्वयं तो मोक्ष की ओर प्रगति करते ही है पर दूसरों को भी सन्मार्ग पर चलने के लिये आकर्षित करते है। वे अपनी वाणी से दूसरो को भी बता देते है कि आत्मा का हित करने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह यही है। यद्यपि कई अज्ञानी प्राणी उनकी वाणी सुनकर भी सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति नही करते तब वे उत्तम प्राणी उनके प्रति उपेक्षा की दृष्टि अपनाते है और अपने विशुद्ध मार्ग मे निराकुलता के साथ बढते रहते है। ऐसे महाबुद्धिशाली उत्कृष्ट मनुष्य स्वभाव से ही देवपूजा, आचार्य का सन्मान, तपस्वी की सेवा और श्रेष्ठतम व्यवहार वाले महापुरुषो की पूजा-सत्कार मे दत्तचित्त रहते हैं। [१२२-१३४]

आचार्य प्रबोधनरति इस प्रकार उपदेश कर रहे थे तभी मनीषी के मन मे विचार उठा कि आचार्य महाराज ने उत्कृष्ट पुरुष के व्यवहार की जो श्लाघा

---

* पृष्ठ २०४

की है, जैसा स्वरुप का वर्णन किया है वैसा मैंने स्वय अनुभव किया हो ऐसा लग रहा है। उसी समय मध्यमबुद्धि ने भी विचार किया कि आचार्य महाराज द्वारा वर्णित उत्तम पुरुष के सभी गुण मनीषी मे दिखाई देते है। [१३५-१३६]

मध्यम प्राणी का स्वरूप

राजा शत्रुमर्दन ! मैंने उत्कृष्टतम और उत्कृष्ट पुरुषो का वर्णन किया। अब मध्यम पुरुष का वर्णन कर रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुने।

जो लोग मनुष्य जन्म को प्राप्त कर स्पर्शनेन्द्रिय का स्वरूप मध्यमबुद्धि (सामान्य दृष्टि) से समझ पाते है वे मध्यम प्राणी है। इस वर्ग के प्राणी स्पर्शनेन्द्रिय को प्राप्त कर उसके सुख मे आसक्त हो जाते है, पर जब कोई विद्वान् पुरुष उन्हे अनुशासित करते है (उस इन्द्रिय का स्वरूप और उसके भोग के फल के सम्बन्ध मे उपदेश देते है) तब उनका मन चचल हो उठता है। वे डावाडोल बुद्धि वाले मन मे विचार करते है कि इस विचित्र ससार मे हम क्या करे ? एक तरफ देखे तो अनेक प्राणी इन्द्रिय-भोगो की प्रशसा करते है और अधिकाश प्राणी आनन्द पूर्वक उसका सेवन करते हैं, तो दूसरी तरफ कुछ प्रशान्त आत्मा वाले प्राणी सर्व प्रकार की इच्छाओ का त्याग कर भोग की निन्दा करते हैं। तब इस उलझन भरे ससार मे मुझ जैसो को कौनसा मार्ग स्वीकार करना चाहिये ? कुछ समझ मे नही आता। ऐसे विचारो से वे शकालु बन जाते है और दोनो में से किसी एक मार्ग को ग्रहण करने का निर्णय नही कर पाते। ※ जब उन्हे कुछ नही सूझता तब वे ऐसे ही समय व्यतीत करते है और सोचते है कि किसी एक पक्ष को स्वीकार करने से पूर्व गुणावगुण परीक्षण करने के लिये कालक्षेप करना ही योग्य है। मनुष्य के जैसे कर्म होते है वैसे ही उसकी बुद्धि बनती है। विद्वान् लोगो ने कहा ही है कि 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मो के अनुसार ही बुद्धि भी उत्पन्न होती है। फलत चित्त की डावाडोल अवस्था मे वे स्पर्शनेन्द्रिय को सुख का कारण तो मानते हैं और उसके अनुकूल आचरण भी करते है किन्तु उसमे अधिक आसक्त नही होते। अतएव स्पर्शनेन्द्रिय के वशवर्ती होकर वे कोई लोकविरुद्ध आचरण नही करते, जिससे उन्हे अनर्थकारी दुःख भी नही होता। ज्ञानी पुरुष उन्हें जो उपदेश देते हैं उसे वे भली प्रकार सुनते और समझते है, किन्तु उन्होंने पहले कभी दु.ख देखा ही नही इसलिये वे उस उपदेश के अनुसार आचरण नही कर पाते। कभी-कभी वे अज्ञानी प्राणियो के स्नेह मे पड़कर उनसे मित्रता कर बैठते है, इसके फलस्वरूप कभी-कभी वे भयकर दु.ख भी प्राप्त करते है और वे लोक-निंदा को भी प्राप्त होते हैं; क्योकि पापी मनुष्यो की सगति समस्त प्रकार के अनर्थो को उत्पन्न करने वाली होती है। जब वे विद्वान् पुरुषो द्वारा ज्ञान प्राप्त कर यह समझ जाते है कि अपना वास्तविक हित किसमे है, तब उनके आदेशानुसार प्रवृत्ति भी

※ पृष्ठ २०५

करते हैं, जिससे उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, वे परमार्थतः सुखी होते हैं और महापुरुषों की संगति से उत्तम मार्ग को प्राप्त करते हैं। फिर वे भी विज्ञ पुरुषों की भांति गुरु, देव और तपस्वियों का अर्चन-पूजन, वन्दन, सत्कार आदि बहुमान पूर्वक करते हैं। [१३७-१५३]

आचार्य महाराज का उपदेश सुनकर मध्यमबुद्धि ने विचार किया कि आचार्यश्री ने अपने ज्ञान और अनुभव से मध्यम पुरुषों के जो गुणावगुण लक्षण बताये हैं, वे सब मुझे स्वयं अनुभवसिद्ध हैं, मेरे में घटित हैं। मेरे मन की स्थिति वस्तुतः इन महापुरुष द्वारा वर्णित स्थिति जैसी ही है। मनीषी ने भी अपने मन में यही सोचा कि आचार्यश्री ने स्पष्टरूप से मध्यम-पुरुषों के जो लक्षण बताये है, वे सभी मेरे भाई मध्यमबुद्धि में विद्यमान है। [१५४-१५५]

सूरि महाराज ने अपना उपदेश आगे चलाया :—

जघन्य प्राणी का स्वरूप

हे भव्य प्राणियों ! मैंने तुम्हें उपरोक्त मध्यम वर्ग के प्राणियों का स्वरूप बतलाया वह तुम्हें समझ में आ गया होगा। अब मैं तुम्हें जघन्य प्राणियों का स्वरूप बतलाता हूँ। [१५६]

मनुष्य-जन्म पाकर जो प्राणी स्पर्शनेन्द्रिय को अपना परम मित्र समझते है, जो स्वयं यह नही जानते कि यह हमारी बड़ी से बड़ी शत्रु है तथा जो हितोपदेशक विज्ञ पुरुषों पर क्रोधित होते है, ऐसे प्राणियों को जघन्य वर्ग के समझना चाहिये। इस वर्ग के प्राणियों को स्पर्शनेन्द्रिय का सुयोग मिलना गजे को खुजली होने के समान समझना चाहिये। परमार्थतः आत्मा को हानि पहुँचाने वाली स्पर्शनेन्द्रिय के लेशमात्र सुख पर जब ऐसे प्राणी एक बार आसक्त हो जाते हैं तब उन्हे भविष्य का विचार नही रहता। उस पर गाढासक्ति हो जाने के कारण उनकी विपरीत मति हो जाती है और वे स्पर्शनेन्द्रिय को ही अपना स्वर्ग, परमार्थ और सुख का सागर समझ बैठते है। * ऐसे विचारों से उनके हृदय में चारो तरफ अन्धकार फैलता है और विवेक का शोषण करने वाली राग-वृत्ति चित्त मे बढ जाती है। अर्थात् वे विवेक-शून्य हो जाते हैं और अन्धकार मे भटकने लगते हैं। उनके हृदय मे सद्भावो का प्रवेश न होने से वे सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते है। उनकी बुद्धि भी अन्धकारग्रस्त हो जाती है। फलस्वरूप उनकी बुद्धि इतनी विकृत हो जाती है कि वे अनार्य, अकरणीय एवं निन्द्य कार्यो मे प्रवृत्त हो जाते हैं। उस समय उन्हे अकार्य करने से रोक भी कौन सकता है? यदि कोई उनसे कहे कि इन लोक और धर्म विरुद्ध कार्यो से अनेक लोग तुम्हारी निन्दा करते है अतः तुम्हे इस प्रकार के अधम कार्य नही करने चाहिये, तो वे उसके भी शत्रु बन जाते है। ऐसे पापी प्राणी चन्द्र जैसे अपने निर्मल कुल को कलंकित करते है और अपने अधम

---

* पृष्ठ २०६

चरित्र के कारण हंसी के पात्र बनते हैं। वे इतने विषयान्ध बन जाते है कि मर्यादा-हीन होकर अगम्य स्त्रियों के साथ भी विषय-सेवन की इच्छा करते हैं, जिससे वे लोगो की दृष्टि में आक की रुई से भी अधिक तुच्छ बन जाते है। स्त्रियों के साथ विषद-संभोग और ऐसे ही अन्य अधम कार्य उनके हृदय में कदाग्रह और दुराग्रह के कारण ऐसी जड़ जमा लेते हैं कि जिससे उन्हें जो दु.ख होते हैं और संसार में उनकी विडम्बना और निन्दा होती है उसका वर्णन वाणी द्वारा करना अशक्य है। सक्षेप में, ससार में जितनी विडम्बनाएँ/पीडाएँ शक्य हैं वे सब ऐसे जघन्य प्राणी को भोगनी पड़ती है। ऐसे प्राणी अपने स्वभाव से ही गुरु, देव और तपस्वियो के शत्रु होते है, गर्हित पापाचरण करने वाले और अत्यन्त निर्भागी तथा गुणो को दूषित करने वाले होते हैं। वे महामोह के वशवर्ती होते हैं, अतः यदि कोई उनके हित के लिये उन्हें सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं तो उसे नही सुनते और कभी सुन भी लेते हैं तो उसे स्वीकार नहीं करते। [१५७–१७०]

आचार्यश्री का उपदेश सुनकर मनीषी और मध्यमबुद्धि अपने मन में विचार करने लगे कि आचार्य ने स्पर्शनेन्द्रिय-लुब्ध जघन्य वर्ग के जीवों का जो विशदरूप कहा है वह सचमुच बाल में अक्षरश. सत्य दिखाई देता है। आचार्य के वचन सत्य हैं, क्योंकि उन्हे ज्ञानदृष्टि से जो दिखाई नही देता उसके बारे में वे कभी नहीं बोलते। [१७१–१७३]

बाल ने तो आचार्यश्री के उपदेश की तरफ लेशमात्र भी ध्यान नही रखा, वह पापी तो रानी मदनकन्दली की तरफ ही एकटक देख रहा था और उसके साथ विषय-भोग करने के विचार मे ही लुब्ध हो रहा था। [१७४]

सूरि महाराज ने अपने उपदेश का उपसहार करते हुए कहा—राजन्! मैंने जघन्य प्राणियों का जो वर्णन किया वह तुम्हे समझ में आगया होगा। विशेषता यह है कि संसार में इस वर्ग के प्राणी ही सबसे अधिक होते हैं, पहले तीन वर्ग के प्राणी तो त्रैलोक्य में भी बहुत थोड़े होते हैं। जैसा कि पहले मैंने आपके सन्मुख प्रतिपादन किया है तदनुसार मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने वाले प्राणी त्रैलोक्य में भी बहुत ही विरले होते हैं। [१७५–७७]*

शत्रुमर्दन—जीव धर्म का आचरण क्यों नही कर सकता? इस प्रश्न का उत्तर देकर आपने मेरी शंका का समाधान किया जिसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूं। [१७८]

चार प्रकार के प्राणियों का विवेचन

इस अवसर पर सुबुद्धि मन्त्री ने कहा-महाराज! आपने अभी जो पश्चानुपूर्वी से उत्कृष्टतम, उत्तम, मध्यम, जघन्य चार प्रकार के प्राणियो के स्वरूपो

---

* पृष्ठ २०७

का प्रतिपादन किया, क्या वे अपने स्वभाव से ही ऐसे होते है या किसी और कारण से वे भिन्न-भिन्न प्रकार के बन जाते है ? कृपा कर स्पष्ट करे।

आचार्य—महामन्त्रिन्! प्राणियो का भिन्न-भिन्न प्रकार का स्वरूप स्वाभाविक नही है वह विभिन्न कारणो से बन जाता है। इनमे से उत्कृष्टतम और उत्तम प्राणियो मे वस्तुत. किसी भी प्रकार का भेद नही है, केवल इतना ही अन्तर है कि उत्कृष्टतम प्राणियो ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है जब कि उत्तम प्राणी मनुष्य भव को पाकर, ससार के स्वरूप को समझकर, मोक्षमार्ग को पहचान कर उस ओर आचरण करते हैं और कर्मजाल को काटकर, स्पर्शनेन्द्रिय का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते है। उस अवस्था में उत्कृष्ट भी उत्कृष्टतम बन जाते हैं। फिर वे मोक्ष मे सिद्ध-रूप मे अवस्थित हो जाते है। अवस्था की दृष्टि से उत्कृष्टतम विभाग के प्राणियो का कोई जनक नही होता, अर्थात् इन प्राणियो के कोई माता-पिता नही होते। शेष उत्तम, मध्यम, और जघन्य प्राणी ससार मे रहते हैं और स्वकीय भिन्न-भिन्न विचित्र कर्मों के फल स्वरूप वैसे-वैसे बनते हैं, अतः कर्मविलास राजा उन्हे उत्पन्न करने वाला उनका पिता माना जाता है।

कर्म तीन प्रकार के होते है—शुभ, अशुभ और सामान्य। इसमे जो कर्मपद्धति शुभ होने से सुन्दर लगे वह शुभसुन्दरी रूपी माता उत्तम प्राणियो को जन्म देने वाली मानी जाती है। जो कर्मपद्धति अशुभ होने से असुन्दर लगे वह अकुशलमाला रूपी माता जघन्य प्राणियो को जन्म देने वाली मानी जाती है। जो कर्मपद्धति शुभ-अशुभ मिश्रित होने से सामान्य लगे वह सामान्यरूपा माता मध्यम वर्ग के प्राणियो को जन्म देने वाली मानी जाती है।

उपरोक्त वर्णन सुनकर मनीषी ने विचार किया कि. अहो! इन आचार्यश्री ने तो उत्तम, मध्यम और जघन्य पुरुषो को न केवल गुणो से ही हमारे समान बताया है अपितु चरित्र से भी हमारे समान बताया है, जिससे आचार्य की बात हम तीनो भाइयो पर लागू होती है। इन महात्मा ने माता-पिता सम्बन्धी जो वर्णन किया है वह भी हम पर लागू होता है, अतः तीनो वर्गों के पुरुष हम तीनो भाई हैं यह तो निश्चित ही है।

स्पर्शन ने पहले मुझे कहा था कि भवजन्तु जब उसका तिरस्कार कर निर्वृत्ति नगर में चला गया तब उसके कोई माता-पिता हो ऐसा उसने कुछ नही कहा था। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि भवजन्तु उत्कृष्टतम विभाग का पुरुष था। हम तीनो भाइयो के पिता कर्मविलास राजा है और आचार्य निर्दिष्ट हमारी माताएँ भी अलग-अलग है, अतएव यह ज्वलन्त सत्य है कि * बाल जघन्यवर्ग का, मध्यमबुद्धि मध्यमवर्ग का और मैं स्वयं उत्तम वर्ग का पुरुष हूँ।

मनीषी जब उपरोक्त विचार कर रहा था तभी सुबुद्धि मन्त्री ने आचार्यदेव से दूसरा प्रश्न किया—भगवन्! आपने जिन चार प्रकार के प्राणियो का वर्णन

---

* पृष्ठ २०८

किया है, क्या वे सर्वदा ऐसे ही रहेगे या कभी उनमे परिवर्तन भी सम्भव है ? क्या एक वर्ग के प्राणी किसी दूसरे वर्ग मे परिवर्तित हो सकते है ?

आचार्य—महामन्त्रिन् ! उत्कृष्टतम विभाग के प्राणियो का स्वरूप तो स्थित है, स्थिर है, वे कभी दूसरी स्थिति या स्वरूप को प्राप्त नही होते । अन्य तीन वर्गो का स्वरूप अनित्य है, क्योकि उन्हे कर्मविलास राजा के अधीन रहना पडता है । यह कर्मविलास राजा विषम (अव्यवस्थित) प्रकृति का है, अत: कभी-कभी उत्कृष्ट प्राणियो को भी मध्यम या जघन्य वर्ग का बना देता है । कभी मध्यम वर्ग के प्राणी को भी उत्तम बना देता है और कभी जघन्य बना देता है । वैसे ही जघन्य प्राणी को कभी मध्यम और कभी उत्तम बना देता है । अत· जो प्राणी कर्मविलास राजा के पजे से छूट चुके है, उन्ही की स्थिति एक समान रहती है, अन्य लोगो की स्थिति तो परिवर्तित होती रहती है ।

मनीषी सोचने लगा कि यह सारा वृत्तान्त हम तीनों भाइयों और भवजन्तु के बारे मे अक्षरश: सत्य घटित होता है । इसका कारण यह है कि हमारे पिता कर्मविलास बहुत ही विषम प्रकृति वाले है । उन्होने एक समय कहा था कि जब वे प्रतिकूल होते हैं तब प्राणी की वही गति होती है जो बाल की हुई है । अपना पुत्र भी यदि विपरीत मार्ग पर चले तो वे उसे भी दु खो की परम्परा प्रदान कर योग्य दण्ड देते है तब वे अन्य प्राणियो पर तो ममत्व रख ही कैसे सकते है ?

सुबुद्धि—भगवन् ! आपने जो उत्कृष्टतम प्राणियो का वर्णन किया वे किसके प्रभाव से वैसे बनते है ?

आचार्य—इस वर्ग के प्राणी किसी दूसरे के प्रभाव से वैसे नही बनते । वे अपने वीर्य से अपनी शक्ति से ही वैसे बनते है ।

सुबुद्धि—इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न करने का उपाय क्या है ?

आचार्य—श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित भाव-दीक्षा को अगीकार करना और उसे भाव-पूर्वक निभाना ही इस प्रकार की शक्ति को प्राप्त करने का उपाय है ।

मनीषी ने विचार किया की यदि ऐसा ही है तब तो मुझे भी उत्कृष्टतम विभाग का प्राणी बनना चाहिये । ससार की विडबना और पीडा क्यो सहन की जाय ? इसका क्या लाभ ? अत· मुझे भी भाव-दीक्षा ले लेनी चाहिये । इस प्रकार सोचते हुए मनीषी के मन मे दीक्षा लेने के विचार दृढ हुए । आचार्यश्री और सुबुद्धि मंत्री की बात-चीत सुनकर मध्यमबुद्धि को भी दीक्षा ग्रहण करने का विचार उत्पन्न हुआ, पर भाव-दीक्षा लेकर मैं नैष्ठिक अनुष्ठान सम्यक् प्रकार से कर सकूंगा या नही ? यही वह सोचने लगा ।

सुबुद्धि—भगवन्! आपने पहले जो गृहस्थ-धर्म बताया वह इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न कर सकता है या नहीं ?

आचार्य—परम्परा से गृहस्थ-धर्म भी इस प्रकार का वीर्य उत्पन्न करने का कारण बन सकता है, परन्तु प्रत्यक्ष कारण नहीं बन सकता; क्योंकि गृहस्थ-धर्म मध्यम वर्ग के प्राणियो के योग्य है। इस धर्म को भली प्रकार पालन करने से मध्यम वर्ग का प्राणी शनै. शनै. उत्कृष्ट वर्ग मे आ जाता है और परम्परा से वह उत्कृष्टतम भी बन सकता है। अत गृहस्थाश्रम को परम्परा से उत्कृष्टतम बनने का कारण माना गया है।* वैसे समस्त प्रकार के क्लेशो का नाश करने वाली और सरलता पूर्वक ससार का विच्छेद करने वाली तो पवित्रतम भागवती दीक्षा ही है, जो कि अतिदुर्लभ है। किन्तु मन्त्रीश्वर! गृहस्थाश्रम भी ससार को बहुत कुछ सक्षिप्त कर सकता है, अतः इस ससार समुद्र मे उसे भी अति दुर्लभ समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि भागवती दीक्षा प्राणी को अतिशय वीर्य द्वारा उसी भव मे उत्कृष्टतम श्रेणी मे ले जाती है, जब कि गृहस्थाश्रम मे वह स्थिति धीरे-धीरे अनेक भवों मे प्राप्त होती है।

यह सुनकर मध्यमबुद्धि सोचने लगा कि अभी तो मुझे तीर्थंकर महाराज द्वारा प्ररूपित गृहस्थ-धर्म का ही भली प्रकार अनुष्ठान करना चाहिये।

१३. बाल के अधमाचरण पर विचार

आचार्यश्री के उपदेशामृतसरिता-प्रवाह के समय बाल अकुशलमाला और स्पर्शन के शरीराधिष्ठित होने से उसने उपदेश का एक अक्षर भी ध्यान देकर नहीं सुना। उसकी चित्तवृत्ति अधिकाधिक अस्थिर/चचल होती गई और उसके मन मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प होने लगे। वह तो रानी मदनकन्दली को अपलक दृष्टि से देख रहा था, और सोच रहा था, अहा! कैसा सुन्दर मनोहर रूप है! कैसा सौकुमार्य है! ऐसा लगता है मदनकन्दली रानी भी मेरी ओर आकृष्ट है, उसकी मेरे प्रति आसक्ति निश्चित ही दिखाई दे रही है क्योकि वह बार-बार तिरछी नजर से मेरी तरफ देख रही है। सचमुच इस गौरागना के कोमल अगो के स्पर्शजन्य सुखामृत-सेचन के अनुभव से अब मेरा जन्म सफल होगा ऐसा मुझे आभास हो रहा है। इस प्रकार वितर्क-परम्परा के जाल मे आकुलित चित्त वाला बाल अपने आत्म-स्वरूप को खो बैठा, शेष व्यापारो से शून्य हो गया और उसके मन मे भी किसी प्रकार से मदनकन्दली के साथ विषय-सुख भोगने की उत्कट इच्छा जाग्रत हुई।

---

* पृष्ठ २०६

मनुष्य जब अधर्म पर उतर आता है तब अन्धे की भाति कार्य-अकार्य का कुछ भी विचार नही करता, जैसे उसे भूत लगा हो वैसे वह अन्धकार मे कूद पडता है। वैसे ही हजारो लोगों, राजा, आचार्य और बडे भाइयो के देखते हुए, जनसमुदाय को उपदेश श्रवण में विघ्न डालते हुए वह बाल एकाएक मदनकन्दली पर मन और आँखो को निश्चल कर लोगो को ठोकरे मारते हुए मदनकन्दली की तरफ दौड़ा। उसकी इस कुचेष्टा को देखकर उपस्थित जन-समुदाय मे से लोग चिल्लाने लगे, 'अरे! यह क्या ? यह कौन पापी है जो ऐसे पवित्र स्थान में ऐसा अधम आचरण कर रहा है ?' पर बाल उस कोलाहल की ओर ध्यान दिये बिना ही मदनकन्दली रानी के निकट पहुँच गया। 'यह कौन है ?' शीघ्रता से शत्रुमर्दन ने उसे देखा और उसकी विकारयुक्त दृष्टि से उसके नीच भावो को समझ गया तथा 'अरे यह तो वही अधम पापी बाल है' पहचान गया। राजा की आँखे क्रोध से लाल हो गई, मुखाकृति भयकर हो उठी और उसने जोर से उसे ललकारा। बाल पहले भी ऐसे अधम कार्यो से मरणान्तक कष्ट भुगत चुका था, जिससे वह अत्यन्त भयभीत हुआ, उसका कामज्वर उतरा. शरीर मे कुछ चेतना, मुख पर दीनता के भाव उभरे और वह उलटे मुँह भागा। पर, उसके जोड़ ढीले पड़ जाने से, शरीर शिथिल हो जाने से, दौड़ने का वेग टूट जाने से कापने लगा और वह थोड़ी दूर जाकर जमीन पर गिर पड़ा। उस समय स्पर्शन उसके शरीर से निकल कर आचार्यश्री के डर से दूर जाकर बैठ गया और उसकी प्रतीक्षा करने लगा। जन-समुदाय का कोलाहल कुछ शान्त हुआ। बाल के इस अधम आचरण से उसके दोनो भाई भी बहुत लज्जित हुए। राजा सोचने लगा कि, ऐसे निर्लज्ज अधम प्राणी पर क्या क्रोध करे ? ऐसा सोचकर राजा भी शान्त हो गया।

बाल के अधमाचरण पर विचारणा

शत्रुमर्दन राजा ने बाल के सम्बन्ध मे आचार्यश्री से पूछा—भगवन्! इस पुरुष का चरित्र तो बहुत ही अद्भुत लगता है, उस पर विचार करना भी अशक्य है। जिन्हे ससार के अनेक मनुष्यो के चरित्रों का अनुभव है, ऐसे विद्वानो को भी इस पुरुष के आचरण की सत्यता को मानने में आनाकानी हो ऐसा निकृष्ट आचरण इस पुरुष का है। इसने पूर्व काल मे कैसा आचरण किया और अभी उसके मन मे कैसे विचार चल रहे है, वह आपश्री तो निर्मल ❀ ज्ञान दृष्टि से प्रत्यक्ष जान सकते है, क्योंकि आप त्रैलोक्य मे होने वाले समस्त भावों को हथेली पर रखे आंवले की तरह देख सकते हैं। तथापि मुझे यह जानने का कौतुक है कि इसका पहले का आचरण तो कर्मवैचित्र्य के कारण सत्त्ववाले प्राणियो मे सम्भव है, पर अभी-अभी इसने जो कुछ किया वह तो प्रत्यक्ष सत्य होने पर भी इन्द्रजाल के समान विश्वास योग्य नही है। रागदि सर्पों का संहार करने वाले गरुड के समान आपके समक्ष भी अति अधम

❀ पृष्ठ २१०

प्राणी भी ऐसा आचरण कैसे कर सकते हैं ? ऐसा नीच कार्य करने का अध्यवसाय भी उनके मन मे कैसे पनप सकता है ?

आचार्य—राजन् ! इस सम्बन्ध मे कुछ भी आश्चर्यजनक नही है क्योकि उस बेचारे का उसमे कुछ भी दोष नही है ।

शत्रुमर्दन—तब किसका दोष है ?

आचार्य—बाल के शरीर मे से निकल कर उधर जो दूर बैठा है, उस पुरुष को देखा है ?

शत्रुमर्दन—हाँ, उसको देख रहा हूँ ।

आचार्य - उस दूर बैठे पुरुष का ही यह सब दोष है । बाल ने पहले जो आचरण किया वह उसी के वशीभूत होकर किया है । इस पुरुष के चक्कर मे एक बार फसकर जो उसके वशवर्ती हो जाता है उसके लिये ससार मे कोई ऐसा पाप नही जिसका वह आचरण न करता हो । इसके वशीभूत प्राणी की ऐसी ही पराधीन स्थिति हो जाती है । अतः बाल ने कुछ भी अनहोना विचित्र कार्य नही किया । उसका आचरण कल्पनातीत भी नही है, अतः आपका ऐसा सोचना व्यर्थ है, क्योकि उस दूर बैठे पुरुष की पराधीनता का यह अति साधारण परिणाम है ।

शत्रुमर्दन - भगवन् ! यदि ऐसा ही है तब आत्मा के लिये अनर्थकारी उस पुरुष को बाल अपने शरीर मे क्यो रहने देता है ?

आचार्य—बेचारा बाल तो यह जानता ही नही कि शरीर मे रहने वाला यह पुरुष इतना निकृष्ट और अधम है । यद्यपि वह उसका परम शत्रु है, तथापि वह उसके स्वभाव और मूलस्वरूप को नही जानता, इसलिये उसे अपने भाई जैसा मानता है और उसके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है ।

शत्रुमर्दन—ऐसी गलत मान्यता का कारण क्या है ?

आचार्य—इस बाल के शरीर मे उसकी माता अकुशलमाला ने योगशक्ति द्वारा प्रवेश किया है । वही इन सब बुरे विचारो की जननी है । हमने अभी स्पर्शनेन्द्रिय के स्वरूप का जो वर्णन किया कि वह अति दुर्जेय है, उसका मूर्तिमान् स्वरूप बाल का पापी मित्र यह स्पर्शन है जो अभी दूर जाकर बैठा हुआ है। हमने जो चार प्रकार के प्राणियो का वर्णन किया है उसमे से जघन्य वर्ग का प्राणी यह बाल है और अकुशलमाला (अशुभ कर्मो की शृखला) उसकी माता है, अतः इसके सम्बन्ध मे सब कुछ सम्भव हो सकता है ।

राजन् ! आपने पूछा कि आचार्यश्री के समक्ष ऐसे नीचे अध्यवसाय (विचार) कैसे उत्पन्न हो सकते है ? इस विषय मे भी आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नही

है, क्योकि कर्म दो प्रकार के होते है--सोपक्रम और निरुपक्रम । सोपक्रम कर्मों का क्षय एव क्षयोपशम महापुरुषों के सयोग से या ऐसे ही किसी अन्य क.रण से होता है, जबकि निरुपक्रम कर्मो का क्षय महापुरुषों के सयोग से भी नही हो सकता । अत: निरुपक्रम कर्मो के वशीभूत प्राणी महापुरुषो के समक्ष भी बुरे कार्य करे तो उसे कौन रोक सकता है ? देखो, अतिशय पुण्य-पु ज तीर्थंकर देव भी जब गंधहस्ती के समान पृथ्वीतल पर विचरण करते है तब क्षुद्र हाथियों के समान दुष्काल, उपद्रव, * लड़ाई महामारी, वैर आदि सौ योजन दूर भाग जाते है। तथापि ऐसे तीर्थंकर देवों के समक्ष भी निरुपक्रम कर्मजाल के वशीभूत होकर अधम प्राणी शान्त होकर नही बैठते, अपितु उन तीर्थंकर भगवन्तों के ऊपर भी क्षुद्र उपद्रव करने को तैयार हो जाते हैं, अर्थात् उपद्रव करते है । शास्त्रो मे भी भगवान् के कानो मे कीले ठोकने वाले ग्वाले और अनेक प्रकार के उपसर्ग/उपद्रव करने वाले सगम आदि पापकर्मियों की कथायें सुनते है । ऐसे पापी अपने पाप कर्म के आधिक्य से स्वयं भगवान् को भी महा उपसर्ग करते हैं । तीर्थंकरो के विचरण स्थान पर देवनिर्मित समवसरण के मध्य मे सिंहासन पर तीर्थंकर चतुर्मु ख के रूप में विराजमान होते है । उस समय उनकी मूर्ति के दर्शन मात्र से प्राणियों के राग-द्वेष नष्ट हो जाते है, कर्म के जाले टूट जाते है, वैर-सम्बन्ध शान्त हो जाते है, झूठे स्नेह-पाश कट जाते है और मिथ्या को सत्य समझने का भ्रम दूर हो जाता है । तदपि कुछ अभव्य और निरुपक्रम कर्मपुंज से आवृत एवं वशीभूत प्राणियों के अंत.करण मे विवेक का प्रसार नही हो सकता । फलतः भगवान् के समक्ष भी ऐसे प्राणियो को पूर्ववर्णित गुणो से उन्हे लेशमात्र का भी लाभ नही होता, प्रत्युत भगवान् के प्रति भी उनके हृदय मे अनेक प्रकार के कुवितर्क उत्पन्न होते हैं । वे सोचते है, 'अहो ! इस ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल तो अत्यद्भुत एव आश्चर्यकारी है ! अहो ! लोगो को ठगने की चतुराई तो देखो !! अरे ! लोगो की बुद्धि मारी गई है जो ऐसे इन्द्रजाल रचने मे कुशल, झूंठे और वाचाल मनुष्य से ठगे जाते हैं ।' इस प्रकार तोर्थंकर भगवान् के समक्ष और उनके निकट भी बुरा आचरण करने वाले प्राणी होते है । अत. हे राजन् ! इस बाल ने मेरे समक्ष जो दूषित आचरण किया और अधम कर्म करने का सोचा इसमें कुछ भी आश्चर्यकारक या अत्यद्भुत नही है । इस बाल के शरीर में अकुशलमाला निरुपक्रम रूप मे विद्यमान है और वह उसकी माता होने से उसके अति निकट भी है । अपनी माता से प्रेरित होकर यह अपने पापी मित्र स्पर्शन को साथ में रखता है, अत: ऐसा परिणाम आये इसमे कुछ भी आश्चर्य करने जैसा नही है । फलत: आपको विस्मय नही करना चाहिये ।

सुबुद्धि—भदन्त ! भगवत्प्ररूपित आगम आदि के श्रवण से जिन प्राणियो की बुद्धि निर्मल हो जाती है उनको इन दुष्कर्मजन्य कृत्यो मे लेशमात्र भी

---

* पृष्ठ २११

आश्चर्य एव आपके उपरोक्त कथन मे किंचित् भी सदेह नही हो सकता; क्योकि निरुपक्रम कर्मो का परिणाम ऐसा ही विस्मयकारी होता है। हमारे महाराजा भी आपश्री के चरणकमलो के प्रभाव से इस सम्बन्ध मे निर्मल-बुद्धि वाले और निपुण होते जा रहे हैं, अब इन्होने भी इस विषय में समझना प्रारम्भ कर दिया है, इसलिये उन्होंने आपके साथ उपरोक्त प्रश्न-चर्चा की है।

बाल का भविष्य

शत्रुमर्दन—मेरे बुद्धिमान मन्त्री! आपने अवसर के योग्य सत्य कहा। पुनः आचार्यदेव को सम्बोधित कर राजा ने कहा— भगवन्! इस बाल की अंतिम दशा क्या होगी? यह बताने की कृपा करे।

आचार्य—तुम्हारे क्रोध के परिणामस्वरूप भयातिरेक से ग्रस्त मन वाला यह बाल अभी निश्चल होकर बैठा है, पर जैसे ही तुम यहाँ से प्रस्थान करोगे यह अपने असली स्वरूप में आ जायगा। फिर स्पर्शन और अकुशमाला उसे अपनी अधीनता मे कर लेगे। फिर तुम्हारे भय से अन्य प्रदेश मे जाने के विचार से दौडता हुआ, अनेक प्रकार के घोर क्लेश सहता हुआ यह कोल्लाक सन्निवेश गाव में पहुचेगा। कूर्मपूरक * गाव के समीप पहुचकर थकान से उसे बहुत जोर की प्यास लगेगी और उसे दूरी पर एक बडासा तालाब दिखाई देगा। वह पानी पीने और नहाने के लिये उस तालाब की तरफ जायगा। उसी समय बाल के पहुँचने के पूर्व ही एक चाण्डाल और उसकी स्त्री भी वहाँ पहुँच जायेगे। चाण्डाल तालाब के किनारे के वृक्ष पर पक्षियो के शिकार के लिये चढेगा और चाण्डालिन यह सोचकर कि यहाँ विजन में कोई नही है अतः नहाने के लिये निर्वस्त्र होकर तालाब मे उतरेगी। उसी समय बाल तालाब पर पहुँचेगा। उसे देखकर चाडालिन सोचेगी कि 'यह तो कोई स्पर्श्य (सवर्ण) वर्ग का पुरुष दिखता है, मुझ अछूत को सरोवर मे देखकर यह अवश्य झगड़ा करेगा।' इस भय से पानी मे डुबकी लगाकर वह कमलो के झुण्ड के पीछे छिप जायेगी। बाल भी नहाने के लिये तालाब मे उतरेगा और सयोग से चाण्डालिन की ओर ही जायेगा। अनायास ही उसके अगो का स्पर्श हो जाएगा। अंगस्पर्श होते ही बाल की कामाग्नि भभक उठेगी और लम्पटता के कारण उस चाण्डाल स्त्री के यह जता देने पर भी कि वह अछूत है, बाल बलपूर्वक उसके साथ बलात्कार करेगा। उस समय जब वह चाण्डाल स्त्री हल्ला मचायेगी तब चाण्डाल गुस्से मे उस तरफ दौड़ेगा और दूर से ही अपनी स्त्री और बाल को उस अवस्था मे देखेगा। उस समय चाण्डाल की क्रोधाग्नि भड़केगी और धनुष पर बाण चढाकर उसे ललकारेगा, 'अरे अधम पुरुष! दुरात्मन्! तेरा पौरुष बता, ऐसा घृणित कार्य करते तुझे लज्जा नही आई?' इस प्रकार ललकारते हुए चाण्डाल बाण मारेगा। उसे देखकर ही बाल कांपने लगेगा और एक ही बाण से उसके प्राण

---

* पृष्ठ २११

निकल जायेंगे। रौद्र ध्यान में मरकर वह बाल नरक में जायेगा। वहाँ से निकल कर अनेक बार कुयोनियो मे जन्म लेगा और पुनः-पुनः मर कर नरक मे अनन्त बार जायेगा। इसी प्रकार अत्यन्त अधम अवस्था मे संसार चक्र में भटकता रहेगा और अनेक प्रकार के दुःखो की विचित्र परम्परा को तीव्रता से सहन करता रहेगा।

❀

१४. अप्रमाद यंत्र : मनीषी

[आचार्य प्रबोधनरति ने जब बाल के चरित्र और भविष्य का वर्णन किया और उसके कारण बताये तब शत्रुमर्दन राजा के मन मे अनेक प्रश्न उठे। इसी प्रसग मे निजविलसित उद्यान मे राजा, आचार्य और मन्त्री के मध्य जो प्रश्नोत्तर हुए, वे विशेष ध्यान योग्य है।]

शत्रुमर्दन—भगवन्! अकुशलमाला माता और स्पर्शन मित्र तो बहुत भयकर हैं। बाल को हुए दु:खो और होने वाले अन्त का कारण भी यही दोनों है।

आचार्य—राजन्! इसमें कहने को क्या शेष रह गया है। इन्होने तो दारुण भयंकरता की सीमा का भी उल्लघन कर दिया है।

सुबुद्धि—भगवन्! अकुशलमाला और स्पर्शन केवल बाल पर ही अपना प्रभाव चलाते है या अन्य प्राणियों पर भी उनका प्रभाव चलता है?

आचार्य—महामन्त्रिन्! इन दोनो का प्रभाव सब प्राणियो पर चलता है। अन्तर इतना ही है कि इन दोनो का बाल पर इतना अधिक प्रभाव है कि उनका स्वरूप स्पष्टत: झलक आता है। परमार्थ से तो कर्मबन्धन से युक्त समस्त ससारी प्राणियों पर इनका प्रभाव रहता ही है; क्योंकि अकुशलमाला योगिनी है और स्पर्शन योगिराज है। वे दोनों योगशक्ति से युक्त है। कभी दृश्य रूपवाले बन जाना और कभी अदृश्य हो जाना योगशक्ति सम्पन्न प्राणी ही कर सकते है।

शत्रुमर्दन—भगवन्! क्या हम देख सके इस प्रकार का उनका प्रभाव चल सकता है? क्या हम पर भी उनका प्रभाव चल सकता है?

आचार्य—हाँ, न केवल तुम पर भी उनका प्रभाव चल सकता है अपितु चल रहा है।

यह सुनकर शत्रुमर्दन राजा ने मंत्री से कहा—मन्त्रिन्! जब तक इन दोनों पापियो का ❀ मर्दन नही किया, उन्हे नही हराया, नष्ट नही किया तब तक मेरा

❀ पृष्ठ २१३

शत्रुमर्दन नाम ही कैसा ? आचार्यश्री के समक्ष मुझे ऐसा कहना तो नहीं चाहिये, किन्तु दुष्टों का निग्रह करना राजा का धर्म है, अतः मैं तुम्हे जो आज्ञा दे रहा हूँ, आर्य ! उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

सुबुद्धि—कहिये, क्या आज्ञा है ?

शत्रुमर्दन—आचार्यश्री ने जैसा अभी कहा कि अकुशलमाला और स्पर्शन ये दोनो बाल के साथ जायेंगे अत. अब इन दोनो का वध करना तो व्यर्थ है किन्तु तुम उन्हे मेरी यह आज्ञा सुना दो कि वे दोनों मेरे राज्य की सीमा से तुरन्त दूर, बहुत दूर चले जायें। बाल के मर जाने के बाद भी वे हमारे देश मे वापस नही लौटें। यदि वे इस आज्ञा का उल्लघन करेगे तो इन्हे प्राणान्त दण्ड दिया जायगा। इस प्रकार की आज्ञा देने के उपरान्त भी यदि वे मेरे देश मे फिर से प्रवेश करें तो उन्हे किञ्चित् भी विचार किये बिना ही इन दोनो को लोहयन्त्र मे डालकर पील देना। ये दोनों महादुष्ट कितना भी रोए या चिल्लाए तब भी इन पर तुम नाममात्र की भी दया मत करना।

सुबुद्धि मन्त्री सोचने लगा कि, अहो ! राजा की इन दोनो पर कोप दृष्टि हुई है और आवेश में आकर राजा ने मुझे यह आज्ञा दी है। राजा ने जब मुझे नियुक्त किया था तब यह वचन दिया था कि वे मेरे से किसी प्रकार का हिसा का कार्य नही करायेंगे, पर आवेश मे राजा यह वचन भी भल गये हैं। अस्तु। आचार्यश्री तो इसी विषय को लेकर राजा को प्रतिबोधित करने का कारण ढूढ लेंगे। मुझे तो राजाज्ञा शिरोधार्य करनी ही चाहिये। यह सोचकर मन्त्री बोला—"जैसी महाराज की आज्ञा।" इस प्रकार कहकर मन्त्री स्पर्शन और अकुशलमाला को राजा को आज्ञा सुनाने के लिये जाने की तैयारी करने लगा।

उसी समय आचार्यश्री ने कहा—नरेन्द्र ! इन दोनों के विषय मे तुम्हारी यह आज्ञा व्यर्थ है। इन्हे मूल से उखाड़ फेंकने का यह उपाय नही है, क्योकि अकुशलमाला और स्पर्शन ये दोनों अन्तरग वर्ग के है और अन्तरग वर्ग के लोगों पर लोहयन्त्र (घाणी या फासी) आदि का कोई प्रभाव नही पडता। बाह्य शस्त्र तो उन तक पहुँच ही नही सकते।

शत्रुमर्दन—भदन्त ! तब इन दोनो के निर्दलन (नाश) का क्या उपाय है ?

अप्रमाद यन्त्र

आचार्य—अन्तरंग में रहने वाला अप्रमाद यन्त्र ही इन दोनों को नाश करने का उपाय है। मेरे पास जो साधु बैठे हैं वे इन दोनों का निर्दलन और उन्हे चूर-चूर करने के लिये उस यन्त्र का निरन्तर प्रयोग करते हैं, धारण करते हैं।

शत्रुमर्दन—इस अप्रमाद यन्त्र के साथ दूसरे और क्या-क्या उपकरण होते हैं ?

आचार्य—ये साधु उन उपकरणों को भी निरन्तर अपने साथ ही रखते हैं और प्रति क्षण उनका अनुशीलन करते है।

शत्रुमर्दन—साधु इन उपकरणो का किस प्रकार अनुशीलन करते है ?

आचार्य—सुनो। ये मुनि जीवन-पर्यन्त अन्य प्राणियों को दु ख नहीं पहुचाते। लवलेशमात्र भी असत्य नही बोलते। दन्तशोधक सलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी बिना दिये नही लेते। नवगुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य को धारण करते है। परिग्रह का सर्वथा त्याग करते है। धर्मसाधन उपकरणो पर और अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते। रात्रि में चारों प्रकार के आहार (खाद्य-पेय) का सेवन नही करते हैं। दिन में भी शास्त्रानुसार ※ सयम-यात्रा कि सिद्धि के लिये विशुद्ध उपकरण और निरवद्य आहार लेते है। अपना आचरण पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त रखते हैं। अनेक प्रकार के अभिग्रहों को धारण करने मे अपने शक्ति-पराक्रम का प्रयोग करते हैं। अकल्याणकारक मित्रों की सगति का परिहार करते है। सज्जन पुरुषो के प्रति आत्मभाव दर्शित करते हैं। अपनी योग्य स्थिति का थोडा भी उल्लंघन नही करते हैं। लोक व्यवहार की उपेक्षा नही करते हैं। गुरु और बडों का सर्वदा मान करते हैं। उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते है। भगवान् प्ररूपित आगम-शास्त्रो का भली प्रकार श्रवण करते हैं। यत्नपूर्वक व्रत-पालन की भावना रखते है। द्रव्य (बाह्य) आपत्ति मे धैर्य रखते है। भविष्य में होने वाले दु.खों का पहले से ही विचार कर अपनी समझ के अनुसार उनके निवारण का उपाय करते है। अप्राप्त ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये सनत प्रयत्नशील रहते है। अपने चित्त का प्रवाह कर्म-बन्ध की ओर न जाय इसके प्रति प्रतिक्षण सतर्क रहते है। मन यदि कर्म-बन्ध के मार्ग पर भागे तो तत्क्षण ही उसके प्रतिकार का उपाय सोच लेते है। अनासक्ति के अभ्यास से अपने मन को सतत निर्मल रखते हैं। योग मार्ग का अभ्यास करते है। परमात्मा को अपने चित्त मे स्थापित करते हैं और उस पर अपनी दृढ धारणा करते है। विक्षेपकारक बाह्य कारणों का परित्याग करते है। अपने अन्त:करण को इस ढंग से नियोजित करते हैं कि वह परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करने मे लग जाता है। योग-सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। शुक्लध्यान धारण करते है। अपनी आत्मा, शरीर और इन्द्रियो से भिन्न है ऐसा स्पष्ट देखते हैं। उत्कृष्ट प्रकार की समाधि को प्राप्त करते है और अपना आचरण इतना शुद्ध रखते है कि जिससे उत्कृष्ट मानसिक निर्मलता को प्राप्त कर शरीर मे रहते हुए भी मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

हे राजन्! प्राणियों को दु:ख से बचाकर अन्त मे आत्मा को मोक्ष के योग्य बनाने तक उपरोक्त सभी कार्य अप्रमाद-यन्त्र के उपकरण है जिन्हे मुनिगण प्रत्येक क्षण उपयोग में लाते हैं। जैसे-जैसे मुनिगण इनका अधिकाधिक

※ पृष्ठ २१४

उपयोग करते हैं, वैसे-वैसे अप्रमाद-यन्त्र अधिक दृढ बनता जाता है और वे स्पर्शन एव अकुशलमाला जैसे अन्य अन्तरग दुष्टो का दलन करने मे समर्थ बनते जाते है। इस यन्त्र से अन्तरग दुष्टो का एक बार निष्पीडन कर देने पर फिर वे कभी प्रकट नही होते। अतएव हे राजन्! यदि तुम्हारे मन मे इन दुष्टो का निष्पीडन करने की अभिलाषा हो तो उपरोक्त अप्रमाद-यन्त्र को मन मे स्वीकार करे और स्वत: ही अपनी स्वय की दृढ-पराक्रम युक्त मुष्टि का अवलम्बन लेकर इन दुष्टो का निर्दलन करे। इस कार्य के लिये मन्त्री को आज्ञा देना व्यर्थ है। यदि कोई दूसरो मनुष्य उन्हे पील भी दे तो वे वास्तव मे स्वयं के लिये पूर्णतया पीले नही जाते, अर्थात् दूसरा व्यक्ति यदि उन्हे निर्दलित कर भी दे तो वे उसके लिये निर्दलित हुए, पर उसका लाभ अन्य किसी को नही मिल सकता। यदि तुम्हे उनको अपने लिये नष्ट करना है जिससे वे तुम्हे कभी न सताये तो तुम्हे स्वय अपनी शक्ति का ही उपयोग करना होगा।

मनीषी की जिज्ञासा : भावदीक्षा

आचार्यश्री का प्रवचन चल ही रहा था तभी भगवद्-वचन रूप पवन से कर्मरूप काष्ठ को जलाने वाली शुभपरिणाम रूपी अग्नि मनीषी के मन मे प्रज्वलित हुई, स्व-कल्याण करने का विचार अधिक दृढ हुआ। आचार्य भगवान् ने पहले भागवती भाव-दीक्षा लेने की बात कही तथा बाद मे अप्रमाद यत्र की बात कही। इन दोनो मे क्या सम्बन्ध है? वह बराबर समझ नही सका अत: अपने सन्देह को दूर करने के लिये उसने हाथ जोडकर आचार्य श्री से पूछा—भगवन्! आपने पहले भागवती भावदीक्षा से आत्मबल का उत्कर्ष और उसे पुरुष के उत्कृष्टतम स्वरूप प्राप्ति का कारण बताया और अन्त मे अन्तरग के दुष्टो का सहार करने के लिए स्वय की शक्ति पर आधारित अप्रमाद यत्र का वर्णन किया, इन दोनो मे क्या अन्तर है? बताने की कृपा करे। *

आचार्य इन दोनो मे शब्दभेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नही है। परमार्थत: अप्रमाद यन्त्र ही भागवती भावदीक्षा है।

मनीषी—यदि ऐसा ही है तो भगवन्! यदि आप मुझे भागवती भाव-दीक्षा के योग्य समझे तो मुझे वह प्रदान करने की कृपा करे।

आचार्य—तू सब प्रकार से उसके योग्य है। तुझे वह अवश्य दी जायगी।

मनीषी का परिचय

शत्रुमर्दन—भगवन्! मैने अनेक युद्धों अपने अतुल पराक्रम और अदम्य साहस से विजय प्राप्त की, किन्तु आपके अप्रमाद यत्र के अनुष्ठान की कठिनाइयो

---

* पृष्ठ २१५

को सुनकर तो मन मे कंपकंपी छुटती है। यह महापुरुष कौन है ? कहाँ से आया है ? इसे तो मानों किसी महान राज्य को जीतने की इच्छा हुई हो वैसे ही हर्षातिरेक पूर्वक अप्रमाद यन्त्र को धारण करने की इच्छा हो रही है।

आचार्य—भूप ! इसका नाम मनीषी है और यह इसी क्षितिप्रतिष्ठित नगर का रहने वाला है।

राजा शत्रुमर्दन मन मे विचार करने लगा कि, अरे ! जब मैंने उस पापी बाल को मारने की आज्ञा दी थी तभी मैंने मनीषी नामक उसके भाई की प्रशसा करते लोगो को सुना था। वे कह रहे थे कि, देखो एक ही पिता के दो पुत्र होने पर भी इस बाल और मनीषी मे कितना अन्तर है ? एक का इतना बुरा आचरण कि वह सब से तिरस्कार पाता है और दूसरा महात्मा है और सब से प्रशंसा को प्राप्त करता है। यह वही मनीषी होना चाहिये। अथवा इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी आचार्य से ही क्यो न पूछ लूँ ? इस प्रकार अपने मन मे विचार कर राजा शत्रुमर्दन ने पूछा—महाराज ! इस नगर मे इसके माता-पिता कौन है और इसके अन्य सम्बन्धी कौन है ?

आचार्य—इस क्षितिप्रतिष्ठित नगर का स्वामी कर्मविलास नामक महाराजा है, वह मनीषी का पिता है और उसकी शुभसुन्दरी नामक पटरानी इसकी माता है। उसी राजा की अन्य रानी अकुशलमाला का पुत्र बाल है। मनीषी के पास जो दूसरा पुरुष खड़ा है वह इस राजा की एक अन्य रानी सामान्यरूपा का पुत्र मध्यमबुद्धि है। इतने तो इसके सम्बन्धी यहाँ विद्यमान है, बाकी इसके अन्य सम्बन्धी देशान्तरों मे है जिनके बारे मे बताने का अभी कोई प्रयोजन नही हैं।

अन्तरंग राज्य की तन्त्र-प्रक्रिया

शत्रुमर्दन—महाराज ! तब क्या इस क्षितिप्रतिष्ठित नगर का स्वामी मैं न होकर वह कर्मविलास राजा है ?

आचार्य—हाँ, तुम नही हो।

शत्रुमर्दन—यह कैसे ?

आचार्य—सुनो। इसका कारण यह है कि कर्मविलास महाराज जो-जो आज्ञा देते है, उनमे से एक भी आज्ञा का उल्लंघन प्रकल्पित नगर के निवासी भय से नही कर सकते। अर्थात् उनकी आज्ञा मे किंचित् मात्र रद्दोबदल करने का भी किसी मे साहस या सामर्थ्य नही है। तेरा राज्य भी तुझ से लेकर किसी अन्य को देना हो अथवा तेरे ही अधीन रखना हो आदि सब बातो का सामर्थ्य इस कर्मविलास महाराजा मे है। इन सब में तेरा आदेश या निर्देश नही चल सकता, पर इस राजा का चलता है, अत. परमार्थ से वही इस नगर का राजा है। जिसकी प्रभुता सम्पन्न आज्ञा चलती हो वही प्रभु, नृपति कहलाता है। [१-३]

शत्रुमर्दन—भगवन् ! आपके कथनानुसार यदि कर्मविलास इस नगर का राजा है, तब वह दिखाई क्यों नही देता ? कृपा कर कारण बतावे।

आचार्य—राजन् ! ※ इसका कारण सुनो। कर्मविलास अतरग राज्य का राजा है इसलिये वह तुम जैसे व्यक्ति को दिखाई नही दे सकता। अन्तरग लोक के व्यक्तियो का स्वभाव है कि वे गुप्त रहकर सब कार्य करते है। धैर्यवान व्यक्ति केवल बुद्धि/दृष्टि से अन्तरग लोक को देख पाते है तथा अन्तरग राज्य के निवासी जो प्राणी आविर्भूत होते हैं उनको स्पष्टतया देख सकते है। इस विषय मे तुम्हे विषाद करने की आवश्यकता नही है। यह राजा केवल तुम्हे ही पराजित कर रखता हो ऐसी बात नही है। इसने तो अपने पराक्रम से ससार मे रहने वाले प्रायः सभी प्राणियों को पराजित कर अपने अधीन वशवर्ती कर रखा है। [८-९]

वार्ता के रहस्य को समझ कर सुबुद्धि मत्री ने राजा से कहा—महाराज ! आचार्य श्री ने अभी जिस राजा का वर्णन किया उसे मैं भी पहचान गया हूँ। मैं आपको उसके विषय मे विस्तार से बताऊँगा। आचार्यश्री ने मुझे पहले भी इस राजा के स्वरूप को समझाया है, आप चिन्ता न करें [१०-११]

गृहस्थ-धर्म का स्वरूप

इसी समय अवसर देखकर मध्यमबुद्धि ने मस्तक झुकाकर आचार्यश्री से प्रश्न किया—भगवन् ! आपने कुछ समय पहले कहा है कि गृहस्थधर्म भी ससार को क्षीण करने वाला है, यदि मैं उसके योग्य हू तो आप मुझे उसे प्रदान करने का कृपा करें [१२-१३]

आचार्य—भागवती भावदीक्षा के सम्बन्ध मे सुनकर जब तुम्हारे जैसे व्यक्ति उस पर आचरण करने मे असमर्थ हो, तब गहस्थ-धर्म का आचरण करना उचित ही है। [१४]

शत्रुमर्दन—भगवन् ! गृहस्थ-धर्म का क्या स्वरूप है ? बताने की कृपा करें। उसे जानने की मेरी उत्कट अभिलाषा है।

आचार्य—यदि ऐसी इच्छा है तो गृहस्थ धर्म का स्वरूप सुनो। [१५]

तब आचार्यश्री ने मोक्षरूपी कल्पवृक्ष को उगाने वाले सम्यक् दर्शनरूपी अमोघ बीज कैसा होता है उसका वर्णन किया। ससार वृक्ष की जड़ को अल्प समय मे ही नष्ट करने में निपुण और स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग के साथ शीघ्र सम्बन्ध स्थापित कराने वाले, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतो का वर्णन किया। जिसके कारण उस समय आवरणीय कर्मों का आशिक नाश और आशिक शमन होने पर शत्रुमर्दन राजा को भी सम्यग् दर्शन पूर्वक देशविरति (गृहस्थ-धर्म) ग्रहण करने की इच्छा हुई। उनके मन मे आया कि गृहस्थ-धर्म तो मेरे जैसे लोगो द्वारा भी ग्रहण किया जा

※ पृष्ठ २१०

सकता है। ऐसा सोचते हुए शत्रुमर्दन राजा ने कहा—भगवन् ! आप द्वारा वर्णित गृहस्थ-धर्म मुझे भी प्रदान करने की कृपा करे।

आचार्य—राजन् ! मै तुम्हे वह धर्म ग्रहण करवाता हूँ। ऐसा कहकर आचार्यश्री ने शत्रुमर्दन राजा और मध्यमबुद्धि को विधिपूर्वक गृहस्थ-धर्म प्रदान किया।

❀

१५ : शत्रुमर्दन आदि का आन्तरिक आह्लाद

आचार्यश्री मनीषी को दीक्षा देने को तैयार हुए तब शत्रुमर्दन राजा ने आचार्यश्री के चरण छूकर कहा—भगवन् ! मनीषी ने भाव से तो भागवती दीक्षा ले ही ली है जिससे वह कृतकृत्य हो गया है। मनीषी का उद्देश्य लेकर हम हमारा सतोष प्रकट करने के लिये इसका दीक्षा महोत्सव मनाने की अभिलाषा रखते है, उसके लिये आप हमे आज्ञा प्रदान करे।

द्रव्यस्तव और गुरु

शत्रमर्दन राजा की बात सुनकर ❀ आचार्यश्री मौन रहे। तब सुबुद्धि मन्त्री ने राजा से कहा—देव ! आपको जब द्रव्य-स्तव मे प्रवृत्ति करनी हो तब गुरु महाराज से पूछने की आवश्यकता नही है। इस सम्बन्ध मे आचार्यश्री को कुछ भी आदेश देने का अधिकार नही है। आप जैसे लोगो को जहाँ अवसरानुकूल योग्य लगे वहाँ द्रव्य-स्तव करना चाहिये। आचार्यश्री तो द्रव्यस्तव का अनुमोदन मात्र करते है, अर्थात् जब कोई द्रव्यस्तव करता है तो उसका यथास्वरूप वर्णन करते है, उसको योग्य स्थान पर करने का सकेत करते है और यथा अवसर द्रव्यस्तव का उपदेश देते है। जैसे कि उदारता एव विशालता के साथ देव-पूजा करना आपका कर्त्तव्य है। देवपूजा के अतिरिक्त धन-व्यय का दूसरा कोई श्रेष्ठतम स्थान नही है, आदि। अत आपको जैसा योग्य लगे वैसा आप स्वय करे। हम मनीषी से प्रार्थना करें कि वह दीक्षा लेने मे थोडे समय का व्यवधान करे, जिससे कि हम दीक्षा महोत्सव मना सकें। राजा ने ऐसा ही करने सम्मति दी।

जिन मन्दिर में पूजन महोत्सव

तदनन्तर राजा और मन्त्री ने बहुमानपूर्वक मनीषी से प्रार्थना की कि हमारा विचार दीक्षा महोत्सव करने का है अत आप दीक्षा लेने मे थोड़ा विलम्ब करे।

मनीषी ने अपने मन मे सोचा कि धर्म के कार्य मे विलम्ब करना ठीक नही है, फिर भी जब बडे लोग आदरपूर्वक प्रार्थना करते है तब उनकी अवहेलना

❀ पृष्ठ २१७

करना अविनय माना जायगा जो मेरे लिये उपयुक्त नही है। अत उनकी प्रार्थना स्वीकार करली।

मनीषी की स्वीकृति प्राप्त कर राजा ने हार्दिक प्रसन्नता से अपने सभी महामन्त्रियो को दीक्षा महोत्सव की तैयारी करने में लगा दिया और उन्हे समस्त कार्य त्वरितता से पूर्ण करने की आज्ञा दी। उन्होंने तत्काल ही जिन मन्दिर के चारों तरफ सुन्दर पर्दे लगवाये जिससे मन्दिर मे धूप और गर्मी न आ सके और उसकी शोभा द्विगुणित हो जाय। कस्तूरी, केशर, मलय चन्दन और कर्पूर मिश्रित घोल से मन्दिर के आगन को विलेपित कर सुगन्धित किया गया। पांच जाति के सुगन्धित पुष्पो को मन्दिर मे जानु पर्यन्त फैला दिये। पुष्पों की गन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर पक्ति गुञ्जारव करती हुई संगीत की स्वर लहरी उत्पन्न करने लगी। सोने के थंभे खडे कर उन पर कीमती वस्त्रों का चन्दरवा बाधा गया। चन्दरवों के नीचे मणि-खचित दर्पण (शीशे) लटकाये और उसके चारो तरफ मोती की मालायें लटका दी। चारो ओर इतने अधिक रत्न लटका दिये गये कि उनके प्रकाश से मन्दिर प्रकाशित हो उठा। कृष्ण अगरु का धूप जलाया गया जिससे किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध न रहे। पीसे हुए कु कुम चूर्ण आदि सुगन्धित पदार्थों के फैलाने से तथा घोटे हुए केवडा आदि की प्रशस्त गन्ध से जिन मन्दिर के भीतर-बाहर आस-पास सर्वत्र देवलोक से भी अधिक सुगन्ध आने लगी और उसमें लावण्यवती ललनाये सराबोर हो गई। इस प्रकार समस्त सामग्री तैयार कर देवपूजन के लिये मन्दिर को अच्छी तरह सजाया गया। इतने मे ही अनेक देव पारिजातक, मदार, नमेरु, हरिचन्दन सतानक आदि अनेक प्रकार के देव-पुष्पो से विमान भर कर आकाश को उद्योतित करते हुए देव-दु दुभि बजाते हुए मन्दिर की ओर आये। उन्हे प्रभु भक्ति के लिये तत्पर और तैयार देखकर अन्य लोग भी अत्यन्त आनन्दपूर्वक जगद्गुरु जिनेश्वर देव की पूजा के लिये तैयार हुए। उन्होंने विभिन्न प्रकार के रागरग पूर्वक इतनी सरस और श्रेष्ठ पूजा की व्यवस्था की कि लोग लम्बे समय तक एकटक उन्हे देखते रहे। उनके अनिमेष देखने से वे वास्तविक देवता जैसे लगने लगे। फिर राजा ने सभी लोगो के साथ चित्त मे अनन्त गुणित आनन्द से परिपूरित होकर देवताओ की प्रशस्त मधुर वाणी से स्तुति कर उन्हे आनन्दित किया। पश्चात् मेरु पर्वत जैसे ऊचे शुभ्र भद्रासन पर जिनेन्द्र देव की मूर्ति को ❀ स्थापित किया और भक्ति एव विधि-पूर्वक स्नात्र महोत्सव की तैयारी की।
[१-१४।]

इधर मनीषी को स्नान कराया, उत्तम वस्त्र पहनाये, मुकुट और बाजूबन्द आदि पहनाये, शीर्ष पर गोचन्दन का लेप किया, कंठ मे बहुमूल्य हार पहनाया, कानो मे देदीप्यमान कुण्डल पहनाये। कुण्डलों की आभा से कपोल

❀ पृष्ठ २१८

उद्भासित होने लगा। मन्त्रीगणों ने मनीषी को वस्त्राभूषणों से ऐसा अलंकृत किया कि वह इन्द्र के समान प्रतीत होने लगा। मनीषी के समस्त बाह्य विकार शान्त हो गये और मन पूर्णतया पवित्र हो गया। यह हमारे मे से सर्वश्रेष्ठ है, महाभाग्यशाली है, यह हमारा नायक है, पूजनीय है, इसने अतिदुष्कर भागवती दीक्षा लेने का निर्णय किया है' कहते हुए शत्रुमर्दन राजा ने उसके हाथ मे उत्तम तीर्थों के जल से पूरित, स्वर्ण निर्मित, मनोहर श्रेष्ठ धर्म-तत्त्व का सार रूप, मुनियो के मानस के समान निर्मल, गोशीर्ष चन्दन से विलिप्त, दिव्य कमलो से आच्छादित मुख वाला, चारो ओर सुन्दर चन्दन के हस्तलेप से अर्चित और भवच्छेदक दिव्यकुम्भ (कनक कलश) जिनेन्द्र भगवान् का सर्वप्रथम अभिषेक कराने के लिये दिया। अत्यन्त आनन्द व रोमांचपूर्ण मन से भक्तिभाव सहित राजा शत्रुमर्दन ने दूसरा कलश अपने हाथ में लिया। मध्यमबुद्धि और राजपुत्र सुलोचन भी भगवान् की स्नात्र पूजा करने में संलग्न हुए। मदनकन्दली चन्द्र के समान अत्यन्त स्वच्छ चामर ग्रहण कर भगवान् के सन्मुख खड़ी रही। उसी के साथ पद्मावती नामक एक अन्य सुरूपा स्त्री दूसरी ओर चामर लेकर खडी रही। आनन्द वर्धक पवित्र हृदय से सुबुद्धि मन्त्री भी मुखवस्त्र बांधकर हाथ में धूपदान लेकर भगवान् के समक्ष खडा हुआ। पूजा से सम्बन्धित अन्य उपकरणों को लेकर बड़े-बडे मन्त्री और अन्य मुख्य नागरिकों को भी राजा ने यथास्थान नियोजित किया। [१५–२७]

इन्द्र भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसे भगवान् के मन्दिर मे जो प्राणी किंकरभाव से सेवा कार्य करते है वे वास्तव मे भाग्यशाली हैं, उनका जन्म सफल है, उनकी समृद्धि सार्थक है। वे ही वास्तविक कला, गायन और विज्ञान के अभ्यासी वे ही सच्चे वीर पुरुष हैं, वे ही कुल के भूषण हैं, वे ही त्रैलोक्य में प्रशंसा के हैं, वे ही सच्चे धनवान रूपवान, सर्वगुण सम्पन्न हैं, पात्र है और उनका ही वास्तव मे भविष्य मे कल्याण होने वाला है। [२८–३०]

अभिषेकोत्सव

पश्चात् जिनेश्वर भगवान् का अभिषेक महोत्सव प्रारम्भ हुआ। देवताओ के दुन्दुभि नाद के समान वादित्रो की ध्वनि से दिशाये गुंजित हो गईं। गम्भीर एवं प्रबल घोष करने वाले पटह (ढोल) की प्रतिध्वनि के साथ स्वरनाद का संमिश्रण करने वाले शहनाई आदि विविध प्रकार के वाद्यों की ध्वनि मनुष्यों के कर्ण कुहरों को बधिर सा करने लगी। कांस्य वाद्यरव से मिश्रित अव्यक्त एवं मधुर उच्चघोष के साथ कण-कणायमान ❀ कलकल नाद चारो तरफ फैल गया। प्रशमसुखरस की अनुभूति कराने वाले, भगवन्तो के सर्वोत्तम गुणो के वर्णन से परिपूरित और जो श्रवणमात्र से आनन्दोत्सेक को प्रवर्धित करने वाले भावगर्भित गीत बीच-बीच मे गाये जाने लगे। सर्वज्ञ प्रतिपादित वाणी को उत्कर्ष प्रदान करने

❀ पृष्ठ २१९

वाले, राग-द्वेषादि भयंकर विषधर सर्पों के लिये जांगुली मन्त्र के समान अर्थ एवं श्रेष्ठ भावपूर्ण महास्तोत्र शुद्ध एवं गम्भीर ध्वनि के साथ बीच-बीच मे पढे जाने लगे। अन्त:करण के प्रमोदातिरेक को सूचित करने वाले विभिन्न इन्द्रियों एव हाथ-पैर अगहार-विक्षेप के साथ महानृत्य होने लगे। इस प्रकार जैसे मेरु पर्वत पर देवता और असुर गण जिनेश्वर भगवान् का अभिषेक बडे ठाट-बाट से करते है उसी प्रकार विशाल जन समुदाय के मध्य मे शत्रुमर्दन राजा ने प्रभु का अभिषेक मंगल स्नात्र महोत्सव सम्पन्न किया। पश्चात् मूलनायक आदिनाथ भगवान् एव अन्य समस्त जिन प्रतिमाओ की विशेष प्रकार से पूजा-अर्चना की तथा उस समय करणीय शेष समस्त कार्यों को यथोचित रीति से सम्पन्न किया। अनन्तर समस्त साधुओ की वन्दना की, प्रचुर दान दिया, स्वधर्मीबन्धुओ को विशेष रूप से सम्मानित किया। इसके बाद मनीषी को अपने राजभवन मे ले जाने के लिये अपना जयकुंजर नामक हाथी मगवाया। उस पर मनीषी को बिठाया राजा स्वय उसके पीछे छत्र धारण कर बैठा और हर्षातिरेक से रोमाचित होकर राजा ने घोषणा की, हे सामन्तो और मन्त्रियों सुनो —

राजा की घोषणा

तत्त्वत: इस ससार मे 'सत्त्व' प्राणी की सबसे बडी सम्पत्ति है, आत्मिक बल है, ऐसा सर्वज्ञो ने बार-बार कहा है। अत: ससार मे जिस प्राणी का 'सत्त्व' अधिक प्रकाशित है, वह समस्त मनुष्य-वर्ग पर प्रभुता स्थापित करने मे समर्थ होता है। यही कारण है कि सत्त्व के परमोत्कर्ष को धारण करने वाले इस महात्मा मनीषी का माहात्म्य कैसा है, यह तो आप लोगों ने स्पष्टतया देखा ही है। जब आचार्यश्री ने अप्रमाद यत्र की बात की थी तब वह मुझे भी महा कठिन और त्रासदायक लगा था, परन्तु इस महात्मा ने उस यन्त्र की तुरन्त ही अपने लिये याचना की। अत: इसमे असाधारण आत्मिक बल है, इसमे कोई सदेह नही। हम सबका उपकार करने की बुद्धि से जब तक यह मनीषी घर मे रहे तक तक अपना स्वामी है, अपना देव है, अपना गुरु है और अपना पिता है। हम सब इसके किंकर है। अत: अपने से बडा मानकर इनके साथ व्यवहार करे। मैं स्वय और आप सब भी उसकी निर्मल सेवा कर अपनी आत्मिक उन्नति करे। उत्तम व्यक्ति का विनय करने से आत्मा के पाप धुल जाते है।

राजा के वचन सुनकर सामन्त, मन्त्री, और नगरजन प्रसन्नता से उत्फुल्ल चित वाले होकर बोले—आप जो कह रहे हैं वह बिल्कुल ठीक है। आप जैसे राजा जो कहे वह किसको रुचिकर न होगा? हम सब आपके कथनानुसार ही करेंगे। [१–७]

मनीषी के शरीर में शुभसुन्दरी का योगशक्ति से प्रवेश

उपरोक्त बात चल रही थी तभी मनीषी के शरीर मे योगशक्ति द्वारा विद्यमान उसकी माता शुभसुन्दरी अधिक विकसित हुई और अपने योग का अधिक

प्रभाव प्रकट करने लगी। उस समय मनीषी का मन अत्यन्त आह्लादित हुआ और ससार मे साधारण मनुष्यों को अप्राप्त आत्मिक तेज और बाह्य लक्ष्मी को प्राप्त कर तथा राजा के सामन्तो, मन्त्रियो और राजलोक से परिवृत मनीषी अधिक शोभायमान लगने लगा। सुबुद्धि मन्त्री द्वारा स्तूयमान, मध्यमबुद्धि के साथ हाथी पर बैठा हुआ मनीषी नगर क द्वार पर पहुँचा। [८-१०]

मनीषी का नगर प्रवेश

नगरवासियो ने सम्पूर्ण नगर मे उन्नत ध्वजा पताकाएँ बाधी, दुकान विशेष रूप से सजाई और मुख्य मार्गो की सफाई करवाकर पानी छीटकर सुन्दर बनाया। नगर का शृ गार कर, उज्ज्वल वस्त्र पहन कर नगर वासी मनीषी को लेने के लिये हर्ष पूर्वक सामने आये। तोषपूरित हृदय से नागरिक जनो ने मनीषी को * नगर मे प्रवेश कराया। सब लोग मनीषी का यशोगान करने लगे मनीषी का जीवन वास्तव मे धन्य है, कृतकृत्य है, भाग्यशाली है, महात्मा है, मनुष्यों मे उत्तम है, इसका जन्म सचमुच मे सफल हुआ है, इसने पृथ्वी को भी शोभायमान/प्रकाशित किया है। इसके जैसे महापुरुष का जन्म हमारे नगर मे हुआ, अतः हम नगरवासी भी वास्तव मे भाग्यशाली है, क्योकि भाग्यहीन प्राणी कभी रत्नपु ज से न तो सम्बन्धित ही हो सकते है और न उन्हे रत्नपुञ्ज की प्राप्ति ही हो सकती है। [११-१४]

सभा भवन में प्रवेश

अपने देव समान रूप से स्त्रियो के नेत्रों को आह्लादित करते हुए, द्रव्यार्थियो को प्रचुर दान देते हुए, स्वय के विशुद्ध धर्मानुष्ठान से प्राणियो को विशुद्ध धर्म मे प्रेरित करते हुए, जनसमूह को आनन्दित करते हुए मनीषी की शोभा यात्रा सारे नगर मे निकली। जनसमूह के बीच घूमता हुआ मनीषी राजमन्दिर मे पहुँचा। राजमन्दिर भी रत्नराशि से सजाया गया था, उसकी आभा से ऐसा लग रहा था मानो आकाश मे इन्द्र धनुष तना हो। राजमन्दिर मे प्रवेश करते ही राज-परिवार के समस्त लोगो ने तथा स्वय शत्रुमर्दन राजा ने मनीषी का स्वागत किया और रसिक तरुणी ललनाओ ने अपनी चपल आखो से उसे बधाया। राजमन्दिर मे उस समय गीत-सगीत और नृत्य चल रहे थे जिससे वह इन्द्रभवन के समान सुशोभित हो रहा था। [१५-१८]

देवभवन मे इन्द्र के समान नि शक हृदय से सभा भवन मे बैठकर कुमार ने सब को आह्लादित किया। पदार्थो पर रागादि भावो के विलीन हो जाने पर भी राजा की सतोष वृद्धि के लिये वह राज सभा से उठकर स्नानगृह में गया। वहाँ रानी मदनकन्दली ने गौरव एवं स्नेह पूर्वक अपने भतीजे की तरह उसके शरीर पर पीठी की। मृदु, मधुर आलाप करती हुई अन्तः पुर की अन्य रानियो और दासियो ने जो स्नान सम्बन्धी समस्त कार्यो मे प्रवीण थी, मनीषी को चारो ओर से घेर लिया।

---

* पृष्ठ २२०

पश्चात् मनीषी ने हीरे, पन्ने, इन्द्रनील, वेडूर्य, माणक आदि जटित रत्नों की काति से सुशोभित सुन्दर बावडी के निर्मल जल से स्नान किया। सर्प की काचुली जैसे पारदर्शी सुन्दर श्वेत वस्त्र पहन कर मनीषी मनोहर देवभवन मे गया। [१९-२४]

देवभवन/जिन मन्दिर को सुबुद्धि मंत्री ने विशेष रूप से सजाया था जो देखते ही मन को आकर्पित करता था। मनीषी वहुत समय पूर्व ही सन्मार्ग पर आ गया था, परमार्थ दृष्टि से उसके हृदय मे जिनेश्वर का स्वरूप आलेखित हो चुका था, फिर भी उस दिन प्रवोधनरति आचार्य के उपदेश से उसे वीतराग स्वरूप का विशेष दिग्दर्शन हुआ था जिससे वह रागद्वेष और मोह के विप को अपहरण करने मे प्रवीण भगवान् के देहस्थ और परब्रह्म के स्वरूप पर स्थिर चित्त से अधिकाधिक विचार करने लगा।

जिनमन्दिर मे द्रव्य और भाव पूजा के पश्चात् कुछ विशिष्ट व्यक्तियो के साथ मनीषी भोजन मण्डप मे आया। वहाँ पहिले से ही सुन्दर सरस भोजन की सर्व सामग्री तैयार थी। मन और जिह्वा को आनन्द देने वाले अनेक प्रकार के व्यजन पदार्थ परोस कर रखे गये थे। राजा शत्रुमर्दन मनीपी को बताते गये और मनीषी राजा को प्रसन्न करने के लिये उनके अनुरोध पर स्वय के ग्रहण करने योग्य पदार्थों का भोजन करने लगा, किन्तु भोज्य पदार्थों मे किसी प्रकार का राग या प्रीति उसे तनिक भी नही थी जिससे स्वस्थता वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। भोजन कर मनीषी खडा हुआ।

पश्चात् अत्यन्त आग्रह पूर्वक उसे पच सुगन्धित मसालो से युक्त पान दिया गया। उसके शरीर पर चन्दन कस्तूरी केसर का * विलेपन किया गया, उसे सुन्दर आभूषण और वहुमूल्य वस्त्र पहनाये गये, गले मे सुगन्धित पुष्प मालाये पहनाई गई, जिनकी सुगन्ध से भवरे भी आकर्पित होने लगे। फिर राजा ने मनीषी को महा मूल्यवान सिंहासन पर विठाया।

पश्चात् अनेक सामन्तगण आकर उसके चरणो में नमन करने लगे। उनके मुकुट मे जटित रत्नो की प्रभा से उसके पैर लालिमायुक्त दिखने लगे। वदी और भाट स्तुति-गान करने लगे। इस प्रकार मनीषी का योग्य आदर सम्मान करने के पश्चात् राजा शत्रुमर्दन अपने मन मे अत्यन्त हर्षित होते हुए सुबुद्धि मन्त्री से कहने लगे।

राजा द्वारा सुबुद्धि का अभिनन्दन

मित्र! आज हमे यह कल्याणकारी अवसर आपके प्रताप से ही प्राप्त हुआ है क्योकि आचार्य को वन्दना करने के लिये आपने ही मुझे प्रेरित किया था।

आपके कारण ही तीनो भवनो को आनन्द देने वाले भगवान् के मैंने दर्शन किये और भक्तिपूर्वक प्रमुदित मन से मैंने त्रैलोक्यनाथ आदीश्वर भगवान्

* पृष्ठ २०१

की वन्दना की, पूजा की, स्नात्र महोत्सव किया और कल्पवृक्ष जैसे आचार्य प्रबोधनरति को मुदित मन से वन्दन किया और ससार से मुक्त करे ऐसे भगवद् धर्म को प्राप्त किया।

मनीषी जैसे महापुरुष से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। इसने तो सचमुच में हमारे हृदय को उत्सवमय बना दिया है। इसमें नवीनता भी क्या है? महा भाग्यशाली पुरुष तो सर्वदा पर-प्राणियो के संतोष को बढाने वाले ही होते है। उनका तो एक ही कार्य है कि अन्य मनुष्यों मे प्रीति उत्पन्न करे। पुण्यवान प्राणियों के लिये उनका ऐसा करना तो योग्य ही है, पर मेरे जैसे के लिये तो यह नवीनता ही है, नही तो 'कहाँ चाण्डाल और कहाँ तिलों का भण्डार'? अर्थात् कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली?

इस प्रकार हे मित्र वत्सल! मुझे तो आपने कल्याण-माला की परम्परा प्राप्त करा ही दी है। लोक/जगत् मे ऐसी कहावत है कि 'मन्त्री सर्वदा राजा का हित करता है' आपने वास्तव मे अपना मन्त्रीत्व सार्थक किया है। आपके नाम के अनुसार ही आप वस्तुतः सुबुद्धि ही हैं। आप वास्तव में धन्यवाद के पात्र हैं।

सुबुद्धि मन्त्री बोला—महाराज! आप ऐसा न कहे। हमारे जैसो का तो जीवन ही आपके पुण्य प्रताप से चलता है। सेवक को आप इतना गौरव प्रदान कर रहे हैं वह योग्य नही है। ऐसे सुन्दर सयाग आपको प्राप्त कराने वाला मैं कौन हूँ? आप स्वयं ही ऐसी कल्याण-परम्परा को प्राप्त करने के योग्य हैं। निर्मल आकाश में द्युतिमान सुन्दर नक्षत्रों को देखकर किसी को आश्चर्य नही होता। बादल रहित आकाश में तारे चमकें तो इसमे आश्चर्य क्या? यह तो आकाश की निर्मलता का प्रताप है, तारों का नही।

मनीषी - महाराज! प्रभु की आप पर कृपा हुई है अतः अभी प्राप्त कल्याण-परम्परा तो उसका एक अश मात्र है। आपके हृदय रूपी निर्मल आकाश मे अनन्त ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होने वाला है, इसे तो अभी आप उसका अरुणोदय ही समझे। केवलज्ञान रूपी सूर्योदय के परिणामस्वरूप आपको परमपद के कल्पनातीत आनन्द का योग प्राप्त होगा, उसको सूचित करने के लिये अभी तो आपको केवल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है, उसी के फलस्वरुप आपको इतना हार्दिक प्रमोद उत्पन्न हो रहा है, यह तो अभी प्रारम्भ मात्र है।

शत्रुमर्दन—सचमुच, नाथ! मुझ पर आपकी बड़ी कृपा हुई। आपके कथन मे मुझे कोई सन्देह नही है। आपके अनुचर को कौन सी वस्तु प्राप्त नही हो सकती? फिर सुबुद्धि मन्त्री को लक्ष्य कर कहा—मन्त्री देखो तो, यह महात्मा मनीषी अभी आज ही तो सच्चा उपदेश प्राप्त कर प्रबुद्ध (जाग्रत) हुआ है, फिर भी इसमे कितना विवेक और गहन विचार आ गये हैं।

मन्त्री—महाराज ! इसमे नवीनता क्या है ? इसका नाम ही मनीषी है ✻ जो सर्व प्रकार से योग्य है। मनीषी अर्थात् बुद्धि-चातुर्य वाला महापुरुष, यह तो आप जानते ही है। ऐसे महापुरुष तो जन्म से ही जाग्रत और गहन विचार-शक्ति वाले होते हैं। उन्हे जाग्रत करने मे गुरु तो निमित्त मात्र होते है, वास्तव मे तो वे स्वयं बोध प्राप्त करते है।

✻

१६ : निजविलसित उद्यान का प्रभाव

मध्यमबुद्धि का आगमन

मनीषी को महोत्सव पूर्वक जब राजमन्दिर में प्रवेश कराया गया तभी राजा की आज्ञा से सुबुद्धि मन्त्री ने मध्यमबुद्धि को भी अपना स्वधर्मी भाई जानकर आत्मीय सदन (अपने गृह) मे प्रवेश कराया। मध्यमबुद्धि वहाँ आया, वह बहुत हर्षित हुआ और विशिष्ट दान दिया। मन्त्री के भवन मे आकर मध्यमबुद्धि ने स्नान किया, भोजन किया, पान सुपारी खायी, शरीर पर विलेपन किया, आभूषण पहने, शृ गार किया और माला पहनी। सुबुद्धि और उसके परिवारजनो के मधुर प्रेम भरे प्रशसा के वचन सुनकर उसका सरल हृदय बहुत हर्षित हुआ। फिर वह भी राजसभा में आ गया। आते ही मनीषी ने उसे हर्षोल्लास पूर्वक नमस्कार किया और अपने सिंहासन के पास ही एक अन्य विशिष्ट विशाल आसन पर बिठाया।

मध्यमबुद्धि का उपकार

शत्रुमर्दन राजा ने मध्यमबुद्धि को देखकर सुबुद्धि मन्त्री से कहा—मित्र ! इस महापुरुष मध्यमबुद्धि ने भी हम पर बहुत उपकार किया है।

सुबुद्धि—देव ! वह कैसे ?

शत्रुमर्दन—सुनो। आचार्यश्री ने आज जब अप्रमाद यन्त्र के सम्बन्ध मे उपदेश दिया तब मुझे भयकर लडाई के मैदान मे कायर मनुष्य के समान अकुलाहट हुई, क्योकि मुझे उस समय ऐसा लगा कि इस अप्रमाद यन्त्र को ग्रहण कर उसके अनुसार प्रवृत्ति करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिये बहुत कठिन है। उस समय इस मध्यमबुद्धि ने आचार्यश्री से गृहस्थधर्म स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की और मैं भी उसका पालन कर सकता हूँ ऐसा मुझे सुझाया तथा मेरी आकुलता दूर की, इससे मैं आश्वस्त हो गया। गृहस्थधर्म स्वीकार करने पर मेरे मन को भी बहुत धैर्य प्राप्त हुआ, मुझे सहारा मिला और मेरा चित्त प्रसन्न हुआ। इस सब का

✻ पृष्ठ २२२

कारण मध्यमवुद्धि द्वारा किये गये प्रश्नोत्तर ही थे, अत इसने भी मुझ पर बहुत उपकार किया है।

राजा की मध्यमजन में गणना

सुवुद्धि—देव ! इसका नाम भी गुणानुरूप सार्थक है। लोगो मे कहावत है कि 'समान गुण, प्रवृत्ति, सुख और दुःख वालो मे ही प्राय. मित्रता होती है।' इसकी प्रवृत्ति मध्यम प्रकार की है अतः यह मध्यम स्थिति के मनुष्यो को आश्वासन दे यह उचित ही है।

राजा ने अपने मन मे विचार किया कि, अहा! मेरे मन में मिथ्याभिमान था कि 'मैं राजा हूँ' इसलिये सब पुरुषो मे श्रेष्ठ हूँ, परन्तु इस सुबुद्धि मन्त्री ने युक्ति पूर्वक अर्थापत्ति से मुझे मध्यम श्रेणी मे ला दिया है। सचमुच मेरे मिथ्याभिमान को धिक्कार है। ऐसा अभिमान करने वाला मैं भी धिक्कार का पात्र हूँ, अथवा जब वस्तुस्थिति ही ऐसी है तब मुझे विषाद नही करना चाहिये।

विशालकाय हाथी वही तक शूरवीर और त्रासदायक दिखाई देता है जब तक कि विकराल दाढो वाला सिंह उसे दिखाई नही देता। सिंह की गन्ध आते ही वह भयभीत होकर थर-थर कापने लगता है। अतः मनीषी की अपेक्षा से तो मेरी मध्यम-रूपता योग्य ही है। यह महाभाग्यशाली मनीषी तो वास्तव मे सिंह ही है, उसके समक्ष मेरे जैसे हाथियो को डर लगे तो इसमे क्या आश्चर्य ! इसकी तुलना मे तो मैं डरपोक हाथी के समान ही हूँ। ❀ अतः मुझे खिन्नमन नही होना चाहिये; क्योकि मेरे जैसे व्यक्तियो के लिये तो मध्यमश्रेणी मे गिना जाना भी बडे भाग्य की बात है। मध्यमवर्ग का अशक्त प्राणी यदि कभी अपना कार्य सफल कर ले तो वह सर्वोत्तम हो सकता है पर जघन्य तो कभी सर्वोत्तम हो ही नही सकता। पहले मेरे मन मे केवल सर्वोत्तम होने का एक ही मिथ्याभिमान नही था अपितु अन्य कई मिथ्याभिमान भी थे, पर अब उनकी चिन्ता करना व्यर्थ है। [१–६]

धर्मानुष्ठान मे निमित्त की उपकारिता

राजा उपरोक्त विचार कर रहा था तभी सुवुद्धि मन्त्री बोला—देव ! आपका यह विचार अत्युत्तम है कि यह हमारा उपकारी है; क्योकि जिन धर्म के अनुष्ठान की प्रवृत्ति मे यदि कोई किंचित् मात्र भी निमित्त बने तो उसके जैसा उपकारी इस ससार मे अन्य कोई भी प्राणी नही है।

निजविलसित उद्यान का प्रभाव-स्मरण

शत्रुमर्दन—सचमुच ही तेरा कहना यथार्थ है। अब दूसरी बात सुनो। मेरे मन में बार-बार एक विचार आ रहा है। आचार्यश्री के उपदेश का स्मरण

❀ पृष्ठ २२३

कर मैं पुन.-पुन: उसका निराकरण भी करता रहता हूँ तथापि निर्लज्ज भिक्षुक ब्राह्मण की भाति मेरे मन मे एक प्रश्न पुनः-पुनः उभर-उभर कर आता है। अब तुम ही मेरी इस शका को दूर करो।

सुबुद्धि—वह कैसा विचार है, आप बताने की कृपा करे।

शत्रुमर्दन—सुनो। आज प्रातः हम सब जैसे ही प्रमोदशिखर मन्दिर मे प्रविष्ट हुए कि तुरन्त मेरे मन के सारे द्वन्द्व स्वतः ही दूर हो गये। राज्य-कार्य की चिन्ता-पिशाचिका अदृश्य हो गई, मोह के सब जाल टूट गये हो ऐसा लगने लगा, विपरीत दुराग्रह रूपी भूत भाग गया, सम्पूर्ण शरीर पर अमृत-वृष्टि जैसी शान्ति हो गई और क्षण मात्र में ऐसा अनुभव होने लगा मानो हृदय सुखसागर मे डूब गया हो। यह सब कुछ मैंने स्वय अनुभव किया है। उसके पश्चात् त्रिभुवननायक आदिनाथ भगवान् को. आचार्यश्री को और मुनियो को नमस्कार किया तथा आचार्य का उपदेश सुना, उस समय आज प्रात. मुझे जो अनुपम आनन्द सुख का अनुभव हुआ, उसका वर्णन वाणी द्वारा होना सम्भव नही है। ऐसे अप्रतिम जैन मन्दिर मे, अचिंत्य प्रभाव वाले गुरु महाराज के समक्ष, राग के विष को शमन करने वाले उनके वैराग्योत्पादक उपदेश के मध्य, शान्त चित्त वाले तपस्वियो और इतने बडे जनसमुदाय के बीच उस अधम बाल को अत्यन्त नीच आचरण करने का अध्यवसाय कैसे हो गया ?

व्यक्ति भेद से विचित्र प्रकार का क्षेत्र-स्वभाव

सुबुद्धि—देव! जैसा कि आपने कहा कि मदिर मे प्रवेश करते ही क्षणमात्र मे आपको अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ, वह सत्य ही है। इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योकि भगवान् के मन्दिर का नाम ही प्रमोदशिखर है। मन्दिर ऐसे गुण-समूह का निमित्त है, अत: उसमे प्रवेश करने से ऐसे गुणो का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही है। आपने पूछा कि ऐसे संयोगो के होते हुए भी बाल के मन मे ऐसे तुच्छ अध्यवसायो का आविर्भाव क्यो हुआ? ॐ इसका कारण तो आचार्यश्री ने आपको पहले ही बता दिया था। उसका नाम ही बाल है। नाम पर विचार करने से ही सदेह दूर हो जाता है। अतः इसमे भी कोई विस्मयकारिता नही है; क्योंकि पाप को रोकने की सभी सामग्री होने पर भी बाल जीव पाप का आचरण करतें हैं, यह बाल प्रकृति का स्वभाव है। पुन. आचार्यश्री के उपदेश पर विचार करने से यह भी समझ में आता है कि प्राणी को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की अपेक्षा से शुभ या अशुभ परिणामो का आविर्भाव होता है। प्राणी के अध्यवसायो मे इन पाचो निमित्तों का योग रहता है। बाल को उस समय जो अध्यवसाय हुए वे क्षेत्र के कारण से हुए, ऐसा लगता है।

ॐ पृष्ठ २२४

शत्रुमर्दन—जब तुम क्षेत्र की बात करते हो तब जैन मन्दिर जैसे पवित्र क्षेत्र मे ऐसी अघटित घटना कैसे हुई ? ऐसे सुन्दर शान्त पवित्रतम गुण-भण्डार क्षेत्र मे बाल के मन मे ऐसे अशुभ परिणाम क्यो उत्पन्न हुए ?

सुबुद्धि—महाराज ! इसमे मन्दिर का नही उद्यान का दोष है। मन्दिर भी उद्यान मे आया हुआ है इसलिये उद्यान सामान्य क्षेत्र है और वही बाल के अशुद्ध अध्यवसायो का कारण है।

शत्रुमर्दन—यदि यह उद्यान अशुद्ध अध्यवसायों का कारण है तो हम भी तो उसी उद्यान मे थे फिर हमारे मन मे अशुद्ध विचार क्यो नही उठे ?

सुबुद्धि—देव ! यह उद्यान विचित्र स्वभाव वाला है और भिन्न-भिन्न प्राणियो की अपेक्षा से अनेक प्रकार के विचार पैदा करने वाला है, इसीलिये उसका नाम निजविलसित उद्यान रखा गया है। भिन्न-भिन्न सहकारी कारणो के योग से जो भिन्न-भिन्न प्राणियो मे विभिन्न प्रकार के विलास की इच्छा उत्पन्न करे वह निजविलसित। बाल के साथ उसका मित्र स्पर्शन और अकुशलमाला थी इसलिये इस उद्यान मे मदनकन्दली को देखने पर उसके मन में उसके साथ विषय-भोग की इच्छा जाग्रत हुई। यहाँ स्पर्शन और अकुशलमाला का सहयोग और मदनकन्दली का दिखाई देना बुरे विचारो की उत्पत्ति के सहयोगी कारण है। मनीषी, मध्यमबुद्धि और आपको पुण्यशाली विशिष्ट पुरुष आचार्यश्री के चरण-स्पर्श का अवसर मिला जिससे सर्वविरति और देशविरति स्वीकार करने की इच्छा जाग्रत हुई, अत. आचार्यश्री का चरण-स्पर्श इसका सहयोगी कारण हुआ। यद्यपि द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्वभाव, कर्म, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कारणों के एक साथ मिलने पर ही किसी भी कार्य की निष्पत्ति होती है। केवल किसी एक ही कारण से स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य का कारण नहीं हो सकता। फिर भी किसी विशेष कारण की अपेक्षा से किसी कारण की मुख्यता हो तो उसे मुख्य समझना चाहिये। वास्तव मे सब कारणो के एकत्रित होने पर ही कार्य होता है, पर अमुक अपेक्षा से एक कारण मुख्य दिखाई देता है। उस वक्त उद्यान के विचित्र प्रकार के भाव हृदय पर अधिक प्रभावोत्पादक होने से क्षेत्र को मुख्य कारण माना है।

शत्रुमर्दन—मित्र ! यह तो तुमने ठीक कहा। अब एक दूसरी बात पूछता हूँ। आचार्यश्री के समक्ष जब कर्मविलास राजा के विषय में बात चली थी तब तुमने कहा था कि 'मैं उसका स्वरूप जानता हूँ, आपको बतला दूंगा' अतः मुझे उसका स्वरूप समझाओ, उसे जानने की मेरी तीव्र इच्छा है।

सुबुद्धि—देव ! यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो एकांत मे चलें, मैं सब कुछ बताऊँगा।

कर्मविलास राजा और उसके परिवार का वास्तविक स्वरूप

पश्चात् मनीषी की आज्ञा लेकर राजा तथा मन्त्री राज्यसभा से उठकर एकान्त कमरे मे गये। वहाँ सुबुद्धि ने कहा—राजन् ! आचार्यश्री ने जो बात कही

उसका परमार्थ इस प्रकार है, आप ध्यान पूर्वक सुनें। आचार्यश्री ने चार प्रकार के ❀ पुरुष कहे थे, उनमें से प्रथम उत्कृष्टतम पुरुष समस्त प्रकार के कर्म-प्रपञ्चो से रहित हैं, अत उन्हे सिद्ध या मुक्त कहा जाता है। उसके पश्चात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट जीव बताये, उन्हे क्रमशः बाल, मध्यमबुद्धि और मनीषी समझे। आचार्यश्री ने जिस कर्मविलास राजा की बात की उसे प्राणियों के इस प्रकार के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप के जनक अपने-अपने कर्म के उदय को समझे। कर्म की शक्ति अचिन्त्य एव अवर्णनीय है। आचार्य देव का सकेत इसी ओर था, अन्य किसी के सम्बन्ध में नही। कर्म की शुभ, अशुभ और मिश्र तीन प्रकार की परिणति है। शुभसुन्दरी, अकुशलमाला और सामान्यरूपा नाम प्रदान कर मनीषी, बाल, मध्यमबुद्धि की माताओ के रूप मे इन तीनो प्रकृतियो का परिचय दिया है, क्योकि तीन वर्गों के पुरुषों को उसी स्वरूप मे यही माताएँ जन्म देती हैं।

शत्रुमर्दन—"तब उक्त वर्ग के जीवो का मित्र कौन है, यह भी बतलाओ ?

सुबुद्धि—देव ! सब अनर्थो को उत्पन्न करने वाला, वह जो दूर खडा था, उस स्पर्शनेन्द्रिय को उन जीवो का मित्र समझे।

गुरु के उपदेश का रहस्य

शत्रुमर्दन राजा ने यह सुनकर मन मे विचार किया कि, अहो! आचार्यश्री का उपदेश मैंने भी सुना, पर मैं उसका रहस्य नही समझ सका, किन्तु इस सुबुद्धि ने विचार पूर्वक इस गहन निष्कर्ष को समझ लिया। मुझे लगता है कि सुबुद्धि को सदुपदेश देने वाले ऐसे साधुओ से पर्याप्त समय से परिचय है, इसीसे वह सब यथार्थता समझ गया है। ओहो ! इसने कितने सरल शब्दो मे समझाया ! आचार्यश्री का वचन-कौशल देखो ! जिन्होने युक्तिपूर्वक बिना किसी का नाम लिये मनीषी आदि सबके चरित्र सुना दिये। उन्होने भी कितना सुन्दर उपदेश दिया ! अथवा इसमे आश्चर्य कैसा ? उनका तो नाम ही प्रबोधनरति है, अत उन्हे अन्य प्राणियो को प्रतिबोध देने मे ही आनन्द आता है, यह तो उनके नाम की ही सार्थकता है।

राजा की दीक्षा में विलम्ब करने की इच्छा

इस प्रकार विचार करने के बाद राजा ने सुबुद्धि से कहा—मित्र ! अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नही। इन घटनाओ की यथार्थता मुझे समझ मे आ गई है। अब मैं एक दूसरी बात कहता हूँ, सुनों।

यदि यह मनीषी थोड़े समय तक ससार मे रहकर विषय-सुखो का भोग करे तो हम भी इसके साथ दीक्षा ले ले। कारण यह है कि जब से मैंने इसे देखा है तभी से मुझे इस पर अत्यधिक स्नेह उत्पन्न हुआ है। अतः इससे दूर रहने का विरह हृदय को किसी भी प्रकार स्वीकार नही होता, इसके मुखकमल को देखते हुए

❀ पृष्ठ २२५

दृष्टि भी नहीं थकती। हमें इसका विरह भी स्वीकार नहीं होता और इसी की तरह चारित्र-ग्रहण करने के परिणाम भी अभी उत्पन्न नहीं हुए, अत. इसे प्रेम से समझाकर इसको सगीतादि विषय-भोगों के सुखो की अनुभूति करा दो और इसको स्पष्ट रूप से बता दो कि आप ही इन विषय-भोगों के स्वामी हैं। इसे वज्र, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, माणक, वैडूर्य. चन्द्रकान्त, पुखराज आदि बहुमूल्य रत्नो का ढेर दिखा दो। देवांगनाओं को मान देने वाली लावण्यवती सुन्दर कन्याओ को दिखाकर उसके मन मे संसार के प्रति अनुराग पैदा कर दो जिससे कि वह अधिक विचार किये बिना ही थोड़े समय तक ससार में रहकर अपनी इच्छाओ की पूर्ति कर सके।

सुबुद्धि—जैसी महाराज की आज्ञा। परन्तु, इस विषय मे मुझे आपसे कुछ प्रार्थना करनी है, ॐ वह योग्य हो या अयोग्य आप मुझे क्षमा प्रदान करें।

शत्रुमर्दन—सखे! तुम तो मुझे अच्छा और यथार्थ उपदेश देने वाले हो अतः मुझ पर तुम्हारा पूर्ण अधिकार है। उपदेश देने के कारण तुम मेरे गुरु और मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। फलतः मेरे बारे में कुछ भी शका करने की आवश्यकता नहीं। जो कहना हो निःसंकोच होकर तुरन्त कहो।

दीक्षा की महत्ता

सुबुद्धि—देव! ऐसा है तो सुनिये। आपने कहा कि आपको मनीषी के प्रति अत्यधिक प्रेम है वह ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषों को सर्वदा गुणवान मनुष्य के प्रति पक्षपात (प्रेम) होता ही है जो समुचित भी है। ऐसा प्रेम पाप-समूह का दलन करता है. सद्गुणों को बढाता है, सज्जनता को जन्म देता है, यश की वृद्धि करता है, धर्म का संचय करता है और मोक्षमार्ग की योग्यता प्राप्त कराता है। आपने मनीषी को किसी प्रकार लालच देकर कुछ समय तक संसार मे रोकने की जो बात कही वह न्याययुक्त न होने से मुझे अनुचित प्रतीत होती है। ऐसा करके आप उस पर सच्चा प्रेम नहीं दिखा रहे है, वरन् उसके विरुद्ध कार्य कर रहे है, क्योकि इस ससार रूपी महाअटवी से बाहर निकलने की इच्छा से संपूर्ण जगत् का हित करने वाले जिनमत में विशेष प्रवृत्ति करने के लिये मन, वचन, काया से जो सम्यक् प्रकार से उद्यम कर रहा हो उसे अधिक उत्साह देने वाला ही उसका स्नेहशील सच्चा मित्र है। परन्तु, झूठे मोह से जो प्राणी ससार से निकलने की इच्छा वाले व्यक्ति को रोके वह उसका अहित करने वाला होने से परमार्थत. उसका शत्रु है। मनीषी अपना हित करने को उद्यत हुआ है, उसे न रोकने मे ही उसका हित है, तब ही आपका उसके प्रति सच्चा स्नेह माना जायगा। दूसरा, उसे रोकने के लिये इस ससार के पदार्थ तो क्या यदि आप दैवी-सपत्ति और सुख भी प्रस्तुत करे तब भी उसे डिगाना अशक्य है। [१-५]

ॐ पृष्ठ २२६

इसका कारण यह है कि उसे आचार्यश्री के उपदेश से विषय-विष के दारुण परिणामो की अनुभूतिपूर्वक प्रतीति हो चुकी है, वह प्रबोध प्राप्त कर चुका है। उसके हृदय सरोवर मे सर्वप्रकार के पाप रूपी कलुपता को धो डालने वाला विवेक रत्न स्फुरित हो चुका है। वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने वाला सम्यक्दर्शन उसकी आत्मा मे अधिक उल्लसित हुआ है और समस्त दोषो का हरण करने वाले चारित्र धर्म को ग्रहण करने के परिणाम उसे प्राप्त हो चुके है। जब प्राणी मे ऐसे महाकल्याणकारी गुणसमूह जागृत हो जाते हैं तब उसका चित्त विपयो मे लग ही नही सकता। उसे ससार का प्रपच त्याज्य ही लगता है। ससार के विलास उसे इन्द्रजाल के समान निस्सार ही लगते है। क्षणिक सुख उसे स्वप्न जैसे लगते हैं। इष्टजनो का सम्पर्क क्षण-स्थायी लगता है। मोक्षमार्ग प्राप्ति की जो प्रबल बुद्धि उसे प्राप्त हुई है वह दूसरों के अनुरोध या अनुराग पर प्रलयकाल मे भी नाश को प्राप्त नही होती, यह निश्चित है। अतः यदि हम उसे रोकने का प्रलोभन देगे तो यह प्रकट हो जायगा कि हम पर मोह का कितना अधिकार है। बाकी आप जैसा सोच रहे है, उसे ससार मे रहने का, रोकने का, वह तो कभी भी फलीभूत नही होगा। अत ऐसे व्यर्थ के प्रयत्नो से क्या प्रयोजन ?

शत्रुमर्दन—यदि ऐसा ही है तो इस अवसर पर हम क्या करें ? बताओ ❀

सुबुद्धि—देव ! उसकी दीक्षा का प्रशस्त मुहूर्त निकलवाकर उस दिन तक सब लोग अत्यधिक प्रमुदित हो ऐसे धार्मिक महोत्सव करे।

शत्रुमर्दन—यह तो तुम सब जानते ही हो अत. जेसा उचित समझो वैसा सब प्रबन्ध करो।

❀

१७. दीक्षा महोत्सव : दीक्षा और देशना

राजा शत्रुमर्दन ने सिद्धार्थ नामक ज्योतिषी को बुलाया। ज्योतिषी शीघ्र आया। उसके राज्य सभा मे प्रवेश करते ही राजा ने उसका उचित सम्मान किया और उसे आसन दिया। फिर उसे बुलाने का प्रयोजन बताया और दीक्षा महोत्सव के लिये शुभ मुहूर्त पूछा।

गणना कर ज्योतिषी ने कहा कि आज से नौंवे दिन इसी मास के इसी पक्ष मे शुक्ल त्रयोदशी शुक्रवार को चन्द्रमा का उत्तराभाद्रपद नक्षत्र के साथ योग है। उस दिन महाकल्याणकारी शिव योग है, सूर्योदय के सवा दो प्रहर पश्चात् वृषलग्न मे सातो ग्रह शुभ स्थान मे आने का एकान्त निरवद्य योग है। जो शुभ कार्य करने का सर्वोत्तम समय है, अत. उस समय चारित्र ग्रहण करवायें। राजा और मत्री को मुहूर्त

❀ पृष्ठ २२७

बहुत पसंद आया जिसे उन्होंने स्वीकार किया। ज्योतिषी को योग्य भट आदि देकर विदा किया और वह दिन आनन्द पूर्वक वीता।

अष्टाह्निका महोत्सव

दूसरे दिन से राजा ने प्रमोदशिखर मदिर मे और नगर के अन्य विशाल जिन मदिरो मे देवभवनो के सौन्दर्य को भी लजाने वाला सुन्दर एव विशाल महोत्सव मनाना प्रारम्भ किया। राजा ने घोषणा करवाई कि जिसे जो वस्तु चाहिये वह उस वस्तु को ग्रहण करे, इस प्रकार बडे-बड़े दान दिये। महोत्सव के आठ दिन तक मनीषी को जय-करिवर नामक वडे हाथी पर विठाकर नगर के राज्य मार्गों, मुख्यमार्गों, तिराहो और चौराहो पर शोभायात्रा निकाली गई। शोभायात्रा मे राजा स्वय मन्त्रियो एव सामन्तो सहित आगे-आगे पैदल चल रहे थे। उस समय मनीषी ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो इन्द्र ऐरावत हाथी पर विराजमान हो। वस्त्राभूषणो से सुशोभित स्तुति करते हुए नागरिकगण देवता जैसे लग रहे थे। इस प्रकार मनीषी की सम्पूर्ण नगर मे प्रतिदिन शोभायात्रा निकाल कर शत्रुमर्दन राजा ने उसे अलौकिक विलासों का अनुभव कराया।

इस प्रकार महोत्सव मनाते हुए आठवां दिन आ गया। राज्य सभा में समस्त अतिथियो का विशिष्ट सम्मान करते हुए पहले दो प्रहर आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए। सूर्य का चरित्र मानो मनीषो का चरित्र ही सूचित कर रहा हो इस प्रकार समय की सूचना देने वाले पहरेदारों ने घण्टा बजाते हुए सूचित किया—

संसार के अधकार को दूर करता हुआ और मनस्वियो को आह्लादित करता हुआ सूर्य अव मस्तक पर पहुँच गया है और स्पष्टतया सूचित कर रहा है कि जैसे मैं बढते-बढते अपने प्रकर्ष ताप से सबके ऊपर पहुँच गया हूँ उसी प्रकार प्राणी अपने गुणो के प्रताप (प्रकर्ष) से सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है। [१-२]

निष्क्रमण महोत्सव

शत्रुमर्दन राजा ने समय सूचित करने वाले की आवाज सुनकर सुबुद्धि प्रभृति को लक्ष्य कर कहा—अहो! मुहूर्त का समय आ गया है, अब आचार्यश्री के चरण-कमलो मे चलने के लिये सामग्री शीघ्रता से तैयार करे। सुबुद्धि मंत्री ने कहा—महाराज! मनीषी की पुण्य-परिपाटी के समान समस्त सामग्री तैयार ही है।

कनक के समान उज्ज्वल रथो मे जुते हुए सुसज्जित श्रेष्ठ घोडे घनघनाहट (हिनहिनाहट) की आवाज के साथ चलने प्रारम्भ हो गये है। उनके पीछे राजपुरुषो से अधिष्ठित, बादलो के समान असख्य हाथी राज्यद्वार पर घन गर्जन करते हुए मन्थर गति से चल रहे हैं। उनके पीछे रोबीले और बाके घुडसवारो से सुसज्जित चपल मुखवाले सैकडो अश्व मानो आकाश का पान कर रहे हों इस प्रकार

हेपारव कर रहे है। उनके पीछे आज के अवसर के अनुसार सुन्दर वस्त्र पहने हर्षोन्मत्त सैनिक दल चल रहे हैं जो क्षीर समुद्र के जल के समान लग रहे हैं। ※ सुन्दर रत्नाभूषणों से सुसज्जित सुन्दर लोचन वाले स्त्री-पुरुष सुन्दर द्रव्यों को साथ लेकर पंक्तिबद्ध होकर चल रहे हैं। महात्मा मनीषी के पुण्यपुञ्ज से आकर्षित देवता समूह आकाशमार्ग से आकर आकाश को सुशोभित कर रहे हैं। नगरवासी भी कौतुक देखने के लिये बड़ी सख्या मे आ रहे हैं जो हर्षोल्लास से तरंगित समुद्र मे आये ज्वार की तरह लग रहे है। अथवा मुझ से वृत्तान्त सुनकर, आपके आशय को जानकर और मनीषी के गुणों से आकर्षित होकर कौन इस उत्सव मे सम्मिलित नहीं होगा ? ऐसे उत्सव मे तो भाग लेने की सभी की इच्छा होती ही है, इसमे क्या सदेह है ? अतएव हे राजन् ! अब आप लोग भी उठिये। [१-८]

सुबुद्धि मंत्री के वचन सुनकर राजा और मनीषी खड़े हुए और द्वार के पास आये। एक मुख्य रथ पर मनीषी बैठा जिसके चारों तरफ़ रत्नों के घुंघरु लगे थे, सुन्दर सुखासन पर विराजमान मनीषी द्वारा धारित मुकुट की किरणों से उसका मस्तक आरक्त हो उठा था, कानों मे पहने हुए कुण्डल दोलायमान हो रहे थे, वक्ष-स्थल पर बड़े-बड़े उत्तम मोतियों की माला शोभित हो रही थी, सुन्दर कान्तियुक्त हाथों के कड़े और बाजूबन्द शोभित हो रहे थे, अति सुगन्धित पान और विलेपन आदि से उसकी बाह्य इन्द्रियों को प्रसन्न किया गया था, शरीर पर स्वच्छ बहुमूल्य दिव्य वस्त्र शोभित थे, उत्तम प्रकार की विभिन्न जातियों की फूल मालाओं से वक्ष सुशोभित था और प्रेमियों के मनोरथ को पूर्ण करने वाला उसका रूप अतिशय सुन्दर था। नरेश शत्रुमर्दन उस के रथ के सारथि बन कर रथ चला रहे थे। उस समय स्वकीय यश: कीर्ति के समान उसके मस्तक पर धवलित छत्र शोभित हो रहा था। दोनो ओर सुन्दर पण्यांगनायें हाथों से चन्द्र-कौमुदी-किरण जैसे श्वेत चामर डुला रही थी, भाट लोग उच्च स्वर से विरुदावली पढ़ते हुए साथ मे चल रहे थे, हर्षोन्मत्त वारांगनायें आगे-आगे नृत्य करती चल रही थी, भिन्न-भिन्न वाद्ययन्त्रों से निकलता मधुर स्वर चारों दिशाओं को बधिर कर रहा था, फैल रहा था। किन्नर गण (गायक समूह)गान करते साथ चल रहे थे, आकाश मे देवता हर्षातिरेक से सिंहनाद करते चल रहे थे, नगर निवासी उसकी जय जयकार करते चल रहे थे।

इस अवसर पर स्त्रियां झरोखों से अपने मुंह बाहर निकाल कर मनीषी को एकटक देख रही थी, कई महिलायें तो मनीषी को देव कुमार मानकर कौतुक से उसे ही देख रही थी और उसको निरख-निरख कर स्वयं को भाग्यशालिनी मान रही थी। उसके दर्शन से कितनी ही स्त्रियां हर्ष-विह्वल हो गई कितनी ही अनुपम शृंगार कर सामने आ रही थी जिससे कि उसकी दृष्टि उन पर ही पड़े, कितनी ही स्त्रियों ने मदन-रस से पराभूत होकर विलासपूर्ण हाव-भाव प्रदर्शित करने आरम्भ कर दिये थे और कितनी ही उसे देखने की प्रबल उत्कंठा मे एक-दूसरी को धकेल कर आगे

※ पृष्ठ २२८

आ रही थी, इससे आपस मे ईर्ष्या हो रही थी । घर के बड़े लोग हमको खिडकी से इस प्रकार झांकते हुए देख लेंगे इस कल्पना से वे लज्जित भी हो रही थी । ऐसा रूप सौंदर्यवान पुरुष संसार छोड देगा इस विचार से कइयों को दु:ख हो रहा था । सृष्टि मे से ऐसा सौन्दर्यधारक पुरुष चला जाए तब ससार में रखा ही क्या है ? इस विचार से कई स्त्रियाँ वैराग्य रस मे लीन हो रही थीं । इस प्रकार नगरवासी हजारों वनिताये अनेक प्रकार से रस और भावो से प्रभावित होकर उसका अभिनन्दन कर रही थी ।॰ आकाश मे देवसुन्दरियाँ और अप्सराये उसके साथ चल रही थी । उसके पीछे दूसरे रथ मे उसके समान ही रूपवान उसका भाई मध्यमबुद्धि बैठा था । उसके पीछे महा-सामन्त, मन्त्रीगरण एव विशाल जन समुदाय के साथ अनेक रथ, हाथी और घोड़े आनन्द पूर्वक चल रहे थे । इस प्रकार चलते हुए मनीषी की शोभायात्रा निज-विलसित उद्यान मे पहुँची । जैसे ही मनीषी रथ से नीचे उतरा, राज्य परिवार के लोगो ने उसे घेर लिया । फिर वह थोड़ी देर प्रमोदशिखर मन्दिर के द्वार पर खड़ा रहा ।

उदात्त अनुकरण : राजा को दीक्षाभिलाषा

मनीषी रथ मे बैठा तभी से उसमे कितना आत्मबल है इसकी परीक्षा करने के लिये शत्रुमर्दन राजा उसके स्वरूप को अधिकाधिक लक्ष्यपूर्वक अवलोकन करने लगा और उसके हलन-चलनादि प्रत्येक क्रिया पर विशेष ध्यान रखने लगा । किन्तु राजा ने देखा कि हर्षातिरेक का प्रसग उपस्थित होने पर भी अत्यन्त विशुद्ध अध्य-वसायो से मनीषी के मन का मैल धुल गया है और उसके मन में तिल-तुष मात्र भी विकार नही है, वरन् जैसे क्षार और अग्नि के ताप से रत्न अधिक चमकीला बनता है वैसे ही ससार के चित्र-विचित्र विलासो के दर्शन से उसका चित्त-रत्न अधिक निर्मल हो रहा है । ऐसे निर्मल मन ने परम्परानुविद्ध उसके शरीर पर भी प्रभाव दिखाया जिससे उसका शरीर इतना अधिक देदीप्यमान हो गया कि सूक्ष्म निरीक्षण करने पर राजा को ऐसा लगने लगा कि जैसे उदय होते समय सूर्य के प्रकाश में तारामण्डल द्युतिहीन हो जाता है वैसे ही मनीषी के आत्मिक तेज के समक्ष सपूर्ण राज्य मण्डल निस्तेज हो गया है । मनीपी के गुरण-चिन्तन मे राजा इतना लीन हो गया कि परिणामस्वरूप ससार-बन्धन-कारक कर्मो का जाल टूट गया और उसे स्वयं भी चारित्र ग्रहण करने को इच्छा उत्पन्न हो गई । उद्यान मे पहुँचते ही उसने अपनी इस इच्छा को सुबुद्धि मन्त्री, रानी मदनकन्दली, मध्यमबुद्धि और अन्य लोगो पर प्रकट की । महात्मा पुरुषों के सान्निध्य (संपर्क) के अचिन्त्य प्रभाव से, कर्मक्षयोपशम के विचित्र कारणों से और मनीषी के अकृत्रिम गुणों से प्रभावित सभी लोगों का आत्मवीर्य भी समुल्लसित हुआ जिससे उन्होने कहा :—

महाराज ! आपने ठीक कहा, आपके जैसे विवेकी पुरुषों को ऐसा ही करना चाहिये, क्योकि ससार मे इससे श्रेष्ठ और कुछ नही है । प्रभो ! यदि इस संसार

॰ पृष्ठ २२६

में कोई भी वस्तु रमणीय, सारभूत, ग्रहणीय और सुन्दर हो तो तत्वज्ञ क्यो ससार का त्याग करे ? बुद्धिमान पुरुष कैदखाने जैसे इस ससार का त्याग करते है इससे यह सहज ही प्रमाणित होता है कि इस ससार में कुछ भी सारभूत नही है। देव! अनेक प्रकार के महान भयो को बारबार उत्पन्न करने वाले इस ससार का जब मनीषी जैसे बुद्धिमान पुरुष सोच-समझकर त्याग करते है तब आपके जैसे समझदार व्यक्ति का उसमें लिप्त रहना योग्य नही है। हम सबने मनीषी के चित्त का अभी-अभी सूक्ष्म निरीक्षण किया है जिससे हमारा मन भी संसार के प्रति आकर्षित न होकर विकर्षित हो रहा है। जिस प्रकार उसके प्रभाव से हममे दीक्षा लेने का विचार उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार उसी के प्रभाव से उसी के अनुरूप हम सब कार्य-सम्पादन करेगे जो उसी के द्वारा पूर्ण होगा ऐसा लग रहा है। अत: जिनेश्वर देव के मत की अत्यन्त निर्मल और ससार का क्षय करने वाली भागवती दीक्षा लेने की हमारी भी इच्छा हुई है, आप हमे आज्ञा देने की कृपा करे। [१–८]

शत्रुमर्दन—आपके विवेक को धन्य है। आपका गम्भीर चित्त भी धन्यवाद का पात्र है। आपका वचन-चातुर्य और आत्मबल सचमुच ही प्रशसा के योग्य है। आपने श्लाघनीय विचार किया है। आपने मुझे भी उत्साहित किया है। एक क्षण मे मोह-पिजर को तोड़ कर आपने प्रशस्ततम कार्य किया है। [९–१०]

सबको धन्यवाद देने के पश्चात् हर्षोल्लसित होकर राजा ने सुबुद्धि से कहा—मेरे मित्र ! तुझे तो ससार का स्वभाव पहले से ही ज्ञात था, फिर भी इतने समय तक तू सिर्फ मेरे लिये ससार मे रहा, अन्यथा तेरा ससार मे पडे रहने का दूसरा क्या कारण हो सकता है ? यदि किसी प्राणी को राज्य मिलता हो तो वह चण्डाल कार्य क्यो स्वीकार करेगा ? मेरे सच्चे मित्र ! तूने बहुत अच्छा किया। मेरे ऊपर कृपा कर तूने आज तक ससार मे मेरा साथ दिया और आज मेरे साथ ही दीक्षा लेने का निश्चय कर तूने अपनी सच्ची मित्रता को निभाया है [११–१४]

मध्यमबुद्धि को उद्देश्य कर राजा ने कहा—भाई ! तेरी तो पहले से ही मनीषी की सगति होने से तू तो सच्चा भाग्यशाली है। जिस प्राणी को कल्पवृक्ष की प्राप्ति हो जाय उसे फिर किसी भी प्रकार का दु:ख कैसे रहेगा ? इसके चारित्र ग्रहण के विषय पर गम्भीरता से सोचकर उसका अनुकरण करने का निश्चय कर तुमने बता दिया है कि तुम भी अपने भाई जैसे ही हो। भद्र! तूने साधु कार्य किया। वृद्धजन कहते है कि जिसका प्रारम्भ अच्छा रहे उसका अन्त भी अच्छा होता है, यह कहावत तुम पर पूर्णतया घटित होती है [१५–१७]

फिर राजा ने मदनकन्दली रानी से कहा—स्वर्ण और पद्मकमल जैसा तुम्हारा चित्त वास्तव में अत्यन्त सुन्दर और सुकुमार है। इस निर्मल चित्त के कारण ही तुमने आज यह बात स्वीकार की है। लोक-व्यवहार से तुम मेरी धर्मपत्नी

❀ पृष्ठ २३०

कहलाती हो, उसे आज तुमने धर्म मे भी मेरा साथ देकर सत्य कर दिखाया है । हे देवी ! तुमने बहुत अच्छा निर्णय लिया है । संसार-कारागृह मे फसे हुए जीवो के लिये इससे अच्छा दूसरा कोई श्रेष्ठ कर्त्तव्य नही हो सकता । [१८-२०]

अपने सामन्तो और नगरवासियो मे से जो व्यक्ति उस समय दीक्षा लेने को तैयार हुए थे उन्हे मधुर वाणी से प्रसन्न एव उत्साहित करते हुए राजा ने कहा— आप पारमेश्वरी दीक्षा लेने को तैयार हुए हैं, अतः आप वास्तव मे भाग्यशाली हैं, महात्मा हैं, उत्तम पुरुष है और कृतकृत्य है । आप सब सर्वोत्तम कार्य कर रहे हैं । आपके जैसे लोगो के लिये ऐसा करना ही उचित है । आप इस लोक में मेरे अकृत्रिम/ सच्चे भाई है । [२१-२२]

सुलोचन को राज्य-प्रदान : दीक्षा

उस समय अपने पुत्र सुलोचन कुमार को अपने सर्व राज्य-चिह्न सौंपकर उसे राजगद्दी पर स्थापित किया । इसके अतिरिक्त जो अन्य कार्य करने थे उन्हें पूर्ण कर राजा जिनमन्दिर मे गया । अन्य लोग भी अपने कार्यो से निवृत्त होकर जिन-मन्दिर मे आये, जगद्गुरु जिनेश्वर देव की पूजा की और सब मिलकर गुरुदेव प्रबोधनरति आचार्य के पास आये तथा उनके सन्मुख सबने अपने विचार प्रकट किये । गुरु महाराज ने मधुर शब्दो मे सबका अभिनन्दन करते हुए कहा—बहुत अच्छा । अब विलम्ब कर, प्रतिबन्धित होकर ✻ संसार मे रहना श्रेयस्कर नही है । तदनन्तर पापो का प्रक्षालन कर जो स्वच्छतम हो चुके है ऐसे आचार्य देव ने सब को जैनागमों मे प्रदर्शित विधि से दीक्षा प्रदान की, दीक्षित किया । उस समय सब के संवेगमय वैराग्य की वृद्धि करने के लिये आचार्यश्री ने सक्षिप्त मे देशना दी । [२४-२८]

आचार्य देव की देशना

आदि-अन्त रहित यह संसार जिसमें बार-बार जन्म-मरण होने से बहुत भयकर है, इसमे मौनीन्द्री/भागवती प्रव्रज्या ग्रहण करना प्राणियो के लिये अति कठिन है । यह दीक्षा मन, वचन, काया के सभी सावद्य योगो पर अकुश रखने वाली होने से अतिशय निर्मल है । जब तक यह अत्यन्त दुर्लभ दीक्षा प्राणी के उदय में नही आती तब तक उसे इस ससार मे अनन्त प्रकार के दुःख होते रहते हैं, राग-द्वेष की परम्परा के भयकर परिणाम उसको प्रभावित करते रहते है, कर्म के स्पष्टतः प्रभाव से जन्म-परम्परा का चक्कर चलता रहता है, अनेक प्रकार की आपत्तियाँ और पीडाएँ आती रहती है, विडम्बित होता रहता है, मनुष्य ही मनुष्य के सन्मुख दीन वाक्य बोलता है, दुर्गति में जाकर अनेक दुःख सहन करता है, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहता है और विविध क्लेशो से भरपूर इस भयकर ससार-समुद्र में भटकता रहता है । जब कर्म शिथिल हो और भगवान् की कृपा हो तभी प्राणी जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित दीक्षा ग्रहण कर सकता है । दीक्षानन्तर उसके सब पाप धुल जाते है जिससे प्राणी अखण्ड

✻ पृष्ठ २३१

आनन्द से परिपूर्ण और दुनिया के सर्व क्लेशो से रहित उत्तमोत्तम गति मे पहुँच जाता है। फिर पूर्ववर्णित भयकर उपद्रव और ससार की सभी उपाधियो से उसका छुटकारा हो जाता है। जो प्राणी दीक्षा ग्रहण करते है वे इस ससार मे भी प्रशसा-मृत-रस का पान करते हैं। इस भव मे भी उन्हे किसी प्रकार की कमी नही रहती और वे अवाधित सुख से परिपूर्ण रहते है। जिनेश्वर देव के मत की ऐसी दीक्षा आज तुम्हे प्राप्त हुई है, जिसे तुमने स्वय अपनी इच्छा से स्वीकार किया है, अत इस भव मे प्राणी को जो विशेप स्थिति प्राप्त करनी चाहिये वह तुमने प्राप्त की है। मुझे अव तुम्हे यही कहना है कि प्रमाद को छोडकर, इस दीक्षा का पालन करते हुए आत्मा की प्रगति करने के लिये जीवन-पर्यन्त सतत प्रयत्न करते रहना। क्योकि, दीक्षा लेकर भी जो प्राणी उसका विधिवत् पालन नही करते वे अवन्य है और अवमता को प्राप्त करते हैं तथा जो प्राणी इसका विधिवत् पालन करते है वे ससार के उस पार पहुच जाते है। वस्तुत वे ही पुरुपोत्तम हे। [२९-४०]

गुरु महाराज का उपरोक्त प्रवचन सुनकर सबने एक मत से कहा—गुरुदेव! आप हमे आज्ञा दीजिये। आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये हम सव तत्पर हैं। [४१]

राजर्षि शत्रुमर्दन की शंकाओं का समाधान

उस समय अपने मुँह के समक्ष मुखवस्त्रिका रखकर शत्रुमर्दन साधु ने आचार्यश्री से प्रश्न किया—हे प्रभो! मनीपी का चित्त अति विशाल, निर्मल, धीर, गम्भीर, दाक्षिण्ययुक्त, दयावान, चिन्ता रहित, द्वेप रहित अचचल और ससार को आनन्द प्रदान करने वाला है। सक्षेप मे वर्णनातीत है। ऐसा चित्त क्या अन्य किसी का भी हो सकता है? उसके विशाल चित्त और उदार व्यवहार को देखकर हमारे सव ससारी वन्धन शिथिल हो गये हैं* और हम सव इस भयकर ससार कारागृह से मुक्त हो गये हैं। प्रभो! ऐसा विशाल चित्त अन्य किसी का भी हो सकता है क्या? कृपा कर मुझे समझाइये। [४२-४५]

गुरु महाराज- इस मनीपी की माता शुभसुन्दरी का नाम तो आपने पहले सुना ही है। शुभसुन्दरी के जितने भी पुत्र होते है उन सब का चित्त ऐसा ही निर्मल होता है। [४६]

यद्यपि राजर्षि शत्रुमर्दन स्वय तो अव उपरोक्त कथन का तत्त्व समझ गये थे किन्तु अन्य मुग्ध लोगो को वोध देने के उद्देश्य से शिर नमाकर फिर प्रश्न किया—महाराज! क्या शुभसुन्दरी के अन्य भी वहुत से पुत्र है? मैं तो उसके इस एक ही पुत्र मनीषी को जानता हूँ और ऐसा समझता हूँ कि उसके यह एक-मात्र पुत्र ही है। [४७-४८]

---

* पृष्ठ २३२

गुरु महाराज– शुभसुन्दरी के बहुत से पुत्र है । इस त्रिभुवन मे जो प्राणी मनीषी जैसे दिखाई देते है वे सब शुभसुन्दरी के पुत्र है इसमे किञ्चित् भी सदेह नही है । इस ससार के सभी उत्तम प्राणी जो महासत्त्व वाले प्राणियों के मार्ग पर चलने वाले हैं, वे सब मनीषी के समान शुभसुन्दरी के ही पुत्र है, ऐसा समझे । [४६–५०]

राजर्षि शत्रुमर्दन—भदन्त ! आपने पहले बाल की माता अकुशलमाला बताई, तब उसके भी बाल के अतिरिक्त और पुत्र होगे ? [५१]

गुरु महाराज – हाँ, उसके भी बहुत से पुत्र है । इस ससार के अधम, तुच्छ स्वभाव के जितने भी मनुष्य हैं, वे सब अकुशलमाला के पुत्र है, इसमे भी कोई संशय नही है । बाल जैसे अधम आचरण वाले पुरुषो को तुरन्त पहचान लेना चाहिये कि ये अकुशलमाला के पुत्र हैं । [५२–५३]

राजर्षि शत्रुमर्दन—भगवन् ! यदि ऐसा है तो सामान्यरूपा के भी मध्यमबुद्धि जैसे अन्य पुत्र होगे ? मध्यमबुद्धि के अन्य सहोदर है या नही ? [५४]

गुरु महाराज—अरे, इस सामान्यरूपा के तो अत्यधिक पुत्र हैं । इस संसार में कुछ मनीषी जैसे अत्युत्तम चरित्र वाले और कुछ बाल जैसे अत्यन्त अधम चरित्र वाले मनुष्य होते है । इनके अतिरिक्त बाकी के सब मनुष्यो को मध्यमबुद्धि के भाई ही समझना चाहिये । मध्यमबुद्धि की भाति कुछ-कुछ मलिन आचरण वाले जितने भी मनुष्य इस त्रिभुवन मे है, उन सब को सामान्यरूपा के पुत्र समझना चाहिये । मनीषी और बाल जैसे प्राणियो की अपेक्षा से यदि मध्यमबुद्धि जैसे प्राणियों की गिनती की जाय तो वे उन दोनो से अनन्त गुणे अधिक होगे, इसीलिये मैंने कहा कि सामान्यरूपा के तो अत्यधिक पुत्र है । [५५–५७]

राजर्षि शत्रुमर्दन—भगवन् ! यदि ऐसा ही है तो मेरे मन में एक विचार आ रहा है । आपके कथनानुसार कर्मविलास राजा ने अपनी तीन स्त्रियो से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार के प्राणी उत्पन्न किये, अतः सम्पूर्ण ससार के सभी प्राणी कर्मविलास राजा के कुटुम्बी हुए, क्या यह बात ठीक है ? [५८]

गुरु महाराज—आर्य ! इसमे कोई सन्देह नही है, तुम्हारा कथन सत्य है । तुम इस कथन के भाव को सम्यक् प्रकार से समझ गये हो । जिनकी बुद्धि मार्गानुसारिणी होती है, अर्थात् वे शीघ्र ही सत्य को पकड़ लेते है । वैसे तो सभी योनियों मे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्राणी होते है, पर इन वर्गों की स्पष्ट पहचान मनुष्य योनि मे ही हो पाती है । मनुष्यो मे तो यह पूरा कुटुम्ब सर्वत्र स्पष्टत. दिखाई देता है । [५९–६०]※

बुद्धिमान पुरुष को क्या करना चाहिये ? इस सम्बन्ध मे संक्षेप मे कहता हूँ, उसे सुनो—बाल का चरित्र त्याज्य है अतः किसी को भी न तो उसके जैसा आचरण ही करना चाहिये और न ऐसे व्यक्ति की संगति ही करनी चाहिये । जिस

※ पृष्ठ २३३

व्यक्ति को सुख की इच्छा हो उसे मनीषी के चरित्र का यत्न पूर्वक आदर करना चाहिये और उसके जैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिये। अधिकाशत प्राणी मध्यमबुद्धि जैसे होते है, पर यदि वे सम्यक् अनुष्ठान करे तो प्रयत्न से मनीषी जैसे हो सकते है। अत. हे भव्य प्राणियो! तुम्हे बारम्बार यही कहना है कि मेरे वचनो का अनुसरण करते हुए तुम्हे मनीषी के चरित्र का अनुकरण करना चाहिये और प्रयत्न पूर्वक पापी मित्रो का साथ छोड देना चाहिये, क्योंकि स्पर्शन की सगति से ही अन्त मे बाल का विनाश हुआ और उस स्पर्शन का त्याग करने से ही मनीषी ने ससार मे उत्कृष्टतम रूप से सुस्पष्ट प्रसिद्धि प्राप्त की और अन्त मे मोक्ष को सिद्ध करने वाला साधक बना। अत' अपना हित चाहने वाले प्राणियो को कल्याणकारी पवित्र मित्रो की सगति करनी चाहिये। अन्त'करण से समझना चाहिये कि पवित्र मनुष्यो की मित्रता इस भव और परभव मे सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कराने वाली है। बुरे मनुष्य की सगति इस भव मे दु खदायी और अच्छे मनुष्य की सगति सुखदायी होती है। मध्यमबुद्धि के सम्बन्ध मे यह वास्तविकता तुमने स्वय देखी है। देखो, जब तक उसने बाल की सगति की तब तक वह भी अनेक प्रकार के दु.खो का भाजन बना। उसने जब से मनीषी को संगति की तब से उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त हुआ। अतएव इस सच्चाई को ध्यान मे रखकर तुम्हे निश्चय करना चाहिये कि बाह्य अथवा अन्तरग में दुर्जन की सगति कभी नही करनी चाहिये और सर्वदा सज्जनो की ही सगति करनी चाहिये। [६१-७०]

जिनेश्वर देव के शासन के ऐसे अप्रतिम और अत्यन्त मनोहारी शब्द सुनकर बहुत से प्राणियो ने बोध प्राप्त किया और धर्माचरण मे तत्पर हुए। देवगण अपने-अपने स्थान को गये। सुलोचन कुमार राज्य शासन चलाने लगा और आचार्य श्री ने अपने पुराने और नये शिष्यो के साथ वहाँ से अन्यत्र विहार किया। [७१-७२]

जिनागम प्रदर्शित मार्ग पर बहुत समय तक चलते हुए जब अन्तिम समय निकट देखा तब समस्त विधियो को पूर्णकर मनीषी ने ज्ञान, ध्यान, तप और वीर्य के उपयोग से सब पापो को नष्ट कर, शरीर का त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया। मध्यम वीर्य वाले मध्यमबुद्धि और उसके जैसे अन्य साधुओ ने अपने कर्मो को बहुत कम और बहुत हल्के कर अन्त मे देवलोक प्राप्त किया। वे अन्य भवो मे मोक्ष प्राप्त करेंगे। बाल के सम्बन्ध मे आचार्य श्री ने पहले से ही भविष्यवाणी की थी कि वह चण्डाल के हाथ से मर कर नरक मे जायगा, वैसा ही हुआ। मुनि महाराज के भविष्य वचन कभी झूठे नही होते। [७३-७४]

स्पर्शन कथानक सम्पूर्ण

❀

१८ : कनकशेखर

[कुसंगति की बुराइयों को दिखाने के लिये तीसरे प्रकरण से विदुर ने स्पर्शन की कथा का प्रसंग उठाया था। जब राजा ने नन्दिवर्धन कुमार के पास विदुर को दूसरी बार भेजा था तब कुमार ने पूछा था कि, कल क्यो दिखाई नही दिया ? उत्तर में विदुर ने बताया था कि वह एक आश्चर्यजनक कथा सुनने मे रुक गया था। कुमार के आग्रह करने पर विदुर ने स्पर्शन की संपूर्ण कथा कह सुनाई। स्पर्शन की कथा समाप्त होने पर विदुर और नन्दिवर्धन (संसारी-जीव) के बीच निम्न बात चीत हुई]

कथानक का कुमार पर प्रभाव

विदुर—कुमार श्री ! कल मैंने यह स्पर्शन की कथा सुनी थी। कथा बड़ी होने से मेरा पूरा दिन उसे सुनने में ही बीत गया, इससे कल मैं आपके पास नही आ सका, जिसके लिये क्षमा चाहता हूँ।*

नन्दिवर्धन—भद्र ! बहुत अच्छा किया। यह कथा अत्यन्त रमणीय और चित्ताकर्षक है। इसे सुनने से रस तृप्ति भी होती है और उपदेश भी प्राप्त होता है। अहो ! सचमुच ही पापी मित्रो की संगति बहुत ही खराब है। देखो न, बाल ने स्पर्शन के साथ मित्रता की तो उसे इस भव मे और परभव मे अनेक घोर विडम्बनाओं से पूर्ण दु:खो की परम्परा ही प्राप्त हुई। इन दु:खो का कारण कुसगति ही था अन्य कुछ नही।

विदुर ने मन मे विचार किया कि चलो यह अच्छा हुआ कि कुमार ने कथा के आशय और सार को बराबर समझ लिया है। अब इसे कुछ कहने-समझाने का अवसर मिल गया।

विदुर की हितशिक्षा

उस समय मेरे निकट ही उसका मित्र वैश्वानर भी खड़ा था। कथा की प्रतिक्रिया के रूप में नन्दिवर्धन ने जो वाक्य कहे थे उसे सुनते ही वैश्वानर को झटका लगा। उसने सोचा, अरे ! कुमार के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि कुमार विपरीत बातें करने लगा है। इस कुमार को यह उल्टी पाटी विदुर ने पढाई है। यह अच्छा नही हुआ। यह विदुर बड़ा मुँहफट और यथार्थता को समझने वाला है। यह मेरा वास्तविक स्वरूप कुमार को अवश्य ही बता देगा। इस कल्पना से वैश्वानर शंकित हो उठा।

विदुर ने मन में सोचते हुए कुमार से कहा—ठीक है, आपने सम्यक् रीति से समझा। एक बात और है, प्राणी की ऐसी प्रकृति (स्वभाव) बन गई है कि जब

* पृष्ठ २३४

कभी वह कुछ नई वस्तु या घटना देखता है या उसके बारे मे सुनता है, तब उस घटना को अपने जीवन से मिलाकर देखता है। मैने भी इस कथा को सुनकर अपने मन मे विचार किया कि राजकुमार नन्दिवर्धन को भी यदि किसी पापी मित्र से मित्रता न हो तो बहुत अच्छा हो।

नन्दिवर्धन—भद्र! तुझे इस विषय मे सोचना ही क्यो पड़ा? मेरे पास इस समय न तो किसी पापी मित्र की गन्ध ही है और न भविष्य मे भी कभी होगी।

विदुर—मेरी भी आपसे यही प्रार्थना है।

इस प्रकार कह कर विदुर मेरे कान के पास आया और दूसरा कोई सुन न सके इतने धीमे से बोला—देखो कुमार! एक बात आपको कहनी है। लोगो के कथनानुसार यह वैश्वानर बहुत ही दुष्ट प्रकृति और बुरे चरित्र वाला है, अत इसकी पूर्ण रूप से परीक्षा करें। जिस प्रकार स्पर्शन की सगति से बाल ने अनेक दु ख भोगे वैसे ही वैश्वानर आपके लिये अनर्थकारी न बन जाय इस विषय मे विशेष ध्यान रखें।

हितोपदेशक पर द्वेष और उसका अपमान

यह बात सुनकर मेरे बिलकुल पास खडे मित्र वैश्वानर ने लक्ष्य पूर्वक मेरे सामने देखा। उसके मुँह के भाव से ही मैं समझ गया कि विदुर के वचनों से उसे बहुत दु ख हुआ है। उसने मुझे (नन्दिवर्धन) पहले से समझाये हुए संकेतचिह्न से मुझे पास बुलाकर क्रूरचित्त नामक एक बडा दिया, जिसे मैने तुरन्त खा लिया। बडे के प्रभाव से मेरे शरीर मे गर्मी बढने लगी। गुस्से से सारे शरीर पर पसीना आने लगा। क्रोध से शरीर गुंजा के अर्धभाग के समान आरक्त हो गया, दांतो से होठ दबाकर आवेश के भाव प्रकट करने लगा, ललाट पर रेखाये पड गई और मुख अत्यन्त भयकर हो गया। हे भद्रे अगृहीतसकेता! उस समय बडे के प्रभाव से मैं वैश्वानर के इतना वशीभूत हो गया कि मुझ पापी ने विदुर के सारे प्रेम और वात्सल्य को भुला दिया। उसने जो कुछ कहा, वह मेरे भले के लिये ही कहा, यह भी मैं भूल गया। लम्बे समय से चली आ रही उसकी संगति और स्नेह भाव का त्याग कर दुर्भावना पूर्वक निष्ठुर वचनो से विदुर का तिरस्कार करते हुए मैंने कहा—* अरे दुरात्मा! लज्जाहीन!! क्या तू मुझे बाल के समान समझता है? क्या अकल्पनीय प्रभाव वाले मेरे परमोपकारी, मेरे अतरग मित्र वैश्वानर को तू दुष्ट पापी स्पर्शन जैसा समझता है?

विदुर ने कोई उत्तर नही दिया। इससे मेरी क्रोधाग्नि भड़क उठी। मैंने तडाक से एक जोर का तमाचा उसके गाल पर जड़ दिया और एक मोटा पटिया उठाकर उसे मारने दौड़ा। भयातिरेक से उसका शरीर कांपने लगा और डरकर वह

---

* पृष्ठ २३५

भागा। मेरे पिता के पास जाकर उसने सब वृत्तान्त सुनाया। तब मेरे पिता ने बहुत ही शोक-पूरित मन से सोचा कि अब कुमार किसी भी प्रकार से वैश्वानर की संगति छोड़े यह सम्भव नहीं है। अतएव हमें तो अब मौन ही रखना चाहिये। मेरे पिता ने अपने मन में ऐसा निर्णय किया।

नन्दिवर्धन का यौवन

इधर थोड़े ही समय में मैंने अन्य समस्त कलाओं का अभ्यास पूरा किया, अतः अच्छा शुभ दिन देखकर मेरे पिताजी मेरे कलाचार्य से स्वीकृति प्राप्त कर मुझे कलाशाला (गुरुकुल) से घर ले गये। मेरे पिता ने कलाचार्य का सम्मान किया, दान दिया और मेरे कलाग्रहण समाप्ति की प्रसन्नता में महोत्सव किया। माता-पिता व अन्य समस्त परिजनों ने अभ्यास की समाप्ति पर मुझे धन्यवाद दिया। मेरे लिये एक राजभवन बनाया गया। वहाँ तुम आनन्द पूर्वक रहो, ऐसा कहकर वहाँ मेरे लिये अलग सेवकों की नियुक्ति की और मेरे भोग-उपभोग के सारे साधनों का अलग से प्रबन्ध किया। देव कुमार के समान सुखानुभव करता हुआ मैं उस भवन में आनन्द पूर्वक रहने लगा।

अनुक्रम से त्रैलोक्य को ललचाने वाले सागर के अमृत रस के समान, समस्त जनों के नेत्रों को आनन्दित करने वाले रात्रि में चन्द्रोदय के समान, बहुविध रागरंगों के विकारों से बांके वर्षा काल के इन्द्रधनुष के समान, कामदेव के अस्त्र रूप कल्पवृक्ष के कुसुम पुञ्ज के समान, कमल वन को विकसित करने वाले रमणीय लालिमा युक्त सूर्योदय के समान और विविध प्रकार के लास्य विलास प्रदान करने वाले मयूरनृत्य के समान यौवन मुझे (नन्दिवर्धन) प्राप्त हुआ। जबसे मेरी युवावस्था का प्रारम्भ हुआ तबसे मेरा शरीर रमणीय और आकर्षक बना, मेरी छाती चौड़ी हुई, मेरी जांघें मांसल हो गई, कमर पतली और नितंब स्थूल होने लगे। अपने प्रताप को प्रस्फुटित करती रोमावली फूट निकली, आंखें विशाल हो गई, दोनों हाथ लम्बे हो गये और यौवन के पदार्पण रूप कामदेव भी मेरे हृदय में निवास करने लगा।

प्रतिदिन मैं अपने राजभवन से निकल कर प्रातः मध्याह्न और संध्या समय अपने से बड़े पारिवारिक जनों को नमस्कार करने राजकुल में जाता था। एकदिन प्रातः इसी प्रकार मैं माता-पिता को नमस्कार करने गया और उनके पांवों को स्पर्श कर नमस्कार किया। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया। थोड़ी देर उनके पास बैठा, फिर उनसे आज्ञा लेकर अपने राजभवन में आया और सिंहासन पर बैठा।

कनकशेखर का जयस्थल नगर में आगमन

उस समय राजकुल में एकाएक कोलाहल का स्वर सुनाई देने लगा। असमय में यह क्या हल्ला हो रहा है? यह जानने के लिये मैं जिस तरफ से कोलाहल सुनाई दे रहा था उस तरफ जाने का विचार करने लगा।* इतने मे ही धवल नामक

---

* पृष्ठ २३३

बलवान सेनापति राजकुल में से निकलकर मेरी तरफ शीघ्रता से आता दिखाई दिया। मेरे पास आकर उसने नमस्कार किया और कहने लगा—कुमार! महाराज ने आपको सन्देश भिजवाया है। आज प्रातः आप जैसे ही उनके पास से उठकर बाहर आये वैसे ही एक दूत उनके पास आया और उसने बताया कि राजा कनकचूड का पुत्र कनकशेखर अपने पिता द्वारा किये गये अपमान से कोपित होकर, कुशावर्त नगर से निकल कर यहाँ से एक कोस दूर मलयनन्दन वन में पहुँच गया है। अब आपको जैसा योग्य लगे वैसा करें। वह अपना सम्बन्धी है, बड़ा आदमी है और अपना पाहुना है अतः उसे सन्मान के साथ लाने के लिये उसके सन्मुख जाना आवश्यक है। सभा में बैठे राजकुल के सभी सामन्तों ने भी यही विचार प्रकट किये हैं, अतः महाराज स्वयं उसे लेने के लिये उसके सन्मुख जा रहे हैं। आपके पिताजी ने आपको भी शीघ्र बुला लाने के लिये मुझे भेजा है। अतः अब आप शीघ्र पधारें।

"पिताजी की जैसी आज्ञा" कहकर मैं भी अपने परिजनों को लेकर चला और पिताजी की सवारी के साथ हो गया। मैंने धवल सेनापति से पूछा कि, 'कनकशेखर हमारा सम्बन्धी किस प्रकार हैं?' तब धवल ने बताया—कुमार! आपकी माता नन्दा और कुमार के पिता कनकचूड सगे भाई बहिन हैं, अतः कनकशेखर आपके मामा का पुत्र भाई है।

इस प्रकार बात करते हुए हम सब कनकशेखर के पास पहुँचे। उसने मेरे पिताजी के चरण स्पर्श किये, फिर पिताजी और मैं उससे प्रेम सहित आलिंगन-पूर्वक गले मिले। परस्पर एक दूसरे के योग्य सन्मान दिया। फिर बड़े आनन्दपूर्वक कनकशेखर को जयस्थल नगर में प्रवेश कराया। मेरे पिताजी और माताजी ने कनकशेखर से कहा—'वत्स! बहुत अच्छा किया, तुमने अपना मुख-कमल दिखाकर हमें अकल्पनीय आनन्द प्राप्त कराया है। यह राज्य भी अपने पिता का ही है, ऐसा समझ कर तुम्हें यहाँ रहने में किंचित् भी संकोच नहीं करना चाहिये।' मेरे माता-पिता के ऐसे प्रेम पूर्ण वचन सुनकर कनकशेखर बहुत प्रसन्न हुआ और उनकी आज्ञा को सिर आंखों पर चढाया। मेरे महल के पास ही कनकशेखर को रहने के लिये एक विशाल सुन्दर महल मेरे पिताजी ने दिया। वह उस महल में रहने लगा। धीरे-धीरे उसका मेरे प्रति स्नेह बढ़ता गया और वह मेरा विश्वासपात्र मित्र बन गया।

❁

१९. दुर्मुख और कनकशेखर

कनकशेखर जयस्थल नगर में मेरे साथ आनन्द से रह रहा था। एक दिन हम एकांत में बैठे थे तब मैंने कनकशेखर से पूछा—मैंने सुना है कि तुम्हारे पिता ने तुम्हारा अपमान किया जिससे तुम्हें अपना राज्य छोड़ कर यहाँ आना पड़ा। क्या

मैं जान सकता हूँ कि तुम्हारे पिताजी ने तुम्हारा कैसा अपमान किया और क्यो किया ? यह सारी घटना मैं सुनना चाहता हूँ।

कनकशेखर की पूर्ववार्ता : मुनि-दर्शन

कनकशेखर—सुनो, मेरे पिता कनकचूड और मेरी माता आम्रमजरी मेरा बहुत प्रेमपूर्वक पालन करते थे और बचपन का लाभ उठाकर मैं कुशावर्त नगर मे आनन्द करता था। एक दिन अपने मित्रो के साथ खेलते हुए मै नन्दनवन के समान शमावह नामक उद्यान मे पहुँचा। वहाँ साधुओ के ठहरने योग्य स्थान पर रक्त अशोक वृक्ष के नीचे ॐ एक महाभाग्यशाली प्रशान्त मुनिश्रेष्ठ को बैठे देखा। वे क्षीर समुद्र जैसे गम्भीर, मेरु पर्वत जैसे स्थिर, सूर्य के समान तेजस्वी और स्फटिक रत्न जैसे निर्मल दिखाई दे रहे थे। उन्हे देखकर स्वतः ही मेरे हृदय मे उनके प्रति भक्ति उत्पन्न हुई, जिससे मै उनके पास गया, नमस्कार किया और शुद्ध जमीन देखकर उनके समक्ष बैठा। मेरे मित्र भी मुनि महाराज को नमस्कार कर मेरे पास ही विनय-पूर्वक बैठ गये। [१—६]

जिनशासन का सार

इन साधु महाराज का नाम दत्त था। अपना ध्यान पूरा कर उन्होने हम सबको धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया और मधुरवाणी मे हमारे साथ वार्तालाप किया। उनके मधुर वचनो पर प्रीति उत्पन्न होने से मैंने उनसे नम्रता पूर्वक पूछा—'भगवन् ! आपके दर्शन मे धर्म किस प्रकार का बताया गया है ?' मेरे प्रश्न को सुनकर उन मुनि महाराज ने हम सबको अपनी मधुर वाणी से आह्लादित करते हुए विस्तार पूर्वक जिनेश्वर भगवान् के धर्म का स्वरूप बतलाया। उसमे भी उन्होने पहले साधु धर्म का और फिर विस्तार पूर्वक गृहस्थ धर्म का विवेचन किया। उन्होने बतलाया कि श्रावक का धर्म कल्पवृक्ष जैसा है, सम्यक् दर्शन कल्पवृक्ष का मूल है, बारह व्रत स्कन्ध है, शम, सवेग, निर्वेद, आस्तिकता और अनुकम्पा शाखाये है और इसके फल महान् है। यह सुनकर उसी समय मैंने और मेरे मित्रो ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। मुनि महाराज अन्यत्र कहो विहार कर गये। फिर मै भी घर आकर गृहस्थधर्म का पालन करने लगा। [७–१२]

मुझे गृहस्थ धर्म की दीक्षा देने वाले दत्त मुनि घूमते हुए थोडे दिनो बाद पुन मेरे नगर के समीप पधारे। धर्म प्राप्ति की तीव्र इच्छा से और अन्य श्रावकों की सगति से मैं धर्म के विषय में प्रवीण हो गया था। नगर के बाहर उद्यान मे मै महामुनि के पास गया, उनको वन्दना कर मैने पूछा—भगवन् ! जैन शासन का सार क्या है ? उसका वास्तविक रहस्य क्या है ? उसे समझाने की कृपा करें।। १३–१४]

गुरु महाराज ने कहा—अहिंसा, ध्यानयोग, रागादि शत्रुओ पर अकुश और स्वधर्मी बन्धुओ पर प्रेम, यह जैनागम का सार है [१५]

ॐ पृष्ठ २३७

सार पर विचारणा

गुरुदेव का उत्तर सुनकर मुझे विचार हुआ कि मेरे जैसा प्राणी जो सर्व प्रकार की आरम्भ-समारम्भ की प्रवृत्ति करता है, उसका सर्व प्रकार की हिंसा से बचना तो दुष्कर ही है। फिर गुरु महाराज ने ध्यान योग की शिक्षा दी, पर मेरे जैसे विषय-वासना मे लिप्त और अस्थिर मन वाले को ध्यान योग की साधना तो और भी कठिन लगी। फिर गुरुदेव ने रागादि शत्रुओ पर अ कुश लगाने की बात की, पर यह भी तत्त्वपरायण और प्रमाद रहित व्यक्ति ही साध सकते हैं, मेरे जैसो का रागादि पर विजय प्राप्त करना भी अशक्य है। फिर गुरुदेव ने अन्तिम शिक्षा स्वधर्मी बन्धुओ पर प्रेम रखने के लिये दी। वह शायद मेरे जैसे से पालन हो सकता है, ऐसा मुझे लगा। अत: मैंने निश्चय किया कि अपनी शक्ति के अनुसार मैं इस विषय मे प्रयत्न करू गा। क्योकि, अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को धर्म के सार को समझकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिये। ऐसा विचार कर, गुरुदेव को वन्दना कर मेरे सवेग की वृद्धि करता हुआ मैं राज्य भवन मे आया। [१६–२१]

स्वधर्मीवात्सल्य

मेरे पिता का मैं एकमात्र पुत्र होने से वे मुझे अपने जीवन से भी अधिक चाहते थे। मेरे पिता की मेरे पर बहुत कृपा थी अत मेरी जो भी इच्छा होती उसे वे पूरी करते थे।* फिर भी मैं नीति और विनय के अनुसार कार्य करता, कभी भी शीघ्रता नही करता था। राजनियम के अनुसार एक दिन मैने अपने पिताजी से नम्र निवेदन किया – पिताजी! जैन धर्मानुयायियो के प्रति हो सके इतना वात्सल्य करने की मेरी इच्छा है, अत आप मुझे ऐसा करने की आज्ञा प्रदान करे।' मेरे साथ पिताजी भी जैन शासन के प्रति भद्रिक-भाव रखने वाले बन गये थे, अत उन्हे मेरी प्रार्थना रुचिकर प्रतीत हुई। उन्होने कहा –'वत्स! यह राज्य तेरा है, मेरा जीवन भी तेरे लिये ही है, तेरी जो इच्छा हो वह कर, मुझे पूछने की कोई आवश्यकता नही है।' पिताजी का ऐसा अनुकूल उत्तर सुनकर मेरा हृदय हर्ष से परिपूरित हो गया। मैंने उनका चरण स्पर्श किया और "आपकी बडी कृपा" ऐसा कहते हुए मन मे बहुत प्रसन्न हुआ। उसके पश्चात् मेरे देश मे नवकार मन्त्र को धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह अन्त्यज (अछूत) या अन्य कोई भी हो, मैं अपना भाई मानने लगा और उनके प्रति अत्यन्त प्रेम पूर्ण व्यवहार करने लगा। उन्हे आवश्यकतानुसार खाद्य, वस्त्र, आभूषण, जवाहिरात और द्रव्य देकर सार्धमिको की पूर्ति करने लगा। पुनश्च, सम्पूर्ण देश मे मैंने घोषणा करवाई कि 'नमस्कार महामन्त्र का स्मरण और धारण करने वालो से किसी भी प्रकार का कर नही लिया जायगा, उनके लिये कर माफ किया जाता है।' घोषणा मे मैने इसका भी विशेष रूप से उल्लेख किया कि 'साधु मेरे परमात्मा, साध्वियाँ आराध्यतम परम देवियाँ और

---

* पृष्ठ २३८

श्रावक मेरे गुरु हैं।' उसके पश्चात् तीर्थंकर महाराज के शासन के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने वाले को देखकर मेरी आँखे आनन्दाश्रु से भर जाती और मैं उनकी कई प्रकार से स्तुति करने लगता। जैन धर्म पालन करने वाले सज्जनों के साथ यात्रा करने मे, स्नात्र महोत्सव करने में और बडे-बडे दान देने मे मुझे अतिशय प्रमोद होने लगा। जो मौनीन्द्रमत मे नवदीक्षित होते उनकी मैं भावना पूर्वक विशेष सेवा-पूजा करने लगा। मुझे धर्म-तत्पर देखकर अन्य लोग भी अधिकाधिक धर्मपरायण होने लगे। कहावत भी है कि 'जैसा राजा वैसी प्रजा' राजा के जैसी ही प्रजा भी बन जाती है। [२२-३५]

दुर्मुख मन्त्री की दुरभिसन्धि

अपनी बात आगे चलाते हुए कनकशेखर नन्दिवर्धन से कहता है कि 'मुझे इस प्रकार जैन शासन के प्रति विशेष रूप से अनुरागी देखकर दुर्मुख नामक एक मन्त्री मुझ से द्वेष करने लगा। यह दुरात्मा बहुत ही शठ (नीच) प्रकृति का और दम्भी था। एक दिन उसने पिताजी को एकान्त मे लेजाकर कहा—महाराज! ऐसा लगता है कि इस प्रकार तो राज्य को चलाना अत्यधिक दुष्कर हो जायगा, क्योंकि कुमार ने तो प्रजा को बहुत ही उच्छृंखल बना दिया है। जब तक लोगों के सिर पर कर देने का भय होता है तब तक वे अपनी मर्यादा का उल्लघन नही करते, पर जब उन्हे कर-मुक्त कर दिया जाता है तब वे निरकुश होकर समस्त अनर्थो के कारण बन जाते हैं। देव! जैसे उन्मार्ग पर चलने वाला निरकुश हाथी अकुश के भय से रास्ते पर आता है वैसे ही निरकुश लोग दण्ड के भय से रास्ते पर आते है। जब लोग अपनी इच्छानुसार योग्य-अयोग्य प्रवृत्ति करते हैं और आर्य पुरुषों के अयोग्य कार्य कर उद्दण्ड हो जाते हैं तब राजा के प्रताप की हानि होती है और राजा लघुता (हीनता) को प्राप्त होता है। * एक अन्य बात भी है, अभी जो बहुत से लोग जैन धर्मानुयायी बन गये है वे कुमार की कर-मुक्ति घोषणा का अनुचित लाभ उठाने के लिये ही जैन बने हैं, विचारवान मनुष्य तो इस प्रकार धर्म परिवर्तन एकाएक नही करते। अत. राजन्! जब लोगो को कर-मुक्ति कर दिया जाता है तो वे इच्छानुसार आचरण करने वाले बन जाते हैं। जब आपकी आज्ञा का कोई पालन न करे तब फिर आप कैसे राजा और कैसा राज्य? अतः हे देव! कुमार ने अभी जो असाधारण घोषणा करवाई है वह राजनीति की दृष्टि से मुझे तो ठीक नही लगती।' [३६-४४]

दुर्मुख की उपरोक्त बात सुनकर पिताजी ने उससे कहा—यदि ऐसा है तो तुम स्वयं कुमार से मिलकर इस विषय मे उसे समझा दो, मैं स्वय तो इस विषय मे कुमार को कुछ भी कहने मे असमर्थ हूँ [४५]

दुर्मुख की राजनीति

पिताजी को आज्ञा लेकर दुर्मुख मेरे पास आया और बोला—कुमार! आपने जो लोक-प्रशासन की नीति अपना रखी है वह राजनीति की दृष्टि से ऐसी

* पृष्ठ २३९

नही है। कुमार! जैसे सूर्य अपने करो (किरणो) से ससार के तत्त्व को खीचकर, अपने तेज से भूमण्डल पर व्याप्त होकर सबसे ऊपर रहता है, वैसे ही सूर्य के समान राजा भी कर द्वारा जगत के तत्त्व को खीचकर, अपने प्रताप से पृथ्वी तल पर व्याप्त होकर लोगो का सिरमौर बनता है। जो राजा साधारण लोगो के अधीन हो जाता है, उसका कैसा राज्य ? ऐसे निर्बल राजा की आज्ञा को कौन मानेगा ? न्याय भी कैसे मिलेगा ? जब राज्य की तरफ से दण्ड का भय चला जाता है तब लोग निरकुश हो जाते है और अपनी इच्छानुसार बुरे मार्ग पर प्रवृत्ति करने लगते है। जो राजा कर और दण्ड द्वारा पहले से ही प्रजा को अनुशासन मे नही रख सकता वह राज्य का सचालन नही कर सकता, अत वास्तव मे वह धर्म का नाश कर रहा है ऐसा ही समझना चाहिये। कुमार ! आपने अभी जो नीति अपना रखी है उससे राजधर्म की हानि होती है, अतएव वास्तविकता को सोच समझकर आप जैसे को निरर्थक स्वधर्मी वात्सल्य दिखाना उचित नही है। [४६-५१]

कनकशेखर की नीति

दुर्मुख के ऐसे निकृष्ट विचार सुनकर मेरा मन क्रोध से विह्वल हो गया। फिर भी अपने क्रोध को छिपाकर मैंने उसे शाति से कहा—आर्य ! यदि मै किसी दुष्ट या नीच व्यक्ति का पूजा-सन्मान कर रहा हूँ तब तो आपका कथन उचित है, पर जिन लोगो के गुण इतने अधिक वृद्धि को प्राप्त हुए है कि जिससे वे देवताओ द्वारा भी पूजनीय बने है, उन्हे दान-मान और सन्मान देने के सम्बन्ध मे ऐसे वचन बोलना उचित नही है। कारण यह है कि जैनेन्द्र मत का अनुसरण करने वाले लोग तो स्वभाव से ही चोरी, परस्त्री-गमन आदि सभी दुष्ट प्रवृत्तियो से बचे रहते हैं। जो बिना कहे ही सन्मार्ग पर चलते है, ऐसे महात्मा पुरुषो को दण्ड किस कारण से दिया जाय ? जिसकी बुद्धि मे ऐसे सत्पुरुषो को दण्ड देने के विचार उठते है, वास्तव मे तो वे ही दण्ड के योग्य है। जिन प्राणियो का रक्षण करने की आवश्यकता हो, जिनकी सार सम्भाल आवश्यक हो, उनसे कर लिया जाय तो वह उचित है, पर जिनधर्मी तो अपने गुणो से स्वय ही रक्षित है, अत उन पर कर का बोझ लादना उचित नही है। ऐसे लोगो की तो स्वय राजा और राज्य को सेवा करनी चाहिये, और मै वही कर रहा हूँ। त्रैलोक्य के नाथ श्री तीर्थंकर भगवान् के जो सेवक है वे तो वास्तव मे राजा ही है, और सब तो उनके सेवक है। अत मैंने किस राजनीति का उल्लघन किया है कि * जिससे तुम्हे इतने कठोर शब्द कहने पडे ? मेरे धर्म-वात्सल्य के कार्य को मिथ्या और व्यर्थ बताकर तो तुमने सचमुच अपना दुर्मुख नाम सार्थक कर दिया है। [५२-६१]

दुर्मुख का प्रपंच जाल

मेरा उत्तर सुनकर दुर्मुख मेरा अभिप्राय समझ गया अत: उसने अपने मन मे विचार किया कि, कुमार के मन मे अर्हद् दर्शन के प्रति प्रगाढ अनुराग है।

* पृष्ठ २४०

इसके मन पर इस दर्शन का अपरिवर्तनीय प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि मेरी वात सुनकर यह मुझ पर क्रोधित हो गया है। अव इस सम्बन्ध मे अधिक कहकर इसे उत्तेजित (क्रोधाविष्ट) करना उपयुक्त नही है। राजा को तो मैने पहले ही पट्टी पढा रखी है अतः मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा। अभी तो इसके कहे अनुसार ही करूँ।

अपने मन मे इस प्रकार सोचते हुए प्रकट रूप मे दुर्मुख ने कहा— धन्य! कुमार धन्य!! तुम्हारी सद्धर्म पर अटूट स्थिरता है इसमे सन्देह नही। तुम्हारी परीक्षा करने के लिये ही मैने उपरोक्त बात कही थी। अव मुझे निश्चय हुआ कि धर्म मे तुम्हारे मन की स्थिरता मेरुशिखर की स्थिरता को भी तिरस्कृत करने वाली है। आप मेरे वचन पर ध्यान न दे और उसे अन्यथा न समझे।

मैने भी वैसा ही शुष्क उत्तर दिया, 'इसमे कहना ही क्या है आर्य! आपके जैसे अन्य कल्पना करे यह भी अशक्य है।' इतना सुनकर दुर्मुख मेरे पास से चला गया।

दुर्मुख के जाने के वाद मैने सोचा कि दुर्मुख दुष्ट, शठ प्रकृति वाला, धूर्त और पापी है। इसकी वाणी और आचरण मे कितनी सत्यता है यह नही कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि पहले इसने मेरे से बात की तव तो वहुत सोच-सोचकर वोल रहा था, मगर मेरा उत्तर सुनकर उसने शीघ्रता से बात बदल दी। अत इसकी क्या इच्छा है यह जानना चाहिये। मेरे पास एक वहुत ही विश्वसनीय युक्ति सम्पन्न वुद्धिमान चतुर नामक लड़का था। मैने उसे सव वात समझाकर जाच करने भेजा। कुछ दिन वाद वह वापस मेरे पास आकर वोला—'राजकुमार! आपके पास से जाकर मैने अनेक प्रकार से दुर्मुख को मना कर उसके अगरक्षक के रूप मे नौकरी प्राप्त की और देखने लगा कि क्या हो रहा है?' दुर्मुख ने सव स्थानो से प्रमुख व्यक्तियों को वुलाकर कहा कि, 'अरे! यह कनकशेखर कुमार तो व्यर्थ ही मिथ्या-धर्म के आवेश मे आकर भूत-प्रेरित की तरह राज्य का नाश करने पर तुला है। अतः अव से वह कुछ भी दान मे दे तो वह दान की हुई वस्तु या धन और तुममे जो राज्य का कर बकाया हो वह भी गुप्त रूप से मुझे दे दिया करो। ध्यान रहे कि यह वात भूल से भी कुमार को मालूम नही होनी चाहिये। यदि ऐसा नही करोगे तो प्राण दण्ड दिया जायगा।' महामात्य दुर्मुख की इस आज्ञा को श्रावको ने शिरोधार्य किया और मन्त्री के पास से वाहर निकले।

नन्दिवर्धन को अपनी वात सुनाते हुए कनकशेखर ने आगे कहा चतुर की वात सुनकर मैने उससे पूछा कि, 'भद्र! क्या पिताजी को यह सव मालूम है?' चतुर ने कहा, 'हाँ, पिताजी को सव ज्ञात है।' मैने फिर पूछा कि, 'पिताजी को यह सव कैसे विदित हुआ?' तब उसने कहा कि, 'पिताजी को दुर्मुख ने ही सव वता दिया है।' मैने फिर पूछा कि, 'पिताजी ने यह सव सुनकर क्या किया?' तब चतुर ने कहा कि, 'यह सब जानकर भी पिताजी ने कुछ भी नही किया, केवल गजनिमीलिका

के समान सुना-अनसुना कर दिया ।' उस समय मैने मन मे विचार किया कि, 'यदि दुर्मु ख पिताजी की आज्ञा के बिना * ऐसी धृष्टता करता तब तो मै उसे स्मरण रखने योग्य दण्ड देता । अन्य कोई व्यक्ति कोई कार्य करे और उसका निषेध नही किया जाय तो उसमे उसकी सम्मति ही मानी जाएगी । इस न्याय से पिताजी की जानकारी मे सब कुछ होते हुए भी वे दुर्मु ख को मना नही करते, इससे उनकी सम्मति स्पष्ट है । अब इस सम्बन्ध मे मुझे क्या करना चाहिये ? क्योकि भगवान् ने कहा है कि माता-पिता के उपकार का बदला चुकाना अति दुष्कर है, अत पिताजी से विग्रह (लडाई) करना भी योग्य नही है । श्रावको पर फिर से लगाये गये कर के बोझ और दण्ड को मैं सहन भी नही कर सकता हूँ, अत' मेरे लिये यहाँ से चला जाना ही श्रेयस्कर है ।' यही सोचकर बिना किसी को सूचना दिये कुछ अन्तरग मित्रो के साथ मैं यहाँ आ गया । भाई नन्दिवर्धन ! इस प्रकार पिताजी ने मेरा अपमान किया है, तुम समझ गये होगे ।

२०. विमलानना और रत्नवती

कनकशेखर की बात सुनकर मैंने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए कहा– भाई ! जिन परिस्थितियो मे तुम पड गये थे, उनमे तुम्हारा यहाँ आना ठीक ही हुआ । जो व्यक्ति अपने सन्मान को समझता है, वह कभी भी स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने वालो के साथ नही रहेगा । कहा भी है कि "तेजोमय सूर्य जब तक अन्धकार को दूर कर सज्जनो के मन को प्रसन्न कर सकता है तभी तक आकाश मे रहता है और जब वह अन्धकार को आते देखता है तब अन्य समुद्र मे छिपकर समय की प्रतीक्षा करता है ।[समय आने पर फिर अन्धकार को दूर कर पूरे वेग से आकाश मे प्रकाशित होता है ।"]

कनकशेखर को पुनः बुलाने मन्त्रियों को भेजना

मेरे उपरोक्त वचन सुनकर कनकशेखर बहुत सन्तुष्ट हुआ । इस प्रकार सब तरह के आनन्द-विनोद और बातचीत मे दस दिन बीत गये । ग्यारहवे दिन हम दोनो मेरे महल मे बैठे थे कि पिताजी का सदेश लेकर एक व्यक्ति आया और हमको प्रणाम-कर कहा— महाराज ने आप दोनो राजकुमारो को शीघ्र अपने पास बुलाया है ।' "जैसी पिताजी की आज्ञा" कहकर हम दोनो पिताजी से मिलने निकले । हमारे पिताजी के पास पहुँचने के पहले ही पिताजी के पास से सभा मण्डप में से तीन प्रधान पुरुष अतिशीघ्रता से बाहर आये । उनकी आँखो से हर्षाश्रु बह रहे थे जिनसे उनकी आँखे गीली हो रही थी । उन्होने कनकशेखर का चरण-स्पर्श

* पृष्ठ २४१

किया तब उसने आश्चर्य से कहा, 'अरे ! तुम कहाँ से ? सुमति, वराग और केसरी अपने परिवार सहित यहाँ कैसे ?' कहते-कहते कनकशेखर ने स्नेह पूर्वक उन्हे उठाया और प्रेम से गले मिला। जब मैंने पूछा कि, 'कुमार ! ये कौन है ?' तब उसने बताया कि 'ये उसके पिताजी के महामात्य है।' एक दूसरे से मिलने के बाद हम सब राज सभा मे आये और पिताजी के पास बैठे।

मन्त्रियों का निवेदन

फिर पिताजी ने कनकशेखर से कहा—कनकशखर ! तुम्हारे पिताजी के मन्त्रियो ने मुझे जो कुछ कहा है, वह सुनो—वे कह रहे है कि तुम अपने पिताजी कनकचूड को कुछ भी कहे विना घर से निकल गये। तुरन्त ही भृत्यो द्वारा उन्हे पता चला कि तुम महल मे कही भी दिखाई नही देते तब मानो उन पर अकस्मात वज्र प्रहार होने से वे चूर-चूर हो गये हों, परवश हो गये हों पागल हो गये हो, मूर्छित हो गये हो, इस प्रकार चेतना रहित हो गये। रानी आम्रमंजरी भी बहुत घबरायी और थोड़ी देर तो वह स्वय भी अचेतन (मूर्छित) हो गई। फिर राजसेवकों ने पखा झला, चन्दन का लेप किया और कई प्रकार के उपचार किये तब उन्हे चेतना आयी। तब 'हा पुत्र ! तू कहाँ गया ?' ॐ कहकर दोनो विलाप करने लगे। नौकर-चाकर और भाई-बन्धुओं के विलाप से पूरे राजमहल मे हाहाकार मच गया। मंत्री-मण्डल ने मिलकर उस समय उन्हे धीरज बंधाया और कहा, 'महाराज ! इस प्रकार विलाप करने से तो कुमार मिलेगा नही। आप विषाद का त्याग करे, धीरज रखे और कुमार को ढूँढने का प्रयत्न करे।' राजा ने उनकी बात अनसुनी करदी और अधिक व्यथित एव विह्वल हो गये।

राजा-रानी की ऐसी दशा देखकर कुमार के सेवक चतुर ने मन में विचार किया कि इनको शोकातिरेक से अधिक दु ख हो रहा है। यदि ऐसा ही अधिक समय तक चलता रहा तो इनके प्राण निकल जायेंगे। ऐसी दशा मे अब मुझे उपेक्षा नही करनी चाहिये। ऐसा सोचकर चतुर ने राजा के पावों मे गिरते हुए कहा—'कुमार किसी कारण से यहाँ से बाहर चले गये है पर वे जीवित हैं—यह निश्चित है।' इतना सुनते ही राजा को पुन: चेतना आई, तब उन्होने चतुर से पूछा कि 'कुमार यहाँ से किसलिये और कहाँ गये ?' चतुर ने बताया कि 'कुमार ने यहाँ से जाने का कारण तो नही बताया है, किन्तु चातुर्य के कारण मैंने संकेत पा लिया है। मेरे विचार से वे जयस्थल नगर अपनी भुवा के यहाँ गये होंगे; क्योकि नन्दादेवी (नन्दिवर्धन की माता) पर कुमार का बहुत प्रेम है और पद्मराजा पर भी बहुत प्रेम है। मेरा कुमार से अधिक परिचय होने से मैं इतना कह सकता हूँ कि मेरा अनुमान ठीक ही होगा, क्योकि यहाँ से जाकर यदि उनके मन को कही सतोष प्राप्त हो सकता है तो वह नन्दादेवी के राज्य मे ही हो सकता है, अन्यत्र कही नही।' राजा ने चतुर

ॐ पृष्ठ २४२

की भूरी-भूरी प्रशसा की और उसे पारितोषिक मे महादान दिया। जाँच करने पर राजा को मालूम हुआ कि इस सब अनर्थ का कारण दुर्मुख मत्री ही है, अत उसे कुटुम्ब सहित देश निकाला दे दिया। उसी समय कनकचूड राजा और आम्रमजरी रानी ने प्रतिज्ञा की कि जब तक वे कुमार का मुँह नही देखगे तब तक आहार ग्रहण नही करेंगे, स्नान नही करेंगे और शृ गार आदि शरीर-सस्कार नही करेंगे।

विशाला से दूत का आगमन : प्रयोजन

इधर उसी दिन वहाँ एक दूत आया जिसने कनकचूड राजा को विधि-पूर्वक नमस्कार आदि कर निवेदन किया—'देव ! विशाला नगरी मे राजा नन्दन राज्य करते है। उनके प्रभावती और पद्मावती दो रानिया है। इन दोनो रानियो से उत्पन्न विमलानना और रत्नवती नामक दो पुत्रियाँ है। इधर रानी प्रभावती का भाई प्रभाकर कनकपुर का राजा है जिसके बुधसुन्दरी नामक रानी है। उनके विभाकर नामक पुत्र है। विमलानना और विभाकर के जन्म के पहले ही प्रभाकर और प्रभावती बचनबद्ध हुए थे कि हम दोनो मे से किसी एक को लडका और दूसरे को लडकी होगी तो हम उन दोनो का विवाह आपस मे कर देंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार विमलानना की जन्म के पहले ही विभाकर से सगाई हो गई थी। विमलानना ने एक बार भाट लोगो से कुमार कनकशेखर की निर्मल यशोगाथा सुनी, जिसे सुनकर विमलानना कुमार पर पूर्णतया अनुरागवती हो गई, जिससे वह यूथ से बिछुडी हरिणी, चकवे से दूर हुई चकवी, स्वर्ग से ❀ च्युत देवागना, मानसरोवर की अति उत्कठित दूर रही हुई कलहसी और जुआ खेलने वाली साधनहीन स्त्री के समान शून्यहृदया होकर गुमसुम रहने लगी। अब वह न वीणा बजाती है, न गेद खेलती है, न मेहदी लगाती है, न चित्रकारी करती है, न अन्य किसी भी कला मे रुचि दिखाती है, न शृ गार करती है, कोई कुछ पूछे तो उत्तर भी नही देती है, दिन-रात का भी उसे ध्यान नही है और योगिनी की तरह आँख की पुतली को हिलाये-चलाये बिना निरालम्ब होकर किसी के ध्यान मे निश्चल बैठी रहती है। उसकी यह दशा देखकर राज-परिवार के परिजन घबरा गये, पर समझ न सके कि एकाएक उसके आचरण मे इतना अतर क्यो आ गया ? रत्नवती उसकी अतिप्रिय होने के कारण सर्वदा उसके पास ही रहती थी। उसे विचार करते-करते ध्यान मे आया कि, अरे ! कुमार कनकशेखर का नाम सुनने के बाद ही एकाएक विमलानना की ऐसी स्थिति हुई है, अत यह निश्चित है कि कनकशेखर ने मेरी इस बहिन का मन चुराया है। इसलिये अवसर देखकर पिताजी नन्दराजा को इस विषय मे बता देना चाहिये जिससे इसके चित्त को चुराने वाले को पकड कर इसके साथ बाँध दिया जाय। यह सोचकर उसने सब बात नन्दराजा को बताई। पिताजी ने सोचा

❀ पृष्ठ २४३

कि 'इसकी माँ प्रभावती ने तो इसके जन्म के पहले से ही इसकी सगाई विभाकर से कर दी है, पर अभी यदि मै इस सम्बन्ध मे कुछ न करू तो लड़की के प्राण मुश्किल से बचेंगे। अत इसे शीघ्र ही कनकशेखर के पास पहुँचा देना चाहिये। यह स्वय कनकशेखर का वरण कर लेगी। इस अवस्था मे अधिक समय बिताना उचित नही है। कार्य समाप्ति के पश्चात् तो विभाकर को सम्भाल लेंगे।' यह सोचकर पिताजी विमलानना के पास आकर बोले—'पुत्री! धैर्य रख, शोक न कर, तू कुशावर्त नगर मे कनकशेखर के पास जा।' इस प्रकार मधुर शब्दो मे धैर्य बधाकर नन्दराजा ने उसे परिजनो के साथ कुशावर्त भेजने की आज्ञा दी। उस समय विमलानना की बहिन रत्नवती ने पिताजी के कहा - 'पिताजी! मैं अपनी बहिन विमलानना के बिना एक क्षण भी जीवित नही रह सकती। अत: यदि आप आज्ञा दे तो मै भी बहिन के साथ जाऊ। मैं इतना वचन अवश्य देती हूँ कि मै कनकशेखर से विवाह करने और बहिन की सौत बनने का प्रयत्न कदापि नही करू गी। स्त्रियो मे आपस मे कितना भी प्रेम क्यो न हो, पर यदि वे एक दूसरे की सौत बन जाय तो स्नेह बन्धन अवश्य ही टूट जाता है। अत: मै विमलानना के पति के किसी प्यारे मित्र की पत्नी बनू गी।' रत्नवती के विचार सुनकर राजा ने कहा—'पुत्री! जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। मुझे विश्वास है कि मेरी पुत्री स्वयमेव कभी भी अनुचित कार्य नही करेगी।' रत्नवती ने पिता की शिक्षा को शिरोधार्य किया और वह भी विमलानना के साथ चल पडी। महाराज! वहाँ से रात-दिन प्रवास कर विमलानना और रत्नवती यहाँ पहुँच गई है और नगर के बाहर बगीचे मे ठहरी हुई है। यह वृत्तान्त निवेदन करने के लिए उन्होने मुझे आपके पास भेजा है। अब आप जैसा उचित समझे वैसी आज्ञा प्रदान करे।

महाराजा कनकचूड ने जब यह बात सुनी तब उन्हे एक ओर अत्यधिक प्रसन्नता और दूसरी ओर गहन विषाद हुआ। फिर उन्होने चार प्रधानो मे से शूरसेन को आज्ञा दी कि आई हुई कन्याओ के ठहरने का समुचित प्रबन्ध करे और उनकी योग्य खातिरदारी करे। पश्चात् हमे (सुमति, वराग, केशरी तीनो प्रधानो को) * बुलाकर कहा—'अरे प्रधानो! देखो, नन्दराजा की दोनो पुत्रियाँ कुमार और उसके मित्र के साथ पाणिग्रहण करने आई हुई है, यह हमारे लिए बहुत ही आनन्द की बात है पर अभी कनकशेखर कुमार के विरह के कारण यह बात हमे अग्नि में घी डालने और जले पर नमक छिडकने के समान लगती है। अत तुम तीनो जयस्थल नगर जाओ! मुझे विश्वास है कि कुमार वही गया है। तुम मेरे जीजाजी पद्मराज नृपति को मेरी दशा और यहाँ आई कन्याओ के सम्बन्ध में बताना। मुझे विश्वास है कि दोनो कारणो को समझ कर जीजाजी कनकशेखर को शीघ्र ही यहाँ भेज देंगे। जीजाजी की आज्ञा लेकर उनके पुत्र नन्दिवर्धन को भी साथ लेते आना,

---

* पृष्ठ २४४

क्योकि मेरे विचार से रत्नवती के योग्य वर वही हो सकता है।' राजा की आज्ञा को शिरोधार्य कर हम यहाँ आये हैं।

कुमार कनकशेखर ! तुम्हारे पिताजी के तीनो प्रधानो ने अपनी सारी बात हमे सुनादी है, अत. अब तुम्हे शीघ्र ही यहाँ से जाना चाहिये। यद्यपि तुम्हारे जाने से हमे विरह होगा जिसे हम सहन नहीं कर सकेंगे तथापि वहाँ जाने के पक्ष मे प्रवल कारण होने से और तुम्हारे पिताजी की अवस्था गंभीर होने से हमे खेद पूर्वक निर्देश देना पड़ता है कि तनिक भी समय गवाये विना शीघ्र कुशावर्त पहुँचकर तुम दोनो को राजा कनकचूड के मन को हर्षित करना चाहिये।

दोनों कुमारों का प्रयाण

पिताजी की आज्ञा सुनकर मैं (नन्दिवर्धन) वहुत प्रसन्न हुआ कि पिताजी ने मनोनुकूल आज्ञा प्रदान की है। चलो, हम दोनों का वियोग तो नहीं होगा। यह सोचकर मैने और कनकशेखर ने कहा—'तात ! जैसी आपकी आज्ञा।' पिताजी ने उसी समय सानन्द प्रयाण योग्य चतुरगी सेना को तैयार करने की आज्ञा दी. उसके लिये प्रधान पुरुषो की नियुक्ति की, प्रयाण योग्य उचित मगल का विधान कर हम दोनो को विदा किया। उस समय मेरे अन्तरंग परिजनो के मध्य मे मित्र वैश्वानर ने भी मेरे साथ ही प्रयाण किया और पुण्योदय मित्र ने भी गुप्तरूप से साथ ही प्रयाण किया। इस प्रकार चलते-चलते हमने कितना ही रास्ता पार कर लिया।

❀

२१ : रौद्रचित्त नगर में हिंसा से लग्न

रौद्रचित्त नगर

चलते-चलते हम लोग रौद्रचित्त नगर में आ पहुँचे। इस नगर का अन्तरंग चोरो की पल्ली (वस्ती) जैसा है। यह दुष्ट लोगो का निवास स्थान और अनर्थ रूपी वैतालों की जन्मभूमि है और नरक का द्वार तथा सपूर्ण ससार मे सताप का कारण है। यथा—

किसी का सिर काट देना, छुरा भोक देना, यत्र मे पील देना, मार देना आदि संतापकारक घोर भाव इस रौद्रचित्त नगर के लोगो मे सर्वदा रहते है, इसीलिये इसे दुष्टो का निवास स्थान कहा गया है। [१–२]

कलह की वृद्धि, प्रीति का विच्छेद, वैर की परम्परागत वढोतरी. माँ-वाप और वच्चो आदि को मारने मे निष्ठुरता, आदि अनेक अवर्णनीय क्षोभरहित अनर्थकारी कार्य इस नगर मे होते ही रहते हैं, इसीलिये इस पत्तन को अनर्थ रूपी वैतालो की जन्मभूमि कहा है। [३–५]

इसे नरक का द्वार कहने का कारण यह है कि अपने पाप के बोझ से जिन लोगो को नरक मे जाना होता है, * वे ही पहले इस अधम नगर मे प्रवेश करते है। निर्मल मन वाले प्राणी तो इसी से समझ जाते है कि यह नरक मे प्रवेश का मार्ग है। इसी से इसे नरक का द्वार और नरक का कारण कहा गया है [६-७]

इस नगर मे क्लिष्ट कर्म (अत्यन्त अधम कार्य) करने वाले प्राणी रहते है। वे अपने शरीर के लिये स्वय ही भयकर दुःख उत्पन्न कर लेते है और दूसरे प्राणियो को भी अनेक प्रकार के दुःख देते है। इसी से इसे सम्पूर्ण ससार के सताप का कारण कहा है। अधिक क्या कहे? त्रिभुवन मे भी रौद्रचित्तपुर जैसा निकृष्टतम दूसरा नगर नही है [८-१०]

दुरभिसन्धि राजा

इस नगर मे चोरो को एकत्रित करने वाला, शिष्ट लोगों का परम शत्रु, स्वभाव से ही विपरीत प्रकृति वाला और नीति का लोप करने वाला लगभग चोर जैसा ही दुष्टाभिसन्धि नाम का राजा राज्य करता है।

इस ससार मे मान, उग्र क्रोध, अहकार, दुष्टता, लम्पटता आदि जितने भी अन्तरग राज्य के वडे-वडे चोर है, वे सब इस राजा की सेवा मे रहते है। इस प्रकार अन्तरग राज्य के चोरो का आश्रय-स्थान और पोपक होने से उसे चोरो को एकत्रित करने वाला कहा गया। [१-२]

सत्य, बाह्याभ्यन्तर पवित्रता, तप, ज्ञान, इन्द्रिय-सयम, प्रशम आदि इस लोक मे श्रेष्ठ प्रवृत्ति वाले जितने भी सदाचारी लोग है, उन सबको मूल से उखाड़ फेंकने के काम मे यह राजा निरतर तत्पर रहता है। इसी से इसको शिष्ट लोगो का परम शत्रु कहा गया है। [३-४]

प्राणियो ने करोडो वर्षो तक विशेष प्रयत्न द्वारा जो कुछ भी धर्मध्यान रूपी धर्मधन एकत्रित किया हो, शुभ परिणाम प्राप्त किये हो उन सब को यह राजा अत्यन्त निर्दयता से एक क्षण मे जला देता है। और, सरल लोग इसे सतुष्ट करने, इसकी इच्छाओ को पूरा करने का कोई उपाय नही कर सकते, इसी से इसे स्वभाव से ही विपरीत प्रकृति वाला कहा गया है। [५-६]

इस लोक मे जब तक दुष्टाभिसन्धि राजा बीच मे पड़कर नीति का विघटन नही करता तभी तक दुनिया मे नीति चलती है, परन्तु जब यह प्रकट होता है तब नीति और धर्म कही जाकर छुप जाते है, इसीलिये बुद्धिमान अनुभवियो ने इसे नीति का लोप करने वाला कहा है। [७-८]

निष्करुणता रानी

दूसरो की वेदना को नही समझने वाली, पाप के रास्तो मे कुशल, चोरो

---

* पृष्ठ २४५

पर प्रेम रखने वाली, पति की अनुरागिणी और पूतना जैसी निर्दय निष्करुणता नामक इस राजा की महारानी है ।

दुष्टाभिसन्धि राजा लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट देता रहता है उस समय कष्ट पाते दयनीय लोगो को देखकर उन पर दया लाने के बदले यह रानी मुक्त हास्य पूर्वक हँसती है और प्रसन्न होकर गाढतर दु खो को उत्पन्न करती है। इसीलिये इसे दूसरो की वेदना नही समझने वाली कहा है। [१–२]

आँखे फोड देना, शिरोच्छेद कर देना, नाक कान काट देना, चमडी उतार देना, हाथ-पाव तोड़ देना, खदिर की लकडी के समान शरीर को पीटना आदि प्राणियो को पीडा देने के सभी उपायो मे यह रानी अत्यन्त चतुर है। इसीलिये इस निष्करुणता रानी को पाप के रास्तो मे कुशल कहा है। [३–४]

सम्पूर्ण ससार को सन्ताप देने वाले, परद्रोह ❀ आदि अधम चेष्टाये करने वाले दुष्ट और नीच लोग जो इस नगर मे रहते है, उन सब पर इस महारानी का प्रगाढ प्रेम है और उन्हे वह अपने विशेष अनुचर के रूप मे नियुक्त करती है। इसीलिये इसे चोर-वृन्द पर प्रेम रखने वाली कहा है। [५–६]

अपने पति में अनुरक्त यह रानी दुष्टाभिसन्धि राजा को परमात्मा के समान मानती है और रातदिन उसकी सेवा शुश्रूपा करने मे तत्पर रहती है। उसके शरीर को या उसका साथ वह कभी नही छोडती और उसके बल को सचय कर बढाती है। इसीलिये उसे पति की अनुरागिणी कहा गया है। [७–८]

हिंसा पुत्री

निष्करुणता रानी के एक हिसा नामक पुत्री है जो रौद्रचित्तपुर की निकृष्टतम समृद्धि की अभिवृद्धि करने वाली, नगर निवासियो की अत्यन्त वल्लभा, माता-पिता के प्रति विनीता और स्वरूप से अतिभीषण आकृति वाली है, मानो वह साक्षात कालकूट विष से निर्मित हुई हो।

जब से इस पुत्री का राजभवन मे जन्म हुआ है तब से रौद्रचित्त नगर समस्त प्रकार से समृद्ध हुआ है और राजा-रानी के शरीर भी पुष्ट हुए है। इसीलिये इस हिंसा कन्या को इस रौद्रचित्तपुर की निष्कृष्टतम समृद्धि की अभिवृद्धि करने वाली कहा गया गया है। [१–२]

ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, क्रोध, अशाति आदि बडे-बडे प्रसिद्ध कीर्ति वाले इस नगर के प्रधान नागरिक है, उन्हे यह हिसा अत्यधिक आनन्द देने वाली है। यह एक की गोद मे उठकर दूसरे की गोद मे बैठ जाती, एक के हाथ से दूसरे के हाथ मे चली जाती तब लोग उसका चुम्बन करते। इस प्रकार यह हिंसा स्वेच्छाचारिणी के रूप मे नगर में घूमती रहती है। इसीलिये इसे नगर निवासियो की अत्यन्त वल्लभा कहा गया है। [३–५]

❀ पृष्ठ २४६

वह दुष्टाभिसन्धि राजा की आज्ञा का कभी अनादर नही करती और निष्करुणता माता की आज्ञा का भी बराबर पालन करती है।

अपने माता-पिता की सेवा शुश्रूषा करने मे सर्वदा तत्पर रहती है। इसीलिये इसे माता-पिता के प्रति विनीता कहा गया है। [६-७]

इस हिंसा पुत्री को स्वरूप से अतिभीषण आकृति वाला क्यों कहा है? उसका कारण सुनो—

इस पुत्री का नाम ही इतना भयंकर है कि जिसे सुनने मात्र से लोगों के मन मे भय और कम्पकपी छूट जाती है तब उसे साक्षात देखने पर तो वह कितनी बीभत्स और डरावनी लगती होगी, इसकी कल्पना आप स्वय करे। यह हिंसा अपना शिर नीचे झुकाकर, जोर से धक्का मार कर प्राणी को नरक के महा भयकर गहन खड्डे मे गिरा देती है। यह सर्व प्रकार के पाप की मूल, समग्र प्रकार से सर्व धर्म का नाश करने वाली और अतरग को उत्तप्त करने वाली है। शास्त्रकारों ने बारंबार इसकी निंदा की है। अधिक क्या कहे? संक्षेप में भयकर आकृति वाली इस हिंसा पुत्री जैसी रौद्रतम अन्य कोई स्त्री इस ससार में नहीं है। [८-१२]

तामसचित्त का परिवार

इधर एक तामसचित्त नामक अन्य अन्तरंग नगर है। वहाँ राजा महामोह के पुत्र द्वेषगजेन्द्र नामक राजा रहते है। पहले मैंने बताया है कि मेरा अन्तरंग मित्र वैश्वानर अविवेकिता नामक ब्राह्मणी का पुत्र है। यह ब्राह्मणी द्वेषगजेन्द्र की पत्नी है, अतः वैश्वानर द्वेषगजेन्द्र का पुत्र हुआ। * मेरा मित्र वैश्वानर जब इस अविवेकिता के गर्भ में था तभी किसी कारण से वह तामसचित्त नगर को छोड़कर इस रौद्रचित्त नगर में आ गई थी। यह तामसचित्त नगर कैसा है? द्वेषगजेन्द्र राजा कैसा है? और अविवेकिता रानी कैसी है? तथा वह तामसचित्त नगर से रौद्रचित्त मे क्यो आई? इत्यादि के सम्बन्ध मे आगे वर्णन करूगा। भद्रे अगृहीतसकेता! उस समय मुझे इन सब घटनाओं की गन्ध भी प्राप्त नही हुई थी। महापुरुष सदागम की कृपा से मुझे अभी-अभी यह सब घटना मालूम हुई है वह तुम्हे बताता हूँ।

नन्दिवर्धन का हिंसा के साथ विवाह

यह अविवेकिता कुछ समय तक रौद्रचित्त नगर में आकर रही। वहाँ उसका दुष्टाभिसन्धि राजा से गाढ परिचय हुआ। यह दुष्टाभिसन्धि पल्ली-पति अविवेकिता के पति द्वेषगजेन्द्र का निकट सम्बन्धी था, अतः वह अविवेकिता रानी के प्रति दास की तरह व्यवहार करता था। जब अविवेकिता को यह पता लगा कि मैं मनुजगति नगर मे आया हूँ तब मुझ पर स्नेह वेग वह रौद्रचित्त नगर से निकलकर

---

* पृष्ठ २४७

मेरे पास मनुजगति नगर मे आ गई और जिस दिन मेरा जन्म हुआ उसी दिन उसने वैश्वानर पुत्र को जन्म दिया। जैसे-जैसे मैं बड़ा हुआ वैसे वैसे ही वैश्वानर भी बड़ा हुआ। जब वैश्वानर समझदार हो गया तब अविवेकिता ने उसे सब समझा दिया कि कौन-कौन उसके आत्मीय स्वजन सम्बन्धी है।

हम कुशावर्त जाने के लिये चलते हुए जब रौद्रचित्त नगर पहुँचे तब मेरे प्रिय मित्र वैश्वानर के मन मे ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि इस नन्दिवर्धन कुमार को रौद्रचित्त नगर में ले जाऊ और प्रयत्न कर दुष्टाभिसन्धि राजा को समझा कर उनकी पुत्री हिंसा का लग्न मेरे मित्र के साथ करवादूँ। यदि इन दोनो का विवाह हो जाय तो मेरे सोचे हुए सब काम सिद्ध हो जायेंगे। यह सोचकर उसने मुझ से कहा—'चलो हम रौद्रचित्त नगर चलते है।' मैंने कहा—'ठीक है चलेंगे, परन्तु कनकशेखर आदि को साथ लेकर चलेंगे।' वैश्वनर ने कहा—'कुमार! वे इस नगर मे प्रवेश नही कर सकेंगे, क्योकि रौद्रचित्त नगर अन्तरंग का नगर है, अतः वहाँ तू तेरे सगे सम्बन्धियों से रहित होकर अकेला ही मेरे सहयोग से प्रवेश कर सकता है,' उसके यह वचन मैंने सुने। उसके वचन मेरे लिये अनुल्लघनीय थे, क्योकि उसका मेरे प्रति प्रगाढ स्नेह होने से, अज्ञान मे डूबी हुई चित्त की विकलता से, यह मेरा वास्तविक शत्रु है इसका विचार/ज्ञान न होने से, स्वय की आत्मा के हिताहित की दृष्टि न होने से और आगामी काल मे होने वाली अनर्थ-परम्परा से अज्ञात होने के कारण हे अगृहीत-सकेता! मैं मेरे मित्र वैश्वानर के साथ रौद्रचित्त नगर गया। वहाँ के राजा दुष्टाभिसन्धि को मैंने देखा। मेरे मित्र ने राजा से उनकी कन्या हिंसा के साथ मेरे विवाह की बात की और हम दोनो का विवाह सम्पन्न हुआ। लग्न के योग्य सभी क्रियाओं को वहाँ किया गया।

वैश्वानर की शिक्षा

इस प्रकार दुष्टाभिसन्धि राजा ने अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ कर मुझे विदाई दी। वैश्वानर और हिंसा को साथ लेकर मैं वहाँ से चलकर कनकशेखर और अपनी सेना के पास वापस आया। रास्ते मे प्रसन्न होकर वैश्वानर मुझ से वातचीत करने लगा।

श्वानर—मित्र नदिर्वर्धवन! आज मै सचमुच भाग्यशाली हूँ।

नन्दिवर्धन—वह किस प्रकार?

वैश्वानर—तूने इस हिंसा देवी से शादी की यह बहुत अच्छा हुआ।* अब मेरी एक ही प्रार्थना है कि तू इस प्रकार व्यवहार कर कि जिससे वह तेरे प्रति अत्यधिक अनुरागवती बन जाय।

नन्दिवर्धन—यह मेरे प्रति अधिक अनुरक्त रहे इसका क्या उपाय है?

---

*पृष्ठ २४८

वैश्वानर—किसी भी प्राणी ने किंचित् भी अपराध किया हो, या न किया हो उसे विना विचारे, विना दया किये मार देने पर ही यह हिंसा देवी तुम पर अधिक अनुरागिणी हो सकती है।

नंदिवर्धन—यदि हिंसादेवी मुझ पर अधिक अनुरागवती हो तो उसका परिणाम क्या होगा ?

वैश्वानर—भाई नंदिवर्धन ! मेरे से भी इसका प्रभाव तो अत्यधिक है। जब मैं किसी पुरुष मे प्रवेश करता हूँ तब वह अत्यन्त तेजस्वी बन जाता है और प्राणियों को त्रास मात्र दे सकता है। परन्तु, जब हिंसा किसी प्राणी पर आसक्त हो जाती है तब उसके प्रभाव से उसके दर्शन मात्र से विपक्षी के प्राणों का नाश हो हो जाता है, अतः यह तेरे पर अधिक अनुरागवती हो ऐसे उपाय कर।

नन्दिवर्धन—'ठीक, मैं ऐसा ही करूंगा।

वैश्वानर—बड़ी कृपा।

उसके पश्चात् रास्ते चलते हुए जगल में रहने वाले खरगोश, हिरण, सियाल, सूअर, सांरग आदि हजारा पशुओ को मैंने विना प्रयोजन ही मार डाला। अपने मित्र वैश्वानर की शिक्षा को पूरा करने के लिये ही मैं ऐसा करता था। ऐसा करने से मेरी नवपरिणीता पत्नी हिंसा देवी मुझ पर बहुत प्रसन्न हुई और मुझ पर पूर्ण अनुरागमयी हुई। अन्त मे मेरी यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढी कि मुझे देखकर ही प्राणीमात्रत्रास से कापने लगे और किसा-किसी जीव के तो प्राण मुझे देखने मात्र से निकलने लगे। मेरे मित्र वैश्वानर ने मुझे हिसा का जो प्रभाव बताया था कि दर्शन-मात्र से अन्य प्राणी के प्राण निकल जायेंगे, उस पर अब मुझे विश्वास हो गया।

२२ : अंबरीष युद्ध और लग्न

अम्बरीष जाति के डाकू

कनकशेखर और मैं (नन्दिवर्धन) सेना के साथ चलते हुए कनकचूड की राजधानी कुशावर्तपुर की सीमा के समीप पहुँच गये। वहाँ एक विषमकूट पर्वत था। इस पर्वत पर महाराज कनकचूड के राज्य मे बड़े-बड़े उपद्रव करने वाले अम्बरीष जाति के डाकू रहते थे। इन डाकुओं ने पहले भी राजा कनकचूड के प्रजाजनों को बहुत त्रास दिया था। ये डाकू इस राज्य से बहुत शत्रुता रखते थे और उसे क्रियान्वित करने के प्रसंग ढूंढते रहते थे। जब उन्हें समाचार मिले कि शत्रु कनकचूड राजा का बडा राजकुमार कनकशेखर इस रास्ते से होकर कुशावर्तपुर जा रहा है, तो वे तुरन्त ही रास्ता रोककर बैठ गये। हमारी और डाकुओं की सेना जब

निकट आई तब डाकूओं की सेना हम पर टट पडी और डाकुओ तथा हमारी सेना मे घमासान युद्ध शुरु हो गया।

भयंकर युद्ध : डाकुओं की पराजय

एक के बाद एक आ रहे तीरो की बौछार से विद्ध हाथियो के कुम्भस्थल से निकलते श्वेत मोतियो से जमीन ढक गई। वह भयकर युद्ध-भूमि बडे तालाब जैसी लग रही थी और उसमे वीर यौद्धाओं के कटे सिर रक्त कमल जैसे लग रहे थे। रक्त से लाल भरे हुए पानी मे मानो दण्ड और छत्र ऐसे तैर रहे थे जैसे हस तैर रहे हों।

लुटेरों की सेना अधिक सख्या मे होने से ऐसी स्थिति आ गई कि कनकशेखर और मेरी सेना हारने के कगार पर पहुँच गई। उसी समय लुटेरो के पल्लीपति प्रवरसेन के साथ मेरा युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय मेरे मित्र वैश्वानर ने दूर से ही मुझे सकेत किया जिसे समझ कर मैने क्रूरचित्त नामक एक बडा खा लिया, जिससे मेरे शरीर मे क्रोध का आवेग बढ गया, ललाट पर सल पड गये और शरीर पसीने से तरबतर होकर क्रोधाग्नि भभक उठी। प्रवरसेन धनुर्विद्या (तीर चलाने) में अत्यन्त कुशल था, तलवार चलाने मे भी प्रवल साहसी और सिद्धहस्त था और समस्त प्रकार के अस्त्रो के प्रयोग को कला मे भी निपुण था। ॐ वह शस्त्र-विद्या मे प्रवीण होने से गर्वोन्मत्त और देवता का कृपापात्र होने से प्रवल पराक्रमी था, तथापि मेरे पास मेरा मित्र पुण्योदय भी होने से एव उसके माहात्म्य से वह मेरी ओर कितने भी तीर फैंकता किन्तु उनमे से एक भी मुझे नही लगता, उसके द्वारा प्रक्षिप्त शस्त्रास्त्रो का भी मेरे ऊपर कोई प्रभाव नही पडता, उसके मन्त्रित शस्त्रो का भी मेरे ऊपर कोई प्रभाव नही पडा। न तो उसकी शस्त्र-विद्या और न उसके द्वारा मंत्रशक्ति से आमन्त्रित देवता ही मेरा कुछ बिगाड सके। मेरे मित्र पुण्योदय का ऐसा प्रभाव था, किन्तु मैं तो यही मानता था कि, अहो! यह सब मेरे मित्र वैश्वानर और उसके वडे का प्रभाव है। देखो न, उसको दृष्टि मात्र से मेरे शत्रु मेरी ओर आँख उठाने की भी हिम्मत नही कर सकते। उस समय तक मुझ पर वैश्वानर के वडे का पूर्ण प्रभाव हो चुका था, परिणामस्वरूप प्रवरसेन का धनुप टूट गया, उसके दूसरे सब शस्त्र नष्ट हो गये और वह अपने हाथ मे लपलपाती तलवार लेकर रथ से उतरा और मेरे सामने आया।

उस वक्त मेरी नवपरिणीता पत्नी हिसा देवी ने जो मेरे पास मे ही बैठी थी, मेरी ओर देखा, जिससे मेरे मनोभाव घोर भयकर/रौद्र हो गये और मैंने अर्धचन्द्र बाण को कान तक खीचकर प्रवरसेन पर छोडा, जिससे सामने से आते हुए प्रवरसेन का सिर उड़ गया। उस समय हमारी सेना मे विजयोल्लास से हर्षध्वनि फैल गई। देवताओ ने आकाश से मुझ पर पुष्पवृष्टि की, सुगन्धि जल की वृष्टि की, देव दुदुभि

ॐ पृष्ठ २४६

बजाई और जय-जयकार करने लगे। अपने सेनापति प्रवरसेन के मारे जाने से डाकुओं की सेना में निराशा फैल गई और युद्ध को बन्द कर सारी सेना मेरी शरण में आ गई। मैंने भी उनकी शरणागति स्वीकार की। युद्ध समाप्त हुआ, शांति हुई और सभी डाकुओं ने मेरी सेवा (नौकरी) स्वीकार की।

उस समय मैंने अपने मन में विचार किया कि, अहो! हिंसादेवी की शक्ति तो अचिन्त्य प्रकर्ष प्रभाव वाली है। देखिये ना, इसने मेरी तरफ मात्र दृष्टि की जिससे सारा कार्य इतना सरल हो गया और मेरा यश इतना बढ गया कि कनकशेखर ने भी मेरे इन नूतन सेवकों का सन्मान किया। पश्चात् हमने विषमकूट पर्वत से आगे प्रयाण किया और अनुक्रम से कुशावर्तपुर पहुँच गये।

विमलानना और रत्नवती का लग्न

कनकचूड राजा अपने पुत्र कनकशेखर के वापस लौटने के समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और साथ में मुझे देखकर उन्हें अत्यधिक संतोष हुआ। अपने आनन्द को प्रकट करने के लिये राजा ने महोत्सव किया जिसमें अपने सम्बन्धियों का योग्य सन्मान किया।

विमलानना और रत्नवती के विवाह के लिये शुभ दिन निश्चित किया गया। उस दिन लग्न के योग्य सब क्रियाएं पूर्ण की गई, बडे-बडे दान दिये गये, आगन्तुक लोगों का योग्य सन्मान किया गया, विभिन्न कुलाचार किये गये पूजनीय सज्जन पुरुषों की योग्य सेवा की गई। सारे शहर में खाने, पीने, गाने-बजाने और आनन्द मनाने की प्रवृत्तियाँ चल रही थीं। ऐसे आनन्दोत्सव के बीच विमलानना का कनकशेखर से और मेरा रत्नवती से विवाह सम्पन्न हुआ।

❀

२३. विभाकर से महायुद्ध

राजकन्याओं का अपहरण

विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। आनन्द ही आनन्द में तीन दिन बीत गये। विमलानना और रत्नवती ने पहले कुशावर्तपुर नहीं देखा था। यह प्रदेश अत्यधिक रमणीय और आकर्षक था, अतः जवानी की तरंग में और नवीन देखने के कुतूहल से विमलानना और रत्नवती अपने अनुचरों के साथ घूमने चली गईं। इन दोनों ने अपने व्यवहार से हमें आश्वस्त कर रखा था, अतः हम से अनुमति लिये बिना ही वे गई थीं। उन्होंने कई नये स्थान देखे जिससे उन्हें बहुत आनन्द आया। अन्त में वे घूमते-घूमते * चूतचूचुक (आम्रकुंज) नामक उद्यान में आईं और उसमें प्रवेश कर क्रीडा करने लगीं। उस समय मैं और कनकशेखर राज्यसभा में बैठे थे कि इतने में

* पृष्ठ २५०

अचानक तीव्र कोलाहल उठा और दासिया उच्च स्वर मे पुकार करने लगी। अचानक यह क्या हुआ ? राज्य सभा विचार मे पड़ गई। तुरन्त सभा विसर्जित कर दी गई। कोई विमलानना और रत्नवती का हरण कर ले गया ऐसी पुकार आने लगी। उसी समय हमने अपनी सेना तैयार कराई और अपहर्ताओ का पीछा किया।

अपहर्ता का ज्ञान

जो शत्रुसेना विमलानना और रत्नवती का अपहरण कर भाग रही थी वह अधिक दिनो की यात्रा परिश्रम से थक चुकी थी और हमारी सेना तेज और उत्साह वाली थी, अतः कुछ ही दूर पीछा करने के बाद हमारी सेना ने अपहरण-कर्ताओं की सेना को पकड लिया। हमने दूर ही से भाटो द्वारा उच्च स्वर मे गाया जाने वाला राजा विभाकर का यशोगान सुना। इससे हमे यह निश्चय हो गया कि अरे ! यह तो कनकपुर निवासी प्रभाकर और बन्धुसुन्दरी का पुत्र विभाकर ही होना चाहिये जिसके साथ प्रभावती ने विमलानना की जन्म से पहले ही सगाई कर दी थी। पद्मराजा के पास कनकचूड के मन्त्रियो ने इस विषय मे जो बात सुनाई थी वह हमने पहले विस्तार से सुनी ही थी। यह पापी हमारी अवज्ञा कर हमारी कुलवधुओ का हरण कर भाग रहा है, चलो, इस दुष्टात्मा को तो उग्र दण्ड देना ही चाहिये। मै अपने मन मे यह विचार कर ही रहा था कि मेरे मित्र वैश्वानर ने सकेत किया और मैने तुरन्त क्रूरचित नामक वडा खा लिया। परिणामस्वरूप मेरी मनोवृत्ति तेजस्वी हो गई और मैने हुकार के साथ आवाज लगाई, अरे ! अधम, नीच, चोर विभाकर ! पराई स्त्रियो के चोर ! कहाँ भाग रहा है ? जरा मनुष्य बन ! पौरुष धारण कर और सामने आ !

ऐसे तिरस्कारपूर्ण वचन सुनकर शत्रु की सेना ने गगा के प्रवाह की भाति तीनो तरफ से हमारी सेना को घेरकर व्यूह रचना की। सेना के तीनो भागो के सेनापति भी अलग-अलग हो गये। अत. मै, महाराज कनकचूड और बन्धु कनकशेखर हम तीनो शत्रु सेना के तीनो सेनापतियो के समक्ष लड़ने को तैयार हो गये।

सेनापतियों की पहिचान

कनकचूड राजा के पास पहिले दोनो कन्याओ के आगमन के समाचार लेकर आने वाला नन्दराजा का दूत विकट इस समय मेरे पास ही खडा था, अत मैंने उससे पूछा—'अरे विकट ! अपने विपक्ष मे जो ये तीन सेनापति हम से लड़ने आये हैं, वे कौन-कौन है ? क्या तू उन्हे पहचानता है ?' प्रत्युत्तर मे विकट बोला—'जी हाँ, मैं इन तीनो को अच्छी तरह से पहचानता हूँ। आपके समक्ष दुश्मन की सेना के बाये हिस्से का जो सेनापति है, वह कलिंग देश का अधिपति राजा समरसेन है। विभाकर ने यह महायुद्ध इसके बल पर ही प्रारम्भ किया है। इसके पास बहुत बड़ी सेना है, इसलिये यह विभाकर के पिता प्रभाकर के साथ स्वामी जैसा व्यवहार करता है। शत्रुसेना के मध्य भाग का सेनापति जो महाराज कनककूड के सामने है,

वह विभाकर का मामा, बगदेश का अधिपति राजा द्रुम है। इधर दांये भाग का सेनापति जो कनकशेखर के सामने खडा है, वह विभाकर स्वयं है।

भयंकर युद्ध : विभाकर की पराजय

इस प्रकार विकट पहचान करा ही रहा था कि युद्ध प्रारम्भ हो गया। बाणों की वर्षा से दृष्टिपथ ढक गया, दृष्टिपथ अवरुद्ध हो जाने से योद्धा आकुल-व्याकुल होने लगे।※ करोड़ों योद्धा हाथियो के कुम्भस्थल को तोड़ने लगे। हाथियो के शरीर, तट का विभ्रम पैदा करने लगे। सज्जित हाथियों के झुण्ड शोभायमान होने लगे। हाथियो के झुण्ड के बीच मे फसे हुए डरपोक लोगों की चीखे सुनाई देने लगी। उच्च कोलाहल और युद्ध रव से पर्वतो की गुफाये और चारो दिशाए गूजने लगी। सामने से आते हुए विशिष्ट प्रकार के शस्त्रो को रोकने मे असमर्थ होने के कारण राजागण खिन्न होने लगे। राजागण मदोन्मत्त शत्रु सेना को गाजर मूली की भाँति काटने लगे। आकाश मे चलने वाले देवता और विद्याधर जय-जयकार करने लगे। जय की कामना वाले सैकडो योद्धाओ से युद्धभूमि सुशोभित होने लगी। सुन्दर एवं चपल हजारों घोडे मरण को प्राप्त होने लगे। तीरो के समूह की चोटो से रथ टूटने लगे। रथो के टूटने से भयंकर कोलाहल होने लगा। बलवान महायोद्धा गर्जना के साथ सिहनाद करने लगे और उस समय गाढे लाल रग के ताजे खून की नदी बहने लगी। [१-४]

इस प्रकार जब भयकर युद्ध चल रहा था तभी भीषण अट्टहास की गर्जना के साथ शत्रु की सेना हम पर टूट पडी, जिससे हमारी सेना मे भगदड मच गई। हमारे योद्धाओं को भागते देख शत्रुसेना ने आनन्द से जय-जयकार किया, तथापि हम एक कदम भी पीछे नही हटे। मै, कनकचूड और कनकशेखर शत्रु-सेना के सेनापतियों द्रुम, विभाकर और समरसेन के बिल्कुल निकट पहुँच गये। इसी समय वैश्वानर ने पुन. संकेत किया और मैंने एक और क्रूरचित्त वड़ा खा लिया, फलस्वरूप मेरे परिणाम तीव्र आवेश वाले हो गये। उस समय मेरे सामने समरसेन राजा लड़ रहा था। मैंने उसे आक्षेपपूर्वक अपने समक्ष बुलाया और उसे ललकारा। तव उसने मुझ पर अस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ करदी, पर मेरा मित्र पुण्योदय मेरे साथ था इसलिये उसका एक भी अस्त्र मुझ पर असर नही कर सका। उसी समय मेरी रानी हिंसादेवी ने मेरी तरफ दृष्टिपात किया जिससे मेरे परिणाम और भाव बहुत ही रौद्र हो गये। शत्रु को तत्क्षण मार डाले ऐसे शक्ति नामक शस्त्र का मैंने प्रयोग किया और समरसेन को घायल कर दिया। फलस्वरूप समरसेन मारा गया, उसके मरण के साथ ही उसकी सेना मे भगदड़ मच गई।

समरसेन की सेना के पीछे हटते ही मै शीघ्रता से द्रुम की तरफ लपका, वह महाराज कनकचूड के साथ युद्ध कर रहा था। उसकी और मुह कर मैंने आवाज लगाई—'अरे! तुझे मारने के लिये पिताजी की क्या आवश्यकता? सियार और सिंह की लडाई समान नही कहलाती। तू मेरे सामने आ।' मेरे तिरस्कारपूर्ण वचन

※ पृष्ठ २५१

सुनकर द्रुम मुझ पर झपटा। हिंसा देवी ने फिर मेरी तरफ दृष्टिपात किया। मैंने दूर से ही अर्धचन्द्रबाण उसके ऊपर फेंका जिससे द्रुम का सिर उड गया और उसकी सेना मे भी भाग-दौड मच गई। इस प्रकार मैंने दो राजाओ पर विजय प्राप्त की जिससे आकाश स्थित सिद्ध, विद्याधर और देवताओ ने जय-जयकार किया।

तीसरी तरफ विभाकर कनकशेखर से लड रहा था। प्रारम्भ मे अनेक प्रकार के तीरो की वर्षा करने के पश्चात् उसने कनकशेखर पर अग्निबाण, सर्पबाण आदि मत्रित अस्त्र फेकने शुरू किये, परन्तु उन्हे काटने के लिये कनकशेखर ने वरुण बाण, गरुडबाण आदि का प्रयोग कर उनका निवारण किया। उस समय अपने हाथ मे तलवार लेकर विभाकर रथ से नीचे उतरा। जमीन पर से युद्ध करने वाले के साथ रथ मे बैठकर युद्ध करना अनुचित होने से कनकशेखर भी हाथ मे तलवार लेकर रथ से नीचे उतरा। अनेक प्रकार से तलवार चलाते हुए, मर्मभाग पर प्रहार करने का मौका ढूंढते हुए, अपने प्रहार को बचाते हुए और सामने वाले पर प्रहार करते हुए वे बहुत देर तक युद्ध करते रहे। अत मे मौका देखकर कनकशेखर ने विभाकर के कधे पर एक भरपूर वार किया, जिससे विभाकर जमीन पर गिर कर मूर्छित हो गया। कनकशेखर की सेना मे * हर्षोल्लास फैल गया। उस समय कनकशेखर ने हर्षध्वनि को रोक कर विभाकर के शरीर पर पानी के छींटे देते, हवा करते और मूर्छा दूर करने के प्रयत्न करते हुए कहा—'अहो राजपुत्र! तुम्हे धन्य है। तुमने अन्त तक पौरुषबल का त्याग नही किया, दीनता स्वीकार नही की, पूर्व-पुरुषो की यशः स्थिति को अधिक उज्ज्वल किया और अपना स्वय का नाम चन्द्र मे लिखवा दिया, अर्थात् अमर कर दिया। उठ! और फिर लडने को तैयार हो जो कि राजपुत्र के योग्य है।' कनकशेखर की वाणी सुनकर विभाकर ने अपने मन मे सोचा—'अहो! कनकशेखर की सज्जनता, गभीरता, महानता, वीरता और वचनो की मधुरता महान है।' ऐसा सोचते हुए उसके हृदय मे कनकशेखर के प्रति बहुत सन्मान हुआ और वह उच्च स्वर में बोला—'आर्य! अब युद्ध व्यर्थ है। आज आपने न केवल मुझे तलवार से ही हराया है अपितु सचमुच मे आपने अपने सुन्दर व्यवहार से भी मुझे पराजित कर दिया है।' ऐसे प्रशस्य वचन सुनकर कनकशेखर ने विभाकर को अपने भाई के समान मधुर वचनों से बुलाया और अपने पास रथ में बिठाया। इस प्रकार युद्ध बद हुआ। शत्रु की सपूर्ण सेना ने कनकशेखर के सन्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। लडाई का क्या परिणाम होगा? इस विचार से कापती हुई विमलानना और रत्नवती को वहाँ लाया गया, उन्हे मधुर वचनो से शात किया गया और महाराजा कनकचूड ने स्वय दोनों को उनके पतियो के रथ मे बिठाया। इस प्रकार युद्ध-विजय कर हम फिर कुशावर्त नगर मे प्रवेश करने की तैयारी करने लगे।

नगर-प्रवेश : नन्दिवर्धन की मनःस्थिति

सब से आगे हाथी की अवाडी पर बैठे इन्द्र की भाति सुशोभित राजा

* पृष्ठ २७२

कनकचूड ने प्रचुर मात्रा मे दान देते हुए राजमहल मे प्रवेश किया। उनके पीछे बन्धु कनकशेखर ने आनन्दातिरेक मे मग्न लोगो की हर्षमिश्रित दृष्टि को स्वीकार करते हुए राजमन्दिर मे प्रवेश किया। उनके पीछे रत्नवती के साथ रथ में बैठा हुआ मैं धीरे धीरे अपने महल की तरफ प्रस्थान कर रहा था। उस समय नगर की स्त्रियों के बीच हो रही बातें मेरे कानों मे पडी। आज की विजय का श्रेय वे बडे गर्व के साथ मुझे निम्नांकित शब्दो मे दे रही थी – अहो! समरसेन और द्रुम जैसे अप्रतिमल्ल राजाओ के सामने लड सके ऐसा मल्ल योद्धा इस दुनिया मे कोई नही, उनको भी जीतने वाला यह राजकुमार नन्दिवर्धन वास्तव मे धन्यवाद का पात्र है। धन्य हो इसकी शूरवीरता! धन्य है इसकी शक्ति, इसकी कुशलता और धीरता आदि गुणों को! सचमुच यह नन्दिवर्धन मर्त्यलोक का कोई साधारण पुरुष न होकर दैवी पुरुष है। इसकी पत्नी रत्नवती भी भाग्यशाली है। आज हमने इनको अपनी आखो से देखा, अतः हम भी भाग्यशाली है। अथवा ऐसे साहसी, बलवान, पराक्रमी महानुभाव ने यहाँ पधारकर इस नगर को अलकृत किया है, अतः यह नगर भी भाग्यशाली है। [१–९]

लोगो मे चल रही ऐसी बातो को सुनकर महामोह के वशीभूत मेरे मन मे निम्न विचार आने लगे—अहा! मेरे मन को अत्यन्त आनन्द देने, मेरी उन्नति करने, साधारणत दुर्लभ यश की प्राप्ति करने आदि के सम्बन्ध मे मेरे विषय में जो लोक प्रवाद प्रचलित हो रहे हैं, उन सब का श्रेय मेरे हितकारी परम मित्र वैश्वानर को दिया जाना चाहिये, इसमें कुछ भी सदेह नही।* तथापि मुझे यह भी मानना ही चाहिये कि मेरी प्यारी पत्नी हिंसादेवी ने मेरी तरफ दृष्टिपात कर मुझे प्रेरणा दी, उसी से यह सब प्राप्त हुआ है। धन्य हो मेरी हिंसादेवी के प्रभाव को! धन्य हो उसकी मुझ पर आसक्ति! धन्य हो मेरी प्रिया का कल्याणकारी गुण! और धन्य हो इसकी गुणग्राहकता को! सच ही मेरे प्रिय मित्र वैश्वानर ने विवाह के पूर्व हिंसा के जिन गुणो का वर्णन किया था वह वैसी ही गुणवती है। अहा अगृहीतसकेता! परमार्थतः सच्ची बात तो यह है कि यह सब अनुकूल फल प्राप्त करवाने वाला मेरा गुप्त मित्र पुण्योदय था, किन्तु उस समय मेरा मन पाप से घिरा हुआ था, इसलिये मेरा सच्चा हितकारी मित्र पुण्योदय है यह तथ्य मेरी समझ मे नही आया और न मैंने यह जानने का प्रयत्न ही किया। [१०–१६]

मित्र वैश्वानर और प्रिया हिंसा मे अत्यन्त आसक्त मैं उपरोक्त विचारो मे मग्न, उनके प्रति अधिकाधिक सोचते हुए, बाजार मे होते हुए, लोगों के दिलो मे होने वाले चमत्कारो को सुनते हुए अपने रथ को राजमहल के निकट ले आया। [१७–१८]

---

* पृष्ठ २५३

२४. कनकमञ्जरी

सुह्म लोगो के राजा जयवर्मा की पुत्री देवी मलयमंजरी महाराजा कनकचूड की प्रिय रानी थी। इस रानी से महाराजा को कामदेव की पत्नी रति जैसी एक सुन्दर कनकमजरी नाम की पुत्री हुई थी जो सौन्दर्य का मन्दिर हो ऐसी प्रतीत होती थी। [१९-१०]

दृष्टि-मिलन

मेरा रथ जैसे ही राजमहल के निकट पहुँचा वैसे ही कनकमजरी महल के एक झरोखे मे खडी-खडी दूर से मुझे देख रही थी और मुझे देखते ही वह कामदेव के वाण से विद्ध हो गई। मैं भी कुतूहल से चारों तरफ देख रहा था। जैसे ही मेरी दृष्टि उस झरोखे की तरफ गई, वह अति मनोज्ञ कन्या मुझे दिखलाई पडी। मेरी और कनकमजरी की दृष्टि परस्पर टकराई और हम दोनो एकटक एक दूसरे को देखते रह गये। विना आख झपकाये वह भी एकटक मुझे ही देख रही थी। उसके शरीर में व्याप्त पसीने से, अगोपाग मे उत्पन्न सरसराहट से और स्पष्ट दिखाई देने वाले रोमाच से यह निश्चित हो गया कि उसके शरीर मे कामदेव व्याप्त हो चुका है। [२१-२४]।

सारथि की चतुरता

हमारे दृष्टि-मिलन से हमे वहुत प्रसन्नता हुई है। हमारे इन मनोभावो को मेरा चतुर सारथि तेतलि तुरन्त समझ गया। वह सोचने लगा – ओह! महाराज नन्दिवर्धन और कनकमजरी का यह दृष्टि-मिलाप तो सचमुच कामदेव और रति के प्रेम जैसा है। पर, इतने लोगो के बोच यदि नन्दिवर्धन अधिक देर तक कनकमजरी की तरफ एकटक देखता रहेगा तो इससे इनकी तुच्छता प्रकट होगी, लघुता होगी और अपयश होगा। रत्नवती को भी ईर्ष्या हो सकता है, अत मुझे इस समय उपेक्षा नही करनी चाहिये। यह विचार आते ही सारथि ने काकली (टचकारा) करते हुए रथ को एकाएक आगे चला दिया।

कनकमजरी के मुखकमल को एकटक देखते हुए मानो मैं उसके लावण्य रूपी अमृत के कीच मे फंस गया। मेरी दृष्टि उसके कपोल के रोमाच-कटक मे बिध गई। मैं कामदेव के बाण की शलाका से कीलित हो गया अथवा उसके सौभाग्य गुणो से अनुस्यूत हो गया। रसपूर्वक उस दृष्टिपात को समाप्त कर बडी कठिनाई से मैंने अपनी दृष्टि घुमाई और मैं अपने महल मे आ पहुँचा, किन्तु मेरा मन तो कनकमजरी की मूर्ति मे ही अटक गया था।

नन्दिवर्धन की विरहदशा

❀ मेरे राजभवन मे पहुँचने पर मेरा हृदय तो शून्य था ही फिर भी दैनिक कार्यो को जैसे-तैसे निपटाकर मै अपने भवन की सब से ऊपर वाली मजिल पर पहुँचा। मैने अपने सब सेवको को छुट्टी दे दी और अकेला पलग पर जाकर पड़ा रहा। उस समय मुझे कनकमजरी के सम्बन्ध मे एक के बाद एक अनेक विचार आने लगे। अनेक तर्क-वितर्क होने लगे। सकल्प जाल मे फसकर मै कल्पना-तरग मे इतना तरगित हो गया कि मुझे यह भी भान नही रहा कि मै कही गया हूँ या आया हूँ? बैठा हूँ या सो रहा हूँ? अकेला हूँ या मैं मेरे परिवार और सेवको के साथ हूँ? जाग्रत हूँ या सुप्त हूँ? रो रहा हूँ या हँस रहा हूँ? सुख मे हूँ या दु ख में हूँ? यह मेरी प्रेमातुरता है या मुझे कोई रोग है? कोई महोत्सव है या विपत्ति है? और तो और यह भी भान नही रहा कि यह दिन है या रात है? मै जीवित हूँ या मृत हूँ? जब मुझे किंचित् सहज चेतना आयी तब सोचने लगा कि अब मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? क्या सुनूँ? क्या देखूँ? क्या बोलू? और किससे कहूँ? मेरे इस दु ख का प्रतीकार क्या है?

इस प्रकार मेरे मन में बहुत व्याकुलता थी। मैने अपने सभी सेवको को अन्दर आने की पूर्ण मनाई कर रखी थी। शय्या पर पडा हुआ मै थोडी देर इस करवट तो थोड़ी देर उस करवट लोट रहा था और मन मे घबरा रहा था। पूरी रात नारकीय तीव्र वेदना को सहन करते हुए मैं पलग पर पडा रहा परन्तु मुझे एक क्षण भी नीद नही आई। ऐसे ही विरह दु ख मे मेरी पूरी रात बीत गई। प्रभात मे सूर्य उदय हुआ, पर प्रात.काल का आधा पहर भी वैसे ही वेदना मे बीत गया।

सारथि तेतलि का प्रश्न :

उसी समय मेरा सारथि तेतलि मेरे भवन मे आया। वह मेरा विशिष्ट विश्वासपात्र सेवक होने से किसी ने उसे मेरे पास आने से नही रोका। मेरे पास आकर उसने मेरा चरण-स्पर्श किया और जमीन पर बैठकर हाथ जोड़ कर कहने लगा—'देव! आप तो जानते ही है कि नीच पुरुषों में चपलता अधिक होती है। उसी चपलता के वश होकर मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। वह अच्छी हो या बुरी आप उसे सुनने की कृपा करे।' उत्तर मे मैने कहा—'भाई तेतलि! तुझे जो कुछ कहना हो सुख से विश्वास पूर्वक कह। तेरे लिये किसी प्रकार की रोक नही है। ऐसी सामान्य बात के लिये तुझे कूर्चशोभक (लागलपेट) पूर्वक पूछने की भी क्या आवश्यकता थी?' उसके पश्चात् हम दोनो के मध्य निम्न बात हुई:—

तेतलि—यदि ऐसा है तो कुमार! सुनिये, मैने आपके दूसरे सेवको से सुना है कि कल जब से आप रथ से उतरे है तभी से उद्विग्न है, इसका क्या कारण

❀ पृष्ठ २५४

है ? आप वहुत चिन्तित है, सेवको को अपने पास आने की पूर्ण मनाई कर रखी है और आप अकेले पलग पर पड़े हुए हैं। मेरा तो कल रथ के घोड़े छोड़ने के वाद पूरा दिन उनकी देखभाल मे ही निकल गया। रात मे मुझे चिन्ता हुई कि मेरे स्वामी के उद्वेग का क्या कारण हो सकता है ? मैने वहुत विचार किया पर कुछ भी कारण सूझ नही पड़ा। चिता में जागते हुए ही मेरी पूरी रात वात गई। प्रात. काल उठकर मै आपके पास आ रहा था कि एक अन्य महत्वपूर्ण काम आ गया। इस कार्य को पूर्ण करने मे मुझे इतना समय लग गया। कार्य सम्पन्न कर अब मैं आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। आपके कुशल-क्षेम से तो हमारे जैसे अनेक लोगो का जीवन चलता है, अत आपके इस अधम सेवक को यह वताने की कृपा करे कि आपके शरीर की यह स्थिति किस कारण हुई ?

इस प्रकार कहते हुए सारथि मेरे पावो मे पड गया, ❀ तव मैंने सोचा कि, अहो ! इसकी वास्तव मे मुझ पर भक्ति है और वात करने की चतुराई भी है, अतः अव इसको वास्तविकता से परिचित करा देना चाहिये। फिर भी कामदेव का विकार और प्रभाव विचित्र होने से मैने उसे सीधा न वताकर निम्न उत्तर दिया—

नन्दिवर्धन—'प्रिय तेतलि ! मेरे शरीर और मन की ऐसी स्थिति होने का कारण मुझे भी समझ में नही आ रहा है। मुझे केवल इतना याद है कि वाजार का रास्ता पूरा होने पर राजभवन के मार्ग पर जव तू अपना रथ ले आया और वहा थोडी देर रथ को रोका, तभी से मेरा अग-अग टूट रहा है। अन्तस्ताप वढता जा रहा है। ऐसा लग रहा है मानो राजभवन आग मे जल रहा हो ! लोगो का वोलना अच्छा नही लगता, मन हाय-हाय कर रहा है, व्यर्थ की चिन्ता हो रही है और ऐसा लग रहा है जैसे हृदय शून्य हो गया हो ! मेरी स्थिति तो अभी ऐसी हो गई है कि यह दु ख क्या है ? और इसके निवारण का क्या उपाय है ? यह भी मुझे दिखाई नही पडता।

तेतलि—देव ! यदि ऐसी वात है तब तो मै समझ गया हूँ कि यह दु ख क्या है ? और इसे दूर करने का उपाय क्या है ? आप अब इस विषय मे चिन्ता न करे।

नन्दिवर्धन—वह कैसे ?

तेतलि—सुने, आपके दु.ख का कारण कुदृष्टि अर्थात् चक्षुदोष है।

नन्दिवर्धन मुझे किसकी कुदृष्टि लग सकती है।

तेतलि—आपने उसे देखा या नही यह तो मै नही जानता, पर राजभवनो के अन्तिम महल के एक झरोखे मे से एक तरुणी आपको एकटक आशय पूर्वक देख रही थी। वह वहुत देर तक टेढी दृष्टि से आपके अंगोपाग देख रही थी, इससे लगता है कि उस युवती का दृष्टिदोष ही आपके दु:ख का कारण है। कुमार ! जो तुच्छ स्वभाव के होते है उनकी दृष्टि बहुत भयकर क्रूर होती है।

❀ पृष्ठ २५५

यह सुनकर मैं अपने मन में विचार करने लगा कि यह तेतलि बहुत चतुर है। यह मेरे मन का भाव समझ गया है। इसने मेरी प्रिया को बहुत समय तक देखा है अतः यह भाग्यशाली भी है। अभी-अभी इसने कहा कि यह मेरे दुःख का कारण और उसके निवारण की औषध भी जान गया है। लगता है मेरे कामज्वर को मिटाने वाली उस कन्या की प्राप्ति मे यह मेरी सहायता अवश्य करेगा। सच ही आज इसने मेरी प्राण रक्षा की है। यह सोचकर मैंने स्नेहवश खींचकर उसे पलंग पर बिठाया और कहा—तेतलि! तुमने मेरे रोग का कारण तो ढूंढ निकाला पर अब उसका उपचार क्या है यह तो बता?

तेतलि—देव! इस दृष्टिदोष का उपचार यह है कि—जब किसी की नजर लगी हो तो किसी चतुर वृद्ध महिला को बुलाकर उससे नमक उतरवाना चाहिये, मंत्र में कुशल किसी व्यक्ति से झड़वाना चाहिये, कान के पीछे मंत्रित राख लगानी चाहिये, गंडों का (डोरा) बांधना चाहिये और अन्य प्रकार के टोने-टोटके करने चाहिये। यह भी कहा जाता है कि चाहे कैसी ही डायन लगी हो तो उसे गालियाँ देने और धमकाने से वह नर्म पड़ जाती है, अतः उस छोकरी के पास जाकर खूब कठोर वचनों से उसे धमकाना चाहिये। मेरे जैसे को उसके पास जाकर कहना चाहिये, 'अरे वामलोचना! हमारे स्वामी पर कुदृष्टि डालकर अब तू * भली मानस बनकर बैठी है, पर याद रखना अगर हमारे स्वामी का एक बाल भी बांका हुआ तो तेरा जीवन एक पल भी नहीं बचेगा।' ऐसा करने से जिस छोकरी की आपको कुदृष्टि लगी है वह दूर हो जायगी। आपने पूछा अतः मैंने आपके रोग का उपचार बताया।

नन्दिवर्धन—हँसकर, 'भाई तेतलि! अब हँसी मजाक छोड़ो। मेरे दुःख को मिटाने का तूने कुछ वास्तविक उपाय सोचा हो तो बता।' तेतलि—'कुमार! आपके मन में इतना उद्वेग हो और मुझे उसका सच्चा उपचार ज्ञात न हो तो, ऐसे समय मे मैं आपसे हँसी कर सकता हूँ भला! आप चिन्ता न करें। आपकी इच्छा पूर्ण हो चुकी है ऐसा समझें। आपके उद्वेग को दूर करने के लिये ही मैंने आपसे विनोद करने का साहस किया है।'

नन्दिवर्धन—मेरी इच्छा कैसे पूर्ण होगी? तू मुझे जल्दी बता।

अभिलषित सिद्धि का मार्ग

तेतलि—प्रभो! मैंने आते ही बताया था कि मैं प्रातःकाल ही आपके पास यहाँ आ रहा था तभी एक महत्व कार्य आ गया था। उसे सम्पन्न करने में ही आधा पहर बीत गया। इसी कारण मुझे आपके पास आने में देर हुई। आपकी अभिलाषा को पूर्ण करने का ही वह कार्य था। घटना यों थी कि, रानी मलयमंजरी (महाराज कनकचूड की महारानी) की विशेष दासी कपिंजला नाम की एक वृद्ध गणिका

---

* पृष्ठ २५६

है. वह मुझे जानती है। आज प्रात: जब मैं अपने बिस्तर से उठा भी न था कि वह आकर जोर-जोर से पुकार करने लगी, 'मित्र बचाओ! बचाओ!!' मुझे कुछ भी समझ मे नही आया, तब मैने पूछा, 'कपिजला! क्यो घबरा रही है? क्या हुआ?' उसने बताया कि, 'वह कामदेव से घबरा रही है।' मैंने कहा—'कपिंजला। तेरी बात विश्वास करने लायक नही है, क्योकि तेरा शरीर तो अत्यन्त रौद्र श्मशान जैसा लग रहा है, तेरे शिर के लाल और पीले रग के बाल चिता को ज्वाला के समान देदीप्यमान हो रहे है, तेरे शरीर की हड्डियों की आवाज श्मशान के सियारो को भयकर आवाज जैसी लग रही है, सलवटो और काले दागो से भरा हुआ तेरा शरीर भयकरतम दिखाई देता है और मास रहित लटकते हुए तेरे मुर्दे के समान मोटे स्तन अति भयानक लगते है। तेरे ऐसे शरीर को देखकर स्वय कामदेव भी कायर मनुष्य के समान डरकर चिल्लाता हुआ दूर भाग जाय और तू कहती है कि तुझे कामदेव से डर है! अरे वह तो तेरे पास ही नही फटके। अत: तुझे क्या भय है?'

कपिजला—अरे झूठे! तू जानबूझ कर मेरी बात का अभिप्राय नही समझ रहा है अथवा नही समझने का ढोग कर रहा है। तब मुझे स्पष्ट बताना ही पड़ेगा। सुन, मुझे कामदेव से क्यो भय है, तुझे बताती हूँ।

तेतलि—हाँ, मुझे स्पष्ट बता।

कनकमंजरी का कामज्वर : बाह्योपचार

कपिंजला—'तू भली प्रकार जानता है कि महाराज कनकचूड की रानी मलयमजरी मेरी स्वामिनि है और उनके कनकमजरी नाम की एक कन्या है।' तेतलि के मुख से कनकमजरी का नाम मुनते ही मेरी दायी आँख फडकने लगी,※ होठ हिलने लगे, हृदय की धडकन तेज हो गई, पूरा शरीर रोमाचित हो गया और मन का उद्वेग तो मानो मिट ही गया। मैं अपने मन मे सोचने लगा कि यह मेरे मन मे निवास करने वाली प्रियतमा कनकमजरी ही होनी चाहिये। अत उत्साह मे आकर मैं बीच ही मे बोल पडा—'हाँ, फिर आगे बता, कपिजला ने फिर तुझे क्या कहा?' तेतलि मेरा भाव समझ गया और मन मे सोचने लगा कि 'प्रिय के नामोच्चार की भी भारी महिमा है।' फिर कपिजला ने आगे जो बात कही थी उसका अनुसन्धान मिलाते हुए आगे बात चलाई।

कपिजला—भाई तेतलि! यह कनकमंजरी मेरा स्तनपान कर बडी हुई है अर्थात् मैं उसकी धाय हूँ। मुझे उससे इतना अधिक प्रेम है कि जैसे वह मेरा ही शरीर हो, मेरा ही हृदय हो, मेरा ही जीवन हो, मेरा ही स्वरूप हो। वह मुझे अपने से भिन्न नही लगती। सप्रति वह मुग्धा बालिका कामदेव से

※ पृष्ठ २५७

ीडित है। उसकी काम-पीडा परमार्थ से मेरी ही पीड़ा है। इसीलिये मैंने कहा था के मैं कामदेव से भयभीत हो रही हूँ।

कपिजला द्वारा कथित कनकमंजरी की विरह स्थिति को सुनकर मैं (नन्दिवर्धन) एकाएक खडा हो गया, म्यान मे से तलवार निकालकर बोलने लगा — 'अरे ! खूनी कामदेव ! मेरी प्यारी कनकमजरी का पल्ला छोड दे। जरा पुरुषार्थ धारण कर। हे दुरात्मा ! याद रख ! अब तू एक क्षण भी जीवित नही रह सकता।' ऐसा कहते हुए हडबडा कर पलग से उठकर मैं तलवार घुमाने लगा। मुझे शान्त करते हुए तेतलि कहने लगा—'कुमार ! इतना आवेश क्यों कर रहे हैं ? जब तक आप जैसे सदय देव विद्यमान है तब तक कनकमजरी को कामदेव तो क्या किसी अन्य से भी लेशमात्र भय नही हो सकता। इसके बाद क्या हुआ वह तो आप पूरा सुनिये।' तेतलि के वचन सुनकर मैं शान्त हुआ। मेरी चेतना लौटी और मैं शून्य मन से पलग पर बैठ गया। फिर उसके और कपिजला के बीच आगे जो बातचीत हुई थी तेतलि उसे सुनाने लगा।

तेतलि— कपिजला ! कामदेव किस लिये कनकमजरी पर इतना प्रभाव दिखा रहा है ?

कपिजला तेतलि ! सुन, कल वाली विमलानना और रत्नवती के हरण की घटना तो तुझे ज्ञात ही है। फिर महाराज कनकचूड और शत्रु-सेना मे घोर युद्ध हुआ और महाराज, कनकशेखर और नन्दिवर्धन की विजय हुई। जब वे विजय पताका फहराते हुए नगर मे प्रवेश कर रहे थे तब मुझे भी उन्हे देखने का कुतूहल हुआ और मैं भी बाजार मे जाकर खडी हो गई। जब उनका नगर मे प्रवेश महोत्सव हो रहा था तभी मैं कनकमजरी के महल की ऊपरी मजिल पर गई। वहाँ जाकर मैंने देखा कि कनकमजरी झरोखे मे खडी है, उसका मुँह राजमार्ग की तरफ है और दृष्टि एक-टक। उसकी दृष्टि अपलक होने से और अगोपागों मे हलन-चलन न होने से वह चित्र-लिखित सगमरमरी मूर्ति या योगरत योगिनी जैसी लग रही थी। कनकमजरी की ऐसी विचित्र स्थिति को देखकर 'हाय ! अकस्मात इसे क्या हो गया है ?' ऐसा विचार करते हुए मैंने उसे 'अरे पुत्रि कनकमजरी !' कहते हुए बार-बार पुकारा, पर कुमारी ने मुझ मन्दभाग्या को कोई उत्तर नही दिया। उस समय वहाँ कन्दलिका नामक एक दासी खडी थी, उसे मैंने पूछा, 'भद्रे कन्दलिका ! पुत्री * कनकमजरी की किस कारण से ऐसी अवस्था हो गई ?' तब कन्दलिका ने कहा — 'माजी ! मुझे तो कुछ भी पता नही लगता। केवल जब कुमार नन्दिवर्धन का रथ राजमार्ग पर जा रहा था तब कुमारी ने उन्हे देखा और बहुत हर्षित हुई, मानो महा-मूल्यवान रत्नो की प्राप्ति हुई हो ! मानो शरीर पर अमृत का सिचन हुआ हो ! मानो कोई अभ्युदयकारी महान फल की प्राप्ति हुई हो ! इस प्रकार वर्णनातीत रस मे मग्न मैने इन्हे देखा था। जब कुमार का रथ दृष्टिपथ से दूर आगे चला गया तभी से

* पृष्ठ २५८

कुमारी की ऐसी स्थिति हो रही है।' यह बात सुनकर मैंने विचार किया कि यदि शीघ्र ही इसक कोई उपाय नही ढू ढा गया तो शोकाकुल होकर कुमारी अपने प्राण दे देगी। इस भावि अनिष्ट की कल्पना से शोकविह्वल होकर मै चीखने चिल्लाने लगी, जिसे सुनकर कुमारी की माता मलयमजरी वहाँ पहुँच गई। 'कपिजला ! यह क्या है ?' यह क्या है ? कहकर पूछने लगी। मलयमजरी ने भी जब कनकमजरी की ऐसी चित्रलिखित सी दशा देखी तो वह भी विलाप करने लगी। चीख-पुकार सुनकर माँ के प्रति ममता जागृत होने से और विनय-सम्पन्ना होने से कुमारी को तनिक चेतना आई, शरीर को किंचित् मरोड़ा और उवासी लेने लगी। फिर मलयमजरी ने कुमारी को अपनी गोद मे बिठाकर पूछा --'कनकमजरी तुझे क्या हुआ है ? तेरे शरीर मे क्या कोई पीडा है ?' कुमारी ने कहा—'माताजी ! मुझे कुछ भी पता नही, केवल मेरे शरीर में दाह-ज्वर की पीडा है।' हम सब व्याकुल होकर उसके शरीर पर मलय चन्दन का लेप करने लगे, कपूर के जल से सिक्त ताड़पत्र के ठण्डे पखे से हवा करने लगे, शरीर पर शीतल जल की ठण्डी पट्टी रखने लगे, पुन -पुन पान के बीडे मे कपूर डालकर उसे खिलाने लगे और शरीर को शान्ति प्रदान करने वाले अन्य अनेक प्रकार के उपाय करने लगे। उस समय सूर्य अस्त हो गया, रात्रि का प्रसार हुआ, निशापति चन्द्र का उदय हुआ और आकाश मे चारो और निर्मल चादनी छिटक गई। उस वक्त मैंने माता मलयमजरी से कहा –'स्वामिनी ! यह स्थान बद होने से यहाँ गर्मी अधिक है कुमारी को कुछ खुले हवा वाले स्थान मे ले जाने से ठीक रहेगा।' रानी की आज्ञा प्राप्त कर हिमालय पर्वत की विशाल शिला के भ्रम को पैदा करने वाली विशाल राजभवन की छत पर जो अमृत जैसी सफेद चादनी के शीतल प्रकाश से सुशोभित थी, हाथ का सहारा देकर कनकमजरी को ले गये और कमलपत्र की अतिशीतल शय्या तैयार करवाई एव उस पर उसे सुलाकर उसके दोनो हाथो पर कमल की नाल बाधो तथा सिन्दुवार के पुष्पो का हार पहनाया। उसे ठण्डक पहुँचाने के लिये ऐसी ठण्डी मणियाँ उसके पास रखी गई कि जिन्हे पानी मे रखने से तालाब का पानी भी ठडा हो जाय। वस्तुत. इस प्रदेश मे स्वत. ही इतना शीतल पवन निरन्तर बहता रहता था कि बलवान लोगो को भी रोमाच हो आये और सर्दी से दात कटकटाने लगे। ऐसी सुन्दर शीतल छत पर लाकर रानी ने कुमारी से पूछा —'पुत्रि कनकमजरी ! * तुझे जो दाह-ज्वर से वेदना हो रही थी वह अब तो दूर हुई होगी ?'

कनकमजरी ने कहा—'नहीं माताजी ! अभी तो तक नही मिटी। प्रत्युत मुझे तो ऐसा लग रहा है कि पहले से भी अनन्त गुणी जलन बढ गई है। आकाश मे लटकता चन्द्रमा जलते हुए अगारो का ढेर और अगारो की ज्वाला मेरी ओर फेंक रहा हो ऐसा लग रहा है। चन्द्रिका ज्वाला समूह जैसी लग रही है। आकाश

---

* पृष्ठ २५९

मे बिखरे तारे लाखो अगार-कणो जैसे लग रहे है। ऐसा लग रहा है जैसे कमल शय्या मुझे जला रही है और यह सिन्दुरी पुष्पो का हार मुझे पूरी तरह सुलगा रहा है। हे माँ! मैं तुझे क्या कहूँ ? अभी ता मुझ अभागिनी पापिनी का पूरा शरीर सुलगते हुए अग्निपिण्ड के समान सुलग रहा है।

कनकमंजरी की व्याधि का कारण

पुत्री का ऐसा अचित्य उत्तर सुनकर मलयमजरी ने दीर्घ निश्वास लेते हुए कहा—'कपिजला ! यह क्या हुआ ? मेरी पुत्री को ऐसा भीषण दाह-ज्वर क्यो हुआ ? इसका कुछ कारण तेरी समझ मे आता है क्या ?' उस समय मैंने मलयमंजरी के कान में कन्दलिका दासी द्वारा कही गई बात कह सुनाई।

सुनकर मलयमजरी ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो ऐसे समय हमको क्या करना चाहिये ?' उसी समय राजमार्ग पर किसी की आवाज सुनाई दी, अरे! यह काम तो सिद्ध हुआ। अब विलम्ब नही करना चाहिये।

कपिजला ने (सहर्ष) कहा—'माताजी! राजमार्ग पर अचानक किसी के मुह से निकले हुए शब्द आपने सुने ?' रानी ने उत्तर दिया—'हाँ, मैंने बराबर सुने है।' मैंने कहा—'यदि यह वात है तो कुमारी कनकमजरी की इच्छा पूर्ण हो हो गई ऐसा समझिये। अभी मेरी वायी आँख भी फड़क रही है, अत: मुझे तो थोडी भी शका इस विषय मे नहीं है।

मलयमजरी ने कहा—इसमें शंका की गुंजाइश ही कहाँ है ? यह काम अवश्य सिद्ध होगा।

इधर कनकमजरी की बडी वहिन मणिमजरी भी उस समय राजभवन की छत पर आकर अत्यन्त हर्षित होकर हमारे सामने बैठी।

मैंने मणिमजरी से कहा—'पुत्रि मणिमजरी! तू बहुत कठोर है, दूसरो के सुख-दु.ख का तेरे मन पर थोडा भी प्रभाव नही होता क्या ?' मणिमजरी ने उत्तर मे कहा—'ऐसी क्या वात है ?' मैने कहा, 'अरे! क्या तू देख नही रही है कि हम सब कितने शोक-मग्न हैं और तू हर्ष विभोर होकर बैठी है।'

मणिमजरी—ओहो! मै क्या करूं ? मेरे हर्ष का कारण इतना सशक्त है कि प्रयत्न करने पर भी मै उसे किसी प्रकार छिपा नही सकती।

मने पूछा—'ऐसा हर्पातिरेक का कारण क्या है वह हमे भी तो बता ?

विवाह के लिये कनकचूड की स्वीकृति

मणिमजरी— 'मै आज पिताजी के पास गई थी। उन्होने बडे प्यार से मुझे गोद मे बिठाया। उस समय भाई कनकशेखर भी पिताजी के पास बैठे थे। उनसे पिताजी ने कहा—'प्रिय कनक! तू जानता ही है कि समरसेन और द्रुम जैसे महा बलवान योद्धाओ को एक ही वार मे मारने वाला नन्दिवर्धन कोई साधारण

पुरुष नही है। इसका अपने ऊपर अत्यधिक उपकार है जिससे हम अपना जीवन देकर भी उससे उऋण नही हो सकते। मरिणमजरी और कनकमजरी मेरी दोनो पुत्रियाँ मुझे प्राणो से भी अधिक प्यारी है। मरिणमजरी को तो हम नन्दिवर्धन के बडे भाई शीलवर्धन को पहले ही दे चुके है, अब कनकमजरी का विवाह नन्दिवर्धन से कर दे तो कैसा रहेगा ?' ❀ भाई कनकशेखर ने पिताजी के प्रशंसनीय विचार सुनकर कहा—'पिताजी ! आपके विचार बहुत ही सुन्दर है। आप अवसरोचित कहाँ क्या करना चाहिये यह भली प्रकार जानते है। मेरी प्यारी बहिन का विवाह नन्दिवर्धन के साथ करना बहुत ही उचित रहेगा।' इस प्रकार बातचीत कर पिता-पुत्र ने बहिन कनकमजरी का विवाह कुमार नन्दिवर्धन से करने का निश्चय किया है।'

इस प्रकार पिताजी और भाई कनकशेखर के बीच वार्तालाप हो रहा था तभी मै पिताजी की गोद मे से उठकर यहाँ आ गई। आते-आते मैने सोचा कि अहो! मं बहुत भाग्यशालिनी हूँ, मेरे भाग्य सर्व प्रकार से मेरे अनुकूल हो गये है। पिताजी के विचार और निर्णय को भी धन्य है ! भाई कनकशेखर के विनय को भी धन्य है !! अब तो मै अपनी प्यारी बहिन कनकमजरी के साथ जीवन भर रहूँगी, हम दोनो का कभी वियोग नही होगा और दोनो बहिने साथ-साथ अनेक प्रकार का आनन्द सुख प्राप्त करती रहेगी। इन विचारो और मनोभावो के कारण मुझे इतना अधिक आनन्द प्राप्त हुआ कि मेरा हर्षातिरेक बाहर भी प्रकट हो गया। यही मेरे हर्ष विभोर होने का कारण है।

मरिणमजरी का उपरोक्त कथन सुनकर माता मलयमंजरी ने कहा—अरे कपिंजला ! अभी हमने निमित्त रूप जो आवाज सुनी थी उसमे कार्य-सिद्धि की जो बात कही गई थी, देख ! वह अविलम्ब फलीभूत हो गई।

कपिंजला—इसमे क्या शक है। अकस्मात् सुनाई देने वाली और भविष्य सूचित करने वाली वाणी अवश्य देव वाणी ही होती है। प्रिय पुत्री कनकमजरी ! अब तू विषाद का त्याग कर और धैर्य धारण कर। समझले कि अब तेरी इच्छा पूर्ण हो चुकी है। तुझे जिस कारण से दाह-ज्वर हुआ था वह अब दूर हो गया है। पुत्रीवत्सल पिता ने तेरे हृदय को आनन्दित करने वाले कुमार नन्दिवर्धन से तेरा विवाह करने का निर्णय कर लिया है।

कनकमंजरी का सन्देह

हे तेतलि ! यह वृत्तान्त सुनकर कनकमजरी को हृदय मे कुछ विश्वास हुआ, फिर भी कामदेव के तौर-तरीके सर्वदा आडे-टेढे होने से मेरे सामने देखकर भवे चढाकर मुझे डराकर वह कहने लगी—'ओह, हे माता ! ऐसे असत्य वचन बोलकर मुझे क्यो ठग रही हो ? मेरा मस्तक फट रहा है, ऐसा बिना अते-पते का ढोगभरा वचन बोलने से बाज आओ।' मलयमजरी ने कहा—'बेटी ऐसा मत बोल। यह बात

❀ पृष्ठ २५०

बिल्कुल सच्ची है। पुत्री ! तुझे इसके अतिरिक्त किसी बात की कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।'

'अरे ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?' धीरे-धीरे मन मे बोलती कनकमजरी नीचा मुँह कर खड़ी रही। पूरी रात हमने कनकमजरी को पतिभक्ता सती स्त्रियों के चरित्र सुनाने और उसका मनोरजन करने मे व्यतीत की। भाई तेतलि ! अभी प्रात.काल में भी कनकमजरी का दाह-ज्वर शांत नही हुआ है। अत. मैंने मन में विचार किया कि यदि इसको कुल परम्परानुसार विवाह के प्रसंग पर ही नन्दिवर्धन के दर्शन होगे तब तो यह इतने समय में मर जायगी या मरने जैसी हो जायगी। यही सोचकर मैं तुमसे मिलने आई हूँ। कुमार का भी तुम्हारे प्रति प्रेम है अत: तुम उन्हे सूचित कर सकोगे और यदि किसी प्रकार आज ही इसको कुमार के दर्शन हो जाय तो यह बच जायगी। हे तेतलि ! यह विचार करके ही मैं प्रात: ही तेरे पास आई हूँ। इसी कारण से मैंने तुझे कहा कि कामदेव से मुझे बहुत भय लग रहा है, वह तो तू अब समझ ही गया होगा, अब तू जैसा कहे वैसा करे।

मिलन-स्थान का संकेत

तेतलि—अरे कपिंजला ! हमारे कुमार ने सब इन्द्रियाँ वश मे कर रखी हैं और स्त्रियो को तो वे तृणतुल्य गिनते है, क्योकि वे महापुरुष है। फिर भी तुम्हारे लिये मैं कुमार को सूचित करूँगा कि वे अपना दर्शन देकर कुमारी के प्राण बचाये। केवल तू कुमारी को साथ लेकर रति-मन्मथ उद्यान मे कुमार से मिलने आ जाना।

कपिंजला—बहुत उपकार किया। मैं आपका अन्त.करण से आभार मानती हूँ।

तेतलि—स्वामिन् नन्दिवर्धन ! उपरोक्त कथन के साथ ही कपिंजला ने मेरे चरण स्पर्श किये। मेरा बहुत बहुत आभार माना और वह कुमारी के महल की ओर गई तथा मैं यहाँ आया। * अत: आपको जो व्याधि हुई है, उसकी यह औषधि भी मैं अपने साथ लेकर आया हूँ।

नन्दिवर्धन—धन्य तेतलि ! धन्य !! तू ने बहुत अच्छा किया। कैसे बात करनी चाहिये यह भी तू अच्छी तरह जानता है।

ऐसा कहकर मैंने अपने गले का हार और हाथ के बाजूबन्द आदि भी उतारकर उसे पहना दिये। तेतलि ने कहा—कुमार ! इस तुच्छदास पर आपने इतनी बड़ी कृपा की यह उचित नही लगता।'

नन्दिवर्धन—आर्य तेतलि ! प्राण बचाने वाले प्रवीण वैद्य को तो जितना दिया जाय उतना ही थोड़ा है। इसमे अच्छा नही लगने की बात ही क्या है ? तुझे इस प्रसग मे किसी भी प्रकार का विचार नही करना चाहिये। तुझे समझ लेना चाहिये कि अब तू मेरे प्राण से भिन्न नही है।

---

* पृष्ठ २६१

अमात्य विमल का संदेश

मै तेतलि से इस प्रकार बाते कर ही रहा था कि कनकचूड राजा का अमात्य विमल मेरे भवन के द्वार पर आ पहुँचा। प्रतिहारी ने सूचित किया कि अमात्य विमल आये है। शीघ्र ही मैंने सारथि तेतलि को एक आसन पर बैठने को कहा, तब तक द्वारपाल अमात्य को लेकर मेरे पास आ गया। उसने मुझे योग्य रीति से प्रणाम किया और कहा कुमार श्री ! महाराज कनकचूड ने अपने एक विशिष्ट कार्य से मुझे आपके पास भेजकर कहलाया है कि मेरे प्राणो से अधिक प्रिय कनकमजरी नामक पुत्री है। मेरे अनुरोध पर आप उससे पाणिग्रहण कर मुझे आह्लादित करे।

अमात्य के उपरोक्त वचन सुनकर मैंने तेतलि की ओर देखा। उसने कहा—महाराज कनकचूड की सभी आज्ञाओ को आपको देव आज्ञा के समान स्वीकार कर लेना चाहिये। अत. उन्होने आपसे जो अनुरोध किया है, उसे आप अवश्य स्वीकार करे।

मैंने उत्तर दिया—'तेतलि ! तुम जो कहते हो वह मुझे स्वीकार है।' मेरा उपकार मानते हुए अमात्य विमल वहाँ से विदा हुआ। फिर तेतलि ने मुझ से कहा—'देव ! अब आप रति-मन्मथ उद्यान मे पधारे। अधिक विलम्ब होने से राजकुमारी कनकमजरी का मन ऊचा-नीचा होगा, जो नही होना चाहिये।' मैंने उसकी बात को स्वीकार किया।

रति-मन्मथ उद्यान में

फिर तेतलि को साथ लेकर मै रतिमन्मथ उद्यान मे पहुँचा। मनोहारिणी शोभा मे इन्द्र के नन्दनवन का भी उपहास करने वाले इस उद्यान को मैंने देखा। कनकमजरी के दर्शन की आशा से मै वहाँ चम्पक वीथिका में, कदली (केला) समूह मे, माधवीलता मण्डप मे, केतकी खण्ड मे, द्राक्षा मण्डप मे, अशोक वन मे, लवलीवृक्षो के गहन भागो मे, नागरबेल के आरामगृह मे, कमल सरोवर की पाल पर और अन्य बहुत से सुन्दर स्थानो पर घूमा, बार-बार उन्ही स्थानो पर गया, परन्तु उस मृगनयनी को मैंने कही नही देखा। तब मैंने मन मे सोचा कि तेतलि ने मुझे ठगा है। अमात्य विमल भी कन्या के पाणिग्रहण का जो सदेश दे गया वह भी तेतलि का मायाजाल ही लगता है। ऐसी अद्भुत नवयौवना के दर्शन का सौभाग्य भी मेरे भाग्य मे कहाँ है ?

शोकग्रस्ता कनकमंजरी

मै उन्मना-सा होकर ऐसे विचारो मे लीन था कि तभी उद्यान की तरुलताओ के गहन भाग मे से झाझर की मधुर ध्वनि सुनाई दी। तेतलि को वही छोड, जिधर से नूपुर की ध्वनि आई थी उधर ही गया तो तमाल वृक्षो के नीचे स्वर्गभ्रष्ट देवागना जैसी, गृहत्यक्त नागकन्या जैसी और कामदेव के विरह से कातर रति जैसी शोकमग्न कनकमजरी को मैंने देखा।

दूर से ही मैने देखा कि वह चपल दृष्टि से चारों दिशाओ मे किसी को खोज रही है, पर कोई मनुष्य उसे दिखाई नही पड़ रहा है। * अन्त मे उसने कहा - 'हे भगवति वनदेवता ! आप साक्षी है। तेतलि ने मेरी धाय के पास स्वीकार किया था कि मेरे इष्ट हृदयनाथ को वह शीघ्र ही मेरे पास लेकर आयेगा और इस रति-मन्मथ उद्यान मे मिलने का उसने संकेत किया था। वह बुड्ढी बिल्ली (कपिजला) ठगकर मुझे यहाँ लायी है। मेरे हृदयनाथ यहाँ तो कही दिखाई नही देते और वह बुड्ढी भी उन्हें ढूँढने के बहाने मुझे अकेली यहाँ छोड़कर न जाने कहाँ चली गई हैं? यह कपिजला इन्द्रजाल की रचना करने में बहुत चतुर है। उसने आज मुझे ठगा है। इधर तो मैं प्रियतम के विरह से दग्ध हूँ और उधर मेरे विश्वस्त जनो ने मेरे साथ छल किया है। मुझ जैसी मन्दभाग्य वाली स्त्री के जीने से क्या लाभ ? आप वनदेवता से मैं यही वर मांगती हूँ कि अगले जन्म मे भी यही हृदयनाथ मेरे पति बने।' इस प्रकार कहते हुए कनकमजरी वल्मीक शिखर के सहारे एक तमाल वृक्ष की डाल पर चढी। वृक्ष की डाल के साथ रस्सी बाँधी और उस रस्सी से अपने गले को बाँधकर ज्योंही लटकने को तैयार हुई त्योही 'अरे, सुन्दरी ! ऐसा दुस्साहस क्यो कर रही हैं?' ऐसा कहते हुए त्वरित गति से मैं उसके पास पहुँच गया और बांये हाथ से उसके शरीर को सम्भाल कर दाये हाथ से छुरी से मैंने रस्सी को काट दिया। फिर मैंने उसे लिटाकर उस पर पवन किया। जब उसे कुछ चेतना आई तब मैंने कहा—'अरे देवि ! ऐसा अघटित कार्य क्यो कर रही थी? यह पुरुष तुम्हारे अधीन है। अतः सर्व प्रकार के क्लेश, दुःख और विषाद का त्याग करो।'

कनकमंजरी से मिलन

कनकमजरी कुछ आंखे भींचते और कुछ-कुछ तिरछी दृष्टि मे मुझे देखने लगी। जब वह मेरे सामने देख रही थी उस समय वह मानों अनेक रसो का एक साथ अनुभव कर रही हो, मानो कामदेव के चिन्हो को व्यक्त कर रही हो। उस समय उसका स्वरूप ऐसा अनिर्वचनीय लग रहा था जो योगियो की वाणी से भी वर्णनातीत था। स्वयं अकेली होने से उसे कुछ डर लग रहा था, पर यह वह पुरुष है जिसे वह चाहती है, इस विचार से उसे आनन्द भी हो रहा था। ये अपने आप ही इस स्थान पर कैसे पहुँच गये होंगे, इस विषय मे उसे शका हो रही थी। ये बहुत ही रूपवान है इस विचार से उसके मन में थोड़ी घबराहट हो रही थी। स्वय चल कर यहाँ आई थी, इस विचार से मन मे लज्जित भी हो रही थी। इस जनरहित एकान्त प्रदेश में अकेली हूँ इस विचार से चारो दिशाओ में चपल दृष्टि घुमा रही थी। इसी उद्यान में मिलने का सकेत किया था, इस विचार से उसका मन कुछ आश्वस्त हुआ था। मुझे फांसी लगाकर आत्म-घात करते इन्होने देख लिया है, इस विचार से मन मे खिन्न हुई। उसका पूरा शरीर पसीने से तर-बतर था जिससे वह समुद्र मन्थन से निकली लक्ष्मी

---

* पृष्ठ २६२

जैसी दिख रही थी। शरीर मे वार-वार होने वाले रोमाच से वह कदम्ब-पुष्प माल जैसी लग रही थी। प्रथम मिलाप की स्वाभाविक घवराहट से उसका शरीर कम्पित हो रहा था जिससे वह पवन के वेग से हिलती हुई वृक्ष मंजरी जैसी लग रही थी। उसकी ग्राँखे वन्द थी ग्रौर हलन-चलन वन्द था जिससे ऐसा लग रहा था जैसे वह ग्रानन्द के समुद्र मे डूवी हुई हो।

नन्दिवर्धन के प्रेम वचन

ऐसी स्थिति मे कनकमजरी लज्जावश समझ मे न ग्राने वाले ग्रस्पष्ट शब्द बोल रही थी—'ग्ररे निष्ठुर हृदय! मुझे छोड! छोड!! मुझे तेरी कोई ग्रावश्यकता नही।' इस प्रकार कहते हुए उसने मेरे हाथ से छूटने का प्रयत्न किया। उसके प्रयत्न को देखकर मैने उसे दूव उगी जमीन पर विठाया। मैं उसी के पास उसके सामने वैठा ग्रौर बोला—'ग्ररे सुन्दरी! ग्रव लज्जा को छोड, क्रोध को शान्त कर, मैं तो तेरी ग्राज्ञा का पालन करने वाला सेवक हूँ। मुझ पर इतना क्रोध करना उचित नही है।' मै जव इस प्रकार बोल रहा था तव उसे भी कुछ वोलने का विचार हुग्रा परन्तु वहुत प्रयत्न करने पर भी लज्जावश वह मुझ से कुछ वोल नही सकी। केवल उसकी श्वेत दन्तपक्ति की किरणे, रक्तिम ग्रधर ग्रौर स्फुरायमान कपोल उसके हृदय के ग्रानन्द को व्यक्त करते थे, किन्तु बाहरी दिखावे मे तो वह ग्रपने वांये हाथ के ग्रगूठे से जमीन कुरेदते हुए नीचा मुँह किये बैठी ही रही।

मेने फिर कहा—हे सुन्दरी! ग्रव ग्रपने मन के सकल्प-विकल्पो का त्याग कर।

प्यारी! मेरे हृदय, प्राण ग्रौर शरीर से भी तू मुझे ग्रत्यधिक प्रिय है। त्रैलोक्य मे तेरे ग्रतिरिक्त मेरे हृदय का कोई स्वामी नही है। हे पद्मलोचना! तूने ग्रपने ग्रन्तरग का प्रेम रूपी मूल्य देकर ग्राज से मुझे क्रीत कर लिया है, ग्रतः ग्राज से मैं तेरे पाँव धोने वाला सच्चा सेवक हूँ। मै तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि मैं कठोर हृदय वाला नही हूँ। ग्रपने लिये यदि कोई कठोर हृदय वाला है तो वह केवल भाग्य लिखने वाला विधाता ही है। हे सुलोचना! वही तेरे मुखकमल के दर्शन मे वाधक बनता है। [१-३[

जब राजकुमारी ने मेरे उपरोक्त वचन सुने तब ग्रपने ग्रन्तःकरण मे ग्रत्यन्त प्रसन्न होने से वह मुझे ऐसी लगने लगी मानो किसी ग्रभीष्ट मधुर रस मे डूव रही हो। मानो यह राजकुमारी कोई दूसरी ही हो। मानो उसके शरीर पर ग्रमृत की वर्षा हुई हो। मानो उसने सुख के सागर मे डुबकी लगाई हो ग्रथवा उसे कोई बड़ा साम्राज्य प्राप्त हो गया हो। ऐसा ग्रानन्द उसके चेहरे पर दिखाई देने लगा। [४-५]

---

* पृ० २६३

सारथि और कपिंजला

इधर मुझे ढूँढने निकली कपिंजला उद्यान के भिन्न-भिन्न विभागों में ढूँढती हुई जहाँ हम थे उसके निकट आ पहुँची। पहिले उसने तेतलि को देखा और तुरन्त बोल पड़ी—'मित्र, भले पधारे! पर आपके कुमार कहाँ हैं?' तेतलि ने कहा—'कुमार वृक्षलता के गहन भाग में आये हुए उद्यान में हैं।' इस बातचीत के पश्चात् वे दोनों जहाँ हम थे वहाँ आने के लिये चल पडे। दूर से ही उन्होंने हमारी जोड़ी देखी तो उन्हें अत्यधिक हर्ष हुआ। कपिंजला ने कहा—'जिस विधाता ने ऐसी सुन्दर, योग्य और अनुरूप जोड़ी मिलाई उसे नमस्कार हो।' तेतलि ने कहा—'हे कपिंजला! कामदेव और रति जैसी यह सुन्दर जोड़ी आज इस उद्यान में मिली, अतः इस उद्यान का रतिमन्मथ नाम सार्थक हुआ। अभी तक तो इसका नाम अर्थ रहित होने से निरर्थक था।' इस प्रकार बात करते हुए कपिंजला और तेतलि हमारे पास पहुँचे।

उन्हें देखकर कनकमंजरी घबरा कर एकाएक खड़ी हो गई जिसे देख कपिंजला ने कहा—'पुत्री! बैठ जा। घबराने का कुछ भी कारण नहीं है।' पश्चात् अमृतपुञ्ज के समान दूब पर बैठकर हम चारों स्नेहपूरित हास्य युक्त विश्वस्त बाते करते रहे।

कंचुकी योगन्धर

हम बातों में रस मग्न थे तभी कनकमंजरी के अन्तःपुर का कंचुकी योगन्धर वहाँ आ पहुँचा। मुझे प्रणाम कर उसने शीघ्रता से कनकमंजरी को बुलाया। तब कपिंजला ने पूछा—'भैया योगन्धर! इस प्रकारी कुमारी को सहसा बुलाने का क्या कारण है?' कंचुकी ने उत्तर दिया—महाराज ने जब सुना कि रात में राजकुमारी अस्वस्थ थी तो प्रातः ही कुमारी को देखने भवन में आ गये। कुमारी वहाँ नहीं मिली। फलतः महाराज व्याकुल हो गए और महाराज ने मुझे बुलाकर आज्ञा दी कि कुमारी जहाँ कहीं हों उसका पता लगाकर मैं उन्हें शीघ्र ही उनके पास लेजाऊं।' इसलिये कुमारी जी को बुलाने के लिये मैं आया हूँ।* कनकमंजरी यह जानती थी कि पिताजी की आज्ञा का उल्लंघन कभी भी नहीं हो सकता, अतः मेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखती हुई, आलस्य मरोड़ती हुई कपिंजला के साथ वहाँ से प्रस्थान कर गई और थोड़ी ही देर में मेरी दृष्टि से ओझल हो गई।

स्नेह-स्मृतियाँ

कनकमंजरी के जाने के बाद तेतलि ने मुझ से कहा—'प्रभो! अब यहाँ अधिक ठहरने की क्या आवश्यकता है?' उसके पश्चात् कनकमंजरी का बनावटी क्रोध भरा मुखड़ा. 'निष्ठुर हृदय मुझे छोड़ दे' जैसे वचन, विलसित दंतपंक्ति से रंजित ओष्ठ, अंतरंग के हर्षातिरेक को व्यक्त करते विस्फुरित कपोल, प्रेम पगी लज्जा-

---

* पृष्ठ २६४

युक्त पैर के अंगूठे से जमीन का कुरेदना, अत करण की गहन अभिलाषा को व्यक्त करती उसकी वक्र दृष्टि आदि कनकमजरी सम्बन्धी मदन-ज्वर को तीव्रतर करने वाली बाते, जिन्हे मैं उस समय मोहवश मदन-दाह को शान्त करने वाली अमृत जैसी मानता था, बार-बार मन मे याद करते हुए मैं अपने भवन मे पहुँचा और उस दिन के अन्य दैनिक कार्य करने लगा ।

पाणिग्रहण

दोपहर मे दासी कन्दलिका मेरे पास आई और कहने लगी —'कुमार ! महाराज ने कहलाया है कि आज उन्होने ज्योतिषी को बुलाकर लग्न का मूहूर्त पूछा तो उसने आज सध्या का गोधूली लग्न बहुत शुभ बताया ।' कन्दलिका के वचन सुनकर मैं रति-समुद्र में डूब गया और ऐसे हर्ष के समाचार लाने के लिये मैंने उसे पारितोषिक दिया । कुछ समय बाद सोने के कलश हाथ मे लिये हुए स्त्रियाँ वहाँ आ पहुँची और उन्होने मुझे स्नान कराया मेरे हाथ मे मगलसूत्र बाधा । इसके बाद बडे-बडे दान दिये गये, कैदखाने से कैदी छोडे गये, नगर देवताओ का पूजन कराया गया और गुरुजनो को सन्मानित किया गया । बाजार को विशेष रूप से सजाया गया । राजमार्गों को साफ करवाया गया । स्नेहीजनो को सन्तुष्ट किया गया । उस प्रसग पर राजमाताएँ गीत गाने लगी, अन्तपुर की दासिया नाचने लगी और राजा के प्रिय पुरुष विलास करने लगे । ऐसे आमोद-प्रमोद के वातावरण मे बडे आडम्बर के साथ मैंने राज भवन मे प्रवेश किया । वहाँ मुसल-ताडना, पूंखने (आरती उतारने) आदि अनेक प्रकार के कुलाचार/रीति-रस्म पूरे किये गये ।

फिर लग्नमण्डप मे विशेष प्रकार से रचित वधूगृह (मातृगृह) मे मुझे ले जाया गया । वहाँ मैंने महामोहवश जिसके विवेक चक्षु बन्द हो गये हो, ऐसी दृष्टि से हर्षातिरेक से पुलकित होकर कनकमजरी को देखा । अपने अतिशय रूप से वह देवांगनाओ का भी उपहास कर रही थी । इन्द्रियजन्य विलासो मे मदनप्रिया रति से भी अधिक प्रवीण दिखाई देती थी । उसके अधर नवरक्त प्रल्लव जैसे, स्तन गोल सुगठित चकवे-चकवी की जोड़ी का भ्रम उत्पन्न करने वाले, नाक की डण्डी ऊची सीधी और सुन्दर, रक्त अशोक की नवस्फुटित किशलय जैसे कमनीय पतले लम्बे और चमकते हुए हाथ, रक्त कमल के पत्तो जैसी सुन्दर आँखे हाथी के सूड की आकार वाली मनोहर जाघे, अत्यन्त विस्तीर्ण नितम्ब, त्रिवली की तरगो से तरगायित मध्यभाग, वेणी के काले चिकने और भ्रमराकार गुच्छेदार बाल और उसके दोनो पाँव जमीन पर उगे हुए कमल के जोडे जैसे सुशोभित थे । उसके उस रूप और यौवन को देखकर मेरे विवेक के नेत्र बद हो गये । मुझे ऐसा लगा कि मानो वह कामरस की तलैया है, सुख की राशि है, रति का खजाना है, रूप और आनन्द की खान है । मुनियो के मन को भी अपनी ओर आकर्षित कर सके ऐसी सुन्दर यौवनावस्था का अनुभव कराने वाली कनकमजरी को मैंने जी भरकर देखा । ❀ फिर

❀ पृष्ठ २६५

मुख्य ज्योतिषी के निर्देशानुसार हमारा हस्त-मिलाप किया गया, फेरे फिरवाये गये और विधि अनुसार सभी प्रकार के लौकिक रीति-रिवाजो को पूर्ण किया गया। बड़े आडम्बर के साथ हमारे विवाह-यज्ञ का कार्य पूर्ण हुआ। फिर देव भवन की शोभा को भी फीका करने वाले विशेष सुसज्जित शयन गृह मे जहाँ कनकमजरी थी मैने प्रेम रूपी अमृतसमुद्र मे डुबकी लगाते हुए प्रवेश किया। हमारा परस्पर का प्रेम दिन-प्रतिदिन बढता गया और कई दिन हमने इस राजभवन मे आनन्द पूर्वक विताये।

❀

२५. हिंसा के प्रभाव में

हमारे साथ लड़ने वाले विभाकर को युद्ध मे जो घाव लगे थे वे अब भर गये थे। उसका शरीर भी स्वस्थ हो गया था। उसे मुझ से स्नेह हो गया था और वह मेरा विश्वासपात्र भी वन गया था। कुछ दिनो के बाद महाराज कनकचूड ने उसे मानपूर्वक परिवार सहित उसके राज्य मे वापिस भेज दिया। अम्बरीष जाति के लुटेरो का नायक प्रवरसेन युद्ध मे मारा गया था, अतः अन्य वीरसेन आदि मेरे दास वनकर मेरे पास ही रहने लगे। उन्हे भी योग्य सन्मान देकर मैंने उनको उनके देश की ओर विदा किया। अब मेरे मन मे किसी प्रकार की चिन्ता न थी, किसी ओर से मुझे सताप हो ऐसा भय भी नही था। ऐसे सर्वथा अनुकूल सयोगो मे मै अपनी प्रिय-पत्नियो रत्नवती और कनकमजरी के साथ आनन्दसमुद्र मे कल्लोल करता हुआ कनकचूड राजा के कुशावर्तपुर मे कुछ समय तक रहा।

नन्दिवर्धन की विपरीत बुद्धि

मुझे सर्व प्रकार के आनन्द-सुख प्राप्ति का वास्तविक कारण तो मेरा मित्र पुण्योदय ही था, किन्तु महामोह के वशीभूत मेरा मन घने अन्धकार मे भटक रहा था जिससे मुझे सर्वदा ऐसा ही लगता था कि यह सब मेरी प्रिया हिंसा और मेरे मित्र वैश्वानर का ही प्रभाव है। इन दोनो के प्रभाव से ही कनकमजरी जैसी सुन्दर पत्नी जो आनन्द रूपी अमृतरस की कुइयाँ जैसी है, मुझे प्राप्त हुई है। महाराजा कनकचूड ने स्वय ही मणिमजरी से कहा था कि 'द्रुम और समरसेन जैसे योद्धाओ को नन्दिवर्धन कुमार ने (मैंने) खेल-खेल ही मे मृत्यु के घाट पहुँचा दिया, इसीलिये हमे कुमारी कनकमजरी का लग्न उसके साथ करना चाहिये।' यह बात मणिमजरी ने कपिंजला को कही थी और कपिंजला से सुनकर तेतलि सारथि ने मुझे कही थी। द्रुम और समरसेन को मैंने हिंसादेवी और वैश्वानर के प्रभाव से ही पराजित किया था, इसमे क्या सन्देह है? वस्तुतः मुझे कनकमंजरी की प्राप्ति हिंसा और वैश्वानर के सहयोग से ही प्राप्त हुई है। इनका मुझ पर असीम उपकार है। ऐसे-ऐसे विचारो से मेरे मन मे हिंसा और वैश्वानर के प्रति अधिकाधिक स्नेह बढता गया।

वैश्वानर और क्रूरचित्त बड़ों का प्रभाव

वैश्वानर मित्र पर मेरा वहुत प्रेम होने से वह मुझे क्रूरचित्त नाम के वडे खाने को देता रहता था, जिन्हे मैं प्रतिदिन खाता था। इसके प्रभाव से मुझ मे प्रचण्ड कठोरता का भाव आने लगा, असहिष्णुता, उग्र भयकरता और अतीव क्रूरता मेरे रग-रग मे समा गई। सक्षेप मे कहूँ तो उस समय मेरा अपना स्वरूप विलीन हो गया और मैं वास्तव में वैश्वानर भय ही बन गया। कुछ समय बाद तो मेरी ऐसी स्थिति हो गई कि मुझे बडे खाने की भी आवश्यकता नही रही। मै सर्वदा क्रोध से दमदमाता रहता और जो कोई मुझे हित की बात कहता मैं उसको आड़े हाथो लेता और ताडित करता। मेरे नौकरो-सेवकों को भी मैं बिना किसी अपराध के मारने लग जाता।

आखेट का व्यसन : कनकशेखर की विचारणा

हिसादेवी के पुन.-पुनः आलिगनादि के प्रभाव से मैं शिकार का शौकीन बन गया। परिणामस्वरूप मैं प्रतिदिन अनेक जीवो को मारने लगा। मेरे शिकार के व्यसन का जब कनकशेखर को पता लगा तो वह सोचने लगा कि—* अहो! इसका व्यवहार तो बहुत गड़बड़ा रहा है। ऐसा क्यो हुआ ?

यह नन्दिवर्धन तो सुन्दर है, उत्तम कुलोत्पन्न है, शूरवीर है, पढा हुआ है, महारथी है फिर भी प्राणियो को आनन्दित क्यो नही करता ? मेरे विचार मे इसका कारण यही हो सकता है कि वह हिंसादेवी से आलिगित है और वैश्वानर से प्रेम करता है। इसीलिये प्राणियो को निरतर संताप देता है और धर्म से दूर होता जा रहा है। किन्तु, मैं इसका मित्र हूँ इसलिये मुझे इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये तथा नन्दिवर्धन को उसके हित की बात बतानी चाहिये। यदि वह इसके अनुसार व्यवहार करेगा तो उसका बहुत भला होगा। सम्भव है अकेले मे शिक्षा देने से यदि वह मेरी शिक्षा को न माने तो कहना व्यर्थ होगा, अत. मुझे पिताजी के समक्ष ही इससे बात करनी चाहिये जिससे कुछ नही तो पिताजी की शर्म से ही वह सीधे रास्ते पर आ जाय। अतएव मुझे पिताजी के सामने ही नन्दिवर्धन को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे वह हिसा और वैश्वानर का त्याग करदे और गुणो का भाजन बन सके [१–५]

शिक्षा का प्रयत्न

अनन्तर कनकशेखर ने अपने पिताजी से इस विषय मे बातचीत की। एक दिन मै राज्यसभा मे गया, महाराजा को नमस्कार कर उनके पास बैठा। समयानुसार राजा कनकचूड ने मेरी प्रशसा की। उस समय कनकशेखर ने कहा— 'पिताजी ! स्वरूप से तो भाई नन्दिवर्धन अवश्य ही प्रशसा-योग्य है, किन्तु उसके सुन्दर रूप मे एक ही दाग (काटा) दिखाई देता है कि वह सज्जन पुरुषो द्वारा निन्दनीय बुरे लोगो की सगति करते है।' महाराजा ने पूछा—'ऐसी किसकी कुसगति

---

* पृष्ठ २६६

इसको लगी है ?' कनकशेखर ने उत्तर मे कहा—'पिताजी स्वरूप से ही सर्व प्रकार के दु.ख उत्पन्न करने वाला और अनेक अनर्थों का कारण इसका एक बचपन का मित्र वैश्वानर है। इसके अतिरिक्त जिसका नाम सुनने से ही पूरे संसार को त्रास प्राप्त होता है ऐसी गुरुतर पापों का बन्ध करवाने वाली हिंसा नामक इसकी अन्तरंग पत्नी है। इन दोनों की कुसंगति के कारण इसके सभी गुण इक्षु-कुसुम (कास के फूल जैसे) उज्ज्वल होते हुए भी निष्फल है।' महाराजा कनकचूड ने कहा—'यदि ऐसा है तो इसे इन दोनों पापियों का त्याग करना ही उचित है। ऐसे लोगो के साथ सम्बन्ध नही रखना चाहिये। क्योंकि:—

जो व्यक्ति अपना हित चाहते हों उन्हे ऐसे मित्र करने चाहिये जो इस भव और पर भव मे हितकारी, उभय लोकों को सुधारने वाले और उभय लोकों का विनाश न करने वाले हो। १।

स्वहितेच्छु मनुष्य को ऐसी स्त्री के साथ लग्न करना चाहिये जो उभय लोको मे आह्लादकारिणी हो और जो धर्म-साधना में अधिक कारणभूत बने। किन्तु जिस स्त्री की चेष्टाये मूल से ही दूषित हों उसके साथ कभी भी सम्बन्ध नही करना चाहिये। २।

उग्र-क्रोध : शत्रुता

मैं तो सर्वदा क्रोधाग्नि से धधकता रहता था, उस अग्नि में महाराजा कनकचूड और कुमार कनकशेखर के वचनों ने घी का काम किया जिससे मेरी क्रोधाग्नि अधिक प्रज्वलित हो उठी। क्रोधाग्नि के जोश में मैने अपना सिर हिलाया, भूमि पर हाथ से मुक्के मारे, प्रलयकाल के सदृश हुकार किया और क्रुद्ध दृष्टि से राजा और राजकुमार की ओर देखा। फिर राजा को उद्देश्य कर चीखते हुए कहा—'अरे मुर्दे! मेरे प्राणो से भी प्यारे वैश्वानर और हिंसा को पापी कहने वाला तू कौन है ? क्या तुझे इतना भी भान नही कि किस की कृपा से तुझे यह राज्य पुन: मिला है ? यदि मेरा मित्र वैश्वानर नही होता तो महा बलवान समरसेन और द्रुम को तेरा बाप भी नही हरा सकता था ? उसमें से एक को भी मारने मे तुम में से कौन समर्थ है, यह तो बता ?' फिर उसने कनकशेखर से कहा—❀ 'अरे नीच ! चाण्डाल ! क्या तू मुझ से भी बड़ा पण्डित बन गया है कि मुझे शिक्षा दे रहा है ?

मेरे क्रोधपूर्ण चेहरे को देखकर और कटुवचन सुनकर राजा कनकचूड को बहुत आश्चर्य हुआ और कुमार कनकशेखर का मुँह खुला का खुला रह गया। उनकी विस्मयपूर्ण मुख मुद्रा देखकर मैंने मनमे कहा—'अरे ! ये तो मुझे कुछ मानते ही नही।' उसी समय चमकती हुई छुरी निकाल कर मैंने (नन्दिवर्धन ने) कहा—'अरे ! घर मे बैठकर बाते करने वाली औरतो ! अब देखो ! थोड़ी ही देर मे मैं अभी अपना और अपने मित्र वैश्वानर का चमत्कार तुम्हे बताता हूँ। तुम्हे जो प्रिय हो वह शस्त्र अपने हाथ मे लेकर मुझ से युद्ध करने को तैयार हो जाओ।'

❀ पृष्ठ २६७

हाथ मे छुरी और फटी जीभ से साक्षात् यमराज जैसा मुझे देखकर राज्यसभा के सभी सदस्य भाग खड़े हुए और महाराजा तथा कुमार तो अपने स्थान से हिल तक नही सके। उस समय उनका प्रताप और पुण्योदय शेष था और भवितव्यता भी ऐसी ही थी जिससे उन्हे कोई चोट पहुँचाये बिना मै राज्य-सभा से निकलकर अपने भवन मे आ गया। उसके बाद महाराजा और कुमार ने मेरी अवहेलना शुरु कर दी और मैं उन दोनो को अपना शत्रु समझने लगा। हमारे बीच साधारण लोक-व्यवहार भी टूट गया।

❀

२६ : पुण्योदय से बंगाधिपति पर विजय

महाराज कनकचूड और राजकुमार कनकशेखर के साथ जब से मेरी बोलचाल और व्यवहार बन्द हुआ तब से मैं वह नगर छोडकर जाने का विचार कर रहा था तभी जयस्थल से मेरे पिता द्वारा भेजा हुआ दूत दारुणक आया। जब मैंने उसे अच्छी तरह से पहचान लिया तब उसने निम्न समाचार कहे—

जयस्थल के समाचार

दूत—कुमार श्री! मुझे प्रधानो ने आपके पास भेजा है।

उसी समय मेरे मन मे शका हुई कि, अरे! इस दूत को मेरे पिताजी ने न भेजकर प्रधानो ने मेरे पास भेजा है, इसका कारण क्या हो सकता है? अतः मैंने दूत से पूछा—अरे दारुणक! पिताजी तो सकुशल है?

दूत—हाँ जी, पिताजी सकुशल हैं। आपको ध्यान होगा कि बग देश मे यवन नामक एक राजा है। उसकी विशाल सेना ने अपने नगर के चारो तरफ घेरा डाल रखा है। अपने किले के बाहर का पूरा प्रदेश उसने जीत लिया है। उसने और भी अनेक स्थान जीत लिये है और अपने घास तथा अनाज के भण्डारो पर भी अधिकार कर लिया है। इस यवनराज को हटाने का कोई उपाय नही रहा जिससे क्षीर समुद्र जैसे गम्भीर हृदय वाले आपके पिताजी भी थोड़े बहुत विह्वल हो गये हैं, मन्त्री भी विषाद को प्राप्त हुए हैं, प्रधानो के भी मन खिन्न हुए हैं और नगर के सब लोग त्रस्त हुए है। श्रीमान्! क्या कहूँ? अब क्या होगा? इस विचार से सम्पूर्ण नगर भाग्य पर आधारित हो गया है। 'भाग्य मे जो लिखा होगा, वही होगा', सभी लोग ऐसा सोचने लगे हैं। मन्त्रियो और प्रधानो ने मिलकर बहुत विचार के पश्चात् निश्चय किया कि यवनराजा जैसे बड़े शत्रु को हराने की सामर्थ्य तो केवल कुमार नन्दिवर्धन मे है, और किसी पुरुष में ऐसी शक्ति नही है। इसके पश्चात् मन्त्रियो मे निम्न प्रका र विचार विमर्श हुआ:—

मतिधन – अभी हम जिस निर्णय पर पहुँचे हैं उसे शीघ्र महाराजा पद्म को सूचित करना चाहिये।

बुद्धिविशाल—नहीं, नहीं, यह बात महाराजा को नहीं बतानी चाहिये।

मतिधन—क्यों, उनको बताने में क्या आपत्ति है ?

बुद्धिविशाल—पद्म राजा को अपने पुत्र पर बहुत प्रेम है, अतः ऐसे संकट के समय में वे अपने पुत्र का यहाँ आना रागवश पसन्द न भी करें, इसीलिये इस बारे में महाराजा को सूचित नहीं करना ही अच्छा रहेगा।

प्रज्ञाकर—मतिधन ! बुद्धिविशाल ने जो बात कही है वह अवश्य ही विचार करने योग्य है। मुझे तो यह बात उचित ही लग रही है। इस विषय में अधिक सोच विचार करने से क्या ? मेरे विचार से तो महाराजा को बिना सूचित किये ही गुप्त रूप से दूत को कुमार के पास भेजकर * सब समाचार कहलाकर राजकुमार को शीघ्र यहाँ बुला लेना चाहिये जिससे सर्वत्र शान्ति हो जाय।

मतिधन—ठीक है, फिर ऐसा ही करें।

कुमार नन्दिवर्धन ! इस प्रकार प्रधानों में बातचीत होने के पश्चात् सर्वरोचक प्रधान ने मुझे आपके पास भेजा है।

जयस्थल की ओर प्रयाण

दूत की इतनी बात सुनते ही मेरे शरीर में रहने वाला मेरा मित्र वैश्वानर उल्लसित हो जागृत हो गया। अब अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाने का अच्छा अवसर आ गया है, यह जानकर मेरी प्रिया हिंसा देवी भी अत्यन्त प्रसन्न हुई। मैंने जोर से कहा—'सेना के प्रस्थान की भेरी बजाओ ! कूच का रणसिंगा फूंको। मेरी चारों प्रकार की सेना को तैयार करो।' मेरी इच्छा को समझकर मेरे सेनाधिकारियों ने कूच की तैयारी कर दी। मेरी सेना के साथ मैं वहाँ से चल निकला। क्रोधवश मैंने महाराजा कनकचूड या कुमार कनकशेखर को कुछ भी सूचित नहीं किया। कनकमंजरी से प्रेम के कारण मणिमंजरी हमारे साथ आयी। अनवरत कूच करते हुए थोड़े ही दिनों में हम जयस्थल नगर के निकट पहुँच गये।

वैश्वानर का उग्र प्रभाव

मैंने मित्र वैश्वानर से कहा—'मित्र ! आजकल तो मुझ में प्रतिक्षण सतत तेजस्विता रहती है, जिससे मुझे बड़ों का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं रहती। पहले तो तेजस्विता लाने के लिये मुझे बड़ों का प्रयोग करना पड़ता था। यह सब परिवर्तन कैसे हुआ ?' वैश्वानर ने उत्तर दिया—'मित्र ! कृत्रिमता रहित भक्ति से (मैं) भक्त के वश में हो जाता हूँ। तुम्हारी मुझ पर अन्तःकरण की अतुलनीय गहरी भक्ति है। जिस प्राणी की मुझ पर सच्ची भक्ति होती है, मेरे वीर्य

---

* पृष्ठ २६८

से बने क्रूरचित्त बडे उसके चित्त/रग-रग मे प्रवेश कर जाते है। इस प्रकार तेरे चित्त मे प्रवेश किये हुए बडे अब तेरे साथ तन्मय हो गये हैं। सक्षेप मे बडो के प्रताप से अब तू वीर्य मे पूर्णरूप से मेरे समान ही हो गया है। पुनश्च, मेरी बात मानकर तुझे साक्षात् हिंसा देवी भी मिल गई है, जो तेरे जैसी ही तेजस्विनी है। तेरा शरीर वैश्वानरमय और तू स्वय हिंसामय बन गया है। अब तुझे किसी प्रकार का सन्देह नही रखना चाहिये।' मैंने उत्तर में कहा – 'अभी भी मुझे एक सन्देह है।'

बंगाधिपति के साथ युद्ध और विजय

हम दोनो के बीच उपरोक्त बातचीत चल ही रही थी कि हमे शत्रु की सेना दृष्टिगोचर होने लगी। शत्रु सेना ने भी दूर से ही हमारी सेना को देख लिया था। तुरन्त ही शत्रु सेना ने व्यूह की रचना की और हमसे लडने के लिये हमारे सामने आ गई। शत्रु सेना और हमारी सेना के मध्य घमासान युद्ध शुरु हो गया।

रथो के घरघराहट से, हाथियों की विकराल गर्जना से, घोडो के उद्दाम हेषारव से और पैदल सेना के भीषण घोष से युद्ध का मैदान बहुत भयकर लगने लगा। थोडी ही देर में रथ के चक्र और कूबर टूटने लगे, मदोन्मत्त हाथी विदीर्ण होने लगे, घोडो की पक्तियाँ सवार बिना होने लगी, पैदल सेना के बडाघड सिर कटने लगे, सेना कम होने लगी, आकाश मे देव-दानव भी भगदड करने लगे, सिर रहित धड ही हाथ मे तलवार लेकर युद्ध क्षेत्र मे नाचने लगे। [१-३]

इस प्रकार लडते-लडते यवनराज ने हमारी सेना को पीछे खदेड दिया। उसकी सेना मे जयघोष की हर्ष ध्वनि होने लगी। उसी समय मैं अकेला उसके सामने गया। यवनराज भी अकेला मुझ से युद्ध करने मेरे सामने आया। हम दोनो के रथ एक दूसरे के आमने-सामने आ गये। उस समय मैंने रथ के जुए पर खडे होकर एक जोर की छलाग लगाई और उसके रथ मे कूद गया। कूदने के साथ ही मैंने यवनराज का सिर अपने हाथ से काट दिया।

यह देख कर मेरी सेना जो पीछे हट रही थी सतोष सूचक जयघोष के साथ वापस आने लगी। [१]

माता-पिता से मिलन

देवता, गन्धर्व और राक्षसो ने * मेरे पराक्रम का वर्णन करते हुए सुगन्धित जल और पुष्पो की मुझ पर वर्षा की। शत्रु सेना के नायक का नाश होने से सम्पूर्ण शत्रु सेना बिना प्रयत्न के मेरे अधीन हो गई। मेरे माता-पिता यह समाचार सुनकर सभी बन्धु-बान्धवो के साथ नगर से बाहर निकलकर मुझ से मिलने आये। साथ मे नगरवासी अपने बच्चो को लेकर मुझे धन्यवाद देने वहाँ उपस्थित हुए। [२-४]

उस समय मैंने रथ से उतरकर पिताजी के चरण स्पर्श किये। उन्होने कन्धे से उठाकर मुझे खडा किया, हर्षाश्रुओं की वर्षा से मुझे स्नपित करते हुए मुझे

---

* पृष्ठ २६६

वक्ष से लगाया और बार-बार मेरा मस्तक चूमने लगे। इसी समय मैंने माताजी को देखा। उन्हे देखते ही मैंने झुककर उनके चरण स्पर्श किये। माताजी ने भी मुझे उठाकर गले लगा लिया और मेरे मस्तक पर चुम्बन अंकित किया तथा हर्षाश्रुपूरित नेत्रो से गदगद् होकर उन्होने कहा—वत्स ! तेरी माता का हृदय तो वज्र शिला के टुकड़ो से बना हुआ लगता है, क्योकि इतने दिनो तक तेरा वियोग सहने पर भी उसके सैकड़ो टुकडे नही हो गये। अहा ! जैसे प्राणी गर्भावास मे चारो तरफ से घिरा हुआ रहता है वैसे हो हम सब नगर अवरोध (शत्रु सेना के घेरे) में फँसे हुए थे। आज तुमने ही हम सब को उस घेराव से छुड़ाया है। भगवान करे मेरी आयु तुझे लग जाय।

माता-पिता के ऐसे मधुर शब्द सुनकर मैं लज्जित हुआ और कुछ नीचा मुँह कर जमीन की तरफ देखने लगा। फिर हम सब रथो में आरुढ हुए।

विजय के साथ जयस्थल में प्रवेश

शत्रु-नाश और मेरे मिलन से समस्त राज परिवार अत्यधिक हर्षित हुआ और वे अनेक प्रकार से आनन्द मनाने लगे। कोई दान देने लगे, कोई अन्त.करण के हर्ष से गाने लगे, कई भेरी वादन के उद्दाम स्वरो के साथ नाचने लगे, कई हर्षनाद करने लगे, कई जोर से जयघोष करने लगे, कई केशर चन्दन से सुगन्धित गुलाल उडाने लगे, कई रत्नो की वर्षा करने लगे और कई परस्पर प्रेम पूर्वक मिलते हुए पूर्णपात्र ले जाने लगे। सम्पूर्ण नगर के लोग प्रसन्न हो गये। कूबड़े और ठिंगणे लोग नाच-कूद करने लगे और अन्त.पुर के रक्षक/नाजिर भी हाथ उठा-उठा कर नृत्य करने लगे। इस प्रकार अत्यन्त प्रमोय पूर्वक जयस्थल मे मेरा प्रवेश हुआ। फिर थोडी देर तक राज्य भवन मे रुककर मै अपने महल में गया। [१-६]

वैश्वानर और हिंसा के प्रति प्रगाढासक्ति

अपने भवन मे जाकर मैंने दिन के सारे दैनिक कर्त्तव्य पूरे किये। अनेक प्रकार के महान और अदभुत दृश्यो को देखते हुए मेरा मन अतिशय हर्षित हुआ। रात मे कनकमंजरी के साथ पलग पर सोते हुए महामोह के वशीभूत होकर मै सोचने लगा—'अहा ! मेरे मित्र महात्मा वैश्वानर का कैसा आश्चर्यकारी अद्भुत प्रभाव है ! उसने मुझे उत्साहित और प्रेरित किया जिससे मुझे विजय, यश और कल्याण की परम्परा प्राप्त हुई। उसकी प्रेरणा से ही मै यहाँ आया, मुझ मे इतना उत्साह/तेज प्रकट हुआ, मेरे माता पिता को इतना सतोष हुआ और मुझे विजय प्राप्त हुई। विशालाक्षी महादेवी हिसा का प्रभाव भी अलौकिक है। दृष्टि निक्षेप मात्र से वह तो तुरत शत्रु का विमर्दन कर देती है। ※ महादेवी हिंसा जितना प्रत्यक्ष फल देती है, उससे अधिक प्रभाव में वृद्धिकारी अन्य कोई कारण मुझे दिखाई नही देता।' इस प्रकार विचार करते हुए मै वैश्वानर और हिंसादेवी पर अधिकाधिक आसक्त होने लगा और मैंने अपने मन मे निर्णय किया कि ये दोनों

※ पृष्ठ २७०

(वैश्वानर और हिंसा) मेरे सच्चे बन्धु है, सम्बन्धी है, मेरे परम देवता है, मेरा सच्चा हित करने वाले है और मेरा सब कुछ इन दोनो मे ही समाहित है। मैंने यह भी निश्चय किया कि जो कोई भी प्राणी इन दोनो की प्रशसा करता है वही प्राणी धन्य है, वही मेरा सच्चा बन्धु और अतरग मित्र है। जो मूर्ख प्राणी इन दोनो पर द्वेष रखता है वह मेरा शत्रु है, इसमे कोई सदेह नही है। महामोह के वशीभूत दुर्भाग्य से मैं उस समय यह नही जानता था कि यह सब लाभ मुझे मेरे मित्र पुण्योदय के योग से मिला है। इस प्रकार वैश्वानर और हिंसा मे प्रगाढासक्त होकर और पुण्योदय से पराङ्मुख होकर (विपरीत दिशा मे काम करने का सोचकर) मैं यथार्थ शुद्ध धर्म-मार्ग से अधिकाधिक दूर होता गया। [७-१७]

❀

२७ : दयाकुमारी

माता-पिता के सन्मान और नागरिको के प्रेम के मध्य नगर प्रवेश कर पूरा दिन आनन्द और प्यारी हिंसा के विचार मे पूरा किया। उसी रात सोने के पश्चात् जब थोडी रात बाकी थी, मेरे मन मे फिर पाप प्रकट हुआ, अत नियमानुसार माता-पिता को प्रभात वंदन किये बिना ही मैं जगल मे चला गया। पूरे दिन अनेक प्रकार के प्राणियों का शिकार किया और शाम को मैं अपने महल मे वापस आया। [१८-१९]

महाराज पद्म के विचार : विदुर की सूचना

सन्ध्या के समय पिताजी ने विदुर से पूछा—'विदुर! आज पूरे दिन कुमार दिखाई नहीं पडा, क्या बात है? जरा पता लगाओ।' उत्तर मे विदुर ने कहा—प्रभो! कुमार श्री के साथ अपनी पुरानी मित्रता को याद कर आज प्रात. मैं उनसे मिलने उनके कक्ष मे गया था। परिजन से मैंने पूछा कि क्या कुमार घर मे है? तब उनके सेवको ने मुझे बताया कि वे तो थोड़ी रात बाकी थी तभी जगल मे शिकार करने चले गये। [२०-२२]

मेरे यह पूछने पर कि कुमार आज ही शिकार करने गये है या नित्य ही जाते है? उन्होने बताया कि, 'भद्र! जब से यहाँ से जाते हुए रास्ते मे कुमार श्री का हिंसादेवी से परिणय हुआ है तभी से वे नित्य शिकार करने जाते हैं। जिस दिन किसी कारण वश नही जा पाते उस दिन उन्हे किंचित् भी चैन नही पडता। अधिक क्या कहे? मृगया का शौक उन्हे इतना अधिक हो गया है कि वे उसे अपने प्राणो से भी प्रिय समझते है।' महाराज! इस बात को सुनकर मेरे मन मे विचार आया कि दुर्भाग्य ने हमे मन्दभागियो को खूब फसाया है! मुझे कहावत याद आई कि, 'जो ऊँट की पीठ पर न समा सके उसे उसके गले मे बाँध दिया जाता है।'

कुमार की सगति उसके पापी मित्र वैश्वानर से तो पहले से ही थी जिससे हम सब प्रगाढ उद्वेग मे पडे थे और अब साक्षात चण्डिका जैसी इस हिसादेवी को कुमार ने पत्नी बनाया। अब हम क्या करे ? इसी विचार मे आज मेरा पूरा दिन बीत गया। कुमार आज आपके पास नही आये है इसका यही कारण है।

महाराज पद्म विदुर का उत्तर सुनकर विचार मे पड़ गये। वे बोले—विदुर ! यह शिकार का शौक तो महापाप का कारण है। हमारे वश के किसी राजा ने आज तक यह शौक नही किया। इस शौक के कारण-स्वरूप उसकी स्त्री हिंसा को किसी भी प्रकार उससे अलग किया जा सके तो अच्छा हो।

उत्तर मे विदुर ने मेरे पिताजी से कहा—❀ 'महाराज ! वैश्वानर की भांति यह हिंसादेवी भी अन्तरग मे रहने वाली है, अतः वह अपनी पहुँच के बाहर है। किन्तु, देव ! आज मैंने सुना है कि जिनमतज्ञ नैमेत्तिक आज फिर यहाँ आया हुआ है। यदि आपकी इच्छा हो तो उसे बुलवाकर पूछा जाय कि इस विषय मे हमे क्या करना चाहिये ?' राजा ने कहा—'तब तो नैमेत्तिक को अवश्य बुलाओ।'

जिनमतज्ञ द्वारा दर्शित उपाय

राजाज्ञा सुनकर विदुर जिनमतज्ञ नैमेत्तिक को बुलाने गया और थोड़ी ही देर मे उसे साथ लेकर वापस आ गया। मेरे पिताजी ने नैमेत्तिक को प्रणाम कर उचित सन्मान दिया और उसे बुलाये जाने का कारण बताया। नैमेत्तिक ने बुद्धि नाड़ी के सचार को ध्यान में रखकर विचार पूर्वक पिताजी से कहा—महाराज ! इस विषय में एक मात्र बहुत ही अच्छा उपाय है। यदि वह उपाय सम्पन्न हो जाय तो कुमार को जिस स्त्री पर इतनी अधिक आसक्ति है, वह महा अनर्थकारिणी हिंसादेवी स्वय ही भाग जाय।

पद्म राजा—वह कौनसा उपाय है ? आर्य ! आप बताने की कृपा करे।

नैमेत्तिक—मैंने आपको पहले ही बताया था कि समस्त उपद्रवरहित, सर्व गुणो का निवास स्थान, कल्याण-परम्परा का कारण, मन्दभाग्यो के लिये अति दुर्लभ चित्तसौन्दर्य नाम का एक नगर है। उस नगर में लोगों का हितकारी, दुष्टो का निग्रह करने मे सतत प्रयत्नशील, शिष्ट मनुष्यो के परिपालन का विशेष ध्यान रखने वाला, कोष और दण्ड से समृद्ध शुभपरिणाम नाम के राजा है। इस राजा के यहाँ क्षान्ति नामक पुत्री को जन्म देने वाली निष्प्रकम्पता नामक देवी का वर्णन मै पहले कर चुका हूँ। महाराजा के एक दूसरी चारुता नामक रानी भी है। यह लोक हितकारी, सकल शास्त्र और अर्थ की कसौटी, सद् अनुष्ठानो को प्रवर्तिका तथा पाप से दूर रहने वाली है।

चारुता रानी

जब तक प्राणी इस चारुता देवी की भली प्रकार भक्ति/उपासना नही करते

❀ पृष्ठ २७१

तभी तक वे इस संसार में सब प्रकार के दुःख भोगते है और तभी तक स्वर्ग एवं मोक्ष के श्रेष्ठतम मार्ग को प्राप्त नही कर पाते। जब प्राणी इस महादेवी की विधि पूर्वक सम्यक् प्रकार से आराधना करते है तभी वे अनेक प्रकार के कल्याण समूह को प्राप्त कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त होते है। इसीलिये इसे लोकहितकारी कहा गया है। [१-३]

अन्य दर्शनो और जैन दर्शन में महापुरुषो द्वारा प्रतिपादित ससार-सागर से पार उतारने वाले जो कुछ शास्त्र है उन सब मे बुद्धिशालो तत्त्वचिन्तको ने परमार्थतः इस महादेवी को ग्रहण एव आदर करने योग्य बताया है अर्थात् तत्त्वज्ञ शास्त्रकार सूचित करते है कि सब को इस देवी को स्वीकार करना चाहिये। इसीलिये चारुता देवी को सर्व शास्त्रों के अर्थ की कसौटी कहा गया है। इस देवी की अनुपस्थिति मे शास्त्र की सभी बाते असद्बुद्धि समूह जैसी लगती है। [४-६]

दान, शील, तप, ध्यान, गुरुपूजा, शम, दम आदि जितने भी शुभ अनुष्ठान लोगो मे प्रवर्तित है, उन सब को * यह महादेवी अपने बल से महात्मा जनो मे प्रवर्तित करवाती है। इसीलिये उसे श्रेष्ठ अनुष्ठान प्रवर्तिका कहा गया है। [७-८]

इस लोक मे काम, क्रोध, भय, द्रोह, मोह, मत्सर, विभ्रम, शठता, निन्दा, राग, द्वेष आदि जितने भी पाप के कारण है, वे सब कभी भी त्रैलोक्य मे भी इस चारुता देवी के साथ एक स्थान पर नही ठहर सकते। इसीलिये इसे पाप से दूर रहने वाली कहा गया है। [९-१०]

दयाकुमारी

शुभपरिणाम राजा और चारुता देवी को एक दयाकुमारी नामक पुत्री है, जो विश्व को आह्लादित करने वाली, रूप मे सुन्दर, सगे-सम्बन्धियो को अत्यन्त प्यारी और आनन्द-परम्परा की कारणभूत होकर स्त्री होते हुए भी मुनियों के हृदय मे निरन्तर निवास करने वाली है।

इस विश्व मे रहने वाले सभी चराचर जीव कभी भी दुःख और मरण को नही चाहते। प्रत्येक जीव अतःकरण से चाहता है कि उसे किसी प्रकार का मानसिक या कायिक दुःख न हो, कभी उसका मरण न हो। दयाकुमारी प्राणियो के दुःख और मरण को रोकती है। अनिष्ट को रोकने वाली होने से इसे विश्व को आह्लादित करने वाली कहा गया है। [१-२]

इस दया के मुख से बार-बार 'भय मत करो! भय मत करो!!' ऐसे शब्द निरन्तर निकलते रहते हैं। उसका उत्तम दान रूपी मुख चन्द्रमा के समान है। इसके सद्दान और दुःखत्राण नामक दो उन्नत स्तन है। ससार को आनन्द देने वाली शम नामक विस्तीर्ण जघाये है। सक्षेप मे उसके सामने आने वाले किसी भी प्राणी

* पृष्ठ २७२

को प्रिय न लगे ऐसा उसके शरीर का कोई भाग नही है। इसीलिये मुनिपुंगवो ने उसे रूप से सुन्दर कहा है। [३-५]

दया के स्वजन-सम्बन्धी क्षान्ति, शुभपरिणाम, चारुता, निष्प्रकम्पता, शौच, सन्तोष और धैर्य आदि है। यह उनके हृदय में निवास कर उन्हे सतत आह्लादित करती रहती है। इसीलिये उसे सगे सम्बन्धियो की प्यारी कहा गया है। [६-७]

स्वर्गलोक, मनुष्यलोक और मोक्ष मे जो कुछ सुख की श्रेणी/परंपरा है, वह सब दया से ओत-प्रोत प्राणियों के हाथ मे ही होती है, इसीलिये इसे आनन्द परम्परा का कारण कहा गया है। अतएव स्त्री होते हुए भी वह महामुनियो के हृदय मे भी निवास करती है। [८-९]

दया की उपादेयता

जिनमतज्ञ नैमेत्तिक ने आगे कहा—संसार मे दया सच्ची हितकारिणी है, सर्व गुणों को आकृष्ट करने वाली है, समस्त गुणों की भण्डार है, धर्म की सर्वस्व है, दोषो का नाश करने वाली है, समस्त सन्तापों को शान्त करने की शक्ति को धारण करने वाली है और सर्व प्रकार की वैर-परम्परा को नष्ट करने वाली है। कितना वर्णन करे ? कमलपत्र के समान नेत्रो वाली दयाकुमारी इतने गुणों की खान है कि उसका सम्पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है ? महाराज ! मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस ससार में हिंसा को नाश करने का एक मात्र यही उपाय है। अन्य कोई उपाय नहीं है। यह उपाय भी तभी कारगर होगा जब कि आपका धीर-वीर कुमार इस दयाकुमारी के साथ लग्न करेगा। ऐसा होते ही * इसकी दुष्ट भार्या हिंसा स्वत. ही नष्ट हो जायगी, भाग जायगी। महाराज ! यह हिंसा तो महापापिनी और प्रज्वलित आग है जब कि दयाकुमारी तो महाशुद्ध और हिम जैसी शीतल है। हिंसा और दया में अग्नि और जल जैसा अन्तर है। [१०-१५]

दया के साथ लग्न की चिन्ता

जिनमतज्ञ नैमित्तिक के उपरोक्त वचन सुनकर राजा ने पूछा—आर्य ! राजकुमार नन्दिवर्धन इस कन्या के साथ कब विवाह करेगा ?

नैमेत्तिक—महाराज ! जब शुभपरिणाम राजा अपनी पुत्री का विवाह तुम्हारे पुत्र के साथ करने की इच्छा करेगा तभी यह लग्न होगा।

पद्म राजा—शुभपरिणाम राजा अपनी पुत्री का लग्न कब करेगा ?

नैमेत्तिक—जब कुमार को शुभ परिणाम राजा अनुकूल होगा तब।

पद्म राजा—शुभपरिणाम राजा को कुमार के अनुकूल बनाने का कोई उपाय भी है या नहीं ?

---

* पृष्ठ २७३

नैमेत्तिक—मैंने पहले ही बताया था कि इस शुभपरिणाम राजा को इससे श्रेष्ठ कर्मपरिणाम राजा ही अनुकूल कर सकता है, अन्य कोई यह काम नही कर सकता। क्योकि, यह शुभपरिणाम राजा कर्मपरिणाम राजा के अधीन है। अधिक क्या कहूँ ? देखिये, बात ऐसी है कि जब इस कर्मपरिणाम महानरेन्द्र की कुमार पर कृपा होगी तभी उसके अधीनस्थ शुभपरिणाम राजा स्वयमेव ही अपनी पुत्री दयाकुमारी का लग्न अपने हाथ से कुमार के साथ करेगा। इस विषय मे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही है। पुनश्च, कुमार की भव्यता को ध्यान मे रखकर, निमित्त के बल पर और युक्ति के योग से मैं इतना कह सकता हूँ कि भविष्य मे किसी समय कुमार पर कर्मपरिणाम राजा की कृपा होगी, इसमे कुछ भी सन्देह नही है। जब ऐसा समय आयगा तब राजा अपनी बड़ी बहिन लोकस्थिति को पूछेगा, अपनी स्त्री कालपरिणति से विचार करेगा, अपने मुख्य सचिव स्वभाव से कहेगा, कुमार के भीतर समग्र भवो मे गुप्त रूप से रहने वाली इसकी अन्तरग पत्नी भवितव्यता को सूचित करेगा तब नियति और यदृच्छा आदि यह बतायेगी कि कुमार में कितना वीर्य है ? इस प्रकार सब को पूछकर, सब से परामर्श लेकर, सब के सन्मुख महाराज कर्मपरिणाम सिद्धान्त रूप से निर्णय करेंगे कि कुमार दयाकुमारी के योग्य हुआ या नही ? इस निर्णय के बाद ही वह दयाकुमारी का लग्न करवायेगा इसमे कुछ भी सन्देह नही, अत आप व्याकुलता का त्याग करे।

मौन रहने का परामर्श

पद्म राजा—तब अभी हमें क्या करना चाहिये ?

नैमेत्तिक—मौन धारण करे और कुमार के प्रति उपेक्षा भाव रखे।

पद्म राजा—आर्य ! आपका कहना ठीक है, किन्तु क्या अपने पुत्र के प्रति कभी उपेक्षा रखी जा सकती है ? क्या वह रह भी सकती है भला ?

नैमेत्तिक—तब आप और कर भी क्या सकते हैं ? कुमार को जो उपद्रव सम्प्रति हैं, यदि वह बाह्य (स्थूल) प्रदेश पर होता तो हम उसका स्पर्श कर सकते, हम उसे पकड सकते। यदि किसी बाहर के प्राणी की तरफ से उसे दु खित किया जाता तब तो आप उसके प्रति उपेक्षा न करते तो ठीक ही कहा जाता। परन्तु, यह तो अन्तरग का उपद्रव है, अतः इस विषय मे यदि आप उपेक्षा रखेंगे तब भी कोई उपालम्भ नही रहेगा, आपका अपयश नही होगा।

पद्म राजा—आर्य ! जैसी आपकी आज्ञा।

पश्चात् राजा ने जिनमतज्ञ नैमेत्तिक का सत्कार कर उसे विदा किया।

❀

२८ : वैश्वानर और हिंसा के प्रभाव में

युवराज पद की तैयारी

* उपरोक्त बातचीत हुए कुछ दिन बीते होगे कि एक दिन राजा के मन मे विचार उठा कि कुमार नन्दिवर्धन को युवराज पद प्रदान करना चाहिये। राजा ने अपने मन्त्रियो से यह बात कही जिसे उन्होंने भी स्वीकार कर लिया। इस कार्य के लिये एक शुभ दिन निश्चित किया गया और युवराज पद देने के लिये आवश्यक सामग्री तैयार की गई। मुझे राज्य सभा मे बुलाया गया। मेरे लिये एक सुन्दर भद्रासन तैयार करवाया गया। सभी सामन्त और नागरिक एकत्रित हुए, सब प्रकार के मंगलोपचार किये गये, प्रत्येक प्रकार की उत्तमोत्तम वस्तुये बाहर रखी गई। अन्त.पुर की सभी स्त्रियां भी वहाँ उपस्थित हुई।

मदनमंजूषा के सगाई का प्रस्ताव

उसी समय प्रतिहारिणी अन्दर आई और मेरे पिताजी को हाथ जोड़, चरण-स्पर्श कर, अजलि सपुट कपाल पर लगाकर कहने लगी—'देव! अरिदमन राजा का बडा प्रधान स्फुटवचन आपसे मिलना चाहता है। अभी वे बाहर के द्वार पर खड़े हैं, आपकी क्या आज्ञा है?' राजा ने उन्हे राज्य सभा मे भेजने की आज्ञा दी, अत. स्फुटवचन को लेकर प्रतिहारिणी अन्दर आई। मेरे पिताजी को नमस्कार कर मुख्य प्रधान ने कहा—'महाराज! मैंने अभी-अभी सुना है कि आज राजकुमार नन्दिवर्धन को युवराज पद देने का महोत्सव मनाया जा रहा है। यह प्रशस्त एवं शुभ मुहूर्त है ऐसा सोचकर जिस काम से मैं आया हूँ उसे शीघ्र पूरा करने की आशा से मैंने राज्यसभा मे प्रवेश किया है।'

पद्म राजा—यह तो बहुत अच्छी बात है। आपका यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? बताइये।

स्फुटवचन—आपको ज्ञात ही है कि शार्दूलपुर में सुगृहीतनामधेय अरिदमन राजा राज्य करते हैं। उनके कामदेव की पत्नी रति के रूप को भी पराजित करने वाली रतिचूला महारानी है। महारानी से राजा के मदनमजूषा नामक पुत्री है जो अचिन्त्य गुण रत्नों की मंजूषा ही है। जनमुख से कुमार नन्दिवर्धन के पराक्रम की यशोगाथा सुन-सुन कर मदनमंजूषा कुमार के प्रति अत्यन्त ही अनुरागवती हो गई है और उन्ही के साथ लग्न करने का कुमारी ने निश्चय किया है। कुमारी ने अपने निर्णय को अपनी माता रतिचूला महारानी को बताया और महारानी ने उसे महाराज को सूचित किया। उसके पश्चात् महाराजा ने मुझे

---

* पृष्ठ २७४

आपके पास अपनी पुत्री का सम्बन्ध राजकुमार नन्दिवर्धन से करने के उद्देश्य से यहाँ भेजा है। अतः अब आप इस विषय मे अपनी आज्ञा प्रदान करे।

स्फुटवचन का प्रस्ताव सुनकर मेरे पिताजी ने मतिधन मत्री के मुख की ओर देखा। मत्री ने कहा—'महाराज ! अरिदमन तो वास्तव मे एक प्रभावशाली महान व्यक्ति है। उनका आपके साथ सम्बन्ध हो यह योग्य ही है। अत मेरी भी यही राय है कि आप स्फुटवचन के प्रस्ताव को स्वीकार करे। इस प्रस्ताव मे तो विरोध का प्रश्न ही नही है।' मत्री की राय जानकर पिताजी ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया।

रंग में भंग

इसी बीच मैंने पूछा—हे स्फुटवचन ! यहाँ से तुम्हारा शार्दूलपुर कितनी दूर है ?

स्फुटवचन—कुमार ! हमारा शार्दूलपुर यहाँ से १५० योजन दूर है।

नन्दिवर्धन—यह गलत है, तुम्हे ऐसा नही कहना चाहिये।

स्फुटवचन—तब कितना दूर है ? आप श्रीमान् ही कहे।

नन्दिवर्धन—१५० योजन मे दो कोस कम।

स्फुटवचन—आपके पास इसका क्या प्रमाण है।

नन्दिवर्धन—मैं जब छोटा था तब मैंने ऐसा सुना था।

स्फुटवचन—इस विषय मे आपने सम्यक् प्रकार से जानकारी प्राप्त नही की है श्रीमान् !

नन्दिवर्धन—* इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ?

स्फुटवचन—मैंने अपने कदमो से नापकर गणना की है।

नन्दिवर्धन—मैंने भी विश्वसनीय लोगो से यह पता लगाया है, अत. मेरा कथन सच्चा है और तुम्हारा झूठा है।

स्फुटवचन—कुमार श्री ! अवश्य ही आपको किसी ने ठगा है। मैंने स्वय जो नाप किया है उसमे तिल-तुष के त्रिभाग का भी अन्तर नही आ सकता।

पुण्योदय का पलायन

यह दुरात्मा (हरामखोर) राज्य सभा मे लोगो के समक्ष मुझे झूठा बता रहा है, ऐसा विचार मेरे मन मे आते ही वैश्वानर भभक उठा, हिंसा देवी थोडी हसकर मुझ पर अपनी योग-शक्ति चलाने लगी और तुरन्त ही ये दोनो मेरे शरीर मे प्रविष्ट हुए जिससे मै प्रलयाग्नि के समान प्रचण्ड हो गया। (मेरा शरीर क्रोध से लाल हो गया, आँखो से चिनगारियाँ निकलने लगी और शरीर कापने लगा)। मैंने तत्क्षण सूर्य किरण जैसी चमचमाती विकराल तलवार को म्यान से खीच लिया।

---

* पृष्ठ २७५

इसी समय पुण्योदय ने विचार किया 'अब मेरा समय पूरा हो गया। भवितव्यता की आज्ञा से अभी तक तो मैं यहाँ रहा और उसकी आज्ञा का पालन किया, परन्तु अब तो कुमार नन्दिवर्धन थोडा भी मेरे सम्पर्क/सम्बन्ध योग्य नही रहा, अतः अब यहाँ से चले जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।' ऐसा विचार करते हुए मेरा सच्चा मित्र पुण्योदय मेरे पास से चला गया।

नन्दिवर्धन द्वारा कुटुम्ब का संहार

आवेश मे आकर सभाजनो के हाहाकार की अपेक्षा न करते हुए, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की उपेक्षा करते हुए सभाजनों के समक्ष मैंने तलवार के एक ही झटके में स्फुटवचन के शरीर के दो टुकड़े कर दिये।

उस समय मेरे पिताजी ने सिंहासन से खड़े होकर पुकारा—'हे पुत्र! हे पुत्र!! तूने यह क्या गर्हित अकार्य कर दिया? यह तू ने बहुत बुरा किया।' ऐसा कहते हुए वे मेरी तरफ दौड़ते हुए आने लगे। पिताजी को मेरी तरफ आते देखकर मैंने सोचा कि 'यह भी दुरात्मा हो गये हैं, इसीलिये ये मेरे कार्य को अनुचित एवं गर्हित बता रहे है। यदि वे उसके पक्षपाती नही होते तो मेरे काम को बुरा क्यों बताते?' ऐसा सोचकर नंगी तलवार हाथ में लिये हुए मैं भी उनकी तरफ दौड़ा। मेरे अभिषेक के लिये उपस्थित अनेक राज्यपुरुषों और नागरिको मे भारी कोलाहल और भगदड़ मच गई। मैं भी अपना पुत्रधर्म भूल गया कि पद्म राजा मेरे पिता हैं, वे मुझ पर कितना स्नेह करते हैं, इस बात को भी मैं भूल गया कि उनका मुझ पर कितना उपकार है। मैं जो अकार्य करने पर तुला हूँ उससे मुझे भविष्य मे महापापों के उद्भव से कितना दुःख उठाना पडेगा, इसका भी मैंने विचार नही किया। उस समय मैं वैश्वानर और हिंसादेवी के इतना वशीभूत हो गया कि क्रोध से आगबबूला होकर, पिताजी कुछ कह रहे थे उसे सुने बिना ही चण्डाल की भांति तलवार के एक ही झटके से उनका भी मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

'हे पुत्र! हे पुत्र!! ऐसा दुःसाहस न कर! दुःसाहस न कर!! अरे लोगो! बचाओ!! बचाओ!!!' उच्च और करुण स्वर में पुकार करती मेरी माता ने मेरे हाथ से तलवार छुड़ाने के लिये शीघ्रता से आकर मेरा हाथ पकड़ा। उस समय मेरे मन मे विचार आया कि 'मेरे शत्रु को मारने मे तत्पर मुझ पर ऐसे मूर्खता पूर्ण उलटे सीधे आरोप लगाने वाली मेरी माता भी पापिनी है और मेरी दुश्मन ही है।' ऐसे दुःसाहस पूर्ण विचार आते ही मैंने तलवार के एक झटके से मेरी माता के शरीर के भी दो टुकडे कर दिये।

उसी समय मेरा भाई शीलवर्धन जिसके साथ मेरी साली मणिमंजरी का लग्न हुआ था वह और मेरी पत्नी रत्नवती मुझे कहने लगे—'हे भाई! हे कुमार!! हे आर्य!!! यह तुम क्या कर रहे हो?' मुझे अकार्य से रोकने के लिये वे तीनों एक साथ आकर मुझे पकड़ने लगे। मैंने सोचा कि 'ये सभी पापी इकट्ठे होकर एक

साथ मेरे विरुद्ध षडयन्त्र रच रहे है इस विचार से मेरा प्रज्वलित क्रोध और अधिक भभक उठा और मैंने एक-एक झटको से ही तीनो को यमलोक पहुँचा दिया। &

'हे आर्यपुत्र ! यह क्या अनर्थ कर रहे है ? रुकिये !' कहती हुई विलाप करती हुई मेरी प्यारी कनकमजरी वहाँ आ पहुँची। मैंने मन मे सोचा कि 'यह अधम स्त्री भी शत्रुओ से मिल गई लगती है, इसीलिये यह मेरे कार्य को अनर्थकारी बता रही है और मुझे कोस रही है। अहो ! मेरे हृदय के समान मेरी प्यारी कनकमजरी भी आज मेरी वैरिणी बन गई लगती है, इससे क्या ? यह भी अयोग्य लोगो के प्रति वात्सल्य जताने लगी है, ऐसी मूर्खतापूर्ण वत्सलता को दूर करना ही चाहिये।' इस विचार से कनकमंजरी के प्रति मेरा प्रेम-बन्ध टूट गया। इसका विरह सहन कर सकू गा या नही यह भी मैं भूल गया, उसके साथ एकान्त मे मैंने कैसी मीठी-मीठी बाते की थी और कैसे-कैसे वचन दिये थे इसका भी स्मरण नही रहा, उसके साथ अनेक प्रकार के कामभोग के सुख भोगे हैं यह भी ध्यान से हट गया और उसके साथ मेरा अनुपम प्रेम सम्बन्ध है इसका भी मैंने विचार नही किया। वैश्वानर ने उस समय मेरी बुद्धि को इतनी अन्धी बना दी थी और हिंसादेवी ने मेरे हृदय मे ऐसा प्रबल स्थान बना लिया था कि आगे-पीछे का विचार किये बिना मैंने बेचारी कनकमजरी को भी उसी समय तलवार के वार से मार दिया।

इस धमाचौकडी मे मेरी धोती खुलकर नीचे गिर गई और मेरा दुपट्टा भी जमीन पर गिर गया जिससे मैं एकदम नग्न हो गया। मेरे बाल भी बिखर गये जिससे मैं साक्षात् वैताल जैसा दिखने लगा। मुझे इस रूप मे देखकर दूर खेलते बच्चे खिलखिला कर हँस पडे और ताने मारने लगे। इससे मुझे और गुस्सा आया और मैं उनको मारने के लिये दौडा। उस समय मुझे रोकने के लिये मेरे भाई, बहिने, सगे-सम्बन्धी और सामन्त सब एक साथ मिलकर आये। किन्तु जैसे यमराज सब को समान दृष्टि से देखता है किसी को नही छोडता वैसे ही मुझे रोकने का प्रयत्न करने वाले उन सभी लोगो को मारते हुए मैं बहुत दूर निकल गया। अन्त मे बहुत अधिक लोगो ने इकट्ठ होकर मुझे चारो ओर से घेरकर जगली हाथी की तरह बड़ी मुश्किल से पकड़ कर जमीन पर पटक दिया। मेरे हाथ से तलवार छीन ली और मेरे हाथ पीठ पीछे करके कसकर बाँध दिये। फिर मुझे गालियाँ देते हुए कारागृह मे बन्द कर दिया।

कारागृह में

कारागार के द्वार मजबूती से बन्द कर दिये गये। लोग अनेक प्रकार से जलते हुए व्यग्य वचनो से मेरी हँसी उडाने लगे और अनेक प्रकार के कटु और अशिष्ट वचन बोलने लगे। जेल की दीवारो से सिर फोडते, भूख से बिलखते, प्यास से पडफते, अन्तर के सन्ताप से जलते, निद्रा के अभाव मे अनेक प्रकार के असहनीय

& पृष्ठ २७६

नारकीय घोर दुःख सहन करते हुए एक माह तक मैं कैद में पड़ा रहा। इस अवधि में परिजनों में से किसी ने न तो मेरे बन्धन ही ढीले किये और न मेरी तरफ देखा ही। सभी ने मेरा अनादर किया और यह सारा समय मैंने महान दुःख में बिताया।

कैदखाने से छुटकारा : नगर को जलाना

एक माह तक जेल में भूखा-प्यासा रहने से मेरा शरीर एकदम क्षीण हो गया। एक दिन कमजोरी के कारण से आधी रात को कुछ क्षण के लिये मुझे नींद आ गई। उस समय चूहे ने आकर मेरे हाथ-पाँव के बन्धन काट दिये जिससे मैं स्वतन्त्र हुआ। मैंने तुरन्त दरवाजे खोले और बाहर निकल गया, तब मुझे मालूम हुआ कि मुझे राजभवन में ही कैद करके रखा था।

आधी रात होने से चौकीदार आदि सो गये थे, कोई चल फिर नहीं रहा था। मैंने सोचा कि 'यह सम्पूर्ण राजकुल और पूरा नगर अब मेरा शत्रु हो गया है। इन सब लोगों ने मुझे अनेक प्रकार के दुःख देने में कोई कमी नहीं रखी है।' इतना सोचते ही मेरे शरीर में निवास करने वाला मेरा मित्र वैश्वानर झनझनाया और हिंसा ने आनन्द में आकर हुंकार भरी, जिससे मेरे शरीर पर इन दोनों का प्रभाव बढ़ गया। उस समय मैंने देखा कि पास में ही एक अग्निकुण्ड जल रहा है। मैंने मन में सोचा कि 'शत्रु का नाश करने का उपाय तो यहाँ मौजूद है। बस इतना ही तो करना है कि सकोरे में अंगारे भरकर* थोड़े-थोड़े महल और नगर के स्थानों पर डाल दूं और विशेष रूप से शीघ्र-प्रज्वलित होने वाले इन्धन-बहुल स्थानों में आग लगा दूं। बस मेरा काम पूरा हो जायगा। पूरा नगर और राजकुल इस प्रकार अपने आप ही भस्म हो जायगा' ऐसे अधम विचार के उठते ही मैंने वैसा ही किया। शीघ्र जलने वाले राजमहल और नगर के स्थानों को मैं जानता था उन स्थानों को मैंने चारों तरफ से जला दिया जिससे चारों ओर धू-धू करती अग्नि की इतनी विकराल लपटें उठने लगी कि मैं स्वयं भी उसमें से भवितव्यता के बल पर ही बड़ी कठिनता से जलने से बच कर निकल सका। मैं जब नगर से बाहर निकल रहा था तब मैंने नगर से भागते हुए लोगों की भारी क्रन्दनरव से युक्त चिल्लाहटें सुनी। योद्धा चिल्लाने लगे— 'अरे लोगो! दौड़ो! दौड़ो!!' उनके मन में ऐसी शंका हुई कि शत्रु सेना ने ही यह अधम कार्य किया है। उस समय मेरा शरीर एकदम क्षीण हो गया था और शरीर की कमजोरी का प्रभाव मेरे मन पर भी पड़ा था जिससे मैं अपना सारा धैर्य खो बैठा।

*

---

* पृष्ठ २७७

२९. खूनी नन्दिवर्धन की कदर्थना

मेरे आग लगाने से सम्पूर्ण जयस्थल नगर जल रहा था जिससे मेरे मन मे भी भय उत्पन्न हुआ और मैं जगलों की तरफ मुँह कर भागने लगा। भागते-भागते मैं घोर जंगल मे पहुँच गया। मैं काटों से बिंध गया, तीक्ष्ण पत्थरो और कीलो से पैर घायल हुए, रास्ता भूलकर गलत रास्ते पर पहुँच गया। ऊँची ढलान पर से पैर फिसलने के कारण सिर के बल नीचे प्रदेश मे गिरा, मेरा अग-अग भग होकर चूर-चूर हो गया और मुझे इतने जोर की चोट लगी कि पडने के बाद उठने की शक्ति भी नही रही।

चोरों की पल्ली में कदर्थना

मैं इस स्थिति मे भयकर अटवी मे पडा था कि वहाँ चोर आ पहुँचे और उन्होने मुझे इस अवस्था मे पडे हुए देखा। मुझे देखकर वे आपस मे कहने लगे—'अरे! यह तो कोई महाकाय मनुष्य लगता है, अगर इसे किसी दूसरे स्थान पर लेजाकर बेचा जाय तो अच्छा मूल्य मिलेगा। चलो, इसको उठाकर अपने स्वामी पल्लिपति के पास ले चले।' चोरो को इस प्रकार बोलते सुनकर मेरे मन मे बसा हुआ वैश्वानर फिर प्रज्ज्वलित हो उठा और मै बैठ गया। अतः चोरो मे से एक ने कहा—'अरे भाइयो! इसका विचार अच्छा नही लग रहा है, वह हमारे से लडने या भागने की इच्छा कर रहा है, अतः इसको तुरन्त बाँध लो अन्यथा इसको पकडना दुष्कर होगा।' फिर चोरो ने धनुष की लकडी से मुझे खूब पीटा और मेरे हाथ पीछे कर मुश्कें बाँध दी। मैं मुँह से गालियाँ देने लगा तो मेरा मुँह भी बाँध दिया। फिर मुझे वहाँ से उठाया मेरे शरीर पर फटा हुआ जीर्ण कपडा लपेट दिया और मुझे बार-बार मारते और धमकाते हुए कनकपुर के निकट भोमनिकेतन नामक चोरो की पल्ली मे ले गये। वहाँ मुझे रणवीर नामक पल्लिपति के सम्मुख खडा किया गया। सरदार ने आदेश दिया—'अरे! इसको अच्छी तरह खिलाओ पिलाओ जिससे यह खब मोटा होगा तो इसका मूल्य अधिक मिलेगा।' सरदार की आज्ञा मानकर एक चोर मुझे अपने घर ले गया।

अपने घर लेजाकर चोर ने मेरे मुँह पर बन्धी पट्टी जैसी ही खोली वैसे ही मैंने उन्हे चच्चा-मम्मा की गालियाँ बकनी शुरु की जिससे वह चोर मेरे ऊपर अत्यन्त कुपित हुआ। उसने मुझे डण्डे आदि से खूब मारा। अपने स्वामी ने मुझे उसे सौंपा है, यह समझकर ही उसने मुझे जान से नही मारा। मेरे कटु वचनो के कारण वह मुझे कुत्सित भोजन देने लगा। अधिक भूखो मरने से मैं और कमजोर हो गया तथा मेरे मुख पर दीनता छा गई। पहले तो मैंने कुत्सित भोजन खाने से इन्कार किया, पर फिर भूख के मारे खाने लगा। तुच्छ भोजन से मेरा पेट नही भरता। इससे

मेरे मन में निरन्तर उद्वेग बढने लगा। इस प्रकार भूख-प्यास में मेरे कुछ दिन निकले और मैं अत्यधिक दुर्बल हो गया। एक दिन सरदार रणवीर ने मुझे पालन करने वाले चोर से पूछा कि, 'मैं कितना मोटा हुआ हूँ ?' उत्तर मे चोर ने कहा कि, 'देव ! इसे मोटा बनाने के प्रयत्न तो बहुत कर रहा हूँ पर किसी भी प्रकार इसमे शक्ति की वृद्धि होती ही नही।' उसके बाद उस चोर के घर में भूखा-प्यासा और दुःख भोगता हुआ कई दिनो तक रहा।

अन्यदा एक दिन चोर बस्ती पर कनकपुर नगर की सेना ने हमला कर दिया। इसकी खबर लगते ही चोर बस्ती छोड़कर भाग गये। राजा की आज्ञा से वह बस्ती लूट ली गई, ※ और जितने चोर पकड़े जा सके उन्हे पकड लिया गया। पकड़े गये सब लोगो को कनकपुर ले जाया गया। मै भी पकड़ा गया और मुझे भी कनकपुर ले जाया गया।

कनकपुर : विभाकर के समक्ष

कनकपूर मे महाराजा विभाकर के समक्ष मुझे एक चोर के रूप मे प्रस्तुत किया गया। मुझे देखते ही विभाकर कुछ-कुछ पहचान गया और अपने मन मे विचार करने लगा कि 'अरे ! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है ? इस पुरुष के शरीर मे मात्र चमडी और हड्डियाँ रह गई हैं जिससे यह जले हुए वृक्ष के ठूठ जैसा लग रहा है, फिर भी यह कुमार नन्दिवर्धन जैसा दिखाई दे रहा है, इसका क्या कारण हो सकता है ?' सोचते हुए उसने नख-शिख पर्यन्त मुझे घूर-घूर कर देखा और उसे निश्चय हो गया कि मैं नन्दिवर्धन ही हूँ। फिर उसने विचार किया कि कुमार नन्दिवर्धन यहाँ इस रूप में कैसे आ सकता है ? विधि (भाग्य) का विलास (खेल) विचित्र प्रकार का होता है। भाग्य के वशीभूत प्राणियों के लिये क्या असम्भव है ? जिस महानरेन्द्र के चरणो मे मुकुटधारी राजा नमस्कार कर पाँवों की पूजा करते हैं और कुछ भी वचन बोलने पर 'जो आज्ञा, जो आज्ञा' कहते नही थकते। वही महानरेन्द्र उसी भव में दुर्भाग्यवश भिखारी बनते और अनेक प्रकार के नारकीय दु.ख भोगते हुए भी देखे गये हैं। [१-२] अत. अस्थिपजर बना यह पुरुष नन्दिवर्धन ही लगता है, इसमें कोई सन्देह नही।' यह विचार आते ही उसे मेरे साथ किया गया पहले का स्नेहपूर्ण व्यवहार याद आ गया और आँखों से आनन्दाश्रु के प्रवाह से कपोलो को क्षालित करते हुए वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और मुझ से बहुत ही प्रेम से आलिंगन पूर्वक मिला। घटना की विचित्रता को देखकर सम्पूर्ण राज्यकुल आश्चर्य मे डूब गया और सोचने लगा कि यह क्या है ?

विभाकर द्वारा सन्मान

राजा विभाकर ने अपने सिंहासन पर आधा आसन देकर मुझे बिठाया और पूछा—'मित्र ! यह सब कैसे हुआ ?' मैंने प्रारम्भ से अन्त तक अपनी सब

※ पृष्ठ २७८

आपबीती (आत्म-चरित) उसे कह सुनाई। सुनकर विभाकर बोला— अरे भाई! बडे दु ख की बात है! अपने माता-पिता आदि को मारने का अतिगर्हणीय दया रहित कार्य कर तुमने ठीक नही किया। देख, इस भयकर कार्य के परिणाम स्वरूप तुमने जो इस भव मे ही इतने दु ख पाये वे सब इसी अकार्य के फल है।' विभाकर के हित वचन सुनते ही मेरे मन मे रहे हुए वैश्वानर और हिंसा जाग्रत हो गए और मैं सोचने लगा कि 'सचमुच यह विभाकर भी मेरा शत्रु ही है, क्योकि यह भी मेरे शत्रु-नाश के कार्य को अकार्य और अशोभनीय मानता है।' अत मैंने निश्चय किया कि इसे भी मार देना चाहिये। किन्तु, मेरा शरीर अत्यधिक निर्बल हो गया था और विभाकर का राज्य-प्रताप बहुत अधिक था। फिर मेरे पास कोई शस्त्र भी नही था और पास ही अनेक सशस्त्र राजपुरुष खडे थे, अत मैंने विभाकर पर प्रहार तो नहीं किया हाथ तो नही उठाया किन्तु अपना मुँह जरूर बिगाड लिया। विभाकर मेरा अभिप्राय समझ गया। वह जान गया कि मुझे उसकी बात पसन्द नही आई है, अत इस प्रसग को फिर से छेडकर नन्दिवर्धन का मन दु:खाने से क्या लाभ? यह सोचकर विभाकर ने इस प्रसग को यही समाप्त कर दिया।

तदनन्तर राजा विभाकर ने अपने सामन्तो और सरदारो से कहा—'यह कुमार नन्दिवर्धन मेरा परम मित्र है। यह मेरा शरीर, मेरा जीवन-सर्वस्व, मेरा भाई, मेरा परम स्नेही और पूजनीय है। इसके दर्शन से मुझे आज बहुत आनन्द प्राप्त हुआ है, अत स्नेहीजनो के मिलने पर जो महोत्सव किया जाता है वह सब करो।' उन्होने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। पश्चात् राजकुल मे खूब आनन्द मनाया गया। मुझे विधिपूर्वक नहलाया, दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये, अत्यन्त स्व दिष्ट परमान्न का भोजन कराया और मेरे शरीर पर सुगन्धित पदार्थों का लेप किया। * मुझे महान् मूल्यवान अलकार धारण कराये गये और अन्त मे विभाकर ने स्वय अपने हाथ से मुझे पान खिलाया। विभाकर मेरे लिये इतना कर रहा था फिर भी मैं तो अपने मन मे यही सोच रहा था कि 'इसने मुझे कहा था कि मैंने अपने माता-पिता आदि को मार डाला यह कार्य अच्छा नही किया, अत यदि अवसर मिले तो मुझे इस वैरी/पापी को मार ही देना चाहिये।' ऐसे रौद्र वितर्कजालो के कारण मुझे यह भी ध्यान नही रहा कि विभाकर स्वय मुझे कितना मान दे रहा है। भोजनशाला से निकलकर हम सब सभाभवन मे आये। वहाँ विभाकर के मत्री मतिशेखर ने कहा—'प्रात: स्मरणीय महाराज प्रभाकर देवलोक हो गये यह तो आपको पता ही होगा?' उत्तर में मैंने सिर हिलाकर हामी भरी। विभाकर की आँखो मे आँसू आ गये, बोला— 'मित्र! पिताजी तो परलोक मे गये, अब तुम्हें ही पिताजी का स्थान लेना है। यह राज्य, हम सब, हमारा मन्त्रीमण्डल और प्रजाजन जो पिताजी की कृपा से आनन्द मे थे, वे सब आपके सेवक है और

* पृ० २७९

आपकी सेवा में उपस्थित हैं। आपकी इच्छानुसार आप हम से कार्य करायें।' विभाकर ने मुझ से इतनी उदार प्रार्थना की जिसका मुझे आभार मानना चाहिये था, पर मेरे मन में बसे हुए वैश्वानर में इस प्रकार का कोई भी गुण था ही नही, अतः किसी प्रकार के आभार-प्रदर्शन के विना ही मै मौन धारण कर चुपचाप बैठा रहा।

सन्मानदाता विभाकर का खून

वह दिन आनन्द पूर्वक बीत गया। सन्ध्या को नित्य की भाति राज्यसभा बुलाई गई और अन्त मे विसर्जित भी हुई। पश्चात् शयन कक्ष मे अपनी प्रिय स्त्रियो को आने के लिये निषेध कर, मेरे साथ प्रगाढ स्नेह होने के कारण महामूल्यवान शय्या मे नरेन्द्र विभाकर मेरे साथ सोया। हे अगृहीतसकेता ! उस समय हिंसा और वैश्वानर ने मेरे मन को इतना चाण्डाल बना दिया था कि मुझ पर विश्वास करने वाले सरल हृदय विभाकर को मुझ पापी ने रात मे उठाकर, नीचे पटक कर मार दिया। फिर इस घृणित दुष्कर्म के त्रास से शरीर पर केवल एक वस्त्र धारण कर मैं कनकपुर नगर से बाहर निकल गया।

कुशावर्त में सन्मान : कनकशेखर को मारने का प्रयत्न

भयकर रात्रि मे अकेला निकल कर वेग से दौड़ते हुए मैं घने वन मैं पहुँच गया, जहाँ मैंने अनेक प्रकार के दुःख सहन किये। अन्त मे भटकते हुए मैं कुशावर्तपुर नगर मे पहुँचा। मैं नगर के बाहर उद्यान मे विश्राम कर रहा था तभी मुझे कनकशेखर के नौकरो ने देख लिया, अतः उन्होने मेरे आने का समाचार महाराज कनकचूड और युवराज कनकशेखर को दिये। उन्होने मन मे सोचा कि कुमार नन्दिवर्धन यहाँ अकेला आया है, इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। वे अपने परिवार के विशेष सदस्यो के साथ मेरे पास आये। परस्पर सन्मान देने के पश्चात् मैं कनकशेखर के साथ जब बराडे मे अकेला बैठा तब उसने मुझ से अकेले आने का कारण पूछा। मुझे लगा कि इसको भी मेरा चरित्र और आचरण अच्छा नही लगेगा, अतः इसको अपनी सब बात कहने से क्या लाभ ? इसलिये मैंने कनकशेखर से कहा—'इस बात को रहने दे, इसमें कुछ तथ्य नही है।' कनकशेखर को मेरा उत्तर कुछ विचित्र सा लगा इसलिये उसने फिर से पूछा—'अरे भाई! क्या मुझे भी अपने मन की बात नही बतायेगा ?' उत्तर में मैंने कहा—'नही, यह बात कहने योग्य नही है।' तब उसने अधिक आग्रह किया—'भाई ! यह बात मुझे तो बतानी ही पडेगी। जब तक तुम मुझे यह बात नही बताओगे तब तक मुझे चैन नही पड़ेगा।' 'मैंने बताने का निषेध किया तब भी यह समझता नही और मेरी आज्ञा का अनादर करता है, इस विचार से वैश्वानर और हिंसा मेरे मन मे हलचल करने लगे। मैंने तत्क्षण ही कनकशेखर की कमर से यम की जिह्वा जैसी चमकती कटार खींच ली और

कनकशेखर को मारने के लिये हाथ उठाया। उसी समय * शीघ्रता से कनकचूड महाराजा आदि सभी लोग वहाँ आ पहुँचे और 'अरे! यह क्या कर रहे हो?' कहते हुए शोर करने लगे। कनकशेखर के गुणो से आकर्षित जो देव वहाँ उपस्थित थे उन्होने मुझे जकड़ लिया और सब के देखते हुए मुझे उठाकर आकाश मार्ग मे फेंका और मैं उस राज्य की सीमा से बाहर जा पड़ा।

चोरों की पल्ली : कई चोरों की हत्या

देवता ने मुझे अम्बरीष जाति के वीरसेन आदि चोरो की बस्ती मे ला पटका। किसी पर प्रहार करने की दृष्टि से धारण की हुई मेरे हाथ की चमकती कटार को चोरो के सरदार ने देखा और देखते ही मुझे पहचान लिया। वे सब कुछ समय पूर्व मेरे अधीन रह चुके थे इसलिये तुरन्त मेरे चरणो मे गिर पड़े और मुझे पूछने लगे कि, 'देव! बात क्या है?' मैं उन्हे कुछ भी उत्तर न दे सका, जिससे चोरो को आश्चर्य हुआ। वे मेरे बैठने के लिये आसन ले आये, पर मेरे से उस पर बैठा ही नही गया। उनके मन मे मेरे प्रति दैन्य भाव जागृत हुआ। उनकी करुणा से प्रभावित होकर देवता ने अपनी जकड़ से मुझे मुक्त किया। देवता से मुक्त होने पर मेरे अगोपाग हिलने-डुलने लगे, जिसे देखकर चोरों को प्रसन्नता हुई।

फिर उन्होने मुझे आसन पर बिठाया और बीती हुई सारी घटना के बारे में प्रेम पूर्वक पुनः-पुन पूछने लगे। मैंने मन मे विचार किया कि 'यह तो बडी दिक्कत की बात है कि जहाँ जाओ वही दूसरो को चिन्ता मे जलने वाले और ऊपर से कृत्रिम स्नेह दिखाने वाले लोग मिलते है और क्षणभर भी सुख से नही बैठने देते।' जब मैंने दूसरी बार भी उत्तर नही दिया तो वे फिर पुन-पुन आग्रह पूर्वक पूछने लगे। इसी समय मेरे अन्तःस्थल मे विद्यमान हिंसा और वैश्वानर जागृत हो गये जिससे मैंने तत्काल ही कई चोरो को मार गिराया। ऐसी अनोखी घटना देखकर वहाँ बहुत शोर होने लगा। मेरे सामने चोर अधिक सख्या मे थे, अतः उन्होने मुझे घेर लिया, मेरे हाथ से कटार छीन ली और स्वजाति को भय होने से मुझे बाध दिया।

शत्रुत्व की आशंका

उस समय सूर्यास्त हो जाने से चारों तरफ अन्धकार फैल गया। चोरो ने एकत्रित होकर विचार किया कि 'इस नन्दिवर्धन ने पहले भी अपने नायक प्रवरसेन को मार दिया था और अभी भी अपने कई प्रधान मुख्य पुरुषो को मार दिया है, इससे स्पष्ट है कि यह अभी तक अपना शत्रु ही है। इसे अच्छा समझकर हम इसके अधीन होकर रहे और देश-देशान्तर मे इसे अपना स्वामी प्रसिद्ध किया, अत अब यदि हम इसे मार देंगे तो अपना अधिक अपयश होगा। अग्नि को जैसे पोट मे बाँधकर नही रखा जा सकता वैसे इसे रखना भी कठिन है, अतः इसे दूर प्रदेश मे ले

---

* पृष्ठ २८०

जाकर छोड़ देना अधिक अच्छा है।' ऐसा निर्णय कर उन्होने मुझे गाडी में पटक कर गाड़ी के साथ ही जकड़ कर बांध दिया और मेरे मुँह पर भी मोटा कपड़ा बांध दिया। इस गाड़ी के साथ मन और पवन के समान वेग से दौड़ने वाले बैल जोड़ दिये गये और गाड़ी मे कुछ आदमी भी साथ में बैठ गये। हमारी गाड़ी चली और रात्रि मे ही बारह योजन जमीन पार कर गयी। इस प्रकार चलते-चलते हम शार्दूलपुर नगर के निकट पहुँच गये। नगर के बाहर मलयविलय उद्यान में चोरों ने मुझे छोड़ दिया और अपनी गाड़ी लेकर वापस चले गये।

शार्दूलपुर के बाहर

थोड़ी देर बाद वहाँ अचानक ही सुरभित पवन चलने लगा। पशुओ में रहने वाला स्वाभाविक वैर भी दूर हो गया। उद्यान मे समस्त पृथ्वी की श्री यही बस गई हो ऐसा लगने लगा। सारी ऋतुए एक साथ वहाँ उतर आईं। पथिकों के समूह आनन्द कल्लोल करने लगे। भौंरे सरस ताल-लय में मनहारक गुंजारव करने लगे। उस प्रदेश में न अधिक शीत रहा और न ताप। सूर्य उद्योत करने लगा। प्रकृति अनुकूल हुई * और मेरे मन का संताप भी कुछ कम हुआ।

२०. मलयविलय उद्यान में विवेक केवली

विवेक केवली का पदार्पण

मलयविलय उद्यान में उस समय बहुत से देवता आ पहुँचे थे। उनके शरीरों पर विभूषित आभूषणों की प्रभा से चारों दिशाओं मे प्रकाश फैल गया। उन्होने उद्यान की भूमि को स्वच्छ किया, सुगन्धी जल का छिड़काव किया, पाच वर्ण के मनोहर पुष्प चारो तरफ फैला दिये, एक विशाल और मणि-रत्न-जड़ित भूमिका (चबूतरा) तैयार की और उसके ऊपर स्वर्ण-कमल की रचना की। उसके ऊपर देवदूष्य वस्त्र का अति सुन्दर चन्दरवा बांधा जिसके चारो तरफ मोतियो की मालाये लटका दी। ऐसी सुन्दर रचना करने के पश्चात् उत्सुकता पूर्वक मार्ग का अवलोकन करने लगे। मनोवाछित पूर्ण करने मे कल्पवृक्ष के समान, मेरु पर्वत के समान स्थिर, क्षीरसमुद्र के समान गुणरत्नो के भण्डार, चन्द्र के समान शीतलेश्या से भूपित, प्रतप्त सूर्य के समान महाप्रतापी. अत्यधिक कठिनाई से प्राप्त होने वाले चिन्तामणि रत्न के समान, अतिशय निर्मल होने से स्फटिक के समान, सर्व सहिष्णुता से पृथ्वी के समान, आकाश जैसे अवलम्बन रहित और केवलज्ञान रूपी सूर्य को धारण करने वाले

---

* पृष्ठ २८१

विवेक नामक आचार्य वहाँ पधारे। गन्धहस्ति जैसे हाथियो के समूह से घिरा हुआ रहता है वैसे ही महाधुरन्धर आचार्य अपने जैसे ही शान्तिमूर्ति अनेक शिष्यो से घिरे हुए थे। वहाँ आकर केवली महाराज सुवर्ण-कमल पर विराजमान हुए। उनके समक्ष हाथ जोड़कर खडे सभाजनो ने उनकी वन्दना की और जमीन पर बैठ गये। फिर केवली भगवान् विवेकाचार्य ने व्याख्यान प्रारम्भ किया।

इसी समय मेरे शरीर मे रहने वाले हिसा और वैश्वानर आचार्यश्री के प्रताप को सहन नही कर सके इसलिये शरीर से बाहर निकल कर मुझ से दूर जाकर बैठ गये और मेरी प्रतीक्षा करने लगे।

महाराज अरिदमन-कृत केवली की स्तुति

शार्दूलपुर के राजा अरिदमन ने जब लोगो से उद्यान मे विवेकाचार्य के पधारने के समाचार सुने तब उन्हे वन्दन करने के लिये नगर से निकले। पहिले अपनी पुत्री मदनमजूषा का व्याह मेरे से निश्चित करने के लिये उन्होने स्फुटवचन को हमारे यहाँ भेजा था, उनकी वह पुत्री भी उनके साथ थी। उसकी माता रतिचूला भी साथ ही थी। राजा ने राज्य के पाँच निशान बाहर ही छोडकर, उत्तरासन धारण कर मन मे केवली के प्रति अत्यन्त भक्ति होने से सूरि-महाराज के अवग्रह (सभा) मे प्रवेश किया। सूरि-महाराज के चरणो मे पचाग नमन पूर्वक नमस्कार कर, हाथ जोड़कर, अपने ललाट का स्पर्श करते हुए उन्होने इस प्रकार स्तुति की। [१-४]

अज्ञानरूप अन्धकार के विनाशक हे सूर्य! रागरूपी सताप का नाश करने वाले हे चन्द्र! आपको मेरा नमस्कार हो। हे करुणासागर! हे ससार-विनाशक! आपके पवित्र चरणो के दर्शन कराकर आज आपने हमे पाप से मुक्त कर दिया। यथार्थ मे आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है, आज ही मुझे सच्चा राज्य प्राप्त हुआ है, आज ही मेरे कान सचेष्ट हुए हैं और आज ही मैं अपनी आँखो से देखने वाला बना हूँ। क्योकि, सब प्रकार के पापो और सतापो के अजीर्ण को विरेचन करने वाले और मेरे महाभाग्य को सूचित करने वाले आपश्री का मुझे आज दर्शन हुआ है।

समस्त पापो का नाश करने वाले आचार्य महाराज की उक्त सुन्दर शब्दो मे स्तुति करने के पश्चात् राजा ने अन्य साधुओं की वन्दना की और शुद्ध भूमि देखकर जमीन पर बैठ गया। उस समय स्वर्ग और मोक्ष को प्रत्यक्ष करा रहे हो इस प्रकार आचार्यश्री और सर्व साधुओ ने उन्हे धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया। * फिर सभा मे आये हुए अन्य सभी लोगों ने आचार्यश्री और अन्य साधुओ की भाव पूर्वक वन्दना की। सब के बैठ जाने पर लोक-यात्रा करने मे उद्यत आचार्यश्री ने अपनी देशना प्रारम्भ की। [५-११]

---

* पृष्ठ २८२

विवेक केवली की देशना

हे भव्य प्राणियों ! यह प्राणी इस संसार अटवी में निरन्तर भटकता रहता है। सर्वज्ञ भगवान् द्वारा बताये गये धर्म की प्राप्ति उसे बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होती है। क्योंकि ज्ञान-चक्षु से देखने पर पता लगता है कि यह संसार अनादि है, काल का प्रवाह भी अनादि है और जीव भी अनादि है। अनादि काल से भटकते प्राणियों को कभी भी सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये वे ससार मे भटकते ही रहते हैं और उनके इस चक्कर का कभी अन्त नहीं होता। यदि कभी उन्हें जैन धर्म की प्राप्ति हो जाय तो उनका संसार में निवास भी कैसे हो सकता है ? अग्नि का मिलन होने पर तृण का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? अतः हे राजन् ! यह निश्चित है कि इस प्राणी ने तीर्थंकर प्ररूपित धर्म को पहले कभी भी प्राप्त नहीं किया; इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं है। जैसे मत्स्य निरन्तर समुद्र में डोलते रहते हैं उसी प्रकार प्राणी इस अनन्त दुःखों से भरे हुए संसार-समुद्र में डोलता रहता है इसी प्रकार भटकते हुए जब उसका स्वकर्म और भव्यपन परिपक्व होता है और मनुष्यत्व आदि सामग्री की प्राप्ति होती है तथा समय की अनुकूलता होती है तब किसी भव्य जीव पर सकल कल्याणकारी अचिंत्य शक्तिधारी प्रभु की कृपा होती है। फलतः वह भव्य जीव बड़ी कठिनाई से भेदी जाने वाली ग्रंथि को भेद कर सकल क्लेशों का नाश करने वाला जिनेन्द्र भगवान् का तत्त्व-दर्शन प्राप्त करता है। उसके पश्चात् प्राणी तीर्थंकर प्ररूपित गृहस्थ-धर्म को अथवा सर्व दुःखों का निवास करने वाले श्रेष्ठ साधु-धर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार की सामग्री की प्राप्ति प्राणी को बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। इसीलिये राधावेध-सधान के समान धर्म की प्राप्ति को बहुत कठिन कहा गया है। अतः हे जीवों ! यदि तुम्हे शुद्ध धर्म की प्राप्ति हुई है तो उसका पालन करने का श्लाघ्यतम प्रयत्न करो और जितने अंश मे धर्म की प्राप्ति न हुई हो उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। [१२-२३]

राजा अरिदमन द्वारा नन्दिवर्धन सम्बन्धी प्रश्न

देशनानन्तर अरिदमन राजा ने विचार किया कि आचार्य भगवान् तो केवलज्ञानी होने से साक्षात् सूर्य हैं इनसे तो कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती, अतः मेरा जो संशय है उसके बारे मे भगवान् से पूछ देखूं। अथवा आचार्यश्री केवलज्ञानी मेरे मन होने से मेरे मन के संशय या जिज्ञासा को वे स्वयं ही जानते हैं और मुझे जो बात जानने की इच्छा हुई है वह भी जानते हैं, अतः मुझ पर कृपा कर वे स्वयं ही सब कुछ बतायेंगे। राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि भव्य प्राणियों को विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करवाने के उद्देश्य से राजा को सम्बोधित करते हुए केवली भगवान् ने कहा—

आचार्य—राजन् ! आपके मन में जो सन्देह है उसे वाणी से पूछिये।

अरिदमन—'भगवन् ! यह पास ही बैठी मदनमजूषा मेरी पुत्री है। थोडे दिन पहले इसका सम्बन्ध पद्म राजा के कुमार नन्दिवर्धन से करने के लिये मैंने स्फुटवचन नामक मत्री को जयस्थल भेजा था। उसे गये बहुत समय हो गया परन्तु वह वापस नही आया तब उसका पता लगाने मैंने यहाँ से कुछ लोग जयस्थल की ओर भेजे। ※ वे लोग कुछ दिन बाद वापस आये और उन्होने कहा—देव ! जयस्थल नगर तो जल कर भस्म हो गया है। जला हुआ स्थान मात्र शेष रह गया है। उस नगर के निकट के अनेक ग्राम और शहर भी जल चुके है। अतएव जयस्थल और उसके पास के ग्र म-नगरो का नाम निशान भी नही है। वह देश तो अब जगल जैसा लग रहा है। पता लगाने गये मेरे लोगों को वहाँ एक भी मनुष्य ऐसा नही मिला कि जिससे यह मालूम हो कि यह सब कैसे घटित हुआ ? मैंने सोचा कि, अहो ! बडे दु ख की बात है, किस कारण से यह अघटित घटना हो गई ? क्या वहाँ अचानक ही उल्कापात हो गया ? क्या अगारों की वर्षा हो गई ? अथवा पहले से कुपित किसी क्रोधी देवता ने नगर को जला कर भस्म कर दिया ? या किसी तपस्वी ने क्रोध मे आकर शाप देकर नगर को जला दिया है या दावाग्नि से जल गया ? अथवा चोरो ने जला दिया ? इस घटना का वास्तविक कारण ज्ञात न होने से मेरे मन मे सन्देह उत्पन्न हुआ। इस सन्देह का निराकरण न होने के कारण से बहुत दिनों से मैं सतप्त हूँ और ऊहापोह करता रहता हूँ। अब आपश्री के दर्शन होने से आज मेरे सब शोक-सन्ताप नाश को प्राप्त हुए हैं, पर मेरे मन का सन्देह अभी तक नही मिटा है, अब आप मेरा सन्देह दूर करने की कृपा करे।

आचार्य—राजन् ! इस सभा के निकट ही एक पुरुष बैठा है जिसके हाथ पीछे से बन्धे हुए हैं, मुँह मे भी कपड़ा ठूसा हुआ है और जो कुछ झुका हुआ भी है, उसे आप देख रहे है न ?

अरिदमन—हाँ, भगवन् ! इस पुरुष को मैं देख रहा हूँ।

आचार्य—राजन् ! इसी ने जयस्थल नगर को जलाकर राख कर दिया है।

अरिदमन—भगवन् ! यदि इसी पुरुष ने जयस्थल नगर को जलाया है तो यह कौन है ?

आचार्य—राजन् ! जिसे तुम अपना जवाई बना रहे थे, यह वही कुमार नन्दिवर्धन है।

अरिदमन—भगवन् ! आप यह क्या कह रहे है ? क्या नन्दिवर्धन ने स्वयं यह दुष्कर्म किया है ? इसने ऐसा क्यो किया ? फिर यह ऐसी दुरवस्था को कैसे प्राप्त हुआ ?

※ पृष्ठ २८३

नन्दिवर्धन की दुष्कर्म-कथा

उसके पश्चात् आचार्यश्री ने स्फुटवचन के साथ जयस्थल में पद्म राजा की सभा में तनिक-सी बात पर हुए विवाद से लेकर, चोर इसे शार्दूलपुर नगर के समीप इस जंगल मे छोड़ गये वहाँ तक की (नन्दिवर्धन की) सब घटना कह सुनाई। मेरा ऐसा चित्र-विचित्र चरित्र सुनकर राजा और सम्पूर्ण धर्मसभा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। राजा ने विचार किया कि इसका मुँह और हाथ बन्धे हुए हैं उन्हे छुडा दूं या नही ? नही, नही ! अभी तो आचार्यश्री ने उसके दुश्चरित्र का जो वर्णन किया है, उसे ध्यान मे रखते हुए यदि मैं इसे बन्धन-मुक्त करूँगा तो यह अभी कुछ नया उत्पात मचा देगा और हम लोग केवली भगवान् के मुख से धर्मकथा सुनने का लाभ प्राप्त कर रहे हैं उसमे भी विघ्न उत्पन्न हो जायेगा। अत जब तक आचार्यश्री का उपदेश चल रहा है तब तक तो इसे इसी दशा मे रहने देना चाहिये। धर्मसभा समाप्त होने पर इसके विषय मे सोचकर उचित कार्यवाही करूंगा। जिस प्राणी का ऐसा घोर पाप पूर्ण चरित्र हो उस पर एकदम अधिक दया दिखाना भी सगत नही है। अब केवली भगवान् से एक दूसरा प्रश्न भी पूछ लूं।

अरिदमन—महाराज ! हमने तो कुमार नन्दिवर्धन के विषय में पहले बहुत बड़ी-बड़ी बाते सुनी थी कि वह महागुणवान है। हमने तो सुना था कि वह महान् योद्धा, दक्ष, स्थिर, बुद्धिमान, महासत्ववान, दृढप्रतिज्ञ, रूपवान, राजनीति का ज्ञाता, सर्व शास्त्रो मे प्रवीण, समस्त गुणों की कसौटी और अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त असाधारण पुरुष है। जिसके बारे मे हमने इतनी अच्छी बाते सुनी थी उसने ऐसा निकृष्ट पाप कार्य क्यो कर किया होगा ? यह कुछ भी समझ में नही आता। [१-२]

विवेकाचार्य—राजन् ! इसमे इस बेचारे तपस्वी का कुछ भी दोष नही है। तुमने इसके जिन-जिन गुणो का वर्णन किया ❀ वह अपने स्वरूप से इन सब गुणों से युक्त है।। ३]

अरिदमन—भगवन् ! यदि यह नन्दिवर्धन आत्म-स्वरूप से निर्दोष होने के कारण इस निकृष्ट चरित्र के लिये दोषी नही है तो फिर किस का दोष है ? आप कृपाकर बतलावे। [४]

विवेकाचार्य—उससे कुछ दूरी पर जो पूर्णरूपेण कृष्ण रूप वाली दो मनुष्य आकृतियाँ बैठी हैं, यह सब दोष उन्ही का है।

राजा ने आँखे फैलाकर मुझे देखा और फिर मेरे से कुछ दूर बैठी उन दो काली आकृतियो को बार-बार देखा।

अरिदमन—महाराज ! दूर से देखने से इन दो काली आकृतियो मे से एक पुरुष और एक स्त्री जान पड़ती है।

विवेकाचार्य—तुमने ठीक ही देखा है।

अरिदमन—महाराज ! यह पुरुष कौन है ?

❀ पृष्ठ २८४

विवेकाचार्य—राजन् ! यह पुरुष महामोह राजा का पौत्र है और द्वेष-गजेन्द्र का पुत्र है। इसकी माता का नाम अविवेकिता है और इसका नाम वैश्वानर है। पहले जब इसका द्वेषगजेन्द्र के घर अविवेकिता की कोख से जन्म हुआ तब इसका नाम क्रोध रखा गया था, पर बाद मे जैसे-जैसे इसमे क्रोधात्मक गुणो की वृद्धि होती गई वैसे-वैसे इसके सम्बन्धियो ने इसका प्रिय नाम वैश्वानर रख दिया।

अरिदमन – भगवन् ! इस पुरुष के साथ जो दूसरी स्त्री आकृति बैठी है, वह कौन है ?

विवेकाचार्य—द्वेषगजेन्द्र का सम्बन्धी दुष्टाभिसन्धि नामक एक राजा है, उसकी रानी निष्करुणता की यह पुत्री हिंसा है।

अरिदमन – इस नन्दिवर्धन कुमार के साथ इन दोनो का सम्बन्ध कब से हुआ है ?

विवेकाचार्य—ये दोनो कुमार के अन्तरग राज्य मे मित्र और स्त्री के रूप मे रहते आए है। वैश्वानर स्वय को उसका मित्र बताता है और हिंसा उसकी स्त्री बन कर रहती है। नन्दिवर्धन ने भी अपना हृदय इन दोनो को समर्पित कर दिया है जिससे वह स्वकीय अर्थ (कार्य) सिद्ध होगा या नही इसका भी विचार नही करता, किस कार्य मे धर्म है या अधर्म, अमुक पदार्थ भक्ष्य है या अभक्ष्य, पेय है या अपेय इसका भी विचार नही करता। अमुक बात बोलने योग्य है या नही, अमुक स्त्री गमन योग्य है या नही और अमुक कार्य के परिणाम स्वरूप अपना कितना हित या अहित होगा इसका भी विवेक नही रखता, पर्यालोचन नही करता। इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप स्वाभ्यस्त कितने ही गुणो के प्रयोग करने की प्रवृत्ति को भी वह भूल गया है। इसकी आत्मा क्षणमात्र मे परिवर्तित होकर समग्र दोषो का भण्डार बन गई है। राजन् ! इन दोषो को धारण कर नन्दिवर्धन बचपन से ही सह शिक्षार्थी निरपराध बालको को अनेक प्रकार के त्रास देता था, अपने कलाचार्य (शिक्षक) को बार-बार धमकी देता था और हितोपदेश देने वाले विदुर को भी इसने एक बार चाटा मार दिया था। बुरी सगति से बचपन मे ही ऐसे-ऐसे उत्पात करने के पश्चात् युवावस्था मे दोनो की सगति से इसने अनेक प्राणियो का नाश किया, बडे-बडे युद्ध कर इसने ससार को सतप्त किया। इन दोनो के वशीभूत होकर इसने परमोपकारी बान्धवो को भी मारने का प्रयत्न किया। अपने स्नेही महाराज कनकचूड और कुमार कनकशेखर का तिरस्कार किया। स्फुटवचन के साथ असमय ही मिथ्या विवाद किया, बिना कारण उसे मार डाला। माता-पिता, भाई-बहन और अपनी प्रिया का भी खून किया। पूरे शहर को जला कर भस्म कर दिया और स्नेह से परिपूर्ण मित्रों और नौकरो को मार दिया। यह सब तो आपने अभी-अभी सुना ही है। हे राजन् ! इन सारे दोषो का यह जो ताण्डव हो रहा है उसका कारण ये दोनो वैश्वानर और हिंसा ही है। इसमे वैश्वानर मित्र रूप मे और हिंसा पत्नी रूप मे विद्यमान है। इस बेचारे

तपस्वी * नन्दिवर्धन का तो तनिक भी दोष नही है। यह तो अपने स्वरूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख और अपरिमित गुणो का निवास स्थान है। यह तो वेचारा अज्ञानवश अभी अपने इतने श्रेष्ठ आत्म-स्वरूप को जानता ही नही है। इसी कारण पापी मित्र और पापिनी स्त्री की सगति में पडने से इसके स्वरूप मे इतना विकृत परिवर्तन हुआ है। इनकी कुसगति से इनके वशीभूत होकर वह इस अवस्था में आ पहुँचा है और अनन्त दु.खो को कारणभूत अनर्थ-परम्परा को भोग रहा है।

अरिदमन—महाराज! हमने स्फुटवचन प्रधान को जब यहाँ से पुत्री का सम्बन्ध तय करने जयस्थल भेजा था उससे पहले हमने बहुत से लोगो के मुख से सुना था कि नन्दिवर्धन के जन्म पर पद्म राजा के सम्पूर्ण राज-परिवार मे आनन्द छा गया था, राज्य-भण्डार मे विपुल समृद्धि हुई थी और समस्त नगर अत्यधिक आनन्दित हुआ था। बडा होने पर भी कुमार अपनी प्रकृति से प्रजा को अत्यधिक आह्लादित करता था और उसके गुणो की प्रसिद्धि चारो तरफ फैल गई थी। अपने प्रताप से उसने सारे भूमण्डल को अपने अधीन कर लिया था, शत्रुओ पर विजय प्राप्त की थी, जयपताका प्राप्त कर यश का डंका बजाया था और भूतल पर सिंह के जैसा पराक्रम दिखाया था। अन्त मे उसे सुख-समुद्र में आनन्द करते सुना था। हे महाराज! ऐसी-ऐसी अनेक बाते हमने कुमार के सम्बन्ध मे सुन रखी थी। क्या उस समय दुःखों की परम्परा का हेतु उसका यह पापी मित्र और क्रूर पत्नी इसके साथ नही थे? क्या वे अभी-अभी उससे सम्बन्धित हुए है?

विवेकाचार्य—राजन्! उस समय भी यह मित्र और पत्नी उसके साथ ही थे परन्तु उस समय उसको कल्याणकारिणी परम्परा और प्रसिद्धि का कुछ अन्य ही कारण था।

अरिदमन—भगवन्! वह क्या कारण था?

विवेकाचार्य—उस समय उसके साथ पुण्योदय नामक एक अन्तरंग मित्र और भी था जो सर्वदा कुमार के साथ ही रहता था। पद्म राजा और उसकी प्रजा को जो आनन्द प्राप्त हुआ एव पूर्ववर्णित जो कुछ कीर्तिकारक कार्य हुए उन सब का कारण वह पुण्योदय था। जहाँ वह होता है वहाँ अपने प्रभाव से आनन्द ही आनन्द कर देता है और चारो तरफ यश-कीर्ति फैलाता है। दुर्भाग्य से मोह के वशीभूत कुमार को यह पता ही नहीं था कि उसकी यश-कीर्ति का कारण पुण्योदय है। बल्कि इसके विपरीत वह तो यह समझता रहा कि उसे जो कुछ भी लाभ, यश, विजय आदि प्राप्त हो रहे है वे सब उसके मित्र वैश्वानर और पत्नी हिंसा के प्रभाव से प्राप्त हो रहे है। इससे पुण्योदय को लगा कि यह भाई तो उसके गुणों को मानने और समझने की शक्ति वाला नही है, अयोग्य है। इस विचार से धीरे-धीरे उसने कुमार

---

* पृष्ठ २८५

पर से अपना प्रेम कम कर दिया और उससे धीरे-धीरे दूर होने लगा। जिस दिन कुमार ने बिना कारण स्फुटवचन को मारा, उसी दिन पुण्योदय उसे छोडकर अन्य कही चला गया। फिर पुण्योदय-रहित हो जाने से उस पर पापी मित्र और क्रूर पत्नी का प्रभाव अधिक बढने लगा और इन्होने उससे अनेक प्रकार के अनर्थकारी पापकर्म करवाये।

अरिदमन—भगवन्! कुमार का हिंसा और वैश्वानर के साथ कितने काल से सम्बन्ध है?

विवेकाचार्य—हिंसा और वैश्वानर का कुमार नन्दिवर्धन की आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है तथापि पद्म राजा के घर जन्म लेने के पश्चात् ये दोनो कुछ विशेष रूप से प्रकट हुए है। इसके पहले ये दोनों छिपकर रहते थे।

अरिदमन—महाराज! क्या कुमार नन्दिवर्धन अनादि काल से है?

विवेकाचार्य—हाँ (आत्म दृष्टि से) ऐसा हो है।

अरिदमन—यदि वह अनादि काल से है तो फिर पद्म राजा के पुत्र के रूप मे कैसे प्रसिद्ध हुआ?

विवेकाचार्य—मैं पद्म राजा का पुत्र हूँ ऐसा उसे मिथ्याभिमान हुआ है। ऐसे मिथ्याभिमान (मिथ्याज्ञान) पर तनिक भी आस्था * नही रखना चाहिये।

अरिदमन—भदन्त! तब परमार्थ से कुमार नन्दिवर्धन कौन है? किसका पुत्र है?

विवेकाचार्य—वास्तव मे यह नन्दिवर्धन असव्यवहार नगर का रहने वाला है, इसीलिये असव्यवहारी कुटुम्ब का गिना जाता है। इसका नाम ससारी जीव है। कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से लोकस्थिति और तन्नियोग के अनुसार अपनी पत्नी भवितव्यता के साथ इसे असव्यवहार नगर से बाहर निकाल दिया गया है, तब से यह एक स्थान से दूसरे स्थान और दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथे स्थान पर भटक रहा है। यह इसका स्वरूप है, इसे आप समझ ले।

अरिदमन—भगवन्! यह सब कैसे होता है? और इसके सम्बन्ध मे यह सब कैसे हुआ? मेरी विस्तार से सुनने की इच्छा है आप कृपाकर सुनावे।

विवेकाचार्य—यदि आपकी इच्छा है तो ध्यान पूर्वक सुने।

पश्चात् आचार्यश्री ने मेरा सारा वृत्तान्त विस्तार पूर्वक अरिदमन को कह सुनाया। राजा अरिदमन केवली तीर्थंकर भगवान् के धर्म-दर्शनो से परिचित होने से, उसका बोध स्पष्ट और विमल होने से, भगवान् के वचनो पर विश्वास होने से, उसकी आत्मा लघुकर्मी होने से और निकट भविष्य मे उसका कल्याण होने वाला था जिससे उसके मन मे स्फुरणा हुई कि अहो! आचार्य महाराज केवलज्ञान से नन्दिवर्धन के ससार परिभ्रमण की सब बात जानते है और उसे कथा को सुनाने के

---

* पृष्ठ २८६

कहाने से वे सब भव-प्रपंच मुझे बता रहे हैं। इस प्रकार विशुद्ध आत्मज्ञान के विषय में विचार कर फिर राजा ने पूछा—भगवन्! मैंने अभी अपने मन मे इस बारे में जो कुछ सोचा है, क्या वास्तव में वह ऐसा ही है अथवा अन्य प्रकार का है?

विवेकाचार्य—राजन्! वह वैसा ही है। आपकी बुद्धि सम्यग् मार्गानुसारिणी है, अतः अब आपकी धारणा में अन्य मिथ्याभाव तो आ ही नही सकते।

❀

३१. भव-प्रपञ्च और मनुष्य भव की दुर्लभता

जब विवेकाचार्य ने अरिदमन राजा को यह कहा कि आपकी बुद्धि अब मार्गानुसारिणी हो गई है तब उन्हे अतीव आनन्द हुआ और तत्त्व समझने की विशेष जिज्ञासा हुई। राजा ने पूछा—भगवन्! आपने अभी जो कथा सुनाई वह मात्र नन्दिवर्धन के विषय मे ही घटित हुई है या अन्य प्राणियों के विषय में भी ऐसा होता है?

विवेकाचार्य—राजन्! इस संसार मे रहने वाले प्राणियों मे से अधिकांश की तो ऐसी ही दशा होती है, वह इस प्रकार है—प्रायः समस्त प्राणी अनादि काल से असंव्यवहारिक राशि मे रहते हैं। जब प्राणी वहाँ रहता है तब क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आस्रव द्वार (कर्मबन्ध के हेतु) उसके अन्तरंग स्वजन-सम्बन्धी होते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में वर्णित अनुष्ठान द्वारा विशुद्ध मार्ग पर आकर जितने प्राणी कर्म से मुक्त होकर मुक्ति पाते है, उतने ही असंव्यवहार राशि में से बाहर निकलते हैं, अर्थात् व्यवहार राशि मे आते हैं। यह केवलज्ञानियों के वचन है। इस असव्यवहार राशि में से बाहर निकले जीव बहुत समय तक एकेन्द्रिय जाति मे अनेक प्रकार की विडम्बना भोगते हैं। विकलेन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रियो वाले तिर्यञ्च जाति में परिभ्रमण करते हैं, वहाँ सर्वत्र नानाविध अनन्त दुःख सहते हैं। भिन्न-भिन्न अनन्त भवों मे सहन करने के लिये बन्धे हुए कर्मजाल के परिणामो (विपाक-फलो) को भोगते हुए भवितव्यता के योग से बार-बार नये-नये रूप धारण करते हैं। अरहट घटी यन्त्र की तरह ऊपर नीचे घूमते रहते हैं और वहाँ वे सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवों का रूप धारण करते हैं। कई बार वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय, जलचर, थलचर और आकाशगामी तिर्यञ्चो का रूप धारण करते है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर प्रत्येक स्थान में अनन्त बार भटकते है। इस प्रकार नानाविध विचित्र रूपों मे अनेक स्थानों पर भटकते हुए किसी जीव को ❀ महासमुद्र मे डूबते हुए को जैसे रत्नद्वीप की प्राप्ति, महारोग से जर्जरित को जैसे

❀ पृष्ठ २८७

महौपधि की प्राप्ति, विप मूर्छित को जैसे मन्त्र ज्ञाता की प्राप्ति, दरिद्री को जैसे चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति बड़ी कठिनाई से हो पाती है वैसे ही महान कठिनता से मनुष्य भव की प्राप्ति होती है। वहाँ भी धन के भण्डार पर जैसे वेताल पीछे पड जाते हैं उसी प्रकार हिंसा, क्रोध आदि वैताल प्राणी के पीछे पड़ जाते है और उसको अनेक प्रकार से प्रपीड़ित करते है; जिससे महामोह की प्रगाढ निद्रा मे पडे हुए नन्दिवर्धन जैसे मन वाले पामर सत्वहीन प्राणी तो दु खित होकर मनुष्य भव को हार जाते हैं। इतना ही नही, कुछ उच्चकोटि के प्राणी जो जिनवाणी रूप प्रदीप से अनन्त भव-प्रपञ्च को भलीभाँति जानते है, जो मनुष्य-भव-प्राप्ति की दुर्लभता को समझते है, जो यह जानते है कि ससार-समुद्र से पार कराने वाला एकमात्र धर्म ही है, जो स्वानुभव (सम्यक् ज्ञान) से भगवत् प्ररूपित उपदेश के अर्थ को समझते है और जिनको यह भी निश्चित जानकारी है कि निरुपम आनन्द का स्थान सिद्ध दशा ही है, ऐसे लोग भी मूर्खो (छोटे बालक) की तरह दूसरो को उपताप (त्रास) देने लगते हैं, गर्व मे डूब जाते हैं, अन्य प्राणियो को ठगने लगते हैं, धनोपार्जन करने मे रजित होते है, सत्वधारी प्राणियो की हिसा करते है, झूठ बोलते है, दूसरो के धन का अपहरण करते है, इन्द्रियो के विषय भोगो मे आसक्त हो जाते हैं, महान परिग्रह एकत्रित करते है, रात्रिभोजन करते है। ज्ञान के होने पर भी लुभावने शब्द सुनकर मोहित होते है, रूप देखकर मूर्छित होते है, रस पर लुब्ध होते है, गन्ध पर लोलुप होते है और स्पर्श पर आश्लेषित (एकरूप) होते है। अप्रियकारी शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से द्वेष करते है, अन्त.करण से निरन्तर पापस्थानको मे भ्रमण करते हैं, वाणी पर कोई नियन्त्रण नही रखते, शरीर को उद्दण्ड बना देते है और तपस्या से दूर भागते हैं। मनुष्य भव मोक्ष को निकट लाने मे प्रबल कारण है यह जानते हुए भी लोग ऐसे भाग्यहीन है कि उनके लिये यह मनुष्य भव लेशमात्र भी गुणकारक या गुणसाधक नही बनता, अपितु उनके लिये इस नन्दिवर्धन कुमार की भाँति अनन्त दु खो से भरपूर ससार-परम्परा की वृद्धि करने वाला हो जाता है। साराश यह है कि यह दुर्लभ मनुष्य भव ऐसे प्राणियो को लाभ के स्थान पर हानि ही करता है। इस प्राणी ने ससार मे परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य भव प्राप्त किया परन्तु उन भवो मे विशुद्ध धर्म का आराधन न करने से उसे कुछ भी प्राप्त न हो सका, कोई भी कार्य सिद्ध नही कर सका। मैंने पहले भी कहा है कि भगवान् के धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। पुन. सुनिये—

राजन्! पद्मराग, इन्द्रनील जैसे अनेक रत्नो से पूर्ण भण्डारो की प्राप्ति सरल है, पर जिनेन्द्र शासन की प्राप्ति उससे भी दुर्लभ है। राज्यदण्ड और कोषागार से समृद्ध, निष्कण्टक एकछत्र राज्य प्राप्त करना सरल है परन्तु जिनोदित धर्म को प्राप्त करना उससे भी कठिन है। राजन्! देवयोनि मे इन्द्रियाँ और मन सर्वदा भोग सामग्री से तृप्त रहते हैं, ऐसी देव योनि की प्राप्ति सुलभ है परन्तु पारमेश्वरी मत की प्राप्ति महादुर्लभ है। हे भूपति! ससार मे सबसे अधिक ऐश्वर्यमान् इन्द्र

का इन्द्रत्व अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ सहलता से प्राप्त हो सकता है, किन्तु जिनोक्त धर्म इतनी सरलता से प्राप्त नही हो सकता। हे राजन् ! राज्य-सुख, राज्य-प्राप्ति देवभोग या इन्द्रत्व ये सब तो संसार-सुख के कारण है जब कि मुनीन्द्रोक्त विशुद्ध धर्म तो मोक्ष सुख की प्राप्ति का कारण है। ❀ काच और चिन्तामणि रत्न के गुणो मे जितना अन्तर है उतना ही ससार-सुख और मोक्ष-सुख में अन्तर है। वस्तुत. सद्धर्म की प्राप्ति इस ससार में अति दुर्लभ है। अतएव हे राजन् ! जो लोग इस धर्म-प्राप्ति के महत्व को समझते है वे ससार की किसी भी वस्तु के साथ उसकी तुलना कैसे कर सकते है ? इस कारण से हे राजन् ! इस ससार के विस्तार को किसी प्रकार पार कर, राधावेध के समान दु साध्य मनुष्य भव को प्राप्त कर और ससार एव कर्म का नाश करने वाले जिन शासन को प्राप्त करके भी जो मूढ मानस वाले हिंसा, क्रोध आदि पापो मे रागयुक्त होते है वे सर्वोत्तम चिन्तामणि रत्न को छोडकर काच को ग्रहण करते है, गोशीर्ष चन्दन को जलाकर उसके कोयले का व्यापार करते हैं, महासमुद्र मे लोहे के लिये नौका को विनष्ट करते है, उत्तम वैडूर्य रत्न मे पिरोए धागे को प्राप्त करने के लिये रत्न को तोड़ देते हैं और कील के लिये सर्वोत्तम काष्ठ पात्र (नाव) को जला देते हैं। मोह-दोष से इमली की छछ को रत्न-पात्र मे पकाते है, आक के फूल के लिये सोने के हल से जमीन जोतकर उसमे आकड़े के बीज बोते है और ये मूर्ख कपूर के टुकड़ों को फेंक कोदरे का व्यापार करते हैं तथा मन मे गौरव का अनुभव करते है। ऐसा मानने का कारण यह है कि जिन प्राणियों के चित्त मे हिंसा, क्रोध आदि पापो पर आसक्ति होती है उनसे जिनेन्द्रोक्त सद्धर्म दूर से दूर ही होता जाता है। जिस प्राणी का मन पाप में ओतप्रोत रहता है तथा सद्धर्म-रहित होता है वह मोक्षमार्ग के एक अश के साथ भी नही जुड़ सकता। अत: ऐसा प्राणी ससार की प्रपच विचित्रता और सद्धर्म की दुर्लभता को जानते हुए भी मोहान्ध होकर इस महा भयकर संसार-समुद्र मे सम्पूर्ण रूप से डूब जाता है और अनेक प्रकार की पीडा को भोगता है। परिणाम स्वरूप उसका ज्ञान विल्कुल व्यर्थ हो जाता है, जैसा कि इस नन्दिवर्धन का हुआ है। [१-१७]

नन्दिवर्धन की बोध-दुर्लभता

अरिदमन—भगवन् ! आपने भव-प्रपच को इतने विस्तार से सुनाया जिसे इस नन्दिवर्धन ने भी सुना है, इसने क्रोध और हिंसा के कटु परिणाम भी स्वयं अनुभव किये है। तो क्या अब उसे कुछ बोध प्राप्त होगा या नही ? कुछ जागृति आयेगी या नही ?

विवेकाचार्य—राजन् ! इसे किसी प्रकार का प्रतिबोध तो नही हुआ है, पर इस प्रकार की बातो से उल्टे इसके मन मे अधिक उद्वेग उत्पन्न हो रहा है।

❀ पृष्ठ २८८

अरिदमन—भगवन् ! तो क्या यह नन्दिवर्धन अभव्य है ?

विवेकाचार्य—राजन् ! यह अभव्य नहीं है किन्तु भव्य है। वह मेरे वचनों पर प्रतीति नहीं करता और उन पर आचरण नहीं करता, यह तो उसके मित्र वैश्वानर (क्रोध) का दोष है। इस वैश्वानर का इसके साथ अनन्त काल का अनुबन्ध (सम्बन्ध) होने से इसका तीसरा नाम अनन्तानुबन्धी भी कहा गया है। यह अनन्तानुबन्धी क्रोध अभी इसमे जागृत है और उस पर इसकी बहुत प्रीति है इसीलिये मेरे वचनो से इसको लेशमात्र भी सुख-शान्ति नहीं मिलती, अपितु इसके हृदय में अप्रीति और दुःख उत्पन्न करते हैं। ऐसे संयोगों मे इस बेचारे तपस्वी को प्रतिबोध कैसे हो सकता है ? इस वैश्वानर की संगति के परिणाम स्वरूप यह नन्दिवर्धन अभी भिन्न-भिन्न स्थानो में भटकता रहेगा, जहाँ यह अनेक प्रकार की वैर-परम्परा बाँधेगा और अनन्त काल तक विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हुए उनके दारुण फलो को भोगता रहेगा।

अरिदमन—भगवन् ! तब तो यह वैश्वानर इसका सचमुच में ही महान् शत्रु है।*

विवेकाचार्य—इसने तो शत्रुता की सीमा भी लांघ दी है। इससे अधिक कोई किसी का क्या बुरा करेगा ?

अरिदमन—भगवन् ! क्या यह वैश्वानर इस नन्दिवर्धन का मित्र बन कर इसके साथ ही रह रहा है ? या अन्य किसी प्राणी का मित्र बनकर उसके साथ भी रहता है ?

विवेकाचार्य—राजन् ! यदि आप यह प्रश्न स्पष्टतया पूछ रहे हैं तो मुझे उसका उत्तर भी उसी स्पष्टता से विस्तार पूर्वक देना पड़ेगा, तभी आपको यथोक्त रीति से समझ में आयेगा और आपको पुनः-पुनः पूछना नहीं पड़ेगा।

अरिदमन—यदि आप विस्तार पूर्वक समझावें तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी।

❀

३२. तीन कुटुम्ब

[अरिदमन राजा का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण था, पूरी धर्म सभा उत्तर सुनने को आतुर थी। विवेकाचार्य भी विस्तार से सब कुछ समझाने को उद्यत थे और चारो तरफ श्रोता भी खूब एकत्रित थे। उस समय आचार्य ने मधुर स्वर मे तीन कुटुम्ब का विस्तार पूर्वक वर्णन प्रारम्भ किया।]

---

* पृष्ठ २८४

विवेकाचार्य—राजन् ! इस संसार में प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते है। वे इस प्रकार हैं—प्रथम कुटुम्ब में क्षान्ति, आर्जव, मार्दव, लोभ-त्याग, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सत्य, शौच, तप और सतोष आदि कुटुम्बीजन (घर के मनुष्य) होते है। दूसरे कुटुम्ब मे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, शोक, भय, अविरति आदि कुटुम्बीजन (बान्धव) होते है। तीसरा यह शरीर, इसको उत्पन्न करने वाले माता-पिता और भाई-बहिन आदि अन्य कुटुम्बीजन होते है, प्रत्येक प्राणी के इन तीन कुटुम्बो द्वारा असख्य स्वजन सम्बन्धी होते हैं।

इनमे जो क्षान्ति, मार्दव आदि का प्रथम कुटुम्ब कहा गया है यह प्राणी का स्वाभाविक कुटुम्ब है जो अनादि काल से उसके साथ रहा हुआ है, जिसका कभी अन्त नही होता और जो प्राणी का हित करने मे सदा तत्पर रहता है। यह कभी छुप जाता है और कभी प्रकट हो जाता है यह उसका स्वभाव है। यह अन्तरग मे रहता है और प्राणी को मोक्ष प्राप्ति करा सके ऐसा समर्थवान है। इसका कारण यह है कि वह अपने स्वभाव से ही प्राणी को उसके स्वस्थान से उच्चता की ओर ले जाता है।

इसके पश्चात् क्रोध, मान आदि को प्राणी का दूसरा कुटुम्ब कहा गया है। यह कुटुम्ब अस्वाभाविक है, पर दुर्भाग्य से वस्तु-स्वभाव को न समझने वाले अधिकाश प्राणी उसे ही अपना स्वाभाविक कुटुम्ब मानकर उससे ही प्रगाढ प्रेम भाव रखते हैं। इस द्वितीय प्रकार के कुटुम्ब का सम्बन्ध अभव्य जीवो के साथ अनादि काल से है और इस सम्बन्ध का कदापि अन्त नही होता अर्थात् अन्त रहित है। कुछ भव्य प्राणियो का इसके साथ सम्बन्ध अनादि काल से है किन्तु उसका अन्त निकट भविष्य मे हो ऐसे स्वभाव वाला होता है। यह कुटुम्ब अपवाद-रहित प्राणी का एकान्त अहित करने वाला होता है। प्रथम कुटुम्ब की भाँति यह भी कभी छुप जाता है और कभी प्रकट हो जाता है। यह भी प्राणी के अन्तरग मे निवास करता है। प्राणियो को अधिक से अधिक ससार-वृद्धि का लाभ करवा कर ससार को बढाना इस कुटुम्ब का धर्म है, क्योकि प्राणी को स्वस्थान से नीचे गिराना, उसे दुर्गुणो के प्रति प्रेरित करना इसका स्वभाव है।

इसके अतिरिक्त जो तृतीय कुटुम्ब का ऊपर वर्णन किया गया है, वह तो स्वरूप से ही अस्वाभाविक है। यह कुटुम्ब तो सादि और सान्त है। इसका प्रारम्भ अल्पकालिक होता है अतः इसका तो अस्तित्व भी पूर्णतया अस्थिर है। वह कभी भी किसी प्रकार स्थिर नही रह सकता। यह कुटुम्ब भव्य प्राणी को कभी हितकारी और कभी अहितकारी भी होता है। इसका धर्म उत्पत्ति और विनाश है और यह बहिरग प्रदेश मे ही प्रवर्तित होता है। भव्य प्राणी को यह ससार और मोक्ष दोनो मे कारणभूत होता है, जबकि अभव्य प्राणी को मात्र ससार का कारण होता है। यह बाह्य कुटुम्ब बहुलता से क्रोध, मान आदि द्वितीय कुटुम्ब को परिपुष्ट

करने वाला होने से अधिकतर ससार-वृद्धि का कारण ही बनता है। यदि कोई भाग्यवान् प्राणी कभी क्षान्ति, मार्दव आदि प्रथम कुटुम्ब का अनुसरण करता है तो तीसरा बाह्य कुटुम्ब उसका भी पोषण करने मे सहायता करता है और इस प्रकार कभी-कभी यह बाह्य कुटुम्ब मोक्ष का कारण भी बनता है। राजन्! द्वितीय कुटुम्ब का अगभूत वैश्वानर समस्त ससारी जीवो का मित्र बनकर रहता है और इसी प्रकार हिंसा भी समस्त ससारी जीवो की स्त्री बनकर रहती है, इसमे तनिक भी सन्देह नही करना चाहिये।

अरिदमन—महाराज! आपने क्षान्ति, मार्दव आदि प्रथम कुटुम्ब के सम्बन्ध मे बताया कि यह प्राणी का स्वाभाविक कुटुम्ब है, प्राणी का हित करने वाला है और उसे मोक्ष मे ले जाने का कारण है, तब प्राणी इसी कुटुम्ब को प्रेम पूर्वक क्यो नही अपनाते? भगवन्! क्रोध, मान, राग, द्वेष आदि द्वितीय कुटुम्ब के बारे मे * आपने बताया कि यह प्राणी के लिये अस्वाभाविक है, अहितकारक है और संसार की वृद्धि का कारण है, फिर प्राणी इस द्वितीय कुटुम्ब को प्रेम पूर्वक क्यों अपनाते है?

विवेकाचार्य—राजन्! प्राणी हितकारक पहले कुटुम्ब को न अपनाकर अहितकारक दूसरे कुटुम्ब को क्यो अपनाते है, इसका कारण सुने। क्षमा, आर्जव आदि प्रथम कुटुम्ब और क्रोध, मानादि द्वितीय कुटुम्ब के बीच अनादि काल से वैर चलता आ रहा है। दोनो कुटुम्ब अन्तरंग मनोराज्य मे रहते है, पर इस लडाई मे द्वितीय अधम कुटुम्ब द्वारा प्रथम कुटुम्ब प्रायः कर हारता ही रहता है। इस प्रकार इस अनादि ससार में दूसरे कुटुम्ब की अधिक शक्ति चलती है और प्रथम कुटुम्ब दब जाता है। यह प्रथम कुटुम्ब उसके भय से इतना प्रच्छन्न हो जाता है कि वह प्राणी को व्यक्त होकर अपने दर्शन भी नहीं कराता, अर्थात् प्राणी को इसका स्पष्ट दर्शन भी नही हो पाता। स्पष्ट दर्शन न होने से इस कुटुम्ब मे कितने और कैसे गुण है, इसका भी प्राणी को पता नही लग पाता। इसीलिये प्राणी का उसके प्रति पूर्ण आदर भाव नही हो पाता। वास्तव मे यह कुटुम्ब प्राणी के अन्तरंग मे रहता है फिर भी प्राणी ऐसा मानता है कि उसके मन मे ऐसे किसी कुटुम्ब का वास नही है। बात इतनी अधिक बढ जाती है कि जब हमारे जैसे इस प्रथम कुटुम्ब के गुणों का वर्णन करते हैं तब भी उसकी विशिष्ट रूप में गणना नही की जाती। इस अनादि ससार मे धीरे-धीरे द्वितीय कुटुम्ब शत्रुभूत प्रथम विशुद्ध कुटुम्ब के लोगो को पराजित कर दूर भगा देता है और उस पर अपनी पूर्ण विजयपताका फहरा देता है। प्राणी को अधिकाधिक अपने घेरे में जकड़ कर अपनी इच्छानुसार नचाता है और प्रकट रूप में उसका स्वामी बन जाता है। इससे प्राणी को प्रतिदिन इस अधम कुटुम्ब के ही दर्शन होते है। प्रतिदिन साथ रहने से प्राणी इस द्वितीय अधम कुटुम्ब के प्रति

* पृष्ठ २९०

अधिक प्रेमबद्ध होने लगता है। उसे देखकर प्राणी के मन में सन्तोष और अनुराग होता है। उस पर विश्वास उत्पन्न हो जाता है और प्रणयभाव (मित्रता) गाढ होता जाता है। इस प्रकार प्राणी के मन मे क्रोध, मोह, राग, द्वेष वाले इस द्वितीय अधम कुटुम्ब पर आसक्ति बढती जाती है। फलत इनमे रहे हुए अनेक दोषों को प्राणी देख नही पाता और प्रेम के वश उनने जो गुण नही होते उन मिथ्या गुणों का आरोप करता है। इस झूठे प्रेम को लेकर प्राणी इस द्वितीय कुटुम्ब का अधिकाधिक पोषण करता है। वह अन्त.करण पूर्वक मानने लगता है कि यह दूसरा कुटुम्ब ही उसका परम बन्धु है। हमारे जैसे उपदेशक यदि कभी उसे इस दूसरे कुटुम्ब के दोषो को बताते है तो वह हमे भी शत्रु बुद्धि से ग्रहण करता है अर्थात् हमे भी शत्रु मान बैठता है।

अन्तरंग कुटुम्ब के गुण-दोषों का ज्ञान आवश्यक है

अरिदमन—भदन्त! क्षान्ति, मार्दव आदि विशुद्ध अन्तरग कुटुम्ब और क्रोध, रागादि अधम अन्तरग कुटुम्ब के गुण-दोषों को यदि तपस्वी प्राणी स्पष्टतया समझ जाय तो कितना अच्छा हो! [इससे उसके यह भी समझ मे आ जाय कि इन दोनो कुटुम्बो मे कितना अन्तर है।]

विवेकाचार्य—इससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता है? जो प्राणी अपना सर्वथा कल्याण करने की इच्छा रखता हो उसे तो वस्तुतः अवश्य ही प्रथम और द्वितीय प्रकार के कुटुम्बो के गुण-दोषो का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिये। हम अपनी धर्मकथा (उपदेश) मे इसी पर विशेष ध्यान देते है। (विभिन्न उपदेश प्रणालियो से हमारा उद्देश्य यही होता है कि प्राणी इन दोनों कुटुम्बो के गुण दोषो को पहचाने)। वास्तव मे जब तक प्राणी मे स्वय मे योग्यता नही आती तब तक वह इन दोनो कुटुम्बो के बीच के अन्तर को समझने मे समर्थ नही हो सकता, अतः जो प्राणी अयोग्य होते हैं उनके प्रति हम भी गजनिमीलिका (उपेक्षा) करते हैं। यदि सभी प्राणी इन दोनो कुटुम्बो के अन्तर को स्पष्टतया समझ ले तो इस ससार का मूलोच्छेद हो जाय, क्योंकि इन दोनो कुटुम्बो के गुण-दोषो का ज्ञान हो जाने से दूसरे अधम कुटुम्ब का तिरस्कार कर उसे मार भगाकर सभी प्राणी मोक्ष चले जाये।

अरिदमन—सब प्राणियो को इन दोनो अन्तरग कुटुम्बो के गुण-दोषों का स्पष्ट ज्ञान होना या कराना, यह अनुष्ठान शक्य नही है तब फिर इस बारे मे व्यर्थ चिन्ता करने से क्या प्रयोजन? आपके चरणो की कृपा से हम तो दोनो अन्तरग कुटुम्बो के गुण-दोषो को स्पष्ट रूप से समझ गये है, अतः हमारा अभिलषित कार्य तो सिद्ध हो गया। ❀ व्यवहार मे कहा गया है कि—

बुद्धिमान मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार परोपकार करना ही चाहिये और यदि परोपकार करने की अपने मे शक्ति न हो तो अपने स्वकीय अर्थ/कार्य

❀ पृष्ठ २६१

की सिद्धि को महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिये अर्थात् स्वकीय कार्य साधन मे कोई कमी नही रखनी चाहिये ।

ज्ञान के साथ आचरण की आवश्यकता

विवेकाचार्य—राजन् ! अकेला ज्ञान कार्य की सिद्धि नही कर सकता ।

अरिदमन—यदि और कुछ करने की आवश्यकता हो तो आप निर्देश प्रदान करे ।

विवेकाचार्य—अन्य कर्त्तव्य है:—ज्ञान के बाद उस पर सच्ची श्रद्धा और फिर उसे अनुष्ठान (क्रिया, आचरण) रूप मे परिणत करना आवश्यक है । इन मे से आप मे श्रद्धा तो विद्यमान है अर्थात् आपको यह प्रतीति तो है कि जो बात कही गई है वह सत्य है, अब उसके अनुसार अनुष्ठान करने की, अपने ज्ञान को आचरण रूप मे परिणत करने की चारित्र की आवश्यकता है । ऐसा करने से तुम्हारे सभी मनोवाछित सिद्ध होगे, इसमे सन्देह को तनिक भी स्थान नही है । राजन् ! इस अनुष्ठान को करने मे आपको अनेक निर्दय आचरण (द्वितीय कुटुम्ब का विनाश करने हेतु) करने पड़ेगे ।

अनादि कुटुम्ब के बीच तुमुल युद्ध : निर्दय संहार

अरिदमन—महाराज ! यह निर्दय कर्म किस प्रकार का है ?

विवेकाचार्य ये निर्दय कर्म इस प्रकार के है जिसे हमारे सभी साधु निरन्तर करते रहते है ।

अरिदमन—साधु जो इस प्रकार का कार्य निरन्तर करते है उसे सुनने की मेरी इच्छा है । आप उसे सुनाने की कृपा करे ।

विवेकाचार्य—राजन् ! सुनो—इन साधुओ के साथ दूसरे अधम कुटुम्ब का स्नेह सम्बन्ध अनादि काल से है, पर उनकी अधमता को समझने के पश्चात् वे स्वय नृशस होकर अधम कुटुम्ब वालो को रात-दिन विशुद्ध कुटुम्ब वालो से सघर्ष कराते है, लडाते है । इस दूसरे कुटुम्ब के पितामह महामोह को ये साधु निर्दय होकर अपने ज्ञान के फलस्वरूप ज्ञान से नाश करते है । इस कुटुम्ब-तन्त्र को चलाने वाला महा बलवान राग नामक सरदार है, उसको ये साधु वैराग्य नामक यन्त्र से चूर-चूर कर देते है । पुन: राग का भाई द्वेष है उसे ये साधु आक्रोश मे आकर मैत्री नामक तीर से मार देते है । इस अधम कुटुम्ब मे रहने वाले द्वेषगजेन्द्र के पुत्र अनादि के स्नेही बन्धु क्रोध को ये साधु निर्दय होकर क्षमा रूपी क्रकच (करवत) से काट देते है । द्वेष का पुत्र और वैश्वानर के भाई मान को ये मार्दव (मृदुता) रूपी तलवार से मार देते हैं और हाथ भी नही धोते है । द्वेषगजेन्द्र की पुत्री माया का तो ये निर्दयी साधु आर्जव (सरलता) रूपी डण्डे से मार-मार कर कचूमर निकाल देते है और उसके भाई लोभ को तो रौद्र बनकर निर्लोभता रूपी कुल्हाडे से टुकडे-टुकडे कर देते है । समस्त प्रकार का स्नेह-बन्ध कराने में परायण काम को ये मुनि दोनो हाथो के बीच मे लेकर खटमल के समान मसल देते है । सद्ध्यान रूपी अग्नि से अपने सभी शोक-

सम्वन्धों को जला देते हैं और अपने साथ अनादि काल से स्नेह रखने वाले भय को निर्भय होकर धैर्य रूपी बाण से बीध देते है। राजेन्द्र! इसी कुटुम्ब के हास्य, रति, जुगुप्सा और अरति नामक भुवा को ये साधु विवेक रूपी शक्ति से विदारण कर देते है। पाँच इन्द्रिय नामक भाई-भडवों को ये मुनि घृणा-रहित होकर सन्तोष रूपी मुद्गर से खण्ड-खण्ड कर देते हैं। अन्तरंग में रहने वाले इस अधम कुटुम्ब के सभी स्नेही बन्धु-जनों और सम्बन्धियो को ढूँढ-ढूँढ कर ये निर्दयी साधु उनके विरुद्ध योग्य शस्त्रो का प्रयोग कर उनका संहार कर देते है। हे राजेन्द्र! इस प्रकार अधम कुटुम्ब वालों को त्रास देने के साथ ही ये मुनिगण प्रथम विशुद्ध कुटुम्ब के प्रेमी सम्बन्धियो के वल, पुष्टि व तेज में वृद्धि करते है। धीरे-धीरे प्रथम कुटुम्ब अधिक पुष्ट होता जाता है और दूसरे कुटुम्ब के मुख्य लोगों के मर जाने से पौरुष-भग्न (सत्वहीन) हो जाने से वे प्रथम कुटुम्ब के कार्यो मे * बाधक नही वन पाते। हे राजन्! इन साधुओं को यह ज्ञान होने पर कि तीसरा बाह्य कुटुम्ब (माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि) अधम कुटुम्ब का पोषण करने वाला है, अतः इन्होने इस तीसरे कुटुम्ब का सर्वथा त्याग ही कर दिया है। जब तक तीसरे बाह्य कुटुम्ब का सर्वथा त्याग न कर दिया जाय तब तक प्राणी दूसरे अधम कुटुम्ब पर सर्वथा विजय प्राप्त नही कर सकता। अतः हे राजन्! यदि आपकी इच्छा ससार को छोड़ देने की हो तो आप भी मेरे द्वारा निर्दिष्ट अति निर्दय कर्म क्रियान्वित करे। केवल इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि अपनी अन्तरात्मा को मध्यस्थ रख कर सम्यक् प्रकार से विचार करे कि आप मे उपर्युक्त निर्दय कर्म (साध्वाचार) के क्रियान्वयन की शक्ति भी है या नही? हे भूपति! दूसरे कुटुम्ब के व्यक्तियो को निर्वल करने में मैंने जिन अत्यन्त निर्घृण कर्मो का वर्णन किया है उनमें से कुछ का प्रयोग ये घातकी साधु अपने अभ्यास योग के बल पर करते हैं। अन्य संसार-रसिक प्राणी तो ससार के आनन्द मे इतने तल्लीन रहते हैं कि इस सम्बन्ध मे विचार करना भी उनके लिये सम्भव नही है, उस पर आचरण करना तो उनके लिये वहुत दूर की बात है, अर्थात् वे ऐसे कर्म को (साधुता को) कभी व्यवहार मे प्रवर्तित नही कर सकते।

राजन्! तीसरे बाह्य कुटुम्ब का त्याग, दूसरे अधम कुटुम्ब का घात और पहले विशुद्ध कुटुम्ब को पोषण करने का जो उपदेश मैंने दिया इसे बराबर ध्यान में रखें। इन तीनों का परिज्ञान कर, उस पर श्रद्धा रख और उसके आचरण मे अपनी शक्ति का उपयोग कर अनेक मुनि-पुंगव इस ससार प्रपंच से मुक्त हुए, समस्त द्वन्द्वों से रहित हुए और अपने स्वाभाविक रूप को प्राप्त कर मोक्षावस्था मे रहते हुए प्रमोद कर रहे हैं। अतः हे राजन्! जिस दुष्कर कर्म की मैंने व्याख्या की और उपदेश दिया उसे करना कठिन तो अवश्य है, परन्तु उसका अन्त वहुत सुन्दर है। ऐसी अवस्था में अब आपको जैसा योग्य लगे वैसा करें। [१-२४]

---

* पृष्ठ २९२

अनन्त बाह्य कुटुम्ब का सम्बन्ध

अरिदमन— भगवन् ! आपने प्रतिपादित किया कि प्रथम दोनों अन्तरग कुटुम्ब अनादि ससार मे सर्वदा अविच्छिन्न प्रवाह वाले है और तृतीय बाह्य कुटुम्ब की उत्पत्ति और विनाश समय-समय पर होता रहता है, तब तो यह तीसरा कुटुम्ब प्रत्येक भव मे नया-नया होता होगा ? [२५-२६]

विवेकाचार्य—राजन् ! यह बाह्य कुटुम्ब तो प्राणी के प्रत्येक भव मे नया ही होता है । [२७]

अरिदमन—महाराज ! यदि ऐसा है, तब तो इस अनादि ससार मे प्राणी ने अभी तक अनन्तो कुटुम्ब प्राप्त करके छोड दिये होगे ? [२८]

विवेकाचार्य—राजन् ! जैसा आप कह रहे है वैसा ही है । इस प्राणी ने अनन्त बाह्य कुटुम्ब किये और छोड दिये, इसमे तनिक भी सन्देह नही है । इस ससार मे भटकने वाले सभी तपस्वी जीव पथिक (यात्री) जैसे है । यात्री जैसे नये-नये वासस्थानो मे नये-नये यात्रियो से मिलता है और फिर उन्हे छोड देता है वैसे ही प्रत्येक भव मे प्राणी नये-नये शरीरो मे प्रवेश कर नये-नये कुटुम्बो के साथ सम्बन्ध जोडता है और फिर उन्हे छोडकर अन्य-अन्य शरीरो को धारण कर अन्य-अन्य कुटुम्बो से सम्बन्धित होता है । [२६-३०]

अरिदमन—भगवन् ! यदि ऐसा है तब तो इस मानव भव मे तृतीय कुटुम्ब से स्नेह सम्बन्ध रखना महामोह को बढावा देना मात्र है ? ❀ [३१]

विवेकाचार्य—राजन् ! तुमने सच्ची बात जान ली है । महामोह के बिना कौन समझदार व्यक्ति इस प्रकार की चेष्टा करेगा ? [३२]

अरिदमन—स्वामिन् ! एक प्रश्न और है । यदि कोई प्राणी यह निश्चय न कर सके कि उसमे अधम अन्तरग कुटुम्ब को मार भगाने की शक्ति है या नही ? और वह अधम कुटुम्ब के नाश मे समर्थन न हो सके, फिर भी यदि वह तीसरे बाह्य कुटुम्ब का त्याग करे तो क्या फल प्राप्त होगा ? श्रीमान् द्वारा निर्दिष्ट मुक्ति-लाभ हो सकता है या नही ? कृपया विवेचन करे । [३३-३४]

विवेकाचार्य—राजन् ! जो प्राणी अधम कुटुम्ब का नाश करने मे समर्थ नही है वह यदि बाह्य कुटुम्ब का त्याग कर भी दे तो वह केवल आत्म-विडम्बना मात्र ही है । बाह्य कुटुम्ब का त्याग कर जो प्राणी निराकुल होकर अधम कुटुम्ब को मार भगा सके उसी का बाह्य कुटुम्ब त्याग सफल है, अन्यथा उसका त्याग निष्फल है, यह ध्यान रखे । [३५-३६]

❀

❀ पृष्ठ २६३

३३. अरिदमन का उत्थान

तत्त्वज्ञान की आवश्यकता

अरिदमन आपके उपदेश से मैंने यह जान लिया है कि इस संसार का प्रपंच बहुत भयंकर है और संसार-समुद्र को पार करना अति दुष्कर है। इस संसार-यात्रा में मैंने मनुष्य-भव बहुत कठिनाई से प्राप्त कर, मोक्ष अनन्तानन्द से भरपूर है इस तत्त्व को श्रद्धा पूर्वक समझा और यह भी जाना कि मोक्ष-प्राप्ति का कारण-भूत जैनेन्द्र शासन ही है। आप जैसे परोपकारी मुनीन्द्र की सगति से तीनों कुटुम्बो के स्वरूप, हेतु और फल आदि को परमार्थतः समझ सका। ऐसे संयोग प्राप्त होने पर भी आत्महित चाहने वाला कौन समझदार व्यक्ति अपने सच्चे बन्धु-सदृश प्रथम अन्तरग कुटुम्ब का तत्त्वत: पोषण नही करेगा ? कौनसा बुद्धिमान व्यक्ति आत्म-समृद्धि मे विघ्न करने वाले समस्त व्यसनो के कारणभूत शत्रु जैसे दूसरे कुटुम्ब का नाश नही करेगा ? और, तीसरे बाह्य संसारी कुटुम्ब का त्याग क्यों नही करेगा ? जबकि उसका त्याग करने से दुःख-समूह का नाश होता है और परम सुख प्राप्त होता है। [३७-४२]

विवेकाचार्य— जिस प्राणी को संसार का भय लगा हो और जिसे सच्चा तत्त्व समझ में आ गया हो उसे ये तीनो कार्य अवश्य करने चाहिये। [४३]

अरिदमन — भगवन् ! जिसने सच्चा तत्त्व नही समझा उस प्राणी को आपके कथनानुसार सर्वज्ञ शासन मे प्रगति का कोई अधिकार है या नही ?

विवेकाचार्य—नही, राजन् ! बिलकुल नही। [४४]

अरिदमन का त्याग का निर्णय

राजा ने विचार किया कि मैंने गुरु महाराज से तत्त्व को समझा है और श्रद्धा से मेरा मानस भी प्रक्षालित है, अतः गुरुदेव ने जिस कार्य को करने का उपदेश दिया है, उसे करने का निश्चित रूप से मुझे अधिकार भी है। [४५]

ऐसा सोचते हुए राजा को उस समय वीर्योल्लास हुआ, आत्मिक प्रसन्नता हुई और उसने यतीश्वर गुरुदेव के चरण छू कर हाथ जोडकर कहा—महाराज ! यदि आपकी आज्ञा हो तो, आपने अभी जो अत्यन्त निर्घृण होकर अनुष्ठान करने का उपदेश दिया है, उस अनुष्ठान को करने की मेरी इच्छा है। [४६-४७]

विवेकाचार्य—महावीर्यशाली ! आपके जैसे व्यक्ति को तो ऐसा करना ही चाहिये। आपने अभी तत्त्व को समझा है, अतः मेरी इस विषय मे पूर्ण सम्मति है। [४८]

प्रधान पुरुषों का समयोचित कर्त्तव्य

उस समय राजा अरिदमन ने सहसा अपनी दृष्टि अपने पास खड़े मंत्री

विमलमति के मुख की ओर घुमाई। तत्क्षण ही मंत्री ने नम्रता पूर्वक कहा—कहिये महाराज ! क्या आज्ञा है ?

अरिदमन—* आर्य ! मेरा विचार राज्य, सगे-सम्बन्धियो और शरीर का संग छोड़ देने का है। आचार्य महाराज के निर्देशानुसार राग-द्वेषादि कुटुम्बियो का मुझे नाश करना है, ज्ञानादि अतरग के विशुद्ध कुटुम्ब का अहर्निश पोषण करना है और भागवती दीक्षा लेनी है अत' जो समयोचित कार्य हो उन्हे शीघ्र करो।

विमलमति—जैसी देव की आज्ञा। परन्तु, महाराज ! मुझ अकेले को कालोचित कार्य करने का है ऐसा नही है, अपितु आपके अन्त पुर मे रहने वाले सब लोगो, सामन्तवर्ग और राज्य कर्मचारियो एव इस सभा मे उपस्थित सभी लोगो को यह कार्य करना है।

राजा ने मन मे विचार किया कि मैने तो मत्री को आदेश दिया था कि मेरा दीक्षा लेने का विचार है, अत. तदनरूप जिनस्नात्र, जिनपूजा दान, महोत्सव आदि जो इस अवसर के योग्य कार्य है वे करो। किन्तु यह क्या उत्तर दे रहा है ? अहो ! इसके कथन मे अवश्य ही कोई गम्भीर अभिप्राय होना चाहिये। यह सोचकर राजा ने मत्री से पूछा—आर्य ! अभी जो-जो कार्य करने है वे आपको ही करने है, यह आपके अधिकार का विषय है, और ये कार्य करने मे आप सक्षम है तब अन्य लोग समयोचित कार्य के अतिरिक्त कौन-कौन सा उचित कर्त्तव्य करने वाले है ?

विमलमति—महाराज ! आपने जो कर्त्तव्य करने का श्री गणेश किया है, वह कर्त्तव्य हम सबको भी करना चाहिये, यही मेरे कहने का तात्पर्य है, क्योकि न्याय तो सबके लिये समान होता है। आचार्यश्री ने अभी-अभी हमे समझाया है कि प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते हैं। अतः हम सबके लिए समयोचित कर्त्तव्य यही है कि प्रथम क्षमा-मार्दव आदि कुटुम्ब को पुष्ट करे, द्वितीय कुटुम्ब राग-द्वेष आदि का विनाश करे और तृतीय बाह्य कुटुम्ब का त्याग करे।

अरिदमन - आर्य ! जैसा आप कह रहे है, यदि वे सब भी इस बात को स्वीकार करते है तो बहुत ही अच्छी बात है।

विमलमति—देव ! आप जो काम करने जा रहे है वह सबके लिये अत्यन्त पथ्यकारी है, अतः सभी इसी मार्ग को अगीकार करे इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

प्रधान का ऐसा विचार सुनकर सभा मे जो कायर व्यक्ति थे वे मन मे कापने लगे कि यह मत्री हम सबको बल पूर्वक दीक्षा दिलवा देगा। भारी कर्म वाले जीव द्वेष करने लगे, नीच प्रकृति के लोग भागने लगे, विषयासक्त प्राणी घबराने लगे और जो अपने कुटुम्ब-जाल मे फसे थे वे पसीने से तरबतर होने, लगे परन्तु जो लघु-कर्मी जीव थे वे अत्यधिक प्रसन्न हुए और जो धीर गभीर मानस वाले थे वे

* पृ० २०४

प्रधान के वचनानुसार कार्य करने के विषय में सोचने लगे। ऐसे लघुकर्मी धीर प्रकृति वाले प्राणियों ने प्रकट में कहा—जिस प्रकार की महाराज की आज्ञा हो वैसा ही हम सब करने को तत्पर हैं। सर्व प्रकार की सामग्री का ऐसा संपूर्ण लाभ मिलने पर भी ऐसा कौन मूर्ख होगा जो ऐसा सर्वोत्तम साथ छोड़ देगा ? ऐसे स्वर्ण अवसर का त्याग करेगा ? ऐसे वचन सुनकर राजा अपने मन में बहुत प्रसन्न हुआ।

प्रमोदवर्धन चैत्य में दीक्षा

वहाँ पास ही प्रमोदवर्धन नामक जिनालय था, राजा और अन्य सभी लोग वहाँ गये। उस अत्यन्त विशाल जिन मन्दिर में विराजित जिन प्रतिमाओं को स्नात्र कराया और भगवान् का जन्माभिषेक मनाया गया। फिर भगवान् की मनोहारिणी पूजा की गई। अनेक प्रकार के महादान दिये गये। कैदियों को कारागृह से छोड़ा गया और ऐसे अन्य समयोचित समस्त प्रशस्त कार्य किये गये। राजा अरिदमन का पुत्र श्रीधर था उसको नगर से वहाँ बुलाया गया और राजा ने अपना राज्य पुत्र श्रीधर को सौंप दिया। ॐ जैन शास्त्रों में वर्णित विधि पूर्वक विवेकाचार्य ने राजा तथा उसके साथ दीक्षा लेने वाले उपस्थित सभी लोगों को भागवती दीक्षा प्रदान की। फिर आचार्यश्री ने संसार के प्रपंच पर विशेष रूप से वैराग्य-वर्धक और मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा में वृद्धि करने वाली धर्मदेशना दी। पश्चात् देवता आदि जो आचार्यश्री का उपदेश सुनने और उनको वन्दन करने आये थे वे अपने-अपने स्थान पर चले गये।

ॐ

३४. नन्दिवर्धन की मृत्यु

उपरोक्त वर्णन के अनुसार राजा अरिदमन ने अपने अंत:पुर और अनुयायी वर्ग में से कईयों के साथ संसार-त्याग कर दीक्षा ग्रहण करली। मेरे समक्ष स्वरूप-दर्शन हुआ, अनुकरण करने योग्य संयोग बने। और, हे अगृहीतसंकेता ! आचार्यश्री विवेक केवली ने अमृत तुल्य सदुपदेश दिया पर उन सबका मुझ पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। कुछ समय पश्चात् मेरा मित्र वैश्वानर और हिंसादेवी जो दूर बैठे थे मेरे पास आये और उन्होंने फिर से मेरे शरीर में प्रवेश कर लिया। राजा अरिदमन के दीक्षा समारोह पर जब अन्य कैदियों को बन्धन-मुक्त किया गया था तब राजपुरुषों द्वारा मुझे भी बन्धन-मुक्त कर दिया गया। मैं अपने मन में सोचने लगा कि 'इस श्रमण (विवेकाचार्य) ने मुझे लोगों के बीच बदनाम किया है।' इस विचार से मेरे मन में उनके प्रति धमधमायमान क्रोध की ज्वाला भभकी। जिस स्थान पर इतनी बदनामी हो गई हो उस स्थान पर रहने से क्या लाभ ? यह सोचते

ॐ पृष्ठ २९५

हुए मैं वहाँ से विजयपुर जाने के लिये निकल पडा और उस तरफ जाने वाला कितना ही रास्ता पार कर लिया।

धराधर के साथ लड़ाई : नन्दिवर्धन की मृत्यु

इधर विजयपुर राज्य के राजा शिखरी के एक धराधर नामक पुत्र था। वैश्वानर और हिंसा ने मेरी भाँति उसे भी अपने वश मे कर रखा था जिससे उसके पिता ने उसे देश निकाला दे रखा था। जगल मे भटकते हुए उस धराधर तरुण को मैंने देखा। मैंने उससे विजयपुर नगर का रास्ता पूछा, किन्तु उस समय उसके मन में अधिक व्याकुलता होने से उसने मेरी बात नही सुनी। मैंने सोचा कि तिरस्कृत बुद्धि से यह मेरी अवगणना कर रहा है। इस विचार के साथ ही मेरे शरीर मे निवास करने वाले वैश्वानर और हिंसा उछल पडे जिससे मैंने उसकी कमर से लटकी हुई कटार खीच ली। उसके शरीर मे निवास करने वाले वैश्वानर एव हिंसा भी सचेष्ट हो गये। फलस्वरूप उसने भी अपनी तलवार खींच ली। हमने एक ही साथ एक दूसरे पर घातक प्रहार किये जिससे दोनो के ही शरीर विदीर्ण हो गये।

उस समय हम दोनो के पास जो एकभववेद्या गुटिका थी वे एक साथ ही जीर्ण हो गई और भवितव्यता ने हम दोनो को नई गुटिकाये दे दी।

छठे नरक में नन्दिवर्धन

इधर पापिष्ठनिवासा (नरक) नामक एक नगरी है जिसमे एक के ऊपर एक ऐसे सात पाटक (बस्तियाँ) है। इस नगर मे मात्र पापिष्ठ नामक कुलपुत्र ही रहते है। भवितव्यता द्वारा दी गई गोली के प्रभाव से मुझे और धराधर को इस नगरी की तमःप्रभा नामक छठे पाटक (नरक) मे ले जाया गया और वहाँ के निवासी कुलपुत्रो का रूप प्रदान कर हम दोनो को वहाँ स्थापित किया। वहाँ जाने के बाद हम दोनों मे वैरानुबन्ध बहुत अधिक बढ गया। एक-दूसरे पर अनेक प्रकार के घात-आघात करते हुए, अनेक विध यातना भोगते हुए हम २२ सागरोपम तक वहाँ विशाल दुःख-समुद्र मे डूबे रहे।

संसार-परिभ्रमण

बावीस सागरोपम का समय पूरा होने पर भवितव्यता ने हम दोनो को फिर एक नई गोली दी जिसके प्रभाव से वह हमे पचाक्ष-निवास नगर मे ले गई और हम दोनो को गर्भज सर्प का रूप प्राप्त हुआ। वहाँ भी पूर्व-भव के वैर के कारण हम दोनो मे क्रोध-बन्ध जागृत हुआ और हम परस्पर युद्ध करने लगे।

इस प्रकार लड़ते-लड़ते हमारी यह गोली भी जीर्ण हो गई। फलतः भवितव्यता ने पुनः नयी गोली देकर हमे पापिष्ठनिवास नगर के धूमप्रभा नामक पाचवे पाटक (नरक) मे उत्पन्न किया। वहाँ भी हम आपस मे जमकर सघर्ष करते रहे। इस घोर महादुःख मे हमारी १७ सागरोपम की आयु समाप्त हुई।※ वहाँ अनेक प्रकार की तीव्रतर पीड़ाओं का मुझे अनुभव करना पड़ा।

※ पृष्ठ २६८

वहाँ से हमें भवितव्यता पुनः पंचाक्ष-निवास नगर मे ले आई और गोली के प्रयोग से हम दोनों को सिंह की योनि में उत्पन्न किया। वहाँ भी हम खूब लड़े और हमारी वैर-परम्परा सतत चलती रही।

इस प्रकार लड़ते-लड़ते सिह योनि से मर कर, भवितव्यता की नई गोली के प्रभाव से हम फिर पापिष्ठनिवास नगर की पंकप्रभा नामक चौथी नरक वस्ती में उत्पन्न हुए। वहाँ भी हम दोनो क्रोधोत्कर्ष मे एक दूसरे पर सर्वदा प्रहार करते रहे, लड़ते रहे। इस प्रकार आपस मे लड़ते मरते हमारी दस सागरोपम की आयु पूर्ण हुई। इस बोच हमने वर्णनातीत दु.ख सहन किये।

वहाँ से भवितव्यता ने फिर हमें वाज पक्षी का रूप प्रदान किया, जहाँ हम दोनों का क्रोध और अधिक वढ गया तथा हमारे बीच अनेक युद्ध हुए।

पुनः भवितव्यता ने अपनी गोली के प्रभाव से हमे पापिष्ठ-निवास नगरी की वालुकाप्रभा नामक तीसरी नरक वस्ती में उत्पन्न किया। यहाँ भी हम एक दूसरे को अनेक प्रकार से मार-कूटकर एक दूसरे का चूरा-चूरा कर देते थे। फिर वहाँ उस क्षेत्र की भी विविध पीडाएं सहन की। परमाधामी देव वहाँ हमे वहुत त्रास देते थे। ऐसे अनन्त दु.खो को सतत भोगते-भोगते हमारे सात सागरोपम पूर्ण हुए।

पुनः नयी गोली देकर भवितव्यता ने फिर हमे पंचाक्षनगर मे नकुल (नोलिये) के रूप मे उत्पन्न किया। हम इतने त्रस्त हुए तथापि एक दूसरे पर हमारा वैरानुवन्ध क्रोध और मात्सर्य किंचित् भी कम नही हुआ। हम एक दूसरे पर प्रहार करते और अपने शरीर को लहलुहान कर देते। वहाँ से फिर हमे पापिष्ठ-निवास नगर की शर्कराप्रभा नामक दूसरी नरक वस्ती मे ले जाया गया। वहाँ भी हम वीभत्सरूप धारण कर दूसरे का गला घोटते रहे। परमाधामी देव भी कदर्थना करते हुए, त्रास देते रहे। क्षेत्र की वेदना का भी पार नही था। इन समस्त सतापों का अनुभव करते हुए वड़ी कठिनाई से हमने वहाँ तीन सागरोपम का काल जैसे-तैसे पूरा किया।

एक वार पापिष्ठ-निवास मे और एक वार पंचाक्ष-निवास में इस प्रकार यहाँ से वहाँ वारम्वार गमनागमन करते हुए, धराधर के साथ वैरजनित संघर्ष करते हुए मैंने भवितव्यता के प्रभाव से अनेक नये-नये रूप धारण किये और विविध प्रकार की विडम्वनाये भोगता रहा। हे भद्रे अगृहीतसकेता! एक गोली पूरी होते ही पुनः कुतूहल से कर्मपरिणाम राजा की ओर से मुझे दूसरी गोली दे दी जाती और मेरी पत्नी भवितव्यता भी एकभववेद्या गुटिका के साथ ऐसी योजना वनाती रहती कि मैं असव्यवहार नगर के अतिरिक्त अन्य समस्त नगरों में पुनः-पुनः भटकता रहूँ। यो घाणी के वैल की तरह यहाँ से वहाँ भटकते हुए मेरा अनन्त काल व्यतीत हुआ।

प्रज्ञाविशाला के विचार

संसारी जीव इस प्रकार जब आप वीती सुना रहा था तब प्रज्ञाविशाला ने सोचा कि यह क्रोध (वैश्वानर) तो बहुत भयंकर है और हिंसा तो उससे भी दारुण भयंकर लगती है। पुनश्च, इस महा भयंकर ससार-समुद्र का कुछ अंश तो लंघन कर ससारी जीव ने बहुत कठिनाई से मनुष्य-भव प्राप्त किया तब भी वैश्वानर और हिंसा के वशीभूत होकर उसने स्वयं ने पूर्व-वर्णित महारौद्र कार्य किये। भगवान् के वचनो को भी मान नही दिया, मनुष्य का सम्पूर्ण भव हार गया, वैर की लम्बी शृंखला खड़ी कर ली। फलस्वरूप इसने संसार सागर मे अनेक प्रकार की विडम्बनाएं ❀ प्राप्त की और महादुःखो की परम्परा को स्वयं स्वीकार किया। इस हिंसा और वैश्वानर का इस जीव के साथ शत्रुताभाव अनुभव एवं आगम (शास्त्र) से सिद्ध है। फिर भी प्राणी इन दोनो के स्वरूप को नही जानता हो इस प्रकार आत्म-वैरी (अपना ही शत्रु) बनकर क्रोध करता है और बार-बार उसी हिंसादेवी का अनुवर्तन करता है। जो लोग जानते हुए भी ऐसा आचरण करते हैं वे पामर प्राणी निश्चित रूप से नन्दिवर्धन जैसी ही अनर्थ-परम्परा को प्राप्त करते हैं, करेंगे। इस चिन्ता से मेरे मन में बहुत व्याकुलता होती है।

❀

श्वेतपुर में आभीर : पुण्योदय का साथ

सदागम के समक्ष भव्यपुरुष और प्रज्ञाविशाला की उपस्थिति में संसारी जीव ने अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर कहा—भद्रे अगृहीतसंकेता! इस प्रकार अनन्त काल तक अनेक स्थानों पर भटकाने के बाद भवितव्यता मुझे श्वेतपुर नगर में ले गई और मुझे आभीर (अहीर) का रूप दिया। जब मैंने इस रूप को धारण किया तब मेरा मित्र वैश्वानर कहीं छिप गया जिससे मैं कुछ शांत रूप वाला बन गया। अत. स्वभाव से ही मुझे कुछ दान करने की बुद्धि हुई। यद्यपि मैंने विशिष्ट शील का पालन नहीं किया, किसी संयम विशेष का आचरण नही किया तथापि घिसते-घिसते मैं कुछ मध्यम गुणों वाला बन गया। मुझे इस प्रकार सुधरता देखकर भवितव्यता मुझ पर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने मेरे पूर्व के मित्र पुण्योदय को फिर से जागृत किया तथा उसे फिर से मेरा सहचर बनाया। उस भवितव्यता ने मुझे स्पष्ट कहा—आर्यपुत्र! अब तुम सिद्धार्थपुर नगर में जाकर वहाँ आनन्द से रहो। यह पुण्योदय तुम्हारे साथ आयेगा और तुम्हारे मित्र एवं सेवक के रूप में कार्य करेगा। मैंने अपनी निश्चित विचार वाली भार्या के वचन को स्वीकार किया। उस समय एक भव में चलने वाली मेरी गोली जीर्ण हो गई थी अत. भवितव्यता ने मुझे नयी गोली दी जो दूसरे भव में चल सके।

❀

❀ पृष्ठ २६७

उपसंहार

भो भव्याः प्रविहाय मोहललितं युष्माभिराकर्ण्यतां-
मेकान्तेन हितं मदीयवचनं कृत्वा विशुद्धं मनः ।
राधावेधसमं कथञ्चिदतुलं लब्ध्वापि मानुष्यकं,
हिंसाक्रोधवशानुगैरिदमहो जीवैः पुरा हारितम् ।। १ ।।

हे भव्य प्राणियो ! आप सब का एकान्त हित हो इस दृष्टिसे जो बात मैं कहता हूँ उसे आप मोह-विलास को छोड़कर, मन को विशुद्ध कर ध्यान पूर्वक सुनें। राधावेध-साधन के समान दु.साध्य अतुलनीय मनुष्य जन्म को किसी प्रकार प्राप्त करके भी जो प्राणी हिंसा और क्रोध के वश में पड़कर दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य-भव को व्यर्थ खो देता है, पहले भी कई बार खो चुका है। अहो ! वह मनुष्यता का कुछ भी लाभ प्राप्त नही कर सका ।। १ ।।

अनादिसंसारमहाप्रपचे, क्वचित्पुनः स्पशर्वशेन मूढैः ।
अनन्तवारान् परमार्थशून्यैर्विनाशितं मानुषजन्म जीवैः ।। २ ।।

इस अनादि संसार के विशाल प्रपंच मे पड़कर, कई बार स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत होकर और परमार्थ दृष्टि से शून्य बनकर इस मूढ जीव ने अनन्त बार मनुष्यता को खोया है ।। २ ।।

एतन्निवेदितमिह प्रकटं ततो भोः ! तां स्पर्शकोपपरताऽपमतिं विहाय ।
शान्ताः कुरुध्वमधुना कुशलानुबन्धमह्नाय लंघयथ येन भवप्रपंचम् ।।३।।

उपरोक्त कथा में घटनानुसार स्पष्ट वर्णित कथानक को ध्यान में रखकर स्पर्शनेन्द्रिय, क्रोध और हिंसा की बुद्धि को छोड़कर अब आप शान्त बनें और पुण्यबन्ध करे जिससे इस संसार के प्रपच का शीघ्र ही लंघन कर सके ।। ३ ।।

इति उपमिति-भव-प्रपंच कथा का स्पर्शनेन्द्रिय,
क्रोध और हिंसा के फल का प्रतिपादक
तीसरा प्रस्ताव समाप्त हुआ ।

❀

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

४. चतुर्थ प्रस्ताव

चतुर्थ प्रस्ताव

पात्र एवं स्थान-सूची

स्थल	मुख्य-पात्र	परिचय	सामान्य-पात्र	परिचय
सिद्धार्थ नगर (बाह्य)	नरवाहन राजा	रिपुदारण का पिता	महामति	कलाचार्य
	विमलमालती रानी	रिपुदारण की माता	नरकेसरी	शेखरपुर का राजा, नरसुन्दरी का पिता
	रिपुदारण	कथानायक/ संसारीजीव, नरवाहन राजा का पुत्र	वसुन्धरा	नरकेसरी की रानी, नरसुन्दरी की माता
	नरसुन्दरी	रिपुदारण की पत्नी		

स्थल	मुख्य-पात्र	परिचय
(अन्तरंग)	अविवेकिता	द्वेषगजेन्द्र की पत्नी
	शैलराज	मान का रूपक, अविवेकिता का पुत्र
क्लिष्टमानस नगर (अन्तरंग)	दुष्टाशय	क्लिष्टमानस नगर का राजा
	जघन्यता	दुष्टाशय की रानी
	मृषावाद	दुष्टाशय और जघन्यता का पुत्र, रिपुदारण का मित्र
	माया	रागकेसरी और मूढता की पुत्री, मृषावाद की मुँहबोली बहिन

विचक्षणाचार्य चरित्र

भूतल नगर	मलसंचय	भूतल नगर का राजा (कर्मबन्ध)		
	तत्पंक्ति	मलसंचय राजा की रानी (कर्मसत्ता)		
	शुभोदय	मलसंचय और तत्पंक्ति का पुत्र (शुभ कर्म का उदय)		
	अशुभोदय	मलसंचय राजा का पुत्र (अशुभ कर्म का उदय)		
	निजचारुता	शुभोदय कुमार की रानी (स्वाभाविक भलाई)		
	स्वयोग्यता	अशुभोदय कुमार की रानी (अयोग्य होते हुए भी योग्यता प्रदर्शित करने वाली)		
	विचक्षण	शुभोदय और निजचारुता का पुत्र (चातुर्य)		
			निर्मलचित्त नगर (अन्तरंग)	
	जड़	अशुभोदय और स्वयोग्यता का पुत्र (मूर्ख)	मलक्षय	निर्मलचित्त नगर का राजा, विचक्षण का श्वसुर, विमर्श का पिता
	बुद्धि	विचक्षण की पत्नी		
	विमर्श	निर्मलचित्त नगर के राजा मलक्षय का पुत्र, विचक्षण का साला और प्रकर्ष का मामा	सुन्दरता	मलक्षय राजा की रानी, बुद्धि और विमर्श की माता

	प्रकर्ष	विचक्षण और बुद्धि का पुत्र
	रसना	वदन कोटर में रहने वाली और जड़ की पत्नी (रसनेन्द्रिय)
	लोलता	रसना की दासी (लोलुपता)

रसना मूलशुद्धि (अन्तरंग प्रदेश)

राजसचित्त नगर	मिथ्याभिमान	राजसचित्त नगर का रक्षक		
	रागकेसरी	राजसचित्त नगर का राजा, महामोह का पुत्र	महामूढता	रागकेसरी की माता, महामोह की पत्नी
	महामोह	रागकेसरी राजा का पिता		
	विषयाभिलाष	रागकेसरी का मन्त्री		
	रसना	विषयाभिलाष की पुत्री		
तामसचित्त नगर	द्वेषगजेन्द्र	रागकेसरी का भाई, महामोह का पुत्र, तामसचित्त नगर का राजा	शोक	तामसचित्त नगर का एक अधिकारी
			दैत्य, आक्रन्दन, विलपन	शोक के विशिष्ट पुरुष
	अविवेकिता	द्वेषगजेन्द्र की रानी, वैश्वानर की माता		
	मतिमोह	तामसचित्त नगर का रक्षक, शोक का मित्र		
चित्तवृत्ति (महा अटवी)	महामोह	चित्तवृत्ति महाटवी में विपर्यास सिंहासन पर बैठकर राज्य करने वाला वृद्ध पितामह	भौताचार्य	अन्तर्कथा
			सदाशिव	भौताचार्य
			शान्तिशिव	सदाशिव का शिष्य

प्रमत्तता (नदी) तद्विलसित (द्वीप)	महामूढता	महामोह की रानी, रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र की माता
चित्तविक्षेप (मण्डप)	मिथ्यादर्शन	महामोह का सेनापति
तृष्णा (वेदिका)	कुदृष्टि	मिथ्यादर्शन की पत्नी
विपर्यास (सिंहासन)		

वेल्लहल अन्तर्कथा

भुवनोदर नगर	
अनादि	भुवनोदर नगर का राजा
संस्थिति	अनादि राजा की रानी
वेल्लहल	अनादि राजा का जिह्वालोलुपी पुत्र
समयज्ञ	वैद्य का पुत्र
अतत्त्वाभिनिवेश	अपर नाम दृष्टिराग (रागकेसरी राजा के तीन मित्र)
भवपाल	अपर नाम स्नेहराग (रागकेसरी राजा के तीन मित्र)
अभिष्वग	अपर नाम विषयराग (रागकेसरी राजा के तीन मित्र)

मकरध्वज	महामोह के परिवार का एक छोटा राजा (कामदेव)	पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद	मकरध्वज का परिवार
रति	मकरध्वज की पत्नी		
हास	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक	तुच्छता	हास की पत्नी
अरति	मकरध्वज की विशिष्ट अनुचरी		

	भय	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक	हीनसत्त्वता	भय की पत्नी
	शोक	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक	भवस्था	शोक की पत्नी
	जुगुप्सा	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक		
	कषाय	रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र के सोलह बालक—अनन्तानुबन्धी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४, संज्वलन ४		
	भोगतृष्णा	विषयाभिलाष मन्त्री की पत्नी		
	मोहराजा के मित्र सात राजा			
	ज्ञान संवरण	परिवार के ५ सदस्यों सहित		
	दर्शनावरण	परिवार के ६ सदस्यो सहित		
	वेदनीय	परिवार के २ सदस्यो सहित		
	आयु	परिवार के ४ सदस्यों सहित		
	नाम	परिवार के ४२ सदस्यों सहित		
	गोत्र	परिवार के २ सदस्यो सहित		
	अन्तराय	परिवार के ५ सदस्यों सहित		
भवचक्र नगर	लोलाक्ष	ललितपुर का राजा		
	रिपुकम्पन	लोलाक्ष का छोटा भाई		
	रतिललिता	रिपुकम्पन की रानी		
	मतिकलिता	रिपुकम्पन की दूसरी रानी		
	धनगर्व	मिथ्याभिमान का अंगभूत मित्र		
	सेठ	धनगर्वी मिथ्याभिमानी वणिक्	दुष्ट शील	सेठ के पास आने वाला चोर एवं जार पुरुष

		मदनमंजरी	वृद्ध गणिका
रमण	गणिका-रसिक युवक	कुन्दकलिका	गणिका, मदनमंजरी गणिका की पुत्री
		चण्ड	राजपुत्र, कुन्दकलिका गणिका का प्रेमी

———

कपोतक अपरनाम धनेश्वर	कुबेर सार्थवाह का पुत्र, जुआरी
ललन	ललितपुर का पद-भ्रष्ट राजा, शिकारी एवं मास प्रिय

———

दुर्मुख	विकथा प्रिय, चणकपुर का सार्थवाह		
वासव	धनवान सेठ	धनदत्त	वासव सेठ का मित्र
		वर्धन	वासव सेठ का पुत्र
		लम्बनक	वर्धन का भृत्य

———

हर्ष	रागकेसरी का सेनानी
विषाद	शोक का मित्र

———

भवचक्रान्तर
नगरो मे—
मानवावास
विबुधालय
पशुसस्थान
पापीपजर

सात महेलिका/पिशाचिनियां			विरोधी सत्त्व
जरा	कालपरिणति प्रेरित	यौवन	जरा का शत्रु
रुजा	असाता प्रेरित	निरोगिता	रोग की शत्रु
मृति	आयुःक्षय प्रेरित	जीविका (जीवन)	मृत्यु की शत्रु
खलता	पापोदय प्रेरित	सौजन्य	खलता की शत्रु
कुरूपता	नाम कर्म प्रेरित	सुरूपता	कुरूपता की शत्रु
दरिद्रता	अन्तराय प्रेरित	ऐश्वर्य	दरिद्रता की शत्रु
दुर्भगता	नाम राजा प्रेरित	सुभगता	दुर्भगता की शत्रु

पृथ्वीतल के
पाच नगर
नैयायिक
वैशेषिक
साख्य
बौद्ध
लोकायत

जैन चारित्रधर्मराज (विवेक पर्वत पर छठा नगर)		जैनपुर में चित्तसमाधान मण्डप मे नि.स्पृहता वेदी पर जीववीर्य सिहासनस्थ राजा	चारित्रधर्मराज के पाच मित्र सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि सूक्ष्म सम्पराय यथाख्यात
सात्विक-मानसपुर	विरति	चारित्रधर्मराज की रानी	

(भवचक्र में एक नगर और विवेक पर्वत का आधार)

विवेक पर्वत (सात्विक मानसपुर का पर्वत)	यतिधर्म युवराज	चारित्रधर्मराज का पुत्र,

अप्रमत्तत्व (विवेक पर्वत का शिखर)	क्षमा	युवराज यतिधर्म के दस सहचारी
	मार्दव	
	आर्जव	
जैनपुर (विवेक पर्वत पर निर्मित नगर)	मुक्तता	
	तपयोग	
चित्तसमाधान (मण्डप)	संयम	
	सत्य	
नि.स्पृहता (वेदी)	शौच	
	अकिंचनत्व	
जीववीर्य (सिंहासन)	ब्रह्मवीर्य	

	सद्भावसारता	युवराज यतिधर्म की पत्नी	
	गृहिधर्म	चारित्रधर्मराज का छोटा पुत्र, युवराज यतिधर्म का छोटा भाई	
	सद्गुणरक्तता	गृहिधर्म की पत्नी	
	सम्यग्दर्शन	चारित्रधर्मराज का सेनापति	
	सुदृष्टि	सेनापति सम्यग्दर्शन की भार्या	
	सद्बोध	चारित्रधर्मराज का मन्त्री	अभिनिबोध, सदागम, अवधि, मनःपर्याय, केवल — मंत्री सद्बोध के पांच मित्र
	अवगति	मन्त्री सद्बोध की भार्या	
	सन्तोष	चारित्रधर्मराज का तन्त्रपाल, संयम का मित्र	
	निष्पिपासिता	तन्त्रपाल सन्तोष की पत्नी	
शुभ्रमानस नगर	शुद्धाभिसन्धि	शुभ्रमानस नगर का राजा	
	वरता, वर्यता	राजा शुद्धाभिसन्धि की रानियां	
	मृदुता	शुद्धाभिसन्धि और वरता की पुत्री, शैलराज की शत्रु	
	सत्यता	शुद्धाभिसन्धि और वर्यता की पुत्री, मृषावाद की शत्रु	
	तपन	चक्रवर्ती, रिपुदारण का गर्वापहारक	

१. रिपुदारण और शैलराज

[मनुजगति नगरी मे सदागम के समक्ष अगृहीतसकेता को उद्देश्य कर संसारी जीव अपने चरित्र का वर्णन कर रहा है। उस समय प्रज्ञाविशाला और भव्यपुरुष भी पास बैठे हैं। ससारी जीव ने क्रोध, हिंसा और स्पर्शनेन्द्रिय-जन्य कर्मफल को प्रकट करने वाले नन्दिवर्धन के भव का विस्तृत वर्णन तृतीय प्रस्ताव मे किया था। अब अपने चरित्र की कथा को आगे बढाते हुए कह रहा है :—]

सिद्धार्थ नगर : राजा नरवाहन और विमलमालती रानी

❀ अतिशय सुप्रसिद्ध, सौन्दर्य युक्त और पुण्यवान मनुष्यो से सेवित एक सिद्धार्थ नामक नगर था। उसमे नरवाहन राजा राज्य करता था। वह महाबली राजा अपने प्रताप-तेज से सूर्य को भी जीतने वाला, गभीरता मे महा समुद्र को जीतने वाला और स्थिरता मे मेरु पर्वत से भी बढकर था। वह राजा अपने बन्धुवर्ग के लिये चन्द्रमा के समान शान्त, शत्रुओ के लिये अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला के समान और अपने राज्य कोष की समृद्धि से कुबेर के समान था। इस नरवाहन राजा के रूप, शील, कुल और वैभव मे उसके अनुरूप ही गुणो से शोभायमान विमलमालती नामक पटरानी थी। जैसे चन्द्रिका चन्द्रमा से और लक्ष्मी कमल से दूर नही रहती वैसे ही यह महारानी भी राजा के हृदय से कभी भी दूर नही रहती थी। अर्थात् नरवाहन राजा और विमलमालती रानी दोनो अभिन्न हृदय थे। [१-४]

रिपुदारण का जन्म

हे अगृहीतसकेता ! मैं अपने पुण्योदय मित्र के साथ और अपनी स्त्री भवितव्यता के साथ (पूर्वभव से च्युत होकर) विमलमालती रानी की कुक्षि मे प्रविष्ट हुआ। गर्भ समय पूर्ण होने पर मैंने प्रकट रूप से और मेरे अतरग मित्र पुण्योदय ने अदृश्य रूप से जन्म लिया। मेरे शरीर के सभी अवयव बहुत ही सुन्दर थे। मुझे प्राप्त कर स्वयं को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है इस विचार से मेरी माता विमलमालती अत्यधिक हर्षित हुई। उस भव के मेरे पिता नरवाहन को मेरे जन्म के समाचार प्राप्त होने पर वे भी हृदय से तुष्ट हुए। सम्पूर्ण नगर को राजकुमार के जन्म से हर्ष हुआ तथा सारे राज्य और नगर में मेरा जन्मोत्सव मनाया गया। उस समय मेरे मन मे ऐसी कल्पना हुई कि नरवाहन राजा और विमलमालती रानी का पुत्र हूँ और वे दोनो मेरे माता-पिता है। मेरे जन्म के एक माह पश्चात् बड़े हर्षोल्लास के साथ मेरा नाम रिपुदारण रखा गया। [५-११]

शैलराज का जन्म

नन्दिवर्धन के भव मे अविवेकिता नामक जो मेरी धाय माता थी (यह तो

❀ पृष्ठ २९८

तुझे याद ही होगा)। यही धाय माता मुझे अपना दूध पिलाने और मेरा पालन-पोपण करने के लिये यहाँ भी आई। इधर सयोग ऐसा हुआ कि एक वार इस अविवेकिता धात्री का उसके प्रियपतिदुष्टगजेन्द्र से मिलन/सयोग हुआ और दैवयोग से जिस समय विमलमालती के गर्भ मे मैं आया उसी समय अविवेकिता ने भी गर्भ धारण किया। संयोग से जिस दिन मेरा जन्म हुआ उसी दिन अविवेकिता ने भी * एक महादुष्ट वालक को जन्म दिया। इस वालक की छाती बाहर निकली हुई और कुछ ऊंची उठी हुई थी तथा उसके आठ मुँह थे जिसे देखकर वह विशालाक्षी अविवेकिता बहुत प्रसन्न हुई। फिर वह अविवेकिता धात्री हर्ष पूर्वक अन्तर्मन मे विचार करने लगी कि, अहा! मेरे पुत्र के तो श्रेष्ठ पर्वत के भिन्न-भिन्न शिखरो के समान आठ मुँह हैं, यह तो बहुत ही आश्चर्यजनक बात है। वालक के जन्म के एक माह पश्चात् अविवेकिता ने भी अपने पुत्र का नाम उसके गुणो के अनुसार शैलराज रखा।

[१२-१८]

शैलराज के साथ मित्रता

यह अविवेकिता धात्रो और शैलराज दोनो ही मेरे अन्तःकरण में तो अनादि काल से रहते आ रहे थे, परन्तु अभी तक वे गुप्तरूप से रहते थे इसलिये मुझे उनका पता नही था। [१९]

मेरा सुख पूर्वक लालन-पालन हो रहा था और मैं वालोचित क्रीडाओ से माता-पिता को आनन्दित करता हुआ वढ रहा था। मेरे साथ ही साथ शैलराज भी पालित-पोषित होता हुआ वढने लगा। [२०]

मेरी ५-६ वर्ष की उम्र हुई तब क्रीडा करते हुए एकबार मैंने ध्यान पूर्वक और समझ पूर्वक शैलराज को देखा। अनादि काल से उस पर मेरा अत्यधिक स्नेह और मोह था जिससे उसे देखते ही मेरे मन मे उसके प्रति इतनी अधिक प्रीति उत्पन्न हुई कि जिसका वर्णन शब्दो मे नही किया जा सकता। मे उसकी ओर वहुत प्रेम से देख रहा हूँ यह जानकर वह दुष्टात्मा वालक अपने मन मे लक्ष्य पूर्वक सोचने लगा कि, यह राजकुमार मेरी और स्निग्ध नेत्रो से देख रहा है, इससे लगता है कि अवश्य ही यह मेरे वशीभूत हो गया है। इससे वह भी वहुत आश्चर्य चकित हुआ और उसे भी मेरे प्रति वहुत प्रेम है, ऐसा दिखावा करते हुए वह माया पूर्वक मुझ से गले लगकर मिला। अत्यन्त मोह के कारण उस समय मेरे मन पर भी ऐसी छाप पडी कि, अहा! इस शैलराज मे सामने वाले प्राणी के मन के भावो को समझने की जैसी शक्ति है वैसी इस दुनिया मे किसी मे नही है। मैंने अपने मन मे निश्चय किया कि जब ऐसा प्रेमी, विचक्षण और भला लडका मेरा मित्र वनना चाहता है और मेरे प्रति इतना आकर्षित है तव मुझे भी उसे एक क्षण के लिये भी नही छोडना चाहिये, अर्थात् उसके साथ मित्रता गाठ लेनी चाहिए। इस निर्णय के पश्चात् मैं प्रतिदिन उसके साथ उद्यानो मे तथा क्रीड़ा-स्थलो मे खेलने लगा। इस प्रकार प्रसन्नता

* पृष्ठ २९९

पूर्वक मेरा समय उसके साथ बीतने लगा। वस्तुत: दुर्भाग्यवश उस समय मोह से मेरा मन इतना अधिक भ्रमित हो गया था कि स्नेह के आवेश मे मुझे यह पता ही नही लगा कि यह शैलराज परमार्थ से तो मेरा यथार्थत: शत्रु ही है। [२१-२९]

शैलराज की मेरे आचरण पर छाप

इस प्रकार जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गये वैसे-वैसे शैलराज के साथ मेरी मित्रता बढती ही गई। फलस्वरूप मेरे मन मे विविध प्रकार के निम्नांकित वितर्क उठने लगे। मेरे मन मे यह विचार उठा कि, 'मेरी क्षत्रिय जाति सब से उत्तम है। मेरा कुल सब कुलो से अधिक श्रेष्ठ है। मेरे बल/पराक्रम का यश त्रिभुवन मे फैल रहा है। मेरा रूप इतना सुन्दर है कि मेरे रूप से ही यह पृथ्वी शोभायमान हो रही है। मेरा सौभाग्य जगत को आनन्दित करने वाला है। मेरा ऐश्वर्य विश्व मे सब से बढकर है। विगत भव मे पठित ज्ञान आज भी मेरे सन्मुख स्फुरित हो रहा है। मेरी लाभ प्राप्त करने को शक्ति तो इतनी अद्भुत है कि यदि मैं इन्द्र से कहूँ कि तेरी गद्दी मुझे सौप दे तो वह प्रसन्नता से अपना स्थान मुझे सौप दे, परन्तु अभी तो मुझे उसके स्थान की—इन्द्र पद की आवश्यकता ही नही है। इसके अतिरिक्त भी इस ससार मे तप, वीर्य, धैर्य, सत्त्व आदि जो अनेक प्रकार के गुण और शक्तियाँ है वे सब तीनो भुवनों को छोडकर मेरे मे ही निवास कर रही है। * इसमे आश्चर्य भी क्या है? जिसे ऐसे अच्छे मित्र की मित्रता प्राप्त हुई हो, उसके गुणसमूह के गौरव का सम्पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है? साधारणतौर पर ससार मे प्रत्येक प्राणी के एक मुँह होता है, जवकि मेरे मित्र के तो आठ मुँह हैं। मेरा मित्र तो अपने आठ मुखो से ही सव पर विजय प्राप्त कर सकता है। अहा! जिसे शैलराज जैसा मित्र मिल जाय उसे इस ससार मे ऐसी कौनसी वस्तु है जो नहीं मिल सकती ?' शैलराज के प्रति लिप्त-चित्त होकर ऐसे-ऐसे सकल्प-विकल्पो के कारण और मिथ्याभिमान वश मैं अपने आपको बहुत बडा और अन्य सब को क्षुद्र मानने लगा। ऐसे व्यवहार के परिणाम स्वरूप जब मैं चलता तो अपनी गर्दन को सर्वदा ऊँची उठाये रखता, मानो मै आकाश के तारे या नक्षत्र देख रहा हूँ। घमड से मैं मदोन्मत्त पागल हाथी के समान कभी सामने या नीची नजर नही करता। हवा भरी हुई निस्सार मशक या धौकनी की भाति व्यर्थ मे ही मैं सर्वदा मद से फूला हुआ अक्खड़ता मे ही रहने लगा। [३०-४०]

अहंकारजन्य व्यवहार

गर्वोन्मत्तता के कारण मैं अपने मन मे प्रतिदिन यही सोचा करता था कि इस ससार मे मेरे से बडा कोई प्राणी नही है जो मेरे द्वारा नमस्कार करने योग्य हो; क्योकि मुझ मे इतने अधिक गुण है कि यदि गुणो से ही कोई वन्दन करने योग्य हो सकता है तो ससार के समस्त प्राणी गुणो की अपेक्षा से मुझ से नीचे है। अर्थात् सव

---

* पृष्ठ ३००

लोग गुणों में मेरे से अधम हैं, हीन हैं। अन्य कोई मेरा गुरु कैसे हो सकता है ? मुझ में इतने अधिक गुण हैं कि उन गुणों के प्रताप से मैं स्वय ही गुरु हूँ। मुझे तो देवताओं में भी कोई ऐसा दिखाई नही देता जिसमें मुझ से भी अधिक गुण हो ! हे अगृहीत-संकेता ! उस समय मैं इतना अभिमानाभीभूत हो गया था कि मैं प्रस्तर-स्तम्भ के समान सर्वदा हेकड़ी में ही रहता और किसी को नमन भी नही करता था। हे भद्रे ! मेरा अहंकार इतना बढ़ गया कि समस्त सामन्त राजाओ के नमन करने से उनके मुकुट-किरणों से जिनके चरण-कमल सुशोभित हो रहे थे ऐसे मेरे पिताश्री के चरणो मे भी मैं कभी नमन हेतु झुका नही। समग्र मनुष्यो द्वारा वन्दनीया, मेरे प्रति अत्यधिक वात्सल्य रखने वाली प्रेममूर्ति माता को भी मैं कभी नमस्कार नही करता था। इतना ही नहीं, अपने कुलदेवता और लौकिक देवो की तरफ भी मैं कभी नमस्कार करने की इच्छा से नही देखता। अर्थात् उनकी ओर कभी दृष्टिपात भी नही करता था। [४१-४६]

अभिमान-पोषण

मेरे पिता नरवाहन ने मेरे व्यवहार से यह जान लिया कि शैलराज के साथ मेरी प्रगाढ मैत्री हुई है और वह प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उन्होने अपने मन में सोचा कि, 'मेरा पुत्र घमंड से अपने को ईश्वर जैसा मानता है, अत: लोग यदि उसकी आज्ञा का कदाचित् उल्लंघन करेंगे तो उसके मन में अत्यन्त विक्षोभ उत्पन्न होगा और स्वयं को अपमानित मानकर मुझे छोड़कर वह कही अन्यत्र चला जायेगा। यदि ऐसा हो गया तो बहुत बुरा होगा। अतः मेरे अधीनस्थ सभी राजाओ और सामन्तों को कुमार के इस व्यवहार के सवाद भेज दूं और उनको निर्देश दे दूं कि वे सभी कुमार की आज्ञा का अवश्यमेव पालन करें।' मेरे पिता का मेरे प्रति अगाध प्रेम था। इसलिए उन्होंने उक्त बात सोची और तदनुसार आदेश प्रसारित कर दिया। यद्यपि मैं छोटा बालक था तदपि मेरे पिता की आज्ञानुसार सभी राजा मेरे सन्मुख नत-मस्तक होकर ऐसा व्यवहार करने लगे कि जैसे वे सब मेरे सेवक हों ! बड़े-बड़े उच्च कुलोत्पन्न राजा और पराक्रमी बलवान पुरुष भी देव ! देव ! खमा !! खमा !! कह कर मेरी अनेक प्रकार से सेवा करने लगे। * मेरे मुख से शब्द निकलने के पहले ही समस्त राजलोक ससम्मान जय देव ! जय देव !! कहकर वे मेरी आज्ञा को शिर झुकाकर स्वीकार करने लगे। हे अगृहीतसकेता ! तुझे कितना सुनाऊँ ? सक्षेप मे, मेरे पिता-माता, बन्धु, सम्बन्धी और नौकर आदि सभी समस्त कार्यो मे मेरे साथ ऐसा व्यवहार करने लगे कि जैसे मैं परमात्मा से भी बड़ा होऊँ। वास्तव मे तो मेरे इस सन्मान का यथार्थ कारण मेरा मित्र पुण्योदय था परन्तु, अत्यन्त मोहजनित दोष के कारण मैं तो मन में उस समय यही विचार करता था कि अहा ! देवताओ को भी अप्राप्य मेरा जो प्रताप अभी सर्वत्र फैल रहा है उसका कारण मेरा परम प्रिय इष्ट मित्र शैलराज है और यह सब प्रताप मेरे उसी प्यारे मित्र का ही है। [४७-५७]

* पृष्ठ ३०१

शैलराज के साथ वार्तालाप

मेरे मित्र शैलराज के प्रति मेरा मन अत्यधिक सन्तुष्ट था। एक दिन मैं अपने मित्र को अत्यन्त विश्वस्त वचनो द्वारा स्नेहावेश से कहने लगा—मित्र! बन्धु! लोगों मे मेरा इतना यश फैला और आज कल मेरी आज्ञा का इतना अधिक पालन होता है, यह सब तेरा ही प्रताप है। [५८-५९]

मेरी प्रशंसा से शैलराज अपने मन में अत्यधिक प्रसन्न हुआ, किन्तु ऊपर से प्रसन्नता को प्रकट नही करते हुए वह मुझे कहने लगा—कुमार! इसका परमार्थ मैं अभी तुम्हे बताता हूँ। तुमने जो मेरी प्रशंसा की उसका कारण मैं नही तुम स्वय ही हो। सत्य यह है कि ससार मे जो स्वयं दुर्गुणी होता है वह गुणो से परिपूर्ण अन्य व्यक्ति को भी अपनी मान्यतानुसार दोषो से भरा हुआ ही मानता है, जब कि सज्जन पुरुष दोष से भरे हुए अन्य व्यक्ति को भी अपने विशुद्ध विचारो के अनुसार गुणो का मन्दिर ही मानते हैं। इसी मान्यता के अनुसार मेरे जैसा गुण-रहित सामान्य व्यक्ति भी तुम्हारी दृष्टि मे गुणो से परिपूर्ण दिखाई देता है, इसका कारण तुम्हारी सज्जनता ही है। इसलिये मेरी तो यह दृढ धारणा है कि यह सब यश और प्रताप तुम्हारा स्वय अपने परिश्रम से अर्जित किया हुआ है। मेरी स्वय की प्रसिद्धि भी तुम्हारे ही प्रताप से हुई है। वस्तुतः देखा जाय तो मेरा तो अस्तित्व ही क्या है? [६०-६५]

हे भद्रे! शैलराज के ऐसे प्रेमपूर्ण मनोहारी वचन सुनकर मैं उस पर अधिक अनुरक्त हुआ। उस समय मैंने अपने मन मे सोचा कि, अहा! यह शैलराज मेरे प्रति कितना स्नेहशील है. यह हृदय से कितना गम्भीर है. इसकी वाणी मे कितनी मिठास है और इसका भाव प्रकट करने का तरीका भी कितना आकर्षक है। मन मे इस प्रकार सोचते हुए मैने शैलराज से कहा—मित्र! तुम्हे मेरे समक्ष इस प्रकार के औपचारिक वचन कहने की क्या आवश्यकता है? तुझ मे कितनी अद्‌भुत शक्ति है यह तो अब मुझे ज्ञात हो गया है। [६६-६८]

मेरी ओर से ऐसे स्नेहासिक्त शब्द सुनकर शैलराज बहुत हर्षित हुआ। फिर अपनी कार्यसिद्धि के लिये उसने कहा भाई! जब स्वामी स्वयं ही दास पर कृपा करने को प्रस्तुत हो तब उसका भला क्यो नही होगा? सुन, मैं एक और बात बताता हूँ। जब मेरे जैसे साधारण मनुष्य पर आपकी इतनी कृपा हुई है, तब आज मैं एक बहुत ही गोपनीय रहस्य बताता हूँ, उसे आप स्वीकार करें। मेरे पास हृदय पर लगाने का वीर्यवर्धक (शक्तिवर्धक) एक लेप है उसे प्रतिक्षण (बार-बार) अपने हृदय पर लगाते रहे। [६९-७१]

मैंने पूछा—यह लेप तुझे कहाँ से प्राप्त हुआ? इस लेप का क्या नाम है? इसको हृदय पर लगाने से किस फल की प्राप्ति होती है? * यह मैं जानना चाहता हूँ।

---

* पृ० ३०२

उत्तर में शैलराज ने कहा—कुमार ! मैंने यह लेप किसी से प्राप्त नही किया है, स्वय अपने वीर्य (शक्ति) से ही बनाया है। इसका नाम स्तब्धचित्त है। इसका कितना शक्तिशाली प्रभाव है, यह तो आपको स्वय के अनुभव से ही ज्ञात हो सकेगा। अभी इस पर अधिक विवेचन करने से क्या लाभ है ?

मैंने कहा—जैसी मित्र की इच्छा।

फिर एक दिन शैलराज आत्मीय स्तब्धचित्त लेप मेरे पास लाया और मुझे अर्पण किया। मैंने भी वह लेप तत्क्षण ही अपने हृदय पर लगाया जिससे मेरी स्थिति सूली पर चढाये हुए चोर जैसी हो गयी। किसी के सामने झुकने की तो मैंने बात ही छोड दी। मेरे इस परिवर्तन को देख कर सम्पूर्ण सामन्त वर्ग और अधिकारी वर्ग मुझे और अधिक झुक कर प्रणाम करने लगा। बात यहाँ तक बढ गई कि मेरे पिताजी भी मुझ से हाथ जोड़कर बात करने लगे और मेरी माताजी तो मुझ से इतने नम्र वचनो से बोलने लगी मानों मैं उनका स्वामी होऊँ ! हृदय पर लेप लगाने का इतना अच्छा परिणाम देखकर मुझे इस लेप पर अत्यन्त विश्वास हुआ और मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी कि शैलराज मेरा सच्चा इष्ट मित्र और परम बन्धु है।

२. मृषावाद

एक दिन मैं क्लिष्टमानस नामक अन्तरंग नगर में गया। यह नगर समस्त दु:खो का स्थान था। इसमे धर्म को तिलाजली देने वाले लोग ही रहते थे। यह नगर सभी पापो का उद्गम स्थान और दुर्गति मे जाने का सीधा द्वार जैसा था। [१]

उस नगर मे दुष्टाशय नामक राजा राज्य करता था। वह समस्त प्रकार के दोषो का जन्म स्थान, महाभयंकर कर्मो का भण्डार और सद्‌विवेक राजा का जगत् प्रसिद्ध शत्रु था। [२]

उस दुष्टाशय राजा के जघन्यता नामक रानी थी जो अधम प्राणियों को अभीष्ट थी, समझदार और विद्वान् लोगो द्वारा निन्दित और तिरस्कृत थी तथा समस्त प्रकार के निन्दनीय और तुच्छ कार्यो की प्रवर्तिका थी। [३]

इस दुष्टाशय राजा और जघन्यता रानी का अतिशय अभीष्ट मृषावाद नामक एक पुत्र था। यह समग्र प्राणियो के आपसी विश्वास को भंग करवाने वाला था, ससार के समस्त दोषो से परिपूर्ण था और विचक्षण बुद्धिमानो की दृष्टि मे गर्हित एवं त्याग करने योग्य था। [४]

इस नगर में शाठ्य (दुष्टता), पैशुन्य (चुगली), दौर्जन्य (दुर्जनता), परद्रोह (अन्य का बुरा चाहना) आदि अनेक चोर रहते थे। ये सभी राजकुमार मृषावाद की कृपा प्राप्त करने के लिये उसकी सेवा करते थे। स्नेह, मित्रता, प्रतिज्ञा

और विश्वास जैसे भले लोगो का यह राजकुमार शत्रु था। यह प्रतिज्ञालोपक का पिता (पोपक) था, नियम (मर्यादा) का महान् शत्रु था और किसी के अपयश की घोषणा करने वाले की वाहवाही करने को सदा तत्पर रहता था। उसकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले कई प्राणी नरक मे जाते है, उन्हे नरक जाने का सीधा और सरल मार्ग बताने की उसमे अपूर्व क्षमता थी। [५-८]

मृषावाद के साथ मैत्री

जब मै क्लिष्टमानस नगर मे गया तब मैंने दुष्टाशय राजा को देखा और उनके पास ही बैठी महादेवी जघन्यता को भी देखा। उनके चरणो के पास बैठकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करने मे परायण पुरुष को जब मैंने देखा तब मुझे अपने मन मे विश्वास हो गया कि यही पितृभक्त मृषावाद होना चाहिये। ✲ मैंने दुष्टाशय राजा को नमस्कार किया और थोडी देर उनके पास बैठा। [मैने उपरोक्त नगर, नगरवासी, राजा, रानी और राजकुमार मृषावाद का जो वर्णन किया है, वह तो मुझे बहुत बाद मे ज्ञात हुआ।] उस समय तो महामोह के वशीभूत होने से मुझे इनके स्वरूप के बारे मे कुछ भी पता नही था। उस समय तो मैंने मृषावाद को अपने बडे भाई के समान मानकर उसे अपना परम इष्ट मित्र बना लिया और थोडे ही समय मे उसके साथ प्रेम बढा लिया। उसके साथ मेरा स्नेह यहाँ तक बढ गया कि जैसे वह मेरे शरीर का अंग ही हो, अर्थात् हम दोनो एक प्राण एक शरीर जैसे हो गये।

मृषावाद की मैत्री का प्रभाव : पुण्योदय की उपेक्षा

मृषावाद के साथ मेरा प्रगाढ सम्बन्ध हो जाने के बाद मैं उसे अपने साथ ही अपने यहाँ ले आया। उसके साथ आनन्द-विनोद करते-करते मेरे मन मे अनेक विध नये-नये तर्क-वितर्क उठने लगे। जैसे कि, मैं निश्चित रूप से अत्यधिक विचक्षण और निपुण हूँ। मुझे सार वस्तु प्राप्त हुई है। अन्य सब लोग मूढ बुद्धि वाले पशुतुल्य है। मुझे समस्त प्रकार की सम्पदाये प्राप्त करवाने वाला मित्र मृषावाद मुझे मिल गया है। यह प्रिय मित्र स्नेह-पूर्वक सर्वदा मेरे हृदय मे रहता है। अपने मित्र के प्रताप से मैं असद्भुत पदार्थ (अस्तित्वहीन पदार्थ) मे भी अस्तित्व की बुद्धि उत्पन्न कर देता हूँ और अस्तित्व वाले पदार्थो मे नास्तित्व वाली बुद्धि उत्पन्न कर देता हूँ। मै स्वय प्रत्यक्ष मे ही प्रबल दु.साहस का काम कर डालता हूँ किन्तु इस मित्र के प्रभाव से उसका उत्तरदायित्व अन्य किसी व्यक्ति पर डाल देता हूँ। मैं इच्छानुसार चोरी करू, परस्त्री-गमन करू या अन्य कोई अपराध करूं, किन्तु जब तक मेरा मित्र मृषावाद मेरे साथ है तब तक उस अपराध की गध भी मुझ पर आरोपित नही की जा सकती। जिन प्राणियों से मृषावाद मित्र का सम्बन्ध न हो उनका एक भी

✲ पृष्ठ ३०३

स्वार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार सिद्ध नही हो सकता । इसलिये मुझे तो ऐसे सब लोग मूर्ख ही लगते है, क्योकि स्वार्थ का नाश करना ही सब से बडी मूर्खता है । मै तो मृषावाद की कृपा से जहाँ विग्रह (युद्ध) हो रहा हो वहाँ सन्धि करवा सकता हूँ और जहाँ सन्धि (मित्रता) हो वहाँ विग्रह (लडाई) करवा सकता हूँ । इस ससार मे अति कठिनाई से प्राप्त होने वाली किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा मात्र से वे सब वस्तुए मेरे प्रिय मित्र की कृपा से मुझे प्राप्त हो जाती है । सचमुच मेरे वड़े पुण्य-योग से ही ऐसा मित्र मुझे प्राप्त हुआ है । यही मेरा सच्चा इष्ट मित्र है और इच्छानुसार फल प्राप्त करवाने वाला है, इसलिये वह सारे ससार द्वारा वन्दनीय है । हे अगृहीतसकेता ! उस समय मोहवश मैंने ऐसे ही अनेक सच्चे-झूठे तर्क-वितर्कों द्वारा मृषावाद को मैंने अपने मन मे स्थापित कर दिया । यद्यपि उसके सम्वन्ध से मेरे द्वारा अनेक अनर्थकारी कार्य हो रहे थे, अनेक न करने योग्य कार्य मैं कर बैठता था जिसका अति दारुण दण्ड भी मुझे मिलता । परन्तु, मेरे साथ गुप्त रूप से मेरा पुण्योदय मित्र रहता था उसी के कारण मुझ पर आने वाले सकट दूर हो जाते थे तथापि मेरे मन पर मोहराजा ने अपना इतना प्रबल साम्राज्य स्थापित कर दिया था कि मैं पुण्योदय के प्रभाव को समझ ही नही पाता था और सभी गुणो की माला मृषावाद मे ही हो ऐसा समझता था । [१-१२]

कलाचार्य का अविनय

शैलराज और मृषावाद के साथ आनन्द-विनोद करते हुए क्रमशः मेरे कलाग्रहण (शिक्षाभ्यास) का समय आ गया । अतः, मेरे पिताजी ने कलाचार्य को अपने पास वुलाकर उनका योग्य सन्मान किया और आनन्द पूर्वक मुझे शिक्षा देने के लिये उन्हे सौंपा । उस समय पिताजी ने मुझे कहा—'वत्स ! ये तेरे ज्ञानदाता गुरु हैं, इनके चरणो मे झुककर इन्हे नमस्कार करो और इनके शिष्य वनो ।' उत्तर मे मैंने अभिमान पूर्वक अपने पिताजी से कहा—'अरे पिताजी ! आप मेरे सामने ऐसी बात करते है ! लगता है आप वहुत भोले है । अरे ! ये कलाचार्य मेरे से अधिक क्या जानते है ? ये मुझे क्या पढायेंगे ?* ये अन्य साधारण लोगो के गुरु हो सकते है किन्तु मेरे जैसे व्यक्ति के ये गुरु कदापि नही हो सकते । मैं तो शास्त्र पढने की कामना से कभी भी ऐसे व्यक्ति के चरणो मे नही झुक सकता । आपके अनुरोध से मैं उनके पास सभी कलाओ का अभ्यास करू गा, पर उनका विनय तो मै कभी नही कर सकता । [१३-१८]

फिर मेरे पिताजी ने कलाचार्य को एकान्त मे ले जाकर कहा—आर्य ! मेरा पुत्र महा अभिमानाभिभूत हो गया है, अतः इसमें किसी प्रकार का अविनय या अन्य कोई दोष आपको दिखाई दे तो आप उद्विग्न न हों, पर आप इसे विद्या और कला का भली प्रकार अभ्यास करावे । [१९-२०]

---

* पृष्ठ १०४

कलाचार्य का स्वयं की कला पर विश्वास

मेरे पिताजी ने उपरोक्त शब्द कलाचार्य को बहुत ही विनय और नम्रता पूर्वक कहे जिसका उन पर बहुत असर पड़ा। उत्तर मे महामति कलाचार्य ने मात्र इतना ही कहा—'जैसी महाराज की आज्ञा।' कलाचार्य का नाम महामति था। उन्होने अपने मन मे विचार किया कि, 'जब तक शास्त्रो में उल्लिखित सुन्दर भावो का ज्ञान इस रिपुदारण को नही होगा और जब तक बचपन के कारण इसका मन बच्चो के खेल-कूद मे अधिक है तभी तक झूठे अभिमान के वश होकर यह इस प्रकार के गर्वपूर्ण वचन बोलेगा, किन्तु एक बार शास्त्र मे रहे हुए सुन्दर भावो को जब यह समझ जायेगा तब मद को छोडकर स्वत: ही विनम्र बन जायेगा।' अपने मन मे ऐसा विचार कर महामति कलाचार्य मुझे अपने साथ ले गये और मुझे आदर पूर्वक सब प्रकार की योग्य कलाये सिखाने लगे। [२१-२५]

शिक्षाकाल में अभिमान

इन कलाचार्य के पास दूसरे भी कई राजकुमार कला का अभ्यास कर रहे थे, पर वे सभी पूर्णतया प्रशान्त और कलाचार्य का समुचित विनय करने मे आतुर थे; परन्तु मेरे प्रति तो कलाचार्य जैसे-जैसे अधिक आदर दिखाने लगे वैसे-वैसे मेरा मित्र शैलराज अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होने लगा और उसके वशवर्ती होने के कारण मदोद्धत होकर मैं स्वय उपाध्याय (कलाचार्य) की जाति, ज्ञान और रूप के विषय में बार-बार उनका अपमान करने लगा। [मेरा अभिमान निरन्तर बढता ही गया। सब छात्रों को मैं सब विषयो मे स्पष्टत: अपने से तुच्छ मानने लगा और अपने व्यवहार तथा वचनो से मै यह बात उन पर प्रकट भी करने लगा। २६-२८]

कलाचार्य का निर्णय : मेरी उपेक्षा

मेरे ऐसे व्यवहार को देखकर महामति कलाचार्य ने अपने मन मे चिन्तन किया कि यदि सन्निपात के रोगी को स्वादिष्ट खीर खिलाई जाय तो वह उसके लिये अपथ्य-कारक होती है, जिसे चोट लगी हो उसे यदि खटाई खिलाई जाय तो उसके शरीर में लाभ होने के स्थान पर सूजन आ जाती है उसी प्रकार इस बेचारे रिपुदारण कुमार पर शास्त्राभ्यास का परिश्रम करना उल्टा उसको अधिक हानि पहुँचाने वाला सिद्ध होगा। यद्यपि नरवाहन राजा का अपने पुत्र पर अत्यधिक प्रेम होने से वे चाहते है कि उनका पुत्र किसी भी प्रकार विद्याभ्यास करे तो ठीक रहे और इसीलिये वे मुझे बार-बार इस विषय मे उत्साहित करते रहते हैं, किन्तु यह कुमार तो पूर्णरूप से अपात्र (अयोग्य) ही लगता है। मेरे अपने विचार के अनुसार तो इसे छोड़ देना ही उचित होगा; क्योकि यह किसी भी प्रकार के ज्ञान-दान के योग्य नही है। [२६-३२] एक साधारण नियम है कि—

यो हि दद्यादपात्राय सज्ज्ञानममृतोपमम्।
स हास्य: स्यात् सतां मध्ये भवेच्चानर्थभाजनम्॥ ३३॥

जो अमृतोपम ज्ञान के योग्य न हो, ऐसे कुपात्र को ज्ञान देने वाला अपने कर्त्तव्य का पालन नही करता, वह सज्जनों की दृष्टि मे हँसी का पात्र बनता है और अनर्थों का भाजन (स्थान) बनता है।

कुत्ते की पूंछ सैकड़ों बार सीधी की जाय तो भी क्या वह कभी सीधी हो सकती है ? अर्थात् वह तो टेढी की टेढी ही रहेगी। ऐसा ही यह रिपुदारण है, इस पर शताधिक प्रयत्न करने पर भी यह सुधर सकेगा ऐसा नही लगता। [३३-३४]

उपरोक्त विचार कर महामति कलाचार्य अब तक जो मेरे अभ्यास के प्रति विशेष ध्यान दे रहे थे * वे भी अपने प्रयत्न मे शिथिल पड़ गये और मुझे सुधारने के लिये जो समय-समय पर मुझे पास बिठाकर, व्यवहारोपयोगी उपदेश देते थे, वह सब भी उन्होने बन्द कर दिया। अब वे मुझे मार्ग की धूल जैसा तुच्छ मानकर मेरे प्रति उपेक्षा करने लगे, परन्तु मेरे पिताजी को उन पर बड़ी कृपा थी इसलिये वे मेरी उपेक्षा का थोड़ा भी भाव या विकार अपने चेहरे पर प्रकट नही होने देते थे और न मुझे कभी कटु शब्द ही कहते थे।

मेरे साथ अभ्यास करने वाले अन्य राजकुमारों ने जब यह देखा कि मैं शैलराज और मृषावाद की सगति मे फंसा हुआ हूँ और मैं इनकी संगति छोड़ नहीं सकता तब वे सभी मेरे से विरक्त हो गये, मेरे से दूर-दूर रहने लगे। यद्यपि वे मुझे तिरस्कृत करने का अनेक बार विचार कर चुके थे, परन्तु पुण्योदय मित्र मेरे साथ होने से वे एक बार भी अपने इस विचार को कार्यरूप मे परिणत नही कर सके। तथापि जैसे-जैसे शैलराज और मृषावाद की सगति का प्रभाव मुझ पर बढता गया वैसे-वैसे मेरे मित्र पुण्योदय का मेरे प्रति स्नेह दिनो दिन अधिकाधिक कम होता गया।

कलाचार्य का अपमान : असत्य-भाषण

इस प्रकार शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों मेरे प्रति मेरे पुण्योदय का स्नेह क्षीण होने लगा त्यों-त्यों मेरे मन में कलाचार्य का स्पष्ट रूप से अपमान करने की इच्छा प्रबल होती गई। एक बार हमारे कलाचार्य किसी काम से बाहर गये थे तब मैं उनके बैठने के मूल्यवान वेत्रासन पर चढ बैठा। मेरे सह-शिक्षार्थी राजपुत्रो ने जब मुझे कलाचार्य के आसन पर बैठे देखा तब मेरे इस कर्म से वे बहुत ही लज्जित एवं दुःखी हुए। उन्होने बहुत ही धीमी आवाज में मुझ से कहा—'अरे कुमार ! यह काम तुमने ठीक नहीं किया। कलागुरु का आसन वन्दनीय और पूजनीय होता है, उस पर तेरे जैसे व्यक्ति का आक्रमण करना अर्थात् बैठना किसी भी प्रकार उचित नही कहा जा सकता। गुरु के आसन पर बैठने से विद्यार्थी के कुल को कलक लगता है, अत्यधिक अपयश फैलता है, पाप बढ़ता है और आयु कम होती है।'

इन सब राजकुमारों को जो मुझ से बात करते हुए भी कापते थे, मैंने डपट कर जवाब दिया—अरे मूर्खो ! मुझे शिक्षा देने वाले तुम कौन होते हो ? तुम

* पृष्ठ ३०५

लोग जाकर अपनी सात पीढियों को पढ़ाते रहो।' मेरा ऐसा अयुक्त और तर्कहीन उत्तर सुनकर वे चुप होकर बैठ गये। मैं बहुत देर तक शिक्षा गुरु के आसन पर बैठा रहा, इच्छानुसार चेष्टायें करता रहा और पश्चात् उस आसन से नीचे उतरा। थोडी देर बाद हमारे कलाचार्य लौट आये। सह विद्यार्थियो ने मेरे द्वारा आचरित सारी घटना कलाचार्य को कह दी, जिसे सुनकर कलाचार्य अपने मन मे मुझ पर बहुत क्रोधित हुए और मुझे बुलाकर इस सम्बन्ध मे मुझ से स्पष्टीकरण मागा। उत्तर में असूया पूर्वक अपने अपराध को छिपाते हुए मैंने कहा—'क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ? वाह! आप में कितना अधिक शास्त्रज्ञान है! अहो आप तो बहुत अच्छी तरह से मनुष्य की परीक्षा कर लेते है! अहो आप बहुत विचार पूर्वक बोल रहे है! धन्य है आपकी विमर्श-पटुता और दीर्घदृष्टि को! जिससे आप ऐसे झूठ बोलने वाले और मुझ पर ईर्ष्या रखने वाले छात्रो की बात को मानकर मुझे दोषी बता रहे हैं! आपको चालाक छात्रो ने ठगा है।' मेरा ऐसा उत्तर सुनकर कलागुरु मन मे अत्यन्त रुष्ट हुए। उन्होने मन मे सोचा कि, 'यद्यपि इसके सहपाठी राजकुमार झूठ बोलने वाले नही है और न ऐसा लगता है कि इस प्रसग पर वे झूठ बोले। रिपुदारण इन पर दोष लगाकर अपना अपराध छिपा रहा है। अब इसे कभी रगे हाथों पकड़ कर अच्छी तरह शिक्षित (दण्डित) करना चाहिये जिससे कि इसकी बुद्धि ठिकाने आ जाय।'

उसके पश्चात् एक दिन कलागुरु महामति गुरुकुल मे ही कही छिपकर बैठ गये और मेरे आचरण पर बराबर ध्यान रखने लगे। यह जानकर कि आचार्य यहाँ नही है, मैं मस्ती के साथ शीघ्रता से उनके वेत्रासन पर जाकर बैठ गया। मैं थोड़ी देर तक उनके आसन पर बैठा ही था कि आचार्य अपने गुप्त स्थान से निकल कर मेरे समक्ष आ खड़े हुए। जैसे ही मैंने उन्हे देखा तुरन्त उनका आसन छोड़कर खड़ा हो गया। फिर हमारे बीच निम्न प्रश्नोत्तर हुए—

महामति—कुमार! अब तेरा क्या उत्तर है? क्या स्पष्टीकरण है?

रिपुदारण—किस विषय मे?

महामति—पहले तुमसे जिस विषय मे स्पष्टीकरण मागा गया था, उसी विषय मे।

रिपुदारण—पहले आपने मुझ से किस विषय मे स्पष्टीकरण मागा था? मैं तो नही जानता। ❀

महामति—तू मेरे इस वेत्रासन (बेत की कुर्सी) पर बैठा था या नहीं?

रिपुदारण—अरे, अरे! आप यह क्या कह रहे हैं? ऐसा क्या कभी हो सकता है? 'हा पाप शान्त हो' ऐसा कहते हुए मैंने अपने दोनों हाथ से दोनों कानों को ढक लिया और स्पष्ट रूप से कहा—'अरे, मात्सर्य का नाटक तो देखो! स्वयं अकार्य करके मुझ पर आरोप लगा रहे है।'

❀ पृष्ठ २०६

महामति आचार्य ने विचार किया कि, अहो ! देखो, मैंने स्वयं इसे मेरे आसन पर बैठते देखा है फिर भी यह अपना दोष स्वीकार नहीं करता और उल्टा मुझे ही झूठा बना रहा है। अहो! इसकी धृष्टता ! अब इसे सुधारने का कोई उपाय नहीं है। अब तो इसकी असत्य बोलने की सीमा ही टूट गई। फिर मेरे सह विद्यार्थी राजकुमारों ने कलाचार्य को एकान्त में बुलाकर कहा—आचार्यप्रवर ! यह पापी, अभिमानी, असत्यवादी, रिपुदारण इतना अधिक पतित हो चुका है कि इसका मुँह भी नहीं देखना चाहिए। तब फिर ऐसे पतित विद्यार्थी को आप हमारे साथ क्यों रखते हैं ? आचार्य ने विचार किया कि ये तपस्वी राजपुत्र जो कुछ कह रहे हैं वह यथातथ्य है। रिपुदारण इतना अधिक पतित हो चुका है कि अब वह सज्जन पुरुषों की संगति के योग्य भी नहीं रहा। कहा भी है:—

संसार में भिन्न-भिन्न दुर्गुणों के वशीभूत प्राणियों को सुधारने के लिये बुद्धिमानों ने विभिन्न मार्ग अपनाये हैं। जैसे, लोभी को धन की प्राप्ति करवाने से, क्रोधी के समक्ष मधुर वचन बोलने से, कपटी के प्रति स्पष्ट विश्वास प्रकट करने से, अभिमानी के समक्ष नम्रता का व्यवहार करने से, चोर के विरुद्ध रक्षा के उपाय करने से और परस्त्री-गामी को सुबुद्धि प्रदान करने से वह सुधर सकता है। किन्तु झूठ बोलने वाले को सुधारने का तो एक भी उपाय संसार में कहीं दिखाई नहीं देता। [१-२]

अतः ऐसे व्यक्ति को तो कालदष्ट ही कहते हैं अर्थात् उसको यम के द्वार पर खड़ा हुआ ही समझना चाहिये। क्योंकि, इस दुनिया में शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे जितने भी व्यवहार हैं वे सब सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् उन सब का आधार सत्य ही है। जिसमें सत्य नहीं वह इस संसार से पृथक् और विलक्षण ही है। इसीलिये व्यवहार-कुशल बुद्धिमान मनुष्यों को सत्य सर्वदा अत्यधिक प्रिय लगता है। जो अधम प्राणी सत्यरहित होता है उसे वे सदा प्रयत्न पूर्वक अपने से दूर ही रखते हैं। रिपुदारण में सत्य का लवलेश भी नहीं है. अतः सज्जन पुरुषों के विशुद्ध व्यवहार के बीच इसका रहना किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है। [३-५]

अथवा परमार्थ दृष्टि से देखें तो इस बेचारे रिपुदारण का इसमें कोई दोष नहीं है। यह तो अपने अधम मित्र शैलराज की प्रेरणा से ऐसे दुर्विनय के कार्य करता है और अपने दूसरे मित्र मृषावाद से प्रोत्साहित होकर झूठ बोलता है। इसलिये अब मुझे इसे कुछ ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिससे यह इन दोनों अधम मित्रों की संगति को छोड़ दे।

गुरुकुल से निष्कासन

उपरोक्त विचार के अनुसार एक दिन महामति कलाचार्य ने मुझे शिक्षा देने के लिये बुलाया और अपनी गोद में बिठाकर मुझे प्रेम पूर्वक समझाने लगे—'कुमार ! मेरे गुरुकुल में तुम्हारे जैसे अधम शैलराज और मृषावाद जैसों के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः तू किसी भी प्रकार या तो इन दोनों पापी मित्रों

(शैलराज, मृषावाद) की सगति छोड दे अन्यथा मेरे गुरुकुल मे दुबारा आने की आवश्यकता नही है।' आचार्य के ऐसे वचन सुनते ही मैं भभक उठा और धृष्टता-पूर्वक बोला—'तू अपने बाप को तेरे गुरुकुल मे रखना। मुझे तेरी क्या परवाह पडी है? मैं तो तेरे गुरुकुल के बिना और तेरे बिना भी चला लूगा।' इस प्रकार कटु एव कठोर वचनो द्वारा कलाचार्य का अपमान कर, उनके समक्ष अपनी गर्दन ऊची उठाकर, आकाश की तरफ ऊची दृष्टि रखकर, छाती को फुलाकर, जोर से पाव पटककर चलते हुए और अपने हृदय पर शैलराज द्वारा प्रदत्त स्तब्धचित्त लेप लगाते हुए मै आचार्य के कक्ष से बाहर निकल गया।*

जब मैं बाहर निकल गया तब आचार्य ने मेरे सहपाठी अन्य राजपुत्रो को बुलाकर कहा—अरे देखो! यह दुरात्मा रिपुदारण अभी तो यहाँ से चला गया है। इसके विषय मे मुझे केवल एक ही बात खटकती है। वह यह कि हमारे प्रतापी नरवाहन राजा को अपने पुत्र पर अत्यधिक प्रेम है। ससार का ऐसा नियम है कि जो स्नेह मे अन्धे हो जाते है वे अपने स्नेही मे रहे हुए दोषो को नही देख सकते, उसमें जो गुण वास्तव मे नही होते उन गुणो का भी उसमे झूठा आरोप करते हैं, अपने स्नेही के प्रति अप्रिय कार्य करने वालो पर रुष्ट होते है, अन्य व्यक्ति 'अप्रियकारी कार्य क्यो कर रहा है' इसके बारे मे कभी सोचते भी नही, अमुक पद पर स्थापित व्यक्ति को अमुक प्रकार का सन्मान मिलना चाहिये या नही इस बात पर कभी ध्यान नही देते और स्वाभिमत के विरुद्ध यदि कोई किंचित् भी विपरीत कार्य करे तो उसके समक्ष वह अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ खडी कर देते है। इसलिये तुम सब छात्रो को इस सम्बन्ध मे चुप ही रहना चाहिये। यदि नर-वाहन राजा रिपुदारण को यहाँ से निकालने के प्रसग मे कोई प्रश्न उठायेंगे तो मैं उसका उचित उत्तर दे दूगा। आचार्य महामति के इस आदेश को सभी कुमारो ने स्वीकार किया।

प्रवीणता का दम्भ

महामति आचार्य से मेरी झडप के बाद मैं गुरुकुल से निकल कर सीधा पिताजी के पास आया। पिताजी ने स्वाभाविक प्रश्न किया—'पुत्र! तेरा अभ्यास कैसा चल रहा है?' उस समय शैलराज द्वारा प्रदत्त लेप मेरे हृदय पर लगाया हुआ था और मुझे मृषावाद का बड़ा सहारा था, अतः मैंने पिताजी से कहा—पिताजी! सुनिये—

वैसे तो मैं प्रारम्भ से ही समस्त कला-विज्ञान का ज्ञाता था। आपने जो प्रयत्न किया वह इसीलिये किया था कि मैं पहिले जो कुछ जानता था उससे अधिक कलाओ की जानकारी प्राप्त करूं। परन्तु, वास्तविकता यह है कि मैंने लेखनकला, चित्रकला, धनुर्वेद, सामुद्रिक शास्त्र, गायन कला, हस्तिशिक्षा, पत्तो पर चित्र बनाने

---

* पृष्ठ ३०७

की कला, वैद्यक, व्याकरण तर्क, गणित, धातुवाद, इन्द्रजाल, निमित्त शास्त्र तथा लोक मे प्रसिद्ध अन्य जो भी श्रेष्ठ कलाये है, पिताजी ! उन सभी कलाओ मे निपुणता प्राप्त करली है । तीनो लोको में भी इन सब कलाओ मे मुझ से अधिक प्रवीण व्यक्ति मुझे तो अन्य कोई भी दिखाई नही देता । [१-४]

पिताजी को व्यावहारिक शिक्षा

मुझ पर मेरे पिताजी का बहुत स्नेह था अतः उपरोक्त वृत्तान्त सुनकर वे बहुत ही हर्षित हुए और मेरे सिर को सूंघकर प्यार से हाथ फेरते हुए उन्होने कहा—'पुत्र ! बहुत अच्छा किया, तुमने पढने लिखने का अच्छा प्रयत्न किया, पर मुझे अभी भी तुझे एक बात कहनी है ।' मैंने कहा—'कहिये, पिताजी !' मेरे ऐसा कहने पर पिताजी बोले—

विद्यायां ध्यानयोगे च, स्वभ्यस्तेऽपि हितैषिणा ।
सन्तोषो नैव कर्त्तव्य , स्थैर्यं हितकर तयो. ।।

जो व्यक्ति अपना हित करने की इच्छा रखता है उसे विद्या प्राप्त करने मे और ध्यान-योग की सिद्धि करने मे चाहे कितना भी प्रयत्न किया हो तब भी कभी उस पर सतोष धारण कर बैठ नही जाना चाहिये, क्योकि इनमे अभ्यास बढाकर जितनी अधिक स्थिरता प्राप्त कर ली जाय उतने ही वे अधिक हितकारी होते है । अत जितनी कलाओ मे तुमने अभी तक निपुणता प्राप्त की है उन्हें स्थिर करने मे और जो शेष रह गई है उन्हे अपनी कुमारावस्था मे प्राप्त कर तुझे मेरे सर्व मनोरथ पूर्ण करने चाहिये । [५-८]

पिताजी के इस उपदेश को मैंने स्वीकार किया जिससे वे मुझ पर बहुत प्रसन्न हुए और अपने भण्डारी (कोषाध्यक्ष) को आज्ञा दी कि महामति कलाचार्य के घर को धन, धान्य, सुवर्ण आदि से इतना अधिक भर दो कि सर्व प्रकार के उपभोगों की सामग्री वहाँ उपलब्ध हो जाय, जिससे कुमार व्यग्रता रहित होकर कलाग्रहण में वृद्धि कर सके ।

राज्य के भण्डारी ने राजाज्ञा के अनुसार कार्य किया । उस समय कलाचार्य मन मे सोचने लगे कि 'यदि राजा को कुमार के वास्तविक चरित्र का पता लगेगा तो उसके मन मे व्यर्थ का सताप होगा, अतः मुझे कुछ भी नही कहना चाहिये ।' ऐसा सोचकर उन्होने मेरे सम्बन्ध मे * पिताजी को कुछ भी नही कहा । अन्त मे पिताजी ने मुझ से कहा—'पुत्र ! अभी तक आचार्य के पास से तू ने जो-जो विद्याये सीखी हैं उन्हे स्थिर कर और आचार्य के घर पर रहकर ही अन्य अपूर्व कलाये भी सीख । अभ्यास मे अधिक ध्यान रहे अत. तू मुझ से मिलने भी यहाँ मत आया कर ।' मैंने पिताजी की बात स्वीकार की और मुझे प्रसन्नता हुई ।

---

* पृष्ठ ३०८

मृषावाद की प्रशंसा

तदनन्तर अपने पिताजी के पास से बाहर निकलकर मैंने मेरे मित्र मृषावाद से कहा—'मित्र ! तू तो बहुत शक्तिशाली है। तुझ मे किसके उपदेश से से इतनी चतुराई आ गई है कि तेरे प्रताप से मैं अपने पिताजी को इतना अधिक आनन्दित कर सका। कलाचार्य के साथ मेरी लड़ाई हुई है, इस बातको छुपा लिया और उनके कोप से बाल-बाल बच गया। आज तो मुझे अति दुर्लभ सफलता प्राप्त हो गई।'

माया का कुटुम्ब

उत्तर मे मृषावाद ने कहा—'मित्र कुमार ! सुन, राजसचित्त नगर मे रागकेसरी नामक राजा राज्य करता है। उसकी पटरानी का नाम मूढताहै। उसके एक माया नामक पुत्री है, जिसे मैं अपनी बडी बहिन के रूप मे मानता हूँ और माया भी मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय मानती है। मेरी इस बहिन के उपदेश से ही मुझ मे इतनी कुशलता आई है। यद्यपि मैंने उसे अपनी बडी बहिन बनाया है, पर उसका मुझ पर माता के समान स्नेह है, इसलिये जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ-वहाँ वह भी वात्सल्य के कारण अन्तर्लीन (प्रच्छन्न) होकर मेरे साथ रहती है, एक क्षण के लिये भी मुझे अकेला नही छोडती।' माया की बात सुनकर मैंने अपने मित्र से कहा—'अरे भाई ! कभी अपनी बहिन के मुझे भी दर्शन कराना।' मृषावाद ने मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया।

दुर्गुणों में वृद्धि

इसके पश्चात् तो मैं वेश्यालयों में, जुआखानो में तथा बुरी इच्छाओ की पूर्ति करने वाले अन्य-अन्य दुष्ट चेष्टा वाले अधम स्थानो मे, सज्जन पुरुष जिन स्थानो को दूर से ही नमस्कार करे ऐसे तुच्छ स्थानो मे अपनी इच्छानुसार भटकने लगा। फिर भी मैं अपने मित्र मृषावाद के बल पर लोगो मे ऐसी बात फैलाता रहा कि मैं अपना सारा समय अभ्यास करने मे ही व्यतीत कर रहा हूँ और मैं मात्र ऐसे मार्ग का ही अनुसरण कर रहा हूँ जिससे मुझ मे गुणो की वृद्धि हो रही है। पिताजी ने अभ्यास मे विघ्न न हो एतदर्थ मुझे मिलने आने के लिये भी मना कर दिया था, इसलिये अब उन्हे मुँह दिखाने की भी मुझे आवश्यकता नही थी। इसी प्रकार मैंने बारह वर्ष व्यतीत किये। इसी बीच मैंने मुग्ध (भोले) लोगो के बीच यह बात फैला दी कि मैं (रिपुदारण) समस्त कलाओ मे पारगत बन गया हूँ। मेरी ऐसी प्रसिद्धि मैंने देश मे ही नही देशान्तरो मे भी चारो तरफ फैला दी। अनुक्रम से मैंने युवावस्था के मध्य काल मे प्रवेश किया।

❀

३. नरसुन्दरी से लग्न

शेखरपुर नगर मे नरकेसरी राजा का राज्य था, जिसके वसुन्धरा नामक रानी थी, जिससे उनको नरसुन्दरी नामक पुत्री हुई थी। वह विश्व को आश्चर्य-चकित करने वाली, अद्भुत रूपवती और विद्याकलाओ मे प्रवीण थी। अनुक्रम से नरसुन्दरी युवावस्था को प्राप्त हुई।

नरसुन्दरी की प्रतिज्ञा : माता-पिता की चिन्ता

इस नरसुन्दरी ने गर्वाधिक्य के कारण निश्चय किया था कि कला-कौशल मे जो उससे अधिक विद्वान् हो, ऐसा कोई प्रवीण पुरुष मिलेगा तभी उसके साथ वह विवाह करेगी, अन्य किसी के साथ विवाह नही करेगी। अपना यह निश्चय उसने अपने पिता नरकेसरी को और अपनी माता वसुन्धरा को भी बता दिया था।

उसके माता-पिता मन मे बहुत सोच-विचार करते थे कि विद्या-कला में इस पुत्री के समान गुण वाला भी कोई पुरुष मिलना बहुत कठिन है, तब फिर उससे अधिक प्रवीण पुरुष कैसे प्राप्त होगा? इन्ही विचारो से वे अपने मन मे व्याकुल रहते थे।

मैं विद्याकला मे बहुत प्रवीण हो गया हूँ, ऐसी मेरे द्वारा फैलाई गई मेरी प्रसिद्धि को उन्होने भी सुना। नरकेसरी राजा ने सोचा कि सम्भव है रिपुदारण कुमार * मेरी पुत्री से अधिक विद्वान् हो! फिर नरवाहन राजा के कुटुम्ब के साथ विवाह सम्बन्ध करना सर्व प्रकार से योग्य भी है, क्योकि वे राजा श्रेष्ठ कुल के है और स्वय मन के भी बडे उदार है। नागराज के सिर पर जैसे एक ही मणि होती है वैसे ही मेरे भी यह एक ही पुत्री है, इसलिये मेरा कर्त्तव्य है कि मै इसका सम्बन्ध योग्य स्थान पर करूं। फिर पुत्री पर अधिक प्रेम होने के कारण नरकेसरी राजा ने सोचा कि वह स्वय अपनी इकलौती पुत्री को लेकर सिद्धार्थपुर नरवाहन राजा के यहाँ जाय और वही पर कुमार रिपुदारण की परीक्षा कर, उसके साथ नरसुन्दरी का विवाह कर जीवन मे निश्चिन्त हो जाय।

सिद्धार्थपुर में नरसुन्दरी

नरकेसरी राजा अपनी पुत्री को लेकर अपनी सेना सहित सिद्धार्थपुर आये। अपने पहुँचने के समाचार नरवाहन राजा को पहिले ही भिजवा दिये थे। समाचार सुनकर राजा नरवाहन बहुत प्रसन्न हुआ। पूरा नगर ध्वजा-पताकाओ से सजाया गया और योग्य सत्कार एव हर्ष पूर्वक बडी ही धूमधाम से नरकेसरी राजा का नगर प्रवेश करवाया गया तथा उनको ठहराने के लिये बहुत ही सुन्दर आवास-स्थान की व्यवस्था की गई।

---

* पृष्ठ ३०६

राजकुमार रिपुदारण की कला-कौशल मे नरसुन्दरी के साथ परीक्षा थोड़े ही समय बाद जनता के समक्ष होगी, यह समाचार लोगो मे बहुत तेजी से फैल गया। प्रशस्त शुभ दिन देखकर इस कार्य के लिये स्वयवर मण्डप की रचना की गई। वहाँ लोगो के वैठने के लिये मंच बनाया गया। उस दिन उस स्वयवर मण्डप मे सभी राज्याधिकारी, सम्बन्धी और प्रजाजन एकत्रित हुए। मेरे पिताजी भी अपने परिवार सहित वहाँ आकर वैठे। फिर वहाँ पर कलाचार्य को और मुझे भी बुलाया गया। मै अपने तीनो अन्तरग मित्रो पुण्योदय, शैलराज और मृषावाद के साथ (तीनो गुप्त थे) पिताजी के पास आकर वैठा। महामति कलाचार्य भी अपने विद्यार्थी राजकुमारो के साथ आकर मण्डप मे यथास्थान विराजमान हुए।

मेरे दुर्भाग्य से मेरा मित्र पुण्योदय मेरे दुष्ट व्यवहार से क्षुभित और खिन्न हो शरीर से सूख गया था, दुवला हो गया था, उसकी स्फूर्ति कम हो गई थी और वह मन्द प्रताप वाला हो गया था।

स्वयवर मण्डप मे मैं एक ओर अपने पिताजी के पास वैठा था तो उनके दूसरी तरफ कलाचार्य वैठे हुए थे। मेरे पिताजी ने कलाचार्य को नरकेसरी राजा के सिद्धार्थपुर आने का कारण बताया जिसे सुनकर मुझे तो अपने मन मे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। आचार्य अपने मन में किंचित् हँसे। वे समझ गये कि अब यहाँ रिपुदारण की पोल अवश्य खुल जायगी, पर, मुँह से उन्होने कुछ भी नही कहा और वे चुप वैठे रहे।

स्वयंवर मण्डप में नरसुन्दरी

हमारे आने के वाद नरकेसरी राजा भी मण्डप मे आ पहुँचे। योग्य सन्मान पूर्वक महा मूल्यवान सिंहासन पर उनको बिठाया गया। उनका परिवार भी यथास्थान बैठ गया। तदनन्तर अपने लावण्यामृत-प्रवाह से मनुष्यो के हृदय-सरोवर को पूरित करती, काले लम्बे स्निग्ध और घघराले केश-पाश से सुन्दर मयूर के पख कलाप को भी तिरस्कृत करती, मुख-चन्द्र से चारो दिशाओ को उद्भासित करती, लीलापूर्वक प्रक्षेपित विलासपूर्ण कटाक्षो से कामीजनो के चित्त को कम्पित एवं भ्रमित करती, अपने पयोधरो की शोभाभार से हाथी के कुम्भस्थलो का विभ्रम उत्पन्न करती, विस्तृत जाघो से कामदेव रूपी हाथी को मदमस्त करती, दोनो पावो से चलते हुए रक्त कमल के युग्म की लीला को विडम्बित करती, कामदेव के आलापो को मधुर वाणी से बोलती हुई कोयल की कुहु-कुहु कूक को भी पराजित करती और सुन्दर वेश, आभूषण, माला, ताबूल, अगराग आदि विन्यासों से सुसज्जित होने से बडे-बडे ऋषि मुनियो के मन मे भी कौतूहल पैदा करती हुई नरसुन्दरी अपनी प्रिय सखियो से घिरी हुई अपनी माता वसुन्धरा के साथ मण्डप मे प्रविष्ट हुई।

नरसुन्दरी पर व्यामोह

अद्भुत रूप, कान्ति, लावण्य और तेज से परिपूर्ण नरसुन्दरी को देखते ही मै अपने मन में हृष्ट हुआ। मेरे मित्र अष्टमुख शैलराज ने भी उस समय मुझे

बहुत उत्साहित किया * और मैंने भी अपने हृदय पर स्तब्धचित्त लेप खूब अच्छी तरह लगाया। फिर शैलराज के प्रभाव/छाया मे ही मैंने अपने मन मे विचार किया कि मेरे अतिरिक्त इस नवयुवती से विवाह करने योग्य और कौन हो सकता है? कामदेव को छोड़कर रति न तो अन्य किसी के पास जाती है, न अन्य किसी को स्वीकार करती है।

रिपुदारण की परीक्षा में असफलता

नरसुन्दरी ने आते ही मेरे पिताजी और अपने पिताजी को विनय पूर्वक नमस्कार किया। फिर नरकेसरी राजा ने अपनी पुत्री से कहा—'पुत्री! यहाँ बैठ। लज्जा छोड़कर तेरे जो-जो मनोरथ हो उन्हे पूर्ण कर। कलाकौशल के विषय में तुझे जो भी प्रश्न कुमार रिपुदारण से करने हों उन्हे कर।' नरसुन्दरी ने हर्षित होकर कहा—'जैसी पिताजी की आज्ञा। मैं गुरुजनों (बडे लोगो) के समक्ष कला सम्बन्धी वर्णन करूं यह मुझे योग्य प्रतीत नहीं होता, अतः कुमार रिपुदारण ही सर्व कलाओं के सम्बन्ध में वर्णन करें। प्रत्येक कला के सम्बन्ध में जब ये वर्णन करेंगे तब उस कला के विषय मे जो विशिष्ट प्रश्न-स्थल होंगे वहाँ मैं उनसे प्रश्न करती रहूँगी और कुमारश्री उसका उत्तर देते हुए मेरे प्रश्न का समाधान करते रहेंगे।' यह प्रस्ताव सुनकर दोनो महाराजा, दोनों राजकुल, दोनों तरफ के राज्याधिकारी और प्रजाजन बहुत ही आनन्दित हुए। उस समय मेरे पिताजी ने मुझ से कहा—'कुमार! राजकुमारी ने बहुत ही समुचित प्रस्ताव रखा है, अतः अब तुम इस प्रश्न को स्वीकार करो और समग्र कलाओं का विवेचन कर कुमारी का मनोरथ पूर्ण करो। मुझे भी आनन्दित करो जिससे अपनी कुल-कीर्ति अधिक निर्मल होकर उसकी विजय पताका फहरे। तेरे ज्ञान प्रकर्ष की यह कसौटी (परीक्षा भूमि) है।'

उस समय मेरी तो ऐसी दशा हो गई कि मैं तो कलाओं के नाम तक भी भूल गया, मैं दिङ्मूढ हो गया. मेरा सारा शरीर कांपने लगा, शरीर मे पसीना झरने लगा, रोंगटे खड़े हो गये और आँखे गीली हो गईं। देवी सरस्वती तो मेरे से दूर ही चली गई।

कलाचार्य द्वारा राजा के भ्रम का निराकरण

मेरी ऐसी अवस्था देखकर मेरे पिताजी बहुत ही खिन्न हुए और महामति कलाचार्य के सन्मुख देखने लगे। कलाचार्य ने मेरे पिताजी से पूछा—'कहिये महाराज! क्या आज्ञा है?' तब मेरे पिताजी ने आचार्य से पूछा—'आचार्य! कुमार के शरीर को यह क्या दशा हो गई, वह बोलता क्यों नहीं?' आचार्य मेरे पिताजी के अति निकट आये और उन दोनों मे फिर बहुत धीरे-धीरे दूसरा कोई न सुन सके इस प्रकार वार्तालाप हुआ—

आचार्य—महाराज! कुमार के मन मे बहुत घबराहट हुई है, उसी का यह विकार है. अन्य कुछ नहीं।

* पृष्ठ ३१०

नरवाहन—इस परीक्षा की घड़ी मे कुमार के मन मे इतनी अधिक घबराहट होने का क्या कारण हो सकता है ?

आचार्य—इसका कारण यही है कि जिस विषय मे कुमार की परीक्षा होने जा रही है उसमे वह नितान्त अज्ञानी है। जब विद्वान् परस्पर स्पर्धा करते हुए सभाकक्ष मे अपनी-अपनी वाणी के शस्त्र छोड़ते हुए वाद-विवाद करते है तब जिस व्यक्ति को ज्ञान का सहारा नही होता उसे अवश्य ही घबराहट होती है।

नरवाहन—पर, आर्य ! इस कुमार मे तो अज्ञान का प्रश्न ही क्या है ? कुमार ने तो समस्त कलाओ मे प्रकर्षता एव प्रवीणता प्राप्त कर रखी है।

उस समय कलाचार्य को मेरे दुर्व्यवहार की स्मृतियाँ आने से वे तनिक क्रोध और कुछ सहज तीखे स्वर मे बोल उठे—महाराज ! कुमार ने तो शैलराज (अभिमान) और मृषावाद (असत्य भाषण) द्वारा रचित कलाओ मे निपुणता प्राप्त कर शिरोमणि पद प्राप्त किया है। अन्य किसी भी कला मे इसने प्रवीणता प्राप्त नही की है।

नरवाहन -अभी आपने कही वे कौन-कौन सी कलाये हैं ?

आचार्य—पहली तो किसी का भी अपमान करना और दूसरी असत्य भाषण करना। इसके शैलराज और मृषावाद नामक दो अन्तरग मित्र है, उन्ही ने कुमार को ये कलाये सिखाई है और इन दोनों कलाओ मे कुमार बहुत कुशल हो गया है। अन्य किसी भी प्रकार की कलाओं का एक अक्षर भी वह नही जानता। *

नरवाहन—ऐसा क्यों और कैसे हुआ ?

आचार्य—मेरे मन मे ऐसा भय था कि सच्ची बात बताने से आपको अतिशय सताप एव दु ख होगा, इसीलिये अभी तक मैने आपको सच्ची बात नही बताई। कुमार का व्यवहार सामान्य लोगो के नियमो से भी इतना विपरीत है कि अभी भी आपके समक्ष उसका वर्णन करने मे मेरी वाणी असमर्थ है।

नरवाहन - जो कुछ घटना घटी हो उसे कह सुनाने मे आपका कुछ भी अपराध या दोष नही है। अतः हे आर्य ! नि·शक होकर आप सच्ची बात कह सुनाये।

इस पर आचार्य ने भिन्न-भिन्न प्रसगो पर मैने उनकी आज्ञा का उल्लघन किया, उनका अपमान किया, उनके वेत्रासन पर कितनी बार बैठा और अन्त मे कैसे दुर्वचनो से उनका तिरस्कार कर वहाँ से चला आया आदि मेरे दुर्व्यवहार का सक्षिप्त वर्णन पिताजी को सुना दिया।

आचार्य के मुख से सारी घटना सुनकर मेरे पिताजी ने कहा—आर्य ! जब आप स्वय मेरे कुमार के इस चरित्र को जानते थे और इसके अज्ञान को भी जानते थे तब ऐसे कुल-कलक को इस राज्यसभा मे परीक्षा दिलवाने के लिये किस लिये ले आये ? अरे ! इस पापी ने तो हमे आज तक खूब धोखे मे रखा।

---

* पृष्ठ ३११

आचार्य – राजन् ! मैं उसे यहाँ लेकर नही आया हूँ। मेरे गुरुकुल मे से तो यह १२ वर्ष पहिले ही मेरा अपमान कर और मुझ से लड़कर निकल गया था। उसके बाद यह वहाँ आया ही नही। आज प्रात.काल आपकी ओर से अकस्मात् आमन्त्रण आने से मै आपके पास उपस्थित हुआ हूँ। कुमार मेरे साथ नही आया है। वह तो किसी अन्य स्थान से यहाँ आया है।

नरवाहन– आर्य ! इस कुपात्र-शिरोमणि रिपुदारण में किसी प्रकार के गुणो की नाममात्र की भी योग्यता न होने से आपने उसका त्याग किया, किन्तु गर्भाधान से लेकर आज तक उसको जो कल्याण-परम्परा प्राप्त होती रही इसका क्या कारण है ? और आज ही परीक्षा की घड़ी मे लोगो मे इसका अपमान होने का प्रसग आया इसका क्या कारण है ?

आचार्य महाराज ! इस कुमार का एक अन्तरग मित्र पुण्योदय है। आज से पहिले कुमार को जो कुछ भी कल्याण-परम्परा प्राप्त हुई उसका कारण यह पुण्योदय ही था। पुण्योदय के प्रभाव से यह उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ, इस पर माता-पिता का अवर्णनीय प्रेम रहा, अनेक प्रकार के सुख, सौभाग्य, धन, ऐश्वर्य और सुन्दर रूप इसे प्राप्त हुआ। ये सभी अनुकूलताए इसे पुण्योदय के प्रभाव से ही प्राप्त हुई।

नरवाहन तब इसका पुण्योदय मित्र अब कहाँ चला गया ?

आचार्य – वह कही भी नही गया, अभी भी कुमार मे ही गुप्त रूप से रहता है। परन्तु जब से उसने रिपुदारण के दुश्चरित्र और निन्द्य व्यवहार को देखना प्रारम्भ किया है तब से उसके मन मे अतिशय ग्लानि उत्पन्न हुई है। इसी से चिन्ता के कारण बेचारा तपस्वी क्षीण शरीर हो गया है। कुमार पर जो-जो आपत्तियाँ आ रही हैं उनका सर्वथा निवारण करने में अब वह इस दुर्बल शरीर से पहिले जैसा समर्थ नही रहा।

नरवाहन – अरे ! तब तो इस विषय मे अब कुछ भी उपाय शेष नही रहा। इस दुष्ट पुत्र ने तो मेरी सब लोगो के समक्ष बड़ी भारी हँसी करवा दी।

लोकापवाद

जैसे चन्द्र को राहु ने ग्रस लिया हो वैसे ही मेरे पिताजी का मुँह काला पड गया। अत पिताजी और आचार्य के बीच जो कर्णगत वार्तालाप हो रहा था उसका अनुमान लोगो ने लगा लिया। परिणाम स्वरूप मेरे पिताजी, सम्बन्धी, मत्रीगण और परिजनो का मुख लज्जा से लटक गया। नगर के हँसोड़े लोग परस्पर हँस रहे थे और मुझ पर व्यग कसे जा रहे थे। बेचारी नरसुन्दरी तो इस घटना से से विस्मित और खिन्न हुई और नरकेसरी राजा तथा उसके साथ आये हुए सम्बन्धी और मत्री बहुत ही आश्चर्यान्वित हुए, भौचक्के हो गये। नगर के लोग पिताजी सुन न सके इस प्रकार धीरे-धीरे बाते करने लगे—'अरे ! ❀ यह रिपुदारण अभिमान मे

❀ पृष्ठ ३१२

फूल रहा है, पर निरा मूर्ख ही लगता है ! जैसे पवन से भरी हुई धौकनी फूलकर कुप्पा हो जाती है, पर पवन के निकलते ही पिचक जाती है इसी प्रकार इसने अभिमान से फूलकर अपनी झूठी ख्याति फैला दी, पर अन्दर मे कुछ दम नही था। अथवा यदि कोई व्यक्ति निरक्षर होने पर भी वाचाल हो अपनी वाणी के आडम्बर से लोगो के मध्य मे गौरव एव प्रसिद्धि प्राप्त कर भी ले तो भी परीक्षण के अवसर पर वह मूर्ख विडम्बना मात्र ही प्राप्त करता है और इस रिपुदारण कुमार की भाँति ही लोगो मे हँसी का पात्र बनता है।

भयातिरेक से व्याधि

मेरे पिताजी और कलाचार्य को परस्पर कान में बात करते देख कर मैंने सोचा कि पिताजी और आचार्य किसी भी प्रकार मुझ पर दबाव डालकर मुझे कलाओं का वर्णन करने के लिये वाध्य करेंगे। इस विचार से मै अत्यधिक भयभीत हुआ। फलतः मेरे कण्ठ का नाडीजाल अवरुद्ध हो जाने से मेरा सास रुक गया। मेरी दशा मृतप्रायः जैसी हो गई। यह देखकर मेरी माता विमलमालती दौडकर मेरे पास आई और 'अरे पुत्र ! हा वत्स ! हा तनय ! तुझे यह क्या हो गया ?' कहती हुई मेरे शरीर से लगकर रोने लगी। मेरे पारिवारिकजन आकुल-व्याकुल हो गये, रानी वसुन्धरा किंकर्त्तव्यविमूढ हो गई और नरकेसरी राजा विस्मित हुए।

सभा का विसर्जन

उस वक्त योग्य अवसर देखकर मेरे पिताजी ने कहा—'हे दर्शकगणों ! आज तो आप लोग वापीस पधार जावे क्योकि आज कुमार का शरीर स्वस्थ नही है, अतः कुमार की परीक्षा अन्य किसी दिन की जायगी।' पिताजी के वचन सुनकर लोग स्वयवर मण्डप से वाहर निकल गये और नगर के तिराहो, चौराहो और चौक आदि स्थानो पर झुण्ड मे इकट्ठे होकर, अहो रिपुदारण का पाण्डित्य ! अहो इसका वैदुष्य ! देखो सभा मे एक अक्षर भी नही बोल सका। इस प्रकार बोलते हुए हँसने लगे। मेरे पिताजी ने लज्जा से सिर नीचे झुका कर कलाचार्य और नरकेसरी राजा को भी विदा किया। नरकेसरी राजा ने अपने स्थान पर जाकर सोचा कि जो देखना था वह ता देख लिया, कुमार मे कुछ दम नही लगता, अतः कल प्रात· यहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिये।

जब लोग चले गये और नरकेसरी राजा आदि विदा हो गये तब वह स्थान जनरहित होने पर मेरे जी मे जी आया और मेरा भय तनिक दूर हुआ जिससे मै कुछ स्वस्थ हुआ।

पिताजी की चिन्ता

मेरे पिताजी को तो इतना प्रबल आघात लगा कि मानो उन्होने अपना पूरा राज्य ही खो दिया हो, उन पर किसी ने व्रज का दारुण प्रहार किया हो, इस प्रकार पूरा दिन उन्होने चिन्ताग्रस्त होकर व्यथित दशा मे व्यतीत किया। वे अपने मन मे इतने क्षुब्ध हुए कि नियमानुसार सध्या समय होने वाली राज्यसभा मे भी उपस्थित

नही हुए। रात्रि में किसी भी पुरुष को अपने पास न आने की आज्ञा देकर वे अपने शयनकक्ष में चले गये, किन्तु मन में चिन्ता होने के कारण उनको नीद नही आई और लगभग पूरी रात उनकी व्याकुलता मे ही व्यतीत हुई।

पुण्योदय का सहयोग

इस समय मेरे अन्तरंग मित्र पुण्योदय को कुछ लज्जा आई और उसने विचार किया कि—

यस्य जीवत एवैवं, पुंसः स्वामी विडम्ब्यते।
किं तस्य जन्मनाप्यत्र, जननीक्लेशकारिण ॥

अहा ! प्राणी के जीवित होने पर भी यदि उसके स्वामी को कठिनाई मे फँसना पड़े, अपमानित होना पड़े तो ऐसे प्राणी के जन्म की सार्थकता ही क्या ? ऐसे प्राणी का जन्म तो मात्र अपनी माता के लिये क्लेशकारी ही है। [१]

कुमार का अभी जो दु:सह अपमान हुआ उससे मुझे लज्जित होना चाहिये। नरकेसरी राजा अपनी पुत्री को साथ लेकर यहाँ आये और अब अपनी पुत्री का लग्न कुमार के साथ किये बिना वापस चले जाये, तो फिर मेरा कुमार के साथ रहना और मेरी मित्रता सब व्यर्थ है। अतः अब मेरा निष्क्रिय बैठे रहना उचित नहीं है। यद्यपि यह कमललोचना सुन्दरी किसी भी प्रकार से कुमार के योग्य नही है तथापि अब अपमान से बचाने के लिये किसी भी प्रकार यह कन्या उसे दिलवानी चाहिये। [२-४]

नरवाहन को स्वप्न

हे अगृहीतसंकेता ! इधर पुण्योदय उपरोक्त बात सोच ही रहा था उधर रात * थोड़ी बाकी रहने पर पिताजी की आँख लगी। इस समय पुण्योदय ने पिताजी को आश्वस्त करने की दृष्टि से अत्यन्त मनोहर रूप धारण कर स्वप्न मे दर्शन दिया। मेरे पिताजी ने एक सुन्दर आकार युक्त धवल वर्ण वाले पुरुष को स्वप्न में देखा। इस धवल पुरुष ने कहा—'राजन् ! जाग रहे हो या सो गये ?' पिताजी ने कहा—'जाग रहा हूँ।' तब धवल पुरुष ने कहा—'यदि ऐसा है तो आप विषाद छोड दे। तुम्हारे पुत्र रिपुदारण को नरसुन्दरी दिलवाऊंगा, तुम घबराओ मत।' पिताजी ने उत्तर में कहा—'आपकी बड़ी कृपा।'

समय-निवेदक का संकेत

इस समय प्रभातकालीन वाद्य (नौबत) सुनकर मेरे पिताजी जागृत हुए। उसी समय समयनिवेदक ने कहा—'स्वय का प्रताप क्षीण होने पर संसार के समक्ष जो कल अस्त हो गया था, वह सूर्य अभी उदय को प्राप्त कर लोगो से कह रहा है—

यदा येनेह यल्लभ्य, शुभ वा यदि वाऽशुभम्।
तदाऽवाप्नोति तत्सर्वं, तत्र तोषेतरौ वृथा ॥

---

* पृष्ठ ३१३

इस संसार में प्राणी को जिस समय जो शुभ (अच्छी) या अशुभ (बुरी) वस्तु प्राप्त होनी होती है वह उसे अवश्य ही प्राप्त होती है। अतः इस विषय में सतोष या असंतोष धारण करना व्यर्थ है। [१-२]

अन्योक्ति का अर्थ

समयसूचक के उपरोक्त वचन सुनकर मेरे पिताजी ने सोचा कि 'सचमुच मुझे अब इस विषय मे विषाद नही करना चाहिये, क्योंकि मुझे ऐसा लग रहा है कि कुमार अवश्य ही नरसुन्दरी को प्राप्त करेगा। प्रथम तो देवता ने स्वप्न मे मुझे कहा है कि वह कुमार को नरसुन्दरी अवश्य दिलवायेगा। दूसरे मेरे भाग्य से काल-निवेदक ने भी सुभाषित पद्य के बहाने से अभी जो उपदेश दिया है वह भी इसी बात की पुष्टि करता है। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को जिस सुन्दर या असुन्दर वस्तु की प्राप्ति का योग होता है वह भाग्य के योग से अकस्मात ही प्राप्त हो जाती है। अतः विद्वान् पुरुष को यह अभिमान नही करना चाहिये कि मेरे कारण या प्रयत्न से प्राप्त हुई है। फलतः उसे वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का हर्ष या शोक नही करना चाहिये।' इस विचार से मेरे पिताजी कुछ स्वस्थ एव आश्वस्त हुए।

विचार-परिवर्तन

पुण्योदय के अचिन्त्य प्रभाव के विषय मे तो कुछ सोचा ही नही जा सकता। उसने मेरा पक्ष लेकर राजा नरकेसरी के मन मे विचार उत्पन्न किया कि—'अहा! यह राजा नरवाहन वस्तुत विशाल हृदय वाला उदार राजा है। मैं यहाँ किस कार्य के लिये आया हूँ यह बात इनके पूरे राज्य मे तो फैली हुई है ही साथ ही अन्य राजाओ को भी यह बात ज्ञात हो गई है। यदि अब मैं नरसुन्दरी का लग्न किये बिना वापस जाऊंगा तो मेरे लिये और राजा नरवाहन के लिये भी अर्थात् दोनो पक्षो के लिये यह घटना अत्यधिक लज्जाकारक होगी। अन्य राज्यो मे और हमारी प्रजा मे इस विषय मे अनेक सच्ची-झूठी बातें फैलेंगी। अतः अच्छा यही होगा कि अब किसी प्रकार पुत्री को समझाकर इसका लग्न रिपुदारण कुमार के साथ कर दू'। यह सोचकर नरकेसरी राजा ने अपनी रानी वसुन्धरा के समक्ष अपनी पुत्री नरसुन्दरी के विषय मे अपना अभिप्राय रखा। पुण्योदय के प्रभाव से नरसुन्दरी का मन भी मेरे प्रति आकर्षित हुआ और उसने मन मे सोचा कि उसके पिता ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे युक्तियुक्त हैं, अतः उसने पिताजी को कहा कि—'पिताजी! जो आपकी अभिलाषा है वह मुझे स्वीकार्य है।' राजा यह सुनकर प्रसन्न हुआ कि पुत्री ने अपना निर्णय बदल कर मेरी बात स्वीकार कर ली है।

नरसुन्दरी के साथ लग्न

उसके पश्चात् राजा नरकेसरी तत्क्षण ही मेरे पिताजी से मिलकर बोले—'अब बारम्बार परीक्षा करने की और लोगों को इकट्ठा करने की क्या

आवश्यकता है ? नरसुन्दरी स्वयं ही कुमार रिपुदारण का वरण करने हेतु ही यहाँ आई है। अत: अब इस विषय मे अधिक प्रचार या आडम्बर करने से क्या लाभ है ? ऐसा करने से तो दुर्जन व्यक्तियों को कुछ कहने का या अँगुली उठाने का अवकाश मिलेगा। अतएव कुमार अब बिना किसी परीक्षा के ही नि.शंक होकर मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करे।' मेरे पिताजी ने राजा नरकेसरी के प्रस्ताव को स्वीकार किया। अनन्तर शीघ्र ही शुभ दिन दिखवाया गया ※ और उस शुभ दिन महोत्सव पूर्वक मैंने नरसुन्दरी के साथ विवाह किया।

नरसुन्दरी को वहाँ छोड़कर उसके पिता वापस अपने देश लौट गये। मैं निर्विघ्न एवं निराकुल होकर आनन्द का उपभोग कर सकूं, इस हेतु मेरे पिताजी ने एक बड़ा महल मुझे सौंप दिया।

※

४. नरसुन्दरी का प्रेम व तिरस्कार

दाम्पत्य-प्रेम

नरसुन्दरी के साथ विवाह होने के पश्चात् उसके साथ सुखभोग करते हुए मेरे कई दिन बीत गये। पुण्योदय ने हम दोनो के प्रेम को सुदृढ़ कर दिया, हम दोनों मे परस्पर पूर्ण विश्वास उत्पन्न किया, हम दोनों में प्रगाढ साहचर्य स्थापित कर दिया जिससे उसने मेरे लिये अनेक आनन्दजन्य रति-केलि के प्रसंग उत्पन्न किये, हमारे प्रणय मे वृद्धि की और हमारे चित्त को एकीभूत कर हमे अगाध प्रणय-सागर में डुबकिये लगवाईं। जैसे—

सूर्य अपनी प्रभा को एक क्षण भी दूर नहीं करता, जैसे चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका को एक पल के लिये भी दूर नही करता, जैसे शंकर पार्वती को एक क्षण के लिये भी दूर नही करते वैसे ही मैं भी अपनी वल्लभा नरसुन्दरी को एक क्षण के लिये भी दूर नहीं रखता था। वह मुग्धा नवोढा सुन्दरी भी भ्रमरी की भाँति मेरे मुख-कमल के रस का आस्वाद लेने मे इतनी अधिक आतुर रहती थी कि रसपान करते-करते कितना समय व्यतीत हो गया यह भी वह तपस्विनि नही जान पाती थी। [१–२]

प्रेमभंग की योजना

जो साधारणतया देवगणों को भी दुर्लभ होता है ऐसा नरसुन्दरी और मेरे भव्य मनोहारी आकर्षक प्रेमभाव और चुम्बकीय प्रणय-बन्धन को देखकर

※ पृष्ठ ३१४

मेरे सुहृदाभास किन्तु परमार्थ से सच्चे दुश्मन मृषावाद और शैलराज मन में अत्यधिक रुष्ट हुए, अर्थात् इस सम्बन्ध ने उनके हृदय रूपी अग्नि मे घी का काम किया। वे सोचने लगे कि 'यह नयी वाधा कहाँ से आ गयी ? इसने तो मित्र रिपुदारण को अपने वश मे कर लिया। अब इस पापी रिपुदारण और नरसुन्दरी का वियोग कैसे हो, इसकी सुगठित योजना बनानी चाहिये।' इस विचार के परिणाम स्वरूप शैलराज ने मृषावाद से कहा—'भाई मृषावाद ! अभी तू नरसुन्दरी के साथ लग जा और उसके मन मे रिपुदारण के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर। वाद मे जव योग्य अवसर आयगा तब इस योजना को पूरी करने के लिये मैं भी कूद पड़ू गा। जव मेरे जेसा व्यक्ति प्रेम-भंग करवाने मे हाथ डाले तो फिर प्रेमबन्धन कैसे टिक सकता है ?' [अर्थात् अभिमान और प्रेम एक साथ कैसे रह सकते है ? क्योकि अभिमान ईर्ष्या उत्पन्न करता है और ईर्ष्या से प्रेम टूटता है।] तत्काल ही मृषावाद ने उत्तर दिया—'भाई शैलराज ! मेरे जैसे को बार-बार उत्साह दिलाने या प्रेरित करने की क्या आवश्यकता है ? पलक झपकते ही मैं नरसुन्दरी के चित्त मे बहुत वडा भेद डाल दू गा। तू समझ ले कि यह काम तो हो ही गया।' इस प्रकार मेरा नरसुन्दरी से वियोग करवाने के लिये मेरे इन दोनो पापी मित्रो ने विचार-विमर्श पूर्वक दृढ निश्चय किया और इस योजना को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय इस सम्बन्ध में भी उन्होने परस्पर निर्णय कर लिया। [३-६]

प्रेमासक्ति

जव से नरसुन्दरी मुझे अपनी सद्भार्या के रूप मे प्राप्त हुई तब से मैं अपने मन मे ऐसा मानने लगा कि त्रैलोक्य मे प्राप्त करने योग्य सर्वोत्तम वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है। इस विचार के परिणाम स्वरूप मैं अपनी भौंहे चढाकर, आँखे टेढी कर, अपने हृदय पर शैलराज का लेप लगाते-लगाते अपने मन मे सोचने लगा कि 'मुझे सचमुच मे सर्वांगसुन्दरी सौभाग्यशालिनी कलामर्मज्ञ पत्नी मिली है, अतः मेरे समान अन्य भाग्यशाली व्यक्ति त्रैलोक्य में नही है।' इन विचारो से मैंने उसके प्रेम के प्रगाढ बन्धन मे बधकर गुरु, देव और गुरुजनो को नमन करने के लिये भवन से निकलना भी बन्द कर दिया। फलतः मैं अपने परिजनो, सेवको और लोक-सम्पर्क से पूर्णतया विमुख हो गया। मेरी ऐसी दुष्ट प्रवृत्ति को देखकर मेरे पुण्योदय मित्र को जिसके मन मे मेरे लिये रह-रहकर स्नेह उमड पड़ता था असह्य सताप हुआ जिससे वह वेचारा मेरी चिन्ता मे अति दुर्वल हो गया, अर्थात् मेरे पुण्य क्षीण होने लगे। समस्त स्वजन-सम्बन्धी और परिजन भी मेरा इस प्रकार का व्यवहार देखकर मेरे प्रति विरक्त बन गये और गुपचुप मेरी हँसी उडाते हुए कहने लगे—'अहा ! भाग्य को देखो ! भाग्य कैसी विचित्र घटना घटित करता है ! वाह विधाता ने क्या इस कौए के साथ रत्न बाँध दिया है ! ऐसी रत्न जैसी स्त्री को इस मूर्ख के साथ बाँध दिया है ! ❀ पहिले ही से अपनी मूर्खता के कारण रिपुदारण गर्व से फूला नही समाता

❀ पृष्ठ ३१५

था और अब तो ऐसी निपुण पत्नी को प्राप्त कर गर्व मे अन्धा हो गया है। लोगो में यह न्यायोक्ति (कहावत) है कि "पहले तो बन्दर और फिर उसके अण्डकोष पर विच्छू काट खाये तो उसके उछलकूद (तूफान) का क्या कहना!" सचमुच ऐसे गधे के साथ हथिनी जैसी सर्वांगसुन्दरी मृगलोचना पत्नी का गठबन्धन कदापि उचित नही लगता। [१०-१६]

नरसुन्दरी द्वारा प्रेम-परीक्षा

नरसुन्दरी का चित्त सद्भाव से परिपूरित था। एक दिन उसके मन में विचार जाग्रत हुआ कि रिपुदारण का मुझ पर सच्चा स्नेह है या नही? इसका परीक्षण करना चाहिये। अमुक व्यक्ति का अपने पर सच्चा स्नेह है या नही? इसका पता उसकी कोई गोपनीय बात कहने से लग जाता है। मैं कुमार से उसकी कोई प्रच्छन्न बात पूछूं, उसका उत्तर वह ठीक देता है या कुछ छिपाता है, इस से ही पता लग जायगा कि उसका मेरे प्रति स्नेह-बन्ध कैसा है? [२०-२२]

इस प्रकार विचार करते-करते नरसुन्दरी ने निश्चय किया कि पति से उसकी कोई रहस्यमयी गुप्त बात अवश्य ही पूछनी चाहिये। कौनसी गुह्य बात पूछूं? यह सोचते हुए उसे स्मरण आया कि जैसे रक्त अशोक का वृक्ष कमनीय होते हुए भी फलरहित होता है वैसे ही मेरे आर्यपुत्र शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त कमनीय होते हुए भी निखिल कला-कौशल मे चातुर्य (फल) रहित है, क्योकि जब मैं सिद्धार्थपुर मे आई थी और सभा-समक्ष उनकी परीक्षा ली गई थी, उस समय तनिक भी ज्ञान न होने के कारण भयातिरेक से उनका मन अत्यधिक क्षुब्ध हो गया था जो स्पष्टतः उनके शरीर पर झलक आया था। अतः अब मैं आर्यपुत्र से यही प्रश्न पूछूंगी कि उस दिन आपके मन मे जो क्षोभ उत्पन्न हुआ था उसका कारण क्या था? यदि वे इसका स्पष्ट उत्तर देगे तो मैं समझूंगी कि आर्यपुत्र का मुझ पर सच्चा और दृढ स्नेह है। यदि वे स्पष्ट उत्तर नही देगे तो मै समझ जाऊंगी कि उनका मेरे प्रति सच्चा प्रेम नही है।

उपरोक्त विचारो से प्रेरित होकर एक दिन नरसुन्दरी ने मुझ से पूछा—'आर्यपुत्र! उस दिन राज्य सभा मे आपके समक्ष जब मेरी प्रथम वार्ता हुई थी तब आपके शरीर मे क्या व्याधि हो गई थी?' ऐसा युक्तियुक्त प्रश्न नरसुन्दरी ने मुझ से पूछा। उस समय योग्य अवसर को समझकर मृषावाद ने अपनी योगशक्ति का मुझ पर प्रयोग किया। वह अदृश्य होकर गुप्त रूप से मेरे मुंह मे प्रविष्ट हो गया। मेरे पापी मित्र मृषावाद की प्रेरणा से मैंने नरसुन्दरी को उत्तर मे कहा—'उस समय तुम्हे मेरे विषय मे कैसा लगा? यह तो पहिले मुझे बताओ।'

नरसुन्दरी—आर्यपुत्र! मुझे तो उस समय न तो ठीक से दिखाई ही दिया और न मैं वास्तविक स्थिति को जान ही सकी। उस समय मेरे मन मे ऐसी शका अवश्य हुई थी कि या तो आर्यपुत्र के शरीर मे सचमुच ही कोई रोग उत्पन्न हुआ है

या इनमें कलाकौशल की कमी है जिसे छिपाने के लिये ही सम्भवतः आपने कुछ बहाना बनाया है।

मैं (रिपुदारण)—सुन्दरी ! तुझे अपने मन मे इनमे से एक भी विकल्प (कारण) नही समझना चाहिये, क्योकि समस्त कलाये तो मेरे हृदय मे समायी हुई हैं और मेरे शरीर मे उस समय कोई विशेष रोग इत्यादि उत्पन्न भी नही हुआ था। मेरे प्रति अन्धे मोह के कारण से मेरे माता-पिता ने उस समय व्यर्थ ही धूमधाम मचा दी थी। उनकी व्यर्थ की धांधली के कारण ही मैंने उस समय स्थिर होकर मौन धारण कर लिया, अर्थात् चुपचाप बैठा रहा।*

इस बात को सुनकर नरसुन्दरी को दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं वास्तविक बात को निश्चित रूप से छुपा रहा हूँ। उसने मन मे विचार किया, अहो ! ये तो प्रत्यक्ष में ही अपलाप कर रहे है, अर्थात् पूर्णतया झूठ बोल रहे हैं। अहो इनकी निर्लज्जता ! अहो इनकी धृष्टता ! अहो इनका झूठा आत्माभिमान ! अर्थात् ये अपने आपको कितना बडा समझते है ?

पुन: नरसुन्दरी ने कहा—आर्यपुत्र ! यदि ऐसी बात है तब तो बहुत ही आश्चर्य की बात है। मुझे अभी भी आपके मुख से कला-कलाप के स्वरूप को सुनने की प्रबल इच्छा है। यदि आप मुझ पर कृपा कर कलाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन सुनाये तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

नरसुन्दरी की उपरोक्त प्रार्थना को सुनकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि 'अहो ! इसे अपने पाडित्य का बहुत अभिमान हो गया लगता है, इसीलिये यह मेरा पराभव कर अपने समक्ष मुझे तुच्छ सिद्ध करने की इच्छा से ही मेरी हँसी उड़ा रही है।' इसी समय शैलराज ने अवसर देखकर गुप्त रूप से मुझ पर अपना प्रभाव जमाया और अपने हाथ से स्तब्धचित्त लेप का मेरे हृदय पर विलेपन कर दिया। लेप के प्रभाव मे मैने पुन. सोचा कि 'सचमुच यह पापिनी नरसुन्दरी अपने पाडित्य की छाप मुझ पर जमाने के लिये मेरा पराभव कर मेरी हँसी उड़ाने को तत्पर हुई है। ऐसी पापिन को अपने पास रखने से क्या लाभ ?'

नरसुन्दरी का तिरस्कार

मैंने शैलराज के प्रभाव में आकर तत्क्षण ही अत्यन्त तिरस्कार पूर्वक नरसुन्दरी से कहा—अरे पापिनि ! मेरी दृष्टि से दूर हट जा। मेरे राजभवन से अविलम्ब बाहर निकल जा। अपने आप को पण्डित मानने वाली तेरे जैसी स्त्री को मेरे जैसे मूर्ख व्यक्ति के साथ रहना शोभा नही देता।

मेरे वचन सुनकर नरसुन्दरी एकाएक घबरा गई। उसने मेरे मुख के सामने देखा। पुन. उसने सोचा, धिक्कार है ! इनका मेरे प्रति पहले जो सद्भाव एव प्रेम था वह अब नही है। प्रतीत होता है कि इस समय ये मानभट (अभिमान)

---

* पृष्ठ ३१६

के वशीभूत हो गये हैं। अब किसी भी प्रकार पुनः ये प्रसन्न हों ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। उस समय स्तब्धदशा में वह नरसुन्दरी ऐसी लग रही थी मानो गारुडिक मंत्र से आहत नागिन हो, मानों मूल से खींच कर निकाली हुई वनलता हो, मानों तोड़ कर फेंक दी गई कोई आम्रमंजरी हो या मानों अंकुश से वश में की हुई कोई हथिनी हो। इस प्रकार एकदम शोकातुर दीनमुख वाली और आकस्मिक भय के भार से दोलायमान हृदय वाली नरसुन्दरी तत्क्षण ही मन्थर गति से चलती हुई मेरे भवन से चल दी। उस समय उसकी रत्नजटित कटिमेखला (कंदोरे) के घुंघरुओं से निकलते कल-कल स्वर और पाँव की झांझर से निर्गत झण-झणारव से ऐसा लग रहा था मानो कोई कलहंसी स्नान-वापिका मे अपनी ओर आकर्षित कर रही हो ! इस प्रकार मन्द गति से चरण रखती हुई शोकातुर नरसुन्दरी मेरे महल से निकल कर मेरे पिताजी के भवन में चली गई।

❀

५. नरसुन्दरी द्वारा आत्महत्या

पश्चात्ताप और कामज्वर

मेरे भवन से नरसुन्दरी के जाने के पश्चात् भी जब तक शैलराज द्वारा मेरे हृदय पर लगाया हुआ लेप नहीं सूखा तब तक मैं पत्थर के खम्भे की भांति वैसे ही तना हुआ खड़ा रहा। जब यह लेप थोड़ा सा सूख गया तब मेरे मन में पश्चात्ताप हुआ। पूर्व मे नरसुन्दरी पर मेरा जो स्नेह और ममत्व था वह मुझे पीड़ित करने लगा, उसके लिये मेरे मन में दुःख होने लगा और कुछ चिन्ता भी होने लगी। अन्त में मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा मन एकदम शून्य (खाली) हो गया है। मेरे मन में विह्वलता होने लगी तथा शरीर एवं मन पर अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगे। शरीर मे कुछ कामातुरता की वृद्धि से उष्मा बढ गई, अर्थात् कामज्वर ने मुझे जकड़ लिया। मन के ताप को कम करने के लिये मैं पलंग पर लेटा किन्तु वहाँ भी शान्ति नहीं मिली। फलस्वरूप उबासियाँ आने लगी, शरीर टूटने लगा और मैं इस प्रकार तड़फड़ाने लगा जैसे खैर की जलती लकड़ियो के बीच पड़ी हुई मछली तड़फड़ाती है। कामज्वर से जलते हुए हृदय से मैं पलंग पर से उठा तभी मेरी माता विमलमालती अत्यन्त शोकातुर दशा में मेरे पास आयी।

माता विमलमालती की शिक्षा

मेरी माता को मेरे पास आती देखकर मैंने अपने मन की चिन्ता को छुपा लिया। माता के स्वतः ही भद्रासन पर बैठने पर मैं भी ❀ पलंग पर बैठ

❀ पृष्ठ ३१७

गया। तब मेरी माता ने कहा—पुत्र ! तपस्विनी नरसुन्दरी को कठोर वचनो से तिरस्कृत कर तूने उसे यहाँ से निकाल दिया, यह ठीक नही किया। यहाँ से जाने के बाद उस बेचारी पर क्या-क्या बीती है, सुनेगा ?

मैने कहा—जो आपको अच्छा लगे तो कहिये।

तब मेरी माता बोली—यहाँ से जाने के बाद नरसुन्दरी के कपोल नेत्रो से निकलती अश्रुधारा से भीग गये थे। ऐसी अवस्था मे रोती-रोती खिन्नमनस्क वह मेरे पास आई और मेरे पाँवो में गिर पडी ! मैंने पूछा कि—'पुत्री नरसुन्दरी ! तुझे क्या हुआ ?' तो उस बेचारी ने कहा—'माताजी ! कुछ नही, शरीर मे दाह-ज्वर से पीडा हो रही है।' मैं उसे अधिक पवन वाले स्थान पर ले गई, वहाँ पलग बिछा कर उसे सुलाया और मैं उसके पास बैठी। उस समय वह पलग पर ऐसे तडफ रही थी जैसे विशाल मुद्गर से किसी ने प्रबल प्रहार किया हो, जैसे अग्नि मे जल रही हो, मानो जगल का भयकर सिंह उसे खाने को तैयार हो, मानो कोई बडा मगरमच्छ उसे निगल जाने वाला हो, मानो कोई विशाल पर्वत टूट कर उस पर गिर पडा हो, मानो यमराज की तलवार से उसे काटा जा रहा हो, मानो उसे कोई आरे से चीर रहा हो, मानो नरक की अग्नि मे उसे पकाया जा रहा हो, इस प्रकार वह पलग पर एक करवट से दूसरे करवट पछाड खाती हुई लौटने लगी। उसकी ऐसा स्थिति देखकर मने उससे पूछा– 'अरे नरसुन्दरी ! तुझे ऐसा तीव्रतर दाहज्वर कैसे हुआ ? कुछ बता तो सही।' मेरा प्रश्न सुनकर बेचारी गहरी-गहरी सास लेकर चुप हो गई, पर कुछ बोल न सकी। मैने सोचा, अवश्य ही इसे कोई मानसिक पीडा है, अन्यथा मुझे भी स्पष्ट कारण क्यो नही बताती ? फिर मैंने उससे बहुत आग्रह किया तब कही जाकर उसने तेरे यहाँ की घटित घटना मुझे सुनायी। तब मैंने उसके शीतल उपचार के लिये कन्दलिका दासी को नियुक्त किया और मैने नरसुन्दरी से कहा—'पुत्री ! यदि ऐसी बात है तो तू धीरज रख। अपने सब मानसिक शोक-सताप को दूर कर और साहस धारण कर। मै अभी कुमार के पास जाती हूँ और उसे समझा कर तेरे अनुकूल करू गी, फिर तो ठीक है ? क्या पहले तुझे इस बात का ज्ञान नही था कि आजकल मेरा पुत्र मानधनेश्वर अर्थात् अत्यधिक अभिमानी हो गया है, अत उसके प्रतिकूल (विरुद्ध) कुछ कहने या चिढाने मे कोई सार नही है। उसकी यह विशेषता अब तेरे ध्यान में आ गई होगी। अब तू जीवन पर्यन्त उसके प्रतिकूल या अरुचिकर ऐसा कोई वचन या आचरण मत करना और उसे अपना परमात्मा समझ कर आराधना करना।' मेरे सात्वना पूर्ण वचन सुनकर बाला नरसुन्दरी विकसित कमलिनी जैसी, पुष्पयुक्त कुन्दलता जैसी, पक्व सुगन्धित आम्रमजरी जैसी, मद झरती सुन्दर हथिनी जैसी, पानी से सिक्त प्रफुल्लित बेल जैसी, अमृतरस पान से तृप्त नागराज की पत्नी नागिनी जैसी, बादल रहित सुन्दर शोभायमान चन्द्रलेखा जैसी, सहचारी चकवे से पुन: मिलने पर चक्रवाकी जैसी और सुखरूपी अमृत के सागर मे डूबी हुई के समान अवर्णनीय रसान्तर का अनुभव करती हुई शय्या से उठ बैठी और मेरे चरणो में

गिरकर बोली—* 'माँ! आपकी महती कृपा। मैं आपकी अनुगृहीत हूँ। मैं मन्द-भाग्या हूँ। माँ! आप शीघ्र जाकर एक बार मेरे पति को मेरे प्रति अनुकूल कर दीजिये। फिर यदि मैं स्वप्न में भी कभी मेरे आर्यपुत्र के प्रतिकूल व्यवहार करूँ तो आप जीवन पर्यन्त मुझ पापात्मा से नहीं बोलें, मेरा मुँह भी नहीं देखें। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं सर्व प्रकार से आर्यपुत्र के अनुकूल रहूँगी।' मैंने कहा—'अच्छी बात है, मैं अभी जाती हूँ।' नर सुन्दरी ने पुनः 'माँ! आपकी महती कृपा।' कहकर दुबारा मेरा आभार माना। पुत्र! इसीलिये मैं तेरे पास आई हूँ।

पुत्र! तात्पर्य यह है कि तू उसके प्रतिकूल है यह जानकर वह बाला जल उठती है और तुझे अनुकूल समझ कर वह प्रमुदित होकर खिल उठती है। जब वह सुनेगी कि वह कुमार को प्रिय है तो उसे अमृतपान करने के समान आनन्द होगा और यदि वह सुनेगी कि कुमार को वह प्रिय नहीं है तो उसे महानरक के दुःख जैसा अनुभव होगा। यदि उसे मालूम होगा कि तेरा थोड़ा भी उस पर रोष है तो वह तपस्विनी मर जायगी और यदि वह जानेगी कि अब तू उसके प्रति तनिक भी सन्तुष्ट है तो वह इसी अवलम्बन पर जीवित रह सकेगी। छोटी उम्र और नासमझी से स्नेहवश यदि उस बेचारी ने तेरा कुछ अपराध कर दिया हो तो वत्स! वह क्षमा करने योग्य है। [१-४]

प्रणतेषु दयावन्तो, दीनाभ्युद्धरणे रताः।
सस्नेहार्पितचित्तेषु, दत्तप्राणा हि साधवः ॥५॥

सज्जन पुरुष नतमस्तक प्राणियों पर दयावान होते हैं, दीन-हीन गरीबों का उद्धार करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं और जो उन्हें स्नेह (भक्ति) पूर्वक अपना चित्त अर्पण करते हैं उनके लिये वे अपने प्राण भी अर्पित कर देते हैं। [सज्जन पुरुषों का व्यवहार ऐसा ही होता है, अतः तुझे भी ऐसा ही व्यवहार नर-सुन्दरी के साथ करना चाहिये।]

माता का चरण-प्रहार द्वारा अपमान

नरसुन्दरी का मुझ पर कितना अविचल प्रेम था और उसके हृदय में मेरे प्रति कितना स्नेह था, इस विषय में मेरी माता का विवेचन सुनकर मैं उसके प्रति स्नेहाकर्षित हो ही रहा था कि इतने में शैलराज ने भौंहे कुटिलकर (चढ़ाकर) सिर घुमाया और मेरे हृदय पर स्तब्धचित्त लेप लगा दिया।

लेप के लगते ही पत्नी ने मेरा जो अपराध (अपमान) किया था वह पुनः तरोताजा होकर मेरी आँखों के सामने घूम गया। मुझे उस पर स्नेह के स्थान पर घृणा हुई, अर्थात् मेरे मन में विपरीत प्रतिक्रिया हुई और मैंने माता से कहा—'मेरा अपमान करने वाली इस पापिनी की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।' माता ने कहा—'अरे वत्स! ऐसा मत बोल। यद्यपि उसने तेरा गुरुतर अपराध किया है फिर भी मेरे कहने से तू एक बार उसे क्षमा कर दे।' इतना कहकर मेरी माता मेरे पाँवों में

---

* पृष्ठ ३१८

पड गई । पर, मैने क्रोधित होकर कहा—'जा, निकल जा, अवस्तु की प्रार्थना करने वाली ! अर्थात् उस दुष्टा का पक्ष लेने वाली तू भी यहाँ से निकल जा । मेरी दृष्टि से दूर हो जा । मुझे तेरी भी कोई आवश्यकता नही है । मैने जिस दुष्टा को यहाँ से निकाल दिया उसी को तुम सहारा दे रही हो ।' ऐसा कहते हुए मैने क्रोध मे अपनी माता पर पाद-प्रहार भी कर दिया ।

अहो, हे भद्रे अगृहीतसकेता ! मुझ पापी ने शैलराज की प्रभाव-छाया मे जब अपनी माता को भी लात मार दी और उसका तिरस्कार कर दिया तब वह समझ गई कि मै अपने दुराग्रह को त्याग कर अपना निर्णय बदलने वाला नही हूँ । वह बेचारी एकदम निराश होकर आँखो से आँसू गिराती हुई जैसी आई थी वैसी ही वापस लौट गई और मेरी पत्नी नरसुन्दरी को सब कुछ कह सुनाया । सुनते ही नरसुन्दरी मूर्छित होकर जमीन पर गिर पडी, जैसे उस पर कोई वज्राघात हुआ हो । माता ने उस पर चन्दन और शीतल जल का उपचार किया और पखे से पवन किया । कुछ देर बाद उसे चेतना आई और वह जोर-जोर से विलाप करने लगी ।

उसे रोती देखकर मेरी * माता विमलमालती ने कहा—पुत्री ! क्या करूं ? तेरा पति तो सचमुच वज्र जैसा कठोर हृदय का हो गया है, पर तू रो नही, शोक का त्याग कर । साहस के साथ इस उपाय का अवलम्बन ले और तू स्वय जाकर अपने पति को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर । तेरे स्वय जाने से सम्भव है तेरे प्रति उसका जो पूर्व प्रेमाकर्पण है वह फिर से उसे आकर्पित करले और वह तुझ पर पुनः प्रसन्न हो जाय । कामी पुरुप का हृदय मृदुता से ही जीता जा सकता है । इस अन्तिम प्रयत्न के बाद भी अगर वह प्रसन्न न हो तो मन मे दु ख या पश्चात्ताप नही रहेगा कि तूने अन्तिम उपाय नही किया । कहावत भी है कि "अपने प्रिय पुरुष को भली प्रकार समझाने से प्रेम मे अवरोध नही होता और जनमानस मे भी यह अपवाद नही उठता कि इस विषय मे पूरा प्रयत्न नही किया गया ।"

नरसुन्दरी को प्रेम-याचना : औद्धत्य पूर्ण भर्त्सना

नरसुन्दरी ने माता की आज्ञा शिरोधार्य की और अविलम्ब ही मुझे प्रसन्न करने के लिये वहाँ से चल पडी । वह मेरे पास आ रही है और न जाने मेरा उसके प्रति कैसा कठोर व्यवहार हो, इस शका से मेरी माता भी छिपकर उसके पीछे-पीछे आ गई । मेरी पत्नी कक्ष मे मेरे पास आई और बाहर द्वार के पास छिपकर मेरी माता खड़ी रही ।

नरसुन्दरी ने अत्यन्त विनम्र और प्रेमपूरित शब्दो मे कहा—'मेरे नाथ ! प्रिय प्राणवल्लभ ! स्वामी ! प्राणजीवन ! प्रेमसागर ! इस अभागिन स्त्री पर कृपा करिये । शरणागत पर कृपा दृष्टि रखने वाले मेरे प्रभो ! भविष्य मे मैं कभी ऐसा कोई कार्य नही करूगी कि जिससे आपके मन को किंचित् भी दुःख हो । हे नाथ ! आपके अतिरिक्त त्रैलोक्य मे भी मेरा कोई शरण-स्थान नही है । [१–२]

---

* पृष्ठ ३१९

चपल नेत्रो की उष्ण अश्रुधारा से मेरे चरणो को भिगोती हुई उसने अत्यन्त नम्रता से मेरे पॉव पकड लिये। उसकी दयनीय स्थिति को देखकर मेरा हृदय दहल गया। मेरे प्रति उसके पूर्वकालीन अपूर्व प्रेम का स्मरण आते ही मेरा हृदय कमल जैसा होने लगा, किन्तु शैलराज (अभिमान) की उस पर दृष्टि पड़ते ही वह फिर पत्थर जैसा कठोर हो गया। जब तक मन मे प्रियतमा नरसुन्दरी के प्रणय-निवेदन के विचार रहते तब तक वह मक्खन जैसा कोमल रहता और जैसे ही शैलराज के विचार आते वह पुनः वज्र से भी कठोर हो जाता। यों मेरा हृदय कोमल एवं कठोर भावो के झूले पर झूल रहा था, 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं' इसका निर्णय लेने की स्थिति मे भी नही था। अन्त मे मोहराजा की मुझ पर विजय हुई और शैलराज को प्रसन्न करने के लिये उस दीन अवला वालिका नरसुन्दरी की मैंने भर्त्सना कर डाली। 'अरे पापिनी ! चल निकल यहाँ से। वाग्जाल की माया को छोड़ दे। यह अच्छी तरह समझ ले कि तू ऐसे वाणी-चातुर्य से रिपुदारण को नही ठग सकेगी। तू सभी कलाओं मे बहुत प्रवीण है अतः लोगों को ठगने की कला में भी अवश्य ही प्रवीण होगी, पर मेरे जैसे मूर्ख ? को तो कभी नही ठग सकेगी। जब तेरे जैसी विदुषी को हँसी उडाने के लिये मैं ही मिला, तो अब यह व्यर्थ का प्रलाप करने में क्या सार है ? और तेरी जैसी विदुषी का नाथ भी मैं मूर्ख कैसे हो सकता हूँ ?'

ऐसे कर्कश कटुवचन वोलने के बाद शैलराज से प्रेरित होने के कारण मेरे शरीर के सभी अवयव निस्तब्ध हो गये अर्थात् पत्थर जैसे शून्य एवं कठोर बन गये थे और मैं निर्जन जंगल मे ध्यान-मग्न मुनि की भाँति चुप होकर बैठ गया। [१-८]

आशाभंग : अपघात

मेरे ऐसे गर्वाभिभूत कठोर और अडिग निश्चय वाले वचन सुनकर वेचारी नरसुन्दरी की दशा आकाशगामिनी विद्या भूली हुई विद्याधरी जैसी, योग सामर्थ्य से भ्रष्ट योगिनी जैसी, जल-विहीन तप्त भूमि पर पड़ी मछली जैसी * और प्राप्त रत्न भण्डार को खोने के बाद वैठी हुई चुहिया जैसी अत्यन्त दयनीय हो गई। आशा के सभी बाँध टूट जाने पर वह शोकसागर में डूब कर मन में विचार करने लगी कि 'प्राणनाथ से इस प्रकार तिरस्कृत होने के पश्चात् जीवित रहने का मेरे लिये क्या अर्थ है ? ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा है।' ऐसे विचार करती हुई वह मेरे कक्ष से वाहर निकल गई।

देखे, अब यह क्या करती है ? इस विचार से शैलराज के साथ मैं भी धीरे-धीरे- चलते हुए उसके पीछे-पीछे चल दिया। उसी समय मानो मेरे दुष्ट व्यवहार से खिन्न होकर सूर्यदेव भी इस क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में चले गये अर्थात् अस्त हो गये।

---

* पृष्ठ ३२०

सूर्य अस्त होने से चारों तरफ अन्धेरा छा गया। नगर के बडे-बड़े मार्गो पर आवागमन कम हो गया। ऐसे समय में एक खण्डहर जैसे शून्यगृह मे नरसुन्दरी ने प्रवेश किया। उस समय आकाश के दूसरे छोर पर चन्द्र उदित हो चुका था। चन्द्र के रुपहले मन्द-मन्द प्रकाश मे नरसुन्दरी को देखते हुए मै भी उसके पीछे-पीछे उस खण्डहर के द्वार तक पहुँचा और द्वार के पास ही छिपकर खडा हो गया। उस समय नरसुन्दरी ने चारो तरफ दृष्टि घुमायी। उसे एक स्थान पर ईंटो का ढेर दिखाई दिया। उस पर चढकर उसने छत के बीच के कडे से अपनी साड़ी का एक छोर कस कर बाँधा और दूसरे छोर पर फासी का फंदा लगाकर उसमे अपनी गर्दन डाल दी। फिर उसने ऊँची आवाज मे कहा—'हे लोकपालो ! आप ध्यान पूर्वक सुने। हे पूज्यो ! आप अपने दिव्य ज्ञान से सब कुछ देख ही रहे हैं। आज आर्यपुत्र के साथ वार्तालाप करते हुए ऐसा प्रसग आ गया कि मैंने उनसे कलाओं पर विवेचन करने का अनुरोध किया था। यद्यपि मेरा हेतु उनका अपमान करने का कदापि नही था तथापि दुर्भाग्य से इस प्रसग को लेकर वे अभिमान के पर्वत पर चढ गये और इस मन्दभागिनी अबला का उन्होने सर्वथा तिरस्कार कर दिया।'

नरसुन्दरी के वचन सुनकर मुझे लगा 'कि इस बेचारी तपस्विनी के अन्त - करण मे तो मेरा अपमान करने की कोई इच्छा नहीं थी। प्रेम-सभाषण करते-करते मुझे क्रोध आ गया अत. यह तो केवल प्रेम का ही अपराध है। इसे तिरस्कृत कर, निकाल कर मैंने ठीक नही किया। मुझे अभी भी इसे आत्महत्या करने से रोकना चाहिये।' इस विचार से मैं उसके गले का फंदा काटने के लिये आगे कदम बढा ही रहा था कि वह फिर बोल पड़ी—हे लोकपालो ! अतएव अभी आप मेरे प्राण ग्रहण करे। जन्मान्तर मे भी मेरे साथ ऐसी घटना फिर न घटे ऐसो मेरी आप से प्रार्थना है।

उसी समय शैलराज ने कहा—'कुमार ! देख, अगले जन्म मे भी वह तेरा साथ नही चाहती है।' उस समय उसके तात्पर्य को न समझ कर, दुर्भाग्य से शैलराज द्वारा किये गये अर्थ को ही ठीक समझ बैठा। मैंने सोचा कि उसने ऐसी दुर्घटना फिर से घटित न हो ऐसी इच्छा प्रकट की है और यह दुर्घटना तो मेरे सम्बन्ध मे ही घटी है, अत: वह मेरा साथ जन्मान्तर मे भी नही चाहती। तब मरने दो, ऐसी पापिन शखिनी से मेरा क्या काम ?

उसी समय शैलराज ने अपना लेप वाला हाथ मेरे हृदय पर लगाया। लेप के प्रभाव से मैं तो कर्त्तव्यहीन निर्जीव लकडी के खम्भे की तरह स्तब्ध खड़ा का खडा देखता रहा। उधर नरसुन्दरी ने अपनी गर्दन फदे मे डाली, फदे को जोर से खीचा और लटक गई। तत्क्षण ही उसकी आँखे बाहर निकल आईं, श्वास-मार्ग अवरुद्ध हो गया, गर्दन लटक गई, ॐ नाडिये खिच गईं, सर्वांग शिथिल हो गया, इन्द्रियाँ शून्य

ॐ पृ० ३२१

हो गईं, मलद्वार खुल गये, जीभ बाहर निकल आई और उस बेचारी के प्राण-पखेरु उड़ गये।

माता विमलमालती की आत्महत्या

नरसुन्दरी को मेरे भवन से निकल कर बाहर जाते हुए और उसके पीछे-पीछे मुझे जाते हुए मेरी माता ने देखा था। उन्होने समझा कि मेरी पुत्रवधु पूर्वकृत प्रेम-भग के कारण अपमान से रुष्ट होकर जा रही है और मेरा पुत्र उसको मनाने के लिये उसके पीछे जा रहा है। हमारे थोडी दूर निकल जाने के बाद मेरी माता भी छिपती हुई हम दोनो को ढूढते हुए उस खण्डहर तक पहुँच गई। वहाँ पहुँचकर जैसे ही उसने नरसुन्दरी को फांसी के फन्दे पर लटकते देखा, वह घबरा गई। उसने सोचा—'हाय मैं मर गई! हाय गजब हो गया! मेरे अभिमानी पुत्र ने इसकी यह स्थिति बनाई है, अन्यथा वह आत्मघात करे और यह चुपचाप खडा-खड़ा देखता रहे ऐसा कैसे हो सकता है।' मैरी माता जिस समय यह विचार कर रही थी उस समय मेरे हृदय पर शैलराज का लेप चढा होने से मुझे ऐसा लगा कि मेरी माता इस अधम स्त्री से जो किसी के स्नेह या प्रेम की पात्र नही है, अवांछनीय वस्तु पर प्रेम कर रही है। ऐसी विचारधारा से मैंने अपनी माता की अवहेलना करते हुए तिरस्कृत दृष्टि से देखा। अत्यधिक शोक के भार से अन्धी बनी मेरी माता ने भी उसी खण्डहर मे उसी प्रकार अपनी साडी का फन्दा लगाकर अपनी आत्महत्या कर ली और मै खड-खडा देखता ही रह गया।

पत्नी और माता की आत्महत्या को देखकर मैं सहसा काँप गया। सताप से मेरे हृदय पर लगा हुआ स्तब्धचित्त नामक लेप थोडा सा सूख जाने से मेरे मन में पश्चात्ताप होने लगा। मेरे मन का शोक भी बढ गया। स्वाभाविक रूप से माता के प्रति और मोह से पत्नी के प्रति मेरा जो प्रेम होना चाहिये, उसने मेरे मन पर ऐसा प्रभाव जमाया कि अन्त मे मैं विह्वल होकर अतिदारुण प्रलाप करने लगा, अर्थात् जोर-जोर से चिल्लाने लगा। मेरा यह प्रलाप-क्रन्दन क्षण मात्र के लिये ही था। शीघ्र ही शैलराज ने प्रौढता के साथ अपनी शक्ति का अद्भुत चमत्कार मुझ पर डालना प्रारम्भ किया और मेरे मन पर उसका पूरा प्रभाव पड़ने पर मैं सोचने लगा कि, 'अरे! स्त्री की मृत्यु पर कभी कोई पुरुष रोता है!' इन विचारो के आते ही मै फिर चुप हो गया।

रिपुदारण का तिरस्कार : निष्कासन

इधर मेरे पिताजी के राजभवन मे सेविका कन्दलिका ने विचार किया कि 'रानी जी को गये इतनी देर हो गई, वे अभी तक वापस क्यो नही आई? मुझे बाहर जाकर उन्हे ढूँढना चाहिये।' यह सोचकर वह राजमन्दिर से बाहर निकली और ढूँढती-ढूँढती आखिर वह भी उस खण्डहर के पास आ पहुँची। वहाँ आकर

उसने नरसुन्दरी और विमलमालती को फाँसी के फन्दों से लटकते देखा तो एकदम घवरा गई। उसने तीव्रतर आवाज मे रोना कर दिया। उसका प्रवल क्रन्दन सुनकर बडी सख्या में नागरिक और मेरे पिताजी वहाँ आ पहुँचे जिससे वडा कुहराम मच गया। सभी कन्दलिका से पूछने लगे कि—'यह क्या हुआ ? कैसे हुआ ?' उत्तर मे जितना कन्दलिका जानती थी उतना उसने कह सुनाया। उस वक्त तक चन्द्रमा का प्रकाश भी कुछ अधिक वढ जाने से उजाला अधिक हो गया था और उस प्रकाश मे लोगो ने मेरी माता और पत्नी को वहाँ फासी पर लटकते देखा। उस समय स्वकृत कर्मों के त्रास से मेरे चलने की शक्ति नष्ट हो गई थी और मुँह मे बोलने की शक्ति भी नही रह गई थी। ऐसी दशा मे उस खण्डहर के एक कोने मे छिपकर मैं खडा था। जन-समूह ने मुझे उस स्थिति मे देख लिया और उन्हे विश्वास हो गया कि इस अनर्थ का कारण मैं ही हूँ। फिर तो लोगो ने मुझे खूब धिक्कारा, खूब फटकारा, खूब गालियाँ सुनाई और मेरा स्पष्टतया खुलकर अपमान किया। तत्पश्चात् मेरे पिताजी ने शोकमग्न होकर मेरी माता और पत्नी का अग्नि-सस्कार आदि सभी मृत्यूपरात के कार्य पूरे किये।

मेरा उपरोक्त कुत्सित एव दारुण व्यवहार देखकर मेरे पिता को गहरा आघात लगा और वे शोकाक्रान्त होकर विचार करने लगे कि—'अहो ! यह कुलागार पुत्र तो अनर्थ का भण्डार है। यह कुल का दूषण है, यह सवसे जघन्यतम और पापियो का सरदार है। यह समस्त दु:खो का मूल है और लोगो के सामान्य मार्ग का भी उलघन करने वाला है। यह रिपुदारण तो सचमुच मेरे शत्रु जैसा ही है। ऐसे अत्यन्त अधम दुरात्मा पुत्र से मुझे क्या लाभ ? ऐसे पुत्र को घर मे रखने से क्या फायदा ?' ऐसे विचारो से पिताजी ने मुझे घर से निकालने का निश्चय कर लिया। [१–४]

पश्चात् मेरा अत्यन्त तिरस्कार कर पिताजी ने मुझे राजभवन से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार समृद्धि-भ्रष्ट होकर मैं अनेक प्रकार के दु:ख उठाते हुए नगर मे यहाँ-वहाँ भटकने लगा। मेरे दुष्ट व्यवहार के कारण मै जहाँ भी जाता वहाँ छोटे-छोटे बालक भी मेरा अपमान करते। लोग मेरे मुँह पर मेरी निन्दा करने लगे। वे मुझे साफ-साफ शब्दो मे सुनाने लगे—'अरे ! यह रिपुदारण महान् पापी है, अत्यन्त दुष्ट आचरण वाला है, इसका मुँह भी देखने के योग्य नही है, यह अत्यन्त मूर्ख है, महाप्रतापी कुल मे काटे जैसा उग आया है और यह समस्त प्रकार से विप के ढेर जैसा है। इस दुष्ट ने अभिमान के वश मे होकर अपने अत्यन्त पूज्य गुरुदेव कलाचार्य का भी अपमान किया था, स्वय शखचक्र-चूडामणि ढपोर-शख जैसा मूर्ख होकर भी अपने आप को महापण्डित बताता है। अभिमान ही के वश होकर इसने माता और पत्नी का खून किया। ऐसे अत्यन्त अधम पापी अभिमानी रिपुदारण का मुँह कौन

* पृष्ठ ३२२

देखे ? हम तो पहिले ही कहते थे कि ऐसे अधम पापी दुरात्मा के योग्य कलाकौशल की भण्डार सर्वांगसुन्दरी नरसुन्दरी नहीं है। इस पापी से उस सुन्दरी का छुटकारा हुआ यह तो अच्छा ही हुआ, किन्तु वह कमलनयनी स्त्री अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुई यह ठीक नहीं हुआ।' [५-११]

हे विमललोचना अगृहीतसंकेता! लोग इस प्रकार मुझे धिक्कार रहे थे तथापि महामोह के कारण मेरा ज्ञान पूर्णतया विलुप्त हो जाने से मैं तो उस समय भी मेरे मन में ऐसा ही सोच रहा था कि दुर्जन लोग मेरे विरुद्ध चाहे जैसी बातें करते रहें। मेरे पिता ने मेरा त्याग किया तो भी क्या हुआ? अभी तक मेरी भलाई चाहने वाले और विपत्ति में मेरी सहायता करने वाले मृषावाद और शैलराज तो मेरे साथ ही हैं। वे मेरे सच्चे मित्र हैं। पूर्व में भी मैंने इनकी ही कृपा से फल प्राप्त किया है और भविष्य में भी समय आने पर इनकी संगति से अवश्य ही सुन्दर फल प्राप्त करूंगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। [१२-१४]

प्रतिक्षण और प्रति-समय लोगों की निन्दा सुनते, तिरस्कृत होते और तुच्छता प्राप्त करते हुए दुःख समुद्र के मध्य में मैंने कई वर्ष उस नगर में व्यतीत किये। हे भद्रे! मेरा पुण्योदय नामक तीसरा मित्र मेरे जघन्य व्यवहार से बहुत ही कुपित हुआ और दुःखग्रस्त होकर अत्यन्त क्षीणकाय हो गया। यद्यपि उस बेचारे को कभी-कभी मेरे प्रति कुछ स्नेह होता था तथापि मेरे दुष्ट व्यवहार से उसकी दुर्बलता बढ़ती ही जाती थी और वह इतना अशक्त हो गया था कि मेरी किंचित् भी सहायता नहीं कर सकता था। [१५-१६]

⁂

६. विचक्षण और जड़

ललितोद्यान में विचक्षणाचार्य

अन्यदा मेरे पिताजी अपने राज्य परिवार के साथ अश्वक्रीडा करने हेतु नगर के बाहर गये। कौतूहल से नगरवासी भी राजा की अश्वक्रीडा देखने के लिये वहाँ गये। नगरवासियों के साथ मैं (रिपुदारण) भी अश्वक्रीडा देखने नगर के बाहर गया। वहाँ विशाल मैदान में राजलोक के समक्ष मेरे पिताजी ने बाह्लीक, कम्बोज तुर्किस्तान आदि देशों के अनेक अश्वों पर बैठकर अपनी कला का प्रदर्शन किया। अश्वक्रीडा समाप्त होने पर वे जन-समुदाय के साथ विश्राम के लिये पास ही के अत्यधिक शीतल ललित नामक उद्यान में गये। [१७-२०]

वह ललित उद्यान अनेक प्रकार के अशोक, नागरबेल, जायफल, ताड़, हिन्ताल आदि के बड़े-बड़े वृक्षों से सुशोभित था। उसमे प्रियंगु, चम्पा, अकोल और

केले आदि के अनेक सुन्दर मण्डप बने हुए थे । केवडे की मनमोहक सुगन्ध से प्रमुदित होकर भंवरो के झुण्ड उद्यान को गु जारित कर रहे थे । सक्षेप मे, वनराजि के समस्त गुणो से यह उद्यान शोभायमान था और स्वर्ग के नन्दन वन के समान दृष्टिगोचर हो रहा था । [२१-२२] ❀

ऐसे मनोरम उद्यान में नरवाहन राजा (मेरे पिताजी) ने एक स्थान पर विश्राम किया । उसके पश्चात् उद्यान की सुन्दरता से उनका चित्त अत्यधिक प्रमुदित हुआ और वे अपने सामन्तो के साथ घूमते हुए स्वकीय नील कमल जैसे सुन्दर और चपल नेत्रो से अपलक होकर उद्यान की शोभा देखने लगे । शोभा का निरीक्षण करते हुए राजा ने एक रक्त अशोक वृक्ष के नीचे साधुजनोचित स्थान पर विराजमान, श्रेष्ठ साधु समूह से परिवृत विचक्षण नामक आचार्य को धर्मोपदेश देते हुए देखा । उस समय वे आचार्य शोभन कान्ति से पूर्ण नक्षत्र एव ग्रह-गणों से घिरे हुए, दिशाओं को प्रकाशित करते हुए साक्षात् चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हो रहे थे । उनके सुन्दर शरीर के चारों ओर अशोक वृक्षो का समूह सुशोभित था । यथेष्ट फलदाता होने से वे आचार्यश्री साक्षात् जगम कल्पवृक्ष जैसे लगते थे । वे कुलशैल पर्वत पर देवताओ के निवास स्थान जैसे शुद्ध स्वर्ण के वर्ण वाले दिखाई देते थे । वे चलते-फिरते सुखदायक मेरु पर्वत के समान प्रतीत होते थे । कुवादी रूप मदोन्मत्त हाथियो के मद को नाश कर दे ऐसे दिखाई देते थे । श्रेष्ठ हाथियो के झुण्ड के समान वे सुसाधुओ के समूह से परिवृत्त थे । गन्धहस्ति के समान होते हुए भी वे निर्मद थे अर्थात् मान-रहित थे । जैसे किसी भाग्यशाली को भाग्योदय से रत्नपूरित निधान प्राप्त हो जाय वैसे ही निर्मल मानस वाले इन आचार्यदेव को देखकर राजा नरवाहन को अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ । [२३-३१]

नरवाहन राजा की जिज्ञासा

विचक्षण आचार्य को देखते ही राजा नरवाहन के मन मे यह दृढ प्रतीति हुई कि जैसे ये नररत्न तपोधन महात्मा है वैसे त्रैलोक्य मे भी नही है । देवताओ की कान्ति को भी पराजित करने वाली इन महात्मा की आकृति को देखने मात्र से ही द्रष्टा को विश्वास हो जाता है कि ये महात्मा समस्त गुणों से परिपूर्ण है । अहा ! इन महात्मा ने पूर्ण युवावस्था मे ही कामदेव को खण्डित (पराजित) कर दिया है । इस तरुणावस्था मे किस कारण से इन्हे वैराग्य उत्पन्न हुआ होगा ? पुनः राजा ने सोचा कि 'ऐसे महर्षि के चरण-कमलो मे प्रणाम कर अपनी आत्मा को पवित्र करू और इनसे पूर्ण युवावस्था मे भवनिर्वेद (वैराग्य) का कारण पूछू ।' ऐसा चिन्तन कर राजा सूरिमहाराज के समीप गये और उनके पवित्र चरणो मे मस्तक झुका कर वन्दना की । आचार्यश्री ने राजा को आर्शीवाद दिया तब वे प्रसन्न चित्त होकर उनके समक्ष शुद्ध जमीन पर बैठे । राजा का अनुसरण कर अन्य राजपुरुषो और नगरवासियों

❀ पृष्ठ ३२३

ने भी आचार्य को नमस्कार किया और उनके समक्ष यथास्थान जमीन पर बैठ गये । हे भद्रे अगृहीतसकेता ! उस समय मेरे पापी मित्र शैलराज का मुझ पर प्रभाव होने से मैंने न तो ऐसे धुरन्धर आचार्य को नमस्कार ही किया न उनके चरण ही छूए । पत्थर से भरे वोरे के समान तनिक भी झुके विना मैं सीधा तनकर मात्र श्रोताओं की संख्या बढ़ाने के लिये जमीन पर बैठ गया । [२९-३६]

विचक्षणाचार्य की धर्मदेशना

आचार्य विचक्षण ने जल से भरे हुए मेघ के समान गम्भीर स्वर में अपना उपदेश प्रारम्भ किया—

आचार्यश्री ने कहा—हे भद्रजनों ! एक विशाल महल मे लगी हुई आग से घिरे हुए मनुष्यो की जैसी भयंकर स्थिति होती है, ऐसी ही स्थिति इस ससार की है । यह संसार शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दु.खो का घर है । बुद्धिमान मनुष्यों को यहाँ क्षणमात्र के लिये भी प्रमाद नही करना चाहिये । मनुष्य भव मिलना अति दुर्लभ है, * अतएव प्राणी को मुख्य रूप से परलोक का साधन करना चाहिये । इस ससार मे जिन विषय-वासनाओ का सेवन किया जाता है, यद्यपि वे सेवन करते समय वड़ी मधुर लगती हैं किन्तु उनका परिणाम वहुत ही विषादकारी होता है । मन को अच्छे लगने वाले जो संयोग हमे मिलते है, उन सभी का अन्त वियोग में ही होता है । आयु कब समाप्त होगी यह जाना नही जा सकता, इसलिये मृत्यु का भय सदा वना रहता है । इसलिये इस अग्निमय संसार को शीतल (पार) करने के लिये उसके योग्य व्यवस्थित योजना बनाकर अथक प्रयत्न करना आवश्यक है । इसके लिये सिद्धान्त (तत्त्वज्ञान) वासित धर्मरूपी मेघ की वृष्टि एक मुख्य साधन है । अत: सिद्धान्त-वासित तत्त्वज्ञान को सर्वप्रथम स्वीकार करना चाहिये और उसमें जो-जो उपदेश दिया गया हो उस पर आचरण करना चाहिये । शरीर को मुण्डमाला (कच्चे घड़ो) की उपमा दी गई है अतः यह सार रहित (नाशवान) है, ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिये । जो वस्तु असत् अर्थात् अस्तित्वहीन है उसे प्राप्त करने की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नही रखनी चाहिये । सिद्धान्त मे जिन बातो की आज्ञा दी गई है उनका विशेष रूप से अनुष्ठान करने के लिये सदा तन्मयता, एकाग्रता एवं निष्ठा पूर्वक तत्पर रहना चाहिये और सुसाधुओ की सेवा से उसे सदा पुष्ट करना चाहिये । धर्म-शासन और प्रवचन किसी प्रकार मलिन न होने पाए इसका सर्वदा ध्यान रखना चाहिये । जो प्राणी शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रवृत्ति करते है वे उपरोक्त सभी साधनो को प्राप्त करते हैं, इसलिये सभी अनुष्ठानो मे शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिये । सूत्रो मे वर्णित आत्मा के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझ कर, प्रवृत्ति करते समय आस-पास के निमित्तो (प्रसगो) को पूर्णतया पहचान कर उनके अनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये । जो-जो

---

* पृष्ठ ३२४

योग प्राप्त न हुए हो उन्हे प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। प्रमाद पर विशेष रूप से अकुश रखना चाहिये। प्रमाद के उत्पन्न होने के पहले ही उसके प्रतिरोध (रोकने) की योजना बना लेनी चाहिये। जो प्राणी इस प्रकार का व्यवहार करते है उनके सोपक्रम कर्म (प्रयत्न द्वारा तप आदि से जिनका क्षय सम्भव हो) नष्ट होते है और निरुपक्रम कर्म (निकाचित कर्म जिन्हे भोगना पडता है) का नया बन्धन रुक जाता है। आप लोगो को भी इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि आपकी भविष्य की प्रगति के लिये यह अत्यावश्यक है।

देशना का प्रभाव : नरवाहन के प्रश्न

आचार्य विचक्षण का ऐसा सुन्दर एव मार्मिक उपदेश सुनकर सभा में कुछ भव्य जीवो को चारित्र ग्रहण करने की इच्छा हुई, कुछ को श्रावक के व्रत ग्रहण करने की इच्छा हुई, कुछ जीवों के मिथ्यात्व का नाश हुआ, कुछ जीवो के राग-द्वेष आदि विकार दुर्बल हुए और कइयो को भद्रिक भाव (सरल स्वभाव) प्राप्त हुआ। आचार्यश्री का उपदेश सुनकर सभी ने उनके चरण छुए और कहने लगे कि, 'हे स्वामिन् ! आपकी जैसी आज्ञा हो हम वैसा ही अनुष्ठान करने की इच्छा रखते है।' उसी समय राजा नरवाहन ने सोचा कि इन्होने तरुणावस्था मे ससार-त्याग क्यो किया और दीक्षा क्यो ली ? इस शंका का निवारण करने के लिये उन्होने आचार्यश्री को हाथ जोड मस्तक झुका कर पूछा—भगवन् ! आपका सुन्दर रूप मनुष्यो में असाधारण है, आपकी आकृति से ही लगता है कि आप महान् ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, तथापि आपने इस भरी जवानी मे वैराग्य धारण किया इसका क्या कारण है ? क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे ? [१]

आचार्य ने कहा—राजन् ! आपको यह कौतूहल है कि मुझे ससार से वैराग्य क्यों हुआ ? मैं आपकी जिज्ञासा का समाधान करता हूँ, किन्तु— [२]

आत्मस्तुति. परनिन्दा, पूर्वक्रीडितकीर्तनम्।
विरुद्धमेतद्राजेन्द्र ! साधूना त्रयमप्यलम् ॥

हे राजेन्द्र ! साधुओ को तीन बातो के वर्णन का विशेष रूप से निषेध किया गया है (१) आत्मस्तुति, (२) परनिन्दा, और (३) पूर्वकाल मे की हुई आनन्द-क्रीडा का वर्णन। यह तीनो बाते साधु के आचरण के विरुद्ध है और मुझे अपन आत्मकथा कहने मे इन तीनो का वर्णन करना पडेगा, इसलिये मुझे अपने चरित्र पर प्रकाश डालना उचित नही लगता। [३-४]

नरवाहन—भगवन् ! ऐसा कहकर तो आपने मेरे मन मे आपकी आत्म-कथा के प्रति अधिक जिज्ञासा उत्पन्न कर दी है, अत. अब तो आप मुझ पर कृपा कर अपना चरित्र अवश्य ही बतावे। [५]

राजा के आग्रह को देखकर और यह समझ कर कि मेरे वैराग्य-कारण को सुनकर राजा और अन्य लोगो को भी ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त होगा। फलत आचार्य ने मध्यस्थ वृत्ति से अपना चरित्र कहना प्रारम्भ किया। [६]

विचक्षणाचार्य-चरित्र

रसना-प्रबन्ध

[हे अगृहीतसकेता ! विचक्षणाचार्य ने अपना चरित्र मेरे पिता राजा नरवाहन के समक्ष इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि जिसे मैं भी सुन सकूं ।] ❀

इस लोक में अनेक प्रकार के वृत्तान्तों (घटनाओं) से परिपूर्ण, आदि-अंत-रहित, अत्यन्त मनोहर एव दर्शनीय भूतल नामक नगर है। इस नगर पर मलसंचय नामक राजा राज्य करता है। इस राजा को त्रैलोक्य में प्रसिद्धि है, देवताओ का भी नायक है, अतिशय प्रताप का धारक है और इसकी आज्ञा सर्वदा अनुल्लंघनीय होती है। इस राजा के भुवन-विश्रुत तत्पक्ति नामक रानी है जो अच्छे बुरे सभी कार्यो पर सर्वदा दृष्टि रखती है। इन राजा-रानी के अपने श्रेष्ठ व्यवहार से जगत् को आह्लादित करने वाला एक शुभोदय नामक पुत्र है तथा दूसरा पुत्र सभी लोगों को संताप देने वाला जगत्प्रसिद्ध अशुभोदय है। [७-११]

शुभोदय कुमार पर अत्यन्त प्रेम रखने वाली, पतिव्रता, अत्यन्त रूपवती, लोकप्रिय, सौन्दर्यमूर्ति और कमललोचना निजचारुता नामक पत्नी है। अशुभोदय कुमार के समस्त प्राणियो को सन्ताप देने वाली अत्यन्त भयंकर स्व-योग्यता नामक स्त्री है। [१२-१३]

निजचारुता और शुभोदय को समय के परिपक्व होने पर विचक्षण नामक पुत्र की प्राप्ति होती है तथा स्वयोग्यता और अशुभोदय को जड़ नामक अधम पुत्र की प्राप्ति होती है। [१४-१५]

विचक्षण

इन दोनो कुमारों मे विचक्षण कुमार जैसे-जैसे बड़ा होने लगा वैसे-वैसे उसमे सभी प्रकार के गुणो की भी वृद्धि होने लगी। वह मार्गानुसारी में जो गुण होते हैं उनका ज्ञाता, गुरुओ की निरन्तर भक्ति करने वाला, महाबुद्धिशाली, उत्कृष्ट गुणो के प्रति प्रेमवृत्ति वाला, दक्ष, अपने लक्ष्य (साध्य) को जानने वाला, जितेन्द्रिय, सदाचार परायण, धैर्यवान्, अच्छी वस्तुओं का उपभोक्ता, मित्रता को दृढता के साथ निभाने वाला, सुदेव की मन से पूजा करने वाला, महान् दानेश्वरी, अपने और अन्य के मनोभावों को जानने वाला, सत्यवक्ता, अतिनम्र, प्रेमियो के प्रति वात्सल्य वाला, क्षमाशील, मध्यस्थ वृत्ति से काम करने वाला, प्राणियों की इच्छा पूर्ण करने मे कल्पवृक्ष के समान, धर्म पर दृढ विश्वास रखने वाला, पवित्रात्मा, आपत्ति मे भी अखिन्न रहने वाला, स्थानो के मूल्य और भेद को जानने वाला, दुराग्रह रहित, समस्त शास्त्रो के तत्त्वों का जानकार, वाणीकुशल, नीति-निपुण, शत्रुओ को त्रास देने वाला, स्वगुणो के मद से रहित, परनिन्दा से मुक्त, सम्पदा-लाभ में भी हर्षित नही होने वाला और मानो उसका जन्म ही दूसरों के उपकार के लिये

❀ पृष्ठ ३२५

हुआ हो ऐसा सच्चा परोपकारी था। इस विचक्षण कुमार का अधिक वर्णन क्या करू ? सक्षेप मे कहूँ तो मनुष्य के जिन समस्त सद्‌गुणो का वर्णन अनेक स्थलो पर किया जाता है, वे सभी सद्‌गुण इस विचक्षण कुमार मे विद्यमान थे। [१६-२३]

जड़

अशुभोदय का पुत्र जड कुमार भी बडा होकर कैसा हुआ, यह भी सुनिये। वह विपरीत मन वाला, सत्य-पवित्रता और सतोष से रहित, मायावी, चुगली खाने वाला, नपु सक जैसा, साधुओ की निन्दा करने वाला, झूठी प्रतिज्ञा करने वाला, पापात्मा-गुरु और देव की कदर्थना करने वाला, असत्यवादी लोभान्ध, दूसरो के चित्त को भेदन करने (दुखाने) वाला, मन मे कुछ और कार्य मे कुछ, अर्थात् मन वचन और कार्य मे असमानता वाला, अन्य की सम्पत्ति से जलने वाला, अन्य की विपत्ति मे आनन्द मनाने वाला, अभिमान से फूलकर कुप्पा बना हुआ, निरन्तर क्रोध मे भड़भडाने वाला, दात किटकिटाकर बोलने वाला, सर्वदा अपनी बड़ाई करने वाला और राग-द्वेष के वश मे रहने वाला था। अर्थात् वह समस्त दुर्गुणो का पिटारा था। सक्षेप मे कहूँ तो अधम से अधमतम दुर्जन मे जिन-जिन दोषो की कल्पना की जा सकती है वे सभी दोष इस जड़ कुमार मे विद्यमान थे। [२४-२९]

इन विचक्षण कुमार और जड कुमार का अपने-अपने महलो मे सुख पूर्वक पालन-पोषण होता रहा और क्रमशः वृद्धि प्राप्त करते-करते ये दोनो युवावस्था को प्राप्त हुए। [३०]

विचक्षण का बुद्धि के साथ लग्न

विश्व प्रसिद्ध गुण-रत्नो का उत्पत्ति स्थान निर्मलचित्त नामक एक सर्वोत्तम नगर है। इस अन्तरग नगर मे मलक्षय नामक राजा राज्य करते है। ये राजा अनेक सद्‌गुण रूपी रत्नो को जन्म देने और उन रत्नो का पालन (वृद्धि) करने वाले है। इनके सर्वागसुन्दरी सद्‌गुण रूपी रत्नो की वृद्धि करने वाली अत्यन्त मनभावनी सुन्दरता नामक पटरानी है। समय के परिपक्व होने पर इनको कमलपत्र के समान नेत्रो वाली, गुणो की भण्डार, रूपवती और कुल के यश को बढाने वाली बुद्धि नामक पुत्री उत्पन्न हुई। युवावस्था प्राप्त होने पर राजा-रानी ने अपनी पुत्री बुद्धि को स्वयवर के लिये उसके अनुरूप रूप और गुण वाले विचक्षण कुमार के पास भेजा। बुद्धि ने भी कुमार का भलीभाँति परीक्षण कर स्वेच्छा से उसका वरण किया। विचक्षण कुमार ने हर्षपूर्वक और आडम्बर महोत्सव के साथ सुशोभना बुद्धि के साथ पाणिग्रहण किया। उस सद्‌गुणशील पत्नी पर कुमार का अतिशय हार्दिक प्रेम था। [३१-३६]

विमर्श-प्रकर्ष

विचक्षण कुमार अपनी पत्नी बुद्धि के साथ शुभकर्मो के कारण अनेक

* पृष्ठ ३२६

प्रकार के मन को तुष्टि देने वाले सुखो को (मानसिक सुख) भोगता हुआ आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत कर रहा था। अन्यदा मलक्षय राजा ने अपने पुत्र विमर्श को उसकी वहिन वुद्धि के कुशल समाचार प्राप्त करने के लिये उसके पास भेजा। विमर्श कुमार को अपनी वहिन वुद्धि पर प्रगाढ स्नेह था, अत. वह उसके पास आकर वही आनन्दपूर्वक रहने लगा। वुद्धि को भी अपने भाई विमर्श पर अत्यन्त स्नेह था और उसका पति विचक्षण भी उसका बहुत सन्मान करता था तथा पति-पत्नी मे परस्पर अत्यन्त प्रेम था, इसलिये विमर्श के आने से उन्हें अतिशय प्रसन्नता हुई। ऐसी प्रेम और स्नेहशील परिस्थितियो मे वुद्धि ने गर्भ धारण किया। समय परिपक्व और गर्भ काल पूर्ण होने पर उसने एक अत्यन्त दीप्तिमान सर्वागसुन्दर बालक को जन्म दिया। इस वालक का नाम प्रकर्ष रखा गया। दिनो दिन वुद्धिनन्दन प्रकर्ष कुमार वढने लगा। साथ ही साथ उसके गुणो मे भी वृद्धि होती गई और वह अपने पिता विचक्षण जैसा गुणवान वन गया। वह अपने मामा विमर्श का भी वहुत लाड़ला था। [३६-४२]

※

७. रसना और लोलता

एक दिन विचक्षण कुमार और जड़ कुमार अपने मनोहर वदनकोटर (मुख) नामक उद्यान मे घूमने गये। वहाँ अपनी इच्छानुसार खाते-पीते प्रसन्नता में झूमते वे दोनों कुछ समय तक वहाँ रहे। इस वदनकोटर उद्यान मे मोगरे जैसे सफेद आड़े-टेढे, चिरे हुए वृक्षो की दो मनोहर पंक्तियाँ (दन्त-पंक्तियाँ) उन्होने देखी।※ वे कौतुक से इन सफेद वृक्ष (दन्त) पंक्तियो के भीतर गये तो वहाँ उन्हे एक वहुत वड़ा विल (गुफा) दिखाई दिया। वह इतना अधिक गहरा था कि उसका कही अंत ही दिखाई नहीं देता था। ऐसे अद्‌भुत बिल का वे दोनो कुमार आश्चर्यचकित होकर आँखे फाड़कर वहुत समय तक निरीक्षण करते रहे। उस समय उनके देखते-देखते एक रक्तवर्ण वाली मनोहर और सुन्दरागी ललना अपनी दासी के साथ वाहर निकली। [४३-४८]

रमणी का कुमारों पर प्रभाव

अचानक ऐसी सुन्दर स्त्री को वाहर निकलते देखकर विपरीत वुद्धिवाला जड कुमार हर्षित हुआ और सोचने लगा कि, अहो ! यह तो कोई अपूर्व स्त्री है। ऐसी लावण्यवती तरुणी तो मैंने कभी देखी ही नही। अहा ! कैसी इसकी सुन्दरता ! कैसी रमणीय अनुकृति ! कैसा मनोहर रूप ! कैसे सुन्दर आकर्षक गुण ! कही यह

※ पृष्ठ ३२७

कोई स्वर्ग से भ्रष्ट होकर मृत्युलोक मे आई हुई देवांगना तो नही है ? अथवा पाताल से निष्कासित नागकन्या तो यहाँ नही आई है ? नही-नही, मेरे विचार समीचीन नही है; क्योकि स्वर्गलोक या पाताललोक मे ऐसी सुन्दर स्त्री कैसे हो सकती है ? और मृत्युलोक मे तो ऐसी स्त्री की बात करना ही व्यर्थ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि विधि (ब्रह्मा) ने मुझ पर सन्तुष्ट होकर मेरे लिये ही विशेप प्रयत्न पूर्वक विश्व के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ परमाणुओ को ग्रहण कर इस स्त्री का निर्माण किया है। इस स्त्री के साथ कोई पुरुष भी नही है और यह स्त्री चपल दृष्टि से मेरी तरफ बार-बार देख रही है, इससे लगता है कि अवश्य ही मेरे लिये ही विधि ने इसका निर्माण कर उसे इस उद्यान मे भेजा है। अत' अब मुझे इस कन्या के निकट जाकर इसके नाम आदि एव चित्त का परीक्षण कर इसे अपना लेना चाहिये। मन मे अन्य व्यर्थ के विचार करने से क्या लाभ है ? [४९-५५]

विचक्षण कुमार ने भी वदनकोटर की गुफा में से इस ललित मुख वाली ललना को निकलते देखा था। उसे देखकर महात्मा विचक्षण के मन मे विचार आया कि यह परस्त्री है, अकेली है, जगल मे है और सुन्दर भी है। ऐसी स्थिति मे परकीया के सन्मुख रागपूर्वक देखना और ऐसे एकान्त मे उससे बात करना भी उचित नही है। [५६-५७] क्योकि:—

सत: सन्मार्गरक्ताना, व्रतमेतन्महात्मनाम्।
परस्त्रियं पुरो दृष्टवा, यान्त्यधोमुखदृष्टय: ।।

सन्मार्ग पर चलने वाले सज्जन पुरुषो का यह नियम होता है कि जब कभी वे अपने सामने किसी परस्त्री को देखते है तब जमीन की ओर मुख तथा नीची दृष्टि रखकर चले जाते है। अत. अब इस स्थान से चले जाना ही अच्छा है, इस विपय मे अधिक विचार करना व्यर्थ है। ऐसा विचार कर विचक्षण जड़ कुमार का हाथ खींचकर आगे बढने लगा। विचक्षण कुमार कुछ अधिक बलवान था इसलिये जब वह जड कुमार का हाथ खीच कर चलने लगा तब जड़ कुमार को मोह के कारण ऐसा दु.ख हुआ मानो किसी ने उसका सर्वस्व हरण कर लिया हो। [५८-६०]

दासी का जाल : रसना का परिचय

विचक्षण और जड कुमार थोडी दूर गये ही थे कि उस सुन्दर स्त्री के साथ जो दासी थी वह दौडकर उनके पीछे आई [६१] और दूर से ही पुकार-पुकार कर कहने लगी—"बचाओ ! मेरे प्रभु ! बचाओ !! अरे ! मैं मन्द भाग्यवाली मर रही हूँ, कोई तो मुझे बचाओ।"

जड कुमार ने पीछे मुड़कर देखा और कहा—सुन्दरी ! डरो मत, तू किससे डर रही है ? मुझे बता।

दासी—आप दोनों मेरी स्वामिनी को ❀ छोड़कर आ गये इसलिये उस

❀ पृष्ठ ३२८

बेचारी को मूर्छा आ गई है और वह मरने जा रही है, अतः हे देवों ! कृपा कर आप दोनों उसके निकट आइये। आप उनके पास रहेगे तो मेरी स्वामिनी का स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जायेगा। उनका स्वास्थ्य ठीक होने पर मैं निश्चिन्त होकर आप दोनों को उनका समस्त स्वरूप विस्तार के साथ बतलाऊंगी।

जड़ ने विचक्षण की तरफ देखा और कहा—चलो, हम इसकी स्वामिनी के समीप चलते हैं। उसे स्वस्थ होने दो, फिर यह दासी हमको निश्चिन्त होकर अपनी स्वामिनी के सम्बन्ध में सब बाते बतायेगी, इसमें क्या आपत्ति है ?

विचक्षण कुमार ने अपने मन में सोचा कि यह ठीक नही है। यह दासी मुझे तो अत्यन्त चालाक और स्वभाव से ही बहुत चंचल दिखाई देती है इसलिये यह अवश्य ही हमें ठगेगी। अथवा चल कर देखें तो सही, वहाँ जाकर यह क्या कहती है ? मुझे तो यह कभी भी ठग नही सकती, इसलिये चल कर देख ही लिया जाय, व्यर्थ में ही शंका करने से क्या लाभ ? ऐसा विचार कर विचक्षण ने जड से कहा—'चलो, ऐसा ही सही।' दोनों कुमार वापस मुड़े और उस स्त्री के पास गये। उन्हे वापस आये देखकर वह थोड़ी स्वस्थ हुई। उसे स्वस्थ होते देखकर उसकी दासी उन दोनों कुमारो के पाँव पड़ी और बोली—'आपकी बड़ी कृपा हुई। आप दोनों ने बहुत ही अनुग्रह किया। आपने मेरी स्वामिनी को जीवित कर मुझे भी जीवनदान दिया।'

जड़—अरे सुन्दरी ! तेरी इस स्वामिनी का नाम क्या है ?

दासी— मेरी स्वामिनी का प्रातः स्मरणीय नाम रसना (जिह्वा) है।

जड—तुझे किस नाम से पहचानू ? अर्थात् तेरा नाम क्या है ?

दासी—(लज्जित होकर) लोग मुझे लोलता (लोलुपता) के नाम से जानते हैं। मैं और आप तो चिरकाल से परिचित हैं किन्तु मुझे लगता है कि आप इस बात को भूल गये हैं। सचमुच में मेरा यह दुर्भाग्य है, मैं क्या करू !

जड़ अरे ! मेरा तुम्हारे साथ चिरकाल से परिचय कैसे है ?

दासी—यही बात तो मैं आपको बताना चाहती हूँ।

जड़—ठीक है, बताओ।

दीर्घकालीन परिचय

लोलता दासी—यह मेरी स्वामिनी परम योगिनी है। यह भूत और भविष्य के सब भावों को जानती है और समझती है। इसकी मुझ पर बड़ी कृपा है, इसलिये मैं भी इसके समान ही बन गई हूँ। सुनिये, कर्मपरिणाम राजा के राज्य मे असंव्यवहार नगर है। आप दोनों उस नगर मे बहुत समय तक रहे थे। फिर कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा से आप दोनों एकाक्षनिवास नगर तथा बाद मे विकलाक्ष निवास नगर में आये। आप दोनों को याद होगा कि विकलाक्ष निवास नगर मे तीन मोहल्ले हैं। उसमे प्रथम मोहल्ले मे द्विरिन्द्रिय नामक कुलपुत्र रहते है। आप लोग जब इन कुलपुत्रों मे निवास कर रहे थे तब महाराज की आज्ञा का

पूर्णतया पालन करने से आप पर प्रसन्न होकर आपको यह वदनकोटर नामक उद्यान उपहार मे दिया गया था। तब से आप इसके स्वामी है। इस उद्यान में स्वाभाविक रूप से यह बडी गुफा भी तभी से विद्यमान है। यह तो मेरी उत्पत्ति के पूर्वकाल की बात हुई। इसके पश्चात् विधि (भाग्य) ने विचार किया कि ❀ ये बेचारे दोनों स्त्रीरहित है जिससे सुख से नही रह पाते है, अतः इनका विवाह किसी सुन्दर स्त्री से करवा दूं। उसके पश्चात् करुणा-परायण विधि ने आप दोनो के निमित्त ही इस महाबिल (गुफा) मे मेरी स्वामिनी रसना की रचना कर रख दिया और मुझे उसकी दासी बनाया। यही हम दोनों का वृत्तान्त है।

उपरोक्त वृत्तान्त सुनकर जड कुमार ने विचार किया कि—अहा ! मैंने पहिले जैसा सोचा था वैसी ही बात निकली। इस रसना को विधि ने मेरे लिये ही निर्मित की है। धन्य है मेरे बुद्धिवैभव को !

विचक्षण कुमार ने मन मे विचार किया कि यह विधि कौन है ? ठीक, समझ मे आया; यह तो महाराज कर्मपरिणाम ही होने चाहिये, अन्य किसी मे तो इतनी शक्ति हो ही नही सकती।

जड़ (दासी से)—हाँ, तो भद्रे ! उसके बाद क्या हुआ ?

लोलता दासी—कुमार ! उसके बाद मेरी स्वामिनी रसना के साथ मैं आप दोनो के साथ नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे भोज्य पदार्थ खाती, विविध रसों से भरपूर पेय पदार्थों को पीती और इच्छानुसार चेष्टाये करती रही। अनन्तर विकलाक्ष निवास नगर के तीनों मोहल्लो मे और पचाक्षनिवास के मनुजगति नगर मे तथा ऐसे ही अन्य स्थानो मे चिरकाल से आपके साथ ही विचरण करती रही हूँ। यह रसना देवी दीर्घकाल से आपके साथ रहती आई है, अतः यह आपका विरह एक क्षण के लिये भी सहन नही कर सकती है। आप पर इसका इतना अधिक स्नेहबन्ध है कि कभी आप इस बेचारी का तनिक भी तिरस्कार कर दे तो इसको तत्काल मूर्छा आ जाती है और मृतप्राय हो जाती है। इसीलिये मैंने कहा कि हमारा आपके साथ चिर काल से जान पहचान है।

जड़ कुमार की रसना-लुब्धता

लोलता की बात सुनकर जड कुमार मन मे अतिशय तुष्ट हुआ, मानो उसके समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो गये हो। पुनः उसने लोलता दासी से कहा—सुन्दरी ! यदि तू जैसा कह रही है वह ठीक है तो तेरी स्वामिनी मेरे नगर मे प्रवेश करे और मेरे भव्य राजमहल मे निवास कर उसे पवित्र करे जिससे मैं तुम्हारी स्वामिनी के साथ मे बहुत समय तक सुखपूर्वक रह सकूं।

लोलता—नही, देव ! आप ऐसी आज्ञा न दे। मेरी स्वामिनी इस वदनकोटर उद्यान से बाहर कभी भी नही निकली है। आपने पहिले भी यही रहकर

❀ पृष्ठ ३२९

इनका लालन-पालन एव इसके साथ लीला की है। अतः अब भी आपको यही रह कर मेरी रसना स्वामिनी का लालन-पालन करना चाहिये।

जड़—तू जैसा कहेगी वैसा ही करूंगा। इस विषय मे तेरा वचन सर्वथा प्रमाण है। अतः तेरी स्वामिनी को जो बात प्रियकारी हो वह मुझे बतला, जिससे कि मैं उसकी पूर्ति कर सकूं।

लोलता—आपकी बड़ी कृपा। इसमे अब मेरे कहने योग्य क्या शेष रहता है? आप दोनो मेरी स्वामिनी का अच्छी प्रकार पालन-पोषण कर उसे प्रसन्न करे और निरन्तर अमृतमय सुख का अनुभव करे।

इस प्रकार का निर्णय करने के बाद जड कुमार अपने वदनकोटर (मुख) मे रहने वाली रसना देवी का मोह से प्रयत्न पूर्वक लालन-पालन करने लगा। उसे बार-बार दूध पाक, गन्ना, शक्कर, दही, घी, गुड आदि और उसके बने खाद्य पदार्थ, स्वादिष्ट मिठाइयाँ आदि खिलाने लगा और द्राक्षा आदि के सुन्दर पेय पदार्थ पिलाने लगा। उसकी इच्छानुसार प्रतिदिन विचित्र प्रकार के मद्य, मांस, मधु आदि और विश्व मे प्रसिद्ध रसो से भरपूर अन्य खाने-पीने के पदार्थ खिला-पिला कर उसे आनन्द देने लगा। ✽ इस प्रकार जड़ द्वारा रसना का लालन करते हुए कभी कोई न्यूनता दृष्टिगोचर होती तो लोलता दासी उसे प्रेरित करती और कहती—'मेरी स्वामिनी और आपकी प्यारी स्त्री प्रतिदिन आपको जैसा कहे उसी के अनुसार उसे मास खिलावें, शराब पिलावे, मिठाइयाँ खिलावें, सुन्दर स्वादिष्ट सब्जियाँ फल आदि खिलावे; क्योकि मेरी स्वामिनी को ऐसी वस्तुए बहुत अच्छी लगती हैं।' इस प्रकार लोलता जैसा कहती, उन सब को जड़ कुमार सर्वदा कार्यरूप मे परिणित करने लगा। वह समझने लगा कि यह जब कभी किसी भी वस्तु की माग करती है तो मुझ पर अनुग्रह करती है। [१–६]

रसना देवी पर आसक्त होने से जड कुमार प्रतिदिन विविध क्लेशो में निमग्न होने पर भी मोह के कारण यही मानता था कि, अहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ, पुण्यशाली हूँ, कृतकृत्य हूँ कि पुण्योदय से मुझे ऐसी शुभकारी पत्नी प्राप्त हुई है, जिससे मैं सुखरूपी समुद्र मे डुबकी लगा रहा हूँ। अभी जैसा मैं सुखी हूँ वैसा तीन भुवन मे भी अन्य कोई नही है; क्योंकि ऐसी सुन्दर स्त्री के बिना ससार मे सुख हो ही कैसे सकता है? [७–९

यतोऽलीकसुखास्वादपरिमोहितचेतन.।
तदर्थं नास्ति तत्कर्म, यदर्थं नानुचेष्टते ॥ [१०]

झूठे सुख की प्राप्ति के लिये झूठे सुख के स्वाद में लुब्ध हुए और मोह मे आसक्त चित्त वाले प्राणी के लिये ऐसा कोई भी कर्म नही होता जिसे वह नही करता हो। अर्थात् ऐसा प्राणी समस्त प्रकार के दुष्कर्म कर सकता है।

✽ पृष्ठ ३३०

इस प्रकार जड कुमार को रसना के लालन-पालन मे सर्वदा उद्यत (प्रयत्नशील) देख कर लोग उसकी हँसी उडाने लगे कि यह जड कुमार तो सचमुच जड़ ही है अर्थात् बुद्धिशून्य है।

यतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो, विमुख पशुसन्निभ. ।
रसनालालनोद्युक्तो न चेतयति किञ्चन ।। [१२]

रसना इन्द्रिय मे आसक्त प्राणी उसके लालन-पालन मे इतना पशुतुल्य हो जाता है कि वह धर्म, अर्थ और मोक्ष इन तीनो पुरुषार्थों का त्याग कर देता है और अन्य किसी भी विषय मे कुछ भी नही सोचता, अत. वह सचमुच जड ही समझा जाता है।

इस प्रकार लोग जड़ कुमार की अनेक प्रकार से हँसी उडाते और निन्दा करते, परन्तु वह तो किसी की भी चिन्ता किये बिना रसना मे अधिकाधिक गृद्ध होता गया। पीछे मुडकर उसने देखने का तनिक भी प्रयत्न नही किया। [१३]

विचक्षण और रसना

लोलता और जड कुमार के प्रश्नोत्तरो को विचक्षण ने सुना और मध्यस्थ भाव से अपने मन मे विचार किया कि रसना मेरी स्त्री है इसमे तो कोई सन्देह नही है, क्योकि यह मेरे वदनकोटर मे प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। परन्तु, इस दासी ने रसना का पालन-पोषण करने के बारे मे जो कुछ कहा है, उसके विषय मे तो पहले सम्यक् प्रकार से परीक्षण (जाँच-पडताल) किये बिना उसे स्वीकार करना उचित नही है। [१४-१६] कहा भी है—

यत. स्त्रीवचनादेव, यो मूढात्मा प्रवर्तते ।
कार्यतत्त्वमविज्ञाय, तेनानर्थो न दुर्लभ. ।। [१७]

जो मूर्ख प्राणी कार्य के तत्त्व को बिना समझे केवल स्त्री के वचन के आधार पर प्रवृत्ति करता है उसे अनर्थ की प्राप्ति हो यह असम्भव नही है। [१७] अत' लोलुपता जब कभी किसा खाने-पीने के पदार्थ की माँग करे तब उसे वह पदार्थ अनादरपूर्वक देना चाहिये और इसी प्रकार थोडा समय व्यतीत कर इस विषय मे बराबर जाँच करनी चाहिये कि वास्तविक सार क्या है ? [१८]।

विचक्षण ने अपने विचार के अनुसार निर्णय किया कि रागरहित होकर इस रसना को साधारण शुद्ध आहार देकर इसका पालन-पोषण तो करना चाहिये, परन्तु लोलता (लोलुपता) का पूर्णतया निवारण करना चाहिये। अविश्वसनीय स्त्री पर विश्वास भी नही करना चाहिये, अत' लोक व्यवहार निभाने के लिये अनिन्द्य मार्ग से इस रसना का पोषण करना चाहिये। अर्थात् इसको अधिक महत्त्व कभी नही देना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार विचक्षण कुमार धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थों को एक साथ निभाने लगा। इससे विद्वान् और समझदार लोग उसका

आदर करने लगे। इस प्रकार उसने अपना कुछ समय रसना के साथ लीलापूर्वक व्यतीत किया। लोलता तेजस्वी विचक्षण के अभिलाषा-रहित हृदय के भावो को अच्छी तरह समझती थी इसलिये वह उससे किसी भी प्रकार की माग करती ही नही थी। ॐ इस प्रकार विचक्षण लोलुपता-रहित रसना का पालन करता जिससे उसे किसी प्रकार का क्लेश नही होता और वह निरन्तर आनन्द मे रहता। क्योकि, दुरात्मा जड को रसना के लालन-पालन मे जो दोष और दु.ख उत्पन्न हुए और भविष्य मे होगे उसका कारण यह लोलता ही है। विचक्षण यद्यपि रसना का पालन-पोषण करता था किन्तु उसने लोलुपता को दूर भगा दिया था, इसलिये उसे किसी दोष या अनर्थ का भाजन नही बनना पड़ा। [१९-२५]

जड़ की माता-पिता के साथ चर्चा

एक दिन तुष्टचित्त जड़ कुमार ने अपनी माता स्वयोग्यता और पिता अशुभोदय से रसना नामक स्त्री की प्राप्ति के बारे मे सारा वृत्तान्त कहा। अपने पुत्र को लोलता दासी के साथ रसना जैसी वधू की प्राप्ति से उन्हे भी सन्तोष हुआ और स्नेहपूरित हृदय से उन दोनो ने जड से कहा—पुत्र! अभी तेरे पुण्यकर्मो का उदय हुआ है जिससे तेरे ही अनुरूप योग्य भार्या की प्राप्ति हुई है। तूने इसका पालन-पोषण शुरू कर दिया है यह भी अच्छा किया। ऐसे सुन्दर मुख वाली तेरी यह पत्नी तुझे बहुत सुख देगी, इसलिये हे पुत्र! तुझे इसका रात-दिन पालन-पोषण करना चाहिये। [२६-२९]

जड कुमार पहिले ही रसना का लालन-पालन बहुत ही आसक्ति और ममता पूर्वक कर रहा था, उस पर उसके माता-पिता ने भी वैसी ही प्रेरणा दी अत: शेप क्या रहता? जैसे कोई स्त्री पहले ही काम-वासना के उन्माद से परिपूर्ण हो और उस समय मे मोर टुहकने लगे तो उन्मत्तता मे क्या कमी रहे? मूढात्मा जड कुमार अब प्रगाढ आसक्ति पूर्वक रसना का लालन-पालन करने लगा और उसे प्रसन्न रखने के लिये स्वय अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ सहन करने लगा। [३०-३१]

विचक्षण की स्वजनों के साथ चर्चा

विचक्षण कुमार ने भी एक दिन अपनी माता निजचारुता और पिता शुभोदय को रसना की प्राप्ति के सम्बन्ध मे सब वृत्तान्त कहा। उस समय उसकी पत्नी बुद्धिदेवी, पुत्र प्रकर्ष और साला विमर्श भी साथ ही थे। उन सब ने भी रसना की प्राप्ति का वृत्त सुना। [३२-३३]

शुभोदय ने कहा—पुत्र! तुझे क्या समझाऊँ? तू तो स्वय वस्तु-तत्त्व को समझता है, इसलिये तेरा विचक्षण नाम सत्य ही है अर्थात् गुणानुरूप ही है, तथापि तुझे मेरे प्रति जो स्वभाव से ही आदर व सम्मान है उसी से प्रेरित होकर मैं तुझे दो बात कहता हूँ। नारी पवन के समान चञ्चल होती है, सध्याकाल के आकाश

ॐ पृष्ठ ३३१

की पक्ति (बादलों) के समान कभी रक्त (आसक्त) और कभी विरक्त होती है, पर्वत जैसे उन्नत स्थान से उत्पन्न नदी की भाँति निम्नगामिनी होती है, दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान दुर्ग्राह्य होती है, अत्यधिक कुटिलता से पूर्ण सापो को रखने के करडिया के समान होती है, कालकूट विष से वर्द्धित वेलडी (लता) के समान मृत्यु प्रदान करने वाली होती है, नरकाग्नि के समान अतिभीषण सताप देने वाली होती है, मोक्ष-प्राप्ति के साधक सद्ध्यान की शत्रु होती है, चिन्तन-भाषण और कर्म से भिन्न आचरण वाली होती है, मायाचारिणी होती है, पुरुष के निकट पतिव्रता साध्वी का दिखावा करने वाली होती है, इन्द्रजालिक विद्या के समान दृष्टि को आच्छादित करने वाली होती है, अग्निपिण्ड के समान पुरुष के मनरूपी लाख को पिघलाने वाली होती है और स्वभाव से ही सर्व प्राणियों मे परस्पर वैमनस्य करवाने वाली होती है। इसीलिये विज्ञपुरुषो ने नारी को ससार-चक्र को चलाने का कारणभूत कहा है।※ पुन. यह पुरुष के द्वारा आस्वादित और भुज्यमान दिव्य विवेकामृत भोजन का वमन करवाने वाली होती है, इसमे तनिक भी सन्देह नही है। पुनश्च, नारी मे असत्य-भाषण, साहसिकता, कपटवृत्ति, निर्लज्जता, अतिलोभिता, निर्दयता, अपवित्रता आदि दुर्गुण स्वाभाविक रूप से होते है। वत्स ! तुझे अधिक क्या कहूँ ? सक्षेप मे, इस जगत् मे जितने भी दोषपुञ्ज है वे सभी नारी रूपी भाण्डशाला (भण्डार) मे अनादि काल से सुप्रतिष्ठित (स्थापित) है। अत जिस प्राणी को अपने हित की कामना हो उसे स्वय को स्त्री के विश्वास पर नही रहना चाहिये। वास्तविकता को समझाने के लिये इतने विस्तार से मैंने उपरोक्त वर्णन किया है। तुझे यह रसना स्त्री दासी लोलता के साथ प्राप्त हुई, वह मुझे तो ठीक नही लगती। तेरा इसके साथ परिचय (जान-पहचान) कैसे हुआ ? अभी तो यह भी ज्ञात नही है कि यह कहाँ से आई और कौन है ? अत. इसका सग्रह (स्वीकार), पालन-पोषण करने के पहले इसके मूल स्थान के बारे मे अच्छी तरह से शोध (जाँच) करनी चाहिये। [३४-४८]

कहा भी है—

> अत्यन्तमप्रमत्तोऽपि, मूलशुद्धेरवेदकः।
> स्त्रीणामर्पितसद्भाव, प्रयाति निधन नरः॥ [४६]

अत्यन्त अप्रमत्त अर्थात् विवेकशील एव प्रवीण होने पर भी यदि पुरुष स्त्री के मूल स्वभाव (उत्पत्ति स्थान) की जाँच नही करता, उसे भलीभाँति नही पहचानता और अपना हृदय समर्पित कर देता है तो वह अवश्य ही निधन (नाश) को प्राप्त होता है। [४६]

निजचारुता माता ने कहा—वत्स विचक्षण ! तेरे पिता ने तुझे जो परामर्श दिया है वह पूर्णतया युक्तिसगत है। रसना की उत्पत्ति के विषय मे पहले जाँच करो। जाँच करने मे हानि भी क्या है ? इसके कुल, शील और स्वरूप को

※ पृष्ठ ३३२

सम्यक्तया ज्ञात कर लेने पर इसके अनुसरण का कार्य अधिक सरल और सुखकारी हो जायेगा। अर्थात् इसका पोषण कब और कितना करना चाहिये इसका निर्णय करने के लिये विशेष साधन प्राप्त हो जायेंगे।

बुद्धिदेवी (पत्नी) ने कहा—आर्यपुत्र ! गुरुजन (बडे लोग) जैसी आज्ञा दें उसी के अनुसार आपको करना चाहिये।

"अलघनीयवाक्या हि गुरव: सत्पुरुषाणां भवन्ति।"

सज्जन पुरुषो के लिये गुरुजनो के वाक्य अलघनीय होते हैं अर्थात् सज्जन पुरुष उनकी आज्ञा का कभी उल्लघन नही करते।

प्रकर्ष (पुत्र) बोला—पिताजी ! मेरी माताजी बुद्धिदेवी ने उचित ही कहा है।

विमर्श (साला) बोला—इस विषय में अयोग्य बात कहना आता हो किसको है ? अर्थात् अयोग्य बात कहने वाला यहाँ है ही कौन ? सम्यक प्रकार से परीक्षा पूर्वक किया हुआ कोई भी कार्य सर्वथा सुन्दर ही होता है।

रसना की मूल-शुद्धि का निश्चय

विचक्षण ने अपने मन मे सोचा कि ये सब स्वजन जो परामर्श दे रहे है वह उचित ही है। यह सच ही है कि विद्वान् पुरुष को स्त्री के कुल, शील और आचार सम्बन्धी जानकारी किये बिना उसका संग्रहण और पोषण नही करना चाहिये। अर्थात् न तो अज्ञात स्त्री से परिचय ही बढाना चाहिये और न उस पर विश्वास ही करना चाहिये। रसना की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे तो मुझे कुछ लोलता से ज्ञात हुआ किन्तु इसके शील और आचार के सम्बन्ध मे तो ऐसा सुनने में आया है कि इसे अच्छा खाना-पीना बहुत पसन्द है और इसकी दासी लोलता ने भी ऐसा ही कहा है। अथवा नही ! नही !! शीलवान और समझदार व्यक्ति सर्पगति के समान अति कुटिल चित्तवृत्ति वाली कुलवधु के वचनो पर भी विश्वास कैसे कर सकता है ? ऐसी स्थिति मे एक दासी के वचन पर विश्वास करने का तो प्रश्न ही नही उठता है। शील और आचार के विषय मे तो लम्बे समय तक साथ रहने पर ही अच्छी तरह से पता लग सकता है, सामान्य सम्पर्क से नही। इस विषय मे मैं अधिक विचार क्यो करू ? मेरे पिताजी आदि ने जैसा परामर्श दिया है उसी के अनुसार इस रसना की मूलशुद्धि के सम्बन्ध मे खोज करू। इसकी मूलशुद्धि ज्ञात होने पर यथोचित मार्ग ग्रहण करूँगा।

उपरोक्त विचार करते हुए विचक्षण ने अपने पिताजी से कहा—जैसी आपकी आज्ञा। परन्तु, * रसना की उत्पत्ति का पता लगाने के लिये भेजने योग्य कौन है ? यह आपश्री ही निर्णय करावें।

विमर्श की नियुक्ति

शुभोदय—वत्स ! यह तेरा साला विमर्श महत्वपूर्ण कार्य करने का भार वहन करने मे समर्थ है।

---

* पृष्ठ ३३३

युक्त चायुक्तवद्भाति, सार चासारमुच्चकै ।
अयुक्त युक्तवद्भाति, विमर्शेन विना जने ।

इसका नाम ही विमर्श (तर्क पूर्ण विचार) है । विमर्श के बिना करणीय कार्य अकार्य लगता है, सार असार लगता है और अकरणीय कार्य करणीय लगता है । विमर्श जिस प्राणी के अनुकूल नही होता उसे हेय (त्याज्य) कार्य उपादेय लगता है और उपादेय कार्य हेय लगता है । यदि कोई अत्यन्त गहन कार्य हो जिसका पृथक्करण बुद्धि नही कर सकती हो तब विमर्श उस पर विवेचन कर सिद्धान्ततः निर्णय कर सकता है । क्योकि, विमर्श पुरुष और स्त्री के मानसिक रहस्य को समझता है, देश-राज्य और राजाओ की व्यवस्था जानता है, त्रिभुवन के तत्त्व को जानता है, रत्नो की परीक्षा कर सकता है, लोकधर्म का रहस्य जानता है, देव-तत्त्व को जानता है, सभी शास्त्रो का रहस्य उसके लक्ष्य मे रहता है तथा धर्म और अधर्म की व्यवस्था मे क्या रहस्य है यह उसको ज्ञात है । इन सब विषयो मे तत्त्व को जानने वाला विमर्श के अतिरिक्त ससार मे अन्य कोई नही है । वत्स ! जिन प्राणियो का मार्गदर्शक महाप्राज्ञ विमर्श होता है वे प्राणी समस्त विषयो के आन्तरिक रहस्य को समझ कर सुखी होते है । तू भाग्यशाली है कि तुझे यह विमर्श सगे साले के रूप मे प्राप्त हुआ है । भाग्यहीन प्राणियो को कभी चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति नही होती । रसना की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे पता लगाने के लिये तुझे इसको ही भेजना चाहिये । सूर्य ही रात्रि के अन्धकार को समाप्त करने मे समर्थ हो सकता है । [१-८]

विचक्षण—जैसी पिताजी की आज्ञा ।

इतना कहकर यह जानने के लिये कि विमर्श यह कार्य करने को तैयार है या नही ? विचक्षण ने विमर्श के मुख की ओर देखा ।

विमर्श—मुझ पर अनुग्रह है । (आपको जो कहना हो कहिये, मैं करने के लिये तैयार हूँ ।)

विचक्षण—यदि ऐसी बात है तो पिताजी की आज्ञा का शीघ्र पालन करे अर्थात् रसना की मूलशुद्धि के विषय मे शोध करे ।

विमर्श—बहुत अच्छा, मै तैयार हू । एक बात पूछनी है कि पृथ्वी विशाल है, जिसमे अनेक देश और अनेक राज्य है, इसलिये सम्भव है मुझे इस शोध मे अधिक समय लग जाय, अत आप कोई समय निश्चित कीजिये कि अमुक समय मे मुझे वापस आ जाना चाहिये ।

विचक्षण—भद्र ! तुम्हे एक वर्ष का समय दिया जाता है ।

विमर्श – बड़ी कृपा । ऐसा कहकर प्रणाम कर विमर्श चलने की तैयारी करने लगा ।

प्रकर्ष का सहयोग

इसी वार्ता के बीच प्रकर्ष ने उठकर अपने दादा शुभोदय के चरण छुए, अपनी दादी निजचारुता को प्रणाम किया और माता-पिता विचक्षण एव बुद्धि को

भी नमस्कार कर बोला—यद्यपि मेरे माता-पिता को विरह होगा इस विचार से मेरे मन मे शान्ति (निवृत्ति) नहीं हो पाती। मामा के साथ मेरा सहचारित्व होने से मेरे अन्त.करण मे उनके प्रति प्रबल आकर्षण है। जन्म से ही मैं उनके साथ ही रहा हूँ, अत: उनके विना एक क्षण भी नही रह सकता। इसलिये आप मुझे भी आज्ञा दे तो मैं भी मामा के साथ जाऊँ।

पुत्रादि की प्रशंसा

पुत्र के वचन सुनकर विचक्षण का हृदय पुत्र-स्नेह से उल्लसित हुआ। आनन्द के अश्रु-विन्दुओं से उसकी आँखे एवं पलके आर्द्र हो गईं और उसने अपने दाँये हाथ की अंगुली से पुत्र के मुखकमल को उठाकर चूम लिया। * स्नेह से उसका सिर सूँघा और बहुत अच्छा बेटे! कहकर उसे अपनी गोद मे विठाया, तथा अपने पिता शुभोदय के सामने देख कर कहा—पिताजी! आपने देखा, यह प्रकर्ष अभी छोटा बच्चा ही है पर इसका विनय, सम्भाषण की युक्ति पूर्ण पद्धति और इसकी वाणी मे उभरता स्नेह!

उत्तर मे शुभोदय ने कहा—वत्स! इसमे नवीनता क्या है? तेरे और बुद्धिदेवी के पुत्र का व्यवहार तो ऐसा होना ही चाहिये। किन्तु वत्स! पुत्रवधू या पौत्र के सम्बन्ध मे हमे गुणों की प्रशसा विशेषतया तेरे सामने तो करनी ही नही चाहिये। कहा है कि—

> प्रत्यक्षे गुरव: स्तुत्या· परोक्षे मित्रवान्धवा.।
> भृतका· कर्मपर्यन्ते. नैव पुत्रा मृता. स्त्रिय.॥

गुरु की स्तुति उनके समक्ष करनी चाहिये. मित्र और सगे सम्बन्धियो की स्तुति उनकी अनुपस्थिति मे करनी चाहिये, काम समाप्त होने के पश्चात् नौकर को धन्यवाद देना चाहिये, पुत्र की प्रशंसा तो करनी ही नही चाहिये और स्त्री की प्रशंसा तो उसके मरने के वाद ही करनी चाहिये। फिर भी इस पुत्रवधू और पौत्र के विशिष्टतम महान् गुणो को देखकर मेरे से उनकी प्रशसा किये बिना नही रहा जाता। तेरी पत्नी बुद्धिदेवी पूर्णरूप से तेरे अनुरूप ही है। यह श्रेष्ठ मुखवाली पुत्रवधू बुद्धि तो चन्द्र की चन्द्रिका के समान रूपवती है, गुणो मे वढोतरी करने वाली है, भाग्यशालिनी है, पति पर स्नेहपूरित हृदय वाली है, पटु है, सर्व कार्यकुशल है, वल-सम्पादन कराने वाली है, गृहभार को वहन करने मे सक्षम है, विशाल दृष्टि वाली होने पर भी सूक्ष्म दृष्टिवाली कहलाती है और सर्वांगसुन्दर होने पर भी जडात्माओ (मूर्खों) के मन मे द्वेष उत्पन्न करने वाली है। अथवा निर्मलमानस नगर के राजा मलक्षय और सुन्दरता देवी की जो पुत्री है उसका गुण वर्णन करने मे तो कौन समर्थ हो सकता है? अत. प्रकर्ष का वर्णन करने की भी अव क्या आवश्यकता है? अपनी माता बुद्धि से भी वह अधिक अनन्त गुण धारण करता जा रहा है। वत्स! विचक्षण

---

१. पृष्ठ ३३४

अधिक क्या कहूँ ? संक्षेप में कहूँ तो जगत में तू सचमुच धन्य है; क्योंकि तुझे ऐसा महाभाग्यशाली सुन्दर कुटुम्ब प्राप्त हुआ है। पुत्र! अभी-अभी तेरा रसना से परिचय हुआ जानकर हमे इसलिये चिन्ता हुई है कि हमारे दृष्टिकोण से यह स्त्री किसी भी प्रकार से तेरे योग्य नही है। कही यह रसना सौत बनकर मात्सर्य से बुद्धिदेवी का नाश करने वाली और अपनी सौत के पुत्र प्रकर्ष की प्रगति मे बाधक न बन जाए, इसी कारण हम चिन्तातुर हो गये हैं। अब कालक्षेप (समय बिताने) से क्या लाभ ? प्रस्तुत कार्य को पूरा करने की तैयारी करो। रसना की मूलशुद्धि का पता लगने पर जैसा योग्य लगेगा वैसा कर लिया जावेगा। प्रकर्ष को उसके मामा से स्नेह है, अतः उसे मामा के साथ भेजने का निर्णय किया वह भी ठीक ही है, यह तो खीर मे खांड मिलाने जैसा है। अब विमर्श और प्रकर्ष दोनो मामा भाणजा रसना की मुलशुद्धि की कार्यसिद्धि के लिये जावे। इस विषय मे मैं समझता हूँ कि अब तुम्हे तनिक भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही है।। [१-१४]

विचक्षण और बुद्धिदेवी ने शुभोदय के वचन शिरोधार्य किये। विमर्श और प्रकर्ष ने सब के चरण छूए, नमस्कार किया, यात्रा का सारा उचित कार्य पूरा किया और रसना देवी के मूल उत्पत्ति की सच्ची जानकारी का पता लगाने के लिये विदा हुए।

❀

८. विमर्श और प्रकर्ष

शरद् ऋतु का वर्णन

शरद् ऋतु का सुहावना समय है। पृथ्वी पर धान्य पक गया है। गोपालक एक साथ मिलकर रास गा रहे है। धान्य की प्रतीक्षा मे आकुल प्रजा के लिये सुनहरा समय आ गया है। ❀ गोपागनाये (कृषक महिलाये) धान्य के खेतो की रक्षा मे तत्पर है।

जलविहीन बादलो के झुण्ड के झुण्ड आकाश मे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पृथ्वीतल श्वेत काश के घास से ढक गया है। भूमण्डल का मध्यभाग चन्द्रमा की शीतल एव उज्ज्वल किरणे पड़ने से स्फटिक रत्न के कुम्भ जैसा देदीप्यमान हो रहा है।

कलहसो के मीठे मधुर स्वर को सुनने के पश्चात् अब कान मोर के मधुर टहुक के प्रति विरक्त (रसहीन) हो गये है। अब लोगो की दृष्टि कदम्ब के बडे वृक्षो से हटकर पलास, (ढाक, खाखरे) के ऊँचे-नीचे वृक्षो मे आसक्त हो रही है।

❀ पृष्ठ ३३५

लोगों की जिह्वा अब खारे और तीखे स्वाद का त्याग कर मिष्टान्न में अनुरक्त हो रही है। इससे लगता है कि जगत् के लोग शुद्ध (सच्चे) गुणो के पारखी हैं, चापलूसी उन्हे रुचिकर नही है।

स्वच्छ निर्मल जल से परिपूर्ण सरोवर विकसित कमल रूपी नेत्रो से दिन को देख रहे है। आकाश भी लोकयात्रा की इच्छा से तारामण्डल और नक्षत्र रूपी नेत्रों से रात्रि मे पृथ्वी का अवलोकन कर रहा है।

गोकुल आनन्दित हो रहे हैं अर्थात् गायो के झुण्ड आनन्द से हरी घास चर रहे हैं। मजदूर वर्ग भी (धान की सुलभता से) हर्षित हो रहा है। कदम्ब वृक्ष पुष्पित हो रहे हैं। रात्रियाँ स्वच्छ और निर्मल हो रही है। इतना होने-पर भी चक्रवाक पक्षी अभी भी व्यथित हो रहे है (क्योकि उनका विरह काल अभी भी पूर्ण नही हुआ है)। सच है, जो प्राणी जब जिस वस्तु के योग्य बनता है तभी उसे उस वस्तु की प्राप्ति होती है। [१-६]

विमर्श और प्रकर्ष बाह्य-सृष्टि में

विमर्श और प्रकर्ष ऐसी शरद् ऋतु मे अत्यन्त मनोहर उद्यानों की शोभा को निहारते हुए, विकसित कमल खण्डो से विभूषित सरोवरो की छटा का निरीक्षण करते हुए, ग्रामो कस्वो और नगरों का अवलोकन करने से प्रमुदित होते, इन्द्र मह त्सव को देखकर हर्षित होते, दीवाली महोत्सव देखकर सन्तुष्ट होते, कौमुदी महोत्सव को देखकर आह्लादित होते और अनेक मनुष्यो के हृदयो की परीक्षा करते हुए बाह्य प्रदेशो मे खूब घूमे। जिस कार्य के लिये वे निकले थे उसकी सिद्धि के लिये उन दोनो ने सैकडो उपायों का अवलम्बन लिया, परन्तु वहाँ उन्हे रसना की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नही हो सकी। जब वे दोनो कार्य हेतु भूमण्डल मे विचरण कर रहे थे तभी हेमन्त ऋतु का आगमन हो गया।

हेमन्त ऋतु

इस समय में वस्त्र, तेल, कम्बल, रजाई और अग्नि मूल्यवान प्रतीत होते हैं। तिलक, लोध्र, कुन्द, मोगरा आदि अनेक प्रकार के पुष्पवन प्रफुल्लित होते है। शीतल पवन यात्रियो की दन्त वीणा को बजाते हैं, अर्थात् पथिको के दात कटकटा रहे हैं, जलराशि अथवा चन्द्र किरण, महल को छत, चन्दन और मोतियों की सुभगता (उत्कृष्टता) का हरण हो रहा है। [१]

हेमन्त ऋतु मे दुर्जन मनुष्यो की सगति की भाँति दिन छोटे हो जाते है और सज्जनो को मित्रता के समान रात्रियाँ लम्बी हो जाती हैं। विशुद्ध ज्ञान के अर्जन की भांति इस ऋतु में अनाज का सग्रह किया जाता है, काव्य पद्धति के समान मनोहर वेणियो की रचना की जाती है, लोगो के मुख सज्जनो के हृदय के समान स्नेह से परिपूर्ण हो जाते है। जैसे रणक्षेत्र मे शत्रुसेना को ललकार को सुनकर योद्धा आ डटते है वैसे ही परदेश गये हुए यात्री अपनी पत्नियो की विस्तृत जांघो और

उन्नत स्तनों की गर्मी का स्मरण कर अपनी ठण्ड को भगाने के लिये शीघ्र स्वदेश लौट आते है।

सूर्य का तेज कम हो जाने से वह लघुत्व को प्राप्त हुआ है, क्योकि जो दक्षिण दिशा का अवलम्बन लेते है उन सब की यही गति होती है अथवा जो दक्षिणा की आशा के अवलम्बन पर जीते है वे सभी लघुता को प्राप्त होते है, जैसे दक्षिण दिशा को प्राप्त सूर्य तेजहीन होकर लघुता को प्राप्त होता है। [१]

अपने प्रिय जन के विरह रूपी सर्प से नीचे पडे हुए अर्थात् व्यथित और शिशिर के पवन से खण्डित ※ शरीर वाले अर्थात् अत्यधिक ठण्ड से थर-थर कम्पित लोग मानो पशु ही हो। उन्हे यह हेमन्त ऋतु पकाकर खा जाने की इच्छा से रात्रि मे अग्नि से पचा रही हो ऐसा प्रतीत होता है। [१]

राजसचित्त नगर

इस प्रकार कुछ महीनो तक मामा-भाणजा विमर्श और प्रकर्ष बाह्य प्रदेश मे घूमते रहे, पर उन्हे रसना के मूल के बारे मे कुछ भी पता नही लगा। तब वे अन्तरग प्रदेश मे प्रविष्ट हुए और वहाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे रसना की मूलशुद्धि का पता लगाने के लिये घूमने लगे। घूमते हुए वे राजसचित्त नगर मे जा पहुँचे।

यह नगर बडे जगल जैसा लम्बा चौडा था। धन-धान्य से भरपूर घरो वाला होने पर भी अधिकाशत. जनशून्य था, अर्थात् थोडी सी ही आबादी थी। नगर मे किसी-किसी स्थान पर घर की रक्षा करने वाला या चौकीदार दिखाई देता था। ऐसे नगर को उन दोनो ने देखकर विचार किया—

प्रकर्ष—मामा! इस नगर मे इतने कम लोग है कि यह शून्य (श्मशान) जैसा दिखाई दे रहा है, इसका क्या कारण है, यह नगर ऐसा क्यो हो गया?

विमर्श—यह पूरा नगर समृद्धि से परिपूर्ण दिखाई दे रहा है। बडे-बडे भवन नजर आ रहे हैं, पर उनमे रहने वाल लोग बहुत कम दिखाई दे रहे है, जिससे लगता है कि इस नगर मे किसी प्रकार का उपद्रव नही है। मेरा अनुमान है कि इस नगर का राजा किसी प्रयोजन से बाहर गया है और उसके साथ उसका परिवार, सैन्य और राज्याधिकारी भी गये है।

प्रकर्ष—आपका अनुमान मुझे भी ठीक लग रहा है।

विमर्श—भाई! इसमे बडी बात क्या है? जितनी भी वस्तुएँ दिखाई देती है उनका तत्त्व मैं जानता हूँ। इसलिये तुम्हे भविष्य मे भी कभी कोई शका हो तो उसके बारे मे प्रसन्नता से मुझ से पूछ लिया करो।

प्रकर्ष—मामा! यदि ऐसा ही है तब तो एक बात अभी पूछता हूँ। देखिये, इस नगर का न तो राजा यहाँ है और न लोग ही दिखाई दे रहे है। सभी

※ पृष्ठ ३२५

नगर छोड़कर बाहर गये हैं। फिर भी इस नगर की शोभा (सौन्दर्य) में तनिक भी कमी दिखाई नहीं देती, इसका क्या कारण है ?

विमर्श—इस नगर में कोई महान् प्रभावशाली पुरुष रहता है, उसी के प्रभाव से नगर की समृद्धि-शोभा सर्वदा बनी रहती है।

प्रकर्ष—मामा ! ऐसा है तो हमें इस नगर में जाकर उस पुरुष को ढूंढना चाहिये।

विमर्श—ठीक है, चलो, चलते हैं।

फिर वे दोनों नगर में प्रविष्ट हुए और राजकुल तक आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने मिथ्याभिमान नामक अधिकारी को देखा। इस अधिकारी के पास अहंकार आदि कई पुरुष बैठे थे। विमर्श ने अपने भानजे से कहा—भद्र ! इस राजसचित्त नगर की जो श्री-शोभा अभी दिखाई दे रही है, वह इसी अधिकारी के प्रभाव से है।

प्रकर्ष—तब हम क्यों न इसके पास जाकर इससे बातें करें और नगर जनशून्य-सा क्यों है ? कारण पूछें।

विमर्श—चलो, चल कर पूछें।

फिर वे दोनों मिथ्याभिमान के पास गये। उससे कुछ वार्तालाप किया और पूछा—भद्र ! इस नगर में मनुष्य बहुत थोड़े दिखाई देते हैं इसका क्या कारण है ?

मिथ्याभिमान—अरे ! यह बात तो अच्छी तरह प्रसिद्ध हो चुकी है, क्या तुम्हें इसका पता नहीं है ?

विमर्श—भद्र ! आप कुपित न हों। हम दोनों यात्री हैं, इसलिये हमको इसका ज्ञान नहीं है। हमें यह जानने का अत्यधिक कौतूहल है अतः आपसे निवेदन करते हैं कि आप बतायें।

मिथ्याभिमान—इस नगर के स्वामी का नाम रागकेसरी है। ये त्रिभुवन में प्रसिद्ध प्रातःस्मरणीय महापुरुष हैं। इनके पिताजी का नाम महामोह है। इनके * विषयाभिलाष आदि अनेक मन्त्री और राज्याधिकारी हैं। वे अपनी पूरी सेना के साथ युद्ध-यात्रा में बाहर गये हुए हैं जिसे अनन्त काल हो चुका है। यहाँ के राजा ससैन्य बाहर गये हुए हैं, इसीलिये नगर में मनुष्य कम दिखाई दे रहे हैं।

विमर्श—भद्र मिथ्याभिमान ! इन रागकेसरी राजा का किसके साथ युद्ध चल रहा है ?

मिथ्याभिमान—दुरात्मा पापी संतोष के साथ।

विमर्श—संतोष के साथ युद्ध करने का कारण क्या है ?

मिथ्याभिमान—महाराज रागकेसरी की आज्ञा से मंत्री विषयाभिलाष ने स्पर्शन, रसना आदि पाँच अधिकारियों को समस्त जगत् को वश में करने के लिये

---

* पृष्ठ ३३७

भेजा था। स्पर्शन, रसनादि पाँचों ने लगभग पूरे ससार को अपने वश मे कर लिया था, तभी इस पापी संतोष ने इन पाँचों को भगाकर कुछ लोगो को बचा लिया था और उन्हे निर्वृति नगर मे पहुँचा दिया था।' यह सवाद सुनते ही महाराजा रागकेसरी को प्रचण्ड क्रोध आया और सतोष को पराजित करने के लिये स्वय ही निकल पड़े। यही लड़ाई का मूल कारण है।

विमर्श ने सोचा कि—अहा! रसना के नाम की कुछ तो भनक पडी। इसका मूल कहाँ से शुरू हुआ है, इसके बारे मे नाम से तो कुछ पता लगा। रसना के गुण के बारे मे तो विपयाभिलाष को देखकर ज्ञात करूगा। अधिकाशत बच्चे पिता के अनुरूप ही होते है तो विषयाभिलाष को देखने पर शायद रसना के गुण के सम्बन्ध मे भी निर्णय हो जाएगा। ऐसा सोचते हुए विमर्श बोला—हे भद्र! यदि ऐसी बात है तब फिर आप यहाँ कैसे रहे? आप लड़ने क्यों नही गये?

मिथ्याभिमान—जब हमारी सेना यहाँ से प्रयाण (कूच) करने को तैयार हुई थी तब मैं भी सबके साथ तैयार होकर बाहर निकला था, किन्तु हमारे महाराजा ने सेना के मुख्य भाग मे मुझे देखकर अपने पास बुलाया और कहा—'आर्य मिथ्याभिमान! तुम इस नगर को छोड कर बाहर मत जाना। हमारे नगर से बाहर चले जाने पर भी यदि तुम यहाँ रहोगे तो नगर की श्री-शोभा किंचित् भी कम नही होगी और इस पर कोई चढाई भी नही करेगा, अर्थात् नगर उपद्रव रहित रहेगा। जैसे हम स्वय ही यहाँ हो, इस तरह सब कुछ चलता रहेगा, क्योकि इस नगर की रक्षा करने मे तुम्ही समर्थ हो।' मैंने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया और मैं यही रहा। मेरे यहाँ रहने का यही कारण है।

विमर्श - जब से आपके राजा युद्ध-स्थल पर गये है तब से उनके कुशल समाचार और लड़ाई की प्रगति के बारे मे आपको सवाद मिले या नही?

मिथ्याभिमान—अरे! हाँ, बहुत समाचार मिले है। हमारे राजा के दैवी साधनो से लडाई मे प्रायः हमारी जीत हुई है, परन्तु अभी भी उस पापी सतोप को सर्वथा पराजित नही किया जा सका है। वह लुटेरा चोर बीच-बीच मे हमारे राजा की आँखों मे धूल झोककर किसी-किसी मनुष्य को निर्वृति नगर ले भागता है। यद्यपि सतोष को पराजित करने के लिये राजा स्वय लडने गये है परन्तु वे अभी तक उसे पूरी तरह से पराजित नही कर पाये है इसीलिये इतना समय लग गया है।

विमर्श - तब आज कल आपके राजा कहाँ सुने जाते है, अर्थात् कहाँ है?

यह प्रश्न सुनकर मिथ्याभिमान के मन मे शका उठी कि कही ये दोनों (विमर्श-प्रकर्ष) शत्रुओ के गुप्तचर तो नही है और कही गुप्तचरी करने तो यहाँ नहीं आये है? इस विचार से उसने बात को उड़ा दिया। उत्तर मे वह बोला—मुझे इस विपय मे पक्की खबर नही है। प्रयाण के समय उनके कहने से ऐसा लगता था कि यहाँ से वे तामसचित्त नगर की ओर गये है। ❀ कदाचित् अभी भी वे वही हो।

❀ पृष्ठ ३३८

विमर्श—हमें जिस बात को जानने का कौतूहल था वह आपके उत्तर से पूर्ण हुआ। आपने सब कुछ वृत्तान्त बताने की सज्जनता दिखाई यह आपकी बड़ी कृपा है। अब हम जाते है।

मिथ्याभिमान—बहुत अच्छा ! तुम अपने कार्य में सफलीभुत हो।

विमर्श यह वचन सुनकर प्रसन्न हुआ। दोनों ने सिर को सहज झुका कर प्रणाम किया और राजसचित्त नगर से बाहर निकले।

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! मिथ्याभिमान से हमने सुना कि विषयाभिलाष के पाँच अधिकारियो मे से एक रसना भी है। अब हमे स्वय विषयाभिलाष से मिलकर रसना के गुणो से उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय करना चाहिये। अतः चलो, अब हम त मसचित्त नगर मे चलें।

प्रकर्ष—जैसी मामाजी की इच्छा।

तामसचित्त नगर

उसके बाद दोनो मामा-भाणजा तामसचित्त नगर जाने के लिये वहाँ से निकले और क्रमशः चलते हुए वहाँ पहुँचे। इस नगर के सब अच्छे मार्ग मूल से ही नष्ट हो गये थे, इसी कारण शत्रु इस किले को लाघ नही पाते थे, अर्थात् इस पर अधिकार प्राप्त नही कर पाते थे। यह नगर सर्वथा प्रद्योत रहित अर्थात् अन्धकारमय रहता था, चोर लोग यहाँ भलीभाँति आश्रय प्राप्त कर सर्वधित होते थे, पाप-पूर्ण मनुष्यो को यह नगर सर्वदा प्रिय लगता था, शिष्टजनो को इस नगर के प्रति सर्वदा तिरस्कार रहता था, अनन्त दु:खसमुद्र को पोषण करने का कारण-भूत था और समस्त प्रकार के सुख तथा उन्नति के लिये यह नगर सदा बाधक था। [१-२]

विचक्षणाचार्य कहते है कि यह नगर ऐसा होने पर भी विमर्श और प्रकर्ष को कैसा दिखाई दिया, वह आपको बताता हूँ। भयकर दावानल लगने से काले पडे हुए जगल जैसा यह नगर उन्हे दिखाई दिया। यद्यपि इस नगर मे भी अधिक लोग नही थे तथापि उसकी श्री-शोभा नष्ट नही हुई थी। [३]

नगर की ऐसी दशा देखकर प्रकर्ष ने पूछा—मामा ! इस नगर का कोई रक्षक है या नही ? [४]

विमर्श—इस नगर का भी कोई विशेष रक्षक हो ऐसा तो नही लगता, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नायक जैसे आकार का धारण कर कोई मनुष्य साधारण तौर पर काम चला रहा है। ५]

मामा-भाणजा वार्तालाप कर ही रहे थे कि उन्होने शोक नामक पाडीरिक अधिकारी को देखा। उसके आस-पास दैन्य, आक्रन्दन, विलपन आदि कई प्रधान पुरुष चल रहे थे और ऐसा लग रहा था कि वे तामसचित्त नगर मे प्रवेश करने की इच्छा रखते है। विमर्श और प्रकर्ष ने पहले तो उनके साथ सहज वार्तालाप किया और फिर पूछा—भद्र ! इस नगर का राजा कौन है ?

शोक—अरे ! इस नगर के राजा तो त्रिभुवन मे प्रसिद्ध है। महामोह राजा के पुत्र रागकेसरी के भाई और अविवेकिता के पति यहाँ के राजा हैं, जो बहुत प्रसिद्ध है। उसके प्रताप से उसके समस्त शत्रु आहत हुए है और वे भय से काँपते हुए स्वर्ग, पाताल और मृत्यु लोक मे छिप कर बार-बार उनका नाम जपते हैं। इनका नाम महाराजा द्वेषगजेन्द्र है। ये महाराज अचिन्त्य वीर्य (शक्ति) सम्पन्न और अतुल पराक्रमशाली है। हमारे राजा का नाम लेने या पूछने की भी किसमे शक्ति है ? अरे, इन महाराजा की बात तो दूर रहने दो। इनको अत्यन्त वल्लभा पत्नी अविवेकता देवी भी अपनी शक्ति से तीनो भुवनो को मोहित कर देती है, अर्थात् घबराहट मे डाल देती हैं। ❀ यह अविवेकिता अपने स्वसुर महामोह की आज्ञा का सदा पालन करती है और बडे लोगो के प्रति प्रेम रखने वाली तथा अपनी जेठानी (द्वेषगजेन्द्र के बडे भाई रागकेसरी की भार्या) महामूढता का सर्वदा कहना मानने वाली है। वह कभी भी अपने जेठ रागकेसरी की आज्ञा का उल्लघन नही करती। अपनी जेठानी महामूढता के साथ सगी बहिन जैसा प्रेम रखती है। अपने पति द्वेषगजेन्द्र पर उसे बहुत प्रेम और गहरी आसक्ति है, इसीलिये इसकी जगत् मे पतिपरायणा के रूप मे प्रख्याति है। अरे भले मनुष्यो ! हमारे राजा-रानी तो त्रिभुवन मे प्रसिद्ध है, फिर तुम कौन हो और कहाँ से उनके बारे में पूछने आये हो ? [१-८]

विमर्श – भद्र ! आप हम पर कुपित न हो। इस ससार मे सभी प्राणी सब कुछ जानते हो यह सम्भव नही है। हम तो बहुत दूर देश से आये है। आपका यह नगर हमने पहले कभी नही देखा था किन्तु आपके राजा-रानी का नाम अवश्य सुना था। आपके राजा अभी यही है या बाहर गये है, इसकी हमे खबर नही है। मन के सन्देह को दूर करने के लिये ही आपसे पूछा था। अत अब आप हमे यह बताये कि आपके राजा यही है या बाहर गये है और हम उनसे कहाँ मिल सकते है ? [९-१२]

शोक—तुम जो कुछ पूछ रहे हो वह भी जग-प्रसिद्ध बात है, सब बुद्धिमान् इस बात को जानते है फिर तुम कैसे नही जानते ? सुनो—महाराज महामोह, उनके ज्येष्ठ पुत्र रागकेसरी और यहाँ के राजा द्वेषगजेन्द्र तीनो ही अपनी-अपनी सेना लेकर उस सतोष नामक हत्यारे को मार भगाने का दृढ निश्चय कर यहाँ से निकल पडे थे। उन्हे गये तो बहुत समय हो गया। [१३-१५]

विमर्श - तब भाई ! आप यहाँ कैसे आये है ? देवी अविवेकिता तो अभी इसी नगर मे है न ? [१६]

शोक—देवी अविवेकिता अभी न तो यहाँ है और न महाराजा के साथ रणक्षेत्र मे ही है। इसका कारण मै तुम्हे अभी बताता हूँ। जिस समय महाराजा महामोह तथा रागकेसरी सेना लेकर हत्यारे सतोष को हनन करने का दृढ़ निश्चय

❀ पृष्ठ ३३९

कर चलने लगे थे तब हमारे नगर के राजा भी उनकी सहायता को जाने के लिये तैयार हुए। उस समय पतिवल्लभा देवी अविवेकिता भी उनके साथ जाने को उद्यत हुई। उसको उद्यत देखकर राजा द्वेषगजेन्द्र ने अपनी प्रिय पत्नी से कहा—'देवी कमललोचना! अभी तुम्हारा शरीर रणक्षेत्र मे जाने योग्य नही है। ऐसा लगता है कि युद्ध लम्बे समय तक चलेगा। अभी तुम गर्भवती हो और उसका यह अन्तिम माह है, इसलिये तुम्हे रणक्षेत्र में साथ ले जाना उचित नही है। अतः तुम यही रहो, अभी तो मैं अकेला ही लडाई मे जोऊँगा।' उत्तर में सुमुखी ने कहा—'नाथ! आपके विना मैं अकेली इस नगर मे नही रह सकती, अतः कृपा कर मुझे साथ ले चलिये।' उसका उत्तर सुनकर राजा ने फिर कहा—'तुम्हे यहाँ नही रहना हो तो रौद्रचित्तपुर चली जाओ। गर्भवती का युद्धक्षेत्र में जाना अनुचित है।* देवी! वहाँ दुष्टाभिसन्धि राजा तुम्हारी देखभाल करेगा। यह दुष्टाभिसन्धि मेरी सेना का आदमी है और पवित्र है। तुम्हे किसी प्रकार की चिन्ता न रहे ऐसा प्रबन्ध वह कर देगा।' उत्तर में देवी अविवेकिता ने कहा—'मैं आपको क्या कहूँ? क्या करना चाहिये यह तो आप सब जानते है।' [१७-२५]

इस वार्तालाप के बाद राजा द्वेषगजेन्द्र तो महामोह आदि के साथ युद्ध मे गये और उनकी आज्ञा से देवी अविवेकिता रौद्रचित्तपुर गई। उसके बाद वहाँ से भी वह देवी किसी कारणवश अभी बाह्य प्रदेश में है, क्योंकि किस समय क्या करना चाहिये यह देवी अच्छी तरह से जानती है। यहाँ से जाने के बाद अविवेकिता देवी ने एक पुत्र[1] को जन्म दिया था तथा पति के साथ योग होने से अभी भी उन्होने एक दूसरे पुत्र[2] को जन्म दिया है, ऐसा मैंने सुना है। अतः अविवेकिता देवी अभी यहाँ नही है। मेरे यहाँ आने का कारण भी तुम पूछ रहे थे, इसका उत्तर सुनो-[२६-२६]

स्पष्टीकरण

इस प्रकार संसारी जीव जब अपने चरित्र का सम्पूर्ण वृत्तान्त महात्मा सदागम के समक्ष सुना रहा था तब अगृहीतसंकेता ने अपनी बहिन के समान प्रज्ञाविशाला से कहा प्रिय बहिन! यह संसारी जीव जब नन्दिवर्धन के भव मे था तब वैश्वानर ने इसका लग्न हिंसा देवी के साथ करवाया था। उस समय वैश्वानर की मूलशुद्धि (उत्पत्ति) की जाच के प्रसंग में इसने पहले कहा था कि तामसचित्त नगर कैसा है, वहाँ के राजा द्वेषगजेन्द्र कैसे है, तथा रानी अविवेकिता कैसी है? इसके सम्बन्ध मे आगे जाकर वर्णन करूंगा और अविवेकिता रौद्रचित्तपुर नगर मे

---

* पृष्ठ ३४०

1 इस पुत्र का नाम वैश्वानर था जिसका वर्णन तृतीय खण्ड में आ चुका है।

2 इस पुत्र का नाम आठमुख वाला शैलराज है जिसका वर्णन पहले के प्रकरणो मे आ चुका है।

किस प्रयोजन से गई यह भी बताऊँगा। वह सब वृत्तान्त संसारी जीव ने अभी जो सुनाया वह सब तेरी समझ मे आ गया होगा ?

अगृहीतसकेता—हाँ, प्रियसखि ! अच्छा हुआ जो तूने मुझे इस सम्बन्ध मे याद दिला दिया। अब मैंने यह वृत्तान्त भलीभाति समझ लिया है।

तब प्रज्ञाविशाला ने संसारी जीव से कहा—भद्र ! जिस समय राजा नरवाहन के समक्ष विचक्षणाचार्य उपरोक्त विमर्श और प्रकर्ष का वृत्तान्त सुना रहे थे और तू भी वही रिपुदारण के रूप मे उस सभा मे वैठा यह सब सुन रहा था, क्या उस समय तुझे अविवेकिता का पूर्व-चरित्र ज्ञात था ? क्या तुझे मालूम था कि नन्दिवर्धन के भव मे तेरे मित्र वैश्वानर की माता यह अविवेकिता ही थी जो उस उस समय तेरो धाय माता थी ? क्या तुझे यह भी विदित था कि यही अविवेकिता रिपुदारण के भव मे तेरे मित्र शैलराज की माता थी ? या उस समय तुझे इस सन्दर्भ मे कुछ भी ज्ञात नही था ?

उत्तर मे ससारी जीव ने कहा—भद्रे ! मुझे उस समय इस सन्दर्भ मे कुछ भी ज्ञात नही था। उस समय ऐसा कहा जाता था कि मेरा एक के वाद एक अनेक अनर्थ-परम्परा मे फँसने का कारण मेरा अज्ञान ही था। उस समय मै तो केवल यही समझता था कि ये आचार्य मेरे पिता को कोई लालित्यपूर्ण कथा सुना रहे हैं। उस कथा के रहस्य को जैसे यह अगृहीतसकेता अभी नही समझ रही है वैसे ही मैं भी उस समय नही समझा था।*

अगृहीतसकेता—तब क्या इस कथा मे कोई विशेष रहस्य है ? क्या कोई गहन भावार्थ इसमें छिपा हुआ है ?

ससारी जीव—हाँ, इसमे गहन भावार्थ छिपा है। मेरे चरित्र मे अधिकांशत: एक भी वाक्य गूढार्थ-रहित नही है। अत: तुम्हे इस कथा को मात्र सुनकर ही सतोष नही कर लेना चाहिये, परन्तु इसके गूढार्थ को भी समझना चाहिये। यद्यपि ध्यानपूर्वक सुनने से इसका गूढार्थ स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाता है तथापि, हे अगृहीतसङ्केता ! जिस स्थान का भावार्थ तुम्हे समझ मे नही आये, उसके सम्बन्ध मे तुम्हे प्रज्ञाविशाला से पूछ लेना चाहिये। यह मेरे वचनो का रहस्य ठीक से समझती है।

अगृहीतसकेता—ठीक है, ऐसा ही करूँगी। अभी तो अपनी प्रस्तुत कथा कहो।

× × × ×

विचक्षणाचार्य ने जैसे राजा नरवाहन और सभा को कथा सुनाई थी उसी प्रकार संसारी जीव ने अगृहीतसकेता और प्रज्ञाविशाला को सुनाते हुए सदागम के समक्ष अपनी कहानी आगे बढायी।

---

* पृष्ठ ३४१

तामसचित्त नगर में राजा-रानी की अनुपस्थिति का कारण बताने के वाद शोक ने अपना उस नगर मे आने का कारण विमर्श और प्रकर्ष को सुनाया—

विमर्श—हाँ भाई ! आपका यहाँ आना कैसे हुआ ? यह बताएँ।

शोक—इस नगर मे मेरा एक प्राणो से भी अधिक प्रिय अन्तरग मित्र मतिमोह नामक महाबलवान अधिकारी है। हे भद्र ! इसीलिये महाराज की शक्तिशाली सेना को ससार के बीहड जगल में छोडकर मै उससे मिलने यहाँ आया हूँ। [१-२]

विमर्श—क्या यह मतिमोह आपके स्वामी के साथ युद्ध मे नही गया ?

शोक—महाराज ने उसे इस नगर मे ही रहने का निर्देश दिया था। युद्ध मे जाते समय महाराजा ने उससे कहा था कि, हे मतिमोह ! तुम्हे इस नगर के बाहर कभी नही जाना चाहिये, क्योंकि इस नगर की रक्षा करने मे तुम ही सामर्थ्यवान हो। महाराजा द्वेषगजेन्द्र की आज्ञा को स्वीकार कर मतिमोह यही रहा है। मेरे यहाँ आने का कारण तुम्हे बता चुका, अब मैं उससे मिलने के लिये नगर में प्रवेश कर रहा हूँ। [३-५]

विमर्श—बहुत अच्छा, आपको अपने कार्य मे सफलता प्राप्त हो।

शोक प्रसन्न होकर तामसचित्त नगर मे चला गया।

अब विमर्श ने प्रकर्ष से कहा—भाई ! अभी शोक के कथनानुसार महामोह आदि विशाल सेना के साथ ससार के बीहड जगल मे ही है, अत. हम को भी इस जगल मे जाकर रागकेसरी राजा और उसके मत्री विषयाभिलाष से मिलना चाहिये।

प्रकर्ष—मामा ! दूसरा मार्ग ही क्या है ? अटवी मे ही चले। तदनन्तर दोनो मामा-भाणजे तत्काल ही उस बीहड अटवी की तरफ चल पडे। [६-८]

६. चित्तवृत्ति अटवी

विमर्श और प्रकर्ष अपना कार्य शीघ्रता से निपटाने के लिये पवन वेग से प्रवास करते हुए थोडे ही समय मे चित्तवृत्ति नामक अटवी के मध्य में पहुँच गये। [९]

महामोह-दर्शन

इस बीहड अटवी मे एक महानदी के तट पर मनोहर विशाल मण्डप के मध्य मे निर्मित मच/वेदिका के ऊपर महासिंहासन पर विराजमान महामोह, रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र को अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनाओ से घिरे हुए देखा।

इनके चारों ओर करोडों सुभट घूम रहे थे। उन्होने दूर से ही सभा-स्थान को छिपकर देखा। [१०-१२]

तत्पश्चात् विमर्श बोला—भद्र प्रकर्ष ! ※ हम अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये है। भयकर जगल को पार कर महामोह राजा की सेना को देख लिया है। हमने इस सभा-स्थल और उसमे बैठे हुए महामोहराज और रागकेसरी राजा को सपरिवार देख लिया है। अभी हम को इस सभास्थल मे प्रवेश नही करना चाहिये क्योकि हम उनसे परिचित नही है, अतः अपरिचितो को देखकर कदाचित् उनके मन मे शका उत्पन्न हो सकती है और हमारे शोध-कार्य मे बाधा आ सकती है। हम इतनी दूर से भी पूरे सभास्थल को अच्छी तरह देख सकते है, अतः कौतूहल से भी सभामण्डप मे प्रवेश करना हम लोगो के लिये किसी प्रकार उचित नही है।

प्रकर्ष की जिज्ञासा : उत्तर

प्रकर्ष—ठीक है मामा ! ऐसा ही होगा, किन्तु इस भयंकर जगल, महानदी, नदीतट, विशाल मण्डप, मच, सिहासन, महामोह राजा, उनका परिवार और अन्य राजाओ की अपूर्व शोभा-छटा को मैंने पहले कभी नही देखा, जिससे मैं आश्चर्यचकित हो रहा हूँ और इनमे से प्रत्येक के नाम और गुणो को विस्तार से जानने की प्रबल जिज्ञासा मेरे मन मे हो रही है। मामा ! आपने मुझे पहले कहा भी था कि जो-जो वस्तुएँ देखोगे उन सब का यथावस्थित तत्त्व का आपको ज्ञान है, अतः इन सकल वस्तुओं का तत्त्व मुझे समझाइये।

विमर्श—हाँ भाई ! मैंने कहा तो था, परन्तु तुमने तो एक साथ कई वस्तुओ के सम्बन्ध मे प्रश्न कर दिये हैं, अत. इन सब के बारे मे पहले अपने मन मे सोच कर फिर तुम्हे बताता हूँ।

प्रकर्ष—आप अच्छी तरह चिन्तन कर कहे।

विमर्श ने उस जगल का, महानदी का, नदी पुलिन (द्वीप) का, मण्डप का, मच और सिहासन का भली प्रकार अवलोकन किया। महामोह राजा, अन्य राजाओ, उनके परिवारो तथा समस्त बल का निरीक्षण करने के पश्चात् इनके सम्बन्ध मे मन मे सोचा, फिर अपने हृदय में मन्थन किया, इन्द्रियो के सब व्यापारो को बन्द कर, वृत्ति को दृढ कर, आँखो को निश्चल कर, थोडी देर तक एकाग्र होकर ध्यान किया। ध्यान पूर्ण कर तनिक सा मस्तक को हिलाते हुए हँस दिया।

प्रकर्ष—मामा ! यह क्या हुआ ?

विमर्श—अभी मैंने इन सब का स्वरूप समझ लिया है इसीलिये मुझे प्रसन्नता हुई है। अब तुझे इसके अतिरिक्त भी जो कुछ पूछना हो वह प्रसन्नता से पूछ ले।

प्रकर्ष—बहुत अच्छा अन्य प्रश्न फिर पूछूंगा। पहिले तो मैने जो प्रश्न कर रखे है उन्ही के विषय मे बताइये।

※ पृष्ठ ३४२

चित्तवृत्ति महाटवी

विमर्श ने क्रमश: सभी वस्तुओं का वर्णन प्रारम्भ किया—

भाई प्रकर्ष ! यह जो अति विस्तृत चित्तवृत्ति नामक महाटवी है, इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की अद्भुत घटनायें निरन्तर होती रहती हैं। यह जंगल श्रेष्ठ रत्नों की उत्पत्ति स्थान के रूप मे जग-प्रसिद्ध है। इसी अटवी को अनेक प्रकार के उपद्रवकारी अनर्थ-पिशाचो की उत्पत्ति भूमि भी कहा गया है। अन्तरग मे रहने वाले सभी लोगो के नगर, ग्राम, पत्तन और स्थान इसी चित्तवृत्ति जगल मे है।* यद्यपि ज्ञानी अपने ज्ञान चक्षु से देख कर किसी कारण से कभी-कभी बाह्य प्रदेश मे भी उनके स्थान का निर्देश करते हैं तथापि परमार्थ से तो वे सब अन्तरंग व्यक्ति हमेशा इस महाअटवी में ही प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् यही रहते है, ऐसा समझ। क्योकि, अन्तरग निवासियो का कोई भी स्थान इस चित्तवृत्ति महा अटवी के अतिरिक्त बाह्य प्रदेश के किसी भी स्थान पर नही हो सकता। भद्र ! अन्तरग के कुछ लोगो को छोडकर सभी अच्छे-बुरे व्यक्ति इस अटवी के अतिरिक्त कदापि कही और नही रहते। भद्र ! यदि इस महाटवी का आसेवन विपरीत (मिथ्यात्व) भाव से किया जाय तो यह प्राणी से महापाप करवा कर उसे इस महा भयकर ससार-अरण्य मे भटकाने वाली बन जाती है। भद्र ! यदि इसका आसेवन सम्यक् प्रकार (सम्यक्त्व) से किया जाय तो यह अनन्त आनन्दपूर्ण मोक्ष का कारण भी बन सकती है। इसका अधिक वर्णन क्या करूं ? भद्र ! सक्षेप मे कहूँ तो ससार की सभी अच्छी-बुरी घटनाओ का कारण यह महा अटवी ही है। [१–१०]

प्रमत्तता महानदी

भद्र ! यह जो चारो तरफ फैली हुई अति विस्तृत महानदी तुम देख रहे हो इसको मनीषी गण प्रमत्तता महानदी कहते है। इस नदी के दोनो ओर के ऊँचे-ऊँचे किनारो को निद्रा कहते है और इसमे कषाय का पानी निरन्तर बहता रहता है। मद्य के स्वादवाली यह नदी राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भक्तकथा आदि विकथाओ रूपी पानी के प्रवाहो का तो भण्डार ही है। इस नदी मे विषय-वासनाओ की अति चचल तरगे सदा से व्याप्त है। विविध विकल्प रूपी मोटे मत्स्यो से यह नदी भरी हुई है। यदि कोई निर्बुद्धि प्राणी इस नदी के तट पर खडा रहे तो उसे आकर्षण पूर्वक खीचकर यह नदी अपने आवर्तजाल (भवर) मे फसा देती है। जो मूढ प्राणी एक बार भी इस नदी के प्रवाह मे पड गया तो वह फिर एक क्षण भी जीवित नही रह सकता, अर्थात् आत्मिक दृष्टि से तो वह मृतप्राय: ही हो जाता है। पहले तुमने रागकेसरी राजा का राजसचित्त नगर और द्वेषगजेन्द्र राजा का तामसचित्त नगर देखा है। उन नगरो से निकल कर यह नदी इस अटवी मे प्रवेश करती है और अन्त मे घोर ससार-समुद्र मे गिरती है। इसके भवर-जाल मे फसा हुआ प्राणी निश्चित

---

* पृष्ठ ३४३

रूप से वेगपूर्वक घिसटता हुआ ससार-समुद्र में डूब जाता है। ऐसे डूबे हुए का बचाव कहाँ ? जो प्राणी भयानक ससार-समुद्र मे जाने की इच्छा रखते है उन्हे यह महानदी अत्यधिक प्रिय है, परन्तु जो प्राणी घोर ससार-सागर से भयभीत है वे तो इस नदी को छोडकर इससे दूर ही दूर भागते रहते है। भद्र ! उक्त महानदी का गुण और स्वरूप का वर्णन पूर्ण हुआ। [११-२०]

तद्विलसित पुलिन (द्वीप)

इस नदी के मध्य मे जो यह द्वीप देख रहे हो इसे तद्विलसित द्वीप कहते है। अब इसका स्वरूप वर्णन करता हूँ, सुनो—भद्र ! इस द्वीप पर हास्य और बिब्बोक (गर्व से अनादर) की रेत है। यह पुलिन विलास, नृत्य और सगीत रूपी हस और सारस पक्षियो से भूषित है। स्नेहपाश रूपी आकाश से घिरा हुआ होने से यह धवल (सफेद) दिखाई दे रहा है * और घर्घराहट के साथ वेग से आती निद्रा रूपी मदिरा से यह दुर्जन प्राणियो को मत्त कर देता है। मूर्ख जीवो की क्रीडा के लिये यह विशाल द्वीप रमणीय स्थान है, किन्तु विशुद्ध चरित्र वाले तत्त्व-रहस्य के जानकार विद्वान् प्राणी तो इस द्वीप को दूर से ही प्रणाम करते है. अर्थात् सर्वदा दूर ही रहते है। हे भद्र ! नदी-पुलिन का गुण-वर्णन पूर्ण हुआ। अब मै महामण्डप और उसके नायक का वर्णन करता हूँ। [२१-२५]

चित्तविक्षेप मण्डप

इस द्वीप के मध्य मे जो सभामण्डप बना हुआ है उसे विद्वान् लोग चित्त-विक्षेप के नाम से जानते हैं। यह सर्व प्रकार के दोष-समूह का घर है, इसीलिये इसका ऐसा नाम रखा गया है। इस मण्डप मे प्रवेश करते ही प्राणी अपने गुणो को पूर्णरूप से भूल जाता है और महापापो के साधनभूत अधम से अधम कार्य करने की ओर उसकी बुद्धि प्रवृत्त होती है। यहाँ जो महामोह आदि बडे-बडे भूपतिगण विराजमान दिखाई दे रहे है उन्ही के कार्य के लिये विधाता ने इस मण्डप का निर्माण किया है। भद्र ! तुम देखोगे कि यद्यपि यह मण्डप राजाओ के लिये बना है तथापि कुछ-कुछ बाह्य नगर के लोग भी महामोह के वशीभूत होकर इसमे प्रवेश कर गये है। ये बहिरग नगर के निवासी मण्डप मे प्रविष्ट होने के पश्चात् मण्डप के दोष के कारण विभ्रम मे पड जाते है, जिससे उन्हे अनेक प्रकार के सताप होते है, मन मे उन्माद होता है और वे नियम-व्रत से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी यह स्थिति इस मण्डप के कारण ही होती है, इसमे कोई सन्देह नही है। महामोह आदि राजा जब यहाँ आकर इस मण्डप को प्राप्त करते है तब स्वाभाविक रूप से उनका चित्त सन्तुष्ट और प्रमुदित होता है, किन्तु बाहर के लोग जब मोह के वशीभूत होकर इस मण्डप मे प्रवेश करते है तब उनकी मानसिक स्थिति विकृत हो जाती है और वे दु ख-समुद्र मे डूब जाते है। क्योकि, यह मण्डप अपनी शक्ति से चित्त को अपूर्व शान्ति और

* पृ० ३४४

सुख-सन्दोह देने वाली एकाग्रता का नाश कर देता है। बेचारे भाग्यहीन बाहर के व्यक्ति यह नही जानते कि इस मण्डप मे कितनी अधिक उच्छेदक शक्ति है, इसीलिये मोहाभिभूत होकर वे पुनः-पुन. इस मण्डप मे प्रवेश करते हैं। जो कतिपय पुण्यशाली प्राणी इस मण्डप की उच्छेदक शक्ति को पहचानते हैं वे दुवारा इस मण्डप मे कभी प्रवेश नही करते। ऐसे भाग्यशाली प्राणी तो अपने चित्त मे अपूर्व शान्ति धारण कर, एकाग्रता का आश्रय लेकर इसी जन्म मे सतत आनन्द का अनुभव करते है। हे भद्र! इस चित्तविक्षेप मण्डप की ऐसी अद्भुत यौगिक शक्ति का गुण-वर्णन पूर्ण हुआ। अब मैं वेदिका का वर्णन करता हूँ, सुनो। [२६-३७]

तृष्णा वेदिका

इस मण्डप के मध्य में एक वेदिका (मच) महामोह महाराजा के लिये वनायी गयी है जो विश्व मे तृष्णा के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव भद्र! तू इसे ध्यान पूर्वक देख। महाराजा के कुटुम्ब परिवार के सभी लोगो को इस मच पर प्रवेश मिला हुआ है। महाराजा की सेवा करने वाले अन्य राजा तो सभा-मण्डप के आस-पास भिन्न-भिन्न स्थानो पर वैठे है, किन्तु मोहराजा का परिवार तो मच पर ही बैठा हुआ है। भैया! यह मच तो प्रकृति (स्वभाव) से ही मोह राजा और उसके परिवार को विशेष रूप से अत्यधिक प्रिय है। इस मच पर बैठकर मोह राजा जव गर्वाभिभूत होकर सव लोगो पर पुनः-पुन. दृष्टिपात करते है तब मन मे ऐसे हर्षित होते है मानो उनके सर्व कार्य सिद्ध हो गये हो।* यह मच महामोह राजा के पूरे परिवार को अपने ऊपर बिठाकर अपने स्वभाव से ही उन सव को प्रसन्न रखता है। भद्र! यदि वाहर के लोग इस मच पर आकर वैठ जाय तो उनका क्या हाल हो, यह तो कहने की भी आवश्यकता नही है। उनका दीर्घ (आत्मिक) जीवन नष्ट हो जाता है। भैया! वडे आश्चर्य की वात तो यह है कि यह तृष्णा वेदिका (मच) यहाँ रह कर भी अपनी शक्ति से सम्पूर्ण ससार को चक्र पर चढ़ाती है और सब को भ्रमित करती है। हे भद्र! यथार्थ नामधारक इस तृष्णा वेदिका का स्वरूप बतलाया, अब मैं सिंहासन के गुण-दोषो का वर्णन करता हूँ, उसे तू सुन। [३८-४६]

विपर्यास सिंहासन

इस तृष्णा मच पर विपर्यास नामक सिंहासन रखा हुआ है। विधि ने इसका निर्माण निश्चित रूप से महामोह महाराजा के लिये ही किया है। मोहराजा को लोक-विख्यात विशाल राज्य और समृद्धि आदि अन्य जो कुछ भी प्राप्त है उसका कारण यह सिंहासन ही है। मेरी मान्यता है कि जव तक महामोह राजा के पास यह श्रेष्ठ सिंहासन है, तभी तक उसका राज्य और राज्य-समृद्धि है। जब तक ये महाराजा इस सिंहासन पर वैठे हैं तव तक उनके सभी शत्रु एकत्रित होकर अकेले उन पर हमला करे तो भी उनका कुछ नही विगाड़ सकते, अर्थात् शत्रुओ के लिये

---

* पृष्ठ ३४५

अगम्य हो जाते है । किन्तु, जब ये महाराजा इस सिहासन से उतरकर अन्य स्थान पर बैठ जाय तो एक निर्बल पुरुष भी उन्हे जीत सकता है । भद्र ! बाहर के लोगो द्वारा इस सिहासन की ओर दृष्टिपात करने मात्र से वे महान् अनर्थों, भयकर विपत्तियों और अनेक कठिनाइयो मे फस जाते है । जब तक बाहर के लोग इस सिहासन की तरफ दृष्टिपात नही करते तभी तक उनकी सुन्दर बुद्धि अच्छे मार्ग पर प्रवृत्त होती है । यदि उनकी एक बार भी सिहासन पर दृष्टि पड जाती है और मन उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है तब तो प्राणी महा पापिष्ठ-वृत्ति और व्यवहार वाले बन जाते है । ऐसी अवस्था मे उनके पास प्रशस्त बुद्धि रह भी कैसे सकती है ? पहले जिस नदी, द्वीप, मण्डप और मच का वर्णन किया गया है उन सब की सम्मिलित शक्ति इस सिहासन मे समाई हुई है । भद्र ! विपर्यास सिहासन के गुण-दोष का स्वरूप मैंने बता दिया । [४७-५५]

महामोह राजा

भाई प्रकर्ष ! अब इस सिंहासन पर बैठे हुए महामोह राजा के गुणगौरव का वर्णन ध्यान पूर्वक सुनो । इन महाराजा का शरीर अविद्या से बना हुआ है । यद्यपि वृद्धावस्था के कारण वह जीर्ण कपोल वाले हो चुके है तथापि त्रिभुवन मे विख्यात हैं । भैया ! इनका यह जीर्ण शरीर भी अपनी शक्ति से त्रिभुवन मे क्या-क्या कर सकता है, सुनो । यह अनित्य वस्तुओ मे नित्यता का भान कराता है, अपवित्र वस्तुओ को महा पवित्र और शुद्ध मनवाता है, दुःख से परिपूर्ण वस्तुओ को सुख रूप बतलाता है, अनात्म वस्तुओ मे आत्मा का रूप प्रतिपादित करवाता है, शरीर आदि पुद्गल स्कन्धो मे ममता उत्पन्न करवाता है और ऐसे भाव उत्पन्न करवाता है मानो वह उनका अपना ही हो । पर-वस्तुओ मे अपनेपन की बुद्धि उत्पन्न कर प्राणी को परभाव मे इतना आसक्त कर देता है कि प्राणी अपने (आत्म) स्वरूप को भूलकर अनर्थकारी क्लेशो को प्राप्त करता है । मोहराजा का यह अविद्या शरीर वृद्धावस्था से ❀ इतना जीर्णशीर्ण होने पर भी तेज से देदीप्यमान है, इसीलिये इसे महाबली कहा जाता है । भद्र ! यह राजेन्द्र सम्पूर्ण ससार की उत्पत्ति करने वाला होने से प्राज्ञजनो ने इस महामोह को पितामह का नाम दिया है, अर्थात् यह महामोह दादा या महामोह पितामह के नाम से पहिचाना जाता है । इसकी शक्ति इतना अचिन्त्य है कि शिव, विष्णु, शेषनाग, इन्द्र, चन्द्र और विद्याधर तथा ऐसी ही अन्य बडी-बडी हस्तियाँ भी इस दादा की आज्ञा का उल्लघन नही कर सकती । अहा ! जो महामोह दादा अपनी शक्ति रूपी डण्डे से कुम्हार की भाँति इस जगत् रूपी चाक को घुमा कर भिन्न-भिन्न कार्यरूपी बर्तन खेल-खेल मे बना सकता है उस अचित्य शक्ति वाले महामोह राजा की आज्ञा का अपमान करने या उसकी आज्ञा का उल्लघन करने मे दुनिया मे कौन समर्थ हो सकता है ? भाई प्रकर्ष ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे सामने

❀ पृष्ठ ३४६

महामोह राजा और उसके गुणों का वर्णन किया। अब इस राजा का परिवार कैसा-कैसा है ? इसका वर्णन करूंगा। [५६-६७]

इतना कहकर विमर्श थोड़ी देर चुप हो गया।

❀

१०. भौताचार्य कथा

[विचक्षणाचार्य अपनी कथा नरवाहन राजा के समक्ष सभाजनो एवं रिपुदारण को सुनाते हुए कह रहे थे कि जिस समय विमर्श ने चित्तवृत्ति अटवी से लगाकर मोहराजा तक का वर्णन किया उस समय प्रकर्ष ने बीच मे न तो एक भी प्रश्न किया और न हुकारा ही भरा। इससे विमर्श को लगा कि या तो प्रकर्ष बराबर समझ नही रहा है या किसी अन्य विचार मे पडा हुआ है। मुझे तो नही लगता कि इसने बराबर ध्यान देकर मेरी बात सुनी हो।]

अतः विमर्श ने पूछा—भाई प्रकर्ष ! यद्यपि मैं तेरे सन्मुख प्रस्तुत प्रतिपाद्य विषय का विस्तार से वर्णन कर रहा हूँ तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि किन्ही विचारों मे तू खो गया है और गुमसुम होकर सुनता जा रहा है; क्योंकि वर्णन के बीच में न तो तूने एक भी प्रश्न पूछा और न हुंकारा ही दिया। इससे लगता है कि मेरी बात तुझे भलीभांति समझ मे नही आई है। सम्पूर्ण वर्णन के बीच मे तू ने कभी सिर भी नही हिलाया, न कभी चुटकी ही बजाई। अपनी आँखों को स्थिर करके तू मेरी ओर देख रहा था, पर तेरे मुख पर भी किसी प्रकार का भाव दृष्टि-गोचर नही हो रहा था, जिससे मुझे पता नही लग सका कि तू मेरी बात को ठीक से समझ पाया या नही ? [६८-७०]

प्रकर्ष—मामा ! ऐसा न कहिये। आपकी कृपा से ससार मे ऐसी कोई बात नही है जो स्पष्टत. मेरी समझ मे न आये। [७१]

विमर्श—भैया ! मैं जानता हूँ कि तू मेरी बात स्पष्ट रूप से समझ रहा है। मैंने तो तेरे साथ किंचित् परिहास किया था, क्योंकि—

विज्ञातं परमार्थेऽपि, बालबोधनकाम्यया।
परिहासं करोत्येव, प्रसिद्ध पण्डितो जनः॥

विद्वान् लोग बच्चो को समझाने के लिये, परमार्थ (वस्तुतत्त्व) को समझ रहा हो फिर भी उनके साथ उच्चस्तरीय किंचित् हास्य-विनोद करते ही है। भद्र ! मुझे तो तेरे जैसे भाणजे के साथ विनोद करना ही चाहिये। मेरे तनिक परिहास पर कुपित होना उचित नही है। सुन, यद्यपि मेरे द्वारा कथित सब वर्णन तुझे समझ मे आ गया होगा, फिर भी मेरे उत्साह और हर्ष को बढाने के लिये कभी-कभी तुझे वार्ता के बीच मे प्रश्न करना चाहिये। किसी भी वार्तालाप के बीच-बीच मे शंका-समाधान

होने से, वार्ता का आनन्द बढ जाता है । प्रस्तुत प्रसग मे यथावस्थित वस्तुतत्त्व के अन्तरग रहस्य को तो तू मेरे साथ चर्चा करके ही बराबर समझ सकता है, मात्र सुनने से वस्तु का आन्तरिक स्वरूप समझ मे नही आ सकता । भाई ! इसका रहस्य तुझे यत्नपूर्वक समझना चाहिये, अन्यथा वस्तुतत्त्व से अज्ञात भौताचार्य की कथा के समान बात हो जायेगी । [७२-७७]

प्रकर्ष—मामा ! यह भौताचार्य की कथा कौनसी है ? कहो ।

भौताचार्य की कथा

विमर्श—भद्र ! सुन, किसी नगर मे जन्म से बधिर सदाशिव नामक भौताचार्य (शिवभक्त) रहते थे । अधिक वृद्ध होने पर जब वे जीर्ण-शीर्ण दिखाई देने लगे, तब एक उपहास प्रिय धर्त छात्र ने हाथ के इशारे से उन्हे बुलाकर उनसे कहा—गुरुदेव नीतिशास्त्र में कहा है कि—

विष गोष्ठी दरिद्रस्य, ॐ जन्तो पापरतिर्विषम् ।
विष परे रता भार्या, विष व्याधिरुपेक्षितः ।।

दरिद्र से गोष्ठी करना विष के समान है, पाप के प्रति प्रेम रखना विष के समान है, अपनी स्त्री की परपुरुष मे आसक्ति विष के समान है और व्याधि की उपेक्षा करना भी विष के समान ही है । हे भट्टारक ! आपको बधिरपन का उपचार शीघ्र ही करवाना चाहिये । इस महाव्याधि की उपेक्षा करना ठीक नही है । अपने विद्यार्थी की बात सुनकर भौताचार्य ने भी निश्चय किया कि किसी प्रकार इस बहरापन (रोग) को मिटाना चाहिये ।

आचार्य ने अपने शिष्य शान्तिशिव को बुलाकर कहा—शान्ति ! तू वैद्य के घर जाकर, उसे मेरे बहरेपन का सब वृत्तान्त कह कर वह जो औषधि-चूर्ण बतावे वह लेकर शीघ्र आ । अब अधिक समय तक उपेक्षा कर इस रोग को बढने नही देना चाहिये । आचार्य की आज्ञानुसार शान्तिशिव वैद्य के घर गया ।

जिस समय वह वैद्य के घर पहुँचा, उसी समय वैद्य का लडका इधर-उधर भटक कर घर आया था । लडके को देखते ही वैद्य ने क्रोधान्ध होकर लडके को अति कठोर मू ज के मोटे रस्से से खम्भे के साथ बाँध दिया । लडका चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा तो वैद्य अधिक क्रोधित होकर निर्दयता पूर्वक उसे लकडी से मारने लगा । शान्तिशिव दूर से देख रहा था, जब उसने बुरी तरह लडके को पिटते हुए देखा तब उसे दया आ गई और उसने वैद्य से पूछ ही लिया, अरे वैद्यराज ! आप इस लडके को इतना अधिक क्यो मार रहे है ?

उत्तर मे वैद्य बोला—अरे, यह पापी बिल्कुल सुनता ही नही है । इतने मे ही वैद्य की स्त्री लड़के को मार से बचाने के लिये हाहाकार करती हुई बीच मे आ खड़ी हुई । तब वैद्य अधिक क्रोधित होकर कहने लगा—'तू दूर हट जा, अन्यथा

ॐ पृष्ठ ३४७

तेरी भी ऐसी ही गति होगी।' इतना कहने पर भी जब वह दूर नहीं हुई तब वैद्य उसे भी लकड़ी से पीटने लगा।

यह सब देखकर शान्तिशिव ने विचार किया कि, अरे! मुझे भट्टारक जी के लिये जो औषधि लेनी है, वह तो मैंने सुन ही ली है, अब वैद्य से पूछने की आवश्यकता ही क्या है? (शान्तिशिव ने वैद्य से बिना पूछे ही उपरोक्त घटना देख-सुनकर मन में यह निर्णय कर लिया था कि जो न सुने उसे सुनाने के लिये खम्भे से बाँधकर लकडी से मारना ही औषधि है।)

पश्चात् शान्तिशिव वैद्य के घर से निकलकर एक शिवभक्त सेठ के घर गया। उससे एक रस्सी माँगी। सेठ ने एक सण की रस्सी दी तो शान्तिशिव ने कहा कि, इसको रहने दो मुझे तो कठोर मूंज की मजबूत रस्सी चाहिये। शिवभक्त ने उसे मूंज की मोटी रस्सी देते हुए पूछा—भट्टारक! इस रस्सी की क्या आवश्यता पड़ गई?

शान्तिशिव ने कहा—इस रस्सी से हमारे माननीय सुगृहीत नामधन्य सदाशिव भट्टारक जी की औषधि करनी है।

रस्सी लेकर शान्तिशिव भट्टारक के मठ में आ गया। मठ मे गुरु को देखते ही उसने क्रोध से भौंहें चढ़ायी, मुँह लाल-पीला किया और मठ के बीच खडे एक खम्भे से रोते-चिल्लाते भट्टारक को उस रस्सी से बांध दिया। फिर एक मोटा लट्ठ (लकड़ी) लेकर गुरु को खूब जोर से मारने-पीटने लगा।

इधर शिवभक्त सेठ ने विचार किया कि भट्टारक के लिये औषधि बनायी जा रही है, अतः मैं भी मठ मे जाऊँ। कुछ आवश्यकता होने पर मैं भी सहयोग कर सकूँगा। ऐसा सोचकर सेठ भी मठ मे आया। मठ में घुसते ही सेठ ने देखा कि शान्तिशिव निर्दयता से आचार्य को मार रहा है। तब उसे रोकते हुए उन्होंने कहा—'अरे शान्तिशिव! यह क्या कर रहा है? आचार्य को क्यों मार रहा है?' इस पर शान्तिशिव ने वैद्य की नकल उतारते हुए कहा—'मैं इतना प्रयत्न कर रहा हूँ तब भी यह पापी कुछ भी सुनता ही नहीं।' * उस समय तक सदाशिव आचार्य मार खा-खाकर मृतप्राय जैसे हो गये थे और अत्यन्त भयकर क्रन्दन कर रहे थे। आचार्य की ऐसी विपन्न दशा देखकर शिवभक्तों ने हाहाकार करते हुए शान्तिशिव को रोका।

इस पर शान्तिशिव ने दुबारा वैद्य की नकल उतारते हुए कहा—'मैं इतना अधिक प्रयत्न कर रहा हूँ फिर भी यह दुरात्मा सुनता ही नहीं। अभी तो मुझे इसे और मारना पडेगा। तुम सब अलग हट जाओ, अन्यथा तुम्हारा भी यही हाल होगा।' उतने पर भी जब शिवभक्त उसे रोकने लगे, तब उसने शिवभक्तों पर भी लाठियाँ जमा दी। परन्तु, शिवभक्त अधिक थे अत 'इसके हाथ से लकड़ी छीन लो' कहते हुए उन्होने मिलकर उसे पकडा, लकड़ी छीन ली और यह सोचकर कि शान्तिशिव

---

* पृष्ठ ३४८

को अवश्य कोई भूत लगा है, अतः उसे खूब मारा, उसके हाथ पीछे से बाध दिये और उसकी मुश्कें बांध दी। तदनन्तर उन्होंने सदाशिव आचार्य को छुडाया। थोडी देर बाद आचार्य मे चेतना आई। देवकृपा से वे बच गये।

फिर सभी शिवभक्तो ने मिलकर शान्तिशिव से पूछा—अरे भले मनुष्य! तू आचार्य भट्टारक के साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यो कर रहा था?

शान्तिशिव ने वडे भोलेपन से कहा—अरे मूर्खो! वैद्यराज ने भट्टारक के वहरेपन को मिटाने के लिये जिस औषधि का उपदेश दिया था, मैं तो उसी का प्रयोग कर रहा था। तुम मुझे छोड़ो और मुझे भट्टारक जी की व्याधि को दूर करने दो। व्याधि की उपेक्षा मत करो।

शिवभक्तो ने सोचा कि अवश्य ही शान्तिशिव को भूत लगा है। उन्होने उससे कहा—'देख, तू फिर ऐसा नही करने की प्रतिज्ञा करे तो तुझे छोड दे।' शान्तिशिव वोला--'अरे भले मनुष्यो! क्या मैं तुम्हारे कहने से हमारे गुरु महाराज के रोग की दवा भी न करूँ? मैं तो जैसा वैद्यराज ने कहा है वैसा ही करूंगा। तुम्हारे कहने से नही रुकूंगा।'

शान्तिशिव की वात सुनकर शिवभक्तो ने वैद्यराज को बुलाया और उन्हे सब घटना सुनाई। वैद्यराज अपने मन मे हँसते हुए बोले—भट्टारक! मेरा लडका तो बहरा नही है। वात ऐसी है कि मैंने बहुत परिश्रम पूर्वक उसे वैद्यक शास्त्र की बडी-वडी पुस्तको को पढाया है, पर उसे खेलकूद की ऐसी आदत पड गई है कि मेरे कितना ही समझाने पर भी वह उन वैद्यक शास्त्रो के अर्थ एव विधि को ग्रहण नही करता। इसीलिये मुझे क्रोध आ गया और मैंने उसे मारा। यह तो कोई बहरेपन की दवा नही है। यह मेरा लडका तो इस औषध (मार) के प्रभाव से समझ गया है, अर्थात् यह औषध गुण कर गई है। परन्तु, मेरी बात सुनकर विना मुझे पूछे भट्टारक की ऐसी औषधि तुझे नही करनी चाहिये थी।

शान्तिशिव—वहुत अच्छा वैद्य जी! अब ऐसा नही करूगा। किसी भी प्रकार हमारे से भट्टारक ठीक होने चाहिये। यदि वे किसी दूसरे उपाय से ठीक होते है तो फिर इस औषधि की क्या आवश्कता है।

तदनन्तर शान्तिशिव के वादा करने पर लोगो ने उसे छोड दिया।

भावार्थ : प्रश्न

विमर्श - भाई प्रकर्ष! यदि तू भी शान्तिशिव की भाँति जितना मैं कहूँ उसे ही सुने और उसके भावार्थ को न समझे तो बेचारे भौताचार्य के जैसी दुर्दशा तू मेरी भी कर सकता है। इसीलिये तुझे कह रहा हूँ कि मेरी बात का भावार्थ समय-समय पर प्रश्नोत्तर के माध्यम से मुझ से पूछ लिया कर।

प्रकर्ष--मामा! आपने तो बहुत बढिया कथा सुनाई। अब मुझे जो कुछ पूछना है वह आपसे पूछ लेता हूँ।

विमर्श—तुझे जो कुछ पूछना है, प्रसन्नता से पूछ ।

प्रकर्ष · देखो मामा ! आपने सबसे पहले चित्तवृत्ति अटवी का वर्णन किया और कहा कि यह समस्त अन्तरग लोक की आधारभूत है तथा बहिरग लोक मे जितनी भी अच्छी-बुरी घटनाये घटती हैं उन सब का निर्माण करवाने वाली यही अटवी है । यह बात तो रहस्य (भावार्थ) के साथ मेरी समझ मे आ गई । तदनन्तर आपने * प्रमत्तता महानदी, तद्विलसित द्वीप, चित्तविक्षेप मण्डप, तृष्णा वेदिका, विपर्यास सिहासन, अविद्या शरीर और महामोह राजा का जो वर्णन किया है उसका रहस्य मैं सम्यक् प्रकार से नही समझ सका हूँ । यद्यपि गहन विचार करने पर मेरी कल्पनानुसार ऐसा लगता है कि ये बस नाम से ही भिन्न हो, पर अर्थ से तो वे सब एक समान ही है । क्योकि, ये अन्तरंग लोक की पुष्टि करने वाले और बहिरग लोक का अनर्थ कराने वाले लगभग एक समान ही है । फिर भी यदि इनमे कोई अर्थ-भेद हो तो कृपाकर आप मुझे समझाइये ।

विमर्श—भाई ! जब मैंने इनमे से प्रत्येक के सम्बन्ध मे गुण-स्वरूपो का वर्णन किया था तभी इनमें क्या-क्या अन्तर है, इसका भी स्पष्टता पूर्वक विवेचन कर तुझे समझाया था । फिर भी यदि तुझे वास्तविकता ठीक से समझ मे न आई हो तो मैं पुन. अर्थ सहित समझाता हूँ ।

ऐसा कहकर विमर्श ने नदी. द्वीप आदि प्रत्येक का भावार्थ विस्तार पूर्वक भाणजे प्रकर्ष को कह सुनाया, जिससे उसे प्रत्येक की वास्तविकता स्पष्टता पूर्वक समझ मे आ गई ।

११. वेल्लहल कुमार कथा

नरवाहन राजा ने विचक्षणाचार्य से कहा—महाराज ! विमर्श ने अपने भानजे प्रकर्ष को नदी आदि का जो भावार्थ (रहस्य) बताया, वह सब आप हमे भी सुनाइये । राजा का प्रश्न सुनकर विचक्षणाचार्य ने महानदी आदि का भावार्थ विस्तार से कह सुनाया ।

इधर अगृहीतसकेता ने ससारी जीव से कहा—भद्र ससारी जीव ! महानदी आदि का भावार्थ मेरे समझने योग्य हो तो उस अर्थभेद (रहस्य) को मुझे भी सुनाइये ।

संसारी जीव—विना किसी स्पष्ट दृष्टान्त के प्रत्येक का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझाना बहुत कठिन है, अत: पहले दृष्टान्त देकर फिर मैं इनके भावार्थ को समझाऊंगा ।

---

* पृष्ठ ३४६

अगृहीतसकेता ने आभार पूर्वक उसका प्रस्ताव स्वीकार किया, अतः ससारी जीव ने पहले दृष्टान्त कथा प्रारम्भ की—

वेल्लहल कुमार कथा

भुवनोदर नामक एक नगर था। नगर की प्राकृतिक रचना ही ऐसी थी कि ससार मे होने वाली सभी घटनाय उस नगर मे भी होती रहती थी। उस नगर मे अनादि नामक राजा राज्य करता था। वह इतना शक्तिशाली था कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसी समर्थ हस्तियो को भी पराजित कर, वह अपने वश मे रख सकता था। इस अनादि राजा की रानी का नाम सस्थिति था। वह नीति-निपुण थी और सच्ची-झूठी युक्तियो से मिथ्या बोलने वाले का नाश करने मे कुशल थी।

इन राजा-रानी के एक अत्यन्त वल्लभ वेल्लहल नामक पुत्र था। यह कुमार खाने-पीने का इतना शौकीन था कि वह रात-दिन भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य और पेय पदार्थों का भक्षण और पान करता ही रहता था तब भी उसे कभी तृप्ति नही होती थी। अधिक खाने-पीने से उसे अजीर्ण हो गया, पेट के दोष बढ गये और फिर उसे जीर्ण-ज्वर हो गया। अत्यन्त रुग्ण होने पर भी इस कुमार को खाने-पीने की इच्छा थोडी भी कम नही होती थी। एक दिन उसका इच्छा बगीचे मे गोठ करने की हुई। गोठ के लिये विविध प्रकार के भोजन तैयार कराये गये। तैयार भोजन-सामग्री को देख-देख कर कुमार का मन ललचाने लगा। मन मे सोचने लगा कि मैं इस-इस खाद्य को खाऊगा; क्योकि सभी पदार्थ उसे रुचिकर थे, इसलिये सब मे से थोडा-थोड़ा कुमार ने नमूना चख लिया। फिर अपने मित्र मण्डल, परिवार और अन्त.पुर की सुन्दरियो सहित वे लोग उद्यान की ओर निकल पडे। मार्ग में भाट लोग कुमार का गुणगान करने लगे, उन्हे दान देते हुए, आडम्बर पूर्वक विविध प्रकार के आमोद-प्रमोद करते हुए वे लोग * मनोरम उद्यान में पहुँचे।

उद्यान मे पहुँचने के बाद मित्रो के साथ कुमार भी आसन पर बैठे और लाई हुई भोजन सामग्री मे से थोड़ी-थोड़ी सभी वस्तुए उसे भी परासी गई। इनमे से प्रत्येक वस्तु कुमार ने थोड़ी-थोडी खाई। उस समय जगल की ठण्डी हवा भी उसे लगने लगी, इससे उसका ज्वर अधिक तेज हो गया। वैद्यक शास्त्र मे कुशल समयज्ञ नामक वैद्यपुत्र भी उनके साथ था। उसने कुमार के ललाट पर हाथ लगाकर और नाड़ी देख कर यह निर्णय कर लिया कि कुमार का ज्वर बढ गया है और उसे पीड़ा हो रही है, पर लज्जा के मारे वह बोल नही रहा है।

समयज्ञ ने कुमार से कहा –देव! आपको अब कुछ भी नही खाना चाहिये। यदि आप अब कुछ भी खायेंगे तो आपको बहुत हानि होगी। देखिये, अभी भी आपका शरीर भीतर से ज्वर की प्रबलता के कारण धधक रहा है। आकृति से स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि आपकी आँखे लाल चोल हो गई हैं, मुँह भी तप्त ताम्र

---

* पृष्ठ ३५०

के समान लाल हो रहा है, सीने में से धक-धक की आवाज आ रही है, नाडी तेज चल रही है, वाह्य चमड़ी जल रही है और हाथ अगारे जैसे हो रहे है। ये सारे चिह्न ज्वर वृद्धि के हैं। अत. अव आप भोजन न करे और पवन रहित वन्द कमरे मे जाकर आराम करे। लंघन (उपवास) करे, गर्म पानी पीये और अजीर्ण तथा ज्वर को मिटाने के जो भी उपाय है, उन सब का सम्यक् प्रकार से सेवन करे। यदि आप इसमे तनिक भी उपेक्षा करेंगे तो आपको तुरन्त ही सन्निपात हो जायगा।

वैद्यपुत्र जव कुमार को रोग-शमन के उपाय वता रहा था तब भी कुमार की दृष्टि तो परोसे हुए भोज्य पदार्थों पर ही जमी हुई थी और सोच रहा था कि यह खाऊंगा, वह खाऊंगा। उसका अन्त.करण भोज्य पदार्थों पर इतना आसक्त हो गया था कि वैद्यपुत्र द्वारा उसके हित में दिये हुए उपदेश को सुनने की ओर भी उसने ध्यान नही दिया। समयज्ञ, कुमार का हाथ पकड़-पकड कर उसे खाने से रोक रहा था तब भी वेल्लहल तो उसकी उपस्थिति में, उसके रोकने पर भी खाता ही रहा। उसे वैद्यपुत्र की उपस्थिति की भी शर्म नही आई। यद्यपि वेल्लहल को पहले ही प्रबल अजीर्ण था ही, अत. ज्वर की तीव्रता वढने से वह जो भी ग्रास मुँह में डालता, उसे गले के नीचे वल पूर्वक उतारता। ऐसी दशा में भी वह जवरदस्ती खाये जा रहा था। परिणाम स्वरूप उसका हृदय उछलने लगा, पेट मे गडवड़ होने लगी, भक्षित भोजन मुँह मे आने लगा और अन्त में वमन होने लगी, जिससे सामने पडा हुआ भोजन भी वमन मिश्रित हो गया। ऐसी अत्यन्त दयनीय अवस्था मे भी वेल्लहल कुमार विपरीत ही सोचने लगा कि मेरा शरीर भूख से पीडित है, मेरा पेट खाली है जिसमे वायु घुस गयी है उसी से यह उल्टी हुई है, अन्यथा उल्टी कैसे हो सकती है ? उल्टी से पेट अविक खाली हो जायगा तो उसमे अधिक हवा भर जायगी, इससे मुझे अधिक व्यथा होगी। इसीलिये मुझे दुवारा डटकर भोजन कर पेट को पूरा भर लेना चाहिये, जिससे कि वह खाली न रहे और उसमे हवा नही भरे।' उस समय दूसरा भोजन तो उसके सामने परोसा हुआ था नही, अतः कुमार निर्लज्ज होकर सब लोगो के देखते हुए वह वमन मिश्रित भोजन ही करने लगा। [१–३]

ऐसे निर्लज्ज और हानिकारक व्यवहार को देखकर समयज्ञ वैद्यपुत्र घवराया और चिल्लाते हुए उसने कुमार से कहा – देव ! देव !! आपको कौए जैसा व्यवहार करना योग्य नही है। प्रभो ! आप अपने इतने वडे राज्य, सुन्दर शरीर और चन्द्र जैसे निर्मल यश को मात्र एक दिन के भोजन के लिए व्यर्थ मे ही गवा रहे है। मेरे प्रभो ! आपके सामने पड़ा हुआ यह वमन मिश्रित भोजन * अपवित्र, दोपपूर्ण, उद्वेगकारक और निन्दनीय है, अतः आपको इसका भक्षण करना कदापि उचित नही है। देव ! आपके शरीर मे पहले से ही दु.खदायी अनेक व्याधियां विद्यमान हैं, फिर भी आप ऐसा वमन मिश्रित दोपपूर्ण भोजन करेंगे तो वह आपकी सर्व व्याधियो

---

* पृष्ठ ३५१

को अधिक जागृत कर उन्हे बढावेगा। आप जैसे विद्वान् को तो बाह्य पुद्‌गलमय इस तुच्छ भोजन पर आसक्ति होनी ही नही चाहिये। प्रभो! आप इसका त्याग कर अपने आपकी रक्षा करने का प्रयत्न करे। [४-८]

समयज्ञ द्वारा विनयपूर्वक इतना समझाने और रोकने पर भी वेल्लहल तो अपनी विपरीत गति पर डटा ही रहा। वह सोचने लगा कि, अहो! यह वैद्यपुत्र तो मूर्ख ही लगता है, समय का ज्ञाता नही लगता है। यह न तो मेरी प्रकृति को ही समझता है, न मेरी अवस्था को ही जानता है और मेरे हित-अहित को भी ठीक से नही समझता है तब भी यह मुझे सीख देने चला है। मेरे शरीर मे वायु बढ गई है जिससे मुझे तो भूख लग रही है और यह मुझे खाने से रोक रहा है। देवताओ को भी दुर्लभ ऐसे सुन्दर सुस्वादु भोजन को यह दोषपूर्ण बता रहा है। धन्य है इसकी बुद्धि को! ऐसा बुद्धिहीन व्यक्ति कुछ भी बोले, मुझे उसकी चिन्ता नही करनी चाहिये। मैं तो यह भोजन इच्छानुसार अवश्य ही करूंगा। मुझे तो अपना स्वार्थ सिद्ध करना है, अन्य से क्या लेना देना? [९-१२]

वैद्यपुत्र, अन्य मित्रों और परिवारजनो के बारम्बार मना करने पर भी कुमार नही माना और उसने वह वमन मिश्रित भोजन किया ही। परिणाम स्वरूप उसके शरीर मे एकाएक सभी दोष प्रबलता से बढ गये और उसे अत्यन्त तीव्र सन्निपात हो गया। फिर उसे उल्टी हुई और वह अचेत होकर उस उल्टी से भरी हुई घृणा योग्य जमीन पर ही काष्ठ के समान निश्चेष्ट होकर गिर पडा। उल्टी के कीचड़ मे लोटने लगा। उसका गला कफ से भर जाने के कारण उसके कण्ठ से घर्र-घर्र की भारी आवाज निकलने लगी। लोग देखते रहे और वह अत्यन्त उद्वेग उत्पन्न करने वाली और असाध्य चिकित्सा वाली दारुण अवस्था को प्राप्त हो गया। वह उस समय ऐसी विषम स्थिति को पहुँच गया था कि समयज्ञ भी उसे अब इस अवस्था से नही बचा सकता था तथा उसके परिवार-जन और नौकर भी अब उसकी रक्षा नही कर सकते थे। राज्य भी अब उसे इस अवस्था से बाहर निकालने मे असमर्थ था और देव दानव भी इसको बचा नही सकते थे। यह प्राणी अब अपने कर्म के फल भोगते हुए अत्यन्त अपवित्र कीचड से भरी इस अवस्था मे अनन्त काल तक इसी तरह लुढकता रहेगा। [१३-१९]

हे अगृहीतसकेता! महानदी आदि वस्तुओ का भेद तुझे स्पष्टता से समझाने के लिये यह वेल्लहल की कथा सुनाई गई। अब कुछ समझी?

इस कथा को सुनकर अगृहीतसकेता तो अधिक विह्वल होकर असमञ्जस में पड गई। वह बोली—अरे ससारी जीव! तू ने तो चित्तवृत्ति अटवी और वहाँ की अन्य वस्तुओ मे भेद दर्शाने के लिये यह कथा कही थी। पर, मुझे तो इस कथा मे पूर्वापर सम्बन्ध वाली कोई बात ही दिखाई नही देती। यह तो "ऊठ और उसकी आरती" वाली कहावत चरितार्थ हुई। यदि तेरी इस कथा मे और पूर्व-वर्णित महानदी आदि मे कुछ सम्बन्ध हो तो मुझे स्पष्ट रूप से समझा दे। [२०-२३]

संसारी जीव सदागम के समक्ष अपनी आत्मकथा सुनाते-सुनाते थक गया था और वह थोड़ा विश्राम करना चाहता था इसलिये उसने प्रज्ञाविशाला से कहा— भद्रे प्रज्ञाविशाला! मैंने अभी जो कथा कही है उसका सम्बन्ध पूर्व-वर्णित वस्तुओं के साथ कैसे घटित होता है, यह तू ही संक्षेप से अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुए अगृहीता को समझा दे। [२४-२५] ❀

प्रज्ञाविशाला ने कहा—ठीक है, मैं भलीभांति समझाती हूँ। फिर वह बोली—भद्रे अगृहीतसंकेता! देख, बराबर ध्यान रखना, अब मैं उपरोक्त कथा को पूर्व-वर्णित वस्तुओं से योजित (घटित) कर रही हूँ। [२६]

कथा-योजना : अर्थ-घटना

विशालाक्षि! वार्ता में वेल्लहल कुमार का उल्लेख किया है उसे यहाँ कर्मभार से भारी बना हुआ संसारी जीव समझना। भद्रे! ऐसा जीव भुवनोदर (संसार) नगर मे ही उत्पन्न होता है। इसे अनादि राजा और संस्थिति रानी का पुत्र कहा गया है उसे यहाँ कर्मबन्धन युक्त जीव ही समझना जो कि अनादि कालीन कर्म-प्रवाह से अपनी संस्थिति के कारण ससार में भटकता है। इस संसारी प्राणी के अनन्त प्रकार के रूप होते हैं अतः उसे बहिरंग लोक कहा गया है और सामान्य रूप की अपेक्षा से उसे एक कहा गया है। सुन्दरि! मनुष्य भव में आकर ही प्राणी समस्त कर्मों पर प्रभुता प्राप्त करने की स्थिति में आता है इसलिये उसे महाराजपुत्र कहा गया है, क्योंकि राजकुमार ही सब का स्वामी बन सकता है। [२७-३०]

चित्तवृत्ति अटवी की योजना

चित्तवृत्ति अटवी को संसारी जीव की मनोवृत्ति समझना। प्राणि का अच्छा-बुरा जो कुछ भी होता है वह सब इसी मनोवृत्ति के कारण होता है। जब तक प्राणी आत्म-स्वरूप को सम्यक्तया नहीं पहचानता तभी तक उसकी चित्तवृत्ति पर महामोह और उसका सेनापति द्वन्द्व मचाता रहता है और मानसिक अटवी को उथल-पुथल करता है तथा युद्ध चलता रहता है। परन्तु, जैसे ही प्राणी आत्मा को पहचान लेता है वैसे ही वे महामोहादि आत्मा के अनन्त बल-वीर्य को देखकर दूर से ही भाग खडे होते हैं। जब तक प्राणी में आत्मिक बल प्रकट नहीं होता तभी तक उसकी चित्तवृत्ति में महामोह का संघर्ष चलता रहता है और उस मनोवृत्ति मे तृष्णा नदी आदि का निर्माण होता रहता है; क्योंकि महामोह और उसके सेनापतियो के क्रीडा करने के लिये यह महानदी क्रीडा-स्थली है। परन्तु, जब इन सेनानियों को चित्तवृत्ति के संघर्ष-स्थल मे आने की ही आवश्यकता नहीं होती तब इन सब वस्तुओं का अपने आप ही नाश हो जाता है। भद्रे! जब तक प्राणी अपने आत्म-स्वरूप को सम्यक् रीति से नहीं समझता तब तक ही महामोह राजा और उसके सेनानियो का चित्तवृत्ति पर पूर्णरूप से आधिपत्य रहता है और वह विकसित होती रहती है, तथा

❀ पृष्ठ ३५२

तब तक ही तृष्णा महानदी आदि वस्तुएँ निर्मित, विकसित और अधिकाधिक बढती जाती है एव जीव इनका निर्माण भी आवश्यक समझता है। (इस स्थिति मे प्राणी अपनी आत्मा का शत्रु हो जाता है और उसे समझ में ही नही आता कि वह कैसी भूल कर रहा है या कैसे विपरीत मार्ग पर चल रहा है।) ऐसी विषम स्थिति मे प्राणी आत्म-शत्रु बनकर स्वय की शक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य और आचरण करता है। इस तथ्य को समझाने के लिये ही वेल्लहल की कथा कही गई है। उसका इस महा अटवी और महानदी आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके भेद को समझाने के लिये अब मैं भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत अर्थ के साथ योजित (घटित) कर प्रकट करती हूँ। [३१-३९]

अजीर्ण : प्रमाद नदी : उद्यान-गमन का उपनय

जैसे इस वेल्लहल कुमार को आहार-प्रिय (अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थो को बार-बार खाने की इच्छा वाला) कहा गया है वैसे ही इस विषय-लम्पट जीव को समझना, जिसे विषय-भोग की कामनाएँ सर्वदा पुन:-पुन: होती रहती हैं। जैसे पुन:-पुन: अधिक भोजन करने से वेल्लहल कुमार को अजीर्ण रोग हो गया था वैसे ही हरिणाक्षि! इस जीव को बार-बार कर्म का अजीर्ण हो जाता है। यह कर्म पाप और अज्ञानमय होने से वहुत दारुण है, जिसमे से (प्रमाद) रूपी पुलिन (नदीतट द्वीप) उत्पन्न होता है, अर्थात् इस प्रमाद को उत्पन्न करने वाले तामसचित्त और राजसचित्त (नगर) है। जैसे-जैसे कुमार को भोजन करने से अधिकाधिक अजीर्ण होता गया और उसके जीर्ण ज्वर मे वृद्धि होती गई वैसे ही प्राणी की विषय-लम्पटता बढ़ने से उसके रागादि (आसक्ति) दोषो मे वृद्धि होती है जो जीर्ण ज्वर के समान समस्त प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगो को बढाती रहती है। ऐसे असाध्य अजीर्ण और जीर्ण ज्वर मे भी जैसे वेल्लहल कुमार को भोजन करने की इच्छा होती रहती थी वैसे ही इस भाग्यहीन प्राणी को प्रति समय विषय-भोग की कामना बनी रहती है। ❀ मनुष्यभव प्राप्त जीव को देखेंगे तो प्रतीत होगा कि इसे कर्म का अत्यन्त दारुण अजीर्ण हो रहा है, उसके कुपित राग-द्वेष इतने वर्धित दिखाई देंगे कि उसके मूर्खता पूर्ण व्यवहार को देखकर आपको ऐसा लगेगा कि इसके चित्त पर ताप आ गया है, मानसिक सताप हो गया है। प्राणी वस्तु-स्वरूप को बराबर नही समझने के कारण वह समझ ही नही पाता कि राग-द्वेष के बढने से उसका ज्वर (मानसिक सताप) बढता जा रहा है, अत: वह सुख-प्राप्ति की इच्छा से ऐसे अहितकारी विपरीत मार्ग पर चल पडता है। (इससे वह अपना अहित करता है और परिणाम स्वरूप उसे दारुण दु:ख प्राप्त होता है।) सुख-प्राप्ति के लिये वह दुरात्मा जीव शराब पीता है, उसे निद्रा सुखकारी लगती है, अनेक ऊंची उडानो से भरपूर कल्पनाजन्य विकथा उसे सुन्दर लगती है। उसे क्रोध इष्ट लगता है, मान प्रिय लगता है, माया प्यारी लगती है, लोभ प्राणो के समान अभीष्ट

❀ पृष्ठ ३५३

लगता है और राग-द्वेष को स्वचित्त के समान ही समझता है। उसे सुन्दर स्त्रियों का स्पर्श प्रिय लगता है, रस अभीष्ट लगता है, गन्ध अच्छी लगती है, रूप आह्लादकारी लगता है और ध्वनि प्रियकारी लगती है। उसे चन्दन आदि का लेपन, ताम्बूल-चर्वण, आभूषण-धारण, सुस्वादु भोजन, फूलमालायें, लावण्यवती स्त्रियो का सगम और वढ़िया कपड़े पहनना अच्छा लगता है। वढिया आसन, वाहन और पलग आदि पदार्थों पर मन ललचाया करता है। द्रव्य-सचय और झूठे यश की बातें वहुत ही प्रिय लगती हैं। हे भद्रे! प्राणी की चित्तवृत्ति रूपी अटवी मे ऐसे कार्य करती हुई प्रमतत्ता (प्रमाद) रूपी नदी अति वेग से निरन्तर वहती रहती है। [४०-५२]

हे सुन्दरि! जैसे अजीर्ण और जीर्ण ज्वर से सतप्त दशा मे भी वेल्लहल राजकुमार को उद्यान मे गोठ करने की इच्छा हुई और एतदर्थ खाद्य सामग्री तैयार करवाई। उस भोज्य सामग्री मे से चखने के वहाने से उसने थोडी-थोड़ी खाई। उसके वाद आमोद-प्रमोद पूर्वक परिवार सहित नगर से निकल कर वगीचे में आया। वहाँ दिव्य आसन पर स्वयं बैठा। भोजनार्थ नानाविध खाद्य सामग्री परोसी गई, इत्यादि वर्णन पहले विस्तृत रूप से कर चुके हैं। हे कमलनयनि! वैसे ही प्रमाद में पडे हुए प्राणी को कर्म के अजीर्ण से महा दारुण मानसिक सताप ज्वर के कारण उसके मन मे प्रतिक्षण अनेक प्रकार के विचार उठते रहते हैं। जैसे—खूब धन कमाकर यथेच्छ सुख भोगू, अन्त.पुर को दिव्य वैभव-सम्पन्न कर दूं, मनोहारी राज्य का भोग करूं, वडे-वडे राज महल वनवाऊं, सुन्दर उद्यान वनवाऊं, महावैभव सम्पन्न वनूं, समस्त शत्रुओ का नाश करूं, समस्त जन समूह से प्रशंसित होऊं और समस्त मनोरथों को पूर्ण करूं। पाँचों इन्द्रियो के शब्दादि विषय रूपी सुख-सागर मे अपने को डुवाकर (सरावोर होकर) निरन्तर आनन्द की मस्ती में रहूँ। खाना, पीना, भोग भोगना और इन्द्रियो की तृप्ति करना, यही तो मनुष्य भव प्राप्त करने का फल है। इसके अतिरिक्त मनुष्य भव-प्राप्ति का फल ही क्या है? प्राणी की चित्तवृत्ति मे ऐसी प्रमाद रूपी नदी निरन्तर वहती रहती है। हे सुन्दरि! उसे वेल्लहल कुमार के उद्यान मे जाकर गोठ करने की इच्छा के समान समझना चाहिये। देख, ऐसे विचारो के परिणाम स्वरूप ही प्राणी महारम्भ पाप करता हुआ द्रव्य-संचय (सग्रह) करता है। दैवयोग से यदि उसे धन की प्राप्ति हो जाती है तो वह अपनी इच्छानुसार अन्त.पुर और भवन निर्माण से लेकर पूर्वोक्त पाँचों इन्द्रियों के विषयोपभोग पर्यन्त आनन्द सुख का स्वाद भी लेता है, जिसे वह सुख मानता है। [५३-६२]

तद्विलसित द्वीप की योजना

हे मृगलोचनि! कथा मे कहा गया है कि गोठ के लिये तैयार भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन मे से उसने थोड़ा-थोडा चखा, यह महारम्भ से धन-प्राप्ति होने पर पांचो इन्द्रियो के रसो का स्वाद लेने के समान है। जब यह प्राणी अनेक प्रकार

---

* पृष्ठ ३५४

के कुसंसर्गों से झूठी संकल्प-विकल्प-मालाओं से ग्रस्त होकर इसी को सुख मान बैठता है तब वह उसे प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के विलास, नाच, संगीत, हास्य, नाटक आदि के झूठे आनन्द में डूब जाता है और दुर्ललिताओं के वशीभूत होकर जुआ खेलने, शराब पीने, स्त्रियों के साथ संभोग करने आदि अधम कार्यों में रस लेने लगता है; जिससे वह सन्मार्ग रूपी नगर से दूर होकर दुःशील रूपी (बुरे मार्ग) उद्यान में आता है। हे नीलकमलनयने! कथा में कुमार के उल्लास पूर्वक नगर से निकलकर उद्यान में आने का भावार्थ यही है। अर्थात् सन्मार्ग-भ्रष्ट होकर दुश्चरित्री हो जाता है और इसका कारण है आरम्भ-समारम्भ से प्राप्त धन के उपभोग करने की तुच्छवासना। उद्यान में आकर कुमार जिस दिव्य विशाल आसन पर बैठता है उसे मिथ्याभिनिवेश आसन समझ। फिर कर्म के पारिवारिकजनों द्वारा कुमार के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्ताकर्षक एवं स्वादिष्ट भोजन परोसे गये, जिनको वह पहले चख चुका है, इसीलिये उनके प्रति लोलुपता की दृष्टि से देखता है। हे पद्मलोचने! यह भोजन सामग्री ही प्रमतत्ता नदी के मध्य में स्थित तद्विलसित द्वीप के समान है। [९३-९९]

चित्तविक्षेप मण्डप का उपनय

हे भद्रे! वेल्लहल कुमार द्वारा फिर थोड़ा सा भोजन करने से और जंगल के शीतल पवन से उसका ज्वर तीव्रता से बढ़ गया। वैद्यपुत्र ने इसे लक्ष्य किया और उसे भोजन करने से रोका परन्तु कुमार भोजन के प्रति इतना आकर्षित था कि उसने वैद्यपुत्र की बात सुनी ही नहीं। इसी प्रकार प्राणी को कर्म के अजीर्ण से मानसिक सन्ताप ज्वर तो पहले से ही होता है। फिर मदिरा, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूपी प्रमाद में पड़ने से और अज्ञान रूपी वायु के स्पर्श से उसका ज्वर बढ़ जाता है। प्राणी के इस कर्म-ज्वर की वृद्धि को समयज्ञ (शास्त्र के जानकार) वैद्य जैसे बुद्धिशाली धर्माचार्य समझते हैं और उसे अधिक प्रमाद में पड़ने से रोकते हैं तथा उसे वस्तु-स्वरूप को समझाते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि, 'भद्र! इस अनादिकालीन संसार रूपी महा भयानक जंगल में भटकते-भटकते विशाल साम्राज्य की प्राप्ति के समान ही किसी सुन्दर कर्मों के सुयोग से तुम्हें यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है, फिर भी कर्म के अजीर्ण से उत्पन्न ज्वर से तुम पीड़ित हो, अतः तुम प्रमाद का सर्वथा त्याग कर दो। अन्यथा कर्मज्वर की व्याधि में यदि प्रमाद का सेवन करोगे तो तुम्हारा यह मानसिक ज्वर बढ़कर सन्निपात में बदल जायेगा, अर्थात् तुम्हें महामोह रूपी सन्निपात हो जायेगा। इस मानसिक ज्वर को मिटाने की अमोघ औषधि सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, और सम्यक् चारित्र है। यह औषधि सर्वज्ञ भगवान् ने बताई है। इसके सेवन से तुम्हारे चित्त पर चढ़े ज्वर का सर्वथा नाश होगा। अतः हे भद्र! तुम इस औषधि का सेवन करो।' इत्यादि वचनों द्वारा धर्माचार्य प्राणी को विस्तृत उपदेश देते हैं, परन्तु इस पापी प्राणी के चित्त पर तो प्रमाद रूपी भोजन के प्रति इतनी अधिक आसक्ति होती है कि वह इस शिक्षा को उपदेष्टा का वाग्जाल मात्र समझकर

स्वीकार नही करता है। अपितु, इसके विपरीत वह उन्मत्त के समान, मदिरापीत मत्त के समान, ग्राह (मगरमच्छ) ग्रस्त मृत्यु की पीड़ा के समान और गाढ निद्रा की बेहोशी में पड़े हुए के समान उद्भ्रान्त होकर, धर्माचार्य के उपदेश को अनसुना कर उससे विपरीत आचरण करता है। हे भद्रे! ससारी प्राणी के इसी आचरण को म्हानदी के पुलिन तद्विलसित द्वीप के मध्य वने चित्तविक्षेप मण्डप के समान समझना चाहिये। ऐसी ये घटनाये ससारी जीव के सम्बन्ध में बारम्वार घटती ही रहती है। [७०-७६]

तृष्णा वेदिका की संघटना

हे चारुलोचना अगृहीतसंकेता! वेल्लहल को अजीर्ण और ज्वर के कारण भोजन गले से नीचे नही उतर रहा था फिर भी वह भोज्य पदार्थों के प्रति लोलुपता के कारण जबरदस्ती खा रहा था। फलस्वरूप उसने उसी भोजन के ऊपर ही उल्टी की। ठीक ऐसी ही घटना संसारी प्राणी के साथ भी घटित होती है। प्राणी कर्म के अजीर्ण से उत्पन्न जीर्ण ज्वर से ग्रस्त रहता है जिससे उसका मन सदा विह्वल रहता है और इधर वृद्धावस्था के कारण शरीर का खून और मास सूख जाता है जिससे शरीर क्षीण हो जाता है और उसका क्षीण शरीर अनेक प्रकार के रोगो का घर बन जाता है। ऐसी अवस्था मे किसी भी प्रकार के भोग * भोगने का उसमे सामर्थ्य नही रहता, फिर भी उसकी इच्छा अधिकाधिक भोग भोगने की ही बनी रहती है, परन्तु इसके विपरीत उसके मन मे तनिक भी भोग-त्याग की बुद्धि जाग्रत नहीं होती। ऐसी स्थिति में भी वह प्रमाद-भोजन के प्रति लोलुपता होने के कारण विवेकीजनों निषिद्ध द्वारा करने पर भी वह उनकी बात नही सुनता। प्राणी को सौ की प्राप्ति होने पर हजार की इच्छा होती है और हजार मिलने पर लाख की, करोड़ की, करोड़ की प्राप्ति होने पर राज्य प्राप्ति की, राज्य मिलने पर देव बनने की और फिर इन्द्र बनने की इच्छा करता है। शक्रेन्द्र बन जाने पर भी उसकी इच्छा पूर्ति नही होती। चाहे जितने पुत्र हो, सुन्दर सद्गुणी स्त्रियाँ हो, सर्व प्रकार की इच्छित वस्तुए हों, करोडो की सम्पत्ति हो, विविध प्रकार के भोग पदार्थ हो, फिर भी कुछ विशेष प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा का कभी अन्त नही आता। जैसे-जैसे अधिकाधिक स्थूल पदार्थ मिलते जाते हैं वैसे-वैसे उनसे अधिक सुख प्राप्त करने की कामना से वह उन सब का सग्रह करता जाता है। जैसे ज्वर-ग्रस्त मनुष्य के अपथ्यकारी अधिक भोजन करने पर उसके ज्वर मे वृद्धि होती है वैसे ही स्थूल पदार्थो के संग्रह से प्राणी के दुःखो की ही वृद्धि होती है। अधिक सुख प्राप्त करने की उसकी इच्छा तो इच्छा-मात्र ही रह जाती है, अपितु बाढ आदि के उपद्रव, अग्नि के उपद्रव, सम्बन्धियो के झगडे, चोरों के उपद्रव और राज्य सत्ता द्वारा द्रव्य रूपी भोजन का जबरदस्ती वमन (हरण) करवाना आदि उपद्रवो से होने वाले उन पदार्थों के वियोग से उसके हृदय

* पृष्ठ ३५५

मे दारुण कष्ट होता है और अत्यन्त दुःख से प्राणी विलाप पूर्ण क्रन्दन करता है, अर्थात् उसकी दशा बडी दयनीय बन जाती है। ऐसे अवसरो पर वे विवेकी पुरुषो के दयापात्र बन जाते है। हे सर्वांगसुन्दरी अगृहीतसंकेता! संसारी प्राणियो की इसी मन:स्थिति को चित्तविक्षेप मण्डप के मध्य बने तृष्णा वेदिका (मच) का रूप समझना चाहिये। [८०-९१]

विपर्यास सिंहासन का उपनय

ऐसी शोचनीय दशा में भी वेल्लहल ने विचार किया कि शरीर में वायु दोष बढ जाने से उसे वमन हुआ है, वमन होने से उसका पेट खाली हो गया है और यदि यह उदर खाली रहा तो फिर इसमे वायु का प्रकोप बढ जायगा जिससे मुझे कष्ट-पीडा होगी, अतः दुबारा डटकर भक्षण कर लूं ताकि पुन वायु-प्रकोप न हो। हे चपलनेत्री अगृहीतसंकेता! यह जीव भी ऐसा ही सोचा करता है। जब उसके द्वारा सचित वैभव पापरूपी ज्वर से नष्ट हो जाता है, अपने किसी स्वजन का, स्त्री का अथवा पुत्र का मरण होता है, अथवा हृदय पर आघातकारक किसी अत्यन्त प्रिय पदार्थ का विनाश होता है तब प्राणी मन मे सोचता है कि शायद मैंने नीति (युक्ति) से धन नही कमाया, या सुचारु रूप से पुरुषार्थ नही किया, अथवा मैंने योग्य स्वामी का आश्रय नही लिया, अथवा व्याधि का उपचार बराबर नही किया। इसीलिये मेरा सर्वस्व चला गया, मेरी चारुदर्शना सुन्दर पत्नी मर गई या मेरे देखते-देखते पुत्र और बान्धव आदि अकाल में ही काल-कवलित हो गये। परन्तु, अब मैं उनका विरह क्षण भर भी नही सहन कर सकता। एक बार फिर पूरे उत्साह से प्रयत्न करूंगा और पहले के समान सब वैभव प्राप्त करूंगा, युक्ति-प्रयुक्ति से उसे सम्भाल कर रखूंगा और उसकी सावधानी पूर्वक रक्षा करूंगा। यदि मैं साहस खोकर बैठ जाऊं तो बकरी के गले के स्तन के समान मेरा जीवन व्यर्थ है, अर्थात् मेरा जन्म होना न होने के समान है। अतः पुन. प्रयत्न कर पूर्ववत् समस्त वैभव प्राप्त करूं। हे सुभ्रु अगृहीतसंकेता! जीव इस प्रकार की जो चेष्टाये करता है उसे विपर्यास सिंहासन के समान समझना चाहिये। [९२-१००]

वमित भोजन को पुनः खाने की अर्थ-योजना

हे सुन्दरि! जैसे वेल्लहल कुमार समयज्ञ वैद्यपुत्र के रोकने पर भी सब लोगो के देखते हुए लोलुपता पूर्वक वमन मिश्रित भोजन करने लगा, उस समय पारिवारिक लोगो ने चिल्लाते हुए उसका हाथ पकड कर उसे रोकना चाहा और वैद्यपुत्र ने रोकते हुए * कुत्सित भोजन के दोष उसे समझाये। तब भी वह राजपुत्र वैद्य के चिल्लाने की और उसके द्वारा वर्णित दोषो की उपेक्षा कर, उसी वमन मिश्रित कुत्सित भोजन को स्वय के लिये हितकारी मान कर गाढासक्ति पूर्वक खाने लगा। वैसे ही यह ससारी जीव कर्मो की मलिनता के कारण निर्लज्ज होकर भोग कर

---

* पृष्ठ ३५६

फके हुए पदार्थो को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यद्यपि शब्द आदि पाँच इन्द्रियो के भोग के सभी स्थूल पदार्थ पुद्गल परमाणुओ से बने हुए है, प्रत्येक प्राणी इन्ही परमाणुओ का उपभोग करता है, पूर्व के अनन्त भवो मे इस प्राणी ने प्रत्येक परमाणुओ को अनन्त वार प्राप्त कर उपभोग कर छोड दिया है, अत· ये सब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के जितने भी पदार्थ है और, हे पवित्र बहिन ! इस जगत् मे प्रेमानुवन्ध पूर्वक आकर्षणकारी जितने भी पदार्थ इस ससार मे है वे सब उन्ही परमाणुओ के वने हुए होने से भोग कर फेके हुए यानि वमन किये हुए पदार्थ के समान हैं तथापि यह पापात्मा जीव उन्हे पुन. प्राप्त कर आसक्ति पूर्वक सेवन करता है और वमन के कीचड मे लोटता है। प्राणी के ऐसे निर्लज्ज व्यवहार को निर्मल आत्मा वाले आत्मार्थी वैद्य देखते हैं, उसे रोकते है, फिर भी उसे लज्जा नही आती। उसकी ऐसी शोचनीय एव लज्जनीय स्थिति में भी पूतात्मा धर्माचार्य कृपा-परायण होकर भोग रूपी कीचड़ मे फसे हुए ऐसे प्राणियो को प्रयत्न पूर्वक बार-बार रोकते है और समझाते है।

हे भद्र ! तुम स्वयं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप हो। तुम्हारे भीतर अवर्णनीय आत्मिक आनन्द है। तुम देव स्वरूप हो। तुम्हे ऐसे भोग के दलदल मे फँसकर आत्मिक गौरव को क्षय करना शोभा नही देता। एक बार भोगे हुए पदार्थ फिर दूसरा रूप धारण कर तुम्हारे समक्ष आते है, अत. ऐसे वमन किये हुए पदार्थो पर अपने मन को अनुबन्धित करना तुम्हारे जैसो के लिये अत्यन्त ही हीन कार्य है। वस्तु-तत्त्व को यथार्थ रूप मे समझने वाले तत्त्वज्ञ महात्मा इन पदार्थो को वमन किये हुए अपवित्र पदार्थ के समान मानते है। तुम तो स्वयं परम देव हो, फिर भी तुम ऐसे अपवित्र पदार्थो को भोग करो यह तनिक भी उचित नही है। इन पदार्थो को प्राप्त करने मे भी दु ख होता है। तत्त्वत: ये पदार्थ भी महादु.ख रूप हैं और भविष्य मे भी उनके वियोग से दु.ख होने वाला है। अत: विवेकशील प्राणियो को इनका पूर्ण त्याग कर देना चाहिये। अपने आत्म-स्वरूप को समझने वाला कौन ऐसा भला मनुष्य होगा जो बाह्य परमाणुओ से निर्मित तुच्छ और आत्मिक-भाव रहित इन पदार्थो पर आसक्त होगा ? अर्थात् आत्म-धन वाले विशिष्ट प्राणियो के लिये ऐसे तुच्छ पदार्थ क्या कभी आसक्ति के योग्य हो सकते है ? अत. हे भद्र ! मेरे कहने से भोग-पदार्थो मे और प्रमाद के विषय मे पडना अब तुम्हारे योग्य नही है अत: अव तुम इस दलदल मे मत फसो। [१०१-११५]

अविद्याशरीर की संघटना

हे पद्मपत्रलोचने ! गुरु महाराज जव प्राणी को न्याय और तर्कपूर्ण शब्दो मे उपदेश देकर विषय-भोग भोगने से रोकते है तब प्रमाद-भोजन में अत्यन्त लोलुप वना हुआ प्राणी सोचता है कि, अहो ! यह धमाचार्य तो पूर्णतया मूर्ख है। ये तो वस्तुतत्त्व को समझते ही नही, ऐसे आनन्द देने वाले भोग-पदार्थो की निन्दा

करते है। इस संसार मे मद्यपान, सुन्दरांगी के साथ सम्भोग, माँस भक्षण सगीत-श्रवण स्वादिष्ट भोजन, पुष्पहार, पान-सुपारी, सुन्दर वस्त्राभूषण, सुखदायी आसन आदि पदार्थों का भोग, अलकार धारण, त्रिभुवन व्यापी निर्मल यश, मूल्यवान रत्नो का सग्रह, शूरवीरता, महाबली चतुरग सेना, विशाल राज्य की प्राप्ति और यथेष्ट सम्पदाओ की प्राप्ति आदि ही यदि दुःख के कारण हैं तो फिर सुख है कहाँ ? कुछ बेचारे झूठे सिद्धान्त मे फंसकर अपने शुष्क * पाडित्य के अभिमान मे ग्रस्त हो जाते हैं, वे निश्चय रूप से इस लोक में भोग-साधनो और स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से वंचित ही रहते है। ये स्वय तो धर्म-पागल होकर भोग नही भोग सकते, पर जो अन्य प्राणी प्रयत्न पूर्वक भोग सामग्री प्राप्त कर उपभोग करने वाले होते है उनके भोगो का भी अपने हाथो से नाश करवाते है। देखो न, ऐसे धर्म-पागल पण्डित ससार के भोगो को बन्धन बताते हैं और मोक्ष का उपदेश देते है, पर मोक्ष मे तो ऐसे भोग उपलब्ध ही ही नही होने। फिर ऐसे मोक्ष का उपदेश ठगी नही तो और क्या है ? कौन ऐसा समझदार मनुष्य है जो ऐसे मोक्ष के लिये संसार के अमृत तुल्य सुखों का त्याग करेगा ? [११६-१२३]

ऐसा जीव गुरु महाराज के शुद्ध, सत्य उपदेशों से पराङ्मुख होकर ऐसी-ऐसी विपरीत कल्पनाओ द्वारा दूर भागता है, उसके विरुद्ध आचरण करता है और भोग-पदार्थों मे अभूतपूर्व नये-नये गुणो की कल्पना करता है। वह मानता है कि ये भोग पदार्थ स्थिर हैं अर्थात् निरन्तर रहने वाले है, पवित्र है, सुख देने वाले है और वस्तुतः मेरे ही रूप है। मैं और ये अभिन्न हैं, ये मेरे ही है, मेरे लिये ही निर्मित है, अत. अब इनके अतिरिक्त मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है। मुझे इस तथाकथित मोक्ष या शान्ति के साम्राज्य की कोई आवश्यकता नही है और धर्माचार्य या अन्य किसी के ऐसे बड़े-बड़े शब्दाडम्बरो के जाल में मैं अब अपनी आत्मा को नही फसाऊगा। ऐसे विचारो से प्राणी प्रमाद रूपी अशुचि के कीचड़ मे धसता रहता है। शुद्ध धर्म क्या है ? प्राणी का कर्त्तव्य क्या है ? आदि समझाते हुए धर्माचार्य तो उसके हितार्थ उच्च स्वर से पुकारते हुए दूर रह जाते है। हे श्रेष्ठमुखी अगृहीत-सकेता ! प्राणी की ऐसी अविद्या (अज्ञान) मय मनोभावनाओं को ही महामोह राजा की अविद्या नामक शरीर-स्थिति समझना चाहिये। [१२४-१२८]

सन्निपात का रहस्य

वेल्लहल कुमार ने रोकने पर भी वमन मिश्रित भोजन ठूंस-ठूंस कर किया जिससे उसे सन्निपात हो गया। वह अपना भान भूल गया और उल्टी के कीचड मे जमीन पर गिर पडा। इसी कीचड मे लोट-पोट होते हुए असह्य वेदना के कारण उच्च स्वर से क्रन्दन करने लगा और वह अवर्णनीय अचिन्त्य असाध्य दशा को प्राप्त हो गया। हे सर्वागसुन्दरि ! तब उसे इस असाध्य रोग से बचाने मे कोई भी

* पृष्ठ ३५७

समर्थ नही हो सका। ऐसी ही स्थिति इस ससारी प्राणी की है। जब वह प्राणी प्रमाद युक्त होकर तद्‌विलास-परायण होता है तब उसके चित्त मे अनेक प्रकार के विक्षेप होते रहते है और तृष्णा से पीडित होकर विपर्यास (विपरीत) बुद्धि के वशीभूत हो जाता है तथा अविद्या से अन्धा बनकर ससार रूपी कीचड मे आसक्त हो जाता है। वह अपने मन से ही कल्पना कर बैठता है कि विषय-सुखो मे ही समस्त गुणो का समावेश है। उस समय यदि कोई धर्माचार्य या सर्वज्ञ रूपी सच्चा वैद्य आकर उसे कीचड मे फसने से रोकता है तो यह जीव उन्हे मूर्ख और बुद्धिहीन मानता है। उस प्राणी द्वारा बाधे हुए अजीर्ण रूपी गाढ पापो के कारण उसे दु ख-भोग-रूपी ज्वर आता है। ज्वराभिभूत होकर यह धर्माचार्य या सर्वज्ञ की शिक्षा को वमन के समान त्याग देता है और प्रमाद मे पडकर उसका मन सर्व दोषो से परिपूर्ण हो जाता है। उस समय महामोह राजा, जिसका व्यवहार सन्निपात जैसा ही है, आकर उसके मन को अपने अधीन कर लेता है। एक बार महामोह के वश मे पडने के पश्चात् हे सुन्दरलोचने! यह प्राणी अन्य विवेकशील प्राणियो के देखते-देखते ही आत्मिक दृष्टि से निश्चेष्ट बन जाता है। तदनन्तर अति पापोदय के परिणाम स्वरूप विष्टा, मूत्र, अ तडियाँ, चर्बी, खून, माँस रूपी कीचड से लथपथ वमन मे लिपट कर सीधा नरक मे पड़ जाता है। वहाँ फिर नरक के दलदल मे लोट-पोट होता हुआ हा हा कार करता है, आर्त्तस्वर से रोता है, चिल्लाता है और अवर्णनीय तीव्रतम दु खों को सहन करता है। * हे सुन्दरगात्र वाली बहिन! तपोधन और शुद्ध दृष्टि वाले ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञान दृष्टि से इस प्राणी की उक्त चेष्टाओ को देखते हैं, समयज्ञ चिकित्सक होने से उसका निदान कर जान लेते है कि यह प्राणी अब सन्निपात जैसे असाध्य रोग से घिर गया है और अब इसे बचाने का कोई उपाय शेष नही है, अत' वे ऐसे प्राणी का त्याग कर देते है, अर्थात् उसके प्रति उपेक्षा की दृष्टि धारण करते है। हे चपलनेत्रि! इस अवस्था मे जब यह प्राणी घोर ससार मे डूबा हुआ होता है तब उसको अन्य कोई रक्षा कैसे कर सकता है? [१२६-१ २]

अल्पभाषिणि बहिन! ऐसी अत्यन्त दयनीय अवस्था मे भी प्राणी की प्रमादरूपी भोजन पर लोलुपता है, उस भोजन का त्याग नही करता इससे दोष बढते जाते है और वह चेतनाशून्य होता जाता है तथा अन्त मे वह महामोह के सन्निपात से घिर जाता है। फलस्वरूप यह ससार-चक्र जो रोग, जरा और मरण से आकुल-व्याकुल है। इसमे अनन्त काल से बैठा हुआ यह महा बलवान महामोह इस प्राणी के साथ ऐसा व्यवहार करता है कि जिससे इसके शुद्ध धर्मबन्धु इसे छोडकर चले जाते हैं। फिर प्राणी को पूर्ण रूप से वश मे कर यह महाबली महामोह अपनी शक्ति के बल पर सन्निपात के समान उससे विपरीत आचरण करवाता है। इस महामोह नरेन्द्र मे इतनी अद्‌भुत शक्ति है कि वह प्राणी से ससार मे खिलौने की भाँति

---

* पृष्ठ ३५८

इच्छानुसार खेलता है। इसके वशीभूत प्राणी अपनी आत्मा को तत्त्वत: भूल जाता है। हे सुलोचने ! अब तुझे समझ मे आ गया होगा कि प्रमत्तता महानदी आदि समस्त वस्तुओ को गतिमान करने और उनकी वृद्धि करने वाला यह महामोह महाराजा ही है। [१४३–१४७]

संक्षिप्त अर्थ-योजना

हे अगृहीतसकेता ! तुझे महानदी आदि का भेद समझाने के लिये वेल्लहल कुमार की कथा के सन्दर्भ से सम्बन्धित कर विस्तार से वस्तु-तत्त्व का गूढार्थ मैंने वर्णन किया, तथापि तू स्पष्ट रूप से नही समझी हो तो मैं पुन: इसी का सक्षेप मे रहस्य सुना रही हूँ। [१४८–१४६]

प्राणी विषय भोगो के प्रति उन्मुख रहता है, उसे ही प्रमत्तता नदी समझना।

पाँचो इन्द्रियो की भोगो की तरफ प्रवृत्ति करने अर्थात् विषय-भोग भोगने को ही तद्विलसित द्वीप समझना।

हे मृगनयनि ! इन्द्रिय भोगो मे प्रवृत्त होने पर विषय-लोलुपता के कारण मन मे जो एक प्रकार की शून्यता आ जाती है, जिससे गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय आदि के सम्बन्ध मे कोई विचार नही रहता, उसे ही इस जीव का चित्त-विक्षेप मण्डप समझना।

भोगों को यथेष्ट भोगने पर भी तृप्ति कभी नही होती और मन मे अधिकाधिक भोग भोगने की इच्छा बलवती रहती है। इसे ही मनीषियो ने तृष्णा-वेदिका (मच) कहा है।

भोग सामग्री प्राप्त होने पर भी पाप के उदय से मिले हुए भोग नष्ट हो जाय तब उन भोगो को प्राप्त करने के लिये जो बाह्य प्रयत्न किये जाते हैं, जिसे पुरुषार्थ कहते हैं, उसी को विपर्यास सिंहासन कहते है।

इस ससार के सभी पदार्थ अनित्य है, अपवित्र हैं, दु ख से परिपूर्ण हैं और आत्मा से एकदम भिन्न है। ऐसे पदार्थो के विषय में विपरीत मान्यता का होना अर्थात् उन्हे नित्य, पवित्र, सुखदायक और आत्ममय मानना ही अविद्या (अज्ञान) रूपी शरीर कहा जाता है।

इन समस्त पदार्थो मे प्रवृत्त कराने वाला तथा इनमे से ही उत्पन्न होने वाला महामोह महाराजा कहलाता है।

बहिन अगृहीतसकेता ! इस प्रकार महानदी आदि सब वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाली है, अत: इन्हे चिन्तन पूर्वक सम्यक् प्रकार से समझ लेना चाहिये।

अगृहीतसकेता ने कहा—बहिन ! आपने सुन्दर शैली में बहुत अच्छी तरह से समझाया। अब मुझे विश्वास हो गया कि आप सचमुच प्रज्ञाविशाला हैं। अर्थात् आपका जैसा नाम है वैसे ही आप में गुण है। अब मेरे सारे सशय नष्ट हो

गये हैं। हे विशालाक्षि ! आपको बहुत कष्ट हुआ, अब आप विश्राम करें और ❀ संसारी जीव को कहे कि यह अपनी आगे की आत्मकथा सुनावे। भाई संसारी जीव ! विचक्षणसूरि अपना जो चरित्र नरवाहन राजा के समक्ष सुना रहे थे और जिसमे अभी विमर्श-प्रकर्ष की बात चल रही थी उसे अब आप आगे सुनाइये। [१५०-१५८]

ससारी जीव ने अपनी आत्मकथा आगे सुनाना प्रारम्भ किया।

❀

१२. महामूढता, मिथ्यादर्शन, कुदृष्टि

विचक्षणसूरि ने नरवाहन राजा के समक्ष धर्मसभा और रिपुदारण को सुनाते हुए कहा कि उस समय ससारी जीव ने अपनी आत्मकथा आगे बढाते हुए कहा—हे विमललोचने ! विमर्श ने जो प्रतिपादित किया उसे मैं सुनाता हूँ। [१५९-१६०]

मामा विमर्श ने भाणजे प्रकर्ष से कहा—भाई प्रकर्ष ! अब तुम्हे नदी आदि का गूढार्थ पूर्णतया समझ मे आ गया होगा ? बोलो, और भी स्पष्टता करने की आवश्यकता है क्या ? [१६१]

प्रकर्ष—मामा ! प्रमत्तता नदी आदि सबके बारे मे मैं समझ गया हू। इनके नाम और गुण सब मेरे लक्ष्य मे आ गये है। अब आप मुझे मोहराजा के समस्त परिवार का परिचय कराइये। इन सब के समक्ष राज-सिहासन पर जो सुन्दर और मोटी स्त्री वैठी है, इसका नाम क्या है और इसमे कौन-कौन से गुण है ? [१६२-१६३]

देवी महामूढता

विमर्श—यह पृथ्वीपति महामोह महाराजा की जगत्प्रसिद्ध गुणो की भण्डार सौभाग्यवती महारानी महामूढता है। जैसे चन्द्र से चन्द्रिका और सूर्य से प्रकाश अलग नही रहते वैसे ही यह महारानी अपने स्वामी से अलग नही रहती। इन दोनो का शरीर एक ही है अर्थात् ये दोनो अभिन्न है। इसीलिये मोह राजा के जो गुण पहले वर्णन किये है वे सभी विशेष रूप से इसमे भी विद्यमान है। [१६४-१६६]

सेनापति मिथ्यादर्शन : महत्ता

प्रकर्ष—अच्छा मामा ! यह तो मैं समझा। अब यह बताओ कि महाराज के पास ही जो कृष्णवर्णी (कालाकीट) और भयकर आकृति वाला राजपुरुष बैठा है और जो समस्त सभासदो को टेढी नजर से देख रहा है, वह राजा कौन है ? [१६७-१६८]

❀ पृष्ठ ३५९

विमर्श--यह समस्त राज्य का नायक महामोह महाराज का प्रख्यात मुख्यमंत्री या सेनापति मिथ्यादर्शन है। महाराजा के सम्पूर्ण राज्य पर यही शासन करता है अर्थात् राजतन्त्र यही चलाता है। हे भद्र! यहाँ बैठे हुए अन्य राजाओं को भी यही शक्ति प्रदान करता है। यह अन्तरग प्रदेश मे रहकर भी बाह्य प्रदेश के प्राणियो मे अपनी शक्ति से निम्न परिवर्तन करता है--उसे ध्यान पूर्वक समझ लो। [१६९-१७१]

अदेव को देव : देव को अदेव

जो देव नही उसमे देवत्व की बुद्धि उत्पन्न करता है, अधर्म मे धर्म की मान्यता उत्पन्न करता है, अतत्त्व मे स्पष्टत: तत्त्व की बुद्धि जागृत करता है, अपात्र या कुपात्र मे पात्रता का आरोप करता है, जहाँ लेशमात्र भी गुण न हो वहाँ गुणो का भण्डार बताता है और ससार बढाने के हेतुओ को मोक्ष के हेतु होने की भ्रांति कराता है। [१७२-१७६]

यह मिथ्यादर्शन ऐसे आश्चर्यजनक कार्य कैसे सम्पादित करता है, यह भी थोडा विस्तार से बताता हूँ।

जो हसने, गाने, हास्य-विनोद, नाटक आदि आडम्बरो मे तल्लीन रहते है, जो स्त्रियो के कटाक्ष-विक्षेप के वशीभूत हो जाते है, जो अपना आधा शरीर ही स्त्री (अर्ध-नारीश्वर) का बना लेते है, जो कामान्ध होते हैं, जो पर-स्त्री मे आसक्त रहते है, जो निर्लज्ज होते है, जो क्रोध से भरे हुए है, जो शस्त्र धारण करते है, जो देखने मे ही भयकर लगते है, जो शत्रु को मारने मे तत्पर रहते हैं, शाप और आशीर्वाद देने के माध्यम से जिनके चित्त कलुषित रहते है, ऐसे व्यक्तियो (देवो) का यह मिथ्यादर्शन सर्वोत्तम देव के रूप मे स्थापित करवाता है। इसके विपरीत जो राग-द्वेष से रहित है, जो सर्वज्ञ है, जो शाश्वत सुख और ऐश्वर्य को अनन्त काल तक भोगने वाले हैं, * अत्यन्त क्लिष्ट कर्मरूपी मैल का जिन्होने सर्वथा नाश कर लिया है, जो सर्व प्रकार के प्रपञ्चो से रहित है, जो महाबुद्धिशाली है, जिनका क्रोध सर्वथा शान्त हो गया है, झूठे आडम्बरो से रहित है, जो हास-विलास स्त्री और अस्त्र-शस्त्रो से रहित है, जो आकाश के समान निर्मल और स्वच्छ है, जो धैर्यवान, शान्त और गम्भीर है, जो महान भाग्यशाली है, जो समस्त प्रकार के अशिवकारी उपद्रवो से रहित है, जो न किसी को शाप देते है और न किसी को आशीर्वाद देते है, फिर भी जो प्राणियो को शिवपद (मोक्ष) प्राप्त करवाने मे कारणभूत हैं, जो मन, वचन और कायिक दृष्टि से विशुद्ध शास्त्रो का उपदेश देने वाले है, जो परम ऐश्वर्यवान (परमेश्वर) है, जो समस्त देवताओ के भी पूज्य हैं, जो समस्त योगियो द्वारा भी ध्यान करने योग्य है, जिनकी आज्ञा का अनुसरण और आराधना करने से सदानन्दमय निर्द्वन्द्व विशुद्ध सुख की प्राप्ति होती है, ऐसे वास्तविक और सच्चे देव को यह

---

* पृष्ठ ३६०

मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति से आच्छादित कर देता है और उसके स्वरूप का विशेष रूप से ज्ञान भी नही होने देता है । अर्थात् जो प्राणी इसके वश मे है वे ऐसे महागुणी अक्षय सुखदायी सच्चे देव के स्वरूप को नही समझ सकते और न ऐसे देवो के अस्तित्व का ही उन्हे कोई भान रहता है । [१७७-१८१]

अधर्म को धर्म : धर्म को अधर्म

स्वर्णदान, गोदान, पृथ्वीदान आदि करने, बार-बार स्नान करने, धूम्रपान करने, पचाग्नि तप करने, चण्डिका आदि देवियो का तर्पण करने, बडे-बडे तीर्थो पर जाकर शरीरपात (आत्मघात) करने, साधुओ को एक ही घर मे भोजन कराने, गाने बजाने नाचने आदि का आदर करने, बावडी-कुए और तालाब खुदवाने, यज्ञो मे मत्रो द्वारा पशुओ का होम करने आदि ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के जो प्राण-घातक, शुद्ध-भावरहित धर्म इस ससार मे दिखाई दे रहे है, हे भद्र ! उन्हे इस महाबली मिथ्यादर्शन ने प्रपञ्च से लोगो को ठगकर जगत् मे धर्म के नाम से फैलाया है । [१८२-१८६]

इस ससार मे अन्य भी धर्म है जो कहते है कि क्षमा करो, मृदुता (नम्रता) धारण करो, सतोष धारण करो, हिसा का त्याग करो, पवित्रता धारण करो, सरलता सीखो, लोभ त्यागो, तप करो, सयम मे मन को लगाओ सत्य बोलो, परद्रव्य का हरण मत करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, शान्ति रखो, इन्द्रियो का दमन करो, अहिसा का पालन करो, पराई वस्तु न लो, शुद्ध ध्यान धरो, ससारजाल पर विराग रखो, गुरु की भक्ति करो, प्रमाद त्यागो, मन को एकाग्र करो, निर्ग्रन्थता मे तत्पर रहो आदि आदि चित्त को निर्मल करने वाले अमृत जैसे शुद्ध उपदेश, जो सच्चे शुद्ध धर्म के योग्य है जो जगत् को आनन्ददायक और ससार-समुद्र के उल्लंघन के लिये सेतु जैसे है, उन्हे यह महामोह का सेनापति मिथ्यादर्शन प्रकृति से ही अधर्म की आड मे आच्छादित करता रहता है । अर्थात् ऐसे विशुद्ध धर्म की अप्रसिद्धि कैसे हो, जन-समूह इसे कम से कम जाने, ऐसी योजना वह प्रति-समय बनाता रहता है और ऐसे धर्म को अधर्म के रूप मे प्रसिद्ध करने का सर्वदा प्रयत्न करता है । [१८७-१९०]

अतत्त्व मे तत्त्वबुद्धि : तत्त्व में अतत्त्वबुद्धि

आत्मा श्यामाक (धान्य) एव चावल जैसे आकार का है, पाँच सौ धनुष प्रमाण है, अखिल विश्व मे एक है, नित्य है, विश्व व्यापी है, विभु है, क्षण-सन्तान रूप है अर्थात् क्षण-क्षण मे विनाशशील है, ललाट मे रहता है, हृदय में रहता है, ज्ञान मात्र (रूप) ही है चराचर सभी शून्यमात्र है, पञ्चभूतो का समूह है, अखिल विश्व ब्रह्म निर्मित है, देव सर्जित है और महेश्वर निर्मित है—आदि आदि आत्मा के विषय मे जो अनेक प्रकार के प्रमाण-बाधित तत्त्व मानते है । ऐसे तत्त्वाभास के विषय में भी यह मिथ्यादर्शन प्राणी को तत्त्वतः मानने की सद्बुद्धि जाग्रत करता है । [१९१-१९४]

जब कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा, आस्रव, बन्ध और मोक्ष जो वास्तविक नौ तत्त्व है, ॐ जिनकी प्रतीति से सिद्धि होती है और जो प्रमाणो द्वारा प्रतिष्ठित है उन्हे यह दारुण व्यक्ति मिथ्यादर्शन छुपा देता है। अर्थात् इसके वश मे पडे हुए प्राणियो को यह प्रमाणसिद्ध सत्य तत्त्वो को दृष्टि से ओझल कर देता है, पहचानने नही देता। [१९५–१९६]

कुगुरु को सुगुरु : सुगुरु को कुगुरु

साधु-वेष धारण करके भी घर मे रहने वाले, ललनाओ के अगोपागो का मर्दन करने वाले, प्राणियो की घात (हिंसा) करने वाले, असत्य-परायण, पापिष्ठ, प्रतिज्ञाभग करने वाले, धन-धान्य आदि का परिग्रह करने मे रचे-पचे हुए, स्वादिष्ट भोजन का निर्माण करवाकर सर्वदा भक्षण करने वाले, मद्यपान करने वाले, पर-स्त्रियो के साथ गमन करने वाले, धर्म-मार्ग को दूषित करने वाले, तप्त लोह पिण्ड के समान क्रोधमूर्ति होते हुए भी यति स्वरूप के धारक—आदि-आदि अधर्माचरण करने वालो को भी यह मिथ्यादर्शन सत्पात्र (सद्गुरु) बनाकर उनका योग्य सन्मान करने और उनका उपदेश सुनने की बुद्धि जागृत करता है।

जब कि सत्य ज्ञान के ज्ञाता, विशुद्ध ध्यान मे रत, शुद्ध चारित्र का पालन करने वाले, उग्र तपस्या करने वाले, सन्मार्ग मे अपनी शक्ति का उपयोग करने वाले, गुण-रत्नो को धारण करने वाले, 'महान् धैर्यवान, चलते-फिरते कल्पवृक्ष के समान, दानदाता को ससार-समुद्र से पार उतारने वाले, अचिन्तनीय वस्तुओ से भरे हुए जहाज के समान, (ससार समुद्र से) उस पार पहुँचाने वाले—ऐसे निर्मलचित्त वाले महापुरुषो के प्रति यह जड़ात्मा मिथ्यादर्शन अपात्र (कुगुरु) की बुद्धि उत्पन्न करता है। [१९७–२०२]

असाधु को साधु : साधु को असाधु

साधु-वेश धारण कर सौभाग्य के लिये भस्म देने वाले, गारुडी विद्या या जादू का प्रयोग करने वाले, मन्त्रो का उपयोग करने वाले, इन्द्रजाल दिखलाने वाले, स्वर्ण आदि रसायन-सिद्ध करने वाले, विष उतारने वाले, तन्त्रो का प्रयोग करने वाले, अजन लगाकर अदृश्य होने वाले, आश्चर्योत्पादक कार्य करने वाले, उत्पात, अन्तरिक्ष, दिव्य, अग, स्वर, लक्षण, व्यजन और भौम अष्टाग निमित्त के माध्यम से शुभाशुभ फल बतलाने वाले, उच्चाटन आदि से शत्रु का नाश करने वाले, टोने-टोटके करने वाले, आयुर्वेदीय औषध देने वाले, सन्तति के शुभाशुभ फल बतलाने वाले, जन्मपत्री तैयार करने वाले, ज्योतिष गणना से वर्ष-फल बताने वाले, यौगिक चूर्ण और यौगिक लेप आदि तैयार करने वाले, दूषित शास्त्रो के माध्यम से विचित्र एव आश्चर्यजनक कार्य करने वाले, अन्य प्राणियो का नाश करने वाले, धूर्तता की ध्वजा फहराने वाले, ऐसे-ऐसे पाप परायण व्यक्ति नि शक होकर अधम एव तुच्छ

ॐ पृष्ठ ३६१

कार्य करते हैं और धर्म की उपेक्षा करते रहते हैं। ऐसे साधुओं को यह मिथ्यादर्शन गुणवान बतलाता है उन्हें वीर-धीर, पूज्य, मनस्वी, और सच्चे लाभ देने वाला बतलाता है और कहता है कि मुनियों में (साधुओ मे) वे ही सर्वोत्तम है। इस प्रकार यह मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति के प्रभाव से ऐसे लोगो को बाह्यजनो की दृष्टि मे सर्वमान्य बताता है।

जब कि अन्य साधु जिन्हे मंत्र-तंत्र आदि विद्यायें यद्यपि अच्छी तरह से ज्ञात होती हैं फिर भी जो निःस्पृह रह कर ऐसा लोकैषणा से निवृत्त (दूर) रहते हैं, लोकयात्रा से विरक्त रहते हैं, धर्म-मर्यादा का अतिक्रमण न हो जाय ऐसा भय उनके हृदय मे समाया रहता है अर्थात् धर्मभीरु होते हैं, अन्य जनो की दोषपूर्ण बातों के लिये ये मूक और अन्ध होते हैं, स्वात्मिक गुणो के विकास में प्रयत्नशील रहते है, अपने शरीर पर भी आसक्ति नही रखते, फिर धन स्त्री आदि पर-पदार्थों को रखने का तो प्रश्न ही नही उठता, जो क्रोध, अहकार और लोभ का तो दूर से ही त्याग कर देते हैं, जिनके सभी बाह्य व्यवहार शान्त हो गये हैं, जिन्हे अन्य किसी की अपेक्षा नही रहती जो तप को सच्चा आत्म-धन मानते हैं, लब्धि का उपयोग नही करते, जादू मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग नही करते. निमित्त नही बताते, जो लोगों के समस्त बाह्य उपचारो का मुखपूर्वक त्याग करते हैं * और निरन्तर स्वाध्याय ध्यान अभ्यास और योग क्रिया मे अपने मन को तल्लीन रखते हैं। ऐसे विशिष्ट महात्मा साधु पुरुषों को यह मिथ्यादर्शन गुण रहित, लोक-व्यवहार विमुख, मूर्ख, सुखोपभोग वञ्चित अपमानित, गरीब, दीन-हीन, ज्ञान रहित और श्वान जैसा कहकर उनकी हंसी उडाता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति से बाह्यजनों की बुद्धि मे साधु पुरुषो को असाधु और असाधु को साधु रूप में प्रतिष्ठित करने में आनन्द मानता है। [२०३-२१६]

अकरणीय को करणीय और करणीय को अकरणीय

कन्याओं के लग्न. पुत्रोत्पत्ति. शत्रुनाश, कुटुम्ब परिपालन आदि घोर ससार-वृद्धि के कामों को मिथ्यादर्शन विशुद्ध धर्म प्रतिपादित करता है और संसार समुद्र को पार करने का कारण बताता है। जब कि यह लोकशत्रु ज्ञान, दर्शन. चारित्र रूप रत्नत्रयी से युक्त मुक्ति के मार्ग का सर्वथा लोप करता है। [२१७-२१९]

भाई प्रकर्ष ! इस प्रकार अद्भुत शक्ति-सम्पन्न यह जडात्मा सेनापति मिथ्यादर्शन अदेव में देव, अधर्म मे धर्म, अतत्त्व में तत्त्व, अगुरु में गुरु, असाधु में साधु, अपात्र मे पात्र, गुणरहित को गुणवान और संसार-वृद्धि के कारणों को मोक्ष का कारण बताने की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपनी विचारणा शक्ति के अनुसार इन सब का संक्षिप्त विवेचन किया, किन्तु इसके पराक्रम का समग्र रूप से विस्तृत वर्णन करने में तो कौन समर्थ हो सकता है ? [२२०-२२३]

---

* पृष्ठ ३६२

मिथ्यादर्शन द्वारा मण्डपादि का निर्माण

भैया ! यह महामोह राजा का सेनापति मिथ्यादर्शन स्वभाव से ही बहुत अभिमानी है, मदोद्धत है और अपने मन मे ऐसा समझता है कि सम्पूर्ण राज्य का भार उसी पर है। अपने को समस्त राज्य का नायक मानकर ही वह कार्य करता है। वह मानता है कि महाराजा का उस पर पूर्ण विश्वास है इसलिये उसे अन्य कार्यों को छोडकर सदा उनके हित मे ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी के फलस्वरूप वह अपना कर्त्तव्य समझ कर चित्तविक्षेप मण्डप की रचना करता है, उस पर तृष्णा वेदिका (मञ्च) का निर्माण कर विपर्यास सिंहासन की स्थापना करता है। इस प्रकार की योजनायें बनाकर वह बाह्य लोक मे क्या परिणाम उत्पन्न करता है ? इस विषय मे अब मै तुम्हे बताता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो। [२२८-२२८]

चित्तविक्षेप मण्डप का रहस्य

भद्र ! बेचारा प्राणी पागल, शराबी, और भूतग्रस्त मनुष्य की तरह धर्म-बुद्धि से व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहता है। ऐसे विचित्र परिणाम वह कैसे उत्पन्न करता है यह भी तुम समझ लो। प्राणी धर्म मान कर महातीर्थो मे भैरवजव (आत्मघात) करता है, महापथ (हिमालय) के उत्तर मे माने हुए (स्वर्गपथ) पर जाता है, माघ मास की ठण्ड मे पानी मे खडे रह कर सर्दी से मरता है, पचाग्नि तपकर तीव्र अग्नि के ताप से शरीर को जलाता है, गौ, पीपल आदि को नमस्कार करके सिर फोडता है, कुमारी कन्या और ब्राह्मण को सीमातीत दान देकर निर्धन बनता है, स्वय को श्रद्धावान और पाप से पवित्र मानकर अनेक दु ख सहन करता है, * तीर्थो की यात्रा करने की अभिलाषा से घर, धन और कुटुम्ब को छोडकर अनेक दु:ख सहन करते हुए परदेश मे जहाँ-तहाँ भटकता रहता है, मृत-पित्रो के तर्पण के लिये और देवो के आराधन हेतु यज्ञ मे पशुबली देकर जीव-हिंसा और धन का अपव्यय करता है, भक्ति मे पागल बनकर तप्त लोहपिण्ड के समान क्रोधमूर्ति गुरुओ को मास-मद्य खिला-पिलाकर और धन तथा खाद्य वस्तुए देकर प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। यह सब वह (सच्चा) धर्म मानकर धर्मबुद्धि से ही करता है, इसीलिये विवेकशील पुरुषो की दृष्टि मे हसी का पात्र बनता है। धर्म के झूठे विचार से उसकी बुद्धि इतनी अधिक शून्य (कुण्ठित) हो जाती है कि जिससे उसकी समझ मे ही नही आता कि वह ऐसे कार्यो से व्यर्थ मे प्राणियो का नाश कर दारुण पापो का उपार्जन कर रहा है, स्वय का भविष्य अन्धकारमय बना रहा है और धन का व्यय करके भी हास्य पात्र बनता जा रहा है। तत्त्वमार्ग से बहिष्कृत लोग राग द्वेष से उत्पन्न स्वकीय पापो की विशुद्धि के लिये ऐसी अनेक प्रकार की क्रियाए करते है। इसके फलस्वरूप धर्म के सत्य स्वरूप को न जानकर अनेक जीवो का मर्दन करते है और हाथी के बच्चे की एवज मे गधे को बाधते है (धर्म समझ कर अधर्म करते है)। तेरे

* पृष्ठ ३६३

तिलो की यज्ञ मे आहुति लग गई, तेरे खीर की यज्ञ में आहुति लग गई, इसलिये अब तेरे सब पाप जलकर नष्ट हुए, ऐसा कहकर धूर्तजन दूसरो का माल उड़ाते हैं और मूर्ख प्राणी उनका अनुसरण करते हैं। उस समय यदि कोई सन्मार्ग का प्रतिपादन करने वाला वक्ता पुकार-पुकार कर अनेक प्रकार से समझाता भी है तब भी वह जीव उसकी परवाह नही करता, अपितु उपदेश देने वाले को मूर्ख समझता है। भाई प्रकर्ष ! मिथ्यादर्शन द्वारा निर्मित इस चित्तविक्षेप मण्डप का यही परिणाम है। [२२४-२४२]

तृष्णा वेदिका का रहस्य

हे भद्र ! यह प्राणी काम-भोग के विषयों मे इतना लुब्ध होता है कि मरते दम तक इन्हे नहीं छोड़ पाता। काम-भोगो की प्राप्ति के लिये वह अनेक प्रकार की विडम्बनाओं को सहन करता है। जैसे- अप्सरा को प्राप्त करने के लिये नन्दाकुण्ड में प्रवेश करते हैं। इस भव के पति को फिर से प्राप्त करने के लिये मृत पति के साथ चिता मे जलकर आत्मघात करती हैं (सती प्रथा)। स्वर्ग, धन एव पुत्र-प्राप्ति की कामना से अग्निहोत्र यज्ञ या ऐसे ही अन्य अनुष्ठान करते हैं, दान देते है और आशा करते है कि मृत्यु के पश्चात् दान के बदले मे मुझे अमुक वस्तु मिले। परन्तु, ऐसे अनुष्ठानो के बदले वह मोक्षरूपी फल की न तो कभी आशा ही करता है और न कभी उसे प्राप्त ही करता है। वह जो कुछ कर्मानुष्ठान भी करता है वह भी परलोक में अर्थ अथवा काम-भोग की प्राप्ति के निदान से करता है। इसलिये वह सब दोषपूर्ण हो जाता है। भैया ! यह सब मिथ्यादर्शन द्वारा निर्मित और संचालित तृष्णा मच के कारण ही होता है। [२४३-२४८]

विपर्यास सिंहासन का रहस्य

भाई प्रकर्ष ! प्राणी को मोक्ष में जाने की अभिलाषा होने पर भी वह दिङ्मूढ की तरह सन्मार्ग से पलायन कर विपरीत मार्ग को अपनाता है। जैसे, सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान् की वह निन्दा करता है, अप्रामाणिक वेदों को वह प्रामाणिक मानता है, वह मूर्ख अहिंसा-लक्षण विशुद्ध धर्म को दूषित बताता है, जब कि पशु-हिंसा से पूर्ण यज्ञादि धर्म को प्रशस्त बताता है। * मोह से असत्य तत्त्व के चक्कर मे पड़कर जीव-अजीव आदि शुद्ध सत्य तत्त्वों की निन्दा करता है और पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु और आकाश आदि पञ्चभूतो की स्थापना करता है अथवा शून्यवाद की स्थापना करता है अर्थात् उसे सत्य कहता है। वह जड़ात्मा (मूढ) शुद्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपासक विशुद्ध पात्र की निन्दा करता है और सर्व प्रकार के आरम्भजन्य (आस्रव) की प्रवृत्तियों में पड़े हुए को पात्र मानकर उसे प्रसन्नता से दान देता है। वह तप, क्षमा और ब्रह्मचर्य को निर्बलता का प्रतीक मानता है। जब कि शठता,

---

* पृष्ठ ३६४

दुश्चेष्टा और वेश्यावृत्ति को गुण मानता है। निर्मल ज्ञान के विशुद्ध मार्ग को धूर्तो द्वारा प्रवर्तित कुमार्ग मानता है। जब कि तान्त्रिक जैसे शाक्त-मतो को मोक्ष का मार्ग मानता है। यह गृहस्थाश्रम धर्म का विशेष सन्मान करता है और उसे अतुलनीय श्रेष्ठ धर्म बताता है, जब कि सर्व प्रकार के राग-द्वेषादि विपरीत भावो का उच्छेदन करने वाले साधु धर्म की निन्दा करता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन द्वारा स्थापित विपर्यास सिंहासन के कारण ही इस लोक मे प्राणी के मन मे ऐसे विपरीत भाव उत्पन्न होते है। [२४६–२५७]

मिथ्यादर्शन की महिमा

भैया प्रकर्ष! मिथ्यादर्शन के प्रभाव से अज्ञान के वशवर्ती हुए प्राणी कैसे-कैसे अन्य काम करते है, वह भी सुनले। जो पूर्णतया वृद्ध हो गये है. तरुण नारिया जिन्हे देखकर हँसी उडाती है, जिनके शरीर की चमडी लटक गई है, ललाट पर सल पड रहे है, अग पर धब्बे स्पष्ट दिखाई दे रहे है, ऐसे प्राणी भी काम-विकार से ग्रस्त रहते है और निरन्तर काम-भोगो की बातो मे रस लेते हैं तथा वे बुढापे की बात करने से भी शर्माते है। कोई उनसे उम्र पूछे तो वे अपने को जवानी के निकट ही बताते है। अनेक प्रकार के रसायनो और रगो के उपयोग से वे अपने केश काले करते है मानो स्वय के हृदय को काला बना रहे हों। शरीर पर बार-बार अनेक प्रकार के तेलो की मालिश कर उसे चिकना बनाते है, गाल पर लाली लगाकर उसकी शिथिलता को यत्नपूर्वक छुपाते हैं। ये मूढ जवानी की अकडाई पूर्ण चाल चलने का नाटक करते है, जवानो को स्थिर रखने के लिये अनेक प्रकार के रसायनों का सेवन करते है, अपना मुखडा बार-बार शीशे मे देखते है और शरीर की छाया को पानी मे देखते है। इस प्रकार ये स्वयं की शरीर-शोभा को बढाने वाले साधनो की प्राप्ति मे अनेक प्रकार के कष्ट प्रसन्नता से सहन करते है। सुन्दर स्त्रियो द्वारा उन्हे तात (बाबूजी, भाईजी) आदि कह कर पुकारे जाने पर स्वय उनके दादा जैसे होने पर भी. उनकी तरफ काम-विकार की दृष्टि से देखते है और उनसे लिपटने को तरसते है। स्वय अन्य को आज्ञा और प्रेरणा देने के सयोगो मे होने पर भी हँसी-विनोद, इशारेबाजी, छेड़खानी आदि करके दूसरों की हँसी के पात्र बनते है। हे भद्र! बुढापे से जर्जर शरीर से भी जब यह मिथ्यादर्शन ऐसी-ऐसी विडम्बनाये करवाता है तब गधा पच्चीसी वाली युवावस्था मे तो न जाने कैसी दशा करवाता होगा? [२५८–२६७]

जब यह शरीर श्लेष्म, आन्तडिया, चरबी आदि से भरा हुआ है तब भी इस पर अत्यन्त आसक्त चित्त होकर बेचारे प्राणी अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त करते है और निर्लज्ज होकर, धर्म के साधनो का त्याग कर अनन्त भवों मे दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य जन्म को व्यर्थ मे गवा देते है। ऐसे जीव का भविष्य मे क्या होगा? इसका विचार भी नही करते, देह-तत्त्व को नही पहचानते, अर्थात् शरीर और आत्म-तत्त्व के

---

* पृष्ठ ३६५

भेद को नही जानते। ये तो मात्र खाने, पीने, सोने और काम-भोग में पशु के समान अपना समय व्यतीत करते हैं। * अपार संसार-समुद्र के तल में पड़े हुए ऐसे निश्चेष्ट प्राणियों को ऊपर लाने का उपाय क्या और कैसे हो ? समुद्र में से निकालने वाले उत्तम धार्मिक आचरणों को तो उसने पूर्णरूप से नष्ट कर रखा है। भाई प्रकर्ष ! मिथ्यादर्शन निर्मित विपर्यास सिंहासन इस रूप में भी संसार मे दिखाई देता है। जिन नियमो और अनुष्ठानों में प्रशमानन्द रूप शान्ति का साम्राज्य समाया हुआ है और जो सारभूत है ऐसे नियमों मे भी यह विषय-परवश मूढ प्राणी दु.ख ही मानता है। जब कि जो विषय-भोग अत्यन्त दु.ख से भरपूर और तथा थोड़े समय में नष्ट होने वाले हैं उनमें यह विपयाभिभूत प्राणी सुख की कल्पना करता है, सुख मानता है। इस प्रकार यह भुवन प्रसिद्ध, महाबली मिथ्यादर्शन सेनापति बाह्य लोक के प्राणियो के चित्त में ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न करता है। [२६८-२७५]

हे प्रकर्ष ! महामोह नरेन्द्र के प्रधान सेनापति मिथ्यादर्शन के माहात्म्या का मैंने संक्षेप मे वर्णन कर तुझे बताया। [२७६]

मिथ्यादर्शन के सन्दर्भ में उपरोक्त विवेचन सुनकर प्रकर्ष बहुत प्रसन्न हुआ, फिर उसने अपना दांया हाथ उठाकर मामा से कहा—मामा ! आपने विस्तार पूर्वक जो वर्णन किया वह तो मैं अच्छी तरह समझ गया। किन्तु, सेनापति के आधे आसन पर जो सुन्दर स्त्री बैठी है वह कौन है ? [२७७-२७८]

कुदृष्टि

विमर्श—भाई ! अपने पति के समान ही बल और साहस को धारण करने वाली यह मिथ्यादर्शन की पत्नी कुदृष्टि के नाम से प्रसिद्ध है। हे भद्र ! बहिरंग लोक में जो कई पाखण्डी अनेक प्रकार के असत् मार्ग चलाने वाले दृष्टिगोचर है उन सब का कारण यह कुदृष्टि ही है। हे भद्र ! उन पाखण्डियो के नामों का मैं वर्णन करता हूँ। इनके देव आदि भिन्न-भिन्न होने से ये एक दूसरे से भिन्न लगते हैं। [२७९-२८१]

शाक्य, त्रिदण्डी, शैव, गौतम, चरक, सामानिक, सामपरा, वैदिक, धार्मिक, आजीवक. शुद्ध, विद्युद्दन्त, चुंचुण, माहेन्द्र, चारिक, धूम, बद्धवेश, खुंखुक. उल्का. पाशुपत. कौल. कणाद, चर्मखण्ड, सयोगी, उलूक, गोदेह, यज्ञतापस, घोप-पाशुपत. कन्दछेदी, दिगम्बर, कामर्दक, कालमुख, पाणिलेह, त्रैराशिक, कापालिक. क्रियावादी. गोव्रती. मृगचारी, लोकायत, शंखधामी, सिद्धवादी, कुलंतप, तापस. गिरिरोहा, शुचिवादी, राजपिण्डी, ससारमोचक, सर्वावस्थ, अज्ञानवादी, श्वेतभिक्षुक, कुमारव्रती, शरीरशत्रु, उत्कन्द, चक्रचाल, त्रपु, हस्तितापस, * चित्तदेव, बिलवासी, मैथुनचारी, अम्बर, असिधारी, माठरपुत्र, चन्द्रोद्गमिक, उदकमृत्तिक, एकैकस्थाली, मलक, पक्षापक्षी, गजध्वजी, उलूकपक्ष, मातृभक्त (देवी-भक्त), और

* पृष्ठ ३६६

कटकमर्दक आदि-आदि । भाई प्रकर्ष ! तुझे कितने नाम गिनाऊं ? ये सब भिन्न-भिन्न अभिप्राय को धारण करने वाले होने से भिन्न-भिन्न नाम से पहचाने जाने वाले पाखण्डी है । इनके (१) देव-तत्त्व भिन्न होने से, (२) वाद (कारण) तत्त्व में भेद होने से, (३) वेष-भिन्न होने से, (४) कल्प (आचार) भेद होने से, (५) मोक्षविचार भिन्न होने से, (६) विशुद्धि विचार मे भिन्नता होने से और (७) खाने-पीने के रीति रिवाज मे भिन्नता होने से एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं । इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न है । [२८२-२९३]

१. देव—उपरोक्त मत-मतान्तर वाले कोई शिव को, कोई इन्द्र को, कोई चन्द्र को, कोई नाग को कोई बुद्ध को, कोई विष्णु को और कोई गणेश को देव मानते है । और, इस प्रकार जिसके मन मे जैसा आया वैसे ही भिन्न-भिन्न देवताओ की मान्यता कर उनकी पूजा करने लगे । [२९४]

२. वाद—इनमे अनेक प्रकार के वाद हैं । कोई ईश्वर को कर्त्ता मानते है, कोई ईश्वर की आवश्यकता ही नही मानते, कोई नियति को प्रधानता देते है, कोई कर्म पर सृष्टि का विकास मानते हैं, कोई स्वभाववाद का प्रधानता देते हैं और कोई काल को मुख्यता देते है । इस प्रकार जगत्कर्ता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार-धाराओ के कारण भिन्न-भिन्न रूपो मे अनेक मत-मतान्तर हैं । [२९५]

३. वेष—कुछ त्रिदण्डो का वेष धारण करते हैं, कुछ हाथ में कमण्डलु धारण करते है, काई सिर का मुण्डन कराते है, कोई वल्कल धारण करते हैं और कोई भिन्न-भिन्न रग के सफद, पीले, गेरुए आदि कपड़े पहनते हैं । इस प्रकार वेष की भिन्नता प्रत्येक मत मे दिखाई देती है । [२९६]

४. कल्प—प्रत्येक तीर्थिको में (मत वालों मे) खाने-पीने की वस्तुओं और भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे मे भेद होने से भी ये मत अलग-अलग हैं । [२९७]

५. मोक्ष—सुख-दु.ख से रहित मोक्ष को भी ये पाखण्डी मत भिन्न-भिन्न रूप से मानते हैं । कोई मोक्ष को शून्य रूप मानते हैं, कोई निवृत्ति रूप एव अभेद स्वरूप मानते है, कोई उपाधि-त्याग रूप मानते हैं, कोई बुझे हुए दीपक के समान सुख-दु:ख रहित मानते हैं । ऐसे मोक्ष के भो विचित्र प्रकार के लक्षण भिन्न-भिन्न मत वाले स्थापित करते है । [२९८]

६. विशुद्धि—प्राणी कें अमुक पाप की विशुद्धि अमुक प्रकार के प्रायश्चित्त से होगी, इसमें भी प्रत्येक मत के अलग-अलग विचार हैं । जिसके मन मे जो आया वही विशुद्धि का मार्ग बता दिया और कह दिया कि इसका अनुसरण करने से प्राणी पाप से मुक्त हो जायगा । [२९९]

७. वृत्ति—कुछ जंगल के कन्दमूल फल खाकर निर्वाह करते हैं, कुछ अनाज खाकर निर्वाह करते है, कुछ अमुक-अमुक पदार्थों के सेवन का ही उपदेश देते हैं । यो प्रत्येक मत की निर्वाह-वृत्ति भी भिन्न-भिन्न है । [३००]

कुदृष्टि की शक्ति-सामर्थ्य से शुद्ध धर्म से बहिष्कृत होकर ये पामर प्राणी इस भवसमुद्र मे भटकते है, डोलते रहते हैं । [३०१]

तत्त्वमार्गमजानन्तो, विवदन्ते परस्परम् ।
स्वाग्रहं नैव मुंचन्ति, रुष्यन्ति हितभाषिणे ।।

तत्त्व मार्ग को न जानने के कारण ये पाखण्डी परस्पर व्यर्थ में ही वाद-विवाद करते हैं, अपने निर्णय के आग्रह को नहीं छोड़ते और यदि कोई उनके हित के लिये सच्ची बात समझाता है तो वे उस पर रुष्ट होते हैं । [३०२]

भाई प्रकर्ष ! जगत्प्रसिद्ध मिथ्यादर्शन की प्राणवल्लभा यह कुदृष्टि बहिरंग प्राणियों से ऐसे-ऐसे कार्यों को करवाती हुई विलास करती है । [३०३]

❀

१३. रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र

विगत प्रकरण में विमर्श ने अपने भाणजे प्रकर्ष के समक्ष मोह राजा के परिवार का विस्तार से वर्णन किया जिसमें उसकी पत्नी, सेनापति तथा उसकी पत्नी के गुणों का विस्तृत वर्णन किया था । अब मोहराजा के दोनो पुत्रों का परिचय कराया जा रहा है ।

भाई प्रकर्ष ! विपर्यास नामक उच्च सिंहासन पर बैठे हुए जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे मोहराजा के ज्येष्ठ पुत्र सुप्रसिद्ध रागकेसरी हैं । इन्हें राज्य-गद्दी पर बिठाकर मोहराजा स्वय राज्य की चिन्ता से मुक्त हो गये हैं और जीवन में कृतार्थ हो गये हो ऐसा जीवन बिता रहे हैं । महाराजा ने अपना सम्पूर्ण राज्य उन्हे सौंप दिया है तथापि ये विनय कुशल बनकर पिता की सर्व प्रकार की मर्यादा को विवेक एव नीति पूर्वक निभाते हैं । पिता को सर्व प्रकार से योग्य मानते हैं और अत्यावश्यक सभी विषयों मे उनका परामर्श लेते हैं । पिता भी सभी के समक्ष अपने पुत्र के गुणों की प्रशसा करते हैं और कई बार कहते है कि यही मेरे राज्य का स्वामी है । पुत्र का विनय और पिता की प्रशसा तथा स्नेह,❀ दोनो को परस्पर स्नेह-सूत्र मे बाध कर रखती है । इसी गाढ सम्बन्ध के कारण वे दोनो मिलकर सम्पूर्ण जगत को अपने वश मे करने मे समर्थ है । जब तक इस रागकेसरी राजा का प्रताप दुनिया में विद्यमान है तब तक बहिरंग लोगो को आत्मिक सुख की गंध भी कैसे प्राप्त हो सकती है ? हे भद्र ! ससार रूपी समुद्र के उदर में विद्यमान बाह्य पदार्थो पर बहिरंग प्राणियो की अतिशय प्रीति उत्पन्न करने और क्लेशमय पापानुबन्धी पुण्य से स्वय को क्लेशमय बनाने तथा भविष्य मे भी क्लेश उत्पन्न करने वाले भावो से प्राणी को दृढ स्नेह-बन्धन मे बाधकर रखने में यह पूर्ण समर्थ है [३०४-३११]

रागकेसरी के तीन मित्र

प्रकर्ष ! ये जो रक्त वर्ण और अति स्निग्ध शरीर वाले तीन पुरुष

❀ पृष्ठ ५६७

रागकेसरी के पास बैठे हुए दिखाई देते है, वे रागकेसरी के घनिष्ठ एव अन्तरग मित्र है और जिनको उसने अपनी श क्त से स्वशरीर से अभिन्न बना दिया है। वे तीनो पुरुष ध्यान पूर्वक देखने-समझने योग्य हैं। वे कौन-कौन है ? बताता हूँ। [३१२-३१३]

इन तीनो मे से प्रथम अतत्त्वाभिनिवेश नामक श्रष्ठ पुरुष है। कतिचित् विद्वान् आचार्य इसे दृष्टिराग के नाम से भो कहते है। हे भैया! यह भाई भिन्न-भिन्न मतवालो (तीर्थिको) मे अपने-अपने दर्शन के प्रति अत्यन्त आग्रह उत्पन्न कराता है। यह आग्रह इतना दुराग्रह पूर्ण हो जाता है कि एक बार हो जाने पर छूटना बहुत ही कठिन होता है। [३१४-३१५]

प्रकर्ष! इस दूसरे पुरुष का नाम भवपात है। कतिचित् प्राज्ञ इसे स्नेह-राग के नाम से प्रतिपादन करते है। यह भवपात प्राणियो मे धन, स्त्री, पुत्र, पुत्री सगे सम्बन्धी परिवार और अन्य वस्तुओ के प्रति अतिशय मूर्च्छा उत्पन्न करता है और उसके मन को इनके साथ गाढ बन्धन से बाध कर रखता है। [३१६-३१७]

तीसरे पुरुष का नाम अभिष्वग है। कतिपय आचार्य इसी को विषयराग या कामराग भी कहते है। भैया! यह लोक मे अनेक प्रकार की उद्दाम लीलाए करता हुआ भ्रमण करता है और शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्रति प्राणियो मे लोलुपता उत्पन्न करता है। [३१८-३१९]

प्रकर्ष! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि इन तीनो मित्रो की शक्ति से ही रागकेसरी राजा ने सम्पूर्ण जगत को आक्रान्त कर रखा है। इस रागकेसरी ने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण त्रैलोक्य को अपने पाँव के नीचे दबा रखा है। यह इतना अधिक वीर्यवान और पराक्रमी है कि सन्मार्ग रूपी मदमस्त हाथी के कुम्भस्थल को भेदने मे यह पूर्ण समर्थ है, इसीलिये इसका नाम रागकेसरी यथा नाम तथा गुण सफल हुआ है। [३२०-३२१]

रागकेसरी की भार्या मूढता

हे भैया! सिहासन पर उसके साथ जो स्त्री बैठी है वह रागकेसरी की लोक-प्रसिद्ध पत्नी मूढता है। जो-जो गुण उसके पति मे हैं वे सभी गुण मूढता मे भी पूर्णरूपेण विद्यमान है। जैसे शकर पार्वती को (अर्द्ध-नारीश्वर के रूप मे) अपने आधे अग में समा कर रखते है, ठीक वैसे ही यह रागकेसरी भी अपनी पत्नी को अपने अर्धांग शरीर के रूप मे ही रखता है। जैसे इन दोनों का अन्योन्याश्रित रूप से शरीर अभिन्न है वैसे ही इनके समस्त गुण भी अभिन्न है। [३२३-३२५]

द्वेषगजेन्द्र

प्रकर्ष! रागकेसरी के बायी तरफ महामोह महाराजा के दूसरे पुत्र और रागकेसरी के भाई द्वेषगजेन्द्र बैठे है, इन्हे तू पहचानता भी है। इनमे भी इतने

अधिक गुण हैं कि पिता (महामोह) का उस पर भी अत्यधिक स्नेह है और उसे देखकर महामोह के नेत्र हर्षित और मन निश्चिन्त होता है। यद्यपि जन्म से यह अपने बड़े भाई रागकेसरी से छोटा है परन्तु शक्ति मे उससे भी अधिक बलवान है, क्योंकि रागकेसरी को देखकर किसी को डर नही लगता परन्तु द्वेषगजेन्द्र को देखते ही लोग भय से थर-थर कांपने लगते हैं। जब तक यह महा पराक्रमी द्वेषगजेन्द्र चित्तअटवी मे घूमता रहता है तब तक बहिरग लोगो मे प्रीतिसगम (प्रेम सम्बन्ध) रह ही कैसे सकता है? जो लोग एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र होते है और जिनके हृदय परस्पर स्नेह से बंधे होते हैं, उन्हे यह भाई अपने जाति-स्वभाव से ही उनके दिलो मे भेद उत्पन्न कर अलग-अलग कर देता है और उनमे शत्रुता पैदा कर देता है। जब-जब यह द्वेषगजेन्द्र चित्तअटवी मे चलता हुआ हलचल करता रहता है तब-तब बहिरग प्राणी अत्यधिक पीडित एव दु:खी हो जाते है और परस्पर शत्रुता मे इतने बद्ध हो जाते हैं कि भयकर वेदना वाली नरक मे पडते है तथा वहाँ भी आपसी वैर एव मात्सर्य मे आबद्ध रहते हैं अर्थात् वैर को नही भूलते। भैया प्रकर्ष! इस द्वेषगजेन्द्र का जैसा कर्णकटु नाम है वैसा ही यह भयकर भी है और यथा नाम तथा गुण वाला है। जैसे गधहस्ती की गन्ध से अन्य हाथी भाग जाते हैं वैसे ही द्वेषगजेन्द्र की गध से विवेक रूपी हाथी दूर से ही भाग जाते है। इसकी स्त्री अविवेकिता अभी यहाँ दृष्टिगोचर नही हो रही है, परन्तु उसके बारे मे तो शोक ने तुझे पहिले ही बता दिया था जो तुझे स्मरण ही होगा। [३२६–३३५]

*

१४. मकरध्वज

[चित्तवृत्ति अटवी के मण्डप में सिंहासन पर बैठे हुए महामोह राजा और उनके परिवार का वर्णन सुनकर प्रकर्ष बहुत प्रसन्न हुआ। उस समय महामोह महाराजा के पीछे बैठे हुए एक अद्भुत स्वरूप वाले पुरुष को देखकर प्रकर्ष की जिज्ञासा जागृत हुई और उसने अपने मामा से पूछा—]

मकरध्वज

मामा! महाराज रागकेसरी के ठीक पीछे सिंहासन पर राजा जैसे एक व्यक्ति बैठे दिखाई दे रहे है, जिनके साथ तीन पुरुषों का परिवार है, जिनके शरीर का रग लाल है, आखें बहुत चपल हैं, विलास के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे है, पीठ पर बाण रखने का तूणीर बंधा हुआ है, हाथ मे धनुष दिखाई दे रहा है, समीप में पांच बाण रखे हुए है, जिनके पास विलासमयी दीप्तीमयी लावण्यपूर्ण सुन्दर स्त्री

* पृष्ठ ३६८

भ्रमर गुंजार से अधिक मृदु गीत से विनोद कर रही है। इस स्त्री के आलिंगन एव मुख-चुम्बन मे लुब्ध कमनीय आकृतिवाला यह कौन राजा है? [३३६-३३६]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! ससार मे महान आश्चर्य उत्पन्न करने वाला उद्दाम पौरुष वाला जगत् प्रसिद्ध यह मकरध्वज राजा है। ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व और कृतित्व वाले पुरुष को तुमने अभी तक नही पहचाना, तब तो तू अभी तक कुछ भी नही समझ पाया। भैया! इसने संसार मे कैसे-कैसे विस्मयोत्पादक काम किये हैं, सुन—पार्वती के लग्न के समय इसने ससार के परमेष्ठि पितामह ब्रह्मा से बाल-विप्लव (वीर्य स्खलित) करवाया। इन्ही ब्रह्मा की तपस्या भग करने जब इन्द्र ने तिलोत्तमा को भेजा तब इसने उस अप्सरा को चारो ओर से देखने मे लुब्ध ब्रह्मा को अपनी तपस्या के फलस्वरूप पाच मुख बनाने को बाध्य किया। विश्व व्यापी कृष्ण जैसे व्यक्ति को इसने राधा जैसी ग्वालिन के पांव पडने को विवश किया। लोक प्रसिद्ध शिव को तो इसने विरह-कातर बनाकर ऐसा बेहाल किया कि उन्हे पार्वती को अपने आधे शरीर मे ही समाहित कर अर्धनारीश्वर का रूप बनाना पडा।* यही महादेव जब नन्दनवन मे कामदेव की स्त्री रति को क्षुब्ध करने की लालसा से बृहत्‌लिंग को उद्दीप्त कर रहे थे तब इस मकरध्वज ने इनसे अनेक नाटक करवाये। इसने शंकर के मन मे सुरत-क्रीडा की ऐसी तृष्णा जागृत करदी कि वे एक हजार वर्ष तक विषय सेवन-रत रहे, उन्हे ऐसा विवश कर दिया। अन्य भी बहुत से देव-दानव और मुनियो को इसने अपने वश मे कर दास जैसा बना लिया है। इसके पास अपने महा पराक्रम से प्राप्त आत्मीभूत तीन अनुचर है। ऐसे इस मकरध्वज की आज्ञा का उल्लघन करने मे इस त्रैलोक्य मे कौन समर्थ है? [३४०-३४६]

मकरध्वज के अनुचर वेद-त्रय

प्रकर्ष! मकरध्वज के साथ जो तीन पुरुष है उनमे से प्रथम का नाम पुंवेद (पुरुष वेद) है, जो महान पौरुष-शक्तिसम्पन्न और प्रसिद्ध है। इसकी शक्ति से बहिरग प्रदेश के मनुष्य पर-स्त्री मे आसक्त होकर अपने कुल को कलकित करते है। [३५०-३५१]

दूसरा पुरुष जो महान तेजस्वी दिखाई देता है और जिसने सम्पूर्ण त्रैलोक्य को भ्रष्ट कर रखा है उसे विद्वान् आचार्यगण स्त्रीवेद के नाम से पुकारते है। इसके प्रताप से स्त्रियाँ लाज शर्म और अपने कुल की मर्यादा का त्याग कर पर-पुरुष मे आसक्त होती है। [३५२-३५३]

तीसरे पुरुष का नाम षण्ढवेद (नपुंसक वेद) है। यह भी अपने तेज से बहिरंग लोगो को त्रस्त करता है। इसमे इतनी शक्ति है कि जिसे जानना भी बहुत कठिन है, क्योकि नपुंसक ससार मे अत्यधिक निन्दा के पात्र बनते हैं। इसके सम्बन्ध मे अधिक वर्णन करना व्यर्थ है।

---

* पृष्ठ ३६६

प्रकर्ष ! यह मकरध्वज इन तीनो पुरुषों को आगे कर ससार में प्रवृत्ति करता है। यह इतना अतुलबली है कि तीनो जगत् के अन्य मनुष्य इसके बल की कल्पना भी नही कर सकते। [३५४-३५६]

मकरध्वज की पत्नी रति

मकरध्वज के पास ही जो कमलनयनी रूप-सौभाग्य की मन्दिर, अत्यधिक सुन्दर प्रिय स्त्री बैठी है वह उसकी पत्नी रति है। जिन लोगो को मकरध्वज ने अपने पराक्रम से जीत लिया है उनके मन मे यह स्वाभाविक रूप से सुखोपभोग की बुद्धि उत्पन्न करती है। वास्तव मे तो मकरध्वज से पराजित एव वशीभूत होकर वे लोग दु ख भोग रहे होते है। परन्तु, यह रति उनके मन मे इस बात को पुष्ट कर देती है कि जिससे उन्हे ऐसा आभास होता है कि वे बहुत ही आह्लादकारी सुख का उपभोग कर रहे है और यह मकरध्वज हमारा हितकारी है। जो कामदेव के विरुद्ध काम करते है उन्हे सुख को प्राप्ति कैसे हो सकती है ? लोगो के मन मे ऐसी मान्यता यह रति ही उत्पन्न करती है। भैया ! यह रति लोगो के मन को इतना वश मे कर लेती है कि वे निरपवाद रूप से मकरध्वज के दास के समान बन जाते है और उसके निर्देशानुसार चलकर अनेक प्रकार की विडम्बनाये प्राप्त करते है। इससे विवेकशील पुरुषो की दृष्टि मे वे हँसी के पात्र बनते जाते है। मूढात्मा लोग इसके वश मे होकर कैसे-कैसे विचित्र रूप धारण करते है और विडम्बनाए उठाते है, उसके कुछ उदाहरण देता हूँ जिन्हे सुनकर तुम भी आश्चर्य मे पड जाओगे। स्त्रियो के चित्त को प्रसन्न करने के लिये सुन्दर वस्त्र पहनते है, स्त्रियो को मोहित करने के लिये बहुमूल्य आभूषण धारण करते हैं, स्त्रियाँ जब कटाक्ष द्वारा चपल आँख झपका कर अर्धनिमीलित नेत्र से उसकी तरफ एकटक देखती है तब वे बहुत प्रसन्न होते हैं। जब स्त्रियाँ उनके साथ मधुरालाप (मधुर सम्भाषण) करती है तब उनके प्रति मन मे बहुत प्रेम उत्पन्न होता है और हृदय हर्ष-विभोर हो जाता है। * अकड़ के साथ शरीर को कठोर बना कर, गर्दन ऊची कर, सुदृढ़ कदम रखता हुआ, अपनी जवानी का प्रदर्शन करता हुआ चलता है और स्त्रियाँ जब उसे देख कर उसकी तरफ कटाक्ष बाण फेंकती है तब अपने को महान भाग्यशाली मानकर घमण्ड से फूल कर कुप्पा हो जाता है। कुलटा (व्यभिचारिणी) स्त्री को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिये काम-लम्पट मोहान्ध पुरुष बिना कारण हाथ-पाँव और आँखो से अनेक प्रकार के इशारे करता है, छेडखानी करता है, मुँह से सीटी बजाता है, ताने मारता है, गाने गाता है और इधर-उधर भाग दौड कर अपना पराक्रम बताता है। इस प्रकार उसके मन को अनुकूल बनाने के लिये ऐसे कौन से कार्य है जिन्हे वह नहीं करता हो ? स्त्री की चाटुकारिता (खुशामद) करता है, उससे नौकर के समान बात करता है, उसके

---

* पृष्ठ ३७०

पाँव पडता है और बिना कहे उसका काम करता है। कोई लम्पट स्त्री अपने पाँव से उस पुरुष के सिर पर लात भी मार दे तो वह उसे सहन कर लेता है और मोह के कारण उस लात को भी पुष्प-वर्षा मान कर उसे उस स्त्री का अनुग्रह ही समझता है। स्त्री अपने मुख से शराब के घूंट को चखकर थूंक मिलाकर यदि लपट पुरुष के मुँह मे दे दे तो उसे पीकर वह स्वर्ग से अधिक सुख का अनुभव करता है। अत्यन्त बलवान, वीर्यवान पुरुषो को भी स्त्रियाँ खेल-खेल मे ही अपने कटाक्ष अथवा भ्रू विक्षेप से कचरे की टोकरी जैसा बना देती है। ऐसी स्त्रियो के साथ भी सगम करने के लिये पुरुष लालायित रहते है, उनके साथ सुरत-क्रीडा करते हुए भी उन्हे कभी तृप्ति प्राप्त नही होती और वे उनके तनिक से विरह मे पागल जैसे हो जाते हैं तथा कभी-कभी तो शोक मे विह्वल होकर मरण को भी प्राप्त करते हैं। ऐसी स्त्रियाँ यदि उसका तिरस्कार करे या उसका आदर न करे तो उसे खेद होता है और यदि उसका बहिष्कार कर दे तो रोने लग जाता है। ऐसे ही पर-पुरुष में आसक्त अपनी स्त्री भी उसे महान दुःखसागर मे डुबोती है, मरणान्तक पीडा पहुँचाती है। जब ऐसा पुरुष अपनी स्त्री को पर-पुरुष के पास जाने से रोकने के लिये प्रयत्न करता है तब ईर्ष्या के परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है। हे भद्र! रति और कामदेव के वश मे होकर प्राणी ऐसी-ऐसी अनेक विडम्बनाएं इस भव मे उठाता है और परभव मे भी मोहवश इस रति की शक्ति से कामदेव का दास बनकर इस भयकर संसार-समुद्र मे डूब जाता है। भाई प्रकर्ष! बहिरग लोक के अधिकाश मनुष्य ऐसे ही होते है, ऐसा समझना चाहिये। मकरध्वज और रति की आज्ञा न मानने वाले मनीषीगण तो इस संसार में विरले ही होते है। भाई! तूने मुझ से मकरध्वज के बारे मे पूछा अतः उसके स्वरूप और उसके परिवार के बारे में मैंने विस्तार से वर्णन किया। [३५७–३७७]

१५. पाँच मनुष्य

[विमर्श वार्ता कहने में रसमग्न था और प्रकर्ष भी रस जमा रहा था। मामा का एक वर्णन पूरा होते ही वह दूसरी जिज्ञासा खडी कर देता था। मकरध्वज का वर्णन पूर्ण होते ही उसने नया प्रश्न खडा कर दिया।]

प्रकर्ष–मामा! आपने मकरध्वज का बहुत सुन्दर वर्णन किया। अब मेरी दूसरी जिज्ञासा प्रस्तुत है उसका भी समाधान करे। मकरध्वज के पास ही जो तीन पुरुष और दो स्त्रियाँ बैठी है वे कौन हैं? उनके क्या नाम और गुण है? [३७८]

१. हास—

विमर्श—इसमे से जो श्वेत रग का पुरुष है वह विषम और अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाला है और उसका नाम हास है। यह अपनी शक्ति मे

से बहिरग प्रदेश के लोगों को बिना कारण ही वाचाल बनाता है। कोई निमित्त को प्राप्त कर या अकारण ही जब यह बहादुर योद्धा के समान अपनी शक्ति प्राणी मे प्रकट करता है तब प्राणी सकारण या अकारण ही हा! हा! हा! कर कहकहै लगाता है, अट्टहास करने लगता है। हँसते हुए उसका मुँह इतना विकृत हो जाता है कि वह शिष्ट पुरुषो द्वारा निन्दनीय बन जाता है। यो मुखवाद्य को बजाकर प्राणी लघुता को प्राप्त करता है।* अकारण ही वह लोगो को शकाशील बनाता है। परस्पर वैर उत्पन्न करता है और स्पष्टत भ्रान्ति पैदा करता है। अपने हास्य के स्वभाव से ऐसा प्राणी मक्खी मच्छर जैसे क्षुद्र प्राणियो का भी उपघात कर बैठता है और कौतुकता के कारण व अकारण ही मनुष्यो को त्रस्त करता है। कभी-कभी उसकी यह प्रवृत्ति दूसरे प्राणियो के लिये प्राणघातक भी बन जाती है। यह हास्य ऐसी अनेक प्रकार की विचित्रताए इस लोक मे पैदा करता है और परलोक मे दारुण कर्मबन्ध के परिणाम उपार्जित करवाता है। इसकी एक तुच्छता नामक हितकारिणी पत्नी है जो इसके शरीर मे ही रहती है और जिसे गम्भीर-चिन्तक मनुष्य ही समझ सकते है। हे वत्स! यह स्त्री अकारण ही तुच्छ लोगो मे अपनी इच्छानुसार प्रतिदिन तुच्छता जागृत करती है, प्रेरित करती है और उसे बढाती है। कहा भी है :—

यतो गम्भीरचित्ताना, निमित्ते सुमहत्यपि।
मुखे विकारमात्र स्यान्न हास्य बहुदोषलम्॥

हँसने का कैसा भी गम्भीर कारण क्यो न हो, गम्भीर पुरुष मुँह मे ही मुस्कराते है, परन्तु मुँह बिगाड कर खिल-खिलाकर कभी नही हँसते। [३८०-३८९।]

२ अरति—इनमे काले रग की और बीभत्स (भद्दी) दिखाई देने वाली स्त्री ससार मे अरति के नाम से प्रसिद्ध है। यह किसी भी कारण को लेकर उत्साहित हो जाती है और बहिरग प्राणियो को असहनीय मानसिक दु.ख देती है। [३९०-३९१]

३. भय—वह जो दूसरा कांपता हुआ पुरुष दृष्टिगोचर हो रहा है वह भय के नाम से प्रख्यात है जो महादु खदायी है। भाई! वह जब-जब चित्तवृत्ति अटवी मे लीलापूर्वक विचरण करता है तब-तब बहिरग प्रदेश के प्राणियो को एक दम डरपोक बना देता है। इसके प्रभाव से प्राणी (१) अन्य मनुष्य को देखकर भयभीत होते है, (२) पशुओ को देखकर काँपने लगते है, (३) धन के खो जाने या लुट जाने या हानि की कल्पना मात्र से पागल बनकर भागने लगते है, (४,५) अग्नि, बाढ, भूकम्प आदि आकस्मिक कारणो के विचार मात्र से विह्वल होकर अश्रुपूरित नेत्रो से बोल उठते है कि अब क्या होगा? कैसे जीवित रहेगे? क्या हाल

* पृष्ठ ३७१

होगा ? (६) अरे मारे गये ! अरे मारे गये ! आदि शब्दो से व्यर्थ भयभीत होकर, सत्वहीन होकर कभी-कभ अपने प्राण भी गवा देते है और (७) ये अधम पुरुष अपयश के भय से अव्यवस्थित होकर करने योग्य कार्य भी नही करते। उपरोक्त सात प्रकार के पुरुषो के परिवार सहित यह भय वहिरग प्राणियो मे अपनी शक्ति का प्रयोग कर भय उत्पन्न करता रहता है । भय की आज्ञा से अधम पुरुप निर्लज्ज होकर युद्ध के मैदान से भाग खडे होते है, शत्रुओ के पाँवो मे गिरते है । हे भद्र ! अपने वशीभूत प्राणी को यह इस भव मे तो नचाता ही है, परभव मे भी भयत्रस्तता के कारण दीर्घकाल तक ससार-समुद्र मे भटकाता है कि कही उसका अता-पता ही नही लगता । इसकी एक हीनसत्वता (हीनता) नामक प्राण-प्रिय पत्नी भी इसके शरीर मे ही अभिन्न रूप से रहती है । वह इसके कुटुम्ब-परिवार का सवर्धन करती है । यह हीनसत्वता उसे इतनी अधिक प्रिय है कि वह उसे अपने शरीर से एक क्षणपृ भी थक् नही करता है । यदि उसे पृथक् कर देता है तो हे भद्र ! यह निश्चित रूप से मरण को प्राप्त हो जाता है। [३९२–४०२] ॐ

४. शोक—भाई प्रकर्ष ! यह जो तीसरा पुरुष दिखाई दे रहा है, उसे तो तुम पहचानते ही होगे ? हम जब तामसचित्त नगर मे प्रवेश कर रहे थे तब हमे यह मिला था और चित्तवृत्ति अटवी की सब बात बताई थी यह वही शोक है । जो वापस लौटकर महामोह राजा की सेना मे सम्मिलित हो गया है । किसी भी निमित्त को प्राप्त कर यह बहिरग प्रदेश के लोगो मे दीनता उत्पन्न करता है, उन्हे रुलाता है और आक्रन्दन करवाता है । जो प्राणी अपने प्रियजनो से वियुक्त हो गये है, महाविपत्ति मे पड गये है, और अनिष्टकारी तत्त्वो से सम्बद्ध हो गये है वे सब निश्चित रूप से इसी के वशवर्ती हो जाते है । उस समय उन बेचारो की यह ऐसी दुर्दशा कर देता है कि जैसे उनका भयकर शत्रु हो । परन्तु, शोक के वशीभूत मूर्ख प्राणी इसे शत्रु नही समझ पाते । इसके निर्देशानुसार बेचारे जड प्राणी चिल्लाते है, रोते है और दु खी होते है । रोते-चिल्लाते वे ऐसा समझते है कि यह शोक उन्हे दु.खो से छुडायगा, पर, यह भाई तो दु.ख को घटाने के स्थान पर उसे अधिक बढा देता है । परिणाम स्वरूप प्राणी अपने स्वार्थ को तो सिद्ध नही कर पाते, किन्तु धर्म-भ्रष्ट होकर मोह मे पडकर कई बार शोक ही शोक मे मूर्छित होकर आँखे बन्द कर लेते है और उनके प्राण तक निकल जाते है । शोक के वशीभूत प्राणी गाढ दु खी होकर सिर फोडते है, बाल नोचते है, छाती कूटते है, जमीन पर पछाड खाते है, गले मे रस्सो बाँधकर आत्महत्या करने लटक जाते है, नदी तालाब, कुवा, बावडी, समुद्र मे कूदकर प्राण देते है, अग्नि मे जल मरते है, पर्वत-शिखर से कूदकर (आत्महत्या) करते है, कालकूट आदि तीक्ष्ण विष भक्षण करते है, शस्त्र से अपने ही शरीर पर प्रहार करते हैं, प्रलाप करते है, पागल हो जाते है, विक्लव हो जाते है, दीन स्वर मे बोलते है, घोर मानसिक सन्ताप से जलकर राख जैसे हो जाते है और शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि के सुखो से वचित

ॐ पृष्ठ ३७२

हो जाते हैं। हे भद्र ! इस प्रकार शोक के वशीभूत प्राणी इस भव में अनेक प्रकार के प्रगाढ दु ख प्राप्त करते है और दु खदायी कर्मो का बन्ध कर परभव मे भी भयकर दुर्गति को प्राप्त होते है। हे भैया ! यह शोक बाह्य प्रदेश के प्राणियो को बहुत प्रकार से दु ख देने वाला है जिसका मैंने तेरे सन्मुख सक्षेप मे वर्णन किया है। हे वत्स ! इसके शरीर मे भी इसकी पत्नी भवस्था नामक महादारुण स्त्री निवास करती है। शोक का सवर्धन करने वाली यह भवस्था ही है। इसके बिना शोक क्षण भर भी जीवित नही रह सकता, इसीलिये वह इसे सदा अपने शरीर मे ही अभिन्न रूप से रखता है। [४०८–४१७]

५. जुगुप्सा—प्रकर्ष ! यह जो चपटे नाक और काले रंग वाली स्त्री शोक के पास ही बैठी है, उसे विद्वान् आचार्य जुगुप्सा के नाम से जानते है। वस्तु स्वरूप को नही समझने वाले बाह्य प्रदेश के प्राणियो मे विपरीत भाव उत्पन्न कर यह उनकी कैसी दुर्दशा करती है, सुनो। किसी के घाव मे से जब खून और पीप निकल रही हो, कीडे कुलबुला रहे हो, दुर्गन्ध उठ रही हो तब ऐसे दुर्गन्ध वाले प्राणी या वस्तु को देखकर स्वयं को अति पवित्र मानते हुए यह मूर्ख सिर धुनने लग जाता है, नाक चढाकर, * आखे बन्द कर, मुँह से थू थू करते हुए और कधे उचकाते हुए भाग खडा होता है। पवित्रता के दिखावे के लिये कपड़ो सहित पानी मे कूद पडता है, बार बार छीकता है और थूकता रहता है। उसके कपडे का पल्ला किसी से छू जाय तो क्रोधित होकर बार-बार स्नान करता है और चाहता है कि अन्य की छाया का भी उसे स्पर्श न हो। ऐसे शौचवाद (छूआछूत) के कारण वेताल के समान सर्वदा त्रस्त होता रहता है। जुगुप्सा के वशीभूत प्राणी पहिले से ही उन्मत्त तो होते ही है, फिर ऐसे विचित्र विचारो से अधिक उन्मत्त बन जाते हैं और तत्त्वदर्शन-रहित होकर परभव मे अज्ञानाभिभूत हो भयकर संसार रूपी जेल मे पडते है। भैया ! यह जुगुप्सा भी बाह्य प्रदेश के प्राणियो को बहुत दुःख देने वाली है जिसका मैंने सक्षिप्त वर्णन किया है। [४१८–४२७]

*

१६. सोलह बालक

पूर्व प्रकरण मे पाँच प्राणियों का वर्णन सुनने के पश्चात् जब प्रकर्ष ने सिंहासन के सामने १६ बालको को धमा-चौकडी करते देखा तो उसने विमर्श से पूछा—मामा ! सामने राजा की गोदी मे और नीचे खेलते हुए १६ बच्चे दिखाई पड़ रहे है। उनमे से कुछ का लाल रग है और कुछ का काला। वे तूफानी बच्चे

* पृष्ठ ३७३

कभी-कभी दुर्दमनीय चेष्टा करते है और कभी धमा-चौकडी मचा देते है। ये बच्चे, कौन है ? उनके नाम क्या है ? और उनमे क्या-क्या गुण है ? यह जानने की मेरी इच्छा है अत. स्पष्टतया वर्णन करे। [४२८-४३०]

१ अनन्तानुबन्धी – विमर्श - भाई प्रकर्ष ! आचार्यदेवो ने पहले इन सौलहो बच्चो की सामान्य पहिचान कपाय के नाम से कराई है। इन सोलह मे जो चार अधिक वडे दिखाई दे रहे है वे महान दुष्ट और स्वभाव से अति रौद्र आकार वाले है, उनके नाम अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ है। भैया ! मिथ्यादर्शन सेनापति इन चारो बालको को स्वात्मभूत अर्थात् अपने बच्चो जैसा ही मानता है। ये चारो बच्चे भी बाह्य प्रदेश के लोगो को अपनी शक्ति के प्रयोग से सेनापति के भक्त बना देते है। इसका कारण यह है कि जब तक चित्तवृत्ति अटवी मे ये चारो बच्चे लीला पूर्वक घूमते रहते है तब तक बहिरग लोक के मनुष्य मिथ्यादर्शन के प्रति अनन्यचित्त होकर, अन्य विद्वानो द्वारा समझाये जाने पर भी उनकी अपेक्षा कर सेनापति की भक्ति पूर्वक उपासना करते है। इसके फलस्वरूप इन चारो बालको के चित्तवृत्ति अटवी मे विद्यमान होने पर मनुष्य कभी भी भाव पूर्वक तत्त्वमार्ग के सच्चे रास्ते को प्राप्त नही कर सकते। इसलिये पूर्व प्रकरण मे मिथ्या-दर्शन आश्रित जो दोष वर्णित किये गये है वे सभी दोप बहिरग के लोगो मे भी पाये जाते है और ये बालक उसके कारणभूत है। [४३१-४३६] *

२. अप्रत्याख्यानी—उपरोक्त अनन्तानुबन्धी चार बालको से कुछ छोटे जो चार बालक उनके पास ही दिखाई देते है उन्हे पण्डितवर्ग अप्रत्याख्यानी-क्रोध, मान, माया और लोभ नाम से कहते है। ये चारो बच्चे अपनी शक्ति से बहिरग प्रदेश के लोगो को पाप मे प्रवृत्त कराते है। यदि कोई पापमार्ग से निकलना चाहे तो उसे ये चारो रोकते है। अधिक क्या कहूँ ? जब तक ये चारों चित्तवृत्ति मे रहते है तब तक प्राणी पाप से तिल मात्र भी पीछे नही हट सकते। प्रथमोक्त अनन्ता-नुबन्धी चार बालको से इनमे इतना अन्तर अवश्य है कि चित्तवृत्ति मे इनकी उपस्थिति होने पर भी प्राणी तत्त्वदर्शन को स्वीकार करता है जिससे उसे कुछ-कुछ सुख अवश्य मिलता है। परन्तु, वे किसी प्रकार की विरति (त्याग) या व्रत-नियम की प्रतिज्ञा नही कर सकते जिससे इस भव मे भी सतप्त रहते है और परभव मे भी पाप कर्मो का सचय कर ससार रूपी गहन जगल मे भटकते रहते है। [४४०-४४४]

३. प्रत्याख्यानी—हे प्रकर्ष ! इन आठ बालको से भी छोटे जो चार बालक दिखाई दे रहे है, उन्हे विबुधगण प्रत्याख्यानी-क्रोध, मान माया और लोभ के नाम से कथन करते है। जब तक ये चारो इस मण्डप के आश्रित है तब तक बहिरग जगत के प्राणी पाप को सर्वथा नही छोड़ सकते। जब तक चित्तवृत्ति मे ये बालक निवास करते हुए क्रीड़ा करते रहते है तब तक प्राणी पाप का कुछ-कुछ त्याग तो भली प्रकार करते हैं, पर उसे सम्पूर्णतः छोड़ नही सकते। प्राणी द्वारा किये गये कुछ-कुछ

---

* पृष्ठ ३७४

विरति (त्याग) व्रत, नियम आदि के फलस्वरूप उसका कुछ-कुछ कल्याण तो इनकी उपस्थिति मे भी होता है पर सम्पूर्ण लाभ नही मिल पाता, क्योकि वे सर्वविरति (सम्पूर्ण व्रत नियम) ग्रहण नही कर सकते [४४५-४४८]

४. सज्वलन — भाई प्रकर्ष। इन प्रत्याख्यानी बालको से भी छोटे जो केवल गर्भपिण्ड के समान चार बालक दिखाई दे रहे हैं उन्हे मुनिपुंगव संज्वलना क्रोध, मान, माया और लोभ के नाम से पुकारते है। ये बच्चे क्रीड़ा करने मे ही आनन्दित होते है और स्वभाव से ही अति चपल और चञ्चल रहते हैं। सर्व पाप से विरत साधुओं के चित्त को भी ये बच्चे कभी-कभी डावाडोल कर देते हैं अर्थात् ऐसे विशाल हृदय मुनिजनो के मन मे भी अपनी चञ्चलता से उथल-पुथल मचा देते हैं। फलस्वरूप सर्व पाप को नष्ट करने के इनके निश्चय मे भी कभी-कभी इन बच्चो के कारण दोष लग जाता है, शुद्ध मार्ग मे अतिचार आ जाता है और उन्हे प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। यद्यपि बाह्य प्रदेश के प्राणियो को ये बच्चे बहुत छोटे-छोटे और सुन्दर प्रतीत होते हैं तथापि ससारी प्राणियो के लिये वे सुन्दर तो कदापि नही हो सकते, क्योकि ये बडे-बडे मुनियों के चित्त को भी कुछ-कुछ क्षुब्ध कर देते है। [४४९-४५३]

इन चार-चार बालको के समूह का कुछ विस्तृत विवरण मैंने प्रस्तुत किया है, परन्तु इनके विशिष्ट गुणो का वर्णन करने मे कौन समर्थ हो सकता है? तथापि कभी अवकाश मे प्रसग आने पर प्रत्येक के नाम गुण और शक्ति का वर्णन करूगा। इनमे से आठ बालक (माया और लोभजन्य अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन) रागकेसरी के सामने खेल कूद कर रहे हैं। ये रागकेसरी और उसकी अत्यन्त वल्लभा पत्नी मूढता के पुत्र हैं। * और, जो शेष आठ बालक (क्रोध एव मानजन्य अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन) द्वेषगजेन्द्र के सन्मुख धमा-चौकडी कर रहे हैं वे द्वेषगजेन्द्र और उसकी प्रियपत्नी अविवेकिता के पुत्र है। ये सोलह ही बालक महामोह राजा के पौत्र है। इन सोलह बालको को इनके माता-पिता ने सिर पर चढा रखा है जिससे ये अत्यधिक चपल और शक्तिसम्पन्न बन गये हैं। इनकी शक्ति का वर्णन तो इस ससार मे हजार जिह्वाओ से भी करने मे कौन समर्थ हो सकता है? प्रकर्ष! इन बच्चो का औद्धत्य तू देख, सामने जितने भी राजा बैठे दिखाई दे रहे हैं ये बच्चे उनके भी सिर पर चढकर बैठ जाते हैं। भैया! इस प्रकार महामोह राजा के अंगभूत पूरे परिवार का सक्षेप मे मैंने तुम्हारे समक्ष वर्णन किया जो तुमने भली प्रकार समझ लिया होगा।

[४५५-४६४]

*

* पृष्ठ ३७५

१७. महामोह के सामन्त

[विमर्श आज प्रसन्न था। महामोह के परिवार, सेनापति, पुत्र-पौत्र आदि का वर्णन करने के बाद प्रकर्ष के प्रश्न करने के पहिले ही उसने महाराज के सामन्तो का वर्णन प्रारम्भ कर दिया।]

भाई प्रकष ! महामोह राजा के सिहासन के निकट ही जो राजा बैठे दिखाई दे रहे है वे राजा के विशेष अंगभूत प्रमुख पदाति (मत्री) है जिनका सक्षिप्त गुण-वर्णन अब मैं तुम्हे सुनाता हूँ। [४६५]

विषयाभिलाष मंत्री

भद्र ! रागकेसरी के पास जो राजा बैठा दिखाई दे रहा है उसका नाम विषयाभिलाष है। वह सुन्दर स्त्री की कमर में हाथ डाल कर बैठा है मुँह में सुस्वादु सुगन्धित पान चबा रहा है, भ्रमरों के झुण्ड से गुञ्जरित मनोमुग्धकारी सुगन्धी से पूर्ण कमल को लोला पूर्वक बार-बार सू घ रहा है, अपनी सुन्दरी पत्नी के मुखकमल को एकटक दृष्टि से अपलक देख रहा है, और वोणा, झांझर और काकली जैसे वाद्यों की मधुर ध्वनि सुनने मे जो अत्यधिक आसक्त दिखाई दे रहा है। मानो सारी सृष्टि के पदार्थ उसकी मुट्ठी मे ही हो, इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगने मे वह दत्त-चित्त हो रहा है। भैया ! यह रागकेसरी राजा का मन्त्री है। इसकी प्रसिद्धि हमने पहले भी कई बार सुनी थी और इसी से मिलने हम यहाँ आये है। [४६६-४७०]

प्रकर्ष ! तुझे याद होगा कि मिथ्याभिमान ने हमे बताया था कि इस विषयाभिलाष के पॉच लडके है जिनके बल पर यह मन्त्री महाबली बनकर सारे ससार को अपने वश मे रखता है और सब को अपने समान ही विषय भोगो में गृद्ध बना देता है। देखो, उसके साथ ये पाँच लडके भी बैठे है। जो-जो प्राणी विषयाभिलाष मत्री के प्रभाव मे हं वे सभा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द मे आसक्त हो जाते हं। एक बार इनके जाल मे फस जाने पर प्राणी भूल जाते हैं कि अमुक कार्य करने योग्य है या नही ? अमुक विषय उसके लिये हितकर है या अहितकर ? अमुक वस्तु खाने योग्य है या त्यागने योग्य ? और धर्माचार का तो वे बहिष्कार ही कर देते है। वे तो ऐसे ही मनुष्यों से मित्रता रखना पसन्द करते हैं जो सर्वज्ञ और जो सारे समय विषयो में ही रचा-पचा रहता है तथा पूर्णतया जड की भाँति अन्य किसी को न तो देखता है, न किसी से मिलता है और न ही किसी की बात सुनता है। ठीक जडकुमार की भाँति ही अपना आचरण करते है। भद्र ! इसको देखने मात्र से और बुद्धि पूर्वक विचार करने से ऐसा निश्चित जान पडता है कि रसना को उत्पन्न करने वाला यह विषयाभिलाष ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नही है। यह विशद बुद्धि वाला है, इसलिये अनेक प्रकार की राजनीति

(उठा-पटक) द्वारा रागकेसरी का पूरा राज्य-तन्त्र यही चलाता है * तथापि अन्य किसी के बुद्धि प्रयोग से यह कदापि पराजित नही होता। बाह्य प्रदेश के मनुष्य तभी तक विद्वान् बनकर अपने व्रतो मे दृढ रह सकते हैं जब तक कि यह विषयाभिलाष मन्त्री उन्हे न ी उकसाता। परन्तु, जैसे ही यह महाबुद्धिशाली प्रधान अपनी शक्ति का प्रयोग करने लगता है वैसे हो वे पामर प्राणी हतवीर्य होकर छोटे बच्चो की तरह निर्लज्ज बनकर अपने व्रतो को छोडकर इसके दास बन जाते है। यहाँ जितने भी राजा हैं उन सब का प्राणियो पर जो साम्राज्य है उसकी वृद्धि यह विषयाभिलाष मत्री ही करता है। अतः बाह्य प्रदेश के प्राणियो के लिये यह मन्त्री बहुत ही दु.खदायक है, क्योकि बहिरग लोक के प्राणी इसकी आज्ञा से ही पाप करते है और पाप के परिणाम स्वरूप वे इस भव और परभव मे दु ख प्राप्त करते है। यह विषयाभिलाष नीति-मार्ग मे कुशल, निर्दोष पुरुषार्थी, मनुष्यो के मन को भेदन करने के उपायो मे अति चतुर, सर्व यथार्थता को पहचानने वाला, विग्रह या सन्धि कराने के काम मे प्रवीण, विकल्पजाल फैलाने मे निपुण तथा अनेक विषयो मे कुशल है। सम्पूर्ण ससार मे इसके समान अन्य कोई मत्री है ही नही। अधिक क्या कहूँ ? सक्षेप मे, जब तक राज्य-तन्त्र (पद्धति) के कामकाज को चलाने वाला यह महामत्रो है तभी तक इन राजाओ का राज्य चल रहा है, अर्थात् इस मन्त्री के बिना इन राजाओ के राज्य मे चारो तरफ अन्धेरा फैल जाता है। [४७१-४८४]

प्रकर्ष ने हर्षित होकर कहा—बहुत अच्छा मामा ! आपने बहुत ही सुन्दर निर्णय,बताया है, अर्थात् आपकी बात सौ टका सच्ची है,क्योकि यह तिलतुष के तृतीयाश जितना भी बदल सके ऐसा प्रतीत नही होता है। यह महामन्त्री आपके कथनानुसार ही है इसमे कुछ भी सन्देह नही है। क्योकि, जब मैने इसे पहिले देखा था तभी इसकी आकृति को देखकर मेरे मन मे विचार उठा था कि यह मन्त्री ऐसा ही होना चाहिये और अब आपने इसके जिन समस्त गुणो का वर्णन किया है वे पूर्णत. मेरे विचारों के समर्थक ही है। [४८५-४८६]

विमर्श—तेरे जैसा चतुर मनुष्य किसी को देखकर ही उसके गुण-अवगुणो को जान जाय, इसमे कौनसा आश्चर्य है ? क्योकि —

ज्ञायते रूपतो जातिर्जातेः शीलं शुभाशुभम्।
शीलाद् गुणा प्रभासन्ते, गुणैः सत्व महाधियाम्॥

अर्थात् बुद्धिशाली मनुष्य को प्राणी के रूप से उसकी जाति का पता लग जाता है, जाति के जानने पर उसके अच्छे-बुरे व्यवहार का पता लग जाता है, व्यवहार से गुण और गुण से सत्व का पता लग जाता है। [४८८]

भाई ! इस विषयाभिलाष महामन्त्री को देखकर तू ने इसके ही गुण जाने हो, यही नही परन्तु तू ने अन्य राजाओ को देखकर,उनके गुण-अवगुण भी जान लिये

* पृष्ठ ३७६

है। भाणजे! तू मेरी बहन बुद्धिदेवी का पुत्र है, इसलिये तुझे निर्णय करने मे समय नही लग सकता। मै जानता हूँ कि तू मुझे जो प्रश्न पूछ रहा है वे तेरी जातिवान् होने की (मुझे मान देने की), उदार नीति की और तेरी एक प्रकार की महत्ता की निशानी है। [४८९-४९०]

भोगतृष्णा

प्रकर्ष—अच्छा मामा! इस मन्त्री के पास एक मुग्ध नेत्रो वाली स्त्री बैठी है, क्या वह इसकी पत्नी है? इसका नाम क्या है? और वह कैसी है? कृपया बतलाइये। [४९१]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! इसका नाम भोगतृष्णा है। यह विषयाभिलाष की पत्नी है। इसमे इसके पति के समान ही सब गुण विद्यमान है। [४९२]

मोह राजा के अन्य सेनानी

हे भद्र! महामन्त्री के आस-पास और आगे-पीछे राजा जैसे जो पुरुष खडे दिखाई दे रहे है और जिन्होने अपने मस्तक मन्त्री के आगे झुका रखे है वे दुष्टाभिसन्धि आदि ❀ महायोद्धा है और मोह राजा के विशेष स्वागभूत सेनानी है। ये सभी महायोद्धा महाराजा के अति प्रिय, रागकेसरी द्वारा मान्य और द्वेशगजेन्द्र की सेवा मे सभी समय-समय पर भृत्य के रूप मे उपस्थित रहते है। विषयाभिलाष मन्त्री की आज्ञा होते ही वे सभी या जिसे आज्ञा दी गई हो वे राज्य की सेवा मे प्रवृत्त हो जाते है और जब तक मन्त्री उन्हे उस कार्य से निवृत्त होने की आज्ञा नही देता तब तक वे कार्य से पीछे नही हटते। बाह्य प्रदेश मे रहने वाले प्राणियो को क्षुद्र उपद्रव करने वाले जो-जो अन्तरग के राजा है वे सभी यही इस तृष्णा मञ्च के मध्य मे बैठे हुए है जिन्हे भली प्रकार पहचान लो। फिर बाह्य प्रदेश मे कुछ अधम उपद्रव करने वाली स्त्रियाँ और कुछ बच्चे भी इन्ही राजाओ के बीच है उन्हे भी ध्यान पूर्वक देखने से वे लोग दिखाई देगे। वे इतने अधिक है कि उनकी गिनती भी नही हो सकती, फिर उनका वर्णन करना तो अशक्य ही है। उन सब मे जो विशेष-विशेष स्वागभूत (मोह राजा से उत्पन्न) योद्धा है उनका सक्षिप्त वर्णन मैंने किया है। [४९३-४९९]

❀

❀ पृष्ठ ३७७

१८. महामोह के मित्र राजा

[महामोह के परिवार, पुत्र, मत्री और योद्धाओ का वर्णन पूर्ण होने के बाद प्रकर्ष ने उसके मित्र राजा जो वहाँ उपस्थित थे, उनका भी परिचय प्राप्त करने का सोचा। इस विषय मे मामा-भाणजे मे निम्न बात हुई।]—

प्रकर्ष – मामा! आपने मञ्च पर बैठे लोगो का वर्णन किया वह तो ठीक, पर मञ्च के द्वार के बाहर इस विशाल मण्डप मे जो सात राजा बैठे हुए दिखाई देते है. जिनके साथ भिन्न-भिन्न छोटा-बडा परिवार है और जिनके रूप-गुण भी स्पष्टतया भिन्न-भिन्न दिखाई दे रहे है, उनके क्या-क्या नाम है? और क्या-क्या गुण है? वह समझाइये। [५००-५०१]

विमर्श—ये सात बड़े राजा यद्यपि महामोह राजा की सैन्य मे है, किन्तु ये बाहर के है और वे महाराजा की सहायता करने आये हुए मित्र राजा है। [५०२]

१. ज्ञानावरण—इनमें से जो सब से प्रथम है और जो पाँच मनुष्यों के साथ है वह ज्ञानसवरण नामक बहुत प्रसिद्ध राजा है। इसमे इतनी शक्ति है कि वह स्वय तो यहाँ रहता है, फिर भी अपनी शक्ति से बाह्य प्रदेश के प्राणियो को ज्ञान रूपी प्रकाश से रहित कर एक दम अन्धा बना देता है अर्थात् लोगो की समझ, विचार-शक्ति और दीर्घदृष्टि का हरण कर लेता है। यह राजा गहन अज्ञानान्धकार से लोगो को असमञ्जस मे डाल देता है, इसीलिये शिष्ट लोग इसे मोह के उपनाम से भी जानते हैं। इसके साथ बैठे पाँच पुरुषो के नाम है—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। [५०३-५०५]

२. दर्शनावरण—दूसरे स्थान पर जो राजा चार पुरुषों और पाँच स्त्रियो से घिरा बैठा है वह दर्शनावरण के नाम से महीतल मे प्रतिष्ठित है। (चार पुरुषों के नाम चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण है।) इसके साथ जो पाँच सुन्दर स्त्रियाँ दिखाई दे रही है (उनके नाम निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि है)। ये अपनी शक्ति से सारे ससार को निद्रा मे घूर्णित कर देती है और इसके साथ खडे ये चार पुरुष दुनिया को नितांत अन्धा बना देते है। [५०६-५०८]

३. वेदनीय—तीसरे स्थान पर जो दो पुरुषो से युक्त राजा दिखाई दे रहा है, उस विख्यात पुरुषत्व वाले राजा का नाम वेदनीय है। इनमे से एक पुरुष साता के नाम से प्रसिद्ध है जो देव, मनुष्य आदि सब को अनेक प्रकार के आनन्द प्राप्त कराता है और त्रैलोक्य को मस्ती से हर्षित कर देता है। उसके साथ ही जो दूसरा पुरुष दिखाई दे रहा है वह असाता के नाम से प्रसिद्ध है। यह पुरुष जगत् को विविध प्रकार के सताप और दु.ख देता है। [५०९-५११]

४. आयुष्य—चौथे स्थान पर चार छोटे-बडे बच्चो से घिरा हुआ जो राजा दिखाई दे रहा है, उसे ससार मे लोग आयुष्य के नाम से जानते हैं। (इसके साथ के बच्चो के नाम देवायुष्य, मनुष्यायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य और नरकायुष्य हैं।) ॐ ये बच्चे अपने प्रभाव से प्रत्येक भव मे प्राणी के निवास का समय निश्चित करते है, अर्थात् किस-किस भव मे प्राणी कितने समय तक रहेगा इसका प्रमाण तय करते है। [५१२-५१३]

५. नाम—प्रकर्ष! पाँचवे स्थान पर जो ४२ मनुष्यो से परिवेष्टित महाबली राजा दिखाई दे रहा है, उसे लोग नाम सज्ञा से पहचानते है। अपने ४२ अनुचरो के प्रभाव से यह सभी चराचर प्राणियो को इतनी विडम्बनाए देता है कि जिसका वर्णन भी अशक्य है। तुम देख ही रहे हो कि चतुर्गति रूप ससार मे कोई प्राणी देव, कोई मनुष्य, कोई नारकी और कोई पशु के रूप मे उत्पन्न होते है। कुछ एक, दो, तीन, चार या पाच इन्द्रियो को धारण करते है तथा भिन्न-भिन्न शरीरो को धारण करते है। इसी के प्रभाव से भिन्न-भिन्न शरीरो मे नये-नये पुद्गलो से सम्बन्धित होते है। भिन्न-भिन्न अगोपाग प्राप्त करते है। औदारिक आदि शरीर पुद्गलो का सघात (एकत्रित) करने को तत्पर रहते हैं। भिन्न-भिन्न संहनन (हड्डियों के आकार) धारण करते है। शरीर के भिन्न-भिन्न सस्थान (आकृति) धारण करते हैं। रूप, गध, स्पर्श, रस मे एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले बनते है। लघु (हल्के) या गुरु (भारी) बनते है। स्वोपघात-परायण अर्थात् शारीरिक या अगो के दुःख को सहन करने मे समर्थ बनते है। पराघात-परायण अर्थात् शक्ति शाली से भी विजय प्राप्त करने मे समर्थ होते है। अनुपूर्वी-पूर्वक अर्थात् अपने अपने इष्ट स्थान पर जन्म धारण करते हैं। पूर्ण श्वासोच्छ्वास वाले और स्वस्थ शरीर वाले बनते हैं। आतप अर्थात् स्वय शीतल शरीर वाले होने पर भी अन्य प्राणियो को अपनी किरणो से तप्त बना सकते है। उद्योत अर्थात् अपने शरीर की शांति-किरणो से चन्द्र किरण जैसी शान्ति चारो और फैला देते है। शुभ-अशुभ विहायोगति के प्रभाव से कोइ प्राणी अति सुन्दर चाल को प्राप्त करता है और कोई ऊट जैसी बेढगी चाल को प्राप्त करता है। कुछ प्राणी त्रस, कुछ स्थावर (एक इन्द्रिय वाले), कुछ सूक्ष्म, कुछ आँखो से दिखने वाले बादर, कुछ अपनी योग्य पर्याप्ति को पूर्ण किये हुए, कुछ अपर्याप्त स्थिति मे, कुछ भिन्न-भिन्न शरीर वाले (प्रत्येक), कुछ एक ही शरीर मे अनन्त जीव वाले (साधारण), कुछ स्थिर, कुछ अस्थिर, कुछ शुभ, कुछ अशुभ, कुछ सौभाग्यशाली, कुछ दुर्भागी, कुछ सुस्वर (मधुर भाषी), कुछ दुःस्वर (कठोर भाषी), कुछ के वचन लोक मे आदेय, ग्राह्य और मनोहर तथा कुछ के स्वव[र] मे अनादेय (अमान्य) होते है। कुछ का यश सर्वत्र फैलता है जब कि कुछ का अपयश क[ा] ही फैलता है। कुछ के शरीर का गठन सुन्दर होता है। कुछ महात्मा पुरुष इस ससा[र] मे तीर्थकर भी बनते हैं जिनके चरण-कमल नमन करते हुए श्रेणिबद्ध देवताओ

ॐ पृष्ठ ३७८

मुकुटो से पूजित होते है और जो संसार को भेदकर उसके अन्तिम छोर (मुक्ति) को प्राप्त कर लेते है। ऐसी अनेक प्रकार की जो रचनाये ससार मे होती है, जिससे भिन्न भिन्न प्रकार की अच्छी-बुरी स्थिति को प्राणी प्राप्त करता है, वह सब इस महाबलवान महाराजा नाम और उसके अनुचरो के प्रभाव एव पराक्रम से ही होता है। [५१४-५२५]

६. गोत्र—भद्र! इसके आगे छठे स्थान पर दो आत्मीय पुरुषों से घिरा हुआ जो जगत्पति महापराक्रमी राजा बैठा है उसका नाम गोत्र है। इन दो पुरुषों मे से एक का नाम उच्च गोत्र और एक का नीच गोत्र है। प्राणियो को अच्छे या बुरे गोत्र वाला बनाना इसी राजा का काम है। [५२६-५२७]

७. अन्तराय—भैया! इसके आगे सातवे स्थान पर पाँच मनुष्यो से घिरा हुआ जो राजा बैठा है, उसे अन्तराय कहते है। यह नराधम अपनी शक्ति से बाह्य प्रदेश के लोगो मे विघ्नरूप बनकर न तो दान देने देता है, न वस्तुओ का लाभ होने देता है और न उनका भोग-उपभोग करने देता है, पराक्रमी होते हुए भी निर्बल बना देता है अर्थात् प्राणी अपने वीर्य का उपयोग नही कर सकता और प्रत्येक कार्य मे विघ्न उपस्थित करता है। इसके पाँच पुरुषों (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय) के प्रभाव से यह प्राणियो की ऐसी गति बनाता है। [५२८-५२९]

भाई प्रकर्ष! मैंने सक्षेप मे इन सातो राजाओं और उनके परिवार के सम्बन्ध मे तुझे बताया। वैसे इनमे से प्रत्येक की कितनी शक्ति है और वे कैसे-कैसे काम कर सकते है. इस सम्बन्ध मे यदि विस्तार से कहूँ तो मेरा पूरा जीवन समाप्त हो जाय तब भी वह पूरा नही हो सकता। [५३०-५३१]

मामा के गम्भीर वचन सुनकर * प्रकर्ष का चित्त अत्यधिक हर्षित हुआ और वह बोला—मामा! आपने बहुत अच्छा किया। मैं मानता हूँ कि इन सब राजाओ का वर्णन कर आपने मुझे मोह के पिञ्जरे के छुड़ा लिया है। [५३२-५३३]

हर्षित प्रकर्ष ने अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिये विमर्श से पुनः पूछा—मामा! मेरे मन मे एक शंका उठ रही है, यदि आपकी आज्ञा हो तो पूछकर निर्णय करू? [५३४]

मित्र राजाओं का विशिष्ट परिचय

प्रकर्ष के प्रश्न पर विमर्श ने सतोष व्यक्त किया और प्रसन्नता से कहा—भद्र! तू जो कुछ पूछना चाहता है उसे प्रसन्नता पूर्वक पूछ। तब प्रकर्ष ने पूछा—मामा! आपने जिन सात राजाओ का वर्णन किया उनके विषय मे मुझे विस्मय-कारक अनेक नवीनताए लग रही है। मण्डप मे बैठे हुए इन्हे ध्यान पूर्वक देखने पर भी मुझे ये राजा तो दिखाई देते है किन्तु उनके परिवार दिखाई नही देते। अधिक

---

* पृष्ठ ३७९

जोर देकर विस्फारित नेत्रों से देखने पर परिवार दिखाई देते है तो राजा दिखाई नही देते। आपने तो प्रत्येक राजा और उसके परिवार (अनुचरो) का नाम तथा गुणों का अलग-अलग वर्णन किया है। इसमे क्या यथार्थता है? वह समझाइये। [५३५-५३९]

विमर्श—वत्स! इसमे विस्मय जैसी क्या बात है? जैसे तू एक ही समय मे राजा और उसके परिवार को एक साथ नही देख सकता वैसे ही अन्य भी कोई उन्हे एक साथ नही देख सकता। क्योकि, इन दोनो को जानने वाले समझते है कि ये दोनो एक ही समय मे एक साथ नही रहते, किन्तु उस समय मन मे ऐसा भाव होता है कि राजा है तो उसका परिवार भी है। देख, आवरण रहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ केवली भी यह जानते है कि ये राजा और उनका परिवार एक ही समय मे एक साथ नही रहते, क्योकि ये सातो राजा सामान्य है और उनका परिवार विशिष्ट है। जिस प्रकार अवयव को धारण करने वाला अवयवी यहाँ सामान्य है और उसके अवयव विशेष है वैसे ही ये सातो राजा अश को धारण करने वाले अशी है और उनके परिवार उन्ही के अश के रूप है। सामान्य और विशेप किसी को एक ही समय मे एक ही साथ दिखाई नही दे सकते, क्योकि यह इनका स्वभाव ही है। इनमे देश, काल या स्वभाव से किसी भी प्रकार का भेद नही है, दोनो तादात्म्यरूप (एकरूप) होकर साथ मे रहते है, अतः वे दोनो एकरूप (अभिन्न) ही प्रतिभासित होते है। यही कारण है कि भैया! तुझे दोनो एकरूप मे दृष्टिगोचर हो रहे है। [५४०-५४५]

इस विषय मे मैं तुझे एक दृष्टान्त देकर समझाता हूँ। मानो कि एक जगल है। उसमे धावड़े, आम और खैर के वृक्ष है। अब ये धावडे, आम या खैर वृक्ष से भिन्न तो नही है, अर्थात् वृक्ष है तो धावडे आदि है और धावड़े आदि है तो वृक्ष है। दोनो वैसे अभिन्न है, पर एक समय सामान्य वृक्ष पर लक्ष्य रहता है तो दूसरे समय धावडे, आम आदि विशेष पर लक्ष्य रहता है। जैसे, श्रुतस्कन्ध के बिना अध्ययन नही हो सकते और अध्ययन के बिना श्रुतस्कन्ध नही हो सकता। बिना प्रकरण के पुस्तक नही हो सकती। (पुस्तक है तो प्रकरण भी होगे और प्रकरण है तो पुस्तक भी होगी)। बात इतनी ही है कि एक ही समय मे दोनो का बोध एक साथ हो नही सकता। यह नही कि वे शास्त्र रूप या प्रकरण रूप मे दिखाई ही नही देते, परन्तु भिन्न-भिन्न समय की अपेक्षा को ध्यान मे रखकर देखे तो दोनो ही दिखाई देते है। अर्थात् एक समय शास्त्र दिखाई देता है तो एक समय प्रकरण, पर दोनो एक साथ दिखाई नही दे सकते। जब वस्तु के सामान्य रूप पर ध्यान होता है तब विशेष रूप अदृश्य हो जाता है और जब विशेष रूप पर ध्यान होता है तब सामान्य रूप अदृश्य हो जाता है। [५४६-५४८]

जगल को दूर से देखने पर सामान्य रूप मे वृक्षो के झुण्ड ही दिखाई देगे, उसमे धावड़े आम या खैर न तो दिखाई ही देगे और न उन्हे भिन्न-भिन्न रूप

मे पहचाना ही जा सकेगा। उसके निकट जाने पर वे ही धावडे, आम या खैर अलग-अलग दिखाई देंगे। तब 'यह धावडा है, यह आम है, ऐसा कहा जायगा, पर यह वृक्ष है ऐसा कोई नही कहेगा। यद्यपि धावडा, आम आदि वृक्ष से भिन्न नही है, पर सामान्य रूप से वे वृक्ष होने पर भी विशेष रूप से आम आदि भिन्न-भिन्न हैं। काल की अपेक्षा से कहे तो आपने दो वस्तु देखी है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न रूप देखें है। एक बार वृक्ष देखे और थोडी देर बाद आम आदि देखे।* काल के भेद से वस्तु-भेद अवश्य हुआ, पर वस्तुतः वे भिन्न नही है। जो द्रव्य वास्तव मे अभिन्न होते है वे कालभेद से भी कभी भिन्न-भिन्न दिखाई नही देते। जो सर्वथा अभिन्न है वे सर्व काल मे अभिन्न ही रहते है। [५४६-५५१]

यद्यपि सामान्य और विशेष के स्वभाव, गुण, प्रकृति आदि अभिन्न होते ह, फिर भी चार विषयो मे उनमे भिन्नता होती है। सख्या, सज्ञा (नाम), लक्षण और कार्य। इन चारो के कारण विशेष और सामान्य से भिन्नता हो जाती है। जो तत्त्वज्ञान भेदाभेद परिस्थिति को स्वीकार करता है अर्थात् जहाँ स्याद्वाद शैली को अपनाने की विशालता होती है, वहाँ सामान्य से विशेष को सज्ञा, सख्या आदि की अपेक्षा से भिन्न बताने मे कोई दोष नही है। [५५२-५५३]

इन चारो बातो मे विशेष सामान्य से भिन्न किस प्रकार होता है ? वह बताता हूँ, सुनो। (१) वृक्ष नाम से वह सख्या की अपेक्षा से एक ही है जब कि खैर, आम आदि भिन्न-भिन्न रूपो मे अनेक है। (२) सज्ञा, सामान्य रूप से वृक्ष को वृक्ष के नाम से ही पहचाना जाता है, जब कि विशेष रूप से आम, खैर, धावडा, नीम आदि भिन्न-भिन्न नामो से जाना जाता है। (३) लक्षण, सामान्य रूप से सभी वृक्ष हरे-भरे समान लक्षण वाले ही लगते है, किन्तु विशेष रूप से आम वृक्ष के जैसे पत्ते, मजरी आदि होते है, वैसे ही धावडे या नीम मे नही होते, अतः लक्षण (पहचान) मे भी वे सामान्य से भिन्न है। (४) कार्य, सामान्यत. सभी वृक्षों का कार्य है शीतल छाया आदि प्रदान करना, किन्तु आम के वृक्ष मे आम लगता है और नीम के वृक्ष मे नीबोली, अत कार्य की अपेक्षा से भी विशेष सामान्य से भिन्न है। इन सब भेदों को देखते हुए जब सामान्य का व्यवहार होता है तब मुख्यतया सामान्य ही दृष्टिगोचर होता है और विशेष गौण हो जाने से वह दृष्टिगोचर नही होता। इसी प्रकार जब विशेष का व्यवहार होता है तब मुख्यतया विशेष ही दृष्टिगोचर होता है और सामान्य गौण हो जाने से वह दृष्टिगोचर नही होता। जैसे, शास्त्र (श्रुतस्कन्ध) एक है पर उसमे अध्ययन, उद्देशक आदि अनेक है (सख्या को अपेक्षा से भिन्नता)। शास्त्र का नाम अलग है और प्रत्येक अध्ययन के भी नाम अलग-अलग है (नाम की अपेक्षा से भिन्नता)। शास्त्र के सभी पृष्ठ समान रूप से है पर प्रत्येक पृष्ठ पर भिन्न-भिन्न विषय है (लक्षण की अपेक्षा से भिन्नता)। और, शास्त्र का कार्य सामान्य रूप से ज्ञान

* पृष्ठ ३८०

देना है, जब कि भिन्न-भिन्न अध्याय अलग-अलग विषयो का ज्ञान देने वाले होते है (कार्य की अपेक्षा से भिन्नता)। भिन्न-भिन्न अध्ययन शास्त्र के अग है और उन अध्ययनों को धारण करने वाला शास्त्र है। [५५४-५५७]

भाई प्रकर्ष ! इस प्रकार नाम, सख्या आदि भेदो को ध्यान मे रखकर देश, काल और स्वभाव से राजा और उनके परिवारो मे सामान्य रूप से जो अभिन्नता है, उसे थोडे समय के लिए एक तरफ रखकर, उन सात राजाओ और उनके परिवारो के नाम और गुणो को तुझे समझाने के लिये अलग-अलग बताये है। यद्यपि इन राजाओं और उनके परिवारो में सामान्य और विशेष की भिन्नता अवश्य है, फिर भी वे अभिन्न हैं (जैसे शास्त्र और उसके अध्ययन)। इसीलिये वे एक ही समय मे एक दूसरे से अलग-अलग दिखाई नही देते। इसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है अतः तुम संशय का त्याग कर दो। साथ ही अन्य कही भी यदि मैंने सामान्य और विशेष की अपेक्षा से भिन्नता बताई हो तो उनके नाम, सख्या, लक्षण, कार्य आदि को समझ कर तुझे आश्चर्य नही करना चाहिये। [५५८-५६१]

१६. महामोह-सैन्य के विजेता

[विमर्श से उक्त स्पष्टीकरण सुनकर सामान्य और विशेष को समझ कर, न्यायसूत्रों और दृष्टान्तो से उसे हृदयगम कर जिज्ञासु प्रकर्ष ने अपना प्रश्न आगे चलाया।]

मामा ! आपके स्पष्टीकरण से मेरे मन की शंका दूर हुई, पर अब एक नयी शंका मन मे उठ खडी हुई है।

मामा ! यहाँ जो ये सात राजा दिखाई देते है, उनमें से तीसरा वेदनीय, चौथा आयुष्य, पाँचवा नाम और छठा गोत्र ये चारो महीपति आपके कथनानुसार प्राणी को कभी-कभी सुख और कभी-कभी दु.ख देते हैं। निष्कर्ष यह है कि ये चारो बाह्य जगत के प्राणियो के लिये अपकार-परायण (एकान्त रूप से दु खदाता) ही नही हैं पर कभी-कभी सुख के कारण भी बनते हैं। परन्तु प्रथम ज्ञानावरण, द्वितीय दर्शनावरण और अन्तिम अन्तराय ये तीनों तो प्राणियो को निश्चित रूप से सर्वदा दु:ख देने वाले ही है। अपने शक्तिशाली परिवार के साथ महामोह महाराजा और उपरोक्त तीन राजा मिलकर प्राणी के जीवन के सारभूत ज्ञानादि गुणो का हरण कर लेते है, तो फिर प्राणियो का जीवन ही कहाँ रहा ? मामा ! तो क्या बाह्य प्रदेश मे कोई ऐसे शरीरधारी प्राणी भी होगे जो इन चार शक्तिशाली शत्रुओ से तनिक भी कदर्थित (पीड़ित) न होते हो? * क्या ऐसे प्राणी बाह्य जगत में होगे या ऐसे प्राणियो के होने

* पृष्ठ ३८१

की सम्भावना भी नही है ? मामा ! मैं ऐसे प्राणियो के बारे मे पूछ रहा हूँ, जिनके समक्ष इन शत्रुओं की शक्ति नष्ट हो जाती हो और जो इन राजाओ पर विजय प्राप्त करने मे प्रसिद्ध हो गये हों। [५६२-५६९]

विमर्श—(आदर पूर्वक मधुर स्वर मे) हे वत्स ! क्या तू ऐसे प्राणियो के बारे में पूछ रहा है, जिन्होने अपने वीर्य से इन चारों शत्रुओ का नाश कर दिया हो? बाह्य प्रदेश मे ऐसे प्राणी होते तो अवश्य है, पर वे विरले ही होते है। देखो, बाह्य प्रदेश के जो बुद्धिशाली प्राणी यथार्थ सद्भावना रूपी मन्त्र-तन्त्रो से प्रतिपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर, शास्त्र रूपी कवच से अपनी आत्मा की रक्षा करते है और जो एक क्षण के लिये भी (परभाव-रमण रूपी) प्रमाद नही करते उनका महामोह आदि सारे राजा मिलकर भी कुछ नहीं विगाड़ सकते, अर्थात् उनके लिए उपतापकारक नही होते हैं। कारण यह है कि ऐसे धीर-वीर प्राणी जिनकी बुद्धि विशुद्ध श्रद्धा से पवित्र हो गई है, वे निरन्तर अपने पवित्र मन मे जगत के यथावस्थित स्वरूप का इस प्रकार विचार-चिन्तन करते हैं:—

यह ससार-समुद्र अनादि अनन्त है, महा भयंकर है, दुस्तरणीय है। ऐसे ससार मे मनुष्यता प्राप्त करना, जल मे परछाईं देखकर ऊपर चक्र मे घूमती मछली की आँख को बाण से बीधने (राधावेध) जैसा अति विषम है। इस ससार मे जो भी समस्त कार्य होते है उन सब के मूल मे एक ही कारण है और वह है आशा रूपी पाशबन्धन (आशा का कच्चा धागा)। इच्छित फल-प्राप्ति की आशा मे ही प्राणी काम करता है। यह जीवन देखते-देखते नष्ट होने वाला पानी के बुलबुले जैसा क्षणिक है। इसके साथ बन्धा हुआ यह शरीर अत्यन्त बीभत्स है, मल-मूत्र आदि अशुचि से पूर्ण है, कर्मजन्य है, आत्मा से भिन्न है, रोग-पिशाचों का निवास स्थान है और क्षण भंगुर है। मनुष्य का यौवन सन्ध्याकाल के रक्त मेघ की भांति भ्रान्ति-कारक एवं चपल है, अर्थात् थोड़े ही दिनों मे तरुणाई का रंग उड़ जाता है। जसे पवन के झोको से मेघ तितर-बितर हो जाते हैं वैसे ही अनेक प्रकार की बाह्य सम्पत्तियाँ गमनशील होने से क्षण भंगुर हैं। प्राप्त किये हुए शब्दादि पाच इन्द्रियों के भोग प्रारम्भ मे कुछ-कुछ आनन्द देते है, किन्तु अन्त में उनका परिणाम (फल) किंपाक फल के समान विपाक्त होता है। माता, पिता, पुत्र, पत्नी, भाई आदि से यह प्राणी इस अनादि भव चक्र मे कई-कई बार विभिन्न रूपो में सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। [फिर भी घाणी के बैल की तरह इसका चक्र घूमता ही रहता है।] एक वृक्ष पर रात्रि मे अनेक पक्षी विश्राम करते हैं और प्रभात मे कलरव करते है, परन्तु सूर्योदय होते ही जैसे वे उड़ जाते हैं, वैसे ही ससार के सगे-सम्बन्धी अमुक काल तक साथ निभाते हैं और अपना समय पूर्ण होने पर काल-कवलित होकर इस विशाल विश्व मे समा जाते है। इस संसार मे वियोगाग्नि से जलते हुए प्राणियो को अपने प्रिय व्यक्तियो से या अपनी प्रिय वस्तुओं से जो मिलन होता है, उसे स्वप्न में प्राप्त भण्डार जैसा ही समझना चाहिये, क्योंकि सभी मिलन अन्त मे विलुप्त होते ही हैं,

अतः मिलन की मधुरता से वियोग की कटुता अधिक असहनीय और ज्वलनशील होती है। वृद्धावस्था सर्व प्राणियो को जीर्णशीर्ण बना देती है और अन्त मे मृत्यु रूपी विकराल पर्वत सब प्राणियों को चूर-चूर कर देता है। [५७०-५८३]

भाई प्रकर्ष ! जो प्राणी ऐसी भावना का अभ्यास कर पुनः-पुनः इसी चिन्तन में रमण करते हैं, जिनके मन ऐसी भावनाओं (विचारो) से अत्यन्त निर्मल बन गये है और जिनका अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है ऐसे प्राणियो को मोह राजा, महामूढता, रागकेसरी, द्वेषगजेन्द्र, मूढता और अविवेकिता, सब मिलकर भी त्रास नही दे सकते, बाधक नही बन सकते। इतना ही नही, मोह राजा के परिवार के शोक, अरति भय या दुष्टाभिसन्धि आदि भी इनको किसी भी प्रकार से व्यथित नही कर सकते। जिसने भावना रूपी शस्त्र से मोह राजा और उनके पुत्र रागकेसरी एव द्वेषगजेन्द्र को जीत लिया है उन्हे ये कषाय रूपी १६ बालक या अन्य कोई भी नही सता सकता। * अतः ऐसे प्राणी मोह राजा या उसके पुत्रो से कभी सताये नही जा सकते। [५८४-५८७]

जो प्राणी सर्वज्ञो द्वारा प्ररूपित आगमो का बुद्धिपूर्वक चिन्तन-मनन कर वास्तविक निर्णय पर पहुँच जाते है, जो विशुद्ध श्रद्धावान हो जाते है, जो अपनी आत्मा पर चिपके हुए पाप-पक को सद्विचार रूपी जल से धोते रहते है, जो आगम ग्रन्थो का बार-बार मनन कर अपने चित्त को स्थिर रखते है और जो मूढ कुतीर्थियों के उन्मार्ग-गमन को विचार पूर्वक देखते रहते है, ऐसे निर्मल बुद्धिधारक प्राणी पर मोहराजा का मत्री मिथ्यादर्शन भी अपने स्वभाव से बाधक नही बन पाता अर्थात् उसका भी इन पर कुछ वश नही चलता। मिथ्यादर्शन की अत्यन्त शक्तिशाली स्त्री कुदृष्टि तो ऐसे प्राणी की शक्ति के विचार से ही दूर भाग जाती है। [५८८-५९१]

ऐसे प्राणी अपनी आत्मा को पूर्णरूपेण मध्यस्थ रखकर स्त्री, शरीर और उसके चपल चित्त के सम्बन्ध मे परमार्थ से निम्न चिन्तन करते है—

हे जीव ! स्त्रियो की रक्त कमल जैसी कुछ श्वेत और कुछ काली दो विशाल आँखो को निश्चय ही मास के दो गोले समझ। रमणीय आकृति वाले मासल, सश्लिष्ट, स्थानस्थित पतले और लम्बे मुँह के भूषण रूप कानो को लटकती हुई चमगादड समझ। स्त्री के जाज्वल्यमान लालिमा से दीपित कपोलो को देखकर तेरा मन अनुरक्त होता है, उन्हे मात्र हड्डियों के ढाचे पर मढा हुआ चमडा समझ। तेरी हृदयवल्लभा स्त्री का ललाट (कपाल) भी चमडे से ढका हुआ हड्डी का टुकड़ा ही है। ऊची और लम्बी तथा सुन्दर आकार वाली नाक भी चर्मखण्ड ही है। स्त्री के आरक्त पतले अधर जो तुझे मधु से भी मीठे लगते है, वे मास-पेशी के दो टुकडे मात्र हैं और लार एव थूक (मल) से अपवित्र है। स्त्रियो की खिलखिलाती दन्त पक्ति जो तुझे मोगरे के फूल जैसी दिखाई देती है और तेरे चित्त को हरण

* पृष्ठ ३८२

करती है वे सिलसिलेवार जमाने हुए मात्र हड्डियों के टुकडे हैं, इसको लक्ष्य में रख। भौरे के समान काले चमकीले मनोहर केशपाश स्पष्टतः स्त्रियों के हृदय का अन्धकार है, ऐसा चिन्तन कर। मूढ! स्वर्ण कुम्भ का विभ्रम उत्पन्न करने वाले वक्षः-स्थित दो उन्नत उरोज मांस के दो स्थूल पिण्ड ही है, समझ। तेरे चित्त को नचाने वाली मनोहारिणी भुजा रूपी दो लताए चमडे से आवृत्त दो लम्बी चञ्चल हड्डियाँ मात्र हैं। तेरा मन हरण करने वाले अशोक पत्र के समान मनोहर दो कोमल हाथ भी चर्म और मास से आच्छादित हड्डियाँ ही हैं। स्त्री का त्रिवली युक्त उदर तेरे चित्त को आकर्षित करता है पर, मूर्ख! वह तो मल-मूत्र और आतडियो से भरा हुआ है। स्त्री की विशाल कटि (कमर) जो तेरे चित्त को खेंचती है वह तो अनेक प्रकार के अशुद्ध पदार्थो को भर कर रखने की थैली मात्र है, ऐसा समझ। स्त्री की साथलो को मूर्ख पुरुष स्वर्ण स्तम्भ जैसा मानकर उन पर रीझते हैं, पर वे तो चर्बी, मांस और अशुचि से भरे हुए दो नल मात्र है। चलते-फिरते रक्त कमल * जैसे उसके सुन्दर पैर स्नायुओ से आवद्ध हड्डियो के दो पिंजरे है। मूढ! स्त्री के कामोद्दीपक मधुर वचन तुझे अमृत के समान कर्णप्रिय लगते हैं वे वस्तुत. अमृत नही अपितु हलाहल विष है। स्त्री का शरीर शुक्र और खून के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है, जिसके आँख, कान, नाक, मुख, गुदा और योनि रूपी नौ छिद्रो से निरन्तर मल निकलता ही रहता है। वस्तुतः नारी का शरीर अस्थियो की शृंखला (साकल) है। जीव! तेरा स्वयं का शरीर भी इससे कुछ भिन्न नही है, वह भी अस्थिपिञ्जर मात्र और मल से परिपूर्ण है। इस वास्तविकता को जानकर भी कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अस्थिपिंजर का अस्थिपिञ्जर से मिलाप करायेगा? भले मनुष्य! इस चमड़ी और अ.स्थओं के मिलाप में तू क्यो आसक्त हो रहा है? स्त्रियो का चित्त प्रचण्ड पवन से लहराती ध्वजा के अग्रभाग जैसा चञ्चल होता है। कौन समझदार व्यक्ति ऐसे चञ्चल हृदय पर रागबद्ध होने का साहस करेगा? चपल तरगो से चलायमान जल मे पडते हुए चन्द्रबिम्ब को पकडने मे कौन सफल हो सकता है? [५९२-६११]

नारी स्वर्ग और मोक्षदायक सन्मार्ग को रोकने मे अर्गला के समान है और नरक द्वार की ओर प्रेरित करने वाली है। विद्यमान नारी को भोगने मे न सुख है, न इसका साथ होने मे सुख है और न इसके वियोग में आनन्द है। संक्षेप मे, यह प्राणी को सुख का अंश भी प्राप्त नही करा सकती। अनेक प्रकार के अनर्थो की जड, सुख-मार्ग के द्वार की अर्गला जैसी स्त्री पर स्नेह करना अपने गौरव को तुच्छता प्रदान करना है। इस प्रकार की वास्तविक स्थिति को जान कर भी मूढ मनुष्यो का स्त्रियो के प्रति आसक्ति पूर्ण व्यवहार देखता हूँ तब मुझे यह आचरण कैसा प्रतीत होता है, वह कहता हूँ। स्त्रियो का हसना मुझे तो ऐसा लगता है जैसे कोई विदूषक दूसरे विदूषक को देखकर हँस रहा हो या उसे विडम्बना दे रहा

* पृष्ठ ३८३

हो। स्त्रियो का अपमानित व्यवहार, वध्यभूमि पर जाते हुए के समक्ष ढोल बजाने जैसा लगता है। स्त्रियो का नाटक फांसी की प्रेरणा करने जैसा और गायन रोने जैसा लगता है। स्त्रियो का दृष्टिपात विवेकी प्राणी को करुणा-दृष्टि जैसा, स्त्रियो के साथ विलास सन्निपात के रोगी को अपथ्य आहार जैसा और स्त्री को आलिंगन पाश मे जकडना, सुरतादि क्रीडा करना तो सचमुच मे नाटक जैसा ही लगता है। हे भद्र ! ऐसी प्रशस्त विचारधाराओ (भावनाओ) से जिनको आत्मा पवित्र हो गई है, ऐसे सत्पुरुष ही मकरध्वज (कामदेव) पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।
[६१२-६१९]

प्रकर्ष ! मैने पहले बताया था कि कामदेव की पत्नी रति भी महाशक्तिशाली स्त्री है, पर ऐसे महापुरुष अपनी भावना के बल पर उसे भी जीत लेते है। इस प्रकार के जिन महापुरुषो का चित्त सद्भावना मे सदा लवलीन रहता है, उनसे मोह राजा का पाँचवा योद्धा हास भी सदा दूर से दूर भाग जाता है। [६२०-६२१]

भाई प्रकर्ष ! जिन पुरुषो का मन सद्भावना रूपी निर्मल जल से धुलकर पक-रहित निर्मल हो जाता है और जो यथाशक्य किसी भी प्रकार का विपरीत आचरण नही करते, ऐसे प्राणियो को जुगुप्सा (घृणा) भी किसी प्रकार की पीडा नही दे सकती। जो तत्त्वज्ञान द्वारा निर्णय कर लेते है कि यह सारा शरीर अशुद्धि से व्याप्त है और अशुचिमय है, अत. इसे बार-बार जल से धोकर शुद्ध करने का वे आग्रह नही रखते हैं और न ही उन्हे यह क्रिया विशेष रूप से प्रिय ही लगती है। जो अशुचि से व्याप्त हो उसे ऊपर-ऊपर से जल से धोने से कैसे शुद्ध हो सकता है? किसी भी प्रकार की निन्दा और अपवाद रहित प्रशस्त व्यवहार एव विचार मन को शुद्ध करते है, वही सच्ची शुद्धि है, ऐसी उनके अन्त.करण की दृढ मान्यता होती है। कहा भी है :—

सत्य शौच तप: शौच, शौचमिन्द्रियनिग्रह: ।*
सर्वभूतदया शौच, जलशौच तु पचमम् ॥

सत्य शौच है, तप शौच है, इन्द्रिय-निग्रह शौच है और सर्व प्राणियो पर दया करना पवित्रता है। जल से शुद्धि करना तो पाचवी और अन्तिम शौच (पवित्रता) है।

अत: जल से कोई विशिष्ट शुद्धि नही होती। जल-शुद्धि की आवश्यकता ही न हो ऐसा भी नही है। यदि जल-शुद्धि करनो ही हो तो इस प्रकार करनी चाहिये कि जिससे अन्य जीवो का नाश न हो और किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे। इसका कारण यह है कि जल तो निश्चित रूप के बाह्य मल की विशुद्धि के लिये है, पर अन्तरग पाप-मल को यह नही धो सकता। इसीलिये विद्वानो ने कहा है कि :—

* पृष्ठ ३८४

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं, न स्नानाद्यैं विशुध्यति ।
शतशोऽपि हि तद्धौतं, सुराभाण्डमिवाशुचि ।।

चित्त के अन्दर रहे हुए दुष्ट भावों की शुद्धि स्नान आदि से नही हो सकती. जैसे अपवित्र मदिरा पात्र को सौ बार जल से धोने पर भी वह पवित्र नही हो सकता ।

विद्वानो ने उपरोक्त निर्णय इसीलिये किया है कि जल-स्नान से शरीर पर लगा हुआ मैल क्षण भर के लिये दूर हो जाता है किन्तु सदा के लिये नही, क्योकि मनुष्य के शरीर में असंख्य रोमकूप हैं। इन्हें जितना चाहें धोते रहे परन्तु उनमें से निरन्तर वदवूदार पसीना आदि अशुचि पदार्थ निकलते ही रहते है। देव-पूजा या अतिथि-पूजन के आदि प्रसगो पर या भक्ति के कारण स्नान करना पड़े तो वह जल-शुद्धि निन्दित नही है अर्थात् उचित है। तात्पर्य यह है कि तत्त्व के जानकर विद्वान् को जल-शुद्धि या जल-स्नान का विशेष आग्रह नही रखना चाहिये, क्योकि ऐसा आग्रह एक प्रकार की मूर्खता ही है। इस प्रकार विशुद्ध ज्ञान से पूर्ण वुद्धि वाले पुरुष प्रसंग वश जल-शुद्धि भी करते हैं। हे वत्स! ऐसे महात्माओ को इस भव और परभव मे अनेक प्रकार के दु.ख देने वाली यह जुगुप्सा भी नष्ट हो जाती है और इस जुगुप्सा के नष्ट हो जाने के कारण उनके कार्य-साधन में वाधक नही वनती। [६२२–६३४]

भाई प्रकर्ष! जिनकी आत्मा सर्वज्ञ प्ररूपित आगमाभ्यास से सुवासित है और जो प्रमाद-रहित है. ऐसे महापुरुष को यह पूर्व-वर्णित जगत्शत्रु ज्ञानावरण और दर्शनावरण नामक राजा भी किसी प्रकार का त्रास नही दे सकते। ऐसे आशा रहित, इच्छा रहित. दान देने वाले, अतुल-वीर्य-सम्पन्न पुरुषों का यह पूर्ववर्णित दानादि विघ्नकारक अन्तिम राजा अन्तराय भी क्या कर सकता है? इनके अतिरिक्त भी मोह राजा के अन्य योद्धा, स्त्रियाँ, वच्चे आदि भी ऐसे प्राणी को किसी प्रकार की वावा-पीडा नही दे सकते। वाह्य राजाओं मे से ये विशेष चार राजा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र तो वेचारे पूर्वोक्त गुणविशिष्ट प्राणियो का भला ही करते हैं, सदा उनके अनुकूल ही प्रवृत्ति करते हैं। [६३५–६४०]

भाई प्रकर्ष! ऐसे महात्मा पुरुष स्वकीय वीर्य/पराक्रम के वल पर अन्तरंग सैन्य पर विजय प्राप्त कर निरन्तर आनन्द मे ही रहते हैं. वाधा-पीडा रहित होते हैं और शांतचेता होते हैं। यह महामोह राजा अपने समस्त सावनो से वाह्य प्रदेश के प्राणियो पर आक्रमण करता है और उन्हे इस भव मे और परभव मे अत्यन्त दु.ख देता है, किन्तु जो प्राणी सद्भावना रुपी अस्त्र से इस महाराजा को अपने वश मे कर लेते हैं, उन्हे दु ख कैसे * हो सकता है? दु:खोत्पत्ति के कारणो का ही समूल नाश हो जाने से उन्हे निर्वाध सुख-परम्परा प्राप्त होती है। भाई

* पृष्ठ ३८८

प्रकर्ष! बात यह है कि बाह्य प्रदेश मे ऐसे लोग अत्यन्त विरले होते हैं, इसीलिये तो मनीषियो ने कहा है कि :—

प्रत्येक पर्वत पर माणक नही मिलते, प्रत्येक हाथी के गण्डस्थल मे मोती नही होते और प्रत्येक वन मे चन्दन के वृक्ष नही होते। ऐसे ही साधु भी सर्वत्र नही मिलते।

भाई प्रकर्ष! तू समझ गया होगा कि मोहराजा पर विजय प्राप्त करने वाले, उसके दर्प का नाश करने वाले प्राणी भी इस ससार मे है तो अवश्य ही, पर वे अत्यल्प है। [६४१-६४६]

मामा के इस लम्बे भाषण को सुनकर प्रकर्ष फिर गहन विचार मे डूब गया।

❀

२०. भवचक्र नगर के मार्ग पर

[विमर्श से मोह राजा को जीतने वाले महापुरुषों, उनके सद्भाव और विरलता के बारे मे सुनकर जिज्ञासु प्रकर्ष उनके सम्बन्ध मे विस्तार पूर्वक जानने को आतुर हो गया और कुछ देर सोचकर उसने नया प्रश्न पूछा।]

मामा! जिन महात्माओ ने ऐसे बड़े शत्रु की सैन्य पर विजय प्राप्त की है अथवा जिन्होने शत्रुओ की सेना मे विक्षेप उत्पन्न कर दिया है, वे कहाँ रहते है? [६४७]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! सुनो। मैने किसी आप्त (ज्ञानी) पुरुष से पहले कभी सुना था कि सर्व वृत्तान्त (घटना)-परम्परा का आधार, आदि-अन्त-रहित और अनेक प्रकार की अद्भुतता का उत्पत्ति स्थान अति विशाल भवचक्र नामक एक नगर है। इस अति विस्तृत नगर मे अनेक छोटे-बड़े शहर, ग्राम-मोहल्ले और शृ खलाबद्ध भवनो (हवेलियो) की कई-कई कतारे है। इसमे प्रचुरता से देवकुल भी है। वहाँ इतने प्रकार की जाति के लोग निवास करते है कि उनकी पूर्णतया गिनती भी शक्य नही हो सकती। मुझे ऐसा लगता है कि बाह्य प्रदेश के जिन महात्माओ ने अपने वीर्य से इस महामोह राजा आदि शत्रुओ को विक्षिप्त कर रखा है, वे इसी नगर में रहते होगे।

प्रकर्ष—मामा! आपने अभी जिस नगर की बात की, वह अन्तरग नगर है बहिरग नगर?

विमर्श—मात्र एक अपेक्षा से इसे अन्तरंग या बहिरंग नगर नही कहा जा सकता, क्योकि इसमे जैसे अन्तरग प्राणी रहते है वैसे ही बहिरग प्राणी भी रहते

है। इस मोह राजा का सामना करने वाला सन्तोष नामक योद्धा भी इसी नगर में रहता है और मोह राजा की सेना ने इसी नगर को चारों ओर से घेर रखा है।

प्रकर्ष–मामा ! इस मोह राजा की सेना तो यहाँ इस चित्तवृत्ति नगर मे है, फिर वह भवचक्र नगर मे कैसे हो सकती है ? एक साथ दो स्थानो पर एक ही सेना कैसे रह सकती है ?

विमर्श–भाई ! ये महामोह राजा आदि अन्तरंग के लोग तो योगी जैसे है। इसलिये वे यहाँ भी दिखाई देते है और वहाँ भी रह सकते है, इसमे कोई विरोध नही है, क्योकि योगियो की तरह ये चाहे जैसे और चाहे जितने रूप धारण कर सकते हैं, दूसरो के शरीर में प्रवेश कर सकते है, अन्तर्ध्यान हो सकते है और चाहे जहाँ प्रकट हो सकते है। इसीलिये ये राजागण अचिन्त्य शक्ति और माहात्म्य वाले माने जाते है। ये अपनी इच्छानुसार कही भी आ-जा सकते हैं, अतः इनके लिये कोई ऐसा स्थान नही जहाँ ये नही रहते हो। हे वत्स ! यह भवचक्र नगर अन्तरग और बाह्य सभी प्रकार के लोगो का आधार स्थान है, सभी का इसमे समावेश है, अतः इसे बाह्यलोक भी कह सकते हैं और इसे अन्तरग लोक भी कहा जा सकता है।

प्रकर्ष–तब तो सन्तोष भी वही रहता होगा। ऐसे महाभिमानी राजाओ के घमण्ड को चूर-चूर करने वाले महापुरुष जिस भवचक्र नगर मे रहते हो, वह * नगर तो अवश्य ही दर्शनीय होगा। मुझे तो वह नगर देखने का बहुत कौतूहल हो रहा है। मामा ! मुझ पर कृपा कर वह नगर मुझे अवश्य दिखाइये। चलिये, हम अब उसी नगर मे चले।

विमर्श–भाई ! जिस कार्य के लिये आये, वह तो सिद्ध हो गया है। हमने विषयाभिलाप मंत्री को देखा है। यह रसना देवी का पिता है, इसलिये उसकी मूलशुद्धि/उत्पत्ति-स्थान हमे मालूम हो गया है। रसना के मूल का पता लगाने के लिये हमे राजाज्ञा हुई थी, वह काम अब पूरा हो चुका है, अतः अब व्यर्थ मे इधर-उधर घूमने से क्या लाभ ? अब हमे अपने नगर वापस लौट जाना चाहिये और जो कार्य पूरा किया है उसकी सूचना दे देनी चाहिये।

प्रकर्ष–नहीं, मामा ! नही, ऐसा न कहिये। आपने भवचक्र नगर का वर्णन कर मेरे मन मे इस नगर को देखने का अत्यधिक कौतूहल जाग्रत कर दिया है, अतः ऐसे दर्शनीय नगर को देखे बिना वापस लौट जाना तो किसी भी प्रकार उचित नही है। आपको याद ही होगा कि रसना की उत्पत्ति के बारे मे पता लगाने के लिये पिताजी ने हमे एक वर्ष का समय दिया था और हमे वहाँ से रवाना हुए अभी केवल शरद् और हेमन्त ऋतु ही व्यतीत हुई है। वर्तमान समय मे शिशिर ऋतु चल रही है। देखिये :—

शिशिर वर्णन

इस समय प्रियंगु की लताओ पर मञ्जरी (मांजर) खिल रही है।

* पृष्ठ ३८६

लोध्र वृक्षों की वल्लरिया विकसित होकर मानो हँस रही हैं। तिलक वन विकसित होती कलियो और मञ्जरियो से शोभित हो रहा है।

शिशिर के हिम-कणो से सारे कमल जल गये है जिससे सिर्फ उनके डठल दिखाई दे रहे है। बडे-बडे वृक्षो के जगल किशलय विलास (नये पत्तो) से सुशोभित हो रहे है। यात्रियो के शरीर अति शीतल पवन से काप रहे है। यह सब देखकर मोगरा चालाक मनुष्य की भाति आनन्द से परिहास कर रहा है। [१]

विदेश गये हुए मूर्ख पति शिशिर मे अपनी प्रिय सुन्दरियो की विरह-वेदना से व्याकुल हो रहे है। शीत पवन से वार-बार प्रति क्षण इतने सर्द हो जाते है, मानो अभी-अभी अपने प्राण त्याग कर रहे हो। [२]

मामा! देखिये, अब सूर्य उत्तरायण मे चला गया है जिससे दिन क्रमश बड़ा होने लगा है। राते थोड़ी-थोडी छोटी होती हुई, हर रात पहले की रात्रि से कुछ छोटी होने लगी है। [३]

जिस घर मे मोटे-मोटे गद्दे हो, ओढने के लिये हरिण के रोओ से बने मुलायम कम्बल हो, अगर और धूप से वातावरण गमक रहा हो, ऐसे घर मे भी इस शिशिर ऋतु में मोह-परवश प्राणी को पुष्ट शरीर वाली ललना के विरह में किञ्चित् भी सुख प्राप्त नही होता। [४]

सूर्य का तेज और महत्व पहले से बढ गया है, क्योकि सूर्य ने दक्षिण दिशा से सम्बन्ध त्याग कर दिया है। ठीक ही तो है, जिसने दक्षिणाशा (दक्षिणा की आशा) को त्याग दिया हो वह क्षीण प्रताप/लघुता कैसे प्राप्त कर सकता है? उसे किस बात की ग्लानि हो सकती है? अर्थात् उसका तो गौरव एव महत्व पहिले से बढेगा ही। [५]

देखिये मामा! (परदेश मे काम करने वाले) ये दु सेवक (कुभृत्य) ठड से घबरा कर अपने स्वामी के विशिष्ट कामो को बीच मे ही छोडकर अपनी प्रिय पत्नी के उन्नत उरोजो की गर्मी को प्राप्त करने की आशा से स्वदेश लौट रहे है। [६]

मामा! देखिये, गरीब, वृद्धावस्था से जीर्ण, वात रोग से पीडित शरीर वाले, कन्था (ओढने बिछौने) के अभाव वाले यात्री ठड से घबरा कर कह रहे है कि यह शीतकाल कब बीतेगा? [७]

मामा! देखिये, घोडे आदि पशुओ को खिलाने के लिये जौ की कटाई होने लगी है। अत्यधिक ठड से बहुत प्राणी कंपकपा रहे हैं। दु:खी-दरिद्री लोगो के बच्चे शीत की पीड़ा से रो रहे है। केवल सियार ही इस ऋतु में आनन्द पूर्ण आवाजे कर रहे है। [८]

मोटे-मोटे गन्नो को पेरने की धाणिय चालू हो गई है।* सरोवर हिम से अत्यधिक ठडे हो गये है। फिर भी महामोह के प्रधान मिथ्यादर्शन के निर्देश से

* पृष्ठ ३८७

लोग धर्म-वुद्धि से इतनी अधिक शीत मे, बर्फ जैसे ठंडे पानी मे धर्म-प्राप्ति के लिये डुबकियाँ लगा रहे है। [९]

मामा! यह शिशिर ऋतु अब तो लगभग समाप्त होने को आ रही है। हमे घर छोडे अधिक से अधिक छः महीने हुए हैं, तब फिर आप इतनी त्वरा क्यो कर रहे है? मुझ पर कृपा कर आप भवचक्र नगर तो मुझे अवश्य दिखाइये, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करियेगा। [१०-११]

विमर्श ने लौटने मे अवधि शेष है यह समझकर और भाणजे का अधिक आग्रह देखकर भवचक्र नगर देखने की स्वीकृति दे दी। फिर वे दोनो जाने की तैयारी करने लगे। जाते-जाते उन्होने महामोह राजा की चतुरंगिणी सेना का अवलोकन किया। इस सेना मे मिथ्यानिवेश आदि नाम के सुन्दर रथो का समूह था। ममत्व आदि गजघटा गर्जना कर रही थी। अज्ञान आदि मनोहर घोडे हिन-हिना रहे थे। दीनता, चपलता, लोलुपता आदि पैदल वाहिनी से यह सेना परिपूर्ण थी। ऐसी रथ, हाथी, घोडे और पैदल सिपाहियो की चतुरगी सेना का भली प्रकार अवलोकन कर मामा-भाणेज चित्तवृत्ति अटवी से बाहर निकले। [१२-१५]

भवचक्र के मार्ग पर

चित्तवृत्ति अटवी मे पड़ाव डालकर पडी हुई मोह राजा की सेना को देखते हुए, मार्ग निश्चय कर, हर्षित होकर विमर्श और प्रकर्ष वहाँ से कूच कर भवचक्र नगर के मार्ग पर आ गये। एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर बढते हुए (अविच्छिन्न प्रयाण करते हुए) वे अपना रास्ता काट रहे थे और मार्ग को छोटा करने के लिये भाणेज अपने मामा से रास्ते मे अनेक महत्व के प्रश्न पूछता हुआ चल रहा था। [१६-१७]

कर्मपरिणाम और महामोह का सम्बन्ध

प्रकर्ष—मामा! इस दुनिया मे सब से ऊपर सार्वभौम कर्मपरिणाम राजा गिना जाता है, जिसके विषय मे पहले कहा जा चुका है। जिसने अपने प्रताप से सम्पूर्ण राज्य को आक्रान्त कर रखा है। उसकी आज्ञा इस महामोह राजा पर भी चलती है या नही? इस विषय में मेरे मन मे शका है, उसका निवारण कीजिये। [१८-१९]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! यदि परमार्थ से (वस्तुतः) देखा जाय तो इन दोनों राजाओ मे कोई भेद नही है। साधारण तौर पर ऐसा कहा जा सकता है कि कर्मपरिणाम राजा बड़ा भाई है और यह महामोह उसका छोटा भाई है जिसे चित्तवृत्ति अटवी का राज्य सोप दिया गया है। यह महामोह राजा चोर डाकू जैसा है और अन्धेरे मे आक्रमण करने वाला है, इसीलिये इसे अटवी मे स्थापित किया गया है। इस अटवी मे दूसरे कई राजा तूने देखे है, उन सब को इस महामोह राजा के योद्धा

सैनिक) समझना चाहिये। विशेषता यह है कि जहाँ कर्मपरिणाम राजा स्वभाव से ही समस्त प्राणियो को कभी अच्छा कभी बुरा लगने वाला कार्य करता है वहाँ महामोह राजा तो सभी प्राणियो को बुरा लगने वाला कार्य ही करता है। दूसरी विशेषता यह है कि महामोह तो युद्ध कर अपने शत्रुओ को जीतने की इच्छा वाला है, जब कि कर्मपरिणाम तो स्वभाव से ही नाटक-प्रिय है और नये-नये खेल देखने का अभिलाषुक है। इसीलिये ये सभी छोटे-बड़े राजा सर्वदा महामोह राजा की ही सेवा करते है। किन्तु, यह कर्मपरिणाम महाराजा उसका बड़ा भाई है और इसका राज्य भी बहुत विस्तृत है, इसीलिये लोग उसी को बडा राजा मानते है। यही कारण है कि स्वय मोह राजा और उसके अधीनस्थ सभी राजा भी बार-बार कर्मपरिणाम राजा के यहाँ जाकर उसकी हर्ष-वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के नाटक करते हैं। ये राजा जब वहाँ नाटक करने जाते हैं तब उनमे से कई तो ❀ गायक बनते हैं, कई वीणा बजाते है और कई भक्ति पूर्वक स्वयं ही मृदग आदि का रूप धारण कर लेते हैं। सक्षेप मे, हे वत्स ! इस ससार-नाटक को चलाने मे महामोह आदि राजा कारण बनते हैं और कर्मपरिणाम राजा अपनी पत्नी कालपरिणति के साथ बैठकर निराकुलता के साथ ससार-नाटक को देखकर हर्षित होते है। मात्र इन राजाओ का ही नही बल्कि अन्तरग राज्य के जो भी अन्य राजा है उन सब का स्वामी भी यह कर्मपरिणाम महाराजा ही है। निष्कर्ष यह है कि सुन्दर-असुन्दर, शुभ-अशुभ आदि समस्त राजमण्डल का नायक कर्मपरिणाम है, जब कि महामोह तो उसके एक विभाग का नायक है और उसे भी महाराजा की आज्ञा माननी पडती है।[२०-३७]

अन्तरग लोक के प्राणियो का अच्छा-बुरा करने वाले जो भी है उन सब को प्राय: करके प्रवृत्त कराने वाला कर्मपरिणाम महाराजा ही है। निर्वृत्ति नगरी को छोडकर अन्तरग प्रदेश में जितने भी नगर या शहर है, उनके बाह्य भाग का यही राजा है। इसमे कुछ भी सदेह नही है। यहाँ तूने जितने राजा देखे उनका स्वामी यह महामोह है, किन्तु इसका यह स्वामित्व कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा से है, जब तक उसकी आज्ञा प्रवृत्त है तभी तक स्वामित्व है। जैसे अधीनस्थ राजा कर दिया करते है वैसे ही महामोह राजा भी अपने वीर्य (शक्ति) से जो कुछ धन उपार्जित करता है, वह सब सिर झुका कर कर्मपरिणाम महाराजा को समर्पित कर देता है। महामोह द्वारा उपार्जित एव समर्पित धन मे से अच्छी-बुरी वस्तुओं का योग्य बंटवारा यह कर्मपरिणाम महाराजा ही करता है। मोहराजा तो युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करने में सदा तत्पर रहता है, जब कि कर्मपरिणाम तो भोग भोगने में ही आनन्द मानता है, नाटक देखकर ही हर्षित होता है। विग्रह (युद्ध की तो वह बात ही नही जानता। वत्स ! यही कारण है कि कर्मपरिणाम मोहराजा को आज्ञा देता है और वह भक्ति पूर्वक उसका अनुसरण करने मे तत्पर रहता है।

❀ पृष्ठ ३८८

कर्मपरिणाम मोह राजा को अपने से भिन्न नहीं मानता, पर ऐसा मानता है जैसे वे दोनों अभिन्न हों। [३६-३६]

भाई प्रकर्ष! तुमने जो पहले राजसचित्त और तामसचित्त नामक दो बड़े नगर देखे हैं वे इस मोह राजा को कर्मपरिणाम महाराजा ने पारितोषिक में दिये हैं। इसी कारण मोह राजा की कुछ स्वामीभक्त सेना इन दोनों नगरों में रहती है और शेष समस्त सेना चित्तवृत्ति अटवी में रहती है तथा युद्ध के लिये निरन्तर सन्नद्ध रहती है। [४०-४१]

प्रकर्ष—मामा! एक प्रश्न और पूछना चाहता हूँ। कर्मपरिणाम और मोह राजा के राज्य उन्हें अपने बड़ेरों से प्राप्त हुए हैं या उन्होंने ये राज्य किसी अन्य राजा से छीन कर प्राप्त किये हैं? [४२]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! न तो यह उनके बाप दादों का राज्य है और न ही यह उन्हें क्रमशः परम्परा द्वारा उनसे प्राप्त हुआ है। यह तो दूसरों का राज्य है जिसे इन्होंने बलात्कार पूर्वक हरण कर उसके अधिपति बन बैठे हैं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि जब तक प्राणी कर्म से आवृत रहता है और जब तक बाह्य प्रदेश में रहता है तब तक वह संसारी जीव कहलाता है। ऐसे प्राणी को ये अपने वीर्य (शक्ति) से चित्तवृत्ति रूपी महाटवी में से खदेड़ कर, निकाल कर उससे अटवी का राज्य छीन कर ये लोग अपनी शक्ति से उस अटवी पर राज्य करते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। [४३-४५]

प्रकर्ष—मामा! साथ में यह भी तो बताइये कि इस प्रकार दूसरों के राज्य को हरण किये इन्हें कितना समय हुआ है? *

विमर्श—भाई! यह राज्य इन दोनों राजाओं ने कब लिया है यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु इस विषय का आन्तरिक रहस्य क्या है, यह तुझे समझाता हूँ, जिससे तेरे मन का सन्देह मिट जायगा। कर्मपरिणाम महाराजा कभी किसी को कुछ दे देता है और कभी किसी से दिया हुआ वापस छीन लेता है, यह उसका स्वभाव है। उसके सब सामन्तों के मुकुट उसके पांवों में झुकते हैं और वह इतने अच्छे संयोगों में है कि उसके प्रभाव मात्र से सभी कार्यों का विस्तार सिद्ध हो जाता है। वह राजाधिराज, महान् राजा और राज्य सिंहासन का स्वामी है। यह महामोह राजा उसकी सेना का परिपालक (रक्षक), उसकी प्रच्छन्न आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाला, उसके सैन्यबल और कोष की वृद्धि करने वाला तथा उसकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करने वाला है। फिर भी वह अधिक पुरुषार्थी होने से राज्य कार्य में अपनी इच्छानुसार राजाज्ञा का अनुपालन करता है। लोगों में ऐसी चर्चा चलती है कि मोह राजा पराक्रमी है, महारथी योद्धा है और कर्मपरिणाम तो मात्र नाटक-प्रिय है। इसलिये पण्डित लोग तो महामोह राजा को ही महासिंहासन पर बैठा

* पृष्ठ ३८६

हुआ ऊर्ध्व (ऊपर) का राजा मानते है। भैया! वास्तव मे तो इन दोनो राजाओं मे परस्पर कोई भेद नही है, अर्थात् दोनो अभिन्न है। अतएव यह एक ही राज्य है, ऐसा समझना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि कार्य के परिणाम से उत्पन्न होने वाले फल को व्यवहार मे मोह की प्रवलता अधिक होने से विशेष रूपक से समझाया गया है। वैसे मोह का राज्य और कर्मपरिणाम का राज्य एक ही है।) [४६–५३]

प्रकर्ष—मामा! मेरे हृदय में जो शका उत्पन्न हुई थी उसका अब नाश हो गया है। आप जैसे विद्वान् मेरे साथ हो तब सदेह अधिक समय तक कैसे टिक सकता है? [५४]

इस प्रकार ज्ञान-चर्चा और विद्वत्ता पूर्ण वार्तालाप करते हुए मामा एव भाणेज भवचक्र नगर के मार्ग पर आगे वढ रहे थे जिससे उन्हे मार्ग की थकान नही लग रही थी। यात्रा करते हुए कुछ दिनो वाद वे भवचक्र नगर मे जा पहुँचे। [५५]

२१. वसन्तराज और लोलाक्ष

विमर्श और प्रकर्ष जब भवचक्र नगर मे पहुँचे तब शिशिर ऋतु समाप्त हो गई थी और कामदेव को अत्यन्त प्रिय तथा लोगों को अनेक प्रकार से उन्मादित करने वाली वसन्त ऋतु प्रारम्भ हो गई थी। मामा और भाणजा उस भवचक्र नगर के बाहर उद्यान मे घूम रहे थे, तब उन्हे वसन्त ऋतु की उद्दामलीला का कैसा अनुभव हुआ? सुनिये :—[५६–५७]

वसन्त ऋतु वर्णन

इस ऋतु में दक्षिण दिशा से वेग से आते हुए पवन के जोर से हिलती हुई लताए ऐसी लग रही थी मानो वसन्तोत्सव की खुशी मे हाथ उठा-उठा कर नाच रही हो। महाराजाधिराज मोह राजा के अत्यन्त प्रिय मित्र कामदेव का मानो राज्याभिषेक के समय जय-जय शब्दोच्चारण करती हो, वैसे ही कोकिलाओ के मधुर कण्ठ-निसृत मधुर कुहु-कुहु से और अन्य पक्षियो के मधुर कलरव मानो इन सब से सयुक्त वसन्त ऋतु गुणगान कर रही हो। विलास करती हुई आम्र-मञ्जरियाँ ऐसी लग रही थी मानो युवतियाँ अपनी तर्जनी से युवाओ का तिरस्कार कर रही हो। रक्त अशोक अपने नवीन सुकोमल लाल-लाल पत्तो के समूह रूप रचे हुए चपल हाथो से इशारे करके बुला रहा हो। विशाल एव उन्नत पर्वत शिखरो पर बडे-बड़े वृक्ष मलय पवन के वेग से आन्दोलित होकर ऐसे मस्तक झुका रहे थे मानो वे सभी वसन्त ऋतु का अभिवादन कर रहे हो। नव विकसित

पुष्पों के समूह से अट्टहास कर रही हो। सिन्दुवार जाति के पुष्प अपने डंठलों से छूटकर भूमि पर गिर रहे थे और उनकी आँखों में से निकलता हुआ पानी ऐसा लग रहा था मानो ऋतु रो रही हो। शुक. सारिका की कलकल मधुर ध्वनि मानो स्फुट वर्णों द्वारा पाठ कर रही हो। माधवी पुष्पों के मकरन्द का मधुपान कर मत्त होकर गुञ्जारव करते हुए भौंरो के झुंड की मधुर आवाज मानो रतिक्रिया हेतु उत्कण्ठित अथवा उत्साहित हो गई हो. ऐसी लग रही थी।

नर्तन, गान तर्जन, आकर्षण, प्रगमन, हास्य, रुदन, पठन और उत्कण्ठा इन नौ भावों से युक्त वसन्त ऋतु का आगमन नवग्रह रूप नौ हाथों जैसा लग रहा था। पवन प्रेरित फूलों का सुगन्धित पराग नगर और नगर के वाहर उपवनों (उद्यानों) में भी चारों तरफ फैल रहा था। [१]

विमर्श ने कहा—* भाई प्रकर्ष ! तुझे भवचक्र नगर देखने का कौतूहल योग्य समय पर ही हुआ है. क्योंकि इस नगर का सौन्दर्यसार (सुन्दर से सुन्दर रूप) इस वसन्त ऋतु में ही दिखाई देता है। अतः इसकी समग्र सौन्दर्य लीला देखने का यह सर्वोत्तम समय है। देखो, नगर के वाहर के उद्यानो मे कौतूहल से ऋतु-सौन्दर्य-निरीक्षण हेतु निकले हुए नगरवासियों की कैसी अवस्था हो रही है ?

लोग सन्तानक वृक्षों के वनो मे मोहित हो रहे हैं। वकुल वृक्षों की तरफ दौड़ रहे हैं। विकसित मोगरे की झाड़ियों में विश्राम कर रहे हैं। सिन्दुवार के वृक्षों में लुब्ध हो रहे हैं। पुन्नाग और अशोक वृक्ष के कोमल किशलय पल्लवों की लीला से तो वे तृप्त ही नही हो रहे हैं। वे गहन आम्रवनों और चन्दन की वाटिकाओं मे भी प्रवेश कर रहे हैं। [१]

चैत्र में विकसित अति रमणीय वृक्षों के विस्तार पर भ्रमरो के झुण्ड की तरह इन लोगों की दृष्टि विलास कर रही है। [२]

लोग झूला झूलने के आनन्द के साथ अनेक प्रकार की काम-क्रीडाओ के रस मे डूब रहे हैं और वड़े-वड़े वृक्षों पर होने वाले मधु का पान करते हुए कामक्रीडा में मदमस्त हो रहे हैं। [३]

विकसित आम्रवनों में आसक्त. कुरवक वृक्षो मे लुब्ध और मलय पवन के झकोरों से आनन्दित होकर लाग निरन्तर उद्यानों में ही घूम रहे हैं, वापस घर लौटने का नाम भी नही लेते। वत्स ! देखो, सुन्दर आम्रवृक्षों की पक्ति के बीच मे आये हुए कदम्ब वृक्ष के चारो तरफ नगरवासी मद्य और आसव पी-पिला रहे है और विलास कर रहे हैं। सुसंस्कारित मनुष्यों के सन्मुख रत्न निर्मित सुन्दर वहुमूल्य पात्र मे मद्य रखा जा रहा है। प्रियतमा के मधुर होठो से पवित्र मद्य, पात्र की रत्न किरणों से सुशोभित, सुगन्धित कमल की आकर्षक सुगन्ध से सुवासित और रमणीय पत्नी के मुख कमल द्वारा अर्पित (मुंह में कुल्ला भरकर पिलाना), रसना को

* पृष्ठ ३६०

सुस्वादु लगने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की मदिरा की गन्ध से इस कदम्ब वन का वातावरण मद से गमगमा रहा है। [४-६]

भाई प्रकर्ष! देखो, इस सुरा-पान गोष्ठि से लोग कैसे उल्लसित हो रहे हैं। लोग मस्ती में एक दूसरे के पैरों में पड़ रहे हैं, इधर-उधर लोट रहे हैं, सुरापान कर रहे हैं, गा रहे हैं। स्त्रियों के मुख-कमल को चूम रहे हैं, अनेक प्रकार की केलि-क्रीडा और विचित्र चेष्टायें कर रहे हैं। परस्पर एक दूसरे से भद्दा मजाक कर रहे हैं, बोलते-बोलते मद (मस्ती) में ताल देते हुए नाच रहे हैं। कुछ भूलुण्ठित हैं, कुछ मद्य के नशे से घूर्णित आँखें नचा-नचा कर मृदंग और बासुरी की ध्वनि से अपना विकार प्रदर्शित कर रहे हैं, कुछ अपने धनाढ्य बड़ेरों के घमण्ड से धन बांट रहे हैं और कुछ बिना कारण ही शिथिल कदमों से इधर-उधर चहल कदमी कर (डोल) रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो सभी आनन्द की मस्ती में इतने डूब गये हैं कि अन्य किसी बात की चिन्ता ही न हो। [७-१०]

विमर्श अपने भाणजे के समक्ष जब उपरोक्त सुरापान गोष्ठि की ओर इंगित कर वर्णन कर रहा था, तभी इतनी देर तक कमल पत्रों पर अटकी हुई प्रकर्ष की दृष्टि मोगरा और बेला के पुष्पों से सज्जित मण्डप पर पड़ी और वह बोल पड़ा—मामा! इस मण्डप की सुरा-पान गोष्ठि तो पूर्व दर्शित गोष्ठि से भी अधिक विलास-मग्न है।

विमर्श—वसन्त ऋतु के निकट आने पर प्रमुदित नगर-निवासी ऐसी अनेक सुरापान गोष्ठियाँ इस भवचक्र नगर में स्थान-स्थान पर करते हैं।* चम्पा वृक्ष की पंक्तियों में, द्राक्षालता-मण्डपों में, सेवती वृक्ष के गहन वन-विभागों में, बकुल वृक्षों के मोगरे की झाड़ियों के समूह में, रक्त अशोक वृक्षों की घटाओं में, गहन भागों में, जिधर भी तू दृष्टि घुमायेगा, उधर ही तुझे विलास करती उद्दाम कामिनी वृन्द से परिवेष्टित धनवान नागरिकों द्वारा आयोजित मदिरा-पान गोष्ठियाँ दृष्टिगोचर होंगी। नगर से बाहर के उद्यानों में तुझे एक भी ऐसा स्थान नहीं दिखाई देगा, जहाँ मद्य-पान न हो रहा हो। यदि तुझे एक भी ऐसा स्थान मिल जाय तो तू मेरी बात पर विश्वास मत करना। शायद तुझे ऐसा लग रहा होगा कि मैं यों ही बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बात कर रहा हूँ, या तुझे झांसा दे रहा हूँ पर ऐसी बात नहीं है।

प्रकर्ष—मामा! आपके कथन में सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यहाँ रह कर ही मैं प्रायः कर सभी वन प्रदेश आपके कथनानुसार ही देख रहा हूँ। देखिये मामा! वे उद्यान और वन विविध प्रकार के मद्यपान से मदमस्त लोगों की आवाजों, शृंगार-चेष्टाओं और उल्लसित आनन्द ध्वनि से गुंजरित हो रहे हैं। इतना ही नहीं अपितु—

* पृष्ठ ३९१

उद्यान के कुछ भाग झाझर झकारती, कटिमेखला के घु घरुओ को गुंजरित करती, मोटे नितम्ब भार के कारण मन्दगति वाली, वृक्ष के पुष्पों को चूटने की अभिलाषा से आगत विलासिनी स्त्रियो के समुदाय से शोभित हो रहे है और उनके पुरुष उनके साथ केलि-क्रीडा मे आनन्द-विभोर हो रहे है। मामा! कही हाथियो के कुम्भस्थल का भ्रम पैदा करने वाली उन्नत उरोजो वाली स्त्रियाँ वृक्षो पर झूला झूलती हुई, वृक्षो को ऐसे कम्पित कर रही है मानो उनके स्तनो को छूकर वृक्षो मे भी कामदेव प्रवेश कर गया हो जिससे वे प्रकम्पित हो रहे हो। किसी वन-विभाग मे हो रही रास-लीला का कौतुक मन को आकर्षित कर रहा है, तो किसी वन के एकान्त स्थान मे स्त्री-पुरुष युगल परस्पर चिपक कर बैठे है। कोई-कोई वन प्रदेश विलासिनी तरुणी स्त्रियो के रक्ताभ मुख कमल-वनखण्डो से भी अधिक शोभायमान हो रहे है, अर्थात् युवती स्त्रियो के ललाई लिये हुए मुख कमल-समूह सच्चे कमल वन का आभास कर रहे है। [१-३]

विमर्श भाई प्रकर्ष! तू ने बहुत ध्यान से देखा, आशा है इससे तेरा कौतूहल शान्त हुआ होगा। अन्य सब वन प्रदेश भी ऐसे ही हैं, इसीलिये मैंने कहा था कि तुझे योग्य समय पर ही भवचक्र नगर देखने का कौतूहल हुआ है। इसी वसन्त ऋतु के समय ही यह नगर उत्कृष्ट सौन्दर्य को प्राप्त करता है। भद्र! तूने नगर के बाहर के भाग तो देख ही लिये, चलो, अब हम नगर के अन्दर प्रवेश करें। नगर की शोभा कैसी है, यह देख लेने पर तेरे मन का कौतुक/मनोरथ पूर्ण हो जायगा।

प्रकर्ष—मामा! बाह्य प्रदेश मे रहने वाले इन लोगो का वसन्त-विलास तो वास्तव में दर्शनीय ही है। नगर का यह बाह्य भाग अत्यन्त रमणीय है। मै रास्ते मे चलते-चलते थक भी गया हूँ, इसलिये मुझ पर कृपा कर आप थोडी देर और यहाँ ठहरिये। कुछ समय बाद हम नगर में प्रवेश करेगे।

विमर्श—ठीक है। जैसी तुम्हारी इच्छा।

भवचक्र के कौतुक

मामा भाणेज बात कर ही रहे थे कि उन्होंने एक अद्भुत बात देखी। उसी समय राज्यवर्ग और नगर-निवासियो से परिवेष्टित राजा अपनी सैन्य-सज्जा के साथ वसन्त की शोभा निहारने उधर से आता दिखाई दिया। उसके रथों की गडगडाहट और हाथियो का समूह घन-गर्जन का विभ्रम पैदा कर रहे थे। तीक्ष्ण शस्त्रो की चकाचौध करने वाली चमक बिजली जैसी लग रही थी। चलते हुए तेजस्वी श्वेत अश्व बड़े बगुलों के समूह जैसे लग रहे थे। हाथियो के मद रूपी जल के झरने से वे मनोहर लग रहे थे। हर्ष के आवेग में झूमकर चलते हुए जनसमूह से परिवेष्टित, सुन्दरियो के मन मे महान् उन्माद पैदा करने वाला मन्मथरूपधारक वह राजा कामदेव जैसा लग रहा था।* मानो महामेघ अपने भाई [illegible]

---

* पृष्ठ ३६२

देखने आ रहा हो। उसके आसपास सैकडो कसालक, वेणु आदि वादित्र बज रहे थे जो भ्रमरो के गुञ्जारव का भ्रम पैदा कर रहे थे। विलास करती हुई ललनाओ के घुघरुओ और वीणा की मधुर ध्वनि के साथ नृत्य-गान भी चल रहा था। [१-४]

विमर्श और प्रकर्ष ने देखा कि महासामन्त-वृन्द से परिवेष्टित, श्रेष्ठ हस्तिस्कन्ध पर आरूढ जिसके मस्तक पर विकसित सुन्दर श्वेत कमल जैसा धवल छत्र शोभायमान है, राजा आ रहा है। वह राजा देवताओ के समूह के मध्य ऐरावत हाथी पर बैठे हुए इन्द्र जैसा सुशोभित हो रहा था। उसके आगे-आगे अनेक श्वेत छत्रधारी लोग हर्षानन्द से कलकल ध्वनि करते हुए चल रहे थे जिससे ऐसा लग रहा था मानो गर्जन करता हुआ समुद्र फेनपिण्ड (सफेद झागो) से भर गया हो अथवा चलती फिरती कदली (ध्वजा) रूप हजारो हाथो द्वारा प्रतिस्पर्धा से तीनो लोको की अवगणना कर रहा हो, अर्थात् हजारो लोग अपने हाथो मे श्वेत ध्वजाए लेकर चल रहे हो।

जब यह राजा नगर मे से निकलकर उद्यान के निकट पहुँचा तब भौंरे वातावरण को विशेष गुंजित करने लगे, मृदग बजने लगे, वीणा मे से मधुर स्वर निकलने लगे, कसालक (कांसी) उच्च स्वर मे बजने लगे, रण-रण करते मजीरे बजने लगे, गायक तान सुर मिलाने लगे, विदूषक कोलाहल करने लगे, चारो तरफ जय-जयकार होने लगा, भाट विरुदावली गाने लगे, गणिकाये नृत्य करने लगी और दर्शको मे खलबली मच गई। चारो तरफ अधिक हास्य विलास जमने लगा।

उस जन समुदाय मे कुछ लोग नाचने-कूदने और दौडने लगे, कुछ हर्ष-ध्वनि करने लगे, कुछ कटाक्ष करने लगे, कुछ भूलुण्ठित होने लगे, कुछ परस्पर हास्य विनोद करने लगे, कुछ गाने बजाने लगे, कुछ हर्ष-विभोर होने लगे, कुछ हुर्रे-हुर्रे आवाज कसने लगे, कुछ भुजाओ से टक्कर मारने लगे और कुछ आनन्दातिरेक मे हाथ मे सोने की पिचकारियाँ लेकर केशर कस्तूरी मिश्रित सुगन्धित जल एक दूसरे पर फेकने लगे। इस प्रकार सब लोग अश्रुत एव उद्भट विलास मे पडकर कामदेव की अग्नि से उत्तेजित हो रहे थे। महाविद्वान् और बुद्धिशाली विमर्श ने जब उन लोगो को इस अवस्था मे देखा तब उसने अपने मन मे क्या सोचा ?

विमर्श का चिन्तन : प्रकर्ष का प्रश्न

वसन्त ऋतु के रस मे लबालब डूबे हुए लोगो द्वारा मचाई हुई धमाचौकडी को देख कर विमर्श सोचने लगा कि, अहो! मोह राजा की शक्ति वास्तव मे आश्चर्य-कनक है। अहा! रागकेसरी का विलास भी अति प्रबल है। अहो! विषयाभिलाष मत्री का प्रभाव भी कुछ कम नही है। अहो! मकरध्वज कामदेव का माहात्म्य भी आश्चर्यकारक है। अहो! कामदेव की पत्नी रति की क्रीडा भी महान् लुब्धकारी है। अहो! महासुभट हास्य का हर्षोल्लास भी विस्मयकारक है। अहो! पापपूर्ण

कार्य करने मे इन लोगो की हिम्मत भी असीम है। अहो! प्रमाद भी अमर्यादित है। अहो! लोक-प्रवाह मे वहते चले जाना भी अद्‍भुत है। अहो! इनकी दीर्घदृष्टि का अभाव भी विस्मयकारक है' अहो! इनके चित्तविक्षेप भी अद्‍भुत ही लगते है। अहो! आगे-पीछे का विचार नही करने की इनकी पद्धति भी विशेष ध्यान देने योग्य है। अहो! उल्टे-सीधे विचार और घोटालों का तो यहाँ कोई पार ही नही है। अहो! अशुभ भावना के प्रति इनको प्रीति भी असाधारण है। अहो! काम-भोग भोगने की अधम तृष्णा भी अपरिमित है। अहो! अज्ञान (अविद्या) से मारे हुए इन वेचारों के चित्त की दशा भी वडी ही शोचनीय है।

प्रकर्ष उन सब लोगो के विलास को ॐ आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा था तब उसके मामा ने उससे कहा—भाई प्रकर्ष! ये सब वाह्य प्रदेश में रहने वाले प्राणी हैं। महामोह आदि जिन राजाओ के सम्बन्ध मे मैंने तुझे पहले बताया था, यह सब उन्ही का प्रताप है।

प्रकर्ष मामा! किस घटना के कारण, किस राजा के प्रताप से और किसलिये ये लोग ऐसी चेष्टाएँ करते है?

विमर्श—भाई! मैं विचार कर इसका उत्तर देता हूँ।

फिर विमर्श ने ध्यान किया, आँखे बन्द की और विचार पूर्वक मन में निश्चय कर भाणजे से बोला—

वसन्त और मकरध्वज मैत्री

भाई प्रकर्ष! सुनो, चित्तवृत्ति महाटवी के प्रमतत्ता नदी के तट पर स्थित चित्तविक्षेप मण्डप मे महामोहराज से सम्बन्धित तृष्णा वेदिका (मञ्च) पर मकरध्वज नामक एक राजा सिंहासन पर वठा था, यह तो तुमने देखा ही था। यह वसन्त उसी मकरध्वज का विशिष्ट प्रिय मित्र है। जब शिशिर ऋतु समाप्त प्राय. होने लगी थी उस समय वसन्त अपने मित्र मकरध्वज के पास किसी काम से गया था और कुशल-क्षेम के पश्चात् थोड़े समय तक सुखपूर्वक उसके पास रहा था। कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति महारानी का यह वसन्त विशेष अनुचर है। इस वसन्त ने अपनी एक गुप्त वात अपने प्रिय मित्र मकरध्वज से कही—'भाई! महारानी की आज्ञा से भवचक्र नगर के मानवावास नामक अन्तरग के अवान्तर नगर मे मुझे जाना है, अतः कुछ समय के लिये तेरा विरह सहन करना पडेगा, इसीलिये तुमसे मिलने यहाँ आया हूँ।' वसन्त की वात सुनकर मकरध्वज ने हर्ष से पुलकित होकर कहा—'मित्र! गत वर्ष जब मैं इस मानवावास शहर मे तुम्हारे साथ था तब कितना आनन्द आया था, क्या तू इसे भूल गया? पर मेरी विरह-वेदना से तू क्यों खिन्न होगा? क्या तू भूल गया कि जब-जब महारानी तुझे मानवावास मे भेजती है तब-

ॐ पृष्ठ ३९३

तब महामोह राजा इस शहर का राज्य मुझे सौंप देते हैं ? ऐसी स्थिति में तुझे विरह की शंका कैसे हुई ?' उत्तर में वसन्त बोला—'भाई मकरध्वज ! कमनीय वचनों द्वारा इस बात को याद दिलाकर तुमने मुझे नवजीवन दिया है, अन्यथा मैं तो यह बात भूल ही गया था। जब बिना अवसर या प्रयोजन अचानक चिन्ता आ जाती है तब मित्र-विरह की आशंका से प्राणी अपने हाथ में लिए हुए कार्य को भी कभी-कभी भूल जाता है। तुमने बहुत अच्छी याद दिलाई। अब मैं विदा होता हूँ। तू भी मेरे पीछे-पीछे शीघ्र ही वहाँ आ जाना।' मकरध्वज ने अपने मित्र की विजय (सफलता) की कामना की। पश्चात् वसन्तराज तुरन्त ही इस मानवावासपुर में आ गया। भिन्न-भिन्न उद्यानों में इसने अपना कैसा प्रभाव जमाया, यह तो अभी-अभी मैं तुझे दिखा ही चुका हूँ।

मकरध्वज का राज्याभिषेक

भाई प्रकर्ष ! वसन्तराज के विदा होने के पश्चात् मकरध्वज ने विषयाभिलाष मंत्री से निवेदन किया कि लम्बे समय से चली आ रही परिपाटी का पालन किया जाना चाहिये। फिर उसने वसन्त से जो बात हुई वह बता कर याद दिलाया कि वह कालपरिणति देवी की आज्ञा से मानवावासपुर गया है। मन्त्री ने सारा वृत्तान्त रागकेसरी राजा से कहा और रागकेसरी ने *अपने पिता महामोह महाराजा को कह सुनाया। महामोह ने विचार किया कि, अरे ! हाँ प्रतिवर्ष जब-जब वसन्त को मानवावास भेजा जाता है तब-तब उस नगर का आंतरिक राज्य मकरध्वज को सौंपा जाता है। अतः इस बार भी उस नगर का राज्य मकरध्वज को देना चाहिये। क्योंकि, जो उचित परम्परा लम्बे समय से चली आ रही हो उसका उल्लंघन स्वामी को भी नहीं करना चाहिये और लम्बे समय से जो सेवक हमारी सेवा कर रहा हो उसका सम्यक् पालन और उसकी उन्नति करनी चाहिये। ऐसा विचार कर महामोह महाराजा ने अपनी राज्यसभा के सभी राजाओं (सदस्यों) को बुलाया और कहा— 'आप सभी लोग सुनिये। भवचक्र राज्य के आंतरिक शहर मानवावास का राज्य थोड़े समय के लिये मकरध्वज को प्रदान कर रहा हूँ। अतः आप सब को भी मकरध्वज के सैनिकों की तरह उसके साथ ही रहना है। आप वहाँ मकरध्वज का राज्याभिषेक करें, इसकी आज्ञा का पालन करें, सभी राज्यकार्य उचित प्रकार से पूर्ण करें और सभी स्थानों पर बिना पीछे हटे सजगतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन करें। मैं स्वयं भी मकरध्वज के राज्य में उसका प्रधानमन्त्री बनकर कार्य करूंगा। आप सब तैयार हो जायें। हम सब मानवावास नगर जायेंगे।' सभी राजाओं ने जमीन तक मस्तक झुकाकर महाराजा के वचनों को 'जैसी देव की आज्ञा', कहकर स्वीकार किया। फिर महाराजा ने मकरध्वज से कहा—'भद्र ! मानवावास की गद्दी पर

---

*पृष्ठ ३९४

बैठकर तू अन्य राजाओं की सारी आमदनी हडप मत करना। जिन्हे जो अधिकार मिले हुए है, उन्हें उन अधिकारों का उपयोग करने देना और पुरानी प्रीति के अनुसार सब के साथ अच्छा व्यवहार करना।' मकरध्वज ने भी मोहराजा की इस आज्ञा को शिरोधार्य किया। फिर सभी मिलकर मानवावासपुर आये। सब ने एकत्रित होकर वहाँ मकरध्वज का राज्याभिषेक किया और उसके निर्देशानुसार सभी राजाओ ने अपने-अपने पद का भार सभाल लिया।

लोलाक्ष पर मकरध्वज की अदृष्ट विजय

भाई प्रकर्ष ! अभी तूने जिस राजा को हाथी के होदे पर बैठे देखा है, वह मानवावासपुर के ललितपुर शहर का लोलाक्ष नामक बहिरग प्रदेश का राजा है। जब मकरध्वज को मानवावासपुर का राज्य सौपा गया तब उसने अपनी शक्ति से इस राजा की सेना को और नगरवासियों को इस नगर से खदेड़ कर बाहर के उद्यान-वनो मे भेज दिया है और उसे जीत लिया है। पर, यह बेचारा लोलाक्ष ऐसा मूढ है कि अभी तक समझ ही नही पाया है कि मकरध्वज ने उसे जीत लिया है। राजा के साथ जिन नागरिकों को नगर से बाहर निकाल दिया गया है वे भी ऐसा नही मानते कि मकरध्वज ने उन्हें और उनके राजा को जीत लिया है। हे वत्स ! इसीलिये महामोह राजा के सहयोग से एव मकरध्वज के प्रताप से ये लोग अभी-अभी तूने देखी ऐसी विचित्र-विचित्र चेष्टाये कर रहे हैं।

योगांजन से अन्तरंग-दर्शन

प्रकर्ष - मामा ! यह मकरध्वज इस समय कहाँ है ?

विमर्श— अरे, भाई प्रकर्ष ! वह तो अपने परिवार सहित यहाँ निकट मे ही है और इन सब लोगों से नाटक करवा रहा है।

प्रकर्ष - तब वह यहाँ क्यो नही दिखाई देता ?

विमर्श—भाई ! मैंने तुझे पहले ही बता दिया था कि ये अन्तरग लोग बार-बार अदृश्य हो सकते हैं और योगियों की भाति अन्य पुरुष के शरीर मे प्रवेश कर सकते है।* अभी वे सब इन लोगों के शरीरो मे प्रवेश कर गये हैं, अपनी विजय से अत्यन्त हर्षित हो रहे है और इनके प्रताप से लोग जो नाटक कर रहे है उसे वे भीतर बैठे-बैठे दर्शक बनकर आनन्द से देख रहे है।

प्रकर्ष - जब ये लोग अन्य लोगो के शरीर मे प्रविष्ट है तब आप इन्हे प्रत्यक्ष रूप से कैसे देख रहे है ?

विमर्श—भाई ! मेरे पास विमलालोक योगांजन है, जिसे आँख मे लगाने से मैं इन मकरध्वज राजा आदि सब को स्पष्टत. देख सकता हूं।

---

* पृष्ठ ३६५

प्रकर्ष—मेरी आँखों में भी यह सुरमा लगाइये ना, जिससे मैं भी मकरध्वज आदि राजाओं को आँखों से देख सकू ।

प्रकर्ष की प्रार्थना पर मामा ने उसके नेत्रो मे विमलालोक यांगाञ्जन लगाया और कहा कि वत्स ! अब तुम इनके हृदय प्रदेश को तरफ देखो। इनके हृदय प्रदेश में ये सब लोग तुम्हे बैठे दिखाई देगे । प्रकर्ष ने वैसा ही किया ।

तदनन्तर प्रकर्ष हर्षित होकर कहने लगा—अहा मामा ! अब तो महामोह आदि से परिवेष्टित राज्याभिषिक्त मकरध्वज मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।

देखिये न मामा ! हाथ मे धनुष लेकर वह अपने सिंहासन पर बैठा-बैठा ही बाण को कान तक खीच कर छोड़ रहा है और लोगों के हृदय को वीध रहा है। लोग इसके बाणो के प्रहार से विह्वल हो गये है । राजा लोलाक्ष भी इसके बाणो के प्रहार से जर्जरित हो गया है । इन सब को ऐसी विकारजन्य आकुलता की स्थिति मे देखकर भूपति कामदेव अपनो स्त्री रति के साथ प्रमुदित होकर खिलखिला कर हँस रहा है और तालियाँ पीट-पीटकर आनन्द ले रहा है । इसके नौकर और दास भी जोर-जोर से बोल रहे है —अहा ! क्या निशाना लगाया ! क्या बाण मारा ! अच्छा प्रहार किया, आदि । महामोह आदि भी मकरध्वज के समक्ष खडे-खड़े हस रहे है । मामा ! आज तो आपने वहुत सुन्दर देखने योग्य दृश्य दिखाया । मैं अधिक क्या कहूँ ? इस राज्य की लीला का भोग करते हुए कामदेव का दिखाकर आपने सचमुच मे मुझ पर बड़ी कृपा की । [१–५]

मकरध्वज द्वारा महामोहादि का कार्य-निर्धारण

विमर्श—अरे भाई ! तूने अभी देखा ही क्या है ? इस भवचक्र नगर मे तो ऐसे-ऐसे देखने योग्य अन्य कई दृश्य है । इस नगर में तो देखने योग्य अनेक नाटक होते ही रहते है ।

प्रकर्ष—मामा ! जब आप मुझ पर ऐसे अनेक दृश्य दिखाने की कृपा कर रहे है तब मेरी जिज्ञासा अब पूर्ण हुए बिना कैसे रह सकती है ? मामा ! एक बात और पूछ रहा-हूँ । इस मकरध्वज के पास केवल महामोह, रागकेसरो, विषयाभिलाष, हास्य आदि तो सपत्नीक दिखाई दे रहे है, किन्तु इस समय द्वेषगजेन्द्र, अरति, शोक आदि दिखाई नही देते, इसका क्या कारण है ? क्या वे मकरध्वज के राज्याभिषेक मे नही आये ?

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! वे सब इस मकरध्वज के अभिषेक मे भवचक्र नगर मे आये है, इसमे तनिक भी सन्देह नही । पर, मैंने तुझे बताया था कि ये अन्तरंग लोग कभी स्पष्ट दिखाई देते है और कभी अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। द्वेषगजेन्द्र, शोक आदि अभी अन्तर्ध्यान होकर मकरध्वज के राज्य मे ही हैं, परन्तु वे राजा की सेवा करने के अवसर की प्रतीक्षा मे है । इस समय महामोह आदि को सेवा करने का अवसर मिला है इसलिये वे सभा मे प्रत्यक्ष होकर अपने कर्त्तव्य का

पालन पर-शरीर-प्रवेश द्वारा कर रहे हैं । प्रचण्ड शासक होने से महाराजा मकरध्वज का ❀ आज्ञा बडी कठोर होती है और वह अपने आदेश को क्रियान्वित भी करवाता है । जिसको जो कार्य करने की आज्ञा मिली हो उसे मात्र उतना ही कार्य उस प्रसग मे करना चाहिये । जिसका जितना माहात्म्य हो उसे उस अवसर पर उतना ही प्रकट करना चाहिये । जिसे स्वय जितनी आय करने की छूट है उतनी ही आय वह करे, उससे अधिक भी नही और उससे कम भी नही । तुझे यह बात मै दृष्टान्त देकर समझाता हूँ, सुनो :—

इस लोलाक्ष राजा को, उसके राज्याधिकारियों को और उसकी प्रजा को मकरध्वज ने जीत लिया है, फिर भी उन लोगो को इस बात का ज्ञान नही है । इतना ही नही, ये सभी बाह्य लोग मकरध्वज को अपने भाई जैसा ही मानते है । यह सब योजना महामोह राजा द्वारा क्रियान्वित की गई है । मकरध्वज महाराज की ऐसी ही आज्ञा है कि महामोह राजा मात्र इतने ही कार्य की पूर्ति करके अपना माहात्म्य बतावे । ये सभी बाह्य लोग जो परस्पर प्रेम दिखा रहे हैं और एक दूसरे से लिपट रहे है तथा अपने को बडा कृतकृत्य एवं सौभाग्यशाली मान रहे है इस कार्य को रागकेसरी ने सम्पन्न किया है । रागकेसरी को ये परिणाम उत्पन्न करने की योजना बताई गई थी और इतना करने मे ही उसका माहात्म्य है, जो उसने पूरा कर दिखाया है । ये बाह्य लोग जो शब्दादि इन्द्रियो के विषयो की तरफ आकर्षित होते है और सैकडो प्रकार के विकारो मे फसते हैं, यह सब करणीय कार्य विषयाभिलाष मन्त्री को सौंपा गया था । विषयाभिलाष ने ये परिणाम उत्पन्न किये, बस यही उसका प्रभाव है और यही उसकी आय है । ये लोग अट्टहास करते हैं, खिलखिला. हँसते है और एक दूसरे पर व्यग कसते है, यह सब हास्य द्वारा उत्पन्न किया गया प[illegible]णाम है । इसी प्रकार इनकी पत्नियाँ महामूढता, भोगतृष्णा और तुच्छता आदि ने भी उनको सौंपे गये कार्य को पूरा करती है । इसी प्रकार अन्य राजा और वे १६ बच्चे भी उनको सौपे गये कार्य को पूरा किया है. स्वय का महत्व जताते है और अपने खाते में उतनी ही आय जमा करते है । इन सभी की निश्चित कार्यो पर ही नियुक्ति है । ये लोग शब्दादि इन्द्रियो के भोग भोगते है, सहर्ष अपनी स्त्रियो को अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करते हैं उनका मुख-चुम्बन करते हैं, उनके शरीर से लिपटते है, उनके साथ मैथुन (रति-क्रिया) करते हैं, इत्यादि सब कामो पर मकरध्वज ने किसी को नियुक्त नही किया है । परन्तु ये सब काम तो मकरध्वज अपनी स्त्री के साथ स्वय ही करता है, क्योकि इन कार्यो को सम्पन्न करने की शक्ति केवल मकरध्वज मे ही है, अन्य किसी में नही है । हे वत्स ! इस प्रकार द्वेषगजेन्द्र, शोक आदि को भी काम सौंपा हुआ है, पर वे अपने सौंपे हुए काम को पूरा करने के अवसर की प्रतीक्षा मे हैं । इसीलिये अभी वे प्रकट रूप मे दिखाई नही देते ।

❀ पृष्ठ ३९६

अन्तरंग लोगों के अनेक रूप

प्रकर्ष—मामा ! यदि वे सब यहाँ आये हुए हैं तो चित्तवृत्ति अटवी में महामोह राजा का जो मण्डप हमने पहले देखा है, वह तो बिलकुल खाली पड़ा होगा ?

विमर्श—नहीं भाई ! ऐसा कुछ नही है । मैंने तुम्हे पहले भी बताया था कि वे अन्तरग के लोग अनेक रूप धारण कर सकते हैं । यद्यपि वे यहाँ मकरध्वज के राज्य मे आये हैं, फिर भी वे सभी महामोह के स्थान पर भी इसी प्रकार बैठे हुए हैं । मकरध्वज का राज्य तो थोड़े दिन चलने वाला है इसलिए वह क्षणिक है, जब कि महामोह का राज्य तो लम्बे समय से स्थापित है, अनन्त कल्पो से प्रवृत्त है और अनन्त काल तक रहने वाला है ; अतः इनके लिये वहाँ से तो हटने का प्रश्न ही नही उठता । महामोह का राज्य तो सम्पूर्ण विश्व मे फैला हुआ है, जब कि इस मकरध्वज का राज्य तो मात्र मानवावास नगर मे है । यह तो महामोह राजा का स्वभाव ही है कि वह चिरन्तन (पुरानी) परिपाटी को हमेशा निभाता रहता है । यही कारण है कि स्वय द्वारा अभिषिक्त महायोद्धा मकरध्वज की सेवा मे स्वय ही उसका मन्त्री बनकर रहता है । हे भद्र ! महामोह का सभास्थल तो अभी भी अविचल है, विजयवंत ही है । यहाँ अभी जो लोग दिखाई दे रहे हैं, वे सभी अभी भी महामोह के राज्य मे तो अपने मूल (असली) स्वरूप मे विद्यमान ही हैं ।

प्रकर्ष—मामा ! आपका विस्तृत विवरण सुनकर मेरे मन मे जो शंका उठी थी वह अब शांत हुई ।

२२. लोलाक्ष

[भाणजे प्रकर्ष को नये-नये दृश्य देखने का अत्यधिक उत्साह था । पिताजी द्वारा दिया गया समय भी अभी शेष था । आन्तरिक तत्त्ववेदी विमर्श भाणजे की सभी जिज्ञासाये सन्तुष्ट कर रहा था । अत. प्रकर्ष भवचक्र नगर के कौतुक अधिक उत्साह से देखने लगा, साथ ही विमर्श उसके जानने योग्य बातों का स्पष्टीकरण भी करने लगा ।]

मद्यपों की दशा

हाथी की अम्बाडी पर बैठे लोलाक्ष राजा को पहले देख ही चुके हैं।* अब वह लोलाक्ष हाथी से नीचे उतरा और उसने सामने ही चण्डिका देवी का मन्दिर था उसमे प्रवेश किया । पहले चण्डिका देवी को मदिरा चढाई, फिर देवी की पूजा

* पृष्ठ ३६७

की और उसके बाद देवी के सामने ही खुले मैदान मे मदिरा पीने बैठ गया। राजा के साथ जो राजपुरुष और प्रजाजन आये थे वे भी वही घेरा बना कर मदिरा पीने बैठ गये। सुरापान हेतु अनेक प्रकार के रत्न-निर्मित मद्य-पात्र राजा के सन्मुख एवं स्वर्ण-निर्मित सुरापात्र प्रत्येक राजपुरुष के सन्मुख रख दिये गये। फिर सुरापान का क्रम चला। एक के बाद एक सभी मदिरा पीने लगे। कोई अधिक उल्लसित होकर आनन्द से अधिक मदिरा पी रहा है तो कोई नशा चढाने के लिए हिण्डोल राग गाता। फिर लाल मदिरा का प्याला चढाता है। कोई वाद्यवादक को आग्रह पूर्वक मदिरा पिला रहा है। नृत्य चल रहा है। कोमल किशलय जैसे ललनाओं के हाथों से मद्य-पात्र ले जाये जा रहे है। प्रियतमा के अधरबिम्बो (होठो) का चुम्बन-पान किया जा रहा है। आवेश मे कभी-कभी नीचे का होठ दातो से कट रहा है। मदिरा की मस्ती मे केलिक्रीडा की स्थिति अधिकाधिक बढती जा रही है। छोटे-बडे की लज्जा-मर्यादा और अच्छे-बुरे की शंका छूटती जा रही है। स्त्रियो के सुन्दर मुखो की तरफ सभी की नजरे आकृष्ट हो रही है। गम्भीरता नष्ट हो रही है। बडे-बडे मनुष्य छोटे बालको जैसी चेष्टाये कर रहे है। समस्त प्रकार के न करने योग्य अकार्य इस मदिरा गोष्ठि मे हो रहे हैं।

लोलाक्ष की कामान्धता

लोलाक्ष राजा का एक छोटा भाई रिपुकपन था जो अभी युवराज के पद पर था। वह भी लोलाक्ष के साथ यहाँ नगर से बाहर उद्यान मे आया था। खूब मदिरा पीकर वह ऐसा मस्त और परवश हो गया था कि कार्य-अकार्य को सोचने की स्थिति मे ही नही रह गया था। ऐसी अवस्था मे उसने अपनी पत्नी रतिललिता को आज्ञा दी कि 'प्रियतमे! अब तू नाच कर।' यद्यपि उसे अपने से बडे लोगो के सामने नाचने मे लज्जा आ रही थी तब भी अपने पति की आज्ञा का उल्लघन करने की उसमे शक्ति नही होने से अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रतिललिता नाचने लगी। जैसे ही वह अपने लावण्यपूर्ण कोमल अगोपागो का प्रदर्शन करती हुई मदिरा के नशे मे मस्त होकर नाचने लगी वैसे ही कामदेव ने अनवरत अपने सैकडो तीर लोलाक्ष को मार कर वीध दिया और उसे अपने वश मे कर लिया, जिससे राजा अपने छोटे भाई की पत्नी पर गाढ आसक्त हो गया। परन्तु, अपनी कामवासना की तृप्ति करने का कोई उपाय उसे काफी समय तक नही सूझ पडा, अत. वह कामाहत दशा मे कुछ देर तक बैठा रहा।

इधर अधिक मदिरापान से समस्त राज्य-मण्डल मदमत्त हो रहा था। इनमे से मदिरा के प्रभाव से कई चेतना-शून्य होकर जमीन पर लेट गये थे, कई वमन कर रहे थे और कई झौके खा रहे थे। सारी जमीन उल्टी से अपवित्र और कीचड़ वाली हो गई थी। कौए और कुत्ते उधर झपट रहे थे और लोगो के मुह चाट रहे थे। रिपुकपन भी ऊघ रहा था, केवल रतिललिता जागृत थी। उस समय

में महामोह के वशीभूत, रागकेसरी द्वारा अंक (गोद) मे बिठाया हुआ, विषयाभिलाष द्वारा प्रेरित, रति के सामर्थ्य से पराजित, काम-बाणों से हृदयविद्ध लोलाक्ष अपने स्वरूप को भूल कर, अपनी मृत्यु को निमन्त्रण देने के लिये रतिललिता को पकड़ने दौड़ा। अपने आवेश को रोकने मे असमर्थ वह रतिललिता के पास पहुँच गया। पास पहुँचते ही दोनो भुजाएं फैलाकर रतिललिता को अपने आलिंगन-पाश मे जकड़ने के लिये आगे बढा। पहले तो रतिललिता विचार मे पड गई कि यह क्या हो रहा है? फिर अपनी स्वाभाविक स्त्री-बुद्धि से वह लोलाक्ष का आशय समझकर चौंक गई। * भयभीत होने से उसका मदिरा का नशा उतर गया। परिस्थिति को समझकर वह जोर से भागने लगी। लोलाक्ष ने दौडकर उसे पकड लिया। उस अबला ने जोर लगाकर उस विषयान्ध राजा के पाश से अपने को छुडाया तथा फिर दौडने लगी। राजा ने उसे फिर आ पकडा। नशे मे धुत्त राजा के बाहुपाश से उसने खींचतान कर अपने को फिर मुक्त किया और दौडकर चण्डिका मन्दिर के अन्दर घुस गई तथा भय से थर-थर काँपती हुई चण्डिका देवी की मूर्ति के पीछे छिप गई।

द्वेषगजेन्द्र का प्रभाव : संघर्ष

इसी समय महाराजा मकरध्वज ने द्वेषगजेन्द्र को अपना प्रभाव दिखाने और समयानुकूल आयोजन करने की आज्ञा दी, अत. वह प्रकट हुआ।

प्रकर्ष ने द्वेषगजेन्द्र को देखा और बोला—'मामा! देखिये द्वेषगजेन्द्र आ गया है और साथ मे अपने आठ बच्चे भी लेकर आया लगता है।' विमर्श ने कहा—'हाँ, भाई! अब द्वेषगजेन्द्र को अपना प्रभाव दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ है, अत वह अपना कर्त्तव्य निभायेगा। अब तू केवल इसकी क्रीडा को ध्यान पूर्वक देखना।' प्रकर्ष ने कहा—'मैं ऐसा ही करूंगा' यह कहकर वह अपनी दृष्टि को चारो तरफ घुमाते हुए ध्यान से देखने लगा।

द्वेषगजेन्द्र ने राजाज्ञा को सुना और लोलाक्ष के शरीर मे प्रविष्ट हो गया। द्वेषगजेन्द्र के वशीभूत होकर लोलाक्ष ने सोचा—'इस पापिन रतिललिता को मार ही डालना चाहिये। यह दुष्टा मुझ से प्रेम नही करती और मुझ से दूर भागती फिर रही है, अत: सर्वदा के लिये इसके जीवन का अन्त ही कर देना चाहिये।' ऐसे विचार के साथ हो उसने अपने हाथ मे तलवार पकडी और चण्डिका मन्दिर के गर्भ भाग मे प्रविष्ट हो गया। वह मदिरा के नशे में इतना मदान्ध हो रहा था कि उसे यह भान ही नही था कि वह क्या कर रहा है। रतिललिता के स्थान पर उसने तलवार से चण्डिका देवी की प्रतिमा का मस्तक उड़ा दिया। रतिललिता वहाँ से भागकर मन्दिर के बाहर आकर जोर-जोर से चिल्लाने लगी—'आर्यपुत्र! रक्षा करो बचाओ! बचाओ!!' उसकी चिल्लाहट सुनकर रिपुकम्पन ऊंघ से जागृत हुआ और

---

* पृष्ठ ३६८

अन्य लोग भी जाग गये। रिपुकपन दौड़ता-दौड़ता आया और पूछा—प्रियतमे ! तुझे किसका भय है ? उत्तर मे रतिललिता ने उसके साथ लोलाक्ष ने कैसा अधम व्यवहार किया, वह सब सक्षेप मे कह सुनाया।

रतिललिता से रिपुकपन ने सारा वृत्तात सुना। सुनते ही रिपुकपन पर भी द्वेषगजेन्द्र का प्रभाव हो गया। उसने अत्यन्त तिरस्कार और स्पर्धापूर्वक अपने भाई लोलाक्ष को युद्ध करने के लिये ललकारा। सारे योद्धाओ में खलबली मच गई। सारे वन प्रदेश मे जहाँ मद्यगोष्ठि हो रही थी और लोग नशे मे ऊंघ रहे थे वे सब जाग गये 'क्या हुआ ? क्या हुआ?' कहते हुए वहाँ चारो तरफ कोलाहल मच गया और चारो प्रकार की सेना चारो तरफ से एकत्रित होने लगी, जिससे बडी धमाचौकड़ी मच गई। लोग नशे से चूर थे अत. उन्हे पता ही न लगा कि क्या हुआ। वातावरण से प्रेरित होकर और युवराज की ललकार सुनकर नशे मे चूर सैनिक आपस मे ही भिड़ गये। कायर कायर से, योद्धा योद्धा से, खच्चर वाला खच्चर वाले से, घुडसवार घुड़सवार से, ऊट सवार ऊट-सवार से, रथो रथो से, गज-सवार गज-सवार से यो परस्पर लडकर वे एक दूसरे का नाश करने लगे। इस प्रकार विना कारण अचानक बहुत बड़ी सख्या मे सैनिक हताहत हो गये।

इधर रिपुकपन की ललकार सुनकर लोलाक्ष उससे लडने के लिये उसके सामने आ गया। दोनो द्वेषगजेन्द्र के वशीभूत थे, अतः वे भूल गये कि वे दोनो भाई है। फलत. मदिरा के नशे की मस्ती मे एक दूसरे पर तलवार का प्रहार करने लगे। अन्त मे अत्यन्त क्रोध से रिपुकपन ने अपने बड़े भाई लोलाक्ष को धराशायी कर दिया जिससे लोगो मे भारी खलबली मच गई।

सुरा-सुन्दरी के भयानक परिणाम

यह सब देखते हुए मामा-भाणजे नगर मे प्रविष्ट हुए और जहाँ किसी प्रकार का विप्लव (गड़बड़) नही था ऐसे स्थान पर विश्राम करने बैठे। विमर्श ने फिर से बातचीत प्रारम्भ की।

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! द्वेषगजेन्द्र का माहात्म्य देख लिया न ?

प्रकर्ष—हाँ, मामा। बहुत अच्छी तरह से देखा। इस प्रकार की विलास-क्रीडा का परिणाम कैसा भयानक होता है, यह अच्छी तरह देखा।

विमर्श—वत्स। मदिरा पीने वालो का ऐसा ही पर्यवसान (अन्त) होता है। मदिरा के नशे मे चूर प्राणी, अगम्या के साथ गमन करते हैं अर्थात् जिसकी ओर आँख उठाकर भी नही देखना चाहिये उसी पर विषयासक्त होकर उससे गमन करते है। अपने सामने कौन खड़ा है, इसका भी उन्हे ध्यान नही रहता। अपने सगे भाई या अत्यधिक निकट सम्बन्धी का भी खून कर देते है। विना कारण अपने

---

* पृष्ठ ३९९

ही हाथ से अघटित (आकस्मिक) घटना कर बैठते है। सर्व प्रकार के अधम से अधम पापो का आचरण करते है। सम्पूर्ण संसार को अनेक प्रकार से कष्ट देते हैं। बिना कारण ही धराशायी होकर मृत्यु को प्राप्त होते है। जन्म गवाकर दुर्गति को प्राप्त होते है। भाई ! इसमें आश्चर्य क्या ? विद्वान् लोग तो कहते हैं :—

जो अधम प्राणी मदिरा और परस्त्री में आसक्त होते है उन्हे ऐसे ही अनर्थकारी फल चखने पड़ते है। इसमें प्रश्न करने का अवकाश ही कहाँ है।

सभी सज्जन पुरुष शराब की निन्दा करते है। मदिरा अनेक क्लेशो का कारण (जननी), सर्व प्रकार की आपत्तियों का मूल और सैकडों पापो से आकुलित है।

जो व्यक्ति मदिरा-पान और परस्त्री-लम्पटता का व्यसन नही छोड सकता उसका अन्त में राजा लोलाक्ष के समान ही क्षय (नाश) होता है।

भाई ! जो प्राणी मद्य और परस्त्री का त्याग करते हैं, वे वस्तुत. विवेकशील और पण्डित है, वे पुण्यशाली है, वे भाग्यवान है और वे सचमुच मे कृतार्थ हैं। [१–४]

प्रकर्ष - मामा ! आप शराब और परस्त्री-गमन के विषय मे जो कुछ कह रहे है, वह युक्त ही है। इसमे कोई सशय नही है।

*

२३. रिपुकम्पन

मिथ्याभिमान

विमर्श और प्रकर्ष मानवावास के ललितपुर को देखने की इच्छा से थोडे दिनों तक घूमते रहे। अन्यदा ललितपुर में घूमते हुए उन्होने राजकुल के समीप एक पुरुष को देखा।

प्रकर्ष —मामा ! यह तो मिथ्याभिमान दिखाई देता है।

विमर्श —हाँ, भाई ! यह मिथ्याभिमान ही है।

प्रकर्ष—मामा ! इन भाई साहब को तो हमने राजसचित्त नगर में देखा है। ये वहाँ स्थायी रूप से नियुक्त थे फिर वहाँ की स्थायी नियुक्ति को छोडकर ये यहाँ कैसे आ गये ?

विमर्श—महामोह महाराजा की मकरध्वज पर इतनी अधिक कृपा है कि इसके राज्य की ऋद्धि बढाने के लिये जिनकी भी आवश्यकता हो, उन्हें अन्य स्थान पर स्थायी नियुक्ति होने पर भी ससैन्य बुला लिया जाता है। यद्यपि ये मिथ्याभिमान और मतिमोह आदि यहाँ आये हुए है, फिर भी ये राजसचित्त और तामसचित्त नगर

में तो परमार्थ से हैं ही। क्योंकि, ये योगी के समान इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं।

प्रकर्ष – मामा ! अभी ये कहाँ जा रहे हैं ?

विमर्श –भद्र ! सुनो, तूने वाहर के उद्यान में रिपुकम्पन को देखा था, उसके वड़े भाई लोलाक्ष की मृत्यु होने से उसका राज्याभिषेक हुआ है और वह ललितपुर का राजा वना है। यह रिपुकम्पन राजा का राजमहल है। किसी बहाने यह मिथ्याभिमान राजभवन में प्रवेश करना चाहता है, ऐसा लग रहा है।

प्रकर्ष –मामा ! इस राजा का राजभवन मुझे भी बताइये न ?

विमर्श—अच्छा, चलो।

दोनों रिपुकम्पन के राजमहल में प्रविष्ट हुए।

हर्ष और शोक का प्रभाव : पुत्र जन्मोत्सव

इधर रिपुकम्पन राजा के मतिकलिता नामक एक दूसरी रानी भी थी। जिस समय मामा-भाणजे महल में प्रविष्ट हुए उसी समय इस रानी ने एक वालक को जन्म दिया। जैसे सूर्य के उदय से तामरस कमल विकसित होते हैं और आकाश में से अंधकार नष्ट हो जाता है, सुन्दरजनों के नयन जैसे नींद उड़ जाने पर शोभायमान होते हैं अथवा स्वधर्म-कर्म में तत्पर सुन्दर गृहस्थ का घर हो वैसे सारा राजमहल पुत्र जन्म की खुशी मे शोभायमान होने लगा। चारों ओर आनन्द ही आनन्द छा गया। मणियों के दीपक जगमगाने लगे। मगल समय मे टांकी जाने वाली दर्पणों की मालाये चारों तरफ टांकी जाने लगी। ❋ अनेक प्रकार के रक्षा विधान निष्पन्न किये गये। सफेद सरसों से नन्दावर्त की सैकड़ों रेखायें वनाकर स्वस्तिक वनाये गये। विलासिनी स्त्रियों के हाथ मे श्वेत चंवर देकर उन्हें स्थान-स्थान पर खड़ा किया गया। प्रियंवदा नामक दासी सभास्थल मे वैठे हुए महाराजा को पुत्र जन्म की वधाई देने वेग से चल पड़ी।

वह दासी शीघ्रता में पाँव पटकती हुई तेजी से चल रही थी। पांवों मे पहिने हुए झाझर के कारण कभी-कभी उसकी गति स्खलित हो जाती थी। चरणों की तेज चाल मे उसके स्तन ऊंचे-नीचे हो रहे थे। स्तन-कम्पन के कारण उसके नितम्ब भी हिल रहे थे। नितम्बों के हिलने से कटिमेखला के घु घरुओं की रण-रणक आवाज हो रही थी। कटिमेखला के हिलने से उरोजों पर डाला हुआ दुपट्टा नीचे खिसक रहा था। दुपट्टे के खिसकने से उसके मुंह पर लज्जा की लालिमा छा रही थी। मुख की लालिमा से उसके मुखचन्द्र का प्रकाश भुवन मे चारों तरफ फैल रहा था। नितम्बों और स्तनों के भार से वह दासी झुकी जा रही थी जिससे उसकी चाल मन्द हो रही थी, फिर भी आनन्द के आवेश मे वह तेजी से दौड़ती हुई आगे बढ़

❋ पृष्ठ ४००

रही थी। सभास्थान में पहुँचकर उसने हर्षातिरेक पूर्वक महाराजा रिपुकम्पन को पुत्र जन्म की बधाई दी। समाचार सुनकर हर्ष से राजा का शरीर रोमाञ्चित हो गया। [१-४]

इसी समय मिथ्याभिमान भी वहाँ आ पहुँचा और वह रिपुकम्पन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। मिथ्याभिमान के प्रविष्ट होते ही रिपुकम्पन अभिमान से इतना फूल गया मानो वह अपने शरीर मे ही नही अपितु तीन भुवन में भी नही समा रहा हो। हर्ष के आवेश मे विपरीत चित्त होने के कारण वह सोचने लगा कि-'अहो! वह सचमुच भाग्यशाली है, कृतार्थ है, उसका कुल बहुत ही उच्च है। अहो! देवताओं की भी उस पर बहुत कृपा है। अहो! मेरे लक्षण कितने श्रेष्ठ है। अहा! मेरा राज्य! अहा! मेरा स्वर्ग! आज पुत्र-प्राप्ति से जन्म का फल मिला। अहा! जगत मे मेरा जन्म सफल हुआ। अहा! मुझे कल्याण-परम्परा प्राप्त हुई। अहा! आज मैं धन्य हुआ। अहा! मेरे सभी मनोवाछित आज पूरे हुए। आज तक मेरे पुत्र नही था जिससे मैं करोडो मनोतिया मनाता रहता था, वह कुलनन्दन पुत्र आज प्राप्त हुआ।' इस प्रकार मन मे विचार करते हुए राजा ने प्रसन्नतापूर्वक बधाई देने वाली दासी को अपने कडे, बाजूबन्द, हार, कुण्डल, कलगी और एक लाख स्वर्ण मोहरें बधाई मे दी। राजा के रोम-रोम मे प्रसन्नता का रस प्रवाहित होने लगा। हर्ष से गद्‌गद् होकर उसने अपने मन्त्रिमण्डल को आज्ञा दी, 'पुत्र-जन्म का महोत्सव सर्वत्र आनन्दपूर्वक मनाइये।' राजा की आज्ञा सुनकर मन्त्रियो ने क्षण मात्र मे राजभवन में अनेक प्रकार के उत्सव प्रारम्भ करवा दिये। [५-८]

हवा के वेग से आहत (प्रेरित) होकर ऊची-नीची उठती लहरो के मध्य में जिस प्रकार जलजन्तुओ द्वारा अपनी पूंछ ऊपर उछालने से तरगो की हार माला उत्पन्न होने पर महा समुद्र में गम्भीर गर्जना (ध्वनि) उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस राजमहल मे क्षण मात्र मे चारो तरफ नौबत, शहनाई आदि वादित्रो का गम्भीर घोष व्याप्त हो गया। श्रेष्ठ मलय चन्दन का चूर्ण, केसर, अगर, कस्तूरी, कपूर आदि के सुगन्धित पानी के छिड़काव से सभी स्थान सुगन्धित एव कीचडमय (गीले) हो गये। सुगन्धित पानी को छूकर आने वाली हवा भी सुरभित हो गई थी जिससे प्राणी मात्र प्रमुदित हो रहे थ। प्रकाशमान रत्नों की प्रभा से राजभवन मे चारो तरफ ऐसा प्रकाश फैल रहा था कि सूर्य किरणो को तो वहाँ प्रवेश करने की आवश्यकता ही नही रह गई थी। [९-१०]*

वामन और कुबड़े महल में चारों तरफ नाटक करने लगे। जनाने महलो के नौकर हसी-ठट्टा करने लगे। लोगो को रत्न-समूह बधाई मे दिये जाने लगे। अमूल्य मोतियो के हारो को तोड़कर चारो तरफ मोती उछाले जाने लगे। योद्धा आडम्बर सहित नये-नये वस्त्र पहन कर अपना प्रदर्शन करने लगे। ललनायें राज-

---

* पृष्ठ ४०१

मन्दिर मे सर्वत्र रास आदि विलास करने लगी। बधाई देने के लिये महल में आने वाले लोगो को भोजन-पान से तुष्ट किया जाने लगा। आनन्द और हर्ष मे सर्वत्र वृद्धि हो गई। पुत्र जन्म की बधाई का आनन्द चारो तरफ फैल रहा था और नौकर लोग आनन्द से नाच रहे थे। तभी हर्षातिरेक मे आकर राजा रिपुकम्पन भी हाथ उठा-उठा कर नौकरो के साथ नाचने लगा। [११-१३]

उक्त प्रकार की सर्वत्र धूमधाम देखकर प्रकर्ष को कुछ सन्देह हुआ, इसलिये उसने मामा से पूछा - मामा! ये लोग हर्ष से उछल रहे है, आनन्दातिरेक मे सब लोग मुंह से हर्षोल्लास के उद्गार निकाल रहे है, इसका क्या कारण है? यह जानने का मुझे कौतुहल हो रहा है। क्या आप मुझे बताने की कृपा करेगे? कुछ लोग अपने शरीर पर मटकियो का भार उठाये हुए है, कुछ लोग लकडी की चौखट पर चमडे को मढकर उनको जोर-जोर से बजा रहे हैं। आतडियों से निर्मित और मोतियो से ग्रथित तन्तुवाद्य मन्द-मन्द स्वर मे चल रहे है, इन सब का कारण क्या है? सब से आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस राजभवन का नायक और पृथ्वीपति एक बच्चे की तरह हँसी पैदा करने वाला आचरण, नाच और हँसी-ठट्ठा क्यो कर रहा है? इसका कारण क्या है? यह तो बताइये मामा! जब तक यह बात मेरी समझ मे नही आयेगी तब तक मेरा कौतुहल शात नही होगा। [१४-१८]

विमर्श—वत्स! इस सब का कारण तुझे बताता हूँ सुन—इस सब घटनाचक्र का प्रवर्तक एक ही मनुष्य है। जब हम इस राजमन्दिर मे प्रवेश कर रहे थे उस समय मिथ्याभिमान ने भी प्रवेश किया था। यह सब नाटक यह मिथ्याभिमान ही करवा रहा है। पुत्रोत्पत्ति की खुशी मे यह रिपुकम्पन इतना अधिक हर्षोन्मत्त हो गया है कि वह हर्ष इसके शरीर मे या राजमहल मे या नगर मे या तीन भुवन मे भी नही समा रहा है। इस राजा के चित्त को मिथ्याभिमान ने विह्वल कर दिया है। इसी से राजा स्वय नाच रहा है और दूसरो को भी नचा रहा है। विशेषता तो यह है कि इन लोगो की जो आत्म-विडम्बना हो रही है, उसे ये समझ ही नही सकते, क्योकि मिथ्याभिमान के समक्ष सम्पूर्ण ससार पामर जैसा है। [१६-२४]

प्रकर्ष—मामा! यदि ऐसी बात है तो लोगो को इतनी अधिक विडम्बना मे गिराने वाला यह मिथ्याभिमान तो वास्तव मे लोगो का शत्रु ही है। [२४]

विमर्श—इसमे शका की क्या बात है? वास्तव मे यह लोगो का शत्रु ही है। फिर भी लोगो को यह अपने भाई से भी अधिक प्रिय लगता है। [२५]

प्रकर्ष—यह रिपुकम्पन अर्थात् शत्रुओ को कपाने वाला जब मिथ्याभिमान के वश मे हो गया है तब इसे रिपुकम्पन कैसे कहा जाय? [२६]

विमर्श—भाई! यह भाव से रिपुकम्पन नही है, क्योकि यह अपने शत्रुओ को किंचित् भी कम्पायमान नही कर सकता। यह तो केवल बाहरी शत्रुओ से लड़ने

मे वीर है, अतः द्रव्य रिपुकम्पन अर्थात् नाम से ही रिपुकम्पन हैं। [२७] ❀ कहा भी है :—

यो बहिः कोटिकोटीनामरीणा जयने क्षमः।
प्रभविष्णुर्विना ज्ञान, सौऽपि नान्तरवैरिणाम् ।। [२८]

जो व्यक्ति करोडो बाह्य शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होना है, वही ज्ञान के बिना अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्रा त करने मे शक्तिशाली नही बन पाता।

अतः हे वत्स! इसमे रिपुकम्पन का या अन्य प्राणियो का दोष नही है। वस्तुतः उनमे ज्ञान की अनुपस्थिति ही सच्चा दोष है, वही उन्हे कुमार्ग पर ले जाता है। नेत्रों में अज्ञान रूपी विकार होने से उस पर काम रूपी अन्धता का पर्दा पडा होने से लोग निश्चितरूप से शीघ्र ही मिथ्याभिमान के वश मे हो जाते है। एक बार मिथ्याभिमान के वश में पडा नहीं कि व्यक्ति दूसरे लोगो के साथ बच्चो जैसी चेष्टाएं करने लगता है और अपने लिये अनेक प्रकार की विडम्बनाए खडी कर लेता है। रिपुकम्पन का दृष्टा त तेरे समक्ष ही है। जिन प्राणियो की बुद्धि ज्ञान से पवित्र हो गई है, उन्हे तो पुत्र, राज्य या धन प्राप्त हो अथवा कोई आश्चर्यजनक स्थिति प्राप्त तब भी हो ऐसे पुण्यशाली मध्यस्थ बुद्धि वाले प्राणी के हृदय मे यह मिथ्याभिमान रूपी आन्तरिक शत्रु तनिक भी स्थान प्राप्त नही कर सकता। [२८-३३]

मामा-भाणजे बात कर ही रहे थे कि राजभवन के द्वार पर दो व्यक्ति आ पहुँचे। प्रकर्ष द्वारा इनके बारे मे पूछे जाने पर विमर्श ने बताया कि मतिमोह के साथ शोक आया है। जिन्हे तुमने पहले तामसचित्त नगर में देखा है। [३४-३५]

इसी समय सूतिकागृह में से करुणाजनक कोलाहल उठा। दासियाँ हाहारव पूर्ण क्रन्दन करती हुई राजा के समक्ष आई। प्रसन्नता की धमाचौकडी बन्द हो गई, वातावरण एकदम शान्त हो गया और राजा घबराकर बारम्बार पूछने लगा कि 'यह क्या हो रहा है?' दासी ने कहा—'रक्षा करो देव! बचाओ! महाराज! कुमार को आखे एकदम स्थिर हो रही है, उनके प्राण कण्ठ तक आ गये है। देव! दौड़िये, शीघ्र कोई उपाय करिये।' दासी के वचन सुनकर राजा वज्राहत जैसा व्याकुल हो गया, फिर भी साहस धारण कर अपने पारिवारिक लोगो के साथ तत्क्षण सूतिकागृह मे पहुँचा। वहाँ जाकर उसने देखा कि स्वय के प्रतिरूप जैसा सुन्दर और अपने तेज से राजभवन की दीवारों को प्रकाशित करने वाला बालक शिथिल हो रहा है, उसके प्राण कण्ठ तक आ गये है, और लगता है कि उसका जीवन थोडा ही शेष रह गया है। नगर के सारे वैद्यो को तुरन्त बुलाया गया। मुख्य वैद्य को पूछा कि, 'क्या बीमारी है?' वैद्य ने कहा—'महाराज! कुमार को मरणान्तक कालज्वर आया है। जैसे प्रचण्ड पवन के झोंको से कैसा भी दीपक हो वह झपाटे से बुझ जाता

❀ पृष्ठ ४०२

है वैसे ही हम दुर्भागी लोग देखते ही रह जायेंगे और यह सुकोमल पुष्प एक क्षण में सदा के लिये कुम्हला कर गिर जायगा।' राजा बोला—'अरे लोगों! सब अपनी-अपनी शक्ति का शीघ्र ही उपयोग करें। कोई भी कुमार को जीवन प्रदान करेगा उसे मैं अपना राज्य दे दूंगा, मैं उसका नौकर बनकर रहूँगा।' यह सुनकर सब लोगों ने आदरपूर्वक कई दवाइयाँ दी, मन्त्र जपे, मादलिये (गण्डे तावीज) बांधे, रक्षा-मन्त्र लिखे, अनेक देवी-देवताओं का तर्पण किया, मानता मानी, विद्यापाठ किये, मण्डल बनाये टोटके किये, देवी-देवताओं के जाप किये, यन्त्र बनाये, परन्तु इतनी सारे साधन एवं उपचार के पश्चात् भी * कुमार की मृत्यु थोड़ी देर बाद हो गई।

शोक से रिपुकम्पन का मरण

उसी समय शोक और मतिमोह ने मतिकलिता रानी, रिपुकम्पन राजा और उनके परिवार-जनों के शरीर में प्रवेश किया। इस कारण 'अरे! मैं मर गई, मेरी सारी आशाएं भग हो गई, मैं लुट गई। अरे देव! मेरी रक्षा करो। मुझे बचाओ' इस प्रकार रोती बिलखती रानी कुमार को मृतक देखकर वज्राहत सी जमीन पर गिर गई और अत्यन्त विह्वल एवं व्याकुल हो गई। [१-२]

'अरे बच्चे! मेरे प्यारे पुत्र! मेरे लाड़ले!' पुकारते हुए रिपुकम्पन राजा भी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा और पुत्र शोक से दुःखी होकर तुरन्त अपने प्राणों का त्याग कर दिया। [३]

राजभवन में घोर हाहाकार, विलाप और आक्रन्दन होने लगा। लोगों की छाती कूटने की हृदयभेदी आवाजें आने लगी। मतिकलिता और रतिललिता रानियों ने अपने केशकलाप (चोटियां) खोल दिये, भग्न किये हुए आभूषणों से सिर फोड़ने लगी और सैकड़ों प्रकार से विलाप करने लगी। मुंह में लार भर गई और दीन बनकर जमीन पर लौटने लगी। सिर के बाल नोंचने लगी व जोर से हाहाकार करती हुई रोने लगी। चारों ओर लोग भी करुण स्वर से हाहाकार करने लगे।
[४-६]

विमर्श और प्रकर्ष की रहस्यमय विचारणा

यह देखकर विस्मित नेत्रों से प्रकर्ष बोला—मामा! अभी कुछ समय पूर्व तक तो ये लोग नाच-कूद रहे थे, पर अब नाच-कूद छोड़कर यह नये प्रकार का नाच कैसे शुरु कर दिया? [७-८]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! अभी तूने राजभवन में शोक और मतिमोह को प्रवेश करते देखा है, उन्होंने अपनी शक्ति से ही यह सब नाटक रचा है। मैंने तुझे पहले भी बताया था कि इस नगर के लोग अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से कोई भी कार्य नहीं कर सकते, पर उनमें रहे हुए अन्तरंग मनुष्य अपनी शक्ति से उनसे

* पृष्ठ ४०३

जैसा भी अच्छा-बुरा कार्य करवाते है, तदनुसार ये बेचारे करते है। पहले इस मिथ्याभिमान ने इन बेचारों से एक नाटक करवाया और अब शोक एव मतिमोह इनसे दूसरा नाटक करवा रहे है, ये बेचारे क्या करे ?

जो प्राणी शुभ चेतना वाले, सद्ज्ञान से पूर्ण और पवित्र है ऐसे महात्मा पुरुषों को यह मतिमोह किसी भी प्रकार की विघ्न/बाधा नही पहुँचा सकता। ऐसे प्राणी तो पहले से ही वस्तु स्वभाव को जानते है। उन्हे तो यह विदित ही रहता है कि यह ससार-रचना क्षरण भगुर है अन्त मे नष्ट होने वाली है। प्रारम्भ से ही जिन्हे यह ज्ञान हो उनका यह शोक क्या बिगाड सकता है ? रिपुकम्पन पुत्र-शोक से इसी लिये मरा कि मतिमोह से प्रभाव से वह पुत्र मे अत्यन्त आसक्त हो गया था। अब शोक इन सभी लोगों से करुण विलाप करवा रहा है। [९-१५]

प्रकर्ष—मामा इस नृप-मन्दिर में क्षणमात्र मे इतना आश्चर्योत्पादक उलट फेर हो गया। थोडी देर पहले जहाँ हर्ष था, वहाँ विलाप होने लगा। ऐसा आज ही हुआ है या कभी कभी होता ही रहता है ?

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! इस ससार चक्र मे ऐसी घटनाए असम्भव या अशक्य नही है। *यह नगर तो ऐसी एक दूसरे से विपरीत एवं विचित्र घटना-चक्रो से भरा हुआ ही है। अब यहाँ राजा और उसके पुत्र को दाह-सस्कार के लिये ले जाने की पुकार होगी। लोग छाती पीट-पीट कर दारुण एव भीषण क्रन्दन करेंगे। शोक प्रदर्शित करने वाले काले झण्डे चारो तरफ लगाये जायेंगे। हृदयभेदी मृत्यु सूचक विषम बाजे बजेंगे। ऐसी हृदयविदारक रीतियाँ यहाँ होगी। हे वत्स ! हृदय को अत्यन्त उद्विग्न करने वाली ऐसी रीतियाँ लोगो को अत्यन्त सन्तप्त करती है। अत मृतक को राजमन्दिर के बाहर ले जाने से पहले ही हमे यहाँ से चल देना चाहिये। ऐसे हृदयभेदक दृश्य को हमे नही देखना चाहिये।

परदुःख कृपावन्तः सन्तो नोद्वीक्षितुं क्षमा.।

सन्त लोग दयालु दृष्टि वाले होते है, वे दूसरो के दु.ख को देखने मे समर्थ नही होते।

इस प्रकार विचार करते हुए प्रकर्ष और विमर्श राजभवन से बाहर निकल कर बाजार मे आ गये। रिपुकम्पन को मरा हुआ जान कर सूर्य भी उस समय मलिनता धारण कर पश्चिम समुद्र मे स्नान करने चला गया/अस्त हो गया।[१६-२३]

❀

* पृष्ट ४०४

२४. महेश्वर और धनगर्व

सन्ध्या वर्णन

सूर्यास्त हो जाने के कारण अन्धकार से सारा ससार काली स्याही जैसा काला हो गया था। दीपक जल गये थे। गाय भैसे वापस अपने घर लौट चुकी थी। पक्षी अपने घोसलो मे आकर बैठ गये थे। वैताल भयकर रूप धारण कर रहे थे। उल्लू विचरण करने लगे थे। कौए शान्त हो गये थे। सूर्यमुखी कमल बन्द हो गये थे। ब्रह्मचारी मुनिगण अपनी-अपनी आवश्यक क्रियाओ मे सलग्न हो गये थे। अपनी प्यारी चकवी के विरह से चकवा रोने लगा था। विषय-लम्पट लोग उल्लसित होने लगे थे और कामिनियाँ मन मे मुस्कराने लगी थी। ऐसे प्रदोष (सध्या) कालीन समय मे लोगो के मन आनन्दित होने लगे थे। उसी समय मामा-भाणजे ने महेश्वर नामक एक सेठ को अपनी दुकान पर बैठे देखा। [२४–२८]

महेश्वर का गर्व

सेठजी दुकान मे बिछी एक मोटी गद्दी पर तकिये के सहारे आराम से बठे थे। उनके आस-पास अनेक नम्र, विनयी और विचक्षण वणिकपुत्र (व्यापारी) बैठे थे। सेठजी के सामने माणक हीरे, नीलम, वैडूर्य, प्रवाल आदि रत्नों के ढेर पडे थे, जो अपनी चमक से आस-पास के अन्धकार का भी नाश कर रहे थे। सेठजी के ठीक सामने सोने की मोहरे, सिल्लिया, चादी, रुपये आदि के ढेर लगे थे। इन सब को देखकर सेठ मन मे मुस्करा रहा था और गर्व से फूल रहा था। यह देखकर मामा-भाणेज बात करने लगे :—

प्रकर्ष—मामा ! यह महेश्वर सेठ अपनी भौहे चढाकर दृष्टि को एकटक निश्चल कर क्या देख रहा है? इसके सामने कुछ व्यक्ति आदर/बहुमान पूर्वक कुछ याचना सी करते दिखाई दे रहे है, फिर भी यह भाई बहरा बनकर कुछ ध्यान ही नही दे रहा है। बेचारे आदरपूर्वक विनय से उसकी तरफ देखकर बोल रहे हैं, पर यह भाई उनकी तरफ आँख उठाकर भी नही देखता, इसका क्या कारण है ? कुछ लोग तो बेचारे अत्यन्त नम्रता पूर्वक हाथ जोड़कर इसके समक्ष खडे हैं, कुछ उसकी चापलूसी कर रहे है, मगर यह उनकी तरफ देखता भी नही और उन्हे तृणतुल्य रक जैसा समझता है, इसका क्या कारण है ? यह सेठ रत्नो को बार-बार देखता है, मन मे कुछ ध्यान करता है, निस्तब्ध हो जाता है, फिर पूरा शरीर रोमाचित होता है और मन मे मुस्कराता सा दिखाई देता है, इसका क्या कारण है ? यह बताइये। [२९–३५]

धनगर्व

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! सुनो, हमने अभी राजमन्दिर मे मिथ्याभिमान को देखा था, उसी का एक अगभूत मित्र धनगर्व है। इस धनगर्व ने अभी इस सेठ के

शरीर मे प्रवेश कर लिया है। जिन प्राणियो मे धनगर्व प्रविष्ट हो जाता है, उन सभी की यही स्थिति हो जाती है। यह सेठ अभी ऐसा मान बैठा है कि ❀ ये हीरे माणक आदि रत्न सब उसी के है और वह ही उसका स्वामी है, अत वह बहुत हो कृत-कृत्य है, भाग्यशाली है। वह ऐसा समझता है कि उसे इस जन्म का सचमुच बडा फल (लाभ) प्राप्त हुआ है और उसका जन्म सफल हो गया है। वह अपने समक्ष सारे ससार को रक समझता है। ऐसे विचाररूपी विकारो के अधीन यह भाई सर्वदा आकाश मे ही उडता रहता है। धन का स्वरूप कैसा अस्थिर है, इसका इसे तनिक भी ज्ञान नही है। धन का अन्तिम परिणाम क्या होता है, इस पर यह किंचित् भी विचार नही करता। भविष्य में क्या होगा, इसकी इसे नाममात्र भी चिन्ता नही है। वस्तुतत्त्व क्या है, इसका पर्यालोचन नही करता। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, नाशवान है, इसका चिन्तन नही करता।

प्रकर्ष—रागकेसरी के जो आठ बालक मैंने देखे थे, उनमे से यह पाचवा (अनन्तानुबन्धी मान या लोभ) इस सेठ के बिलकुल समीप ही बैठा हो ऐसा लगता है।

विमर्श—ठीक है, वही है। रागकेसरी का यह पांचवाँ लडका ही यहाँ आया हुआ है। अब आगे क्या होता है यह ध्यानपूर्वक देखना।

मान एवं लोभाभिभूत महेश्वर सेठ

मामा-भाणेज दूर खडे-खड़े देख रहे थे, इतने मे ही कोई एक भुजग (गणिकापति) आया और महेश्वर के पास बैठा। बैठकर सेठ से बोला कि वह एकात मे कुछ विशेष बात करना चाहता है। सेठ उसके साथ एकान्त के कमरे मे गया तब उसने एक महा मूल्यवान मुकुट सेठ को दिखाया। यह मुकुट हीरे रत्न जटित था और अन्धेरे में भी अपनी चमक से दिशाओ को प्रकाशित कर रहा था। सेठ ने इस राजसेवक को तुरन्त पहचान लिया। अरे! यह तो हेमपुर नगर के राजा विभोषण का सैनिक वेश्यापति दुष्टशील है। विचक्षण सेठ मन मे समझ गया कि यह चोर अवश्य ही मुकुट चुराकर लाया होगा। इसी समय रागकेसरी का वह लडका सेठ के शरीर मे प्रविष्ट हो गया। उसके प्रताप से सेठ ने सोचा कि यह मुकुट चोरी का हो या कैसा भी हो, उससे उसको क्या मतलब? उसे तो यह मुकुट किसी भी प्रकार से हस्तगत करना चाहिये।

सेठ ने अपने विचार को तत्क्षण ही कार्यरूप मे परिणत करने का निर्णय कर लिया और उसने दुष्टशील से कहा—'हाँ, भाई! बोलो, क्या कहना है?' गणिका-पति ने कहा—'इसका उचित मूल्य देकर आप इसे ले लीजिये।' सेठ मन मे प्रसन्न हुआ और साधारण मूल्य पर दुष्टशील को राजी कर लिया। दुष्टशील भी जो मिला वह रोकड़ी लेकर वहाँ से वेग के साथ पलायन कर गया।

❀ पृष्ठ ४०५

दुष्टशील के जाते ही तत्काल उसके पैरो के चिह्नो को गुप्तचरो के साथ ढूढते हुए विभीषण राजा के राज-कर्मचारी वहाँ पहुँच गये। जाच करने पर उन्हे किसी भी प्रकार से पता लग गया कि महेश्वर सेठ ने मुकुट को खरीद लिया है। उन्होने चोरी के माल सहित सेठ को पकड़ा और पचो के समक्ष साक्षिया तैयार कर सेठ को माल सहित गिरफ्तार कर लिया।

सेठ के पास जो हीरे माणक आदि रत्नो के ढेर लगे थे उन पर भी राज-सेवको ने क्षण मात्र मे अधिकार कर लिया। सेठ रोता-चिल्लाता रहा किन्तु राज-सेवको ने उसे बाध दिया, अर्थात् बेडिया पहना दी। नौकर, व्यापारी और रिश्तेदार तथा आसपास के सभी लोग घबराकर सेठ का साथ छोड गये। (सच ही है स्वार्थी मित्र और रिश्तेदार विपत्ति आने पर साथ छोड भागते है।) धन, मित्र एव रिश्ते-दारो से रहित सेठ महेश्वर के गले मे चोरी का माल लटकाया गया, फिर गधे पर बिठाकर, सारे शरीर पर राख पोतकर, चोर जैसी आकृति (शक्ल) बनाकर उसको नगर मे घुमाया। लोग सेठ की निन्दा करने लगे, 'राजा की भी चोरी करने वाला यह तो डाकू निकला।' निन्दा की आवाजो से चारो दिशाये भर गई। राजा के कर्मचारी उसकी लात-घूसो और लाठी से खबर लेने लगे। सेठ का मुह रक जैसा हो गया था और उसकी सभी आशाये भंग हो गई थी। महेश्वर सेठ की ऐसी अत्यन्त शोच-नीय एव दयनीय दशा देखकर प्रकर्ष ने अपने मामा से पूछा—'मामा यह अद्भुत घटना देखी? क्या यह इन्द्रजाल है, स्वप्न है, कोई जादू है, या मेरी बुद्धि का भ्रम है? जो एक क्षण मात्र मे सेठ की * शानो-शौकत, धन-दौलत, चापलूस, सगे-सबंधी सब चले गये। सारे लोग ही जैसे बदल गये। इसका तेज, अभिमान और पुरुषत्व सब समाप्त हो गया। [१-८]

धनस्वरूप पर विमर्श के विचार

विमर्श ने कहा - वत्स ! तूने जो कुछ देखा वह सब सत्य है, इसमे तेरी बुद्धि का भ्रम नही है। इसीलिये बुद्धिमान पुरुष धन का तनिक भी गर्व नही करते। यह धन ग्रीष्म ऋतु को गर्मी से तप्त पक्षी के कण्ठ जैसा चञ्चल है। ग्रीष्म की गर्मी से आक्रान्त सिंह की जीभ जैसा अस्थिर है। इन्द्रजाल की भाति अनेक प्रकार के अद्भुत विभ्रम उत्पन्न कर मन को नचाने वाला है। यह लक्ष्मी पानी के बुलबुले की भाति क्षण भर मे नष्ट होने वाली है। इस सेठ मे अप्रामाणिकता और अविवेक का इतना प्रबल दोष था कि उसके कारण वह अपने सन्मान और समग्र धन को क्षण भर मे गवा बैठा। हे वत्स ! धन तो ऐसी वस्तु है कि जो प्राणी किसी प्रकार का दोष नही करते उनके पास से भी चला जाता है और उल्टे भय का कारण बन जाता है। जो फूक-फूक कर जमीन पर पर रखते है, उनके पास से भी धन क्षण भर मे नष्ट हो जाता है, इसमें तनिक भी सदेह नही है। धन के दोष से धनवान प्राणी

* पृष्ठ ४०६

बाढ़ से डरते है, अग्नि से भय खाते हैं, डाकुओ से भयभीत रहते है, राजा द्वारा लूटे जाने से आशकित रहते है, भाइयो और रिश्तेदारो द्वारा हिस्सा पडवाने की पचायत से उद्विग्न रहते है और चोर द्वारा चुराये जाने के भय से त्रस्त रहते है। इस प्रकार धन से अनेक प्रकार की व्याधियां आती है ओर अनेक कष्ट उठाने पडते है। हे वत्स! जैसे पवन के एक प्रखर झपाटे से बहुत से एकत्रित बादल बिखर जाते है वैसे ही जब धन जाने लगता है। [६-१६] तब न तो वह धनवान के रूप को देखता है, न उसके साथ के लम्बे काल के सम्बन्ध और पहचान की अपेक्षा रखता है, न उसकी कुलीनता को देखता है, न कुलक्रम का अनुसरण करता है, न शील, पाडित्य, सुन्दरता, धर्म-परायणता, दानशीलता, उपकार-वृत्ति या कर्त्तव्य-परायणता का ही विचार करता है। उसके ज्ञान, सदाचार, सुन्दर व्यवहार, चिर स्नेहभाव और सत्त्व पराक्रम को भी वह स्वीकार नही करता। प्राणी के शरीर के लक्षण कितने उत्तम है, इसकी भी वह पहचान नही करता। अधिक क्या ? आकाश मे दिखने वाले नगर, मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि जैसे क्षण भर मे छिन्न-भिन्न हो जाते है, वैसे ही धन लुप्त हो जाता है। वह कहाँ गया और कितने थोड़े समय मे गया, इसका पता ही नही लगता। संसारी प्राणी घोर क्लेश/कष्ट सहन कर धन एकत्रित करता है और अपने प्राणो की तरह उसका रक्षण करता है, फिर भी जब वह जाने लगता है तब देखते-देखते ऐसे चला जाता है जैसे मञ्च पर नृत्य करता नर्तक नाचते-नाचते एकाएक अदृश्य हो जाता है। तथापि हे भद्र! महामोहग्रसित बेचारे क्षुद्र प्राणी इस धन की चिन्ता और आशा से आबद्ध होकर, इस महेश्वर सेठ की भाति धन के झूठे गर्व मे पड़कर सैकडो प्रकार के विकारो मे फस जाते है और उनका चित्त विह्वल एव व्यथित हो जाता है। भाई! इस जन्म मे धन से ऐसा ही भयावह परिणाम प्राप्त होता है और परलोक मे तो इससे भी महाभयकर दु ख-परम्परा प्राप्त होती है, ऐसा समझना चाहिये। [१-५]

प्रकर्ष—मामा! मुझे बताओ कि धन एक ही स्थान पर निश्चल होकर रह सके, इसका विपाक (परिणाम) शुभ हो और इसका फल भी कल्याणकारी हो, इसका भी कोई उपाय इस विश्व मे है या नही ?

विमर्श—वत्स! * इस ससार मे ऐसा उपाय सम्भव तो अवश्य है, पर वह विरले भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। इसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते है। पुण्य अर्थात् शुभ का अनुभव, ऐसे अनुभव के समय फिर से पुण्य का बन्ध हो पुण्य का सचय हो उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते है। ऐसा पुण्य धन को बढाता है, स्थिर करता है, और धन न हो तो प्राप्त करवाता है। परन्तु इस प्रकार का पुण्य अत्यन्त ही दुर्लभ है। (अधिकाश प्राणियों को पापानुबन्धी पुण्य ही होता है यह ध्यान मे रखना।) प्राणियो पर दया, ससार से वैराग्य (विरक्ति), विधिपूर्वक देव-गुरु की

* पृष्ठ ४०७

पूजा और विशुद्धशील मे वृत्ति, इन्ही से पुण्यानुबन्धी पुण्य एकत्रित होता है। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का त्रास नही देने से, अन्य प्राणियो पर अधिकाधिक कृपा (करुणा) करने से और अपने मन का दमन करने से भी पुण्यानुबन्धी पुण्य एकत्रित होता है। जिन प्राणियो ने पूर्व-भव मे ऐसा पुण्य उपार्जित किया हो अथवा इस भव मे ऐसा पुण्य कमाया हो, उनके पास आया हुआ धन मेरु पर्वत के शिखर के समान स्थिर रहता है। ऐसे पुण्यशाली महात्मा प्राणी अपने पुण्यानुबन्धी पुण्य के फलस्वरूप जो धन प्राप्त करते है, उसे वे बाह्य (अपने से भिन्न), तुच्छ, मल जैसा और क्षण भर मे नाशवान/अस्थिर समझकर उसका शुभ स्थानो और शुभ कार्यो मे व्यय करते हैं और स्वयं उसका भली प्रकार उपयोग करते हैं, परन्तु वे मनीषो धन मे तनिक भी आसक्त नही होते। अर्थात् न तो वे धन के ढेर देखकर प्रसन्न होते है और न उसे सचित करने मे पागल ही बनते है। जिनका जन्म भी शुभ (पवित्र। माना जाता है ऐसे पुण्यशाली विशुद्ध बुद्धि वाले प्राणियो के सम्बन्ध मे यह धन, धन के शुभ (अच्छे) परिणाम ही प्रदान करता है। अन्य क्षुद्र मनुष्य जो ऐसे बाह्य निन्दनीय; अनर्थकारी धन पर मूच्छित रहते हैं, आसक्ति रखते है, उसको पकड़कर बैठते है, वे उसका दान भी नही कर सकते और उसका उपभोग भी नही कर सकते। ऐसे क्षुद्र प्राणी इस भव में अत्यधिक चित्त-सन्ताप प्राप्त करते है और परभव मे घोर अनर्थ-परम्परा को प्राप्त करते है। हे भद्र! इसमे क्या नवीनता है? क्या आश्चर्य है? सक्षेप मे सारांश यह है कि तत्त्व-रहस्य को समझने वाले बुद्धिमान पुरुष धन होने पर भी उस पर आसक्त नही होते, उसका अभिमान नहीं करते, अपितु शुभ कार्यो मे व्यय करते है और स्वय उसका उपभोग करते हैं। जो प्राणी न तो दान करता है और न उसका उपभोग करता है वह तो बेचारा व्यर्थ परिश्रम करने वाला बिना पैसे का नौकर है जो अन्त मे पछताता है। जो प्राणी इस वस्तु-स्थिति को जानता है वह पैसा प्राप्त करने में लुब्धता और अनीति की गन्ध भी नही आने देता। यदि चोरी या अप्रामाणिकता से धन प्राप्त करने की इच्छा होती है तो समझ लेना चाहिये कि उसका कष्टदायक परिणाम वैसा ही प्राप्त होगा जैसा इस महेश्वर सेठ को प्राप्त हुआ। [६-२०]

❀

२५. रमण और गणिका

बुद्धिपुत्र प्रकर्ष अपने मामा के साथ धन के तत्त्वज्ञान पर विचार कर रहा था तभी एक विशेष आकर्षक घटना घटी। मामा-भाणजे ने देखा कि एक अत्यन्त दुर्बल, अशक्त और मलिन शरीर वाला तरुण मनुष्य जीर्ण-शीर्ण कपडे पहने हुए कही से निकल कर बाजार मे आ रहा है। एक दुकान पर उसने गाठ मे से कुछ रुपये निकाल कर बाजार से थोडे लड्डू, एक पुष्पहार, थोडे पान, कुछ सुगन्धित पदार्थ और दो कपडे खरीदे। फिर बाजार के पास की ही एक बावडी की सीढी पर बैठकर खरीद कर लाये हुए लड्डू खाये, पान चबाया। पेट भरने के पश्चात् उसने स्नान किया, शरीर पर सुगन्धित तेल लगाया, सिर पर पुष्पहार का मुकुट बनाकर पहना, सुगन्धित पदार्थो से शरीर को सुवासित किया, नवीन वस्त्र पहने और महाराजा की भाति आडम्बर पूर्वक वहाँ से चला। चलते-चलते वह बार बार अभिमान पूर्वक अपने शरीर को देखता जाता, बाल ठीक करता, आमोट (पुष्प-मुकुट) को सभालता और गहरी सांस लेकर इत्र की सुगन्ध को सूघकर प्रसन्न होता जाता। [२१-२६]

रमण

'भिखारी जैसे व्यक्ति को रसिक बनते देखकर प्रकर्ष ने पूछा—मामा! यह युवक कौन है? * कहाँ जाने के लिये निकला है और क्यो ऐसे विकार प्रदर्शित कर रहा है? [२७]

विमर्श—भाई! इसकी कहानी तो बहुत लम्बी है। पर सक्षेप मे विशेष बात तुझे बताता हूँ, (तू ध्यानपूर्वक सुन।)

यह इस नगर के निवासी समुद्रदत्त नामक सेठ का पुत्र रमण है। यह तरुण है, अत्यधिक भोगासक्त है, बचपन से ही वेश्या के फदे मे ऐसा फसा हुआ है कि इसे वेश्या के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नही देता। इस समुद्रदत्त का घर धन, धान्य, स्वर्ण, रत्न आदि वैभवो से परिपूर्ण कुबेर के खजाने जैसा था जिसे इस रमण ने वेश्या के फदे मे फसकर मिट्टी मे मिला दिया है। यहाँ तक कि अब इसे स्वय के लिये रोटियो के भी लाले पड गये है। यह पापी अब निर्धन हो गया है, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र वाला हो गया है, दूसरे की नौकरी कर रहा है, लोगो की नजरो मे तुच्छ हो गया है और अपने कर्म के परिणाम स्वरूप महा दुःखी हो रहा है। नौकरी करते हुए आज इसे कही से अनायास पैसा प्राप्त हो गया है, अतः व्यसन ने फिर इस पर अपना आधिपत्य जमाया है। हे वत्स! इसके बाद इसने कैसे बहुरूपिये की भाति अपना रूप बदला, यह तो तू ने देखा ही है, इस सम्बन्ध मे मुझे कहने की आवश्यकता ही

* पृष्ठ ४०८

क्या है ? इस नगर मे एक मदनमजरी नामक प्रसिद्ध वेश्या है जिसके कुन्दकलिका नामक लडकी है जो रूपवती और यौवनमद से आपूरित है । कुन्दकलिका मे आसक्त होकर इस रमण ने अपना सब धन खोया और जब यह धन-रहित हो गया तो गणिका मदनमंजरी ने उसे घर से बाहर निकाल दिया । रमण अब भी कुन्दकलिका के साथ भोगे गये भोग को भूल नही सका है । न करने योग्य दूसरो का काम करके कही से आज इसे जैसे ही थोडे रुपये मिले कि यह उन रुपयो को लेकर अपनी विषय-वासना को तृप्त करने कुन्दकलिका के घर की तरफ निकल पडा है । अपने को रूपवान बनाने के लिये इसने वहाँ जाने के पहले यह सब टीप-टॉप, साज-सज्जा की है । (चलो हम इसके पीछे चले) । [२८-३८]

मकरध्वज का प्रभाव

इसी समय एक पुरुष अपने अनुचरो के साथ दूर से आता हुआ और अपने तरकस मे से भयकर तीर निकाल कर खीच खीच कर मारता हुआ दिखाई दिया । इसका सुन्दर स्वरूप देखकर प्रकर्ष ने पूछा—'अरे मामा ! मामा !! देखिये तो वह पुरुष दूर से ही इस रमण को प्रबल वेग से तीर मार रहा है, आप इसे रोकिये ना ।' विमर्श ने कहा—'भाई ! यह तो मकरध्वज है और अपने मित्र भय के साथ रात्रि मे आनन्द से नगरचर्या देखने निकल पडा है । सम्पूर्ण नगर मे कौन उसकी आज्ञा का पालन करता है और कौन उसके विरुद्ध है कौन क्या कहता है, कैसा वेष धारण करता है और मन मे क्या सोचता है, इस सब की वह परीक्षा करता है । हे वत्स ! यही मकरध्वज अपनी शक्ति से काम-बाण-विद्ध बनाकर इस पामर रमण को वेश्या के घर ले जा रहा है । हम उसे नही रोक सकते क्योंकि यह तो उसका कर्त्तव्य है । रमण इस समय अपने मन मे जिस तीव्र विषयाभिलाषा का अनुभव कर रहा है, उसका कारण यह मकरध्वज ही है । अब इसकी क्या दशा होती है, यह देखना है । चलो, यह कौतुक देखे । [३९-४४]

कुन्दकलिका का बाह्यान्तर रूप

बात करते-करते मामा-भाणजे वेश्या के घर की तरफ गये । वहाँ उन्होने दरवाजे के पास ही ठाठ-बाट से बैठी हुई अति-चर्चित कुन्दकलिका को देखा । उसे देखकर विमर्श ने अपना नाक चढाया, मुंह से थूंका, गर्दन हिलाई और मुँह बिगाड कर दूसरी तरफ फेर लिया । * मामा को व्याकुल देखकर और उनके मुंह से हाय-हाय शब्दों के उच्चारण को सुनकर प्रकर्ष ने मामा से उद्वेग का कारण पूछा – 'मामा ! आपको एकाएक ऐसा क्या बुरा लगा कि आपकी मुखाकृति मे अचानक परिवर्तन हो गया ?' विमर्श ने कहा—'भाई ! यह स्वरूपवती वेश्या सुन्दर वस्त्राभूषण और पुष्पहारो से सुशोभित होने पर भी अशुचि की कोठी (खजाना) है, क्या तू यह नही देख सकता ? मुझे तो इसमे से इतनी दुर्गन्ध आ रही है कि मैं उसे सहन

---

* पृष्ठ ४०९

ही नही कर सकता । अतः हमे इससे दूर ऐसे स्थान पर खडे होना चाहिये जहाँ इसके शरीर की दुर्गन्ध न आती हो, पर जहाँ से यहाँ घटित होने वाली घटना आकुलता रहित होकर दिखाई दे सकती हो । साधारण अशुचि की कोठी (पात्र) तो छिद्ररहित भी हो सकती है, पर यह तो निरन्तर नौ द्वारो से अशुचि बाहर निकालती ही रहती है । अतः इसके निकट तो मैं एक क्षण भी खड़ा नही रह सकता । इस दुर्गन्ध से मेरा तो सिर भिन्ना जाता है। [४५-५१]

प्रकर्ष आपकी बात तो सत्य ही है, इसमे कोई सशय नही है। यह दुर्गन्ध इतना बुरा प्रभाव डाल रही है कि मेरी नाक मे भी भर गई है और मुझे भी घबराहट हो रही है । चलिये, थोड़े दूर खड़े हो जाये । [५२]

दोनो वहाँ से कुछ दूर हट गये और जहाँ से सब दृश्य बराबर दिखाई दे सके ऐसे स्थान पर जाकर खड़े हो गये ।

रमण वेश्या के घर में

उसी समय रमण वेश्या के घर आ पहुँचा । उसके पीछे-पीछे हाथ मे खिचा हुआ तीर कमान लेकर मकरध्वज अपने मित्र भय के साथ आ रहा था और कभी-कभी अपने तीरो से उस पर वार भी कर रहा था । महल के द्वार पर ही रमण ने कुन्दकलिका को देखा । उसे देखते ही रमण को इतना अधिक हर्ष हुआ मानो उसे नवजीवन प्राप्त हो गया हो, मानो उसके सम्पूर्ण शरीर पर अमृत-सिंचन हो रहा हो, मानो उसे हीरे माणक का रत्न भण्डार मिल गया हो या उसका किसी बडे राज्य की राजगद्दी पर राज्याभिषेक हो गया हो । उसी समय मदनमञ्जरी घर से बाहर निकली । उसने रमण को घर के द्वार पर खड़ा देखा । वह समझ गई कि आज इसके पास कही से कुछ पैसे आये है । उसने इशारे से अपनी जवान पुत्री को समझाया कि आज रमण आया है जिसे लूटना है। सकेत होते ही कुन्दकलिका ने ऊपरी हाव-भाव से अपनी सुन्दरता का प्रदर्शन करते हुए प्रेम-दृष्टि से रमण की तरफ देखा जिससे वह निहाल हो गया । अवसर देखकर मकरध्वज ने भी इसी समय एक तीर अपने कान तक खीचकर वेग से रमण पर चलाया जिससे उसका हृदय आर-पार कामविद्ध हो गया और उसने कुन्दकलिका को अपनी भुजाओ मे ले लिया तथा उसे लेकर उसके महल में प्रविष्ट हुआ । वृद्धा मदनमञ्जरी उस समय वहाँ आ पहुँची और उसने रमण से रुपये और अन्य सभी वस्तुए ले ली । उसके कपड़े भी उतरवा लिये और उसे एकदम नगा कर दिया, फिर बोली—लड़के ! यह तो तूने बहुत अच्छा किया कि तू यहाँ आ गया । कुन्दकलिका तुझे बार-बार याद करती थी, पर देख अपने राजा का पुत्र चण्ड भी अभी यही आने वाला है, अतः थोडी देर के लिये तू कहीं छिप जा । (यदि वह तुझे यहाँ देख लेगा तो बहुत क्रोधित होगा और सम्भव है क्रोधित होकर तुझे मार भी दे ।)

रमण की मृत्यु

इस बात को सुनते ही भय ने रमण के शरीर मे प्रवेश कर लिया। इसी समय वेश्या के द्वार पर चण्ड आ पहुँचा। चण्ड के आने से वेश्या के महल मे प्रसन्नता का कलरव हुआ। उसे आया जानकर भय ने अपना अधिक प्रभाव जनाया। रमण थर-थर कांपने लगा, भयभीत हुआ और घबरा गया। अचानक चण्ड महल में आ पहुँचा। रमण को देखते ही वह क्रोधित हुआ और तलवार खीचकर * उसे द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारा। बेचारा रमण दीन, निर्लज्ज और नपुंसक जैसा हो गया। भय से घबराकर अपनी अंगुलियाँ मुँह मे ठूंसते हुए उसने चण्ड को अष्टांग प्रणाम कर जमीन पर लेट गया। 'अरे प्रभो! मेरी रक्षा करें! मेरी रक्षा करें!' कहते हुए उसकी आँखों मे से आसू निकल आये। चण्ड को दया आ गई, इसलिये उसने उसे जान से तो नही मारा किन्तु उसकी चोटी, नाक और कान काट लिये, दाँत तोड़ दिये, नीचे का होठ फाड दिया, दोनों गाल काट दिये और एक आँख फोड़ दी तथा लात मारकर धक्के देकर उसे महल से बाहर निकाल दिया। उसकी बुरी दशा देखकर मदनमञ्जरी और कुन्दकलिका तालियाँ बजा-बजा कर खिलखिलाकर हँसने लगी। वे दोनो मधुर वचनों से चण्ड की चापलूसी कर रही थी जिससे वह अधिकाधिक उनकी ओर आकर्षित हो रहा था। रमण जर्जरित होकर कठिनता से बाहर निकला उसका पूरा शरीर मार से टूट रहा था। बाहर राजसेवको ने उसे मारा। इस प्रकार मार-पिटाई के नारकीय दु:ख सहते हुए वह (उसी रात) मर गया।

गणिका-व्यसन का दुष्परिणाम

प्रकर्ष - आह! मामा। यह तो बहुत अद्भुत घटना घटी। अहो! मकरध्वज की शक्ति सचमुच ही आश्चर्यजनक है। अहो! भय का विलास भी ऐसा ही शक्तिशाली है। अहो! उस वृद्धा कुट्टनी मदनमञ्जरी का प्रपञ्च भी बड़ा गजब का है। अहो! सचमुच ही रमण का चरित्र तो अत्यन्त ही करुणाजनक और हास्योत्पादक नाटक जैसा लगता है।

विमर्श—वत्स! अन्य जो भी मानव वेश्या के व्यसन में आसक्त होते है, उन सभी की ऐसी ही दुर्गति होती है, इसमे कुछ भी सशय नहीं। वेश्या के सुन्दर वस्त्र, आकर्षक आभूषण ताम्बूल, सुगन्धित द्रव्य, सुवासित पुष्पहार और मादक विलेपन की सुगन्धी से बेचारे लोगो को इन्द्रियाँ ऐसी कुण्ठित हो जाती हैं कि वेश्या प्राकृतिक अशुचि से भरी हुई है और अनिच्छनीय अपवित्र पदार्थों की थैली है, इसका उन्हे स्मरण ही नही रहता। ऐसे मूर्ख लोग जीती-जागती विष्ठा की कोठी का आलिंगन कर, कठिनाई से प्राप्त धन का नाश दुरुपयोग करते हैं, अपने कुल को कलंकित करते हैं, और भिखारी जैसे हो जाते हैं। अत्यन्त दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी एक बार वेश्या के फंदे मे पड़ने के पश्चात् वे उसकी आसक्ति

* पृष्ठ ४१०

को छोड नही सकते। फिर वेश्या-व्यसन मे फसे लोग ऐसे अनेक प्रकार के नाटक करते है और असह्य दु ख प्राप्त करते है। वत्स ! इसमे आश्चर्य क्या है ? भाई ! जब कुलवती स्त्रियाँ भी स्वभाव से ही चञ्चल चित्त वाली होती है तब गणिका जैसी कुलटा स्त्रियो का तो कहना ही क्या ? वे यदि एक को छोड कर दूसरे का साथ करे तो इसमे आश्चर्यजनक प्रश्न ही क्या ? जब कुलवती स्त्रियाँ भी माया की छाब और गुप्त कपट करने वाली होती है तब अनुभवी गणिकाओ की माया/कपट की तो बात ही क्या ? जब अन्य कुलवान स्त्रियाँ भी स्नेह को तिलाजलि दे देती है तब वेश्या के स्नेह पर विश्वास करने वाले को तो मूर्खशिरोमणि ही कहा जा सकता है। एक को अमुक समय मिलने का सकेत करती है, उसी समय दूसरे को प्रेम से देखती है उसी वक्त घर मे तीसरा व्यक्ति उपस्थित रहता है। अपने मन मे किसी अन्य की लगन लगी होती है और किसी अन्य को अपने पास मे सुलाती है, ऐसा वेश्या का चरित्र है। जब तक उसका स्वार्थ सधता है तब तक अनेक प्रकार की चापलूसी करती है, मधुर वचन बोलती है, प्रेम प्रदर्शित करती है, पर जैसे ही उसका धनरूपी रस नष्ट हो जाता है वैसे ही लाक्षा का रस चू जाने पर अलता के समान छोड़ देती है, अर्थात् चूसे हुए आम की गुठली की तरह उसे निकाल फेकती है। वेश्या तो सार्वजनिक शौचालय जैसी है। जो उस पर * आसक्त होते है वे मनुष्य नही श्वान है। जो पापी लोग वेश्या-व्यसन मे आसक्त होते है उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। [१-१२]

प्रकर्ष मामा ! आपका कथन पूर्ण सत्य है, इसमे तनिक भी सन्देह नही है।

२६. विवेक पर्वत से अवलोकन

विमर्श और प्रकर्ष ने रात्रि का शेष भाग किसी मन्दिर मे बिताया। जैसे बीमार बालिका पीली तेजहीन और केश-विहीन हो जाती है उसी प्रकार उस समय आकाश की शोभा पीली पड गयी, तारे छिपने लगे और अन्धकार नष्ट होने लगा। आकाश-लक्ष्मी की शोभा को पुन: स्थापित करने के लिये करुणापूर्वक सूर्य वैद्य बनकर पहुँच गया। उषा काल का आकाश अब फिर रक्तिम आभा ने चमक उठा। आकाश लाल मेघमाला से सुशोभित हो गया। चन्द्रमा कातिहीन हो गया। चोर छिप गये, मुर्गे बाग देने लगे, उल्लू चुप हो गये, गिलहरिये जोर-जोर से बोलने लगी और जगत्-लक्ष्मी के आरोग्य की कामना से सब लोग अपने दैनिक कार्यो एव धर्म-कार्यो मे उद्यत होने लगे। आकाश-लक्ष्मी की शोभा-महत्ता मे वृद्धि हाने के कुछ देर

---

* पृष्ठ ४११

बाद सूर्य उदय हुआ, कमल विकसित हुए, चकवों का वियोग काल पूरा हुआ और धर्मपरायण लोग प्रभु का नाम स्मरण करने लगे। [१-६]

विवेक पर्वत पर

ऐसे शांत प्रभात के समय में मामा प्रकर्ष से बोला—भाई! तुझे तो नये-नये कौतुक देखने की बहुत अभिलाषा है और यह भवचक्र नगर तो बहुत बड़ा है जहाँ नित्य नयी-नयी घटनाएं होती ही रहती हैं। अपने लौटने का समय निकट आ गया है, अब समय बहुत थोड़ा बचा है और देखने को बहुत अधिक पड़ा है। प्रत्येक स्थान को सूक्ष्मता से देखना सम्भव नहीं, अतः वत्स! मैं कहूँ ऐसा कर जिससे थोड़े समय में अनेक कौतुक देखने की तेरी कामना पूर्ण हो जाय और मर्यादित समय में ही वापस लौट चलें। कुछ दूरी पर तुम्हे जो पर्वत दिखाई दे रहा है, वह अत्यधिक ऊंचा है, श्वेत है, स्फटिक जैसा निर्मल है, प्रभावशाली है और बहुत विस्तृत है। यह पर्वत संसार में विवेक के नाम से प्रसिद्ध है। यदि हम इस पर्वत पर चढ़कर देखेंगे तो भवचक्र नगर में होने वाली समस्त विचित्र घटनायें जो घटित होती हैं वे सभी दिखाई देंगी। अतः हे वत्स! चलो, हम इस पर्वत पर जाकर निपुणता के साथ सभी दृश्य देखें। यदि तुम्हें कुछ समझ में न आये तो मुझे पूछ लेना, मैं तो तुम्हारे साथ ही हूँ। इस प्रकार यदि भवचक्र नगर का सारा दृश्य यदि तुम एक साथ देख लोगे तो फिर तुम्हारे मन मे कोई उत्सुकता शेष नहीं रहेगी। प्रकर्ष को भी मामा की यह बात रुचिकर लगी और दोनों सन्तुष्ट होकर विवेक पर्वत पर चढ़ गये। [७-१४]

कपोतक और द्यूत (जुआ)

प्रकर्ष—अहा मामा! यह महागिरि तो बहुत ही रमणीय है। यहाँ से तो पूरा भवचक्र नगर चारों तरफ से दृष्टिगोचर हो रहा है। आपने तो बहुत सुन्दर उपाय बताया। मामा! अब मैं एक बात पूछता हूँ, उसे समझाइये। देखिये, उस देवकुल (मन्दिर) में एक आदमी बिलकुल नंगा, ध्यानमग्न और चारों ओर से कुछ लोगों से घिरा हुआ है। यह कंगाल जैसा, भूखा-प्यासा, बिखरे बालों वाला, हाड-पिंजर जैसा दिखाई दे रहा है, जो यहाँ से भागने के प्रयत्न में है, चारों तरफ दिङ्मूढ सा देख रहा है, इसके हाथ सफेद खड़ी जैसे हो गये हैं और पिशाच जैसा लग रहा है, यह पुरुष कौन है? [१५-१७]

विमर्श—वत्स! यह अतुल वित्त-सम्पत्ति वाले अति प्रख्यात कुबेर सार्थवाह नामक सेठ का पुत्र कपोतक है। उस समय की अपनी स्थिति के अनुसार इसके पिता ने इसका नाम धनेश्वर रखा था जो 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति से ठीक ही था, क्योंकि उस समय यह अतुल सम्पत्ति का स्वामी था। वर्तमान स्थिति के अनुसार लोगों ने इसका नाम कपोतक (कबूतर जैसा भोला अथवा कुपुत्र) रखा है, जिसे इसने सच्चा कर दिखाया है। महामूल्यवान रत्नों एवं सोने से भरे हुए अपने

* पृष्ठ ४१२

पिता के घर को इस पापी पुत्र ने अपने पाप कर्मो से श्मशान जैसा बना दिया है। इसे जुआ खेलने का ऐसा रस लगा है कि किसी अन्य कार्य के बारे मे तो यह सोच ही नही सकता। समय-असमय यह सिर्फ जुआ खेलने का ही विचार करता रहता है। जब अपनी सब पूजी जुए मे गवा चुका तब जुआ खेलने के लिये चोरो द्वारा धन इकट्ठा करने लगा। इसने इस नगर मे अनेक बार चोरियाँ की है, कई बार रगे हाथो पकडा गया है और इसकी जमकर खूब पिटाई भी हुई है। मान्य सेठ का लडका होने से राजा ने इसे मारा नही, फिर भी यह अपने कुव्यसन का त्याग नही कर सका। आज रात मे जुआ खेलते हुए यह अपने कपडे तक सभी कुछ हार बैठा। पर, इसे तो जुए मे ऐसा रस लगा था कि जब दाव पर लगाने को कुछ भी शेष नही बचा तो इसने अपना सिर ही दाव पर लगा दिया। इन महाधूर्त जुआरियो ने जो इसके चारो ओर खडे है, उसे इस अन्तिम बाजी मे भी हरा दिया और अब उसका सिर काटने के लिये उसे नचा रहे है। यह भी अपने पाप से इतना भर गया है कि यहाँ से भाग भी नही सकता और खडा-खडा अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करते करते उद्विग्न एव सन्तप्त हो रहा है। यहाँ से भाग जाने का अवसर ही इसे नही मिल रहा है, क्योकि जुआरियो का इस पर कड़ा पहरा है। [१८-२५]

द्यूत-दोष : पर्यालोचन

प्रकर्ष—मामा ! क्या इस बेचारे को यह मालूम नही है कि जुआ ससार मे समस्त प्रकार के अनर्थो का मूल है। धन का क्षय करने वाला, अत्यन्त निन्दनीय, उत्तम कुल व आचार को दूषित करने वाला, सर्व पापो का उद्भव स्थान और लोगो मे अपयश एव लघुता प्राप्त करवाने वाला यह जुआ है। यह जुआ अनेक प्रकार के मानसिक क्लेशो का मूल, लोगो के विश्वास को समाप्त करने वाला और पापी लोगो द्वारा प्रवर्तित है, क्या यह इस बात को नही जानता ? [२६-२८]

विमर्श—यह बेचारा महामोह राजा की सेना के वशीभूत हो गया है, अतः अब यह क्या कर सकता है ? क्योकि जो प्राणी पहले ही स्वय अधम होते है और फिर वे विशेष रूप से महामोह के वशीभूत हो जाते है वे ही जुआ खेलते है, उसमे गृद्ध होते है और उसके कटुफल भोगते है। [२९-३०]

विमर्श यह बता हो रहा था कि इतने मे उन जुआरियो ने कपोतक का सिर धड़ से अलग कर दिया। ऐसा बीभत्स दृश्य देखकर प्रकर्ष बोल पडा—ओह मामा ! जो प्राणी महा अनर्थकारी जुआ खेलते है, उसकी ऐसी ही गति होती है ? [३१-३२]

विमर्श—भाई ! तू ने ठीक ही देखा। तू ने वास्तविकता को समझा है। जो प्राणी जुआ खेलने मे आसक्त होते है, उन्हे इस भव मे या परभव मे लेशमात्र भी सुख नही मिलता। [३३]

ललन और मृगया (शिकार)

इसी बीच प्रकर्ष की नीलकमल-पत्र जैसी दृष्टि एक घने जगल पर पडी। जगल की तरफ अपने हाथ से सकेत करते हुए वह बोला—मामा! देखिये, दूर एक पुरुष घोडे पर बैठा हुआ दिखाई दे रहा है। उसके शरीर से पसीना बह रहा है और वह थका हुआ सा लग रहा है। उसके हाथ में शस्त्र उठाया हुआ है और वह पापी किसी प्राणी को मारने के लिये तत्पर हो ऐसा लग रहा है। स्वय इस समय चारो ओर से दु ख से घिरा हुआ होने पर भी जगल के प्राणियो को दु ख देने को उद्यत है। अभी मध्याह्न की भरी धूप मे यह भूख से तडफडा रहा है, प्यास से इसका गला सूख रहा है, फिर भी सियार के पीछे-पीछे दौड रहा है, यह पुरुष कौन है? [३४–३७]*

विमर्श—इसी मानवावास के ललितनगर का यह ललन नामक राजा है। इसे शिकार का गहरा शौक है। यह इस व्यसन मे इतना अधिक लुब्ध है कि अन्य किसी विषय पर सोच ही नही सकता। यह इस भीषण जगल मे रात-दिन पडा रहता है और अवसर देखकर शिकार के लिये दौड पडता है। इसके सामन्तों, स्वजन-सम्बन्धियो, प्रजाजनो एव मन्त्रियो ने इसे बार-बार शिकार से रोका, पर इसे तो मास खाने की ऐसी लत लगी थी कि इसने किसी की नही सुनी। राज्य के सब काम बिगडते देखकर सारा राज्यमण्डल इसके विरुद्ध हो गया। राज्य के हितचिन्तक अधिकारियो (मुतसद्दियो) ने इस स्थिति को देखकर विचार किया कि यह दुरात्मा शिकारी राजा अब इस राज्यलक्ष्मी के योग्य नही रहा, अत अब इसका राजगद्दी पर रहना नीति-सगत नही है। इस विचार से राज्यमण्डल ने ललन के पुत्र का राज्याभिषेक कर इसे राज्य और महल से निकाल दिया। तथापि इसकी शिकार और मास-भक्षण पर इतनी अधिक आसक्ति है कि यह पिशाच के समान अकेला ही महा दु खदायी अवस्था को भोगता हुआ सर्वदा जगल मे पडा रहता है पर अपने शौक को नहीं छोड सकता। 'मू जडी जल जाय पर बट न जाय' अथवा 'हाल जाय हवाल जाय पर बन्दे का खेल न जाय' कहावत को इसने चरितार्थ कर दिया है। [३८–४४]

मृगया और मांस-भक्षण के दोष

हे वत्स! अन्य हिंसक प्राणी जो अन्य द्वारा मारे हुए जीवो का मास खाते हैं वे भी जब इस भव और परभव मे अनेक दु ख-परम्परा को प्राप्त होते है, अनेक प्रकार की पीडा सहते है तब जो महापापी प्राणी क्रूर बनकर स्वय ही अन्य जीवों को काटते हैं, जीवित प्राणियो पर तलवार चलाते है, तीर या फरसा चलाते हैं और उसका मास खाते हैं, उन्हे इस भव मे ऐसे ही दु ख प्राप्त होते है और परभव मे वे भयकर नरक मे पड़ते है, इसमे लवलेश भी सन्देह नही है। भाई! (मास देखने मे भी बीभत्स लगता है, उसे देखकर उल्टी होती है), यह अपवित्र वस्तु का पिण्ड है,

* पृष्ठ ४१३

अत्यन्त निन्दनीय है, महारोग का कारण है और अनेक छोटे-छोटे जीवो का समूह है। ऐसे मांस को राक्षसो की तरह खाने वाले स्वयं राक्षस है। जो मांस खाने मे धर्म मानते है, जो धर्म क्रिया मे मांस खाने को कर्त्तव्य समझते है, जो धर्म-बुद्धि से स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से मास-भक्षण करते है, ऐसे अधिक जीने की इच्छा वाले लोग वस्तुतः निश्चित रूप से तालपुट विष का भक्षण करते है। बेचारे नही समझते कि तालपुट विष खाने से जीवन बढता नही वरन् उसका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार मास खाने वाले को स्वर्ग नही मिलता वरन् वह महान् भयंकर नरक मे जाता है। 'अहिंसा परमो धर्मः' जीव-हिंसा न करना उत्कृष्ट धर्म है। यह धर्म मास-भक्षण से कैसे पाला जा सकता है? यदि हिंसा से धर्म होता हो, या हो सकता हो तो अग्नि भी बर्फ जैसी ठण्डी हो सकती है। मांस-भक्षण के कितने दोषो का वर्णन करू? धर्मबुद्धि से या रसगृद्धि से जो व्यक्ति मास खाते है, अथवा मास-भक्षण के लिये प्राणियो का नाश करते है वे नरक की अग्नि मे पकाये जाते है और महान् दुःखो को प्राप्त करते है। वर्तमान मे भी जैसे यह ललन सियार को मारने के लिये व्यर्थ परेशान हो रहा है, त्रास सहन कर रहा है, भूखा-प्यासा जगल-जगल भटक रहा है, इसी प्रकार शिकार के शौकीन सभी प्राणी हैरान होते है, दुःखी होते हैं और त्रास प्राप्त करते है। [४५-५२]

इस प्रकार जब विमर्श अपने भाणेज प्रकर्ष को ललन के सम्बन्ध में बता रहा था तब ललन का क्या हुआ यह भी सुनिये। सियार के पीछे दौडते-दौडते उसे पकड कर उसका शिकार करने के लोभ से उसने घोडे को एड लगाई। घोडा ऊची-नीची जमीन पर सरपट दौडने लगा। इतने मे एक बडा खड्डा आया जो घास फूस से ढक गया था। दौडता हुआ घोडा राजा सहित खड्डे मे गिर पडा। वे दोनो इतनी बुरी तरह गिरे कि राजा का सिर नीचे और शरीर ऊपर, जिससे उसके शरीर का चूरा-चूरा हो गया। ऊपर से घोडे का भार और उसके पावो की मार से राजा पूरा दब गया। ललन बहुत चिल्लाया, पुकार मचाई, पर कोई उसकी सहायता के लिये नही आया और महान वेदना को सहन करता हुआ खड्डे मे पडा पडा मृत्यु को प्राप्त हुआ। [५३-५४]

प्रकर्ष बोला—मामा! शिकार का कुफल इसे तो यहाँ का यहाँ ही मिल गया।

उत्तर मे विमर्श ने कहा—अरे! यह फल तो कुछ भी नहीं* यह तो मात्र पुष्प है। अभी तो अगले भव में महा भयंकर नरक में जाकर लम्बे समय तक अत्यन्त दयनीय स्थिति को प्राप्त करेगा तब इसे इसको फल प्राप्त होगा। ऐसे भयंकर पापो के फल इतने से अल्प/थोडे ही होते है। आश्चर्य की बात तो यह है इतने घोर कटु परिणामो को जानकर भी प्राणी मांस खाता है और प्राणियों की हिंसा करता है। [५५-५६]

* पृष्ठ ४१४

दुर्मुख और विकथा

मामा-भाणेज ने दूसरी तरफ देखा कि एक पुरुष खड़ा है, उसके पास में राजा के पुरुष खड़े हैं। क्रूर राजपुरुष उस व्यक्ति की जीभ खींच कर उसके मुँह में तपाया हुआ तांबा उंडेल रहे हैं। ऐसे भयंकरतम दृश्य को देखकर प्रकर्ष के मन में अतिशय ग्लानि हुई।

उपरोक्त दृश्य देखकर दया से व्याप्त चित्त वाला प्रकर्ष बोला—अहो मामा! ये राजपुरुष निर्घृण होकर इस व्यक्ति को किसलिये इतनी भयंकर पीड़ा दे रहे हैं। [५७-५८]

विमर्श—मानवावास के अन्दर चणकपुर नामक एक छोटे नगर का निवासी यह सुमुख नामक बड़ा धनवान सार्थवाह है। बचपन से ही इसकी भाषा में अत्यधिक कड़वाहट और कठोरता है। लोग इसे दुर्मुख नाम से बुलाने लगे, क्योंकि इसकी वाणी में कटुता और कर्कशता भरी हुई है। इसका ऐसा स्वभाव हो गया था कि कोई उसके पास स्त्री सम्बन्धी चर्चा करे, भोजन सम्बन्धी बात करे, राज्य चर्चा करे या देश कथा करे तो इसे अत्यधिक रुचिकर प्रतीत होती तथा ऐसी स्त्री, भोजन, राज्य या देश की चर्चा का कोई भी प्रसंग आने पर यह अपने मुँह को वश में नहीं रख सकता था।

इधर चणकपुर के राजा तीव्र को एक बार अपने शत्रु से युद्ध करने के लिये जाना पड़ा और युद्ध में शत्रुओं को तीव्र राजा ने हरा दिया। जब तीव्र राजा ने शत्रुओं की तरफ कूच किया था तब दुर्मुख ने यह अफवाह फैलाई कि 'हमारे शत्रु बहुत ही बलवान हैं, वे अवश्य ही हमारे राजा को हरा देंगे और अपना नगर लूटने के लिये यहाँ आयेंगे, अतः जिनमें शक्ति हो उन्हें अवश्य यह नगर छोड़ कर भाग जाना चाहिये।' इस अफवाह के फैलने से पूरे नगर के लोग नगर को खाली कर भाग गये। युद्ध जीतकर तीव्र राजा जब वापस चणकपुर लौटा तो उसने देखा कि पूरा नगर उजड़ गया है। जब राजा ने इसके कारण का पता लगाया तो किसी से उसे मालूम हुआ कि दुर्मुख ने ऐसी अफवाह फैलाई थी जिससे लोग घबरा कर भाग गये। यह सुनकर तीव्र राजा दुर्मुख पर बहुत क्रोधित हुआ। राजा द्वारा लोगों को सन्तोष दिलाने से नगर फिर से बस गया, पर दुर्मुख ने कैसा जघन्यतम अपराध किया था! उसने राज्य-विरुद्ध कैसी झूठी अफवाह फैलाई थी! उसकी खुली जाँच के पश्चात् राजा ने उसे जो दण्ड दिया उसी के फलस्वरूप राजपुरुष लोगों के समक्ष उसे पिघला हुआ तांबा पिला रहे हैं।

विकथा (दुर्भाषण) पर विचारणा

प्रकर्ष—अहो मामा! केवल दुर्भाषण मात्र (झूठी अफवाह फैलाने) से दुर्मुख को इतना भयंकर कष्ट भोगना पड़ रहा है, यह तो बहुत ही कष्टकारक घटना है। [१]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! ऐसा कुछ नही है। जिनका स्वभाव विकथा (दुर्भाषण) करने, झूठी अफवाहे फैलाने का होता है और जो अपनी वाणी को वश मे नही रख सकते उन दुरात्माओ के लिये यह दण्ड कुछ भी नही है। हे भद्र! जो अपनी जिह्वा को इस प्रकार खुली छोड देता है और बिना कारण लोगो के दिलो मे वैर-विरोध का विष घोलता है तथा बिना प्रयोजन सताप पहुँचाता है, वह तो दण्ड का पात्र है ही। जो सोच समझकर बोलते है, जिनकी भाषा सत्य से पूर्ण है, जिनके वचन ससार को आनन्द देने वाले है, जो योग्य समय पर भी सीमित ही बोलते है, जो बुद्धिपूर्वक विचार कर ही बोलते है, ऐसे सर्व गुण-सम्पन्न प्राणी भाग्यशाली है, महात्मा है, प्रशसनीय है, मनस्वी है, वन्दनीय है, सत्य मे दृढ विश्वास वाले है और ससार मे उनकी वाणी अमृत तुल्य है। अन्य जो अपनी जिह्वा को खुली छोड देते है, वक्त-बेवक्त कुछ भी बक देते है उन्हे इस दुर्मुख जैसा दण्ड मिले तो क्या आश्चर्य है! हे वत्स ! जो प्राणी प्रामाणिक, मधुर और हितकर भाषा (वाणी) बोलता है उसे यह भाषा कष्ट से छुड़ाती है, * पर जो उद्धतता से खुले मुँह जैसा-तैसा बकता है, उसे (पाँच मुश्कों से) बधवाने मे भी यही कारणभूत होती है। विकथा की कुटेव के कारण दुर्मुख ने झूठी अफवाह फैलाई जिसके फलस्वरूप उसे इस भव में ऐसा कठोर दण्ड मिला और अभी तो परभव मे उसकी दुर्गति होना शेष है। [२-८]

हर्ष और विषाद

विकथा पर तत्त्व-चर्चा चल ही रही थी, तभी प्रकर्ष ने राज-मार्ग पर एक श्वेत वस्त्रधारी मनुष्य को देखा। उसे जानने के लिये उसने विमर्श से पूछा—

उत्तर मे विमर्श ने कहा— वत्स ! यह रागकेसरी का एक योद्धा है, इसका नाम हर्ष है। इस मानवावास नगर मे वासव नामक एक व्यापारी रहता है। अनेक प्रकार के धन-धान्य से पूर्ण इस वासव का यह घर है। बचपन से ही इसकी धनदत्त नामक व्यक्ति से मित्रता हो गई थी। दोनो मे प्रगाढ स्नेह था, पर किसी कारणवश बाद मे वे दोनो अलग हो गये थे। आज बहुत वर्षो के बाद वे मिले है। वासव को अपने मित्र से प्रगाढ स्नेह था अत आज धनदत्त से मिलकर वह प्रबल हर्षित हुआ है। इसी कारण से यह हर्ष आज सेठ के घर मे प्रविष्ट हुआ है। वहाँ जाकर वह क्या-क्या करता है, देखो। [९-१३]

हर्ष मानवावास मे आकर कैसे-कैसे कौतुक करता है, इस जिज्ञासा से प्रकर्ष नेत्र विस्फारित कर देखने लगा। जिस समय धनदत्त और वासव का मिलन हुआ, उसी समय रागकेसरी का योद्धा हर्ष वासव सेठ और उसके कुटुम्ब के शरीर मे प्रविष्ट हो गया। परिणामस्वरूप वासव सेठ का घर आनन्द और हर्ष से परिपूर्ण हो गया। अपने मित्र से मिलने की प्रसन्नता मे सेठ ने अपने सभी स्वजन बन्धुओ

---

* पृष्ठ ४१५

को बुलाकर बडा उत्सव मनाया। फिर तो वहाँ नृत्य-गायन होने लगे, वादित्र बजने लगे, ढोल तासे गू जने लगे। बहुत वर्षो बाद मिले अपने मित्र धनदत्त की खुशी मे वासव सेठ के घर में आनन्द उत्साह फैल गया। सभी कुटुम्बीजनो ने उत्तम वस्त्राभूषण धारण किये और सब को प्रमोदकारक सुस्वादु भोजन कराया गया। क्षणमात्र मे इतने अधिक आनन्द-कल्लोल को देखकर बुद्धिनन्दन प्रकर्ष के मन में विस्मय हुआ और नये-नये कौतुक देखने की उसकी इच्छा सन्तुष्ट हुई। कौतुक मिश्रित आनन्द मे उसने विमर्श से पूछा—मामा! वासव सेठ का घर हर्ष-कल्लोल से नाच उठा है और इतनी अधिक धूमधाम हुई है, क्या यह सब नाटक हर्ष ने कराया है? उत्तर मे विमर्श शान्ति से बोला—हाँ भाई, तेरा सोचना ठीक ही है। जब बिना किसी कारण किसी स्थान पर ऐसा आनन्द का प्रसग आ जाय, तब समझ लेना चाहिये कि उसका कारण हर्ष ही है। [१४–२०]

जिस समय वासव सेठ के घर मे आनन्द मनाया जा रहा था उसी समय प्रकर्ष ने एक अत्यन्त भयकर आकृति वाले काले मनुष्य को घर के द्वार मे प्रवेश करते देखा और अपने मामा से पूछा—मामा! यह अत्यन्त अधम पुरुष यहाँ कौन आ पहुँचा?

विमर्श—भाई! यह तो शोक का अन्तरग मित्र विषाद नामक अत्यन्त कठोर और भयकर पुरुष है। देख, वह जो पथिक यात्री आ रहा है, यह बहुत दूर से चलकर आया है और यह वासव सेठ के घर मे जायेगा। उसी के साथ यह विषाद भी उसके घर मे प्रविष्ट होगा, ऐसा लग रहा है। [२१–२३]

मामा-भाणेज विवेक पर्वत पर खडे-खडे बातचीत कर ही रहे थे कि वह यात्री वासव सेठ के घर मे प्रविष्ट हुआ और उसने सेठ को एकान्त में ले जाकर कोई गोपनीय सदेश कह सुनाया। जिस समय पथिक सेठ से बात कर रहा था उसी समय विषाद सेठ के शरीर में प्रविष्ट हुआ। यात्री की बात सुनते ही सेठ तुरन्त चेतना-शून्य मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा।* आनन्द कल्लोल रुक गया और सभी कुटुम्बी घबरा कर उसके पास दौडे और 'अरे! क्या हो गया? हाय क्या हो गया?' कहते हुए, विलाप करते हुए जोर-जोर से पूछने लगे। सेठ को पखा किया गया, अन्य शीतल प्रयोग किये गये तब थोडी देर बाद उसकी चेतना लौटी। मूर्छा जाते ही वासव सेठ विषाद पूर्ण प्रलाप करते हुए रोने लगा, 'अरे पुत्र! बेटे! मेरे सुकुमार फूल! कुलश्रृंगार! अरे भाई! मेरे किन कर्मों के कारण तेरी ऐसी अवस्था हुई? हे पुत्र! मैंने तुझे बहुत रोका था, पर मेरे पाप के उदय के कारण तू घर से निकल गया और दयाहीन दैव ने तेरी यह स्थिति बना डाली। अरे! मैं तो मर गया। मेरी आशायें भग हो गई। अरे! मै लुट गया। मेरी सारी चतुराई नष्ट हो

---

* पृष्ठ ४१६

गई। अरे भाई ! तेरी ऐसी गति (अवस्था) हो जाने पर अब मैं जिन्दा क्यों हूँ ? अब मैं जीकर क्या करूँगा ? हाय मैं मर क्यों नहीं गया ? [२४-३०]

सेठ इस प्रकार विलाप कर ही रहा था कि विषाद अपने अनेक रूप धारण कर उसके स्वजन-सम्बन्धियों के शरीर में प्रविष्ट हो गया। विषाद की शक्ति से वासव के स्वजन-सम्बन्धी भी हाहाकार करने लगे, जोर-जोर से रोने लगे, विलाप करने लगे। क्षणभर पहले जो घर हर्ष के आवेश में कल्लोल कर रहा था वह आनन्दरहित हो गया और लोग शोक से विह्वल एवं दीन जैसे दिखाई देने लगे। स्त्रियाँ और नौकर भी रोने लगे, जिससे चारों ओर शोक तथा विषाद फैल गया। यह देखकर प्रकर्ष को कौतुक हुआ और उसने पूछा—मामा ! इस वासव के घर में अचानक विपरीत नाटक होने लगा, इसका क्या कारण है ? ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन कैसे हो गया ? [३१-३४]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! मैंने तुम्हें पहले ही बताया था कि इन बाह्य लोक के मनुष्यों का सम्पूर्ण आधार अन्तरंग मनुष्यों पर आधारित है। देख, यहाँ पहले तो हर्ष ने आकर आनन्द का नाटक कराया, फिर विषाद आ पहुँचा और उसने उलटा नाटक करवाया। इस प्रकार कभी हर्ष आनन्द करवाता है तो कभी विषाद शोक करवाता है, तब इस संसार के बाह्य लोक के पामर प्राणी क्या करें ? इसमें इनका तो कुछ चलता ही नहीं। (हर्ष या विषाद उन्हें जिस तरफ धकेल दे उसी तरफ आड़े-तिरछे धक्के खाते रहते हैं। गिरते हैं, उठते हैं और फिर गिरते हैं, इनके ऐसे हाल होते ही रहते हैं।) हर्ष और विषाद थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से इन्हें नचाते ही रहते हैं अर्थात् विडम्बना देते ही रहते हैं। [३५-३७]

प्रकर्ष—परन्तु, मामा ! उस पथिक यात्री ने आकर वासव सेठ के कान में ऐसी क्या गोपनीय बात कही कि जिससे पूरा कुटुम्ब ऐसे विषाद में पड़ गया ? [३८]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! सुन, इस सेठ के वर्धन नामक इकलौता पुत्र था। उस पर पिता का बहुत प्रेम था। वह शरीर से आकर्षक, रूप से रमणीय और तरुणाई से आच्छन्न था। सैकड़ों मनौतियों के बाद सेठ के यहाँ उसका जन्म हुआ था। बचपन से ही वह विनय परायण था। एक बार उसने स्वयं अपने परिश्रम से धन कमाने का निश्चय किया। पिता ने बहुत रोका पर एक दिन वह बड़ा सार्थ तैयार कर धन कमाने के लिये देशान्तरों में चला गया। इस बात को बहुत समय व्यतीत हो गया। विदेश में बहुत धन अर्जित कर वह वापस स्वदेश लौटने के लिये निकल पड़ा। लौटते हुए कादम्बरी नामक भयंकर जंगल में उसे धन के अर्थी चोरों ने मार-पीट कर उसका सब धन लूट लिया और सार्थ एवं सम्बन्धियों के साथ उसे बन्दी बना लिया। सेठ के पुत्र वर्धन को पकड़ कर वे रकर्मी चोर उसे अपनी पल्ली (बस्ती) में ले गये * उससे अधिक धन वसूल करने के लिये

* पृष्ठ ४१७

वे क्रूरकर्मी तस्कर उसे अनेक प्रकार की यातनाये दु.ख/कष्ट देने लगे। वत्स ! यह यात्री जो यहाँ आया है, इसका नाम लम्बनक है। यह सेठ के घर का दास है, सेठ के निरन्तर पग धोने वाला है नमक हलाल है। चोरों से पीड़ित अपने सेठ को देखकर किसी प्रकार वहाँ से भाग छूटा और यहाँ आकर इसने सब घटनाएं एकान्त में सेठ से कह सुनाई। इससे सारा वृत्तात सुनकर वासव सेठ के शरीर और मन मे कैसे-कैसे परिवर्तन हुए और आनन्द के स्थान पर मूर्छा आई, यह तो तूने स्वय देख ही लिया है। [३९-४८]

प्रकर्ष—मामा ! ये इतने अधिक रोते, चीखते-चिल्लाते और विलाप करते है, उससे क्या वर्धन बच जायगा ? [४९]

हर्ष-विषाद पर चिन्तन

विमर्श – नही, भाई ! इनके रोने, चिल्लाने और छाती-माथा कूटने से वर्धन का कोई बचाव नही हो सकता, उसकी स्थिति मे तृषमात्र भी अन्तर नही आ सकता। ये लोग इस बात को जानते भी है फिर भी इन लोगो को विषाद जैसे नचाता है वैसे ये सब नाचते है और व्यर्थ ही पीडित होते है। तू देखना, धनदत्त के आने के समाचार सुनकर ये हर्षित हो उठे और वर्धन की विपत्ति के समाचार सुन कर शोकमग्न हो गये। ये बेचारे हर्ष और विषाद से प्रेरित होकर बार-बार इतने पीडित एव व्यथित होते है कि इन्हे विचार करने या अपनी बुद्धि का उपयोग करने का समय ही नही मिल पाता। ये पामर तो हर्ष और विषाद के वशीभूत होने के बाद वस्तु-तत्त्व का थोड़ा भी चिन्तन नही कर पाते। हमें क्या करने से क्या लाभ होगा और क्या करने से क्या हानि होगी, इस विषय मे बिना सोचे ही वे व्यर्थ मे ही अनेक प्रकार की विडम्बनाए प्राप्त करते है। भाई प्रकर्ष ! तुझे एक बात और कहूँ, ये हर्ष और विषाद वासव सेठ के घर मे ही ऐसा नाटक करवा रहे हो, ऐसी बात नही है। ये इतने प्रबल शक्तिशाली है कि इस भवचक्र मे किसी भी कारण को लेकर ये घर-घर मे लोगो को प्रतिदिन ऐसा ही नाच नचाते रहते है। दीर्घ दृष्टि-रहित अज्ञ प्राणी पुत्र-प्राप्ति, राज्य-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, मित्र-प्राप्ति आदि सुख के कारणों को प्राप्त कर हर्ष के वश में हो जाते हैं। हे वत्स ! सद्बुद्धिरहित हर्ष के वशीभूत प्राणी ऐसी-ऐसी चेष्टाए और आचरण करते है कि विवेकशील प्राणियो की दृष्टि मे हास्य के पात्र बनते हैं। परन्तु, ये मूर्ख लोग विचार नही कर सकते कि पुत्र, राज्य, धन, मित्र आदि जो भी सुख की सामग्री है वह उन्हे पूर्व जन्म मे किये हुए सुकृत्यो के फलस्वरूप प्राप्त हुई है। यह तो जमा-पूंजी का व्यय है। तब फिर कर्म पर आधारित इन अत्यन्त तुच्छ, बाह्य और थोडे समय मे नष्ट होने वाली साधारण वस्तुओं या स्नेहीजनों की प्राप्ति पर हर्ष किस कारण से ? (वस्तुत. रागकेसरी के योद्धा हर्ष के वशीभूत बेचारे प्राणी इस बात का विचार/चिन्तन ही नही कर सकते।) इसी प्रकार अपने किसी प्रिय का वियोग होने पर, या किसी अप्रिय व्यक्ति

से संयोग होने पर, या स्वयं को या अपने किसी स्नेही को व्याधि या विपत्ति में मग्न होने पर मूर्ख प्राणी तुरन्त ही विषाद के वशीभूत हो जाता है और रोने चिल्लाने लगता है, मन में सन्तप्त होता है तथा गरीब रंक जैसा बन जाता है। परन्तु, प्राणी यह नहीं सोचते कि जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल संयोग-वियोग होते हैं वे सब पूर्व भव में किये हुए कर्मों का संचित फल मात्र है। उस पर अपना किसी प्रकार का अंकुश नहीं रह सकता, इसलिये उस पर विषाद करने का अवसर ही कहां है। हे वत्स ! वे यह भी नहीं सोचते कि विषाद करने से प्राणियों के दुःख में कमी होने के स्थान पर वृद्धि ही होती है। विषाद से, दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता। दुःख से त्राण प्राप्त करने का तो ❀ एकमात्र उपाय शुभ प्रवृत्ति ही है। कारण यह है कि हे वत्स ! दुःख का मूल पाप है और शुभवृत्ति एवं शुभ चेष्टा से सब पापों का नाश होता है। जब पाप का ही नाश हो जायगा तब दुःख होगा ही कैसे ? [५०-६४]

प्रकर्ष—मामा ! यदि शुभ प्रवृत्ति का इतना अच्छा प्रभाव होता है और इतना सुन्दर परिणाम निकलता है, तब तो लोगों को इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। लोग जो बार-बार विषाद के वशीभूत हो जाते हैं, उन्हें उसके शासन से बाहर निकलना चाहिये। [६५]

विमर्श—भाई ! तूने बहुत अच्छी बात कही, परन्तु इस भवचक्र नगर के लोग इस यथार्थता को अभी समझ नहीं पाये हैं। [६६]

❀

२७. चार उप-नगर

विवेक पर्वत पर खड़े-खड़े मामा-भाणेज भवचक्र नगर की अनेक प्रकार की लीलायें/चेष्टायें देख रहे थे। भाणेज उनके सम्बन्ध में प्रश्न पूछता था और विमर्श उत्तर दे रहा था। इसी बीच मामा बोला—भाई प्रकर्ष ! यह भवचक्र नगर इतना लम्बा-चौड़ा और विशाल है कि इसमें घटित प्रत्येक कौतुक को तो तुझे कैसे दिखा सकता हूँ ? जहाँ तेरी दृष्टि पड़ेगी वहीं तुझे कुछ न कुछ नवीनता दिखाई देगी। वत्स ! तुझे इस नगर का स्वरूप जानने की विशेष जिज्ञासा है, अतः संक्षेप में मैं तुझे कुछ बातें समझाता हूँ। आज हम इस विवेक नामक अत्यन्त निर्मल पर्वत पर चढे हैं जिससे तू सभी दृश्य स्वयं अपनी आँख से देख सकता है। अतः इसके स्वरूप का वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? इसके गुणों का तो मैं वर्णन करता ही जा रहा हूँ जो तू सुन ही रहा है। अब मैं संक्षेप में भवचक्रपुर नगर के कुछ विशिष्ट दृश्यों का वर्णन करता हूँ जिसे तू ध्यान पूर्वक सुन। [६७-७०]

❀ पृष्ठ ४१८

उप-नगरों का परिचय

इस भवचक्र नगर में छोटे-छोटे अनेक उप-नगर हैं जिनका वर्णन करना तो दुष्कर है, पर उनमे से चार श्रेष्ठ एव मुख्य है, जिनके बारे में बताता हूँ। इनमे से प्रथम का नाम मानवावास, दूसरे का विवुधालय, तीसरे का पशुसंस्थान और चौथे का नाम पापीपिंजर है। इस भवचक्र नगर मे ये चार मुख्य उप-नगर है जो इस प्रकार व्याप्त हैं कि इसमें यहाँ के सभी निवासी समा जाते है। ये चारों उप-नगर भिन्न-भिन्न होने पर भी अन्दर से मिले हुए हैं, ऐसा लगता है। पर, वास्तव मे वे अलग-अलग है और उनके निवासी भी अलग अलग है। [७१-७३]

१. मानवावास

प्रथम उप-नगर मानवावास है जो महामोह आदि अन्तरंग प्राणियोसे व्याप्त है, जिससे वहाँ सब समय कलकल निनाद चलता रहता है अर्थात् धमाचौकड़ी चलती ही रहती है तथा बाहर से देखने पर जो जीता-जागता लगता है। इसमे कैसी धूम मची रहती है यह तो तू ने देखा ही है। कही कुछ लोगों को अपने प्रिय से मिलन होने पर हर्षातिरेक हो रहा है। कही अत्यन्त द्वेष उत्पन्न करने वाले मनुष्यो के सयोग से अति व्यग्रचित वाले दुर्जनो से भरा दिखाई देता है। कही यहाँ के निवासियो को थोडे से धन की प्राप्ति से ही प्रसन्नता हो रही है। कही किसी के धन का नाश हो जाने से अत्यन्त सन्ताप-संतप्त दिखाई दे रहा है। कही किसी को ढलती उम्र मे पुत्र प्राप्त होने से महोत्सव मनाया जा रहा है। कही अत्यन्त प्रिय सम्बन्धी के मरण से भयकर शोक से लोग अस्त-व्यस्त स्थिति वाले हो रहे है। कही सेनाओ के भीषण युद्ध के कारण कोई स्थान अत्यन्त भयंकर लग रहा है। कही बहुत समय बाद स्नेही मित्र के मिलन से आँखो से स्नेहाश्रु टपक रहे है। कही गरीबी, दुर्भाग्य और विविध व्याधियों से लोग पीड़ित हो रहे है। कही शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियों की तृप्ति के कारणो को सुख मानकर लोग आह्लादित हो रहे हैं। कही सन्मार्ग एवं सदाचरण से दूर महापापी प्राणियो से परिपूर्ण और कही धर्मबुद्धि होने पर भी उसके विपरीत आचरण करने वाले प्राणियो से यह नगर व्याप्त दिखाई देता है। तुझे कितना बताऊँ ? संक्षेप मे महामोह आदि राजाओ का जो चरित्र वर्णन मैंने तेरे समक्ष किया था वे सभी चरित्र और घटनाये इस नगर में विशेष रूप से घटित होती हैं। हे वत्स ! मानवावास उप-नगर मे भिन्न-भिन्न कारणों और प्रसगो को लेकर ये सभी घटनायें निरन्तर घटित होती रहती है। * इस प्रकार यह इस मानवावास अवान्तर नगर का सक्षिप्त वर्णन है। अब मैं तुम्हे विबुधालय नामक दूसरे सत्पुर का गुण वर्णन सुनाता हूँ। [७४-८३]

---

* पृष्ठ ४१६

२. विबुधालय

यह दूसरा उप-नगर विबुधालय है, इसे तू स्वर्ग के रूप मे समझ। इसमे अनेक पारिजात के वृक्ष है। सुन्दर पारिभद्र वृक्ष, कल्पवृक्ष तथा अन्य अनेक प्रकार के सुन्दर वृक्षो के वनो से यह व्याप्त है। इसमे सुरपुन्नाग वृक्षो की तथा चन्दन वृक्षो की सुरभित गन्ध सर्वदा प्रसरित होती रहती है। निरन्तर विकसित श्वेत कमल और कुमुदिनी से यह सुशोभित है। इसमे पद्मराग, महानील, वज्र, प्रवाल आदि रत्नों के ढेर चारो तरफ बिखरे हुए है। दिव्य स्वर्ण से अनेक छोटे-छोटे मोहल्ले बने हुए है। सुशोभित तेजस्वी मणियो की प्रभा से इस नगर का सारा अन्धकार दूर हो गया है। अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रत्नो की किरणों से यह नगर देदीप्यमान हो रहा है। जहां देखो दिव्य आभूषण तैयार दिखाई देते है। सुगन्धी का तो पार ही नही है। पुष्पमालाये चारो तरफ फैली हुई है। सुन्दर भोगो के समस्त साधन यहाँ उपलब्ध हैं। मन को हर्षित करने वाला उच्चस्तरीय नृत्य इस नगर मे नित्य चलता ही रहता है। हृदय को छूने वाला मधुर गीत-गान यहाँ निरन्तर होता ही रहता है, जिससे नगरवासियो के आनन्द में वृद्धि होती रहती है। इस नगर मे रहने वाले देवता निरन्तर आनन्द और सुख मे रहने वाले हैं, सूर्य से भी अधिक तेजस्वी है, अत्यन्त देदीप्यमान कुण्डल, केयूर, मुकुट और हार से वे द्युतिमान हो रहे हैं। अनेक भ्रमरो को आकर्षित करने वाली, कभी न कुम्हलाने वाली मन्दार पुष्पों की सुन्दर माला उन्होने धारण कर रखी है। सुन्दर वनमाला से सुशोभित वे सतत प्रमुदित चित्त वाले लगते है। वे प्रीति-समुद्र मे कल्लोल करते हुए अपनी सभी इन्द्रियो को पूर्णरूपेण तृप्त करते हैं। विबुधालय ऐसे लोगो से भरा हुआ है। इस विबुधालय की भूमि भी श्रेष्ठ है और इसके निवासी भी सर्व प्रकार से सुखी हैं। तुम्हे याद होगा कि मोह राजा के मण्डप मे वेदनीय राजा के एक साता नामक पुरुष का मैंने पहले वर्णन किया था। कर्मपरिणाम महाराजा ने जनाह्लादकारी साता को ही इस विबुधालय का नायक (राजा) बनाया है। हे वत्स! वही इस नगर को अनवरत प्रशस्त भोगो से परिपूर्ण रखता है, अनेक प्रकार के आह्लाद उत्पन्न करने वाले साधनो से सम्पन्न रखता है और सम्यक् प्रकार से सुव्यवस्थित रखता है। ऐसे साता राजा की नियुक्ति से ही इस नगर की समग्र प्रजा अत्यधिक सुखी रहती है। [८४-९१]

प्रकर्ष—मामा! यदि यह विबुधालय इतना सुन्दर है तब महामोह आदि राजाओ की शक्ति यहाँ तो नही चलती होगी? इस नगर के इतना अधिक सुखी होने का कारण क्या है, यह तो बताइये। [९२]

विमर्श—नही भाई! ऐसी बात नही है। यहाँ भी अन्तरंग राजा अपनी शक्ति का पूर्ण प्रयोग करते है। यहाँ भी परस्पर ईर्षा, स्पर्धा, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम अपनी पूर्ण प्रबल शक्तियों के साथ सक्रिय हैं। अर्थात्

यहाँ के निवासियो मे भी ये सब अन्तरंग के लोग घर जमा कर बैठे हुए है और जब भी अवसर मिलता है वे अपनी शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन किये बिना नही रहते । [९४-९५]

प्रकर्ष -मामा ! जब ऐसा ही है तब यहाँ भी सुख कैसा ? आपने यहाँ के निवासियो मे जो अतिशय सुख का वर्णन किया, वह फिर कैसे घटित होता है ? [९६]

विमर्श—वत्स ! तेरा प्रश्न पूर्णतया युक्तिसंगत है। वास्तव मे तो ये लोग जिसे सुख मानते है वह वस्तुतत्त्व के परमार्थ से सुख नही है। तत्त्वदृष्टि से तो विबुधालय कोई प्रशस्त एव सुन्दर भी नही है। परन्तु, विषयाभिलाषा मे ही जीवन की परिसमाप्ति मानने वाले, स्थूल सुख को ही जीवन का साध्य समझने वाले मुग्ध बुद्धिवाले जो लोग हैं उन्हे तो इस विबुधालय के सुख उच्च कोटि के ही प्रतीत होते हैं तथा वे यह मानते है कि उन्हें यह स्थिति बडे भाग्य से प्राप्त हुई है, अत. उनकी दृष्टि से ही मैंने उपरोक्त वर्णन किया है। अन्यथा तो जहाँ महामोह अपने परिवार के साथ राज्य कर रहा हो, वहाँ बाह्य जगत के प्राणियो के लिए सच्चे सुख की तो बात ही क्या ? मोह और सच्चे सुख का संयोग तो अशक्य है, अर्थात् जहाँ मोह राजा के परिवार का एक भी व्यक्ति राज्य करता हो, वहाँ सच्चे सुख की तो एक किरण भी नहीं आ सकती। इसके कारण भी मैं तुझे पहले बता चुका हूँ। यहाँ जो आनन्द दिखाई दे रहा है वह स्थूल, ऊपर-ऊपर का और वास्तविक सुख-रहित है। वास्तव में तो इसमे कुछ भी तथ्य नही है और न इसे सुख का नाम ही दिया जा सकता है। इस प्रकार मैंने तेरे सन्मुख विबुधालय का सक्षेप मे वर्णन किया। अब मैं पशुसंस्थान का * वर्णन करता हूँ, तू ध्यान पूर्वक सुन। [९७-१००]

३. पशुसंस्थान

तीसरा उप-नगर पशुसस्थान है जिसमें रहने वाले प्राणी निरन्तर भूख से पीडित रहते है, अरति और अनेक सतापो से, तृषा से, वेदना से दु.खो एवं त्रस्त रहते हैं। उनको अनेक बार तप्त लोह-शलाका से दग्ध किया जाता है, समय पर आहार और पानी नही मिलता, सर्वदा शोक और भय से उद्विग्न रहते है। अनेक बार बाधे जाते हैं, उन पर अधिक भार लादा जाता है और ऊपर से मार पडती है। पशुसस्थान के निवासी सदा दु.ख मे ही रहते है और महामोह आदि उन्हे अनेक प्रकार से दु.ख तथा त्रास देते रहते है। वे एकदम दीन, गरीब, अनाथ जैसे लगते है, पर उन्हे कोई शरण (आश्रय) भी नही मिलता। उनमे धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का किञ्चित् भी विवेक नही होता, अर्थात् विचार-विकल होते है। वे क्लेशमय जीवन जीते हैं। इस नगर के निवासियो को अनन्त जातियाँ हैं, इतनी अधिक कि

---

* पृष्ठ ४२०

गिनाई नही जा सकती। हे वत्स! इस प्रकार तेरे समक्ष पशुसंस्थान उप-नगर का संक्षिप्त मे वर्णन किया, अब मै पापीपिंजर का वर्णन करता हूँ। [१०१-१०४]

४. पापीपिंजर

चौथा उप-नगर पापीपिंजर है। महा पाप के जोर से जो पापी प्राणी इस नगर मे रहते है, उनके दुःख का तो जब तक वे यहाँ रहते है तब तक इस महा दुःख का कोई विच्छेद/अन्त होता हो ऐसा सम्भव नही है। मोह राजा के सभामण्डप मे बैठे तीसरे वेदनीय नामक राजा का मैने जो पहले वर्णन किया था वह तो तुझे स्मरण ही होगा। उसके एक अनुचर असाता पर प्रसन्न होकर महामोह राजा ने इस पापीपिंजर नगर का राज्य जमींदारी के रूप मे सौंप रखा है। यह असाता परमाधामी नामक अपने अनुचरो द्वारा यहाँ रहने वाले लोगो की अनेक प्रकार से कदर्थना करवाता है। ये परमाधामी प्राणी को कैसा-कैसा त्रास देते है, इसका वर्णन करना भी दुःशक्य है। परमाधामी यहाँ के निवासियो को पिघला हुआ ताबा पिलाते है, उनके शरीर के सैकडों टुकडे-टुकडे कर देते है, उन्ही का मास उन्हे खिलाते हैं, धधकती अग्नि में उन्हे जलाते है, उन्हे वज्र सदृश काटेदार शाल्मलिवृक्ष पर चढाते है, खून से भरी वैतरणी नदी तैरकर पार करवाते है, करुणाहीन होकर असिपत्र वन मे प्राणियो को चला कर उनके अग छेदते है, भाले-बरछी तोमर मारते है, लोह के नाराच बाण मारते है, तलवार और गदाओ से मारते है कुम्भीपाक मे पकाते है, आरी से चीरते है और कादम्बरी अटवी की गरम-गरम वालुका में चने की भाति भूनते है। (अत्यन्त अधम परमाधामी असुर नारकीय जीवो को इतना अधिक त्रास देते है कि उनको सुनकर भी मन मे अत्यन्त ग्लानि होती है। नारकीय जीवो को सताने मे ही इन असुरो को आनन्द आता है, वे इस कार्य को अच्छा मानते है।) [१०५-११२]

पापीपिंजर उप-नगर मे सात मोहल्ले है। इनमे से पहले के तीन मोहल्लो मे परमाधामी देव (असुर) पूर्व-वर्णित दुःख देते है। अन्य तीन मोहल्लो के निवासी परस्पर ही एक दूसरे को दुःख देते है, कदर्थना करते है, मारते है, कूटते हैं और एक दूसरे से लडाई-झगडा करते रहते है। इस प्रकार चौथे, पाचवे और छठे विभाग (नरक) के निवासी परस्पर पीडा पहुँचाते है। सातवे विभाग के निवासियो को वज्र जैसे तीक्ष्ण काटे चुभाये जाते है। इसके अतिरिक्त नरक के प्राणी भूख और प्यास से तड़फते है। वहाँ ठण्ड इतनी अधिक है कि ठिठुर कर लकडी के ठूठ जैसे हो जाते हैं। वेदना से घबरा कर पागल जैसे हो जाते है। पल मे प्रवाही और पल मे ठोस बन जाते हैं। क्षण भर मे शरीर से अलग और दूसरे ही क्षण शरीर से जुड़ जाते है। (उनके शरीर पारे जैसे पदार्थ के होने से वे इन सब स्थितियो को सह लेते है, फिर भी मरते नही। वे वैक्रिय शरीरधारी होते हैं, अतः अनेक प्रकार की विक्रिया/ भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकते है।) पापीपिंजर नगर के निवासियों को इतनी

अधिक पीड़ा होती है कि जिसका वर्णन करने में कोटि जिह्वाएं (बृहस्पति) भी असमर्थ है। वत्स ! यह पापीपिंजर नगर तो पूर्णरूप से एकान्त दु.खमय है, कष्टो से परिपूर्ण और क्लेशो से व्याप्त है। मैंने संक्षेप मे इसका वर्णन किया है।
[११३-११८]

मैंने तेरे समक्ष मानवावास, विबुधालय, पशुसस्थान और पापीपिंजर इन चारो उप-नगरो का वर्णन किया। भैया ! इन चारो का स्वरूप यदि तूने सम्यक् प्रकार से समझ लिया तो समझले कि तूने भवचक्र नगर का भलीभाति निरीक्षण कर लिया। [११९]

मामा के वचन सुनकर भगिनीसुत प्रकर्ष ने अपनी दृष्टि को आदरपूर्वक भवचक्र नगर की तरफ से घुमा लिया। [१२०]

२८. सात पिशाचिनें

मामा-भाणेज बाते कर रहे थे। वह्नि भारती (बुद्धि) का पुत्र प्रकर्ष आनन्दपूर्वक सविशेष अवलोकन कर रहा था। विमर्श से स्पष्टीकरण सुनकर आनन्दित हो रहा था और कौतूहल से नये-नये प्रश्न पूछ रहा था। जब वह भवचक्र नगर का अवलोकन कर रहा था, दृष्टि को चारो ओर घुमाकर आश्चर्य से देख रहा था और प्रश्न पूछकर स्पष्टीकरण करवा रहा था, तभी उसने एक अति विचित्र और हृदयद्रावक दृश्य देखा।

पिशाचिनी महेलिकाओं (स्त्रियों) के दर्शन : परिचय

यह दृश्य देखकर प्रकर्ष चौंका, उसके मुख पर ग्लानि के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे और घबराते हुए विमर्श से पूछने लगा—अरे मामा ! देखिये तो वहाँ सात महेलिकाये (स्त्रियाँ) दिखाई दे रही हैं जो एकाएक ध्यान आकर्षित करे ऐसी हैं। इनकी आकृतियाँ अति रौद्र एव बीभत्स है और वे लोगो को पीडा देने वाली लगती हैं। इनके उग्ररूप से ऐसा जान पडता है कि वे सर्व शक्ति-सम्पन्न है और समस्त स्थानों को इन्होने आक्रान्त कर रखा है। तवे जैसे काले रंग वाली वैतालिनों सी वे स्त्रियाँ देखने मे अति बीभत्स लग रही हैं। लगता है इनका नाम सुनकर ही लोगों को कपकंपी छूट जाती होगी। मामा ! ये सात स्त्रियाँ कौन है ? इनका क्या कार्य है ? इनको प्रेरणा देने वाला कौन है ? इनमे कितनी शक्ति है ? इनके परिवार मे और कौन-कौन है ? इनकी आकृति से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वे किसी को पीड़ित करने के लिये दृढ निश्चय पूर्वक तैयार हैं। जब तक आप मुझे

* पृष्ठ ४२१

यह सब बात नही समझायेगे, मुझे लगता है तब तक भवचक्र नगर का वर्णन अधूरा ही रहेगा। अत मुझ पर कृपा कर इन सातो भयकर स्त्रियो के बारे मे मुझे समझाइये।

उत्तर मे विमर्श बोला—वत्स ! इन सातो स्त्रियो के बारे मे तुझे विस्तार से बता रहा हूँ, ध्यान पूर्वक सुन। इन अति रौद्र दिखाई देने वालो सातो स्त्रियो के नाम अनुक्रम से जरा, रुजा (व्याधि), मृत्यु, खलता (दुष्टता), कुरूपता, दरिद्रता और दुर्भगता (दौर्भाग्य) है। अब इन सात पिशाचिनो के बारे मे तुमने जो प्रश्न पूछे उनका उत्तर दे रहा हूँ। [१२०-१२७]

१. जरा

प्रकर्ष ! तुझे कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति महारानी के बारे मे तो याद ही होगा। वह महारानी सब कार्य समयानुसार करती है। इस महादेवी ने ही इस प्रथम पिशाचिन जरा (वृद्धावस्था) को इस भवचक्रपुर मे भेज रखा है। यद्यपि इसको प्रेरित करने मे कुछ बाह्य कारण भी हैं, जैसे अधिक नमक आदि का प्रयोग (और अधिक सभोग) बुढापे को जल्दी लाते है। जरा की शक्ति कैसी है ? सुन। जब यह प्राणी के पास आकर प्राणी को आश्लेष (आलिंगन) मे लेती है तब प्राणी के समस्त सुन्दर वर्ण, रूप, लावण्य और बल का पूर्णरूपेण हरण कर लेती है। जब यह प्राणी को प्रबल वेग के साथ आलिंगन-पाश मे जकडती है तब उसकी बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती है। (कहावत भी है कि 'साठी बुद्धि नाठी।') बलवान प्राणी की भी यह अति शोचनीय दशा बना देती है। इसके आने पर कपाल मे रेखाये, सफेद बाल, गजापन, शरीर मे काले तिल और चकत्ते, शिथिल अवयव, कुरूपता, कपकपी, चिड़चिड़ापन, बडबड़ाना, शोक, मोह, शिथिलता, दीनता, चलने की शक्ति का ह्रास, अन्धापन, बहरापन, दन्तहीनता और वायु का प्रकोप आदि भी साथ-साथ ही चलते है। जरा के साथ उसका यह समस्त परिवार भी आता है और समय-समय पर अपना प्रभाव बतलाता है। वायु सब से पहले आता है और इसके आने से शरीर के अग-प्रत्यंग के जोड़-जोड दुःखने लगते है, अर्थात् जैसे-जैसे शरीर मे जीवन-शक्ति मन्द होती जाती है वैसे-वैसे वायु का प्रकोप बढता जाता है। इस सब परिवार के साथ जरा मदमस्त गन्ध हस्तिनि की तरह भवचक्रपुर मे आनन्द से मस्त होकर घूमती है। ऐसा है जरा का परिवार, आया कुछ समझ मे ? भैया ! अब प्राणी की महान शत्रु यह जरा निश्चय पूर्वक किसको पीड़ा देती है ? इस प्रश्न का उत्तर भी सुनो। [१२८-१३५]

यौवन

इस कालपरिणति महादेवी के अति सामर्थ्यवान उद्दाम पौरुष वाला (अरबी घोड़े जैसा) यौवन नामक अनुचर (नौकर) है। यह यौवन भी योगी है और कालपरिणति की आज्ञा से प्राणियो के शरीर मे प्रवेश करता है। अपनी योगशक्ति

से यह प्राणियों को बल, ऊर्जा और मनोहारी आकार/स्वरूप देता है। ॐ फिर यह यौवन प्राणी - अनेक प्रकार की विलास लीलाये करवाता है। हँसाता है, चस्के भराता है, उल्टे सीधे विचार करवाता है, विपरीत पराक्रम दिखलाता है, कूद फांद करवाता है, नचाता है, उल्लसित करता है दौड़ाता है और इन सब कार्यों में अपना मद दिखाता है। अभिमान करवाता है. पराक्रम करवाता है. विदूषकपना दिखलाता है, हँसी-ठट्ठा करवाता है, साहस करवाता है और औद्धत्यपूर्ण कार्य करवाता हैं। ऐसे कार्यकर्ता योद्धाओं को अपने साथ लाकर यौवन ससार को लीला पूर्वक नचाता है। भवचक्र के निवासी लोग भी ऐसे विचित्र हैं कि जब वे यौवन के सम्पर्क प्रभाव मे आते हैं तब भोग-सभोग के सुखो को प्राप्त कर वे अपने को सौभाग्यशाली समझ बैठते है। कालपरिणति महादेवी द्वारा भेजा हुआ यह योगी थोडे दिनों तक तो अपने वीर्य से इसी तरह लोगो को नचाता रहता है। यह साक्षात् पिशाचिनी जरा कुपित होकर हाथ मे तलवार लेकर यौवन और उसके परिवार को अपनी शक्ति से चूर-चूर कर देती है, उनके टुकडे-टुकडे कर देती है और उसे निर्वीर्य कर देती है। वत्स! इस स्थिति के आने पर लोगों का यौवन समाप्त होकर बुढापा आ जाता है तब वे वेचारे हजारों दुःखों में पड़ जाते हैं। रंक जैसे अत्यन्त दीन-हीन हो जाते है। उनकी अपनी स्त्रियाँ ही उन्हे धिक्कारती हैं। उनके कुटुम्बीजन भी उनका तिस्कार करते है। उनके बच्चे भी उनकी हसी उड़ाते हैं। युवती स्त्रियाँ तो उनकी ओर तिरस्कृत दृष्टि से देखती हैं। जराक्रान्त वे अपने यौवन में भोगे हुए भोगो को बार-बार खेद पूर्वक याद करते हुए हाथ मलते रहते हैं। बार-बार उबासी खाते हुए टूटी-फूटी खटिया पर पड़े-पड़े लौटते रहते हैं। उनके नाक मे से श्लेष्म निकलता रहता है। वे बात बात में लोगो पर गरम होते रहते हैं। अपना आपा खोते तो उन्हे समय ही नही लगता। अन्य द्वारा अनादर प्राप्त कर वे पग-पग पर क्रोधित होते है और जरा द्वारा पराभव प्राप्त गतिहीन प्राणी दिन-रात सोते रहते है। भाई प्रकर्ष! लोगों को पीड़ा प्रदान करने में तत्पर रहने वाली जरा पिशाचिनी का वर्णन सक्षेप में कर दिया, अब मैं राक्षसी के समान रौद्र दिखने वाली रुजा का वर्णन करता हूँ। [१३६-१४६]

२. रुजा

दूसरी स्त्री रुजा (व्याधि, बीमारी) नामक भयंकर पिशाचिन है। देख, यह जरा के दांये बाजू बैठी है। सात राजाओ के वर्णन के समय पहले मैंने वेदनीय राजा का वर्णन किया था, शायद तुझे याद होगा। उसी समय मैंने उसके साथ बैठे हुए असाता नामक उसके एक मित्र का भी वर्णन किया था। इस दुरात्मा की प्रेरणा से ही यह व्याधि यहाँ आई है। यद्यपि कुछ आचार्य इस व्याधि को प्रेरित करने वाले कुछ बाह्य निमित्तों को भी मानते हैं, जैसे बुद्धि, धैर्य और स्मरण शक्ति के नाश से व्याधि आती है, समय के परिपक्व होने और अशुभ कर्म फल के योग (उदय) से

ॐ पृष्ठ ४२१

भी व्याधि आती है, प्रतिकूल वस्तुओं के उपयोग से भी व्याधि आती है, वात, पित्त और कफ की विषमता से भी व्याधि आती है तथा राजस् और तामस् गुण की वृद्धि से भी व्याधि आती है, परन्तु वस्तुतः इन बाह्य निमित्त कारणो को प्रेरित करने वाला भी असाता ही है, अतः व्याधि को प्रेरित करने मे मूल कारण भी वही है। यह व्याधि भी अपने योगबल से मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से उसके शरीर सौष्ठव और स्वास्थ्य का नाश कर रोगग्रस्त बना देती है। बुखार, अतिसार, कोढ, अर्श, प्रमेह, यकृत्वृद्धि, धूम्र, अपच, सग्रहणी, उदर एव कटिशूल, हिचकी, श्वास, क्षय, गोला, वायु, हृदयरोग, मूर्छा, प्रबल हिचकी, कपकपी, खाज, दाद, अरुचि, सूजन, भगदर, कण्ठरोग, चर्मरोग, जलोदर, सन्निपात, अतिप्यास, सरदी, नेत्ररोग, सिरदर्द, धनुर्वात आदि बीमारियाँ इस रुजा के परिवार के योद्धा है। परिवार के प्रताप से यह रुजा महाबलशालिनी है, अत हे भैया! इस पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। [१४७-१५६]

नीरोगता

वेदनीय राजा के साता नामक योद्धा ने भी अपनी ओर से एक बहुत अच्छी स्त्री नीरोगता को भवचक्र मे भेजा है। ※ यह यहाँ के निवासियो को सुन्दर रूप, रग, शरीर, बल, बुद्धि, धैर्य, स्मृति और निपुणता प्रदान कर अनेक प्रकार के सुख और आनन्द का भोग करवाती है। पर, यह दारुण रुजा पिशाचिन नीरोगता को क्षण भर मे नष्ट कर देती है और देखते-देखते ही प्राणियो के शरीर और मन मे अनेक प्रकार की भयकर पीडा पैदा कर देती है। हे वत्स! नीरोगता को समाप्त करने के लिये यह व्याधि प्राणियो से इस प्रकार चिपकती है कि एक बार प्राणी पर अपनी चढाई करने के पश्चात् उस प्राणी से ऐसी-ऐसी चेष्टाये, चीख-पुकार और चिल्लाहट मचवाती है कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। जैसे, व्याधि की चढाई होने पर प्राणी अत्यन्त दीन स्वर से रोता है, विकृत शब्दो (विकार युक्त स्वर से) क्रन्दन/कोलाहल करता है, गहरी निसासे छोडता है, तीव्र स्वर से रोता है, विह्वल होकर चिल्लाता है, दीन (तुच्छ) वचन बोलता है, बार-बार लम्बी चीखे मारता है और जमीन पर इधर-उधर लोटता है। उसके पास ही क्या हो रहा है, इसकी भी उसे खबर नही रहती। अचेतन होकर निरन्तर व्याधि की पीडा मे पचता रहता है। प्रतिदिन शोक मे घबराया हुआ उद्विग्न दिखाई देता है। जैसे अब उसकी रक्षा करने वाला कोई न हो इस प्रकार दीन/अनाथ जैसा विक्लव दिखाई देने लगता है। भय से उद्भ्रात दिखाई देता है। नरक के नारकीय प्राणी जैसा दिखावा वह व्याधि के प्रभाव से यही करने लगता है। भय से पागल हो जाता है। हे वत्स! इस प्रकार इस भवचक्र नगर मे यह पापिनी रुजा नीरोगता को नष्ट कर प्राणियो को अनेक प्रकार की पीडा पहुँचाती है जिससे विश्व के प्राणी उससे पीडित, दबे हुए, कुचले हुए और अत्यन्त दु:खी दिखाई देते है। [१५७-१६४]

※ पृष्ठ ४२३

हे वत्स ! इस प्रकार मैंने तेरे समक्ष रुजा पिशाचिनी का संक्षेप मे वर्णन किया, अब मैं तीसरी पिशाचिन मृति का वर्णन करता हूँ, सुन ।

मृति (मृत्यु/मरण)

तीसरी अति दारुण दिखाई देने वाली स्त्री का नाम मृति (मृत्यु) है। इसने तो सम्पूर्ण भवचक्रपुर को अपने पाव तले रौंद कर दवा रखा है । इसका अति सक्षिप्त विवरण सुनाता हूँ उसी से तू समझ जायगा कि यह कौन है ? चित्तविक्षेप मण्डप में जिन सात राजाओं का वर्णन मैंने पहले किया है, उन्ही मे से एक आयु नामक राजा भी था जिसके साथ चार अनुचर थे, तुझे याद होगा । इस आयु के क्षय से ही मृत्यु प्रवर्तित होती है । यह सत्य है कि इसकी विचित्र प्रवृत्ति के सैकड़ो वाह्य कारण भी हैं, जैसे विष से, अग्नि से, शस्त्र से, जल मे डूबने से, पर्वत-पतन से, घोर भय से, भूख से, व्याधि से, सर्पदंश से, असह्य तृषा, शीत, गर्मी, लू आदि से, अधिक श्रम और अधिक वेदना से, अधिक आहार के परिणामस्वरूप अपच से, अधिक दुर्ध्यान से, थम्भे दीवार या वाहन से टकराकर, अति श्रम से, श्वासोच्छ्वास मल-मूत्र आदि के रुक जाने से और ऐसे ही अन्य-अन्य कारणों से भी मृत्यु का आवागमन दिखाई देता है । परन्तु, इन सब को प्रेरित करने वाला और इन वाह्य कारणो को एकत्रित करने वाला मूल कारण तो आयुराज का क्षय ही है । वस्तुतः आयु क्षय होते ही मृति (मृत्यु) प्राणी को जकड लेती है । इस मृत्यु में कितना सामर्थ्य है, यह भी सुनले । यह क्षण मात्र मे प्राणियो की श्वास को रोक देती है, वाणी को बन्द कर देती है, हिलना-डुलना बन्द कर देती है, चेतनाहीन कर देती है, खून का पानी कर देती है, शरीर और मुंह को विकृत एवं लकड़ी जैसा कठोर बना देती है । इसके आगमन के पश्चात् यदि शरीर कुछ अधिक देर पड़ा रह जाय तो उसे दुर्गन्ध से परिपूर्ण बना और प्राणी को सर्वदा के लिए दीर्घ निद्रा मे सुला देती है । [१६५-१७१]

अन्य पिशाचिने तो अपनी सहायता के लिये अपने साथ अपना परिवार रखती हैं, पर यह मृत्यु तो अकेली ही अपना सब काम कर लेती है । इसको न तो किसी की सहायता को ही आवश्यकता है और न यह किसी को अपने साथ ही रखती है । यह अकेली ही अपना तीव्र प्रबल शक्ति से सब कार्य पूरा कर लेती है । इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य मे सभी चराचर प्राणी यहाँ तक कि स्वय देवेन्द्र और चक्रवर्ती भी इसके नाम मात्र से कांप उठते है । महान शक्ति, बल और तेज वाले त्रिभुवन प्रसिद्ध व्यक्ति भी इसका नाम सुनकर भय से कातर बन जाते हैं । भैया ! जिसका स्वयं का इतना सामर्थ्य हो उसे परिवार की क्या आवश्यकता है ? ससार के अत्यन्त अद्‌भुत कार्य यह दूर रहकर अकेली ही कर लेती है, इसलिये यह पिशाचिन * अपने ऐश्वर्य के मद मे स्वच्छन्दचारिणी बनकर विचरती है, घूमती है और अपनी शक्ति का सर्वत्र प्रयोग करती है । इसे किसी अपेक्षा या सहायता की

---

* पृष्ठ ४२४

आवश्यकता नही है। कोई भी भवचक्र निवासी चाहे चक्रवर्ती हो या रंक, वृद्धा हो या जवान, शक्तिशाली हो या निर्बल, धैर्यशाली हो या कायर, आनन्दमग्न हो या आपद्ग्रस्त, मित्र हो या शत्रु, तपस्वी हो या गृहस्थ, सज्जन हो या दुर्जन, सक्षेप मे किसी भी अवस्था वाले प्राणी पर यह अपनी शक्ति का प्रयोग सम्यक् रीति से पूर्णरूपेण करती है। [१७२–१७६]

जीविका (जीवन)

आयुराज की अगभूत उसकी प्राणप्यारी जीविका नामक स्त्री है जो विश्व प्रसिद्ध है। यह लोगो को आह्लादित करने और उन्हे प्रसन्न रखने मे बहुत कुशल है और अपना कर्त्तव्य प्रतिदिन सुचारु रूप से करती रहती है। इसी के प्रताप से लोग अपने-अपने स्थान पर सुख से रहते है, इसी हितकारी गुण के कारण यह समस्त लोगो को अत्यधिक प्रिय है। इतनी सुन्दर जीविका (जीवन) का खून कर यह क्रूर पिशाचिन मृत्यु लीलापूर्वक बेचारे लोगो को स्व-स्थान से खीचकर अन्य स्थानो मे धकेल देती है। इतना ही नही, यह लोगो को इतने विकृत एव दूषित स्थानो पर धकेलती है कि वे फिर अपने मूल स्थान पर भी नही आ सकते और ढूढने पर भी नही मिल पाते। जैसे रिपुकम्पन को पुत्र-मरण के सदमे के बहाने से इस मृत्यु ने आकर उसे वहाँ से निकाल कर कही दूर फेंक दिया। इस मृत्यु के आदेश से जब लोग अन्य स्थान पर जाते हैं तब वे यहाँ का धन, घर-गृहस्थी, सगे-स्नेही, सम्बन्धी आदि सब को यही छोड़कर अकेले ही चले जाते हैं। धन, गृह आदि सब को प्राप्त करने मे चाहे जितने प्रयत्न किये हों, किन्तु इन सब को यही छोडकर मात्र अच्छे-बुरे कर्मो का फल साथ लेकर लम्बी यात्रा के लिये एकाकी ही निकल जाते हैं और सुख-दु.ख से पूर्ण मार्ग पर चल पडते हैं। उसके लड़के या सगे-सम्बन्धी कुछ समय तक रोते-धोते है, शोक मनाते है फिर सब अपने-अपने काम मे लग जाते है, खाते-पीते हैं और सब व्यवहार करते है। धनलिप्सु अपने भोग एवं स्वार्थ के लिये मरने वाले के धन के हिस्से करते है और उसके लिये परस्पर ऐसे लडते हैं जैसे कुत्ते मास के एक टुकड़े के लिये आपस मे लडते है। धन एकत्रित करने मे यदि प्राणी ने प्रचुर पाप का बन्ध किया है तो वह तो मृत्यु के आदेश से उस धन को छोडकर अन्यत्र चला जाता है और उस प्रचुर पाप के फलस्वरूप करोडो प्रकार के दु ख सहन करता है। (पीछे रहने वाले उसके धन के लिये भले ही लड मरे, पर मरने वाले के दु ख मे हिस्सा बटाने कोई नही जाता।) हे वत्स ! यह मृत्यु पिशाचिन ऐसी अत्यन्त त्रासदायी स्थिति उत्पन्न करती है जिसका वर्णन मैने तेरे समक्ष किया है। यह मृत्यु भवचक्र निवासियो को भिन्न-भिन्न आकार के स्थानो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे घुमाती रहती है। एक स्थान से दूसरे स्थान और दूसरे स्थान से तीसरे स्थान यो इधर-उधर घुमाना ही इसका काम है। [१८०–१८६]

४. खलता

अब तेरे कौतुक को शान्त करने के लिए चौथी खलता (दुष्टता) पिशाचिन का स्वरूप बताता हूँ, इसे तू ध्यानपूर्वक श्रवण कर। हे वत्स ! मूल राजा कर्म-परिणाम के सेनापति पापोदय इस खलता (दुष्टता) को प्रेरित कर भवचक्रपुर में भेजता है। दुर्जन की संगति और उसके साथ के विशेष सम्बन्ध से भी यह प्रेरित होती हुई जान पड़ती है, पर तत्त्वदृष्टि से देखने पर वास्तव में पापोदय ही इसकी प्रेरणा का मूल कारण है, क्योंकि दुर्जनों की संगति भी पापोदय के कारण ही होती है। जब दुष्टता शरीर में प्रविष्ट होती है तब वह अपनी शक्ति अनेक प्रकार से प्रकट करती है। यह प्राणियों के मन को पाप की ओर प्रेरित करती है, पाप करने की इच्छा उत्पन्न करती है और पाप के प्रति प्रेम पैदा कर उसे पाप-परायण बना देती है। शठता (लुच्चाई), चुगली, बुरा व्यवहार, परनिन्दा, गुरुद्रोह, मित्रद्रोह, कृतघ्नता निर्लज्जता, अभिमान, मात्सर्य, परमर्म उद्‌घाटन, धृष्टता, परपीडा, * ईर्ष्या आदि को इस खलता (दुष्टता) के सहचारीजन समझना। [१९०–१९५]

सौजन्य

कर्मपरिणाम महाराजा का दूसरा पुण्योदय नामक एक महान उत्तम सद्‌गुणी सेनापति भी है। यह पुण्योदय अपने अनुचर सौजन्य नामक श्रेष्ठ पुरुष को भी भवचक्र नगर में भेजता है। यह सौजन्य अपने साथ शक्ति, धैर्य, गम्भीरता, विनय, नम्रता, स्थिरता, मधुरवचन, परोपकार, उदारता, दाक्षिण्य, कृतज्ञता, सरलता आदि अनेक योद्धाओं को साथ लेकर आता हैं। हे प्रकर्ष ! यह सौजन्य जब मानव के सम्पर्क मे आता है तब वह अपनी शक्ति से मनुष्य के मन को एकदम निर्मल और अमृत जैसा प्रशस्त बना देता हैं। यह विशुद्ध धर्म और लोक-मर्यादा को स्थापित कर स्थिर रखता है, लोगों मे सदाचार प्रवर्तित करता है, सच्ची मित्रता बढ़ाने का परामर्श देता है और परस्पर सच्चा विश्वास पैदा करता है। सब से बड़ी बात तो यह है कि इसी भवचक्रपुर में ही किसी-किसी प्राणी को अपने अत्यन्त सौजन्य के योग से मिथ्यात्व का हरण कर इतनी प्रशस्त बुद्धि प्रदान करता है कि वह सामान्य जन-प्रवाह से अत्यधिक उत्कृष्ट बनकर अनुकरण योग्य बन जाता है। हे वत्स ! ऐसा श्रेष्ठतम कार्य करने वाले इस सौजन्य से यह खलता पिशाचिन शत्रुता रखती है। इसका कारण स्पष्ट है, सौजन्य अमृत है तो खलता कालकूट से भी अधिक तेज विष है। यह पापिष्ठ मन वाली स्त्री अपने पराक्रम से सौजन्य का खून करती है और स्वकीय परिवार के साथ इस नगर के निवासियों के पीछे ऐसी क्रूर कठोरता से पड़ जाती है कि बस फिर कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस प्राणी में इस खलता की प्रबलता हो जाती है वहाँ से सौजन्य तो आहत होकर चला ही जाता है। उसके जाने के बाद फिर प्राणी जैसी चेष्टाएं करता है उसका वर्णन कठिन है, तथापि

---

* पृष्ठ ४२५

सक्षेप मे दिग्दर्शन कराता हूँ। दुष्टता के प्रभाव मे आकर मनुष्य मायावी बनकर अनेक प्रकार के कपट करता है, अन्य को ठगने का प्रयत्न करता है, द्वेष-यन्त्र से पिसता रहता है, अर्थात् द्वेषमय बन जाता है, स्नेह सम्बन्ध को तिलाजलि दे देता है और स्पष्टत दुर्जन बन जाता है। उसकी ऐसी स्थिति बन जाती है कि एक भी अच्छा कार्य यदि उसका स्पर्श भी कर ले तो वह अपने को भ्रष्ट हुआ मानने लग जाता है। अपने परिचितो के समक्ष वह कुत्ते की तरह भोकता रहता है। अपने निकट सम्बन्धी को खा जाने मे तो वह कुत्ते से भी अधिक बढ जाता है। अपनी जाति और समुदाय के रीति-रिवाजो से अलग होकर चलता है। अन्य की गुप्त बातो को प्रकट करता है। स्थिर मनुष्यो को भी अस्थिर बना देता है। स्थिर कार्य की नियमबद्धता को चूहे की तरह छिन्न-भिन्न कर सर्वत्र उद्वेग पैदा कर देता है, सम्पूर्ण वातावरण को विषमय बना देता है और जीवन को बोझिल बना देता है। वह खलता से आहत होकर मन मे एक बात सोचता है, वचन से अन्य प्रकट करता है और कार्यरूप मे किसी तीसरी बात को ही करता है। अपनी अनुकूलता के अनुसार कभी वह तप्त हो जाता है और कभी प्रतिकूल अवसर आ पडने पर कपट पूर्वक ठंडा पड जाता है। कभी न अधिक गर्म और न अधिक ठण्डा ऐसी मध्यम स्थिति धारण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि वह सन्निपात ग्रस्त मनुष्य के समान अपनी एकरूपता (एक जैसी स्थिति) नही रख सकता। अर्थात् दुर्जनता को अच्छा लगे ऐसे अवसरानुकूल रूप धारण करता रहता है। भैया! तुम्हे इस पिशाचिन के बारे में जानने की इच्छा थी इसीलिये सक्षेप मे तुझे बता दिया है, वैसे मुझे तो इस पिशाचिन के वशीभूत लोगो का नाम लेना भी अच्छा नही लगता।

[१९६-२०९]

प्रकर्ष! इस चौथी पिशाचिनी खलता का लेशमात्र वर्णन किया अब मैं तुझे पांचवी कुरूपता नामक दारुण स्त्री के विषय मे बताता हूँ।

५. कुरूपता

चित्तविक्षेप मण्डप के वर्णन के समय ४२ अनुचरो से घिरे हुए नाम नामक पाँचवे राजा का वर्णन किया था, वह तो तुझे याद ही होगा। इस राजा ने ही दुष्टता के कारण कुरूपता को भवचक्र में भेजा है। कुरूपता को प्रेरित करने वाले कई बाह्य कारण भी है, जैसे अनियमित और दूषित आहार-विहार के फलस्वरूप शरीर-स्थित कफ आदि कुपित होते है जिसके परिणाम स्वरूप कुरूपता आती है, * पर तात्त्विक दृष्टि से तो इसे प्रेरित करने वाला नाम कर्म राजा ही है। इसमे इतना अधिक शक्ति प्राचुर्य है कि जब वह प्राणी के शरीर मे प्रविष्ट हो जाती है तब उसकी आँखो मे महान उद्वेग पैदा हो ऐसा रूप धारण करवाती है। यह प्राणी मे लगड़ापन, कुबडापन, ठिगणापन, अन्धता, विवर्णता, अगोपागहीनता, ताड जैसा लम्बापन व अन्य शारीरिक विषमताएं पैदा करती है। लंगड़ापन आदि ही

* पृष्ठ ४२६

कुरूपता के परिवार है और वे इसके साथ ही आते है। अपने परिवार के साथ यहाँ आकर यह पिशाचिन आनन्द से विलास करती है और निरन्तर मन ही मन मुस्कराती रहती है। [२१०-२१६]

सुरूपता

इन्ही नाम कर्म महाराजा ने प्रसन्न होकर सुरूपता नामक अपनी एक दासी को भी भवचक्र में भेज रखा है। सुरूपता को उत्पन्न करने मे यद्यपि कुछ बाह्य कारण भी हैं, जैसे अच्छे और नियमित आहार-विहार से कफादि प्रकृतियाँ नियमित रहने के कारण प्राणी की आकृति सुन्दर बनती है, परन्तु इसका तात्त्विक कारण तो नाम महाराज द्वारा प्रेरित सुरूपता ही है। जब यह भवचक्र नगरस्थ प्राणी में प्रविष्ट होती है तब उसका रूप इतना सुन्दर और आकर्षक बना देती है कि देखने वाले की आँखे तृप्त और हर्षित हो उठती हैं। उसकी आकृति अत्यन्त रमणीय बना देती है, नेत्र कमल जैसे और शरीर के प्रत्येक अवयव को योग्य स्थान पर शोभा देने वाला लम्बा, छोटा, मोटा या पतला आवश्यकतानुसार बना देती है। उसकी चाल हाथी की चाल जैसी मनोरम और साक्षात् देवकुमार जैसा रूप बना देती है। सुरूपता अपनी शक्ति से लोगो को आह्लादित करने वाला रूप प्रदान कर प्रसन्न होती है। सुरूपता और कुरूपता मे स्वाभाविक शत्रुता है। सुरूपता का हनन कर यह राक्षसी कुरूपता योगिनी के समान प्राणियो के शरीर मे प्रविष्ट होती है। कुरूपता के प्रविष्ट होने से बेचारे प्राणी सुन्दर रूप और आकृति से हीन होकर कुरूप बनकर ऐसे भद्दे लगते है कि उनके सामने देखने से भी लोगो के नेत्रो मे उद्वेग पैदा हो जाता है। वे आदेय नाम कर्म-रहित हो जाते है जिससे कोई उनकी बात नहीं मानता। निरन्तर हीनभावना-ग्रस्त होने के कारण वे लोगों मे हास्यास्पद बन जाते हैं। अपने रूप का गर्व करने वाले मूर्ख लोग उनको देखकर हसते है और उनकी कुरूपता पर टीका करते हैं। इसके अतिरिक्त ठिगने, कुबड़े आदि कुरूप लोग अधिकाश मे गुणरहित भी होते हैं। व्यवहार मे वे बहुत अच्छे तो शायद ही हो पाते है, क्योकि 'आकृतौ च वसन्त्येते प्रकृत्या निर्मला गुणा.' सामान्य तौर पर अच्छी आकृति वाले लोगो मे निर्मल गुण स्वभावत· ही पाये जाते है। इस प्रकार यह कुरूपता जगत मे अनेक प्रकार की विडम्बना पैदा करने वाली है। इसका निरूपण सक्षेप में किया है जो तेरी समझ मे आ गया होगा। [२१७-२२४]

६. दरिद्रता

भाई प्रकर्ष ! अब दरिद्रता नामक छठी पिशाचिन के बारे मे तुझे बताता हूँ, ध्यान से सुनो। दरिद्रता को प्रेरित कर यहाँ भेजने वाला तो पापोदय नामक सेनापति ही है, जो खलता (दुष्टता) को यहाँ भेजता है वही दरिद्रता को भी भेजता है। यह अवश्य है कि पापोदय दरिद्रता को यहाँ भेजने के समय अन्तराय नामक

सातवे राजा को आगे कर देता है। यद्यपि दरिद्रता का वास्तविक कारण तो पापोदय ही है, तथापि बाह्य दृष्टि से देखने पर दरिद्रता के अनेको बाह्य कारण दिखाई देते है और वे ही इसके कारण है ऐसा लोग मानते है। ये बाह्य कारण कौन-कौन से है ? यह भी बता देता हूँ। जैसे बाढ़, आग, लुटेरे, राजा, सम्बन्धी, चोर, जुआ, शराब, अत्यधिक सम्भोग, वेश्यागमन, दुश्चरित्रता आदि। इसके अतिरिक्त भी जिन-जिन कारणों को अपनाने से धन का नाश होता हो, उन सब को दरिद्रता को प्रेरित करने वाले हेतु समझने चाहिये। परन्तु, तत्त्व-दृष्टि से तो पापोदय सेनापति ही अन्तराय नामक सातवे राजा के द्वारा इन बाह्य कारणो को प्रवर्तित करता है, अतः वही वास्तविक कारण है। वत्स ! दरिद्रता प्राणी की कैसी दशा कर देती है, वह भी सुन। यह प्राणी को ऐसा निर्धन बना देती है कि उसे धन की गन्ध भी नही आ सकती, फिर भी उसे झूठी आशा के फन्दे मे फसा कर ऐसा मूर्ख बना देती है कि जिससे उसे यह आशा बनी रहती है कि भविष्य मे उसे अढलक धन प्राप्त होगा। दीनता, अनादर, मूढता, अतिसन्तति, तुच्छता, भिक्षुकता, अलाभ, बुरी इच्छा, भूख, अति सताप, * कुटुम्ब-वेदना, पीडा, व्याकुलता आदि दरिद्रता का परिवार है। अर्थात् यह दरिद्रता राक्षसी जहाँ जाती है वहाँ दीनता और भूख तो साथ ही लेकर जाती है। [२२५–२३३]

ऐश्वर्य

कर्मपरिणाम राजा का दूसरा सेनापति पुण्योदय अपनी ओर से ऐश्वर्य नामक एक उत्तम पुरुष को भी यहाँ भेजता है जो लोगों को अत्यन्त आह्लादित करता है। इस ऐश्वर्य के साथ भलमनसाहत, अत्यधिक हर्ष, हृदय की विशालता, गौरव, सर्वजनप्रियता, ललितता, शुभेच्छा आदि आते है और प्राणी को धन-धान्य से परिपूर्ण कर देते हैं। यह ऐश्वर्य लोगो मे प्राणी को बड़ा और आदरपात्र बनाता है, सुखी बनाता है, लोकमान्य बनाता है। ऐश्वर्य यह सब सुन्दर परिस्थिति खेल ही खेल मे घटित कर देता है। भैया ! दरिद्रता की जब इच्छा होती है तब अपने परिवार के साथ आकर ऐश्वर्य नामक इस आह्लादक नरोत्तम को मूल से उखाड़ फेंकने की चतुराई दिखा देती है, क्योकि दरिद्रता और ऐश्वर्य क्षण भर भी एक साथ नही रह सकते। दरिद्रता के त्रास से ही ऐश्वर्य भाग खडा होता है। ऐश्वर्य के दूर होते ही प्राणी सम्पत्तिरहित हो जाता है। दुःख से आच्छन्न और विकल मन वाला होकर वह बहुत विफल प्रयत्न करता है। भविष्य मे धन प्राप्ति की झूठी आशा के लालच से भिन्न-भिन्न उपाय करता है और फिर से धनवान बनने के लिए रात-दिन दुःखी बना रहता है। अनेक प्रकार से धन प्राप्ति के प्रयत्न करता है, किन्तु जैसे पवन का एक झौका बादलो को बिखेर देता है वैसे ही पापोदय उसके सब प्रयत्नो को एक ही झपाटे मे उलट देता है और बेचारे प्राणी के धन-प्राप्ति के सभी प्रयत्न

---

* पृष्ठ ४२७

निष्फल कर देता है। फिर तो प्राणी रोता है, पछताता है, यह मानकर कि अपने प्रयत्न से जो धन उसे प्राप्त होने वाला था वह उसी का था। उसके न मिलने से मन मे अत्यधिक खेद होता है और दूसरों का धन चुरा लेने या हड़प लेने का प्रयत्न करता है। अपने पास एक फूटी कौडी भी न होने से कल घी, तेल, अनाज, ईंधन आदि लाने के लिये पैसे कहाँ से आयेगे, ऐसी कुटुम्ब की चिन्ता से दग्ध होने के कारण बेचारे को रात मे नीद भी नही आती। इस चिन्ता से धन की प्राप्ति हेतु वह न करने योग्य कार्य करता है, धर्म-कर्म से विमुख हो जाता है। वह लोगो मे लघुता प्राप्त करता है और उसकी गिनती तृण से भी तुच्छ होने लगती है। वह दूसरो का नौकर, चपरासी, दीन-हीन, भूख से अस्थिपिंजर, मैला-कुचैला, देखने मात्र से घृणा पैदा करने वाला और सैकडो दु खो से ग्रस्त होकर प्रत्यक्ष नारकीय जीव जैसा दिखाई देने लगता है। ऐश्वर्य का नाश कर जब दरिद्रता प्राणी का आलिंगन करती है तब उसे जीवित होने पर भी मृत समान ही बना देती है। [२३३–२४६]

७. दुर्भगता [दौर्भाग्य]

वत्स प्रकर्ष! तेरे सन्मुख दरिद्रता के स्वरूप का सक्षेप मे वर्णन किया। अब तुझे जो सब के अन्त मे खड़ी है उस दुर्भगता पिशाचिन के बारे मे बताता हूँ, ध्यान पूर्वक श्रवण कर।

कर्मपरिणाम महाराज किसी-किसी प्राणी पर रुष्ट होकर इस विशालाक्षी दुर्भगता (दौर्भाग्य) को इस भवचक्र नगर मे भेजते है। कई बाह्य कारण भी इसको प्रेरित करते हैं, जैसे विरूपता, भद्दी आकृति, बुरा स्वभाव, क्रूर कर्म और कटु वचन मे भी दुर्भाग्य निकट आता है, पर ये इसके मूल कारण नही है, वास्तव मे तो इसको प्रेरित करने वाला दौर्भाग्य नाम कर्म ही है। तत्त्वरहस्य को भली प्रकार समझने वाले विद्वान् पुरुष इसकी शक्ति का वर्णन करते हुए कहते है कि यह प्राणी को अप्रिय, अवाछित और द्वेष करने योग्य बना देती है। दीनता, अपमान, निर्लज्जता, प्रबल मानसिक दु ख, * न्यूनता, तुच्छता, लघुता, तुच्छवेश, अल्पबुद्धि, निष्फलता आदि इस दुर्भगता के पारिवारिकजन हैं। इस परिवार के बल पर बलशालिनी बनकर यह दुर्भगता इस भवचक्र नगर मे जाती है और स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करती है।

[२४८–२५३]

सुभगता

नाम कर्म महाराज ने प्रसन्न होकर इस भवचक्र नगर मे लोगो को आनन्द देने वाली सुभगता नामक एक अपनी परिचारिका को भी भेज रखा है। यह परिचारिका भी अतिशय विश्रुत है। इस सुभगता के आते ही शारीरिक सौष्ठव, स्वास्थ्य, मानसिक सन्तोष, गर्व, गौरव, हर्ष, आशाजनक भविष्य और तिरस्कार का

* पृष्ठ ४२८

अभाव आदि भी स्वय ही आ जाते है। भवचक्र नगर मे विचरण करती हुई जब यह प्राणियों के सम्पर्क मे आती है तब उन्हे आनन्दरस से परिप्लावित, सुखी, आदरणीय और सर्व प्राणियो को अपने प्रेमाकर्षण से मुग्ध करने वाला जनवल्लभ बना देती है. अर्थात् सर्व प्रकार से यह प्राणी के सौभाग्य को प्रस्फुटित करती है। वत्स ! दौर्भाग्य और सौभाग्य मे स्वभाव से ही शत्रुता है, अत जैसे हथिनी वृक्ष, लता आदि को मूल से ही उखाड फेंकती है वैसे ही यह दुर्भग्यता भी सौभाग्यता को जड़ मूल से ही उखेड देती है। बेचारे जिन प्राणियो मे से जब दुर्भगता इस सौभाग्यता को भगा कर अधिकार कर लेती है तब वे लोगो मे प्रकृति- (स्वभाव) से ही इतने अ प्रय हो जाते हैं कि अपने स्वामी को भी अच्छे नही लगते। स्वामो को तो उस पर अप्रीति हो ही जाती है, अपितु स्वय उसकी पत्नी भी उसे धिक्कारती है, बच्चे कहना नही मानते, सगे-सम्बन्धी मिलना बन्द कर देते है। जिन्हे अपना समझा जाता है उनका प्रेम भी जब प्राणी को नही मिलता तब अन्य से तो आदर मिलने का प्रश्न ही कहाँ ? उसके सगे भाई भी उससे नही बोलते। ऐसी अवस्था मे जब वह कोई भी कार्य करता है तब उसका दुर्भाग्य अनवरत उससे दो कदम आगे रहता है। शत्रु उस पर विजय प्राप्त करते है, अपने अन्तरग मित्र उसके शत्रु बन जाते है, मित्र और सम्बन्धी उसे छोड़ जाते है और बेचारा प्राणी निन्दित होकर मनुष्यता को शापित करता हुआ, जीवन को बोझ समझ कर क्लेश पूर्ण जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार दुर्भगता प्राणी के हाल-बेहाल कर देती है। भाई प्रकर्ष ! इस सातवी और अन्तिम पिशाचिन दौर्भाग्यता का जिसका पहले मैंने नाम ही बताया था उसका सक्षिप्त विवरण भी तुम्हे कह सुनाया। [२५४-२६१]

भाई प्रकर्ष ! मैंने तुम्हे जरा, व्याधि, मरण, दुष्टता, कुरूपता, दरिद्रता और दुर्भगता के बारे मे अनुक्रम से सम्पूर्ण विवरण सुना दिया है। प्रत्येक के प्रेरणा करने वाले, शक्ति और परिवार का भी वर्णन किया। वे किस-किस को किस प्रकार की पीड़ा देती हैं यह भी अनुक्रम से बता दिया है। प्रत्येक का शत्रु कौन है, उसका वे कैसे नाश करती है और उसके साथ लड़कर लोगो को पीडित करने के कार्य मे वे भवचक्र नगर मे किस प्रकार अपने आपको प्रयुक्त करती हैं, यह सब विवरण तुम्हे सक्षेप मे किन्तु विगतवार सुना दिया है। [२६२-२६४]

❀

२६. राक्षसी दौर और निवृत्ति

[प्रकर्ष ने सप्त पिशाचिनो के विषय मे विस्तार से सुना, उनको प्रेरणा करने वाले और उनके आन्तरिक बल को पहचाना तथा उनके विरोधी तत्त्वो पर हृदय मे विचारणा की। मामा के वर्णन पूरा करते ही भाणेज ने उस पर विस्तृत चर्चा चलाई और वस्तु-स्वभाव को भली-भांति स्पष्ट करवाया। ये स्पष्टीकरण विशेष ध्यान देने योग्य है।]

पिशाचिनियों का अस्खलित वेग और प्रतिकार की अशक्यता

प्रकर्ष मामा ! ये पिशाचिनें भवचक्र नगर के लोगो को इतनी अधिक पीडा देती हैं, तो क्या यहाँ राजा, लोकपाल या कोटवाल नही है ? वे इन्हे रोक नही सकते ? यदि रोक सकते है तो फिर वे क्यो चुप बैठे है ?

विमर्श - भाई प्रकर्ष ! राजा आदि कोई भी इन पिशाचिनो को रोकने में समर्थ नही है। किसी मे इतनी शक्ति क्यो नही है इसका कारण भी बताता हूँ। इस भवचक्र नगर में कितने ही महापराक्रमी राजा है, उन पर भी ये पिशाचिनें बलपूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकती है। ये सातो इतनी बलवान है कि सर्वत्र व्याप्त हैं और स्वेच्छानुसार विचरण करती हुई उद्दाम लीला करती है। जैसे मदमस्त भयकर हाथी को पकडने के लिए योद्धा नही मिल सकता वैसे ही इन सातों को अंकुश मे लेने मे त्रैलोक्य मे भी कोई समर्थ नही हो सकता। अपने प्रयोजन (कार्य) को पूरा करने मे अत्यन्त शक्तिशाली और सर्वत्र निरंकुश घूमने वाली इन पिशाचिनो को रोकने की त्रिभुवन मे किसमे सामर्थ्य है ? [२६५-२६८]

प्रकर्ष— मामा ! तब क्या किसी भी प्राणी को इन राक्षसनियों को हराने का कुछ भी प्रयत्न नही करना चाहिये ?

विमर्श— वत्स ! निश्चय से यदि वास्तविकता को समझा जाय तो प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। * क्योंकि यदि इन पिशाचिनो का प्रभुत्व किसी प्राणी पर होना अवश्यम्भावी (अवश्य ही निर्मित) है तो उसे रोकने मे कोई समर्थ नही हो सकता। जिस कार्य को करने मे सफलता प्राप्त न हो सकती हो उसे कोई विचारशील व्यक्ति क्यों करेगा ? जब कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव, लोकस्थिति और भवितव्यता आदि सम्पूर्ण कारण-सामग्री के बल पर ये पिशाचिनें प्रवर्तित होती हैं और जब अवश्यम्भावी समस्त निमित्त एकत्रित हो जाते है तब इन्हे या ऐसे ही अन्य कार्यों को रोकने का मनुष्य चाहे कितना ही प्रयत्न करे वह उन्हे रोकने मे समर्थ नही हो सकता। प्रयत्न के अतिरिक्त उसे किसी भी फल की प्राप्ति नही हो सकती।

---

* पृष्ठ ४२६

प्रेरक की विशिष्टता

प्रकर्ष मामा ! आपने तो और शका खडी कर दी। आपने इन सप्त राक्षसनियों के प्रवर्तक पापोदय, असाता, नामराजा आदि बताये थे तथा भिन्न-भिन्न बाह्य कारण भी बताये थे, किन्तु अभी आपने इनको प्रेरित करने वाले कर्मपरिणाम, कालपरिणति आदि अन्य कारणो को बतलाया। आपके कथन में यह परिवर्तन कैसे हुआ ? मेरी तो समझ मे कुछ भी नही आया।

विमर्श —भाई प्रकर्ष ! वास्तव मे इसमें कोई परिवर्तन नही है। मैंने पहले तुम्हे इन सप्त राक्षसनियों को प्रेरित करने वाले आन्तरिक और बाह्य कारण बताये थे वे तो प्रत्येक के विशेष कारण थे और प्रकट प्रेरणा मुख्यत इन्हे उन्ही कारणों से मिलती है। किन्तु, परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारी समझ मे यह बात आ जायगी कि कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव, लोक-स्थिति और भवित-व्यता इन पाचो कारणो के एकत्रित हुए बिना ससार मे पलक झपकने जैसा तुच्छतम कार्य भी होना सम्भव नही है।

निवारण का उपाय करे या नहीं ?

प्रकर्ष—मामा ! इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये पिशाचिने किसी भी व्यक्ति या उसके सम्बन्धी पर प्रहार/हमला कर रही हो या करने की तैयारी मे हो तो उससे बचने का कोई उपाय व्यक्ति को करना ही नही चाहिये ? तब क्या जरा, व्याधि या मृत्यु आदि के पास आने पर वैद्य को बुलाना, औषधि सेवन, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, रसायन सेवन, अथवा साम-दाम-दण्ड-भेद नीति से दुर्भगता, दरिद्रता, व्याधि आदि को रोकने का प्रयत्न ही नही करना चाहिये ? क्या ऐसे प्रसग पर हाथ-पाव बाधकर निष्क्रिय बने बैठा रहना ही श्रेयस्कर है ? अमुक कार्य करने योग्य है या त्याज्य है, यह जानने के पश्चात् भी क्या प्राणी को निष्क्रिय होकर कुछ भी नही करना चाहिये ? अर्थात् क्या वह ऐसा वीर्यहीन न पुसक है ? क्या वह अबला स्त्री है ? बेकार है ? क्या अपनी इच्छानुसार कार्य का त्याग या ग्रहण करने की शक्ति से रहित है ? यदि ऐसा ही है तब तो यह प्रत्यक्षत अनुचित है, अर्थात् किसी भी प्रकार उचित नही लगता क्योकि, हम तो प्रति-दिन देखते है कि लोग अपने हितकारी कार्य को करते है और अहितकारी का त्याग करते है। इस प्रयत्न के पश्चात् वे अपनी हितकारी परिस्थिति को प्राप्त करते है और अहितकारी परिस्थिति को दूर करने मे समर्थ होते है। प्रयत्न पूर्वक निश्चित परिणाम प्राप्त करते हुए प्राणी सर्वत्र दिखाई देते है।

व्यवहार-निश्चय : अवश्यंभावीभाव : परिपाटी

विमर्श—भाई ! थोडा धैर्य धारण कर, अधिक उतावला मत बन। मेरे कथन मे रहे हुए गूढ अर्थ पर तू ठीक से विचारकर। मैंने तुझे प्रारम्भ मे ही कहा

था कि निश्चय से देखा जाय तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु व्यवहार मे प्रयत्न (पुरुषार्थ) करने से कौन रोकता है ? प्राणी को अपने अपराधरूपी मल को शुभ अनुष्ठानरूपी निर्मल जल से बार-बार धोते रहना चाहिये। इस विषय में प्राणी प्रवृत्ति करता ही रहता है क्योंकि पुरुषार्थ करते समय प्राणी यह नहीं जानता कि भविष्य मे अमुक कार्य का परिणाम क्या होगा ? इसीलिये व्यवहार मे वह छोड़ने योग्य विषयो का त्याग करता है और आदरने योग्य विषयो को ग्रहण करता है। क्योकि, वह सोचता है कि यदि वह प्रवृत्ति (प्रयास) नही करेगा तब भी कर्मपरिणाम तो प्रवृत्त होगा ही; बल्कि कर्मपरिणाम, कालपरिणति आदि कारण-सामग्री को प्राप्त कर वह वैताल की भांति अधिक वेग से प्रवृत्त होगा। पुनः वह सोचता है कि मनुष्य अकर्मण्य तो रह नही सकता। वास्तव मे तो वही मुख्य कर्ता है, क्योकि कर्म-परिणाम आदि की प्रवृत्ति का उपकरण (साधन) तो वह स्वयं ही है। अतः हाथ बाधकर, पैर फैलाकर बैठे रहना तो किसी भी प्राणी के लिये श्रेयस्कर नही है। कारण यह है कि व्यवहार से प्राणी अपने हित-अहित को प्रवृत्त कर सकता है या रोक सकता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि प्राणी मे हित को अपनाने और अहित को रोकने की शक्ति है। * निश्चय से भी जब समग्र कारण-समूह एकत्रित होता है तभी अमुक कार्य पूर्णतया परिणाम रूप मे परिवर्तित होता है। यदि प्राणी विचारपूर्वक कोई कार्य करता है, फिर भी उसका परिणाम विपरीत आता है, तो उसे बीच के साधनो के सम्बन्ध मे हर्ष या शोक नही करना चाहिये। उसे निश्चय मत से यह समझ लेना चाहिये कि ऐसा परिणाम तो आने ही वाला था, यह घटना ऐसे ही घटने वाली थी, यह समझकर उसे मध्यस्थभाव धारण कर लेना चाहिये। उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि मैंने ऐसा किया होता तो ऐसा परिणाम नही भुगतना पड़ता, क्योंकि जो अवश्यम्भावी है उस परिणाम को अन्य साधनो के द्वारा परिवर्तित नही किया जा सकता। निश्चय दृष्टि से तो इस ससार मे घटित होने वाली सभी अन्तरग और बाह्य कार्य-पर्यायें अमुक निर्णीत कारण-सामग्री को प्राप्त कर सदा के लिये निर्मित हो चुकी होती है, जिन्हे अनन्त केवलज्ञानी सर्वज्ञ जाव अपने ज्ञान से जानते हैं और उसी के अनुसार कर्म-परिणाम अवश्य घटित होते रहते है। ये कार्य-पर्यायें जिस परिपाटी (अनुक्रम) से गठित होती है और जिन कारणो से प्रकट होने वाली हैं, उसी क्रम से और उन्ही कारणो से वे प्रकट भी होती है इसमे तनिक भी परिवर्तन या आगे-पीछे नही हो सकता। अत. भूतकाल मे जो कुछ हो गया है, उसके विषय मे चिन्ता करना यह मोह राजा का विलास मात्र है। व्यवहार मे भी अपने अहित को दूर करने और हितसाधन मे उद्यत विचारशील पुरुष को औषधि, तन्त्र-मन्त्र, रसायन, दण्डनीति आदि सम्पूर्ण साधन शुभ परिणाम प्राप्त करवाने मे सक्षम न हो तो उनका आदर (स्वीकार) नही करना चाहिये, अपितु असमर्थ साधनो के स्थान पर किसी एक ऐसे साधन को ढूंढ निकालना चाहिये जो निरपवाद सम्पूर्ण

---

* पृष्ठ ४३०

लाभदायी फल देने वाला हो और जो सर्वदा हितसाधक ही हो, कभी अहितकर न हो। तात्पर्य यह है कि सदनुष्ठानरूपी उपायो द्वारा प्राणी को ऐसे स्थान पर चले जाना चाहिये जहाँ जरा, व्याधि आदि पिशाचिनियो का उपद्रव हो ही नही सके।

प्रकर्ष—मामा ! ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ इन जरा, व्याधि आदि सप्त पिशाचिनियों की शक्ति थोडी भी न चलती हो।

निर्वृ त्तिनगरी

विमर्श हाँ भाई ! ऐसा स्थान है। यह निर्वृ त्तिनगर के नाम से प्रसिद्ध है। यह नगर अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है और एक बार प्राप्त होने के पश्चात् विनाशरहित है। एक बार इस स्थान की प्राप्ति हो जाने के बाद फिर से ऐसे स्थान पर आने की आवश्यकता ही नही होती जहाँ इन जरा, रुजा आदि राक्षसनियो का दौर चलता हो। यह नगर समग्र उपद्रवो से रहित है इसलिये इसमें निवास करने वाले प्राणियों पर जरा, व्याधि आदि राक्षसनियो का कोई प्रभाव नही चल सकता। जो प्राणी इस नगर मे जाने की इच्छा रखता हो उसे अपने वीर्य (शक्ति) के विकास और उन्नति के लिये सुन्दर तत्त्वबोध (सम्यकज्ञान) प्राप्त करना चाहिये, शुद्ध श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) रखनी चाहिये और विशुद्ध क्रियाओ (सम्यक् चारित्र) का पालन करना चाहिये। इस प्रकार जिन प्राणियो के वीर्य की वृद्धि तत्त्वबोध, श्रद्धा और सदनुष्ठान से हो रही होती है, वे यदि निर्वृ त्तिनगर मे न भी पहुँचे हो और उस नगर के मार्ग पर चल रहे हो तब भी उन्हे इन पिशाचिनियो सम्बन्धी पीडा अत्यल्प हो जाती है और उन्हे अतिशय सुख-परम्परा प्राप्त होती है। [१–४]

भवचक्रपुर के ये चारो उप-नगर मानवावास, विबुधालय, पशुसस्थान और पापीपिजर तो इन सातो पिशाचिनियो एव अन्य महा-भयकर घोर उपद्रवो से व्याप्त है; महान् त्रास के कारण है और भैया ! उनमे इतने अधिक क्षुद्र उपद्रवो के प्रसग व हेतु उत्पन्न होते रहते है कि कोई उन्हे गिन भी नही सकता, क्योकि यह भवचक्रपुर स्थान ही ऐसा है। [५–६]

प्रकर्ष—मामा ! तब आपके कहने का तात्पर्य तो यह हुआ कि यह भव-चक्रपुर सम्पूर्णरूप से अत्यन्त दु:खो से परिपूर्ण है। [७]

विमर्श—वत्स प्रकर्ष ! तूने ठीक ही समझा। मेरे कहने का भावार्थ तू स्पष्टत: समझ गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस सम्पूर्ण भवचक्रपुर का सार तुझे भली प्रकार समझ मे आ गया है। [८]

प्रकर्ष—मामा ! यदि ऐसा ही है तब यह तो बताइये कि इस नगर में * रहने वाले प्राणियों को कभी इस ससार से निर्वेद (खिन्नता, घबराहट) भी होता है या नही ? [९]

* पृष्ठ ४३१

विमर्श - भाई ! इस भवचक्र मे सर्वदा रहने वाले प्राणियो को इस संसार से कभी निर्वेद नही होता, इसका भी कारण सुन। जैसा कि मै पहले प्रतिपादित कर चुका हूँ कि महामोह आदि अन्तरंग राजा अपनी महान् शक्ति से सम्पूर्ण भवचक्र के लोगो को अपने वश मे रखते है। सम्पूर्ण विश्व को जनमोहन (अपने वशवर्ती) करने मे इनका कौशल अभूतपूर्व है। इनके वशीभूत यहाँ के प्राणी निरन्तर यहाँ रहकर दु:ख सहते है फिर भी कभी इससे घबराते नही। ये महामोहादि प्रबल तस्कर है, धूर्त है, दु:खदायी शत्रु हैं, तथापि आश्चर्य की बात तो यह है कि मोहित चित्त वाले भवचक्र निवासी तो इन्हे अपने सच्चे मित्र, हितेच्छु, प्रेमी और सुख के कारणभूत मानते है। वत्स ! मोह द्वारा चित्त को विपरीत दिशा मे ले जाने के कारण यह नगर दु:खो से परिपूर्ण होने पर भी यहाँ के निवासी इसे सुख-समुद्र जैसा मानते हैं और कभी दु:खो से छूटने की चिन्ता नही करते। वे यही पडे रहकर महामोह आदि को अपना बन्धु मानते हुए सन्तुष्ट होकर प्रसन्न रहते हैं। यदि कोई विद्वान् पुरुष कभी इन्हे इस भवचक्र के दु:खो से मुक्त होने का परामर्श देता है, मार्ग बताता है तो उसे वे अपना सुख लूटने वाला ठग समझते है और उसका उपकार मानने के बदले उस पर रुष्ट होते है। इतना ही नही, वे यहाँ रहकर निरन्तर ऐसे-ऐसे कार्य करते है जिसके परिणामस्वरूप पाप कर्म का उपार्जन कर वे इस भवचक्र मे अपना निवास अधिक स्थिर और दीर्घकालीन बना लेते है। ये महामोह आदि शत्रुओ की गोद मे बैठे हुए हैं और इन्हे यही पडा रखने के लिये महामोहादि अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर रहे है तथापि ये बेचारे इस वास्तविकता को न तो जानते है और न ही कभी जानने का प्रयत्न ही करते है। इतना ही नही शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियो के भोग जो तुच्छ है, दु:ख से आच्छन्न है, फिर भी वे इन्हे अमृतोपम मानते हैं और इन्ही मे सुखानुभव करते है। वत्स ! जब तक इन प्राणियो पर महामोह आदि राजाओ का ऐसा वर्चस्व रहेगा तब तक इन्हे इस ससार से कभी भी निर्वेद नही होगा। [१०-२१]

प्रकर्ष—मामा ! इस भवचक्र के लोग जब स्वयं ही इस प्रकार बेवकूफ, पागल और उन्मत्त जैसे दुरात्मा बन रहे हैं तब हम उनके विषय मे चाहे जितनी चिन्ता करे या उनके हित की बात सोचे तो वह सब व्यर्थ ही है। [२२]

*

३०. छः अवान्तर मण्डल (छः दर्शन)

[राक्षसनियों का वर्चस्व कब तक और कहाँ समाप्त होता है यह जानने के बाद प्रकर्ष को अन्य बाते जानने की जिज्ञासा होने लगी। प्रकर्ष बहुत जिज्ञासु था और सभी बाते समझ लेने का प्रयत्न कर रहा था तो विमर्श भी सब कुछ बताने में प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था।]

मिथ्यादर्शन की शक्ति

प्रकर्ष—मामा ! महामोह आदि समस्त राजाओं का कितना पराक्रम है और भवचक्र पर कितना वर्चस्व है यह तो मुझे अच्छी तरह समझ मे आ गया, किन्तु पहले आपने इसके मन्त्री मिथ्यादर्शन का वर्णन किया था और बताया था कि इसकी पत्नी कुदृष्टि महा भयकर है। यह मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति से भवचक्र मे कैसे-कैसे सयोगो में क्या-क्या प्रभाव उत्पन्न करता है, यह नही बताया था। अतः मामा ! इस मिथ्यादर्शन के गुण और स्वरूप का तथा उसके वशीभूत लोगो का व्यवहार कैसा होता है, यह जानने की मेरी उत्कट इच्छा है, अतः इस विषय मे स्पष्टीकरण करे। [२३-२६]

विमर्श—प्रिय प्रकर्ष ! तूने ऐसा प्रश्न पूछा है कि उसका उत्तर बहुत विस्तार से देना पडेगा। वैसे तो इस भवचक्र का अधिकाश भाग मिथ्यादर्शन के वश मे रहता है, इसमें कोई सशय नही है। मानवावास आदि चारो उप-नगरो के * निवासी तो प्राय. इसके वशीभूत रहते ही है। अब विशेष रूप से इसकी आज्ञा मे रहने वाले प्राणी कहाँ-कहाँ रहते है, उनके मुख्य-मुख्य स्थान कौन से है ? इनका स्पष्ट वर्णन करता हूँ। इतना कहकर विमर्श ने अपना दाहिना हाथ ऊचा कर तर्जनी अगुली से उन स्थानों कीओर निर्देश करता हुआ बोला—भाई ! इस मानवावास उप-नगर के अन्तर्गत जो सामने छः अवान्तर मण्डल (मोहल्ले) देख रहे हो उनके निवासी विशेषरूप से इस मिथ्यादर्शन के वशीभूत हो कर इसकी आज्ञा मे रहते है। [२७-३२]

प्रकर्ष–मामा। इन छः अवान्तर मण्डलो के नाम क्या-क्या है ? इनमे रहने वाले लोग किन-किन नामो से जाने जाते है ? [३३]

विमर्श—इन छः मे से प्रथम का नाम नैयायिकपुर है, इसके निवासी नैयायिको के नाम से जाने जाते है। दूसरे का नाम वैशेषिकपुर है और इसके निवासी वैशेषिको के नाम से जाने जाते है। तीसरे का नाम साख्यपुर है और इसके निवासी साख्य के नाम से जाने जाते है। चौथे का नाम बौद्धपुर है और इसके निवासी बौद्ध कहलाते है। पाँचवे का नाम मीमासक नगर है और इस के निवासी मीमासक कहलाते

---

* पृष्ठ ४३२

हैं। अन्तिम छठे पुर का नाम लोकायतनिवास या चार्वाक नगर है। इसके निवासियों को नास्तिक या बार्हस्पत्य कहा जाता है। इन छहो अवान्तर मण्डलो के निवासियो पर विशेषरूप से मिथ्यादर्शन का शासन चलता है। अपनी स्त्री कुदृष्टि के साथ यह यहाँ पर जिस प्रकार का विलास करता है, यह तो मैंने तुझे पहले ही बता दिया था। इसका विलास इन छहो मण्डल के निवासियो मे दृष्टिगोचर होता है। [३४–४०]

प्रकर्ष—मामा ! लोक-वार्तानुसार इस मण्डल मे जो षट् दर्शन कहे जाते है क्या आपने उन्ही के अनुयायियो का यह वर्णन किया है? [४१]

विमर्श—वत्स ! उपरोक्त वर्णन मे जिन छः मण्डलो (पुरो) का वर्णन किया गया है, उनमे से मीमासक के अतिरिक्त सब दर्शन कहलाते है। मीमांसकपुर का निर्माण तो अर्वाचीन ही है, अत लोग इसे दर्शन की पक्ति मे नही रखते। जैमिनी नामक आचार्य ने जब देखा कि वेद-धर्म का नाश हो रहा है और लोग अयोग्य प्रवृत्ति करने लगे है तब वेदो की रक्षा के लिये और प्रवर्तित दोषों को दूर करने के लिए उन्होने वेदो पर मीमासा की रचना की। यही कारण है कि लोग मीमासकपुर के अतिरिक्त पाच पुरो को दर्शन की संख्या मे रखते है। अतः इस सम्बन्ध मे सशय को कोई स्थान नही है। [४२–४५]*

प्रकर्ष—मामा ! यदि ऐसा है तब लोग जिसे छठा दर्शन कहते है वह पुर कहाँ आया हुआ है ? यह बताये। [४६]

लोकोत्तर जैनपुर

विमर्श वत्स प्रकर्ष ! हम जिस श्रेष्ठतम विवेक पर्वत पर खडे है, उसके सामने जो निर्मल और उत्तुग शिखर (चोटी) दिखाई देता है जिसे अप्रमत्तत्व कहते हैं, उसी पर छठा लोकोत्तर जैनपुर बसा हुआ है। यह पुर बहुत विस्तृत है और इसकी रचना भी असाधारण है। अन्य दर्शनो से इसमे विशेष असाधारण गुण है जिसका वर्णन मैं विस्तार से बाद मे करूगा। लोक-मान्यता के अनुसार इसे भी अन्य दर्शनो के साथ छठे दर्शन के रूप मे ही माना जाता है। इस जैनपुर (जैनदर्शनपुर) के निवासियो का यह वैशिष्ट्य है कि इस पर मिथ्यादर्शन मन्त्री का वर्चस्व लेशमात्र भी नही चलता है। [४७–५०]

प्रकर्ष—मामा ! नीचे के मण्डलो (पुरो) मे रहने वाले लोगो पर तो मिथ्यादर्शन का वर्चस्व चलता है और अप्रमत्तत्व शिखर पर बसे हुए जैनदर्शनपुर के निवासियो पर उसकी शक्ति नही चलती इसका क्या कारण है ? [५१]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! इस लोक मे एक मनोहर निर्वृत्तिनगर है, जिसके निवासियो पर महामोह आदि राजाओ का वर्चस्व नही चलता, वे इस नगर मे प्रवेश

* पृष्ठ ८३३

ही नही कर सकते । इस नगर मे सम्पूर्ण दु.खो का अभाव है । इसमे अनन्त काल तक सम्पूर्ण एव निर्द्वन्द्व आनन्द रहता है। अत व्याधि, चोर, शत्रु, परमाधामी आदि कोई भी यहाँ किसी प्रकार का उपद्रव नही कर सकते । इस नगर की इस विशेषता को नैयायिकादि समस्त पुरों के सभी निवासी जानते है, अत. लोकायतो (नास्तिकों)के अतिरिक्त सभी इस नगरी मे पहुँचने की इच्छा रखते हैं । किन्तु, इस निर्वृत्ति नगर मे पहुँचने के मार्ग इन लोगो ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार बना लिये है, जिससे इन मार्गो मे परस्पर विरोध पैदा हो गया है। परिणाम स्वरूप इन लोगो ने निर्वृत्तिनगर मे जाने के लिये जिन अनेक मार्गों की योजना की है, वे युक्तियुक्त नही हैं, न्याय की दृष्टि से स्पष्ट विरोध वाले है और तर्क के समक्ष तो टिक ही नहीं सकते । जब कि विवेक पर्वत के अप्रमत्तत्व शिखर पर स्थित जैनदर्शनपुर के निवासियो ने निर्वृत्ति नगर जाने का जो मार्ग देखा है, निर्माण किया है, वह सन्मार्ग है. मनोहर है, विरोधरहित है, युक्तियुक्त और तर्कसगत है । इस मार्ग पर चलने से लोग अवश्य ही निर्वृत्ति नगर पहुँचते है, इसमे कोई सदेह नही है । मैं बिना किसी पक्षपात के वास्तविकता का वर्णन तेरे समक्ष कर रहा हूँ। नीचे बसे हुए अन्य पुरों के निवासियो पर मिथ्यादर्शन अपना वर्चस्व स्थापित कर सकता है, किन्तु इस शिखर पर स्थित पुर पर नही । मिथ्यादर्शन के प्रताप से उन लोगो की बुद्धि इतनी कुंठित हो जाती है कि वे तत्वदृष्टि से निर्वृत्तिनगर ले जाने के बजाय उसके विपरीत दिशा मे ले जाने वाले मार्ग को ही वास्तविक मोक्ष मार्ग मान बैठते हैं । अर्थात् वे मोक्ष के सच्चे मार्ग को न जानकर उसके विपरीत मार्ग को ही सच्चा मानने लगते है। किंतु, शिखर पर स्थित जैनदर्शनपुर के लोग मोक्ष के सच्चे मार्ग को जानते है और विपरीत मार्ग को सच्चा मार्ग मानने की भूल कभी नही करते, इसीलिये मिथ्यादर्शन के प्रभाव से दूर रहते हैं । [५२-६३]

भाई प्रकर्ष ! तू यह मत समझ लेना कि मैने तुझे जिन छ पुरों के नाम बताये है इतने ही पुर इस भवचक्र मे है । इस उपलक्षण (आधार) से मिथ्यादर्शन के वशीभूत ※ कई अन्य पुर भी इस भवचक्र मे है, ऐसा समझना । ऐसे-ऐसे तो यहाँ अनेक पुर हैं । वत्स ! भूतल पर इस प्रकार जो पुर हैं वैसे ही देश और काल के अनुसार दूसरे भी अनेक पुर थे और नये अनेक पुर बस रहे हैं और बसते ही रहेंगे । इस अप्रमत्तत्व शिखर पर स्थित जैनदर्शनपुर अनादि-अनन्त है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी इसका नाश होगा, अर्थात् परमार्थ से यह सर्वकाल शाश्वत है । [६४-६६]

प्रकर्ष—मामा ! इन लोगो ने अपनी-अपनी कल्पना से अपने नगर-निवासियो के लिए निर्वृत्तिनगर के जिन मार्गों को बताया है उन्हें जानने की मै

※ पृष्ठ ४३४

इच्छा रखता हूँ। मुझे यह बात सुनने का अत्यधिक कौतूहल है, अतः आप अनुग्रह कर मुझे बताइये। [६७-६८]

विमर्श–वत्स ! यदि तेरी ऐसी इच्छा है तो प्रत्येक दर्शनकार ने निर्वृत्ति के कैसे-कैसे मार्ग बताये हैं, तुझे स्पष्टता पूर्वक सुनाता हूँ, ध्यान पूर्वक सुन। [६९]

❀

३१. षट् दर्शनों के निर्वृत्ति-मार्ग

१. नैयायिक दर्शन

भाई प्रकर्ष ! नैयायिकों ने निर्वृत्ति-मार्ग की कल्पना में १६ तत्त्व माने हैं। वे हैं—१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७ अवयव, ८. तर्क, ९ निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति और १६. निग्रहस्थान। इन १६ तत्त्वों के ज्ञान से वे मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

१ प्रमाण:—पदार्थ के ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रिय और पदार्थों के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाला, वचन द्वारा अकथ्य और व्यभिचार दोष से रहित निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष पूर्वक उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। अनुमान के तीन भेद हैं—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। कारण से कार्य का अनुमान करना। जैसे आकाश में बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। कार्य से कारण का अनुमान करना, जैसे नदी के पूर को देखकर अत्यधिक वर्षा हुई है ऐसा अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे देवदत्त आदि गति करने (चलने) से देशान्तर में जाते हैं वैसे सूर्य भी गति पूर्वक ही देशान्तर को प्राप्त करता है ऐसा अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है। प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का साधन करना उपमान कहा जाता है, यथा—जैसी गाय होती है वैसा ही बैल होता है। आप्त पुरुषों का उपदेश शब्द कहलाता है। इस प्रकार चार प्रकार का प्रमाण कहा गया है।

२. प्रमेय :—१२ प्रकार का है :—१ आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४ अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७, प्रवृत्ति ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख, १२. अपवर्ग।

३. संशय :—यह क्या होगा ? यह स्तम्भ है या पुरुष ? ऐसा सन्देह जहाँ हो उसे संशय कहते हैं।

४. प्रयोजन .—जिसके लिये अर्थात् जिस अभिलाषा से प्रवृत्ति की जाय वह प्रयोजन कहलाता है।

५. दृष्टान्त :—जिसके सम्बन्ध मे वादी और प्रतिवादी मे विवाद नही हो सकता, उसे दृष्टान्त कहते हैं।

६. सिद्धान्त :—चार प्रकार का है .—सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त अधिकरण सिद्धान्त और अभ्युपगम सिद्धान्त।

७. अवयव :—पांच प्रकार का है —प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

८. तर्क .—संशय को दूर करने के लिए अन्वय धर्म का अन्वेषण करना तर्क है, जैसे यह स्थाणु होना चाहिये या पुरुष ?

९. निर्णय .—सशय और तर्क के पश्चात् ※ जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते है, जैसे यह पुरुष ही है अथवा स्थाणु ही है।

१०. वाद :—तीन प्रकार का है .—वाद, जल्प और वितण्डा। वाद—गुरु और शिष्य के मध्य में पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर अभ्यास के लिए जो कथा कहने मे आती है वह वाद कथा कहलाती है।

११. जल्प .—केवल विजय प्राप्त करने की इच्छा से छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि दूषणों को आरोपित करने वाली कथा जल्प कहलाती है।

१२. वितण्डा —इसी जल्प कथा मे प्रतिपक्ष की अनुपस्थिति मे स्वपक्ष का स्थापित करना वितण्डा कथा कहलाती है।

१३. हेत्वाभास —हेतु न होने पर भी जो हेतु जैसा दिखाई दे उसे हेत्वाभास कहते है। इसके अनैकान्तिक आदि भेद हैं।

१४. छल :—नव कम्बल वाला देवदत्त इत्यादि वाक्प्रपञ्च को छल कहते है।

१५. जाति —दूषणाभास को जाति कहते है।

१६. निग्रहस्थान :—विपक्षी जहाँ वाद करते हुए लडखडा जाय उसे निग्रहस्थान कहते है। निग्रह अर्थात् पराजय का; स्थान अर्थात् कारणनिग्रहस्थान। इस निग्रह स्थान के बाईस भेद है —१. प्रतिज्ञा हानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञा-विरोध, ४. प्रतिज्ञा संन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३. पुनरुक्त, १४. अननु-भाषण, १५. अप्रतिज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. कथाविक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त और २२. हेत्वाभास।

इस प्रकार नैयायिक दर्शन सम्मत प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का यह सक्षिप्त विवेचन है।

※ पृष्ठ ४३५

२. वैशेषिक दर्शन

वत्स प्रकर्ष ! वैशेपिको ने निर्वृत्ति-मार्ग की कल्पना मे ६ पदार्थ माने है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप और समवाय। ये इन ६ पदार्थो के तत्त्वज्ञान से मोक्ष (निर्वृत्ति) प्राप्ति होना मानते है।

इन छ पदार्थो के विभिन्न भेद है। इन पदार्थो मे द्रव्य ९ प्रकार का है —पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

गुण २५ प्रकार के है —रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार, गुरुत्व. द्रवत्व, स्नेह, वेग और शब्द।

कर्म ५ प्रकार का है —उत्क्षेपण, अवक्षेपण, प्रचारण, आकु चन और गमन।

सामान्य दो प्रकार का है —पर और अपर। सत्ता लक्षण वाला पर-सामान्य और द्रव्यत्व आदि वाला अपर-सामान्य।

विशेष—अणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन आदि नित्यद्रव्य मे रहने वाले अन्त्य को विशेष कहते है।

समवाय—अयुतसिद्ध अर्थात् तन्तुस्थित पट के समान अन्य आश्रय मे नही रहने वाले ऐसे आधार आधेय भाव वाले दा पदार्थो के सम्बन्ध के हेतु इह प्रत्यय को समवाय कहते है।

इस दर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान (लंगिक दो प्रमाण माने जाते है। यह वैशेपिक दर्शन का सामान्य अर्थ (परिचय) है।

३. सांख्य दर्शन

प्रकर्प ! साख्यो ने अपनी कल्पना से २५ तत्त्वो के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष (निर्वृत्ति) का मार्ग स्वीकार किया है। ये २५ तत्त्व निम्नलिखित है :—सत्व, रजस् और तमस् तीन प्रकार के गुण है। प्रसन्नता, लघुता, स्नेह, अनासक्ति, अद्वेप और प्रीति ये सत्वगुण के कार्य है। ताप, शोक, भेद, स्तम्भ, उद्वेग और चलचित्तता ये रजोगुण के कार्य है। मरण, सादन, वीभत्स, दैन्य, गौरव (गर्व) आदि तमोगुण के चिह्न है। इन तीनो गुणो की साम्यावस्था अर्थात् समान प्रमाण मे होने की अवस्था को प्रकृति कहते हैं। इसी का दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रकृति से महान् अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। *बुद्धि से अहकार उत्पन्न होता है। अहकार से ११ इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्रा मिलाकर १६ तत्त्व उत्पन्न होते है। वे इस प्रकार है —स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कान ये पाच बुद्धि इन्द्रियाँ। वचन, हाथ, पैर, गुदा और योनि

* पृष्ठ ४८६

अथवा लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और छठा मन। इन ११ इन्द्रियों मे अहकार के प्रभाव से जब तमोगुण की अधिकता होती है तब पाच तन्मात्रा उत्पन्न होती है, जिनके लक्षण है – स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और शब्द। इन ५ तन्मात्रा से पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश इन ५ महाभूतो को उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार प्रधान, बुद्धि, अहकार, ११ इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रा और ५ महाभूत मिलाकर २४ तत्त्व वाली प्रकृति है। इनसे भिन्न चैतन्य स्वरूप २५वा तत्त्व पुरुष है। जन्म-मरण के नियम से बद्ध होने के कारण और धर्म आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला होने से यह पुरुष अनेक प्रकार का है। शब्द आदि के उपभोग के लिये पुरुष और प्रकृति का सयोग अन्ध और पगु के सयोग के, समान है। शब्दादि की प्राप्ति होना अर्थात् गुण और पुरुष का आन्तरिक मिलन उपभोग है। इस दर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को प्रमाण माना गया है। यह साख्य दर्शन का सक्षिप्त स्वरूप है।

४. बौद्ध-दर्शन

भाई प्रकर्ष! बौद्धो ने निर्वृत्ति मार्ग की कल्पना इस प्रकार की है। वे कहते है कि ५ इन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मन और धर्म ये १२ प्रकार के आयतन है। धर्म अर्थात् सुख-दुःख आदि का आयतन (घर) यानि शरीर है। वे प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रकार का प्रमाण मानते है। यह बौद्ध दर्शन का साराश है।

बौद्धो की वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक इस प्रकार चार शाखायें है।

वैभाषिको की मान्यता है :—पदार्थ क्षणिक है, क्योकि जैसे जन्म उत्पन्न करता है, स्थिति स्थापन करता है, जरा जर्जरित करती है और विनाश नाश करता है वैसे ही आत्मा भी इसी के समान क्षणिक है। इसी कारण आत्मा भी पुद्गल कहलाती है।

सौत्रान्तिको की मान्यता है —समस्त शरीरधारियों मे रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार ये पाच स्कन्ध विद्यमान है। वे आत्मा नामक किसी पदार्थ को नही मानते। स्कन्ध ही परलोक मे जाते है, समस्त सस्कार तो क्षणिक है, स्वलक्षण ही परमार्थ है और अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति शब्दार्थ है। नैरात्म्य भावना से ज्ञान-सतान का उच्छेद ही मोक्ष है।

योगाचार की मान्यता है :—यह ससार ही विज्ञान है, इसके अतिरिक्त कोई बाह्य पदार्थ नही है। एक अद्वैत ज्ञान ही तत्त्व है जिसकी अनेक संताने है। वासना के परिपाक से नीला-पीला आदि प्रतिभासित होता है। आलय-विज्ञान ही समग्र वासनाओ का आधारभूत है और आलय-विज्ञान की विशुद्धि ही अपवर्ग या मोक्ष है।

माध्यमिक मत के अनुसार यह सब शून्य है। प्रमाण और प्रमेय का विभाग तो मात्र स्वप्न सदृश है। शून्यता-दृष्टि ही मुक्ति है और उसी के लिये समस्त भावनायें है। ये बौद्ध-दर्शन के विशेष भेद है और उनका यह सक्षिप्त परिचय है।

५. लोकायत (चार्वाक) दर्शन

वत्स ! नास्तिको को चार्वाक लोकायत या बार्हस्पत्य कहा जाता है। ये चार्वाक तो निर्वृत्तिनगर को ही नही मानते। इनके अनुसार मोक्ष, जीव, परलोक, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, आदि कुछ भी नही है। * मात्र पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व है। इन तत्त्वो के समुदाय मे ही शरीर, इन्द्रिय और विषय ये सजाये है। जैसे मद्य मे विद्यमान मदशक्ति (नशा) उसके सभी तत्त्वो के एकत्रित होने पर प्रकट होता है वैसे ही चारो भूतो के एकत्रित होने से जो शरीर रूपी परिणति होती है उसी मे चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे जल मे बुलबुला उठता है और उसी में समा जाता है वैसे ही भूत समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और पुन. उसी मे विलीन हो जाता है।

प्रवृत्ति और निर्वृत्ति से साध्य प्रेम को ही वे पुरुषार्थ मानते है। यह पुरुषार्थ काम (विषय सुख) ही धर्म है, अन्य मोक्ष आदि कुछ भी नही है और पृथ्वी, जल, अग्नि एव वायु के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व भी नही है। इनकी मान्यता है कि प्रत्यक्ष मे अनुभव होने वाले विषय सुख का त्याग कर अदृष्ट परलोक सुख के लिये प्रवृत्ति करना योग्य नही है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। यह लोकायत मत का सक्षिप्त परिचय है।

मीमांसा-दर्शन

मीमासको का मार्ग यह है कि अतीन्द्रिय पदार्थो को साक्षात् देखने वाला कोई सर्वज्ञ है ही नही, अत नित्य-स्थायी वेदवाक्यो से ही यथार्थ का निर्णय होता है। इसलिये सब से पहले वेदपाठ करना चाहिये, फिर धर्म-सम्बन्धी जिज्ञासा करनी चाहिये। उसके पश्चात निमित्त की परीक्षा करनी चाहिये, प्रेरणा ही निमित्त है। कहा भी है कि, 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म" प्रेरणा लक्षण अर्थ ही धर्म है, अर्थात् क्रिया मे प्रवृत्ति करने वाला वेदवाक्य ही धर्म है। जैसे जिसको स्वर्ग की अभिलाषा हो वह अग्निहोत्र करे। अत प्रवृत्ति को ही धर्म माना गया है. अन्य किसी प्रमाण को नही। क्योकि, प्रत्यक्षादि प्रमाण तो विद्यमान को ही ग्रहण करते है, परन्तु धर्म तो कर्त्तव्यरूप है और कर्त्तव्य त्रिकालवर्ती है। मीमासक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, शब्द और अभाव इन छः प्रमाणो को मानते है। यह मीमासा दर्शन का सार है।

---

* पृष्ठ ४३७

६. जैन-दर्शन

भाई प्रकर्ष ! इस विवेक महापर्वत पर आरूढ और अप्रमत्तत्व नामक शिखर पर स्थित जैनदर्शन पुर के निवासियो ने निर्वृत्ति नगर का मार्ग इस प्रकार देखा है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व है। सुख-दु:ख आदि परिणामो को प्राप्त करने वाला जीव है, इसके विपरीत लक्षण वाला अजीव है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्म-बन्ध के हेतु है। इन्हे ही आस्रव कहते हैं। आस्रव के कार्य को ही बन्ध कहते है। इससे विपरीत सवर है, जिसका फल निर्जरा है और निर्जरा से ही मोक्ष होता है। ये सात पदार्थ है। इसमे विधि और निषेध दोनो अनुष्ठानो को बताया गया है पर पदार्थो का परस्पर विरोध नही है।

इस दर्शन के अनुसार जिसे स्वर्ग की इच्छा हो उसे तप, ध्यान आदि का आचरण करना चाहिये। 'किसी भी जीव को मारना नही चाहिये' यह इसका निषेध वचन है। साधुओ को सदा समग्र क्रियाओं मे समिति और गुप्ति का पालन करते हुए शुद्ध क्रिया का आचरण करना चाहिये। समिति और गुप्ति से शुद्ध क्रिया हो तो वह असपत्न-योग कहलाता है, ऐसा शास्त्र मे कहा गया है। जो उत्पत्ति, स्थिति और विनाश युक्त हो वही सत् है। एक ही द्रव्य अनन्त पर्यायार्थक होता है। जैन-दर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण मानता है। यह जैन मत (दर्शन) का दिग्दर्शन मात्र है।

निष्कर्ष

वत्स प्रकर्ष ! नैयायिक, वैशेषिक, साख्य और बौद्ध तो निर्वृत्ति-मार्ग को जानते ही नही, क्योकि नैयायिक पुरुष (आत्मा) को एकान्त और नित्य मानते हैं। अन्य उसे सर्वव्यापी मानते है तो बौद्ध उसे प्रतिक्षण नाशवान मानते है। जब यह आत्मा नित्य है तब वह अविचल होकर मोक्ष मे कैसे जाय ? इसी प्रकार जो सर्व व्यापी है, वह तो सिद्धगति मे भी व्याप्त है फिर जाय तो कहाँ जाय ? जो प्रतिक्षण नष्ट होने वाला है वह तो मोक्ष जाने की इच्छा ही कैसे रखेगा ? * अतएव ये तपस्वी तो निर्वृत्तिनगर का मार्ग जानते ही नही। [१-४]

वत्स ! लोकायत (चार्वाक, नास्तिक) तो इस नगरी से दूर ही रहते है। पापाभिभूत हृदय वाले ये बेचारे तो निर्वृत्तिनगर का अस्तित्व ही नकारते है। प्राज्ञ-पुरुषो द्वारा नास्तिको के इस मत को महापापपूर्ण ही माना जाना चाहिये। क्योकि, जिसके समक्ष अन्य किसी का भी अस्तित्व तुच्छ है, ऐसे निर्द्वन्द्व (अलौकिक) सुख से आछन्न निर्वृत्तिनगर के अस्तित्व का ही ये सर्वथा निषेध करते है। किन्ही अधम पुरुषो ने इस नास्तिक दर्शन का चिन्तन किया होगा, जो स्वय पापश्रुत (पापपूर्ण)

* पृष्ठ ४३८

और दुष्टाशय को उत्पन्न करने वाले होंगे, अतः विचारशील धीर-पुरुषों को इसका सदा त्याग करना चाहिये। [५-७]

भैया! परमार्थ दृष्टि से विचार करें तो मीमांसकों को भी निर्वृत्ति नगर इष्ट नहीं लगता, क्योंकि ये बेचारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं और केवल एकमात्र वेद को ही प्रामाणिक तथा आधारभूत मानते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि भूमि (निम्न स्तर) पर स्थित इन पांचों पुरों के निवासी मिथ्यादर्शन से मोहाभिभूत हो गये हैं। [८-१०]

किन्तु अप्रमत्तत्व शिखर पर स्थित जैनपुर के निवासियों ने निर्वृत्तिनगर का जो मार्ग बताया है, वह पूर्ण सत्य, बाधा एवं विरोध रहित है। मिथ्यादर्शन चाहे जितना शक्तिशाली हो तब भी वह यथावस्थित सन्मार्ग को जानने वाले और स्वयं शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का कुछ भी नहीं बिगाड सकता। जैनपुर के निवासी ज्ञान और श्रद्धा से अपने को पवित्र कर संसार-बन्दीगृह से निःस्पृह रहते हैं और चारित्ररूपी वाहन में बैठकर निर्वृत्तिनगर को जाते हैं। वत्स! जैसे यह सन्मार्ग सत्य है और अन्य मार्ग ऐसे क्यों नहीं, इस विषय में यदि मैं विचारणा करने बैठूं तो मेरा पूरा जीवन ही समाप्त हो जाय तब भी इस चर्चा का अन्त नहीं आ सकता, इसीलिये तुझे संक्षेप में बता दिया है। आशा है तुझे सब बातें सम्यक् प्रकार से समझ में आ गई होंगी। ज्ञान, दर्शन और चारित्र लक्षण वाला जो आन्तरिक मार्ग है उसे ही विद्वानों ने वास्तविक निर्वृत्ति-मार्ग माना है। इस निर्वृत्ति-मार्ग को अप्रमत्तत्व शिखरारूढ जैनपुर के लोगों ने ही समझा है, अन्य भूमि पर स्थित लोग अभी इसे नहीं समझ पाये हैं। [११-१६]

भैया! भवचक्र में मिथ्यादर्शन मन्त्री ने कैसी विडम्बना खड़ी कर रखी है, यह मैंने तुझे संक्षेप में बता दिया है। [१७]

❀

३२. जैन दर्शनपुर

[सदागम के समक्ष ससारी जीव अगृहीतसकेता और प्रज्ञाविशाला को अपना जीवन-चरित्र सुना रहा है। इसी जीवन-चरित्र के अन्तर्गत विचक्षण आचार्य ने रिपुदारण के पिता नरवाहन को अपनी कहानी सुनाते हुए यह बताया था कि जब शुभोदय राजा ने विमर्श को रसना की उत्पत्ति का पता लगाने भेजा था तब उसका भाणेज प्रकर्ष भी जिज्ञासावश साथ हो लिया था। रसना के उत्पत्ति की शोध तो हो चुकी थी पर उन्हे एक वर्ष का समय मिला था, अत शेष समय का उपयोग करने के लिये, प्रकर्ष की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये मामा विमर्श भाणेज प्रकर्ष को भवचक्रपुर के अनेक कौतुक बताता है।]

[विचक्षणचार्य राजा नरवाहन को कहते है —]

जैन दर्शनपुर की ओर प्रयाण

प्रकर्ष—मामा! आपकी कृपा से मैंने भवचक्रपुर मे बहुत कुछ देखा। अन्तरग राजाओं की शक्ति कैसी और कितनी है, यह भी समझ मे आया, परन्तु एक बात तो हसने जैसी ही हो गई। ससार मे छोटे बच्चे भी यह कहावत कहते है कि 'पुत्र की शादी करने ठाठ-बाट से बरात लेकर गये, पर शादी करके लौटते समय दुल्हन को ही भूल आये।' ऐसी ही बात हमारे साथ घटित हो गई है। हम भवचक्रपुर मे विशेषरूप से महामोह आदि राजाओ को जातने वाले और सतोष राजा के साथ रहने वाले श्रेष्ठ एव महान् पुरुषो के दर्शन करने आये थे, पर हमने न तो उनके दर्शन किये और न सतोष राजा के ही, अत: जिस हेतु से आये थे वह तो अभी अधूरा ही है। मामा! मुझ पर अनुग्रह कर * इन महात्माओ और सतोष राजा के स्थान पर मुझे ले चलिये तथा सम्यक् प्रकार से उनका परिचय कराइये। [१८-२३]

विमर्श—भाई! हम जिस विवेक पर्वत पर खडे है और सामने अप्रमत्तत्व शिखर पर जो जैनपुर दिखाई दे रहा है, उसी मे वे महात्मा और सतोष राजा रहते है। तुम्हें कौतूहल है तो चलो, वही चलकर मै तुम्हे बताता हूँ। जब तुम उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लोगे, तब तुम्हे सब बात समझ मे आ जायगी। [२४-२५]

प्रकर्ष के हाँ कहने पर दोनो जैनपुर की तरफ चले। रास्ते मे उन्होने अत्यन्त निर्मल मानस वाले साधुओ के दर्शन किये। [२६]

साधु-वर्णन

विमर्श—भाई प्रकर्ष! ये वे ही महात्मा है जिन्होने अपने प्रचण्ड वीर्य (शक्ति) से महामोह आदि राजाओ को निर्वीर्य कर दिया है। वत्स! ये महात्मा

---

* पृष्ठ ४३६

समस्त त्रस एव स्थावर जन्तुओ के बन्धु हैं और समस्त जीवो के भाई हैं। ये नरोत्तम मनुष्य, देव या तिर्यञ्च की स्त्रियो को माता के समान मानते है और स्वय इन सब स्त्रियो के प्रिय पुत्र हो ऐसा अनुभव करते है। इन महापुरुषो का चित्त धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह या क्रोध मान माया लोभ आदि अन्तरग परिग्रह पर किञ्चित् भी आसक्त नही होता। अपने शरीर पर भी इन्हे आसक्ति नही रहती। कमल कीचड़ और जल से उत्पन्न होकर भी जैसे उससे अलग रहता है वैसे ही कर्म-कीचड से उत्पन्न और भोगजल से वृद्धि प्राप्त करने पर भी ये अब इन सब से दूर रहते हैं। ये महापुरुष सत्य बोलते हैं। प्राणियो के हितकारी वचन बोलते है। ये बोलते है तब ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मुख से अमृत झर रहा हो। सार-असार की परीक्षा कर बोलते है। आवश्यकतानुसार मित शब्दो मे बोलते है। व्यर्थ की बाते नही करते। ये महापुरुष असग योग की साधना करते हैं। किसी प्राणी या वस्तु का संग सर्वथा न रहे ऐसी इच्छा रखते हैं और उसकी सिद्धि के लिये समस्त प्रकार से दोषो से रहित भोजन ग्रहण करते है तथा ऐसे दोष-रहित भोजन मे भी किसी प्रकार की लोलुपता (गृद्धता) नही रखते। सक्षेप मे इन महात्माओ की सर्व प्रकार की चेष्टाये और प्रवृत्तियाँ इस प्रकार की होती है कि जिससे महामोह आदि राजा इनसे दबे हुए रहते है और इनके समक्ष अपनी शक्ति का नाम मात्र भी प्रदर्शन नही कर पाते तथा अन्त मे हार कर वे इन्हे छोडकर चले जाते है। [२७-३३]

भाई प्रकर्ष! पहले तुमने चित्तवृत्ति अटवी आदि देखी थी, इन भगवन्तो की उन सब के प्रति कैसी प्रवृत्ति रहती है, यह भी समझ लो। चित्तवृत्ति अटवी में तुमने जो प्रमत्तता नदी देखी थी वह इनके लिये बिलकुल सूखी है, नदी का तद्विलसित द्वीप इनके लिये शून्य के समान है, द्वीप के मध्य का चित्तविक्षेप मण्डप इनके लिये भग्न हो चुका है, मण्डप की तृष्णा-वेदिका नष्ट हो चुकी है, विपर्यास सिंहासन टूट गया है, महामोह राजा के अविद्या रूपी शरीर को इन्होने चूर चूर कर दिया है और महामोह राजा को चेष्टा-शून्य कर दिया है। इन्होने मिथ्यादर्शन पिशाच को उठाकर दूर फेंक दिया है, रागकेसरी का नाश कर दिया है, द्वेषगजेन्द्र को छिन्न-भिन्न कर दिया है और सेनापति मकरध्वज को तो जमीन पर पछाड दिया है। विषयाभिलाप मत्री को कागज की तरह फाड कर फेक दिया है और महामूढ़ता महारानी को धक्के मार कर बाहर निकाल दिया है। हास्य, जुगुप्सा, भय, अरति शोक आदि विशिष्ट सुभटो का इन्होने नाश कर दिया है। दुष्टाभिसन्धि आदि तस्करो को पद-दलित कर दिया है और सोलह कषायो के बालको को इन्होने भगा दिया है। ज्ञाना-वरणीय आदि तीन अत्यन्त दुष्ट राजाओ का इन्होने नाश कर दिया है। सात राजाओ मे से वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र जो चार शेष है, उन्हे भी इन्होने अपने अनुकूल बना लिया है। मोहराजा की चतुरगी सेना इनके विषय मे नष्ट प्राय: दिखाई देती है, उनकी सभी चाले विफल हो गई है, विब्बोक शान्त हो गया है, विलास गल गया है और सर्व प्रकार के विकार इनके सम्बन्ध मे अदृश्य हो गये है।

भाई प्रकर्ष ! अधिक क्या वर्णन करूं ! ※ सक्षेप मे कहूँ तो मै तुझे पहले ही बता चुका हूँ कि चित्तवृत्ति अटवी की समग्र वस्तुए जो संसार के प्राणियो को बाह्य रूप से अत्यन्त ही दु ख देने वाली है और जिनके प्रभाव मे आकर प्राणी अनेक प्रकार के त्रास प्राप्त करते है, उन सभी वस्तुओ को ये महापुरुष इस भवचक्र मे बैठे-बैठे ही नष्ट हो गई हो ऐसा देखते है। ये महात्मा सचमुच बहुत बुद्धिशाली है। इन महात्माओ का ध्यान-योग इतना बलवान होता है कि इनको चित्तवृत्ति अटवी सर्व प्रकार के उपद्रवो से रहित दिखाई देती है और इनकी चित्तवृत्ति अटवी पूर्णतया श्वेत, शुद्ध तथा ज्ञानादि रत्नो से परिपूर्ण दिखाई देती है। हे वत्स ! जिन महात्माओ का मैंने तेरे समक्ष वर्णन किया है वे सब तपोधन वोर पुरुप तेरे सन्मुख है, उन्हे तू आँखे खोलकर सम्यक् प्रकार से देखले। [१-४]

※

३३. सात्विकमानसपुर और चित-समाधान मण्डप

[अब प्रकर्ष को आनन्द आने लगा, उसकी जिज्ञासा तृप्त होने के प्रसग बढने लगे तथा मन को आनन्दित करने वाली सुन्दर वस्तुओ और लोगो के दर्शन होने लगे एव सम्पूर्ण जगत का तत्त्वज्ञान चक्षुओ के समक्ष दृष्टिगत होने लगा। उसे एक नई जिज्ञासा हुई अत. उसने मामा से पूछ ही लिया।]

प्रकर्ष—मामा ! आपने बहुत अच्छा किया, मुझ पर कृपा कर महात्मा पुरुषों के दर्शन करवा कर मेरे पाप नष्ट किये। मुझे पवित्र बनाया, मेरे अन्त करण को शांत किया, मेरे नेत्र आज वास्तव मे पवित्र हुए, आनन्द रूपी अमृत का मेरे शरीर पर छिड़काव कर आपने मेरे सम्पूर्ण शरीर को शीतल कर दिया। पर, मामा ! आप तो मुझे यहाँ महावीर्यशालो सतोष राजा का दर्शन कराने लाये थे, वह तो अभी बाकी ही है। सन्तोष राजा के दर्शन आप मुझे करादे तो यहाँ आने का हमारा योजना सफल हो। [५-७]

चित्त-समाधान मण्डप

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! देखो, सामने दूर एक उज्ज्वल चित्त-समाधान मण्डप दिखाई देता है। इसको देखने मात्र से आँखों को सुख एवं शान्ति मिलती है। यह मण्डप अत्यन्त विशाल है और जैनपुर निवासियो को अत्यधिक प्रिय है। सतोप राजा इस मण्डप में ही होना चाहिये, तुम ध्यान से देखो। [८-६]

प्रकर्ष– मामा ! यदि ऐसा है तो हम इस मण्डप मे जाकर ही राजा को क्यो न देखे ?

※ पृष्ठ ४४०

विमर्श—अच्छी बात है, ऐसा ही करते हैं। [१०]

इस प्रकार विचार कर मामा और भाणेज योग्य स्थान से उस मण्डप में प्रविष्ट हुए। यहाँ से उनको अन्दर का पूरा दृश्य दिखाई दे रहा था। इस मण्डप को देखते ही उन्हे लगा कि यह मण्डप स्वकीय प्रभाव से विक्षेप प्राप्त लोगो के सन्ताप को दूर करने मे समर्थ एव सुन्दर है। इस मण्डप के बीच मे एक चार मुख वाला राजा उन्हे दिखाई दिया जिन्होंने अपने तेज से मण्डप के अन्धकार को नष्ट कर रखा था। उनके आस-पास अनेक लोग बैठे थे जो सत्-चित् और आनन्द को देने वाले दिखाई देते थे। एक विशाल वेदी पर अत्यन्त श्रेष्ठ सिहासन पर राजा विराजमान थे। राजा को देखते ही प्रकर्ष अत्यन्त आनन्दित, हर्षित और प्रमुदित हुआ। साधारणत उसकी प्रकृति नये-नये विषयो मे कौतूहलपूर्ण होने से कुछ प्रश्न पूछकर वास्तविकता जानने की इच्छा हुई। फिर उसने मामा से क्रमश. प्रश्न पूछे।

[११-१४]

सात्विक-मानसपुर

प्रकर्ष—अहा मामा! जिस जैनपुर का ऐसा स्वामी व राजा हो, इतना अच्छा मण्डप हो और जहाँ इतने श्रेष्ठ लोग रहते हो वह नगर तो अवश्य ही सुन्दर और रमणीय होना चाहिये। मामा! ऐसे श्रेष्ठ विवेक पवत पर बसा हुआ यह नगर भी क्या सर्व दोषो से भरे हुए इस भवचक्र मे ही आया हुआ है? भवचक्र मे ऐसे सुन्दर मण्डप को कैसे स्थान प्राप्त हो सकता है? [१५-१६]

विमर्श—वत्स! यह विवेक महागिरि किस स्थान पर है, इस विषय मे बताता हूँ, सुनो। चित्तसमाधान मण्डप जो विवेक पर्वत पर स्थित है, वह वास्तव मे तो चित्तवृत्ति अटवी मे ही है। किन्तु, विद्वान् उपचार मात्र से इसे भवचक्र मे मानते हैं, क्योंकि यहाँ श्रेष्ठ एव प्रशस्य लोगो से निर्मित अतिविशाल एक सात्विक-मानस नामक अन्तरग नगर है। वत्स! इसी नगर मे यह सुन्दर विवेकगिरि भी है। सात्विक-मानसपुर भवचक्र मे है और उसी मे श्रेष्ठ विवेक* पर्वत आया हुआ है, इसलिये इन दोनों का परस्पर आधार-आधेय का सम्बन्ध है। भवचक्र मे सात्विक-मानसपुर और उसी मे विवेकपर्वत होने से जैनपुर को भी भवचक्र मे गिना जाता है।

[१७-२०]

प्रकर्ष—मामा! यदि आप जैसा कहते है वैसा ही है तब तो विवेक पर्वत के आधारभूत सात्विक-मानसपुर, उसके आश्रय मे रहने वाले बहिरग लोग, महान् विवेक पर्वत. अप्रमत्तत्व शिखर, जैनपुर उसके निवासी बहिरग लोग, चित्त-समाधान मण्डप, वेदी, सिहासन, उस पर बैठे महाराजा और उनके परिवार आदि सभी मेरे लिये तो नये ही हैं। इस जन्म मे कभी मैंने इनके बारे मे पहले नही जाना। यह सब एकदम

* पृष्ठ ४४१

अभूतपूर्व और नया-नया है तथा जानने लायक है, इसलिये मुझ पर कृपा कर प्रत्येक के विषय मे विस्तार से स्पष्टत. वताइये।

विमर्श—भाई ! तुझे यह सव कुछ जानने/समझने का विशेषत: अत्यधिक कौतूहल है तो तू ध्यान देकर श्रवण कर।

इस विवेक पर्वत का आधारभूत सात्विक-मानसपुर वास्तव मे ज्ञानादि अन्तरग रत्नों/गुणो की खान है। वत्स ! यद्यपि यह अनेक प्रकार के दोषो से परिपूर्ण भवचक्र के बीच मे वसा हुआ है, फिर भी इसका स्वरूप इतना श्लाघनीय है कि दोष इसको छू भी नही सकते। भवचक्र मे रहने पर भी यह दोष-मुक्त है। भैया ! भवचक्र मे रहने वाले भाग्यहीन प्राणी अपने पास ही वसे हुए इस सुन्दर सात्विक-मानसपुर को उसके वास्तविक रूप मे देख ही नही पाते। इसके अन्तर्गत निर्मलचित्त आदि अनेक छोटे-छोटे नगर और पुर है जो सात्विक-मानसपुर के अधीनस्थ है और उन उपनगरों की यह राजधानी है। तुझे स्मरण होगा कि राजसचित्त नगर का राज्य कर्मपरिणाम राजा ने रागकेसरी को और तामसचित्त नगर का राज्य द्वेषगजेन्द्र को सौपा था और महामोह की आज्ञा सर्वत्र फैलाई थी। पर, कर्मपरिणाम महाराजा ने सात्विक-मानसपुर या उसके अधीनस्थ नगरो का राज्य किसी को नही सौपा। इस राज्य की आमदनी का उपयोग वह स्वय करता है और उसका कुछ भाग शुभाशुभ आदि श्रेष्ठ राजाओ मे वाटता है। इसीके फलस्वरूप सात्विक-मानसपुर और उसके अधीनस्थ नगरो पर महामोह आदि राजाओ और उनके सेवको का कोई वश नही चलता। यह सात्विक-मानसपुर सम्पूर्ण जगत् का सारभूत है, सर्व प्रकार के उपद्रवो से रहित है, सर्व प्राणियों मे अनेक प्रकार का आह्लाद उत्पन्न करने वाला और वाह्य मनुष्य के मन को अपनी ओर आकर्षित करने वाला है। भैया ! सक्षेप मे सात्विक-मानसपुर के सम्वन्ध मे तुझे वताया जो तेरा समझ मे आया होगा। अव इस नगर मे रहने वाले लोग कैसे है, इसका वर्णन करता हूँ, सुन। [२१-२८]

सात्विक-मानसपुर के निवासी

इस सात्विक-मानसपुर मे जो वाह्य लोग रहते है वे शूरवीरता आदि गुणो के धारक है। जो वाह्य लोग इस नगर मे अन्य स्थानो से आकर रहते है वे इस नगर के माहात्म्य के कारण विवुधालय (देवलोक) मे जाते है। इसके अतिरिक्त यहाँ रहने वाले लोगो की दृष्टि के सन्मुख विवेक पर्वत आ जाता है, क्योंकि वह सात्विकमानसपुर मे ही आया हुआ है। इस नगर मे रहने वाले लोगो मे से जो इस विवेक पर्वत को देखकर उस पर चढते है, उन्हे जैनपुर प्राप्त होता है और वे वास्तविक सच्चे सुख के भाजन वनते है। एक तो इस नगर के प्रभाव से लोग स्वभाव से ही श्रेष्ठ एव सुन्दर होते हैं, फिर विवेक पर्वत के शिखर पर चढने (रहने) से और भी अधिक प्रशस्त तथा सुन्दर हो जाते है। पुनश्च, वत्स ! भवचक्र निवासी प्राणियों मे

से जो पापी होते हैं - उन्हे यह जैनपुर न तो इतना सुन्दर लगता है न सुखकारी प्रतीत होता है और न इसकी विशिष्टताएं ही उनके ध्यान मे आती है। जो बहिरग प्राणी सात्विक-मानसपुर मे आकर इस विवेकगिरि पर रहते है उन्हे यह जैनपुर अति-सुन्दर लगता है, अतः जिनका भविष्य में शीघ्र ही परम कल्याण होने वाला होता है और जो सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति करने वाले होते हैं. ऐसे लोग ही इस स्वाभाविक सुन्दर नगर मे रहते हैं। इस प्रकार सात्विक-मानसपुर के निवासियों के बारे में मैंने तुझे बताया, अब मैं विवेकगिरि के स्वरूप का वर्णन करता हूँ उसे तू सुन।

[२६-३६]

विवेकगिरि

भवचक्रपुर मे रहने वाले लोग जब तक इस विवेकगिरि महापर्वत को नही देखते तब तक वे अनेक प्रकार के दु.खो मे डूबे हुए रहते हैं। जब वे एक बार इस पर्वत के दर्शन कर लेते हैं तब उनकी बुद्धि भवचक्र की तरफ आकर्षित नही होती। इस पर्वत के दर्शन के परिणामस्वरूप अन्त मे वे भवचक्र को छोड़कर विवेक पर्वत के शिखर पर चढ जाते हैं और समस्त प्रकार के दु:खो से रहित होकर अलौकिक निर्द्वन्द्व आनन्द के भोक्ता बन जाते है। वत्स ! इस निर्मल विवेक पर्वत पर स्थित वे सम्पूर्ण भवचक्रपुर को हस्तामलकवत् देख सकते है। वे बराबर देख सकते हैं कि भवचक्र में विविध घटनायें घटित होती है और यह नगर दु:खो से परिपूर्ण है। इस नगर की परिपाटी को देखते-देखते ही उन्हे इसके प्रति वैराग्य पैदा होता है और इससे दूर जाने का निर्णय करते है। भवचक्र से विरक्ति होते ही उन्हे स्वभावतः विवेक पर्वत पर प्रेम और आकर्षण उत्पन्न होता है, क्योकि उनको यह ज्ञात हो जाता है कि वास्तविक सुख का कारण यह महान पर्वत ही है। भैया ! इस निर्णय के पश्चात् जब तक थोडे समय के लिये वे भवचक्रपुर में रहते है, तब तक वे विवेक पर्वत के माहात्म्य से अत्यन्त सुखी रहते हैं, वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते है और अत्यन्त उन्नत दशा के मार्ग पर आ जाते है। [३८-४४]

अप्रमत्तत्व शिखर

भाई प्रकर्ष ! तेरे समक्ष मैंने समस्त प्राणियो के लिये सुख का हेतु इस विवेकगिरि के स्वरूप का वर्णन किया। अब मैं इस पर्वत के उत्तु ग शिखर अप्रमत्तत्व के विषय मे तुम्हे बताता हूँ, सुनो। यह शिखर समस्त दोषो को नष्ट करने वाला है और अन्तरग राज्य के समग्र दुष्ट राजाओ के लिए यह अत्यन्त त्रासदायक बन गया है। वत्स ! कारण यह है कि पर्वत पर आरूढ लोगो मे उपद्रव फैलाने के लिये जब महामोह आदि शत्रु प्रयत्न करते है तब विवेकगिरि पर स्थित लोग इस अप्रमत्तत्व शिखर पर चढकर वे अपने शत्रुओं पर ऐसी मार करते हैं कि वे बेचारे पर्वत पर से

---

१ पृष्ठ ४४२

लुढकते हुए जमीन पर आ गिरते है और उनके शरीर का ऐसा चूरा हो जाता है कि वे कायर भय से शिखर की तरफ देखते हुए भाग खडे होते है। इस शिखर पर मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि रूप किसी भी प्रकार का प्रमाद नही होता। ऐसा लगता है कि विवेक पर्वत पर रहने वाले प्राणियो के शत्रु अन्तरग राजाओ को नष्ट करने के लिये ही इस शिखर का निर्माण हुआ है। भाई! वस्तुत: यह शिखर उज्ज्वल, अति विशाल, अत्यन्त ऊचा, सर्वजन सुखकारी और बहुत ही सुन्दर है। [४५-५१]

जैनपुर

भाई! अप्रमत्तत्व शिखर के वर्णन के पश्चात् अब जैनपुर का तात्त्विक वर्णन सुन। यह श्रेष्ठ नगर, अक्षय आनन्द प्राप्त करवाने का कारण है। पुण्यहीन प्राणी भवचक्र में चाहे जितने समय भटकते रहें तब भी उनको इस पुर की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है, दृष्टिगत होना भी अशक्य है। * क्योंकि, अनन्तकाल तक भवचक्र में भटकते हुए प्राणी (जब ओघदृष्टि का त्याग कर योगदृष्टि मे आते है तब) बडी कठिनाई से सात्विक-मानसनगर मे आते है। उनमे से कई एक तो अनेक भवों तक इस भवचक्र मे भटकते रहते है परन्तु सात्विक-मानसपुर उन्हें दृष्टिगोचर ही नही होता। यदि कभी थोडे समय के लिये सात्विक-मानसपुर मिल भी जाय तब भी वे थोडे समय तक वहाँ रह कर फिर भवचक्र मे चले जाते है। और,वहाँ तो अनन्त नगर है इसलिये उनका कुछ पता ही नही लगता। ऐसे प्राणी इस श्रेष्ठ विवेक पर्वत के दर्शन ही नही कर पाते। इस प्रकार भवचक्र और सात्विक-मानसपुर के बीच अनेक बार भटकते हुए कभी उनकी दृष्टि विवेक पर्वत पर पड जाती है। कितने ही प्राणी तो स्वय अपने ऐसे शत्रु होते है कि अपनी आँखों से ऐसे सुन्दर विवेक पर्वत को देख-कर और उसकी वास्तविकता को समझकर भी उस पर चढने का प्रयत्न नही करते और वापस भवचक्र मे चले जाते है। कुछ प्राणी कदाचित् विवेक पर्वत पर चढकर भी अति सुन्दर किन्तु महा दुर्लभ अप्रमत्तत्व शिखर को नही देख पाते। कुछ इस शिखर को देखकर भी उस पर चढने का प्रयत्न नही करते और आलस्यपूर्वक भवचक्र मे ही आनन्द मानकर बैठे रहते है। अर्थात् पर्वत और उसकी चोटी पर चढने के परिश्रम के भय से वे भवचक्र के दु ख मे ही आनन्द मानकर जमीन पर ही पडे रहते हैं। जो भाग्यशाली प्राणी इस मनोहर अप्रमत्तत्व शिखर पर चढ जाते है वे ही फिर इस जैनपुर को देख सकते है, अन्यथा जैनपुर का दर्शन कराने वाली सामग्री का भव-चक्र मे मिलना अति दुर्लभ है। वत्स! इसीलिये मैने पहले कहा था कि भवचक्र मे भ्रमण करने वाले प्राणियो को सतत आनन्द का कारण इस जैनपुर का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। यह जैनपुर अनेक रत्नो से परिपूर्ण है, सब प्रकार के सुखो की खान है और समस्त ससार की श्रेष्ठतम सारभूत वस्तुओ का भी सार जैसा है। [५२-६२]

---

* पृष्ठ ४८२

जैनपुर के निवासी

वत्स ! इस प्रकार जैनपुर के स्वरूप का सक्षेप मे वर्णन करने के पश्चात् अब मैं जेनपुर के निवासी कैसे हैं, यह बताता हूँ, इसे तू लक्ष्य मे रखले। इस नगर के निवासी सज्जन लोग निरन्तर आनन्द मे रहते है, सब प्रकार की बाधा-पीडा से रहित होते हैं, इसका कारण इस नगर का प्रभाव ही है। यहाँ के समस्त निवासियों ने निर्वृत्ति-नगर (मोक्ष) जाने का दृढ निश्चय कर रखा है और वे उसके लिये निरन्तर प्रयाण करते रहते हैं। बीच-बीच मे कही-कही पर रुक भी जाते हैं। ऐसे विश्राम के समय मे वे विबुधालय मे निवास करते है (किन्तु ज्ञानयुक्त होने से वहाँ भी वे मोक्ष के मार्ग को सरल करते जाते हैं।) इन लोगों के भी महामोह आदि शत्रु तो होते ही हैं पर उनकी शक्ति, बल और धीरज को देखकर वे भय से दूर भाग जाते है और इनसे दूर-दूर ही फिरा/रहा करते है। [६४-६७]

प्रकर्ष मामा! जैसा आप कह रहे है वैसा मुझे तो कुछ लगता नही। इसमे कोई सदेह नही है कि जेसे भवचक्र के लोग महामोह आदि मे आसक्त दिखाई देते है वैसे ही जैनपुर के निवासी भी महामोह आदि आन्तरिक शत्रुओ मे आसक्त दिखाई देते है। क्योकि, ये भी सभी काय करते हुए दिखाई दे रहे हैं जैसे कि भवचक्र के निवासी करते है। जैसे—जैन लोग भगवान् की मूर्ति पर आसक्त (श्रद्धायुक्त) होते हैं। स्वाध्याय पर अनुरक्त होते है। स्वधर्मी-बन्धुओ पर स्नेह रखते है। धर्मानुष्ठान कर प्रसन्न होते है। गुरु-महाराज को देखकर सतोष प्राप्त करते हैं। सदर्थ (ज्ञान) प्राप्ति से हर्षित होते हैं। अपने व्रतो मे दोष लगने पर उन दोषो के प्रति द्वेष करते है। समाचारी (धर्मशास्त्र की मर्यादा) का लोप करने वाले पर क्रोध करते हैं। शास्त्र का विरोध करने वाले पर रोष करते है। अपने कर्मों की निर्जरा होने पर गर्व करते हैं। अपनी ली हुई प्रतिज्ञाओ का ※ निर्वाह होने पर अभिमान करते है। परिषहो पर स्वय की साध्य-प्राप्ति का आधार रखते हैं। देव-कृत उपद्रव होने पर वे उस पर हँसते है। जिन-शासन की हीनता को छिपा लेते हे। स्वयं की धूर्त इन्द्रियो को ठगते है (उन्हे आत्मद्रोह के मार्ग पर जाने से रोक कर आत्म-साधना के मार्ग मे जोडते है।) तपस्या और चारित्र-पालन का लालच रखते हैं। महापुरुषो की सेवा-शुश्रूषा करने मे तल्लीन रहते है। प्रशस्त ध्यानयोग की अच्छी तरह रक्षा करते हैं। परोपकार करने की तृष्णा रखते है। प्रमाद रूपी चोरो का नाश करते हैं। भवचक्र भ्रमण से घबराते है। कुमार्ग से घृणा करते है। निर्वृत्ति-नगर के मार्ग की ओर रमण करते है। विषयजन्य सुख-भोगो की हसी करते हैं। आचार की शिथिलता को देखकर उद्वेग प्राप्त करते हैं। भूतकाल मे अपने द्वारा आचरित असद् आचरण को याद कर शोक करते हैं। अपने उत्तम चारित्र मे भूल होने पर अपने को धिक्कारते हैं। भवचक्रवास की निन्दा करते हैं। तीर्थंकर

※ पृष्ठ ४४४

भगवान् की आज्ञा रूपी स्त्री की आराधना करते है। ग्रहण, शिक्षा और आसेवना शिक्षारूपी ललना की सेवा करते हैं।

मामा! आप देखिये कि ससारी प्राणी जैसे मूर्छा, आनन्द, स्नेह, प्रेम, सतोष, हर्ष, द्वेष, क्रोध, रोष, अहकार, विश्वास, विस्मय, गूढता, वचन, लोभ, वृद्धि, रक्षा, तृष्णा, हिसा, भय, घृणा, रमणता, हास्य, उद्वेग, शोक, तिरस्कार, निन्दा, युवति-आराधना, युवति-सेवा आदि भावो मे रत रहते है वैसे ही जैनपुरवासी भी मूर्छा, स्नेह, प्रेम आदि सर्व भावो मे एक या दूसरे प्रकार से अनुरक्त दिखाई देते है। आप जानते हैं कि महामोह आदि अन्तरग शत्रु ससारी प्राणियो मे मूर्छा आदि समस्त भाव फैलाते है, वे ही भाव जब जैनपुरवासियो मे भी स्पष्टत दिखाई दे रहे है, तब आप कैसे कहते है कि जैनपुरवासियो ने महामोह आदि राजाओ को दूर भगा दिया है? [६६–७०]

विमर्श—भाई! पहले तुमने जो महामोह आदि देखे थे उनसे जैन लोगो के महामोह आदि भिन्न-भिन्न है। यहाँ जो महामोह आदि दिखाई देते है वे जैन लोगो के प्रति अत्यन्त प्रेमालु है, बन्धुता रखने वाले और उनका श्रेय बढाने वाले है। महामोहादि दो प्रकार के है। अप्रशस्त—जो सर्व प्राणियो के शत्रु है और प्रशस्त—जो सब के अतुलनीय बन्धु है। पहले प्रकार के अप्रशस्त मोहादि प्राणियो को ससार चक्र मे धकेलते है, उनका पतन कराते हैं, क्योकि, वे स्वभाव से ही वैसे है। जब कि दूसरे प्रकार के प्रशस्त मोहादि प्राणियो की उन्नति कराते है, उन्हे निर्वृत्ति-मार्ग की तरफ ले जाते हैं, क्योकि इनका स्वभाव ही ऐसा है। जैन सज्जनो के पास से अप्रशस्त मोहादि दूर हो गये है और प्रशस्त मोहादि उनके साथ है जिससे जैनपुरवासी सज्जन बनकर निरन्तर आनन्द मे रहते है।

इस प्रकार समस्त प्रकार के कल्याणो का उपभोग करने वाले जैन सज्जनो का स्वरूप-वर्णन करने के पश्चात् अब मैं विवेकगिरि के शिखर पर आये हुए चित्त-समाधान मण्डप आदि के बारे मे बताता हूँ। [७१–७६]

चित्त-समाधान मण्डप

इस मण्डप मे ऐसी अद्वितीय शक्ति है कि जब वह प्राणी को प्राप्त हो जाता है तब अपने वीर्य से प्राणी को अतुल सुखी बनाता है। त्रैलोक्य के बन्धु महाराजा के बैठने के लिये स्रष्टा ने यह मण्डप बनाया है। जब तक प्राणी को चित्त-समाधान मण्डप की प्राप्ति नही होती तब तक सम्पूर्ण भवचक्र नगर मे प्राणी को सुख की गन्ध भी नही मिल सकती। [७७–७६]

निःस्पृहता-वेदी

भाई प्रकर्ष! मण्डप का स्वरूप बताने के बाद अब मै उस मण्डप के मध्य बनी नि.स्पृहता-वेदी के सम्बन्ध में बताता हूँ। जो लोग इस नि स्पृहता-वेदी का पुनः-पुनः स्मरण करते है उन्हे शब्दादि इन्द्रिय भोग तो

विष के समान लगते हैं। उन्हे इन भोगों में किसी प्रकार का रस या आनन्द नहीं मिलता। उनका मन ऐसे भोगों पर तनिक भी आसक्त नही होता जिससे उन्होने जो कर्म पहले एकत्रित किये थे उनका भी क्षय होता जाता है। अतः कर्मरूपी मैल से रहित होकर * निर्मल बनकर भवचक्रपुर से पराङ मुख होकर ही वे इस ससार में रहते हैं। जिन भाग्यवान प्राणियो के मन मे यह निःस्पृहता वेदो बस गई है उन्हे फिर देवता तो क्या इन्द्र की भी आवश्यकता नही रहती। राजा की चापलूसी या किसी अन्य के सहयोग की भी अपेक्षा नही रहती। विधाता ने इस वेदी का निर्माण भी इन श्रेष्ठतम महाराजा के वैठने के लिये ही किया है। [८०–८४]

जीववीर्य सिंहासन

भाई प्रकर्ष! इसी प्रकार निःस्पृहता वेदी पर जो जीववीर्य नामक सिंहासन रखा है, उसके बारे मे बताता हूँ। जिन प्राणियो के मन में जीववीर्य की स्फुरणा होती है उन्हे सुख का ही अनुभव होता है। फिर उन्हें दुःख में पड़ने का कोई प्रसग नही रहता। इस सिंहासन पर बैठे ये राजा अत्यन्त देदीप्यमान और तेजस्वी शरीर वाले हैं। इनके चार सुन्दर मुख (चतुर्मुख) दिखाई दे रहे हैं। ये सकल-जगत् के बन्धु हैं और सब को अत्यन्त आनन्द देने वाले हैं। इन राजाओं का जो पवित्रतम परिवार दिखाई देता है और जो यह महान राज्य, सम्पत्ति, महत्त्व और अतुल तेज दिखाई देता है, उन सब का कारण यह सिंहासन ही है। अधिक क्या कहूँ! सक्षेप मे, सात्विक-मानसपुर यहाँ के निवासी, विवेक पर्वत, अप्रमत्तत्व शिखर, जैनपुर, वहाँ के निवासी, यह मण्डप, वेदी और अपनी सेना के साथ ये महान राजा यहाँ दिखाई देते हैं तथा समस्त लोक में सब से सुन्दर आनन्दमय मनोराज्य यहाँ दिखाई देता है वह सब इस सिंहासन का ही प्रताप है। यदि यह जीववीर्य सिंहासन यहाँ न हो तो पूरे मण्डप पर अप्रशस्त महामोहादि राजा चढ़ाई कर देंगे और देखते ही देखते सब को पराजित कर देंगे। किन्तु, मण्डप मे इस सिंहासन की स्थापना होने से अप्रशस्त मोहादि राजा इस मण्डप मे घुस भी नही सकते। वत्स प्रकर्ष! यदि किसी समय महामोहादि राजा इस सेना का तिरस्कार करे तो जीववीर्य के प्रभाव से ये अपनी शक्ति द्वारा अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित कर लेते हैं। जब तक यह सिंहासन यहाँ प्रकाशित है, तभी तक वह सर्वतोभद्र (चार द्वार वाला) चित्त-समाधान मण्डप, सिंहासन पर विराजमान राजा, उसकी सेना, विवेकगिरि और जैनपुर दिखाई देते है, अर्थात् ये सभी इस सिंहासन के प्रभाव से प्रभावित हैं। भाई प्रकर्ष! इस प्रकार तेरे सम्मुख इस जीववीर्य सिंहासन के स्वरूप का वर्णन किया, अब मैं इस सिंहासन पर बैठने वाले राजा और उसके परिवार का वर्णन करता हूँ। [८५–९५]

प्रकर्ष का तत्त्वचिन्तन

प्रकर्ष ने अपने मन में विचार किया कि मामा ने जो वर्णन किया इसका भावार्थ (रहस्य) मेरे मन में इस प्रकार स्फुरित होता है। सर्व प्रथम सात्विक-

* पृष्ठ ४४५

मानसपुर का वर्णन तो अकाम निर्जरा की अपेक्षा से प्राणी मे उत्पन्न ज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि के उत्कट वीर्य जैसा है। (जैसे नदी मे पत्थर घिसते-घिसते अपने आप गोल हो जाते है, वैसे ही कुटते-पिटते प्राणी को अपने आप अकाम निर्जरा हो जाती है। आत्म-प्रदेश से कर्म अवश्य छूट जाते है, पर उस समय उसे योग्य-अयोग्य का ज्ञान नही होता। साधारणतः ओघदशा को छोडकर जब प्राणी धर्म की और उन्मुख होता है, तभी यह दशा प्राप्त होती है।) सात्विक-मानसपुर के निवासी विशुद्ध ज्ञानरहित सात्विक मन के कारण विबुधालय मे जाते है। फिर जैनधर्म के सिद्धान्तो को जाने बिना भी मात्र कर्मो की निर्जरा से प्राणी मे ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह स्वय को धन, स्त्री, पुत्र, शरीर आदि से भिन्न समझने लगता है और यह भी जानने लगता है कि महामोहादि राजा अत्यन्त दुष्टतम शत्रु है, महान भयकर है। ऐसी बुद्धि की प्राप्ति को ही विवेक कहा जाता है। विवेक के आने से कितने ही प्राणियो के दोष कम हो जाते है, क्योकि वे विवेक के कारण से कषायो से पीछे हट जाते है। ऐसे प्राणियो मे जो अप्रमादीपन आता है उसी को ❋ अप्रमत्तत्व शिखर कहा गया लगता है। फिर शिखर पर जो जैनपुर बताया गया है वह (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप) चार प्रकार के महासघ मे रहने वाले लोगो को अत्यन्त प्रमोद प्रदान करने वाला द्वादशागी रूप जैन प्रवचन ही प्रतीत होता है। उपरोक्त चतुर्वर्ण महासघ के लोग जो सर्व गुण-सम्पन्न है तथा द्वादशागी मे वर्णित आज्ञाओ को कार्य-रूप मे परिणत करने वाले है वे जैनपुरवासी लगते है। सब का सार रूप चित्त-समाधान मण्डप है क्योकि नगर की शोभा उसके मण्डप से ही होती है। निःस्पृहता वेदी और जीववीर्य सिहासन तो स्पष्ट शब्दो मे वर्णित है अत. स्वतः ही समझ मे आ जाते है। यह सब वर्णन मुझे भावार्थ के साथ समझ मे आ गया है, अतएव राजा, उसका परिवार और उसकी सेना के सम्बन्ध मे जो वर्णन आगे आयेगा वह भी भावार्थ सहित समझ मे आ जायेगा, इसमे क्या शका है? उपरोक्त वर्णनो का रहस्य भली प्रकार समझ मे आ जाने से प्रकर्ष अत्यधिक प्रमुदित हुआ।

[९६-१०५]

❋

❋ पृष्ठ ४४६

३४. चारित्रधर्मराज

[आज प्रकर्ष के आनन्द का कोई ओर-छोर ही नहीं था। वह सात्विक-मानसपुर, चित्त-समाधान मण्डप, वेदी और सिंहासन के तत्वचिन्तन में डूब गया। इस चिन्तन से उसके मन की मधुरता बढ़ती गई और जीववीर्य सिंहासन पर बैठे राजा का वर्णन सुनने के लिये वह अधिक उत्सुक हो गया।]

प्रकर्ष का चिन्तन पूरा होने पर उसने राजा का वर्णन सुनाने के लिये मामा से प्रार्थना की। इस पर बुद्धिदेवी के भाई विमर्श ने राजाधिराज के स्वरूप का वर्णन करना प्रारम्भ किया।

चतुर्मुख राजाधिराज

भाई प्रकर्ष! यह राजा जो यहाँ दिखाई दे रहा है वह लोगों में चारित्र-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। और, वह स्वयं अत्यन्त सुन्दर है। इस राजा में अनन्त शक्ति का भण्डार भरा हुआ है, जिससे वह संसार का हित करने में तत्पर रहता है। इसकी दण्ड-पद्धति भी भावना से परिपूर्ण है; जो समझने योग्य है। वह सर्व गुणों की खान और अत्यन्त विश्रुत है। वत्स! इनको ध्यान पूर्वक देखो, इनके चार मुख हैं। इन चार मुखों के क्या-क्या नाम हैं और इनकी कितनी शक्ति है, वह बताता हूँ। इनके नाम क्रमशः दान, शील, तप और भाव हैं। इनके क्या-क्या कार्य हैं, सुनो।

[१०६-११०]

१. दान-मुख

इन चारों में सब से प्रथम दान मुख है। यह जैनपुर निवासी पात्रों मे मोहराजा का नाश करने के लिए सत्य का ज्ञान फैलाता है और संसार के सभी प्राणियो को प्रिय अभय का सर्वत्र प्रसार करता है। यही मुख यह भी कहता है कि विशुद्ध धर्म के आधारभूत शरीर की सहायता प्रदान करने हेतु आवश्यक वस्त्र, पात्र, आहार, आदि का सुपात्र को दान देना चाहिये। किसी गरीब, अन्धे, पंगु, लंगडे, दीन-हीन को देखकर उसके प्रति दया आने से उसे आहार आदि देने का यह मुख कभी निषेध नहीं करता। कई लोग गाय, घोड़ा, जमीन, या सोना आदि का दान देने का भी उपदेश देते हैं पर ऐसे दान से किसी प्रकार का गुण (लाभ) नहीं होता, अतः यह मुख ऐसे दान का उपदेश नहीं देता। यह दान-मुख सदाशयकारक, आग्रह को दूर करने वाला और संसार मे दया फैलाकर बंधुभाव का प्रसार करने वाला है। भद्र! इस प्रकार दान नामक प्रथम मुख का वर्णन किया। अब मैं राजाधिराज के दूसरे शील नामक मुख का वर्णन करता हूँ, सुनो। [१११-११६]

२. शील-मुख

वत्स ! दूसरा शील मुख है। चारित्रधर्मराज का यह मुख जिस प्रकार कथन करता है तदनुसार ही जैनपुर में जितने साधु रहते है वे सब उसका आचरण करते है। यह शीलमुख साधुओ को अठारह हजार नियमों का निर्देश करता है, उन सब का ये मुनिपुंगव प्रतिदिन पालन करते है। यह उत्तम शील (विशुद्ध व्यवहार) ही साधुओं का सर्वस्व है, सच्चा आलम्बन है, और उनका आभूषण है। * मुनियो को तो यह मुख सम्पूर्ण रूप से शील-पालन का आदेश देता है, इसके आदेशानुसार मुनिवर्ग भी पूर्णरूपेण सुखपूर्वक पालन करता है। साथ ही मुनिवर्ग के अतिरिक्त गृहस्थ भी इन नियमो का थोड़ा-थोडा पालन करते है। वत्स ! मैंने शील नामक दूसरे मुख का स्वरूप बताया, अब मै तीसरे मुख का वर्णन करता हूँ, सुन।
[११७-१२.]

३. तप-मुख

चारित्रधर्मराज का तीसरा तप नामक मुख अत्यन्त ही मनोहारी है। यह सब प्रकार की आकाक्षा को दूर कर, दुःख का नाश कर प्राणी को सुखमय बनाता है। (आकाक्षा के दूर होते ही प्राणी निःस्पृह बन जाता है जिससे वह किसी के आधीन नही रहता। आकाक्षा और व्याधि के नष्ट होते ही ससार का रास्ता सरल, सीधा और सपाट हो जाता है।) यह तप-मुख प्राणियो मे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है, ससार पर सवेग प्राप्त करवाता है, मन की समता दिलवाता है, शरीर को सुखकारी और सुन्दर बनाता है और अन्त मे दुःख और विनाशरहित शाश्वत सुख के योग्य बनाता है। सज्जन पुरुष इस नरेन्द्र का तप-मुख देखकर, इसकी आराधना कर और अपने असाधारण सत्व का उपयोग कर अन्त मे लीलापूर्वक निर्वृत्तिनगरी को चले जाते है। (कर्मो की निर्जरा करने का यह मुख प्रबल साधन है। तीर्थंकर अपनी मुक्ति उसी भव मे जानते हुए भी तप की आराधना करते है। तप से शरीर सुख बढता है, यह तो तप करने वालो के अनुभव का विषय है।) हे वत्स ! चारित्र-धर्मराज के तीसरे मुख का स्वरूप वर्णन कर, अब मै चौथे मुख शुद्ध भाव का वर्णन करता हूँ। [१२२-१२५]

भाव-मुख

सुज्ञ सज्जन पुरुष चारित्रधर्मराज के चौथे भाव मुख का भक्ति पूर्वक स्मरण करते है, देखते है और आराधना करते है, उससे उनके समस्त पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं और शाश्वत सुख को प्राप्त करते है। इस मुख की आज्ञा का अनुसरण कर जैन सत्पुरुष (१२ भावनाओ का) विचार करते है—अहो ! इस ससार मे जितने भी पदार्थ दिखाई देते है वे सब तुच्छ और नाशवान है (अनित्यभाव)। पूर्व कर्म के उदय से जब प्राणी ससार मे दुःख और पीड़ा भोगता है तब उसे कोई

---

* पृष्ठ ४४७

शरण नही देता, कृत-कर्मो को स्वयं ही भोगना पड़ता है (अशरणभाव)। यह प्राणी संसार-समुद्र मे अकेला ही आया है और अकेला ही जायगा, न उसका कोई है और न वह किसी का है (एकत्वभाव)। इस संसार मे शरीर, धन, धान्य आदि वस्तुएं जो प्राणी को बांधकर रखती हैं वे सब बाह्य पदार्थ उससे भिन्न है, उनके साथ उसका कोई वास्तविक सम्बन्ध नही है (अन्यत्वभाव)। यह शरीर मल, मूत्र, आन्तडिया खून, मास, चर्बी आदि दुर्गन्धपूर्ण पदार्थो से आछन्न है, घृणाकारक है। ऐसे शरीर मे से नाममात्र भी पवित्रता की गन्ध प्राप्त हो ऐसा संभव नही है (अशुचिभाव)। इस संसार मे एक जन्म की स्त्री अन्य जन्म मे माता भी बन जाती है और पिता पुत्र भी बन जाता है, यह जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है (संसारभाव)। मन, वचन, काया के अशुभ योगो की प्रवृत्ति से और पापस्थानको के आचरण से प्राणी निरन्तर आस्रव (कर्म ग्रहण) करता रहता है और कर्म बन्ध से भारी होता जाता है (आस्रवभाव)। कोई-कोई प्राणी कर्म से छुटकारा पाने के विचार से सदाचार (श्रमणधर्म. शुद्ध भावना. परिषह, अष्ट प्रवचन माता आदि) द्वारा आते हुए कर्मो को रोकता है (संवर भाव)। बारह प्रकार के तप द्वारा निरन्तर कर्मो की निर्जरा करता है जिससे पूर्व मे बांधे हुए कर्म भोगे बिना भी आत्म-प्रदेश मे अलग हो जाते है (निर्जराभाव)। प्राणी इस संसार मे समस्त स्थानों पर जन्म और मृत्यु प्राप्त कर चुका है और संसार मे विद्यमान समस्त रूपी द्रव्यो को एक या दूसरे रूप में भोग चुका है, फिर भी वह संसार भ्रमण से नही थकता, खाते-खाते नही अघाता, यह संसार उसे कडुआ नही लगता (लोकस्वभावत्वभाव)। संसार समुद्र को पार करने के लिये तीर्थ करो द्वारा प्ररूपित स्याद्वाद शैली युक्त जैनधर्म ही वास्तव मे शक्तिमान है (धर्मभाव)। परन्तु, संसार-चक्र मे प्राणी को इस सर्वज्ञ-दर्शन-धर्म-प्राप्ति की सामग्री बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है, मिल भी जाय तो उसको पहचानना दुष्कर है और पहचान भी ले तो उसे स्वीकार करना एवं उसका अनुष्ठान/आचरण करना और भी कठिन है (बोधिदुर्लभ भाव)। जो श्रद्धावान विशुद्ध बुद्धिशाली प्राणी इस भाव-मुख को आज्ञानुसार ऐसी और इसके समान अन्य भावनाएं धारण करते हैं वे वास्तव मे भाग्यशाली मनस्वी और मनीषी है। भैया! चारित्रधर्मराज का यह चौथा मुख बहुत सुन्दर एवं दर्शनीय है। इसके दर्शन से अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है और स्वभाव से भी यह मुख सब को अपूर्व सुख प्रदान करने वाला है।

[१२८-१३६]

भाई प्रकर्ष! महाराजा चारित्र-धर्मराज इस प्रकार अपने चारो मुखो से सभी नगरवासियो को असीम सुख प्रदान करते हैं। ये महाराजा संसार मे भटकने वाले सभी प्राणियों को निरन्तर सुख देने वाले ही है, क्योकि जो स्वय अमृत हो वह दूसरो को दुःख देने वाला कैसे हो सकता है? (आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार-चक्र मे रहने वाले प्राणियों मे से अत्यल्प प्राणी ही इनके स्वरूप को पहचानते है और उस

स्वरूप को हृदय में धारण करते है।) ❀ भवचक्र निवासी अधिकाश पापी प्राणी तो इन्हे पहचानते ही नही, कुछ पुण्यहीन प्राणी पहचान कर भी इनकी निन्दा करते है। चतुर्मुख चारित्रधर्मराज महाराजा के वर्णन के बाद अब मैं उनके परिवार के बारे में बताता हूँ। [१३७-१४०]

विरति महादेवी

भाई प्रकर्ष ! महाराजा के अर्धासन पर विराजमान सर्वागसुन्दरी, सर्व परिमित अवयववाली, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल जो स्त्री बैठी है, यह विरति नामक महारानी है। चारित्रधर्मराज के समान यह भी समस्त गुण और वीर्य/शक्ति सम्पन्न है। यह विश्व मे लोगो को आह्लाद प्रदान करने वाली और निर्वृत्ति (मोक्ष) का मार्ग बताने वाली है। महाराजा के साथ जब यह तादात्म्यरूप/एकरूप हो जाती है तब तो वे भिन्न-भिन्न दिखाई ही नही देते अर्थात् अभिन्न दिखाई देते है। [१४१-१४३]

पाँच मित्र

महाराजा के पास जो पाँच राजा बैठे हैं वे उनके विशेष अगभूत मित्र है। इनमे से प्रथम का नाम सामायिक भूपति है। वत्स ! यह जैनपुरवासियो को समग्र पापो से विरति (छुटकारा) दिलाता है। भैया ! दूसरे मित्र का नाम छेदोपस्थापन नृपति है, यह पापानुष्ठान समूह को विशेषरूप से रोकता है। तीसरे मित्र का नाम परिहार-विशुद्धि नरेश्वर है, इसकी आज्ञानुसार साधु १८ माह तक विशेष उग्र तप करते हैं। चौथे मित्र का नाम सूक्ष्मसंपराय नृपति है, यह प्राणियो के सूक्ष्म पापाणुओ का नाश करता है। पांचवे मित्र का नाम यथाख्यात भूपति है, यह विशुद्ध, निर्मल और सारभूत मित्र है तथा समस्त पापो का नाश करने वाला है। [१४४-१४९]

ये पांचो मित्र चारित्रधर्मराज महाराजा के शरीर के अग जैसे, उनके जीवन, प्राण और सर्वस्व है। [१५०]

❀

❀ पृष्ठ ४४८

३५. श्रमण-धर्म और गृहस्थ-धर्म

[चारित्रधर्मराज का सुन्दर वर्णन, विरतिदेवी का परिचय, महाराजा के ५ मित्रों की पहचान, विशाल मण्डप, आकर्षक वेदिका, भव्य सिंहासन आदि हृदय को निर्मल कर ही रहे थे, उस पर राजा के वर्णन ने प्रकर्ष को अधिक जिज्ञासु बना दिया। वह चारित्रधर्मराज के पूरे परिवार से परिचय करने को आतुर हो गया। मामा ने वर्णन आगे चलाया।]

युवराज यति-धर्म (श्रमण-धर्म)

चारित्रधर्मराज के पास जो राज्यतेज से प्रदीप्त मुख वाला युवक दृष्टि-गोचर हो रहा है वह महाराजा का पुत्र है यह युवराज यति-धर्म (श्रमण-धर्म) है। तुमने जो नगर के बाह्य भाग मे मुनिपुंगवो को देखा था, उन्हे यह युवराज अतिशय प्रिय है। वत्स! युवराज के आसपास जो दस मनुष्य बैठे हैं वे क्या-क्या कार्य करते हैं, तुम्हे संक्षेप में बताता हूँ, तुम समझलो। [१५१-१५३]

क्षमादि दसविध यति-धर्म

१. क्षमा—वत्स! इन दस में जो पहली स्त्री दिखाई देती है उसका नाम क्षमा है। यह क्षमा मुनियो को अत्यधिक प्रिय है। यह मुनियो को उपदेश देती है कि सदा क्रोध का निवारण करो और शान्ति धारण करो। [१५४]

२ मार्दव—वत्स! उसके बाद जो छोटे बालक जैसा सुन्दर रूपवान प्राणी दिखाई देता है वह मार्दव के नाम से प्रसिद्ध है। वह अपनी शक्ति से साधुओं में अत्यधिक नम्रता उत्पन्न कर मद/अहंकार का नाश करता है। [१५५]

३. आर्जव—तीसरा बालक जैसा अति सुन्दर रूप वाला मनुष्य दिखाई देता है वह आर्जव के नाम से पहचाना जाता है। यह प्रशस्त बुद्धिवाले मनुष्यों मे सर्वत्र सरलता (ऋजुता, लघुता) के भाव उत्पन्न करता है और उन्हे छल-छद्म रहित बनाता है। [१५६]

४. मुक्तता वत्स! चौथी जो सुन्दर रूपवती स्त्री दिखाई देती है उसका नाम मुक्तता है। ※ यह मुनियो के मन को बहिरंग (द्रव्य परिग्रह) और अन्तरग (कषाय विकारादि) भावों से तथा तृष्णा से मुक्त कराती है, निस्संग बना देती है। अर्थात् इससे बाह्य और अन्तरंग परिग्रह को छोड़ देने की शुभ प्रवृत्ति पैदा होती है। [१५७]

※ पृष्ठ ४४९

५. **तपोयोग**— प्रकर्ष ! युवराज के पास बैठे दस मनुष्यो मे से पाँचवे का नाम तपोयोग है । यह अत्यन्त पवित्र और विशुद्ध है । इसके पास इसके अगभूत १२ मनुष्य दिखाई देते है, इनके प्रभाव से नरोत्तम तपोयोग जैनपुर मे क्या-क्या चमत्कार दिखा सकता है, वह भी सक्षेप मे बताता हू । **अनशन** नामक पुरुष प्राणियो से सब प्रकार के आहार का त्याग करवाकर नि स्पृह (इच्छा, आकाक्षा रहित) बना देता है । **न्यूनोदर** पुरुष भूख से कम भोजन करवाकर स्वास्थ्य अच्छा रखता है और वीर्य की वृद्धि करता है । **वृत्ति-सक्षेप** के आदेश से मुनिगण अनेक प्रकार के श्रेष्ठ अभिग्रह धारण करते है, इसके कारण जीवन नियमित होने से उनमे सुख शान्ति की वृद्धि होती है । **रसत्याग** पुरुष के आदेश से मोह और विषयाभिलाषा के उद्रेक का कारण होने से मुनिगण रस वाले विकृतिकारक पदार्थो का त्याग करते है । **कायक्लेश** के निर्देश से मुनिगण कायिक कष्ट सहन करने का अभ्यास कर कर्मो की निर्जरा की ओर प्रवृत्त होते है । **सलीनता** के निर्देशानुसार मुनिगण अगोपागो का उपयोग (विवेक, सावधानी) पूर्वक करते है । अनावश्यक हलन-चलन न कर अपने आचार को पवित्र रखते है तथा इन्द्रिय, कषाय और योगो का सगोपन करते हैं । इसी से प्रेरित होकर विविक्तचर्या (एकान्त वास) करते है । (ये छ. प्रकार के पुरुष समस्त बाह्य विषयो पर विजय प्राप्त करवाते है, जिससे त्याग भाव को अगीकार करने का सीधा सरल और लाभकारी मार्ग प्रशस्त होता है ।) [१५८–१६३]

इस तपोयोग के साथ अन्य छ. अगभूत पुरुष भी है जो अन्तरग साम्राज्य को विस्तृत करते है और अत्यन्त लाभकारी है । उनमे प्रथम पुरुष **प्रायश्चित्त** है । यह प्रायश्चित्त दस प्रकार का है :—(१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४ विवेक, ५. कायोत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९ अनवस्थाप्य, १०. पाराचिक ।) दूसरा पुरुष **विनय** नामक है जो (अनाशातना, भक्ति, बहुमान, गुण-प्रशसा) चार प्रकार का है । तीसरा पुरुष **वैय्यावृत्त्य** नामक है जो (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, स्वधर्मीबन्धु, कुल, गण और सघ) दस प्रकार का है । चौथे पुरुष का नाम **स्वाध्याय** है जो (वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा) पाँच प्रकार का है । पाँचवा पुरुष जो दिखाई देता है, उसका नाम **ध्यान** है । उसके धर्मध्यान और शुक्लध्यान दो भेद है । अन्तिम पुरुष का नाम **उत्सर्ग** है, यह श्रेष्ठ मुनिपुगवो को गण, उपधि, शरीर तथा आहार पर नि.स्पृह (स्पृहा रहित) बनाता है । योग्य समय आने पर प्रेरित कर बाह्य वस्तुओ का सर्वथा त्याग करवाता है । (कर्म-क्षय के लिये बार-बार एकाग्र ध्यान से कायोत्सर्ग करने का भी इसा मे समावेश होता है ।) छ बाह्य और छ अन्तरग रक्षको के सम्बन्ध मे सक्षिप्त वर्णन मैंने सुनाया, वैसे विस्तृत वर्णन करने लगू तो उसका कोई अन्त ही नही । [१६४-१६७]

६. **संयम**—प्रकर्ष ! श्रमण-धर्म युवराज के पास बैठे हुए दस मनुष्यो मे से छठा मनोहारी श्रेष्ठ पुरुष ससार मे सयम के नाम से प्रसिद्ध है और मुनियो का

प्रिय है। सयम के आसपास १७ व्यक्ति बैठे हुए है वे जैनपुर मे क्या-क्या आनन्द उत्पन्न करते है वह सक्षेप मे बताता हूँ। इन १७ मे से पहले के पाच आस्रवपिधान (आस्रव को ढकने वाले) के नाम से प्रसिद्ध है। (इनके नाम क्रमश. इस प्रकार है :— १. प्राणातिपात विरति, २. मृषावाद विरति, ३. अदत्तादान विरति, ४ मैथुन विरमण, और ५ परिग्रह विरति।) उनके आगे जो ५ व्यक्ति बैठे है वे पचेन्द्रियनिरोध के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे निम्न है—(स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द। जो इन पाँचो इन्द्रियो को दृढता से वश मे रखते है।) उनके आगे जो चार व्यक्ति बैठे है वे क्रोध, मान, माया और लोभ को वश मे रखते हैं और अन्तिम तीन व्यक्ति मन, वचन और काया के सर्व योगो को वश मे रखते हैं। इस प्रकार सयम अपनी शक्ति से ५ आस्रवो को ढँक कर, मुनिवर्ग को शाति के बोध से आकुलतारहित बना देता है, पाँच इन्द्रियो को वश मे करवा कर उन्हे इच्छा/आकाक्षारहित स्थिति में सम्पूर्ण प्रकार से सन्तुष्ट बना देता है, कषाय के ताप को शान्त कराकर चित्त को ऐसा शीतल बना देता है कि उन्हे निर्वाण जैसे सुख की अनुभूति होने लगती है और योगो को वश मे करवा कर मुनि-पुगवो को निश्चितरूप से अतिशय मनोहारी बना देता है। मुनिपुगव इस संयम को निरन्तर धारण करते है और यह संयम अपने वीर्य/शक्ति से इन श्रमणो को धैर्य-समुद्र मे निमग्न कर देता है। अथवा सक्षेप मे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा दो, तीन, चार और पाच इन्द्रिय वाले सर्व प्राणियो की मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार की आरम्भ आदि की हिसा करने करवाने और अनुमोदन करने का यह सर्वथा निषेध करता है। इसके अतिरिक्त यह सयम जीवरहित पुस्तकादि वस्तुओ का भी यत्न पूर्वक प्रतिलेखन, प्रमार्जन का और बीज, वनस्पति या किसी भी प्रकार के जीव-जन्तुरहित स्थान को सोने-बैठने एवं चलने के लिये यत्नपूर्वक प्रमार्जित करने का उपदेश देता है। स्थण्डिल भूमि (शौच भूमि) को प्रेक्षण करने का निर्देश देता है। * आरम्भ/आस्रव कारी गृहस्थों की उपेक्षा करना, उनको आरम्भजन्य कार्यो मे प्रेरित न करना, प्रयोग मे आने वाली भूमि का प्रमार्जन करना, आसन, शयन, वस्त्र-पात्रादि का प्रतिलेखन/परिमार्जन करना, अशुद्ध अथवा अनुपयोगी वस्तु का विधिपूर्वक परिष्ठापन (त्याग) करना, मन को शुद्ध धर्म कार्यो मे प्रवृत्त करना, शुभ भाषा का प्रयोग करना और उपयोग पूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करने का भी यह सयम निर्देश देता है। जिन मुनियो ने ससार के कार्य छोड दिये हैं और जो सर्वदा सुसमाहित (एक समान शान्त) अवस्था मे रहते हैं, उनसे यह संयम उपरोक्त सुन्दर कार्य करवाता है। श्रमणधर्म युवराज के छठे सहचारी संयम का वर्णन करने के पश्चात् अब बाकी के चारो का भी सक्षेप में वर्णन करता हूँ, सुनो। [१६८–१७८]

७. **सत्य**—वत्स प्रकर्ष! युवराज के पास जो सातवा अत्यधिक सुन्दर पुरुष-श्रेष्ठ दिखाई दे रहा है वह यतिधर्म के परिवार मे सत्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राणियो को आज्ञा देता है कि तुम्हे जो कुछ कहना हो वह अन्य व्यक्तियो के

* पृष्ठ ४५०

लिये हितकारी हो, आवश्यकता से अधिक शब्दो का प्रयोग न हो और जगत् को आह्लादित करने वाला हो ऐसे वचन ही बोलो। सत्यधर्म की आज्ञा का ये महामुनि अक्षरश. पालन करते है अर्थात् सत्य वचन ही बोलते है। [१७६-१८०]

८. **शौच**—युवराज के पास बैठे आठवे व्यक्ति का नाम शौच है। यह प्राणियो को बाह्य और आन्तरिक पवित्रता रखने का उपदेश देता है। (४२ दोष-रहित आहार-पानी लेने आदि को बाह्य शौच या द्रव्य पवित्रता कहा जाता है और कषाय रहित होकर शुद्ध अध्यवसाय द्वारा अच्छे परिणाम रखने को भावशोच या आन्तरिक पवित्रता कहा जाता है।) ये मुनिपु गव इस शौच के आदेशो का भी पूर्ण-तया पालन करते हैं। [१८१]

९. **आकिञ्चन्य**—वत्स! उसके बाद छोटे बालक की आकृति वाला जो नौवा मनोहारी पुरुष दिखाई दे रहा है उसका नाम आकिञ्चन्य है। यह श्रमण-पु गवो का अतिवल्लभ है। वत्स! यह मुनिगणो से बाह्य और अन्तरग परिग्रह का त्याग करवा कर उन्हे निष्परिग्रही बना देता है और उनके मानस को स्फटिक जैसा अत्यन्त निर्मल एव स्वच्छ बना देता है। इसका दूसरा नाम निष्परिग्रह भी है। (धन, धान्य, खेत, मकान, सोना, चादी, धातु, द्विपद, चतुष्पद आदि बाह्य परिग्रह और कषाय तथा मनोविकार आदि अन्तरग परिग्रह है।) [१८२-१८३]

१०. **ब्रह्मचर्य**—वत्स! यतिधर्म परिवार मे गर्भज जैसा मनोहर बालक बैठा दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मचर्य के नाम से विख्यात है और मुनियो को हृदय से प्रिय है। दिव्य या औदारिक शरीर वालो किसी भी देवागना या स्त्री के साथ या तिर्यञ्च स्त्री के साथ मन, वचन, काया से सयोग करना नही, करवाना नही और करने वाले की प्रशसा करना नही, ऐसा नवकोटि विशुद्ध उपदेश यह दसवाँ पुरुष देता है। अर्थात् अब्रह्म का पूर्णरूप से स्पष्टत: निर करण करता है।
[१८४-१८५]

वत्स! इस प्रकार सुन्दर दस पुरुषो के परिवार के साथ यह यतिधर्म युवराज जैन सत्पुर मे लीला कर रहा है और सम्पूर्ण नगर मे घूम-घूम कर अपना प्रभाव बतलाता है। [१८६]

सद्भावसारता पुत्रवधु

भाई प्रकर्ष! श्रमणधर्म युवराज की अत्यन्त सुन्दर, कान्तियुक्त और निर्मल नेत्रों वाली सद्भावसारता नामक पत्नी है। चारित्रधर्मराज की पुत्रवधु सद्भावसारता मुनियो को बहुत ही प्रिय है और युवराज श्रमणधर्म तो इसके प्रति इतना अधिक अनुरक्त है कि वह इसके विना एक क्षण भी नही जी सकता। युवराज को अपनी पत्नी पर अत्यधिक स्नेह और सच्चे हृदय से प्रेम है। इनके दाम्पत्य प्रेम

का कितना वर्णन करू ? ससार मे बहुत से पति-पत्नी देखे है पर मुझे इनके जैसा अकृत्रिम स्नेहमय दाम्पत्य जीवन अन्य किसी स्थान पर दिखाई नही दिया ।

[१८७-१८९]

राजकुमार गृहिधर्म

वत्स ! वहाँ एक अन्य छोटा राजकुमार भी दिखाई दे रहा है, जिसका नाम गृहस्थधर्म है, जो श्रमणधर्म युवराज का सहोदर (छोटा) भाई है । इसके आस-पास १२ व्यक्ति बैठे है जो जैनपुर मे अत्यधिक आनन्द लीला करवा रहे है, उनका भी सक्षिप्त वर्णन तुम्हे सुनाता हूँ. वत्स ! तुम एकाग्रचित होकर सुनो ।

[१९०-१९२]❀

१. यह प्रथम पुरुष स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत कहलाता है जो सर्व प्रकार की स्थूल हिंसा का त्याग करने की आज्ञा देता है ।

२. दूसरा पुरुष स्थूल मृषावाद विरमण व्रत है । यह जैनपुर के गृहस्थो को समस्त प्रकार के स्थूल (मोटे) असत्य भाषण से निवृत्त करता है ।

३. तीसरा पुरुष स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत है । यह जैनपुर निवासी गृहस्थो को स्थूलरूप से अन्य किसी भी प्रकार की वस्तु या पदार्थ का हरण (चोरी) करने से बचाता है ।

४ चौथा पुरुष स्थूल ब्रह्मचर्य विरमण व्रत है । यह स्त्री को परपुरुष और पुरुष को परस्त्रीगमन से पराड्मुख करता है एव स्व-पति और स्व-स्त्री मे ही सन्तोष रखने का विधान करता है ।

५ पाँचवा पुरुष स्थूल परिग्रह परिमाण विरमण व्रत है । यह गृहस्थ को अपने अधीनस्थ नव प्रकार के बाह्य परिग्रह (धन, धान्य, खेत, मकान, चादी, सोना, कुपद (ताबा, पीतल, लोहा आदि) द्विपद (दास, दासी) और चतुष्पद (पशु) को परिमित (मर्यादित) करने का निर्देश देता है ।

६ छठा पुरुष रात्रि भोजन का परित्याग करवाता है । समस्त दिशा-विदिशाओ के गमनागमन को सीमित करवाता है और गृहस्थ को सवर (कर्मबन्ध-मार्ग का अवरोध) मे स्थापित करता है ।

७ सातवा पुरुष भोगोपभोग विरमण व्रत है । यह उपभोग और परि-भोगजन्य समस्त पदार्थों को सीमित करवाकर, अभक्ष्य पदार्थ भक्षण और असत् व्यापार से रहित बनाकर सत्कार्यो का अनुष्ठान करवाता है ।

८. यह आठवा पुरुष अनर्थदण्ड विरमण व्रत है । यह जैनपुरवासी गृहस्थो को गृहस्थ के लिये आवश्यक साधन एव प्रवृत्ति के अतिरिक्त समस्त अनर्थ-कारी प्रवृत्तियो का त्याग करवाता है । (छ, सात और आठवा पुरुष तीन गुण व्रतो के नाम से भी प्रसिद्ध है ।)

❀ पृष्ठ ४५१

९ यह नौवां पुरुष **सामायिक व्रत** है। यह सासारिक परभावो (विभावो) का त्याग करवाकर स्वाभाविक प्रशमभावो मे अनुरक्त बनाता है।

१०. दसवा पुरुष **देशावकाशिक व्रत** है। छठे व्रत मे जीवन भर के लिये दिशा आदि की जो मर्यादा की हो उसे भी यहाँ परिमित (सीमित) करवाता है।

११ ग्यारहवा पुरुष **पौषध व्रत** है। यह सामायिक व्रत की सीमा को अधिकाधिक विस्तृत करने का दृढ निश्चय करवाता है।

१२. यह वारहवां पुरुष **अतिथि संवि-भाग व्रत** है। वत्स! यह जैनपुर के गृहिधर्मीजनो को अतिथियो का सम्मानपूर्वक उपयोगी पदार्थो को प्रदान करने को प्रेरित कर, कालिमा का नाश कर मन को पवित्र बनाता है।

भाई प्रकर्ष! गृहस्थधर्म नामक यह छोटा राजकुमार जैनपुर मे प्राणियो को जितनी आज्ञा देता है, उसमे से अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार जो प्राणी जितने अश मे उन आज्ञाओ का पालन करता है, उन्हे उतने ही अश मे यह फल भी प्रदान करता है। इसमे तनिक भी सदेह नही है। [१९३–१९८]

सद्गुणरक्तता पुत्रवधु

वत्स! गृहस्थधर्म राजकुमार के पास मे अपनी आँखो मे हर्ष और जिज्ञासा पूरित जो नववधुसी बाला बैठी है, वह गृहस्थधर्म की पत्नी सद्गुणरक्तता है। मुनियो को इस युवती पर बहुत स्नेह है और वह भी प्रतिदिन वडो का विनय करने को तत्पर ही रहती है। उसे भी अपने पति गृहस्थधर्म से उत्कट प्रेम है। ये दोनो राजकुमार और इनकी पत्नियाँ जैनपुर के सभी लोगो को स्वभाव से ही निरन्तर आनन्द देते रहते है। [१९९–२०१]

मामा विमर्श ने कुछ विश्राम लेने के लिये यहाँ अपना वर्णन वन्द किया।

❀

३६. चारित्रधर्मराज का परिवार

[जिसके सुनने मात्र से शान्ति उत्पन्न हो ऐसे चारित्रधर्मराज, उनके पुत्र और पुत्रवधुओ का वर्णन सुनकर प्रकर्ष के आनन्द का पार न रहा। चारित्रधर्मराज के परिवार मे अनेक प्रकाशमान पवित्र रत्न जगमगा रहे थे, जिनका वर्णन सुनने के लिये बुद्धिदेवी का पुत्र प्रकर्ष उत्सुक हो रहा था। क्षण भर रुककर बुद्धिदेवी के भाई विमर्श ने वर्णन आगे चलाया।]

सम्यक्दर्शन सेनापति

वत्स प्रकर्ष ! महाराजा चारित्रधर्मराज के दोनो पुत्रो की देखरेख और पोषण के लिये महाराजा ने सेनापति एव प्रधानमन्त्री के तौर पर जिस व्यक्ति को नियुक्त किया है, वह भी यही बैठा है। इसका नाम सम्यक्दर्शन है। ये राजपुत्र इसके बिना कदापि अकेले दृष्टिगोचर नही होते। ऐसा प्रबन्ध कर दिया गया है कि सम्यक्दर्शन सेनापति राजपुत्रों के अत्यन्त निकट रहकर अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक दोनो की वृद्धि और स्थिरता कराते हैं। पहले के प्रकरण मे यह बताया गया था कि जैनपुर मे सात तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष; जिनका सक्षिप्त परिचय भी वहाँ दिया गया था। ये सेनापति इन सातो के विषय मे दृढ निश्चय कराते है और समझाते है कि इन सात तत्त्वो मे समस्त पदार्थो का न्यायपूर्वक समावेश हो जाता है और इनके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ शेष नही रहता। तदतिरिक्त यह सम्यक्दर्शन भवचक्र नगर के प्राणियो को भवचक्रसे पराड्मुख बनाता है और उस नगर मे से निकलने का इच्छा वाला बनाता है। साथ ही भवचक्र पराड्मुख से प्राणियो को समता धारण करवाता है, समग्र स्थूल पदार्थो पर विरक्ति दिलवाता है, ससार पर उदासीनता उत्पन्न करता है, सकल जीवो पर अनुकम्पा उत्पन्न कराता है और शुद्ध देव पर पूर्ण आस्तिकता का भाव जागृत करता है। अर्थात् सेनापति सम्यक्दर्शन शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता इन पाँच महान गुणो से सुशोभित है। यह प्राणियो से कहता है कि सभी जीवो पर मैत्री भाव रखो, गुणवान को देखकर प्रसन्नता प्रकट करो दीन-दु.खी को देखकर उन पर दया करो, (उसे दु.ख से बचाने का प्रयत्न करो, भविष्य मे उसके दु.ख कैसे कम हो ऐसी योजना बनाओ), पाप करने वाला अपने कर्मों के अधीन है, उसके लिये आप उत्तरदायी नही है, उपाय करने पर भी यदि वह न सुधरे तो उसके प्रति माध्यस्थभाव रखो। ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट विचारो से यह सम्यक्दर्शन जैनपुर के निवासियो के मन को निरन्तर निर्मल बनाता है और निर्वृत्तिनगर जाने की दृढ इच्छा उत्पन्न कर प्राणी को प्रतिदिन थोडा-थोडा निर्वृत्तिनगर की ओर ले जाता है। [२०२–२०६]

सम्यक्दर्शन की पत्नी सुदृष्टि

भैया प्रकर्ष ! सम्यक्दर्शन के पास ही अत्यन्त शोभनाकृति वाली और अन्य के मन को आकर्षित करने वाली जो अत्यधिक सौन्दर्यवती स्त्री बैठी है वह सम्यक्दर्शन की पत्नी है जो सुदृष्टि के नाम से प्रख्यात है। सन्मार्ग मे अपनी शक्ति का सदुपयोग करने वाली सुदृष्टि की विधि पूर्वक सेवा करने से, वह जैनपुर के लोगों का मन सर्वदा स्थिर करती है। [२०७-२०८]

सम्यक्दर्शन की व्यवस्था

भैया ! अब तुझे आगे-पीछे की कुछ बात कहकर संदर्भ याद करवाता हूँ। तुझे याद होगा कि महामोह के प्रधानमन्त्री और सेनापति मिथ्यादर्शन का वर्णन करते समय मैंने बताया था कि वह अतिशय विचित्र चरित्र वाला है, साथ मे उसकी पत्नी कुदृष्टि का भी वर्णन किया था। चारित्रधर्मराज और मोहराज के इन दोनो सेनापतियो को तुमने देखा है। सम्यक्दर्शन सेनापति की सर्व चेष्टाये मिथ्यादर्शन सेनापति से विपरीत दिखाई देगी। सम्यक्दर्शन की सर्व चेष्टाये ससार को आनन्दित करने वाली है। इसकी चेष्टाओ/व्यवहारो पर जैसे-जैसे अधिकाधिक विचार किया जाय वैसे-वैसे वे अत्यधिक सुन्दर प्रतीत होती है। मिथ्यादर्शन मोह-राजा की सेना को नित्य तैयार करता है, सुगठित, अनुशासित और शिक्षित करता है। इधर सम्यक्दर्शन सेनापति चारित्रधर्मराज की सेना को सुशिक्षित और सुगठित करता है। * यह सम्यक्दर्शन सेनापति मिथ्यादर्शन का वास्तविक शत्रु है और इसीलिये उसकी इस पद पर व्यवस्था (नियुक्ति) हुई है। [२०९-२१२]

सम्यक्दर्शन के तीन रूप

इस सम्यक्दर्शन सेनापति के तीन रूप दिखाई देते है, वे भिन्न-भिन्न कारणो से है। कभी वे क्षायिक रूप मे सामने आते है, अर्थात् मिथ्यादर्शन की सारी सेना को मारकर उसकी सारी सामग्री अपने अधीन कर लेते है। कभी औपशमिक रूप से सामने आते है, अर्थात् थोडे समय के लिये मिथ्यादर्शन की सेना को हराकर अपना साम्राज्य स्थापित कर देते है। कभी क्षयोपशमिक रूप से सामने आकर मिथ्यादर्शन की कुछ सेना का नाश कर देते है और कुछ को हराकर दबा देते हैं। भैया ! इसके ये तीनो रूप उसके स्वभाव (प्रकृति) के कारण ही है। अथवा इस सम्यक्दर्शन सेनापति के साथ मन्त्री सदबोध रहता है, वही सेनापति के स्वभावानुसार उनके भिन्न भिन्न रूपो को सम्पादित (प्रस्तुत) करता है। [२१३-२१४]

सद्बोध मन्त्री

भाई प्रकर्ष ! तुझे सद्बोध मन्त्री की भी पहचान करा दूँ। पुरुषार्थ करने मे यह मन्त्री बेजोड है। तीन भुवन मे पुरुषार्थ को साधित करने वाली एक भी ऐसी

* पृष्ठ ४५२

वस्तु नही है जिसके स्वरूप को यह मन्त्री नही जानता हो। यह मन्त्री वर्तमान, भूत और भविष्य में होने वाली घटनाओं को जानता है। सामान्यतः प्रत्यक्ष भावों को ही नहीं, अपितु अति सूक्ष्म भावो को भी यह मन्त्री जानता है। अधिक क्या कहूँ ? समस्त लोक के चल-अचल प्राणियों और अनन्त पदार्थों के अथवा जीव-अजीव के समस्त द्रव्य, गुण और पर्यायों को वह अपनी निर्मल दृष्टि से भली-भांति जानता है। वह नीति-निपुण है और महाराजा का अत्यन्त प्रिय है। राज्य के समस्त कार्यकलापो पर सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करता है और राज्य के बल (सेना) का आदर भी करता है। सेनापति सम्यक्दर्शन को भी यह अत्यन्त प्रिय है। इसके पास रहने पर सेनापति मे भी अधिक स्थिरता आती है। ऐसा अच्छा राज्यनिष्ठ, कर्त्तव्य-परायण, लोक-मान्य और सर्वग्राही मन्त्री सकल विश्व मे भी नहीं है। [२१५–२१६]

यह सद्बोध मन्त्री पूर्व वर्णित सात राजाओ में से ज्ञानावरण राजा का विशेष शत्रु है। यह ज्ञानावरण का क्षय या क्षयोपशम के रूप मे दो प्रकार का माना गया है। [२२०]

सद्बोध की पत्नी अवगति

वत्स ! मन्त्री के पास बैठी हुई जो सुन्दराननना, निर्मला, सुलोचना स्त्री दिखाई देती है, वह उसकी पत्नी अवगति है। वह अपने पति के साथ एक-रूप (अभिन्न) है, पापरहित है, अत्यन्त पवित्र है और पति के स्वरूप मे रहने वाली है। यह मन्त्री के प्राणों के समान उसके हृदय की प्राणेश्वरी है। [२२१–२२२]

सद्बोध मंत्री के पाँच मित्र

सद्बोध मन्त्री के पास जो पाँच श्रेष्ठ पुरुष बैठे दिखाई दे रहे हैं वे अत्यन्त ही उत्तम और मन्त्री के अगभूत इष्ट मित्र हैं। [२२३]

इनमें से प्रथम का नाम अभिनिबोध है। यह नगरवासियों में इन्द्रियों और मन द्वारा भली प्रकार ज्ञान उत्पन्न करता है। [२२४]

भद्र ! दूसरा प्रसिद्ध पुरुष स्वय सदागम है। (यह कथा भी सदागम के समक्ष ही चल रही है, यह पाठकों के ध्यान में होगा।) इस सदागम की आज्ञा से ही सम्पूर्ण नगर का कार्य चल रहा है, इसमें शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। इस राज्य के भूपति को समस्त कार्यों के सम्बन्ध में यह परामर्श देता है। यह वाक्पटु है, शेष चार मित्र तो गूंगे हैं। सदागम की वाणी-कौशल को देखकर महाराज चारित्रधर्म-राज बहुत प्रसन्न हुए और उसी के परामर्श पर महाराजा ने सद्बोध को मन्त्री पद पर नियुक्त किया। वत्स ! यह सदागम निखिल राजाओं और जैन लोगों के समग्र बाह्य विषयो में उत्कृष्ट कारणभूत है, ऐसा समझना चाहिये। सदागम के बिना न तो चारित्रधर्मराज की सेना ही टिक सकती है और न संसार में अपने स्वरूप

से प्रकाशमान यह जैन नगर ही रह सकता है। समस्त कार्यों का उपदेश देने वाला, प्राणी को अच्छे मार्ग पर ले जाने वाला यह दूसरा प्रधानतम पुरुष सदागम ही है। [२२५-२३०]*

तीसरा जो प्रधान पुरुष दिखाई देता है वह सद्बोध मन्त्री का मित्र अवधि है। यह भी अपने अनेक रूपों का विस्तार करता है और लोगों को आनन्दित करता है। कभी यह बहुत दीर्घरूप और कभी छोटा रूप, कभी थोड़ा तो कभी अधिक रूप धारण कर इस संसार में अपनी लीला से दूरस्थित वस्तु को भी देख लेता है। [२३१-२३२]

वत्स! सद्बोध मन्त्री के पास जो चौथा प्रधान पुरुष दिखाई देता है, उसका नाम **मनपर्यव** है। यह अपनी शक्ति से अन्य प्राणियों के मन के भावों को जान सकता है। यह ऐसा महाबुद्धिशाली कुशल पुरुष है कि मनुष्य लोक में ऐसा एक भी मनोगत भाव शेष नहीं रहता जिसे यह न जान सकता हो। [२३३-२३४]

भैया! सब से अन्त में जो पाँचवां पुरुष दिखाई दे रहा है वह सद्बोध मन्त्री का विशिष्ट मित्र **केवल** है जो लोक में विश्रुत है। यह भूत, भविष्य और वर्तमान काल के सकल पदार्थों, भावों और मन की विचार-तरंगों को जान सकता है। संसार में जानने योग्य कोई भी पदार्थ, भाव, अध्यवसाय या घटना ऐसी नहीं है जिसे यह नरोत्तम नहीं जानता हो। जैनपुर से जो निर्वृत्तिनगर जाते हैं उन पुरुषों का यह पुरुषोत्तम केवल प्रकृति से ही नायक है, अग्रगण्य है। [२३५-२३६]

मनुष्य लोक में साक्षात् सूर्य समान सद्बोध मन्त्री अपने पाँच मित्रों और परिवार के साथ आनन्द से रहता है। [२३७]

इतना कहकर मामा विमर्श थोड़ा रुका तो भाणेज ने उससे शंका-समाधान प्रारम्भ कर दिया।

प्रकर्ष—मामा! आपने सद्बोध मन्त्री और चारित्रधर्मराज के परिवार को दिखाया यह तो ठीक किया, पर संतोष महाराजा के दर्शन करने की मेरे मन में उत्कट अभिलाषा है, उनका दर्शन आपने अभी तक नहीं करवाया है। [२३८]

संतोष तन्त्रपाल

विमर्श—भाई! देख, इस संयम नामक (श्रमणधर्म युवराज के छठे मित्र) के आगे जो व्यक्ति बैठा है, वही निश्चय से संतोष है। इसमें कोई संदेह नहीं है। [२३९]

प्रकर्ष—जिस संतोष के साथ शत्रुता के कारण महामोह आदि बड़े-बड़े राजाओं का मन विक्षिप्त हो गया है और उससे लड़ने के लिये उसके विरुद्ध आकर खड़े हुए हैं, क्या वह संतोष वास्तव में कोई बड़ा राजा नहीं है? [२४०]

* पृष्ठ ४५३

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! सचमुच ही यह संतोप कोई मूल (वडा) राजा नही है, किन्तु चारित्रधर्मराज की सेना का एक महारथी है। वास्तविकता यह है कि यह सन्तेष ग्रत्यधिक शूरवीर, नीति-न्याय-तत्पर, दक्ष और सन्धि-विग्रह का विशेषज्ञ है। इसीलिये चारित्रधर्मराज ने इसे अपनी और राजतन्त्र की सुरक्षा हेतु तन्त्रपाल नियुक्त कर रखा है। महाराजा की विशेप सेना और युद्ध सामग्री को लेकर यह कोटवाल की भांति अत्यन्त आनन्दपूर्वक जहाँ-तहाँ घूमता रहता है। एक समय इसने किसी स्थान पर स्पर्शन आदि को देखा (स्पर्शन का वर्णन तीसरे प्रस्ताव मे आ चुका है) और अपनी शक्ति से उन्हे हराकर कुछ मनुष्यो को निर्वृत्तिनगर मे भेज दिया। चारित्रधर्मराज की पूरी सेना ने इस युद्ध मे इसकी सहायता की। लोगो के मुख से जब महामोह आदि राजाओ ने इस युद्ध के समाचार सुने तब उन्हे लगा कि अपने आश्रित स्पर्शन, रसन आदि व्यक्ति यदि इस प्रकार मार खाते जायेंगे तो हमारी शक्ति क्षीण होती जायेगी, अतः युद्ध करने की इच्छा से वे निकल पड़े। भाई ! महामोह आदि राजाओं ने सन्तोप की वीरता को देखकर अपनी वुद्धि के अनुसार यह मान लिया कि वह कोई मूल नायक (वड़ा राजा) है। मनुष्य जितना देखता है उतना ही जानता है, काले सर्प का पेट अन्दर से सफेद होता है, पर लोग उसका ऊपर का भाग ही देखते है. अतः वे उस सांप को काला ही कहते हैं। लोगो की वातें सुनकर मोह राजा सन्तोप को ही स्पर्शन आदि को घातक मानता है, (वास्तव में यह सन्तोष ही स्पर्शन, रसन आदि को अच्छी तरह पछाड़ता है और उनसे त्राहि-त्राहि करवाता है) अतः मोह राजा को जितना क्रोध सन्तोप पर है, उतना अन्य किसी पर नही। इसीलिये सन्तोप को मार भगाने की इच्छा से * महामोहादि राजा अपने-अपने स्थान से अपनी सेनायें लेकर युद्ध करने निकल पड़े हैं। इस युद्ध के लिये योग्य स्थान चित्त-वृत्ति अटवी में अव तक महामोह और सतोप मे अनेक युद्ध हो चके हैं, पर अभी तक किसी की भी अन्तिम हार-जीत का निर्णय नही हो सका है। कभी तन्त्रपाल सतोष अपने शत्रु की पूरी सेना को हराकर उसकी सेना मे घवराहट पैदा कर देता है तो कभी महामोह आदि राजा अपना प्रभाव दिखाकर सतोष को पटकी मारते है। हे कमलनेत्र भाई ! इस प्रकार एक दूसरे के क्रोध के कारण दोनो सेनाओ का युद्ध अनन्त काल से चल रहा है, पर अन्त मे क्या होगा ? यह मैं नही वता सकता। इस प्रकार मैंने तन्त्रपाल संतोप के दर्शन भी तुझे करा दिये हैं. और उसकी वास्तविकता भी वता दी है जिसके विपय मे तुझे अत्यन्त कौतूहल था। [२४८-२५४]

संतोष की पत्नी निष्पिपासिता

भाई प्रकर्ष ! इस संतोष के पास ही एक कमलनयना सुन्दरानना युवा वाला वैठी है, वह इसकी पत्नी निष्पिपासिता है। इस ससार मे पाँचों इन्द्रियो के शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध आदि भिन्न-भिन्न विषय हैं। ससारी प्राणी इन

---

* पृष्ठ ४५४

विषयों मे अत्यासक्त रहते है। सतोष की यह पत्नी मनीषियो के मन को इन्द्रियजन्य विषयो पर से तृष्णा रहित बना देती है, मन को इच्छारहित बना देती है और इन्द्रिय-विषयो के प्रति जीव का जो राग-द्वेष रहता है उससे नि स्पृह कर देती है। अर्थात् चित्त को तृष्णा, राग-द्वेष और द्विधारहित बनाती है। किसी विषय मे लाभ हो या न हो, सुख हो या दुःख हो, सुन्दर वस्तु मिले या दूषित मन पसन्द आहार मिले या नापसन्द, सर्व परिस्थितियो मे यह निष्पिपासिता मन को सन्तुष्ट और स्थिर रखती है। [२५४–२५६]

निष्कर्ष

वत्स प्रकर्ष! अब तू सकल्प-विकल्प को छोडकर चारित्रधर्मराज को परमार्थ से सच्चा राजा समझ। उसके ज्येष्ठ पुत्र श्रमणधर्म और कनिष्ठ पुत्र गृहस्थ-धर्म है, सद्बोध महामन्त्री है जिसे राज्य का सब काम सौप दिया गया है, सम्यक्-दर्शन सेनापति है और सतोष तन्त्रपाल है, यह समझले। जैसे महामोह राजा और उसका परिवार तीनों लोक के लोगो को सताप देने वाले है वैसे ही चारित्रधर्मराज और उसका परिवार तीनो लोको के समस्त प्राणियो को आह्लादित करने वाला है। वत्स! चारित्रधर्मराज और उसका परिवार सम्पूर्ण जगत के लिये वास्तविक अवलम्बन है, जगत के सच्चे और परमार्थ से हित करने वाले तथा सारे विश्व के पारमार्थिक बन्धु (वास्तविक मित्र) है। ये इस अनन्त ससार समुद्र से तैरा कर पार ले जाने वाले है और संसार को ऐसे अनन्त आनन्द समूह को प्राप्त करवाने वाले है जिसका कभी नाश नही होता। चारित्रधर्मराज के साथ जो अन्य नरेश्वर यहां दिखाई दे रहे है वे सब समस्त प्राणियो के सुख के कारण है। भाई! चारित्रधर्मराज के अंगभूत निखिल बान्धवो के गुण-स्वरूप का तेरे समक्ष वर्णन किया। तदुपरान्त वेदिका के पास मण्डप मे जो शुभ-अशुभ आदि बैठे हुए दिखाई दे रहे है वे सब चारित्रधर्मराज के सैनिक है। महाराजा चारित्रधर्मराज को आज्ञा से ये राजा प्राणियो से शोभन कार्य करवाते है, क्योकि वे सभी स्वयं अमृतोपम है। [२५७–२६६]

भाई प्रकर्ष! इन राजाओ के मध्य मे सर्व प्राणियो को सुख देने वाले अनेक स्त्री-पुरुष और बच्चे है। ❀ यह स्थान अनेक राजाओ और असख्य मनुष्यो से परिपूर्ण है, उनका सम्यक् प्रकार से पूर्ण वर्णन करने मे कौन समर्थ हो सकता है? मैंने तुम्हारे समक्ष इस मण्डप और सभास्थान का सक्षिप्त वर्णन किया है। अब यदि तेरा कौतूहल पूर्ण हुआ हो तो हम द्वार की ओर चले अर्थात् यहाँ से चले। [२६७–२६९]

❀ पृष्ठ ४५५

चारित्रधर्मराज की सेना

प्रकर्ष ने भी अपनी यही इच्छा प्रकट की। वहाँ से बाहर निकलते हुए उन्होने चारित्रधर्मराज की चारो प्रकार की सेना का अवलोकन किया। इस चतुरगी सेना मे गम्भीरता उदारता, शूरवीरता आदि रथ है जिनके चलने से चारो दिशाए घन-घनाहट ध्वनि से भर जाती है। कीर्ति श्रेष्ठता, सज्जनता और प्रेम आदि बडे-बडे हाथी है जो विलास करते हुए अपने कण्ठ-निर्घोष से सारे भुवन को भर देते है। बुद्धि-विशालता, वाक्-चातुर्य निपुणता आदि घोडे अपनी हिन हिनाहट से उत्तम प्राणियो के कर्णरध्रो को भर देते है। अचपलता, मनस्विता, दाक्षिण्य आदि योद्धाओ से परिपूर्ण यह चतरगी सेना विस्तृत अगाध शान्ति-समुद्र का भ्रम उत्पन्न करती है। इस चतुरगी सेना को देखकर प्रकर्ष मन मे अत्यन्त आनन्दित हुआ। [२७०–२७५]

प्रकर्ष का आभार-प्रदर्शन

यह सब देखकर प्रकर्ष ने मामा से कहा—मामा ! सचमुच आज आपने मेरे इच्छित कौतूहल को पूरा कर दिया है और इस विश्व मे जो कुछ भी देखने योग्य है वह सब आपने मुझे दिखा दिया है। आपने मुझे नाना प्रकार की अनेक घटनाओ से व्याप्त भवचक्र नगर बताया। महामोह आदि राजा अपनी शक्ति का प्रयोग कहाँ-कहाँ और कैसे करते है, यह बताया। यह मनोहर विवेक पर्वत बताया, पर्वत का आधारभूत सज्जन प्राणियो से परिपूर्ण सात्विक-मानसपुर नगर बताया, पर्वत का अप्रमत्तता शिखर बताया और उस पर बसा हुआ एव मुनिपुंगवो से वेष्टित जैनपुर बताया। फिर आपने मुझे चित्त-समाधान मण्डप, नि:स्पृहता वेदी और जीववीर्य सिहासन बताया। साथ ही आपने चारित्रधर्मराज महाराज से पहचान कराई और अन्य सब राजाओ का वर्णन भी किया तब मुझ मालूम हुआ कि ये सभी राजा चारित्रधर्मराज के सेवक है। अन्त मे आपने यह चतुरगी सेना दिखाई। ये सब सुन्दर स्थान और व्यक्ति बताकर आपने कोई ऐसा विषय बाकी नही रखा जो मेरे जानने योग्य शेष रह गया हो। आज सच ही आपने मेरे पापो को धोकर मुझे निर्मल बना दिया, मुझ पर महान उपकार किया और आप कृपालु ने उत्साहपूर्वक मेरे सब मनोरथ पूर्ण किये। मामा ! यह सुन्दर जैनपुर इतना रमणीय है कि इसमे कुछ दिन रहने की मेरी इच्छा हो रही है, क्योकि जैसे-जैसे मैं सद्विचार पूर्वक आपके प्रभाव से इस नगर को देख रहा हूँ वैसे-वैसे मुझे लगता है कि मैं अधिक प्राज्ञ और मनीषी होता जा रहा हूँ। आपने मुझ पर असीम कृपा की हैं तो अब इसको चरम सीमा तक पहुँचाने की कृपा और करे। अभी अपने लौटने मे दो माह का समय शेष है, अत: इस जैनपुर मे रहने से बडा आनन्द आयगा, ऐसा मानकर आप भी मेरे साथ रहे, ऐसा मेरा नम्र अनुरोध। [२७६–२८६]

✽ पृष्ठ ४५२

मामा ने कहा—भाई ! मेरी तो सर्वदा यही इच्छा रहती है कि तुझे अधिकाधिक सुख कैसे प्राप्त हो । मै तो तेरे वश हूँ, फिर तेरी ऐसी शोभन इच्छा को भग कैसे कर सकता हूँ ? वहुत अच्छा, कुछ दिन यही रहते हैं । [२८७]

प्रकर्ष—मामा ! आपने सहमति प्रदान कर मुझ पर वड़ा उपकार किया है ।

इस वार्तालाप के वाद मामा-भाणेज दो माह तक जैनपुर मे रहे, क्योकि रसना के मूल का पता लगाने उन्हे जो एक वर्ष का समय मिला था वह अभी पूर्ण नही हुआ था, दो माह शेष थे । [२८८]

❀

३७. कार्य-सम्पादन-रपट

[विमर्श और प्रकर्ष विवेक पर्वत-स्थित जैनपुर मे दो माह रहे और अनेक सद्गुणो का साक्षात्कार किया । अनेक शुभ दृश्य देखे और विमर्श ने प्रकर्ष की विविध जिज्ञासाए पूर्ण की ।]

इधर मानवावास नगर में महादेवी कालपरिणति की आज्ञा से वसन्त ऋतु ने अपना समय पूर्ण किया और उधर दारुण ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ । [२८९]

ग्रीष्म ऋतु-वर्णन

ससार रूपी भट्टी के मध्य मे स्थित और लोहे के गर्म गोले की तरह जगत को दाह प्रदान (जलाने) करने वाला सूर्य तीव्र उष्णता से तमतमा रहा था । [२९०]

प्रचुर पत्रो के खिर जाने से वृक्ष पत्रहीन हो रहे थे, प्राणियो के शरीर का बल घट रहा था. लोग नदी की धाराओ का अधिक पानी पी रहे थे फिर भी प्यास से उनके कण्ठ सूख रहे थे, भयंकर गर्मी से लोग जल रहे थे और पसीने से तरवतर होकर मन मे बार-वार खिन्न हो रहे थे । ससार को तप्त करने वाली लू (गर्म हवा) इतने वेग से चल रही थी कि सूखे पत्ते मर-मर शब्द कर रहे थे । [२९१]

जैसे स्वामी का अभ्युदय होने पर उसके अधीनस्थ सभी सेवको की भी संतोष से [प्रसन्नता मे] वृद्धि होती है, वैसे ही सूर्य के प्रताप (तेज) के वढने से सतुष्ट होकर दिन भी वडा हो गया था । [२९२]

इस ऋतु मे मोगरा विकसित हो रहा था, लाल लोध्रवृक्ष फूल रहे थे, शिरीष के वृक्षो पर इतने फूल आ गये थे कि समग्र वन हरे-भरे दिखाई दे रहे थे ।

चन्द्रकिरणे आँखो को शीतलता प्रदान कर रही थी, जलाशय हृदय को उल्लसित कर रहे थे और मोती की मालाये हृदय को सुहावनी लग रही थीं। सुन्दर महलो की विस्तृत खुली छते चित्त हरण कर रही थी और पूरे शरीर पर चन्दन का लेप अत्यन्त प्रिय लग रहा था। सिर पर चल रहे पखे अमृत समान लग रहे थे, ठण्डे फूलो के अकुरो से वनी शय्या मन को सुख प्रदान कर रही थी और चन्दन का पानी शरीर के वाहरी भागो पर लगाने पर भी शरीर के भीतर रहने वाले मन को शान्ति प्रदान कर रहा था।

जैनपुर में स्थिरता

ऐसे समय मे मामा विमर्श ने अपने भाणेज प्रकर्ष से कहा कि वत्स ! चलो अब अपने देश की ओर वापस चले। [२९३]

प्रकर्ष– मामा ! यह समय तो वापस लौटने के लिये वहुत ही भयकर है। ऐसी भीषण गर्मी मे यात्रा करना मेरे लिये तो अति कठिन है। ये दो महिने तो भीषण गर्मी के कारण यात्रियों के लिये अत्यन्त ही सतापदायी हैं, अतः ग्रीष्म ऋतु यही ठहर कर विताले। वाद मे दिशाए ठडी होने पर चलगे तो मैं शीघ्रता से चल सकूंगा। मामा ! हम दोनो विचारक हैं अत. जैनपुर मे अधिक रहे तो इसमे हमे लाभ ही है। हमारा यहाँ का निवास व्यर्थ नही जायगा। इस गुण-सम्पन्न नगर मे रहने से मेरी स्थिरता मे वृद्धि होती जा रही है और मेरे गुण-लाभ को जानकर पिताजी को भी इस स्थान के प्रति आदर उत्पन्न होगा जिससे वे हमारे यहाँ अधिक रहने से अप्रसन्न नही होगे। [२९४-२९७]

विमर्श—तेरी ऐसी इच्छा है तो कोई वात नही, यही जैनपुर में ही रुक जाते है।

मामा के उत्तर से प्रकर्ष अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मामा-भाणेज उस नगर में दो माह अधिक रहे। वहाँ रहते हुए वर्षा ऋतु आ पहुँची, वह कैसी है ? [२९८]

वर्षा ऋतु-वर्णन

यह वर्षा ऋतु ससार मे कुलटा स्त्री जैसी शोभित हो रही थी। जैसे कुलटा स्त्री अपने घन-उन्नत पयोधरो के भार को वहन करती हुई, * उज्ज्वल अलकारो की विद्युत् चमक से चकाचौंध करती हुई, अपनी गर्जनरूप धीर मधुर स्वर-ध्वनि करती है वैसे ही काले ऊचे जल से भरे वादलों के भार को वहन करती, विजली चमकाती, गर्जना करती वर्षा ऋतु आ रही थी। जैसे कुलटा अपने जार पुरुष को छिपा देती है वैसे ही वर्षा ऋतु मे वादल सूर्य को छिपा देते हैं। जैसे मत्त कामी पुरुष कुलटा के प्रति दूर से ही आवाजे कसते है वैसे ही वर्षा में मेंढक टर्र-टर्र कर

* पृष्ठ ४५७

रहे थे। जैसा कुलटा मुक्तहास करती है वैसे ही वर्षा ऋतु दौडते हुए सफेद बादलो पर अट्टहास (मुक्त हास) कर रही थी। मेघो को देखकर पर्वतो और वनो मे मोर नाच रहे थे मानो कामी पुरुषो के मन कुलटा को देख-देख कर नाच रहे हो। वर्षा ऋतु का दृश्य अति आकर्षक और मनोहर था, मानो कुलटा ने लोगो को रिझाने के लिये आकर्षक और सुन्दर रूप धारण किया हो। सुगन्धी कदम्ब वृक्षो के फूलो की गध चारो तरफ फैल रही थी, मानो कुलटा अपने शरीर पर इत्र छिडक कर वातावरण को सुगन्धित कर रही हो। अधिक वर्षा से पहाड भी कट रहे थे, मानो कुलटा, जार पुरुष को अपने वश मे कर उसे तोडने मे समर्थ हो गई हो। इस प्रकार अपने रूप, विलास और कपट मे अपनी सत्ता सर्वत्र फैला कर वर्षा ऋतु कुलटा की तरह शोभित हो (हस) रही थी। [२९९-३०१]

ऐसी वर्षा ऋतु को देखकर प्रकर्ष अपने मन मे बहुत प्रसन्न हुआ और वापस घर लौटने की इच्छा से मामा से बोला— मामा! अब शीघ्र पिताजी के पास चलना चाहिये, क्योकि हवा ठडी हो गई है जिससे मार्ग सुगम हो गये है, अब रास्ता काटने मे कठिनाई नही होगी। [३०२-३०३]

उत्तर मे विमर्श बोला—भाई! तू क्या कह रहा है? आजकल तो यात्रियो का आवागमन बन्द रहता है, क्या तू यह नही जानता है? [३०४]

आज कल तो यात्रा (प्रवास) स्थगित कर एव प्रवास से लौटकर लोग अपने-अपने भली प्रकार आच्छादित घरो मे रहकर स्वतन्त्रता पूर्वक स्त्री के मुख-चन्द्र का अवलोकन करने मे अपने को भाग्यशाली मानते है। देखो, वत्स! इसके कारण भी स्पष्ट हैं इस समय रास्ते पानी से भर जाते है और चारो तरफ कीचड ही कीचड हो जाता है। ऐसे मे जरा पाव फिसल जाने से गिर जाय तो आदमी की हालत देखने लायक हो बन जाती है, ऐसा लगता है मानो मिट्टी के ढेर आदमी की हसी उडा रहे हो। जो भाग्यहीन पापी प्राणी इस ऋतु मे परदेश जाने के लिये निकलते है उन पर वर्षा की मोटी-मोटी धाराओ की मार से मार करता हुआ मेघ गर्जारव करता है। भाई प्रकर्ष! ऐसी ऋतु मे यात्रा की बात छोड। इतने दिन यहाँ रहे तो थोडे दिन और रह जायेगे। यहाँ जो समय व्यतीत होगा वह हानिकारक नही अपितु लाभदायक ही होगा। क्योंकि, यहाँ बीता प्रत्येक क्षण तुम्हारे अभ्युदय की वृद्धि करने वाला है। [३०५-३०९]

प्रकर्ष ने भी अपनी सहमति प्रकट की तब मामा और भाणेज जैनपुर में चार माह रहे। वर्षाकाल पूर्ण होने पर, सहर्ष उन्होंने घर की तरफ प्रस्थान किया [जो कार्य उन्हे सौपा गया था, वह कार्य सिद्ध हो चुका था और उन्हे अत्यधिक जानने-सीखने को मिला था अत वे मन मे अत्यन्त हर्षित हो रहे थे।] [३१०]

परिवार-मिलन और कार्य-निवेदन

विमर्श और प्रकर्ष चलते हुए अपने देश मे आ पहुँचे। राजभवन मे पहुँचकर जब वे शुभोदय राजा के पास पहुँचे तब उन्होने राज्यसभा मे विमर्श का सन्मान किया। राज्यसभा मे महाराजा शुभोदय के साथ महारानी निजचारुता, कुमार विचक्षण और समस्त सभाजन उपस्थित थे। मामा और भाणेज ने राज्यसभा मे प्रवेश करते ही शुभोदय महाराजा को भक्ति पूर्वक प्रणाम किया और दोनो विनय-पूर्वक शुद्ध जमीन पर बैठ गये। विमर्श की बहिन बुद्धिदेवी जो राज्यसभा मे उपस्थित थी, ने आग्रह पूर्वक भाई को खडा किया। वह और उसका पति विचक्षण बार-बार प्रेमपूर्वक उससे गले मिले, उसका सत्कार किया और उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करते हुए आदरपूर्वक उसे अपने पास के आसन पर बिठाया। फिर दादा, दादी, माता, पिता एव अन्य बडे लोगो ने कुमार प्रकर्ष को आनन्द पूर्वक बुलाया, उसकी बलैया ली, स्नेह से अपनी गोद मे बिठाया और बार-बार प्रेम से उसके मस्तक को चूमा, पुन-पुन कुशलक्षेम पूछा। पश्चात् शुभोदय, विचक्षण और अन्य सब लोगो ने रसना की मूलोत्पत्ति के बारे मे उन्हाने क्या पता लगाया, इसके बारे मे पूछा। मिलन के आनन्दाश्रुओ के साथ विमर्श ने रसना की खोज मे अधिक समय लगने का कारण बताते हुए स्वत अनुभूत और प्राप्त समग्र घटनाक्रम विस्तार पूर्वक राज्यसभा के समक्ष प्रस्तुत किया। घर से निकलने के बाद वे कितने समय तक बाह्य प्रदेश मे घूमे, फिर अन्तरग प्रदेश मे घूमे, ❀ वहाँ उन्होने राजसचित्त और तामसचित्त नामक दो नगर देखे, फिर चित्तवृत्ति नामक भयानक जगल देखा, वहाँ महामोह आदि राजाओ के बैठने का स्थान देखा, वहाँ रसना की मूलोत्पत्ति का उन्होने कैसे पता लगाया वह सब वर्णन किया। रसना कैसे रागकेसरी राजा के मन्त्री विषयाभिलाष की पुत्री होती है, इस विषय मे उन्होने कैसे पता लगाया, फिर कैसे वे कौतूहल पूर्वक भवचक्र नगर मे गये और वहाँ उन्होने क्या-क्या देखा उसका वर्णन किया। फिर उन्होने विवेक पर्वत पर बडे-बडे मुनिपुगवो के दर्शन किये, पर्वत पर चारित्र-धर्मराज का स्थान कैसा सुन्दर था और उन्हे कैसा लगा, फिर वहाँ सतोष को देखकर मन मे कैसे भाव उत्पन्न हुए, सतोष अनेक लोगो को कैसे भवचक्र से निर्वृत्तिनगर ले जाता था आदि सभी वर्णन विमर्श ने अपने बहनोई विचक्षण और सभी सभाजनों के समक्ष विस्तार पूर्वक सुनाया। [२११-३२२]

❀ पृष्ठ ४५८

३८. रसना, विचक्षण और जड़कुमार

जड़ की आसुरी वृत्ति : मरण

विचक्षण का भाई जडकुमार लोलुपता के कथन को सत्य मानकर रसना का पोषण मास-मद्य आदि से भली प्रकार कर रहा था। वह उसमे इतना अधिक गृद्ध हो गया था कि उसे दूसरे किसी विषय मे विचार करने का भी अवसर नही मिलता था। वह रसना मे इतना अधिक आसक्त हो गया था कि वडे से वडे पाप वाले निन्दनीय कर्म करने से भी नही हिचकिचाता था। अपनी कुल-मर्यादा कैसी है, अपने ऊचे कुल को ऐसे निन्दनीय कार्य से कितना कलक लगेगा, इसका भी वह विचार नही करता था। [३२३–३२४]

एक दिन वह मद्य के नशे मे लस्त-पस्त वैठा था कि लोलुपता ने उसे एक वडे बकरे को मारने के लिये प्रेरित किया। शराब के नशे मे वह होश मे नही था और बकरे के वदले उसने पशुपालक (ग्वाले) को मार दिया। ग्वाले की हत्या बकरा समझ कर अपने हाथ से हो गई है, यह बात जब जड़कुमार को समझ मे आई तब लोलुपता को वकरे का मास न मिलने से उसको दुःख हो रहा होगा ऐसा सोचकर वह विचार करने लगा कि मैंने पशुओ और पक्षियो के मास से तो रसना की लोलता को वार-बार तृप्त किया ही है पर कभी मनुष्य का मास नही खिलाया है, अतः क्यो न आज उसे मनुष्य का मास खिलाकर देखू कि इससे रसना को कैसा सुखदायी सतोष होता है ? ऐसे अधम विचार से उसने जिस ग्वाले का खून किया था उसके शरीर से मास निकाला उसे साफ कर पकाया और लोलता को दिया। ऐसा खाद्य खाने से उसकी तुच्छ वृत्ति को विशेष पोषण मिला और रसना तथा लोलता के प्रमुदित होने से जड़कुमार भी मन मे हर्षित हुआ। [३२५–३२६]

फिर तो लोलता, मनुष्य का सुन्दर मास खिलाने के लिये जडकुमार को बार-बार प्रेरित करने लगी। इससे जडकुमार किसी न किसी मनुष्य को मार कर उसका मांस अपनी प्यारी रसना को खिलाने लगा। उत्साह पूर्वक स्वय भी मनुष्य का मास खाते-खाते वह राक्षस बन गया। उसकी अत्यन्त अधम प्रवृत्ति देखकर बालक भी उसकी निन्दा करने लगे। उसके सगे-सम्बन्धी और भाई-बन्धुओ ने भी उसका साथ छोड दिया और लोग बार-बार उसका अपमान करने लगे। ऐसे पाप कर्म से उसे अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो गई। [३३०–३३१]

जडकुमार की मनुष्य के मास-भक्षण की इच्छा दिनोदिन बढने लगी। एक रात वह किसी मनुष्य को मारने की इच्छा से लोलता को साथ लेकर चोर की

तरह एक शूर नामक क्षत्रिय के घर मे घुसा। अन्दर जाकर उसने देखा कि क्षत्रिय का बालक सो रहा था। उसने क्षत्रिय के बच्चे को उठाया और बाहर निकलने लगा कि शूर ने उसे देख लिया। उसे देखते ही शूर को उस पर प्रचण्ड क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने जोर से चिल्लाना शुरु किया जिससे पास-पड़ौस के सगे-सम्बन्धी इकट्ठे हो गये और उन्होने जड़कुमार को खूब मारा फिर बाध कर लाठियो और मुद्गरो से उसे अधमरा कर दिया। उसे इतनी अधिक मार पडी कि उसी रात उसी घर मे मार की भयकर पीडा से उसकी मृत्यु हो गयी। दूसरे दिन प्रात· जब जड़ की मृत्यु के समाचार फैले तो लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। जड के भाइयो ने और स्वयं राजा ने शूर को कोई दण्ड नही दिया, यहाँ तक कि उससे कुछ पूछा भी नही। जड के पारिवारिक जन सोचने लगे कि जड कुल को कलकित करने वाला और सभी को लज्जित करने वाला था, ऐसे महानीच पापी को मार कर शूर ने बहुत अच्छा किया।

विचक्षण का विरतिभाव [३३२-३३६]

जडकुमार की घटना को सुनकर और देखकर विचक्षण का मन अधिक निर्मल हो गया। वह सोचने लगा कि, 'अहो! रसना में आसक्त जडकुमार को इसी भव मे कैसा कठोर दण्ड मिला। परलोक मे तो उसकी और भी भयकर दुर्गति होगी।' इस विचारधारा ने उसको रसना के प्रति अत्यधिक विरक्त बना दिया। यह घटना विमर्श और प्रकर्ष के लौटने के पहले ही हो चुकी थी। इस घटना के पश्चात् वह रसना की मूलोत्पत्ति के बारे मे क्या खबर लेकर उसका साला लौटता है, इसकी उत्सुकता पूर्वक राह देखने लगा। जब विमर्श ने राज्यसभा में रसना की मूल-शुद्धि (उत्पत्ति) के बारे मे सविस्तर वर्णन किया तब उसे सुनकर विचक्षण ने तुरन्त रसना का त्याग करने का अपने मन मे निर्णय कर लिया। अपने निर्णय को सूचित करने के लिये उसने अपने पिताजी से कहा—पिताजी! रसना कैसे भयकर कटु फल देने वाली है यह तो हमने जड की घटना से जान ही लिया है। अब तो यह भी मालूम हो गया है कि वह रागकेसरी के मत्री दोषो के समूह विषयाभिलाष की पुत्री है, अत. यदि आप आज्ञा दें तो अब मैं इस अधम कुलोत्पन्न दुष्ट स्त्री का सर्वथा त्याग कर दूँ। [३३७-३४२]

शुभोदय का निर्देश

पुत्र की बात सुनकर शुभोदय महाराजा ने कहा—प्रिय विचक्षण! ससार को विदित हो चुका है कि रसना तुम्हारी स्त्री है, अत: उसे एकाएक छोड़ देना अनुचित है। वत्स! यदि तुम्हे इसका त्याग करना ही है तो क्रमशः धीरे-धीरे सर्वथा त्याग करो। इसके सम्बन्ध मे अभी तुम्हे क्या करना है वह भी ठीक से समझाता हूँ, सुनो। विमर्श की बात से तुम्हारे ध्यान में आया होगा कि विवेक पर्वत पर महामोह आदि राजाओ का नाश करने वाले श्रमण श्रेष्ठ रहते हैं। यदि तू उनके साथ रहे

❀ पृष्ठ ४५९

और उनके जैसा आचरण करे तो यह दुष्ट रसना तेरा कुछ भी विगाड़ नही सकती। अत. वत्स ! मेरा परामर्श है कि तू विवेक पर्वत पर प्रयत्न पूर्वक चढ जा और रसना के सकल दोषो से दूर रहकर अपने कुटुम्ब के साथ वहाँ रह । यद्यपि तेरे कुटुम्ब के साथ तेरी स्त्री रसना भी वही रहेगी, पर वह तुझे किसी प्रकार की पीड़ा नही दे सकेगी । [३४३-३४७]

विचक्षण ने फिर पूछा—पिताजी ! विवेक पर्वत तो यहाँ से बहुत दूर है । इतनी दूर सारे परिवार को लेकर मैं किस प्रकार जाऊँ ? इतनी दूर जाने के लिये मैं कैसे उत्साहित हो सकता हूँ ? [३४८]

विमलालोक अञ्जन का प्रयोग

उत्तर मे शुभोदय महाराज वोले – प्रिय विचक्षण ! विमर्श तो चिन्तामणि रत्न के समान तेरा अतुलनीय वन्धु है, अत विमर्श जैसे साले के होते हुए किसी प्रकार की चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? वत्स ! उसके पास एक ऐसा अञ्जन है जिसे आँखो मे लगाने से, उसके अद्भुत प्रभाव से वह इस विवेक महापर्वत का दर्शन यहाँ बैठे-बैठे ही करवा सकता है, तुझे इतनी दूर जाने की आवश्यकता ही नही पड़ेगी । [३४६-३५०]

उपर्युक्त वात चल हो रही थी कि वीच मे ही प्रकर्ष बोल उठा—हाँ, पिताजी ! यह सत्य है, इसमे तनिक भी सदेह नही है । इस योगाञ्जन की शक्ति का मुझे भी भवचक्रपुर में अनुभव हुआ है । अधिक क्या कहूँ ? जब तक इस असाधारण शक्तिशाली अञ्जन का प्रयोग न किया जाय तब तक विवेक पर्वत, जैनपुर आदि बराबर दिखाई नही देते, परन्तु इस विमलालोक अञ्जन के प्रयोग से नगर, पर्वत आदि सब स्पष्ट दिखाई देने लगते है. वे दूर भी नही लगते, सर्वत्र दिखाई देते है. यह इस अञ्जन का ही महा प्रभाव है । [३५१-३५३]

यह सुनकर विचक्षण ने विमर्श से कहा—* विमर्श ! यदि तेरे पास ऐसा अञ्जन हो तो तू मुझे उसे अवश्य शीघ्र ही दे दे, जिससे मेरी चिन्ता दूर हो और मैं शीघ्र अपनी इच्छा पूर्ण कर सकू । [३५४]

विमर्श ने अपने जीजा पर अनुग्रह करने की दृष्टि से उसे आदर पूर्वक विमलालोक अञ्जन प्रदान किया । उस अञ्जन का प्रयोग करते ही तुरन्त उसे सभी कुछ अपने सामने स्पष्ट दिखाई देने लगा । विचक्षण ने देखा कि सैकडो लोगो से भरा हुआ सात्विक-मानसपुर, निर्मल एव उत्तु ग विवेक पर्वत और उसका रमणीय अप्रमत्तत्व शिखर, जैनपुर और उसमे रहने वाले श्रमणपु गव, नगर के मध्यस्थित चित्त-समाधान मण्डप, नि स्पृहता वेदी, सुन्दरतम जीववीर्य सिहासन और उस पर

* पृष्ठ ४६०

विराजित चारित्रधर्मराज महाराजा एव उनका विशाल परिवार सब विचक्षण के समक्ष स्पष्ट हो गया । चारित्रधर्मराज महाराजा और अन्य राजाओ के उज्ज्वल सद्गुण भी उसे दिखाई देने लगे ।

आचार्य विचक्षण नरवाहन राजा को अपनी जीवन-कथा सुनाते हुए कह रहे है कि, महाराज ! उस समय मैंने यह सब मानो मेरे सन्मुख ही खड़े हो, ऐसा मैंने प्रत्यक्षत. अवलोकन किया । [३५५-३६२]

विचक्षण की दीक्षा

विचक्षण आचार्य ने अपनी कथा को आगे चलाते हुए कहा —हे महा-नरेन्द्र नरवाहन ! उस समय विचक्षण ने अपने पिता शुभोदय, माता निजचारुता, पत्नी बुद्धि, साले विमर्श, हृदयाकित प्रिय पुत्र प्रकर्ष को भी साथ ले लिया और अपनी दूसरी पत्नी रसना को भी वदनकोटर मे साथ ही रहने दिया । मात्र लोलता दासी को निन्दनीय समझ कर उसको अपमान पूर्वक वही छोड दिया । उस दासी के अतिरिक्त पूरे परिवार को साथ लेकर वह (विचक्षण) गुणधर आचार्य के पास पहुँचा और उनके पास दीक्षा स्वीकार की । हे राजन् ! फिर दीक्षा ग्रहण की है ऐसा मानता हुआ वह उस अद्भुत जैनपुर में अन्य महात्मा साधुओ के बीच रहने लगा । फिर गुणधर आचार्य ने अपना समग्र आचार विक्षचण मुनि को सिखाया । उस आचार की उसने भक्तिपूवक आराधना की जिससे रसना इतनी निर्माल्य बन गई कि वह लगभग विसर्जन (टूट पड़ने) की स्थिति मे आ गई । उसने उसका ऐसी स्थिति बनादी थी कि वह कुछ भी कर नही सकती थी, वह बिलकुल निरर्थक जैसी हो गई थी । अन्त मे गुरु महाराज ने विचक्षण मुनि को अपने पद पर स्थापित कर आचार्य बनाया । यद्यपि विचक्षणाचार्य घूमते-फिरते अन्य स्थान पर भी दृष्टिगोचर होते है तथापि परमार्थ से वे विवेक महागिरि के शिखर पर स्थित जैनपुर मे ही निवास करते हैं, ऐसा ही समझना चाहिये । महाराज नरवाहन ! मैं ही वह विचक्षण कुमार हूँ जो अब विचक्षण आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया हूँ । विवेक पर्वत पर जो मुनिपुगव रहते है, वे ये ही साधु हैं जो अभी आपके सामने बैठे है । राजन् ! आपने मुझे पूछा था कि इतनी छोटी उम्र में मेरे वैराग्य का क्या कारण था ? उसका उत्तर मैंने आपको विस्तार पूर्वक सुनाया है । * मेरी उपरोक्त वर्णित आत्मकथा ही मेरी दीक्षा का कारण थी ।

रसना कथानक सम्पूर्ण ।

*

---

* पृष्ठ ४६१

३६. नरवाहन-दीक्षा

[अनेक रहस्यो से पूर्ण रसना की मूलोत्पत्ति का पता लगाने की योजना और पूरे भवचक्र के अद्भुत स्वरूप को बताने वाले मामा एव भाणेज के प्रसग से विकसित तथा कवित्व के चमत्कारो से सुशोभित भव्य एव विशाल अपनी आत्मकथा विचक्षणसूरि ने पूर्ण की। उसमे उन्होने श्रोताजनो को भिन्न-भिन्न रसो का पान कराया।]

आत्मकथा पूर्ण कर विचक्षणाचार्य रुके नही, उन्होने बात आगे बढाई, वे ज्ञान का फल प्राप्त करने के प्रसग को समझाने लगे। वे बोले - राजन्! स्त्री के दु ख और दोष से बचने के लिये मैने दीक्षा ली, ऐसा कहा जाता है, पर अभी तक मैंने उस पापिनी (आन्तरिक स्त्री रसना अपर नाम जिह्वा का) सर्वथा त्याग नही किया है। मेरे समस्त कुटुम्ब (आन्तरिक कुटुम्ब) का भी मैं अभी तक कम या अधिक रूप मे पालन-पोषण कर ही रहा हूँ। ऐसे सयोगो मे मेरी सच्ची दीक्षा कैसे हो सकती है? तथापि राजन्! आपका मेरे प्रति इतना आदर और उच्चभाव क्यो है? इसका कारण मेरी समझ मे नही आता। [३६३–३६५] कहा भी है कि —

दोष वाले प्राणियो मे गुणो का आरोप करने वाले और ससार मे आह्लाद उत्पन्न करने वाले, जिनके सौन्दर्य की तुलना किसी से नही की जा सकती ऐसे विशुद्ध आन्तरिक भाव वाले सज्जनो की प्रकृति का ही यह गुण हो सकता है। [३६६]

सन्त पुरुषो की दृष्टि किसी अपूर्व धनुष-यष्टि जैसी होती है। क्योंकि, धनुष-यष्टि तो किसी अवसर पर ही गुणारोपण करती है, परन्तु सन्त पुरुषो की दृष्टि तो बिना प्रसग भी गुणारोपण करने को तत्पर रहती हैं। [३६७]

अथवा, हे राजन्! त्रैलोक्य द्वारा वन्दनीय यह जैन-लिंग (मुनिवेष) जिन्होने धारण कर रखा है और जिन्होने अपने आन्तरिक शत्रुओ को मार भगाया है, उस वेष का ही यह गुण हो सकता है। [३६८]

जिनके हाथो मे जैन-लिंग (वेष) प्राप्त हुआ दिखाई देता है उन्हे देव और देवो के राजा इन्द्र भी अत्यन्त भक्तिभाव से पूजते है, सेवा करते है और आदर सन्मान देते है। [३६९]

राजन्! यद्यपि मैं अभी भी मेरे परिवार (आन्तरिक) के साथ हूँ, अत: गृहस्थाचार-धारक ही हूँ, फिर भी आप मुझे ऐसा दुष्कर कार्य करने वाला (दीक्षा लेकर श्रमण-धर्म पालने वाला) मानते हैं, इसका कारण जैनलिग के अतिरिक्त क्या हो सकता है? [३७०]

नरवाहन का चिन्तन : सन्मार्ग का अन्वेषण

विचक्षणसूरि जब उपर्युक्त वात कह रहे थे तब ऐसा लगता था कि उनके मन मे यदि थोडा भी मद शेष रह गया होगा तो वह भी अव गल गया है, ऐसा स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था। नरवाहन राजा अपने मन मे विचार कर रहा था कि अहा! इन आचार्य भगवान् ने तो स्वय की आत्मकथा ऐसे सुन्दर रूप मे सुनाई कि उसे सुनकर ही मेरे तो मोह का भी नाश हो गया। अहा! आचार्य भगवान् की बात कहने और बोलने का ढग भी कितना सुन्दर है। अहो! इनका विवेक भी कैसा आश्चर्यजनक है। अहो! इनकी मुझ पर कितनी कृपा है! इन्होने तो किसी अद्भुत परमार्थ को जान लिया है। आचार्य भगवान् स्वय जो वात कर रहे हैं, उस बात का रहस्य अब मुझे ज्ञात हो गया है।

मन मे उपर्युक्त विचारो के आते ही नरवाहन राजा ने विचक्षणाचार्य से कहा :—

भगवन्! इस ससार मे आपको शुभोदय, निजचारुता, बुद्धिदेवी, विमर्श, प्रकर्ष आदि जैसा सुन्दर कुटुम्ब मिला है वैसा सुन्दर आन्तरिक परिवार मेरे जैसे भाग्यहीन प्राणी को नही मिल पाया है। आप तो सचमुच भाग्यशाली है। पूज्यवर! जैन वेष मे रहकर ऐसे सुन्दर अन्तरग परिवार का पोषण करने वाले (गृहस्थ) तो आपके जैसे भगवान् ही हो सकते हैं। आपश्री ने तो युक्तिपूर्वक रसना को नि.सत्व बना दिया है जिससे वह आप पर कुछ भी असर नही कर सकती। उससे भी अधिक बुरी उसकी दासी लोलता है जिसे जीतना ससार मे अति कठिन है, उसे आपने बिलकुल त्याग दिया है। हे मुनिश्रेष्ठ! आपने महामोह और उसके पूरे परिवार को जीत कर अपने पूरे अन्तरग परिवार को साथ मे रखते हुए इस अति सुन्दर जैनपुर मे सर्व साधुओ के मध्य मे रह रहे है। मैने आपको दुष्कर काम करने वाला कहा जिसका आपने प्रतिवाद किया, पर यदि आपको दुष्कर कार्य करने वाला न कहा जाय तो फिर इस ससार मे अन्य किसको कहा जाय? यह मेरी समझ मे नही आता। भगवन्! मै आपसे एक अन्य बात पूछना चाहता हूँ। सम्पूर्ण ससार को आश्चर्य मे डालने वाली जैसी घटना आपके जीवन मे घटित हुई है, वैसी ही यदि अन्य किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध मे घटित हो तो वे सब वास्तव मे वन्दनीय, पूजनीय और नमस्कार करने योग्य हैं ऐसा मैं मानता हूँ। अत: मै यह जानना चाहता हूँ कि आपके साथ जो ये सब साधु है, उनके सम्बन्ध मे भी क्या ऐसा ही घटित हुआ है या नही * कृपया आप मुझे बताइये। [३७१–३७७]

विचक्षणाचार्य बोले—नरवाहन भूप! निश्चय ही समस्त साधुओ के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही घटित होता है, इसमे तनिक भी सन्देह नही है। एक अन्य

* पृष्ठ ४६२

बात देखिये, नरेश्वर ! जिस प्रकार मैंने किया है, यदि वैसा ही आप भी करे तो आपके सम्बन्ध मे भी वैसा ही घटित हो सकता है। मात्र आप को भी मेरी ही भाति प्रयत्न करना पड़ेगा। आपकी मनोकामना हो तो आपको एक क्षण मे मैं विवेक पर्वत दिखा सकता हूँ। फिर मेरे जैसा अन्तरग परिवार आपको भी तुरन्त स्वत: ही प्राप्त हो सकता है। उसके पश्चात् आप भी थोडे ही समय मे महामोह राजा और उसके परिवार पर विजय प्राप्त कर सकेंगे और लोलता का तिरस्कार कर समग्र साधुओ के मध्य आनन्दपर्वक रह सकेंगे। [३७८-३८१]

नरवाहन को वैराग्य : दीक्षा

विचक्षणाचार्य के ऐसे मनोरम वचन सुनकर राजा नरवाहन अपने मन में सोचने लगे, आचार्य भगवान् ने जो बात कही है वह तो दीपक की भाति स्पष्ट है कि जो अपने बाहुबल से उत्साह पूर्वक आगे बढते है, प्रभुता उनके हाथो मे स्वत: ही आता है, अर्थात् सफलता उनके चरण चूमती है। (प्रयत्न किये बिना कुछ भी नही मिलता और प्रयत्न करने वाले को तो जो चाहिये वह सब कुछ मिलता है।) लगता है, आचार्य भगवान् मुझ से कह रहे हो कि हे राजन् ! तुम भागवती दीक्षा ग्रहण करो, जिससे मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है वह सब तुम्हें भी प्राप्त हो जाय। आचार्य भगवान् ने तो वास्तव मे मुझे श्रेष्ठतम उपदेश दिया है, अत. मुझे अब दीक्षा ग्रहण करनी ही चाहिये। ऐसा मन मे सकल्प किया। विचक्षणसूरि का वृत्तात सुन-कर वैराग्यपूर्ण अन्त:करण होते ही नरवाहन राजा की अनिष्ट पाप-प्रकृति के परमाणु नष्ट हो गये, अत: उसी क्षण राजा ने आचार्य के पाँव छू कर कहा— भगवन् ! यदि आप मुझ मे ऐसी योग्यता पाते हो तो जैसा आपने किया है, वैसा ही मैं भी करना चाहता हूँ। अधिक बोलने से क्या लाभ ? मुझ पर कृपा कर आप मुझे जैन भागवती दीक्षा प्रदान करे। मुझे पूर्ण आशा है कि आपकी कृपा से सब कुछ श्रेष्ठ होगा। [३८२-३८८]

उत्तर मे विचक्षणसूरि ने फिर से कहा—हे राजन् ! आपका निश्चय अत्युत्तम है। आपके जैसे भव्य पुरुषो को ऐसा ही करना चाहिये, यही आपका विशेप कर्त्तव्य है। हे राजन् ! मुझे विश्वास है कि मेरे वचन के गूढार्थ को आप लभी-भाति समझ गये होगे। मेरा शुभ आशय भी आपके ध्यान मे आ गया होगा। उस सच्ची समझ के परिणामस्वरूप ही आपको यह सत् उत्साह जागृत हुआ है, यह अच्छा ही है। क्योकि, जब महामोह आदि भयंकर शत्रु चारो तरफ 'घेरा डालकर कूद-फाद कर रहे हो तब सुदृढ दुर्ग से भली प्रकार रक्षित क्षेमकारी जैनपुर मे आश्रय लेना कौन नही चाहेगा ? गृहस्थाश्रम तो दु.ख-समूह से भरा हुआ है, अत जिस प्राणी को सुख के भण्डार जैनपुर का सम्यक् ज्ञान हो गया हो वह ऐसे गृहस्थावास मे चिन्ता-रहित होकर कैसे निवास कर सकता है ? अत: ऐसे महा भय के समय एक क्षण की

ढील भी उचित नही है। आपको जब तत्त्व का रहस्य समझ में आ गया है तब अविलम्ब जैनपुर मे प्रवेश कर लेना चाहिये। [३८९-३९३]

आचार्य भगवान् की वाणी से सन्तुष्टचेता राजा के मन में दीक्षा लेने की मुदृढ इच्छा हो गई। ऐसी प्रबल इच्छा के कारण राजा मन मे सोचने लगा कि मेरे राज्य का उत्तरदायित्व मैं किसको सौपू ? क्या मेरा पुत्र रिपुदारण राज्य के योग्य है? हे अगृहीतसकेता ! उस समय मैं (रिपुदारण) दु.खी, निर्भागी और भिखारी जैसा वहाँ पास ही बैठा था। उस समय जब मेरे पिता नरवाहन ने विकसित कमल-पत्र के समान विस्फारित नेत्रो से मेरी ओर देखा, तब उस समय मेरा पूर्वकाल का अन्तरग मित्र पुण्योदय जो शरीर से निर्बल हो गया था, कुछ स्फुरित हुआ, कुछ चलने-फिरने लगा और जीवन के कुछ लक्षण प्रकट किये। फलस्वरूप मेरे पिताजी ने निर्मल अन्त.करण से जब मेरी तरफ देखा तब उन्हे मेरा मित्र पुण्योदय भी दृष्टि-गोचर हुआ। मुझे देखते ही मेरे पिताजी का मुझ पर स्नेह जागृत हुआ। उन्हे मन मे मेरी पहले की बाते याद हो आईं। उन्हे लगा कि उन्होने मुझे घर से निकाल दिया इसीलिये मेरी ऐसी अधम स्थिति हुई है और मेरी इस स्थिति का कारण वे स्वय है। उन्हें लगा कि स्वय उन्होने लडके का तिरस्कार कर घर से बाहर निकाला, यह अच्छा नही किया। यदि स्वयं ने विषवृक्ष को भी पानी पिलाकर बढाया है तो फिर उसे काट देना योग्य नही है। अभी तो अवसरानुसार मुझे रिपुदारण का सत्कार कर, उसका राज्याभिषेक कर पुत्र के प्रति पिता के कर्त्तव्य से उऋण होना चाहिये। मेरा उसके प्रति पूर्व मे किये व्यवहार की यही शुद्धि है। अतः रिपुदारण का राज्याभिषेक कर दूँ, ऐसा कर मैं कृतकृत्य बन कर निर्मल दीक्षा ग्रहण करूंगा। हे भद्रे अगृहीतसकेता ! उस समय मैं दोषो का पुञ्ज था, फिर भी मेरे पिताजी का मेरे प्रति इतना उदार होने का क्या कारण था, उसे तू समझ। सज्जन पुरुषो का मन मक्खन जैसा सुकोमल होता है, वह पश्चात्ताप के सम्पर्क से पिघल ही जाता है, इसमे कोई सशय नही है। जिन प्राणियो के मन मैल-रहित हो गये है, उन्हे अपना स्फटिक जैसा शुद्ध आत्मा भी दोषपूर्ण लगता है और दूसरे लोग दोषो से भरे हुए हो तब भी वे उनको निर्मल लगते है। परोपकार करने में निरन्तर तत्पर महा बुद्धिशाली मनुष्य कभी किसी कारण से कटु शब्द बोल देते हैं या कटु व्यवहार कर भी देते है तो बाद मे जब उन्हे अपना कर्म याद आता है तब उस पर विचार करने से उनके मन मे पश्चात्ताप अवश्य होता है। [३९४-४०६]

उपर्युक्त विचार मन मे आते ही पिताजी ने तुरन्त मुझे अपने पास बुलाया, अपनी गोद मे बिठाया और उसी समय गद्गद् वाणी मे विचक्षणाचार्य से प्रश्न किया - महाराज ! आप तो जगत मे ज्ञानचक्षु वाले हैं, आप तो सब बात जानते हैं। यह रिपुदारण ऐसे उच्च कुल मे जन्मा, उसे ऐसी सुन्दर सामग्री मिली,

* पृष्ठ ४६३

फिर भी यह ऐसे निकृष्ट चरित्र वाला कैसे बना ? आपकी ज्ञानदृष्टि मे तो इसका स्पष्टीकरण होना ही चाहिये । [४०७-४०८]

आचार्य – राजन् नरवाहन ! बेचारे रिपुदारण का इसमें कोई दोष नही है । इस बुरे चरित्र का कारण इसके दो मित्र शैलराज और मृषावाद है । इन दोनो के कारण ही उसकी ऐसी स्थिति बनी है । [४०९]

नरवाहन—महाराज ! ये मृषावाद और शैलराज तो कुमार का बहुत अनर्थ करने वाले है, पापी-मित्र है । कुमार इन दोनो की सगति से कब छूटेगा ? कृपा कर बताइये । [४१०]

आचार्य ने तनिक हँसते हुए कहा—राजन् ! यद्यपि शैलराज और मृषावाद बहुत पापी और अनर्थकारी है, फिर भी रिपुदारण की उन पर बहुत प्रीति है, इसलिये यह सम्बन्ध एकदम नही छूट सकता । परन्तु, बहुत समय के बाद योग्य कारण के मिलने पर इन दोनो का वियोग हो जायगा । इनके वियोग का कारण क्या होगा ? वह मैं तुम्हे बतलाता हूँ । [४११-४१३]

एक शुभ्रमानस नामक नगर है । वहाँ शुद्धाभिसन्धि नामक राजा राज्य करता है जो बहुत प्रसिद्ध और कीर्तिवान है । उसके दो रानियाँ है, * एक का नाम वरता और दूसरी का नाम वर्यता है । इन दोनो रानियो से राजा को एक-एक पुत्री हुई है । इन दोनो शुभ-पुत्रियो के नाम मृदुता और सत्यता है । ये दोनो कन्याए भुवन को आनन्द देने वाली, अति मनोहर, साक्षात् अमृत जैसी, सर्वसुखदात्री है और ससारी प्राणियो के लिये अति दुर्लभ है । यदि किसी प्रकार तेरे पुत्र का इन कन्याओ से लग्न हो जाय तो उनके सयोग से शैलराज और मृषावाद से कुमार का छुटकारा हो सकता है । क्योकि, ये दोनो कन्याए गुण-समूह से पूर्ण है जब कि कुमार के मित्र शैलराज और मृषावाद दोषो की खान है, अतः दोनो पापी-मित्र एक ही समय एक साथ इन गुणवान कन्याओं के साथ नही रह सकते । इन दोनो का लग्न कब और कैसे होगा, कौन करेगा और कैसे सयोगो मे होगा, उसकी चिन्ता करने और योजना बनाने वाला तो कोई और ही है, इसमे आपकी योजना या विचार काम नही आ सकते । राजन् ! आपको अभी जो कार्य करने का उत्साह हुआ है और जिसे करना आपको इष्ट है, वह प्रसन्नता पूर्वक सम्पन्न करिये । [४१४-४१९]

आचार्य महाराज के वचन सुनकर नरवाहन विचार करने लगा—अहा ! मेरे पुत्र के साथ दो बडे शत्रु निरन्तर रहते है, यह तो बहुत ही कष्टदायक बात है, सच ही यह तो बड़ी पीडादायक बात है । बेचारा रिपुदारण यथा नाम तथा गुण तो है नही । पर, इस विषय में अभी कुछ उपचार हो ही नही सकता, तब क्या किया

* पृष्ठ ४६४

जाय ? अतः मुझे तो अब इन सर्व बाह्य विषयो की चिन्ता छोड़कर मेरी आत्मा का हित हो वैसा करना चाहिये। [४२०–४२२]

हे अगृहीतसकेता ! इसके बाद समयोचित तैयारी कर मेरे पिता नरवाहन ने मेरा राज्याभिषेक किया। उस प्रसग पर किये जाने योग्य सभी कार्य किये, दान दिया और विचक्षणाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर राज्य का त्याग किया तथा राज्य का सारा कार्यभार मुझे सौंप दिया। दीक्षा ग्रहण कर मेरे पिता विचक्षणाचार्य के साथ विवेक पर्वत पर गये। फिर भी स्वय अत्यन्त बुद्धिशाली होने से गुरु महाराज के साथ बाह्य प्रदेश मे भी विहार (विचरण) करते रहे। [४२३–४२४]

❀

४०. रिपुदारण का गर्व और पतन

[नरवाहन मुनि विवेक पर्वत पर पधारे और बाह्य एव आन्तरिक प्रदेशो मे भी विहार करते रहे। इधर रिपुदारण ने राज्य-शासन सभाला। पुण्योदय ने उसकी स्थिति मे परिमित परिवर्तन किया। अगृहीतसकेता को सुनाते हुए ससारी जीव अपनी आत्म-कथा को आगे चलाते हुए कहने लगा।]

पापी-मित्रों का प्रभाव

उस समय मुझे राज्य प्राप्त होते ही मेरे विशेष मित्र शैलराज और मृषावाद अत्यधिक प्रसन्न हुए। वे समझने लगे कि अब उन्हे फिर से अपना प्रभाव जमाने का सुअवसर प्राप्त होगा। अब वे निरन्तर मेरे पास रहने लगे। प्रेमाधिक्य के साथ अपने प्रभाव को बढाकर मुझे अपने वश मे करने लगे। शैलराज के प्रभाव से उस समय मुझे सारा ससार तृण समान लगता था। झूठ बोलना तो मेरे लिये मुख से पानी का कुल्ला थूकने के समान सरल था। ऐसे सयोगो मे मसखरे मन ही मन मेरी हँसी उडाते थे, पण्डित लोग अन्दर ही अन्दर मेरी निन्दा करते थे, धूर्त और चाटुकार लोग मधुर चापलूसी भरे असत्य वचनो से मेरी प्रशसा करते थे। अर्थात् मेरे भीतर अभिमान और असत्य का ऐसा साम्राज्य स्थापित हो चुका था और मैं उनके इतना वशीभूत हो चुका था कि दोनो पापी-मित्र मेरे अभिन्न अग बन गये थे। भद्रे ! फिर भी मेरा पुण्योदय मित्र अन्दर से शक्ति प्रदान करता रहा जिसके प्रभाव से कुछ वर्षों तक मैं आनन्दपूर्वक राज्य करता रहा। [४२५–४२८]

तपन चक्रवर्ती का आगमन

उस समय उग्र प्रतापी आज्ञा वाला, शत्रु को त्रस्त करने वाला और सारे ससार पर अपना सार्वभौमत्व स्थापित करने वाला तपन नामक चक्रवर्ती राजा

भूमण्डल को देखने की इच्छा से अपनी सेना और अन्य सामग्री लेकर घूमता हुआ सिद्धार्थ नगर आ पहुँचा। मेरे प्रधान-मन्त्रियो को उसके आने के समाचार मिल गये। वे नृपनीति और राजनीति मे कुशल थे, अत· मेरे हित को ध्यान मे रखते हुए एकत्रित होकर उन्होंने मुझ से कहा—यह पृथ्वीपति तपन नामक चक्रवर्ती ससार मे सब से बडा है, अत· हे देव! उसके सन्मुख जाकर उसका स्वागत सन्मान करिये। यह चक्रवर्ती सभी राजाओ का पूजनीय है। आपके * पिताजी और अन्य पूर्वज उसकी पूजा करते थे, उसकी आज्ञा मानते थे और उसे योग्य सन्मान देते थे। अभी तो वे मेहमान के तौर पर चलकर आपके घर आ रहे है, अत अधिक सन्मान के पात्र है। अतएव हे देव! आप उनका उचित आतिथ्य सत्कार करे। [४२९-४३३]

रिपुदारण का औद्धत्य

उसी समय शैलराज ने मेरी चेतना मे अपना विष घोल दिया था जिसका प्रभाव मेरे समस्त अगो पर तीव्रतर होने लगा, मेरे रोगटे खडे हो गये और मैं स्तब्ध हो गया। ऐसी स्थिति मे मन्त्रियो की बात सुनते ही मैंने कहा—अरे मूर्खो, मेरे समक्ष उस तपन का क्या अस्तित्व है? मैं उसकी पूजा करू और वह मेरी पूजा न करे यह कैसा न्याय? उसे करना हो तो वह मेरी पूजा करे। [४३४-४३५]

मेरे वचन सुनकर मत्री और सेनापति ने पुन. प्रार्थना की—'देव! आप ऐसा न कहे। यदि आप इस चक्रवर्ती का सन्मान नही करेंगे तो पीढियो से चली आ रही परिपाटी (रीति-रिवाज) का भग होगा, राजनीति के प्रतिकूल होगा, प्रजा का प्रलय (नाश) होगा, राज्य-सुख का त्याग करना पडेगा, विनय नष्ट होगा और हमारे वचनो का अनादर होगा। अत आपका ऐसा कहना अनुचित है। हे प्रभो! हम पर कृपा कर आप तपन चक्रवर्ती का योग्य आदर-सन्मान करिये। हमारी दृष्टि मे आपका ऐसा करना ही उचित है।' ऐसा कहते-कहते सभी मेरे पैरो मे गिर गये और मुझ से प्रार्थना करने लगे, जिससे शैलराज द्वारा मेरे हृदय पर किया गया लेप कुछ नरम हुआ। दुर्भाग्य से उसी समय मृषावाद ने मुझ पर प्रभुत्व जमाया और उसके प्रभुत्व मे मैंने अपने मन्त्रियो से कह दिया—'मन्त्रियो! अभो मुझे वहाँ जाने का उत्साह नहीं है, तुम लोग जाओ और यथायोग्य करो। मैं बाद मे आजाऊगा। और, तपन महाराज से उनकी राज्यसभा मे आकर मिल लू गा।' मेरे वचन सुनकर 'जैसी आपकी आज्ञा' कहते हुए मेरे मन्त्री, सेनापति, राज्य के अधिकारी आदि तपन चक्रवर्ती के सन्मुख गये।

तपन चक्रवर्ती के पास विविध देश की भाषा, वेष, वर्ण, स्वर, भेद, विज्ञान और आन्तरिक गुप्त बातो को जानने वाले अनेक गुप्तचर थे। मेरी और मन्त्रियो की बातचीत का भेद तपन चक्रवर्ती के किसी गुप्तचर को लग गया और मेरे मन्त्रियो

---

* पृष्ठ ४६५

के पहुँचने से पहले ही उसने जाकर सारी बात चक्रवर्ती से कह दी। इधर मेरे मंत्री और सेनापति आदि वहाँ पहुँचे, उन्होंने योग्य विनय किया, पैरों पड़े, अमूल्य भेंट प्रदान की और उसके हृदय को वश में किया। चक्रवर्ती ने सब को बैठने का योग्य स्थान दिया। उसके बाद स्वभावतः चक्रवर्ती ने मेरे सम्बन्ध में कुशल वार्ता पूछी। मंत्रियों ने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आपकी कृपा से रिपुदारण कुशल हैं और आपको नमस्कार करने शीघ्र ही आ रहे हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने मुझे बुलाने के लिये कुछ लोगों को भेजा।

मुझे बुलाने वाले मनुष्य जब मेरे पास आये उस समय शैलराज और मृषावाद दोनों ने मिलकर एक साथ मुझ पर प्रभुत्व जमा रखा था, अतः उनके आते ही मैंने कहा—तुम लोग शीघ्र यहाँ से जाओ और मेरे मंत्री, सेनापति आदि सब से कहो कि, 'अरे मूर्खो! पापी दुरात्माओ!! तुम्हें किसने वहाँ भेजा था? [८३६] मैं तो वहाँ नहीं आऊंगा और उन्हें भी अपने जीवन की इच्छा हो तो शीघ्र वापस आ जाय, अन्यथा समझ लें कि उनका जीवन खतरे में है।' मेरे वचन सुनकर मुझे बुलाने के लिये आने वाले लोग वापस चक्रवर्ती के पास गये और मेरे मंत्री, सेनापति आदि को मेरी बात कह सुनाई।

तपन चक्रवर्ती की व्यवहार-दक्षता

मेरी बात सुनकर बेचारे मंत्री घबरा गये, त्रस्त हो गये और उद्वेग में पड़ गये। दोनों तरफ से जीवन की आशा छोड़कर एक दूसरे का मुख देखने लगे और 'मर्यादा-भंग के विषय में अब क्या करना चाहिये' इस विषय में कुछ भी निर्णय करने में दिङ्मूढ़ से असमर्थ बन गये। * तपन चक्रवर्ती बहुत विचक्षण था, वह उन सब की घबराहट और उद्वेग को समझ गया और बोला—अरे लोगों! धीरज रखो, भय छोड़ो इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है। रिपुदारण के ढंग कैसे हैं, यह मैं भलीभांति जानता हूँ। मैं स्वयं ही रिपुदारण को समझ लूंगा। आप सब लोगों से तो मुझे इतना ही कहना है कि जो व्यक्ति ऐसा झूठा दुराग्रह रखता है वह नीच है। ऐसे अयोग्य स्वामी के प्रति बहुमान-प्रतिबन्ध (आग्रह) नहीं रखना चाहिये। अर्थात् आप लोगों को रिपुदारण के प्रति जो मान, प्रीति और आज्ञाकारिता है उसे छोड़ देना चाहिये। क्योंकि, रिपुदारण न तो राज्य-लक्ष्मी के योग्य है और न ही आप जैसे योद्धाओं का नेता बनने के योग्य है। कहा भी है—'मानसरोवर में मोती चुगने वाले और उस सुन्दर सरोवर में अनुरक्त अत्युज्ज्वल रूप वाले राजहंस का नेता कौआ नहीं बन सकता।' [४३७] अतः आप लोगों का उस पर जो भी स्नेह भाव है, उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिये।

---

* पृष्ठ ४३६

मेरे सभी मन्त्री, सेनापति और राजलोक के सदस्य मेरे अभिमानी और झूठे व्यवहार से पहले ही मेरे विरुद्ध हो रहे थे। चक्रवर्ती की ऐसी आज्ञा को सुनते ही उन्होने उसे स्वीकार कर लिया और इस सम्बन्ध मे स्पष्ट घोषणा करदी।

रिपुदारण का मान-दलन

तपन चक्रवर्ती के पास एक योगेश्वर नामक तन्त्रवादी था। उसे एकान्त मे बुलाकर तपन चक्रवर्ती ने क्या-क्या करना और किस प्रकार करना इस सम्बन्ध मे कान में गुप्त रूप से समझा दिया। योगेश्वर ने चक्रवर्ती की आज्ञा को शिरोधार्य किया। तत्पश्चात् योगेश्वर बहुत से राजपुरुषो के साथ मेरे पास आया। उसने देखा कि मेरा मित्र शैलराज मेरा सहारा लेकर बैठा था और मृषावाद मुझ से चिपट रहा था। मेरे अन्तरग प्रदेश की उस समय ऐसी स्थिति थी और बाह्य प्रदेश मे अनेक विदूषक हसी-मजाक कर रहे थे तथा मुझे घेर कर चापलूसी कर रहे थे। योगेश्वर बिना कुछ बोले मेरे सन्मुख आया और अपने पास के योगचूर्ण मे से एक मुटठी भर कर मेरे मु ह पर फेंकी। मणि,मंत्र और औषधियो का प्रभाव अकल्पनीय होता है, अत' उसी समय मेरी प्रकृति मे बड़ा परिवर्तन आ गया। मेरा हृदय शून्य हो गया और समस्त इन्द्रियो के विषय विपरीत लगने लगे। मुझे उस समय ऐसा लगा जैसे किसी ने घोर अन्धकारमय विषम गुफा मे फेक दिया हो और मैं अपने स्वरूप को भूल गया होऊ। मेरे पास मेरा जो परिवार मुझे घेर कर बैठा था वह तो समझ गया कि योगेश्वर चक्रवर्ती की तरफ से आया है। ऐसा जानते ही वे सब भय से त्रस्त हो गये। योगेश्वर ने अपनी शक्ति से मोहित कर उन सब को किंकर्त्तव्य-विमूढ बना दिया। योगेश्वर ने हाथ मे एक मोटी लाठी ली और भौहे चढाकर बोला—'अरे पापी! लुच्चे! दुरात्मा! हमारे स्वामी तपन चक्रवर्ती के पास नही आता और उनके पैरो मे नही पडता तो ले मजा चख।' ऐसा कहकर मुझे लाठी से मारने लगा जिससे मै भयभीत हो गया, मै दीन-हीन बनकर उसके पैरो मे गिर पडा। दुर्भाग्य से उसी समय मेरा मित्र पुण्योदय भी मुझे छोडकर चला गया और मृषावाद तथा शैलराज भी कही छुप गये।

रिपुदारण का नाटक

इस प्रकार मैं परिवार और मित्रो से रहित हो गया। उसी समय योगेश्वर ने अपने साथ वाले पुरुषो को कुछ इशारा किया। क्षण भर मे मेरे पूरे शरीर मे उन्माद छा गया, तीव्रतर ताप होने लगा और अन्दर-बाहर से मेरा शरीर जलने लगा। उन्होने मुझे जन्मजात नग्न (वस्त्ररहित) कर दिया, मेरे शरीर के पाँचो स्थानो के बाल नोच-नोच कर उखाड़ दिये, मेरा मुण्डन कर दिया, मेरे सारे शरीर पर राख पोत दी और पूरे शरीर पर उड़द चिपका दिये। मेरा ऐसा बीभत्स रूप बना कर

योगेश्वर के साथ वाले पुरुष तालियाँ पीट-पीट कर नाचने-कूदने लगे। फिर मुझ से नाटक करवाते हुए वे तीन ताल का रास करने लगे। वे गाने लग :—

> यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते,
> बाधक च जगतामनृत च वदिष्यते।
> नूनमत्र भव एव स तीव्रविडम्वना,
> प्राप्नुवीत निजपापभरेण भृश जन ॥ [४३८ ध्रुवक]

जो प्राणी अविवेक की बहुलता के कारण गर्व करते हैं और विश्व को वाधा पहुँचाने वाला असत्य बोलते हैं वे वस्तुत: इस भव मे ही अपने पाप के बोझ से तीव्र विडम्बनाओ को और विविध दु खो को प्राप्त करते है। ❀

इस पद को वे मुहुर्मुहु उल्लास से गाने लगे। कुण्डल (घेरा) बनाकर, मुझे मध्य मे लेकर, वृत्ताकार घूमते हुए ललकार ललकार कर जोर-जोर से गाते हुए नाचने लगे। नाच चलते हुए मैं प्रत्येक के पैरो मे पडने लगा और लोग मेरी हँसी उड़ाने लगे। इस प्रकार मैं भी उनके साथ-साथ नाचता रहा। नाचते-नाचते जव वे उच्च समवेत स्वर मे गाते तव मुझे भी उल्लसित होकर जोर से गाने और नाचने का दिखावा करना पड़ता' साथ मे ताल भी देता जाता। उन्होने गायन का दूसरा पद प्रारम्भ किया—

> पश्यतेह भव एव जना: कुतूहलं,
> शैलराजवरमित्रविलासकृत फलम्।
> य. पुरैष गुरुदेवगणानपि नो नत.,
> सोऽद्य दासचरणेषु नतो रिपुदारण. ॥४३९॥
> यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते, इत्यादि

अरे लोगो! आप इस आश्चर्योत्पादक कौतूहल को देखे! शैलराज महामित्र के साथ विलास करने का फल तो देखे! यह जो रिपुदारण पहले अपने गुरुजनों और देवताओं को भी नमस्कार नही करता था (अपनी हेठी समझता था) वही आज सेवको के पैरो मे गिर-गिर कर नमस्कार कर रहा है, जरा आश्चर्य तो देखो!

उस समय स्वत: मेरे मुख से भी निम्न पद निकल गया—

> शैलराजवशवर्तितया निखिले जने,
> हिण्डितोऽहमनृतेन वृथा किल पण्डित।
> मारिता च जननी हि तथा नरसुन्दरी,
> तेन पापचरितस्य ममात्र विडम्बनम् ॥४४०॥
> यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते। इत्यादि

❀ पृष्ठ ४६७

इस जगत में शैलराज (अभिमान) के वश में होकर मै भटकता रहा और मृषावाद के वश में होकर स्वय को विद्वान् मानकर घूमता रहा। इन दोनो के वशीभूत होकर मैंने अपनी माँ को मारा और पत्नी को आत्महत्या करने दी। इसी पाप-कृत्य के फलस्वरूप ही मुझे विडम्बनाये प्राप्त हो रही हैं।

[मेरे हृदय के उपर्युक्त उद्गार त्रालू राग में निकल गये। इससे नाचने वाले और अधिक ललकार-ललकार कर गाने लगे, मानो वे मेरे हृदय मे यह बात ठूस रहे हो कि जो व्यक्ति अभिमान करता है और असत्य-भाषण करता है वह अपने भयंकर पापो का फल इसी तरह भोगता है।]

योगेश्वर मेरी पहले की आत्मकथा अच्छी तरह जानता था, इसलिये उसने नाचने वालो से कहा कि, अरे रास करने वालो! तुम इस प्रकार गाओ और नाचो—

योऽत्र जन्ममतिदायिगुरूनवमन्यते,
सोऽत्र दासचरणाग्रतलेरपि हन्यते।
यस्त्वलीकवचनेन जनानुपतापयेत्,
तस्य तपननृप इत्युचितानि विधापयेत् ॥ ४४१ ॥
यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते—इत्यादि।

जो व्यक्ति जन्म देने वाली माँ और बुद्धि देने वाले गुरु का अपमान करता है वह यही दास लोगो के पावों तले रौंदा जाता है और अपमानित होता है। जो झूठ बोलकर लोगो को दु.खी करता है उसे तपन चक्रवर्ती इसी प्रकार योग्य दण्ड देते है।

इस प्रकार गाते-गाते और नाचते-नाचते वे पैरो से और मुट्ठियो से मुझे निर्दयता पूर्वक मारने लगे। अर्थात् मेरे शरीर पर प्रहार पर प्रहार करते हुए जोर-ज़ोर से ताल देने लगे, मानो वे मेरा कचूमर निकाल देना चाहते हो। ताल के साथ-साथ उन सब के पैर एक ही साथ मेरे शरीर पर इतनी ज़ोर से पड़ते थे मानो भारी सघन लोह के गोले से मुझे मारा जा रहा हो। इतनी जोर की मार से मेरा शरीर दब रहा था। उस समय मेरी चेतना अवरुद्ध हो गई, मैं घबरा गया और आकुल-व्याकुल हो गया।

योगेश्वर के साथ आये राजपुरुष चक्राकार घेरा डालकर मेरे चारो तरफ परमाधामी देवो की तरह मुझ पर कड़ा पहरा लगाये घूम रहे थे और मुझे घेरे से बाहर नही निकलने देते थे। एक दूसरे से रास खेलते, ध्रुवपद और दूसरे पद जोर-जोर से गाते, त्रिताल देते और ताल आने पर मेरे शरीर पर पैरो से ताल ठोकते। इस प्रकार वे नाचते-नाचते मुझे पूरे नगर में घुमाते हुए जहाँ तपन चक्रवर्ती थे वहाँ लेकर आये। वहाँ आने पर उनमें और अधिक उत्साह आया और जोर-जोर से झुक-

झुक कर मेरे शरीर पर ताल ठोकने लगे और चक्रवर्ती को अधिक प्रहसन (नाटक) दिखाने लगे तथा जोर-जोर से हँसने लगे। मेरे नगर के अनेक लोग यह नाच देखने इकट्ठे हुए थे, वे तो स्पष्ट कहते थे कि मेरे जैसा दुरात्मा इसी प्रकार के अपमान, मार और तिरस्कार के योग्य ही है। अनन्तर योगेश्वर रास मण्डल (गाने वालो) के घेरे के बीच आया और सभी को सुनाते हुए निम्न पद बोलने लगा :—

> नो नतोऽसि पितृदेवगण न च मातर,
> किं हतोऽसि ! रिपुदारण । पश्यसि कातरम् ।
> नृत्य नृत्य विहिताहति देव पुरोऽधुना,
> निपत निपत चरणेषु च सर्वमहीभुजाम् ।। ४४२ ।।
> यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते इत्यादि

हे रिपुदारण ! तू ने कभी भी माता-पिता या देवता को झुककर नमस्कार नहीं किया, क्या तू मर गया है ? क्या तू कायर बन गया है ? नाचो ! रिपुदारण, नाचो !! हमारे देव तपन के चरणो मे गिर-गिर कर और सभी राजाओ के चरणों में गिर-गिर कर बार-बार नाचो।

[योगेश्वर उपर्युक्त कविता बोल रहा था और उसके साथी उसकी प्रथम पंक्ति (टेर) बार-बार बोलने लगे और ताल आने पर मुझे पैरों की खड़ाउओ से जोर-जोर से मारने लगे।]

रिपुदारण का तिरस्कार : मरण

तपन चक्रवर्ती के समक्ष योगेश्वर इस प्रकार मुझे नचा रहा था और मेरा तिरस्कार कर रहा था। उस समय मुझ मे मूढता और उन्माद बढ़ता गया और मुझे मेरा जीवन खतरे में लगने लगा। फलस्वरूप मैंने दीनता पूर्वक अनेक नाच किये। अन्त में भंगियो और चमारो के पैरो मे भी पड़ा एवं अत्यन्त सत्वहीन नपुंसक जैसा बन गया। ❀

उस समय तपन चक्रवर्ती ने मेरे ही छोटे भाई कुलभूषण को सिद्धार्थपुर राज्य की गद्दी पर अभिषिक्त किया। हे अगृहीतसकेता ! मुझे मुक्कों और लातो से इतना मारा गया था कि मेरा शरीर चूर-चूर होकर नष्ट प्राय: की अवस्था को प्राप्त हो गया। फलत: मेरे पेट मे से खून निकलने लगा और मैं अत्यन्त दु:खी एव सन्तप्त हो गया। भवितव्यता द्वारा दी गई रिपुदारण के जन्म मे चलने वाली एकभववेद्या गोली अब समाप्त हो चुकी थी, अत. उसने अब मुझे दूसरी गोली दी।

नरक-यातना : संसार-परिभ्रमण

इस गोली के प्रभाव से मैं पापिष्ठ निवास (नरक) नगरी के महातम:प्रभा नामक सातवे उपनगर में उत्पन्न हुआ। मैंने वहाँ रहने वाले पापिष्ठ कुलपुत्र का रूप

❀ पृष्ठ ४६८

धारण किया। वहाँ मैं तेतीस सागरोपम तक रहा और अनेक प्रकार के महा भयकर दु:ख भोगता रहा। वहाँ गेंद की तरह मै इधर-उधर ऊपर-नीचे फेंका जाता और वज्र के काटे मेरे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे भौंके जाते। इस सातवे उप-नगर मे अनेक भयकर पीडाये दी जाती है। बहुत लम्बे समय तक मै अत्यन्त भयकर दु ख-सागर मे में डूबा रहा। जब मेरा यह समय पूर्ण हुआ तो भवितव्यता ने मुझे एक और गोली दी जिससे मैं पचाक्षपशु-सस्थान नगर (तिर्यञ्च) मे उत्पन्न हुआ। मेरी पत्नी भवितव्यता ने वहाँ मुझे सियार बनाया। हे भद्रे अगृहीतसकेता! भवितव्यता को ऐसे खेल-खेलने का बहुत शौक था, अतः वह मुझे बहुत भटकाती रही। कभी पापिष्ठ निवास नगर के सात उपनगरो मे से किसी एक मे, तो कभी पचाक्षपशु सस्थान नगर मे, तो कभी विकलाक्ष निवास मे, कभी एकाक्ष निवास मे और फिर मनुष्यगति नगर मे ले जाती। अधिक क्या कहूँ! केवल एक असव्यवहार नगर को छोडकर शेष समस्त नगरो मे मुझे अनेक बार धक्के खिलाये और अनेक पीडाओ का अनुभव कराया गया। कर्मपरिणाम महाराजा द्वारा दी गई एक भव मे भोगने योग्य गोली के समाप्त होते ही वह मुझे दूसरी गोली दे देती। इस प्रकार उसने मुझे अरहट्ट-घटिका यन्त्र की तरह अनेक योनियो मे घुमाया और भटकाया। इस प्रकार समस्त स्थानो पर मुझे अनन्त बार घुमाया गया।

इस प्रकार मुझे उन समस्त स्थानो मे भी भटकना पडा जहाँ मेरी जाति और कुल भी अत्यन्त अधम और निन्दनीय होते थे। मेरा बल अत्यन्त निस्तेज और मेरा रूप घृणा उत्पन्न करने वाला होता था। मेरी तपस्या भी निन्दनीय होती थी। जन्म से ही मैं अत्यन्त मूर्ख, भिखारी और दरिद्रता का घर होता था। मागने से भी मुझे भीख नही मिलती थी। इस सन्ताप से मेरा भीख मागने का धन्धा भी निरन्तर अत्यन्त भयानक और कष्टदायक हो जाता था। सभी प्राणी मुझे अपना शत्रु मानते थे और मेरे से दूर भागना ही श्रेयस्कर समझते थे।

भवितव्यता ने भिन्न-भिन्न गोलियाँ देकर, मेरे भिन्न-भिन्न समयो मे ऐसे अनेक रूप बनाये कि कई बार मेरी जीभ खीचकर निकाल ली जाती कई बार पिघलाया हुआ ताबा पिलाया जाता, कई बार गूंगा और बहरा बनाया जाता और अनेक बार तो मेरी जीभ ही काट ली जाती।

प्रज्ञाविशाला का चिन्तन

ससारी जीव जब इस प्रकार अपनी आत्मकथा सुना रहा था तब प्रज्ञाविशाला सोच रही थी कि देखो, अहो! झूठ और घमण्ड (मृषावाद और शैलराज) के कितने भयकर परिणाम है। इनके वश मे पडकर संसारी जीव ने मिला हुआ दुर्लभ मनुष्य जन्म व्यर्थ गवा दिया, इसी जन्म मे अनेक प्रकार के कष्ट और तिरस्कार सहे और अनन्त ससार-सागर मे डूबा। वहाँ विविध प्रकार के दु:खो का साक्षात्

अनुभव किया और अत्यन्त अधम जाति, कुल आदि मे उत्पन्न हुआ। सचमुच ही इसको शैलराज और मृषावाद की मित्रता बहुत ही महगी पड़ी।

संसारी जीव ने पुन. कहा—हे अगृहीतसकेता ! फिर भवितव्यता मुझे भवचक्रपुर के मनुष्यगति नामक नगर मे ले गई। वहाँ मुझे मध्यम प्रकार के गुण प्राप्त हुए, जिससे भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई * और मुझ पर सतुष्ट होकर मेरे मित्र पुण्योदय को फिर से मेरे साथ रहने के लिये जागृत किया। उसने मुझे कहा—'आर्यपुत्र ! अब आप मनुष्यगति नगर के वर्धमानपुर में पधारे और वहाँ सुखपूर्वक रहे। यह अनुचर पुण्योदय वहाँ आपके साथ आयेगा और आपकी सेवा करेगा।' पत्नी भवितव्यता के वश मे होने से मैंने उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। मेरी एकभववेद्या (उस भव मे भोगने योग्य) गोली के समाप्त होते ही भवितव्यता ने मुझे वर्धमानपुर मे भोगने योग्य अन्य गोली प्रदान की।

* पृष्ठ ४६९

उपसंहार

भवगहनमनन्त पर्यटद्भिः कथञ्चि-
न्नरभवमतिरम्य प्राप्य भो भो मनुष्या ।
निरुपमसुखहेतावादरः सविधेयो,
न पुनरिह भवद्भिर्मानजिह्वानृतेषु ।। ४४३ ।।

इस ससाररूपी अति महान गहन वन मे भटकते-भटकते महान कठिनाई से किसी समय यह रमणीय मनुष्य भव प्राप्त होता है, अत. हे मनुष्यो ! ऐसे प्रसग पर जिस सुख की उपमा अन्य किसी सुख से नही की जा सकती, ऐसे निरुपम (मोक्ष) सुख को प्राप्त करने के लिये आदरपूर्वक सम्यक् प्रकार से प्रयत्न करे। विशेषरूप से ऐसे सुन्दर भव को अभिमान करने, असत्य बोलने एव जिह्वा का रस भोगने मे तो कभी भी नष्ट नही करे। [४४३]

इतरथा बहुदःखशतैर्हता, मनुजभूमिषु लब्धविडम्बना ।
मदरसानृतगृद्धिपरायणा, ननु भविष्यथ दुर्गतिगामुकाः ।। ४४४ ।।

इसके विपरीत जो मनुष्य भव को प्राप्त कर अभिमानी, रस-लोलुप और असत्य-भाषण मे आसक्ति-परायण बनेंगे तो वे इसी मनुष्य-भूमि में अनेक प्रकार के दु:ख भोगेगे, विविध प्रकार की विडम्बनाये प्राप्त करेंगे और अन्त मे निश्चित रूप से दुर्गति मे जायेंगे। [४४४]

एतन्निवेदितमिह प्रकट मया भो,
मध्यस्थभावमवलम्ब्य विशुद्धचिताः ।
मानानृते रसनया सह सविहाय,
तस्माज्जिनेन्द्रमतलम्पटता कुरुध्वम् ।। ४४५ ।।

हे प्राणियो! इस प्रकार मैंने (सिद्धर्षि गणि ने) मध्यस्थ भावो का अवलम्बन लेकर मान, रसना और असत्य के चरित्र का वर्णन किया। अब आप भी मध्यस्थ भाव का अवलम्बन लेकर (धारण कर), विशुद्ध अन्त करण वाले बन कर रसना, मान और असत्य का त्याग कर जैनेन्द्र-मत के प्रति उत्कट प्रेम धारण करे।

उपमिति-भव-प्रपच कथा का मान, मृषावाद
और रसनेन्द्रिय के विपाक वर्णन का
चतुर्थ प्रस्ताव का अनुवाद
समाप्त हुआ।

❀

कोविदशेखर श्री सिद्धर्षि गणि रचित

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा

द्वितीय खण्ड

[प्रस्ताव ५ से ८ का हिन्दी अनुवाद]

आशीर्वचन

आचार्य श्री हस्तिमलजी म०   आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म०

भूमिका

श्री देवेन्द्रमुनि 'शास्त्री'

सम्पादक, संशोधक, अनुवादक

महोपाध्याय विनयसागर

अनुवादक

लालचन्द्र जैन

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट, मायखला–बम्बई

☐ उपमिति-भव-प्रपंच कथा द्वितीय खण्ड

☐ सम्पादक : महोपाध्याय विनयसागर

☐ प्रकाशक : देवेन्द्रराज मेहता
सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सज्जन नाथ मोदी, सुमेरसिंह बोथरा
मन्त्री, संयुक्तमन्त्री, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

एस० एम० बाफना
मैनेजिंग ट्रस्टी, सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
भायखला-बम्बई

☐ प्रकाशन : वर्ष १९८५

☐ मूल्य : ६०.०० साठ रुपया : दोनों खण्डों का १५०.०० एक सौ पचास रुपया

☐ मुद्रक : पॉपुलर प्रिन्टर्स,
जयपुर-२

☐ प्राप्ति स्थान :

१. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर (राज०)-३०२ ००३

२. सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल,
बापू बाजार, जयपुर (राज०)-३०२ ००३

३. सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
१८०, सेठ मोतीशा लेन,
भायखला-बम्बई-४०००२७

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती पुष्प ३१-३२ के रूप में उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के प्रथम हिन्दी अनुवाद को राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, और सेठ मोतीशाह रिलीजियन्स एण्ड चेरीटेबल ट्रस्ट, भायखला-बम्बई द्वारा संयुक्त प्रकाशन के रूप मे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक हर्ष है।

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उद्‌भट विद्वान् श्री सिद्धर्षि गरिण द्वारा लिखित संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ १०वीं शताब्दी का है। रूपक के रूप मे इतना बड़ा ग्रन्थ सम्भवतः पूर्व में या पश्चात् काल मे नहीं लिखा गया। इसकी रचना शैली भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। धर्म जो सीमित दायरे से विस्तृत मानव-धर्म के स्तर का है, उसके विभिन्न पहलुओं को रूपक/उपमाओं के माध्यम से मनोवैज्ञानिक एवं रुचिकर रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो मूल लेखक के बहु आयामी व्यक्तित्व एवं अनुभवों के कारण ही सम्भव हुआ है।

सिद्धर्षि गरिण प्रारम्भ में गृहस्थ थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक विषयासक्ति का था। माता और पत्नी का उलाहना सुनकर, आक्रोश में उन्होंने घर छोड़ दिया। अपने समय के प्रमुख विद्वान् जैन श्रमण दुर्गस्वामी के प्रतिबोध से जैन श्रमण बने और धर्म तथा दर्शन का व्यापक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया। बाद में बुद्धधर्म की ओर आकर्षित हुए तथा बुद्ध श्रमण भी बन गये। पर, अपने मूल गुरु को दिये गये वचन के अनुसार वापस उनके पास आये और पुनः प्रतिबोध प्राप्त कर जैन श्रमण बने।

इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों को सघन रूप से जीने और त्यागने वाले सिद्धर्षि गरिण जैसे संवेदनशील विद्वान् व्यक्ति ही ऐसे अद्‌भुत ग्रन्थ की रचना कर सकते थे। भारतीय दर्शन एवं जैन साहित्य के प्रमुख/मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी (जर्मन) को इस ग्रन्थ ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृत साहित्य का एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ बताया तथा मूल ग्रन्थ को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। बाद में जर्मन भाषा में इसका अनुवाद भी हुआ। ६० वर्ष पूर्व श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया द्वारा अनुदित गुजराती

अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। हिन्दी के प्रमुख विद्वान् **श्री नाथूराम प्रेमी** ने भी केवल प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किया। यह काम उनके देहावसान के कारण आगे नही बढ पाया।

पुस्तक के २ से ८ प्रस्तावो का अनुवाद **श्री लालचन्द जी जैन** ने किया तथा हमारे अनुरोध को स्वीकार कर जैन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् **महोपाध्याय श्री विनयसागर जी** ने प्रथम प्रस्ताव का अनुवाद, समग्र अनुवाद का मूलानुसारी अविकल संशोधन तथा सम्पादन का वृहत्भार भी वहन कर इस कार्य को सफलता के साथ सम्पन्न किया। प्रूफ संशोधन मे **श्री ओंकारलाल जी मेनारिया** ने पूर्ण सहयोग दिया। एतदर्थ तीनों संस्थाये तीनो विद्वानो की आभारी है।

पुस्तक का मुद्रण कार्य पॉपुलर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा किया गया, जिसके लिये भी तीनों सस्थाये संचालको की आभारी है।

आशीर्वचन प्रदान कर आचार्यप्रवर श्री **हस्तिमलजी** महाराज एव आचार्यप्रवर श्री **पद्मसागरसूरिजी** महाराज ने तथा सिद्धहस्त लेखक मुनिपुगव श्री **देवेन्द्रमुनिजी** महाराज 'शास्त्री' ने विस्तृत भूमिका लिखकर हमे कृतार्थ किया है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तिमल जी महाराज के तो हम अत्यन्त ऋणी है कि जिनकी सतत् प्रेरणा से ही इसका हिन्दी अनुवाद सम्भव हो सका।

यदि विषय-प्रतिपादन, सैद्धान्तिक ऊहापोह आदि मे कही मान्यता अथवा परम्परा भेद आता हो तो उससे प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नही है।

हिन्दी भाषा-भाषी अतिविशाल समाज के कर-कमलो मे इस ग्रन्थ का सर्वाङ्ग पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। आशा है, पाठकगण इसके अध्ययन से आनन्द और ज्ञान दोनों प्राप्त करेंगे।

एस. एम. बाफना
मैनेजिग ट्रस्ट्री

सेठ मोतीशा
रिलीजियस एण्ड
चेरिटेबल ट्रस्ट
भायखला—बम्बई

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान,
जयपुर

सज्जननाथ मोदी
सुमेरसिंह बोथरा
मन्त्री, सयुक्तमन्त्री

सम्यग् ज्ञान
प्रचारक मण्डल,
जयपुर

विषयानुक्रम

□

□

□

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

५. पञ्चम प्रस्ताव

प्रस्ताव ५.

पात्र-परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
वर्धमान नगर (बहिरग)	धवल	वर्धमान नगर का राजा		
	कमल सुन्दरी	राजा धवल की रानी		
	विमल	राजा धवल का पुत्र		
	सोमदेव	सेठ, वामदेव का पिता		
	कनकसुन्दरी	सेठ सोमदेव की पत्नी, वामदेव की माता		
	वामदेव	ससारी जीव, कथानायक, सोमदेव-कनकसुन्दरी का पुत्र		
	स्तेय	वामदेव का मित्र (अन्तरग)		
	बहुलिका	वामदेव की सखी (अन्तरंग)		
(क्रीड़ानन्द भवन)	रत्नचूड	विद्याधर, विमल का मित्र, मेघनाद-रत्नशिखा का पुत्र, मणिप्रभ का दौहित्र	वैताढ्य पर्वत	गगन शेखर नगर
			मणिप्रभ	गगन शेखर नगर का राजा, विद्याधर
	अचल	विद्याधर, रत्नचूड का प्रतिद्वन्दी, मणिशिखा-अमितप्रभ का पुत्र	कनकशिखा	विद्याधर मणिप्रभ की रानी
			रत्नशेखर	विद्याधर मणिप्रभ का पुत्र

चपल	अचल का भाई, रत्नचूड का विरोधी	रत्नशिखा	मणिप्रभ की पुत्री, मेघनाद की पत्नी,
चूतमंजरी	विद्याधर रत्नचूड की पत्नी, मणिप्रभ की पौत्री, रत्न-शेखर की पुत्री	मणिशिखा	मणिप्रभ की पुत्री, अमितप्रभ की पत्नी

वंशवृक्ष

मणिप्रभ-कनकशिखा

- रत्नशेखर (रतिकान्ता)
  - चूतमंजरी पुत्री
- रत्नशिखा (मेघनाद)
  - रत्नचूड
- मणिशिखा (अमितप्रभ)
  - अचल
  - चपल
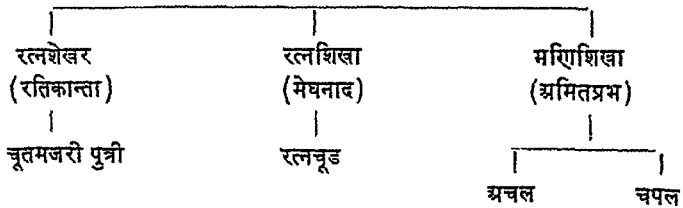
चन्दन	सिद्धि-पुत्र, रत्न-शेखर का मित्र	मुखर	जासूस, रत्नचूड का चर
बुधाचार्य	परोपकारी आचार्य		

बठर गुरु कथा

भव ग्राम स्वरूप (शिव मन्दिर)	सारगुरु	शैवाचार्य	चोर आदि	
	बठरगुरु	तस्करों द्वारा आरोपित शैवा-चार्य सारगुरु का नाम	महेश्वर	शिव भक्त

बुध चरित्र के पात्र

धरातल नगर (अन्तरंग)	शुभविपाक	धरातल नगर का राजा, बुधाचार्य का पिता
	निजसाधुता	राजा शुभविपाक की रानी, बुधा-चार्य की माता

	बुध कुमार	शुभविपाक-निज-साधुता का पुत्र; बुधाचार्य की पूर्व स्थिति		
	अशुभविपाक	राजा शुभविपाक का छोटा भाई		
	परिणति	अशुभविपाक की रानी		
	मन्द कुमार	अशुभविपाक-परिणति का पुत्र		
	धिषणा	विमलमानस नगर के शुभाभिप्राय राजा की पुत्री, बुध की पत्नी		
	विचार कुमार	बुध और धिषणा का पुत्र	मोहराज सैन्य	दुष्टाभिसन्धि आदि
	घ्राण	नासिका प्रदेश मे स्थित, मन्द का मित्र	चारित्र-धर्मराज-सैन्य	सद्बोध मत्री, सम्यग्दर्शन सेनापति आदि
	भुजंगता	घ्राण की परिचारिका		
	मार्गानुसारिता	विचार की मौसी	लीलावती	देवराज की पत्नी, मदकुमार की बहिन
	सत्य	चारित्रधर्मराज का दूत		
	संयम	चारित्रधर्मराज का राज्यपाल, मोहराज द्वारा कदर्थित	कमल	धवलराज का पुत्र
विशदमानस नगर (अन्तरग)	शुभाभिसन्धि	विशदमानस नगर का राजा		
	शुद्धता	शुभाभिसन्धि की रानी		
	पापभीरुता	शुभाभिसन्धि की रानी		
	ऋजुता	रानी शुद्धता की पुत्री, बहुलिका की शत्रु		
	अचोरता	रानी पापभीरुता की पुत्री, स्तेय की शत्रु		काचनपुर
	सरल सेठ	भद्र प्रकृति का सेठ	बन्धुल	सरल सेठ का मित्र
	बन्धुमती	सरल सेठ की पत्नी		

१. माया और स्तेय से परिचय

[संसारी जीव अपनी कथा आगे बढाते हुए सदागम को कह रहा है, भव्यपुरुष सुन रहा है तथा प्रज्ञाविशाला और अगृहीतसकेता पास ही बैठी है। आत्मकथा क्रमशः प्रगति कर रही है :—]*

विमल कुमार

बाह्य प्रदेश मे ससार प्रसिद्ध समस्त सौन्दर्यो का मन्दिर स्वरूप वर्धमान नामक एक नगर था। इस नगर के पुरुष पूर्वाभाषी (आतिथ्य सत्कार करने वाले), पवित्र, प्राज्ञ, उदार, जाति-वत्सल और जैन-धर्मपरायण थे। इस नगर की स्त्रियाँ भी अत्यन्त विनयी, शुद्ध शीलगुण विभूषित, सुन्दर अवयवो वाली, योग्य लज्जा मर्यादा वाली और धार्मिक वृत्ति वाली थी। [१-३]

उस नगर का राजा धवल था। वह अभिमानोद्धत शत्रु रूपी हाथियो के कुम्भ-स्थल का भेदन करने वाला, निष्कपट तथा सत्पराक्रम सम्पन्न था। वह अपने बन्धु-वर्ग के लिये कुमुद-विकासी चन्द्र जैसा शीतल था और शत्रुओ के लिये तम-विनाशी सूर्य जैसा प्रखर एव प्रचण्ड रूपधारक था। इस धवल राजा की समस्त रानियो मे ध्वजा के समान श्रेष्ठ सौन्दर्य और शील गुण सम्पन्न कमल-सुन्दरी नामक पटरानी थी। उस पटरानी के गर्भ से सद्गुणो का मन्दिर विमल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस विमल की यह विशेषता थी कि जब यह छोटा था तब भी बालको जैसी व्यर्थ चेष्टाये नही करता था परन्तु पूर्ण विकसित मनुष्य की तरह बडप्पन एवं बुद्धिमत्ता के अनेक लक्षण प्रकट करता था। [४-८]

वामदेव का जन्म

इसी वर्धमान नगर मे सोमदेव नामक अतिधनवान सेठ रहता था। वह गुणो का आश्रय स्थान सर्वजनमान्य एव ख्यातिप्राप्त था। वह धन मे कुबेर, रूप मे कामदेव और बुद्धि मे बृहस्पति को भी मात दे सके, ऐसा था। वह अत्यन्त धैर्यवान था और उसमे किसी प्रकार का घमण्ड नही था। सोमदेव के अनुरूप ही गुणवती

---

* पृष्ठ ४६६.

कनकसुन्दरी नामक उसकी पत्नी थी, जो शीलगुण सम्पन्न, लावण्यामृत से पूर्ण और अपने पति के प्रति अटूट भक्ति वाली थी। [६-११]

हे अगृहीतसकेता ! मेरी स्त्री भवितव्यता ने मुझे जो गोली दी थी उसके प्रभाव से मैं अपने अन्तरंग मित्र पुण्योदय के साथ कनकसुन्दरी की कुक्षि मे पहुँच गया। गर्भकाल पूर्ण होने पर जैसे रंगमच पर नट प्रकट होता है वैसे ही मैं योनि से बाहर आया। मेरी माता यह जानकर अतीव प्रसन्न हुई कि उसने एक निष्पाप पवित्र सुन्दर बालक को जन्म दिया है, इस भावना से माता ने मुझे देखा।* मेरे साथ पुण्योदय का भी जन्म हुआ था, पर मेरी माता उसे नही देख पायी, क्योकि अन्तरग व्यक्ति साधारण लोगो की भाति दिखाई नही देते। परिचारको ने मेरे पिता को जब यह सुसवाद सुनाया तब उन्होने पुत्र-जन्म-महोत्सव किया, याचकों को प्रचुर दान दिया, गुरुजनो की पूजा भक्ति की और स्वजन सम्बन्धी आनन्द के बाजे बजा-बजाकर नाचे। जब मैं बारह दिन का हुआ तब मेरे पिता ने बड़े महोत्सव के साथ अत्यधिक सन्तुष्टिपूर्वक मेरा नाम वामदेव रखा। [१२-१८]

माया और स्तेय का परिचय

अनेक प्रकार के लाड-प्यार और सुखोपभोगो का अनुभव करता हुआ मैं क्रमश. बडा होने लगा। साथ ही मेरी चेतना भी वृद्धि को प्राप्त होती गई। हे भद्रे ! जब मैं कुछ समझदार हुआ तब मैंने दो काले रग के पुरुष और एक कमर झुकी हुई विकृताकृति स्त्री को देखा। मैं सोच रहा था कि ये तीनो कौन है और मेरे पास किस प्रयोजन से आये है, तभी उनमे से एक पुरुष मुझ से बाहे भीचकर प्रेम से मिला और मेरे पाँवो मे पडा।

फिर वह बोला—अरे मित्र ! तू मुझे पहचानता है या भूल गया ?

मैंने कहा—भाई ! मैंने तो नही पहचाना, आपके साथ का कोई सम्बन्ध मुझे याद नही आता।

मेरा उत्तर सुनकर वह काला मनुष्य शोकातुर हो गया।

मैं (वामदेव)—भाई ! आप इतने शोकातुर और व्यग्र क्यो हो गये ?

मनुष्य—मेरा घनिष्ठ परिचय होते हुए भी तू मुझे भूल गया, यही मेरे शोक और व्यग्रता का कारण है।

मै (वामदेव)—अरे भाई सुलोचन ! तूने पहले मुझे कब देखा है ? यह तो बताओ।

---

* पृष्ठ ४७०.

मनुष्य ! मैं बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो । तुझे याद होगा कि पहले तू असव्यवहार नगर मे रहता था । उस समय तेरे पास मेरे जैसे अनेक मित्र थे, पर मै उस समय तेरा मित्र नही बन पाया था । इसके बाद तू एक समय भ्रमण की कामना से इस नगर से बाहर निकल गया । फिर तू एकाक्षनिवास नगर और विकलाक्षपुर में बहुत बार घूमा । घूमते-घूमते तू पचाक्षपशुसंस्थान नगर मे आ पहुचा । इस नगर में सज्ञि संज्ञक (सज्ञा वाले) गर्भज कुलपुत्र रहते है । अनेक स्थानो पर घूम फिर कर तू भी उनकी टोली मे चला आया । जब तू गर्भज संज्ञी पचाक्ष-पशु कुल-पुत्र में उत्पन्न हुआ तब मैं तेरा मित्र बना, पर मै छिपकर रहता था इसलिये तू मुझे नही पहचान सका । फिर तो तेरा इधर-उधर घूमने (भ्रमण करने) का स्वभाव ही पड़ गया । जिससे तू अपनी स्त्री भवितव्यता के साथ अनन्त स्थानो में अनेक बार भ्रमण करता रहा । तुझे याद होगा कि एक बार तू कुतूहल से घूमते हुए तेरी स्त्री के साथ बाह्य नगर सिद्धार्थपुर गया था । उस समय तू नरवाहन राजा के राजमहल मे रिपुदारण के प्रसिद्ध नाम से कुछ दिन रहा था ।* हे बापू ! तेरा असली नाम तो ससारी जीव है किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानो मे निवास करते-करते बार-बार तेरा नाम परिवर्तित होता रहता है । हे सुलोचन मित्र ! उस समय तू मुझ से भली प्रकार परिचित हुआ था । उस समय तू मुझे मृषावाद के नाम से जानता था । तूने मेरे साथ बहुत आनन्द किया था, अनेक प्रकार के भोग भोगे थे और मुझे भली प्रकार प्रसन्न किया था । उस जन्म मे तुझे मेरे ज्ञान और कौशल के प्रति अतिशय प्रेम था । एक बार तूने मुझे प्रसन्नतापूर्वक पूछा था कि, मित्र ! आनन्द-दायिनी यह कला-कुशलता तुझे किसके प्रसाद से प्राप्त हुई है ? उत्तर मे मैंने कहा था कि मूढता और रागकेसरी की माया नामक पुत्री है, उसे मैंने बड़ी बहिन बना रखा है । उसी माया के प्रसाद से मुझे यह कुशलता प्राप्त हुई है । वह सर्वदा मेरे साथ ही रहती है और बड़ी बहिन होने से माता जैसा प्रेम रखती है । यह छोटे बच्चे भी जानते है कि जहाँ-जहाँ मृषावाद रहता है उसके साथ माया तो रहती ही है । उस समय तूने मुझे अपनी बहिन दिखाने के लिये कहा था । उस समय मैंने तेरी माँग को स्वीकार किया था । बापू ! तुम्हारी उसी बात को याद कर आज मेरी बहिन को साथ लेकर उसकी पहचान कराने आया हूँ । बापू ! रिपुदारण के जन्म में तेरी मेरे प्रति मित्रता, स्नेह और आकर्षण इतना अधिक था कि उसका जितना वर्णन करू वह थोड़ा है । पर, अभी मैं तेरे पास खडा हूँ तो भी तुम मुझे नही पहचानते हो, इससे अधिक शोक की बात क्या हो सकती है ? मै सचमुच मे भाग्य-हीन हूँ कि तेरे जैसा परम इष्ट मित्र मुझे भूल गया और पहले के स्नेह को आज याद भी नही करता । अब मे कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ? इस कारण अभी मेरी ऐसी चिन्ताजनक और दु.खदायक स्थिति बन गई है । (१९–४५)

* पृष्ठ ४७१

मै (वामदेव)—भाई ! वास्तव मे मुझे अभी यह बात याद नही आ रही है, पर मेरे हृदय में ऐसे भाव आ रहे है मानो तुम्हारे साथ लम्बे समय से परिचय रहा हो। भाई मृषावाद ! जब से मैंने तुम्हे देखा है तब से मेरी आँखे हिम जैसी शीतल हो गई है और मेरे मन मे आनन्द ही आनन्द छा गया है। [४६-४७]

किसी प्राणी को देखने से पूर्व-जन्म मे घटित घटना का स्मरण (जाति-स्मरण) हो जाता है। जैसे इस जन्म मे भी हम जब अपने किसी प्रिय स्नेही सम्बन्धी को देखते है तब हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, पर जब किसी अप्रिय व्यक्ति को देखते है तब मन खिन्न हो जाता है। [४८]

अत', हे भाई ! तुझ इस सम्बन्ध में किंचित् भी शोक नही करना चाहिये। मित्र ! तू मेरे प्राण के समान है। अब तुझे जो प्रयोजन (कार्य) हो वह प्रसन्नता से कह। [४६]

मृषावाद—भाई वामदेव ! मुझे यही कहना है कि मेरी यह बहिन जो मेरे साथ में आई है उसका तुम्हारे प्रति अत्यन्त स्नेह है। यद्यपि नये-नये नाम निकालने मे आनन्द मानने वाले लोगो ने इसे माया के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है तथापि इसके आचरण से प्रसन्न होकर इसका दूसरा सुन्दर नाम बहुलिका रखा गया है। इस समय तो मुझे केवल यही कहना है कि जैसा बर्ताव तुमने मेरे साथ रखा था वैसा ही इसके साथ भी रखना। मै तो अभी छुपकर रहूगा क्योकि मेरे प्रकट होने का अभी अवसर नही आया है।* अभी तो यही तेरा साथ अधिक देगी। परन्तु, जहाँ यह रहेगी वहाँ तत्वत' मैं तो रहूगा ही, क्योकि हम दोनो का अन्योन्य स्वरूप अभिन्न है। मेरे साथ यह जो दूसरा पुरुष है, यह मेरा छोटा भाई है। वर्तमान काल में यह तुमसे मित्रता करने योग्य है। इसीलिये इसे भी मै साथ लेकर आया हूँ। इसका नाम स्तेय है। यह प्रचण्ड-शक्ति-सम्पन्न और महा-तेजस्वी है। पहले यह छुपकर रहता था, परन्तु अभी अपने योग्य प्रसंग को जानकर यहाँ आया है। इसके सम्बन्ध में भी मुझे यही कहना है कि जैसा प्रेम तू मुझ पर रखता था, वैसा ही स्नेह-पूर्ण व्यवहार तू इसे अपना प्यारा भाई समझ कर इसके साथ रखना। [५०-५६]

मै (वामदेव)—प्रिय मित्र ! मै ऐसा ही समझूगा कि जो तुम्हारी बहिन है वह मेरी भी बड़ी बहिन है और जो तुम्हारा भाई है वह मेरा भी भाई है। इस विषय मे तुझे कहने की या सशय करने की आवश्यकता नही है। [५७]

मृषावाद—मित्र ! बडी कृपा की। तुमने मुझ पर बहुत अनुग्रह किया। तुम्हारे ऐसे वचन को सुनकर मैं सचमुच कृतकृत्य हुआ। हे नरोत्तम ! तुम धन्यवाद के पात्र हो। [५८]

ऐसा कहकर मृषावाद अन्तर्ध्यान हो गया।

* पृष्ठ ०७२

माया और स्तेय के परिचय का प्रभाव

माया और स्तेय के परिचय के परिणामस्वरूप मेरे मन मे जो विचार-तरगे उठने लगी उन्हे सक्षेप मे तुम्हे बतलाता हूँ। मैं समझने लगा कि माया जैसी बहिन और स्तेय जैसे भाई को प्राप्त कर मै सचमुच कृतकृत्य हुआ हूँ, मेरा जन्म सफल हो गया है। ऐसे भाई-बहिन तो भाग्य से ही प्राप्त होते है। उसके साथ विलास करते हुए मेरी चेतना भ्रमित होने लगी और मन मे अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क के झझावात उठने लगे। माया के प्रभाव-से मैं समग्र विश्व को ठगने की सोचने लगा। विविध प्रपचो से लोगो को शीशी मे उतारने की कामनाये करने लगा। स्तेय के प्रभाव से मेरे मन मे विचार उठा कि मै दूसरो का सब धन चुरा लू या उठा लाऊ। भद्रे! तभी से मै नि शक होकर लोगो के साथ ठगी करने के और लोगो का धन-हरण कर लेने के काम में व्यस्त हो गया। मेरे मित्रो और रिश्तेदारो ने भी मुझे पहचान लिया और मेरे ऐसे कुत्सित कार्यो को देखकर वे मुझे तृण के समान तुच्छ समझने लगे। [५९–६४]

विमल के साथ मैत्री

इधर वर्धमान नगर के महाराजा धवल की पटरानी कमलसुन्दरी के साथ मेरी माता कनकसुन्दरी का सम्बन्ध प्रिय सहेली (बहिन) जैसा था और उन दोनो मे आपस मे घनिष्ठ स्नेह था। दोनो माताओं के सम्बन्ध के कारण पटरानी के पुत्र कपटरहित, स्वच्छ हृदय, वात्सल्यप्रिय विमल के साथ मेरा भी मैत्री-भाव स्थापित हो गया। अर्थात् हम एक दूसरे के इष्ट मित्र बन गये। विमलकुमार सर्वदा दूसरो का उपकार करने में तत्पर रहता था। उसका मन स्नेह से ओतप्रोत था और वह एक महात्मा जैसा दिखाई देता था। किसी भी प्रकार के मनमुटाव या दावपेच-रहित वह मेरे साथ प्रमुदित होकर प्रेम से रहता था। जबकि विमल मुझ पर एक-निष्ठ सच्चा स्नेह रखता था, तब माया के प्रताप से मेरा हृदय कुटिलता का घर बन गया था, इसी कारण मैं अपने मन मे उसके प्रति दुर्भाव रखता था। मैं उसके प्रति स्नेह मे सच्चा नही था और विमल जैसे पवित्र महात्मा के प्रति भी मन मे मलिनता रखता था। अर्थात् विमलकुमार सच्चा शुद्ध सात्विक प्रेम रखता था और मै उसके प्रति कपट-मैत्री रखता था। ऐसी विचित्र परिस्थिति मे भी शुद्ध प्रेम और कपट-मैत्री के बीच झूलते हुए, हम दोनो ने अनेक प्रकार की क्रीडा करते हुए, आनन्द करते हुए और सुखोपभोग करते हुए अनेक दिन बिताये। [६५–६९]

महात्मा विमल ने कुमारावस्था मे ही एक श्रेष्ठ उपाध्याय के पास जाकर उनसे सब प्रकार की कलाओं का अभ्यास कर लिया। क्रमश: वह युवतियो के नेत्रो को आनन्दित करने वाले कामदेव के मन्दिर के समान और लावण्य* समुद्र की आधारशिला सदृश तरुणावस्था को प्राप्त हुआ। [७०–७१] □

---

* पृष्ठ ४७३

२. नर-नारी शरीर-लक्षण

एक ओर विमलकुमार का शुद्ध सच्चा प्रेम और एक तरफ मेरा कृत्रिम प्रेम निरन्तर बढ रहा था। हम अनेक प्रकार के आनन्द भोग रहे थे और विलास कर रहे थे। एक दिन हम खेलते-खेलते क्रीडानन्दन नामक दर्शनीय सुन्दर वन मे जा पहुंचे [७२]

क्रीडानन्दन वन

यह वन अशोक, नागकेशर, पुन्नाग (जायफल), बकुल, काकोली और अंकोल वृक्षों से शोभित हो रहा था। चन्दन, अगर और कपूर के वृक्षो से मनोहारी लग रहा था। उसमे द्राक्षा-मण्डप इतने विस्तृत फैले हुए थे कि वे धूप को रोककर मण्डप के भीतर छाया कर देते थे जिससे वह वन अत्यन्त सुन्दर लगता था। झूमते केवडे की मादक सुगन्ध भौरो को अन्धा बना रही थी। ताड, हिताल और नारियल के वृक्ष इतने ऊंचे बढकर हवा में झूल रहे थे मानो वे नन्दनवन से स्पर्धा कर रहे हो और शाखारूपी हाथो से लोगो को बुला रहे हो। [७३-७५]

इस वन में अनेक प्रकार के अद्भुत आम्र लतागृह थे। किसी-किसी स्थान पर सारस, हस और बगुले आकर इधर-उधर घूम रहे थे। मन को हरण करने वाली मृदु गन्ध से भौरे गुनगुना रहे थे। संक्षेप मे यह वन ऐसा सुन्दर था कि उसे देखकर देवता भी मन में आश्चर्यान्वित भाव से सतोष प्राप्त करते थे। ऐसे मनोज्ञ क्रीडानन्दन वन मे मैं विमल के साथ प्रविष्ट हुआ। हे मृगाक्षि! विमल अतिशय सरल स्वभावी, पाप रहित और मन को आनन्द देने वाला था। ऐसे एकान्त वन मे मेरे साथ क्रीडा करते और घूमते-फिरते वह आह्लादित हो रहा था। [७६-७७]

वन में मिथुन युगल

जब मैं और विमल लतामण्डप के पास आनन्द से बैठे थे तभी हमारे कानो में दूर से किसी स्त्री-पुरुष के धीरे-धीरे बात करने की, साथ ही पैर के झाझर की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई दी। [७८]

यह आवाज सुनते ही विमल बोला—मित्र वामदेव! यह किसकी आवाज आ रही है? मैने कहा—यह आवाज स्पष्ट न होने से मैं इसे भली प्रकार नही सुन सका। यह किसकी है और किधर से आ रही है यह भी नही जान सका। यहाँ तो अनेक प्रकार की आवाजो की संभावना है, क्योंकि इस वन मे यक्ष विचरण करते

हैं, राजागण (श्रेष्ठ मनुष्य) परिभ्रमण करते है, देव भी सभव है, सिद्ध रमण करते हैं, पिशाच घूमते है, भूत आवाज करते हैं, किन्नर गाते है, राक्षस फिरते हैं, किम्पुरुष रहते है, महोरग विलास करते है, गन्धर्व लीला करते हैं और विद्याधर क्रीडा करते है। अत जिस ओर से यह ध्वनि आ रही है उस ओर आगे जाकर देखना चाहिये कि ये आवाजे किस की है ?

विमल ने मेरी बात मान ली और हम दोनो उस तरफ चले जिधर से वह मधुर ध्वनि आ रही थी। हम थोड़े ही आगे बढे होगे कि हमे भूमि पर कुछ पद-चिह्न दिखाई दिये। पद-चिह्न विशेषज्ञ विमल बोला—मित्र वामदेव ! ये पद-चिह्न किसी मनुष्य-युगल (स्त्री-पुरुष) के दिखाई देते है।

भाई ! देखो, बालू मे जो एक के पग के निशान बने है वे किसी कोमल और छोटे पाव के है। पगतली की सूक्ष्म सुन्दर रेखायें भी बालू मे स्पष्ट दिखाई दे रही है। अन्य के पद-चिह्नो मे चक्र, अकुश और मत्स्य आदि के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे है तथा वे दूर-दूर है। देवताओ के पॉव तो लगते नही, क्योंकि वे भूमि से चार अगुल ऊचे रहकर चलते है और साधारण मनुष्य के पाँवो मे भी ऐसे चिह्न नही होते। [७९–८१]

अत. मित्र वामदेव ! जिस सुन्दर युगल के ये पदचिह्न है वह कोई असाधारण युगल होना चाहिए।

उत्तर मे मैंने कहा—कुमार ! तुम्हारा कहना सत्य ही होगा, चलो हम आगे जाकर इसकी जाच करें।

फिर हम कुछ आगे बढ़े। आगे बढने पर* हमने सघन वृक्षो की झाड़ियो से घिरा हुआ एक लतामण्डप देखा। लतामण्डप के एक छिद्र से हमने झांक कर देखा। रति और कामदेव के रूप को भी तिरस्कृत करने वाले एक सुन्दर स्त्री-पुरुष के जोड़े को हमने एक-दूसरे मे एकमेक हुए देखा। विमल तो इन दोनो स्त्री-पुरुषो को पॉव से सिर तक घूर-घूर कर देखने लगा, पर वे दोनो ऐसे रस मे लीन थे कि उन्होने हमें नही देखा। हम जब थोडे पीछे हटे तब विमल बोला–मित्र यह स्त्री-पुरुष का जोड़ा कोई साधारण मनुष्यो का नही है, क्योकि इनके शरीर मे बहुत से विशिष्ट लक्षण दिखाई देते हैं।

मैंने (वामदेव) पूछा—भाई ! स्त्री-पुरुष के शरीर पर कैसे लक्षण होते है ? वह मुझे बता। मुझे स्त्री-पुरुष लक्षण जानने की बहुत उत्सुकता है, अतः पहले मुझे वही बता।

नर-नारी के शारीरिक लक्षण

फिर विमल स्त्री-पुरुष के लक्षण बताने लगा।

* पृष्ठ ४७४

भाई वामदेव ! पुरुषों के लक्षण लाखो ग्रन्थों में [लाखो पद्यो मे] विस्तार से वर्णित है, उनका सक्षेप मे वर्णन करने मे कौन समर्थ हो सकता है ? वैसे ही स्त्रियों के लक्षण भी अत्यन्त विस्तृत है, उनके वर्णन का अन्त कौन पा सकता है ? कौन उन्हे सम्पूर्ण रूप से अपने ध्यान में ला सकता है ? तुझे इन लक्षणो को जानने की अत्यधिक उत्सुकता है तो स्त्री और पुरुष के शरीरो के लक्षण मैं तुम्हे संक्षेप में बताता हूँ, उन्हे ध्यानपूर्वक सुनो। [८२-८४]

मैंने [वामदेव] ने कहा—बड़ी कृपा। ऐसा कहकर जब मैंने अपनी इच्छा प्रकट की तब विमल ने बात आगे चलायी :—

पुरुष-लक्षण

पाँव का तल [चरण] रक्तिम, स्निग्ध और सीधा हो, कमल जैसा मनोहर कोमल और सुश्लिष्ट हो तो उसे प्राज्ञजनों ने प्रशसनीय कहा है। पुरुष के चरण-तल मे चन्द्र, वज्र, अकुश, छत्र, शख, सूर्य आदि के चिह्न हो तो वह पुरुषोत्तम और भाग्यशाली होता है। यदि चन्द्र आदि चिह्न पूरे न हो और अस्पष्ट दिखाई देते हो तो वह पुरुष अपनी अवस्था मे भोग भोगने मे भाग्यशाली होता है। जिसके पदतल में गधा, सूअर या सियार के निशान दिखाई देते हो तो वह मनुष्य निर्भागी और दु:खी होता है। [८५-८८]

विमल—पुरुष-शरीरस्थ लक्षणो का वर्णन कर रहा था इसी बीच मैं [वामदेव] उससे पूछ बैठा—मित्र ! तुम शरीर के प्रशस्त लक्षणों का वर्णन कर रहे थे इसी बीच अपलक्षणो का वर्णन क्यो करने लग गये ?

विमल—इसका कारण सुनो। मनुष्य को देखने मात्र से उसके शुभाशुभ लक्षण स्वत: ही दृष्टिपथ मे आ जाते है। इसी कारण लक्षण दो प्रकार के प्रतिपादित किये गये हैं :— १ शुभ लक्षण और २. अशुभ लक्षण। शरीर सस्थित प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार के चिह्न [लक्षण] सुख और दु:ख के सकेतकारक होते है। इसीलिए विद्वानो ने ये लक्षण दो प्रकार के माने हैं। भद्र ! इसी कारण प्रस्तुत पुरुष के लक्षणो मे अपचिह्नो का वर्णन भी युक्तिसगत है।

मैं [वामदेव]—कुमार ! प्रशस्त और अप्रशस्त चिह्नो की शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिहास में ही मैं बीच में पूछ बैठा था। वस्तुत: तो दोनो ही लक्षणो का वर्णन कर तुम मेरे ऊपर द्विगुणित अनुग्रह कर रहे हो। अत: तुम इन लक्षणो का सागोपांग वर्णन-क्रम चालू रखो। [८९-९३]

विमल ने पुन: वर्णन प्रारम्भ कर दिया—

मित्र ! जिन मनुष्यो के नाखून उन्नत, विस्तृत, लाल, चिकने और शीशे की तरह चमकते हुए होते है वे भाग्यशाली होते हैं और उन्हे धन, भोग और सुख प्राप्त होता है। यदि नाखून सफेद हों तो वह व्यक्ति भीख मांगकर गुजारा करता है।

यदि नाखून रुक्ष और भिन्न-भिन्न रग वाले हो तो वह व्यक्ति दु शील [बुरे आचरण वाला] होता है [९४-९५] *

जिनके पाँव बीच से छोटे हो वे स्त्री सम्बन्धी किसी कार्य मे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मास रहित, पतले, पिचके हुए और लम्बे पैर अच्छे नही होते । पैर छोटे-बड़े हो तो भी अच्छे नही गिने जाते । कूर्म के सदृश उन्नत, मोटे, चिकने, मासल, कोमल और एक-दूसरे से मिले हुए पैर भाग्यशाली के होते है और सुख देने वाले होते है। [९६–९७]

जिन पुरुषो की पिडलिये कौए जैसी दुर्बल और लटकती हुई हो और जाघे बहुत लम्बी और मोटी हो वे दु खी होते है तथा पैदल यात्रा करते है। उन्हे घर के वाहन उपलब्ध नही होते ।[९८]

जिनकी चाल हस, मोर, हाथी और बैल जैसी हो वे इस लोक मे सुखी होते है, इसके विपरीत चाल वाले दु खी होते है । [९९]

जिनकी जानु गूढ, सधिरहित और सुगठित हो वे सुखी होते है, बहुत मासल और मोटे जानु अच्छे नही होते । (१००)

जिस पुरुष का लिग छोटा, कमल जैसा कान्तियुक्त, उन्नत और सुन्दर अग्रभाग वाला होता है वह प्रशस्त माना गया है और टेढे-मेढे लम्बे और मलिन लिग को अशुभ माना गया है । [१०१]

जिसका वृषण (अण्डकोष) सहज लम्बा होता है, वह लम्बी आयु वाला होता है और जिसके वृषण छोटे-मोटे होते है वह थोडी आयुष्य वाला होता है। [१०२]

मासल और विस्तृत कटि शुभकारी होती है तथा पतली और सकडी कटि दरिद्रता देने वाली होती है । [१०३]

जिसका पेट सिह, बाघ, मोर, बैल या मछली के पैट जैसा हो वह अनेक भोग भोगने वाला होता है। गोल पेट वाला भी भोग भोगने योग्य होता है। जिसकी कुक्षि मेढक जैसी हो वह पुरुष शूरवीर होता है, ऐसा प्राज्ञो का कथन है। [१०४]

जिसकी नाभि विशाल और गहरी तथा दक्षिणावर्त (दायी तरफ मुडी हुई) हो वह सुन्दर गिनी जाती है। जिसकी नाभि ऊपर उठी हुई और वामावर्त (बायी तरफ मुडी हुई हो) उसे लक्षणशास्त्रकारो ने अनिष्टकारी माना है। [१०५]

जिसका वक्षस्थल विशाल, उन्नत, तुग, चिकना, रोयेदार और सुकोमल हो वह भाग्यशाली होता है। इसके विपरीत जिसकी छाती छोटी, घसी हुई, रुक्ष, रोयेरहित और कठिन होती है वह निर्भागी होता है। [१०६]

---

* पृष्ठ ४७५

जिसकी पीठ कछुए, सिंह, घोड़े या हाथी की पीठ के समान होती है वह शुभकारी होती है।

जिस पुरुष की बाहु (भुजा) आवश्यकतानुसार लम्बी न हो वह दुष्ट होता है। छोटी भुजा वाले दास या नौकर होते है। प्रलम्ब बाहु वाले भाग्यशाली होते हैं, दीर्घबाहु वाले प्रशस्त गुणी माने गये है। जिसकी दोनो हथेलिया कठिन हो, उसे विशेष काम करना पड़ता है। हाथ के नाखूनो के लक्षण भी पैर के नाखूनो के समान समझ लेने चाहिये। [१०७-१०९]

जिसके कन्धे लम्बे और भेड के कंधे जैसे मासरहित हो, वह भार उठाने वाला मजदूर होता है। जो कंधे मांसल और छोटे होते हैं, उन्हे विद्वान् लोग श्रेष्ठ मानते है। [११०]

पुरुष का गला लम्बा और पतला हो तो वह दु.खदायी होता है। जो गला शख के समान सुन्दराकृति वाला और तीन रेखाओ से युक्त हो वह श्रेष्ठ माना जाता है। [१११]

जिसके होठ विषम हों वह डरपोक, लम्बे हो तो भोगी और छोटे हो तो दु.खी होगा। जिसके होठ पीन (भरे हुए) हो वह सौभाग्यशाली होता है। [११२]

दांत निर्मल, एक समान, अणीदार, चिकने और पुष्ट हो तो शुभ समझे जाते है। इसके विपरीत गंदे, छोटे-बड़े, भोथरे, रुक्ष और पतले दात दु.ख के कारण माने जाते हैं। ३२ दात वाला भाग्यशाली राजा, ३१ दात वाला भोगी, ३० दात वाला* मध्यम और ३० से कम दात वाला भाग्यशाली नही माना जाता। बहुत अधिक या बहुत थोडे दांत वाला, काले दांत वाला और चूहे जैसे दात वाला पुरुष पापी गिना जाता है। जिसके दात भयानक, घृणोत्पादक या टेढे-मेढे हो वे बुरे व्यवहार वाले, अत्यन्त पापी और नर-पिशाच माने जाते हैं। [११३-११६]

कमल पत्र जैसी लाल रग की अणीदार जीभ शास्त्रो के जानकार विद्वान् मनुष्य की होती है। भिन्न-भिन्न रग वाली जीभ शराबी की होती है। शूरवीर पुरुष का तालू कमल-पत्र जैसा कातियुक्त और मनोहारी होता है। काले तालू वाला कुल का क्षय करने वाला होता है और नीला तालू दु ख का कारण होता है। [११७-११८]

हंस अथवा सारस के जैसे सुन्दर स्वर वाला पुरुष सुखी होता है। कौए एवं गधे जैसे स्वर वाला दुःखी होता है। [११९]

लम्बी नाक वाला सुखी होता है और विशुद्ध (सीधी) नाक वाला भाग्यशाली होता है। चपटी नाक वाला पापी होता है और टेढ़ी नाक वाला चोर होता है। [१२०]

* पृष्ठ ४७६

मनस्वी पुरुष की दृष्टि (आख की पुतली) नील कमल की पखुड़ी जैसी काली और मनोहारी होती है। मधु या दीपशिखा जैसी पीली दृष्टि भी प्रशस्त मानी जाती है। बिल्ली जैसी कजरी आख पापी की होती है। सीधी दृष्टि, वक्र दृष्टि, भयकर दृष्टि, केकरा (टेढी) दृष्टि, दीन दृष्टि, अत्यन्त रक्त दृष्टि, रुक्ष दृष्टि और काले तथा पीले रग की मिश्रित आख खराव मानी जाती है। भाग्यशाली पुरुषो की आंख काले कमल जैसी होती है, लम्बे आयुष्य वाले की दृष्टि गम्भीर होती है, भोगी की दृष्टि विशाल होती है और अल्पायुषी की आखें उछलती हुई सी लगती हैं। काने से अन्धा अच्छा, वाडी आख वाले से काना अच्छा, डरपोक दृष्टि वाले से अन्धा, काना तथा वाडा भी अच्छा। अस्थिर और विना कारण सतत चलने वाली आखे, लक्ष्यहीन आंखें, रुक्ष-शुष्क और मलिन आंखें पापी मनुष्य की होती है। पापी नीची दृष्टि से, सरल व्यक्ति सीधी दृष्टि से और भाग्यशाली ऊची नजर रखकर चलता है तथा बार-बार क्रोध करने वाला टेढा-मेढा देखा करता है। [१२१-१२६]

सम्माननीय और सौभाग्यशाली मनुष्य की भौहे लम्बी और विस्तीर्ण होती है। जिसकी भौहे छोटी होती है वह स्त्री सम्बन्धी किसी बड़ी आपत्ति में गिरता है। [१२७]

धनवान व्यक्ति के कान पतले, चौडे और लम्बे होते है। चूहे जैसे कान वाला व्यक्ति बुद्धिशाली होता है और जिसके कान पर अधिक रोये होते है वह लम्बी आयुष्य वाला होता है। [१२८]

जिस पुरुष का ललाट विशाल और चन्द्र की आभा जैसा उज्ज्वल होता है वह सम्पत्तिशाली होता है, जिसका ललाट अधिक वड़ा होता है वह दुःखी होता है और जिसका ललाट छोटा होता है उसकी आयुष्य थोडी होती है। [१२९]

जिस पुरुष के सिर के बायी तरफ बालो मे वामावर्त (बायी ओर घूमने वाला) भौरा होता है वह लक्षणरहित, क्षुधा-पीड़ा से घर-घर भीख मागने वाला होता है, फिर भी उसे लूखे-सूखे टुकड़े ही मिल पाते हैं। जिस पुरुष के सिर के दायी तरफ दक्षिणावर्त (दांयी ओर घूमने वाला) भौरा होता है उसके हाथ मे लक्ष्मी दासी की तरह रहती है। जिस पुरुष के बाये भाग मे दायी ओर घूमने वाला भौरा हो अथवा दांये भाग मे बांयी ओर घूमने वाला भौंरा हो वह अपने जीवन के अन्तिम भाग मे भोग भोगेगा इसमे तनिक भी सदेह नही है। [१३०-१३२]*

जिस पुरुष के बाल दूर-दूर, रूखे और मैले हो, वह दरिद्री होता है। जिसके बाल कोमल और चिकने हो वे सुख देने वाले होते है। अग्नि जैसे रंग के बाल वाला व्यक्ति विविध क्रीड़ा करने वाला होता है। [१३३]

---

* पृष्ठ ४७७-

सामान्यत: भाग्यशाली पुरुषो के वक्षस्थल, ललाट और मुख विस्तृत होते है, नाभि, सत्व (अन्तरग बल) और स्वर गम्भीर होते है तथा बाल, दात और नाखून छोटे हों वे सुखकारक होते है। जिनका गला, पीठ, जाघे और पुरुष चिह्न (लिग) छोटा हो वे पूजनीय होते है। भाग्यशाली मनुष्यो की जीभ और हाथ-पाव के तले लाल होते है। दीर्घायुषी व्यक्तियो के हाथ और पैर विशाल होते है। चिकने दात वाले को सुस्वादु भोजन मिलता है अथवा सदाचारी होता है। स्निग्ध आखो वाला पुरुष सौभाग्यशाली होता है। अधिक लम्बा, छोटा, मोटा या काला पुरुष निन्दनीय होता है। जिनकी चमड़ी, रोये, दात, जीभ, बाल और आखें अधिक रुक्ष हों वे भाग्यशाली नही होते है। [१३४-१३८]

हे सौम्य ! जिस पुरुष के ललाट में ५ रेखाये पडती हो तो उसकी उम्र १०० वर्ष, ४ रेखाये पडती हो तो ९० वर्ष, ३ रेखाये पडती हो तो ६० वर्ष, २ रेखाये पडती हो तो ४० वर्ष और एक रेखा वाले की आयु ३० वर्ष होती है। [१३९-१४०]

धन का आधार हड्डियो पर, सुख का आधार मास पर, भोग का आधार चमडी पर, स्त्री-प्राप्ति का आधार आखो पर, वाहन-प्राप्ति का आधार गति पर, शासक (आज्ञा चलाने) का आधार स्वर पर और सब विषयो का आधार आतरिक बल मे स्थित है। [१४१]

गमन गति (चलने के तरीको) से शरीर का वर्ण (रग) विशेष आवश्यक है, रग से स्वर अधिक आवश्यक है और स्वर से भी अधिक आवश्यक आन्तरिक बल है, क्योकि सब विषयो का अन्तिम आधार उसी सत्त्व पर आधारित है। पुरुष का जैसा रंग होता है वैसा ही उसका रूप होता है, जैसा रूप वैसा ही मन, जैसा मन वैसा ही सत्त्व और जैसा उसका सत्त्व अर्थात् आन्तरिक बल होता है वैसे ही उसमे गुण होते है। [१४२-१४३]

हे भद्र ! इस प्रकार मैने पुरुष के लक्षणो का सक्षेप मे वर्णन किया, अब स्त्री के लक्षणो का वर्णन करता हूँ जिसे ध्यान से सुनो। [१४४]

सत्त्व-वर्धन के उपाय

यहाँ मैने विमलकुमार से पूछा—मित्र ! तुमने कहा कि सर्व लक्षणो का आधार अत्यन्त निर्मल सत्त्व (आत्मिक बल) है और अन्त मे उसका विशेष वर्णन किया है, तो क्या यह आत्मिक-बल जैसा और जितना पहले होता है उतना ही रहता है या इसी जन्म मे किसी प्रकार उसमे वृद्धि और विशुद्धता भी बढ सकती है ? [१४५-१४६]

उत्तर मे विमल बोला—सुनो, निम्न उपायो से आतरिक-बल मे वृद्धि भी हो सकती है। ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि ये आतरिक-बल को बढाने के उपाय है। ब्रह्मचर्य, दया, दान, नि स्पृहता, तप और उदासीनता ये सब आतरिक

बल को बढाने के कारण है, इनसे सत्त्व अधिक शुद्ध होता है और प्राणी की प्रगति होती है। जैसे शीशे पर सोडे का कपड़ा फेरने से एव हाथ फैरने से वह अधिक साफ होता है वैसे ही विशुद्धि के उपायो से सत्त्व जितने अश मे अशुद्ध होता है उतने ही अश मे फिर से विशुद्ध हो जाता है। उपरोक्त विशुद्धि के उपाय अन्तरंग व्यवहार में लगी चिकनाई को दूर कर देते हैं और इनका पुनः-पुनः सेवन (प्रयोग) करने से वे अन्तरात्मा को रुक्ष वना देते हैं।* आत्मा रुक्ष होने से उसमे सचित मैल निकल जाता है, जिससे लेश्या (आत्मपरिणति) शुद्ध होती है, उसी को यहाँ सत्त्व कहा गया है। सत्त्व शुद्ध होने पर प्रशस्त लक्षणो के गुण स्वत. ही पूर्णरूपेण प्रकट होते है और अपलक्षणों के दोष अपना अधिक प्रभाव नही दिखा सकते। भाई वामदेव ! समस्त गुणों का आधारभूत उत्तम सत्त्व जिन भावो (उपायो प्रयोगो) से वृद्धि प्राप्त कर सकता है, ऐसे भाव विद्यमान है, यह वात अब तेरी समझ मे आ गई होगी। [१४७-१५३]

हे अगृहीतसंकेता ! मित्र विमल ने आतरिक बल के विषय मे मुझे इतना बताया, पर मेरी समझ मे तो कुछ भी नही आया। फिर भी मेरी बहिन माया जो मेरे पास थी, उसके प्रभाव से मैने हाँ कह दिया और सिर हिलाते हुए कहा— कुमार ! तुम्हारी वात ठीक है, इससे अभी मेरे मन का सशय नष्ट हो गया है। अब तुम स्त्री के लक्षणो का वर्णन करो। साथ ही स्त्री-पुरुष के इस जोडे को देख कर तुझे जो इतना विस्मय हुआ है, वे तुझे इन लक्षणो के आधार पर कैसे लगते है वह भी वतला दो। [१५४-१५६]

उत्तर मे विमल बोला—सुनो, इस युगल मे से पुरुष मे जो लक्षण दिखाई दे रहे हैं उनसे वह कोई चक्रवर्ती होना चाहिये और स्त्री के लक्षणो को देखते हुए वह किसी चक्रवर्ती की स्त्री होनी चाहिये। ऐसे सुन्दर लक्षणो से युक्त श्रेष्ठतम युगल को देखकर ही मुझे विस्मय हुआ था। हे भद्र ! अव स्त्री के लक्षणो का वर्णन कर रहा हूँ। [१५७-१५८]

मैंने (वामदेव) कहा—सुनाओ, तब विमलकुमार कहने लगा।

स्त्री-लक्षण

पूरे शरीर का आधा भाग मुह है या यो कहे कि मुह ही शरीर का आधार है, अतः वह ही पूरा शरीर है तो अत्युक्ति नही होगी। मुख से भी नाक श्रेष्ठ (विशेष) स्थान रखता है और नाक से भी आँखे अधिक श्रेष्ठतम (उपयोगी और शुभ लक्षण-सूचक) हैं। [१५९]

जिस स्त्री के पॉव मे चक्र, पद्म, ध्वजा, छत्र, स्वस्तिक और वर्धमान का चिह्न हो वह स्त्री राजा की रानी है या होने वाली है, ऐसा समझना। [१६०]

---

* पृष्ठ ४७८

जिस स्त्री के पैर बड़े, टेढ़े और सूप जैसे हो वह दासी होती है। जिस स्त्री के पाँव अत्यन्त रुक्ष हों वह दरिद्रता प्राप्त करती है और भिन्न-भिन्न कारणों से शोक पाती है। ऐसा लक्षणज्ञ मुनियों का कथन है। [१६१]

जिस स्त्री के पाँव की अगुलिया दूर-दूर हो और रुक्ष हो, वह मजदूरी करने वाली होती है और यदि अगुलियां अधिक मोटी हो तो वह दु:ख और दरिद्रता को प्राप्त करती है। जिस स्त्री के पैर की अगुलिया चिकनी, पास-पास, गोल, लाल और बहुत मोटी न हो वह स्त्री सुखी होती है। [१६२–१६३]

जिस स्त्री की जाघें और पिंडलिये पुष्ट हों, अधिक दूर-दूर न हो, चिकनी हो, तिल और रोमरहित हों और हथिनी की सूण्ड जैसी हो तो वह प्रशसनीय होती है। [१६४]

जिस स्त्री की कमर विस्तृत, मासल, चारो ओर से रक्तिम और शोभायमान हो तथा नितम्ब समुन्नत हो वह विशेष प्रशस्त मानी गई है। जिस स्त्री के पेट पर अधिक नाडियां दिखाई देती है और उन पर मास दिखाई नही देता है वह दुष्काल मे से आई हुई भूख का घर होती है। जिस स्त्री के पेट का मध्य भाग बराबर लगा हुआ और सुन्दर हो वह सुख भोगने वाली होती है। [१६५-१६६]

जिस स्त्री के हाथ के नाखून खराब हो, हाथ पर फोड़े से दिखाई देते हो, बार-बार पसीना आता हो, अधिक मोटे हो, हाथ पर रोयें उगे हो, अधिक कठोर हो, हाथो की आकृति ठीक न हो, पीले, चपटे और रुक्ष हो, ऐसे हाथ वाली स्त्री बहुत दु:खी होती है। [१६७]

नोट—स्त्री-लक्षणों का वर्णन यहाँ एकाएक रुक गया है, इससे लगता है कि या तो स्त्री-शरीर का अधिक वर्णन हितकर नही समझा गया हो या लिखा हुआ अश गुरु ने या अन्य किसी महापुरुष ने बाद मे निकाल दिया हो।

३. आकाश-युद्ध

जब विमलकुमार लतामण्डप के दूसरे भाग मे वामदेव के साथ बात कर रहा था, स्त्री-पुरुष के जोडे को देखकर उनके लक्षणो पर विवेचन कर रहा था तभी वहाँ एक अनोखी घटना घट गई, जिससे उनकी बाते वही बन्द हो गई।* क्या घटना घटित हुई ? सुनिये —

मिथुन-युगल पर आक्रमण

मैने देखा कि आकाश मे सूर्य के समान तेजस्वी अति भयकर दो पुरुष हाथो मे नग्न तलवार लिये हुए लतागृह की ओर तेजी से आ रहे है। [१६८]

विमल की बात वही छोडकर मैंने आश्चर्यान्वित होकर उसका ध्यान उस तरफ आकर्षित करने के लिये कहा—कुमार! कुमार!! देखो। अभी तक विमलकुमार की दृष्टि कोमल कमल के पत्तो मे स्थिर थी, उसने यह दृश्य देखने के लिये तुरन्त अपनी दृष्टि घुमायी और दृश्य देखकर वह सोचने लगा कि एकाएक यह क्या हो गया ?

उसी समय आकाश से आने वाले दोनो पुरुष लतागृह के ऊपर मडराने लगे और उनमे से एक पुरुष बोला—अरे पुरुषाधम ! निर्लज्ज ! तू कही भी भाग या छुप, तुझे छोडू गा नही। अत. अब तू इस ससार को अन्तिम बार देख ले और अपने इष्टदेव का स्मरण करले या अपना पराक्रम बतला। यो चोर की तरह छुपकर क्यो बैठा है ?

आकाश मे युद्ध

ऐसे तिरस्कार युक्त अति कठोर और युद्ध को निमन्त्रण देने वाले वचन सुनकर लतागृह के युगल मे से पुरुष ने स्त्री से कहा—'सावधान होकर जरा धैर्य से रहो।' ऐसा कहकर स्त्री को लतागृह मे छोडकर उन आने वाले दोनो पुरुषो से बोला—'रे ! मेरे विषय मे तुमने जो कुछ कहा है उसे भूल मत जाना, अब देखे कौन भागता है और कौन छुपता है।' यों कहकर उसने अपनी तलवार म्यान से खीची और कटूक्तिपूर्ण अपशब्द बोलने वाले पर झपटा। आकाश मे इन दोनो का दारुण और विस्मयकारक युद्ध हुआ। तलवारे और ढाले खड़खडाने लगी, शस्त्रो की खनखनाहट और योद्धाओ के सिंहनाद से युद्ध का दृश्य भीषणतम हो

---

* पृष्ठ ४७६

गया । अनेक प्रकार के युद्ध-व्यूहो और एक-दूसरे को पराजित करने के लिये ऊपर नीचे अगल-वगल से किये गये उग्र वारो से युद्ध तीव्रतम स्थिति मे आ गया। [१६९-१७०]

भयाक्रान्त सुन्दरी

इस प्रकार जब तीनो मे युद्ध चल रहा था, तव आने वाले दो पुरुषो मे से एक पुरुष वार-वार लतागृह मे प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा था। वह स्त्री लतागृह मे अकेली रह गई थी इसलिये भयभीत हो गई थी। सिंह के त्रास से जैसे हरिणी घवरा जाती है, वैसी ही स्थिति उसकी हो गई थी। उसके पयोधर भय से धडक रहे थे। वह अस्थिर दृष्टि से दसों दिशाओ मे सहायता के लिये देखती हुई वहाँ से निकल कर भागने लगी। इसी समय उसकी दृष्टि विमलकुमार पर पडी, अतः हृदय में कुछ आश्वस्त होकर उसने विमलकुमार से कहा—'हे महापुरुष ! मेरी रक्षा करिये, मुझे वचाइये, मै आपकी शरण में हूँ।' विमल वोला—सुन्दरी ! तनिक भी मत घवराओ। अव डरने का कोई कारण नही है, तुम्हे आच भी नही आने दू गा।

जव कुमार सुन्दरी को आश्वासन दे रहा था तभी युद्धरत पुरुषो मे से एक जो इतनी देर से लतागृह मे उतरने का प्रयत्न कर रहा था लतागृह के ठीक ऊपर आकर ज्यो ही नीचे उतरने का प्रयत्न करने लगा त्यो ही विमलकुमार के गुण-समूह से उत्पन्न मानसिक बल के प्रभाव से वनदेवता ने उसे आकाश मे ही स्तम्भित कर दिया। तव वह पुरुष आँखे फाड-फाड कर इधर-उधर देखने लगा और अपने को छुडाने का प्रयत्न करने लगा, पर उसका कुछ भी वश नही चला और हलन-चलन क्रिया-रहित होकर वह चित्रांकित सा आकाश मे लटक गया। [१७१]

आक्रमणकारी की पराजय

स्त्री-पुरुष के जोडे मे से जो पुरुष युद्ध करने आकाश मे गया था उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर दिया। प्रतिद्वन्द्वी हारकर भागने लगा तो वह पुरुष भी उसके पीछे झपटा। लतागृह पर चित्रलिखित से स्तभित पुरुष ने जब यह देखा तव वह अत्यन्त क्रोधित होकर उसका पीछा करने की सोचने लगा। वनदेवता ने उसके मन के भाव जान लिये। वनदेवता का काम तो केवल स्त्री की मर्यादा को वचाने और विमल के असाधारण गुणो को मान देने का था, युद्ध मे पडने या भाग लेने का नही था, अत उस स्तभित पुरुष को मुक्त कर दिया। मुक्त होते ही वह त्वरित गति से उनके पीछे आकाश मे उड़ा। वे दोनो तो इतने दूर जा चुके थे कि दृष्टि-पथ मे ही नही आते थे। फिर भी यह देव उनके पीछे दौडता ही रहा।

उस समय लतागृह मे विमलकुमार की शरणागत वह सुन्दरी विलाप करने लगी—'हा आर्यपुत्र ! हा आर्यपुत्र !! आप मुझ मन्दभागिनी को अकेली छोडकर

कहाँ चले गये ? मेरा क्या होगा ?' उस समय मैने और विमलकुमार ने अनेक प्रकार से धीरज बधाकर उसे आश्वस्त किया ।*

विमल का आभार

कुछ समय पश्चात् सुन्दरी के साथ वाला पुरुष विजय प्राप्त कर विजयश्री की कान्ति से दीप्त और हर्षित होता हुआ, आतुरता से सुन्दरी को ढूढता हुआ वेग से लतागृह मे आ पहुँचा । [१७२]

उसे आया देखकर सुन्दरी को अत्यन्त हर्ष हुआ, मानो उसके सम्पूर्ण शरीर पर अमृत वृष्टि हुई हो । उसके अगोपांग आनन्दातिरेक से पुलकित हो गये । सुन्दरी ने विमलकुमार की शरणागतता का वृत्तान्त सक्षप मे कह सुनाया जिसे सुनकर उसने विमलकुमार को प्रणाम किया और कहा—

अहा ! ऐसे विषम समय मे आपने मेरी प्रिय पत्नी की रक्षा की है अत. आप मेरे बन्धु है, पिता है, माता है, मेरे जीवन-प्राण है । हे पुरुषोत्तम ! हे नरोत्तम ! ! हे धीर ! आप वस्तुत: धन्यवाद के पात्र हैं, अथवा मै आपका दास हूँ, नौकर हूँ, बिका हुआ गुलाम हूँ, सदेशवाहक चाकर हूँ । आदेश दीजिये, अब मैं आपकी क्या सेवा करू ? [१७३-१७४]

उत्तर मे विमलकुमार बोला—महापुरुष ! इस प्रकार शीघ्रता करने की और मेरा आभार मानने की कोई आवश्यकता नही है । मैं आपकी स्त्री को बचाने वाला कौन होता हूँ । वास्तव मे तो आपने ही अपने माहात्म्य से उसे बचाया है । भद्र ! मुझे यह दृश्य देखकर अत्यधिक कौतुक हो रहा है । क्या आप मुझे यह बताने का कष्ट करेंगे कि यह सब घटना कैसे घटित हुई और युद्ध-निमन्त्रण पर आपके आकाश मे उड जाने के बाद क्या हुआ ?

उपरोक्त प्रश्न का सविनय उत्तर देते हुए उस देव-पुरुष ने कहा—यदि आपको यह घटना सुनने की वास्तविक उत्सुकता हो तो आप थोड़ी देर शान्ति से यहाँ बैठिये, क्योकि यह कथा बहुत लम्बी है ।

फिर सभी लोग लतागृह मे पृथ्वीतल पर आराम से बैठे और देव-पुरुष ने अपनी कथा प्रारम्भ की ।

---

* पृष्ठ ४८०

४. रत्नचूड की आत्मकथा

देव-पुरुष ने अपनी सुन्दर स्त्री के समक्ष विमल और मुझे सुनाते हुए अपनी आत्मकथा प्रारम्भ की। देव-पुरुष ने कहा—

रत्नचूड का परिचय .

शरद् ऋतु के शात चन्द्र के किरण-समूह जैसा श्वेतरजोमय वैताढ्य नामक एक पर्वत है। इस पर्वत की उत्तर और दक्षिण दो श्रेणियाँ है। उत्तर श्रेणी मे ६० विद्याधरो के और दक्षिण श्रेणी मे ५० विद्याधरो के नगर बसे हुए हैं। वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे गगनशेखर नामक एक नगर है। इस नगर का राजा मणिप्रभ और उसकी रानी कनकशिखा है। इनके रत्नशेखर पुत्र और रत्नशिखा एव मणिशिखा नामक दो पुत्रियाँ है। रत्नशिखा का विवाह मेघनाद विद्याधर के साथ और मणिशिखा का अमितप्रभ विद्याधर के साथ हुआ है। मै रत्नशिखा और मेघनाद का पुत्र हूँ। मेरा नाम रत्नचूड है। मणिशिखा और अमितप्रभ के दो पुत्र है जिनके नाम अचल और चपल है। अचल और चपल मेरी मौसी के पुत्र होने से मेरे भाई हुए। मेरे मामा रत्नशेखर का विवाह रतिकान्ता से हुआ, जिससे उन्हे एक पुत्री हुई जिसका नाम उन्होने आम्रमजरी रखा। वही आम्रमञ्जरी अभी आपके समक्ष इस लतामण्डप मे बैठी हुई है। मेरी मौसी के पुत्र अचल, चपल, मैं और आम्रमञ्जरी, हम सब बचपन मे एक साथ ही क्रीडा करते थे। क्रमश हम सब कुमारावस्था को प्राप्त हुए और कुलक्रम से चली आ रही विद्याधरो की सारी विद्याओं का हमने अभ्यास किया।

रत्नचूड को धर्मप्राप्ति

इधर मेरे मामा रत्नशेखर की बचपन से ही चन्दन नामक सिद्धपुत्र के साथ मित्रता थी। यह सिद्धपुत्र सर्वज्ञ प्ररूपित आगम-शास्त्रो में अत्यन्त निपुण था और निमित्तशास्त्र, ज्योतिष, मत्र-तन्त्र तथा मनुष्यो के लक्षणो को समझने मे भी बहुत कुशल था। उसकी संगति से मेरे मामा रत्नशेखर भी सर्वज्ञभाषित धर्म के अनुरागी और दृढ भक्त बने। मेरे मामा ने इस श्रेष्ठ जैन-धर्म का ज्ञान मेरे माता-पिता (रत्नशिखा, मेघनाद) और मुझे भी करवाया।* एक समय सिद्धपुत्र चन्दन

---

* पृष्ठ ४८१

ने मेरे लक्षण देखकर मेरे पिता और मेरे मामा से कहा कि तुम्हारा यह बालक एक दिन विद्याधरो का चक्रवर्ती बनेगा। [१७५-१७८]

रत्नचूड-आम्रमञ्जरी का लग्न : अचल-चपल का द्वेष और प्रपञ्च

इसी बीच मैंने (वामदेव) कहा—कुमार! तुमने इसके लक्षण देखकर कहा था कि यह पुरुष चक्रवर्ती होगा, पूर्ण सत्य है। मेरी बात सुनकर विमल ने कहा—मित्र वामदेव! मैंने जो कुछ कहा वह मेरा मनगढन्त कथन नही था, किन्तु आगम-वचन था। आगम-वचन सत्य ही होते है, अतः इसमे विसंवाद या सशय को स्थान ही प्राप्त नही होता। रत्नचूड पुनः कहने लगा—

मै और मेरे मामा एक धर्म को मानने वाले होने से सार्धमिक (सहधर्मी) थे। उनके विचारो के अनुसार मै सुलक्षणो (योग्य लक्षणो) से युक्त था अत. उन्होने अपनी पुत्री आम्रमजरी का विवाह मेरे साथ कर दिया। मेरी मौसी के लड़के अचल और चपल को यह बात अच्छी नही लगने से वे कुपित हो गये और ईर्ष्यावश मुझे नीचा दिखाने के अनेक प्रयत्न करने लगे, पर वे अपने प्रयत्नो मे सफल नही हुए। तब वे मुझे हराने के लिये तुच्छ प्रपञ्च करने लगे और मेरे दोष ढूढ़ने लगे। जब मुझे उनके प्रपञ्चो का पता लगा तब यह सोच कर कि कही असावधानी मे मेरी हत्या न हो जाय, मैंने उनके कार्यो पर दृष्टि रखने के लिये मुखर नामक गुप्तचर को नियुक्त किया जो उनके षड्यन्त्रो का पता लगा कर मुझे सूचित करता रहता था। एक बार उस मुखर गुप्तचर ने मुझे सूचित किया कि अचल और चपल ने महान् प्रयास से किसी के पास से काली नामक विद्या प्राप्त की है और अब वे उसे सिद्ध करने के लिये किसी गुप्त स्थान पर गये हैं। मैंने अपने गुप्तचर से कहा—भद्र! जब वे इस विद्या को सिद्ध कर वापिस लौटे तब मुझे सूचित करना। मुखर ने मेरी आज्ञा शिरोधार्य की।

आज प्रात मेरा गुप्तचर वापिस मेरे पास आया और मुझे बतलाया कि, देव! अचल और चपल काली विद्या सिद्ध कर वापिस लौट आये हैं। उनके बीच जो गुप्त सकेत वार्ता हुई थी उसे मेरे गुप्तचर ने समझ लिया था और उसने मुझे बताया कि गुप्तमन्त्रणा करते हुए अचल ने कहा—'भाई चपल! मै रत्नचूड के साथ युद्ध करूगा उस समय तू आम्रमंजरी का हरण कर लेना।' हे कुमार! अब आगे आप जैसा उचित समझे वैसा करे।

गुप्तचर की बात सुनकर मैने विचार किया कि यद्यपि ये दोनो विद्या से शक्तिमान बन गये हैं तथापि मै इन्हे हराने में समर्थ हूँ, परन्तु ये दोनों अचल और चपल मेरी मौसी के लडके होने से मेरे भाई हैं। अत. इन्हें मारना तो उचित नही है, क्योकि इससे मेरा लोकापवाद (लोगों मे मेरी निन्दा होगी) और धर्म का नाश होगा। किन्तु, यह चपल तो दुष्टाचरण और दुष्ट प्रकृति वाला है। यदि वह छल-कपट द्वारा मेरी पत्नी आम्रमञ्जरी को उठाकर ले जाय और उसे मार दे या

हैरान करे तो उसे फिर से ग्रहण करने मे अथवा उसका त्याग करने से लोगो में मेरी अपकीर्त्ति होगी। जब मैं अचल के साथ युद्ध करू तब मेरी पत्नी की रक्षा कर सके ऐसा कोई बलवान व्यक्ति भी मुझे इस समय दिखाई नही देता। अतः अच्छा तो यही होगा कि इस समय मै अपनी पत्नी को लेकर इस स्थान से कही दूर चला जाऊ।

अचल के साथ युद्ध और उसकी पराजय

यही सोचकर मै आम्रमञ्जरी को लेकर गगनशेखर नगर से चल पडा। यह क्रीडानन्दन उद्यान मैने पहले भी कई बार देखा था अतः उसे लेकर मैं यही इस लताभण्डप मे आ गया। उसके कुछ देर पश्चात् ही हमे ढू ढते हुए अचल और चपल भी यहाँ आ गये। आकाश मे रहकर अचल ने मुझे तिरस्कार पूर्ण कटु वचन सुनाये और युद्ध के लिये निमन्त्रित किया। उन कठोर वचनो को सुनकर मेरे मन की स्थिति कैसी दुविधाजनक हो गई थी, बतलाता हूँ।

एक ओर मेरी प्रिय प्रेममूर्ति प्रिया के स्नेह-तन्तु मुझे बाध रहे थे और दूसरी ओर शत्रु का युद्ध-रस का निमन्त्रण मुझे युद्ध के लिये ललकार रहा था। मेरे हृदय की ऐसी स्थिति हो गई थी कि न उठा जाता था और न रहा जाता था। मै मानसिक द्वन्द्व के कारण निर्णय करने में मूढ सा बन गया था, मानों किसी झूले पर झूल रहा होऊँ। अर्थात् उस समय न तो मैं मेरी पत्नी को अकेली छोडकर जाना चाहता था और न अचल-चपल के युद्ध निमन्त्रण को भुलाकर कायर ही कहलाना चाहता था। [१७९—१८०]

अन्त मे मै एकदम प्रबल क्रोधावेश* मे आकर अचल की ओर दौडा तथा उसके साथ युद्ध करने लगा। हमारी लडाई कैसी स्थिति मे हुई और मैने कैसे अचल को पराजित किया यह तो आपने स्वय देखा ही है। जैसे ही अचल हार कर भागने लगा मैंने भी तुरन्त उसका पीछा किया। जब मै उसके निकट पहुँचा तब मैंने भी उसे कटु वचनो द्वारा अत्यधिक ललकारा, तब वह रुका और एक बार फिर हमारा युद्ध हुआ। मैने प्रबल सपाटे से उस पर प्रहार किया जिससे उसकी हड्डिया टूट गई और वह आकाश से जमीन पर गिरा। उसके अगोपाग चूर-चूर हो गये, उसकी शक्ति नष्ट हो गई, दीनता आ गई, उसकी विद्याओ का प्रभाव नही चला और वह हलन-चलन रहित निष्पन्द सा हो गया।

आम्रमञ्जरी का स्मरण

मैने सोचा कि अचल तो अब ऐसा हो गया है कि फिर से लडने के लिये मेरे सामने आने की हिम्मत नही करेगा, किन्तु आम्रमञ्जरी को अकेली छोड कर मं इसके पीछे लगा, यह तो आकाश मे मुट्ठी मारने या दाल को छोडकर उसके

* पृष्ठ, ४८२

छिलके खाने जैसा हो गया। बेचारी अकेली आम्रमञ्जरी तो भय से ही मर गई होगी, अथवा चपल उसे अकेली देखकर अवश्य ही पकड कर ले गया होगा। [१८१—१८२]

अरे! मैंने यह कैसा बिना सोचे-विचारे काम किया! अवश्य ही वह पापी उसे उठा ले गया होगा और लेकर न जाने कहाँ चला गया होगा। अब वह दुरात्मा पापी चपल कहाँ गया होगा? खैर, चल कर देखू तो सही। ऐसा सोचकर त्वरित गति से मै वहाँ से लौटा। मै थोड़ा ही चला था कि चपल मुझे सामने आता हुआ मिला।

चपल की पराजय

दूर से चपल को आते देखकर ही मेरे मन मे अनेक तर्क-वितर्क उठने लगे। मै सोचने लगा कि, अरे! यह चपल यहाँ कैसे आ गया? क्या आम्रमञ्जरी इस पापी को दिखाई ही नही दी? अथवा कही उसने इसकी विषयसुख भोगने की इच्छा का विरोध किया हो और इस पापी ने उसे मार ही न दिया हो! कुछ भी हो यह तो निश्चित है कि यदि आम्रमञ्जरी जीवित होती और इस पापी के हाथ मे आने जैसी होती तो यह उसे छोडकर यहाँ अचल के पीछे नही आता। कहा भी है :—

एकान्त स्थान मे ढक्कन रहित दही से भरी हुई मटकी को देखकर और दही के स्वाद को जानते हुए भी, ऐसा कौनसा मूर्ख कौवा होगा जो उसे छोड़कर अन्य स्थान को जायेगा? [१८३]

इससे अनुमान होता है कि आम्रमञ्जरी जीवित ही नही है। यदि वह जीवित होती तो उसे छोड़कर चपल यहाँ कदापि नही आता। मै मेरे मन मे ऐसी ही अनेक प्रकार की सच्ची-झूठी आशकाये कर रहा था तब तक चपल मेरे पास आ गया। वह शीघ्र ही मुझ से युद्ध करने लगा। उसे भी मैने अचल की ही भांति पराजित कर जमीन पर गिराया और उसकी भी अचल जैसी ही गति हुई।

अचल और चपल दोनो को हराकर मैं सोचने लगा कि क्या मेरी प्रिय पत्नी मर गई है? क्या उसे किसी ने नष्ट कर दिया है या कही छुपा कर रख दिया है? या उसे किसी अन्य के हाथ मे सौप दिया है? इस प्रकार प्रिय पत्नी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कुविकल्प विचार रूपी तरंगमालाओं के मध्य मन रूपी नदी मे डूबता-उतराता मै यहाँ आ पहुँचा। स्नेह शकाशील होता ही है। यहाँ आते ही मैंने अपनी प्रिया को पूर्णरूप से सुरक्षित देखा तो मेरे जी मे जी आया, मेरा हृदय प्रफुल्लित हुआ, मेरे सम्पूर्ण शरीर में आनन्द व्याप्त हो गया, मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया, मेरी चेतना स्थिर हो गई, मेरे सारे शरीर मे शाति हो शाति व्याप्त हो गई और हर्ष से मेरा शरीर उद्वेलित हो उठा। मेरे चित्त मे जो उद्वेग था, वह समाप्त हुआ। मेरी प्रियतमा ने आपके विषय मे मुझे सब कुछ बताया तथा आपके माहात्म्य से कैसी अद्भुत घटना घटित हुई थी उस सब का वर्णन किया।

इस प्रकार सक्षेप मे मेरी आत्मकथा समाप्त हुई, कहकर रत्नचूड ने अपना कथन समाप्त किया।

❋

५. विमल, रत्नचूड और आम्रमञ्जरी

रत्नचूड का आभार-प्रदर्शन

आत्मकथा पूरी कर रत्नचूड ने आगे वात चलायी। धीर पुरुष, भाई विमल ! आपने मेरी प्रियतमा की रक्षा कर वास्तव मे मेरे ही जीवन की रक्षा की है। उसकी रक्षा से आपने मेरे कुल की उन्नति की है और मुझे विशुद्ध यश प्राप्त करवाया है। [१८४]

महानुभाव ! मैं आपकी प्रशंसा में* अधिक क्या कहूँ ? इस ससार मे ऐसी कोई वस्तु या विषय नही जिसे आपने मेरे लिये न किया हो, अर्थात् आपने मेरा सब कुछ कर दिया है। [१८५]

लोक मे कहावत है कि उपकार का वदला चुकाना तो वणिको (व्यापारियों) का धर्म है, इसमें क्या विशेषता है ? पर जो प्राणी उपकार का वदला चुकाने से मुह चुराता हो, उसे तो पशु ही समझना चाहिये। किये गये उपकार का वदला न चुकाने वाला मनुष्य हो ही नहीं सकता। अतः हे विमल कुमार ! आप मुझ पर कृपा कर मुझे आज्ञा प्रदान करें कि आपको क्या प्रिय है ? मैं आपका सेवक आपके लिये वह कार्य करने को तत्पर हूँ। [१८६-१८७]

विमल—हे कृतज्ञश्रेष्ठ ! आपको ऐसे संभ्रम मे पड़ने की आवश्यकता नही है। आज मुझे आपके दर्शन से क्या प्राप्त नही हुआ ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो गया। इससे अधिक प्रिय मुझे और क्या हो सकता है ? कहा है :—

सज्जन व्यक्ति का एक मीठा वोल हजारों मोहरो से अधिक मूल्यवान है, ऐसे भाग्यवान का दर्शन मिलना तो लाखों मोहरों से भी अधिक कीमती है और करोड़ों मोहरें खर्च करने पर भी ऐसे सज्जन भाग्यवान पुरुष के हृदय के साथ भावपूर्वक मिलन तो अति दुर्लभ है। [१८८]

हे भद्र ! मैंने आपका ऐसा क्या काम कर दिया है कि जिससे उसका वदला चुकाने के विषय में आप इतने व्यग्र है ?

विमल का उत्तर सुनकर रत्नचूड ने अपने मन में विचार किया कि ऐसा सज्जन पुरुष किसी भी वस्तु की मांग तो क्या करेगा ? पर, मुझे तो मेरे इस अकारण मित्र का कुछ न कुछ प्रत्युपकार तो अवश्य ही करना चाहिये। अन्यथा मेरे

---

* पृष्ठ, ४८३

मन को शाति नही मिलेगी। ऐसा सोचकर रत्नचूड ने अपने हाथ मे एक रत्न प्रकट किया, जो देखने मे इतना असाधारण था कि उसमे भूरा, लाल, पीला, सफेद और काला कौनसा रग है, कुछ भी स्पष्टतया कहा नही जा सकता था। इसके प्रकट होते ही चारो दिशाएँ जगमगा उठी। यह रत्न सभी रगो से सुशोभित इन्द्रधनुष जैसा था और अपनी किरणो की प्रभा सर्वत्र फैला रहा था। यह रत्न विमल को दिखाते हुए रत्नचूड ने कहा—भाई विमल! यह रत्न समस्त प्रकार के रोगो को दूर करने वाला, महाभाग्यवान, ससार से दारिद्र्य को नष्ट करने वाला, मोर पख के समान सब रगो वाला और गुणो मे चिन्तामणि रत्न जैसा है। देवताओ ने मेरे कार्य से प्रसन्न होकर प्रसन्नता से यह रत्न मुझे अर्पित किया था। इस रत्न मे यह विशेषता है कि इस लोक मे यह मनुष्यो की सकल इच्छाओ की पूर्ति करता है। [१८८–१९२]

प्रिय बन्धु कुमार! कृपा कर आप इस रत्न को ग्रहण करे। जब तक आप इस रत्न को नही लेगे तब तक मेरे चित्त को शांति नही मिलेगी।

रत्नचूड के अत्याग्रह के उत्तर मे विमल बोला—महात्मा बन्धु! आप इस विषय मे थोड़ा भी आग्रह नही करे और न अपने मन मे सताप ही करे। आपने दिया और मैने ले लिया, फिर क्या बाकी रहा? देखो भाई! यह देव प्रदत्त अमूल्य रत्न तो आपके पास रहे तो ही अच्छा है, अतः आप इसे सभाल कर रखे और मन मे किसी भी प्रकार का सकल्प-विकल्प न करे।

तब आम्रमञ्जरी बोली—बन्धु विमलकुमार! आर्यपुत्र की इस अभ्यर्थना (इच्छा) को आप भग न करे। देखिये कहा भी है:—

चित्त मे स्पृहारहित होने पर भी सत्पुरुष प्रेम से प्रेरित होकर दान देने को उद्यत दानी की प्रार्थना को कदापि भंग नही करते, क्योकि उनमे इतनी दाक्षिण्यता (दयालुता) होती है कि वे किसी को मना कर उसका दिल नही तोड सकते। [१९३]

महर्घ्य रत्न-प्राप्ति पर भी नि.स्पृहता

आम्रमञ्जरी की बात सुनकर विमल उत्तर दे ही रहा था कि रत्नचूड ने आदरपूर्वक देवता द्वारा प्राप्त वह रत्न दिव्य वस्त्र मे लपेटकर (मूल्यवान डिबिया मे रखकर) विमल के वस्त्र के पल्ले मे बाध दिया।* ऐसे अद्भुत और महर्घ्य रत्न के प्राप्त होने पर भी इच्छारहित मध्यस्थ भावधारक विमल के चेहरे पर हर्ष का कोई भाव प्रकट नही हुआ। विमल के ऐसे गुण को देख कर रत्नचूड के हृदय में विमल के प्रति अत्यधिक आदर भाव जागृत हुआ। उसके नेत्र विस्मय से विकसित हो गये और वह मन में सोचने लगा कि, अहा! इस भाई का माहात्म्य तो कुछ अपूर्व ही लगता है। ऐसी नि स्पृहवृत्ति तो कही देखने मे नही आई। इस कुमार का चरित्र

* पृष्ठ ४८४

तो मनुष्य लोक में दिखाई देने वाले साधारण पुरुषो से अत्यन्त भिन्न प्रकार का अलौकिक ही लगता है। जिन महात्मा पुरुषों का चित्तरत्न ही ऐसा अमूल्य एव असाधारण हो गया हो, उन्हे बाह्य निर्जीव रत्नो से प्रयोजन भी क्या है? वास्तव मे अनेक भवों से जिन्होने धर्म कार्यों से अपने चित्त को रंग लिया हो, ऐसे पुण्यशाली जीवों का ही चित्त ऐसा होता है। जो प्राणी सर्वदा पापी, शुद्ध धर्म से बहिष्कृत और तुच्छ-वृत्ति के होते है, उनका ऐसा निर्मल चित्त कदापि नही हो सकता।
[१९४-२०१]

विमल का परिचय

उपरोक्त विचारानन्तर रत्नचूड ने पुनः विचार किया कि, मुझे इस कुमार के सम्बन्ध मे पूरा पता लगाना चाहिये कि यह कहाँ का निवासी है? क्या नाम है? इसके पिता कौन है? इसका गोत्र क्या है? यह यहाँ क्यो आया है और इसका व्यवहार कैसा है? इस बारे मे मुझे कुमार के मित्र से पूछना चाहिये। ऐसा विचार कर समाधान हेतु रत्नचूड मुझे एकान्त मे ले गया और मुझ से सब बाते पूछी। मैने (वामदेव के रूप मे ससारी जीव ने) कहा कि यही पास ही वर्धमानपुर नामक नगर है, जहाँ क्षत्रिय कुलोत्पन्न धवल राजा राज्य करते हैं, यह विमल उनका पुत्र है। आज प्रातः उसने मुझसे कहा कि लोगो से ऐसा सुना है कि अपने नगर के बाहर एक क्रीड़ानन्दन नामक अत्यधिक रमणीय उद्यान है। यह उद्यान हमने पहले कभी नही देखा, इसलिये चलो आज इसे ही देखे। कुमार की इच्छा और आज्ञा को मान देकर हम दोनो इस उद्यान मे आये। फिर हमने दूर से आप दोनो के शब्द सुने। शब्द किसके है? यह जानने की जिज्ञासा हुई, अतः हम उस ओर चल पड़े जिस दिशा से शब्द आ रहे थे। चलते-चलते हमे पृथ्वीतल पर दो प्रकार के पावो के निशान दिखाई दिये, जिससे हम जान गये कि कोई स्त्री-पुरुष इधर से गये हैं। फिर आगे बढकर हमने लतामण्डप मे आप दोनो को देखा। विमलकुमार सामुद्रिक शास्त्र के माध्यम से मनुष्य के लक्षण भली प्रकार जानता है, अत उसने उन लक्षणो के आधार से बताया कि इनमे से जो पुरुष है वह चक्रवर्ती बनेगा और साथ मे जो स्त्री है वह चक्रवर्ती की पत्नी बनेगी। इस प्रकार हमारा यहाँ आने का यही प्रयोजन था। कुमार का समग्र व्यवहार विद्वानो द्वारा प्रशसनीय है, लोग उसका सन्मान करते है, वह बन्धुओ मे आह्लाद उत्पन्न करता है, मित्रो को उसका व्यवहार प्रिय है और मुनिगण भी उसके व्यवहार की स्पृहा करते है। अभी तक इसने किसी भी तत्त्व ज्ञान के मत को स्वीकार नही किया है। [६]

६. विमल का उत्थान : देवदर्शन

[स्वभाव से नि स्पृह, दाक्षिण्यवान और महासत्त्ववान विमलकुमार का परिचय रत्नचूड विद्याधर को हुआ। रत्नचूड ने राजकुमार को पहचाना, उसकी नि स्पृहवृत्ति का स्वय अनुभव किया और उसके विशाल हृदय की निर्लोभ वृत्ति का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया।]

मुझसे कुमार का परिचय सुनकर रत्नचूड अपने मन मे विचार करने लगा कि इसे भगवान् की प्रतिमा का दर्शन कराना चाहिये। मुझे लग रहा है कि भगवान् की प्रतिमा के दर्शन से इस पर महानतम उपकार होगा और प्रत्युपकार करने का मेरे मन मे जो मनोरथ है वह भी पूर्ण होगा।

क्रीडानन्दन वन में युगादीश प्रासाद

उपरोक्त विचार करने के पश्चात् रत्नचूड और मै कुमार के पास आये और रत्नचूड ने विमल से कहा*—मित्र कुमार! कुछ समय पूर्व मेरे मातामह (नाना) मणिप्रभ इस उद्यान मे आये थे तब उन्हे यह क्रीडानन्दन वन अत्यन्त कमनीय प्रतीत हुआ था। उद्यान की प्राकृतिक छटा से हर्षित होकर उन्होने विद्याधरो के आने के लिये यहाँ एक अद्भुत सुन्दर और विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया और उसमे युगादिदेव श्री आदिनाथ देव के बिम्ब को प्रतिष्ठित किया था। (स्थापना की)। इसीलिए मैं इस उद्यान मे पहले भी कई बार आया हूँ। यह मन्दिर और बिम्ब अतिशय सुन्दर है, आप भी इसे देखने की कृपा करे। विमल बोला—जैसी मित्र की इच्छा। उत्तर सुनकर रत्नचूड हर्षित हुआ। हम सब भगवान् के मन्दिर की तरफ गये और देव-प्रासाद को देखा।

यह मन्दिर स्वच्छ स्फटिक रत्न की कान्तिवाला, सोने से मढा हुआ, शरद् ऋतु मे विद्युत्वलय की चमक से घिरे बादलो के समान शोभित हो रहा था। हीरे, रत्न और माणक-मणियो के तेज से अन्धकार दूर हो रहा था और उनका प्रकाश दूर से ही दिखाई दे रहा था। [२०२-२०३]

दैदीप्यमान अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल स्फटिक मणियो से निर्मित आगन (फर्श) और सोने के स्तम्भ विशाल प्रासाद को रमणीय बना रहे थे। स्तम्भो पर जडे हुए लाल प्रवाल की किरणो से लटकती हुई मोतियो की मालाये

---

* पृष्ठ ४८५

भी रक्तिम लग रही थी। लटकती हुई मोतियो की मालाओ के झूलो में जड़े हुए मरकत (नीले) रत्नो की किरणो से श्वेत चामर (चवर) भी श्याम वर्णी प्रतीत हो रहे थे। श्वेत चामरों मे लगे स्वर्ण निर्मित दडो से छत मे जड़े हुए काच भी पीतवर्णी (पीले) दिखाई देते थे। काचमण्डल मे जहाँ-जहाँ लाल रग की मणियो के टुकड़ों से हारमालाये जडी हुई थी और इन मणियो की हारमाला के नीचे शुद्ध स्वर्ण की किकिणी जाल (घूघरो की लडे) लटकाई हुई थी। ऐसे अनुपम-सौन्दर्य वाले मन्दिर मे प्रवेश कर हम सब ने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के दर्शन किये।

विमल को जाति-स्मरण ज्ञान

स्वर्ण निर्मित भगवत्प्रतिमा मनोहारिणी थी, विकार रहित थी, झूठे आडम्बरों से मुक्त थी, अतीव शान्त और दैदीप्यमान थी तथा इस मूर्ति की प्रभा चारो दिशाओं में फैल रही थी। [२०४]

साथ मे आये हम चारो व्यक्तियो ने अत्यन्त उल्लसित भाव से हर्ष से आँखे विस्फारित कर जिन-बिम्ब के दर्शन किये और भगवान् आदिनाथ को नमन किया। रत्नचूड और आम्रमञ्जरी ने भी जिन-प्रतिमा की विधि-पूर्वक वन्दना की, उस समय पवित्र आनन्द की उर्मियो के उल्लास से उनका शरीर पुलकित एव रोमाचित हो गया था।

चराचर तीनो लोको के समस्त जीवो के बन्धु युगादीश भगवान् के बिम्ब को देखते ही विमलकुमार का जीववीर्य अतिशय उल्लसित एव प्रस्फुटित हुआ, उसने बडे-बड़े कर्म के जाले तोड दिये, उसकी सद्बुद्धि में वृद्धि हुई और गुणों के प्रति दृढ अनुराग उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—

अहा! भगवान् का कैसा कमनीय और मनोहारी रूप है! इस बिम्ब मे कैसी अलौकिक सौम्यता है! अहा इसका निर्विकारीपन! अहो इसकी अतिशयता! अहो इसका कितना अचिन्त्य माहात्म्य है, अद्वितीय प्रभाव है! अहा! इनके इस प्रकार के निष्कल मनोहर आकार से ही अनन्त गुण-समूह की महत्ता स्पष्ट दिखाई देती है। प्रतिमा के दर्शन से ही यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि ये देव वीतराग है, वीतद्वेष है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। [२०५-२०६]

इस प्रकार चिन्तन करते-करते ही विमल ने मध्यस्थ भाव से स्वकीय आत्मा के साथ लगे कर्म-मल को कितने ही अशो मे* क्षय कर दिया और उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे उसे पूर्व-भवो की समस्त घटनाये (चित्रपट के समान) याद आने लगी। अपने पूर्व-जन्मो के दृश्य देखकर वह इतना रस-विभोर हो गया कि उसे मूर्छा आ गई। वह मन्दिर के फर्श पर गिर गया, जिसे देखकर सब सम्भ्रम

* पृष्ठ ४८६

(विचार) मे पड गये कि कुमार को क्या हो गया ? तुरन्त उसके शरीर पर शीतल पवन की गई जिससे उसकी मूर्छा दूर हुई और चेतना आई। उसे जागृत होते देखकर रत्नचूड ने सादर पूछा—मित्र विमल ! ऐसे अद्‌भुत देवालय मे तुम्हे क्या हो गया ? ऐसे स्थान पर मूर्छा आने का क्या कारण हुआ ? [२०७–२१०]

रत्नचूड के प्रश्न को सुनकर विमल में फिर से भक्तिभाव जागृत हो गया, शरीर रोमांचित हो गया, हर्ष से नेत्र प्रफुल्लित हो गये और दोनों हाथ जुड गये। उसी स्थिति मे खड़ा होकर वह रत्नचूड के दोनों पाव पकड कर हर्षाश्रुपूर्ण डबडबाये नेत्रो से पुन· पुनः उसे प्रणाम करने लगा और बोला—हे मित्र ! तू ही मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा भाई, मेरा नाथ, मेरे माता-पिता, मेरा गुरु, मेरा देव और मेरा परमात्मा है, इसमे तनिक भी संशय नही है। हे धीर वीर उपकारी ! आपने मुझे समस्त पापपुञ्ज का प्रक्षालन करने मे समर्थ और ससार की परिसमाप्ति करने वाली जिन-प्रतिमा का दर्शन करवाया। [२११–२१४]

हे रत्नचूड ! जिन-बिम्ब का दर्शन करवाकर आपने सर्वोत्कृष्ट सौजन्य का प्रदर्शन किया है, आपने मेरे लिये मोक्ष का द्वार खोल दिया है, मेरी ससार बेल को छिन्न-भिन्न कर दिया है, दु.ख के जालो को मूल से उखाड़ कर सुख वृक्ष प्रदान किया है और मुझे परम सुखस्थान मोक्ष के निकट पहुँचा दिया है। हे परमोपकारी ! किन शब्दो मे तेरे उपकार का वर्णन करू ?

रत्नचूड–भाई ! तुम्हे क्या हो गया ? तू यह सब क्या कह रहा है ? मुझे तो कुछ भी समझ मे नही आ रहा है ?

पूर्वकालीन सुकृत्यों का स्मरण

विमल–आर्य ! भगवान् की प्रतिमा के दर्शन करने से मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो आया जिससे मुझे मेरे कई पूर्व-जन्मो की स्मृति स्पष्ट हो गई। पहले भी मैने कई जन्मो मे प्रेम और भक्तिपूर्वक भगवान् के बिम्ब के दर्शन किये है ऐसा मुझे याद आया। पूर्व-जन्मो मे सम्यक् ज्ञान रूपी निर्मल जल से मैने चित्तरत्न को बहुत बार स्वच्छ किया था। सम्यक् दर्शन द्वारा धर्म के सद् अनुष्ठानो को आत्मीभूत बनाया/अपनाया था। आत्मा को भावना द्वारा भावित कर भावनामय बना दिया था, साधुओ की उपासना/सेवा से अन्त:करण को सुवासित बना दिया था, समस्त प्राणीवर्ग के प्रति मैत्री-भाव रखना तो मेरा स्वभाव ही हो गया था, गुणीजनो के गुणाधिक्य को देखकर मैं हृदय मे आनन्द का अनुभव करता हुआ अगांगीभाव/एकतार धारण कर चुका था, क्लेशग्रस्त प्राणी को देखकर चित्त मे करुणा रस उमड पड़ता था, समझाने पर भी न समझने वाले लोगो के प्रति उपेक्षा भाव अधिक दृढ़ हो गया था, विषयजन्य सुख और दु:ख के प्रति औदासीन्य वृत्ति अधिक निश्चल हो गई थी, शातरस आत्मा मे एकरस हो गया था, सवेग से पूर्णतया परिचित हो गया था, ससार पर वैराग्य/निर्वेद दृढ़ हो गया था, करुणा मे अत्यधिक वृद्धि हो गई थी,

आस्तिकता सुदृढ हो गई थी, शुद्ध देव गुरु धर्म पर परिपूर्ण श्रद्धा हो गई थी, सद्गुरुओ पर अपूर्व भक्ति वृद्धि को प्राप्त हुई थी और उस समय तप-सयम तो घर के ही हो गये थे। इसीलिये आज भगवान् के बिम्ब के दर्शन करते ही उसके निष्कलक भाव हृदय पर अवतरित होने लगे और मैं अमृत सिंचित प्रीति से पूर्ण, सुख से सराबोर और हर्ष-प्रमोद से आच्छन्न हो गया होऊ, ऐसा लगने लगा।

उस समय मेरे मन में आया कि, अहा ! ये देव राग, द्वेष, भय, अज्ञान, शोक आदि से रहित है। ये प्रशान्त मूर्ति दिखाई देते है और इनको देखने से नेत्र आनन्दित होते हैं। इनको बारम्बार देखने से मुझे अधिक आह्लाद होता है। इससे मुझे लगा कि मैंने निश्चित रूप से पहले भी कभी इन्हे भली प्रकार देखा है। यह चिन्तन करते हुए मैं लोकातीत अवर्णनीय रस—जो अनुभूति के द्वारा सवेद्य (स्मृति मे आता) है और जो अत्यधिक सुन्दर है—मे डूब गया। अपने एक पूर्व-जन्म मे मुझे उत्तम सम्यक्त्व रत्न प्राप्त हुआ था, उस जन्म से आज के जन्म तक की सभी भूतकालीन घटनाओ का मुझे स्मरण हो आया। [२१५-२१८]

महात्मन् ! मन्दिर मे खडे-खडे ही मुझे यह जाति-स्मरण ज्ञान हो गया, अतः महान गुरु द्वारा प्राणियो को होने वाले लाभ को आपने मुझे आज ही प्राप्त करवा दिया है।

ऐसा कहते-कहते रत्नचूड के पावो को विमलकुमार ने फिर पकड लिया और बोला—हे नरोत्तम ! मेरी मूर्छा को लेकर चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही है। रत्नचूड विद्याधर ने उसे उठाया और गले लगाकर स्वधर्मी-बन्धु की तरह अत्यन्त विनयपूर्वक उसे प्रणाम किया।

७. विमल का उत्थान : गुरु-तत्त्व-परिचय

[रत्नचूड ने वास्तव मे उपकार का बदला चुकाया। देव दर्शन करवाकर विमल की आत्मा को मोक्ष के प्रति उन्मुख किया जिसके लिए विमल रत्नचूड का आभार मान रहा था। रत्नचूड विमल के उपकार का बोझ नही सह सका, क्योंकि वह स्वयं विमल के उपकार से दबा हुआ था। हे अगृहीतसकेता ! फिर रत्नचूड ने विमल को गुरु-तत्त्व का परिचय कराया, सुनो।]

* पृष्ठ ४८७

उपकार-कीर्तन

प्रणाम कर रहे विमल को उठाकर रत्नचूड ने स्वधर्मीबन्धु की भांति स्वय प्रणाम किया और बोला—कुमार! मेरा मानसिक उत्साह और मेरे मन के सभी मनोरथ एक क्षण मात्र मे पूर्ण हुए है तथा प्रत्युपकार करने की मेरी इच्छा भी पूर्ण हुई है, क्योकि जिस महान तत्त्वज्ञान एव तत्त्वमार्ग का तुझे पूर्व-जन्म मे परिचय हुआ था, उसे इस जन्म में स्मरण कराने मे मै निमित्त बना। मेरी भावना पूर्ण हुई। हे कुमार! तुझे जो इतना अधिक हर्ष हो रहा है वह ठीक ही है। कहा भी है :—

सन्नारी, पुत्र, राज्य, धन, मूल्यवान रत्न या स्वर्ग के सुख मिले तब भी महात्मा पुरुषों को सतोष नही होता है, क्योकि ये सभी सुख तुच्छ, बाह्य और अल्प-कालीन हैं, अत: विचारशील धीर-पुरुषो को तो इनसे सतोष हो ही नही सकता। इस महा भयंकर भव-समुद्र मे अति दुर्लभ जैनेन्द्र मार्ग की प्राप्ति होने पर ऐसे महात्मा पुरुषो का हृदय हर्ष से परिपूर्ण हो जाता है। कारण यह है कि सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की प्राप्ति होते ही प्राणी समता सुख रूपी अमृत के स्वाद का अनुभव करता है और उसके मन मे प्रतीति होती है कि अनन्त आनन्दपूर्ण मोक्ष को प्राप्त करवाने मे यही निश्चितरूप से साधन बन सकता है। अतएव सर्वज्ञ मार्ग की प्राप्ति से सज्जन पुरुषो को हर्ष और उल्लास क्यो न हो? [२१६–२२३]

सभी प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार फल प्राप्त करना चाहते है। कुत्ते को तो रोटी का टुकडा मिलने से वह सन्तुष्ट हो जाता है, किन्तु सिंह को अपने पराक्रम से हाथी का शिकार कर उसके मास से ही सतोष होता है। चूहे को चावल के दाने मिल जाय तो ऊचा-नीचा होकर नाचने लगता है, जब कि हाथी को तो सुभोजन देने पर भी वह उपेक्षा से ही ग्रहण करता है। [२२४–२२५]

जिन्हे तत्त्वज्ञान का दर्शन नही हुआ, वे मूढ प्राणी क्षुद्र मन वाले होते है और थोडे से धन या राज्य की प्राप्ति होते ही फूलकर कुप्पा हो जाते है। [२२६]

धीर! तुझे तो चिन्तामणि रत्न जैसा महामूल्यवान रत्न प्राप्त होने पर भी तूने इसे मध्यस्थ भाव (सहज भाव) से स्वीकार किया, किन्तु तुम्हारे मुख पर हर्ष की या विषाद की एक रेखा भी मैंने नही देखी। जब कि सन्मार्ग-लाभ (सर्वज्ञ मार्ग) की प्राप्ति से तेरा सारा शरीर रोमाचित हो गया और तुझे इतना अधिक आनन्द हुआ कि तेरे सारे शरीर मे हर्ष के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। हे श्रेष्ठ पुरुष! तू वास्तव मे धन्य है, साधुवाद का पात्र है। [२२७–२२८]

भाई! मेरा इतना अधिक उपकार मानने की और मुझे गुरु मानने की कोई आवश्यकता नही है। बार-बार मेरे पावो मे पड़कर मुझे लज्जित क्यो करते हो?* मैंने ऐसा तुम्हे क्या दे दिया है? मैं तो निमित्त मात्र हूँ। तू स्वय ही ऐसी कल्याण-

* पृष्ठ ४८८

परम्परा के योग्य है, तुम मे रही हुई पात्रता/योग्यता को देखकर ही मैने तनिक-सा प्रयत्न किया था ।

यद्यपि समग्र भावो को जानने वाले तीर्थंकरो को भी लोकान्तिक देव जागृत करते है तथापि वे देव तीर्थंकरो के उपदेशक या गुरु नही हो जाते, ऐसा ही मेरे विषय मे समझो । [२२६-२३०]

विमल —महात्मन्! ऐसा मत कहो । तुमने मेरे लिये जो कुछ किया है उसकी तुलना लोकान्तिक देवो के आचार से नही की जा सकती । भगवान् को बोध लोकान्तिक देवो के निमित्त से नही होता, जबकि तुमने तो भगवान् के बिम्ब का दर्शन करवाकर मेरा सम्पूर्ण रूप से कल्याण किया है ।

सर्वज्ञ-भाषित धर्म की प्राप्ति मे जो भी प्राणी तनिक भी निमित्त/साधन बनता है वह परमार्थ से गुरु ही है । [२३१]

तुमने मुझे सर्वज्ञ धर्म की प्राप्ति करवाई, अतः तुम मेरे गुरु हो इसमे क्या सशय है ? सद्गुरु का विनय एव वैयावृत्य (सेवा) करना सज्जनो का कर्त्तव्य है, अतः तुम्हारे उपकार के बदले मे मैं तुम्हारा विनय करू यह तो मेरा कर्त्तव्य है । बन्धुवर ! भगवान् की आज्ञा है कि स्वधर्मीबन्धु कैसी भी स्थिति का हो तब भी उसकी वन्दनादि विनय करनी चाहिए । तब मुझे सद्धर्म की प्राप्ति कराने वाले तुम्हारे जैसे महानुभाव का विनय न करने का तो प्रश्न ही नही उठता । किसी भी प्रकार की अपेक्षा या आकाक्षारहित होने से तू मेरा पवित्र सद्गुरु है, अतः तेरा विनय करना योग्य ही है । [२३२-२३४]

रत्नचूड—कुमार ! ऐसा मत कहो । तुझमे इतने अधिक गुण है कि उन गुणो की अपेक्षा से तू देवताओ का भी पूज्य है, वस्तुतः तुम ही मेरे सत्गुरु हो, अत तुम्हारा कथन किसी प्रकार उचित नही लगता । [२३५]

विरक्ति और कर्त्तव्य

विमल—सर्वगुण-सम्पन्न कृतज्ञ महामना पुरुषो का यह स्पष्ट लक्षण है कि वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने गुरु की पूजा करते है, उनकी सेवा करते हैं और उन्हे सन्मान देते है । जो प्राणी अपने गुरु का दास, भृत्य और गुलाम बनकर उनकी सेवा करने मे लेश मात्र भी नही लजाता वही सच्चा महात्मा, पुण्यात्मा, भाग्यशाली, कुलवान, धैर्यवान, जगत् वन्दनीय, तपस्वी और विद्वान् है । जो शरीर गुरु की सेवा-शुश्रूषा मे तत्पर रहता है वही सच्चा शरीर है । जो वाणी गुरु की स्तुति करती है, गुरु के गुणगान करती है वही सच्ची वाणी है और जो मन सदा गुरु मे लवलीन रहता है वही सच्चा मन है । धर्मदान का उपकार करने वाले प्राणी के उपकार का बदला करोड़ों जन्मो तक उसकी सेवा करके भी नही चुकाया जा सकता । [२३६-२४०]

भाई ! मुझे तेरे साथ अभी निम्न विषय मे विशेष रूप से विचार करना है। इस ससार रूपी कैदखाने से मेरा मन अब विरक्त हो गया है, विषय मुझे दु ख से आछन्न लगते हैं, प्रशमभाव लोकोत्तर अमृत के आस्वादन जैसा लगता है,* अत अब मुझे गृहस्थ में न रहकर भागवती दीक्षा लेनी है। मेरे माता-पिता और बहुत से भाई-बन्धु भी हैं उनको भी प्रतिबोध प्राप्त हो, क्या ऐसा कोई मार्ग या उपाय है ? यदि मेरे माध्यम से किसी उपाय से उन्हे भी प्रतिबोध हो सके और वे भी भगवद्-भाषित धर्म को प्राप्त कर सके, ऐसा कोई उपाय आपको ज्ञात हो तो विचार कर मुझे बतलाइये जिससे मैं तत्त्वत: बान्धव-कार्य का आचरण कर, उनका भी हित-साधक बन सकूं । अर्थात् उन पर तात्त्विक उपकार करने का मुझे अवसर मिल सके और मै अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर सकूं, क्योकि अन्य किसी प्रकार से मै अपना कर्त्तव्य निभा सकू यह सम्भव नही है।

बुधाचार्य-परिचय

रत्नचूड—भाई विमल ! हाँ, इसका मार्ग है। एक बुध नामक आचार्य है। यदि वे किसी कारणवश किसी प्रकार यहाँ पधार सके तो आपके स्वजन सम्बन्धियों और ज्ञातिजनों को अवश्य ही प्रतिबोधित कर सकते है, क्योकि ये आचार्य अतिशयो के निधान, अन्य प्राणियो के मन के भावो (विचारो) को जानने मे निपुण, प्राणियो को प्रशम-रस की प्राप्ति करवाने मे असाधारण, अद्वितीय विद्वान्, सयम-वान् और योग्य समय पर समयानुकूल वाणी बोलने मे अतिशय विचक्षण है।

विमल—आर्य ! ऐसे असाधारण गुण-लब्धि-सम्पन्न बुधाचार्य को आपने कहाँ देखा ?

रत्नचूड—गई अष्टमी को इसी क्रीडानन्दन उद्यान के इसी मन्दिर मे जब मै अपने परिवार के साथ भगवान् की पूजा करने आया था तब इन पूज्य आचार्य को मैंने मन्दिर के बाह्य द्वार के पास देखा था। मन्दिर मे प्रवेश करते समय मैंने महान् तपोधन मुनिवृन्द को देखा था। उनके मध्य मे एक बड़े तपस्वी बैठे थे जो वर्ण से काले, आकृति से बीभत्स, त्रिकोण सिर वाले, बाकी-टेढी लम्बी गर्दन वाले, चपटी नाक वाले, विकराल और छिदे-छिदे दातो वाले, लम्बोदर, सर्वथा कुरूप और दर्शक को देखने मात्र से उद्वेग प्राप्त हो ऐसे थे। जो अति मधुर और गम्भीर स्वर से स्पष्ट समझ में आने योग्य वर्ण और उच्चारण से सुन्दर, भाव एव अर्थपूर्ण भाषा मे आकर्षक धर्मोपदेश सुना रहे थे। यह देखकर दूर से ही मेरे मन मे विचार आया कि ये आचार्यश्री देशना तो उच्चकोटि की सुना रहे हैं, शब्द-गांभीर्य भी बहुत

---

* पृष्ठ ४८६

अच्छा है किन्तु गुणानुसार उनका रूप नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते मैं मन्दिर मे प्रविष्ट हुआ।

रत्नचूड का देव-पूजन

मन्दिर में पहुंचकर मैंने भगवान् के विम्ब के साथ टकटकी लगा दी। मैंने भगवत्प्रतिमा के ऊपर से निर्माल्य (पूर्व दिन मे अर्चित) फूल चन्दनादि उतारे, सम्मार्जन (मोरपीछी आदि से) किया, जल से प्रक्षालित कर स्वच्छ वस्त्र से पोछ कर विलेपन किया, पूजन की, पुष्पो मे शोभित किया, मगल दीपक प्रज्ज्वलित किया, सुगन्धित धूप किया और समस्त प्रकार के सासारिक, मन्दिर सम्बन्धी और द्रव्य पूजा सम्बन्धी कार्यो का प्रतिषेध किया। अनन्तर बैठने के स्थान का प्रमार्जन (शुद्ध) कर भूमि पर दोनो घुटने और दोनो हाथ टिका पर पञ्चाग प्रणाम कर भगवत्मुख की ओर दृष्टि को एकाग्र किया। सद्भावनाओ के कारण शुभ परिणाम वढने लगे, हृदय मे आत्यन्तिक भक्ति प्रकट हुई, नेत्र हर्षाश्रुओ से पूरित हो गये, शरीर रोमाचित हो गया और रोम-रोम प्रफुल्लित हो गया। मानो मेरा सारा शरीर कदम्ब पुष्प हो ऐसा विकस्वर हो गया। अत्यन्त भक्ति मे लीन होकर अर्थज्ञानपूर्वक मैंने शक्रस्तव से प्रभु की स्तुति की, पञ्चाग प्रणाम किया और भूमि पर बैठ गया। फिर योग मुद्रा धारण कर सर्वज्ञ प्ररूपित प्रवचन एव शासनोन्नतिकारक प्रधान (श्रेष्ठ) स्तोत्रो से भगवान् की स्तुति की। स्तुति करते-करते भगवान् के गुणो मे अन्त करण रग गया। तदनतर* पुन पञ्चाग प्रणाम कर, उसी अवस्था मे प्रमोद मे वृद्धि करने वाले आचार्यादि को नमस्कार किया। उनके बाद पुन खडा होकर जिन मुद्रा धारण कर चैत्यवन्दन किया और अन्त मे मुक्ताशुक्ति मुद्रा से प्रणिधान किया।

इसी बीच मे मेरे परिवार ने भी भगवान् के सन्मुख चढाने योग्य बलि-विधान (नैवेद्य) और स्नात्र पूजा के उपकरण (सामग्री) तैयार की तथा अलकारो से गुम्फित श्रेष्ठ वस्त्र का चन्दरवा बाधा। तत्पश्चात् जिनाभिषेक-पूजन (स्नात्र पूजा) प्रारम्भ की। इस समय सगीत प्रारम्भ हुआ, कलकाहल (ढोल) बजाया जाने लगा, सुघोषा घटा बजाया जाने लगा, नरघा और भाणक बजने लगे, दिव्य दुदुभियो की स्वर-लहरी निकलने लगी, शख का मधुरनाद होने लगा, पटह (नगारे) बजने लगे, मृदग पर ताल दी जाने लगी और कसालक की ध्वनि फैलने लगी। इस प्रकार इन वाद्ययत्रो की स्वर-लहरी के साथ स्तोत्र पाठ (स्नात्र पूजा) की मधुर शब्दावली गुञ्जरित होने लगी। इधर एक ओर मन्त्र-जाप चल रहा था और उधर पुष्पवर्षा की गई। पुष्पो की सुगन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर पक्ति झणझणाट/गुञ्जारव करने लगी। महामूल्यवान् रस, सुगन्धित औषधिया और पवित्र तीर्थों के जल से जगत् के समस्त प्राणियो के बधु जिनेन्द्र प्रतिमा का आनन्दपूर्वक अभिषेक किया जाने लगा। तत्पश्चात् शाति एव धीरजपूर्वक आम्रमजरी ने अभिषेक-पूजन किया। आम्रमजरी

* पृष्ठ ४६०

के साथ आगत समस्त सखियो ने भी हर्षित होकर समस्त उचित क्रियाएँ निष्पादित की और गायन तथा पूजा मे उल्लासपूर्वक सम्मिलित हुई। अन्त मे महादान दिया गया और अन्य सभी आवश्यक क्रियाएँ पूर्ण की गयी।

रत्नचूड का गुरु-दर्शन

इस प्रकार महदानन्द और उल्लास के साथ भगवान् का अभिषेक-पूजन पूर्ण कर साधु-वन्दना के लिये मै मन्दिर से बाहर आया। मैने देखा कि एक महा-तपस्वी आचार्य साधुवृन्द के मध्य मे कमलासन पर विराजमान है। मन्दिर मे प्रवेश करते समय जैसे मधुर गम्भीर वाणी से धर्मोपदेश कर रहे थे वैसा ही आकर्षक धर्मोपदेश अभी भी कर रहे थे। परन्तु, इस समय उनका रूप अनुपम सुन्दर था। वे रतिरहित कामदेव के समान, रोहिणीरहित चन्द्र के समान, शचीरहित इन्द्र के समान, तप्त उत्तम सुवर्ण के समान, द्युतिमान एव तेजस्वी थे और स्वकीय देह-दीप्ति की प्रभा से आस-पास बैठे मुनिमण्डल को भी कचनमय (पीतवर्णी) वना रहे थे। उनके पाँव के तलवे (पगथली) कछुए के समान उन्नत, नाड़ियो का जाल गूढ और छिपा हुआ, प्रशस्त शुभ लक्षणो से चिह्नित, दर्पण के समान जगमग करते हुए नाखून, दोनो चरणो की सुश्लिष्ट अगुलियाँ, हस्तिशूण्ड के समान जंघाएँ, सिंह-शावक की लीला को भी तिरस्कृत करने वाली कठिन पुष्ट गोलाकार और विस्तृत कटि, प्रलम्बमान (घुटने को छूने वाली) भुजाएँ, मदोन्मत्त विशाल हाथी के कुम्भस्थल को भेदन करने में समर्थ हथेलियां, त्रिवली विराजित कण्ठ, चन्द्र एव कमल की शोभा को भी हीन दिखाने वाला मुख, उत्तुङ्ग एवं सुस्थित नासिका, सुश्लिष्ट मासल और प्रलम्ब कान, कमल दल की शोभा से भी अधिक शोभायमान एव कमनीय आँखे, एक समान और मिली हुई दन्त-पक्ति से स्फुरायमान प्रभा से रक्ताभ अधर, अष्टमी के चन्द्र के समान दैदीप्यमान विशाल ललाट जो नीचे के शरीरावयवो पर चूडामणि की शोभा को धारण कर रहा था। अधिक क्या कहू ? इस समय वे अतुलनीय और अनुपमेय शारीरिक सौन्दर्य के धारक थे।

साधु-पुरुषों की लब्धियाँ

मैंने मन्दिर में प्रवेश करते हुए आचार्यश्री को धर्मोपदेश देते हुए उनकी गम्भीर एव मधुर ध्वनि सुनी थी,* अत. उनका वही धीर-गम्भीर स्वर सुनकर मुझे विस्मय हुआ और मैं आश्चर्यान्वित होकर सोचने लगा कि, मदिर प्रवेश के समय मैंने जो स्वर सुना था ठीक वह ऐसा ही था। अहो ! तब तो मन्दिरप्रवेश के समय जो आचार्य धर्मदेशना दे रहे थे वे भी यही होने चाहिए, किन्तु वे तो एकदम कुरूप थे, फिर इनका अनुपम सुन्दर रूप कैसे हो गया ? पर इसमे नवी-

* पृष्ठ ४६१

नता भी क्या है ? मेरे धर्मगुरु सिद्धपुत्र चन्दन ने मुझे बताया था कि श्रेष्ठ साधु अनेक प्रकार की लब्धियों के धारक होते है और लब्धियो के प्रभाव से वे स्वेच्छानुसार अपना रूप विविध प्रकार का बना सकते है। वे परमाणु जैसे सूक्ष्म या पर्वत सदृश विशाल और अर्क (आकडे) की रूई के समान हल्के-फुल्के लघु भी बन जाते है। वे देह को विस्तारित कर विश्व मे व्याप्त हो सकते है, देवेन्द्र को किकर के समान आज्ञा दे सकते है, कठोर से कठोर शिलातल मे डुबकी लगा सकते हैं, एक घड़े मे हजारो घड़े दिखा सकते है और एक वस्त्र से सहस्रो वस्त्र दिखा सकते है। वे मात्र, कान से ही नही अपितु शरीर के किसी भी अगोपाग से सुन सकते है, स्पर्श मात्र से समस्त रोगो को दूर कर सकते है और गगनतल मे पवन की भाति विचरण कर सकते है। इन लब्धिधारक सिद्ध-साधुओ के लिये कुछ भी अशक्य नही है। लब्धि द्वारा वे ऐसे विविध कार्य करने मे पटु होते हैं। इन आचार्य भगवान् को जब मैंने पहले देखा था तब वे कुरूप थे और अब अत्यन्त स्वरूपवान एव सुडौल दिखाई देते हैं, इससे लगता है कि वे अतिशय लब्धिधारी है।

गुरु-परिचय

उपरोक्त विचार करते-करते प्रहृष्टचित्त होकर मैंने आचार्य महाराज को वन्दन किया और अन्य मुनियो को भी मैंने नमन किया। उन्होने भी मुझे स्वर्ग और मोक्षमार्ग के साधनभूत 'धर्मलाभ' रूपी आशीर्वाद दिया। शुद्ध भूतल पर बैठकर मैं आचार्यदेव की अमृतोपम धर्मदेशना सुनने लगा। उनकी यह धर्मदेशना भव्य प्राणियो के मन को आकर्षित करने वाली, विषयाभिलाषाओ मे विक्षेप डालने वाली, मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा उत्पन्न करने वाली, ससार-प्रपच पर निर्वेद (वैराग्य) जागृत करने वाली और जीव को कुमार्ग पर जाने से रोकने वाली थी। आचार्यश्री के ऐसे अद्वितीय उपदेश को सुनकर मैं उनके गुणो से गद्गद् हो गया। फिर मैंने निकट बैठे हुए एक शान्तमूर्ति मुनिराज से पूछा—ये भगवान् कौन है ? इनका नाम क्या है ? ये कहाँ के है ? मेरे प्रश्नो के उत्तर मे मुनिराज बोले—ये भगवान् हमारे गुरुदेव है। इनका नाम आचार्य बुध है। ये धरातल नगर के राजा शुभविपाक और निजसाधुता रानी के पुत्र हैं। राज्य वैभव को तृणतुल्य समझकर इन्होने उसका त्याग कर दिया और श्रमण बन गये। अधुना अनेक स्थानो पर अप्रतिबद्ध विहार करते हुए आचार्य भगवान् भिन्न-भिन्न स्थानो पर विचरण कर रहे है।

भाई विमल! बुधाचार्य के सम्बन्ध मे सुनकर, उनके अतिशय की महिमा प्रत्यक्ष देखकर, उनके अद्भुत सुन्दर रूप को देखकर और उनके धर्मदेशना-कौशल का अनुभव कर मैने सोचा कि अहो! आज तो आदिनाथ भगवान् के दर्शन कर वस्तुतः रत्नाकर के दर्शन ही किये है, क्योकि ऐसे-ऐसे पुरुष-रत्न भी यहाँ मिल जाते है। इस विचार से मैं भगवान् अर्हत् प्रणीत मार्ग (मत) मे मेरु के समान अडिग

हो गया और मेरा पूरा परिवार भी इन आचार्य भगवान् के दर्शन से अर्हद् धर्म मे स्थिर हो गया। भगवान् को वन्दना कर मै अपने स्थान पर गया और आचार्यश्री भी वहाँ से* अन्यत्र विहार कर गये। यह घटना गत अष्टमी की है। भाई विमल ! मैं इसीलिये कह रहा था कि यदि महात्मा बुध आचार्य किसी प्रकार यहाँ पधार जाये तो तुम्हारे परिवार और बन्धुओं को वे अवश्य ही प्रतिबोध दे सकते है। इन आचार्य भगवन्तों को तो दूसरो पर उपकार करने का व्यसन ही है। इसीलिये उन्होने उस दिन मुझे और मेरे परिवार को धर्म मे स्थिर करने के लिये दो वार भिन्न-भिन्न वैक्रिय रूप धारण किया था।

विमल—आर्य ! तब तो इन महात्मा को यहाँ पधारने के लिये आप अवश्य ही अभ्यर्थना करना।

रत्नचूड—जैसी कुमार की आज्ञा। अभी तो मेरे वियोग से मेरे पिता व्याकुल हो रहे होगे और मेरी माता तो पागल हो गई होगी, इसलिये उनके मन को शान्ति देने के लिये उनके पास जाना होगा। फिर तुम्हारी आज्ञानुसार सब व्यवस्था करूंगा। इस विषय में अब तुमको मन मे किंचित् भी संकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता नही है।

सज्जन से बिछोह

विमल—आर्य रत्नचूड ! क्या आपको जाना ही पड़ेगा ?

रत्नचूड—कुमार ! आपकी सगति-रूप अमृतरस का आस्वादन करने के पश्चात् जाने की बात तो मेरे मुँह से निकल ही नही सकती। सज्जन की दृष्टि से जड (मूर्ख) भी सन्तोष प्राप्त करता है। जैसे चन्द्र के उदय होने पर उसके दर्शन से कुमुद विकसित हो जाता है वैसे ही उस जड प्राणी को भी क्षणभर मे सज्जन पर इतनी प्रीति हो जाती है कि वह जीवित रहते हुए उस सज्जन को छोड़कर अन्यत्र किसी स्थान पर नही जाता। अनन्त दु खो से परिपूर्ण इस ससार मे अमृत के समान यदि कुछ भी है तो वह सज्जन पुरुष के साथ हृदय-मिलन ही है, ऐसा मनीषियो का कथन है। इस संसार मे विरह रूपी मुद्गर न हो तो सज्जन की सगति जैसी अमूल्य वस्तु के दो टुकड़े करने (भग करने) मे कोई भी पदार्थ समर्थ हो ही नही सकता। जो प्राणी एक बार सज्जन पुरुष को प्राप्त कर उसे छोड़ देता है, वह मूर्ख चिन्तामणिरत्न, अमृत या कल्पवृक्ष को प्राप्त कर उसे छोड़ रहा है, ऐसा समझना चाहिये। हे कुमार ! तेरे विरह के त्रास से जाने की बात कहने से ही मेरी जीभ तालु से चिपक रही है। 'मुझे यहाँ से जाना है' ऐसे शब्द मैं आपके सन्मुख किसी प्रकार बोल भी नही सकता। अरे ! आपके सन्मुख ऐसा कहना तो मुझे वास्तव मे वज्राग्नि के समान अत्यन्त निष्ठुर लगता है। अरे ! ये शब्द तो मेरे मुख से निकल

* पृ० ४६२

भी नही सकते । फिर भी मेरे माता-पिता अत्यधिक चिन्तित हो रहे होगे अत: इस कारण से उन्हे शान्ति प्रदान करने के लिये लाचारी से मुझे ऐसा कहना ही पड रहा है । [२४१–२४९]

विमल—आर्य रत्नचूड ! यदि ऐसा ही है तो आप प्रसन्नता से जाइये, परन्तु मैंने जो अभ्यर्थना की है उसे भूल मत जाना । किसी भी प्रकार से महात्मा बुधसूरि को एक बार यहाँ अवश्य लाना ।

रत्नचूड— कुमार ! इस विषय मे सकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता ही नही है ।

सज्जन पुरुष के बिछोह की कल्पना मात्र से कातरहृदया आम्रमजरी आँखो मे आँसू लाते हुए टूटती आवाज मे बोली—कुमार ! आप मेरे सगे भाई है। हे नरोत्तम ! आप मेरे देवर है । हे सुन्दर ! वस्तुत: आप ही मेरे शरीर और प्राण है । आप ही मेरे नाथ अर्थात् कुशल-क्षेमकारक है ।* हे महाभाग ! देखो, मै गुणहीन हूँ इसलिये मुझे भूल मत जाना, मुझे याद रखना । आप जैसो के स्मृति पटल मे जो व्यक्ति रहे वह वास्तव मे भाग्यशाली है । [२५०–२५१]

विमल—आर्ये ! यदि मै अपने गुरु और गुरुपत्नी को भी स्मृति पटल मे नही रखूँ तो मेरा धर्म कहाँ रहा और मेरी सज्जनता या बडप्पन भी कहाँ रहा ? [२५२]

इस प्रकार मेरे साथ वार्तालाप करते हुए रत्नचूड और आम्रमजरी वहाँ से विदा हुए ।

★

८. दुर्जनता और सज्जनता

गुरुकर्मी वामदेव

ससारी जीव अगृहीतसकेता के समक्ष स्वय की वामदेव के भव की कथा आगे सुनाते हुए कहता है कि, हे भद्रे अगृहीतसकेता ! रत्नचूड और विमलकुमार ने बहुत ही उच्चकोटि की धर्म सम्बन्धी इतनी बात-चीत की, पर गुरुकर्मी और लम्बे समय तक ससार भ्रमण करने वाला होने से, मद्यपी, निद्रित, विक्षिप्त, मूर्छित, अनुपस्थित और मृतप्राय की भाँति मेरे हृदय मे धर्म का एक वचन भी

* पृष्ठ ४९३

नही उतरा । मेरा हृदय मानो वज्र-शिला के कठोरतम पत्थर से बना हो जिससे कि वह जिनवचन रूपी अमृत के सिचन से भी तनिक भी नरम, भीगा या द्रवित नही हुआ । इसके पश्चात् भगवान् की विशेष स्तुति कर मै और विमल मन्दिर से बाहर निकले ।

अमूल्य रत्न को भूमि में छुपाना

मन्दिर के बाहर आकर विमल बोला—भाई वामदेव ! यह रत्न देते समय रत्नचूड ने मुझ से कहा था कि यह बहुत ही मूल्यवान और प्रभावशाली है । किसी महान् लाभदायक प्रसग पर ही इसका उपयोग किया जा सकता है । मुझे तो इस रत्न के प्रति न तो कोई विशेष इच्छा है और न कोई आकर्षण । मेरी उपेक्षा के कारण कही यह गुम न हो जाय अतः इसे यही किसी स्थान पर छिपाकर हमे चलना चाहिये । उत्तर मे मैने कहा—जैसी कुमार की इच्छा । मेरे इतना कहते ही विमल ने अपने वस्त्र के पल्ले से बधे रत्न को मुझे सौप दिया । मैने जमीन मे गड्ढा खोद कर रत्न को छिपा दिया और भूमि को समतल बनादी ताकि कोई पहचान न सके । फिर हम दोनो नगर मे गये । वहाँ से मै अपने घर चला गया और कुमार राजभवन को चला गया ।

दौर्जन्य : रत्न का अपहरण

घर पहुँचते ही मेरे शरीर मे स्तेय और बहुलिका (माया) ने प्रवेश किया । उनके प्रभाव मे मैं सोचने लगा कि रत्न देते समय रत्नचूड ने कहा था कि इससे सर्व कार्य सिद्ध हो सकते है और यह चिन्तामणि रत्न के समान समस्त गुणो से परिपूर्ण है । ऐसी मूल्यवान वस्तु बार-बार प्राप्त नही होती, ऐसे रत्न को कौन छोड़ सकता है ? अतएव अन्य सब खटपट और चिन्ता छोड़कर किसी भी प्रकार इस रत्न को चुरा ही लूँ । [२५३-२५४]

ऐसे अधम विचार के परिणामस्वरूप मैं नीचता पर उतर आया । विमल के स्नेह को भूल गया और उसके सद्भावो की अवगणना करदी । इस कृत्य का मुझे भविष्य मे क्या फल मिलेगा, इसका भी विचार नही किया । महापाप कर रहा हूँ यह भी नही सोचा । कार्य-अकार्य की तुलना भी नही की और मात्र स्तेय एवं माया के वशीभूत होकर मै तुरन्त उस स्थान पर गया जहाँ भूमि मे रत्न छिपा-कर रखा था । उस गड्ढे को खोदकर रत्न को वहाँ से निकाला और दूर दूसरे स्थान पर जमीन खोदकर उसे छुपा दिया । मेरे मन मे तर्क उठा कि यदि विमल यहाँ आ गया और उसे जमीन खोदने पर रत्न नही मिला तो वह यही समझेगा कि मैंने रत्न चुरा लिया है, अत मुझे इसी वस्त्र के साथ रत्न जितना बडे पत्थर का टुकडा बाँधकर इसी स्थान पर छुपा देना चाहिये जिससे कि यदि कदाचित् विमल जमीन खोदकर देखे और उसे रत्न के स्थान पर पत्थर मिले तो वह समझेगा कि

उसकी पुण्यहीनता के कारण यह रत्न पत्थर मे बदल गया है।* ऐसा सोचकर मैंने उसी कपडे मे रत्न के आकार का पत्थर बांधकर उसी स्थान पर और उसी दशा में दबा दिया। इस प्रकार कार्य सम्पन्न कर मैं अपने घर चला आया।

वह दिन तो मेरा आराम से बीत गया। रात्रि मे पलग पर लेटते ही मुझे चिन्ता होने लगी कि, 'अरे! मै रत्न घर नहीं लाया, यह तो बहुत बुरा किया। यदि किसी ने मुझे रत्न दूसरे स्थान पर छुपाते देख लिया होगा तो वह अवश्य ही उसे निकाल कर ले जायेगा। अब मुझे क्या करना चाहिए? इस अन्धेरी रात मे तो अभी वहाँ जाना अशक्य है। तब 'क्या हो? क्या करूँ?' इस प्रकार सच्चे-झूठे तर्क-वितर्क करने से मन इतना अधिक आकुल-व्याकुल और सन्तप्त हो गया कि मुझे सारी रात नीद नही आई, पलंग पर इधर-उधर करवट बदलते हुए ही रात बीत गई। प्रात. उठते ही जहाँ रत्न छुपाया था वहाँ मैं शीघ्रता से जा पहुँचा।

इसी बीच विमल मेरे घर पर आया तो मै उसे घर पर नही मिला। परिजनो को पूछने पर उन्होने कहा कि 'निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कह सकते, परन्तु उसे क्रीडानन्दन उद्यान की तरफ जाते हुए अवश्य देखा था।' विमल मेरे स्नेह से खिचा हुआ मेरे पीछे-पीछे जिस मार्ग से मै गया था उसी मार्ग से आया। दूर से मैंने उसे आते देखा और देखते ही घबराहट में मै यह भूल गया कि रत्न को मैंने अन्य स्थान पर छिपाया है। फलतः रत्न के स्थान पर मैंने जो पत्थर का टुकडा कपड़े मे लपेट कर छुपाया था, घबराहट मे मैंने उसे ही खोदकर निकाल लिया और चट-पट कटि-वस्त्र मे छुपा लिया और जमीन को समतल कर दिया। फिर मैं उद्यान के दूसरे हिस्से में चला गया। इतने में विमल मेरे पास आ पहुँचा। उसने देखा कि भय से मेरी आँखे बार-बार झपक रही है तो वह बोला—'मित्र वामदेव! तू अकेला यहाँ क्यो आया? अरे! तू डर क्यो रहा है?' मै बोला—'भाई! प्रात. उठते ही मुझे समाचार मिला कि तुम उद्यान में आये हो अतः तुमसे मिलने मै भी यहाँ आ गया। यहाँ आकर मैंने तुमको बहुत ढूंढा पर तुम नही मिले, इस कारण से मेरा मन भय से त्रस्त हो गया कि कुमार कहाँ चले गये? इसी चिन्ता मे मेरी आँखे भयभीत प्रतीत हो रही है। अब तुम्हे देखकर मेरा भय दूर हो गया। अब मेरा मन स्वस्थ हो जायेगा।' मेरा उत्तर सुनकर विमल बोला—'यदि ऐसा है तो अच्छा ही हुआ कि हम मिल गये। चलो, अब हम भगवान के मन्दिर मे दर्शन करने चले।' मैंने कहा—चलो।

हम दोनो जिन मन्दिर के पास आ पहुँचे। विमल मन्दिर में चला गया और मै कुछ बहाना बनाकर द्वार के बाहर ही खडा हो गया। मै सोचने लगा कि 'हो न हो विमल अवश्य ही सब कुछ जान गया है, अतः मै शीघ्र ही यहाँ से भाग जाऊ,

* पृष्ठ ४६४

अन्यथा विमल अवश्य ही यह रत्न वापिस ले लेगा। जब तक मैं इस नगर मे रहूँगा, वह मुझे छोडेगा नही, अत. मुझे यह नगर छोडकर पलायन ही कर देना चाहिये।' ऐसा विचार कर मैं तेजी से भागा। घर पर भी नही गया, सीधा नगर के बाहर चला आया। दौडते-दौड़ते मैंने अधिक प्रदेश पार कर लिया। तीन रात और तीन दिन लगातार दौड कर मै २८ योजन (३४० कि० मी० लगभग) दूर पहुँच गया। फिर मैने अपनी अण्टी मे से रत्न वाला कपडा निकाला और उसकी गाठ खोली। हाथ मे लेकर देखता हूँ तो रत्न के स्थान पर पत्थर! पत्थर को देखते ही 'हाय! मर गया' कहता हुआ मैं मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडा। बडी कठिनता से मुझे चेतना आई तो पश्चात्ताप करने लगा और जोर-जोर से रोने लगा। मैं क्यो वहाँ से भाग कर आया? नगर भी छोडा और रत्न भी गुमाया। जीव! चल, अब वापिस उस स्थान पर लौट कर रत्न लेकर आ। रोते हुए मैं वापिस अपने नगर की तरफ चला।

विमल का सौजन्य

हे अगृहीतसकेता! इधर मेरे मन्दिर के बाहर से भागने के बाद जब विमल भगवान् के दर्शन कर बाहर निकला तो उसने मुझे वहाँ नही देखा, जिससे उसे यह चिन्ता हुई कि वामदेव कहाँ चला गया? उसने सारे* जगल मे, मेरे घर और पूरे नगर मे मेरी खोज करवाई, पर मेरा कही पता नही लगा। उसने चारो दिशाओ मे अपने आदमी मुझे ढूंढने के लिए भेजे। उधर जब मै वापस लौट रहा था तब मेरा पता लगाने घूम रहे विमल के कुछ आदमी मुझे दिखाई दिये जिन्हे देखते ही मैं भयभीत हो गया। वे मेरे पास आये और कहने लगे—'वामदेव! तुम्हारे वियोग से कुमार घबरा गये है, प्रतिक्षण शोक-मग्न रहते हैं, तुम्हे ढूंढकर लाने के लिए हमे भेजा है। उनकी बात सुनकर मैंने मन ही मन कहा—'चलो, अच्छा हुआ। लगता है विमल ने मुझे रत्न निकालते नही देखा' इस विचार से मेरे मन का भय दूर हो गया। विमल के पुरुष मुझे लेकर विमल के पास आये। मुझे देखते ही विमल अत्यन्त स्नेहपूर्वक मुझसे गले मिला। हम दोनो की आँखो मे आसू थे, पर मेरे आसू कपट के थे और विमल के आसू प्रियजन से मिलन पर हर्ष के थे।

वामदेव की अधमता : बनावटी बात

मिलन के बाद विमल ने मुझे अपने आधे आसन पर बिठाया और मुझसे पूछा—मित्र वामदेव! तू मन्दिर के बाहर से क्यों चला गया? कहाँ गया? क्या हुआ? क्या बात हुई? सब कुछ मुझे बता।

उत्तर मे मैने कहा—मित्र विमल! सुनो, जब तुम जिनमन्दिर मे चले गये तब मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे मन्दिर मे आ रहा था कि मैने आकाश मे से किसी विद्याधरी को भूतल पर आते देखा। वह कैसी थी? सुनो :—

* पृष्ठ ४६५

वह विद्याधरी अपने रूप और लावण्य के तेज से समस्त दिशाओ को प्रकाशित कर रही थी और हाथ में यमराज की जिह्वा जैसी भीषण नंगी तलवार लिये हुए थी। [२५५]

एक ही समय मे सुन्दर और भयंकर रूप वाली उस विद्याधरी को देखकर मै शृंगार और भयानक रस का एक साथ अनुभव कर ही रहा था कि उसने मुझे वहाँ से उठाया और आकाश मार्ग मे तेजी से उडने लगी।

उस समय मैने हा कुमार! हा कुमार!! कह कर जोर से आवाजे लगाई, पर मुझ विह्वल और रोते-चिल्लाते को लिये हुए वह विद्याधरी और भी तेजी से आगे बढने लगी। आकाश मे उडते-उडते वह अपने पीन पयोधरो को मेरे वक्ष से चिपका कर मुझे अपनी बाहो मे भीचकर अति स्नेह से बार-बार मेरे मुँह का चुम्बन करने लगी और रतिक्रिया के लिये मुझ से प्रार्थना करने लगी। मित्र! यद्यपि वह स्त्री मुझ पर इतनी अनुरक्त थी और इतना स्नेह दिखा रही थी, फिर भी तेरे जैसे श्रेष्ठ मित्र के वियोग मे वह मुझे विष जैसी लग रही थी। सारे वक्त मैं यही विचार कर रहा था कि यद्यपि यह विद्याधरी अत्यधिक रूपवती है और मुझ पर इतनी अधिक आसक्त है तथापि उससे भी अधिक उत्तम मित्र के विछोह मे वह लेशमात्र भी मुझे सुख नही दे सकती। [२५६–२५९]

वह विद्याधरी मुझसे सम्भोग के लिये प्रार्थना कर ही रही थी कि अचानक एक-दूसरी विद्याधरी वहाँ आ पहुँची और उसने मुझे देखा। मुझे देखते ही उसे भी मेरे साथ विषय-सुख भोगने की इच्छा जागृत हो गई और वह भी मुझे खीचने लगी। इस खीचातान मे दोनो विद्याधरी एक-दूसरे को 'ओ पापिनी! दुष्टा! तू कहाँ जा रही है?' कहती हुई अपशब्दो की मारा-मारी करने लगी और उनमे घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। [२६०]

वे दोनो लड़ाई में इतनी व्यस्त हो गई कि मेरा भान ही भूल गई जिससे मैं उनके हाथ से छूट पडा और भूमि पर आ गिरा। इतने ऊपर से गिरने के कारण मेरी हड्डिया चूर-चूर हो गई और मेरे बहुत सी चोटे आई। मेरा शरीर चूर्ण बन गया और मुझ मे भागने की भी शक्ति न रही। फिर भी मै सोचने लगा कि 'इन दोनो मे से कोई आकर मुझे पकडे उससे पहले ही यदि मैं यहाँ से भाग जाऊँ तो इस जीवन मे विमल से मिल सकता हूँ' यही सोचकर मै बडी कठिनाई से छिपते हुए वहाँ से भागा। मार्ग मे मेरा पता लगाने आये हुए तेरे पुरुष मुझे मिल गये और मै इनके साथ तेरे पास चला आया।* कुमार! यही मेरी आप बीती है।

विमल का मुझ पर स्वाभाविक और निष्कपट प्रेम था जिससे मेरी बनावटी कहानी सुनकर भी वह बहुत प्रसन्न हुआ। मेरे शरीर मे बसी हुई बहुलिका (माया)

* पृष्ठ ४६६

भी बहुत प्रसन्न हुई। लोगों को लगा कि वामदेव ने विमलकुमार को खूब मूर्ख बनाया और उसे ठगकर भी उसका विश्वास प्राप्त कर लिया।

वामदेव को उदरशूल

मैं अपनी कृत्रिम कथा विमल को सुना ही रहा था कि अचानक मेरे शरीर में इतनी तीव्र वेदना उठी, मानो मगरमच्छ मुझे निगल रहा हो, मानो मैं वज्र से दबा जा रहा हूँ, मानो यमराज मुझे चबा रहे हों। अचानक क्या हो गया? कुछ समझ में नहीं आया। मेरे उदर की समस्त आंतें कटने लगीं, पेट में इतने जोर का शूल, दर्द उठा कि मेरी आँखें बाहर निकल आयीं, सिर में दर्द से चीसें उठने लगीं, शरीर का जोड़-जोड़ ढीला पड़ गया, दांत हिलने लगे, मुंह में से सांसें निकलने लगीं, नेत्र फिरने लगे और वाणी बन्द हो गयी। ऐसी अनहोनी वेदना देखकर विमल भी घबरा गया, आकुल-व्याकुल हो गया और हाहाकार कर उठा। धवल महाराज भी वहाँ आ पहुँचे और बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई। तुरन्त ही नगर के सब वैद्यों को बुलवाया गया। राजाज्ञा से उन्होंने मुझे बहुत-सी औषधियां खिलाईं, पर मेरी व्याधि में थोड़ी भी कमी नहीं हुई।

अमूल्य रत्न की खोज : भण्डाफोड़

मेरी इस अवस्था को देखकर विमल को रत्न की याद आयी। अभी रत्न के उपयोग करने का समय है, ऐसा सोचकर वह स्वयं ही क्रीडानन्दन उद्यान में गया और जहाँ रत्न छुपा कर रखा था उस स्थान को खोदा। पर, अफसोस! उसे वहाँ रत्न नहीं मिला। 'अब क्या होगा? मित्र के प्राण कैसे बचेंगे?' यही सोचते हुए वह मेरे समीप वापिस आया। उसे रत्न के जाने का विषाद नहीं था, पर मेरे प्राणों की चिन्ता थी।

इसी बीच उसी समय एक बूढ़ी स्त्री सिर धुनाती हुई वहाँ प्रकट हुई। पहले उसने अपने शरीर को मरोड़ा, दोनों हाथ ऊँचे किये, सिर के बाल खोले भयंकर रूप बनाया, फट्-फट् आवाज करने लगी और सारे शरीर से भयंकर चेष्टायें करने लगी। राजा और सभी लोग भयभीत हो गये और उन्होंने उसकी पूजा की, धूप दिया और उससे पूछा—भट्टारिका! तू कौन है?

उत्तर में वह बोली—मैं वन देवी हूँ। वामदेव की यह अवस्था मैंने ही की है। इस पापी ने सद्भावयुक्त सरल स्वभावी विमल को धोखा देकर ठगा है। इस पापी ने रत्न को चुरा कर दूसरे स्थान पर छिपा दिया था। फिर घबराहट में रत्न के बदले पत्थर को लेकर भागा था। जब इसे मालूम हुआ तो रत्न लेने के लिये लौटकर वापिस आ रहा था और यहाँ आकर इसने यह नकली कहानी गढ़ सुनाई है। इस प्रकार वनदेवी ने सारी घटना का भण्डाफोड़ इतने विस्तार से किया कि सब लोग मेरी चोरी और ठगी के बारे में समझ गये। जहाँ मैंने रत्न छुपाया था

उस स्थान को साथ ले जाकर बताया और रत्न दिखाया। इतना प्रत्यक्ष प्रमाण देकर वह बोली—इस दुरात्मा वामदेव को अब मैं चकनाचूर कर दूंगी।

वनदेवी के निर्णय को सुनकर विमल ने प्रार्थना की—देवि ! सुन्दरि ! ऐसा न करिये। यदि आप ऐसा करेंगी तो मेरे मन को अत्यन्त दुःख होगा।

सुजनता की पराकाष्ठा

विमल की प्रार्थना पर देवी ने मुझे छोड दिया, पर लोगो ने मेरी जी भर कर खूब निन्दा की, शिष्ट लोगो ने मुझे धिक्कारा और मेरा तिरस्कार किया, बालकों ने मेरी हसी उडाई और स्वजन सम्बन्धियो ने भी मुझे घर से निकाल दिया। लोगो की दृष्टि मे मैं तृण से भी अधिक तुच्छ और नीच हो गया। विमल मे इतनी महानता थी कि इतनी अधिक लज्जाकारी घटना हो जाने पर भी वह अब भी मुझे पहले जैसा ही मित्र मानता था और मुझ पर पहले जैसा ही स्नेह रखता था। अपने स्नेह मे, अपने प्रेम-भाव मे उसने कोई कमी नही आने दी। एक क्षण भी मेरे से अलग नही होता था और मुख से भी यही कहता था—मित्र वामदेव ! ना-समझ लोग कुछ भी कहे, तू अपने मन मे तनिक भी उद्विग्न न होना,* क्योकि सब लोगों को प्रसन्न करना तो बहुत कठिन है। अत लोगो की बात पर तुझे ध्यान ही नही देना चाहिये।

हे अगृहीतसकेता ! विमलकुमार जब उपरोक्त बात कह रहा था तब उसे मेरे दुष्ट चरित्र के बारे मे सब कुछ मालूम हो गया था। तब भी मैं बहुलिका (माया) के प्रभाव से ऐसा दुष्ट व्यवहार कर रहा था और भाग्यशाली विमल फिर भी मेरे साथ ऐसा अच्छा बर्ताव कर रहा था। इसका कारण यह था कि सूर्य चाहे पश्चिमी दिशा मे उदय हो और पूर्व मे अस्त हो, क्षीरसमुद्र भले ही अपनी मर्यादा को छोड़ दे, आग का गोला भले ही बर्फ जैसा ठण्डा हो जाय, मेरु पर्वत चाहे तुम्बी की तरह पानी पर तैरने लगे, पर अकारण करुणा और स्नेह वाले सज्जन पुरुष तो दाक्षिण्य समुद्र से ओत-प्रोत ही होते हैं। जिसका आदर किया हो, जिसे एक बार अपना लिया हो, उसे वे नही छोडते। भद्रे ! यही सज्जनो की वास्तविक महत्ता है। सज्जन पुरुष दुष्टों की चेष्टाओ को जानते हुए भी नही जानते, देखते हुए भी नही देखते और स्वय परम पवित्र शुद्ध आत्मा बनकर ऐसे लोगो पर थोडी भी श्रद्धा नही रखते। हे अगृहीतसकेता ! उस समय मेरे सगे सम्बन्धियो ने मुझे छोड़ दिया, मेरा बहिष्कार कर दिया, लोगो ने मुझे अधम माना तथापि महात्मा विमलकुमार ने मुझे अपने पास रखा। मैं उसी के साथ रहने लगा। [१-६]

❖

* पृष्ठ ४६७

६. विमल-कृत भगवत्स्तुति

[मेरे अत्यन्त अधम व्यवहार के उपरान्त भी विमलकुमार ने अपनी सज्जनता बनाये रखी। मेरे प्रति अपने प्रेम-भाव मे थोड़ी भी कमी न आ पाये इसका पूरा ध्यान रखा। मेरे प्रति उसने अपना सम्बन्ध पहले की ही भाति निरन्तर रखकर अपनी महानता और विशिष्टता का परिचय दिया।]

अन्यदा एक दिन मै विमल लोचन विमल के साथ क्रीडानन्दन उद्यान मे स्थित तीर्थंकर महाराज के मन्दिर में दर्शन करने गया। वन्दन-पूजन की समस्त विधिया/क्रियाये पूर्ण होने के पश्चात् विमल ने अत्यन्त मधुर वाणी मे श्री जिनेश्वर देव की स्तुति प्रारम्भ की।

विमल अभी स्तुति कर ही रहा था कि इतने मे ही अपनी देदीप्यमान द्युति से दिशाओ को प्रद्योतित करता हुआ रत्नचूड विद्याधर वहाँ आ पहुँचा। उसके साथ अन्य बहुत से विद्याधर भी आये थे। उन्होने पीछे खडे होकर कर्णप्रिय अत्यन्त मधुर आवाज मे गाई जा रही भगवान् की स्तुति को सुना। स्तुति सुनकर रत्नचूड अतीव प्रमुदित हुआ। वह सोचने लगा कि, अहा! धन्यात्मा विमलकुमार जगत्बन्धु महाभाग्यवान् श्री परमात्मा की स्तुति कर रहा है, धन्य है उसे! हमे उसकी स्तुति को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये। फिर उसने बिना कुछ शब्द किये सकेत मात्र से ही सब विद्याधरो को शान्त रहने का सकेत किया और स्वय भी आम्रमजरी के साथ चित्रलिखित-सा हलन-चलन रहित निश्चल होकर खड़ा हो गया।

उस समय विमलकुमार के नेत्र आनन्द अश्रुओ से पूरित हो गये। उसकी दृष्टि तीर्थंकर देव के मुख पर एकाग्र और स्थिर हो गई। उसकी वाणी अतिशय गम्भीर हो गई और उसका सम्पूर्ण शरीर रोमाचित/पुलकित हो गया। उस समय उसमे भक्ति का आवेश इतना प्रवल हो गया कि उसके प्रभाव मे मानो वह साक्षात् शाश्वत परमात्मा श्री जिनेश्वर भगवान् के सम्मुख खड़ा होकर उन्हे उपालम्भ की भाषा मे, विश्वास-आश्वासन की भाषा मे, स्नेह युक्त प्रणय शब्दों में, प्रार्थना और प्रेम की मधुरता से विशुद्ध मन से स्तुति करने लगा। [७-१५]

इस अपार महा भयकर संसार समुद्र मे डूबे हुए प्राणियो को तारने वाले हे नाथ! इस भीषण भवसागर मे पड़े हुए मुझ को आप क्यो भूल गये?

त्रैलोक्य को आनन्द देने वाले हे लोक बन्धु ! मै सद्भाव को धारण कर रहा हूँ, फिर भी आप मुझे इस ससार सागर से तारने मे विलम्ब क्यो कर रहे हैं ? लगता है, आप मुझे भूल गये है ।

हे करुणामृतसागर ! मैं दीन-हीन अनाथ बनकर आपकी शरण में आ गया हूँ तथापि आप मुझे भव से पार नही करते ।* हे स्वामिन् ! शरणागत के साथ इस प्रकार व्यवहार करना कदापि उचित नहीं है ।

हे नाथ ! आप दयालु है तब इस घोर संसार अटवी में एक छोटे हिरण के बच्चे के समान मुझे अकेला क्यों छोड़ रखा है ? यह आपकी कैसी दयालुता है ?

भयभीत और निरालम्ब अकेला हरिण का बच्चा जैसे घोर जगल मे इधर-उधर तरल दृष्टि दौडा कर सहायता के लिये देखता है वैसे ही हे नाथ ! मै भी असहाय और भयत्रस्त बना सजल नेत्रो से इधर-उधर आपकी सहायता की अपेक्षा कर रहा हूँ, क्योकि आपके अतिरिक्त इस ससार मे मेरा कोई अवलम्ब नही है । आपकी सहायता के बिना मैं तो इस ससार जगल मे भय से ही मर जाऊगा ।

हे अनन्तशक्तिसम्पन्न ! जगत् के आलम्बनदायक नाथ ! मुझ अनाथ को इस ससार रूपी जगल से पार कर निर्भय करिये ।

हे नाथ ! जैसे इस ससार मे सूर्य के अतिरिक्त कमल को विकसित करने मे कोई सक्षम नही है, वैसे, ही हे जगच्चक्षु ! आपके अतिरिक्त इस जगत से मेरी निर्वृत्ति करने मे (मुझ को उबारने मे) अन्य कोई समर्थ नही है ।

क्या यह मेरे कर्म का दोष है ? या मेरा स्वय (कष्ट-साध्य अधम आत्मा) का दोष है ? अथवा दूषित काल का प्रभाव है ? या मेरी आत्मा अभी तक भव्य नही बन पाई है ?

सद्भक्तिग्राह्य भुवन-भूषण ! क्या मुझ मे आपके प्रति अभी तक ऐसी निश्चल भक्ति ही उत्पन्न नही हुई है ?

खेल ही खेल में कर्म के जाल को छिन्न-भिन्न करने वाले ! कृपातत्पर हे स्वामिन् ! आप मुक्ति के इच्छुक मुझ को अभी तक मुक्ति क्यो नही देते ?

हे जगत् के अवलम्बन ! मैं आपसे स्पष्टतया निवेदन करता हूँ कि हे नाथ ! इस लोक मे आपको छोडकर मेरा और कोई आधार नही है, कोई शरण-दाता नही है ।

हे प्रभो ! आप ही मेरे माता, पिता, भाई, स्वामी और गुरु है । हे जगदानन्द ! हे प्राणेश्वर ! आप ही मेरे जीवन है ।

---

* पृष्ठ ४६८

जैसे बिना पानी के मछली तडफ-तड़फ कर मर जाती है वैसे ही हे नाथ ! यदि आप मेरा तिरस्कार करेंगे, मेरे प्रति उपेक्षा रखेंगे तो मैं भी इस भूमि पर निराश होकर तडफ-तडफ कर मर जाऊंगा।

हे प्रभो ! मेरा मन आप मे पूर्णतया निश्चल हो चुका है, यह तो मैने स्वय अनुभव किया है। हे केवलज्ञानी ! आप तो अन्य लोगो के मन मे रहे हुए समस्त भावो को जानने वाले है, फिर मै आपको यह बात किस मुख से निवेदन करू ?

प्रभो ! मेरा मन तो कमल के समान है और आप त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाले सूर्य है। जैसे सूर्य के उदित होने पर कमल विकसित होता है वैसे ही आपका ज्ञान रूपी प्रकाश मेरे चित्त को विकसित कर मेरे कर्म रूपी कोष को विदीर्ण कर देता है।

हे जगन्नाथ ! आपको तो अनन्त प्राणियो की परम्परा के व्यापार पर ध्यान देना पड़ता है अत आपकी मेरे ऊपर कैसी दया-माया है, मै नही जानता।

जैसे मोर बादल को देखकर नाच उठता है वैसे ही हे जगन्नाथ ! आपका सद्धर्म रूपी नीरद (मेघ) रूप देखकर मेरा मन मयूर नाच उठता है और मेरे हाथ-पॉव भी नृत्य करने लगते है।

भगवन् ! यह तो कृपा कर मुझे बताइये कि मेरा इस प्रकार नाच उठना वास्तव मे आपकी भक्ति है या कोरा पागलपन ?

जब आम्र वृक्ष पर मजरिया आ जाती है तब उसे देखकर जैसे कोयल स्वत ही मधुर तान कुहू-कुहू छेड़ देती है। वैसे ही सुन्दर रस और आनन्द-बिन्दु-सदोह-दायक ! आपको देखकर मेरे जैसा मूर्ख भी मुखर हो जाता है और आपकी स्तुति करने लग जाता है।

हे जगत्श्रेष्ठ ! हे स्वामिन् ! मै मूर्ख और असम्बद्ध प्रलाप करता हूँ ऐसा मानकर आप मेरी उपेक्षा नही करे, तिरस्कार नही करे,* क्योकि सन्त/सज्जन पुरुष नत व्यक्ति के प्रति वात्सल्यभाव के धारक होने के कारण उनके प्रति कुछ भी ऊंचा-नीचा कह देने पर भी रुष्ट नही होते।

हे जगन्नाथ ! बच्चा तुतला-तुतला कर अस्पष्ट, अस्त-व्यस्त और झूठे सच्चे शब्द बोलता रहता है फिर भी क्या उसके निरर्थक प्रलाप से पिता के आनन्द मे वृद्धि नही होती ?

उसी प्रकार हे प्रभो ! मै मूर्ख भी बच्चे की तरह ग्राम्य शब्दो द्वारा कुछ भी उल्टी-सीधी बकवास (स्तुति) कर रहा हूँ। मेरी इस बकवास से आपकी प्रसन्नता मे वृद्धि हो रही है या नही ? कृपया यह तो बताइये।

---

* पृष्ठ ४६६

अनादिकालीन अभ्यास और योग के कारण मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि मेरा चपल मन अपवित्र कीचड़ के गड्ढे मे गन्दे सूअर के समान फ़सा ही रहता है।

हे नाथ! मैं अपने इस चचल मन को रोकने मे असमर्थ हूँ, अत: हे देव! आप कृपाकर इसे रोकें।

प्रभो! मेरे बार-बार प्रार्थना करने पर भी आप उत्तर नही देते, तो हे अधिपति! क्या आपको मुझ पर अभी भी सदेह है कि मै आपकी आज्ञा का किंचित् भी पालन नही करूगा?

प्रभो! मै आपका किकर बनकर आपकी सेवा मे इतना आगे बढ गया कि उच्च और स्वच्छ भावना पर चढ रहा हूँ, फिर भी ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, इसका क्या कारण है?

आपको प्रणाम करने वाले लोगो की शक्ति को बढाने वाले हे मेरे नाथ! अभी भी ये दुष्ट उपसर्ग मेरा पीछा नही छोडते, इसका क्या कारण है? हे स्वामिन! आप तो समस्त विश्व के द्रष्टा है तथापि आश्चर्य है कि आपका यह सेवक आपके सामने बैठा है और उसे यह कषाय रूप शत्रुवर्ग पीडित कर रहा है, तब भी आप मेरी तरफ क्यो नही देखते? आप मुझे इन शत्रुओ से छुड़ाने मे समर्थ है और मै आपकी करुणा के योग्य हूँ तथापि आप मुझे कषाय-शत्रुओ से घिरा हुआ देखकर भी मेरी उपेक्षा करते है, यह आप जैसे शक्ति-सम्पन्न के लिये उचित नही है।

अहो महाभाग्यवान! ससार से मुक्त आपको देखने के पश्चात् इस विषम-ससार मे क्षण-मात्र भी रहने मे मुझे किंचित् भी प्रीति नही है।

हे प्रभो! आतरिक शत्रु-समूह ने मुझे दारुण बन्धनो से जकड रखा है, बाध रखा है, अत: मै क्या करू?

हे नाथ! आप कृपा कर अपनी उद्दाम लीला से मेरे इस शत्रु समूह को मेरे से दूर करदे जिससे मै आपकी शरण मे आ सकू।

धीर! हे परमेश्वर! यह ससार आपके आश्रित है और मुझे इस ससार सागर से पार लगाना भी आपके अधीन है। भगवन्! यदि ऐसा ही है तो आप चुपचाप क्यों बैठे है? मेरा उद्धार क्यो नही करते?

हे करुणाधाम! अब ससार समुद्र से मेरा बेड़ा पार लगाइये, देर मत कीजिये। आपके अतिरिक्त मेरा कोई शरण नही है, आधार नही है, अत: मेरे उच्चरित उद्गारो को क्या आप जैसे महापुरुष अब भी नही सुनेगे। [१६-५०]

❖

१०. मित्र-मिलन : सूरि-संकेत

['विमलकुमार अत्यन्त भाव-विह्वल होकर भगवान् की प्रार्थना कर रहा था। मैं पास ही खड़ा था और मेरे पीछे रत्नचूड एवं आम्रमञ्जरी अपने परिवार के साथ शान्ति से खड़े स्तुति सुन रहे थे। पूरे मन्दिर मे दिव्य शान्ति और दिव्य गान प्रसरित हो रहा था। ऐसे अतिशय आनन्द के इस प्रसग पर विमल के मुख से स्तुति के शब्द भाव, रस, एकाग्रता और प्रेम-पूर्वक निकल रहे थे। आखिर स्तुति पूर्ण हुई।]

मित्र-मिलन

प्राणियो के नाथ भगवान् की सुन्दर मानसिक सद्भावपूर्ण स्तुति के पश्चात् विमल ने पचाग प्रणाम किया। उसकी मधुर वाणी से अत्यन्त हर्षोल्लसित और रोमांचित विद्याधर रत्नचूड ने मन मे अत्यधिक सन्तुष्ट होकर कहा—'हे धैर्यवान! आपने भवभेदक भगवान् की अतिशय सुन्दर भावपूर्ण स्तुति की है।' इस प्रकार कहता हुआ रत्नचूड विमल के सन्मुख आया और पुन. कहने लगा—'हे महाभाग्यवान बन्धु! त्रैलोक्यनाथ भगवान् पर आपकी इतनी अधिक दृढ भक्ति है, आप वास्तव मे भाग्यशाली है, कृतकृत्य है और आपका इस भूमण्डल पर जन्म सफल है। हे नरोत्तम! यह निश्चित है कि आप वास्तव मे ससार से मुक्त हो ही गये है, * क्योकि प्राणी को एक बार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होने के बाद वह कभी दरिद्री नही होता, अर्थात् उसमें फिर से दरिद्री बनने की योग्यता ही समाप्त हो जाती है।' [५१-५५]

विद्याधराधिपति रत्नचूड ने अत्यन्त मधुर वाणी से विमल का अभिनन्दन किया और तत्पश्चात् भक्ति पूर्वक आदिनाथ भगवान् को नमस्कार किया। तदनन्तर विमल ने रत्नचूड को नमस्कार किया और उसने भी स्नेह-पूर्वक विमल को प्रणाम कर आदर-पूर्वक उसे शुद्ध भूमि पर अपने पास बिठाया। आम्रमञ्जरी भी अभिवादन नमस्कार आदि कृत्य पूर्ण कर वहाँ आकर उनके पास बैठ गई। सब विद्याधर भी मस्तक झुकाकर भूमितल पर बैठ गये। दोनो ने एक दूसरे के स्वास्थ्य के बारे में कुशल समाचार पूछे और क्षेमकारी संवाद प्राप्त कर प्रसन्नता-पूर्वक दोनों बातें करने लगे। [५६-५६]

---

* पृष्ठ ५००

रत्नचूड को महाविद्याओं की प्राप्ति

रत्नचूड ने कहा—हे महाभाग्यवान बन्धु ! मुझे वापिस यहाँ आने मे अधिक समय लगा जिसका कारण बताता हूँ, और आपने मुझे बुध आचार्य को यहाँ लाने के लिये कहा था, किन्तु मै उन्हे अभी तक नही ला सका हूँ । हे महाभाग्य ! उसका भी कारण बताता हूँ, सुने—आपके पास से प्रस्थान कर मै सीधा वैताढ्य पर्वत पर अपने नगर की ओर गया । वहाँ मेरी माता शोक-विह्वल हो रही थी और मेरे पिताजी भी शोक-सन्तप्त हो रहे थे । दिन भर उनके पास रहकर उनको धैर्य बन्धाया । परस्पर मिलने-भेटने मे वह दिन आनन्द-पूर्वक व्यतीत हो गया । रात्रि मे प्रभु को नमस्कार कर मै पलग पर सो गया । परमात्मा जिनेश्वर भगवान् का ध्यान करते हुए मैं बाहर से तो निद्रित जैसा लग रहा था, पर भीतर से जागृत था । उस समय 'हे भुवनेश्वर भक्त ! महाभाग्यशाली ! उठो उठो' ऐसे मनोहर शब्द मेरे कान में पडे, जिसे सुनकर मै जागृत हुआ । उस समय मैंने देखा कि अनेक देविया अपने तेज से दिशाओ को प्रकाशित करती हुई मेरे सामने खडी है । मैं तत्क्षण ससभ्रम उठ खडा हुआ और उनकी अतुलित पूजा की । वे सब मेरी प्रशसा करते हुए कहने लगी—'हे नरोत्तम ! जिनेश्वर-भाषित धर्म तुम्हारे मन मे दृढीभूत (स्थिर) हुआ है, अत: तुम धन्यवाद के पात्र हो, कृतकृत्य हो और हमारे द्वारा पूज्य हो । हम रोहिणी आदि विद्या देविया है । तुम्हारे पुण्य से प्रेरित होकर तुमको पूर्ण योग्य समझकर तुम्हारा वरण करने हेतु स्वयं चलकर तुम्हारे पास आई है । तुम्हारे अत्यन्त निर्मल गुणो से हम तुम्हारे वशीभूत हुई है और हम सभी अत.-करण पूर्वक तुम्हारी अत्यन्त अनुरागिणी बनी है । हे धैर्यवान ! जिस भाग्यशाली के हृदय मे विश्व को जाज्वल्यमान करने वाला परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र बसा हुआ है उस प्राणी के लिये क्या कोई भी वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ हो सकती है ? पच परमेष्ठि नमस्कार मत्र के प्रभाव से हम तुम्हारे साथ यन्त्रवत् जुडी हुई है और तुम्हारी किकरिया बनकर स्वय तुम्हारे पास आई है । हे पुरुषोत्तम ! हम तुम्हारे शरीर मे प्रवेश करेगी । हमे आज्ञा दीजिए । भविष्य मे आप चक्रवर्ती बनेंगे । विद्याधरो की यह विशाल सेना हमारे आदेश से अब आपके अधीनस्थ हो गई है ।* यह समस्त विशाल सेना अब आपको स्वामी स्वीकार कर अभी आपके द्वार पर खडी है ।' उनके ऐसा कहते ही देदीप्यमान कुडल, बाजूबन्द और मुकुटो की मणियो की प्रभा से दिशाओ को प्रकाशित करते हुए अनेक विद्याधरो ने आकर मुझे नमस्कार किया । [६०–७५]

उसी समय प्रात.काल की नौबत गडगडा उठी और काल-निवेदक ने सूचित किया—सूर्य अपने स्वभाव से ससार मे उदित हुआ है जो मनुष्यो की स्थूल दृष्टि के प्रसार को बढाता है और मानवो को प्रबोध (जाग्रत) करता है । विशुद्ध सद्धर्म

* पृष्ठ ५०१

के समान सूर्य भी सदनुष्ठानो का हेतु बनता है, अर्थात् दिन मे लोगो से प्रशस्त कार्य करवाता है और समग्र सम्पत्तियो को प्राप्त करवाता है। अत हे लोगो ! उठो जागो और सद्धर्म का आदर करो, जिससे तुम्हे अतर्कित और अकल्पित विभूतिया (समृद्धिया) प्राप्त होगी। [७६-७८]

रत्नचूड का राज्याभिषेक

कालनिवेदक के शब्द सुनकर मैंने मन मे सोचा कि, अहा ! भगवद्भाषित सद्धर्म की महिमा कितनी प्रभावशाली है कि जिन विद्याओ का कभी मुझे स्वप्न मे भी ध्यान नही था वे स्वयं ही मुझे सिद्ध हो गई। परन्तु, मुझे हर्षित होकर इसी मे अनुरक्त नही होना चाहिये। वास्तव मे तो यह मेरे लिये विघ्न ही उपस्थित हुआ है, क्योकि अब मैं अपने मित्र विमल के साथ दीक्षा नही ले सकूंगा। कारण यह है कि पुण्यानुबन्धी पुण्य को भी भगवान् ने तो सोने की बेडी ही कहा है। सिद्धपुत्र चन्दन ने तो मुझे पहले ही बता दिया था कि मैं विद्याधरो का चक्रवर्ती बनूंगा और विमल ने मेरे शारीरिक लक्षणो को देखकर इसी बात का समर्थन किया था। तब क्या किया जा सकता है ? जो होना होगा वह तो होगा ही ! मैं ऐसा सोच ही रहा था कि विद्या देवियाँ मेरे शरीर मे प्रविष्ट हो गई और विद्याधरों ने मेरा राज्याभिषेक प्रारम्भ कर दिया। अनेक प्रकार के कौतुक रचे गये, अनेक मंगल किये गये, पवित्र तीर्थो से जल मंगवाया गया, चौदह रत्न प्रकट हुए और सोने तथा रत्नो के कलश तैयार करवाये गये। यो अत्यन्त आनन्द और महोत्सव पूर्वक मेरा राज्याभिषेक किया गया।

बुधाचार्य का गुप्त संदेश

बन्धु विमल ! उसके पश्चात् देव-पूजा, गुरु और बडे लोगों का सन्मान, राजनीति की स्थापना, प्रधानवर्ग और सेवकों का नियोजन, अधीनस्थ राज्यो की यथोचित भेट और प्रणाम स्वीकार तथा अभिनव राज्यो की उचित व्यवस्था आदि कार्यो मे मेरे कितने ही दिन व्यतीत हो गये। इन कार्यो से निवृत्त होते ही मुझे आपका आदेश स्मरण मे आया और मैं सोचने लगा कि, अरे ! आपने मुझे बुधाचार्य का पता लगाकर उन्हे आपके पास लाने को कहा था, किन्तु मैं कितना प्रमादी हूं कि अभी तक मैने न महात्मा का पता ही लगाया और न उन्हे विमल के समीप ही ले जा सका। अतएव फिर महात्मा का पता लगाने मैं स्वयं ही अनेक देश-देशान्तरो मे घूमा। अन्त मे एक नगर मे मुझे आचार्य बुध के दर्शन हुए। मैने उन्हे आपके बन्धुजनो को प्रतिबोधित करने की प्रार्थना की। उन्होने कहा—तुम यहाँ से जाओ और मेरा गुप्त सदेश विमल को दे दो। मै कुछ समय पश्चात् आऊंगा। विमल के सम्बन्धियो को प्रतिबोधित करने का एकमात्र यही उपाय है।

तदनन्तर बुधसूरि ने रत्नचूड को जो गुप्त सदेश दिया था उसे उसने विमल के कान के पास अपना मुह लेजाकर धीरे से सुना दिया।* हे अगृहीतसंकेता! उसने जो सन्देश विमल को सुनाया वह मैं नही सुन सका। गुप्त सदेश सुनाने के बाद सब लोग सुन सके इस प्रकार रत्नचूड ने विमल से कहा—इसी कारण से मुझे यहाँ आने में देरी हुई और मैं बुधसूरि को अपने साथ नही ला सका। उत्तर मे विमल बोला—भाई! आपने बहुत अच्छा किया।

फिर मै, विमल, रत्नचूड, आम्रमञ्जरी और अन्य सभी विद्याधर नगर मे आये। रत्नचूड दो-तीन दिन तक वहाँ आनन्द पूर्वक रहा, फिर वापिस अपने नगर को लौट गया।

११. प्रतिबोध-योजना

विमलकुमार का विरक्ति भाव

कुशल भावों का अत्यधिक अभ्यस्त होने से, कर्मजाल के पूर्णरूप से निर्बल हो जाने से, ज्ञान की अत्यधिक विशुद्धि होने से, इन्द्रिय सुखो को त्याज्य मान लेने से, प्रशान्त भाव को धारण कर लेने से, किसी भी प्रकार का दुश्चरित्र या दुर्व्यवहार विद्यमान न होने से, आत्मवीर्य प्रबल हो जाने से और परमपद प्राप्ति का समय निकट आ जाने से विमलकुमार राज्य-लक्ष्मी मे अनुरक्त नही हो रहा था। ऐसी स्थिति मे वह विमलकुमार शरीर-संस्कार (शरीर की किसी प्रकार की शुश्रूषा या विभूषा) नही करता था। किसी प्रकार के लीला-नाटक आदि की रचना नही करवाता था। ग्राम्यधर्म (लोक प्रचलित साधारण धर्म) की तो उसे रच मात्र भी अभिलाषा नही थी। वह तो केवल इस संसार रूपी जेल से विरक्त रहकर सदा शुभ ध्यान मे लीन रहते हुए अपना समय व्यतीत कर रहा था।

विमल के माता-पिता का चिन्तन

विमल को विरक्त देखकर उसकी माता कमलसुन्दरी और पिता धवल राजा को चिन्ता हुई कि, अरे! यह विमल सुन्दर स्वस्थ, मनोहारी तरुण होने पर भी, कुबेर के वैभव को भी तिरस्कृत करने योग्य वैभवपति होने पर भी वह देवागनाओ

* पृष्ठ ५०२

को भी अपने लावण्य से पराजित करने वाली सुन्दर राजकन्याओं को देख कर भी उन पर आसक्त क्यो नही होता ? वह स्वय रूपातिशय से कामदेव को भी तिरस्कृत करता है, सभी कलाओं मे निष्णात है, शरीर से स्वस्थ है, सभी इन्द्रिया भी पूर्ण एव पुष्ट हैं और उसने अभी तक किसी मुनि का दर्शन भी नही किया है, फिर भी युवावस्था का विकार उस पर क्यों असर नही करता ? वह कभी अर्ध उन्मीलित नेत्र से किसी पर कटाक्ष भी नही फैकता, मुख से मन्द मन्द स्खलित वचन भी नही बोलता, वाद्य एवं गायन कला का भी उपयोग नही करता, सुन्दर वस्त्राभूषण भी धारण नहीं करता, मदान्ध भी नही होता, सरलता का त्याग भी नही करता और विषय सुख का तो नाम भी नही लेता। अरे ! इसका यह संसार-विमुख अलौकिक चरित्र कैसा है ? यदि यह प्रिय पुत्र इस प्रकार विषय सुखों से विमुख होकर साधु की तरह रहेगा तो हमारा यह राज्य निष्फल है, हमारी प्रभुता व्यर्थ है, वैभव निष्प्रयोजन है और हम जीवित भी मृत समान है। अतएव राजा-रानी ने विचार किया कि इस पुत्र को किस प्रकार विषयो मे प्रवृत्त करवाया जाय। एकान्त में दोनो ने गहराई से विचार-विमर्श किया और अन्त मे इस निर्णय पर आये कि उसे विषय-सुख का अनुभव करवाने के लिये पाणिग्रहण का प्रस्ताव स्वयं ही कुमार के समक्ष रखना चाहिये। वे जानते थे कि पुत्र विनयी, उदार हृदयी और सरल स्वाभावी होने से हमारी बात कभी नही टालेगा।

माता-पिता का कथन

ऐसा परामर्श कर धवल राजा और कमलसुन्दरी एक दिन विमलकुमार के पास आये और कुछ प्रसग निकाल कर बोले—प्रिय ! सैंकड़ो मनोरथों के बाद हमे तुम्हारी प्राप्ति हुई है। यद्यपि तुम अब राज्य-धुरा को धारण करने मे सक्षम हो गये हो तथापि तुम अपनी* अवस्था के अनुरूप कार्य क्यों नही करते ? राज्य-भार क्यो नही संभालते ? राजकन्याओ से विवाह क्यो नही करते ? अनेक प्रकार के विषय सुखो का भोग क्यो नही करते ? कुल-सतान की वृद्धि क्यो नही करते ? अपनी इस शान्त और सुखी प्रजा को आनन्दित क्यो नही करते ? अपने स्वजन-सम्बन्धियो को आह्लादित क्यो नही करते ? प्रणयिजनो (प्रेमीजनो) को सतुष्ट क्यो नही करते ? अपने पितृदेवो का तर्पण (तृप्त) क्यो नही करते ? मित्र-वर्ग को सन्मानित क्यों नही करते ? और हमारे इन वचनो को मान्य कर हमे हर्षविभोर क्यो नही करते ?

विमल का उत्तर

अपने माता-पिता की बात सुनकर विमलकुमार ने मन मे विचार किया कि माता-पिता ने बहुत ही सुन्दर बात कही है। इनकी यही बात इनको प्रतिबोधित

* पृष्ठ ५०३

करने का मार्ग प्रशस्त कर सकेगी अर्थात् उन्ही की बात से अब उनको उपदेश दिया जा सके ऐसी व्यवस्था होना सम्भव है। ऐसा सोचकर विमलकुमार ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—पिताश्री ! आप जो आज्ञा प्रदान करे और मातुश्री जो आदेश दे वह सब तो मेरे लिये आचरण करने योग्य है ही, इसमे सकल्प-विकल्प तो किया ही नही जा सकता। मेरा इस विषय मे ऐसा विचार है कि हमारे राज्य मे रहने वाले सभी लोगों के दु.ख दूर कर, उन्हे सुखी बनाकर फिर मै सुख का अनुभव करू तो श्रेष्ठ रहेगा। राज्य की वास्तविक सार्थकता इसी मे है, अन्य किसी प्रकार से नही। राजा का प्रमुख धर्म यही है और इसी मे उसकी प्रभुता है। कहा भी है कि :—

> विधाय लोक निर्बाधं स्थापयित्वा सुखेऽखिलम् ।
> यः स्वय सुखमन्विच्छेत् स राजा प्रभुरुच्यते ।।
> यस्तु लोके सुदु खार्त्ते सुख भु क्ते निराकुलः ।
> प्रभुत्व ही कुतस्तस्य कुक्षिम्भरिरसौ मत ।। [७९-८०]

जो राजा अपनी प्रजा को बाधा-पीडा रहित बनाकर सर्वत्र सुख की स्थापना करने के पश्चात् स्वय भी सुख की कामना करता है तो वही राजा वास्तव मे प्रभु कहा जाता है। किन्तु जिसकी प्रजा तो दु.ख से तडफती रहे और वह स्वय बिना किसी व्याकुलता के निरन्तर सुख भोगता रहे तो फिर उसकी प्रभुता कहाँ रही ? ऐसा राजा या स्वामी तो निरा पेटू और स्वार्थी ही है।

पिताजी ! माताजी ! मुझे तो यही राज्य-धर्म लगता है। अब वह समय आ गया है। अभी ग्रीष्म ऋतु से सारी पृथ्वी तप रही है, अत मैं तो इसी मनोनन्दन उद्यान मे रहूगा। मेरे बन्धु और मित्र वर्ग भी यही मेरे पास ही रहेगे। आप दोनो की आज्ञा का पालन करते हुए और ग्रीष्म ऋतु मे करने योग्य सभी लीलाओ को करते हुए मै वहाँ रहूंगा। आप राजपुरुषो को ऐसी आज्ञा दीजिये कि जो कोई दुःखी और दुर्भागी प्राणी हो उन्हे ढू ढ कर वे वहाँ मेरे पास लावे और वे सब भी मेरे साथ सुख का अनुभव कर सके ऐसी व्यवस्था करे। (इस प्रकार की योजना को कार्यान्वित करने से राज्य-धर्म भी निभेगा और आपकी आज्ञा का पालन भी होगा।)

विमलकुमार का उत्तर सुनकर उसके माता-पिता बहुत प्रसन्न हुए और बोले—पुत्र ! बडो का मान रखने वाले हमारे लाडले ! तुमने बहुत ही सुन्दर कहा। तेरे जैसे विवेकी पुरुष को तो यही कहना चाहिये और ऐसा ही करना चाहिये।

विमल का हिमगृह में निवास

धवल महाराजा की आज्ञा से मनोनन्दन उद्यान मे एक विशाल हिमगृह (ताप नियन्त्रित गृह) बनवाया गया। यह हिमगृह निरन्तर कमल के पत्तो मे आच्छादित रहे इस प्रकार इसकी रचना की गई। नीलरत्न जैसे हरे केले के वृक्ष

चारो तरफ बांध दिये गये। एक कृत्रिम नदी भवन के मध्य मे वनाई गई जिसमें कपूर आदि सुगन्धी पदार्थो से गमकता पानी निरन्तर बहता ही रहे। चन्दन और कपूर के पानी से चारों तरफ मिट्टी गीली की गई और दीवारो पर चारो तरफ सुगन्धी वेले, कमलनाल के तन्तु और नालो से भिन्न-भिन्न विभाग वना कर हिमभवन तैयार करवाया गया। ग्रीष्म ऋतु के ताप को दूर करने और शीत ऋतु का सुखदायी वातावरण उत्पन्न करने वाले इस हिमभवन मे शिशिर ऋतु के नव पल्लव के समान सुन्दर रग-विरगे पलग और ठडे तथा* सुखकारी सुकोमल आसनों की व्यवस्था की गई। हिमभवन के तैयार हो जाने पर विमल अपने वन्धुओ, मित्रो एव लोक समुदाय के साथ उसमे प्रविष्ट हुआ। विमल और उसके साथ आये जन-समुदाय पर चन्दन का लेप किया गया, कर्पूर की पराग से ढक दिया गया, सुगन्धी लोध्र फूलो की मालाओ से मण्डित कर दिया गया, मोगरा पुष्पो से अलकृत किया गया और सारे शरीर पर वड़े-वड़े मोतियो की मालाये अथवा मोती के फूलो की मालाये पहनाई गई। सवको पतले और कोमल (मुलायम) वस्त्र पहनाये गये, मानो सुगन्धित शीतल झिरमिर वर्षा हो रही हो ऐसे शीतल सुगन्धी पखो से सव को पवन किया गया। सव को रसमय और सात्विक आहार करवाया गया, सुगन्धित पान खिलाये गये और मनोहारी मधुर एवं अस्पष्ट गीतो से सब को प्रमुदित किया गया। अगुली आदि के इशारो से प्रवर्तित सुन्दर विविध प्रकार के नृत्यो से आनन्दित किया गया। सुन्दर चेष्टाये करती हुई मनोहारिणी विलासिनी स्त्रियो के कमलपत्र जैसे चपल नेत्रो की पंक्तियो के अवलोकन से कुमार सहित समस्त लोगो के हृदयो को अत्यन्त उल्लसित करते हुए ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया गया कि मानो कुमार सहित सभी लोग स्पष्टत. रतिसागर मे डूव गये हो। अपने माता-पिता को अत्यधिक प्रमुदित करने के लिये कुमार ने ऐसी योजना वनाई कि सभी लोगो को अपनी आत्मा से भी अधिक वाह्य सुख प्राप्त हो और उसके माता-पिता को भी अतीव* प्रसन्नता हो। पूर्वोक्त राजाज्ञा के अनुसार इस कार्य के लिये नियुक्त राजकीय पुरुषो द्वारा सभी दु.खी प्राणियो को इस हिमभवन मे लाया जाता, उनके सव दु ख दूर किये जाते और उन्हे सुखी/आनन्दित वनाने के लिये सव प्रकार की अनुकूलता का प्रवन्ध किया जाता। युवराज विमल अपने पिता धवल राजा को यों सर्व प्रकार से संतुष्ट कर रहा था। पुत्र को इस प्रकार सुखसागर मे डुवकी लगाते देखकर राजा ने नगर मे आनन्दोत्सव मनाया और सम्पूर्ण प्रजा को हर्ष हो ऐसे आनन्द के साधनो की रचना करवाकर नया त्यौहार पैदा कर दिया। [८१]

दीन-दु.खी की खोज

धवल राजा और महादेवी कमलसुन्दरी संतुष्ट हुए और समस्त प्रजाजन एव मंत्रीमण्डल भी प्रमुदित हुए, क्योकि उनकी धारणा के विपरीत उन्हे युवराज

* पृष्ठ ५०४

विमल सुखसागर मे डुबकी लगाता हुआ दिखाई दिया। एक दिन दीन-दु खियों को ढूंढ कर लाने गये हुए कई राजपुरुष हिमभवन मे प्रविष्ट हुए और राजा के सामने पर्दा लगाकर उन्होने पर्दे के पीछे एक पुरुष को विठाया। फिर सामने आकर महाराजा को प्रणाम करते हुए बोले—'महाराज! आपकी आज्ञा से हम दीन दु:खियों को ढूंढते हुए घूम रहे थे कि हमें एक अत्यन्त दु:खी पुरुष दिखाई दिया, जिसे हम आपके पास यहाँ ले आये है। यह पुरुष अत्यन्त घृणा उत्पन्न करने वाला होने से आपके दर्शन के योग्य नही है इसलिये हमने इसे पर्दे के पीछे रखा है। अब इसके विषय में आपका जैसा निर्देश हो वैसा करे।' यह सुनकर धवल राजा ने पूछा—'भद्रो! तुमने उसे कहाँ देखा और वह किस प्रकार एवं किस कारण से अत्यन्त दु:खी है? घटना और कारण बताओ।'

महाराजा के प्रश्न को सुनकर राजपुरुषो मे से एक ने हाथ जोड़ कर कहा—देव! आपकी आज्ञानुसार दु:ख और दरिद्रता से उत्पीड़ित लोगो को ढूंढकर लाने के लिये हम गये हुए थे। अपने नगर में तो हमने सब को सुखी और आनन्दमग्न देखा, अत: हम जगल मे गये। वहाँ दूर से हमने इस पुरुष को देखा। उस समय मध्याह्न का समय था, पृथ्वीतल अग्नि की भाति तप रहा था। तप्त लोहपिण्ड के समान सूर्य आग का गोला बनकर जगत को तापित कर रहा था। ऐसे समय मे अग्नि के समान जलती रेत में इस पुरुष को हमने बिना जूतो के उघाडे पैर चलते देखा। [८२–८३]*

हमने सोचा कि यह व्यक्ति अत्यन्त दु:खी होना चाहिये, अन्यथा ऐसे समय मे नगे पैर क्यों चलता? हमने दूर से ही आवाज देकर उसे बुलाया—'अरे भाई! ठहरो! ठहरो!' हमारी आवाज के उत्तर मे वह बोला—'भाइयो! मै तो खडा ही हूँ, तुम्ही सब ठहरो।' ऐसा कह कर वह चलने लगा। मैं शीघ्रता से दौडकर उसके पास गया और बडी कठिनाई से बलपूर्वक उसे पकड़ कर एक वृक्ष के नीचे लाया। अनन्तर समस्त राजभृत्य इसका वर्णन करते हुए कहने लगे—इसके शरीर का रग भयकर दावाग्नि से जले हुए वृक्ष के ठूँठ जैसा काला था, भूख से उसका पेट अन्दर जा रहा था, होठ प्यास से सूख गये थे, यात्रा की थकान उसके शरीर पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी, इसके शरीर पर अत्यधिक पसीना हो रहा था मानो भयंकर अन्तस्ताप से जल रहा हो, शरीर से कोढ गल रहा था, शरीर पर बने कृमियो के जालो से वह अत्यन्त व्याधिग्रस्त लगता था, मुख की भावभंगी से हृदयशूल की वेदना से ग्रसित लगता था, अग-प्रत्यंग हिल रहे थे और शरीर पर वृद्धावस्था के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, गहरी और गर्म स्वास छोड रहा था मानो महाज्वर से ग्रसित हो, आँखो में चेप और मैल जम रहा था और आँखों से सतत पानी बह रहा था, नाक चिपक गया था, हाथ-पैर लगभग सड गये थे, सिर गजा हो रहा था मानो अभी लोच किया हो, शरीर पर अत्यन्त मैले वस्त्र का टुकडा और एक कम्बल था, हाथ मे

* पृष्ठ ५०५

डंडे से बंधी दो तुम्बिये थी और ऊन से बनी एक पीछी लटक रही थी। हे स्वामिन् ! जब हमने इसे देखा और इसका अत्यन्त वीभत्स रूप हमे दिखाई दिया तब हमे लगा कि यह समस्त दुःखों का भण्डार, दरिद्रता की अंतिम स्थिति में फसा हुआ और वास्तव मे दया का पात्र है। हे नाथ ! इसके वीभत्स रूप को देखकर हमे लगा कि यह इसी ससार मे नारकीय जीव है, जो यही नरक की पीड़ा भोग रहा है। [८४-८५] ऐसे प्रत्यक्ष नारकीय प्राणी को देखकर हमने उससे कहा—'हे भद्र ! इस भरी दोपहरी में तू क्यो भटक रहा है ? हे भाई ! ठंडी छाया में थोड़ा बैठता क्यो नही ?' तब इसने उत्तर दिया—'भाइयों ! मै स्वतंत्र नहीं हूँ। मेरे गुरु की आज्ञा से भटक रहा हूँ। मुझे उनकी आज्ञा का अनुसरण करना ही पड़ता है।' हम सोचने लगे कि, अरे ! यह तो बेचारा पराधीन है। अहो ! इसके महान दुःख के कारणो पर विचार करने से मन कुंठित हो जाता है। एक तो यह ऐसी अत्यंत खेद-जनक स्थिति में है और फिर पराधीन भी है। पुनः हमने इससे पूछा—'भाई ! यदि तू तेरे गुरु की आज्ञा इसी प्रकार सर्वदा मानता रहेगा तो उससे तुझे क्या लाभ होगा ?' हमारे प्रश्न के उत्तर मे इसने कहा—'भाइयो ! मेरे साथ आठ बड़े-बडे यम जैसे भयंकर ऋणदाता लगे हुए हैं। वे दया-रहित हैं और मुझे बहुत दु.ख देते हैं। मेरे गुरु उनको ग्रन्थीदान देकर (ऋण को चुका कर) मुझे उनके त्रास से मुक्त करेंगे।' इस दु.खियारे का ऐसा विचित्र उत्तर सुनकर हम विचार मे पड गये। 'अहो! यह तो बहुत दुःख की बात है। यह तो बहुत पीड़ित लगता है। इसके दुःख का कारण बहुत ही कष्टदायी है। ऐसी अत्यन्त अधम स्थिति मे भी दान लेकर अपना ऋण चुकाने की इसे दुराशा है। हद हो गई। इससे अधिक दु.खी मनुष्य इस संसार में और कहाँ मिलेगा ?' ऐसा सोचकर हमने इस दरिद्री से कहा—'भद्र ! तू हमारे साथ हमारे राजा के पास चल। वहाँ ले जाकर हम तुम्हारे सब दु.ख दूर करवायेंगे। तेरी सब दरिद्रता मिटायेंगे और कर्ज भी चुकवा देंगे।' हमारी बात का इसने विचित्र उत्तर दिया। वह बोला—'भाइयो! आपको मेरी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम या तुम्हारे राजा मुझे (कर्ज से) नही छुड़ा सकते'* ऐसा कहकर यह तो फिर से चलता बना। इसके इस विचित्र व्यवहार को देखकर हमने सोचा कि शायद यह दुरात्मा अत्यन्त दु ख से पागल हो गया है, पर हमे तो अपने राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिये। यही सोचकर हम इसे पकड़ कर आपके सामने लाये है।

राजसेवको से सारा वृत्तान्त सुनकर धवल राजा ने कहा—'अहा ! यह तो बड़ी अद्भुत घटना है। मुझे भी इसमें कुतूहल लग रहा है। मुझे देखने दो, बीच से पर्दा हटा दो।' राजपुरुषो ने पर्दा हटा दिया। धवल राजा को ठीक वैसा ही पुरुष दिखाई दिया जैसा कि राजपुरुषों ने वर्णन किया था। ऐसे विचित्र वीभत्स पुरुष को देखकर राजा और उसके पारिवारिक लोग अत्यधिक विस्मित हुए। □

* पृष्ठ ५०६

१२. उग्र दिव्य-दर्शन

[अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। विचित्र प्रश्न करने वाला और अत्यन्त दु खी तथा बीभत्स दिखाई देने वाला प्राणी धवल राजा के समक्ष खडा था। उसके आँखो की चमक और व्यवहार का वेग विचित्र होता जा रहा था। उसके सम्बन्ध मे राजपुरुषो द्वारा किया गया वर्णन सब को आश्चर्य मे डुबो रहा था।]

विमल का विशिष्ट-चिन्तन

विमलकुमार सोच रहा था कि, अहो! आचार्य बुध भगवान् ही आ पहुँचे लगते है। अहो! आचार्य इतने शक्तिसम्पन्न है कि वे चाहे जैसा रूप बना सकते है। उनकी शक्ति को धन्य है। अहा! उनकी मुझ पर कितनी कृपा है। अहो! अन्य पर उपकार करने की उनकी सात्विक वृत्ति को धन्य है। अहो! अपनी सुख-सुविधा की वे तनिक भी अपेक्षा नही रखते। अहो! किसी कारण या अपेक्षा के उनकी सज्जनता को धन्य है। कहा भी है :—

सत्पुरुष स्वभाव से ही अपने कार्य की उपेक्षा/अवगणना करके भी दूसरो के कार्य-साधन मे सर्वदा उद्यमशील रहते है। दूसरों का हितसाधन करना उनका प्राकृतिक गुण है, इसमे सदेह नही। अथवा सत्पुरुष दूसरो के हित-साधन को स्वय का ही कार्य समझकर प्रवृत्ति करते है। सूर्य प्रभात से सध्या तक लोक को उद्योतित करता है, पर क्या वह किसी से कुछ फल की आशा करता है? नही। वह अपनी प्रवृत्ति मात्र परोपकार के लिए ही करता है और परोपकार को ही स्वकार्य समझता है। अपना कार्य होने पर भी सत्पुरुष उसकी ओर विशेष लक्ष्य नही रखते। चन्द्र मे कलक है जिसे मिटाना उसका कार्य है, फिर भी वह उस ओर ध्यान न देकर मात्र जगत मे शीतल चादनी फैलाने का ही कार्य करता है। धीर एव बुद्धिशाली पुरुष बिना प्रार्थना के ही परहित का कार्य करते है। वर्षा भली प्रकार बरस कर सृष्टि को नवपल्लवित करती है और गर्मी को शात करती है, पर मेघ से प्रार्थना करने कौन जाता है? साधु पुरुष स्वप्न मे भी अपने शरीर के सुख की इच्छा नही करते, दूसरो के सुख के लिये अनेक प्रकार के क्लेश सहन करना, ताप सहन करना, दु ख भोगना ही उनका वास्तविक सुख होता है। जिस प्रकार आग का स्वभाव अपनी गर्मी से अनाज आदि पकाना और जल का स्वभाव प्राणियो को जीवन देना है उसी प्रकार सत्पुरुषो का लोक मे परहित करने का स्वभाव ही होता है। ऐसे सत्-पुरुष जो अन्य के हित और परोपकार मे रत रहते है और जो परहितार्थ अपने सुख, धन और जीवन को भी तृण-तुल्य समझते है वे स्वय ही अमृत नही तो क्या है? महात्मा अपने धन और जीवन का उपयोग भी परहित मे करने के लिए सर्वदा कृत-निश्चय होते है। ऐसे महात्मा पुरुषो के स्वकीय प्रयोजन निश्चित रूप से स्वत ही सिद्ध हो जाते है। [८६–९३]

मुझे तो निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि स्वय वुध आचार्य ही वैक्रिय रूप धारण कर मेरे बन्धुवर्ग को बोध देने के लिए यहाँ आये है। [६४] अरे हाँ, आचार्यदेव ने रत्नचूड द्वारा मुझे कहलाया था कि मैं दीन-दु.खियो की शोध-खोज करूं और वे अन्य रूप धारण कर यहाँ आयेगे। उन्होंने यह भी कहलाया था कि यदि मै उन्हे पहचान लू तो भी मैं उन्हे वन्दना नही करूं और जब तक स्व-प्रयोजन की सिद्धि (अपने बन्धुओ को प्रतिबोधित करने का कार्य सिद्ध) नही हो तब तक मैं उनकी किसी से पहचान भी नही करवाऊं।

आचार्य को अंतरंग प्रणाम

आचार्य बुध के गुप्त सदेश को स्मरण कर तथा उनकी परोपकारवृत्ति की प्रशसा कर विमल ने उन्हे मानसिक नमस्कार किया :—

हे वस्तु सद्भाव के ज्ञाता ! भव्य प्राणियो के वत्सल ! * मूढ प्राणियो को प्रतिबोध देने मे कुशल ! हे आचार्य भगवन् ! आपको नमस्कार हो। अज्ञान रूपी अपार जल से भरे ससार-सागर को पार करवाने मे निपुण हे महाभाग महात्मन् ! आपका स्वागत है। आप भले पधारे, आपने यहाँ पधार कर वहुत ही प्रशस्त कार्य किया। [६५–६६]

आचार्य भगवान् ने भी विमल के मानसिक नमस्कार का मानसिक उत्तर इस प्रकार दिया :—

हे भद्र ! हे अनघ ! (पापरहित) तेरी कार्य-सिद्धि के लिए ससार-सागर से पार उतारने वाला और सर्व प्रकार के कल्याण को प्रदान करने वाला तुझे धर्मलाभ हो। [६७]

दीन-दु:खी के आक्रोशमय उद्गार

जब राजपुरुष इस दीन-दु खी पुरुष को हिमभवन मे लेकर आये थे तव उस समय वह खेद सहन करने मे असमर्थ हो हाय-हाय करता हुआ जमीन पर बैठ गया और जमीन पर बैठा-बैठा ही ऊघने लगा। उसे ऐसी विचित्र स्थिति मे देखकर वहाँ उपस्थित पुरुषो मे से कई हँस रहे थे, कई शोकातुर थे, कई निन्दा कर रहे थे और कई तिरस्कार कर रहे थे। कई लोग आपस मे चुपचाप बाते कर रहे थे—'अरे ! यह तो वहुत दु.खी है, गरीब है, रोगग्रस्त है, परिश्रान्त है, व्यथित है, भूख से पीडित है। अरे ! यह नराधम तो एक नाटक जैसा ही है। अरे ! इसे कहाँ से उठा लाये ? कौन ले आया ? देखो न, अत्यधिक दु खी होने पर भी बेचारा कुछ नही समझता और बैठा-बैठा ही ऊघ रहा है।' [६८–६९]

उपरोक्त परिस्थिति को देखकर परिवर्तित रूप मे विद्यमान बुध आचार्य ने अपनी आँखो को दीपक के समान तेजस्वी बना लिया और अतिशय कुपित होकर

* पृष्ठ ५०७

सभाजनों पर तीक्ष्ण दृष्टि फेंकते हुए गभीर स्वर मे कहने लगे—अरे ! पापी अधम पुरुषो ! क्या मैं तुमसे भी कुरूप हूँ कि तुम मूर्खों की तरह मुझ पर हँस रहे हो ? क्या तुम मुझे अपने से अधिक दु.खी समझकर हँस रहे हो ? अरे मूर्खो ! शरीर के काले तुम्ही हो, भूख से पाताल मे पेट धसे हुए तुम्ही हो, प्यास से सूखे होंठ वाले भी तुम्ही हो। मार्ग-श्रम से थके हुए भी तुम्ही हो, ताप से पीडित भी तुम्ही हो और कोढी भी तुम्ही हो, मैं नही। अरे नराधमों ! शूल पीडा से तुम्ही पीड़ित हो, वृद्धावस्था से जीर्ण भी तुम्ही हो, महाज्वर से ग्रसित भी तुम्ही हो, उन्मादग्रस्त और अंधे भी तुम्ही हो, मैं नहीं। अरे मूर्ख मनुष्यों ! पराधीन ऋणग्रस्त और बैठे-बैठे ऊंघने वाले भी तुम्ही हो, मै नही। दरिद्र, मलिन और दुर्भागी भी तुम्ही हो, मैं नही। अरे ना-समझ बच्चों ! अरे पापियों ! काल की आँख तुम पर ही लगी है, तभी तो मुझे दुर्बल मुनि मानकर तुम लोग मुझ पर हँस रहे हो [१००–१०५]

दीन का उग्र दर्शन

इस दीन-दु.खी पुरुष की जाज्वल्यमान सूर्य जैसी तेजस्वी आँखो से निकलते दैदीप्यमान प्रकाश से चारों दिशाएं प्रकाशित हो रही थी। उसकी विद्युत् जैसी लप-लपाती जिव्हा और चमकती हुई दंतपंक्ति को देखकर तथा सारे ससार को थर-थर कंपित करने वाली सिहनाद जैसी वाणी को सुनकर, जैसे हरिणो का झुड भय से थर-थर कापने लगता है वैसे ही सभी सभाजन भय से काप उठे। [१०६–१०८]

धवल राजा का चिन्तन और प्रार्थना

विचक्षण धवल राजा ने अपनी कल्पना को दौड़ाया और कुछ सोचकर विमल से बोले—कुमार ! यह कोई साधारण पुरुष नही लगता है।* इसकी आँखे पहले मैल और चेप से भरी थी और अब सूर्य से अधिक चमक रही हैं। हे वत्स ! इसका मुंह तेज से दैदीप्यमान हो रहा है। वत्स ! रणभूमि मे करोड़ो शत्रुओ को छिन्न-भिन्न कर देने वाली इसकी सिहनाद-सम वाणी सुनकर मेरा दिल अब भी कांप रहा है। अत: मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यह कोई साधारण पुरुष न होकर प्रच्छन्न रूप में साधु का वेष धारण कर कोई देव यहाँ आया है। अतएव हे वत्स ! ये मुनिपुंगव क्रोधान्ध होकर हम सब को अपने तेज से जला कर भस्म न कर दे, उसके पहिले ही हमें इन्हे शान्त करना चाहिये, प्रसन्न करना चाहिये और इनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये। [१०९–११३]

विमल—आपश्री का निर्णय मुझे भी युक्तियुक्त लग रहा है, इसमे सदेह नही। ये साधारण पुरुष न होकर अवश्य ही कोई विशिष्टतम महात्मा प्रतीत होते हैं। पिताजी ! ये हमारा कुछ भी विगाड़ करे उसके पहले ही हमे इन्हे प्रसन्न कर

---

* पृष्ठ ५०८

लेना चाहिये। महात्मा लोग भक्ति से ही प्रसन्न होते है, अत हमे इनके पावों मे पडना चाहिये। [११४-११५]

विमल की बात सुनकर दैदीप्यमान चपल मुकुटधारी धवल राजा अपने दोनो हाथ जोडकर मुनि महाराज की ओर दौडे और उनके चरणो मे गिर पडे। महाराजा द्वारा मुनि के चरण-कमल छूकर वन्दना करते ही वहाँ उपस्थित जन-समूह ने भी मुनि के चरण छूकर नमस्कार किया। पावो मे पडे-पड़े ही महाराजा बोले—हे मुनिराज ! हम निर्बुद्धि अज्ञानी मनुष्यो ने आपका जो अपराध किया हो उसे क्षमा कीजिए और हम पर प्रसन्न होकर आपका दिव्य-दर्शन कराने की कृपा कीजिये। [११६-११८]

दिव्य-दर्शन

राजा और सभी लोग उनको प्रणाम कर जैसे ही खडे होकर सामने देखते है तो उनके आश्चर्य का पारावार नही रहता। दीन-दु खी, कुरूप, भिखारी के स्थान पर उन्होने देखा कि मुनीन्द्र एक अत्यन्त सुन्दर दिव्य स्वर्ण-कमल पर विराजमान है। उनके शरीर का लावण्य देवो के लावण्य को भी तिरस्कृत करने वाला और नेत्रो को तृप्त करने वाला है। उनका तेज इतना अधिक विस्तृत और दीप्तिमान था कि मानो वे साक्षात् सूर्य ही हों। वे समस्त लक्षणो से विभूषित और समस्त अगोपागो से स्पष्टतः अतिशय सुन्दर दिखाई देते थे। मुनीश्वर को अतिशय कान्तिमान सुन्दर स्वरूप मे देखकर राजा और वहाँ उपस्थित समग्र जन समूह के नेत्र आश्चर्य से प्रफुल्लित हो गये। [११९-१२२] □

१३. बुधसूरि : स्वरूप-दर्शन

दीन-दु खी दिखाई देने वाले भिखारी ने जब अपना अत्यन्त आकर्षक रूप धारण किया और एक शांत मुनीश्वर के रूप मे स्वर्ण-कमल पर बैठकर उपदेश देना प्रारम्भ किया तब वहाँ उपस्थित लोग स्वभाव से ही अन्दर ही अन्दर बातें करने लगे—अरे ! यह पहले तो कैसे कुरूप थे और अब ऐसे सौन्दर्यपुञ्ज कैसे हो गये ? लगता है वास्तव मे ये कोई महा भाग्यशाली देवता ही होंगे। [१२३]

धवल राजा का प्रश्न

जब लोग मन ही मन उपरोक्त बाते कर रहे थे तब भूपति धवल ने अपने दोनो हाथ जोडकर ललाट पर लगाते हुए पूछा—भगवन् ! आप कौन है ? क्या हमे बताने की कृपा करेंगे ? [१२४]

मुनि—भूप ! मैं न तो कोई देवता हूँ और न ही कोई राक्षस ! मैं तो एक साधारण यति (साधु)-हूँ और मेरे वेश से ही आप सब यथावस्थित रूप भली प्रकार समझ सकते है । [१२५]

धवल राजा—भगवन् ! आपने पहले जो अत्यन्त बीभत्स, घृणोत्पादक, करुणाजनक विकृत रूप धारण किया था, उसका क्या कारण था ? आपके पहले शरीर मे जो काला रंग आदि स्पष्ट दोष दिखाई दे रहे थे,* वे सब दोष आप मे न होकर हम लोगो मे है, ऐसा आपने जो कहा वह किस कारण से कहा ? फिर क्षण भर मे आपने ऐसा असाधारण सुन्दर रूप कैसे धारण कर लिया ? भगवन् ! मुझ जैसे मूढ को तो इन आश्चर्यजनक बातों को देखकर मन मे अत्यधिक कुतूहल हो रहा है, अतः हे प्रभो ! आप इस सम्बन्ध मे स्पष्टत. समझाकर मेरी जिज्ञासा को शात करने की कृपा करे । [१२६–१२९]

बुधाचार्य का उत्तर

बुधाचार्य—भूपेन्द्र धवल और सभाजनो ! आप मध्यस्थ मानस बनाकर शान्ति से बैठे और मेरे द्वारा कथ्यमान प्रसंग को ध्यानपूर्वक सुने । हे राजन् ! मैने पहिले जो रूप धारण किया था, वह ससार मे रहे हुए जीवों को उद्देश्य (लक्ष्य) मे रखकर ही धारण किया था । वास्तव मे सभी ससारी जीव मेरे पहले के रूप जैसे ही है, किन्तु वे मूढ चित्त वाले होने से इसे समझ नही पाते । अत. सब प्राणियो पर दृष्टान्तभूत (घटित होने वाला) और उन्हे लज्जित करने वाला अत्यन्त बीभत्स रूप मैने उन प्राणियो को प्रतिबोधित करने के लिए ही धारण किया था । हे राजन् ! मैंने वह रूप मुनि वेष मे धारण किया उसका विशेष कारण था और 'काला रग आदि शरीर के समस्त दोष तुम मे ही है मुझ में नही' यह भी मैंने सकारण ही कहा था । हे भूप ! इस विषय पर अब मै विस्तार से कथन करता हूँ, आप सभी सभाजन बुद्धि-चातुर्य को धारण कर ध्यानपूर्वक सुने और समझने का प्रयत्न करे । [१३०–१३५]

स्पष्टीकरण—१. काला रंग

सर्वज्ञ दर्शन में जो बुद्धिशाली मुनि महात्मा होते है वे तप और सयम के योग से अपने समस्त पापो और दोषों को क्षालित कर देते है, अत बाहर से चाहे वे काले-कीट दिखाई देते हो, घृणोत्पादक बीभत्स हो, कोढी हो, भूख-प्यास से पीडित हो, तथापि वस्तुत. (परमार्थ से) वे सुन्दर है । हे राजन् ! पाप मे आसक्त, विषयो मे गृद्ध और सद्धर्म से बहिष्कृत (विशुद्ध धर्म से दूर) गृहस्थ बाह्य दृष्टि से निरोग, सुखी और आनन्दित दिखाई देने पर भी तत्त्वत· वे रोगी, दु·खी और पीडित है । पुन , काला रग आदि दोष जैसे गृहस्थो मे होते है वैसे साधुओ मे नही

* पृष्ठ ५०९

होते । उनमें ये दोष क्यो नही होते, इसका कारण अब मैं समझाता हूँ । जो व्यक्ति बाहर से सुवर्ण जैसे पीले रग का हो किन्तु भीतर से पाप रूपी अंधकार से लिप्त हो तो परमार्थ से वह काला ही है, ऐसा पण्डितजनो का अभिमत है । हे नरेन्द्र ! बाहर से कोयले जैसा काला व्यक्ति भी यदि अन्त:करण से स्फटिक रत्न जैसा निर्मल हो तो वह कनकवर्णी ही है, ऐसा विचक्षण लोग मानते है । अतएव काले रंग वाले साधु का भी मन यदि वास्तव मे शुद्ध है तो, हे नरपति ! परमार्थत: उसे स्वर्ण के समान कनकवर्णी ही मानना चाहिये । हे नराधिप ! गृहस्थ संसार मे रहकर अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ युक्त पाप-परायण होता है, अत. उसका शरीर स्वर्ण जैसा गौरवर्णी दिखने पर भी परमार्थ से उसे कृष्णवर्णी ही समझना चाहिये । इसी वास्तविकता के कारण मैंने उस समय तुम्हे और सभाजनो को कहा था कि काला मैं नही तुम सब लोग हो ।* [१३६–१४५]

२ भूख –

हे नरेश्वर ! मैंने तुम सब को भी भूखा बताया उसका भी स्पष्टीकरण सुनो । पहले भूख शब्द की व्याख्या समझो । चाहे जितने विषयो के प्राप्त होने पर भी तृप्ति न हो, सन्तोष प्राप्त न हो, उसे ही विद्वान् परमार्थ-दृष्टि से भूख मानते हैं । अर्थात् खाने की इच्छा को भूख तो मात्र व्यवहार मे कहा जाता है, वास्तविक भूख तो मानसिक असन्तोष पर आधारित है । सद्धर्म से रहित ससार के सभी मूढ प्राणी प्राय: संसार में इतने अधिक आसक्त होते हैं कि उन बेचारो की यह भूख कभी मिटती ही नही, अर्थात् सदा बुभुक्षित ही रहते है । ऐसे प्राणी खा-पीकर, विषय भोगकर तृप्त दिखाई देने पर भी तत्त्व से वे क्षुधातुर ही हैं, ऐसा समझे । दूसरी ओर निरन्तर सन्तोष से पुष्ट होने वाले साधुओ का यदि आप गहराई से अवलोकन करें तो, हे राजन् ! आपको दिखाई देगा कि यह भयंकर भाव-भूख उन पर कोई असर नही कर पाती; क्योंकि उनके मन में कभी असन्तोष होता ही नही । चाहे उनके पेट खाली हों, भूख से उत्पीड़ित दिखाई देते हों तथापि स्वस्थ मन वाले होने से उन्हे तृप्त ही समझना चाहिये । हे पृथ्वीपति ! इसीलिये मैंने तुम सब को क्षुधा मे पीड़ित कहा था और स्वयं को तृप्त बताया था । [इस से तुम्हे समझना चाहिये कि मेरे जैसे योग्य आचरण वाले सभी साधु तृप्त है और तुम्हारे जैसे संसार में रहने वाले धन-धान्य, विषय, कषाय और परिग्रह मे आसक्त गृहस्थ अतृप्त हैं ।] [१४६–१५१]

३. प्यास

हे नरपति ! अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की अभिलाषा भाव-कंठ का शोषण करने वाली होने से उसे ही प्यास कहा जाता है । जैन धर्म-रहित प्राणी चाहे जितना पानी पीकर भी निरन्तर इस भाव-तृष्णा से पीड़ित रहते है, क्योंकि

* पृष्ठ ५१०

उन्हे नये-नये विषय-भोग प्राप्त करने की अभिलाषा निरन्तर बनी रहती है, जिससे उनका भाव कण्ठ सूखता ही रहता है। दूसरी ओर यदि आप मुनियो के विषय मे अवलोकन करेगे तो आपको प्रतीति होगी कि ये महात्मा भविष्य मे प्राप्त करने योग्य किसी भी प्रकार के भोगो के विषय में बिल्कुल इच्छा-रहित होते है, नि.स्पृह होते है, इससे उन्हें सामान्य जल प्राप्त हो चाहे न हो किन्तु वे वास्तविक प्यास से तो दूर ही रहते है। भोग भोगने की अभिलाषा प्राणी को कैसा आकुल-व्याकुल बना देती है, इस पर तनिक गम्भीरता से विचार करे। हे राजन्! इसीलिये मैने कहा था कि तुम सब तृषा-पीड़ित हो, मै नही। [१५२-१५५]

४ मार्ग-श्रम

इस ससार का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ और इसका अन्त कहाँ और कब हो जायगा, इसे कोई नही जानता। यह ससार-मार्ग सैंकडो दोष रूपी चोरो से व्याप्त है, पूरा मार्ग विषम है, विषय रूपी मस्त हाथी या विषैले सर्पो से भरा हुआ है और दु:ख रूपी धूल से परिपूर्ण है। हे नरेन्द्र! ऐसे आदि-अन्त-रहित, चोर-सर्प से व्याप्त विषम मार्ग को विद्वानो ने अपने भाव-चक्षुओ से देखा है और इस सम्पूर्ण मार्ग को शरीरधारियों के लिये अति भयकर दु:ख और खेद का कारण बताया है। ससारी प्राणी इस ससार-मार्ग पर कर्म रूपी सम्बल (गठरी) का भार सिर पर लाद कर (घाणी के बैल की तरह) निरन्तर घूमते रहते है, पर लेशमात्र भी आगे नही बढ पाते। फलत: विशुद्ध जैन-धर्म-रहित मूढ प्राणी ससार-महामार्ग से थककर खेद प्राप्त करते हुए निरन्तर क्षुभित और दु:खी दिखाई देते है। उनके व्यवहार मे उनका मार्ग-श्रम स्पष्ट झलकता है। वे चाहे शीत-ताप-नियन्त्रित सुन्दर घर, बगले या राज्यमहल मे रहते हो तथापि तत्त्वत उन्हे निरन्तर मार्गश्रम से थकित ही मानना चाहिये। हे भूपति! दूसरी ओर मुनि विवेकपर्वत शिखर पर स्थित सतताह्लादकारी जैनपुर मे निवास कर लीला लहर करते है। जैनपुर के हिम-शीतल चित्तसमाधान मण्डप मे रहकर वे अपने आपको इतना निवृत्त कर लेते है कि मार्गश्रम अथवा त्रास का कोई भी कारण उनके पास नही रहता, अर्थात् विगतश्रम हो जाते है। बाहर से देखने पर आपको मुनिगण मार्गश्रम से परिश्रान्त लग सकते है, किन्तु परमार्थ से उन्हे अश्रान्त समझना चाहिये।* इसीलिये हे राजेन्द्र! मैने पहले तुम्हे थका हुआ और स्वय को खेदनिर्मुक्त कहा था। [१५६-१६४]

५. ताप

हे भूप! क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चतुर्विध दारुण और गहन कषायो के ताप से संसारी प्राणियो के सर्वांग सतत जलते रहते है। यद्यपि बाह्य शरीर पर वे सदा चन्दनादि शीतल पदार्थो का विलेपन किये रहते है, फिर भी

* पृष्ठ ५११

कषायो के ताप से वे सर्वदा तप्त ही रहते है। हे नृप ! जबकि दूसरी ओर साधुगण सतत शांत मन वाले, निष्कषाय और पापरहित होने से निस्ताप रहते है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से वे ताप-पीड़ित दिखाई देते है, तथापि परमार्थ से उन्हे ताप से दूर ही समझना चाहिये। हे राजेन्द्र ! इसीलिये मैने पूर्व मे कहा था कि तुम सब ताप-पीड़ित हो, मैं नही। [१६५–१६६]

६. कोढ :

हे नरेन्द्र ! जैसे सामान्यतया कोढ की व्याधि होने पर शरीर मे कृमि पैदा हो जाते हैं, हाथ-पैरो से कोढ झरता रहता है, नाक चपटी अथवा नष्ट हो जाती हैं, आवाज घर्घर (मोटी) और अव्यक्त हो जाती है वैसे ही हे राजन् ! मनीषियो ने मिथ्यात्व, अज्ञान अथवा कुदेव कुगुरु कुधर्म मे श्रद्धा को ही कुष्ठ व्याधि कहा है। इस कोढ से ग्रसित होने पर संसारी प्राणियो मे अनेक प्रकार के कुविकल्प रूपी कृमि उत्पन्न हो जाते है, जिससे उनका आस्तिकता रूपी रस गलता रहता है, रूप नष्ट हो जाता है, सद्बुद्धि रूपी नासिका चपटी हो जाती है और मदोन्मत्तता के कारण उनकी वाणी भी घर्घर और अस्पष्ट हो जाती है। सम, सवेग, निर्वेद और करुणारूपी जो हाथ-पैर की अंगुलिया है वे मूल से नष्ट हो जाती है। इसीलिये हे पृथ्वीनाथ ! विद्वज्जनो ने ससारी मूढ प्राणियों को सर्वदा मिथ्यात्वरूपी कोढ के उद्वेग से ग्रसित कहा है। यद्यपि वे सर्व अवयवो से सुन्दर दिखाई देते है, तथापि भाव (अन्तरग दृष्टि) से उनके शरीर के समग्र अवयव कृमिजाल से क्षत-विक्षत ही समझना चाहिये। दूसरी ओर मुनिगण सम्यग्भाव (सम्यक्त्व) से पवित्र और मिथ्यात्व से रहित होने से उन्हे यह मिथ्यात्व रूपी कोढ नही होता, अतः उन्हे सर्व अवयवो से सुन्दर समझना चाहिये। हे नृपति ! यदि कभी बाह्य शरीर से वे कुष्ठ-ग्रसित भी दिखाई दे तब भी वे मानसिक कुष्ठ से रहित होने से कोढी नही है, ऐसा समझना चाहिये। इसी दृष्टि से विचार कर मैंने कहा था कि तुम सब कोढ-ग्रस्त हो, मैं नही। [१७०–१७७]

७. शूल-पीड़ा

हे राजन् ! प्राणियो को जब अन्य प्राणी पर द्वेष-भाव उत्पन्न होता है तब उसकी समृद्धि को देखकर उस पर ईर्ष्या होती है, उसे ही विद्वान् पुरुष शूल-पीड़ा कहते है। इस ईर्ष्या रूपी शूल से आक्रांत प्राणियो के हृदय मे प्रतिक्षण टीस उठती रहती है और वे दूसरो को दुःखी देखकर प्रसन्न होते है। द्वेष से धधकते हुए वे बार-बार अपने चेहरे को विकृत करते है। किन्तु, हे राजन् ! सर्वत्र समान चित्तवाले और द्वेष-रहित साधुओ को यह महाशूल नही होता। इसी कारण को ध्यान मे रखकर मैंने पहले कहा था कि तुम सब शूल से पीडित हो, मैं नही।

[१७८–१८१]

८. वृद्धावस्था

हे नरेन्द्र ! अनादि काल से संसार-चक्र चल रहा है, जिसमे प्राणी समान गति से जन्म, मरण और पूर्ववत् व्यवहार की प्रवृत्ति करता ही रहता है,* पर इसके इस जन्म-मरण और व्यवहार मे कोई विशिष्टता देखने मे नही आती है। इसने न कभी श्रेयस्करी विद्याजन्म (विद्वत्ता का अनुभव) ही प्राप्त किया है, न कभी इसने विवेक रूपी तरुणाई ही प्राप्त की है और न कभी भावमृत्यु को ही प्राप्त होता है। इसलिये प्राणी जब तक ससार मे रहता है, मात्र जीवन-मरण के चक्कर ही लगाता रहता है और अनन्त दुःख समूह रूपी वृद्धावस्था से जीर्ण-शीर्ण ही दिखाई देता है। बाह्य दृष्टि से चाहे ऐसे प्राणी युवक ही दिखाई देते हो, पर तत्त्वत. उन्हे जरा-जीर्ण ही समझना चाहिये। हे नृप ! जब कि दूसरी ओर साधुओ का जीवन ही श्रेयस्करी विद्यामय होता है, विवेक रूपी यौवन से वे ओत-प्रोत रहते है और दीक्षा सुन्दरी के साथ आनन्द से विलास करते है। उन्हे त्रासकारी बुढापा आता ही नहीं, वे सदा भाव-यौवन मे ही रहते है और जब मरते है तब इस प्रकार मरते है कि उन्हे पुन जन्म लेना ही न पडे। अतः सभी ससारी प्राणी दीर्घजीवी होने पर भी बुढापे से जीर्ण है, जब कि साधु अपने कर्मों को काटने मे शक्तिमान होने से सर्वदा यौवन मे ही रहते है। (हे राजन ! इसी पर्यालोचन के कारण मैने पहले तुम लोगो से कहा था कि तुम सब वृद्ध हो, मै नही।) [१८२-१८८]

९. ज्वर

हे भूप ! ससारी मूर्ख प्राणी सर्वदा राग रूपी सताप से सतप्त रहते है, अत. विद्वानो ने उन्हे महाज्वर से तप्त कहा है। साधुओ मे तो राग की गन्ध भी नही होती, अतः बाह्य दृष्टि से भले ही वे ज्वर-पीडित दिखाई देते हो, पर राग रूपी सताप से रहित होने से उन्हे ज्वर-रहित ही समझना चाहिये। [१८९-१९०]

१० उन्माद

हे धरानाथ ! अपने आपको पण्डित मानने वाले भी जब मूर्ख ससारी प्राणी की तरह करणीय कर्त्तव्य/कार्य और सद् अनुष्ठान मे तो प्रवृत्त नही होते, अपितु बार-बार रोकने पर भी पाप कार्य तथा अकरणीय कार्यों मे तत्परता से प्रवृत्त होते है, अतः वे उन्मत्त (पागल) ही है ऐसा समझे। जबकि दूसरी ओर शुद्ध बुद्धि वाले साधुगण सर्वदा सदनुष्ठान मे रत रहते है, अत उन्हे ऐसा उन्माद नही होता। हे राजन् ! इसी विचार-विमर्श के आधार पर मैने कहा था कि तुम सब वृद्धावस्था से जीर्ण, रोगग्रस्त और उन्मादयुक्त हो, मै नही हूँ। [१९१-१९४]

११. अन्धापन

हे वसुधापति ! ससारी प्राणी भले ही बाह्य दृष्टि से विशाल नेत्रो वाले हो और अपने सुन्दर नेत्रो से आखे फाड-फाड कर देख रहे हो, फिर भी वे अन्दर से

* पृष्ठ ५१२

कामान्ध होते है, अत: पहले से ही मैंने उन्हे विकलाक्ष (अन्ध) कहा है। इस प्रकार का कामजन्य अन्धत्व साधुओ मे कदापि नही होता है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से साधु मन्द दृष्टि वाले या नेत्रहीन भी होते हैं पर वे कामान्ध नही होते, अत उन्हे अन्धा नही कहा जा सकता। हे राजन्! इसीलिये मैंने तुम सब लोगो को अन्धा और स्वयं को पूर्ण एव विशाल नेत्रो वाला सुलोचन कहा है। [१६५–१६८]

१२. पराधीनता

हे राजन्! गृहस्थ प्राणी पराधीन क्यो है और साधू स्वतन्त्र क्यो है? इस विषय मे अब बताता हूँ। स्त्री, पुत्र और चचल कुटुम्ब आदि भिन्न-भिन्न कर्मो से निर्मित होने से परमार्थ से स्नेह-रहित है।* पर, जिन मूढ प्राणियो ने इस परमार्थ को नही समझा है, उन्हे तो वे मन से अत्यन्त ही प्रिय लगते है और वे तो इसे ही ससार मे सारभूत तत्त्व मानते हैं। उनके मोह मे फसा पामर प्राणी रात-दिन पशु की भाति दास/नौकर की भांति क्लेश सहन करता है। वह न तो स्वस्थ चित्त से खाना खा सकता है, न रात मे सो सकता है और धन-धान्य से समृद्ध होने की चिन्ता मे निरन्तर आकुल-व्याकुल रहता है। वह सदा कुटुम्ब का आज्ञा-कारी बनकर आदेशो का पालन करता रहता है, फिर भी वस्तुतत्त्व के परमार्थ से अन-भिज्ञ अपनी पराधीनता को नही जानता। यह प्राणी मनुष्य आदि चार गति वाले इस ससार-चक्र में सकल जीवो से माता, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि सम्बन्धो से अनेक बार सम्बन्धित हो चुका है। इस वस्तुस्थिति को समझने वाला चतुर प्राणी फिर क्यो बार-बार उनके लिये अपने जीवन को हारता है? क्यो अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है? इसीलिये महात्मा पुरुष स्त्री, पुत्र आदि रूप इस पिजरे का पूर्णरूप से त्याग कर नि.सग स्वतन्त्र हो जाते है। नि.सग बुद्धि वाले साधु ही स्वतन्त्र हैं, स्वाधीन है, भाग्यशाली है, पाप-रहित है और जगत् के स्वामी हैं। ऐसे महाबुद्धिमान् महात्मा अपने गुरु के अधीन होने पर भी घर-कुटुम्ब के पाश/बन्धन से निर्मुक्त होने से पूर्णतया स्वतन्त्र है। हे मानवेश्वर! इस बात को ध्यान मे रख-कर ही मैने तुम्हे पराधीन और अपने को स्वतन्त्र कहा था। [१६६-२१०]

१३ आठ ऋणदाता

हे राजन्! मैने पहले जो कहा था कि मेरे सिर पर आठ ऋणदाता है, वे प्राणियो से सम्बन्धित ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं, जो प्राणी को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। ये कर्म जीव को निरन्तर व पुनः-पुन कदर्थित करते रहते है। इन तीव्र दारुण कर्मो से प्राणी दान आदि लेने-देने मे, भोग-उपभोग करने मे और अपनी शक्ति का उपयोग करने मे असमर्थ हो जाता है। ये कई प्राणियो को कभी भूखा-प्यासा रखते है, कभी उसे दीन-हीन बनाकर विह्वल कर देते है और कभी उसे नरक के कोठे मे डालकर गाढ पीड़ा देते है। ये आठ कर्मरूपी ऋणदाता साधुओ के

* पृष्ठ ५१३

भी होते है, किन्तु वे शुद्ध प्राय. होते हैं। उनका ऋण अल्प मात्रा मे होता है, अतः वे उनको इतना कष्ट नही दे पाते। फिर वे मुनिगण इतने शक्ति-सम्पन्न एव कृत-निश्चयी होते है कि नित्य ही अपने ऋण को थोडा-थोड़ा चुकाकर उसे घटाते रहते है, अतः ये आठ ऋणदाता साधुओ को इतना त्रास नही दे सकते। हे राजन्! इसीलिये मैंने पहले तुम सबको कर्जदार और स्वय को ऋणमुक्त कहा था। [२११-२१६]

१४. प्रचला निद्रा

हे नरेन्द्र! जैन-धर्म-रहित प्राणी नित्य ही भाव निद्रा मे सोते रहते है इसका भी विवेचन सुनो। कर्म-परम्परा अति भीषण है, यह ससार-सागर अति-घोर है, राग आदि भयंकर दोप है, प्राणियों का मन चपल है, पाँचो इन्द्रियाँ बहुत चचल हैं,* जीवन अस्थिर है, समस्त समृद्धिया भी चलायमान हैं, शरीर क्षणभगुर है, प्रमाद प्राणियों का शत्रु है, पाप-सचय दुस्तरणीय है, असयम दु.ख का कारण है, नरक रूपी कुआ महा भयंकर है, प्रियजनों का सयोग अनित्य है, अप्रिय सयोग भी क्षणिक है, कलत्र-मित्र और बान्धवजनो के प्रति राग और विराग भी क्षणिक है, मिथ्यात्व वैताल महा भयकर है, वृद्धावस्था तो हाथ मे ही बैठी है, भोग अनन्त दु.खदायी है और मृत्यु रूपी पर्वत अति दारुण है। यह सब बिना सोचे ही प्राणी पाव पसार कर सोया है, अपने विवेक चक्षुओ को बन्द कर चेतना-शून्य होकर घुर-घुर आवाज करता हुआ घोर निद्रा मे पडा है। विवेकीजनो द्वारा बहुत तेज आवाज से जगाने पर वह थोड़ा जागकर भी अपनी आँखो को घूर्ण-मान करता हुआ पुन इस महामोह निद्रा मे बार-बार सो जाता है। हम कहाँ से आये है? किस कर्म से आये है? कहाँ आये हैं? कहाँ जायेंगे? इन सब पर ये मूर्ख प्राणी कोई विचार नही करते। अत बाह्य दृष्टि से ऐसे प्राणी जागृत दिखाई देने पर भी वस्तुत. वे भाव-निद्रा मे सो रहे हैं, समझना चाहिये। जबकि मुनिपुगवो को ऐसी महामोह रूपी निद्रा नही होती। वे भाग्यशाली तो नित्य जागृत रहते है। सर्वज्ञ प्ररूपित आगम रूपी दीपक से महाबुद्धिमान साधु अपनी और अन्य प्राणियो की गति और आगति को जान जाते हैं, अत. उन्हे बाह्य निद्रा से सुप्त होने पर भी विवेक नेत्रो के खुले होने से जागृत ही समझना चाहिये। इन सब बातो का विचार कर ही मैंने पहले कहा था कि तुम सब सो रहे हो, मैं नही। महामोह निद्रा मे पडे होने के कारण तुम वस्तु-स्वरूप को सम्यक् प्रकार से नही समझते, जबकि मेरे विवेक चक्षु खुले होने से मै प्रत्यक्षत· एव स्पष्टत. देखता हूँ। [२१७-२३२]

१५. दरिद्रता

हे राजन्! जो सद्धर्म से रहित है, परमार्थ से उन्ही प्राणियो को दरिद्रता से आक्रान्त दारिद्र्य-मूर्ति समझना चाहिये। हे नरपति! ज्ञान, दर्शन, चारित्र और

* पृष्ठ ५१४

वीर्य जो भावरत्न हैं, वस्तुत. वे ही धन के भण्डार है, वे ही ऐश्वर्य के कारण है और वे ही सुन्दर हैं, जो पापात्माओ के पास नही होते। फिर इनके बिना उनके पास कैसा धन ? फलतः इन भाव-रत्नो से रहित जो लोग धन से परिपूर्ण दिखाई देते है, उन्हे भी परमार्थ से निर्धन ही समझना चाहिये।* हे भूप ! जबकि दूसरी ओर साधु महात्मा तो नित्य ही चित्त रूपी मन्दिर मे इन भाव-रत्नो से जगमगाते रहते है, अत. वे ही वास्तव मे सच्चे धनिक है, वे ही धन्य है और वे ही परम विभूति सम्पन्न हैं। वे निःसदेह निखिल ससार का पोषण करने मे शक्तिमान है। हे नृप ! बाहर से फटे मैले वस्त्रो से वे भले ही मलिन, भिखारी और दरिद्र दिखाई देते हो और उनके हाथ में तूम्बड़े (पात्र) दिखाई देते हो तथापि परमार्थ से विद्वानो ने उन महर्घ्य एव अमूल्य रत्नधारी मुनियो को ही परमेश्वर माना है। हे नरेन्द्र ! आवश्यकता पडने पर वे महात्मा अपने तेज के द्वारा एक तृण से भी रत्नो के भण्डार का निर्माण कर सकते हैं। अत: अपने दारिद्र्य का पर्यालोचन न कर आपने मुझ जैसे भाव-रत्नो के धारक महाधनी साधु को दरिद्री कैसे बतलाया ? [२३३-२४२]

१६ मलिनता

हे पृथ्वीपति! जो व्यक्ति कर्म-मल से भरा हुआ है वही वास्तव मे मलिन है। कर्म-मल से पूरित प्राणी शरीर के बाहरी अगोपागो को कितना भी धोकर, सुन्दर वस्त्र धारण करले तथापि उसकी मलिनता मे न्यूनता नही आती। जबकि बाहर से मलिन वस्त्र धारण करने पर भी जिनके मन बर्फ, मोती के हार और गाय के दूध के समान स्वच्छ है, हे मानवेश्वर ! वे ही वास्तव मे स्वच्छ है, निर्मल है, ऐसा समझना चाहिये। तुम सब लोगो मे विद्यमान इस भाव-मलिनता का विचार किये बिना ही तुम सब ने किस कारण से मेरी हँसी उड़ाई ? [२४३-२४५]

१७ दुर्भाग्य

सद्धर्म मे निरत पुरुष ही इस विश्व मे सौभाग्य-सम्पन्न होता है। ऐसा पुरुष ही विवेकी पुरुषो का हृदयवल्लभ होता है। जिसका चित्त सद्धर्मवासित होता है वही जगत के समस्त सुर, असुर, चराचर प्राणियो का बन्धु तुल्य होता है। अर्थात् ऐसा सत्पुरुष ही समस्त सृष्टि के साथ मैत्री-भाव/प्रेम-भाव रखता है। साधु तो इस लोक मे सर्वदा सदाचार मे ही रत रहते है, अत वे ही वास्तव मे सौभाग्यशाली हैं। जो ऐसे साधु पुरुषो से द्वेष करते है वे नराधम है, पापी है। जिस प्राणी मे अधर्म का जितना आधिक्य है वह भावतः उतना ही दुर्भागी है। सभी विवेकी पुरुप ऐसे अधर्मी की निन्दा करते है। अतः जो प्राणी पाप-रत है वही लोक मे दुर्भाग्य के योग्य होता है। हे नराधिप ! ऐसे पापी की जो प्रशसा करते हैं वे भी दुर्भागी और पापी

* पृष्ठ ५१५

है। फिर मैं तो प्रकट रूप में भी मुनि वेष मे था, धर्मी था। ये दुर्भागी लोग मुझ सौभागी को देख भी सकते थे, तब भी तुम लोगो ने मुझे दुर्भागी क्यों कहा ? किस लिये मेरी निन्दा की ? [२४६-२५१]

□

१६. पारमार्थिक आनन्द

[धवल राजा और सभाजनो को अपने स्वरूप का दर्शन कराते हुए बुधाचार्य ने ससारी जीवन की अधमता और साधु जीवन की महत्ता पर प्रकाश डाला। ससारी जीवों की झूठी समझ को दूर करने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि किसी भी प्रकार उनकी निन्दा करना उचित नही था।]

सांसारिक सुख

उन्होने कहा—हे राजन्! जिनवचनामृत-रहित पामर प्राणी इस ससार के गर्भ मे भटकते है, कर्म-परम्परा रूपी रस्से से निरन्तर बधते है, विषयो को भोगने पर भी तृप्ति न होने से विषय-बुभुक्षा से पीडित रहते है, विषयेच्छा रूपी तृषा से प्यासे रहते है, निरन्तर भवचक्र मे भटकते हुए थक कर खिन्न हो जाते है, कषायाग्नि से प्रतिदिन दहकते रहते है, मिथ्यात्व रूपी कोढ से ग्रस्त रहते है, ईर्ष्या शूल से बिंधते रहते है, संसार मे दीर्घकाल तक निवास होने के कारण वृद्धावस्था से जीर्ण हो जाते है, राग-ज्वर से धधकते है,* कामवासना रूपी काचपटल से अन्धे हो जाते है, भाव-दरिद्रता से आक्रान्त हो जाते है, जरा रूपी राक्षसी से पराभव प्राप्त करते हैं, मोहान्धकार से आच्छादित रहते है, पाच इन्द्रियो के घोडो से खीचे जाते है, क्रोधाग्नि मे पकते रहते हैं; मान पर्वत से स्तब्ध रहते है, माया जाल से वेष्टित रहते है, लोभ समुद्र में डूबते रहते है, इष्ट-वियोग की वेदना से सन्तप्त रहते है, अनिष्ट के संयोग से परितप्त होते है, कालपरिणति के वशीभूत इधर से उधर डोलते रहते है, लम्बे समय तक बडे कुटुम्ब के भरण-पोषण से बार-बार संत्रस्त होते है, कर्म रूपी कर्जदारो से बार-बार लाछित होते है, महामोह की दीर्घ निद्रा से सब से पीछे रह जाते है और अन्त मे मृत्यु रूपी मगर-मच्छ के ग्रास बनते है। हे राजन्! यद्यपि ये ससारी प्राणी वीणा, मृदग आदि के मधुर स्वर सुनते है, नेत्रो को आकृष्ट करने वाले विभ्रम, विलास एव कटाक्ष युक्त मनोहर रूप देखते है, अच्छी

---

* पृष्ठ ५१६

तरह से निष्पादित कोमल स्वादिष्ट और मनोनुकूल विशिष्ट प्रकार का भोजन करते है, कपूर, अगरु, कस्तूरी, पारिजात, मदार, नमेरु, हरि-चन्दन, सतानक के फूलो को और अग्निपुट द्वारा निर्मित सुगन्धित पदार्थो की सुगन्ध लेते है, ललित ललनाओ का कोमल शैया पर आनन्द से स्पर्श करते है, आलिगन करते है, प्रेमी मित्रो के सग आनन्द करते है, सुन्दर वन वाटिका मे विलास करते हैं, मनोवाछित चेष्टाये और क्रीडाये करते है, वर्णनातीत विषय-वासना-रस मे आकठ डूबे रहते है, रसासक्ति के अभिमान मे आखे भी मुदी (निमीलित) रहती है तथापि उन प्राणियो का यह सुखानुभव मात्र क्लेश रूप और निरर्थक ही है। हे राजन् ! मैने प्रारम्भ मे जो विविध प्रकार के दु.खो के सैकडो कारण बताये है उनसे तो यह ससारी प्राणी निरन्तर घिरा ही रहता है, फिर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? मानसिक शाति कैसे मिल सकती है ?

इस प्रकार की परिस्थिति मे भी, दु.खो से आकण्ठ डूबा हुआ होने पर भी प्राणी मोह के कारण अपने को सुखी मानता है। हे भूप ! उसका यह सुख शिकारियो द्वारा शक्ति, नाराच (बाण), तोमर (भाला) से आहत होने पर त्रस्त हरिण को जैसा सुख प्रतीत होता है वैसा ही ससारी प्राणियो का सुख है। अथवा उसका यह सुख आटा लगे काटे मे फसी हुई तालुविद्ध मूर्ख मछली का सुख ही है जो आटा खाने के लोभ मे अपने प्राण गवाती है। हे नरेन्द्र ! विशुद्ध धर्मरहित प्राणियो के मस्तक दु.ख-सघात मे इतने विदीर्ण रहते है मानो वे महादुःखी नारकीय जीव ही हो, अर्थात् वास्तविक सुख की तो गन्ध भी उनके पास नही फटकती।

[२५२-२५५]

साधुओं के पारमार्थिक आनन्द

हे राजन् ! श्रेष्ठ मुनिपुंगवो को उपरोक्त सभी क्षुद्र उपद्रव कदापि बाधित/उत्पीड़ित नही करते है, क्योकि उनका मोहान्धकार नष्ट हो जाता है और उन्हे सम्यक् ज्ञान (विशुद्ध सत्य ज्ञान) की प्राप्ति हो जाती है। किसी भी विषय का कदाग्रह (झूठा आग्रह) करने की प्रवृत्ति से वे निवृत्त हो जाते है। सतोषामृत उनकी रग-रग मे व्याप्त रहता है। वे किसी भी प्रकार का अनैतिक आचरण नही करते जिससे उनकी भव-बेल सूख कर टूट जाती है। धर्म मेघ रूपी समाधि स्थिर हो जाती है और उनका अन्तरग अन्त पुर (आन्तरिक गुण) उनके प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होता है।

मुनिपुंगवो के अन्तरग अन्त.पुर (११ पत्नियो) का वर्णन भी सुनिये—

इन श्रमण वृन्दो को धृति सुन्दरी सन्तोष प्रदान करती है, * श्रद्धा सुन्दरी चित्त को प्रसन्न रखती है, सुखासिका सुन्दरी आह्लादित करती है, विविदिषा सुन्दरी शान्ति का प्रसार करती है, विज्ञप्ति सुन्दरी प्रमोद प्रदान करती है, मेधा सुन्दरी सद्बोध प्रदान करती है, अनुप्रेक्षा सुन्दरी हर्षोल्लास का कारण भूत बनती है,

* पृष्ठ ५१७

मैत्री सुन्दरी मनोभीप्सित अनुकूल आचरण करती है, करुणा सुन्दरी प्रति समय वात्सल्य भाव रखती है, मुदिता सुन्दरी सतत आनन्द प्रदान करती है और उपेक्षा सुन्दरी समस्त प्रकार के उद्वेगों का नाश करती है।

हे नरेश्वर ! अत्यन्त प्रिय एव प्रगाढ़ अनुरागिणी इन ग्यारह सुन्दरियो में प्रेमासक्त (धैर्यादि आन्तरिक गुणों मे दृढ़ासक्त) होकर ये मुनीन्द्र सर्वदा आमोद-प्रमोद करते है, अर्थात् प्रमुदित रहते है। इन्ही सुन्दरियो (आन्तरिक गुणो) के सम्पर्क से ये श्रमणगण स्वयं की आत्मा को संसार-सागर से पार और निर्वाण-सुख-समुद्र मे डूबा हुआ मानते हैं। (यह तो अनुभव सिद्ध और शास्त्र प्रसिद्ध ही है कि) शान्त चित्त वाले विशुद्ध ध्यानी मुनियो को जो सुख प्राप्त होता है वैसा सुख देवों को, इन्द्र को या चक्रवर्ती को भी प्राप्त नही हो सकता। जो महात्मागण अपने देह रूपी पिंजरे मे भी पराया हो इस भाव से रहते है, उन्हे कैसा सुख मिलता है, यह पूछने का साहस ही कौन कर सकता है ? संसार-गोचरातीत जिस सुख की अनुभूति वे करते है उस आनन्द रस के स्वरूप को वे ही जान सकते हैं, अन्य प्राणी नही। ऐसी परिस्थिति मे भी जब कि मैं सुख-पूरित हूँ तब भी वस्तुतत्त्व के पारमार्थिक रहस्य को समझे बिना लोगों ने मुझे दु.खी कहकर मेरी जो निन्दा की है, वह व्यर्थ है। स्वयं दुःखी होते हुए भी तुम सब लोग झूठे सुख के अभिमान मे विचित्र नाटक कर रहे हो, किन्तु हे राजेन्द्र ! वास्तविक पारमार्थिक सुख क्या है ? कहाँ है ? कैसे मिलता है ? यह कोई नही जानता और न समझने की कोई चेष्टा ही करता है। [२५९–२६२]

❖

१५. बठरगुरु कथा

[सदागम के समक्ष संसारी जीव वामदेव अपनी आत्मकथा को आगे सुनाते हुए कहता है कि दरिद्री के वेष में उपस्थित बुधाचार्य अपनी बुलन्द आवाज मे मेरे मित्र विमल के पिता धवल राजा को जब उपरोक्त विवेचन सुना रहे थे तब राजा के मन मे एक शंका उठी और उन्होने आचार्य से पूछा।]

धवल राजा का प्रश्न : आचार्य का समाधान

भगवन् ! आपके कथनानुसार जब विषयो मे दु ख और समभाव मे ही सब से उत्तम सुख है तब सब लोग उसे समझ कर भी बोध को क्यों नही प्राप्त करते ? [२६३]

बुधाचार्य—राजन् ! लोग महामोह के वशीभूत होकर वस्तुतत्त्व को नही समझते (सत्यमार्ग पर नही चलते और परमार्थ सुख के विषय मे विचार भी नही करते ।) जैसे इस बठरगुरु ने किया था । [२६४]

धवल राजा—भगवन् ! यह बठरगुरु कौन था और उसे तत्त्वबोध क्यों नही हुआ ?

बुधाचार्य—राजन् ! मैं तुम्हे बठरगुरु की कथा विस्तार से सुनाता हूँ । सुनो—

बठरगुरु की कथा

भव नामक एक बडा गाँव था । इस गाँव में स्वरूप नामक शिव मन्दिर था । यह मन्दिर मूल्यवान रत्नो से पूर्ण, विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों से भरपूर, द्राक्षादि स्वादिष्ट शीतल मधुर पेय से युक्त, धन-धान्य से समृद्ध और सोने, चाँदी, कपड़े तथा वाहनों से सम्पन्न था । यह शैव देवमन्दिर स्फटिक जैसा निर्मल, उत्तुग, सुखोत्पादक और सब प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण था । [२६५]

इस शिव मन्दिर मे सारगुरु नामक शिवाचार्य अपने कुटुम्ब के साथ रहता था । वह इतना ग्रथिल (गेला, मूर्ख) था कि अपने हितेच्छु और प्रेमी कुटुम्बीजनो का भी भली प्रकार पालन-पोषण नही करता था और न उनके स्वरूप (वास्तविकता) को ही जानता था । शिवमन्दिर मे कैसी समृद्धि भरी हुई है, यह भी वह नही जानता था । अर्थात् उसकी मूर्खता की पराकाष्ठा तो यह थी कि वह न तो यह जानता था कि घर मे कौन-कौन हैं और न यह जानता था कि घर मे कितनी पूंजी है ।*

उस गाँव के चोरों को यह पता लग गया था कि शिव मन्दिर मे कितनी समृद्धि है और उसके मूर्ख व्यवस्थापक को इसका पता भी नही है । अत: धूर्त चोरो ने वहाँ आकर सारगुरु से मित्रता गाँठी । पगला आचार्य चोरो को भले लोग, हितेच्छु, प्रेमी और हृदयवल्लभ समझने लगा । परिणामस्वरूप आचार्य अपने कुटुम्ब का अनादर कर चोरों के साथ निरन्तर विलास करने लगा और अपने कुटुम्ब को भूल-सा गया ।

सारगुरु के ऐसे विचित्र व्यवहार को देखकर शिवभक्त उसे समझाने लगे—'भट्टारक ! आप जिनकी सगति कर रहे हैं वे महाधूर्त और चोर हैं । आपको उनकी सगति छोड़ देनी चाहिये ।' सारगुरु ने तो उनकी बात सुनी ही नही, सुनी भी अनसुनी करदी । उसकी मूर्खता से तंग आकर लोगों ने उसका नाम बठर (मूर्ख) गुरु रख दिया । आखिर में जब लोगों को यह विश्वास हो गया कि यह मूर्ख धूर्त और तस्करों से घिर गया है और उनकी मैत्री मे ही आनन्द मानता है तब लोगो

* पृष्ठ ५१८

ने शिव मन्दिर में आना ही छोड दिया। शिवभक्तो का आना-जाना बन्द होने से धूर्तों का जोर बढा, उन्होने अपना कपट जाल अधिक फैलाया। बठरगुरु के पागलपन को बढावा देने लगे और अन्त मे शिवमन्दिर पर अपना अधिकार कर, बठरगुरु के परिवार को एक कोठरी में बन्द कर ताला लगा दिया।

शिवमन्दिर और बठरगुरु को अपने वश मे कर धूर्त तस्कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने सब से अधिक धूर्त तस्कर व्यक्ति को अपना नायक चुना। फिर धूर्त लोग अपने नायक के सन्मुख तालियाँ बजाकर नाच करने लगे और बठरगुरु से भी प्रतिदिन अनेक प्रकार के नाटक करवाने लगे। नाच करते हुए धूर्त चोर लोग गाते भी जाते थे—

हे मनुष्यो ! तुम भी किसी प्रकार धूर्तता का भाव धारण कर मित्र को ठगो और उसके भोजन का हरण करलो। देखो, हमने तो बठरगुरु के मन्दिर मे घुसकर अधिकार कर लिया और अब मनमानी कर रहे है। अत. तुम यहाँ आकर देखो तो सही कि हम कैसे उसके नायक (अधिकारी) बन गये है। [२६६]

अन्य चोरो ने अपनी दूसरी तान छेडी—

अरे ! हमारी जगप्रसिद्ध धूर्तता से यह बठरगुरु तो हमारे वश मे आ गया है और सैकडो रत्नों की समृद्धि के साथ यह शिवमन्दिर भी हमारे हस्तगत हो गया है। हम सब खाते है, पीते हैं और मस्ती छानते है। [२६७]

इतने पर भी वह हतभागी बठरगुरु न तो अपने तिरस्कार और विडम्बना को समझता है, न अपने कुटुम्ब का हाल-चाल जानता है और न यह जानता है कि धन-धान्य से परिपूर्ण मन्दिर दूसरो के हाथ मे चला गया है। वह यह भी नही समझता कि मन्दिर पर अधिकार करने वाले उसके शत्रु है, मित्र नही। वह तो इन शत्रुओ को अपना परम मित्र मानता है। ऐसी मूर्खता से पागल बना बठरगुरु हृष्ट-तुष्ट होकर रात-दिन चोर परिवार के बीच मे नाचता गाता हुआ आनन्द मानता है।

इस भव गाव मे चार मोहल्ले थे अतिजघन्य, जघन्य, उत्कृष्ट और अत्युत्कृष्ट। जब बठरगुरु को भूख लगती है और चोरो से भोजन मागता है तब चोर उसके शरीर पर काले दाग बनाकर, हाथ मे घटकर्पर (मिट्टी की ठीकरी का पात्र) देकर कहते है कि, 'मित्र गुरु महाराज ! भिक्षा मागिये, थोडा घूमिये।' बठर की तो स्थिति ऐसी हो गई थी कि जैसा चोर कहे वैसा उसे करना ही पडे। अत वह धूर्तो से घिरा हुआ पहले अतिजघन्य मोहल्ले मे गया। वहाँ धूर्तों ने ताल दे-देकर उसे घर-घर नचाया। धूर्तों ने मोहल्ले मे रहने वाले अधम लोगो को गुरु की * मरम्मत करने का सकेत किया, अत उस मोहल्ले के निवासियो ने यमराज के समान बठर गुरु की लाठियो, पत्थरो, लातो और मुट्ठियो से खूब मरम्मत की। घोर पीडा से तिलमिलाता

* पृष्ठ ५१६

हुआ बेचारा बठर जोर-जोर से रोने चिल्लाने लगा। इस अतिजघन्य मोहल्ले मे बठर ने बहुत समय तक घूमकर घोर दु ख देखे, पर उसे कही भी भिक्षा नही मिली। मार खाकर वह उस अतिजघन्य मुहल्ले से वापिस निकला। उसका मिट्टी का खप्पर टूट गया। ठीकरे के फूट जाने पर धूर्तो ने बठर के हाथ मे मिट्टी का सकोरा दिया और उसे लेकर दूसरे जघन्य मोहल्ले में आये। यहाँ के क्षुद्र निवासियो ने भी बठर की खूब खिल्ली उड़ाई। यहाँ पर भी उसे भिक्षा नही मिली और वह इस मोहल्ले से खाली हाथ लौटा। सकोरे के फूट जाने पर धूर्तो ने बठर को ताँबे का पात्र दिया और उसको तीसरे उत्कृष्ट मोहल्ले मे ले गये। यहाँ पर बठर को रत्नपूरित शिव मन्दिर का नायक (स्वामी) है इस कारण कुछ-कुछ भीख मिली। यहा के निम्न लोगो ने भी इसकी कदर्थना/विडम्बना की, परन्तु पहले और दूसरे मोहल्ले जितनी नही। इस तीसरे मोहल्ले मे भी वह बठर कुछ समय तक घूमता रहा। एक दिन उसका ताम्रपात्र भी टूट गया। ताम्रपात्र के टूट जाने पर धूर्तो ने बठर को चादी का पात्र दिया और उसे अपने साथ चौथे अत्युत्कृष्ट मोहल्ले में ले गये। यहाँ के निवासी उसे रत्नो के अधिपति के रूप मे भली प्रकार जानते थे, अत यहाँ बठर को घर-घर से सुसंस्कृत बढिया भिक्षा मिली। [२६८-२७४]

इस प्रकार से धूर्त चोर लोग बठर गुरु को पुन -पुन एक से दूसरे मोहल्ले मे फिराते, रात-दिन नाटक करवाते और नचाते। प्रत्येक घर के लोग उसकी हसी उडाते, उसे मारते, प्रसन्नता से तालिया बजाकर उसकी नकल उतारते और विविध प्रकार से उसकी विडम्बना करते। तस्करो के द्वारा ऐसी कदर्थना किये जाने पर भी वह मूर्ख गुरु जैसी-तैसी भिक्षा से पेट भरकर मन मे प्रसन्न होता, सन्तुष्ट होता। [२७५-२७७]

कभी-कभी तो उत्साह मे आकर गाने भी लगता—

अरे! यह मेरा मित्रवर्ग तो मेरे ऊपर अत्यधिक प्रेम रखता है और सब लोग मेरा विनय (सन्मान) करते है। अरे! मुझे तो यह सचमुच मे राज्य मिल गया और यह मेरा विकट उदर (पेट) भी अमृत भोजन से भर जाता है। [२७८]

विशेषता तो यह कि मूर्ख बठरगुरु आकण्ठ दु.ख मे डूबा हुआ होने पर भी अपने को सुखसमुद्र से सराबोर मानता था और उन धूर्त चोरो के दोषो का वर्णन कर उनके स्वरूप को बताने वाले हितेच्छुओ से द्वेष करता था। [२७९] वह मूर्ख यह बात तो समझता भी नही था कि स्वय बाह्य भावो मे पटक दिया गया है, वह पामर रत्नो से परिपूर्ण स्वकीय मन्दिर से निकाल दिया गया है, अपने हितेच्छु अनुरागी सुन्दर कुटुम्बियो से दूर कर दिया गया है और दु.खसमुद्र मे डूबा हुआ है। इन सब परिस्थितियो को पैदा करने वाले ये धूर्त चोर है, यह भी वह नही जानता था।

हे राजन्! इस प्रकार बठरगुरु की कथा का एक भाग मैंने तुम्हे सुनाया। ये धर्मरहित ससारी प्राणी भी इसी प्रकार के है।

●

१६. कथा का उपनय एवं कथा का शेष भाग

बठरगुरु की कथा सुनकर धवल राजा को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—महाराज ! यह कैसे हो सकता है ?

बुधाचार्य—राजन् ! सुनिये। इस कथा का उपनय (सार) इस प्रकार है—

इस ससार को भव नामक गाव समझे। ससार के मध्य मे जीव-लोक के स्वरूप (वास्तविक रूप) को अति विस्तृत शिव-मन्दिर समझे। जैसे शिव-मन्दिर रत्नो से भरपूर है वैसे ही जीव का स्वरूप अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि अमूल्य रत्नो से पूर्ण है और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा परमानन्द को देने वाला है। जैसे रत्नो का स्वामी ही भौताचार्य*/सारगुरु है वैसे ही जीव-स्वरूप का स्वामी समग्र जीवलोक है। जीव के ज्ञानादि जो स्वाभाविक गुरण है वे उसके कुटुम्बी है। यद्यपि ये स्वाभाविक गुरण ही श्रेयस्कारी और हितकारी है, पर सारगुरु रूपी जीव-लोक के चित्त मे यह प्रतिभासित नही होता। [२८०–२८३]

इस ससार मे कर्म-योग (सासारिक कार्य प्रणाली) से मदोन्मत्त यह जीव भी सारगुरु की तरह गुणरत्नो से पूर्ण अपने स्वरूप को नही जानता। राग-द्वेष आदि दोष ही चोर कहे गये है, जो महा धूर्त है और इस जीवलोक को ठगते है, किन्तु सारगुरु की ही भाति जीवलोक को ये धूर्त तस्कर ही मित्र और प्रिय लगते है। ये रागादि धूर्त ही जीव को अपने गाढ बन्धन मे बांध कर कर्मोन्माद बढाते है, जीव के स्वरूप को वश मे कर उसके जो स्वाभाविक गुरण रूपी कुटुम्बी हैं, उनका हरण कर, कारागार में डाल कर चित्त-द्वार बन्द कर देते है। हे पृथ्वीनाथ ! ये रागादि धूर्त तस्कर शिवमन्दिर के समान जीवलोक के गुरण-रत्नो से समृद्ध स्वरूप का हरण कर उस पर अधिकार कर लेते है। जीव के स्वाभाविक गुणो का हरण कर, उसके भाव-कुटुम्ब को अपने वश मे कर, ये धूर्त उस पर महामोह का राज्य स्थापित कर देते हैं, जैसे चोरो ने सारगुरु को वश मे कर उसके कुटुम्ब को कमरे मे बन्द कर ताला लगा दिया था। सासारिक उन्माद के बढ जाने से सारगुरु रूपी जीवलोक रागादि धूर्तो को अपना मित्र मानकर हृष्टचित्त होता है और उनके वशीभूत हो जैसे वे नचाते है, वैसे नाचता है। हे नृप ! गीत, ताल और नृत्य का जो यह महा कोलाहल इस ससार मे सुनाई देता है वह रागादि चोरो द्वारा ही किया जा रहा है। [२८४–२९१]

---

* पृष्ठ ५२०

जैसे शिवभक्तों ने सारगुरु को वार-वार टोका, समझाया, वैसे ही जैन दर्शन के प्रवुद्ध विद्वानो को समझना जो इस जीव को प्रतिक्षण रोकते है और इस जीव को वार-वार समझाते है कि, हे जीवलोक ! तुझे इन राग-द्वेप आदि चोरो की संगति नही करनी चाहिये, ये तेरे भाव शत्रु है और सर्वस्व हरण करने वाले दुष्ट हैं। किन्तु, कर्म के प्रवल उन्माद में विह्वल वना संसारी जीवलोक सारगुरु के समान ही उनके हितकारी वचनों की अवगणना कर, हृदय से राग-द्वेष आदि शत्रुओ को ही अपना श्रेष्ठ सुहृद् व भाग्यशाली और हितेच्छु मित्र मानता है। जैसे शिवभक्तों ने वस्तुस्थिति और उसकी मूर्खता को जानकर सारगुरु का वठरगुरु नामकरण कर उसके पास जाना छोड़ दिया था वैसे ही जैन दर्शन के प्रवुद्ध साधु, मुनि महात्मा भी यह जानकर कि यह जीव भी राग-द्वेषादि धूर्तो से घिरा हुआ है, अतः मूर्ख समझ कर उसे छोड़ देते है। [२६२-२६७]

कथा प्रसंग में पहले कह चुके है कि जैसे भूख से व्याकुल होने पर वठरगुरु ने उन धूर्त तस्करो से भोजन की याचना की तव उन तस्करो ने वठरगुरु के हाथ मे मिट्टी का खप्पर देकर, शरीर पर मषी के तिलक आदि लगाकर भिक्षा मंगवाई वैसे ही इस जीव के साथ भी समान रूप से घटित होता है। [२६८-२६९]

राग आदि के वश में पड़ा हुआ प्राणी भोग भोगने की उत्कट इच्छा वाला वन जाता है, अतः अपने माने हुए राग-द्वेषादि मित्रों के समक्ष जव अपनी भोगेच्छा प्रकट करता है * तव वठरगुरु की तरह राग-द्वेष आदि गर्वोन्मत्त धूर्त चोर प्राणी को भोगो की भिक्षा मांगने को विवश करते हैं। भिक्षा हेतु भ्रमण करने की विधि इस प्रकार है :—काले पाप कर्मो जैसे सारे शरीर पर गहरे काले दागो से अच्छी तरह से चर्चित कर, विशाल नरक के आयुष्य रूपी मिट्टी का ठीकरा उसके हाथ में दे देते हैं। भव गांव में जो चार मोहल्ले अतिजघन्य, जघन्य, उत्कृष्ट और अत्युत्कृष्ट कहे गये हैं उन्हें क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति समझना चाहिये। मिट्टी का खप्पर, सकोरा, ताम्रपात्र और रजत पात्र को भी क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियो का आयुष्य समझना चाहिये। यह जीव भी भाव-चोरों से घिरकर पापात्मा नरक गति रूप प्रथम मोहल्ले में भटकता है। वहाँ मांगने पर भी उसे भोग-भोजन नही मिलता, किन्तु क्षुद्रजनों के समान भयानक नरकपालों द्वारा उत्पीड़ित किया जाता है। इस प्रकार तीव्र अनन्त महादुःख का अनुभव कर आयुष्यरूपी खप्पर/ठीकरे के टूट जाने पर यह जीव किसी अन्य गति में प्रविष्ट होता है। फिर भव ग्राम के दूसरे मोहल्ले के समान यह भोगेच्छु लम्पट प्राणी तिर्यंच योनि मे जाता है। वहाँ भी वह भटकता है किन्तु उसकी भोगेच्छा पूरी नही होती और वह अधमजनों द्वारा केवल भूख-प्यास आदि विविध कष्टों को भोगता है। सकोरे रूपी तिर्यञ्च आयुष्य के फूट जाने पर, कुछ पुण्य की प्राप्ति होने पर वह तीसरे उत्कृष्ट मोहल्ले मे अर्थात् मनुष्य गति में आता है। वहाँ कुछ पुण्योदय से

* पृष्ठ ५२१

उसे आन्तरिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, जिसे छाया कहा गया है। हे महाराज! उस छाया रूपी पुण्योदय के फल-स्वरूप यहाँ प्राणी की भोगेच्छा कुछ-कुछ पूरी होती है, किन्तु यहाँ भी धूर्त तस्कर, राजभय आदि के समान राग-द्वेष रूपी धूर्त उसे अनेक प्रकार से पीडित करते है। ताम्र-पात्र के भग्न होने पर जैसे बठरगुरु चौथे अत्युत्कृष्ट मोहल्ले मे ले जाया जाता है, उसी प्रकार हे नरेन्द्र! मनुष्य आयु-रूप ताम्रपत्र के भग्न होने पर कभी जीव देवगति को भी प्राप्त होता है। यहाँ जीव की अन्तरग ऐश्वर्य रूपी गुणरत्नों की छाया अधिक गहरी और विशाल होती है, अतः वह जीव यहाँ अत्यधिक भोगो को प्राप्त करता है। वह जीव देवलोक मे रजतपात्र के आकार के समान देव भव की आयुष्य को भोगता है और इस गति मे यथेच्छ भोगरूपी भोजन प्राप्त करता है। [३००–३१७]

हे महाराज! जैसे बठरगुरु भूख लगने पर भव ग्राम मे भिक्षा के लिये बारम्बार इधर-उधर भटकता है, कर्मयोग से उन्मत्त रहता है, पाप-मसि से विलेपित रहता है राग-द्वेष रूपी धूर्त उसको चारो ओर से घेर कर हुँकार करते है, हँसते है,* गाते है, चिल्लाते है, नाचते है, उद्दाम लीला करते है और अनेक गति रूप घरो मे जब जीव भटकता है तब उसी के साथ रहते है। [३१८–३२०]

बठर गुरु प्राप्त भिक्षा से मन मे प्रसन्न होता है, पर वह वेचारा यह जान भी नही पाता कि उसके रत्नादि वैभवों से परिपूर्ण मन्दिर पर और उसके स्नेहशील हितेच्छु कुटुम्ब पर धूर्तो ने अधिकार कर रखा है जिससे वह दु:ख-समुद्र के मध्य मे फसा हुआ स्वय के स्वरूप को नही पहचान पाता। केवल मोहदोष की अधिकता से सन्तुष्ट और सुखी मानता हुआ, विविध चेष्टाये करता हुआ स्वकीय आत्मा की अधिकाधिक बिडम्बना करता है वैसे ही यह प्राणी जब संसार मे कदाचित् तुच्छ वैषयिक सुख, इन्द्रत्व, देवत्व, राज्य, रत्न, धन, पुत्र, स्त्री आदि को प्राप्त करता है तब वह मिथ्या-भिमानपूर्वक अपने को पूर्ण सुखी मानने लगता है। वह इस तुच्छ सुख मे इतना डूब जाता है कि उसे सच्चे सुख की ओर आँख उठाकर देखने का भी समय नही मिलता और तनिक सोच-विचार भी नही करता। हे राजन्! जैसे तुम्हारी इस सभा मे बैठे लोग यह मानते है कि अहो! उन्हे सुख मिल गया, अहो! उन्हे स्वर्ग मिल गया और वे अपने को कृतार्थ समझने की भूल करते है। पर, यह नही समझते कि उनका स्वय का आत्म-स्वरूपज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द आदि अनन्त अमूल्य रत्नो से भरा हुआ है। ये पामर यह भी नही जानते कि महामूल्यवान रत्नो से परिपूर्ण स्वकीय आत्मा का स्वरूप जिसे मन्दिर के समान कहा गया है उसे राग-द्वेष रूपी चोरो ने हरण कर लिया है। ये यह भी नही जानते कि क्षमा, मार्दव, सरलता, निर्लोभता, सत्य आदि मेरा भाव-कुटुम्ब ही वास्तव मे मेरा है और जो प्रियकारी एव हितवर्धक है। राग-द्वेष रूपी शत्रुओ से घिरे प्राणी को यह भी जानकारी नही होती कि इन दुष्ट धूर्तो ने चित्तरूपी कारागृह मे उसे डालकर, उसके आत्म-स्वरूप को जकड कर कैद कर लिया

---

* पृष्ठ ५२२

है। अनन्त आनन्द, महा ऐश्वर्य और वास्तविक सुख के हेतुभूत कुटुम्ब से दूर हटाया हुआ प्राणी दु.ख समूह से भरे हुए भव ग्राम मे फंसा रहता है, फिर भी वह राग-द्वेष आदि अपने शत्रुओं को ही अपना मित्र मानता रहता है। बठरगुरु की भिक्षा-प्राप्ति के समान ही थोड़े से विषय सुख की प्राप्ति होते ही यह मूर्ख प्राणी लहर में आकर हँसने, नाचने और तालियाँ पीटने लगता है। हे राजन्! यह संसारी प्राणी तत्त्व को न समझकर दु.खसमुद्र में डूबा हुआ होने पर भी अपने को सुखी समझता है। यही वस्तुस्थिति है। [३२१-३३५]

दु.खो से मुक्ति कैसे हो?

आचार्य द्वारा बठर-कथा का दार्ष्टान्तिक उपनय (रहस्य) सुनकर धवल राजा ने पूछा—भगवन्! आपके कथनानुसार जब हम सब पागल, सदा सन्निपात-ग्रस्त और अति विषम रागादि तस्करो से घिरे हुए हैं जिन्होने हमारे शिवमन्दिर रूपी रत्नपूरित स्वरूप पर अधिकार कर रखा है और हमारे क्षमादि स्वाभाविक गुणयुक्त भाव-कुटुम्ब का नाश कर दिया है, जिससे हम इस भव ग्राम रूपी ससार मे भटक रहे हैं, जहाँ भोग की भीख भी मिलना अति दुर्लभ है, फिर भी उसके अश मात्र की प्राप्ति से सतुष्ट हो जाते है और परमार्थ से दु खसागर मे डूबे हुए है तब हमारा इस परिस्थिति से उद्धार कैसे होगा?

बुधाचार्य—राजेन्द्र! * अब मैं तुम्हे बठरगुरु की कथा का शेष भाग सुनाता हूँ। उसमे बठर का उद्धार जिस प्रकार हुआ उसी प्रकार तुम्हारा भी भव-विडम्बना से उद्धार हो सकेगा।

धवल राजा—भगवन्! उसके बाद बठरगुरु का क्या हुआ?

आचार्य बोले :—

कथा का शेष भाग

राजन्! बठरगुरु को निरन्तर धूर्त तस्करों द्वारा दिये गये त्रास को देखकर किसी एक शिव-भक्त को उस पर अत्यधिक दया आ गई। उसने सोचा कि वास्तव मे साधन-सम्पन्न किन्तु भोला बठर इस प्रकार पीड़ित हो यह तो ठीक नही है। इसे इस भयंकर दु.ख से मुक्त करने का कोई न कोई उपाय सोचना चाहिये। सोचते-सोचते शिव-भक्त किसी वैद्यराज के पास गया और उसे बठर का सारा वृत्तान्त सुनाकर उससे उसकी दुःखमुक्ति का उपाय पूछा। वैद्य ने उसे जो उपाय बतलाया, उसे शिव-भक्त ने अच्छी तरह समझ लिया। वैद्य द्वारा बताये गये उपाय के अनुसार सामग्री लेकर वह रात में शिव मन्दिर मे गया। उसने जब देखा कि बहुत समय तक बठर को नचाते-नचाते थक कर धूर्त सो गये है तब भक्त ने अवसर देखकर मन्दिर मे जाकर दीपक जलाया। प्रकाश होते ही बठर ने भक्त को देखा। उस समय उसमे तथाभव्यता (योग्यता) होने से एवं अत्यधिक थकान से श्रान्त होने के कारण बठर ने कहा—"मैं बहुत थक गया हूँ, मुझे बहुत प्यास लगी है, थोड़ा पानी पिला

* पृष्ठ ५२३

दो ।' शिव-भक्त ने कहा—'गुरुजी ! मेरे पास तत्त्वरोचक तीर्थ जल है, इसे आप पीजिये ।' बठर ने वह जल पीया । उस जल के पीते ही उसका उन्माद क्षण भर में नष्ट हो गया, उसकी चेतना निर्मल हो गई और जैसे ही उसने अपनी दृष्टि शिव मन्दिर मे घुमाई वैसे ही उसको ज्ञात हो गया कि जिन्हे वह अपना मित्र समझता था वे तो उसके शत्रु, चोर, लुटेरे और धूर्त है । फिर बठर ने शिव-भक्त से पूछा कि, 'यह सब कैसे हुआ ?' भक्त ने सारा वृत्तांत बठर को धीरे-धीरे सुना दिया। सारी वास्तविकता सुनकर गुरु ने पूछा—'अब मुझे क्या करना चाहिये ?' भक्त ने उसे एक वज्रदण्ड दिया और कहा—'गुरु ! ये जो तेरे मित्र बनकर बैठे है वे वास्तव मे तेरे शत्रु है, इन्हें इस वज्रदण्ड से मार भगाओ, तनिक भी विलम्ब या ढील मत करो ।' उसी समय गुस्से में आकर बठर ने चोरो को वज्रदण्ड से मार-मार कर उनका कचूमर निकाल दिया । फिर बठर ने अपनी चित्त कोठरी को खोला तो उसका कुटुम्ब भी मुक्त हुआ । जब उसने आँखों के सामने रत्नो का ढेर देखा तब उसे ज्ञात हुआ कि शिवमन्दिर मे कितनी अमूल्य सम्पत्ति है, जिससे उसका मन अति हर्षित हुआ । फिर उसने चोर, लुटेरो और धूर्तो से भरे हुए भवग्राम को छोड दिया और एकान्त मे आये हुए निरुपद्रव एक शिवालय नामक महामठ मे पुनः सारगुरु के नाम से रहने लगा । इस प्रकार सारगुरु की कथा का शेष भाग पूर्ण हुआ ।

शेष कथा का संक्षिप्त उपनय

धवल राजा—भगवन् ! बठरगुरु की उत्तरकथा हम पर कैसे घटित होगी ?

आचार्य—राजन् ! इस कथा में जो शिवभक्त है उसे सद्धर्म के उपदेशक सद्गुरु समझे । ससार रूपी भवग्राम मे भटकते हुए, रागादि चोरो से त्रस्त, अनेक दु.खो से पीडित, अपने अन्तरग ऐश्वर्य से भ्रष्ट, स्व-भाव रूपी गुणो के हितेच्छु कुटुम्ब से रहित, संसार मे आसक्त, भिखारी की तरह विषयों की भीख मागने और थोडी सी भीख से सन्तुष्ट होने वाले कर्मोन्माद से विह्वल प्राणी को देखकर सद्गुरु को उस पर करुणा आती है और इस प्रकार की भयंकर दु.ख-परम्परा से उसे किस प्रकार छुडाया जाए इसका विचार करते है । [३३६–३३८]*

इसके परिणामस्वरूप गुरु उपाय ढूंढते हैं और जिनेश्वर भगवान् रूपी महा-वैद्य के उपदेश से उपाय जान लेते है । तदनन्तर जैसे धूर्त चोर सोये हुए होते है वैसे ही जब राग-द्वेषादि क्षयोपशम भाव को प्राप्त होते है तब अवसर देखकर धर्माचार्य जीवस्वरूप शिवमन्दिर में जाकर सत्यज्ञान का दीपक प्रज्वलित करते है और प्राणी को सम्यक् दर्शन रूपी निर्मल जल पिलाते है तथा चारित्र रूपी वज्रदण्ड उसके हाथ मे देते है । उस समय प्राणी का आत्मस्वरूप रूप शिवमन्दिर सत्यज्ञान रूपी दीपक के प्रकाश से जगमगा उठता है, महा प्रभावशाली सम्यग्-दर्शन रूपी जलपान से आठो कर्मो का उन्माद नष्ट हो जाता है और उसके हाथ में महावीर्यशाली दैदीप्य-मान चारित्र का वज्रदण्ड आता है तब वह धर्माचार्य के उपदेश का अनुसरण कर

* पृष्ठ ५२४

पहले महामोह आदि धूर्तों और राग-द्वेष आदि चोरो को सचेत करता हुआ चारित्र रूपी वज्रदण्ड के प्रहार से उन्हे पछाड देता है। महामोह और राग-द्वेष रूपी चोर धूर्तों का निर्दलन करने पर प्राणी का कुशलकारी आशय (भावनायें) विस्तृत होता है, उसके पूर्व मे बधे हुए कर्म क्षय होते हैं, नये कर्मो का बन्ध नही होता और अधम व्यवहार के प्रति प्रीति नष्ट हो जाती है। उसका जीव-वीर्य (आन्तरिक तेज) उल्लसित होता है, आत्मा निर्मल बनती है, अत्यधिक अप्रमाद भाव जागृत होता है, झूठे-सच्चे सकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते है, समाधिरत्न स्थिर हो जाता है और उसकी संसार-परम्परा घटती जाती है।

तत्पश्चात् जब प्राणी स्वय के चित्तरूप कमरे के आवरण रूप जो दरवाजे बन्द थे उन्हे वह खोलता है तब उस कमरे मे बद स्वय के स्वाभाविक गुण रूपी कुटुम्बीजन प्रकट होते है। अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान रूपी प्रकाश से अपनी आत्मऋद्धि का अवलोकन कर प्राणी को निर्बाध आनन्द की प्राप्ति होती है, सच्ची आत्मजागृति होती है और मन मे प्रमोद होता है। फलस्वरूप वह दु.ख से भरपूर भवग्राम (ससार) को छोड़ देने का विचार करता है। ससार त्याग की इच्छा होने से उसकी विषय मृग-तृष्णा शान्त हो जाती है, अन्तरात्मा रुक्ष हो जाती है, शेष सूक्ष्म कर्म परमाणु भी झड़ जाते है, चिन्ता-रहित हो जाता है, विशुद्ध आत्मध्यान स्थिर हो जाता है और योगरत्न दृढ हो जाता है। उस समय वह जीव जब महासामायिक को ग्रहण कर अपूर्वकरण द्वारा क्षपक श्रेणी को प्राप्त कर बड़े-बडे कर्मजालो की शक्ति का नाश कर देता है तब उसमें शुक्लध्यान रूपी अग्नि-ज्वाला प्रकट होती है। अनन्तर योग का वास्तविक माहात्म्य प्रकट होता है और वह समग्र घाती कर्मो के पाश से मुक्त होकर परमयोग की स्थिति को प्राप्त होता है, जिससे प्राणी मे केवलज्ञान का आलोक प्रदीप्त होता है। इसके पश्चात् जगत् पर अनुग्रह (उपकार) करता है। आयुष्य के अल्प रहने पर केवली समुद्घात द्वारा शेष चार कर्मो को भी समान कर, मन वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध कर, शैलेशी अवस्था पर आरोहण करता है। पश्चात् वह भवोपग्राही समग्र कर्म-बन्धनो को तोडकर देह रूपी पिंजरे का सर्वथा त्याग कर, भवग्राम (ससार) का सर्वदा के लिये त्याग कर, सततानन्द प्राप्त कर, समस्त प्रकार की बाधा-पीडा से मुक्त होकर शिवालय (मोक्ष) नगर मे पहुँच जाता है। यह नगर महामठ जैसा है वहाँ वह सारगुरु की तरह अपने को स्थापित कर अपने भाव-कुटुम्बियो (स्वाभाविक गुणो) के साथ समस्त कालो मे रहता है।

हे राजन्! इसी कारण मैंने तुम्हे कहा था कि बठरगुरु की उत्तर कथा मे जिस प्रकार घटित हुआ उसी प्रकार यदि तुम्हारे सम्बन्ध मे भी घटित हो तो तुम भी समस्त प्रकार के दु.ख, कष्ट, त्रास और विडम्बना से मुक्त हो सकते हो, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है।

१७. बुधाचार्य-चरित्र

बुधाचार्य द्वारा बठरगुरु की कथा* और सारगर्भित उपनय सुनकर धवलराजा हर्षित हुए और समस्त सभाजन भी अत्यधिक प्रमुदित हुए। इस वास्तविकता को सुनकर उनमें इतना अधिक भक्तिरस उमड पडा कि उनके कर्म के जाले पतले पड़ गये और उन्होने हाथ जोड़ कर मस्तक पर लगाते हुए कहा—हे यतीश्वर! जिस प्राणी के आप जैसे नाथ हो, भक्तवत्सल हो उसका कौनसा कार्य सिद्ध नही हो सकता? अतएव आप निर्विकल्प चित्त होकर हमे मार्ग-दर्शन दीजिये कि अब हमें क्या करना चाहिये? जिससे कि हमारी इस दु:ख-पूर्ण संसार से मुक्ति हो सके। [३३९–३४२]

बुधाचार्य का सदुपदेश

बुधाचार्य—भद्रो! तुम सब लोगो ने बहुत अच्छी बात की है। तुम लोगो की बुद्धि प्रशसनीय है। मेरे विवेचन को तुम लोगो ने भली प्रकार से समझा है। हे श्रेष्ठ मानवो! आप लोगों ने मेरे वाक्यार्थ को भावार्थ सहित (सरहस्य) समझ लिया है, ऐसा लगता है। अतः हे नरेन्द्र! मैं मानता हूँ कि सम्प्रति मेरा परिश्रम सफल हुआ है। हे राजन्! मेरा यही आदेश है कि ससार से मुक्ति के लिये तुम्हे भी वही करना चाहिये जो मैने किया है। [३४३–३४५]

धवल राजा—*भगवन्! आपने क्या किया है? वह बताने की कृपा करे।*

बुधाचार्य—राजेन्द्र! इस कारागृह जैसे ससार को असार जानकर मैने ससार से मुक्ति के लिये भागवती दीक्षा को अगीकार किया है। यदि तुम लोगो को भी मेरे उपदेश से अनन्त दु खो से परिपूर्ण ससार रूपी कैद खाने से निर्वेद (वैराग्य) हुआ हो तो ससार का सर्वथा उच्छेद करने वाली भागवती दीक्षा को अगीकार करो। कहावत है कि "धर्म की त्वरित गति है" अर्थात् धर्म के कार्यों मे तनिक भी विलम्ब नही करना चाहिये, अतः हे भव्य लोगो! तुम्हे भी यह कार्य शीघ्र ही सम्पन्न करना चाहिये। [३४६–३४८]

धवल राजा—*भगवन्!* आपने जो कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया है वह मेरे मानस मे स्थिर हो गया है, किन्तु मुझे एक जिज्ञासा (कौतूहल) उत्पन्न हुई है वह शान्त हो ऐसा स्पष्टीकरण करे। हे नाथ! हमें तो आपने परिश्रम करके प्रतिबोधित किया, किन्तु आपको किसने, कब, कैसे और किस नगर मे प्रतिबोधित किया? अथवा हे भगवन्! आप स्वयंबुद्ध परमेश्वर है? हम सब के हित की इच्छा से हम सब की जिज्ञासा को तृप्त करने की कृपा करे। [३४९–३५१]

---

* पृष्ठ ५२५

बुधाचार्य—राजन् ! शास्त्रो की ऐसी आज्ञा है कि साधुओ को अपनी आत्मकथा का वर्णन नही करना चाहिये; क्योकि आत्मकथा का कथन करने से लघुता (तुच्छता) प्राप्त होती है। यदि मै अपना चरित्र तुम्हारे समक्ष कहूंगा तो ['अपने मुह मिया मिठ्ठु' बनने की कहावत के अनुसार] मुझे भी लोग तुच्छ समझने लगेंगे, क्योकि स्वचरित्र का वर्णन करने पर यह अनिवार्य है, अतएव आत्म-वर्णन करना योग्य नही है। [३५२–३५३]

आचार्य देव की बात सुनकर धवल राजा ने पूज्य गुरुदेव के चरण पकड लिये और कौतूहल जानने के आवेग मे आत्म-कथा सुनाने का वारम्वार आग्रह करने लगे। धवल राजा और सभाजनो का इतना अधिक आग्रह देखकर आचार्य बोले—लोगो ! तुम्हे मेरा चरित्र सुनने की अत्यधिक जिज्ञासा और कौतूहल है तो लो सुनो ! मैं तुम्हे अपनी आत्मकथा सुनाता हूँ,* ध्यानपूर्वक सुनो। [३५४–३५६]

बुध-चरित्र

इस लोक मे प्रख्यात अनेक घटनाओ से ओत-प्रोत, विस्तृत और अति सुन्दर धरातल नामक एक सुन्दर नगर था। इस नगर मे सुप्रसिद्ध प्रभाववाला जगत् का आह्लादकारी कीर्तिमान शुभविपाक नामक राजा राज्य करता था। इस राजा ने अपने प्रताप से समग्र भू-मण्डल पर अधिकार कर रखा था। उसके समग्र अगोपागो से अत्यन्त रूपवती जगत्प्रसिद्ध और अतिप्रिय निजसाधुता नाम की रानी थी। अन्यदा समय परिपूर्ण होने पर निजसाधुता देवी की कुक्षि से वुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र लोकविश्रुत हुआ, क्योकि यह गुणो की खान थी और समग्र कला-कौशल का मन्दिर था। क्रमश: यौवनावस्था को प्राप्त होने पर यह कुमार रूपाधिक्य के कारण कामदेव की तरह अत्यधिक आकर्षक बन गया।

[३५७–३६१]

इस शुभविपाक राजा के एक भाई था जिसका नाम अशुभविपाक था और वह भयकर, अदर्शनीय और जगत्सतापकारी जनमेजय के सदृश था। इस अशुभ-विपाक की पत्नी का नाम परिणति था, जो जगत्प्रसिद्ध लोक-सतापकारिणी और अति भयकर शरीर वाली थी। इनके एक मन्द नामक पुत्र हुआ, जो अति रौद्र आकृति वाला था और साक्षात् विष के अकुर जैसा क्रूर था। वह करोड़ो दोषो का भण्डार और गुणो की छाया से भी दूर था। जैसे-जैसे वह मन्द बड़ा होता गया वैसे-वैसे मन्द मदविह्वल मदोद्धत बनता गया। वुध और मन्द चचेरे भाई होने से उनमे गाढ मैत्री होना स्वाभाविक था। बचपन से ही वे साथ ही पले थे, साथ ही खेलते थे और साथ ही आनन्द कल्लोल करते थे। कभी नगर मे, कभी उद्यानो मे वे क्रीडारस-परायण होकर स्वेच्छा से साथ-साथ ही घूमने और खेलने निकल जाते थे।

[३६२–३६७]

---

* पृष्ठ ५२६

इधर विमलमानस नगर मे शुभाभिप्राय नामक राजा राज्य करता था जिसके एक चारुदर्शना धिषणा नाम की पुत्री थी। यह पुत्री जब युवावस्था को प्राप्त हुई तब स्वयंवर रचाया गया, जिसमे उसने बुधकुमार का वरण किया। पश्चात् उसके पिता ने बड़ी धूमधाम से बुधकुमार के साथ उस धिषणा का लग्न कर दिया। बुध और धिषणा को अनेक मनोरथो के पश्चात् काल-पूर्ण होने पर एक सर्वगुणसम्पन्न अति रूपवान विचार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। [३६८-३७०]

१८. घ्राण परिचय : भुजंगता के खेल

नासिका महागुफा

अन्यदा बुधकुमार और मन्द अपने क्षेत्र मे क्रीडा कर रहे थे उस समय अकस्मात एक आकर्षक विचित्र घटना घटित हुई। इस घटना का वर्णन आप सुने।

जिस क्षेत्र मे बुध और मन्द क्रीड़ा कर रहे थे उस क्षेत्र के किनारे उन्होने ललाटपट्ट नामक एक मनोहर, विशाल श्रेष्ठ पर्वत देखा। उस पर्वत पर एक अत्युच्च शिखर था, जिस पर एक मनोरम कबरी नामक झाडी थी। ऐसा लगता था मानो उसके चारो ओर भ्रमरो के झुण्ड बैठे हो। ऐसे मनोरम पर्वत और वन-शोभा को देखकर उन दोनो का मन पर्वत को निकट से देखने का हो गया और वे उस तरफ चल पडे। वे बढ ही रहे थे कि उन्होने पर्वत की तलहटी मे सुदीर्घ शिलाओं द्वारा निर्मित * नासिका नामक लम्बी महा गुफा देखी। यह महा गुफा दूर से इतनी रमणीय लग रही थी कि वे दोनो इसे देखने का लालच नही छोड सके। वे दोनो प्रसन्न होकर गुफा की तरफ चलने लगे। पास जाकर उन्होने देखा कि गुफा के मुख पर दो बडे-बड़े अपवरक (कक्ष) है। कमरो के द्वार पर खडे रहकर उन्होने देखा कि गुफा बहुत गहरी है और उसके भीतर गहन अन्धकार है। अन्धेरा इतना गहरा था कि तेज दृष्टि वाला भी कुछ न देख सके और न यह जान सके कि गुफा कितनी लम्बी होगी। [३७१-३७८]

गुफा के पास आकर मन्द बोला—देखो इस गुफा मे दो बडे-बडे द्वार हैं, लगता है किसी बड़े शिलाखण्ड से नासिका महा गुफा के दो भाग किये गये है।

* पृष्ठ ५२७

यह सुनकर बुध ने कहा—हाँ, भाई ! तेरी बात ठीक है । इन दोनों द्वारो के बीच जो मोटी शिला दिखाई देती है, उसे गुफा को दो भागो मे बाँटने के लिये ही प्रयुक्त किया गया है । [३७६–३८०]

घ्राण एवं भुजंगता का परिचय

बुध और मन्द इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहे थे कि गुफा द्वार मे से एक चपल आकृति वाली बालिका बाहर आई । बाहर आते ही बालिका ने दोनो राजपुत्रो को प्रणाम किया, चरण छुए और चेहरे पर अत्यन्त स्नेह और प्रेम के भाव प्रदर्शित करते हुए बोली—अहा ! आपका सुस्वागत ! आपकी मुझ पर बड़ी कृपा है । आपने यहाँ पधार कर, सुधि लेकर मुझ पर महती कृपा की है ।

इस रूपवती बाला का मधुर सम्भाषण सुनकर मन्द मन मे बहुत सन्तुष्ट हुआ । उसके वाक्चातुर्य और भाषण-कुशलता से मन्द उसके प्रति आकर्षित हुआ । उत्तर मे वह स्नेहपूर्वक नम्रता से बोला—हे सुलोचने ! तुम कौन हो और किस कारण से इस गुफा मे रहती हो ? हमें बताओ । [३८१–३८५]

मन्द कुमार के वचन सुनते ही वह बाला शोकावेश में मूर्छित एवं चेतनाशून्य होकर जमीन पर गिर पड़ी । उसकी दशा देखकर मन्द की उसके प्रति आसक्ति और बढ गई । उसकी मूर्छा भग करने के लिये वह हवा करने लगा और ठडे पानी के छींटे देने लगा । चेतना आने पर बाला के नेत्रो से बडे-बड़े मोतियों के समान अश्रु बिन्दु टपकने लगे । मन्द द्वारा पुन:-पुन: शोक का कारण पूछने पर उसने स्नेह से गद्गद स्वर में कहा—अरे नाथ ! मै वास्तव में मन्दभागिनी हूँ कि आप दोनों मेरे स्वामी होकर भी मुझे भूल गये, मेरे शोक का इससे बड़ा क्या कारण हो सकता है ? मेरे देव ! मैं आप दोनो की सेविका भुजगता हूँ । आपने स्वय ही तो मेरी नियुक्ति इस नासिका महागुफा मे की थी । इसी गुफा मे आप दोनो का प्राणप्रिय मित्र घ्राण रहता है, जिसकी परिचारिका बनकर मैं आपकी आज्ञा से ही यहाँ रहती हूँ । आप दोनो की घ्राण के साथ चिरकालीन मित्रता है । यह मित्रता कब और कैसे हुई, हे नाथ ! इस बारे मे बताती हूँ, आप सुने । [३८६–३९२]

पूर्व इतिहास

बहुत समय पहले आप दोनो असव्यवहार नगर मे रहते थे, जहाँ कर्म-परिणाम राजा का शासन चलता था । उसी की आज्ञा से पहले आपको वहाँ से हटाकर एकाक्षसस्थान नगर मे लाया गया, फिर आप दोनो प्राणियो से व्याप्त विकलाक्ष नगर में आये ।* आपको स्मरण होगा कि इस नगर मे तीन मोहल्ले थे । त्रिकरण नामक दूसरे मोहल्ले मे बहुत से कुलपुत्र रहते थे । वहाँ आप दोनो भी रहते थे । जब आप दोनों वहाँ रहते थे तब कर्मपरिणाम राजा ने आप पर प्रसन्न होकर आप दोनो को यह गुफा और उसका रक्षक घ्राण नामक मित्र दिया था । यह घ्राण मित्र और हितकारी है ऐसा आप दोनो मानते थे । उसके बाद से ही

* पृष्ठ ५२८

अपार शक्ति और महत्ता वाला आपका यह मित्र आपके लिये सुख-सिन्धु का कारण बना। आपका यह मित्र आप पर बहुत स्नेह रखता है। राजा के आदेश से वह इस गुफा मे ही रहता है और आप दोनो उसका भरण-पोषण करते हैं। जहाँ-जहाँ आप गये है, वहाँ-वहाँ नानाविध सुगन्धित पदार्थो से आप दोनो ने उसका पोषण किया है। एक बार आप दोनो जब मनुजगति मे गये तब तो आप लोगो ने उसका विशेष रूप से पोषण किया। आप दोनो ने ही बडे स्नेह से मुझ निर्भागिनी भुजगता को अपने मित्र घ्राण की परिचारिका/दासी नियुक्त किया था। घ्राण से आप दोनो की मित्रता चिर-समय से है और तभी से मैं भी आपकी सेविका के रूप से लोगो मे प्रसिद्ध हूँ। फिर भी आप गज-निमीलिका धारण कर मुझे न पहचानने का अभिनय कर रहे है, अतएव मेरे लिये इससे अधिक शोक का क्या कारण हो सकता है ? हे नाथ ! पुरातन काल से चले आ रहे आपके इस मित्र पर कृपा दृष्टि करे और उसके प्रति स्नेह रखकर पुन' उसका पालन-पोषण करे। [३९३–४०५]

अपने झूठे स्नेह का इस प्रकार भ्रामक प्रदर्शन करती हुई भुजगता बुध और मन्द कुमार के पाँवो मे गिर पड़ी। बुध कुमार को इस भुजगता का व्यवहार असुन्दर प्रतीत हुआ और उसे उसके व्यवहार मे धूर्तता दिखाई दी तथा उसे लगा कि उसका पैरो मे गिरना कृत्रिमता पूर्ण है। कहा भी है :—"कुलवती स्त्रियो के कपोलो पर स्मित हास्य होता है, वे मृदुवाणी मे लज्जापूर्वक बोलती है और उनकी तरफ निर्निमेष (एकटक) देखने पर भी उनमे विकार दृष्टिगोचर नही होता।" यह बाला तो बडी तेज-तर्रार है, इसके नेत्र विलास से स्फुरित हो रहे है और इसकी वाक्पटुता से स्पष्ट लगता है कि यह कोई दुष्टा है, इसमे कोई सन्देह नही। महात्मा बुध ने इस प्रकार मन मे निश्चित कर उसकी बात का कोई उत्तर नही दिया। [४०६–४१०]

मन्द की आसक्ति

मन्द कुमार को उसके व्यवहार मे कोई कृत्रिमता नही लगी, अत' चरणो मे गिरी हुई उस बाला को हाथ पकड़ कर उठाया तथा प्रेम से विह्वल होकर उससे बोला—हे सुन्दरि ! विषाद को छोड। सुमुखि ! जरा धैर्य धारण कर। हे बाले ! तू ने जो कहा वह ठीक ही होगा। हे सुलोचने ! पर सच्ची बात तो यह है कि * मुझे तो कुछ भी याद नही है। फिर भी तू ने जो स्नेह प्रदर्शित किया है तथा पुरानी स्मृतियो को प्रत्यक्ष की तरह साकार कर दिया है, अतः अब यह बता कि अब मुझे क्या करना चाहिये ? ताकि मैं तदनुसार ही करूँ। हे भद्रे ! मैं तो तेरा स्नेहक्रीत किंकर हो चुका हूँ।

भुजंगता—नाथ ! जैसे आपने पूर्वकाल मे अपने मित्र घ्राण का पोषण किया वैसे ही अब भी अपने पुराने मित्र का पोषण करे, उसे भुलाये नही, यही मेरी प्रार्थना है।

* पृष्ठ ५३८

मन्द—हे कमलमुखी सुन्दरि ! मित्र घ्राण का पोषण कैसे करूँ ? यह तो बता।

भुजगता—नाथ ! आपका यह मित्र सुगन्ध का लोभी है, अत: इसका पोषण सुगन्धित द्रव्यो से करें। चन्दन, अगरु, कपूर, कस्तूरी, केसर आदि के चूर्ण का विलेपन इसे अत्यधिक प्रिय है। इलायची, लोग, कपूर आदि अन्य सुगन्धित फलो और पदार्थो से बना ताम्बूल (पान) यह बडे प्रेम से खाता है। मघमघायमान करते सुगन्धित धूप, गन्ध गुटिकायें, अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्प आदि अन्य सभी सुगन्धित पदार्थ इसे अति प्रिय है, लेकिन दुर्गन्ध इसे तनिक भी प्रीतिकर नही है, अत. यदि आप इसका सुख चाहते हो तो दुर्गन्ध से इसे सदा दूर रखें। इस प्रकार आप अपने मित्र घ्राण का पोषण करे। यह मित्र आपको दु खनाशक और सुखकारक होगा। हे देव ! यदि आप इस पद्धति से घ्राण का पालन-पोषण करेंगे तब इससे आपको जो सुख प्राप्त होगा उसका वर्णन करना भी अशक्य है।

मन्द—हे विशालनेत्रि ! तुमने बहुत अच्छी बात कही। हे सुभ्रु ! जैसा तुमने कहा, वैसा ही मै करूँगा। अब तुम आकुलता को छोड़कर स्वस्थ हो जाओ।

यह सुनकर बालिका की आँखे हर्ष से विकसित हो गईं। 'आपकी बडी कृपा' कहती हुई वह भुजंगता फिर मन्द के पैरो पर गिर पडी। [४११-४२५]

बुध की कर्त्तव्यशीलता

बुध कुमार तो निर्जनवन मे स्थित मुनि के समान मौन धारण कर भुजगता का कृत्रिम प्रेम-प्रदर्शन और वाचालता का खेल देखता रहा। बालिका भुजंगता भी समझ गई कि यह कोई (पहुँचा हुआ व्यक्ति है,) शठ है, मेरे चक्कर मे आने वाला नही है। अत वह मुँह से तो कुछ भी न बोली किन्तु बुध की ओर तिरस्कृत दृष्टि फेंक कर मन ही मन कुछ बडबडाने लगी। उसके अस्पष्ट शब्दो मे छुपी हुई विजय की दुष्ट वासना को देख बुध ने मन में विचार/निश्चय किया कि, अरे ! यह पर्वत और महागुफा तो मेरे क्षेत्र (शरीर) मे ही है जिसमे घ्राण बैठा है, अत: मुझे उसका पोषण तो करना ही है। किन्तु, यह दुष्ट बालिका जैसा कह रही है तदनुसार सुख की कामना से इसका पोषण करना मेरा कर्त्तव्य नही है। अत जब तक मैं इस क्षेत्र (शरीर) से मुक्त नही हो जाता तब तक लोक-यात्रा के अनुरोध से, विशुद्ध मार्ग से, बिना आसक्त हुए मै इसका पोषण करूँगा। ऐसा सोचकर बुध ने घ्राण का पोषण कर्त्तव्य रूप मे करते हुए भी किसी प्रकार के दोषो को नही अपनाया और * उत्तम सुख भी प्राप्त करता रहा। [४२६-४३१]

इधर मन्द कुमार दुष्टा भुजंगता के वशीभूत होकर घ्राण के पालन-पोषण मे आसक्त होकर दु.खसागर में गोते लगाने लगा। वह मन्द सुगन्धित द्रव्यो को

* पृष्ठ ५३०

एकत्रित कर उसकी निर्माण प्रक्रिया मे रात-दिन व्याकुल बना रहता। इससे उसकी शान्ति नष्ट हो गई और उसका मन विक्षुब्ध रहने लगा। वह मूर्ख दुर्गन्ध से बचने के लिये दुर्गन्ध-नाशक साधनो को एकत्रित करने के लिये सर्वदा खिन्न-मनस्क रहता। वह 'शान्ति का सुख क्या है?' यह भी नही जानता था। इस कारण विवेकीजन उस पर हँसते थे। तदपि वह मोहदोष के कारण घ्राण के पालन-पोषण मे प्रगाढासक्त होकर अपने आपको पूर्ण सुखी मानता था। [४३२-४३५]

१६. मोहराज और चारित्रधर्मराज का युद्ध

विचार का देशाटन-अनुभव

इधर बुध कुमार और धिषणा का पुत्र विचार योग्य पालन-पोषण से शनै.-शनै: युवावस्था को प्राप्त हो गया था। एक बार यह कुमार विनोद हेतु भ्रमण के लिये देशान्तरों की ओर यात्रा हेतु चल पडा। जिस समय भुजगता और घ्राण का परिचय बुध कुमार से हुआ था उसी समय विचार कुमार बाह्य और आन्तरिक प्रदेशो की लम्बी यात्रा कर वापस अपने घर लौटा था। विचार के यात्रा-प्रवास से लौटने पर उसकी माता धिषणा, पिता बुध और समस्त राज-परिवार को अत्यधिक आनन्द हुआ और इस प्रसन्नता के समय मे उन्होने एक बडा उत्सव मनाया। इसी उत्सव मे विचार को पता लगा कि पिताजी और चाचाजी की घ्राण से मित्रता हुई है, अत उसने अपने पिताजी को एकान्त मे ले जाकर हाथ जोडकर विनयपूर्वक कहा :—[४३६-४४०]

पिताजी! मैं छोटे मुँह बडी बात नही करना चाहता, किन्तु आप दोनो की घ्राण से जो मित्रता हुई है, वह योग्य नही है। वह अच्छा व्यक्ति नही है, महादुष्ट है। क्यो? इसका कारण आप सुने। पिताश्री! आप जानते है कि मैं आपको और माताजी को पूछे बिना देश-दर्शन की कामना से भ्रमण के लिये यहाँ से चला गया था। तात! मैने भूमण्डल पर भ्रमण करते हुए अनेक ग्राम, नगर, कस्बो की रमणीयता का दर्शन किया। अन्यदा मैं घूमता हुआ भवचक्र नगर मे पहुँचा।

मार्गानुसारिता मौसी से मिलन

इस नगर के राज्य-मार्ग पर मैने एक सुन्दरी को देखा। मुझे देखकर इस विशालाक्षी सुन्दर ललना को अतिशय प्रसन्नता और अवर्णनीय नवीन रस का अनुभव हुआ। जैसे कल्पवृक्ष की मजरी को अमृत के छीटे देने पर, घन-गर्जन से हर्षित

होकर नृत्याभिमुख मयूरिका को, रात्रि विरह के पश्चात् चक्रवाक को देखकर चकवी को, निरभ्र शरद् ऋतु मे चन्द्रकला की सुन्दरता को देखकर किसी को भी आनन्द होता है वैसा ही आनन्द मुझे अपलक दृष्टि से देखकर उस शान्त साध्वी स्त्री को हो रहा था। मानो उसका किसी राज्य सिंहासन पर अभिषेक हो रहा हो अथवा सुखसागर में डुबकी लगा रही हो, वैसी ही आनन्द दशा का वह अनुभव कर रही थी। उसे हर्ष-विभोर देखकर मुझे भी आनन्द हुआ "स्नेह से परिपूर्ण सज्जन पुरुष को देखने से चित्त अवश्य ही आर्द्र/प्रेममय हो जाता है," इस साधारण नियम के अनुसार मैं भी उसके प्रति आकर्षित हुआ। मैने उसे प्रणाम किया और उसने मुझे आशीर्वाद दिया।

फिर वह बोली—हे वत्स !* मेरे हृदयनन्दन ! तू कौन है ? कहाँ से आया है ? बतला।

उत्तर मे मैने कहा—'मैं धरातल नगर निवासी बुधराज और धिषणा माता का पुत्र हूँ और ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेश यात्रा करता हुआ इधर आ निकला हूँ।' मेरा उत्तर सुनकर उसकी आँखो मे हर्ष के आँसू आ गये और स्नेह-पूर्वक मुझसे मिलकर, बार-बार मुझे चूमती हुई मेरे सिर को सूंघने लगी। [४४१-४५२] वह फिर बोली—

हे महाभाग्य ! तू यहाँ आया यह बहुत ही अच्छा किया। पुत्र ! तेरे हृदय और आँखो से मैंने पहले ही तुझे पहचान लिया था। मनुष्य के नेत्र और हृदय जाति-स्मरण के हेतु हैं, जिसे देखने मात्र से ही प्रिय अथवा अप्रिय का ज्ञान हो जाता है। प्रिय वत्स ! तू तो मुझे प्राय कर नही जानता, क्योकि जब मैने तुझे छोडा था तब तू बहुत छोटा था। तेरी माता धिषणा मेरी प्रिय सखी है और बुध-राज का भी मुझ पर बहुत स्नेह है। मेरा नाम मार्गानुसारिता है। तेरी पापरहित पवित्र माता तो मेरा शरीर, जीवन, प्राण और सर्वस्व है और तेरे पिता बुधराज तो मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय है। उन दोनो की आज्ञा से जब मैं लोकदर्शन के लिये निकली थी तब तो तेरा जन्म ही हुआ था। अत. हे सुन्दर पुत्र ! तू तो मेरा भानजा है, मेरा जीवन है। प्रिय वत्स ! तू मेरा सर्वस्व है और मेरा परमात्मा है। वत्स ! तू देश-भ्रमण के लिए घर से निकला यह अच्छा ही किया। मुझे तो नि सशय ऐसा लगता है कि तू बहुत ही जिज्ञासु है। [४५३-४६०] कहा भी है:—

यह ससार अनेक प्रकार की घटनाओ और कुतूहलो से भरा पडा है, जो प्राणी घर से निकल कर उसको आदि से अन्त तक नही देखता वह कूप-मण्डूक जैसा है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति के लिए संसार बहुत छोटा होता है और उसकी दृष्टि भी सीमित होती है। धूर्तो की धूर्तता और छल-कपट से भरी हुई तथा विविध घटना-चक्रो से परिपूरित इस पृथ्वी को जब तक अनेक बार न देख ले तब तक उस पुरुष

* पृष्ठ ५३१

को विलासिता, पाण्डित्य, बुद्धिमत्ता, चातुर्य, विविध देशो की भाषाओं का ज्ञान और व्यवहार-सौष्ठव का ज्ञान एवं अनुभव हो ही कैसे सकता है ? [४६१-४६३]

तू इस महान् भवचक्र नगर को देखने आया यह बहुत ही अच्छा किया। हे वत्स ! यह नगर अनेक घटनाओ का मन्दिर है, अनेक नूतन एव अद्भुत वस्तुओ का सगम है तथा चतुर मनुष्यों से व्याप्त है। जिस प्राणी ने इस नगर को अच्छी तरह देख लिया उसने समस्त चराचर विश्व को देख लिया, [क्योकि यहाँ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल का समावेश हो जाता है।] अधिक क्या कहूँ, वत्स ! तू स्वय चलकर यहाँ आया और सौभाग्य से मेरी दृष्टि तुझ पर पड गई, अत. मैं धन्य हूँ, भाग्यशाली हूँ और कृतकृत्य हूँ। [४६४-४६७]

उत्तर मे मैने कहा —हे अम्ब ! जैसा आप कह रही है यदि वैसा ही है* तो मै मानता हूँ कि मेरे भाग्य ने मुझे आप जैसी माता से मिलन करवाकर सर्वश्रेष्ठ कार्य किया है। हे माताजी ! अब आप मुझ पर महती कृपा कर मुझे यह समस्त भवचक्र नगर अच्छी तरह दिखावे। [४६८-४६९]

भवचक्र-दर्शन

विचार अपने पिता बुधराज से कह रहा है कि मेरी मार्गानुसारिता मौसी ने मेरा उत्तर सुनकर मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया और विविध घटनाओ के साथ समग्र भवचक्र नगर मुझे साथ लेकर दिखलाया। इस नगर मे भ्रमण करते हुए दूर से मैंने एक नगर देखा, जिसके मध्य में एक बड़ा पहाड और उसके शिखर पर बसा हुआ दूसरा नगर था। यह देखकर मैने मौसी से पूछा—'हे मात ! भवचक्र नगर के मध्य मे यह कौनसा पुर है ? यह कौनसा महागिरि है ? और पर्वत शिखर पर स्थित कौनसा पुर है ?' मेरा प्रश्न सुनकर मार्गानुसारिता मौसी ने कहा—'पुत्र ! क्या तू नही जानता ! यह तो जगत् मे सुप्रसिद्ध सात्विकमानसपुर है, यह विश्व-विख्यात विवेकगिरि पर्वत है और इसके अप्रमत्त नामक शिखर पर स्थित त्रिभुवन विख्यात जैनपुर नामक महानगर है। तू तो तत्त्वसार का ज्ञाता है फिर तूने ऐसा प्रश्न क्यो किया ?' [४७०-४७५]

घायल संयम

मौसी के साथ मेरी बात हो ही रही थी कि एक नवीन घटना घटित हुई। घटना सुनिये :—

मैने देखा कि गाढ प्रहारो से आहत और विह्वल एक राजपुत्र को अन्य पुरुष उठाकर ला रहे है और उसको घेरे हुए बहुत से पुरुष हैं। उसे देखते ही मैंने मौसी से पूछा—माताजी ! यह राजपुत्र जैसा घायल पुरुष कौन है ? इस पर इतने गाढ प्रहार किसने किये है ? इसे ये पुरुष कहाँ ले जा रहे है ? और इसकी सेवा मे कौन लोग खडे है ? [४७६-४७८]

---

* पृष्ठ ५३२.

मार्गानुसारिता—इस महागिरि पर चारित्रधर्मराज का राज्य है। उसके पुत्र यतिधर्म का यह प्रसिद्ध पराक्रमी संयम नामक योद्धा है। इस राज्य के प्रबल शत्रु महामोह आदि अत्यधिक दुष्ट है। इसे अकेला देखकर उन्होने इसे खूब मारा। शत्रुओं की संख्या अधिक होने से इसे इतनी मार खानी पडी कि इसका सारा शरीर लहूलुहान और जर्जरित हो गया है। यतिधर्म के सुभट इसे रणभूमि से उठाकर लाये है। हे वत्स! ये सुभट इसे स्वकीय राजमन्दिर मे ले जा रहे है। इसी जैनपुर में इसके सभी सम्बन्धी रहते है। [४७९-४८२]

मैंने कहा—मौसी! शत्रुओ द्वारा अपने अनुचर को इतना घायल देखकर अब चारित्रधर्मराज क्या करेंगे, यह देखने की मुझे बडी उत्कंठा है, अत आप कृपाकर मुझे उस शिखर पर ले चलिये और बताइये कि अब इस सयम का स्वामी चारित्रधर्मराज क्या करता है? [४८३-४८४]

चारित्रधर्मराज की सभा में विचार-विनिमय

मौसी ने मेरी बात सुनकर कहा—वत्स! ऐसा ही करते है। पश्चात् मौसी का अनुसरण करता हुआ मै उसके साथ विवेकगिरि पर्वत पर गया।* वहाँ से मैने देखा कि जैनपुर के चित्तसमाधान मण्डप मे राजमण्डल के मध्य मे चारित्र-धर्मराज बैठे थे। उनके आस-पास बहुत से दूसरे राजा बैठे थे, जिन सब के नाम और गुणों का मौसी ने अलग-अलग वर्णन किया, क्योंकि वह स्वयं उन सबको भली प्रकार से जानती थी। इसी समय सैनिकगण घायल सयम को वहाँ लेकर शीघ्रता से आये और सारी घटना कह सुनाई। शत्रु द्वारा अपने व्यक्ति की ऐसी घायल दशा देख कर और सुनकर सारी सभा क्षुब्ध हो गयी। उस समय सभाजनो के भयकर-गर्जन और हथेलियो द्वारा ताल ठोकने की प्रबल ध्वनि से पृथ्वी कांप उठी। उस खलबली से वह सभा गर्जित महासमुद्र जैसी दिखाई देने लगी। कई क्रोधित यमराज की तरह हुंकार करने लगे, कईयो की भुजाये फड़कने लगी, किन्ही के रोगटे खड़े हो गये, किन्ही के मुँह क्रोध से लाल हो गये, किन्ही की भौहे चढ गईं, कोई छाती तानकर अपनी तलवारो पर दृष्टि डालने लगे, कोई क्रोधान्ध हो जाने से आरक्त नेत्र वाले हो गये, किन्ही के प्रचण्ड अट्टहास से पृथ्वी काँपने लगी, किन्ही के क्रोध से आतप्त शरीरो से पसीने की बूंदे टपकने लगी और किन्ही के शरीर क्रोध से अग्नि-पिंड के समान लाल हो गये। [४८५-४९४]

समस्त राजमण्डल को क्षुभित देखकर चारित्रधर्मराज को उनके मत्री सद्बोध ने कहा—देव! धैर्यवान सत्पुरुषों को यो असमय के घन-गर्जन की भाँति एव कायर पुरुषो के समान क्षुब्ध होना उचित नही है। आवेश मे आये हुए इन राजाओ को शान्त कीजिये, इनका अभिप्राय जानिये और इनकी परीक्षा भी करिये। [४९५-४९७]

---

* पृष्ठ ५३३

सद्बोध मत्री की बात सुनकर चारित्रधर्मराज ने सभा मे व्याप्त क्षोभ को रोकने के लिये समग्र राजाओ की तरफ अपनी दृष्टि घुमाई, जिसे देखकर विचक्षण राजा और योद्धा मौन हो गये। [४६८]

चारित्रधर्मराज ने सभी सभासदो से कहा—राजाओ! जो घटना घटित हुई है वह तो आपने सुनी ही है और समझी भी है। अब हमको इस विषय मे क्या करना चाहिये? आपके मन मे जो विचार हो, उन्हे प्रकट करे। [४६६]

सभासदों का आक्रोश

महाराज का प्रश्न सुनकर वहाँ बैठे सत्य, शौच, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि राजाओ के मन मे युद्ध करने का उत्साह बढा और उन्होने एक आवाज मे कहा—अपने योद्धा सयम की उन्होने ऐसी दुर्दशा की उसे क्या चुपचाप सहन कर ले? क्या अभी भी हमे प्रतीक्षा करनी चाहिये? हे देव! अपराध करने वाले को क्षमा करने से यदि अपराध की क्षमा ही अपथ्य सेवन के समान परिणत होती हो अर्थात् उनकी अपराध वृत्ति मे बढोतरी होती हो तो उसको जडमूल से नष्ट कर देना ही परमौषध है। जब तक पापात्मा महामोह आदि भयकर शत्रुओ को मार कर न भगाया जायगा तब तक हम जैसों को सुख की गन्ध भी कैसे मिलेगी? परन्तु जब तक इस सम्बन्ध मे देवचरणो की (आपकी) प्रबल इच्छा नही होगी * तब तक इन दुरात्माओ का नाश नही होगा। हे स्वामिन्! देखिये, आपका एक-एक योद्धा ऐसा वीर है कि भयकर समरागण मे अकेला भी सम्पूर्ण शत्रु सेना को पराजित कर भगा सकता है, जैसे अकेला केशरीसिह मृगो की पूरी टोली को भगा सकता है। यदि आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा बीच मे बाधक न होती तो इस शत्रु सेना को ज्वार भाटा से क्षुभित समुद्र की लहरो की भाति हमारे योद्धा क्षणमात्र मे नष्ट कर देते। [५००-५०६]

सेनापति का आक्रोश

मोहराजा आदि के विरुद्ध एकमत से सघर्ष करने को उद्यत सभी महारथी राजा महाराजा के समक्ष खडे हो गये। उनके शरीर पर युद्ध-लोलुपता (रण की खुजली) के चिह्न देखकर महाराज ने अपनी दृष्टि उनकी ओर घुमाई तो वे सब महारथी, दुर्दान्त मदोन्मत्त हाथी को विदीर्ण करने मे समर्थ सिह जैसे दिखाई देने लगे। विचारने योग्य महत्वपूर्ण प्रसग होने से चारित्रधर्मराज अपने मत्री सद्बोध और सेनापति सम्यग्दर्शन के साथ गुप्त मन्त्रणा करने हेतु मन्त्रणा कक्ष मे चले गये। हे पिताजी! मौसी मार्गानुसारिता भी उस समय मेरे साथ अन्तर्धान होकर उस कक्ष मे प्रविष्ट हो गई। महाराज चारित्रधर्मराज ने अपने मत्री और सेनापति से पूछा कि, अब हमे क्या करना चाहिये? इस पर सेनापति सम्यग्दर्शन ने कहा—देव! हमारे महारथी योद्धा सत्य, शौच आदि ने जैसा कहा वैसा ही करने का समय

* पृष्ठ ५३४

आ गया है। इस प्रसंग में विचार या विलम्ब करने का प्रश्न ही क्या है? कारण यह है कि अत्यन्त दुष्ट चित्त वाले और नष्ट करने योग्य शत्रुओ द्वारा ऐसा असहनीय अपराध होने पर तो कोई भी स्वाभिमानी अनदेखी कर चुपचाप कैसे बैठ सकता है? शत्रु से पराजित होकर अपमानित होने से तो वह मर जाय तो श्रेयस्कर है, जल जाय तो अच्छा है, उसका जन्म न लेना ही प्रशस्य है और यदि वह गर्भ मे ही गल जाता तो अच्छा होता। जो प्राणी शत्रुओ से बार-बार मर्दित होकर और धूलि-धूसरित होकर भी स्वस्थ चित्त से चुपचाप बैठा रहे, तो वह प्राणी धूल, तृण और राख जैसा तुच्छ है, या यो कहे कि वह कुछ भी नही है तो ठीक है। यदि किसी राजा का एक भी शत्रु होता है तो वह उसे जीतने की इच्छा रखता है तब जिसके सिर पर अनन्त शत्रु हो वह चुप कैसे बैठ सकता है? अर्थात् उसके लिये अनदेखी करना लेशमात्र भी योग्य नही है। अत हे महाराज! आप अपने समस्त शत्रुओ को नष्ट कर, पृथ्वी को निष्कंटक कर फिर निराकुल होकर शान्ति से बैठिये। इस प्रकार अत्यन्त उत्कट वाक्यों द्वारा प्रसगोचित कार्य करने में अपने विचार प्रदर्शित कर सेनापति सम्यग्दर्शन चुप होकर बैठ गया। [५०७-५१८]

सद्बोध का राजनीति-चिन्तन

तदनन्तर चारित्रधर्मराज ने सद्बोध मन्त्री की तरफ अपनी दृष्टि घुमाई और इशारे द्वारा उसे अपना अभिप्राय प्रकट करने का सकेत किया। प्रत्येक घटना के कारणो का पृथक्करण कर गहन चिन्तन के पश्चात् वस्तु-तत्त्व के रहस्य को समझने में कुशल मन्त्री इस प्रकार बोला—देव! विद्वान् सेनापति जी ने आपके समक्ष जो युक्तिसगत परामर्श दिया है, उसके पश्चात् मेरे जैसे का इस प्रसंग में कुछ बोलना भी उचित नहीं है, फिर भी हे राजेन्द्र! आप मुझे गौरव प्रदान कर प्रसगानुसार विचार व्यक्त करने की आज्ञा देते है, अत. आपकी कृपा और उत्साह से प्रेरित होकर ही मेरी वाणी प्रस्फुटित हो रही है।* सम्यग्दर्शन की ओर लक्ष्य कर मन्त्री ने कहा—सेनापति जी! आपमे उत्कट तेज है। आपका वाक्चातुर्य पर अधिकार है। आपकी स्वामिभक्ति भी सराहनीय है। हे धीर! आपने कहा कि स्वाभिमानी व्यक्ति का शत्रुओं द्वारा किये गये पराभव को सहन करना दु.सहनीय है, यह सत्य है। यह भी सत्य है कि शत्रु द्वारा पराभूत प्राणी इस ससार मे तुच्छ है। महामोह आदि शत्रु दुष्ट हैं, शठ हैं, पापी है, नाश करने योग्य है, इसमे भी कोई सशय नही है। महाराज के अनुचर उनका नाश करने में समर्थ/पराक्रमी है, यह भी सत्य है। महाराज के महारथी योद्धाओं की बात छोड़िये, उनकी स्त्रियाँ भी महामोह आदि का नाश करने में सक्षम हैं, तदपि विचक्षण पुरुष योग्य अवसर के बिना कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं करते, क्योकि नीति और पुरुषार्थ योग्य अवसर के प्राप्त होने पर ही कार्य सिद्ध कर सकते है। यद्यपि महाराज और आपके समक्ष

* पृष्ठ ५३५

नीतिशास्त्र की बाते करना तो पिष्ट-पेषण जैसा ही है, तथापि कुछ विशेष बाते फिर से याद दिलाने की धृष्टता करता हूँ :— [५१६–५२८]

राजनीति मे छः गुण, पाँच अग, तीन शक्ति, तीन उदय और सिद्धि, चार प्रकार की नीति और चार प्रकार की राजविद्या प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार की और भी अनेक नीतियाँ नीतिशास्त्र मे वर्णित है, जिनसे आप दोनो सुपरिचित है, अत· उनका वर्णन क्या करना।

छः गुण है :—स्थान, यान, सन्धि, विग्रह, सश्रय और द्वैधीभाव।

राजनीति के पाँच अग है—१. उपाय, २. देशकाल का विभाग, ३. सैन्यबल और सम्पत्ति का ज्ञान, ४. आपत्ति का प्रतीकार और ५. कार्यसिद्धि। राजनीतिज्ञ पुरुष इन पाँचो अगो के पूर्णतया जानकार होते हैं और इन अगो का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करते हैं।

तीन प्रकार की शक्ति कही गई है .—१. उत्साह शक्ति, २ प्रभाव शक्ति, और ३ मत्र शक्ति। अर्थात मानसिक प्रेरणा, राज्य का प्रभाव और वास्तविक चिन्तन यह तीन प्रकार की शक्ति है।

इन तीन शक्तियो की प्राप्ति से राज्यरक्षण, प्रभुता और शत्रु-विजय यह तीन प्रकार के उदय होते है और स्वर्ण, मित्र तथा भूमि का लाभ होता है। यह तीन प्रकार की सिद्धि कहलाती है।

राजनीतिज्ञ साम, दाम, भेद और दण्ड इन चार प्रकार की नीतियो का निखिल कार्यो मे पर्यालोचन कर प्रवृत्त होते है।

राजाओ को चार प्रकार की राजविद्या का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। तर्कविद्या, त्रयी (साम, यजु और ऋग् तीन वेदो का ज्ञान), वार्ता (कृषि और इतिहास का ज्ञान) और दण्डनीति। [५२९–५३७]

हे महत्तम! इस समस्त राजविद्या के श्रीपूज्यपाद और सेनापति जी सम्यक् प्रकार से विशिष्ट ज्ञाता है ही, अत. अधिक विवेचन की क्या आवश्यकता है? मुझे तो केवल यह निवेदन करना है कि कोई व्यक्ति कितने भी शास्त्र जानता हो, पर अपनी अवस्था को ठीक से न समझ सकता हो तो उसका ज्ञान अन्धे के सामने स्वच्छ दर्पण रखने के समान व्यर्थ है।* जो व्यक्ति असाध्य कार्य को करने का प्रयत्न करता है, किन्तु उस विषय मे योग्य विवेक नही रखता वह हँसी का पात्र बनता है और समूल नष्ट हो जाता है। तात! जिस प्रयोजन को स्वीकार किया है उसका मूल पहले ही नष्ट हो चुका है, अत· युद्ध करने का या शत्रु-विजय का यह उत्साह क्या अर्थ रखता है? कारण स्पष्ट है·—यह भवचक्र, स्वय हम, वे महामोह आदि शत्रु, कर्मपरिणाम, अपने महाराजा आदि सभी तो ससारी जीव

* पृष्ठ ५३६

नामक महात्मा के अधीन है और उसी के अधिकार में यह महाटवी है। पर, यह ससारी जीव तो अद्यावधि मेरे जैसे का नाम भी नही जानता और महामोह आदि शत्रुओ को अपना प्रगाढ मित्र मानता है। अतएव यह निश्चित है कि जिस सैन्य-पक्ष के प्रति संसारी जीव का अधिक पक्षपात (झुकाव) होगा उसी की विजय होगी, क्योकि प्रत्येक परिस्थिति मे मूलनायक/वरराजा तो वही है। अत॰ जब तक उसकी समझ मे यह नही आये कि हमारी सेना उसका हित करने वाली है तब तक वह हमारे पक्ष मे नही होगा और जब तक वह हमारे पक्ष मे न हो तब तक युद्ध की तैयारी, प्रयाण और विग्रह/युद्ध आदि व्यर्थ है। ऐसे समय मे तो साम नीति का अवलम्बन कर, गजनिमीलिका की तरह दर्शक बनकर इस स्थिति की उपेक्षा करना ही समुचित है। कार्य की महत्ता का चिन्तन कर विज्ञजन पहले कार्य-सीमा का सकोच भी करते है, अर्थात् पीछे भी हटते हैं। जैसे हाथी को मारते समय सिंह पीछे हटकर वेग के साथ सबल आक्रमण करता है। ऐसा करने से पुरुषत्व/पराक्रम का नाश नही होता। [५३८–५४९]

सम्यग्दर्शन—आर्य ! यह ससारी जीव हमको पहचानेगा या नही ? इसका तो कुछ पता ही नही चलता और शत्रु जैसे आज हमे त्रस्त कर रहे है वैसे ही भविष्य मे भी पुन.-पुनः त्रस्त करते रहेगे। देखिये, जैसे आज अवसर का लाभ उठाकर शत्रुओ ने हमारे योद्धा सयम को घायल किया वैसे ही वे भविष्य मे हम सबको भी बार-बार मार-मारकर घायल करते रहेगे। अतएव इस स्थिति मे चुप्पी साधना संगत नही है। [५५०–५५१]

सद्बोध—आर्य ! इस विषय मे शीघ्रता मत करिये। योग्य समय पर ही पग उठाया जा सकता है। आप घबराये नही, क्योकि यह निश्चित है कि देर-अबेर ससारी जीव हमें अवश्य पहचानेगा। इसका कारण यह है कि कर्मपरिणाम महाराजा जैसे उनके सैन्य (पक्ष) मे सम्मिलित है वैसे ही हमारे सैन्य पक्ष मे भी है। उनका व्यवहार सर्वदा दोनो पक्षो के साथ प्राय. समान रहता है। इधर ससारी जीव भी कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञानुसार ही समस्त प्रवृत्ति करता है। भविष्य मे कभी अवसर देखकर कर्मपरिणाम महाराजा ससारी जीव को हमारी पहचान करायेंगे, उसे बतायेंगे कि हम उसके कितने हितेच्छु हैं, तब ससारी जीव प्रसन्नता से हमारी पूजा करेगा, हमारा सन्मान करेगा और तभी हम शत्रु का निर्दलन करने मे समर्थ होगे। [५५२–५५५]

आर्य ! किसी समय अवसर देखकर, चिन्तन कर कर्मपरिणाम महाराजा पहले अपनी बडी बहिन लोकस्थिति से परामर्श लेंगे, अपनी पत्नी काल-परिणति को पूछेंगे, अपने सेनापति स्वभाव को कहेगे,* नियति और यदृच्छा आदि स्वकीय परिजनो को अवगत करेंगे और फिर संसारी जीव की पत्नी भवितव्यता को भी अनुकूल करेंगे। ससारी जीव निर्मल होकर स्थिति समझने योग्य हो गया है, ऐसे

* पृष्ठ ५३७

अवसर की अपेक्षा करेगे और देखेंगे कि उसें हमारी बात रुचिकर प्रतीत होने लगी है तभी महाराजा उसे हमारी पहचान करायेगे। उस समय किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होने से ससारी जीव को वह बात हितकारी लगेगी। फलस्वरूप वह हमको निर्मल दृष्टि से देखेगा और हमारी बात को प्रसन्नता से स्वीकार करेगा। सेनापति जी ! तभी हम अपने शत्रु को समूल नष्ट करने मे समर्थ होंगे। अत. मेरे विचार मे अभी इस प्रसग मे समय बिताना ही हितकारी है। [५५६]

सम्यग्दर्शन—मन्त्री जी ! यदि ऐसा ही है, तो उन दुरात्माओ के पास हमे किसी दूत को भेजना चाहिये जिससे कुछ नही तो वे हमारे लोगो की कदर्थना तो न करें और अपनी मर्यादा को तो न तोड़े। [५५७]

सद्बोध मत्री—मेरी राय मे तो अभी दूत भेजना भी व्यर्थ है। अभी तो बगुले की तरह इन्द्रियों को सकुचित कर चुपचाप बैठकर समय की प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर है। [५५८]

सम्यग्दर्शन—पुरुषोत्तम ! मेरी समझ मे तो भयभीत होकर चुपचाप बैठने का कोई कारण नही है। वे पापी कितने भी क्रोधित हो तब भी मेरे जैसे का क्या बिगाड़ सकते है ? अथवा, हे मान्यवर ! यदि हमको विग्रह नीति वाले दूत को न भेजना हो तो, समझा कर वास्तविकता का ज्ञान करवाने वाले (सामनीति वाले) दूत को भेजकर उसे कहें कि वह सन्धि की शर्तें उचित रूप में तय करके आवे। इसमें क्या आपत्ति है ? [५५९-५६०]

सद्बोध—आर्य ! ऐसा न कहिये, क्योंकि जब विपक्षी क्रोध मे उन्मत्त हो तब सामनीति नही चल सकती, इससे तो सघर्ष की वृद्धि ही होती है। तप्त घी मे पानी डालने से वह और भभक उठता है, यह सशय-रहित है। मान्यवर ! यदि आपकी इच्छा हो तो एक बार दूत भेजकर आपके कौतुहल को भी पूर्ण कर देते है, पर उसका वही परिणाम आयेगा जो मैं कह रहा हूँ। महाराज की इच्छा भी दूत भेजने की हो तो एक दूत भेज दिया जाय और शत्रुओ की भावना को भली प्रकार समझ कर तदनुसार समयोचित कार्य किया जाय। [५६१-५६३]

दूत-प्रेषण

सद्बोध मत्री की अन्तिम बात का महाराज चारित्रधर्मराज ने भी अनुमोदन किया, अत: सत्य नामक एक दूत को शत्रु-सेना की तरफ भेजा। पिताजी ! उस समय मेरी असीम जिज्ञासा को देखकर मेरी मौसी मार्गानुसारिता प्रच्छन्न रूप से दूत का अनुसरण करती हुई मुझे साथ-साथ ले गई। अन्त मे हम महामोह राजा की सेना के निकट पहुचे। मैने वहाँ देखा कि प्रमत्तता नदी के किनारे चित्तविक्षेप नामक बडे मण्डप के सभास्थल मे सिहासन पर महामोह महाराज विराजमान थे। शत्रुओं से खचाखच भरी हुई इस राज्यसभा मे सत्य नामक दूत ने प्रवेश कर महाराज को प्रणाम किया। उसे एक योग्य आसन पर

बिठाया गया। परस्पर कुशल समाचार पूछने के बाद अदम्य साहसी दूत ने उदार बुद्धि से क्रोध को शांत करने के लक्ष्य से कहा :—[५६४–५६८]

दूत का संदेश

इस चित्तवृत्ति अटवी का अधिष्ठाता और स्वामी तो ससारी जीव ही है, इसलिये वही इसका मूल नायक है। यह सदेहरहित है कि बाह्य और अतरग सभी संसारी राजाओ का* और उनके ग्रामो एव नगरो का अधिपति भी वही है। यही कारण है कि आप हम और अन्य कर्म-परिणाम आदि अतरग राजा तो ससारी जीव के किंकर है। ऐसी परिस्थिति मे जबकि हम सब का राज्य एक ही है और हमारे स्वामी भी एक ही संसारी जीव है तब परस्पर में विरोध कैसा? शक्ति सपन्न और स्वामिभक्त सेवक परस्पर मिलकर भाई-बन्धुओ की तरह रहते है। अपने स्वामी का हित चाहने वाले सेवक आपस मे लड-भिडकर अपने ही पक्ष का नाश करने वाला कोई कार्य नही करते। अतएव हे राजन्! आज के पश्चात हम दोनो का प्रेम सदा के लिये बना रहे, हमारी प्रीति और आनन्द में सतत वृद्धि हो तभी हमारे स्वामी ससारी जीव की वास्तविक सेवा हो सकेगी। [५६९–५७४]

दूत की भर्त्सना

सत्य नामक दूत की स्पष्ट बात सुनकर मदोन्मत्त मोहराजा की सभा अत्यधिक क्षुब्ध हो गई। वहाँ उपस्थित राजा और योद्धा अपने होठ काटने लगे, उनके शरीर लाल-पीले हो गये, जमीन पर पैर पटकने लगे और सभी की बुद्धि क्रोध से अन्धी हो गई। सत्य दूत की स्पष्टोक्ति उन्हे अच्छी नही लगी, यह जताने के लिये वे सभी एक साथ बोल पड़े—"अरे दुष्ट! मूर्ख! अरे दुरात्मा! तुझे किसने ऐसी शिक्षा दी है कि ससारी जीव हमारा स्वामी है, हम तुम उसके सेवक है तथा हम और तुम सम्बन्धी है। तू ऐसी कपोल कल्पित बाते बनाता है! तेरे पक्ष वाले सब याद रखे कि तुम सब नराधम पाताल मे चले जाओ तो भी हम नही छोडेगे। अरे अधम! तू क्या बोला? ससारी जीव हमारा स्वामी! और तुम लोग हमारे सम्बन्धी! अरे! बहुत अच्छा सम्बन्ध जोडा! धन्य है तेरे वचनो और गुणो को! तू अपनी भलाई चाहता है तो अपने इष्टदेव का स्मरण कर और शीघ्र ही उल्टे पैरो यहाँ से भाग जा। तुम लोगो की शान्ति करने के लिये हम भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही आ रहे है" इस प्रकार कहते हुए वे परस्पर तालियाँ पीटते, हँसते और निकृष्ट वचनो से दूत की कदर्थना करने लगे। [५७५–५८१]

उसी समय उन क्रोधान्ध शत्रु राजाओ ने कवच धारण कर, अपने शस्त्रास्त्र धारण कर महामोह के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया। इधर सत्य दूत ने भी वापस आकर चारित्रधर्मराज को सब परिस्थिति से अवगत कराया। जब उन्हे ज्ञात हुआ कि महामोह की पूरी सेना चढ़कर आ रही है, तब उन्होने भी अपनी सेना

* पृष्ठ ५३८

को तैयार होने की आज्ञा दे दी। सम्पूर्ण सेना सज्जित होकर चितवृत्ति अटवी के किनारे पर आकर युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गई। यहाँ इन दोनो महामोह और चारित्रधर्मराज का विस्मयकारी युद्ध हुआ। [५८२-५८५]

चारित्रधर्मराज और मोहराज का युद्ध

एक ओर चारित्रधर्मराज का अनुसरण करने वाले राजाओ के समूह और उनके करोड़ो योद्धाओ के शस्त्रो से निर्गत विस्तृत प्रकाश-जाल चारो ओर फैले अन्धकार का नाश कर रहा था, तो दूसरी ओर दुष्टाभिसन्धि आदि महामोहराजा के प्रचण्ड उग्र/भयंकर राजाओ की रणभेरी बज रही थी और उनके काले शरीरो की प्रभा से चारो ओर अन्धकार पटल फैल रहा था जिससे ज्ञान रूपी सूर्य का जो प्रकाश आ रहा था वह आच्छादित हो रहा था।* दोनो सेनाओ का भयकर युद्ध होने लगा जिससे कायर मनुष्यो के मन मे मृत्यु का महा भय उत्पन्न होने लगा। शस्त्रो और युद्ध के वाद्यो की ध्वनि से ससार मे संचरण करने वाले जीवो को त्रास हो रहा था और इस महायुद्ध को देखने की लालसा से विशाल सख्या में विद्याधर और विद्यासिद्ध आ गये थे। इसी भीषण सग्राम मे महामोह राजा के योद्धा अपने दुश्मनों को पराजित करते हुए आगे बढ रहे थे। [५८६]

चारित्रधर्मराज की धर्म-सेना शत्रु के अनेक प्रकार के भयकर शस्त्रो से मार खा रही थी। उनके हाथी, घोडे, रथ आदि के दल पराजित हो रहे थे और शत्रु की भयकर गर्जना सुन उनकी सम्पूर्ण सेना काँप उठी थी। [५८७]

हे पिताजी! अन्त मे इस युद्ध मे चारित्रधर्मराज पर बलशाली महामोह राजा की विजय हुई। चारित्रधर्मराज की सेना पराजित होकर भाग खडी हुई और योद्धागण भाग कर अपने स्थानो मे छुप गये। महामोह के योद्धा जयनाद का कोलाहल करते हुए शत्रुओ के पीछे भागे और उन्हे चारो तरफ से घेर लिया। युद्धजय के पश्चात् महामोह नरेन्द्र का राज्य चारो तरफ फैल गया और चारित्रधर्मराज घेरे के बीच मे घिर गये। [५८८-५९०]

पिताजी! उस समय मौसी ने पूछा—क्यो वत्स! युद्ध देखा? अब तो तुम्हारा कुतूहल शान्त हुआ?

उत्तर मे मैंने कहा—हाँ मौसी! आपकी कृपा से मेरी जिज्ञासा पूर्ण हुई। मौसी! अब मुझे यह जानने की अभिलाषा है कि इस युद्ध का मूल कारण क्या है? कृपया उसे बतला दे। [५९१-५९२]

संघर्ष का मूल कारण

मार्गानुसारिता मौसी—वत्स! जब यह महायुद्ध चल रहा था तब तूने महाराजा रागकेसरी के आगे युद्धनिपुण मत्री विषयाभिलाष को देखा होगा? पहले

* पृष्ठ ५३९

एक बार इस मत्री ने ससार को अपने वश मे करने की इच्छा से अपने पाँच कर्मचारी कही भेजे थे। चारित्रधर्मराज के तन्त्रपाल सतोष ने इन पाँचो को खेल-खेल मे ही पराजित कर दिया था। हे पुत्र! तभी से दोनो पक्षो मे परस्पर विरोध पैदा हो गया, जिसके परिणामस्वरूप अभी ऐसा महायुद्ध अन्तरग राजाओ मे हुआ। यह सब आन्तरिक राजाओं की आन्तरिक खटपट का परिणाम है। [५६३–५६६]

पिताजी! जब मैंने मौसी से पूछा कि इन पाँच कर्मचारियो के नाम क्या है? ये पाँचो ससार को किस प्रकार वश मे कर सकते है? तब मौसी ने कहा कि, वत्स! इनके नाम स्पर्श, रसना, घ्राण, दृष्टि और श्रोत्र है। ये स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पहले तो प्राणी को अपनी तरफ आकर्षित करते है और उसके पश्चात् वे तीनो जगत् को अपने वश मे कर लेते है। इन पाँचो में से प्रत्येक इतना प्रबल शक्ति-सम्पन्न कि वह अकेला ही संसार को वश मे कर सकता है। यदि ये पाँचो ही सम्मिलित होकर संसार को वश मे कर ले, तो इसमे बडी बात ही क्या है? [५६७–५६८]

विचार का स्वदेश में प्रत्यागमन

तदनन्तर मैंने मौसी से कहा—माताजी! देश-दर्शन और भ्रमण का मेरा कौतूहल पूर्ण हो गया है। आपकी कृपा से मैंने थोड़े समय मे ही बहुत कुछ देख लिया है। अब अपने पूज्य पिताजी के पास शीघ्र ही जाऊँगा। [५६६]

मार्गानुसारिता ने कहा कि—वत्स! इन लोगो का व्यवहार और चेष्टाये तुमने देख ही ली है, अब तुम जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही आ रही हूँ। पिताजी! इस प्रकार प्रयोजन का निश्चय कर वहाँ से सीधा मैं यहाँ आया हूँ।* मुझे आपसे केवल यही निवेदन करना है कि आपका मित्र घ्राण अच्छा व्यक्ति नही है। यह भोले लोगों को ठगने वाला, उन्हे त्रस्त करने वाला और ससार मे भटकाने वाला है। रागकेसरी के मन्त्री ने मनुष्यो को त्रस्त और विडम्बित करने के लिये जिन पाँच अनुचरो को संसार मे भेजा है उन्ही मे से तीसरा यह घ्राण है। [६००–६०२]

बुध का निर्णय

विचार कुमार अपने पिता बुधराज के समक्ष उपरोक्त वृत्तान्त सुना ही रहा था कि मार्गानुसारिता वहाँ आ पहुँची और उसने बुध नरेन्द्र के सम्मुख विचार के कथन का समर्थन किया, फलस्वरूप बुध ने घ्राण का त्याग करने का निश्चय कर लिया। [६०३–६०४]

मन्द की दशा

इधर दूसरी ओर मन्द कुमार भुजगता की संगति मे पड़कर घ्राण मित्र के पालन-पोषण मे सदा उद्यत रहने लगा। वह उसके लिये उत्तमोत्तम सुगन्धित द्रव्य

* पृष्ठ ५४०

एकत्रित करने में प्रयत्नशील रहने लगा। अर्थात् वह अपने मित्र घ्राण को प्रसन्न करने के लिये अनेक कष्ट सहन करके भी सुगन्धित पदार्थ प्राप्त करने के अवसर को हाथ से नही जाने देता था। [६०५]

हे राजन्! इसी धरातल नगर में देवराज नामक राजा था जिसके लीलावती नामक पत्नी थी जो मन्द कुमार की बहिन थी। एक दिन मन्द कुमार अपनी बहिन के यहाँ गया। संयोगवश उसी समय लीलावती ने अपनी सौत के पुत्र को मारने के लिये एक डूम्ब से हलाहल तेज विष को सुगन्धित पदार्थ मे मिलवाकर पुड़िया बनवाई और उस पुड़िया को घर के दरवाजे के बाहर रख दी, जिससे कि उससे आकर्षित होकर सौत का लड़का उसे सूंघे और मर जाय। विष-मिश्रित सुगन्धी द्रव्य की पुड़िया द्वार पर रख कर वह घर के भीतर चली गई। उसके थोड़ी देर पश्चात् ही मन्द कुमार वहाँ आया और उसने द्वार पर पड़ी हुई पुड़िया को देखा, जिसमें से उत्कट तीव्र सुगन्ध निकल रही थी। उसके अन्तर मे प्रविष्ट भुजंगता ने उसे उसी समय उस सुगन्ध को घ्राण तक पहुँचाने का आदेश दिया। फलस्वरूप दुरात्मा मन्द ने उस कागज की पुड़िया को खोला और उसे नाक के पास ले गया। अन्तर में बैठे हुए घ्राण ने ज्योंही उस तीव्र सुगन्ध को सूंघा त्योंही तत्क्षण उसके सारे शरीर में मूर्छा व्याप्त हो गई और मन्द वहीं जमीन पर गिरकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

घ्राण की आसक्ति में रक्त मन्दकुमार की मृत्यु की इस घटना से बुध कुमार को घ्राण के प्रति अत्यधिक विरक्ति उत्पन्न हो गई। [६०६–६११]

बुध की दीक्षा

तत्पश्चात् बुध कुमार ने अपनी साली मार्गानुसारिता से पूछा–भद्रे! इस घ्राण से अब मैं पूर्णरूपेण विरक्त हो गया हूँ। अब यह मेरे से सर्वदा दूर ही रहे, इससे मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे, ऐसा कोई उपाय बतलाइये। [६१२]

मार्गानुसारिता—देव! भुजंगता का त्याग कर आप सदाचारी बन जाइये और सदाचार-परायण साधुओं के समुदाय में रहिये। साधुओं के मध्य मे रहते हुए सदाचारी जीवन बिताने पर घ्राण आपके पास रहते हुए भी आपका कुछ बिगाड नहीं सकेगा। दोष और संक्लेश का कारण नही बन सकेगा। इसकी छाया भी आप पर नही पड़ेगी और धीरे-धीरे स्वतः ही इसका सर्वथा त्याग हो जायेगा। [६१३–६१४]

बुध कुमार को मार्गानुसारिता का कथन आत्म-हितकारी लगा, अत उसने वैसा ही करने का निश्चय कर लिया। सद्गुरु का योग मिलने पर उसने गुरु महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की और साधुओं के बीच रहकर सदाचार का पालन करने लगा तथा सद्गुरु की उपासना सेवा मे दत्तचित्त हो गया। धीरे-धीरे आगमोक्त शुद्ध भावों का ज्ञान होने पर उसे कुछ लब्धियों की प्राप्ति भी हुई और आचार्य ने

गच्छ-संचालन के हेतु सूरि पद के योग्य समझकर उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। [६१५-६१७]

अपनी आत्मकथा को समाप्त करते हुए बुधसूरि ने धवल राजा से कहा— हे राजन्! आपको प्रतिबोधित करने वही बुधसूरि अपने गच्छ और शिष्यों को छोड़कर अकेला यहाँ आया है। हे धरानाथ! जो व्यक्ति आपको कथा सुना रहा है और आप सब सुन रहे हैं वह कथावाचक बुधकुमार नामक व्यक्ति मैं स्वयं ही हूँ। [६१८-६१९] ●

२०. विमल की दीक्षा

आत्मकथा समाप्त करने के पश्चात् बुधसूरि ने कहा—हे राजन्! मेरी आत्मकथा जो अभी मैंने सुनाई है, वह जैसे मुझे प्रतिबोधित करने में कारणभूत हुई वैसे ही वह आप सब को प्रबुद्ध करने मे समर्थ है। क्योंकि, त्रैलोक्य मे जहाँ कहीं मनुष्य विचरण करते हैं वहीं उनके पीछे महामोहादि शत्रु उन्हे उत्पीड़ित करने के लिए भागते-फिरते हैं। महामोह और उसके अधीनस्थ सभी योद्धा अत्यन्त भयंकर हैं और जो भी प्राणी उनके चक्कर में आता है, उसके वे क्षणभर में टुकड़े-टुकड़े कर उसके अस्तित्व का लोप कर देते हैं। हे नरेन्द्र! उनका निवारण करने के लिए जैनशासन रूपी स्थान ही अत्युत्तम और भयरहित है। जो प्राणी इस तत्त्व-रहस्य को समझते हैं और भय से मुक्त होना चाहते है, उन्हें इस निर्भय स्थान में प्रवेश करना चाहिये। हे भूपति! आपको इस कार्य में पल भर की भी देरी नहीं करनी चाहिए। आप कालकूट विष जैसे भयंकर इन्द्रिय विषयों का त्याग करें और इस दिव्य प्रशम सुखरूपी अमृत का पान करें। [६२०-६२५]

बुधसूरि की सारगर्भित वाणी को सुनकर धवल राजा ने मुस्कराते हुए विमलकुमार एवं अन्य सभासदों की तरफ देखा और फिर उन सबको लक्ष्य करके कहा—सभाजनो! महात्मा बुधसूरि ने जो उपदेश दिया है उसे आप सबने सुना है, क्या आपके हृदय पर उनके वचनों का कुछ असर हुआ है? यह सुनकर जैसे सूर्य के प्रकाश से कमलवन विकसित हो जाता है वैसे ही बुधसूरि (सूर्य) के प्रताप से समस्त सभाजनों के मुखकमल खिल उठे। सभी ने एक साथ भक्ति पूर्वक हाथ जोड़कर मस्तक झुकाते हुए कहा - देव! हमने महात्मा के वचन ध्यानपूर्वक सुने हैं और आपकी कृपा से उसके भाव (रहस्य) को भी समझा है। अभी तक हमारे मन अज्ञानान्धकार से घिरे हुए थे, उन्हें महात्मा ने अन्धकार दूर करके प्रकाशमान कर

* पृष्ठ ५४१

दिया है। हम सब मिथ्यात्व के विष में झोंके खा रहे थे, पर महात्मा ने अमृत-सिचन कर हमें जीवनदान दिया है। आचार्यदेव के वचन हमारे चित्त में गहराई से उतरे है, अतः गुरुदेव के आदेश का हमें अविलम्ब पालन करना चाहिए।
[६२६-६३२]

समस्त सभाजनो के ऐसे प्रशस्त उत्तर को सुनकर धवल राजा अति प्रसन्न हुए। राजा के मन का आशय सभाजन जानते थे और सभाजनो के मन का आशय राजा ने जान लिया था। चिन्तित कार्य को कार्यान्वित करने के पूर्व किसी का राजसिंहासन पर राज्याभिषेक करना आवश्यक था। राजा का विचार विमलकुमार को राजगद्दी देने का था, अतः उन्होने विमल से कहा—पुत्र ! मेरा विचार दीक्षा लेने का है, अब तुम राज्य का सम्यक् प्रकार से पालन करो। बडे पुण्योदय से मुझे आज श्रेष्ठतम सद्गुरु का योग मिला है। [६३३-६३४]

विमल—पिताजी ! यदि मै आपका प्रिय पुत्र हूँ तब आप मुझे दुःखो से परिपूर्ण राज्य पर स्थापित करने की इच्छा क्यो करते है ? इससे लगता है कि आपका मुझ पर सच्चा स्नेह नही है। पिताजी ! आप मुझे दुःखपूरित ससार मे फेककर स्वय मुक्तिमार्ग की ओर प्रयाण करना चाहते है तो आपके ये विचार श्रेष्ठ नही माने जा सकते।

विमलकुमार के वचनों को सुनकर तत्त्वदर्शी धवल राजा को प्रसन्नता हुई, वे बोले—पुत्र ! तेरे विचार सुन्दर है और अवसर के योग्य है। यदि तेरी भी यही इच्छा है तो हम तुझे छोडकर नही जायेंगे। [६३५-६३७]

तदनन्तर धवल राजा ने अपने दूसरे पुत्र कमल का राज्याभिषेक किया।* फिर आठ दिन तक अत्यधिक धूमधाम से जिन पूजा की, अष्टाह्निका महोत्सव किया, पूरे देश और नगर मे अनेक दीन-दुखी याचको को विधिपूर्वक अनेक वस्तुओ का प्रचुर दान दिया और अवसरोचित समस्त कर्त्तव्य पूर्ण कर शुभ दिन मे अपनी रानी, पुत्र विमलकुमार, बन्धुजनो एव कई नगरवासियो सहित बुधसूरि महाराज के पास विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने हेतु नगर से बाहर निकला। विशेष क्या कहूँ ? उस दिन बुधसूरि का अमृतमय प्रवचन जितने लोगो ने सुना था उनमे से बहुत ही थोडे लोगो ने दीक्षा नही ली। जिन थोडे से लोगो ने चारित्र ग्रहण नही किया उन्होने सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतो को अगीकार किया। सच ही है, रत्नो की खान के पास जाकर कौन दरिद्री रह सकता है ? [६३८-६४२]

---

* पृष्ठ ५४२

२१. वामदेव का पलायन

वामदेव के भव मे ससारी जीव अपनी आत्मकथा सदागम के समक्ष सुनाते हुए कह रहा है— हे अगृहीतसकेता ! इस सम्पूर्ण घटना के घटित होने के समय मै तो वहाँ वामदेव के रूप मे उपस्थित ही था। आचार्य की रूप-परिवर्तन की शक्ति, वास्तविकता को समझकर उसे प्रकट करने का कौशल, अपने कथन को रूपक द्वारा समझाने का चातुर्य और महामोह के अन्धकार को दूर करने वाले प्रवचनो को सुनकर भी मैं लेशमात्र भी प्रबुद्ध नही हुआ, मेरे मन पर कुछ भी प्रभाव नही पडा और मुझे उनका कथन तनिक भी रुचिकर नही लगा। इसका क्या कारण था ? यह भी तू सुन। तुझे याद होगा कि पहले बहुलिका योगिनी (माया) मेरी बहिन बनी हुई थी, उस बहिन ने योगशक्ति से मेरे शरीर मे प्रवेश कर लिया था और मुझ पर अपना अधिकार जमा लिया था। आचार्य के पास आने के समय भी वह मेरे शरीर मे उल्लसित हो रही थी। [६४३–६४५]

हे अगृहीतसकेता ! ऐसे अत्यन्त दयालु, परोपकारी, कुशल, प्रतापी, महाभाग्यवान और विशुद्ध जीवन वाले महापुरुष महात्मा आचार्य को मुझ दुरात्मा ने इस बहुलिका की शिक्षा मे आकर वचक और ढोगी माना। मैंने माना कि यह साधु के वेष मे कोई पाखण्डी आया है जो अपनी इन्द्रजाल जैसी रचना कर झूठी चतुरता से सब लोगों को ठग रहा है। देखो, इसकी दुष्टता और ठग विद्या को ! इसने कैसा युक्तियुक्त जाल फैलाया है ! इसका वाक्चातुर्य कितना महान् है कि राजा और उसके सभासद भी मूर्ख बन गये है ! बात ऐसी है कि जो दुरात्मा प्राणी इस बहुलिका के वशीभूत हो जाता है वह स्वय शठाधम बनकर सारे संसार को धूर्त समझने लगता है। मैने भी अनेक सच्ची झूठी कल्पनाओ के द्वारा उस समय बुधाचार्य को धूर्त माना, फलस्वरूप उनके विशुद्ध प्रवचनो का मुझ क्षुद्र पर कोई असर नही हुआ। [६४६–६५०]

इधर नगर मे महोत्सव हो रहा था, दीक्षा का समय निकट आ रहा था। उस समय मुझ पापी ने विचार किया कि मेरा मित्र विमल आग्रह करके बलपूर्वक मुझे अवश्य ही दीक्षा दिलवायेगा, अत उसके आग्रह करने के पहले ही मै यहाँ से कही भाग जाऊ तो अच्छा रहेगा। हे चपलनेत्रा ! इस विचार से मै मुट्ठी बाँधकर, भागकर वहाँ से इतनी दूर चला गया कि ढूंढने पर भी मेरी गन्ध न मिल सके।

[६५१–६५३]

वामदेव के भविष्य की पृच्छा

दीक्षा के समय विमल ने मुझे समुपस्थित न देखकर बहुत ढुंढवाया, पर जब मेरा कोई पता न लगा तब उसे चिन्ता हुई और उसने बुधाचार्य से पूछा–भगवन् ! वामदेव कहाँ गया है ? और किस कारण से गया है ?

गुरु महाराज ने अपने ज्ञान से उपयोग लगाकर, मेरा समस्त चरित्र जानकर कहा—वह इस डर से भाग गया है कि कही तुम उसे आग्रह कर बलपूर्वक दीक्षा न दिलवा दो ।*

इस पर विमल ने गुरु महाराज से पूछा—भगवन् ! आपके अमृतोपम वचन सुनकर वह मेरा मित्र ऐसी चेष्टा क्यो करता है ? क्या वह भव्य जीव नही है ? [६५४-६५७]

बुधाचार्य–कुमार ! वामदेव अभव्य तो नही, पर अभी उसका व्यवहार किसी विशेष कारण से ऐसा बना हुआ है । इसकी एक बहुलिका नाम की अतरग बहिन है, जो महा भयकर योगिनी है । वह शरीर के भीतर रहकर अपनी प्रवृत्ति करती है । वामदेव को उस पर बहुत स्नेह है । फिर इसका स्तेय नामक एक अतरग भाई भी है, उस पर भी इसका बहुत राग है । ये दोनो वामदेव को अपने वश मे करके रखते है । इन दोनो के वशीभूत होकर ही इसने अभी ऐसा व्यवहार किया है । पहले भी इसने इन दोनों के कहने पर ही रत्नो की चोरी की थी । प्रकृति से तो वामदेव सुन्दर ही है, किन्तु अभी इन दोनो के प्रभाव के कारण ही वह ऐसी विपरीत प्रवृत्ति कर रहा है । [६५८-६६१]

विमल—गुरुदेव ! वह बेचारा इन दोनो दुष्ट अन्तरग भाई-बहिनो से कब मुक्त होगा ? यह तो बताइये । [६६२]

बुधाचार्य—विमल ! बहुत समय पश्चात् इसका इनसे छुटकारा होगा । वह कैसे होगा, सुनो । विशदमानस नगर मे शुभाभिसधि नामक राजा राज्य करता है, जिसके शुद्धता और पापभीरुता नामक दो अतिशय निर्मल आचार वाली रानियाँ हैं । शुद्धता के एक ऋजुता नामक पुत्री है और पापभीरुता के अचौर्यता नामक पुत्री है । ये दोनो कन्याये पढी-लिखी और सुन्दर है । इनमे से ऋजुता अत्यन्त सरल और साधु जीवन वाली है । यह सभी को सुख देने वाली है और हे भाग्यशाली ! तुम्हारे लोगो की वह जानी पहचानी है । राजा की दूसरी अचौर्यता नामक कन्या भी स्पृहारहित, शिष्ट पुरुषो की प्रिय और सर्वागसुन्दरी है तथा इसे भी तुम्हारे जैसे पहचानते है । जब तुम्हारा मित्र वामदेव इन दोनो भाग्यशाली कन्याओ से बिवाह करेगा तब स्तेय और बहुलिका उस पर अपना किसी प्रकार का प्रभाव नही दिखा सकेगी, क्योकि ऋजुता और अचौर्यता, बहुलिका और स्तेय की प्रकृति से ही विरोधिनी है । अत. दोनो एक साथ नही रह सकती । [जहाँ ऋजुता होगी वहाँ

* पृष्ठ ५४२

बहुलिका को भागना ही पड़ेगा। सरलता के समक्ष माया कैसे टिकेगी? अचौर्यता के समक्ष स्तेय / चोरी कैसे टिकेगी?] जब ये दोनों वामदेव को मिलेंगी तभी माया और स्तेय से उसकी मुक्ति होगी। इस समय वह नाममात्र भी धर्म-प्राप्ति के योग्य नही है, अतः अभी उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना ही उचित है। [६६३-६७०]

आचार्यदेव के वचन सुनकर मेरे मित्र महात्मा विमल ने वस्तुस्थिति को समझ कर मेरे प्रति उपेक्षाभाव धारण कर लिया और फिर मेरे सम्बन्ध मे विचार करना भी छोड़ दिया। [६७१] □

२२. वामदेव का अन्त एवं भव-भ्रमण

विमल के पास से भागकर मै काचनपुर गया। वहाँ के बाजार मे एक दुकान पर सरल नामक सेठ बैठा था। मैं उसकी दुकान पर गया। मेरे शरीर मे रही हुई बहुलिका ने उसी समय अपना प्रभाव दिखाया और उसके वशीभूत होकर मैं सेठ के पाँवो मे गिर गया। कृत्रिम नाटक करते हुए मेरी आँखे आनन्दाश्रुओ से भर गईं। मेरे नाटक को सत्य समझकर सरल सेठ का दिल भी पिघल गया, वह बोला—भद्र! क्या हुआ? तू क्यो रो रहा है?

मैं—पिताजी! आपको देखकर मुझे अपने पिताजी की याद आ गई।

सरल सेठ— वत्स! तू मत रो। यदि ऐसा ही है तो* आज से तू मेरा पुत्र ही है।

मै—आज से मैं भी आपको अपना पिता मानता हूँ।

तत्पश्चात् सेठ मुझे अपने घर ले गया और अपनी स्त्री बन्धुमती को मुझे सौप दिया। उसने मुझे स्नान, भोजन आदि करवाया और मेरा नाम तथा कुल आदि पूछा। मैंने अपना नाम, कुल आदि बता दिया। सेठ को जब ज्ञात हुआ कि मैं उसका सजातीय ही हूँ, उसके कुल का ही हूँ तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। वह अपनी स्त्री से बोला—

प्रिये! हम वृद्ध हो गये है और अभी तक हमारे पुत्र नही हुआ है, यही सोचकर भगवान ने हमे पुत्र दिया है। आज से वामदेव को अपना पुत्र समझो। [६७२]

पति के वचन सुनकर बन्धुमती भी बहुत प्रसन्न हुई। सरल सेठ ने घर का सारा भार मुझे सौप दिया, मानो मैं ही घर का स्वामी होऊ और दुकान में गुप्त

* पृष्ठ ५४४

स्थान पर रखे हुए हीरे मोती आदि मूल्यवान रत्न भी मुझे बतला दिये। सेठ को धन पर अधिक आसक्ति थी इसलिए वह दुकान पर ही सोता था और मुझे भी अपने साथ ही सुलाता था।

एक दिन सध्या का भोजन कर हम घर मे बैठे थे कि सरल सेठ के प्रिय मित्र बन्धुल के घर से निमन्त्रण आया कि आज उसके यहाँ पुत्र-प्राप्ति की उपलब्धि में छठी का रात्रि जागरण है और उसमे सेठजी की उपस्थिति आवश्यक है। सेठ ने मुझ से कहा—पुत्र वामदेव ! आज मुझे बन्धुल के यहाँ जाना ही पडेगा, तुम दुकान जाओ और वहाँ सावधानी से सोना।

मैंने कहा–पिताजी! आपके बिना मुझे अकेले दुकान जाना अच्छा नही लगता। आज तो मैं घर पर ही माताजी के पास रहूँगा। सेठ ने सोचा कि पुत्र का माता के प्रति स्नेह अधिक है इसलिए मुझे अपनी इच्छानुसार करने को कहकर सरल सेठ बन्धुल के यहाँ चला गया।

रात्रि के समय मेरे शरीर मे स्थित स्तेय जागृत हुआ और उसके वशीभूत मेरे मन मे सेठ की दुकान मे छुपाया हुआ अमूल्य धन चुरा लेने का विचार हुआ। अर्ध रात्रि को उठकर मैं दुकान पर गया। मुझे दुकान खोलते हुए चौकीदारो ने दूर से ही देखकर पहचान लिया था। मै अभी नया ही था, इसलिये उन्हे थोडी शका हुई कि यह भाई मध्यरात्रि मे दुकान क्यो खोल रहा है? उन्होने मुझे कुछ नही पूछा, पर गुप्त रूप से मेरी गतिविधियो पर पैनी दृष्टि रखी। सेठ ने मूल्यवान रत्न दुकान मे जहाँ छिपा रखे थे, वहाँ से उन्हे निकाल कर दुकान के पीछे की गली मे जमीन खोदकर मैंने उन्हे छिपा दिया। इतना सब करते-करते प्रात काल हो गया, अत. मैंने हो हल्ला मचाया कि, अरे लोगों! दौड़ो, सेठ के यहाँ चोरी हो गई है।

नगर के लोग इकट्ठे हो गये, सेठजी भी आ पहुँचे। चौकीदार भी आये। बाजार मे कोलाहल मच गया। सेठ ने मुझसे पूछा—पुत्र वामदेव! क्या बात है? यह सब भीड इकट्ठी क्यो हो रही है?

मैने कहा–पिताजी! हम मर गये। रात को दुकान मे चोरी हो गई। ऐसा कहकर मैने सेठजी को खुली दुकान और भूमि मे रत्न रखने के गुप्त स्थान पर हुए खड्डे को दिखाया।

सेठ ने पूछा– पुत्र वामदेव! तुझे इसकी खबर कैसे और कब हुई?

मैने कहा –पिताजी, आप तो मित्र के यहाँ चले गये, मै अकेला रह गया। आपके विरह मे मुझे नीद नही आई, सारी रात बिस्तर पर लोटता रहा। जब थोडी रात शेष रह गई तो मेरे मन मे विचार आया कि दुकान का बिस्तर पिताजी के स्पर्श से बहुत पवित्र हो चुका है, उस पर सोने से शायद मुझे नीद आ जायेगी। अन्य स्थान पर तो आयेगी नही। यही सोचकर मै दुकान पर आया और देखा कि यहाँ चोरी हो गई है तब मैंने हल्ला मचाया।

मेरी बनावटी बात सुनकर चौकीदार लोग जो वही थे, सोचने लगे कि यह वामदेव वास्तव मे दुरात्मा है, हरामखोर है, पक्का चोर है । अहो इसका वाक्-जाल ! * वाचालता ! धूर्तता ! कृतघ्नता ! विश्वासघात ! और पापिष्ठता ! उन्होने सेठजी को आश्वासन दिया कि सेठ साहब ! आप मन मे तनिक भी चिन्ता न करे, आश्वस्त हो जावे, हमे चोर का पता लग गया है।

इस प्रकार कहकर उन्होने मेरी तरफ अर्थ-पूर्ण दृष्टि घुमाई जिससे मैं भय-भीत हो गया। मैंने मन में समझ लिया कि चौकीदारो ने मुझे पहचान लिया है। चौकीदारो ने मुझे माल सहित रगे हाथो पकड़ने का निश्चय किया और मेरे पीछे कुछ गुप्तचरो को लगा दिया। उस पूरे दिन मेरे मन मे सकल्प-विकल्प आते रहे। सन्ध्याकालीन अन्धेरा होते ही मैं दुकान के पीछे गया और छुपाये हुये रत्न निकाले। ज्योही मैं रत्न लेकर भागने को हुआ कि चौकीदारो ने मुझे माल सहित पकड लिया। हो-हल्ला होने से नगर के लोग पुन. वहाँ इकट्ठे हो गये । चौकीदारो ने मेरी सारी चालाकी लोगो के सामने प्रकट कर दी। लोगों को यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ कि सेठ ने जिसे अपना पुत्र मान कर सारा धन उसे देने का निश्चय किया था, उसी ने विश्वासघात कर अपने ही घर मे चोरी की।

चौकीदार मुझे नगर के राजा रिपुसूदन के पास ले गये । चोरी की सजा मृत्युदण्ड थी और मै तो माल सहित पकड़ा गया था, अत. राजा ने मेरा वध करने की आज्ञा दे दी।

जब सरल सेठ को पता लगा तो वे दौड़े हुये राजा के पास आये और राजा के पॉव पकड़कर कहा—

देव ! यह वामदेव मेरा पुत्र है, उसके प्रति मेरा अत्यन्त स्नेह है, इसके बिना मैं जीवित नही रह सकूँगा, अत· मुझ पर अनुग्रह/दया कर इस बालक को छोड़ दीजिये। आप चाहे मेरा सारा धन ले लीजिये, अन्यथा इसके अभाव मे मैं मर जाऊँगा इसमे सशय नही है। [६७३–६७४]

राजा ने सोचा कि सरल सेठ वास्तव मे सरल ही है, बहुत भोला है। राजा ने दयाकर मृत्युदण्ड की आज्ञा को निरस्त कर दिया और सेठ का धन भी ग्रहण नही किया। किन्तु, उन्होने सेठ को कहा—सेठ ! इस तुम्हारे सुपुत्र को मेरे पास रखो। यह विषांकुर है, पक्का चोर है और लोगो को दु.ख देने वाला है, अतः इसको अरक्षित/मुक्त छोड़ना उचित नही है। [६७५–६७७]

इधर मेरा पुण्योदय मित्र जो जन्म से ही मेरे साथ था और दिनोदिन दुर्बल हो रहा था, अब एकदम नष्टप्रायः हो गया था और मुझे छोड़कर चला गया था, क्योकि मेरा ऐसा दुश्चरित्र देखकर वह मुझसे ऊब गया था। [६७८]

* पृष्ठ ५४५

सरल सेठ ने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। मैं अन्य लोगो द्वारा तिरस्कृत होता हुआ दीन-हीन की भाँति राजमहल मे रहने लगा। मेरे अन्तरग भाई-बहिन स्तेय और बहुलिका यद्यपि मेरे शरीर मे ही निवास कर रहे थे तथापि भीषण राज्यदण्ड के भय से वे अपना प्रभाव नही दिखा रहे थे। ऐसा लगता था जैसे वे अन्दर ही अन्दर शात हो गये हो। भद्रे! फिर भी लोग तो मुझे शका की दृष्टि से ही देखते थे और अन्य किसी के चोरी करने पर भी मुझ पर सदेह करते थे। मेरे सच कहने पर भी लोग उसे नही मानते। मेरे वचन पर लोगो को विश्वास ही नही रहा। लोग मुझे धिक्कार की दृष्टि से देखते हुए कहते—बैठ जा, देख ली तेरी सत्यवादिता! जिस प्रकार काला सर्प दूसरे सभी सापों के लिये सताप का कारण होता है उसी प्रकार मै भी सबके उद्वेग का कारण हो गया था। हे अगृहीतसकेता! ऐसे सयोगो मे बहुत समय तक रहकर मै अनेक प्रकार की विडम्बनाये भोगता रहा।

[६७९-६८३]

हे भद्रे! एक बार किसी विद्यासिद्ध ने राजा के भण्डार मे चोरी की और उसमे से सभी रत्न अलकार आदि ले गया। विद्या के बल से वह अदृश्य होकर भीतर घुसा था और अदृश्य होकर ही वापस निकल गया था, इसलिये पकडा नही गया। उस चोरी का कलक मेरे सिर पर आया।* सब को याद था कि मैने पहले भी चोरी की थी और राजमहल मे मेरे सिवाय किसी का प्रवेश असभव था, अत: संदेह के आधार पर मै पकडा गया। अपराध मजूर करवाने के लिए मुझे बहुत मारा और अनेक प्रकार की यातनाये दी। राजा भी अत्यन्त क्रोधित होकर मुझे अनेक प्रकार से सताने लगा और अन्त मे मुझे मृत्युदण्ड दे दिया गया। हे विशालाक्षि! इस बार भी सरल सेठ ने आकर मुझे बचाने का बहुत प्रयत्न किया पर राजा नही माना और मुझे रोते-चिल्लाते एव विलाप करते हुए को फासी के तख्ते पर चढा दिया गया। [६८४-६८७]

संसारी जीव का पुन: भव-भ्रमण

जिस समय मुझे मृत्यु-दण्ड दिया गया उसी समय मेरी स्त्री भवितव्यता द्वारा पूर्व मे दी गई गोली जीर्ण हो गई थी, अत उसने मुझे दूसरी नवीन गुटिका दी जिसके प्रभाव से हे भद्रे! मैं पापिष्ठवास नामक नगर के अन्तिम उपनगर पाप-पिजर (सातवी नरक) मे उत्पन्न हुआ। यह स्थान अनन्त तीव्र दु.खसमूह से व्याप्त था। वहाँ मैंने असख्यात काल तक अनेक प्रकार के महा दारुण दु ख सहे। उसके बाद भवितव्यता ने मुझे पुन. दूसरी गोली दी जिसके प्रभाव से मैं पचाक्षपशु सस्थान (पचेन्द्रिय तिर्यंच गति) मे आया। इस प्रकार नयी-नयी गुटिकाये देकर भवितव्यता ने मुझे अन्य अनेक स्थानों पर भटकाया। हे भद्रे! हे सुलोचने! असव्यवहार नगर के अतिरिक्त कोई स्थान नही बचा जहाँ मै कई-कई बार नही

* पृष्ठ ५४६

भटका होऊँ। वहुलिका (माया) के सम्पर्क से मैंने वहुत पाप किये थे इसलिए पचाक्षपशुसंस्थान मे भी मुझे कई वार स्त्रीयोनि में उत्पन्न होकर विविध विडम्बनाये सहन करनी पडी। वहुलिका और स्तेय के ससर्ग से प्रेरित होकर मैं निरन्तर पाप कर्म करता गया और असह्य दु.ख भोगता रहा। हे सुमुखि ! जहाँ-जहाँ मैं गया, वहाँ-वहाँ वे दोनो मेरे साथ ही रहे। [६८८–६९४]

प्रज्ञाविशाला की रहस्य-विचारणा

ससारी जीव की आत्मकथा सुनकर प्रज्ञाविशाला के मन मे प्रवल सवेग उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगी कि, अहो ! स्तेय मित्र तो अकल्पनीय दु.खदायक है। माया भी असीम भयकर है। यह वेचारा इन दोनों मे आसक्त रहा जिससे इसे इतना भटकना पड़ा और भयकर दु ख उठाने पड़े। अहो ! पहले तो इसने माया के वशीभूत होकर विमलकुमार जैसे महात्मा पुरुष को ठगा, फलस्वरूप वर्धमान नगर मे तृण जैसा तुच्छ वना। फिर कञ्चनपुर मे स्तेय के वश होकर वात्सल्यभाव धारक सरल सेठ के यहाँ चोरी कर उन्हे धोखा दिया, जिससे इसने घोर विडम्बनाये प्राप्त की। वामदेव के भव मे इसका सम्पूर्ण जीवन ही माया और स्तेय से घिरा हुआ दिखाई देता है। महाभाग्यशाली वुधसूरि का सम्पर्क और उनके उपदेशो का भी इस पर कोई प्रभाव नही हुआ, इसका कारण भी माया ही है। किसी व्यक्ति के पूर्ण सत्य वोलने पर भी उसकी वात पर विश्वास न हो और उल्टा सत्य वोलने वाले के प्रति तिरस्कार की भावना ही जागृत हो तो समझना चाहिये कि ऐसी विपरीत मति वाला व्यक्ति अवश्य ही माया के वश मे है। दूसरे व्यक्ति द्वारा किये गये अपराध का कलक भी ससारी जीव पर आया, इसका कारण भी माया और स्तेय ही है। वस्तुत. माया और स्तेय अनन्त दोषो के भण्डार है, फिर भी दुरात्मा पापी लोग इन दोनो का सम्पर्क नही छोड़ते। [६९५–७०२]

भव्यपुरुष की दृष्टि में कल्पित वार्ता

ससारी जीव की आत्मकथा सुनकर भव्यपुरुष मन मे अति विस्मित हुआ।* वह सोचने लगा कि इस तस्कर ससारी जीव की कथा तो बड़ी विचित्र, अतिरजित, असभव जैसी और पूर्णरूप से अपूर्ण-सी लगती है। लोगो के प्रतिदिन के व्यवहार से यह असगत-सी लगती है। यद्यपि इसकी कथा हृदय को आकर्षित्त करती है तथापि मुझे तो विलकुल अपरिचित जैसी, गहन भावार्थ वाली और तुरन्त न समझ में आने वाली लगती है। इसके द्वारा वर्णित कथा को सुनकर मन मे कई प्रश्न उठते हैं। जैसे—उसका असंव्यवहार नगर मे एक कुटुम्वी के रूप मे रहना, वहाँ अपनी स्त्री भवितव्यता के साथ अनन्त काल तक रहना, फिर कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से वहाँ से वाहर निकलना। फिर एकाक्षपशुसस्थान और अन्य

* पृष्ठ ५४७

अनेको तथा भिन्न-भिन्न स्थानों मे अनन्त दु.ख भोगते हुए भटकना। इसने यह भी बतलाया कि उसी की स्त्री भवितव्यता उसे अनन्त काल तक अनेक स्थानो में भटकाती रही। उसी ने लीला से उससे नन्दीवर्धन मे रिपुदारण और वामदेव के नाम से रूप धारण करवाये। प्रत्येक भव के मध्य मे अनन्त काल व्यतीत हुआ, जिसके अन्तराल मे उसकी भार्या ने उससे अनेक नाटक करवाये, नये-नये रूप धारण करवाये, नाच नचवाये और असहनीय दु ख सहन करवाये। अधिक आश्चर्यजनक और विचित्र बात तो यह है कि ये सारे प्रयोग उसको गोलियाँ खिलाकर किये गये। इन गोलियो की इतनी अधिक शक्ति कैसे रही होगी ? फिर उसकी पत्नी ने ही उसे ये गोलिया खिलाई और इतने नाच नचवाये, यह बात तो लोक-विरुद्ध एव कल्पित-सी लगती है और मुझे तो कुछ समझ मे नही आती। [७०३-७१२]

क्या यह तस्कर पुरुष अनन्तकाल तक इसी स्थिति में रहेगा ? या आगे जाकर यह भविष्य मे कभी अजर-अमर भी बन सकेगा ? हन्त ! यह कालस्थिति कौन है ? यह भवितव्यता नामक स्त्री कौन है ? यह अपने पति को ही इस प्रकार भटकाती है, यह तो पूर्णतया प्रतिकूल और नयी बात ही है। यह स्त्री अपने पति को बार-बार महा शक्तिशाली गोलिया तैयार करके देती है। इन गोलियो के प्रभाव से यह प्राणी वही होने पर भी अनन्त प्रकार के रूप धारण करता है। ये गोलियाँ कैसी है ? और भवितव्यता कैसे उन्हे अपने पति को देती है ? [७१३-७१५]

इस कथा मे अनेक नगर, अन्तरग मित्र, स्वजन-सम्बन्धी आदि के नाम आये है, वे कौन थे ? इसका मैं निश्चय नही कर पा रहा हूँ। मुझे तो लगता है, यह ससारी जीव निद्रा से अनुभूत स्वप्न की कोई कथा सुना रहा है। अथवा किसी सिद्ध पुरुष द्वारा फैलाये हुए इन्द्रजाल जैसी यह कपोल-कल्पित कथा है। मानो किसी प्रतिभाशाली पुरुष ने अपनी कल्पना से लोकरजन के लिए इस अद्भुत चरित्र की रचना की हो ! यह जो प्रज्ञाविशाला सन्मुख बैठी हुई है इसकी मुखाकृति से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्त वार्ता को हृदयगम कर चुकी है। इस प्रज्ञा-विशाला ने पहले भी मुझे ससारी जीव का चरित्र बतलाया था, किन्तु अभी मैं उसे भूल चुका हूँ। यदि अभी बीच मे ही मै कुछ पूछू गा तो मेरा पूछना अप्रासंगिक होगा और अगृहीतसकेता आदि अन्य लोग जो यहाँ बैठे है, मुझे मूर्ख समझेगे।* अत. अभी तो मै चुप बैठकर इस तस्कर ससारी जीव की बात सुनता रहूँ, बाद मे जब प्रज्ञा-विशाला मुझे एकान्त में मिलेगी तब उससे इसका रहस्य पूछ लूंगा। यह सोचकर भव्यपुरुष संसारी जीव की कथा सुनता हुआ चुपचाप बैठा रहा। [७१६-७२२]

अगृहीतसकेता इस कथा को सुनकर विस्मित हो रही थी और बार-बार संसारी जीव के मुख की ओर देख रही थी, जिससे प्रतीत हो रहा था कि वह इस कथा के रहस्य को नहीं समझ पा रही है। [वह इस वास्तविकता को मात्र कथा

* पृष्ठ ५४८

ही समझ रही थी और अन्य कथाओ के समान ही उसका मूल्य आँक रही थी। श्रोता को वक्ता की बात समझ मे आ रही है या नही ? यह श्रोता के मुख के भावो से मालूम पड़ जाता है। तदनुसार अगृहीतसकेता का मुख भी यह बता रहा था कि वह कथा के गूढ रहस्य को नही समझ रही है।] [७२३]

सदागम का गाम्भीर्य

भगवान् सदागम तो संसारी जीव के समस्त वृत्तान्त को पहले से ही जानते थे, अत· वे उसके आत्मवृत्त को सुनते हुए मौन ही रहे। [सदागम अर्थात् शुद्धज्ञान, उसका विषय तो जानना ही होता है, उससे कोई बात कैसे छिपी रह सकती है ? मात्र उपयोग लगाते ही उसे सब ज्ञात हो जाता है। सदागम का मौन अर्थसूचक था और उनके मुख की गम्भीरता उनके हृदय की गहनता को प्रकट करती थी।] [७२४]

ससारी जीव ने अपनी आत्मकथा को आगे बढाते हुए कहा—हे अगृहीत-सकेता ! एक समय मेरी पत्नी भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई और मेरे किसी शुभ कर्म के कारण मुझ पर कृपालु होकर कहने लगी—

आर्यपुत्र ! अब तुम्हे लोकविश्रुत आनन्द नगर जाना है और वहाँ आनन्द-पूर्वक रहना है।

मैने कहा—देवि ! आपकी इच्छानुसार करना मै अपना निश्चित कर्त्तव्य मानता हूँ, जैसी आपकी आज्ञा।

भवितव्यता ने उस समय मुझे अपना वास्तविक सच्चा पुण्योदय मित्र वापस सौपा और एक अन्य सागर नामक मित्र भी मेरी सहायता के लिये मुझे दिया। मेरी बुद्धिमती पत्नी समझ गई होगी कि अब मझे सागर मित्र की अवश्य ही आवश्यकता पडेगी। सागर को मुझे सौपते हुए उसने कहा—आर्यपुत्र ! यह तेरा मित्र सागर रागकेसरी राजा और मूढता रानी का प्रिय पुत्र है। मैने ऐसी व्यवस्था की है कि अब यह तुम्हारी सम्यक् प्रकार से सहायता करेगा। [७२५–७२६]

भवितव्यता ने मुझे नयी गुटिका प्रदान की जिसके प्रभाव से मै अपने अत-रग मित्र पुण्योदय और सागर के साथ आनन्दनगर के लिये प्रस्थान करने की तैयारी करने लगा। [७३०]

उपसंहार

ये घ्राणमायानृतचौर्यरक्ता, भवन्ति पापिष्ठतया मनुष्या. ।
इहैव जन्मन्यतुलानि तेषां, भवन्ति दु:खानि विडम्बनाश्च ।। [७३१]

तथा परत्रापि च तेषु रक्ता:, पतन्ति ससारमहासमुद्रे।
अनन्तदु:खौघचितेऽतिरौद्रे, तेषा ततश्चोत्तरण कुतस्त्यम् ? ।। [७३२]

जो प्राणी पापप्रिय होते है, वे घ्राणेन्द्रिय, माया/कपट और चोरी मे आसक्त होकर इस भव में भी अनेक अतुलनीय दु:ख और विडम्बनाए प्राप्त करते है और परभव मे भी पापो से परिवेष्टित होने से अनन्त दु:खसमूह से परिपूर्ण महाभयकर ससार-समुद्र में गहरे डूब जाते हैं । ऐसी अवस्था मे वे इस महाभयकर समुद्र को तैर कर कैसे पार उतर सकते है ?

जैनेन्द्रादेशतो व: कथितमिदमहो लेशत: किञ्चिदत्र,
प्रस्तावे भावसार कृतविमलधियो गाढमध्यस्थचित्ता ।
एतद्विज्ञाय भो ! भो ! मनुजगतिगता ज्ञाततत्त्वा मनुष्या:,
स्तेय माया च हित्वा विरहयत यतो घ्राणलाम्पट्यमुच्चै: । [७३३]

इस प्रस्ताव मे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित उपदेश को जो कुछ थोडा बहुत कथारूप मे गूंथा है, उसके आन्तरिक भाव को/गूढ रहस्य को समझने के लिये अपनी बुद्धि को निर्मल कर, अपने चित्त को पूर्णरूपेण मध्यस्थ कर कथा के आशय को समझने का प्रयत्न करे । हे मनुष्य गति मे विद्यमान मनुष्यो ! यदि आप तत्त्वज्ञ है, अर्थात् आपने इस कथा के रहस्य को सम्यक् प्रकार से समझा है तो आप स्तेय/चोरी, माया और घ्राणेन्द्रिय लम्पटता का सर्वथा त्याग करदे । [७३३]

इति उपमिति-भव-प्रपच कथा मे माया,
चोरी और घ्राणेन्द्रिय आसक्ति के
फल को प्रकट करने वाला
पाँचवा प्रस्ताव
समाप्त हुआ ।

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

६. षष्ठ प्रस्ताव

पात्र-परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
आनन्दपुर (बहिरङ्ग)	केसरी	आनदपुर का राजा		
	जयसुन्दरी	राजा केसरी की रानी	कमल सुन्दरी	हरिकुमार की माता, राजा केसरी की मृतरानी
	हरिशेखर	आनदपुर का वणिक		
	बंधुमती	हरिशेखर की पत्नी		
	धनशेखर	कथानायक ससारी जीव, हरिशेखर-बधुमती का पुत्र		
	पुण्योदय सागर (लोभ)	धनशेखर के अतरग मित्र		

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
जयपुर नगर (बहिरङ्ग)	बकुल	जयपुर नगर का सेठ		
	भोगिनी	बकुल सेठ की पत्नी		
	कमलिनी	धनशेखर की पत्नी, बकुल सेठ की पुत्री		

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
रत्नद्वीप (बहिरङ्ग)	हरिकुमार	आनदपुर के राजा केसरी की रानी कमल-सुन्दरी का पुत्र	धरण	सार्थवाह
	नीलकंठ	रत्नद्वीप का राजा, हरिकुमार का मामा	वसुमति	रानी कमल सुन्दरी की विश्वस्त सेविका
			बंधुला	तापसी

शिखरिणी	राजा नीलकंठ की रानी	मन्मथ	हरिकुमार के अंतरंग मित्र
मयूरमंजरी	हरिकुमार की पत्नी, राजा नीलकंठ की पुत्री	ललित	
		पद्मशेखर	
		विलास	
यौवन, मैथुन	कालपरिणति (अंतरग) के अनुचर, घनशेखर के मित्र	विभ्रम	
		कपोल	
		सुबुद्धि	नीलकंठ राजा का मन्त्री
		दमनक	मन्त्री सुबुद्धि का सेवक

शुभ्रचित्त नगर (अन्तरङ्ग)	सदाशय	शुभ्रचित्त नगर का राजा
	वरेण्यता	राजा सदाशय की रानी
	ब्रह्मरति	सदाशय-वरेण्यता की पुत्री, मैथुन की शत्रु
	मुक्तता	सदाशय-वरेण्यता की पुत्री, सागर की वैरिणी

मनुजगति (अन्तरङ्ग)	कर्मपरिणाम	मनुजगति का राजा, जगत्पिता		
	कालपरिणति	कर्मपरिणाम की रानी, जगन्माता		
	सिद्धान्त	परमपुरुष		
	अप्रबुद्ध	सिद्धान्त का शिष्य	वितर्क	अप्रबुद्ध का शिष्य

निकृष्ट अधम विमध्यम मध्यम उत्तम वरिष्ठ	कर्मपरिणाम के छह पुत्र	महामोह, विषयाभिलाष, चारित्रधर्मराज, सद्बोध, मंत्री आदि

(अन्तरङ्ग)					
औदासीन्य (राजमार्ग)	दृष्टि	विषयाभिलाष मंत्री की पुत्री			
अध्यवसाय (महाह्लद)	अभ्यास	उत्तमकुमार का अनुचर	मैत्री		
धारणा (महानदी)	वैराग्य	चारित्रधर्मराज प्रेषित अनुचर	मुदिता	योगिनी देवियाँ	
धर्मध्यान (दण्डोलक, केडी)			करुणा		
सबीजयोग (दंडोलक से विशालमार्ग)			उपेक्षा		
शुक्लध्यान (दंडोलक, केडी)					
शैलेशी (अंतिम, महामार्ग)			शार्दूल	हरिकुमार का मित्र	
निर्वृत्ति (महानगरी)					
समता (योगनलिका)					

१. धनशेखर और सागर की मैत्री

आनन्दनगर : राजा-रानी

*इस मनुष्य लोक के बहिरंग प्रदेश मे एक आनन्द नामक विशाल नगर था। इस नगर मे सतत आनन्द ही आनन्द रहता, दोष तो इससे कोसो दूर रहते। इस आनन्द नगर में निवास करने वाले मनुष्य अनेक प्रकार के विलास, उल्लास, रूप-लावण्य और लीलाओ से देवताओ के साथ स्पर्धा करते थे, अर्थात् देवसुखो के भोक्ता थे। मात्र उनके पलक झपकते थे, जिससे प्रतीत होता था कि वे मनुष्य है देव नही, क्योकि देवताओं के पलक नही झपकते। इस नगर की स्त्रियाँ अपलक दृष्टि से पुरुषो को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी, पर वे आँख से कोई सकेत नही करती थी, अत ऐसा ज्ञात हो रहा था मानो इन्होने देवागनाओ का आकार धारण कर रखा हो। यहाँ के निवासी चित्र-विचित्र वस्त्र एव रत्नाभूषणो की किरणो से दैदीप्यमान होकर ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो इन्द्रधनुष की प्रत्यचा पर आकाश का एक भाग ही सुशोभित हो रहा हो। सारांश यह है कि नगर-निवासी सुखी थे, नारियाँ सर्वागसुन्दरियाँ थी और उनके रत्नाभूषण यह बता रहे थे कि वे सुखी और समृद्ध है। [१-४]

इस आनन्द नगर मे लोकविश्रुत केसरी नामक महाराजा राज्य करते थे। शत्रुओ के विशाल हाथियो के कुभ को विदीर्ण कर, ससार के बड़े भाग को उत्साह एव उल्लास पूर्वक जीतकर अपने अधीन रखने मे वे चतुर थे। इस राजा के अनेक सुन्दरी-वृन्दो के मध्य में अपने गुणों से जयपताका प्राप्त करने वाली अर्थात् सुन्दर नारियो मे सर्वश्रेष्ठ, कमल-पत्र जैसे नयन वाली, पतिपरायणा जय-सुन्दरी नामक महारानी थी। [५-६]

धनशेखर का जन्म

इस नगर मे एक हरिशेखर नामक व्यापारी रहता था। वह धनवान, नगर का आधारस्तम्भ और राजा केशरी का प्रिय पात्र था। यह हरिशेखर अपने दान-गुण से जनसमूह मे याचक-वृन्द रूपी धान्य मे श्रावण के बादल जैसा प्रसिद्ध हो रहा था, अर्थात् जैसे बादल वर्षा कर धरती मे बोये अनाज को कई गुणा बढा देता है वैसे ही वह अर्थिजनो को दान देकर उन्हे अपना बना लेता था। वह अपने उत्तम गुणो से अपने मित्रो को प्रफुल्लित करता था जैसे सूर्य कमल-वन को विकसित करता है। अर्थात् सेठ जैसा धनवान था वैसा ही उत्तम गुणवान भी था। [७-८]

---

* पृष्ठ ५४६

हरिशेखर सेठ की बन्धुमती नामक एक अत्यन्त प्रिय पत्नी थी। वह आर्य कुल मे उत्पन्न, लावण्य और अमृत के कुण्ड के समान परम पवित्र और हरिशेखर के हृदय मे वसी हुई प्रेममूर्ति जैसी ही थी। वन्धुमती ऐसी लगती थी मानो सौन्दर्य का भी सौन्दर्य हो, लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति हो और उत्तम शीलव्रत एव सदाचार का तो मानो आवास-स्थान ही हो, ऐसी पवित्र थी। वह पतिभक्ति मे तो साक्षात् मन्दिर जैसी लगती थी। [६-१०]

हे अगृहीतसकेता! मेरी आन्तरिक पत्नी भवितव्यता ने अब मुझे एक नयी गुटिका दी जिससे मैंने वन्धुमती की कुक्षि मे प्रवेश किया। माता की कुक्षि रूप यन्त्र मे अनेक प्रकार के कष्ट भोगने के वाद जव मेरा समय परिपूर्ण हुआ तो मैं वाहर आया और मुझे ऐसा लगा मानो मैं कोई नरक का जीव था और अव उस नरक से वाहर आ गया हूँ। मेरे आन्तरिक मित्र पुण्योदय और सागर (लोभ) भी मेरे साथ ही इस ससार मे आये। [११-१२]

वन्धुमती पुत्र-जन्म से अत्यन्त प्रसन्न हुई। हरिशेखर भी अति प्रमुदित हुआ और उन्होने धूमधाम से हर्षोल्लास पूर्वक पुत्र-जन्म महोत्सव मनाया। मेरे जन्म को १२ दिन होने पर मेरे माता-पिता ने विशाल महोत्सव पूर्वक मेरा नामकरण किया और मेरा नाम धनशेखर रखा। मेरे अन्तरग मित्र पुण्योदय और सागर भी मेरे शरीर मे समाये हुए मेरे साथ ही उत्पन्न हुए, किन्तु मेरे माता-पिता को उनके सम्वन्ध मे कोई जानकारी नही थी; क्योकि वे मेरे आन्तरिक मित्र थे और मेरे शरीर मे ही समाये हुए रहते थे। हे भद्रे! इस प्रकार पुण्योदय और सागर के साथ सुखपूर्वक वर्धित होता हुआ * मैं क्रमश: कामदेव के मन्दिर के समान युवावस्था को प्राप्त हुआ। तदनन्तर मुझे किसी कलाचार्य के पास भेजा गया, जिनके पास रहकर मैंने धर्मकला के अतिरिक्त सभी कलाओ का अध्ययन किया। [१३-१७]

सागर (लोभ) की महिमा

जैसे-जैसे मैं बड़ा हो रहा था वैसे-वैसे ही मेरे मित्र सागर (लोभ) के भी हौसले वढ रहे थे। अव सागर मेरे मन मे अपने शक्ति-पराक्रम से प्रतिक्षण अनेक प्रकार की विचार-तरगे उत्पन्न कर रहा था। जैसे समुद्र मे पवन-प्रेरित प्रतिक्षण लहरे उठती है वैसे ही मेरे मन मे मेरे मित्र सागर की प्रेरणा से अनेक विचार-तरंगे उठ रही थी। कैसी-कैसी तरगे उठ रही थी? इसका किञ्चित् दिग्दर्शन प्रस्तुत है। [१८]

इस जगत् में धन ही वास्तविक सार है, धन ही वास्तविक सुख का स्थान है, लोग धन की ही प्रशसा करते है, धन के ही अधिकाधिक गुण गाये जाते है, धन ही विश्ववन्द्य है, धन ही सर्वोत्तम तत्त्व है, धन ही परमात्मा है और धन मे ही

* पृष्ठ ५५०

समस्त विश्व प्रतिष्ठित/समाहित है। यदि आप गहराई से परीक्षण करके देखेंगे तो मालूम होगा कि वस्तुत विश्व मे धनहीन व्यक्ति तृण के समान, राख के ढेर के समान, शरीर के मैल के समान या धूल के समान है। अथवा यह कह सकते है कि धन के बिना वह कुछ भी नही है, अकिंचत्कर है। इस ससार मे राजा, देव या इन्द्र भी धन के चमत्कार से ही बनते है। पुरुषत्व एक समान होने पर भी एक दाता और एक याचक, एक स्वामी और एक सेवक आदि जो अन्तर दिखाई देते है वे सब धन के ही चमत्कार है, माया के ही नाटक है। इस सब का रहस्य यही है कि मनुष्य को कैसे भी प्रयत्नो द्वारा इस भव मे धन एकत्रित करना चाहिये, अन्यथा उसका मनुष्य जन्म ही निरर्थक है, ऐसा समझना चाहिये। [१९-२४]

इस बात को ध्यान मे रखकर चाहे अपने घर मे अपने पूर्वजो द्वारा कितना ही धन अर्जित किया हुआ क्यो न हो, फिर भी मुझे स्वय अधिक धनार्जन करना ही चाहिये। जब तक मैं अपने स्वय के हाथो से जगमगाते रत्न और हीरे-माणक के ढेर पैदा कर अपने घर मे सग्रह नही करू तब तक मैं सुख से कैसे बैठ सकता हूँ? मेरे मन को शान्ति कैसे हो सकती है? अत. अब मुझे किसी दूर-देशान्तरो मे जाकर सब प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। चाहे वह प्रयत्न/कर्म प्रशसनीय हो या निन्दनीय, किन्तु किसी भी प्रकार स्वय अपने हाथो से धन पैदा कर मुझे अपना घर रत्नो के ढेर से भरना ही चाहिये। [२५-२७]

हे अगृहीतसकेता! इस प्रकार मित्र सागर (लोभ) की तरगो से तरगित होते हुए व्याकुल होकर एक दिन मै अपने पिताजी के पास गया [२८] और उनसे निवेदन किया—

धनशेखर का विदेश-गमन

मै (धनशेखर)—पिताजी! मुझे धनोपार्जन हेतु परदेश जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। मेरा विचार है कि मै परदेश जाकर अपनी शक्ति का स्फुरण करूँ, मेरे पुरुषार्थ को बतलाऊँ। अत आप मुझे विदेश-गमन की आज्ञा दीजिये। [२९]

हरिशेखर—पुत्र! अपने पास अपने पूर्वजो द्वारा एकत्रित इतना प्रभूत धन है कि तू कितना भी विलास कर, उपभोग कर, दान दे, खर्च कर, फिर भी अपनी कुल-परम्परागत पूजी कम नही होगी। हे वत्स! उसमे से तू अपनी इच्छानुसार खर्च कर या उसकी व्यवस्था कर, पर परदेश जाने की बात मत कर। तेरे बिना मै एक क्षण भी नही रह सकता। [३०-३१]

मैं (धनशेखर)—पिताजी! पूर्व-पुरुषो द्वारा अर्जित लक्ष्मी का उपभोग करने मे तो मनुष्य को लज्जा आनी चाहिये। मुझे तो इसमे नवीनता लगती है कि ऐसा करते हुए लोगो को शर्म क्यो नही आती? जैसे बच्चे बचपन मे माता का स्तन-पान करते है वैसे ही मूर्ख लोग पूर्वजो द्वारा अर्जित धन का उपभोग करते है।

बालिग होने के पश्चात् पूर्वजो द्वारा अर्जित धन का उपभोग तो बहुत ही शर्मनाक और तिरस्कार योग्य है। पिताजी ! यदि इस कुल-परम्परागत धन का ही उपभोग किया जाता रहे तो वह कितने दिन चलेगा ? समुद्र मे से एक-एक बूद पानी निकालने पर भी यदि उसमे नया पानी नही डाला जाय तो एक न एक दिन वह भी खाली हो जाता है। अर्थात् उपार्जन के विना तो कुबेर का भण्डार भी खाली हो सकता है, तब फिर अपनी पू जी की तो गिनती ही क्या है ? अत: हे पिताजी ! मुझे धनोपार्जन करने की जो प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है, उत्साह जागृत हुआ है उसे आप भग कर मुझे निरुत्साहित न करे और मेरे वियोग को सहन करने की शक्ति स्वय मे जागृत करे। पिताजी ! मेरे मन मे जो बात है, वह मैं आपको स्पष्टत. बता देना चाहता हूँ। बात यह है कि परदेश जाकर अपने भुजबल से जब तक लक्ष्मी पैदा न करू तब तक मेरे मन को शान्ति नही मिल सकती, मै सुख की साँस नही ले सकता। अत: मुझे तो किसी भी प्रकार से परदेश जाना ही है, मैं यह बात अपने मन मे निश्चित कर चुका हूँ। फिर आप मेरे जाने मे अड़चन क्यो पैदा कर रहे हैं ? मुझे तो किसी भी प्रकार जाना ही है। [३२-३७]

मेरे पिताजी ने देखा कि पुत्र ने परदेश जाने का दृढ निश्चय कर लिया है और वह किसी भी प्रकार रुकेगा नही। अधिक खीचने से बात टूट जायेगी, अत. उन्होने विचार कर कहा, किन्तु कहते हुए स्नेह से उनका हृदय गद्गद हो गया और आँखो मे आँसू झलक आये। [३८]

हरिशेखर—पुत्र ! यदि तूने मन मे ऐसा ही दृढ निश्चय कर लिया है और तू रुक नही सकता तो स्वकीय विचारानुसार अपने मनोरथ (अभिलाषा) को पूर्ण कर। [३९] किन्तु, मेरी इतनी सी बात ध्यान मे रखना कि तेरा लालन-पालन सुखावस्था मे हुआ है, तू प्रकृति से बहुत ही सीधा है। परदेश दूर है और मार्ग बहुत खतरनाक है। लोग कुटिल हृदय एव वक्र-प्रकृति के होते है, स्त्रियाँ पुरुषो को ठगने और रिझाने की कला मे कुशल होती है, नीच और दुर्जन पुरुष अधिक होते है और सज्जन पुरुष तो भाग्य से ही कही मिलते है। धूर्त लोग अनेक प्रकार के प्रयोग करने मे चतुर होते है, व्यापारी कपटी होते है, क्रयाणक आदि पदार्थो की रक्षा करने मे बहुत कठिनाइयाँ आती है, नवयौवन अनेक प्रकार के विकारो का घर होता है, स्वीकृत कार्य-पद्धति का प्रतिफल जानना दु:शक्य होता है, पाप अथवा यम अनर्थ करवाने के लिये सर्वदा उद्यत रहता है और विना अपराध ही क्रोधित होने वाले चोर एव लुच्चे-लफगे निष्कारण ही उत्पीडित करने वाले होते है। अतएव जब जैसा प्रसग आये वैसा ही कभी पण्डित और कभी मूर्ख बन जाना। कभी उदार और कभी कठोर, कभी दयालु और कभी निर्दय, कभी वीर तो कभी डरपोक, कभी दानवीर तो कभी कजूस, कभी बकवृत्ति के समान मौन तो कभी चतुर वक्ता बन

* पृष्ठ ५५१

जाना और सर्वदा क्षीरसमुद्र के समान अगाध गाम्भीर्य और शान्त बुद्धि वाला बनकर रहना, ताकि कोई भी मनुष्य तेरा रहस्य न जान सके। परदेश मे तू ऐसा ही व्यवहार करना, यही तुझे मेरी शिक्षा है।

मै (धनशेखर)—पिताजी! आपकी बडी कृपा है जो आपने मुझे इतनी सुन्दर व्यावहारिक शिक्षा दी है। अब आप मेरी बुद्धि और पुरुषार्थ की महत्ता देखियेगा। पिताजी! मै यहाँ से एक रुपया भी लेकर नही जाऊगा। आपकी पूजी मे से मैं एक फूटी कौडी भी साथ नही ले जाऊंगा। मैं केवल मेरा पुरुषार्थ ही अपने साथ लेकर जाऊगा। यदि मैं इस पुरुषार्थ के बल पर ही धन एकत्रित कर, वापस घर लौटकर आऊं तब ही आप नि सशय समझे कि मै आपका असली पुत्र हूँ और आपने जो मेरा नाम धनशेखर रखा है वह उचित एव सार्थक है। यदि मैं धनोपार्जन न कर वापस न लौट सका तो आप समझ लेवें कि आपका पुत्र परदेश मे मर गया है, अत आप जलाजलि प्रदान करदे। कहा भी है: साथियो, धन, व्यापार की वस्तुए, सहयोगियो आदि के बल पर तो स्त्री भी पैसा पैदा कर सकती है। धन के साधनो से धन प्राप्त करने मे क्या विशेषता है? अच्छे सयोगो मे तरुण व्यक्ति अर्थ-सचय कर सके इसमे क्या नवीनता है? पिताजी? मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि पूर्वोक्त किसी भी प्रकार की विशेष सामग्री से रहित होकर भी मै अपने पुरुषार्थ के बल पर आपका घर रत्नो के भण्डार से भर दूगा। [४०-४३]

इस प्रकार कह कर मैने अपने पिताजी के चरण छुए। उस समय निकट मे खडी हुई मेरी माता बन्धुमती पुत्र-स्नेह से आँखो से आँसू टपकाती हुई यह सब बाते सुन रही थी, मैंने उनके भी चरण छुए। मा-बाप रोते रहे और मैं दृढ निश्चयी होकर एकदम पहने हुए कपडो से ही घर से बाहर निकल गया। मेरे शरीर मे अन्तर्हित* मेरे मित्र सागर और पुण्योदय मेरे साथ ही थे। [४४-४५]

जब मैं बाहर निकला तब कुछ धैर्य धारण कर मेरे पिता ने रोती हुई मेरी माता बन्धुमती से कहा—प्रिये! रुदन मत कर। यह तो हर्ष का प्रसग है, क्योकि जो स्त्री, प्रमादी, भाग्य को मानने वाला, साहस-शक्तिरहित, उत्साहरहित, निर्वीर्य पुरुपार्थहीन जैसे पुत्र को जन्म दे वह रोये तब तो बात अलग है, पर तूने तो ऐसे पुत्र को जन्म दिया हैं जो धीर, साहसी, कुलभूषण और पूर्ण उत्साही है, अत· तेरे रुदन करने या दु खी होने का तो कोई कारण ही नही है। अपना लडका व्यापार-धन्धे मे लग जाय, यह तो बहुत अच्छी बात है। यह तो अपना गुण ही है कि अपना प्रियपुत्र व्यवसाय-परायण हुआ है और व्यापार हेतु ही परदेश जा रहा है, अतः अब तू विषाद का त्याग कर। [४६-४८]

* पृष्ठ ५५२

२. धन की खोज में

[हे अगृहीतसंकेता ! इस प्रकार मैं अपने माता-पिता के साथ उपरोक्त बातचीत कर, पहने हुए कपडों से ही, बिना एक पाई भी साथ मे लिए, आनन्द नगर से निकल पडा। मेरे मन में स्व-पराक्रम से पूर्वजो के धन की सहायता के बिना ही धनार्जन करने की इच्छा थी। इसी विचार से मैं आगे चल पडा।]

वहाँ से धन की खोज मे मै दक्षिण दिशा की ओर समुद्र के किनारे-किनारे बढा। आगे जाकर समुद्र के तट पर एक जयपुर नामक सुन्दर नगर मे मै पहुँच गया। उस नगर के बाहर एक विशाल उद्यान था, जिसमे जाकर मैं विश्राम करने लगा और सोचने लगा :—

अब मुझे किसी भी प्रकार अगणित धन एकत्रित करना ही चाहिये, तो क्या मै अति चपल लहरो से तरगित एव क्षुभित समुद्र को लाघ कर धन की खान रत्न-द्वीप जाऊ ? अथवा रणक्षेत्र में प्रबल पराक्रमी वैभवसम्पन्न राजाओ को पराजित कर, मार कर उनकी लक्ष्मी छीन लू ? उनसे धन छीनना कोई बुरी बात तो नही है, उस धन पर उनका अधिकार ही क्या है ? अथवा धन प्राप्त करने का एक अन्य उपाय भी है, क्या मै चण्डिका देवी की आराधना कर, उसे अपनी प्रचण्ड भुजाओ के मास और रुधिर से तृप्त कर, उसके प्रसन्न होने पर उससे धन की याचना करू ? अथवा अन्य सब काम छोड, रात-दिन एक कर रोहणाचल पर्वत को ही पाताल तक खोद दू, ताकि उसकी जड मे से मुझे विपुल धन प्राप्त हो जाय। या पर्वत की गुफा मे जाकर रसकूपिका मे से रस भर लाऊँ, जिससे उस रस के सयोग से धातुवाद के बल पर यथेच्छ स्वर्ण का निर्माण कर सकू । [४६–५३]

मेरे मित्र सागर (लोभ) के प्रभाव से मैं वहाँ बैठा-बैठा सकल्प-विकल्प मे डूबा हुआ धन प्राप्ति के अनेक मनोरथ बाधने लगा। मै इस प्रकार के अस्त-व्यस्त विचारो में गोते लगा रहा था कि, हे भद्रे ! एकाएक मेरी दृष्टि मेरे सन्मुख स्थित केसू के वृक्ष पर पडी। एक अन्य आश्चर्य यह था कि उस वृक्ष का एक पतला अकुर वृक्ष की शाखा से निकल कर नीचे भूमि की गहराई तक चला गया था। [५४-५५] किशुक वृक्ष और उसकी शाखा को देखते ही कुछ समय पूर्व ही सीखा हुआ धातुवाद (भूस्तर विद्या) याद आ गया। मैंने मन मे विचार किया कि इस वृक्ष के नीचे अवश्य ही धन होना चाहिये, क्योकि भूस्तर विद्या (मेटालर्जी एव मिनरेलोजी) मे बताया गया है कि :—

खन्यवाद (धातुवाद)

जिस स्थल पर क्षीरवृक्ष (जिसके तने में छेद करने पर दूध जैसा सफेद पदार्थ निकले) उगा हो, उस स्थान पर थोड़ा या अधिक धन अवश्य ही मिलता है। जहाँ बेलपत्र या पलाश का वृक्ष हो वहाँ भी थोड़ा बहुत धन अवश्य होता है। यदि वृक्ष का तना मोटा हो तो धन अधिक होता है और पतला हो तो धन कम होता है। यदि ये वृक्ष रात मे चमकते हों तो धन अधिक होगा और यदि रात्रि मे सिर्फ गर्म ही होते हो तो धन कम होगा। केसू या बेल के वृक्ष के तने में छेद करने पर यदि लाल रंग का रस निकले तो उस स्थान पर रत्न हैं, यदि पीले रंग का रस निकले तो सोना और सफेद रंग का रस निकले तो चादी है, ऐसा समझना चाहिये। केसू के वृक्ष का तना ऊपर से जितना मोटा हो और यदि नीचे से भी* उतना ही मोटा हो तो उस स्थान पर प्रचुर निधान सुरक्षित है, ऐसा समझे। यदि उस वृक्ष का तना ऊपर से पतला, पर नीचे से मोटा हो तो उस स्थान पर भण्डार छुपा हुआ होना चाहिये, पर यदि उसका तना ऊपर से मोटा और नीचे से पतला हो तो उस स्थान पर कुछ भी धन छुपा हुआ नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। [५७–६१]

मैंने जो उपरोक्त खनिजवाद (धातुवाद) सीखा था वह मुझे याद आ गया। मेरे सन्मुख जो पलाश (केसू) का वृक्ष था उसका मैंने भलीभांति निरीक्षण किया। इस वृक्ष का तना ऊपर जाकर पतला हो रहा था, अत. मैंने सोचा कि इस स्थान पर विपुल धन होना चाहिए। फिर मैंने उसके तने में अपना नाखून गड़ाया तो उसमें से पीले रंग का रस निकला, जिससे मैंने सोचा कि यहाँ सोना होना चाहिये। उसी समय मेरे मित्र सागर (लोभ) ने मुझे प्रेरित किया जिससे मैं वृक्ष के नीचे का भाग खोदकर उसमें से सोना निकालने के लिए उद्यत हुआ। मैंने 'नमो धरणेन्द्राय, नमो धनदाय, नमो क्षेत्रपालाय' आदि मन्त्रो का उच्चारण करते हुए उस वृक्ष के नीचे का भाग खोदना प्रारम्भ किया। खोदते-खोदते स्वर्ण मोहरो से भरा हुआ एक तांबे का पात्र मुझे दिखाई दिया। यह देखकर मेरा मित्र सागर बहुत प्रसन्न हुआ। मैंने भी उन मोहरो को गिना तो वे पूरी एक हजार निकलीं। वास्तव में तो यह सब मेरे दूसरे मित्र पुण्योदय की शक्ति का प्रभाव था जो कि मेरे शरीर में समाया हुआ था. पर महामोह के वशीभूत और सागर के प्रति पक्षपात होने से मैं यही मानता रहा कि मुझे इस धन की प्राप्ति मेरे मित्र सागर की कृपा से ही हुई है। इतना धन प्रारम्भ से ही प्राप्त होने पर मेरे मन में तनिक संतोष हुआ।

जयपुर में कमलिनी के साथ लग्न

उन एक हजार मोहरों को छुपा कर अपने शरीर पर बांधकर मैने जयपुर नगर में प्रवेश किया। मैं सीधा बाजार में गया। बाजार में बकुल नामक सेठ अपनी

* पृष्ठ ५५३

दुकान पर बैठा था । जिस समय उसने मुझे देखा उसी समय मेरे मित्र पुण्योदय ने उसके मन में कुछ आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न की जिससे वह स्वय चलकर मुझ से मिलने आया, बातचीत की, प्रसन्न हुआ और प्रीति पूर्वक मुझे अपने घर पर चलने और रहने के लिए निमत्रित किया । न मालूम किस कारण से मेरे प्रथम दर्शन से ही उसके दिल मे मेरे प्रति स्नेह उभर आया, मानो मुझे देखकर उसके स्नेह तन्तु विकसित हो गये हो । मैंने उनका निमन्त्रण स्वीकार किया, अत वे तुरन्त ही मुझे अपने घर ले गये । घर मे अपनी प्रिय पत्नी भोगिनी को बुलाकर उन्होने उससे मेरा पूर्ण आदर-सत्कार करने के लिए आदेश दिया । फिर सेवको ने मुझे स्नान करवाया और सुकोमल रेशमी वस्त्र पहनने के लिए दिये । वस्त्र पहनकर मैं बाहर आया तो मुझे एक सुन्दर आसन पर विठा कर, सेठ ने मेरे साथ ही बैठकर मनोहारी स्वादिष्ट भोजन किया । भोजन करके उठने पर मुझे पान-सुपारी दी गई ।

भोजन के पश्चात् बातचीत चली । सेठ निश्चिन्त होकर मेरे पास बैठा और प्रेमपूर्वक 'मैं कहाँ का निवासी हूँ ? मेरा कुल, जाति और नाम क्या है ?' आदि प्रश्न पूछने लगे । मैंने भी उन्हे सत्य-सत्य बतलाया । मेरा पूर्ण परिचय प्राप्त कर सेठ मन मे सोचने लगा कि यह तो कुल, शील, वय और रूप मे योग्य है, अपनी ही जाति का है और सुन्दर रूपवान है, अत अपनी पुत्री कमलिनी के यह सर्वथा योग्य है । कमलिनी सेठ की इकलौती पुत्री थी । वह रूप मे कामदेव की पत्नी रति से भी सुन्दर और समस्त शुभ लक्षणो और गुणो से युक्त थी । सेठ ने अपनी पुत्री को पास बुलाया । दृष्टि-सम्मिलन से दोनो का परस्पर प्रेम देखकर, सेठ ने शुभ दिन देखकर उसका विवाह मेरे साथ कर दिया । तदनन्तर बकुल सेठ ने मुझ से कहा— वत्स घनशेखर ! यह घर तुम्हारा अपना ही है, ऐसा समझो । किसी भी प्रकार की उद्विग्नता से रहित होकर यहाँ रहो और मेरी पुत्री के साथ आनन्द करो ।

मैने उत्तर मे कहा—आदरणीय ! जब तक मै अपने भुजबल से रत्नो के ढेर एकत्रित नही करू तब तक मेरे लिए भोगलीला एक प्रकार की बिडम्बना मात्र ही है । मेरे विचार से तो ऐसा आनन्द तिरस्कार और धिक्कार के योग्य ही है । ऐसे भोग भोगने मुझे उचित नही लगते । अतः हे पूज्य ! भविष्य मे आप मुझे ऐसी आज्ञा न दे । मै घर पर नही रह सकता । मुझे आप कोई अच्छा साथ बताइये कि जिसके साथ मे रत्नद्वीप जाऊँ और वहाँ से अपने परिश्रम से रत्नो का सचय कर साथ लेकर आऊ । [६२-६३]

बकुल सेठ ने कहा —वत्स ! दुर्लंघ्य विशाल समुद्र लाघ कर इतनी दूर जाने की तुझे क्या आवश्यकता है ? मेरी पूजी लेकर उससे यही अपनी इच्छानुसार व्यापार करो और धन कमाओ । [६४]

मैने सेठ के इस उदार प्रस्ताव पर न तो कुछ ध्यान दिया और न उसका आभार ही माना । उत्तर मै मैने इतना ही कहा—पूज्य श्री ! यदि आपका ऐसा

ही* आग्रह है कि मै अभी विदेश नही जाऊ तो ठीक है। मेरे पास जो थोडी पूंजी है उसी से मैं यहाँ रहकर अलग व्यापार करूंगा, पर मै अपना मकान अलग लूंगा और अपनी दुकान भी अलग खोलूंगा। [६५]

बकुल सेठ ने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकर किया, क्योकि वह चाहता था कि किसी प्रकार उसकी पुत्री उसकी दृष्टि के सामने ही रहे।

धनशेखर द्वारा कर्मादानो (निम्नकोटि) का व्यापार

इसके पश्चात् मैंने व्यापार करना प्रारम्भ किया। मेरा मित्र सागर (लोभ) मेरे भीतर रहकर बार-बार मुझे प्रेरित करता रहता था जिससे प्रतिक्षण धन पैदा करने के नये-नये तर्क-वितर्क और विचार-तरगे मेरे मन मे हिलोरे ले रही थी। (मेरा मन धन बढाने के भिन्न-भिन्न रास्तो पर विना लगाम के घोडे की तरह सरपट भाग रहा था)। इससे मेरी धर्मबुद्धि भ्रष्ट हो रही थी। किसी भी प्रयत्न से धन बढाना बस यही मेरा लक्ष्य हो गया था, जिससे मेरी दयालुता भाग रही थी और सरलता तथा नम्रता का नाश हो रहा था। मेरी बुद्धि ऐसी कुण्ठित हो गई थी, इस कारण मुझे ऐसा लग रहा था कि इस ससार मे मात्र धन ही सार है, प्रधान है। व्यवहारी का मन रखने की स्वाभाविक उदारता भी मुझ मे घटती जा रही थी और मेरे हृदय से सतोष भी अदृश्य होता जा रहा था। फिर मैंने अनाज लेना शुरू किया। अनाज, तेल और रुई बड़े-बडे गोदामो मे भरने लगा। लाख का, गुड का और जीवो से सकुलित तेल निकलवाने का (घाणी का) धन्धा भी करने लगा। पूरे के पूरे जगल कटवा कर कोयले बनवाने का धन्धा भी करने लगा। (ये सभी कर्मादान है जिनसे महा आरम्भ होता है)। सच्चा झूठा करने लगा। सरल प्रकृति के लोगो को लेने-देने मे लूटने लगा। मुझ पर विश्वास रखने वालो को धोखा देने लगा। लेने-देने के झूठे तोल-माप रखकर अधिक लेने और कम देने लगा। धन-चिन्ता मे मै इतना तन्मय हो गया कि तेज प्यास लगने पर भी मुझे पानी पीने की और भूख से व्याकुल होने पर भी भोजन करने का समय नही मिलता। धन की लोलुपता मे मुझे रात को नीद भी नही आती। [मेरी अत्यन्त सुन्दर, सरल, पतिभक्ता, पद्म जैसी प्रियपत्नी कमलिनी से भी मिलने का, दो बाते करने का, उसके निकट बैठने का और सहवास का समय भी मुझे नही मिलता।] पत्नी के सुन्दर दिव्य विकसित कमल जैसे आरक्त और मधुर अधरो पर भ्रमर की भाति रसपान करने का भी मुझे इस धन लोलुपता के कारण कभी समय नही मिला। [६६-६७]

हे कमलनेत्री अगृहीतसकेता! इस प्रकार मैंने अनेक कष्ट सहे, दुख. उठाये और चिन्ता मे अपने को गलाया तब कही जाकर मेरी पूजी मे ५०० मोहरो की वृद्धि हुई। जैसे ही मेरे पास डेढ हजार मोहरे हुई वैसे ही मेरी इच्छा उन्हे दो हजार करने की हुई। हिंसाजन्य अनेक निम्न व्यापार करने पर जब मेरे पास दो

* पृष्ठ ५५४

हजार मोहरे हो गयी तब मेरी इच्छा दस हजार मोहरे इकट्ठी करने की हो गई। फिर अधिक व्यापार करने और अनेक प्रकार के पापो का सेवन करने पर जब मेरी पूंजी दस हजार मोहरे हो गई तो तुरन्त ही मेरी इच्छा एक लाख मोहरे करने की हो गई। भद्रे! विविध प्रयत्नो से मैंने इसकी भी पूर्ति करली। मेरा सागर (लोभ) मित्र अन्दर बैठा हुआ मुझे प्रेरित करता ही रहता था और किसी भी प्रकार एक लाख मोहरों के स्थान पर दस लाख एकत्रित करने को उत्साहित करता रहता था। फिर मैंने अनेक व्यापार किये, तकलीफे उठाई, रात-रात भर जागा और महान प्रयत्नो के बाद अन्त मे मै दस लाख मोहरे एकत्रित करने मे भी सफल हुआ। [६८–७१]

हे भद्रे! जब मेरी पूजी दस लाख स्वर्ण मोहरो की हो गई तो मेरे मित्र सागर (लोभ) ने भीतर से बार-बार मुझे एक करोड मोहरे इकट्ठी करने के लिए उत्साहित किया। मैंने पहले जो-जो व्यापार किये थे उन सब को अधिक उत्साह से तथा अधिक बड़े पैमाने पर किया, फिर भी दस लाख और करोड मे बहुत बडा अन्तर था इसलिए मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। [७२–७३] अत· मैंने कोटिपति की मनोकामना पूर्ण करने के लिए अधिकाधिक विविध योजनाये बनाकर उनको कार्यरूप मे परिरगत करना प्रारम्भ किया। परदेश मे जाकर व्यापार करने वाले अनेक गाडीवान बनजारो को नियुक्त किया। ऊटो के बडे-बडे टोलो पर वस्तुएं भर-कर परदेश भेजी। बड़े-बडे जहाजो पर माल भरकर देशान्तरो मे भेजा। गधो का विशाल झुण्ड एकत्रित कर उन पर माल लाद कर परदेश भेजा। चमडे के व्यापा-रियो के साथ मिलकर व्यापार किया। राजाओ से मिलकर अमुक-अमुक देशो से व्यापार करने और कर वसूली के आज्ञा पत्र लिखवाये। बडी सख्या मे बैल पाल कर फिर उन्हे बधिया (नपुसक) बनाकर कृषको और गाडीवानों को बेचा। पैसा पैदा कर मुझे देने के लिए वेश्यागृह चलाया। जिन कामो मे स्पष्टत· अत्यन्त अधमता दिखाई दे वे सभी काम मै करने लगा। दारू, ताडी, शराब आदि बनाने के धन्धे भी मैने खोल दिये। सुन्दर हाथियो के दात कटवाकर हाथी दात का व्यापार करने लगा। [ये सभी कर्मादान है]। अनेक प्रकार की खेती करवाने लगा और गन्ने का रस निकलवा कर उससे गुड और चीनी बनवाने के धन्धे भी चालू किये।

सक्षेप मे कहू तो इस ससार मे जितने भी व्यापार धन्धे है उनमे से एक को भी मैने नही छोड़ा।* हे भद्रे! मेरे सागर मित्र की इच्छा तृप्त करने के लिए मैंने ऐसे-ऐसे धन्धे किये कि जिनकी कोई कल्पना भी नही कर सकता। न मैं पाप से डरा, न मैंने क्लेश की परवाह की, न किसी प्रकार के सुख की इच्छा की और न जरा भी सतोष ही किया। मेरे सागर मित्र को सतोष देने के लिए मैने उसकी आज्ञा-नुसार मेरे से हो सके वे सभी व्यापार धन्धे किये। महान् पापजन्य कार्यो को करने पर बहुत समय पश्चात् कही जाकर अन्त मे मेरे पास एक करोड स्वर्ण मोहरे हुई।

---

* पृष्ठ ५५५

यह सब कुछ मेरे अन्तर्निहित मेरे दूसरे मित्र पुण्योदय के प्रभाव से मुझ मिला था। [७४-७६]

करोड़ स्वर्ण मोहरे हो जाने पर भी मेरे आन्तरिक मित्र सागर को सतोष नही हुआ। उत्साहित करने की उसकी प्रवृत्ति बार-बार मुझे अन्दर से प्रेरित करती ही रहती थी। जब-जब अवसर मिलता तब-तब वह मुझ पर अपनी आज्ञा चलाता और मुझे विवश कर आगे बढाता। वह मुझे समझाता— 'देख, तूने मेरे परामर्श और सकेतानुसार काम किया तो मेरे प्रताप से तुझे एक करोड मोहरे प्राप्त हो गई। अब तू यदि पूर्ण उत्साह रखेगा तो करोडो रत्न पैदा करना भी तेरे लिए कुछ दुर्लभ या अशक्य नही होगा। पर, रत्न यहाँ नही मिलेगे, उसके लिए तो तुझे इस समुद्र को लांघकर रत्नद्वीप जाना पडेगा, यदि तू उत्साह रखेगा तो मेरे प्रताप से तुझे वे भी मिलेगे।' इस प्रकार सागर मित्र ने मुझे समुद्र लाघ कर रत्नद्वीप जाने के लिए प्रेरित किया और बार-बार की प्रेरणा से इस बात की मेरे मन पर ऐसी अमिट छाप डाल दी कि यदि कोई देव आकर भी मुझे इस कार्य से निवृत्त होने के लिए कहे तो भी मै अपने निर्णय से पीछे न हटू। [७७-७६]

जब मैने अपने मन मे रत्नद्वीप जाने का दृढ निश्चय कर लिया तब यह बात मैने अपने श्वसुर बकुल सेठ को बतलाई।

सेठ महा विलक्षण व्यापारी थे, उन्होने दीर्घ-दृष्टि से मुझे उत्तर दिया— प्रिय वत्स! जैसे-जैसे मनुष्य को अधिकाधिक धन की प्राप्ति होती रहती है वैसे-वैसे और अधिक प्राप्त करने के उसके मनोरथ बढते रहते है। एक करोड रत्न प्राप्त हो जाय तो उससे अधिक प्राप्त करने की बलवती इच्छा होगी। धधकती हुई आग मे इन्धन डालने से क्या वह आग तृप्त हो जाती है? वत्स! तूने बहुत धन कमाया है, तुझे अब सतोष धारण करना चाहिये। जो धन कमाया है उसकी ठीक से व्यवस्था कर उसे बनाये रखना ही अधिक उचित है। अत. अब सब प्रकार की व्याकुलता को छोडकर कुछ दिन आराम से बैठो और चित को स्थिर करो। [८०-८२]

मेरे श्वसुर के वचन सुनकर मैंने कहा—आदरणीय! आप इस प्रकार न बोले, कहा भी है कि—

जब तक यह प्राणी पुरुषार्थ नही करता, अपनी शक्ति को प्रस्फुटित नही करता, कार्य का आरम्भ नही करता तब तक लक्ष्मी उसकी तरफ पीठ फेर कर रहती है, वह कभी उसका वरण नही करती। पर, कार्य का आरम्भ कर देने पर लक्ष्मी उसकी तरफ प्रेमदृष्टि से देखती है। जैसे अपने प्रेमातुर प्रणयी को प्राप्त करने के लिए कुलटा स्त्री अपने धनहीन पुरुष को छोड देती है वैसे ही साहस और उत्साह रहित प्राणी को लक्ष्मी एक बार वरण करके भी छोड देती है। जो अपना सब कामकाज बन्द करके अपने चित्त को अन्यत्र लगाता है, जो अपने धनोपार्जन के कार्य को बन्द कर देता है, उसकी तरफ लक्ष्मी कुलवती स्त्री की भाति लज्जा

पूर्वक देखती तो है, पर उससे कोई प्रेम व्यवहार नही रखती। कितनी भी विषम परिस्थितियो मे भी जो प्राणी धनोपार्जन के उत्साह को नही छोडता, उसके वक्ष-स्थल पर लक्ष्मी बिना किसी प्रेरणा के ही आ चिपकती है, वह उसका स्वय ही वरण करती है। जो धैर्यवान प्राणी अपनी बुद्धि का उपयोग कर पराक्रम या युक्ति से लक्ष्मी को बाधकर रखता है, उसकी लक्ष्मी प्रोषितभर्तृका की तरह प्रतीक्षा करती है। जो प्राणी थोडी सी लक्ष्मी प्राप्त होने पर सन्तोष धारण कर लेता है, उसकी तरफ यह लक्ष्मीदेवी बहुत ही उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। ऐसे प्राणी को वह तुच्छ प्रकृति का मानती है और उसके यहाँ वह किञ्चित् भी नही बढती। जो प्राणी अपने धनोपार्जन के गुणो से लक्ष्मी देवी को प्रसन्न नहीं कर सकता, उसके साथ इस देवी का प्रेम-सम्बन्ध होने पर भी वह लम्बे समय तक नही चल सकता। इसीलिये समझदार लोग धनोपार्जन के विषय मे कभी सतोष नही करते। अत हे माननीय! आप मुझे रत्नद्वीप जाने की आज्ञा प्रदान करे। [८३-९०]

बकुल सेठ ने मेरे इस लम्बे भाषण का सक्षेप मे ही उत्तर दिया—प्राणी पाताल मे जाय या मेरु पर्वत के शिखर पर चढे, रत्नद्वीप जाये या घर मे रहे, चाहे जितना पुरुपार्थ करे या बिना उद्यम बैठा रहे, पर उसने पूर्व मे जैसे बीज बोये होगे उसके अनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होगी।* तथापि तुम्हारा परदेश जाने का इतना अधिक आग्रह है तो जाओ, मेरी आज्ञा है, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ। [९१-९२]

श्वशुरजी का उत्तर सुनते ही मैने उनके प्रति अपना आभार प्रकट किया।

धनशेखर का रत्नद्वीप-गमन

अब मैने रत्नद्वीप जाने की तैयारी प्रारम्भ की। अनेक प्रकार का किराणा मैने एकत्रित किया। जहाज तैयार करवाये, उसमे खलासी, मिस्त्री, चालक आदि का प्रबन्ध किया। जाने के दिन का मुहूर्त निकलवाया, लग्न शुद्धि का विचार किया, निमित्त (शकुन) की खोज करने लगा। श्रुतिया की गई, अर्थात् ज्योतिषियो से पता लगवाया गया कि अमुक दिन अमुक दिशा मे जाना ठीक होगा या नहीं? इष्ट देवता का स्मरण किया गया, समुद्र देव की पूजा की गई, विशाल श्वेत ध्वज फहराये गये, जहाजो मे बडे-बडे कूपक (मध्य स्तम्भ) खडे किये गये, प्रवास हेतु आवश्यक ईंधन लिया गया, जल की टकिया भरवाई गई। अन्य जो कुछ भी सामान यात्रा मे आवश्यक हो उसे और युद्ध के लिए आवश्यक सर्व प्रकार की सामग्री जहाजो मे चढाई गई। समुद्र-मार्ग से व्यापार करने वाले और विशेषकर रत्नद्वीप जाकर व्यापार करने वाले व्यापारियो को साथ मे लिया।

इस प्रकार सब तैयारियाँ पूर्ण होने पर मैं अन्य धनवान व्यापारियों के साथ रत्नद्वीप जाने के लिये तैयार हुआ और मेरी पत्नी को मैंने उसके पिता के घर

* पृष्ठ ५५६

भिजवा दिया। जब मुहूर्त का शुभ दिन और समय आया तब समस्त प्रकार के मांगलिक कृत्य कर मैं ठीक समय पर जहाज पर चढा। मेरे आतरिक मित्र सागर और पुण्योदय भी मेरे साथ ही थे। [९३-९४]

जब हमारे जहाजो का लगर उठाने का समय हुआ तो शहनाइयां वजने लगी, शंख वजने लगे, मगल गीत गाये जाने लगे, चपल वटुक ब्रह्मचारी स्वस्ति पाठ करने लगे और वृद्ध लोग आशीर्वाद देते हुए वापस नगर की ओर जाने लगे। छोडी हुई पत्नी दीन अबला जैसी लगने लगी। मित्रो मे कुछ प्रसन्न हुए और कुछ खिन्न हुए और सज्जन लोग मन ही मन अनेक प्रकार के मनोरथ करने लगे।

इस प्रकार याचको के मनोरथ पूर्ण करते हुए, अवसर योग्य उत्सव करते हुए, पवन के अनुकूल होने पर हम सब यात्रीगण जहाजो मे जाकर वैठ गये। [९५] पश्चात् जहाजो के लगर उठाये गये और उन पर पाल चढ़ाये गये। जहाज एक के बाद एक श्रेणीबद्ध चलने लगे। चालक बराबर ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने लगे। इस प्रकार हमारे जहाज मार्ग पर चल पड़े। मन के अनुकूल पवन भी चल रहा था। तीव्र पवन के वेग से समुद्र मे उठती उत्ताल तरगो से उद्वेलित वडे-बडे मत्स्यो के पूछ के आघात से उत्पन्न भीषण ध्वनि से जलजतु भयभीत होकर दूर भाग रहे थे। उत्ताल तरगो के जहाजो से टकराने पर दूर-दूर तक सफेद फैन के पहाड़ दृष्टिगोचर हो रहे थे और कछुए आदि अनेक प्राणी नष्ट हो रहे थे। ऐसे मार्ग पर हमारे विशाल जहाजो का वेडा चलने लगा। अति विस्तृत महासमुद्र मे हमारे जहाज आगे बढे। बीच-बीच मे अनेक छोटी-बडी घटनाएँ होती रही और अन्त मे हम सभी थोडे समय बाद, सकुशल रत्नो से परिपूर्ण रत्नद्वीप पर आ पहुँचे। हम सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए। यात्रा सकुशल समाप्त हुई इसलिये हमने अपने आपको भाग्यशाली माना।

व्यापारी जहाजो से उतरे। जो-जो वस्तुए दिखाने योग्य थी उन्हे साथ लिया। वहाँ के राजा से मिलकर उन्हे नजराना (भेट) अर्पित किया। राजा ने भी हमारे प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। कर चुकाया गया और बिक्री की वस्तुओ की गिनती की गई। व्यापारी एक दूसरे को हाथ देने लगे (रुमाल ढक कर अगुलियो के इशारे से भाव तय करने का एक तरीका)। सभी ने अपनी-अपनी इच्छानुसार वस्तुए (माल) वेची, उसके वदले मे अपने देश ले जाने योग्य वस्तुए खरीद कर भरी, लोगो को इनाम दिये। तदनन्तर मेरे साथ आये हुए दूसरे व्यापारी तो वापस अपने देश जाने के लिये तैयार हुए और चले भी गये। परन्तु मुझे तो मेरे मित्र सागर ने प्रेरित करते हुए कहा—'मित्र! जिस देश मे नीम के पत्तो के वदले रत्न मिलते हो ऐसे देश को छोड़कर शीघ्रता से वापस क्यो लौट रहा है?' [९६] मेरे मित्र के परामर्श से मैंने वही दुकान खोल दी और रत्न खरीदने का व्यापार प्रारम्भ कर दिया।

---

३. हरिकुमार की विनोद गोष्ठी

[मेरे साथ आये हुए सभी व्यापारी विदा हो गये, अपना बिक्री-खरीद का व्यापार पूरा कर अपने देश वापस लौट गये। पर, सागर मित्र की प्रेरणा से मै रत्नो के ढेर एकत्रित करने के लिये रत्न द्वीप मे ही रह गया और वही अपना व्यापार प्रारम्भ कर दिया। मेरा सम्पूर्ण समय सागर की प्रेरणा से धनोपार्जन के उपायो को सोचने मे और उन्हे क्रियान्वित करने की योजना बनाने मे व्यतीत हो जाता था। हे अगृहीतसकेता ! उसके पश्चात् एक और घटना घटित हुई जिसे सुन।]*

हरिकुमार का पूर्व-वृत्तान्त

एक दिन एक बुढिया मेरे पास आई और कहने लगी—'पुत्र ! मुझे तुम्हारे साथ कुछ बात करनी है।' मैने जब उसे अपनी बात सुनाने को कहा, तब वह बोली—'वत्स ! तुझे यह तो पता ही है कि आनन्दपुर मे केसरी नामक राजा राज्य करता है। उस राजा के दो रानिया है—एक जयसुन्दरी और दूसरी कमलसुन्दरी। कमलसुन्दरी के साथ क्या घटना घटित हुई, यह बताती हूँ।

इस केसरी राजा की राज्य पर अत्यधिक आसक्ति थी और उसे सदा यह भय बना रहता था कि यदि उसके पुत्र होगा तो वह उसे मार कर स्वय राजा बन जायेगा, अत: जैसे ही कोई पुत्र जन्म लेता वह उसे मार देता। इस प्रकार उसने तुरन्त के जन्मे कुछ बच्चों को तो स्वर्गधाम पहुँचा ही दिया। कमलसुन्दरी को इस बात का पता लग गया। एक बार वह फिर गर्भवती हुई। गर्भ मे रहे हुए बालक पर माता का स्वाभाविक स्नेह रहता ही है, इसीलिये एक दिन कमलसुन्दरी पुत्र-मोह से मुझे (वसुमती) साथ लेकर अन्धकारमयी रात्रि मे राजमहल से भाग निकली। आगे जाकर एक विशाल और भयकर जगल आया। कमलसुन्दरी बहुत सुकोमल थी और उसे कभी पैदल चलने का काम नही पडा था, इसलिये उसे बहुत दुःख उठाना पडा। जब पौ फटने का समय हुआ तब रानी के नितम्ब विकसित होने लगे और नाभि (सुण्डी) मे दर्द उठने लगा। पेट मे दारुण शूल उठने से उसके चरण आगे बढने से रुक गये। उसका पूरा शरीर टूटने लगा और हृदय जोर से धडकने लगा। आँखे मिच गई और उबासी पर उबासी आने लगी। तब रानी ने कहा—सखि वसुमति ! अब तो मैं एक कदम भी नही चल सकती। मेरे शरीर मे बहुत अधिक पीडा हो रही है और मेरा समस्त शरीर अत्यधिक व्यथित हो गया है। उस समय मैने विचार किया कि इसको एकाएक क्या हो गया है ? तभी मुझे

---

* पृष्ठ ५५७

ध्यान आया कि रानी के प्रसव का समय निकट आ गया लगता है। फिर मैंने रानी को धैर्य बंधाया और प्रसूति के लिये आवश्यक स्थान की व्यवस्था करने लगी। तभी मेरी स्वामिनी वेदना से व्याकुल होकर पछाड़ खाकर जमीन पर गिर पड़ी और तीव्र करुण स्वर से हाय-हाय करने लगी। तत्काल ही उसने पुत्र को जन्म दिया किन्तु उसी क्षरण उस सुकोमल कमलसुन्दरी के प्राण पखेरु भी उड गये।

ऐसी अप्रत्याशित भयंकर घटना को देखकर मुझ मन्दभागिनी पर तो वज्र ही गिर गया। मैं अत्यन्त भयभीत हो गई, मानो मेरा सर्वनाश हो गया हो! मुझे मूर्छा आने लगी, मानो मैं स्वय भी मर रही होऊँ! मानो मुझे किसी ग्रह ने ग्रस लिया हो! इस प्रकार मैं मन्दभाग्य वाली एकदम शून्य हृदय हो गई और मुझे यह भी नही सूझ पड़ा कि अब मुझे क्या करना चाहिये? मैं केवल जोर-जोर से विलाप करने लगी।

हे देवि! तू बोल, मुझ से बात कर। प्रिय सखि! तू मुझ से बात क्यों नही करती? देख, सुलोचने! मेरी स्वामिनि! तूने कितने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया है! हे राजीवनयनि देवि! जरा अपनी आँख खोल कर अपने सुन्दर पुत्र को तो देख ले! जिस पुत्र के लिये तूने विशाल राज्य का त्याग किया, प्रिय पति का त्याग किया और महान् दु ख उठाये, उस पुत्र की तरफ एक बार तो दृष्टिपात कर ले! अहा! भाग्य भी हृदय को चीर डालने वाली कैसी-कैसी विचित्र घटनाए घटित करता है। जिस भाग्य ने ऐसा सुन्दर पुत्र दिया उसी भाग्य ने इस देवी को जमीन पर पछाड़ कर उसके प्राण पखेरु उडा दिये। अरे बालक! तेरी रक्षा करने मे तत्पर और ममत्व से लबालब भरी हुई माता का जन्मते ही तूने प्राणहरण कर लिया, यह तो ठीक नही किया। अरे पुत्र! इस बेचारी ने पुत्र-सुख को प्राप्त करने के लिये पति का त्याग किया और राजमहल से बाहर निकली, पर पुत्र! तूने तो इस बेचारी को उस सुख से भी वचित कर दिया। [९७-१०१]

इस प्रकार विलाप करते-करते रात्रि व्यतीत हुई और सूर्योदय हुआ। भाग्य से उस समय उसी मार्ग से कोई सार्थ (बनजारो का समूह) निकल रहा था। इस सार्थ के सार्थवाह ने जब मुझे रोते और विलाप करते देखा तब मुझे धैर्य बंधाया। * उसने विस्मित होकर मुझ से सब घटना पूछी और मैंने संक्षेप मे उसे सब बात बतादी। मैंने सार्थवाह से पूछा कि आपका सार्थ किस तरफ जा रहा है? तब उसने बताया कि उनका सार्थ यहाँ से समुद्र के किनारे तक जाएगा और वहाँ से जहाजो द्वारा रत्नदीप जाएगा। उसका उत्तर सुनकर मैंने विचार किया कि मेरी जानकारी के अनुसार रत्नद्वीप में नीलकण्ठ राजा राज्य करता है जो कमलसुन्दरी का सगा भाई है, अत यह बालक नीलकण्ठ राजा का भाणेज होता है। इसलिये इस बालक को वही ले जाकर इसके मामा को सौप देना चाहिये जिससे कि वहाँ इसका उचित पालन-पोषण और रक्षण हो सके। अच्छा ही हुआ कि यह सार्थ मार्ग

* पृष्ठ ५५८

पर मिल गया। फिर धरण सार्थवाह से आज्ञा लेकर मैं उसके साथ यहाँ रत्नद्वीप पहुँच गई। इस बालक पर मेरा अत्यधिक स्नेह होने से मेरे स्तनो मे दूध भर आया और उसे पी कर ही यह नवजात बालक यात्रा मे जीवित रह सका। रत्नद्वीप पहुँच कर मैंने बालक को महाराजा नीलकण्ठ को दिखाया और कमलसुन्दरी सम्बन्धी सब घटना उन्हे कह सुनाई। नीलकण्ठ राजा को बहिन की मृत्यु पर शोक हुआ, पर साथ ही भाणजे के सकुशल पहुँचने की प्रसन्नता भी हुई। उन्होने बालक का नाम हरि रखा। वह भाणेज अनुक्रम से बडा होने लगा और वह राजा नीलकण्ठ को अपने प्राण से भी अधिक प्यारा लगने लगा। [१०२] फिर उसे कलाविज्ञान की शिक्षा दिलवाई गई। अभी वह कुमार युवा हो गया है और देवकुमार जैसे रूप और आकृति को धारण कर अपने मामा के राज्य मे आनन्द कर रहा है। मैंने उसे सब वास्तविकता बतलादी है। अभी-अभी उसे समाचार प्राप्त हुए हैं कि आप भी आनन्दपुर के रहने वाले है और वही से यहाँ आये है। आप कुमार के देश के हैं, इसलिये कुमार आपको अपने देश का जानकर आपसे मिलना चाहते है। अत पुत्र! आप उनके पास चलने की कृपा करे।

हरिकुमार से परिचय

हरिकुमार की माता की दासी और कुमार की धात्री (धायमाता) उस वसुमती वृद्धा के वचन सुनकर मैंने उसके साथ जाना स्वीकार किया और तत्काल ही मैं उसके साथ हरिकुमार के पास गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि हरिकुमार अपने मित्रो के मध्य बैठा है। मैंने जाकर हरिकुमार को नमस्कार किया। धात्री वसुमती (वृद्धा) ने कुमार से मेरा परिचय करवाया। मुझ से मिलकर कुमार बहुत प्रसन्न हुआ। प्रेम से अपने नेत्र अर्धनिमीलित करते हुए उत्साहपूर्वक मुझे हृदय से लगाकर उसने मुझे अपने आधे आसन पर बिठाया। फिर कुमार बोला— भद्र! मुझे पहिले ही माजी (वसुमती धाय) ने बताया था कि हरिशेखर मेरे पिताजी के प्रिय मित्र है और लोगो के कथनानुसार मुझे मालूम हुआ है कि आप हरिशेखर के पुत्र है, अतः भाई! आप तो मेरे सच्चे भाई ही हैं। आप तो मेरे शरीर और प्राण ही है। आप यहाँ आये यह बहुत ही अच्छा हुआ। [१०३-१०५]

राजकुमार हरि से इतना अधिक आदर पाकर मै पुलकित हो गया। फिर मैंने कहा—देव! माजी ने मुझे सब घटना बतला दी है। इस सेवक का आप इतना अधिक आदर सत्कार करे, यह किसी प्रकार उचित नही है। जैसे मेरे पिताजी आपके पिता श्री केसरी महाराज के अनुजीवी (सेवक) है, वैसे ही मैं भी आपका सेवक आपकी सेवा मे उपस्थित हूँ, इस विषय मे आप तनिक भी सदेह न करे। मेरे उत्तर को सुनकर कुमार अत्यधिक प्रसन्न हुआ और अपने मित्रो से मेरा परिचय करवा कर मित्रो के साथ आनन्दोत्सव मनाने लगा। मित्र के मिलाप को अति उज्ज्वल प्रसंग मानकर कुमार मेरे साथ मित्र जैसा व्यवहार करने लगा और सम्बन्ध भी

मित्रता का ही रखा। कुमार के साथ आनन्द करते-करते मेरे कई दिन व्यतीत हो गये। [१०६-१०६]

कुछ समय पश्चात् कामदेव को उद्दीप्त करने वाली, प्राणियो के आनन्द मे वृद्धि करने वाली और उद्यानों के लिए आभूषण जैसी वसन्त ऋतु * आई। उस समय हरिकुमार मुझे साथ लेकर अपनी मित्र-मण्डली सहित उद्यान की शोभा देखने के लिए घूमने निकला। घूमते हुए कोकिलाओ की कुहु-कुहु से कूजित रमणीय आनन्ददायी आम्रवन मे पहुँच कर हम सब बैठे। [११०-११२]

चित्रपट का प्रभाव

उस समय दूर से हमे आशीर्वाद देती हुई एक तपस्वनी वहाँ आ पहुँची। वह वृद्धावस्था के कारण जीर्ण-शीर्ण शरीर वाली और रौद्राकृति की धारक थी। उसे देखते ही कुमार ने उसका स्वागत किया, उसे प्रणाम किया और वार्तालाप द्वारा उसे प्रसन्न किया। प्रसन्नचित्त होकर उस तपस्विनी ने एक कन्या का चित्र कुमार को दिखलाया। चित्र कुमार के हाथ मे देकर, वह तपस्विनी सहज विकार और उत्कठा को छिपाते हुए कुमार के मुख की ओर एकटक देखने लगी, यह जानने के लिए कि चित्र देखकर कुमार के मुख पर क्या भाव प्रकट होते है ? चित्र देखकर कुमार के मन पर जोरदार चोट लगी है, उसकी आखो मे विकार भाव उभरे हैं और उसका मन चित्र के प्रति विशेष आकर्षित हुआ है, यह देखकर वह 'मैं जा रही हूँ' कहते हुए शीघ्र ही वहाँ से चली गयी। [११३-११६]

चित्र मे चित्रित कन्या की छवि देखते ही कुमार विकार से ऐसा दिङ्मूढ-सा हो गया मानो उसे कामदेव ने अपने बाण से विद्ध कर दिया हो। उसकी इस अवस्था को मित्रो ने भाप लिया। क्योकि, वह कभी तो हूँ शब्द करता, कभी सिर धुनता, कभी नीद मे से उठ रहा हो ऐसी प्रवृत्ति करता, कभी चुटकी बजाता, कभी समझ मे न आने वाली बाते बोलता कभी गहरा गर्म नि.श्वास छोड़ता, कभी हाथ हिलाता, कभी चित्रलिखित कन्या को बार-बार देखता, कभी हसने जैसा मुह बनाकर आखे बड़ी-बडी करता और कभी पलके बिना झुकाये ही मन्द-मन्द मुस्कान पूर्वक स्नेह पूर्ण दृष्टि से इधर उधर देखता। [११७-१२०]

हरिकुमार की ऐसी अवस्था होने पर उसके पास बैठी हुई मित्र-मण्डली उससे कहने लगी—

मन्मथ—(मुंह पर मुस्कान ला कर) अरे भाई! हृदयस्थित अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न रसों का अनुभव करते हुए भी, बाहर से इन्द्रियो को या हाथ-पाँव को बिना चलाये ही यह अन्तर्नाद (अन्तरंग नृत्य) क्या चल रहा है ?

ऐसा एकदम सीधा प्रश्न सुनकर हरिकुमार ने अपने आपको सभाला और फिर मन्मथ से बोला—अहा! इस चित्रकार की प्रवीणता को देख कर मैं बहुत

* पृष्ठ ५५६

प्रसन्न हुआ हूँ । मित्र ! तू देख तो सही, चित्र की प्रत्येक रेखा स्पष्ट और भूल रहित है । इसमे जो आभूषण पहनाये गये है वे सुन्दरी के शरीर से बिलकुल मेल खा रहे है । इसमे रग और छाया का संयोजन उचित अनुक्रम से हुआ है । चित्रित कन्या के मुख पर भाव इतने स्पष्ट झलक रहे है मानो वह मु ह से बोल रही हो ! चित्र में भावो की स्पष्टता प्रकट करना बहुत ही कठिन काम है । चतुर परीक्षको की दृष्टि में चित्रकला-परीक्षण का मुख्य मुद्दा ही भावो की स्पष्टता है । इस चित्र में चित्रित कन्या के अंगोपांगो और मुखाकृति की रेखाओ से उसके भाव प्रकर्षता के साथ बहुत ही स्पष्ट झलक रहे है । मेरे इस प्रकार कहने का कारण यह है कि चित्रलिखित कन्या ऐसी लग रही है मानो वह बचपन को पार कर तरुणाई के द्वार पर खड़ी हो और कामदेव उस पर अपना प्रभाव व्यक्त कर रहा हो । चित्र मे ये भाव इतने सुन्दर और स्पष्ट ढग से प्रकट किये गये हैं कि एक छोटा-सा बच्चा भी चित्र को देखकर इन भावो को समझ सकता है, तब फिर विद्वानो को ऐसा लगे तो इसमे नवीनता ही क्या है ? देखो :—

चित्रित कन्या के स्तनों का अग्रभाग उद्भिन्न होता हुआ दिखाया गया है जो यह प्रकट कर रहा है मानो वह अपने लावण्य रस को बाहर निकाल रही हो । अगोपाग की रचना से वह अपने प्रस्फुटित प्रोद्दाम यौवन को स्पष्टत' बता रही है । ऊची चढी हुई भौहे और लीला मे अर्ध-निमीलित नेत्र मानो यह प्रकट कर रहे हैं कि यह कन्या वाणी द्वारा मन्द-मन्द निमन्त्रण दे रही हो । कपोलो पर असाधारण रूप से स्फुरित और हसता हुआ रमणीय मुखकमल तथा अति चपल और तिरछे नयन यह बता रहे है कि मानो यह कन्या मदन को अपने साथ ही लेकर घूम रही हो । [१२१-१२३]* ऐसी सुन्दर कन्या का चित्र स्पष्ट भावो और योग्य आकर्षण के साथ चित्रित कर चित्रकार ने मेरा मन मुग्ध कर लिया है । मुझे तो ऐसा लग रहा है कि इतनी स्पष्टता से सब भावो को प्रकट करने की ऐसी कुशलता ससार मे अन्य किसी भी चित्रकार मे शायद ही हो ! क्योकि, ऐसी कुशलता मैंने पहले कभी कही नही देखी है ।

मन्मथ—(पद्मकेसर की ओर उन्मुख होकर)—क्यो भाई पद्मकेसर ! कुमार जो कह रहे है क्या यह बात सच्ची है ?

पद्मकेसर—मित्र ! यह बात तो सच ही है । पर प्राणियो की चित्तवृत्ति भी विचित्र प्रकार की होती है । मुझे तो ऐसा लग रहा है कि चित्रकार से भी चित्र-लिखित कन्या अधिक सुन्दर और अधिक योग्य है ।

ललित—मित्र ! क्या इस चित्रित कन्या ने कोई विशेष कार्य किया है ? क्या तुमने इस चित्र मे कोई आश्चर्यजनक बात देखी है ? या कभी तुमने ऐसा कोई चित्र देखा है ?

* पृष्ठ ५६०

पद्मकेसर—हाँ, अच्छी तरह देखा है।

विलास—मित्र पद्मकेसर ! इस चित्रित कन्या ने क्या विशेष कार्य किया है ? उसका वर्णन तो तू हमारे समक्ष कर।

पद्मकेसर—देख भाई ! इस कुमार का मन कामदेव से आतुर अन्य किसी भी स्त्री से आज तक दुर्गम ही रहा, जीता नही गया। जिस मन का उल्लघन आकाश मे चलने वाली विद्याधरी भी नही कर सकी, जिस मन को किन्नरिया भी हरण नही कर सकी, जिस मन को देवागनाए भी साध्य नही कर सकी, जिसे गधर्व जाति की स्त्रिया भी नही जीत सकी, जिस मन मे सर्वदा सत्वगुण ही प्रधान रूप से प्रवर्तित होता हो, जो मन राजसी और तामसी विचारो का निरन्तर तिरस्कार करता हो, ऐसे महावीर्यवान् कुमार के मन को इस चित्रलिखित कन्या ने चित्र मे रह कर ही जीत लिया है, यह वास्तव मे आश्चर्यजनक बात ही है। यह वास्तविकता केवल मैने ही देखी हो ऐसी बात नही, आप सबने भी अभी-अभी स्पष्ट रूप से यह बात देखी है।

विभ्रम—भाई ! यह तो सचमुच आश्चर्य हुआ, ऐसा कह सकते है। पर, इसमे चित्र ने क्या किया ?

पद्मकेसर—अरे मूर्ख शिरोमणि ! चित्र शब्द के दो अर्थ होते है, चित्र याने छवि, चित्र याने आश्चर्य। यह चित्र वास्तविक चित्र ही है। अर्थात् यह छवि आश्चर्यजनक है।

कपोल—आपने कैसे जाना कि चित्रलिखित कन्या ने कुमार के मन को जीत लिया है ? क्या आपके पास इसका कोई प्रमाण है ?

पद्मकेसर—वाह रे मूर्खो के सरदार ! क्या तू इतना भी नही देख सकता ? देख, मन रूपी सरोवर जब तक भीतर से अत्यधिक क्षुब्ध न हुआ हो तब तक इस प्रकार के स्पष्ट हुकार आदि नही निकलते और न अनेक प्रकार की मन की तरगे ही उत्पन्न होती हैं। इस पर भी यदि तुझे मेरे कथन पर विश्वास न हो तो तू स्वय कुमार को पूछ देख, तुझे वास्तविकता का पता लग जायगा और सारी बात स्पष्ट हो जायेगी।

हरिकुमार—मित्र पद्मकेसर ! अब विना प्रसंग की इस बेकार की बात-चीत को बन्द करो। कुछ चातुर्य-पूर्ण आनन्ददायक प्रश्नोत्तर चलाओ, जिससे कि कुछ आनन्द की प्राप्ति हो।

पद्मकेसर ने हसते हुए उत्तर दिया—जैसी कुमार की आज्ञा। फिर मित्रो मे निम्नलिखित विद्वद्गोष्ठी/प्रश्नोत्तरी चली—

प्रश्नोत्तर गोष्ठी

पद्मकेसर ने प्रश्न किया— (१)

पश्यन् विस्फारिताक्षोऽपि, वाचमाकर्णयन्नपि।
कस्य को याति नो तृप्ति, किच ससारकारणम् ।।१२५।।

भावार्थ—विस्फारित नेत्रो से देखता हो और वाणी को सुनता हो, फिर भी किसे, क्यों संतोष नही होता, शान्ति नही मिलती और इस ससार का कारण क्या है ?

हरिकुमार ने प्रश्न तो सुना पर उसका मन तो चित्र मे चित्रित कन्या ने हरण कर लिया था, जिससे उसने मात्र हुंकारा ही दिया। पद्मकेसर ने मन मे सोचा कि कुमार ने मेरा प्रश्न बराबर सुना नही है अत. इसे फिर से अधिक स्पष्टता से एक बार और बोलू जिससे कि यह श्लोक उसके ध्यान में आ जावे। इस विचार से पद्मकेसर ने उपरोक्त प्रश्न वाला श्लोक दुबारा बोला, पर उसके उत्तर मे भी कुमार ने सिर्फ धीरे से हुकारा ही भरा। इससे पद्मकेसर को पूर्ण विश्वास हो गया कि चित्रलिखित कन्या ने कुमार के हृदय को बिलकुल शून्य बना दिया है,* अत. वह थोडा हँस पड़ा। दूसरे मित्र भी परस्पर हसी करने लगे और एक दूसरे का मु ह देखने लगे। यह देखकर हरिकुमार का मन कुछ ठिकाने आया। उसे लगा कि उसके मित्रो ने उसकी मानसिक दशा को जान लिया है और यह ठीक नही हुआ है। इससे उसके मन मे अभिमान जागृत हुआ और उसने अपने मन में कन्या के सम्बन्ध मे जो सकल्प-विकल्प हो रहे थे, उनको दवा दिया तथा ध्यानपूर्वक सुनने लगा। उसके मन मे कुछ विचार आये और वह बोला—अरे मित्र ! तू हँस क्यों रहा है ? मेरी हँसी उड़ाने की आदत छोड़ दे। तेरा प्रश्न एक बार फिर से बोल। इस पर पद्मकेसर ने उपरोक्त श्लोक को पुन: पढा। इस समय कुमार का प्रश्न पर ध्यान था, अत जैसे ही प्रश्न पूरा हुआ उसके मन मे उत्तर भी आ गया और उसने तत्क्षण उत्तर दिया—"ममत्व"।

[यहाँ कुमार के उत्तर को समझ लेना चाहिये। प्रश्न था खुली आँखो से देखने पर और वाणी को सुनने पर भी किसे किसलिये शाति नही मिलती ? उत्तर है 'ममत्व' मेरापन। यह मोह राजा का संसार को अधा करने वाला मत्र है। पूरी दुनिया को नचाने वाला, भटकाने वाला, फसाने वाला यह मत्र प्राणी को बिलकुल विचित्र बना देता है। आँख से देखते हुए और कान से सुनते हुए भी ममत्व की वस्तु के प्रति कभी तृप्ति होती ही नही, कभी अघाता ही नही, उसे कभी शाति नही मिलती। चाहे जितना देखें और सुनें पर अभी और अधिक सुनने और देखने की उसकी इच्छा कभी पूरी नही हो पाती, इस सब का कारण ममत्व/अभिमान/मेरापन है। दूसरा प्रश्न है—संसार का कारण क्या है ? इसका उत्तर भी ममत्व ही है। ससार-भ्रमण, भवपरिपाटी, चक्रपर्यटन का कारण भी ममत्व ही है। मोह राजा का स्थान और उसके अधिकारो का वर्णन इस ग्रन्थ को पढने वाले पाठक भली प्रकार जानते है, अत· इस सम्बन्ध मे अधिक विवेचन करना व्यर्थ है। इस प्रकार दो पक्ति के प्रश्न का उत्तर कुमार ने तीन अक्षरो मे दे दिया।]

* पृष्ठ ५६१

(२)

पद्मकेसर ऐसा संक्षिप्त किन्तु सही उत्तर सुनकर अतिशय विस्मित हुआ। फिर उसने दूसरा प्रश्न किया—

कस्या बिभ्यद्भीर्न भवति संग्रामलम्पटमनस्कः।
वाताकम्पितवृक्षा निदाघकाले च कीदृक्षाः ॥१२६॥

भावार्थ—युद्ध करने मे जिसका मन लगा हो वह किससे अधिक भयभीत नहीं होता? ग्रीष्म में पवन से कांप रहे वृक्ष कैसे लगते हैं?

कुमार ने पद्मकेसर को प्रश्न पुन. बोलने के लिये कहा। श्लोक दुबारा सुनने पर थोड़े से विचार के पश्चात् कुमार ने उत्तर दिया—"दलनायाः।"

पद्मकेसर ने उत्तर स्वीकार किया।

[यहाँ प्रथम प्रश्न यह था कि जिस योद्धा का मन सर्वदा युद्ध मे रमा रहता है, वह किससे अधिक भयभीत नहीं होता? उत्तर में कहा गया है कि ऐसा योद्धा 'दलना' अर्थात् सेना से नही डरता। जिसको युद्ध करने जाना है और जिस योद्धा का मन सदा युद्ध में ही लगा रहता है, वह बड़ी से बड़ी सेना को देखकर भी, कभी अधिक तो क्या तनिक भी भयभीत नही होता। दूसरा प्रश्न है ग्रीष्म मे पवन से कांप रहे वृक्ष कैसे लगते हैं? उत्तर यही है कि वृक्ष पत्ररहित होने से ठूठ जैसे लगते हैं। ग्रीष्म में वृक्ष के पत्ते सूख कर गिर जाते हैं और फिर नये पत्ते वसंत के आगमन पर ही आते हैं अतः वह 'दल-न-आयः दलनायाः' अर्थात् जिसमें पत्ते (दल) नहीं आते हों ऐसा वृक्ष ठूंठ ही लगता है। इस प्रकार पूर्ण श्लोक के दो प्रश्नों का संक्षिप्त और सही उत्तर यहाँ भी केवल चार अक्षरों में दिया गया है।]

(३)

इसके पश्चात् अर्हद् दर्शन (जैनमत) की ओर अभिरुचि वाले विलास नामक मित्र ने कहा—कुमार! मैंने भी एक प्रश्न मन में सोच रखा है। कुमार के यह कहने पर कि प्रश्न बोलो, उसने निम्न श्लोक बोला—

कीदृग्राजकुलं विषीदति? विभो! नश्यन्ति के पावके?
बोध्यं काननमच्युताश्च बहवः काले भविष्यन्त्यलम्?।
कीदृक्षाश्च जिनेश्वरा? वद विभो! कस्यै तथा रोचते?
गन्धः कीदृशि मानवे जिनवरे भक्तिर्न सम्पद्यते? ॥१२७॥

भावार्थ—किस प्रकार का राजकुल (राज्य) अन्त में विषाद (नष्ट) को प्राप्त होता है? अग्नि में कौन नष्ट होता है? ज्ञातव्य को जाग्रत करने वाला उद्यान कौन-सा है? ऐसा कौन है जो अपने स्थान से भ्रष्ट न हो और वह अल्प समय में परिपूर्ण दशा को प्राप्त हो? जिनेश्वर कैसे होते हैं? हे प्रभो! कहो, गन्ध किस को प्रिय लगती है और किस प्रकार के मनुष्य के मन में जिनेश्वर भगवान् पर भक्ति जागृत नही होती?

एक ही श्लोक मे ऐसे सात प्रश्नों को सुनकर कुमार बोला—भाई! तुम्हारे प्रश्न तो व्यस्त-समस्त है, अर्थात् एक-दूसरे के विपरीत अटपटे और बहुल समास युक्त है। अतः दुबारा अधिक स्पष्ट रूप से बोलो जिससे कि प्रत्येक प्रश्न अच्छी प्रकार से ध्यान मे आ सके। कुमार की इस माग पर विलास ने श्लोक को धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दुहरा दिया। सोचकर हरिकुमार ने हसते हुए उत्तर दिया—सुन भाई! तेरे प्रश्नो का उत्तर है "अकुशलभावनाभावितमानसे"

[उपरोक्त श्लोक मे सात प्रश्न एक साथ पूछे गये है, जिनका उत्तर उपरोक्त एक ही शब्द मे किस प्रकार दिया गया है, इसके कला-कौशल का नमूना भी देखिये :—

१. किस प्रकार के राज्य का अन्त मे नाश होता है? उत्तर मे से चार अक्षर लीजिये 'अकुशल' अप्रवीण। अर्थात् राज्यनीति को न समझने वाले राज्य का अन्त में नाश होता है।

२. अग्नि मे कौन जलते है? पहले के दो अक्षर छोडकर उत्तर मे तीन आगे वाले अक्षर लीजिये उत्तर आयेगा 'शलभा' याने पतगे अग्नि मे जलते है।

३. ज्ञातव्य को जाग्रत करने वाला उद्यान कौनसा है? उत्तर मे पहले के चार अक्षर छोड़कर आगे के तीन अक्षर लीजिये, उत्तर आयेगा 'भावना'। अर्थात् भावना रूपी उद्यान से जानने योग्य को जानने की इच्छा जाग्रत होती है।

४ अपने स्थान से भ्रष्ट न हो और जो अल्प समय मे पूर्ण दशा को प्राप्त हो, ऐसा कौन है? इसके उत्तर मे पहले के छः अक्षर को छोडकर आगे के तीन अक्षर लीजिये, उत्तर आयगा–'नाभावि'। अर्थात् न अभावि जो अभव्य न हो याने जो भव्य हो। भव्य जीव अपने स्थान से च्युत नही होते और समय बीतने पर अन्त मे मोक्ष मे जाते है, परिपूर्ण दशा को प्राप्त होते है।

५. जिनेश्वर कैसे होते हैं? उत्तर मे पहले के आठ अक्षर छोडकर आगे के तीन अक्षर लीजिये, उत्तर आयेगा 'वितमा' याने विगत तम: येषा ते' जिनका अज्ञान रूपी अन्धकार सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, ऐसे केवलज्ञानी जिनेश्वर होते है।

६. गन्ध किसको प्रिय है? उत्तर है 'मानस'। सुगन्ध मन को प्रिय लगती है।

७. किस प्रकार के मनुष्य के मन में जिनेश्वर भगवान् पर भक्ति जागृत नही होती? उत्तर मे पूरा ही पद ले लीजिये 'अकुशलभावनाभावितमानसे' जो अच्छी भावना नही रखते, उनकी जिनेश्वर पर भक्ति जागृत नही होती।

(४)

हरिकुमार के उत्तर को सुनकर विभ्रम बहुत हँसा। जब हरिकुमार ने पूछा कि, भाई क्यो हँस रहे हो? तब उसने कहा—कुमार। आपने विलास को प्रश्न

का उत्तर देकर इसका गर्व उतार दिया, यह बहुत अच्छा किया। यह भाई हम सब को यह प्रश्न बार-बार पूछता था, पर हममे से किसी को भी इसका उत्तर नही सूझता था, जिससे इसका दिमाग सातवे आसमान पर चढ गया था।

विलास—अरे! कुमार ने मेरा गर्व उतारा सो तो ठीक, पर आज तो वे तुम सब का गर्व उतारने पर तुले हुए हैं, तुम सब ने अपने मन मे जो भी प्रश्न सोच रखे हो उन्हे बोलो तो सही, आज वे तुम्हारा अभिमान भी अवश्य ही उतार देंगे।

मन्मथ—कुमार! मैंने भी दो समस्याये (प्रश्न) सोच रखी है।

कुमार—प्रसन्नता से बोलो, मैं उत्तर दूंगा।

मन्मथ—सुनो, मेरी दोनो समस्याये (प्रश्न) हैं—

> दास्यसि प्रकटं तेन, गृह्णामि न करात्तव।*
> भिक्षामित्युदिता काचिद् भिक्षुणा लज्जिता किल ॥१२८॥
> करोऽतिकठिनो राजन्नरीभकटघट्टनम्।
> विधत्ते करवालस्ते निर्मूलां शत्रुसंहतिम् ॥१२९॥

भावार्थ—तू प्रकट रूप से मुझे देती है, इसलिये तेरे हाथ से भिक्षा नही लूंगा। भिखारी के ऐसा कहने पर दान देने वाली स्त्री शर्मा गई।

भिखारी ऐसा क्यों बोलेगा? और उसके इस वचन से देने वाली क्यो लज्जित होगी? स्पष्टत. विरोधी बात दिखाई दे रही है।

दूसरे श्लोक को भी साधारण तौर पर पढ़ने से यह अर्थ निकलता है—हे राजन्। तेरी कठोर तलवार शत्रु के समूह को मूल से नष्ट करती है और शत्रुओ के हस्तिसमूह के गंडस्थलों को भेद देती है।

हरिकुमार—(हंसकर) देख, भाई! तेरे प्रथम श्लोक में जो स्पष्ट विरोध है उसका भग इस प्रकार होगा। श्लोक के प्रथम शब्द 'दास्यसि' का सन्धि विच्छेद करना पडेगा, जैसे 'दासी असि'। फिर इस श्लोक का अर्थ होगा—हे बहिन! तू प्रकट ही दासी/गणिका है,* अत. मैं तेरे हाथ से भिक्षा नही लूंगा। भिखारी के ऐसा कहने पर देने वाली स्त्री (दासी) लज्जित हो गई। दासी यदि नीच जाति की हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेना भिक्षु पसद नही करेगा तब वह स्त्री अवश्य लज्जित होगी ही, इसमें कोई विरोधाभास नही है।

दूसरे श्लोक मे 'करोऽतिकठिन:' शब्द का 'कर+अतिकठिन'=करोऽतिकठिन:' संधि-विच्छेद करना होगा। सन्धि-विच्छेद करने पर अर्थ होगा, हे राजन्! तेरा अति कठिन हाथ शत्रुओ के हस्ति समूह के गंडस्थल को भेद देता है और तेरी तलवार शत्रुओ के समूह को मूल से नष्ट कर देती है।

इस प्रकार सन्धि-विच्छेद करने से अर्थ पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है और विरोधाभास का भग हो जाता है, बस यही तेरे प्रश्न का उत्तर है।

---

* पृष्ठ ५६२

(५)

मन्मथ—वाह कुमार ! आपके बुद्धि-चातुर्य का क्या कहना ? चाहे कितने ही अटपटे सवाल पूछे जाये, पर उत्तर तो आपकी जिह्वा पर ही रहते है। धन्य हो आपकी कुशाग्र बुद्धि को !

उस समय मैने (धनशेखर ने) एक ऐसा श्लोक सोचा जिसका अन्तिम पद गूढ (छुपा हुआ) हो। मैंने कुमार से कहा—मैंने एक गूढ चतुर्थ पाद (जिसका चतुर्थ चरण गूढ हो) श्लोक सोच रखा है, यदि आज्ञा हो तो पूछू ? इस श्लोक के तीन पद मै बताऊगा, चौथा पद आपको ढूंढना होगा।

कुमार के हा भरने पर मैंने अपने श्लोक के ३ पद बोले—

विभूतिः सर्वसामान्या, पर शौर्य त्रपा मदे ।
भूत्यै यस्य स्वतः प्रज्ञा, ... ॥१३०॥

साधारण तौर पर इसका अर्थ यह होगा कि—जिसकी सपत्ति सब के लिये उपयोग मे आती हो, जिसमे उत्कृष्ट वीरता हो फिर भी जो गर्व करने से शर्माता हो, जिसकी बुद्धि स्वभाव से ही परोपकार के लिये हो ...

उपरोक्त तीनो पद सुनकर कुमार सोचने लगा, फिर अपने मन मे उसका उत्तर सोचकर सन्तुष्ट हुआ और बोला—अरे भाई धनशेखर ! तू तो बहुत चतुर निकला, तूने अत्यधिक महत्व के चतुर्थ गूढ पाद की योजना कर रखी है।

सब ने एक साथ पूछा—क्यो, कुमार ! क्या हुआ ? क्या चौथा पद मिल गया ? हमको भी तो सुनाओ भाई !

कुमार बोला—अच्छा तो सुनिये, इसका चौथा पद बनता है "पात्रभूतः स भूपतिः।" उत्तर सुनकर सभी मित्र विस्मित हुए।

उपरोक्त चतुर्थ पद को पहले कहे गये श्लोक मे जोडने पर पूरे श्लोक का यह अर्थ निकलता है —

जिस राजा की सम्पत्ति सब के हित के काम मे आती हो, जो राजा महापराक्रमी हो फिर भी अभिमान नही करता हो और जो अपनी बुद्धि का उपयोग प्रजा की भलाई के लिये ही करता हो, वही राजा वास्तव मे राजा है, अर्थात् भू (पृथ्वी) का सच्चा स्वामी (पति) है। भूपति शब्द के तीनो अक्षर प्रथम तीनो पदो मे प्राप्त है।

(६)

इसी समय कपोल नामक मित्र ने कहा—कुमार ! मैंने भी एक गूढ चतुर्थ-पाद वाला श्लोक सोच रखा है, सुनो—

न भाषणः परावर्णे, य समो रोषवर्जितः ।
भूताना गोपको ऽत्रस्तः, ... ॥१३१॥

साधारण तौर पर इसका अर्थ होगा—जो दूसरो की निन्दा नही करता, जो साम्यभाव वाला और क्रोध रहित है, जो स्वय अभय है और जो प्राणियो की रक्षा करता है, ... ।

श्लोक के तीन पद सुनते ही कुमार ने चौथे चरण की पूर्ति तत्काल ही करदी—"स नरो गोत्रभूषण: ।"

उत्तर सुनकर कपोल ने कहा—वाह भाई । मेरे जैसे को तो ऐसी पूर्ति करने मे वहुत समय लग जाय । मुझे तो श्लोक के तीन पद तैयार करने मे भी वहुत समय लगा, फिर भी कुमार ने तत्काल पादपूर्ति कर उत्तर दे दिया । अहो ! कुमार का वुद्धि-वैभव तो अप्रतिहत शक्तिसपन्न है, असाधारण है । वस्तुत. कुमार तो वुद्धि-निधान हैं । सब मित्र-मण्डली ने स्वीकार किया कि कपोल ने जो बात कही है वह नि.सदेह सत्य है ।

उपरोक्त श्लोक के तीन पदो मे चौथा पद जोडने पर पूरे श्लोक का यह अर्थ निकलता है कि—

जो प्राणी दूसरो को निन्दा नही करता, जो समान स्थिति वाला है और क्रोध नही करता, जो स्वय भय रहित है और अन्य प्राणियो की रक्षा करता है, ऐसा मनुष्य कुल का आभूषण है ।

इस श्लोक मे भी शब्दालकार है । चौथे पद का अन्तिम शब्द 'भूषण' के सभी अक्षर प्रथम के तीन पदो मे मिल जाते है ।

इस प्रकार जितने समय तक प्रश्नोत्तर गोष्ठी होती रही तब तक हरिकुमार का ध्यान चित्रलिखित कन्या से हट गया, उतने समय तक वह उसे भूल गया । [१३२]

सयोगवश उसी समय उस स्थान पर एक कबूतर और कबूतरी प्रेम-लीला कर रहे थे । कबूतर का कबूतरी को चूमना, उसके चारो तरफ चक्कर काटना, उसके साथ मस्ती करना, इत्यादि देखते ही कुमार को वह विस्मृत हुई चित्रकन्या पुन. स्मृति मे आ गई । [१३३]

हरिकुमार का ध्यान पुनः चित्र की ओर चला गया और मित्रो की बातचीत से ध्यान हट गया । फिर तो पवन के झकोरो से जैसे दीपक की स्थिति होती है, पानी के कुण्ड मे शिला पडने से पानी के सतह की जो स्थिति होती है, कुटुम्ब के भरण-पोषण की चिन्ता मे दरिद्रो के मन की जैसी स्थिति होती है, दूसरो से पराभव पाकर अभिमानी मनुष्य की जैसी मन.स्थिति होती है और अविरति सम्यक् दृष्टि की जैसे ससार के भय से मन.स्थिति होती है वैसी ही स्थिति कुमार के मन की हो गई । स्मृतिपटल पर वार-वार कन्या का चित्र उभरने लगा और कुमार इधर-उधर झूमने लगा । जैसे एक योगी वाह्य वस्तु के व्याक्षेप से मुक्त होकर अपने ध्येय के प्रति तन्मय होकर ध्यानारूढ हो जाता है वैसे ही कुमार को वाह्य विषयो

से मुक्त होकर चित्रलिखित कन्या के लक्ष्य पर अपना ध्यान लगाते हम सभी ने देखा। [१३४]

उस समय मैंने (धनशेखर) कुमार से पूछा—कुमार ! क्या बात है ?

कुमार ने उत्तर मे कहा— भाई धनशेखर ! कल रात मे मेरा सिर दर्द कर रहा था जिससे नीद नही आई। उसके असर से अभी भी मेरा सिर दर्द कर रहा है और चक्कर आ रहे है।* अत: ये मन्मथ आदि मित्र यदि जाना चाहे तो जाये, यदि रहना चाहे तो यहाँ घूमे फिरे। तू अकेला मेरे साथ रह। चल, अपन पास मे ही चन्दन लतागृह मे चले ताकि वहाँ मैं थोडी देर शान्ति से सो सकू ।

कुमार की इस इच्छा को जानकर और सकेत को स्वीकार कर मन्मथ आदि सभी मित्र वहाँ से विदा हुए। केवल मैं कुमार के साथ रहा।

४. हरिकुमार की काम-व्याकुलता : आयुर्वेद

सभी मित्रो के विदा होने पर मै और कुमार लतामण्डप मे प्रविष्ट हुए। ठण्डे सुकोमल पत्तो को एकत्रित कर मैने एक बिछोना कुमार के लिये बनाया। कुमार उस पर बैठे। पर, उस ठण्डे बिछोने पर भी कुमार इस तरह तडफने लगे, जैसे तपती रेत मे पडी हुई मछली तडफती हो। उन्हे तनिक भी शान्ति प्राप्त नही हुई। फिर मैने उनके बैठने के लिये कोमल आसन का प्रबन्ध किया और कुमार को उस आसन पर बिठाया। जैसे सूली पर चढाये हुए चोर को सुख नही मिलता वैसे ही कुमार को इस आसन पर भी चैन नही मिला। फिर वह मेरे कन्धे से लगकर इधर-उधर झूमने लगे। फिर भी उनके हृदय का अन्तस्ताप लेशमात्र भी कम नही हुआ।

काम का प्राबल्य

फिर कुमार कभी सोये, कभी बैठे, कभी खडे हुये, कभी इधर-उधर घूमे, पर जैसे नरकगति के दु:खपीडित जीव को नारकी मे सुख नही मिलता वैसे ही उन्हे भी सुख या शान्ति नही मिली। जितने भी सुख-शान्ति पहुँचाने के उपाय हो सकते थे वे सब मैंने प्रयुक्त किये, पर उनसे कुमार की वेदना उलटी बढती ही गई। इस प्रकार कामाग्नि से जलते हुए कुमार पर्याप्त समय तक उस शीतल लतागृह मे रहे परन्तु उनकी कामाग्नि का ताप शान्त नही हुआ। [१३५-१३६]

* पृष्ठ ५६३

मन्मथ आदि मित्र कुतूहल के कारण कुमार की दशा को देखकर गये नहीं थे, प्रत्युत कुमार न देखे वैसे प्रच्छन्न रूप से छुपकर देख रहे थे और परस्पर इशारो से कुमार का उपहास कर रहे थे। [१३७]

उसी समय मध्याह्न का शख वजा, मानो मनुष्यो के शरीर मे कामाग्नि भडकाने के लिये वह कामदेव की पुकार हो। शख वहुत जोर से वहुत समय तक वजता रहा और दूर से उसकी ध्वनि कुमार के कान मे भी पडी। इसी समय कुमार को घर ले जाने के लिये मन्मथ आदि सभी मित्र लतागृह मे आये। सभी कुमार मे कहने लगे—देव! अब दोपहर हो गयी है, आप घर पधारे। वहाँ जाकर देव-पूजा आदि नित्यकर्म से निवृत्त होकर दिवसोचित अन्य कार्य सम्पन्न करे।
[१३८-१४०]

उत्तर मे कुमार वोले—मित्रो! धनशेखर को मेरे पास छोड़कर आप सव घर जाइये। मेरा सिर-दर्द कुछ कम होने पर मैं भी धनशेखर के साथ घर चला जाऊगा। अभी तो मेरे सिर मे चीस उठ रही है, शरीर मे गर्मी वढ रही है, अतः कुछ और देर तक इस शीतल लतागृह मे रहने की मेरी इच्छा है। [१४१-१४२]

कुमार के हृदय मे अन्तस्ताप की गर्मी थी और वह अन्तस्ताप किस कारण से था यह भी सभी समझ गये थे, तथापि वह राजकुमार था अतः उन्हे सीधा नही कहा जा सकता था। फलत धूर्तता से वे परस्पर इस प्रकार वातचीत करने लगे कि उसे कुमार भी सुन ले। इस प्रकार की वातचीत से उनका आशय क्या है, यह कुमार भी समझ गया [१४३]

आयुर्वेद

अरे कपोल। तू आयुर्वेद मे वहुत प्रवीण है, तो वता न कुमार के शरीर मे क्या विकार हुआ है? उसका कारण क्या है और उसे शान्त करने का क्या उपाय है?

कपोल ने उत्तर दिया—

मित्रो! वैद्यक शास्त्र मे कहा है कि वात, पित्त और कफ ये तीन शारीरिक दोष है तथा राजस् और तमस् दो मानसिक दोष है। इन दोनो प्रकार के दोषो से शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है जो भाग्य और युक्ति पूर्वक किये गये औषधोपचार से शान्त होती है, अर्थात् योग्य पुरुषार्थ और अनुकूल भाग्य हो तो शारीरिक दोष मिटते है। ज्ञान, विज्ञान,* धैर्य, स्मृति और समाधि से मानसिक दोष ठीक होते है।
[१४४-१४५]

इन शारीरिक दोषो मे से वात रूक्ष, ठण्डा, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, चलता-फिरता, स्वच्छ या कठिन होता है। जैसा वात हो उससे विपरीत वस्तुओ का प्रयोग करने से वह शान्त हो जाता है। [जैसे रूक्ष वायु स्निग्ध पदार्थों के प्रयोग से, शीत वायु गरम

* पृष्ठ ५६४

पदार्थों के प्रयोग से, सूक्ष्म वायु भारी पदार्थों से और चल वायु दही जैसे स्थिर द्रव्यो से तथा कठिन वायु नरम पदार्थों के प्रयोग से शान्त होती है।] (१४६)

पित्त : स्निग्ध, तिक्त, खट्टा, तरल और गरम होता है। यह भी इससे विपरीत गुणो वाले पदार्थों के प्रयोग से शान्त होता है। [जैसे स्निग्ध पित्त के लिये रूखे पदार्थों का प्रयोग, गरम के लिये शीतल पदार्थ, तिक्त के लिये फीके पदार्थ, तरल के लिये ठोस पदार्थ और खट्टे के लिये कडुवे पदार्थों के उपयोग से पित्त शान्त होता है।] [१४७]

कफ : भारी, शीतल, नर्म, स्निग्ध और मधुर होता है। यह भी विपरीत पदार्थों के प्रयोग से शान्त होता है। [जैसे भारी के लिये हलके पदार्थ, ठण्डे के लिये गरम, नरम के लिये कठोर, स्निग्ध के लिये रूखे और मीठे कफ के लिये कडुवे पदार्थों का उपयोग करने से कफ शान्त होता है।] [१४८]

वैद्यक शास्त्र मे छ. प्रकार के रस बताये गये है :—मीठा, खट्टा, नमकीन, तिक्त, कडुआ और कषायला। इन छ: मे से मीठा, खट्टा और नमकीन रस कफ को उत्पन्न करने वाला और बढाने वाला होता है। तिक्त, कडुवा और कषायला रस वायु को उत्पन्न करने वाला और बढाने वाला होता है। तिक्त, खट्टा और खारा रस पित्त को उत्पन्न करने वाला और बढाने वाला होता है। मीठा, खट्टा और नमकीन रस वायु को शान्त करता है। मीठा, कडुआ और कषायला रस पित्त को शान्त करता है। कषायला, तिक्त, और कडुवा रस कफ को शान्त करता है। [१४९–१५१]

अजीर्ण चार प्रकार का होता है। आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण विष्टब्धाजीर्ण और रसशेषाजीर्ण। ये अजीर्ण के चार प्रकार है जिनकी पहचान पहले समझ लेनी चाहिये। आमाजीर्ण मे खायी हुई वस्तु की गन्ध डकार मे आती है, क्योकि इसमे खायी हुई वस्तु का रस ही नही बन पाता। विदग्धाजीर्ण की डकार मे धुए की गन्ध आती है। विष्टब्धाजीर्ण मे शरीर टूटता है, आलस्य आता है और उबासिये आती है। रसशेषाजीर्ण मे खाना अच्छा नही लगता, खाने की तनिक भी इच्छा नही होती, भोजन के प्रति अरुचि या विरक्ति हो जाती है। [१५२]

यह निश्चित करने के पश्चात् कि कौन से प्रकार का अजीर्ण है, यदि आम अजीर्ण हो तो वमन (उल्टी) करवाकर पेट साफ करवाना चाहिये। यदि विदग्ध अजीर्ण हो तो छाछ पिलानी चाहिये। यदि विष्टब्ध अजीर्ण हो तो गर्म पानी से सेक करना चाहिये और यदि रसशेष अजीर्ण हो तो आराम से सोकर नीद लेना चाहिये। चारो प्रकार के अजीर्ण की पहचान और उसके दूर करने के उपाय ऊपर बताये गये है, क्योकि सब प्रकार के रोग अजीर्ण से ही होते है अत इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये। [१५३–१५४]

मालूम होता है कि कुमार को अन्तर्ज्वर (नाडी ज्वर) और अजीर्ण का विकार हुआ है। इन्हे विदग्ध अजीर्ण हुआ लगता है, क्योकि इसी के कुपित होकर

इनके वायु और पित्त दोनो मे एकाएक वृद्धि हुई है। वायु और पित्त दोनों ने मिलकर भीतरी ज्वर उत्पन्न किया है, इसी से सिर मे शूल (दर्द) भी है। शास्त्र मे कहा है—

भुक्ते जीर्यति जीर्णेऽन्ने जीर्णे भुक्ते च जीर्यति ।
जीर्णे जीर्यति भुक्तेऽन्ने दोषैर्नानाभिभूयते ।। [१५५]

खाये हुए अनाज के पच जाने पर खाने से, अजीर्ण होने पर नही खाने से, और पचे हुए अनाज के एकदम पच जाने पर खाने से मनुष्य को किसी प्रकार की व्याधि नही सताती ।

विक्रम बोला—मित्र कपोल ! अभी तू बीमारी का निदान नही कर पाया है। वैद्य का कर्त्तव्य है कि बीमार को देखने पर रोग के मूल कारण का पता लगावे । बीमार की विशेष प्रकृति कैसी है, इसका सूक्ष्मता से अन्वेषण करे । उसके शरीर मे बल किस प्रकार का और कितना है, इसका विचार करे । शरीर मे किस प्रकार की कमी है, इसकी जानकारी के लिये शरीर के प्रत्येक अग की ठीक से जाच करे और उसके अनुकूल कौनसी वस्तु है तथा वह पथ्य का सेवन कर सकता है या नही, यह ज्ञात करे। इसमे धैर्य है या नही, कितना धैर्य है, खाने और पचाने की कितनी शक्ति है, व्यायाम करने या चलने-फिरने की शक्ति है या नही और उसकी उम्र कितनी है, यह सब जानना आवश्यक है ।

जो रोग के सचय, प्रकोप, प्रसार, स्थान और व्यक्ति भेद की भी जानकारी रखता है वही श्रेष्ठ वैद्य है । यदि रोग को सचय की अवस्था मे ही रोक दिया जाय तो उसका प्रकोप नही हो सकता, पर यदि उसका प्रसार होने दिया जाय तो वह अधिक बलवान हो जाता है । [१५६–१५७]

भाई कपोल ! तुमने तो कुमार की कुछ भी जाच नही की, मात्र उनका मुह देखकर ही 'शरीर मे विकार है' अपने पोपले मुह से बड-बड कर बोल गए हो ।*

उत्तर मे कपोल ने कहा—भाई विभ्रम ! कुमार की प्रकृति आदि और उसके रोग का सचय आदि सब स्थितियाँ मेरे ध्यान मे है ।

ग्रीष्म ऋतु मे दिन, रात्रि और अवस्था के अन्त मे जब अजीर्ण होकर समाप्ति की ओर हो तब वायु का प्रकोप होता है । ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ मे, रात्रि के प्रारम्भ मे, दिन के प्रारम्भ मे, उम्र के प्रारम्भ मे (बचपन मे) और अजीर्ण के प्रारम्भ मे कफ का प्रकोप होता है । ग्रीष्म ऋतु के मध्य मे, दिवस के मध्याह्न मे, अर्ध-रात्रि मे और अजीर्ण के मध्य मे पित्त का प्रकोप होता है । शरद् ऋतु मे भी पित्त अधिक बलवान होता है, ग्रीष्म ऋतु मे वायु का सचय होता है, वर्षा मे उसका प्रकोप होता है और शरद् ऋतु मे वह शान्त हो जाता है । वर्षा मे

* पृष्ठ ५६५

पित्त का सचय होता है, शरद् ऋतु मे उसका प्रकोप होता है और हेमन्त मे वह शान्त हो जाता है। शिशिर ऋतु मे कफ का सचय होता है, वसन्त मे उसका प्रकोप बढ़ता है और ग्रीष्म मे वह शान्त हो जाता है। [१५८–१५९]

हेमन्त और शिशिर ऋतु प्रायः समान ही है, पर शिशिर मे हेमन्त की अपेक्षा कुछ ठण्ड अधिक बढ जाती है, बादल रहते है और वर्षा की ठण्डी और शुष्क हवा चलती है जो आदानकारी है। [१६०]

यह सब मैने मन मे पूर्ण रूप से सोच-समझ लिया है, पर इस विषय मे अधिक विचार करने से क्या लाभ ? मेरे विचार से तो कुमार को अजीर्ण का रोग ही है।

अहा ! यह कपोल अपने को आयुर्वेद मे बहुत पारगत समझता है, पर वास्तव मे यह कितना मूर्ख है। ऐसा सोचकर कुमार थोडा हँसा। उसकी हँसी को देखकर सभी मित्रो ने एक साथ पूछा—मित्र ! क्या हुआ ? आप क्यो हँसे ?

उत्तर मे कुमार बोला—मै कपोल की मूर्खता पर सोच रहा था। मैने अपनी हँसी को रोकने का बहुत प्रयत्न किया, पर मै हँसी को रोकने मे सफल न हो सका।

पद्मकेसर ने समयानुसार चुटकी ली, कुमार ! आपकी बडी कृपा हुई। हमे जो काम सिद्ध करना था वह पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया। कुमार ! आपके मन के आन्तरिक ताप की शान्ति के लिये और विनोद के लिये ही हम सब ने मिलकर यह हास्य-विनोद और भाषण प्रारम्भ किया था। अर्थात् हम सब कोई गम्भीर वार्ता नही कर रहे थे। [१६१]

कहा भी है कि—

> चित्तोद्वेगनिरासार्थ, सुहृदां तोषवृद्धये।
> तज्ज्ञा. प्रहसन दिव्य, कुर्वन्त्येव विचक्षणा ॥ [१६२]

मित्रो के चित्त के उद्वेग को दूर करने और उसकी सन्तोष एव शान्ति वृद्धि के लिये विचक्षण विद्वान् उच्च प्रकार का हास्य-विनोद करते ही है।

वस्तुत: आपके विकार को समूल नष्ट करने की औषध तो वह सन्यासिनी ही जानती है और वह ही इसको सम्पादित (पूर्ण) कर सकती है, अन्य कोई भी आपकी सहायता कर सके ऐसा नही लगता। अत, हे कुमार ! उसको ढुढवाकर शीघ्र ही बुलवा ले, यही अच्छा है। अब व्यर्थ का विलम्ब करने से क्या लाभ ?

कुमार—भाई पद्मकेसर ! यदि तू जानता है तो फिर अपनी इच्छानुसार उपाय कर।

पद्मकेसर—मित्र ! तो फिर उस तपस्विनी को खोजकर बुलाने किसे भेजू ?

कुमार को अन्य मित्रो पर विश्वास नही था, अत उसने उस तपस्विनी को बुलाने के लिये मेरा (धनशेखर का) नाम प्रस्तावित किया।

मैं वहाँ उपस्थित था ही । मैंने तुरन्त ही कुमार की आज्ञा को सहर्ष स्वीकार किया और कहा—'आपकी बड़ी कृपा ।' ऐसा कहकर मैं तत्काल ही तपस्विनी को बुला लाने के लिये निकल पड़ा ।

५. निमित्तशास्त्र : हरिकुमार-मयूरमंजरी सम्बन्ध

[लतामण्डप मे हरिकुमार को छोडकर, उसकी इच्छानुसार तपस्विनी को ढूंढकर लाने के लिये निकला हुआ धनशेखर (ससारी जीव) अपनी कथा को आगे चलाते हुए सदागम के समक्ष अगृहीतसकेता से कहता है ।]

मैं जिस समय लतामण्डप से बाहर निकला और नगर की तरफ बढा, उसी समय मुझे रास्ते में वह तपस्विनी दिखाई दे गई। मैंने उसे प्रणाम किया और पूछा—भगवति ! उस चित्रपट की क्या कथा है ? उसमे किस कन्या की छवि है ? आप इतनी शीघ्र वहाँ से क्यो चली आई ?

परिव्राजिका का स्पष्टीकरण

तपस्विनी ने मेरा प्रश्न सुनकर कहा—सुनो, आज प्रात: उषाकाल मे मैं भिक्षा के लिये निकली थी। तुम्हे ज्ञात ही है कि रत्नद्वीप के महाराजा नीलकण्ठ की शिखरिणी नामक एक महारानी है। मैं भिक्षा के लिये उसी के राजमहल मे प्रविष्ट हुई तो मैंने देखा कि महारानी शिखरिणी बहुत चिन्ताग्रस्त है और उसकी चिन्ता से पूरा परिवार उद्विग्न है। सभी कुमारियाँ शोकाकुल, सभी कचुकी घबराये हुए और वृद्ध स्त्रियाँ आशीर्वादातुर दिखाई पडी। यह देखकर मैंने सोचा कि इतनी चिन्ता और शोक का क्या कारण हो सकता है ?* इतने मे ही शिखरिणी रानी स्वयं चलकर मेरे पास आई। मैंने उसे आशीर्वाद दिया और उसने मुझे सिर झुका कर प्रणाम किया। मुझे एक सुन्दर आसन पर विठाकर महारानी बोली—भगवति बन्धुला ! आप जानती ही हैं कि मेरी पुत्री मयूरमजरी मुझे प्राणो से भी अधिक प्यारी है। उसके आनन्द में मेरी शान्ति, उसकी क्रीड़ा मे मेरा वैभव और उसके सुख मे मेरा जीवन है। न जाने किस कारण से आज प्रात. से ही वह चिन्ता-ग्रस्त है। उसके मन मे किसी प्रकार की व्यग्रता है जिससे वह घबराई हुई और विकारग्रस्त सी लग रही है। वह ऐसी लग रही है जैसे वह शून्यचित्त हो गई हो। उसके मुंह से ऐसा लग रहा है मानो उसे तीव्र ज्वर आया हो। राजकन्या के

* पृष्ठ ५६६

करने योग्य सभी कार्यो का उसने त्याग कर दिया है। बात यहाँ तक बढ गई है कि वह जो नियमानुसार प्रतिदिन देव-गुरु को नमस्कार करती थी, आज उसने वह भी नही किया है। उसने रात के पहने हुए कपड़े भी नही बदले है, प्रतिदिन प्रातः पहनने के आभूषणों को छुआ भी नही है, न विलेपन किया है और न पान ही खाया है। स्वनिर्मित अपने बाल उद्यान की देखभाल स्वय प्रतिदिन करती है वह भी आज भूल गई है। अपनी सहेलियो को साधारण मान भी नही देती, अपने पाले हुए तोता मैना की देखभाल भी नही करती और गेद क्रीड़ा भी नही करती। मात्र विद्याधरो के जोडो का चित्र बनाती है, सारसो के जोड़ो को देखती है, बार-बार द्वार की तरफ दौडती है और बार-बार अस्फुट शब्दो मे आत्मनिन्दा करती है। सखियों पर विना कारण-क्रोध करती है तथा कुछ पूछने पर उत्तर ही नही देती, मानो सुना ही न हो। मैं उसके बारे मे अधिक क्या बताऊं? मानो यह पागल हो गई हो, शून्यचित्त हो गई हो या उसे भूत लग गया हो। मानो यह मयूरमजरी न होकर कोई अन्य लडकी हो। [१६३] आज प्रातः से ही उसके व्यवहार में इतना बडा अन्तर आ गया है। उसकी ऐसी अवस्था देखकर मेरा मन न जाने कैसा-कैसा हो रहा है। भगवति देवि! आप तो निमित्तशास्त्र मे अतिनिपुण है, आप देखकर बताये कि यह किस विषय मे सोच रही है? साथ ही यह भी बतावे कि यह जिस विषय मे सोच रही है, वह उसे प्राप्त होगी या नही? यदि प्राप्त होगी तो कब तक?

निमित्त-शास्त्र

मैंने उत्तर मे रानी से कहा—मैं देखकर बता रही हू। भाई धनशेखर! फिर मैंने लग्न निकालने प्रारम्भ किये। प्रथम मंगल के लिये सिद्धि पद लिखा, फिर विशेषमगल के लिये देवी सरस्वती का मुख कमल बनाया, फिर ध्वजा आदि आठो आयों को बनाया, साथ ही स्त्री हृदय की कुटिलता को प्रकट करने वाली तीन गोमूत्रिकाये (आडी-टेढी लकीरे) खीची। गणना करके आठो आयो को उनके स्थान पर रखा। गणना मे जो बचा उसके अनुसार तीन-तीन अक लिखे, (इन अको के अनुसार ही फलादेश प्राप्त होता है)। इस प्रकार सर्वगणना करने के साधनो को प्रयुक्त कर मैंने महारानी से कहा—

निमित्तशास्त्र मे ध्वज, धूम्र, सिंह, श्वान, वृषभ, खर, हस्ति और वायस, ये आठ प्रकार की आये होती हैं। इन आठ आयो के आठ प्रकार के बल होते है जैसे काल, दिवस, समय (अवसर), मुहूर्त, दिशा, नक्षत्र बल, ग्रहबल और निसर्गबल। हे महादेवि! प्रस्तुत प्रयोजन मे यहाँ जो आये बनी है, उनके परिणामस्वरूप ध्वज, खर और वायस आय प्राप्त हुई हैं, इनका फल मैं बताती हूँ। निमित्तशास्त्र कहता है कि इन तीन मे से पहली आय यह बताती है कि चिन्ता किस विषय मे है, दूसरी आय से उसके अच्छे-बुरे फल का पता लगता है और तीसरी आय मे परिणाम कब फलित होगा, इसका पता लगता है। [१६४-१६७]*

* पृष्ठ ५६७

प्रथम आय मे यदि श्वान, ध्वज या वृषभ आये तो चिन्ता किसी जीवित प्राणी के सम्बन्ध मे है, ऐसा समझना चाहिये। यदि प्रथम आय मे सिह या वायस आये तो चिन्ता मूल स्थान (किसी नगर, ग्राम आदि) के बारे मे है और यदि प्रथम आय मे धूम्र, हस्ति या खर आये तो चिन्ता किसी धातु के सम्बन्ध मे है ऐसा समझना चाहिये। [१६८]

यहाँ प्रथम आय मे ध्वज आया है अत. मयूरमजरी किसी जीवित प्राणी के सम्बन्ध मे सोच रही है, ऐसा प्रतीत होता है। उस आय के काल और समय आदि की गणना करने से वह प्राणी पुरुष होना चाहिये। मेरी गणना के अनुसार वह राजपुत्र है और उसका नाम हरि है। यहाँ धूम्र पर खर आय आई है अत· उस पुरुष की प्राप्ति अवश्य होगी, क्योकि निमित्तशास्त्र मे कहा गया है कि ध्वज पर खर आवे तो स्थान बनाता है, धूम्र पर खर आवे तो अवश्य ही लाभ की प्राप्ति होती है और सिह पर खर आवे तो नाश होता है। अन्य किसी भी आय पर खर आने से मध्यम फल की प्राप्ति होती है। [१६९]

लाभ कितने समय मे मिलेगा, इसका पता तीसरी आय से चलता है। यहाँ तीसरी आय मे वायस है, अत. मेरी गणनानुसार लाभ की प्राप्ति आज ही होनी चाहिये। निमित्तशास्त्र के अनुसार यदि तीसरे पद मे ध्वज या हस्ति की आय हो तो फल प्राप्ति एक वर्ष मे होती है, वृषभ या सिह की आय हो तो एक माह मे, श्वान या खर की आय हो तो एक पक्ष मे और धूम्र या वायस की आय हो तो एक दिन मे (उसी दिन) फल मिलता है। [१७०]

भाई ! मेरी बात सुनते ही रानी की चिन्ता दूर हुई। उसे मेरी बात पर विश्वास हुआ और समझ गई कि इच्छित जामाता (जवाई) का लाभ शीघ्र ही प्राप्त होगा। अत. मेरे पाँव छूकर रानी शिखरिणी बोली--भगवति ! आपने मुझ पर बडी कृपा की। आपने जो कहा वह सत्य है। मेरी पुत्री मयूरमजरी की प्रिय सखी लीलावती अभी-अभी कह रही थी कि आज प्रात: हरिकुमार लीलासुन्दर उद्यान की ओर अपने मित्रो के साथ जा रहा था तब मजरी ने उसे देखा था। मजरी काफी समय तक उसे एक-टक देखती रही, पर किसी भी सयोग से कुमार की दृष्टि मयूरमंजरी पर नही पडी, अर्थात् कुमार ने उसे नही देखा। लीलावती यह भी कह रही थी कि कुमार के प्रति उसके मन मे प्रेमाभिलाषा जाग्रत हुई, पर यह प्रेम पूरा हो सकेगा या नही ? इसी चिन्ता मे उसकी यह अवस्था हुई है। अब आपने अपने ज्ञान चक्षु से जो कुछ देखा है, वैसा ही इन दोनो का मिलन भी हो जाये, ऐसा करने की कृपा भी आप ही करे।

भाई ! मैने रानी से कहा कि कुमार का क्या अभिप्राय है इसका मुझे पहले पता लगाने दे। इस पर रानी बोली कि आप तो सब जानती है, इस विषय मे आपको अधिक क्या कहूँ ? फिर मैने चित्रपट पर मयूरमजरी की छवि चित्रित की। वह चित्र लेकर मै लीलासुन्दर उद्यान मे आई। वहाँ हरिकुमार को देखकर

वह चित्रपट मैने उसे दिया और उसके मुख पर कैसे भाव आते है, यह देखती रही। मुझे लगा कि इसके मन मे भी मजरी के प्रति प्रेमाभिलाषा जाग्रत हुई है। फलत. मेरा कार्य पूर्ण (सिद्ध) हो गया। तत्पश्चात् महारानी को यह सवाद देने तथा इस सम्बन्ध मे और क्या करना चाहिये यह पूछने के लिये मै तुरन्त ही वहाँ से लौट आई। मैने महादेवी से कहा—'हरिकुमार तो अब मेरी मुट्ठी मे है, अब इस विषय में और क्या करना चाहिये वह बताओ।' शुभ सवाद सुनकर महारानी बहुत प्रसन्न हुई और अपनी पुत्री से कहने लगी—'पुत्रि मयूरमजरी! भगवती तपस्विनी ने जो कुछ कहा वह तू ने सुना या नही? अब तुझे अपना * हृदयवल्लभ अवश्य मिलेगा।' मयूरमजरी ने बात सुनी पर उसे पूर्ण विश्वास नही हुआ, अतः वह लजाती हुई बोली—'ओ माताजी! क्यो बिना सिर-पैर की बात कर मुझे ठग रही है।' महारानी समझ गई कि मयूरमजरी को अभी विश्वास नही हुआ है। अब समय नष्ट करने मे कुछ सार नही है ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही महाराजा नील-कण्ठ के पास गई और उन्हे सब समाचारो से अवगत कराया। मयूरमजरी के साथ हरिकुमार का सम्बन्ध हो यह बात महाराजा को भी पसन्द आई। इस विवाह-सम्बन्ध को बिठाने और कुमार को यहाँ लाने के लिये ही राजा-रानी ने मुझे अभी-अभी भेजा। हे भाई! यही चित्रपट का वृत्तान्त है। चित्रालेखित राजकन्या मयूर-मजरी ही है और मै इसी प्रसंग मे प्रयत्नशील हूँ।

मयूरमंजरी आलेखित चित्रपट-द्वय

फिर मैने तपस्विनी से पूछा—देवि! आपने हाथ मे क्या ले रखा है?

उत्तर मे तपस्विनी बन्धुला ने कहा—मजरी के हाथो से चित्रित ये दो चित्र है।

मैने पूछा—यह तो ठीक है, पर चित्र साथ मे लाने का क्या प्रयोजन है?

तपस्विनी ने स्पष्ट उत्तर दिया—सभव है कुमार को मेरे वचन पर विश्वास न हो तो उसकी शका को दूर करने के लिये मजरी के मनोभावो को प्रकट करने वाले ये चित्र है। अर्थात् कुमार की शका को दूर करने के लिये ही मैं इन्हे साथ लायी हूँ। यदि आवश्यकता होगी तो उनका उपयोग करूगी।

मैने कहा—भगवती देवी ने सब काम बहुत ही सुन्दर किया है। आपने अपनी व्यवस्था से कुमार को जीवन दान दिया है।

फिर मैं तपस्विनी के साथ उद्यान मे हरिकुमार के पास आया। तपस्विनी बन्धुला ने इस विषय मे राजाज्ञा को कह सुनाया। तपस्विनी ने मुझे जो विस्तृत वर्णन सुनाया था वह भी मैने कुमार को सुना दिया, किन्तु उसे फिर भी विश्वास नही हुआ। उसे लगा कि उसकी चिन्ता दूर करने के लिये ही यह सब कृत्रिम नाटक

* पृष्ठ ५६८

रचा गया है। तब उसके मन मे विश्वास जमाने के लिए तपस्विनी ने कपड़े पर कपड़े मे लिपटे हुए वे चित्र उसे दिखाये। कपड़ा हटाकर कुमार चित्र देखने लगा। प्रथम चित्र मे एक अति सुन्दर समान लम्बाई और समान वय वाले विद्याधर-दम्पत्ति को उज्ज्वल रगो मे चित्रित किया गया था। वस्त्रावृत अग के उन्नत-अवनत अवयवो की रमणीय संयोजना और उचित प्रकार से पहनाये गये आभूषण इतने स्पष्ट थे कि बारीक से बारीक रेखा भी स्पष्ट झलक रही थी। इस युगल के अवयवो की रचना छोटे-छोटे बिन्दुओ से ऐसी विलक्षण बनाई गई थी कि नूतन प्रेमरस की उत्सुकता स्पष्टत: झलकती थी। विद्याधर-दम्पत्ति प्रेम से एक-दूसरे को हर्षोत्फुल्ल दृष्टि से इस प्रकार देख रहे थे मानो अत्याकर्षक प्रेम का साम्राज्य उनकी आँखो मे समा गया हो, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था। चित्र के नीचे द्विपदी छन्द में लिखित निम्न कविता को भी कुमार ने पढ़ा :—

प्रियतमरतिविनोदसम्भाषणरभसविलासलालिता: ।
सततमहो भवन्ति ननु धन्यतमा जगतीह योषित: ।।१७१।।

अभिमतवदनकमलरसपायनलालितलोललोचना: ।
सुचरितफलमनर्घ्यमनुभवति शमियमम्बरचरी यथा ।।१७२।।

अपने हृदयवल्लभ प्रियतम के साथ प्रेमरति, विनोद, भाषण, प्रेमोत्साह और विलास से सतत लालित स्त्रियाँ इस ससार मे वास्तव में विशेष भाग्यशालिनी होती हैं। इस विद्याधरी की भाँति ऐसी स्त्रियाँ स्वकीय मनपसन्द पुरुष को अपने मुखकमल के रस का पान करवाकर अपनी आँखों को तृप्त करती हुई पूर्व-पुण्य के फलस्वरूप अमूल्य सुख का अनुभव करती हैं।

प्रथम चित्रपट को देखने के पश्चात् कुमार दूसरा चित्र देखने लगा। इस दूसरे चित्र में एक राजहंसिनी चित्रित की गई थी। वन में लगे दावानल मे दग्ध वनलता जैसी, अत्यन्त हिमपात से काली पड़ी हुई कमल के डंठलो जैसी, प्रभात के सूर्योदय से लुटी हुई कान्तिहीन चन्द्रकला जैसी, टूटी और कुमलायी हुई आम्रमजरी जैसी, सर्वनाश-प्राप्त कृपण स्त्री जैसी, सर्व प्रकार की कान्ति और तेज से रहित, अत्यन्त शोक के कारण समस्त अवयवों से दुर्बल बनी हुई और कण्ठ तक प्राण आ गये हो ऐसी यह राजहंसिनी दिखाई दे रही थी। इस चित्र के नीचे भी द्विपदी खण्ड (निम्न कविता) लिखी थी :—*

इयमिह निजकहृदयवल्लभतरदृष्टवियुक्तहंसिका ।
तदनुस्मरणखेदविधुरा बत शुष्यति राजहंसिका ।।१७३।।

रचितमनन्तमपरभवकोटिषु दु:सहतरफलं यया ।
पापमसौ नितान्तमसुखानुगता भवतीदृशी जन ! ।।१७४।।

* पृष्ठ ५६६

जैसे अपने प्रिय के वियोग में प्रिया उसे बार-बार स्मरण कर अधिकाधिक शोक करती हुई सूख जाती है वैसे ही यह राजहंसिनी अपने हृदय में बसे हुए प्रिय को एक बार देखने के पश्चात् उसके वियोग मे सूख कर कांटा हो रही है। हे मानवो ! अन्य करोड़ों भवो मे जिसके फल को सहन करना पडे ऐसे अनन्त पाप करने वाले मनुष्य को ही ऐसी दु:खद अवस्था प्राप्त होती है।

ये दोनों चित्र देखकर और उनके नीचे लिखे छन्दों को पढकर हरिकुमार के मन मे यह बात घर कर गई कि, अहो ! राजकुमारी बहुत ही कुशल और रसिक जान पडती है। अहो ! इसके चातुर्य से लगता है कि इसमे रहस्य के सार को ग्रहण करने की अद्भुत शक्ति है। अहो ! अपना सद्भाव अन्त:करण-पूर्वक अर्पण करने की शुद्ध बुद्धि भी उसमे स्पष्ट दिखाई देती है। सच ही ऐसा लग रहा है कि उसके मन मे मेरे प्रति दृढ प्रेम है। इसका कारण यह है कि इसने प्रथम चित्र मे विद्याधर-दम्पत्ति को चित्रित कर उसने अपने अन्त.करण की गहनतम अभिलाषा को अभिव्यक्त कर दिया है और दूसरे चित्र मे विरही राजहंसिनी को चित्रित कर उसके माध्यम से उसने यह प्रकट कर दिया है कि अभिलषित वस्तु के न मिलने पर उसकी दशा कैसी दीन हो सकती है। इसने चित्रो मे ही उक्त भाव इतनी सुन्दरता से अंकित कर दिये हैं कि इससे उसके मनोभाव स्पष्टत: व्यक्त हो जाते है। फिर चित्र के नीचे छन्द लिख कर तो उसने उन भावार्थों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

तत्पश्चात् कुमार ने अपने पास बैठे हुए मन्मथ आदि मित्रो को चित्र दिखाये। मित्र तो उसके मन की बात पहले ही जानते थे, अत: वे एकदम बोल पडे—अरे कुमार ! मित्र !! उठ, उठ !! शीघ्र जाकर उस बेचारी राजहंसिनी को धैर्य बंधा, उसमें शान्ति आप्लावित कर और उसे उसकी धारणा मे स्थिर कर। किसी मृत्यु को प्राप्त होने वाले व्यक्ति की उपेक्षा करना ठीक नही है।

उत्तर मे कुमार ने मात्र इतना ही कहा—अच्छा, ऐसी बात है तो चलो ऐसा ही करे।

परिणय

उसके पश्चात् सभी राजभवन में गये। नीलकण्ठ महाराज ने बहुत मान-पूर्वक अपनी प्रिय पुत्री मयूरमंजरी हरिकुमार को अर्पित की। उसके पश्चात् शुभ लग्न पर हरिकुमार और मयूरमंजरी का लग्न महोत्सव बहुत आडम्बरपूर्वक मनाया गया।

इस उत्सव के अवसर पर अनेक मनुष्य मधुर रसपान से मस्त होकर लस्तपस्त हो गये। अनेक लोगो को उनकी इच्छा के अनुसार दान मे धन दिया गया। यह लग्न इतना सुन्दर हुआ कि देवता भी इससे अत्यन्त विस्मय और आनन्द को प्राप्त हुए। लोग उस समय नाचने और खाने-पीने मे अत्यन्त मग्न हो गये।
[१७५]

फिर बहुत आडम्बरपूर्वक देव-गुरु की पूजा की गई। सामन्तो को सन्मानित किया गया, परिजन, प्रेमीवर्ग को पहरावणी (वस्त्राभूषण) दी गयी, राज्य कर्मचारियों को प्रसन्न किया गया, प्रधान वर्ग अथवा प्रजाजनो को सन्तुष्ट किया गया और ऐसे अन्य सभी करणीय कृत्य किये गये। इस प्रकार विवाह का आनन्द चारों ओर प्रसरित हो गया।

६. मैथुन और यौवन के साथ मैत्री

नीलकण्ठ राजा को मयूरमजरी अपने प्राणो से भी अधिक प्यारी थी। इस सर्वागसुन्दरी प्रेमनिपुणा मयूरमंजरी को अपनी पत्नी के रूप मे प्राप्त कर हरिकुमार अपनी मित्र-मण्डली के साथ अपना समय आनन्दपूर्वक व्यतीत करने लगा। उस समय रत्नद्वीप मे उसकी बहुत प्रसिद्धि हुई। नीलकण्ठ के पुत्र नही था अत: पूरा परिवार और सम्बन्धीजन कुमार पर मुग्ध थे। कुमार के अनेक गुण उन्हे आनन्दित करते थे, अत सभी उसके प्रति विशेष आकर्षित होते गये। यहाँ तक कि समग्र अन्त:पुर, नगर निवासी और राज्यमण्डल भी कुमार पर मुग्ध होने लगा, उसके नाम से सतोष प्राप्त करने लगे और उसके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर हो गये। [१७६–१७९]

हे अगृहीतसकेता ! इधर कुमार मुझ पर इतना अधिक स्नेह रखता था कि मैं एक क्षण भर भी उसे छोड़ नही सकता था और उसे भी मेरा पलभर का वियोग भी सहन नही होता था। मुझ पर सद्भावपूर्वक सच्चा स्नेह रखने वाला मेरा अन्तरंग मित्र भाग्यशाली पुण्योदय मेरे साथ था, उसी के प्रताप से मेरा कुमार के साथ इतना प्रगाढ स्नेह-बन्धन हो गया था। [१८०–१८१] इसी पुण्योदय के प्रताप से कुमार के साथ रहकर मुझे अनुपम विषय सुख भोगने को मिल रहे थे, देवताओ को भी दुर्लभ विलास के साधन प्राप्त हो रहे थे, उत्तमोत्तम पुरुष भी जिसकी कामना करे ऐसी सत्सगति प्राप्त हो रही थी* और मेरे ज्ञान एव बुद्धि मे वृद्धि हो रही थी। लोगो मे मेरे यश का डका बज रहा था और मेरे गौरव में सचमुच वृद्धि हो रही थी।

घनशेखर के संकल्प-विकल्प

हे भद्रे ! मुझे सब प्रकार की अनुकूलताए होते हुए भी सागर (लोभ) मित्र की प्रेरणा से मेरे मन मे अनेक नये-नये संकल्प-विकल्प होते रहते थे।

* पृष्ठ ५७०

[१८२] मै सोचता कि हरिकुमार से मेरी मित्रता मेरे धन कमाने के काम में विघ्न पैदा करने वाली है। मेरे ग्रह अच्छे नही लगते। जान-बूझकर मैने यह व्यर्थ का अनर्थ खडा किया है। इस कुमार ने तो मुझे बिना पैसे का नौकर बना लिया है। मै यहाँ रत्न एकत्रित करने आया था, पर अपनी इच्छानुसार रत्न एकत्रित नही कर सका। यह तो लोकप्रसिद्ध जनश्रुति (कहावत) मेरे ऊपर ही घटित हो गई है—"गधे को समस्त सुख देने वाला स्वर्ग तो मिल गया पर वहाँ भी हाथ मे रस्सी लिए एक धोबी उसे मिल ही गया।" ('भाग्य दो कदम आगे चलता है' वाली कहावत चरितार्थ हुई।) मै तो बिना किसी विघ्न के यहाँ रत्न एकत्रित करने आया था, पर यहाँ भी मुझे उक्त गधे के समान विघ्नरूप यह कुमार मित्र मिल गया। [१८३-१८४]। अब मैं इसको एकाएक छोड़ भी नही सकता, क्योकि यह राजपुत्र है, शक्तिशाली है और यदि यह मेरे ऊपर क्रुद्ध हो गया तो मेरा सर्वनाश कर देगा। अत: अब मुझे कभी-कभी इससे दूर रहना चाहिये, कभी-कभी पास रहना चाहिये, कभी-कभी साधारण मिलन नमस्कार और कभी-कभी उसके मन को अनुरजित करने वाले कार्य करने चाहिये। मुझे अब किसी भी प्रकार रत्न इकट्ठे करने हैं, इस कार्य मे मेरी एकनिष्ठता और मेरे स्वार्थ में विघ्न न पडे ऐसा ही व्यवहार मुझे कुमार के साथ करना चाहिये। [१८५-१८६]

मैने अपने मन मे धन एकत्रित करने की जो उपरोक्त धारणा बनाई उसे मैने कार्यरूप मे भी परिणत किया। बहुत प्रयास के पश्चात् मैं रत्नों का प्रचुर सग्रह करने मे सफल हुआ। इन रत्नो पर मुझे इतनी गाढासक्ति और उसके प्रति इतना मोह बढा कि मेरी चेष्टाये और व्यवहार को देखकर विवेकी पुरुष हसने लगे। इस रत्न-राशि पर अत्यन्त मूर्छाग्रस्त होकर इन रत्नो को कभी मैं आँखे फाड-फाड कर बार-बार देखता, कभी उन पर हाथ फेरता, कभी हाथ मे लेकर उछालता और कभी छाती से चिपका कर प्रसन्नता से खिल उठता। कभी गड्ढा खोदकर उसमे गाड देता और उस पर सैकडो प्रकार के निशान बनाता। फिर सोचता कि मुझे यहाँ रत्न गाडते हुए किसी ने देख तो नही लिया? इस शका से रत्नो को फिर उस गड्ढे मे से निकालकर दूसरे स्थान पर गाड़ता और फिर उसके ऊपर दूसरे प्रकार का निशान बनाता। समय-समय पर बार-बार जाकर उन निशानो का निरीक्षण करता। मुझे किसी का विश्वास न होता। अविश्वास के कारण रात मे नीद नही आती और दिन मे चैन नही पडता। हे भद्रे! सागर मित्र के दोष के कारण मुझे धन पर ऐसी मूर्छा, गाढ आसक्ति, राग और मोह हो गया। अब मै कभी-कभी समय निकाल कर कुमार के पास चला जाता और उसके मन को आनन्दित कर लौट आता। शेष अधिक समय घर पर ही रहकर अधिकाधिक रत्न इकट्ठे करने की योजना बनाता रहता। रत्नोपार्जन करने मे मै इतना लोलुप बन गया कि मेरी पूरी लगन उसी ओर लग गई और मै उसी के सपने देखने लगा। मै सोचने लगा कि रत्नद्वीप मे जितने रत्न है उन सब रत्नो को इकट्ठे कर उन्हे अपने देश ले जाऊ। [१८७-१९३]

यौवन और मैथुन के साथ मैत्री

भद्रे ! मै जब रत्नद्वीप मे था तब एक और अप्रत्याशित घटना घटित हुई, वह सुनाता हूँ, सुनो। तुम्हे स्मरण होगा कि कर्मपरिणाम महाराजा की त्रिभुवन मे प्रसिद्ध कालपरिणति नामक महारानी है।* उसके अत्यन्त रसिक दो विशेष दास हैं जिनके नाम यौवन और मैथुन हैं। उन दोनो मे एक बार निम्न वार्तालाप हुआ। [१९४-१९६]

यौवन-मित्र मैथुन ! ससारी जीव इस समय अपने वश मे है। तुम्हारे ध्यान मे होगा कि इस समय वह धनशेखर के नाम और रूप से जाना जाता है। मुझे लग रहा है कि अब तुम्हारा भी उसके पास जाने का समय आ गया है। अभी अच्छा अवसर है, अत. चलो हम उसके पास चले। [१९७-१९८]

मैथुन-भाई यौवन ! यदि ऐसी बात है तो वह धनशेखर जहाँ पर है वहाँ मुझे ले चल और उसके साथ मेरा परिचय करवादे। मुझे तेरे साथ चलने मे बहुत आनन्द आयेगा। [१९९]।

यौवन-मित्र ! मै पहले भी उसके पास गया था, उस समय उसने मेरा योग्य सन्मान किया था और मेरी सेवना भी की थी। मे अवश्य ही तुझे उसके पास ले चलू गा और उससे तेरा परिचय करा दू गा। यह धनशेखर ऐसी प्रकृति का है कि इसके साथ सम्बन्ध जोडने मे आनन्द आयेगा। [२००]

इस प्रकार बातचीत कर वे दोनो अन्तरग मित्र यौवन और मैथुन मेरे पास आ पहुँचे। फिर यौवन मुझसे बोला—भाई धनशेखर ! आज मै अपने साथ अत्यन्त प्रेमालु एक मित्र को लाया हूँ। यह बहुत अच्छा है और मित्रता करने योग्य है। मेरे समान ही समझ कर तुम इसके साथ मित्रता करो। मेरी उपस्थिति मे इस मित्र के आने पर तुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त होगा। मेरा यह मित्र बहुत सुख देने वाला और लहर मे मस्त करने वाला है। अथवा बछडे वाली दुधारू गाय के इतने अधिक गुण गाने की आवश्यकता ही क्या है ? [२०१-२०३]

मित्र यौवन, जिसे मै पहले से ही जानता था, उपरोक्त बात कह कर चुप हो गया। हे भद्रे ! वास्तविकता तो यह थी कि ये दोनो मित्र महाभयकर अनन्त दु.खो के खड्डे मे धकेलने मे कारणभूत थे, परन्तु मोहराजा के दोष से बँधा हुआ विपरीत विचारो से प्रतिबद्ध मै उस समय यह नही समझ सका। सागर के साथ मेरी मित्रता करवाकर भाग्य चुप नही हुआ, मेरी विडम्बना कुछ बाकी थी उसे पूर्ण करने के लिए अब मेरी मैत्री मैथुन से करवाई गई। कहावत है कि "जब ऊट भार से दवकर मुख से बूम मार रहा हो तब भी उस समय यदि अधिक भार उसकी पीठ पर न समा सके तो थोडा बोझ उसके गले मे भी बाँध दिया जाता है। [२०४-२०६]

* पृष्ठ ५७१

हे भद्रे ! यौवन की बात सुनकर मै मोह-विह्वल हो गया, मन मे उनके प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ, और मैने दोनो को अपने विशेष मित्रो के रूप मे स्वीकार कर लिया तथा उन्हे भी सूचित कर दिया कि अब मै उनके प्रति सच्ची प्रीति रखूगा। मेरे अन्तरग राज्य के स्वान्त नामक भवन के स्थान पर उसके अधिपति के रूप मे मैने मैथुन मित्र की स्थापना कर उसे आश्रय दिया और स्वान्त नामक महल के पास ही गात्र नामक (शरीर) महल के स्थान पर यौवन मित्र को स्वामी के रूप मे नियुक्त किया। [२०७-२०९]

यौवन और मैथुन का प्रभाव ? कुकर्मों में प्रवृत्ति

उसके पश्चात् ये दोनो मेरे शरीर के भीतर अपने-अपने स्थान पर रहकर, मेरे द्वारा लालित-पालित होकर अपने शौर्य का मुझ पर प्रभाव दिखाने लगे। हे भद्रे ! यौवन मुझ मे क्रीडा, विलास, प्रहसन, हास्य, चुटकले और वीरता आदि मन को हरण करने वाले अनेक गुण उत्पन्न करने लगा। हे भद्रे ! मैथुन ने मेरे पर ऐसा प्रभाव डाला कि मै सैकडो स्त्रियो के साथ भोग-विलास करू तब भी मेरा मन नही भरे। जैसे दावानल मे कितनी ही लकड़ी डालने पर भी उसका पेट नही भरता वैसे ही कितनी ही स्त्रियो के साथ मैथुन सेवन करने पर भी मुझे तृप्ति नही होती।* फिर मैथुन मित्र ने मुझे नगर की सब से सुन्दर वेश्या के साथ भोग भोगने के लिये प्रेरित किया, पर मेरा पुराना अन्तरग मित्र सागर जो धन का लोभी था, मुझे समझाता रहा कि ऐसा नही करना, क्योकि ऐसा करने से धन की हानि होगी और एकत्रित पूजी विनाश को प्राप्त होगी। इस प्रकार एक तरफ मैथुन मुझे विलास करने की आज्ञा देता तो दूसरी तरफ सागर मुझे धन का लोभ दिखला कर रोकता। मै बहुत नाजुक स्थिति मे आ गया, "एक तरफ नदी तो दूसरी तरफ व्याघ्र" वाली मेरी दशा हो गयी। मै घबरा गया। हे भद्रे ! सागर मित्र पर मुझे अधिक प्रेम था, वह मुझे सब से प्यारा था, उसके प्रति मेरा अधिक आकर्षण था, पर साथ ही मैथुन की आज्ञा का उल्लघन करने मे भी मै असमर्थ था। अन्त मे दोनो के दबाव मे आकर मै एक अप्रत्याशित दारुण कर्म कर बैठा, क्योकि मेरी इच्छा दोनो की आज्ञा मानने की थी। [२१०-२१६]

दोनो मित्रो को प्रसन्न रखने के लिए मैने सोचा कि कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे मेरी मैथुन-सेवन की इच्छा भी तृप्त हो और धन भी खर्च न करना पड़े। इसके लिए मै बाल-विधवा, परित्यक्ता, प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश गया हो), भक्त-स्त्रियो या बिना पैसा लिए अथवा नाम मात्र का पैसा लेकर वश मे होने वाली स्त्रियो के साथ भोग भोगने का विचार करने लगा। सागर मित्र के भय से और मैथुन की आज्ञा मानने के लिए मैने न तो कार्य-अकार्य का विचार किया और न लोकलाज से ही डरा तथा बिलकुल पागल की तरह ऐसी

* पृष्ठ ५७२

स्त्रियो को ढूंढ-ढूंढ कर उनके साथ मैथुन सेवन करने लगा। इस प्रकार के व्यवहार से मैंने अपनी मर्यादा का त्याग कर दिया और निर्लज्ज होकर ढेढणी और भंगिन जैसी ओछी स्त्रियो मे भी संगम की कामना से भटकने लगा। मुझ से मैथुन सेवन किये बिना रहा नही जाता और उसके लिए पैसे भी खर्च नही करने थे, अत. मै जघन्य कुकर्म मे प्रवृत्त हो गया। हे भद्रे ! इस प्रकार अग्राह्य और नीच स्त्रियो मे भटकने से मेरी बहुत निन्दा हुई और उन स्त्रियो के सम्बन्धियो ने मेरा बहुत अपमान किया, मुझे बहुत मारा और समाज मे मेरी बहुत अपकीर्ति हुई। मै हरिकुमार का मित्र था और उस समय तक मेरा अन्तरग मित्र पुण्योदय मेरे साथ था इसलिये उन स्त्रियो के सम्बन्धियो ने मुझे जान से नही मारा और न मुझे दण्ड ही दिलाया। परन्तु, इस मैथुन मित्र के प्रसंग से मै समाज मे अत्यन्त तिरस्कृत और विवेकवान शिष्टजनो का निन्दापात्र बना। फिर भी हे सुलोचने ! मै मूढचित्त यह मानता रहा कि यह मैथुन मित्र मुझे महान सुख देने वाला है, निष्कामवृत्ति से प्रेम रखने वाला है और आनन्द की मस्ती मे झुलाने वाला है। उस समय मुझे निश्चित रूप से यही लगता था कि इस ससार मे जिसे मैथुन नही मिला उसका जीवन ही क्या है ! अथवा उसका जीना और नही जीना बराबर है। जीवित भी वह मुर्दा ही है। उस समय मुझे मैथुन पर इतना अधिक प्रेम था और मै उस पर इतना आसक्त था कि मुझे वह गुणो का पुञ्ज ही दिखाई देता था, उसमें एक भी दोष दिखाई नही पड़ता था। ऐसी विपरीत बुद्धि के कारण मुझे मैथुन पर बहुत प्रेम था। वह मेरा अत्यन्त प्यारा मित्र था। फिर भी उससे भी अत्यधिक मेरा प्रिय मित्र तो सागर ही था। [२१७–२२६]

हे पापरहित अगृहीतसकेता ! उस समय मै यही समझ रहा था कि सागर मित्र की कृपा से ही देवो को भी अप्राप्य माणक रत्नो के ढेर मुझ गरीब को मिले है, अत॰ वह धन्यवाद का पात्र है। सागर और मैथुन मुझे ऐसी कई दु.खपूर्ण पीड़ाए पहुँचाते फिर भी मै मूर्खता के कारण उनमे आनन्द मानता था और यह समझ कर कि मेरे जैसा दूसरा कोई नही है। मै रत्नद्वीप मे ही रहता रहा। [२२७–२२८]

७. समुद्र से राज्य-सिंहासन

[हरिकुमार निर्दोष आनन्द-विलास करता हुआ, समय-समय पर मेरी मित्रता का लाभ लेता हुआ आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत कर रहा था। मैं सागर के प्रताप से रत्न इकट्ठे कर रहा था और मैथुन के असर से स्त्रियो मे भटक रहा था। सागर का मुझ पर अधिक प्रभाव था, पर विलास मे मुझे आनन्द आता था। लोभवश धन नही खर्च करता था जिससे नीच स्त्रियो के प्रसग मे पडकर अपयश का भागी बन रहा था। कुमार मे मेरी जैसी विलासप्रियता या लोभ नही था।]

हरिकुमार की ख्याति : नीलकण्ठ की दुश्चिन्ता

हरिकुमार मे सब प्रकार की सादगी और स्नेहवृत्ति होने से महाराजा नीलकण्ठ का सम्पूर्ण राज्यवर्ग, राजा का अन्तःपुर और पूरा राज्य उस पर मुग्ध था। उसके गुणो से सभी प्रसन्न थे और सभी उसके प्रति प्रेम रखते थे। हरिकुमार जैसे-जैसे उम्र मे बढ रहा था वैसे-वैसे उसके राज्यकोष और राज्यवैभव मे भी वृद्धि हो रही थी। यह बात प्रसिद्ध ही है कि "जनता के अनुराग से सपत्ति में वृद्धि होती है।"* जब वह हरिकुमार मयूरमञ्जरी के साथ हाथी पर सवार होकर, मित्रो और राजपुरुषो से परिवेष्टित होकर, श्वेत छत्र से शोभित होकर घूमने निकलता तो उनकी शोभा इन्द्र-इन्द्राणी जैसी लगती। नगर-निवासी उसकी तरफ एक-टक देखते रहते और उसे वास्तव मे भाग्यशाली मानते। [२२६-२३२]

कुमार पर जनता के अतिशय अनुराग को देखकर महाराजा नीलकण्ठ को द्वेष होने लगा। वे सोचने लगे कि कुमार के मन मे अवश्य ही मेरे प्रति दूषित भाव होगे।' ऐसे कलुषित विचारो से महाराजा का मन मलिन हो गया। वे सोचने लगे—मैं वृद्ध हो गया हूँ, पुत्रहीन हूँ, मेरे पास इस समय मेरा कोई पक्षधर नही है और इस कुमार ने मेरे सम्पूर्ण राज्य कर्मचारियो और सम्बन्धियो को अपने वश मे कर लिया है। सक्षेप मे मेरा समग्र राज्यतन्त्र इसने सभाल लिया है और मेरे मत्री भी उसके प्रति आकर्षित है। इस प्रकार वर्धित प्रताप और महाबली यह कुमार कभी मेरे सम्पूर्ण राज्य को भी हड़प सकता है, इसमे मुझे तनिक भी सदेह नही है। अतः अब इसके सम्बन्ध मे मुझे अनदेखी नही करनी चाहिये। नीति एव व्यवहार कुशल मनुष्य कह गये है कि, "आधा राज्य हडप करने वाले नौकर को यदि मारा न जाय तो एक दिन स्वय को उसके हाथ से मरना पड़ता है।" [२३३-२३६]

---

* पृष्ठ ५७३

अतएव मैं अपने विशेष मन्त्री सुबुद्धि से परामर्श कर, उसका सहयोग प्राप्त कर कुमार का वध करवा डालूं, ऐसा राजा ने अपने मन मे विचार किया।

तत्पश्चात् राजा नीलकण्ठ ने शीघ्र ही सुबुद्धि मत्री को एकान्त मे अपने पास बुलवाया और अपना गूढ अभिप्राय उसे बतलाया। सुबुद्धि मत्री कुमार को भली प्रकार जानता था और उसके पवित्र सद्‌गुणो से रजित होकर उससे प्रेम रखता था। राजा का निर्णय सुनकर उसके हृदय पर वज्र गिरने जैसा झटका लगा, पर राजा का निर्णय स्पष्ट और टाला न जा सकने वाला समझकर उसने राजा की हाँ मे हाँ मिला दी। मत्री ने राजा से कहा—'हे देव ! आपके मन मे जैसा ठीक लगे वैसा ही करिये। महान पुरुष बुद्धि को अयोग्य लगे ऐसे कार्य मे कभी भी प्रवृत्ति नही करते।' फिर हरिकुमार को मारने का दृढ़ निश्चय कर राजा और मत्री अपने-अपने स्थान पर गये। [२३७-२४१]

मन्त्री सुबुद्धि की दक्षता

पवित्र बुद्धि वाला, वयोवृद्ध, अनुभवी सुबुद्धि मत्री राजा की आज्ञा को सुनकर जब घर आया तो सोचने लगा कि राजा की भोग सुख की आसक्ति को धिक्कार है। उसके इस अज्ञानजनित निर्णय को भी धिक्कार है। ऐसी राज्य-लम्पटता भी सचमुच निन्दनीय एव धिक्कार योग्य है। राज्य के सम्बन्ध मे अनेक अच्छे बुरे विचार आते ही रहते हैं, यह सत्य ही है। एक समय हरिकुमार इन महाराजा को प्राणो से भी अधिक प्यारा था। यह सर्वगुणनिधान होते हुए भी महाराजा का जंवाई है और उनकी सगी बहिन का एक मात्र पुत्र/भाणेज भी है। इनके आश्रय में रहने वाला कुमार आज बिना कारण राजा का द्वेषभाजन हो गया है। राजा की दृष्टि में यह उनका महान शत्रु और वध योग्य हो गया है। अहा ! भोग और तृष्णा की कामनाओ से जो अन्धापन आता है, वही ऐसी भयकर परिस्थितियो का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त और कोई कारण नही। अहा ! ऐसा महान पवित्र, विनयशील, अलोभी, शुद्धात्मा हरिकुमार जो पाप से डरने वाला है, क्या वह कभी स्वप्न मे भी राज्य-हरण का विचार कर सकता है ? राज्य के लोभ से महाराजा नीलकण्ठ इस समय मूर्ख, बुद्धिविकल और विचारहीन बन गये है, इसमे कुछ भी सदेह नहीं। इस पवित्र शुद्धात्मा रत्न जैसे उज्ज्वल हरिकुमार का अब किसी भी उपाय से मुझे रक्षण करना चाहिये। [२४२-२४७]

मत्री ने अपने हृदय मे कुमार के रक्षण का सकल्प कर अपने एक विश्वासी भृत्य दमनक को सब बात अच्छी तरह समझाई। राजा के साथ जो बात हुई वह सब और भविष्य मे क्या होने वाला है वह सब समझाकर गुप्त रूप से कुमार के पास दमनक के द्वारा ये समाचार भिजवा दिये* और यह भी कहलाया 'कुल-

---

* पृष्ठ ५७४

भूषण कुमार ! हम पर कृपा कर आप यह देश छोडकर शीघ्र ही चले जाये, इसमे तनिक भी विलम्ब न करे ।' [२४८-२४९]

हरिकुमार की प्राणरक्षा पलायन

दमनक ने आकर कुमार को सब समाचार कहे । सुनकर कुमार के पेट का पानी भी नही हिला । मामा का या मौत का उसे किंचित् भी भय नही हुआ । फिर भी उसके मानस मे वृद्ध मंत्री सुबुद्धि के प्रति बहुत आदर था, अत. उसके आग्रह को ध्यान मे रखकर, समुद्र पार कर स्वदेश जाने का उसने तुरन्त निश्चय कर लिया । हे भद्रे ! निर्णय करते ही हरिकुमार ने मुझे अविलम्ब एकान्त मे बुलवाया और अत्यन्त विश्वासपूर्वक मेरे सामने सब वृत्तान्त कह सुनाया कि राजा ने बिना कारण उस पर द्वेष किया है और मंत्री के परामर्श एवं निर्देश के अनुसार वह इसी समय समुद्र पार कर भारतवर्ष/स्वदेश लौट जाना चाहता है । मित्र धनशेखर ! मैं तेरा विरह क्षण भर भी सहन नही कर सकता, अत. तुम भी मेरे साथ चलने के लिये तैयार हो जाओ । [२५०-२५३]

कुमार का निर्णय सुनकर मैने अपने मन मे विचार किया कि बडे आदमी के साथ मैत्री करने का यह फल है । मै तो यहाँ रत्न राशि एकत्रित करने आया था मगर जब से इसकी मित्रता हुई तब से इस काम मे विघ्न ही पडा । अब इसके साथ इतनी गहन मित्रता हो गई है कि छोड़ते भी नही बनता । मुझे उसके साथ जाना ही पडेगा । अन्य कोई बहाना नही चलेगा । [२५४]

ऐसा सोचकर मैने प्रकट मे कुमार से कहा—भाई ! आपकी जैसी इच्छा, इसमे मुझे क्या कहना है ।

मेरा उत्तर सुनकर कुमार प्रसन्न हुआ । फिर वह बोला—मित्र ! कोई सुदृढ जहाज जो तैयार हो और अभी रवाना होने वाला हो तो उसका पता लगाओ । मैंने रत्न का बहुत बड़ा भण्डार इकट्ठा किया है उसको लेकर शीघ्र ही जहाज मे बैठ जाये ।

मैंने कुमार के निर्णय को शिरोधार्य किया । तुरन्त ही मैं समुद्र के किनारे गया और सर्व सामग्री से सम्पन्न और अत्यधिक सुदृढ दो बडे जहाज ढूंढ निकाले । एक जहाज मे कुमार के रत्न भर दिये और दूसरे जहाज मे मैंने मेरे रत्न भर दिये ।

यह सब तैयारी गुप्त रूप से चल रही थी तभी सध्या हो गई । अन्धेरा होने पर किसी परिजन को सदेह न हो इस प्रकार चुपचाप मयूरमजरी और वसुमती को साथ लेकर हरिकुमार और मैं समुद्र किनारे पहुँचे । वहाँ हमने जहाजो और उनके कर्मचारियो की खूब अच्छी तरह से जांच की । रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने पर रमणी के कपोल जैसा पाण्डुरग का चन्द्र आकाश में उदित हुआ । उसी समय समुद्र मे खलबली मची, जल-जन्तुओ के शोर के साथ ही समुद्र मे ज्वार आ गया । कुमार

अपनी पत्नी के साथ अपने जहाज मे बैठा और मैं अपने जहाज मे बैठने जा ही रहा था कि कुमार बोला—भाई धनशेखर ! तुम भी मेरे जहाज मे ही आ जाओ, मुझे तुम्हारे बिना एक क्षण भी नही सुहाता, अर्थात् तुम्हारे बिना एक पलभर भी मैं अकेला नही रह सकता।

मित्र हरिकुमार के आग्रह से मैं भी कुमार के जहाज मे बैठ गया। जहाज मे प्रवेश करने के बाद मागलिक शकुन किये गये। चालको ने अपने स्थान ग्रहण किये। पाल खोले गये और उसमे हवा भरते ही हमारे जहाज चलने लगे। जहाज चलते-चलते आगे बढ रहे थे। इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए और हमने भारत की तरफ जाने का अधिक भाग समुद्र मार्ग से पार कर लिया।

धनशेखर का हरिकुमार को समुद्र में फेंकना

हे अगृहीतसकेता ! जिस समय हमारी यात्रा आनन्दपूर्वक चल रही थी उसी समय मेरे दोनो पापी अन्तरंग मित्र सागर और मैथुन एक साथ उपस्थित होकर मुझे अन्दर से प्रेरित करने लगे। पहले पापकर्मी सागर ने अपना रोब जमाया। उसने मुझे उकसाया कि ऐसा रत्नो से भरा हुआ जहाज कभी दूसरो के हवाले किया जा सकता है ? पाप-प्रेरक सागर की आतरिक प्रेरणा से मेरे मन मे विचार आया कि, अहा ! मेरे भाग्य तो वस्तुत. अतिशय प्रबल है। मेरा एक जहाज तो रत्नो से भरा हुआ है ही, अब यह रत्नो से भरा हुआ कुमार वाला* दूसरा जहाज भी मुझे मिल जाय तो मेरे मन के समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाये।
[२५५-२५७]

उसी समय मेरे दुरात्मा मित्र मैथुन ने भी मुझे आन्तरिक प्रेरणा दी। मेरे मन मे धन सम्बन्धी पाप तो पहले से ही भरा था उसमे इस दुष्ट बुद्धि ने और वृद्धि की। उसने मुझे उकसाया कि इस अत्यन्त पृथुस्तनी, विशाल नेत्रों वाली, पतली कमर वाली, सुकोमला, मोटे नितम्ब वाली, गजगामिनी, लावण्यामृत से ओत-प्रोत, महास्वरूप वाली मयूरमजरी की तुलना मे दूसरी स्त्री इस विश्व मे मिलना असभव है। जब तक तूने उसके साथ कामसुख नही भोगा तब तक तेरा जन्म व्यर्थ है, तेरा जीवन निष्फल है। अत. इस आकर्षक नेत्रो वाली ललना को तुझे सब से अधिक बहुमूल्य मानना चाहिये और किसी भी प्रकार उसे अपने वश मे करना चाहिये।
[२५८-२६१]

मैथुन की इस प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने सोचा—एक तो रत्नो से भरा हुआ कुमार वाला जहाज मुझे प्राप्त करना है और दूसरे मयूरमजरी को अपनी अकशायिनी बनाना है। इस प्रकार करने से मुझे धन प्राप्ति के साथ स्त्री-सभोग का आनन्द भी प्राप्त होगा। परन्तु, जब तक हरिकुमार जीवित है तब तक मुझे इन

* पृष्ठ ५७५

दोनो मे से एक भी वस्तु प्राप्त नही हो सकती, अतः इन दोनो को प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि मै किसी भी प्रकार कुमार को अपने मध्य मे से समाप्त कर दू, इस काटे को निकाल दू । इस प्रकार सागर और मैथुन मित्रों के वशीभूत होकर इन विचारो के परिणामस्वरूप पाप-परिपूर्ण होकर मैने अपने मन मे निश्चय किया कि किसी को भी सशय न हो इस प्रकार युक्तिपूर्वक कुमार का मै वध कर दू ।
[२६२-२६३]

मैने जब उपरोक्त निर्णय लिया तब यह नही सोचा कि कुमार मेरे प्रति कितना अगाध प्रेम रखता है । मैने न उसकी स्नेह रसिकता का विचार किया, न मित्रद्रोह के महापाप को सोचा और न कुल मे लगने वाले राज्यद्रोह के बडे भारी कलक का ही विचार किया । मैं दीर्घकालीन उसकी मित्रता को भूल गया, उसके शुद्ध व्यवहार को भी भूल गया, अथवा उसके विशुद्ध जीवन को भी भूल गया । उसने मुझे अनेक बार सन्मानित किया था उसे भी मैने ताक पर रख दिया और सच्चे पुरुषार्थ का नाश कर न्याय के मार्ग से भटकने का मैने निर्णय ले लिया ।

अन्यदा मै दुष्कर्म प्रेरित होने के कारण रात्रि मे उठा और कुमार को जहाज के किनारे पर ले गया तथा उसे वहाँ लघु-शका करने को प्रेरित किया । वह सोच ही रहा था कि मै उसे ऐसा क्यो कह रहा हूँ तब तक तो वह मेरे धक्के को सहन न कर, एक हृदयभेदी चीत्कार के साथ समुद्र मे गिर पडा । [२६६-२६७]

समुद्र देव द्वारा रक्षण

चीत्कार के साथ जहाज मे से कुछ समुद्र मे गिरने के छपाके की आवाज सुनते ही लोग जाग गये और चारो तरफ कोलाहल होने लगा । मयूरमजरी को बहुत भय लगा और मैं तो मूर्ख जैसा शून्य मनस्क होकर वहाँ का वहाँ खडा रह गया । मेरे ऐसे अति भयकर पाप कर्म को देखकर समुद्र का अधिपति देव मुझ पर अत्यन्त क्रोधित हुआ । कुन्द के फूल अथवा चन्द्रमा जैसे कुमार के निर्मल गुणों से वह उस पर बहुत प्रसन्न था अतः तुरन्त ही महाभयकर आकृति धारण कर धमाधम करता हुआ जहाज के निकट आया । उस देव ने सब से पहले उसी क्षण अत्यन्त आदरपूर्वक हरिकुमार को समुद्र के जल मे से निकाल कर जहाज पर रखा ।
[२६८-२७१]

हे अगृहीतसकेता ! तुझे याद होगा कि मेरे जन्म से ही मेरा अन्तरग मित्र पुण्योदय मेरे साथ था और उसका सहयोग मुझे सर्वदा मिलता रहता था । उसका मेरे प्रति अभी भी प्रेम था । यद्यपि कुछ समय से वह क्षीण होता जा रहा था, पर मेरे इस अत्यन्त अधम कृत्य को देखकर तो वह मुझ पर बहुत ही क्रोधित हुआ और वह सदा के लिए मुझे छोड़कर मेरे से दूर चला गया । [२७२]

समुद्र देव का कोप

जिस समुद्र देव ने कुमार को वापस जहाज पर रखा था उसके तेज से दशो दिशाए बिजली की तरह चमकने लगी और चारो तरफ प्रकाश ही प्रकाश हो गया। उस देव ने अब महा भयकर रूप धारण कर मेरे सामने आकर गरजते हुए अति कठोर/क्रूर स्वर मे कहा—'अरे महापापी ! दुर्बुद्धि ! कुलनाशी ! निर्लज्ज ! मर्यादाहीन ! अधम ! हिंजडे ! मन से तू ऐसा घोर और अतिरौद्र कर्म कर रहा था फिर भी अभी तक तेरे टुकडे-टुकडे क्यो नही हो गये ?' ऐसे भयकर शब्द बोलते हुए अपने होठो को दांतो से दबाकर महा भीषण भृकुटी चढाकर वह मेरे पास आया। उसे देखते ही मैं थर-थर कांपने लगा और उसी अवस्था में मुझे उठाकर वह आकाश मे * खड़ा हो गया। [२७३–२७६]

उस समय हरिकुमार मेरे पक्ष मे आया। मैंने उसे मारने का प्रयत्न किया था, उसे भूलकर, पूर्व के स्नेह को ध्यान में रखकर उसने अपनी सज्जनता बतलाई। तुरन्त ही देव को मस्तक झुकाकर उसके पैरो पड़ा और हाथ जोड़कर मेरे लिए प्रार्थना करने लगा—हे देव ! आपके पैरो मे गिरकर प्रार्थना करने वाले मुझ पर यदि आपकी सच्ची दया है तो आप मेरे मित्र को छोड दे। हे देव ! आपने तो मुझे काल के मुह से बचाया है। अब आप मुझ पर इतनी कृपा और करे और मेरे इस प्रिय मित्र को न मारें। देव ! इसके बिना मुझे अपना जीवन बिताना कठिन होगा। इसके बिना मेरा सुख, मेरा धन और मेरा शरीर भी व्यर्थ है, अतः आप कृपा कर किसी भी प्रकार इसे छोड़ दें। [२७७–२८०]

कुमार मेरा समग्र चरित्र जानता था। मैंने उसके विरुद्ध जो भयंकर षड्यन्त्र रचकर उसे समुद्र मे धकेला था, उसे भी वह जानता था। फिर भी उस महाभाग्यवान नरश्रेष्ठ ने मेरे प्रति इतना प्रशस्ततम व्यवहार किया था। सच है, "साधु पुरुष किसी भी प्रकार के विकारो से रहित ही होते हैं।" हरिकुमार की इस विचित्र एवं अप्रत्याशित याचना को सुनकर देव मुझ पर अत्यधिक क्रोधित होकर कुमार से कहने लगा—हे महाभाग्यशाली कुमार ! तू तो वास्तव मे ही भद्रजन और सरल स्वभावी है, तुझे जिस स्थान पर जाना है वहाँ जा। इस दुष्ट घातकी को तो मैं इसकी दुष्टता का अच्छा फल चखाऊगा। [२८१–२८३]

यो सज्जन को सज्जनता का उत्तर देकर देव ने आकाश मे मुझे प्रबल वेग से घुमाया और फिर जोर से उछाल कर समुद्र मे फेंक दिया। मुझे देव ने इतने जोर से फेंका कि उस समय समुद्र मे बहुत जोरदार धमाका हुआ और मैं समुद्र की तलहटी मे पहुँच गया। अन्धकार से काले समुद्र तल मे मैं थोड़ी देर तक नरक के जीव की स्थिति का अनुभव करता रहा और भद्रे ! फिर अपने पाप कर्मों को

* पृष्ठ ५७६

भोगने के लिए समुद्र के ऊपर आ गया। 'मैं डूब गया हूँ या मर गया हूँ' यह सोचकर देव वापस चला गया। उस समय पवन अनुकूल होने से हरिकुमार दोनो जहाजो को लेकर भारतवर्ष के समुद्र तट पर पहुँच गया। [२८४–२८६]

हरिकुमार को राज्य-प्राप्ति

समुद्र तट पर उतरते ही हरिकुमार ने लोगो के मुख से सुना कि, 'उसके पिता आनन्दनगर के राजा केसरी मृत्यु को प्राप्त हो चुके है।' समाचार सुनकर शीघ्र ही हरि अपने राज्य की तरफ गया और बिना किसी क्लेश या लडाई के पैतृक राज्यगद्दी पर स्वयं बैठ गया। [२८७–२८८] कुमार की धाय माता वसुमती ने उस समय कमलसुन्दरी की सब घटना विस्तार से बतलाकर समस्त पारिवारिक बान्धवजनो और राज्यपुरुषो के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि हरिकुमार केसरी राजा का पुत्र ही है। कमलसुन्दरी का पुत्र की रक्षा हेतु भागने से लेकर आज तक का सारा घटनाचक्र सुनकर सब लोग कुमार के प्रति अत्यधिक आकर्षित हुए और राज्य का वास्तविक अधिकारी उन्हे मिला है यह जानकर सारी प्रजा ने संतोष प्राप्त किया।

इस प्रकार हरिकुमार अपने प्रबल पुण्य के प्रताप से राजा बना और अन्त मे विशाल भूमण्डल का अधिपति बना। कुमार ने अपनी सज्जनतावश मेरे पिता हरिशेखर को बुलाकर रत्नो से भरा हुआ मेरा जहाज उन्हे सौप दिया।

८. धनशेखर की निष्फलता

धनशेखर की दुर्दशा

देव ने मुझे समुद्र तल मे फेंक दिया था। जब मैं ऊपर आया तो पर्वत जैसी विकट ऊंची-ऊंची खारे पानी की लहरे मुझे थपेड़े मार रही थी, बड़े-बड़े मगरमच्छ मुझ पर अपनी पूंछों से आघात कर रहे थे, अनेक तन्तु जैसे जलजन्तुओ द्वारा मैं बाधा जा रहा था, सफेद शंखों के समूहो मे पछाड़ा जा रहा था, परवाल (समुद्री घास) के सघन वनो मे गुम हो रहा था, अनेक प्रकार के मगरमच्छों, जल मनुष्यों, सर्पों और नक्रों (शार्कों) द्वारा भयभीत किया जा रहा था। कछुओ की कठोर पीठ के काटो से लहुलुहान, गले तक प्राण आ गये हो ऐसी मृतप्राय स्थिति मे सात दिन और सात रात्रि तक उस महासमुद्र मे अनेक प्रकार के दुःख उठाते हुए

अन्त मे मैं किनारे पर लगा। ज्वार ने मुझे किनारे पर फेंक दिया था, पर मैं उस समय मूर्छित था। शीतल पवन के झकोरो से मुझ मे कुछ चेतना आयी।*

चेतना आने पर मुझे बहुत जोर की भूख और प्यास लगी। मैं फल और पानी की खोज मे इधर-उधर भटकने लगा। मेरा पुण्योदय समाप्त हो गया था, अतः अब मैं कुछ भी प्रवृत्ति करू उसमे मुझे असफलता ही मिलती थी। अनेक स्थानो पर भटकते हुए मुझे एक जगल दिखाई पडा, पर वह भी पुष्प-फल रहित मरुभूमि के उजाड़ प्रदेश जैसा था। सात दिन का भूखा-प्यासा और अनेक प्रकार के दुःखो से उत्पीडित मेरी उस समय कैसी दशा हो रही थी, यह तो सहज अनुमान का विषय था। इतने पर भी अभी मुझे बहुल पाप का फल भोगना बहुत बाकी था और मेरे हाथ से नये पाप होने शेष थे इसलिये इस घोर दु.ख मे भी ऐसे संयोग मिल ही गये जिससे कि मेरी प्राण रक्षा हो गई। जैसी-तैसी तुच्छ वस्तुए खाकर मै अपना जीवन चलाने लगा। [२८९–२९०]

वहाँ से भटकते हुए मैं आगे बढने लगा। अनेक गावो, नगरो और देशो मे घूमते हुए अन्त मे मैं वसन्त देश मे पहुँचा। न खाने का ठिकाना, न रहने का ठिकाना, न पीने का ठिकाना, ऐसी भयकर स्थिति मे मैं अनेक स्थानों पर घूमा, पर अपने अभिमान के कारण मैं अपने पिता के घर आनन्दपुर नही गया। मेरा पुण्योदय मित्र मुझे छोड़ चुका था। मात्र सागर और मैथुन अन्तरग मित्रो को साथ लेकर पुनः धनोपार्जन की कामना से मैं अनेक देशो मे घूमता रहा। [२९१–२९२]

कार्यों में निष्फलता

भिन्न-भिन्न देशो मे जाकर मैंने अनेक नये-नये कार्य धन कमाने के लिये किये, पर पुण्य के अभाव मे धन की प्राप्ति तो नही हुई, किन्तु जो भी कार्य किया उसमे रुपये की अठन्नी जरूर हो गई। मैंने कैसे-कैसे काम किये, इसका सक्षिप्त वर्णन सुनाता हूँ—

मैंने खेती का कार्य किया तो उस वर्ष उस स्थान पर वर्षा ही नही हुई और सारे देश में अकाल पड़ा।

फिर मैंने अत्यन्त विनयपूर्वक नीचा मुंह करके राजा की नौकरी स्वीकार की। बहुत ध्यान लगाकर राज्य सेवा सच्चे दिल से करने लगा, किन्तु उसमे भी ऐसे प्रसग आने लगे कि राजा अकारण ही मुझ पर क्रोधित होने लगा और अन्त मे मुझे नौकरी छोड देनी पडी।

राज्य-सेवा को छोडकर अब मैंने सेना मे नौकरी करली, पर मेरे सेना मे भर्ती होते ही एक बडा युद्ध प्रारम्भ हो गया और मुझे युद्ध के मोर्चे पर जाना पडा। युद्ध मे अपना कर्त्तव्य और सेनापति की प्रसन्नता के लिए मुझे अनेक शस्त्रास्त्रो की

* पृष्ठ ५७७

मार सहन करनी पड़ी, जिससे मेरे शरीर मे अनेक घाव हो गये और दु:खी मन से मुझे सेना की नौकरी भी छोडनी पडी ।

फिर मैंने बैलगाड़ी खरीदी और भाड़े से एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल और यात्रियों को ले जाने लगा, पर कुछ ही दिनो के बाद मेरे बैलो को तिलक (खरवा) रोग लग गया जिससे मेरे सारे बैल मर गये ।

तब मैंने कुछ गधे खरीदे और उन पर माल लाद कर बनजारे का कार्य प्रारम्भ किया । मेरी इच्छा एक देश से दूसरे देश के साथ व्यापार चलाने की थी। इसी कामना से जब मैंने बनजारो के समूह को इकट्ठा कर व्यापार करना प्रारम्भ किया तब चोरो ने हमारे समूह पर धावा बोला और हमारा सर्वस्व लूटकर हमारे व्यापार को चौपट कर दिया ।

अपनी निष्फलताओं से तग आकर अन्त मे मैंने किसी गृहस्थ के घर मे नौकर का कार्य स्वीकार किया और अनेक प्रकार से उसकी सेवा करने लगा, पर मेरी सेवा के बदले मे मेरा मालिक मुझ पर कुपित होता रहता और निश्चित वेतन भी नही देता । तंग आकर मुझे यह नौकरी भी छोड देनी पडी ।

हे सुमुखि ! फिर मैंने किसी व्यापारी के जहाज पर नौकरी की । परदेश के साथ व्यापार करने के लिए जहाजो मे माल भरा गया और वे जहाज परदेश जाने के लिए समुद्र मे चलने लगे, पर मेरे कर्म-सयोग से वे जहाज तूफान मे घिर गये और समुद्र मे डूब गये । जहाजो मे भरी हुई व्यापार की सब वस्तुए भी समुद्र-तल मे समा गईं । मेरे हाथ मे एक लकडी का तख्ता आ गया था जिसे पकड कर मै बडी कठिनाई से किनारे लगा, और अपने प्राण बचा सका ।

तख्ते के साथ तैरता-तैरता मै रोघनद्वीप के किनारे पर लगा था । मैंने सुन रखा था कि इस द्वीप मे अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ जमीन मे से निकलते है, अत. बहुत परिश्रम कर मै जमीन खोदने लगा, पर भाग्य की विडम्बना थी कि मेरे हाथ धूल के सिवाय कुछ भी नही लगा ।

इसके पश्चात् मै एक राजा से मिला और उसकी आज्ञा लेकर मैंने रसायनो से सोना, चादी आदि बनाने के धातुवाद के कार्य द्वारा धन कमाने का प्रयत्न किया । पत्थरो पर, पेडो की जडो पर, मिट्टी पर पारे को शोध कर कई प्रकार के प्रयोग किये और इन प्रयोगो के पीछे अपने जीवन का अमूल्य समय नष्ट किया, पर मेरे हाथ तो सोने के बदले नमक ही लगा । मुझे किसी प्रकार का लाभ नही हुआ और परिश्रम भी व्यर्थ गया ।

फिर, धन कमाने की इच्छा से द्यूतकला सीखकर मै अनेक प्रकार का जुआ खेलने लगा, पर उसमे भी जुआरियो ने मुझे जीत लिया और मुझे बाधकर इतना मारा कि मेरी हड्डी-पसली एक हो गई । बड़ी कठिनता से मै जुआरियो के फदे से छूटा ।

फिर मुझे एक महात्मा पुरुष मिले। उनके पास से मैंने रसकूपिका कल्प की विधि सीखी। रससिद्धि की पुस्तक को लेकर मै रात मे रसकूपिका वाली पहाड की गुफा मे गया और उसमे से रस निकालने का जैसे ही प्रयत्न करने लगा वैसे ही एक सिह अपनी मोटी पूंछ उछालता और भयकर गर्जन करता वहाँ पहुँच गया। मैं भयभीत होकर वहाँ से भागा* और बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचा पाया।
[२९३-३०६]

हे अगृहीतसंकेता ! तुझे क्या-क्या बतलाऊं ? उस समय मैंने धन प्राप्त करने की इच्छा से न मालूम कौन-कौन से पाप-कर्म नही किये। अनेक व्यापार किये पर पुण्योदय मेरे साथ नही था इसलिये जो भी काम करता वह उलटा ही पड़ता और प्रत्येक काम मे मुझे लाभ के बदले कठिनाइयो मे ही फसना पड़ता। पुण्योदय के बिना मेरी ऐसी दशा हुई कि बहुत जोर की भूख लगने पर मैंने भीख भी मांगी तब भी मुझे भीख नही मिली। मेरी ऐसी दुर्दशा हो गई। जब मुझे इस प्रकार प्रत्येक काम मे असफलता ही हाथ लगने लगी तब मै बहुत ही निराश हो गया और मैने यह निश्चय कर लिया कि अब मैं कुछ भी काम नही करूंगा। इस प्रकार मैं हाथ पर हाथ रखकर पैर पसार कर बैठ गया। [३०७-३०९]

सागर का उपदेश : अनुसरण और निष्फलता

जब मैं इस प्रकार निराश होकर बैठ गया तब मेरे अन्तरंग मित्र सागर ने फिर मुझे प्रेरित किया और मुझे उत्साहित करने के लिए हितोपदेश देने लगा— प्रिय धनशेखर ! मैं तुझे तेरे लाभ की बात कहता हूँ, तू ध्यानपूर्वक सुन—

न विषादपरैरर्थः, प्राप्यते धनशेखरः।
अविषादः श्रियो मूलं, यतो धीराः प्रचक्षते ॥३११॥

हे धनशेखर ! जो प्राणी निराश हो जाते हैं उन्हे कभी धन की प्राप्ति नही हो सकती, इसीलिए विद्वान् मनुष्य कहते है कि किसी भी काम मे निराश नही होना चाहिये, यही धन एकत्रित करने का मूल मंत्र है।

इसलिये पुरुषार्थी मनुष्य को निराशा छोड़कर, भाग्य के विपरीत होने पर भी परिश्रम कर धनोपार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिये। यही सच्चा पौरुष है और इसी से लाभ मिल सकता है। आलसी बनकर बैठे रहने से या अन्य किसी प्रकार से लाभ प्राप्त नही हो सकता। तुझे कितना कहूँ, धन तो अवश्य प्राप्त करना चाहिये। वह चाहे झूठ बोलकर, दूसरे के धन को चुराकर, मित्र-द्रोह कर, अपनी सगी माता को मार कर, पिता का खून कर, सगे भाई का घात कर, सगी बहिन का नाश कर, स्वजन-सम्बन्धियों का विनाश कर और समस्त प्रकार के पापाचरण

* पृष्ठ ५७८

करके भी किसी भी प्रकार से धन इकट्ठा करना ही चाहिये। धन की महिमा इस संसार मे कुछ और ही प्रकार की है।

धनवान मनुष्य कितना भी पाप करे तब भी धन की महिमा के कारण वह लोगो मे पूजा जाता है, लोग उसकी सेवा करते है, सगे-सम्बन्धी उसके चारो तरफ फिरते हैं, भाट चारण उसकी महिमा गाते हैं, बड़े-बडे विद्वान् एव पंडित लोग भी उसका सन्मान करते है और अत्यन्त विशुद्ध धर्मात्मा मनुष्य से भी अधिक धर्मात्मा उसे माना जाता है। धन की ऐसी स्थिति है। इसीलिये हे धनशेखर! तू सर्व प्रकार के विषाद का त्याग कर, धैर्य धारण कर और फिर से द्विगुणित उत्साह-पूर्वक धन कमाने के कार्य मे परिश्रम प्रारम्भ करदे। तू मेरी शक्ति को बराबर समझ ले और जैसा मै उपदेश/परामर्श दे रहा हूँ वैसा कर।

हे सुन्दरांगी अगृहीतसंकेता! इस दुरात्मा सागर मित्र के परामर्श, पाप पूर्ण उपदेश और प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने पुनः अनेक प्रकार के पातकी कार्य प्रारम्भ किये। अर्थात् उसने नये-नये प्रकार के पाप करने और नये-नये व्यापार करने के लिये मेरी बुद्धि को प्रेरित किया और उकसाया जिससे मैं दुर्बुद्धि अनेक प्रकार के पाप कर्म करने लगा। यह सागर मुझे जो आज्ञा देता उस पर मैं बिना विचार किये जैसा वह कहता वैसे सब धन्धे करता, व्यापार करता। इस प्रकार उसमे होने वाले समस्त पापो को मै अपनाने लगा। इस प्रकार मैंने अनेक पाप कर्म किये, मगर मुझे एक फूटी कौड़ी भी मिली नही, क्योंकि मेरा मित्र पुण्योदय तो कभी का रुष्ट होकर मेरे से दूर चला गया था। इसीलिये हे सुन्दरि! पुण्योदय-रहित और मिथ्याभिमान के वश होकर मै अपने श्वसुर बकुल के यहाँ भी नही गया।
[३१२-३१५]

मेरी ऐसी विषम दशा हो गई थी और मै ऐसी असहनीय स्थिति से गुजर रहा था, फिर भी मेरा मित्र मैथुन अपने अन्य मित्र यौवन के साथ मेरा पीछा नही छोड़ रहा था। वह मुझे बार-बार प्रेरित करता, उकसाता रहता था। परन्तु, मैं तो एकदम निर्धन गरीब हो गया था और मेरा पुण्योदय मित्र भी मुझ से विदा हो गया था जिससे कोई अच्छी स्त्री तो मेरे सामने देखती भी नही थी। सुन्दरी तो क्या पर कोई कानी कुबडी स्त्री भी मेरी तरफ नही झाकती थी। इस प्रकार मैथुन सेवन की इच्छा और प्रेरणा तो अविरत चलती रहती, पर अभीप्ट स्त्री-सयोग नही मिलता, जिससे मेरा मन अन्दर ही अन्दर निरन्तर जलता रहता।* किन्तु पुण्योदय बिना मेरी इच्छा कभी पूरी नही हो सकी। [३१६-३१८]

इस प्रकार धन की इच्छा और मैथुन की प्रेरणा से मैने अनेक देशो मे भटकते हुए अनेक प्रकार के दु.खो को सहन किया। सभी जगह मुझे निराशा और निष्फलता ही हाथ लगी और मेरी अभिलाषाएँ पूरी नहीं हुई। [३१९]

□

* पृष्ठ ५७९

९. उत्तमसूरि

उत्तमसूरि का पदार्पण

अन्यदा अनेक गुणरत्नो की खान आचार्य उत्तमसूरिजी महाराज आनन्दनगर मे पधारे । उनके साथ में अनेक सत्साधुओ का बडा भारी संघ आया था और वे सभी नगर के बाहर मनोरम उद्यान मे ठहरे थे । आचार्य के आगमन के समाचार मिलने पर राजा हरिकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और समस्त राज्यवृन्द से परिवृत होकर बडे आडम्बर/उत्सव के साथ उनकी वन्दना करने उद्यान मे गया । आचार्य श्री की विधि-पूर्वक वन्दना कर, सभी साधुओं को नमस्कार कर, सुखसाता पूछकर वह शुद्ध जमीन पर बैठा और उनके साथ ही समस्त राज परिवार भी आचार्यदेव की धर्मदेशना सुनने के लिये उत्सुक होकर भूमि पर बैठा । आचार्य महाराज ने सब के योग्य सब को समझ मे आ सके, ऐसा अमृत स्वरूप उपदेश दिया । [३२०-३२३]

हरिशेखर की जिज्ञासा . समाधान

महाराजा हरिकुमार भी उपदेश सुनकर अपने मन मे बहुत आनन्दित हुए और उनका चित्त प्रसन्न हो गया । राजा को ज्ञात हुआ कि आचार्य श्री का ज्ञान सूक्ष्म पदार्थो को भी भली-भांति जान लेता है, दूर रहे हुए अथवा व्यवधानयुक्त पदार्थो के बारे में भी वे जान जाते है, भूतकाल मे घटित घटनाओ के विषय मे और भविष्य काल में घटित होने वाली घटनाओ के विषय मे भी वे जान सकते है । जब राजा को इस बात का विश्वास हो गया तब वे सोचने लगे कि धनशेखर मेरा प्रिय मित्र था, फिर भी उसने मुझे समुद्र मे क्यो धकेला ? पहले तो वह मेरा इष्टमित्र था फिर एकाएक उसके विचार परिवर्तित कैसे हुए और उसने ऐसा कुव्यवहार क्यो किया ? वह देव कौन था ? कहाँ से आया था ? उसने रुष्ट होकर धनशेखर को समुद्र मे क्यो फेंक दिया ? मेरा मित्र धनशेखर अभी जीवित है या मर गया ? आदि-आदि अनेक प्रश्न और वह समग्र घटना हरि राजा को याद आ गई ।

[३२४-३२८]

अभी राजा यह सब बाते अपने मन मे सोच ही रहे थे कि आचार्य उत्तम-सूरि ने उनके मन के सब भाव मन.पर्यव-ज्ञान द्वारा जान लिये और कहने लगे—राजन् ! तुम्हारे मन मे यह प्रश्न उठा है कि तेरा मित्र तुझ पर बहुत प्रेम रखता था फिर भी उसने तुम्हें समुद्र मे क्यो फेंक दिया ? सुनो, इसका उत्तर यह है कि, इस धनशेखर के सागर और मैथुन नाम के दो अन्तरंग मित्र है । सारा अपराध इन दोनो मित्रो का है । उस वेचारे का तो इसमे कुछ भी दोष नही है । यह धन-शेखर अपने स्वभाव से तो अच्छा है, भला है और सुन्दर है, पर इसके ये पापी मित्र

उसके व्यवहार को पलट देते है । .उसके लुच्चे मित्र मैथुन ने तेरी पत्नी मयूरमजरी के साथ भोग भोगने की दुर्बुद्धि उसमे उत्पन्न की और सागर मित्र ने तेरा रत्नो से भरा हुआ जहाज हड़प जाने की प्रेरणा दी । इस प्रकार इन दोनो मित्रो ने उसके मन मे दुर्बुद्धि उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप धनशेखर ने तुम्हे समुद्र मे फेंक दिया। उन पापी-मित्रो से प्रेरित धनशेखर के इस अति अधम कृत्य से समुद्र का देव कुपित हुआ। उसने तुम्हारी रक्षा की और धनशेखर को समुद्र मे डुबो दिया। उसके भाग्य से वह मरा नही और तैर कर ऊपर आ गया। सागर और मैथुन मित्र अब भी उसे अनेको देशो मे भटका रहे है और अनेक प्रकार की विपदाओ और दु खो मे फसा रहे है। [३२९–३३६]*

हे भद्र ! चार ज्ञान से युक्त आचार्यश्रेष्ठ उत्तमसूरि के मुखारविन्द से मेरे दुष्ट चरित्र के सम्बन्ध मे इतनी स्पष्टता से जानकर हरि राजा के मन मे आचार्य प्रवर के अपूर्व ज्ञान के प्रति अत्यधिक श्रद्धा जाग्रत हुई । स्वय विशाल हृदय वाला होने से उसके मन मे मेरे दुष्ट चरित्र के प्रति तनिक भी क्रोध नही आया, अपितु बेचारा धनशेखर दु ख-जाल मे फस गया जानकर व्यथित हुआ। सद्बुद्धि और करुणाप्लावित मानस होने से हरि राजा ने पुन भक्तिपूर्वक प्रणाम कर पूछा—भगवन् ! मेरा मित्र धनशेखर कब इन दोनो पापी मित्रो से छुटकारा पा सकेगा ? वह पूर्णतया सुखी कब होगा ? यह बतलाने की कृपा करे। [३३७–३४०]

हरि राजा का प्रश्न सहेतुक और स्पष्ट था। उत्तमसूरि ने तुरन्त ही मधुर वाणी मे उत्तर दिया—राजन् ! तेरे प्रश्न का सक्षिप्त उत्तर दे रहा हूँ, अपनी विशद बुद्धि से उसे समझ लेना । शुभ्रचित्त नगर मे त्रिभुवन को आनन्द देने वाले सतता-नन्दी सदाशय नामक राजा राज्य करते है। इनकी लोक-प्रसिद्ध वरेण्यता नामक महारानी और ब्रह्मरति तथा मुक्तता नाम की दो कन्याये है। वे दोनो कन्याये अत्यन्त सुन्दर, रूपवान, अनुपम लोचन वाली और गुण की भण्डार है। इन दोनो के सम्पूर्ण गुणो का वर्णन करने मे कौन समर्थ हो सकता है ? [३४१–३४३]

हे राजेन्द्र ! इन दोनो में से सर्वांगसुन्दरी ब्रह्मरति इतनी प्रतापिनी है कि वह पवित्र साध्वी यदि सानन्द दृष्टि से किसी प्राणी को देख लेती है तो वह प्राणी पवित्र हो जाता है। यही कारण है कि सभी उसे पवित्र' कहकर पुकारते हैं। यह ब्रह्मरति स्थूल आनन्द से दूर रहती है, सर्व प्रकार के गुणो की आधार है और बडे-बड़े योगीजन भी उसे नमस्कार करते है। ससार मे ऐसा प्रसिद्ध है कि यह राज-कन्या अनन्तवीर्य पुज को प्रदान करने वाली है। ससार मे मैथुन के नाम से प्रसिद्ध धनशेखर के अन्तरग मित्र की यह प्रबल शत्रु है और उसका नाश करने वाली है।

* पृष्ठ ५८०

ब्रह्मरति और मैथुन मे स्वभाव से ही शत्रुता है, अत. ये दोनो कभी एक साथ नही रह सकते। ऐसी सर्वगुणसम्पन्न योगीवन्द्य यह राजकन्या सतत आनन्दकेलि मे रमण करती रहती है। [३४४–३४६]

हे राजन् ! दूसरी मुक्तता नामक कन्या भी नि.सन्देह सर्व गुण सम्पन्न और सर्व दोषो का नाश करने वाली है, अत. स्वभाव से ही धनशेखर के महापापी इष्ट मित्र सागर के साथ उसका जन्मजात विरोध है। इन दोनो के बीच सर्वदा लड़ाई चलती रहती है। परिणामस्वरूप यह पापात्मा सागर ज्यो ही शुद्ध धर्म से परिपूर्ण इस मुक्तता कन्या को देखता है त्यो ही वह उसे दूर से ही देखकर तुरन्त भाग खडा होता है। [३४७–३४९]

अतएव जब ये दोनो कन्याये तेरे मित्र धनशेखर को प्राप्त होगी तब उसका इन दोनो पापी मित्रो से नि:सन्देह छुटकारा होगा। जब इन दोनो कन्याओ के साथ धनशेखर का लग्न होगा और वह उनके साथ अत्यन्त आनन्द पूर्व क्रीड़ा करेगा, सुख भोगेगा, लहर करेगा तब वह अनन्त आनन्द को प्राप्त करने मे समर्थ होगा। [३५०–३५१]

हरि राजा को यह जानकर कि कभी न कभी तो धनशेखर को आनन्द प्राप्त होगा ही, बहुत प्रसन्न हुआ। पर, उन कन्याओ की प्राप्ति उसे कैसे होगी ? यह बात वह नही समझ सका। इसलिये उसने हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर अत्यन्त भावपूर्वक नमस्कार कर आचार्य प्रवर से पुन. पूछा—भगवन् ! आपने सर्व गुण-सम्पन्न जिन दो कन्याओ के बारे मे अभी बतलाया, वे पापी-मित्रो का नाश करने वाली दोनो कन्याये धनशेखर को कैसे प्राप्त होगी ? यह भी बतलाने की कृपा करें। [३५२-३५३]

विनीत राजा का प्रश्न सुनकर उत्तमसूरि ने कहा—नरेन्द्र ! तेरे जैसे बुद्धिमान व्यक्ति को तो अपने शौर्य से त्रिभुवन को वश मे रखने वाले अन्तरग के महाराजा कर्मपरिणाम के बारे में मालूम होगा ही। यदि भविष्य मे कभी ये महा पराक्रमी महाराजा* अपनी कालपरिणति महारानी के साथ तेरे मित्र धनशेखर पर प्रसन्न हो जाये तो वे अपने अधीनस्थ शुभ्रचित्त नगर के राजा सदाशय को कहकर उनसे उनकी दोनो पुत्रियों को तेरे मित्र को दिला सकते हैं। भविष्य में किसी समय ऐसा हो सकेगा। अर्थात् कर्मपरिणाम राजा के प्रसन्न होने पर भविष्य मे कभी तेरे मित्र को ये दोनो कन्याये प्राप्त होगी। इन दोनो राजकन्याओ के प्राप्त होने पर तेरा मित्र परमसुख को प्राप्त करेगा और वह सर्व गुण सम्पन्न बनेगा। राजन् ! कन्याओं को प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नही है, अत: अब इस सम्बन्ध मे आप आकुलता का त्याग करें। [३५४–३५६]

* पृष्ठ ५८१

उत्तमसूरि के उत्तर को सुनकर हरि राजा मेरे विषय की चिन्ता से मुक्त हुआ। इसके पश्चात् उन्होने आचार्य से एक बहुत ही अर्थसूचक प्रश्न पूछा। [३५७]

महाराज ! आपने अभी बतलाया था कि घनशेखर ने ऐसा जो भयकर दूषित काम किया और पापाचरण किया वह उसने अपने पापी सागर और मैथुन मित्रों की प्रेरणा से किया। वैसे घनशेखर स्वरूप (अन्तरग दृष्टि) से बहुत अच्छा है, भद्रिक है। फलत: मेरे मन मे यह जानने की जिज्ञासा हो रही है कि यदि प्राणी स्वरूप से निर्मल है तब वह दूसरो के दोष से दुष्ट कैसे बन सकता है ?

सूरि महाराज ने उत्तर मे कहा—नरेश ! प्राणी स्वय निर्मल होने पर भी दूसरो के दोषों से भी दुष्ट बन जाता है। इसका कारण सुनो—लोक दो प्रकार का है—एक अन्तरग और दूसरा बाह्य। बहिरंग लोक के दोष तो प्राणी को लग भी सकते है और नही भी लग सकते, किन्तु अन्तरग लोक के दोष तो अवश्य ही लगते है। हे राजेन्द्र ! अन्तरंग लोक के दोष कैसे होते हैं और किस प्रकार लगते है ? इस सम्बन्ध में मैं तुम्हे एक कथा सुनाता हूँ जिससे तुम सब बात अच्छी तरह से समझ सकोगे। मै जो कथा सुना रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। [३५८]

कथा सुनने से अपनी शका का समाधान होगा और आचार्य श्री की वाणी सुनने का लाभ भी प्राप्त होगा, यह सोचकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और आचार्य श्री को कथा सुनाने की प्रार्थना की।

१०. सुख-दुःख का कारण : अन्तरंग राज्य

उत्तमसूरि हरि राजा को कथा सुनाने लगे—राजन् ! यह तो तुम्हे ज्ञात ही है कि कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति के अनेक पुत्र है, पर उन्हे किसी की दृष्टि न लग जाये इसलिये अविवेक आदि मन्त्रियो ने उन्हे भुवन मे छुपा कर गोपनीय रूप से रखा है और संसार मे यह बात फैला रखी है कि वे बाझ है। इन महाराजा के पास एक सिद्धान्त नामक परम सत्पुरुष है जो विशुद्ध सत्यवादी है एव समस्त प्राणी समूह के लिए हितकारी है। यह सभी प्राणियों के भाव और स्वभावो को जानने वाला, कर्मपरिणाम एवं कालपरिणति के समस्त गोपनीय रहस्य-स्थानो तथा भेदो का सूक्ष्म ज्ञाता है। सिद्धान्त का विनय सम्पन्न शिष्य अप्रबुद्ध है। एक दिन उनमे निम्न वार्तालाप हुआ :—

सुख-दु·ख का हेतु अन्तरंग राज्य

अप्रबुद्ध—भगवन् ! इस ससार मे प्राणी को क्या प्रिय है और क्या अप्रिय है ?

सिद्धान्त—भद्र ! प्राणी को सुख अति प्रिय और दु:ख अप्रिय है । इसलिये सभी प्राणी सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं और दु ख से दूर भागते है ।

अप्रबुद्ध—फिर इस सुख और दु ख का कारण क्या है ?

सिद्धान्त—सुख का कारण राज्य है और दु ख का कारण भी राज्य ही है ।

अप्रबुद्ध—राज्य सुख और दुःख दोनो का कारण कैसे हो सकता है ? इसमे तो स्पष्टत विरोध प्रतीत होता है ।

सिद्धान्त—वस्तुत. इसमे विरोध नही है, क्योंकि यदि राज्य का पालन भली प्रकार किया जाय तो वह सुख का कारण है और यदि उसका पालन गलत ढग से किया जाय तो वह दु.ख का कारण है ।

अप्रबुद्ध—क्या सुख-दुःख का एकमात्र कारण राज्य ही है ? अन्य कोई कारण नही है ?

सिद्धान्त—हाँ, भाई ! एकमात्र राज्य ही सुख-दु ख का कारण है, अन्य कुछ नही ।

अप्रबुद्ध—महाराज ! * यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है । ससार मे बहुत थोडे प्राणियो को राज्य प्राप्त होता है, किन्तु सुख-दु.ख का अनुभव तो सभी जीव करते है, ऐसा दृष्टिगोचर होता है ।

सिद्धान्त—भद्र ! सुख-दु.ख का कारण बाह्य राज्य नही, अन्तरग राज्य है । ससार के सभी जीवो को वह अन्तरग राज्य अवश्य प्राप्त होता है । यदि जीव अन्तरग राज्य का पालन उचित पद्धति से करता है तो सुख प्राप्त करता है और यदि दुष्पालन करता है तो दुःख का अनुभव करता है । अतएव इसमे किसी प्रकार का प्रत्यक्ष विरोध नही है ।

अप्रबुद्ध—भगवन् ! यह अन्तरग राज्य एकरूप वाला/एक समान है या भिन्न-भिन्न प्रकार का है ?

---

* पृष्ठ ५८२

सिद्धान्त—सामान्य तौर पर यह एकरूप है, एक समान है, किन्तु विशेष प्रकार से देखे तो अनेक रूप वाला और भिन्न-भिन्न है।

अप्रबुद्ध—यदि ऐसा ही है तब इस सामान्य राज्य का राजा कौन है? उसका कोष और सेना कितनी है, उसके अधिकार मे कौन सी भूमि और कौन-कौन से देश है और उसके पास अन्य किस प्रकार की राज्य सामग्री है? यह मैं सुनना चाहता हूँ, जानना चाहता हूँ।

सामान्य राज्य-वर्णन

सिद्धान्त—भद्र! सुनो—सामान्य राज्य का राजा ससारी जीव है। इस समस्त राज्य का राज्य भार इसी पर है तथा सब का आधारभूत भी यही है। समता ज्ञान, ध्यान, वीर्य आदि अनेक स्वाभाविक रत्नो से इस महाराज्य का भण्डार भरा है। इस विशाल राज्य मे त्रिभुवन को आनन्ददायी और क्षीरसमुद्र के सदृश अत्यन्त निर्मल चतुरगी सेना है। इसकी चतुरगी महा सेना मे गम्भीरता, उदारता, शूरवीरता आदि बड़े-बडे रथ है। यशस्विता, सौष्ठवता, सज्जनता, प्रेम आदि बडे-बड़े हाथी है। बुद्धिचातुर्य, वाक्पटुता, निपुणता आदि घोडे है। अचपलता, प्रसन्नता, प्रशस्तता, मनस्विता और दाक्षिण्य आदि पैदल सैनिक है। ससारी जीव महाराजा के हितकारी चतुर्मुखधारी चारित्रधर्मराज नामक प्रतिनायक भी है। इस प्रतिनायक के सम्यग्दर्शन सेनापति और सद्‌बोध मन्त्री है। इस चारित्रधर्मराज के यतिधर्म और गृहस्थधर्म नामक दो पुत्र भी है। इसके सतोष तन्त्रपाल (प्रधान) है और शुभाशय आदि बहुत से योद्धा है। ससारी जीव राजा ने अपने सुराज्य मे ऐसी चतुरगी सेना बना रखी है। इस विशाल चतुरगी सेना का वर्णन करने मे कौन समर्थ हो सकता है? यह महासेना अनन्त गुण-समूह से परिपूर्ण है। राजा स्वय जब निर्मल होता है तब उसे देख/समझ सकता है।
[३५६-३६३]

इस महाराज्य की भूमि चित्तवृत्ति नामक महा अटवी मे स्थापित की गई है जो चित्तवृत्ति के नाम से विख्यात है और सब का आधार इसी पर है। [३६४] इस चित्तवृति नामक अटवी मे सात्त्विक-मानसपुर, जैनपुर, विमलमानस, शुभ्रचित्त आदि अनेक छोटे-मोटे नगर है और इन नगरो से जुडे हुए अनेक ग्राम तथा खानें है।

इस महाराज्य की भूमि मे घातिकर्म नाम के अनेक* डाकू है, इन्द्रिय नामक चोर है, कषाय नामक जल्लाद घूमते है और नौ-कषाय नामक लुटेरे घूमते-फिरते है। इसमे परीषह नामक उपद्रव-कर्त्ता चारो तरफ भ्रमण करते रहते है, उपसर्ग नामक महा भयकर सर्प और प्रमाद नामक लम्पट रहते है। इन सब के दो नायक/नेता है—एक कर्मपरिणाम और दूसरा महामोह, ये दोनो भाई है।

* पृष्ठ ५८३

ये दोनो नायक राज्य-ऋद्धि से पूर्ण, अत्यन्त अभिमानी, वीर और अपनी स्वतन्त्र चतुरगी सेना से युक्त है। इनके अधीनस्थ करोडो योद्धा है। ये दोनो इतने घमडी है कि अपने आपको ही राजा समझते है। ये समझते हैं कि ससारी जीव कौन होता है ? चारित्रधर्मराज की क्या हस्ती है ? यह चित्तवृत्ति अटवी और यह राज्य तो उनका और उनके बाप का है। अन्य किसी का शक्ति-सामर्थ्य नही कि वह इस राज्योपभोग मे उनका सामना कर सके। इन सब चोर-लुटेरो ने कर्मपरिणाम को अपना राजा बना लिया है और अपने राज्य का विस्तार कर रहे है।
[३६५-३६७]

इन्होने भीलपल्ली जैसे राजसचित्त, तामसचित्त और रौद्रचित्त आदि अनेक नगर बसा रखे है और महामोह को उसका राजा बना रखा है। अपनी चतुरगी सेना भी महामोह राजा को सौप रखी है और अपनी इच्छानुसार राज्य नीति का निर्धारण कर रखा है। राज्यधुरा का समस्त भार महामोह को सौप रखा है। स्वय कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति रानी तो मात्र मनुजगति नगरी मे बैठे-बैठे ससार नाटक को देखते रहते है।

कर्मपरिणाम राजा, ससारी जीव महाराजा के शक्ति-सामर्थ्य को जानता है, चारित्रधर्मराज के बल को भी पहचानता है, महामन्त्री सद्बोध की तन्त्रशक्ति और सेनापति सम्यग्दर्शन के सैन्यबल को भी लक्ष्य मे रखता है और सतोष तन्त्रपाल का चातुर्य और शुभाशय आदि योद्धाओ के युद्धोत्साह की प्रबलता को भी जानता है। अत वह ससारी जीव के प्रति अत्यन्त उपेक्षा-भाव नही रखता, किन्तु उसका भविष्य देखता रहता है, चारित्रधर्मराज आदि का अनुकरण करता है, उनके साथ एकात्मकता प्रकट करता है, प्रेम बढाता है और उनके लिए सुयोग्य प्रयोजनो की योजना करता है। इसीलिये चारित्रधर्मराज और उनके अधीनस्थ सभी राज्य कर्मचारी भी कर्मपरिणाम राजा को मध्यस्थ मानते है। उनकी तटस्थता के कारण ही उन्हे अपना स्वामी मानते हैं और उनके साथ सरल व्यवहार करते है। इसीलिए ससारी जीव के महाराज्य मे कर्मपरिणाम राजा को बड़ा और परामर्श लेने योग्य माना जाता है। यही कारण है कि चारित्रधर्मराज भी उन्हे सन्मान देते है।

चोरो का सरदार महामोह अपने बाहुबल के अभिमान मे ससारी जीव या चारित्रधर्मराज और उनके सैन्यबल को तृण जैसा भी नही समझता। वह तो अपने आपको ही सर्वोपरि मानता है। ससारी जीव महाराजा जब तक अपने आत्मीय स्व-राज्य को नही पहचानता और यह नही जानता कि उसके पास भी महाबलवान चतुरगी सेना है, अनन्त धन भण्डार और भूमि है, स्वय मे परमेश्वरत्व की सत्ता है, तब तक उस अवसर का लाभ उठाकर चोरो का सरदार महामोह सदल-बल ससारी जीव की अधीनस्थ भूमि पर आक्रमण करता है, घेरा डालता है, उसके सारे नगर,

ग्राम, खाने आदि अपने अधीन कर लेता है, स्वेच्छानुसार विलास करता है* और ससारी जीव को एकदम अकिंचित्कर/निर्माल्य कर देता है। वह महामोह ससारी जीव के महत्तम बल को नही के समान निर्वीर्य बना देता है और संसारी जीव के महाराज्य का स्वयं को ही प्रभु समझता है।

किसी समय यदि ससारी जीव को मालूम पडता है कि उसका राज्य महामोह ने दबा रखा है। जब उसे अपने बल-वीर्य, समृद्धि एव अपने स्वरूप का भान होता है, तब वह महामोह से लडने को उद्यत होता है, अपने बल और कोप की वृद्धि करता है। युद्ध में कभी ससारी जीव विजयी होता है और कभी महामोह विजयी होता है। जितना-जितना ससारी जीव महामोह पर विजय प्राप्त करता है उतना-उतना वह सुख प्राप्त करता है और जितने अश मे वह महामोह से हारता है, उतना ही वह दु.खी होता है।

हे भद्र! धीरे-धीरे सग्राम का अभ्यास करते हुए जब वह अपने भीतर रहे हुए अतुलनीय बलवीर्य को प्रकट करने मे समर्थ होता है तब महामोह आदि शत्रुओ को मूल से नष्ट कर निष्कटक राज्य प्राप्त करता है और अपने प्रशस्त महाराज्य को प्राप्त कर, चित्तवृत्ति का त्याग कर निरन्तर आनन्द सुख और स्वाभाविक सुख को प्राप्त होता है। इसीलिये अंतरग राज्य ही उसके सुख तथा दु.ख का कारण है। यह नि.सदेह है कि यदि अन्तरग राज्य का पालन समुचित पद्धति से किया जाय तो वह ससारी जीव के सुख का कारण होता है, अन्यथा वही उसके दु:ख का कारण हो जाता है। हे भद्र! सामान्य अन्तरग राज्य जो ससारी जीव के सुख-दुःख का कारण है उसकी सघटना/रचना इसी प्रकार की कही गई है। [३६८-३७२]

अप्रबुद्ध—भगवन्! वर्तमान में ससारी जीव का सुराज्य है या कुराज्य?

सिद्धान्त—भद्र! अभी तो ससारी जीव का कुराज्य ही है। अभी तो वह यह भी नही जानता कि वह इतने बडे राज्य का स्वामी है। न तो उसे अपने बल, कोष और समृद्धि का पता है और न वह अपने स्वरूप को ही जानता है। अभी तो वह ससारी जीव बाह्य प्रदेश मे ही भटक रहा है, दु ख-समुद्र मे डूबा हुआ है और मैथुन एव सागर मित्र उसे बराबर भटका रहे है। बेचारे की चारित्रधर्मराज अर्थानस्थ सेना भी महामोह राजा आदि द्वारा घिरी हुई है और वह अपनी शक्ति का प्रयोग न कर सके ऐसी स्थिति मे पडा हुआ है।

अप्रबुद्ध—सामान्य अन्तरग राज्य ससारी जीव के सुख-दु.ख का कारण है, यह तो समझ मे आया किन्तु विशेप रूप से देखने पर यह अन्तरग राज्य अनेक रूपों

---

* पृष्ठ ५८४

में विभक्त हो ऐसा प्रतीत होता है। अतः मैं इसका स्वरूप जानना चाहता हूँ, कृपा कर बतलावें।

सिद्धान्त—भद्र ! सुनो—महाराजा संसारी जीव ने समस्त कार्यों में पूर्व-वर्णित कर्मपरिणाम राजा को प्रमाणभूत माना है। कर्मपरिणाम राजा इच्छानुसार अपने पुत्रो को भिन्न-भिन्न रूप मे अपना परिपूर्ण राज्य बाँटकर उसका अधिपति बना देता है। इस प्रकार अनन्त राजाओं के भेद से यह अन्तरंग राज्य भी अनन्तरूप है। प्रत्येक जीव अपने राज्य का राजा होता है और जीव अनन्त हैं इसलिये पात्र-विशेष के कारण राज्य भी अनन्त प्रकार के हैं। [३७३-३७६]*

हे भद्र ! यही कारण है कि कर्मपरिणाम के अनन्त राजपुत्रो में से किसी को यह सुख का कारण होता है तो किसी को दु.ख का कारण। सुख-दुःख भी अनेक प्रकार के होने से यह अंतरंग राज्य भी अनेक प्रकार का है।

अप्रबुद्ध—भदन्त ! कर्मपरिणाम राजा के पुत्र जब राज्य कर रहे थे, तब प्रत्येक की क्या स्थिति रही ? यह जानना चाहता हूँ।

कर्मपरिणाम के छः पुत्र

सिद्धान्त— भद्र ! मैंने अभी बतलाया था कि कर्मपरिणाम राजा के अनन्त पुत्र हैं। यदि एक-एक के स्वरूप का वर्णन करने लगू ं तो कभी इस कथा का अन्त ही नही आ सकता। तथापि तुझे सुनने जानने का कौतूहल है अतएव सब पुत्रो की स्थिति का एक सर्वग्राही रूप तुझे बतलाता हूँ।

अप्रबुद्ध—महती कृपा होगी, बतलाइये।

सिद्धान्त—इस कर्मपरिणाम के पुत्र छः प्रकार के हैं, १. निकृष्ट, २. अधम, ३. विमध्यम, ४. मध्यम, ५. उत्तम और ६. वरिष्ठ। कर्मपरिणाम महाराजा से प्रार्थना कर मैं एक ऐसी योजना बनाता हूँ कि वे प्रत्येक प्रकार के पुत्रो को एक-एक वर्ष का राज्य प्रदान करे। फिर तुम अपने अन्तरंग कर्मचारी वितर्क को यह देखने के लिये भेजना कि ये छहो पुत्र अपने राज्य का पालन/उपभोग किस प्राकर करते हैं ? वितर्क प्रदत्त विवरण के आधार पर तेरी समझ मे आ जायगा कि कर्मपरिणाम का विशेष राज्य किस प्रकार अनेक रूप और भिन्न-भिन्न है।

अप्रबुद्ध के स्वीकार करने पर सिद्धान्त आचार्य ने पूर्वोक्त निर्धारित योजनानुसार कर्मपरिणाम राजा के छ. प्रकार के पुत्रों को अलग-अलग एक-एक वर्ष का राज्य दिलवाया और अप्रबुद्ध ने अपने कर्मचारी वितर्क को उनके राज्य-संचालन का सूक्ष्मता से अध्ययन करने भेज दिया।

* पृष्ठ ५८५

११. निकृष्ट-राज्य

वितर्क ने मनुष्य गति में छः वर्ष बिताये और वहाँ से लौटकर अप्रबुद्ध को उन छः प्रकार के राज्यो का अपना अनुभव सुनाया । वह बोला—

देव ! यहाँ से प्रस्थान कर मैने उनके अन्तरग राज्य मे प्रवेश किया । उस समय नगर-नगर, ग्राम-ग्राम मे मनुष्यभव-आवेदन नामक पटह बजाकर घोषणा की जा रही थी । उद्घोषक कह रहा था—पूर्व-परम्परा के अनुसार यहाँ प्रथम राजा निकृष्ट का राज्य प्रारम्भ हो गया है । हे लोगो ! आप काम करे, खाये-पिये और मौज करे । [३७६]

इस उद्घोषणा को सुनकर राजमण्डल विचार मे पड गया कि यह नया राजा न जाने कैसा होगा ? सारे राज्य मे खलबली मच गयी । मनुष्य-जन्म-प्रदेश के अनेक छोटे राजा, विद्वान् और कुटुम्बीजन चिन्तित एव क्षुब्ध होकर अपने-अपने स्थानों पर परस्पर मन्त्रणा करने लगे कि, न जाने यह नया निकृष्ट राजा कैसा होगा ?

[३७७-३७९]

निकृष्ट का स्वरूप

पूर्वोक्त चोर-लुटेरे भी सगठित होकर अपने सरदार महामोह की ससद मे पहुँचे और उनके साथ विचार-विमर्श करने लगे । उस समय विषयाभिलाष मन्त्री ने महामोह नरेन्द्र के समक्ष अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—

यह जो नया निकृष्ट नामक राजा बना है, यह कैसा होगा ? क्या करेगा ? * यह हम सब नही जानते, इसलिये हम सब चिन्तातुर हो गये है। परन्तु, देव ! यह हमारा विषाद अकारण है, निर्हेतुक है । हम व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो गये है । मेरे इस प्रकार कहने का प्रयोजन/कारण यह है कि महाराजा कर्मपरिणाम ने इस निकृष्ट को बनाया ही ऐसा है कि वह हमारा उत्पीडन करने मे कभी समर्थ नही हो सकता, अपितु वह तो सदा हमारे वश मे रहने के लिए ही निर्मित हुआ है । हमारा ही नही, हमारे सैनिको का भी वह आज्ञापालक/किंकर बनकर कार्य करेगा । हम यह मानकर चले कि कर्मपरिणाम ने इस राज्य पर जो इसकी नियुक्ति की है, उसके इस राज्य के वास्तविक राजा तो हम ही रहेगे । अतः अब हमारा यह राज्य निष्कटक हो गया है । फलतः हमे आनन्द मनाना चाहिये । विषाद करने की क्या आवश्यकता है ? [३८०-३८६]

---

* पृष्ठ ५८६

मोह-राज्य मे प्रसन्नता

महामोह—हे आर्य ! कर्मपरिणाम ने इस निकृष्ट को कैसा बनाया है ? विस्तार से शीघ्र ही बतलाओ । [३८७]

विषयाभिलाष—देव ! सुनिये—निकृष्ट एकदम कुरूप, भाग्यहीन, महा-निर्दय, परलोकज्ञान से पराङ्मुख, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष से दूर, गुरु-निन्दक, महापापी, देव-द्वेषी और विशुद्ध अध्यवसाय की गन्धमात्र से रहित है । वह ससार को उद्विग्न करने वाला, साक्षात् विषांकुर और दोष-समूह का घर है । गम्भीरता, उदारता, पराक्रम, धैर्य, शक्तिस्फुरण आदि गुण तो इस निकृष्ट से पलायन कर दूर ही दूर रहते है । अधमाधम, अपने समग्र आत्मिक पराक्रम से शून्य ऐसा निर्बल पुरुष इस राज्य गद्दी पर आया है । ऐसा कापुरुष हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? आप क्यों घबराते हैं ? इस बेचारे को तो अभी यह भी मालूम नही कि उसे राज्य प्राप्त हुआ है । वह स्वयं अनन्त बल-वीर्य और समृद्धि से पूर्ण है, इसका भी उसे भान नही । बेचारा तत्त्वत यह भी नही जानता कि वह कौन है और उसका स्वरूप क्या है ? हमारे चोर-लुटेरे भाई इसके राज्य को दबा कर इसके आत्मधन को लूटने वाले है, इसका भी इसे पता नही है । वह तो हमें अपना हितेच्छु, सम्बन्धी और बन्धु ही मानता है । इतना ही नही, वह तो हमे अपना स्वामी और अपने से श्रेष्ठ समझता है । अतः हे देव ! यदि आपके मन मे किंचित् भी व्याकुलता हो तो उसे निकाल दीजिये और राज्य मे उत्सव मनाने की आज्ञा दीजिये जिससे कि हमारे सभी लोग प्रसन्न हो ।

[३८८-३९५]

विषयाभिलाष मन्त्री की बात सुनकर महामोह राजा को अत्यानन्द हुआ और सभा मे उपस्थित सभी लोगो को भी आनन्द हुआ । महामोह राजा ने प्रसन्न होकर चारो तरफ उत्सव मनाने की आज्ञा दे दी । विषयाभिलाष मन्त्री कथित निकृष्ट राज्य के वृत्तान्त को सुनकर महामोह राज्य के समस्त अनुचर नाचने-गाने और आनन्दातिरेक से अपने हर्ष को विविध भाति प्रकट करने लगे । हर्षित होकर बधाइयां बाटने लगे । कहने लगे—जिस राजा ने अनन्त रत्नो से परिपूर्ण राज्य प्राप्त किया है वह तो हमारे हाथ मे है, हमारे वश मे है* वह तो और अपने लोगो को जानता भी नही । अतः हे भाइयो ! यह तो बहुत अच्छा हुआ । इस निकृष्ट राजा का राज्य तो हमारे लिए अत्यन्त सुखदायक हुआ । इस खुशी मे आओ, हम सभी आज अत्यन्त आनन्द से खाये, पिये, गाये और नाचे । [३९६-४००]

महामोह राजा के सभी नगर और गांवो में, जो भीलो की बस्तियो जैसे थे, प्रसन्नता की लहर फैल गयी । बधाइयाँ बांटी जाने लगी । लोग अपनी दुकाने सुन्दर ध्वज-पताकाओ से सजाने लगे । घातीकर्म नामक चोर अपने मन मे यह जानकर

---

* पृष्ठ ५८७

अत्यन्त उल्लसित हुए कि अब हमारा शासन चलेगा। इन्द्रिय चोरों को संतोष हुआ कि अब वे राज्य का सर्वस्व अपहरण कर अपना घर भरेंगे। कषाय लुटेरे भी यह जानकर प्रमुदित हुए कि अब उन्हे अधिक लूट का मौका मिलेगा। नो-कषाय डाकू भी हर्षित हुए कि अब वे अधिक डाका डाल सकेंगे। परीषह नामक दुष्ट योद्धागण लोगों को दुःख मे डुबा देने के विचार से आनन्दित हो रहे थे। उपसर्ग रूपी भयंकर सर्प भी प्रसन्न थे कि अब उन्हे अधिक लोगो को डसने का अवसर मिलेगा। मद्य आदि प्रमाद भी अब लोगो को अधिक पागल बनाने के विचार से प्रमुदित थे।

महामोह राजा का पूरा परिवार वैसे भी अभिमान से अन्धा और मदमस्त था, अब निकृष्ट राजा के राज्य मे तो वह क्या-क्या नही करे ? अर्थात् वह जो करे वह थोडा था। [४०१]

चारित्रधर्मराज की मन्त्रणा

इधर चारित्रधर्मराज के राज्य और सेना मे भी महामोह राजा द्वारा स्थापित निकृष्ट राजा के राज्य की घोषणा से जो प्रतिक्रिया हुई उसे भी बतलाता हूँ। 'निकृष्ट राजा होगा' यह घोषणा सुनकर चारित्रधर्मराज के राज्य मे भी विचार-चर्चा प्रारम्भ हुई कि यह निकृष्ट कैसा है और किस पद्धति से राज्य सचालन करेगा ? [४०२–४०३]

सद्‌बोध मत्री ने विचार कर कहा—देव ! वह निकृष्ट समस्त प्रकार से दुरात्मा एव अत्यन्त कुरूप है, ऐसा हमे मालूम हुआ है। वह दुरात्मा न तो अपने राज्य का नाम जानता है और न हम सब को पहचानता ही है, प्रत्युत वह हमे शत्रु मानकर हमारे साथ शत्रु जैसा व्यवहार करता है। हमारे बडे शत्रु मोह राजा के प्रति उसका इतना अधिक पक्षपात है कि वह मोह के साधनो को ही बढा रहा है और अपने स्वराज्य, देश या लोगों की तो कोई खबर ही नही लेता, बात भी नही पूछता। हम तो अभी दोहरी विपत्ति/मुसीबत मे आ फसे है। पहले से ही हम लोग मोह राजा द्वारा पराजित है दूसरा उस पर ऐसा निकृष्ट राजा हमारा स्वामी बना है। सचमुच भाग्य भी दुर्बल को ही मारता है। भाग्य के दोष से अभी जो निकृष्ट का राज्य हुआ है वह तो हमारे विनाश का ही समय है। मुझे लगता है कि सचमुच अब हमारा प्रलय-काल आ गया है। [४०४–४०८]

महामंत्री के उपरोक्त वचन सुनकर चारित्रधर्मराज, उनके पास खडे सभी छोटे राजा और समस्त परिवार निस्तेज हो गया। सभी का मुख उतर गया। जैसे घर में किसी प्रियजन की मृत्यु होने पर सारा परिवार शोक-ग्रस्त हो जाता है, हताश हो जाता है, दीनता से विकल हो जाता है, दारुण व्यथा से व्यथित हो जाता है वैसे ही निकृष्ट राजा के सम्बन्ध मे सद्‌बोध मन्त्री के मुख से विवरण सुनकर चारित्रधर्मराज के पूरे परिवार मे महाशोक छा गया। चारित्रधर्मराज के अधीनस्थ सात्विकपुर आदि अनेक नगरो और ग्रामो मे भी शोक फैल गया।*

* पृष्ठ ५८८

निकृष्ट की राज्य-प्राप्ति के समाचारो से चारित्रधर्मराज के सभी प्रदेशों के लोग आनन्द, हर्ष, उत्सवरहित होकर शोकमग्न हो गये एवं पूर्णतः दुःखी हो गये। [४०६-४१३]

अन्तरंग राज्य पर मोह राजा का आधिपत्य

एक ही घटना से एक तरफ मोहराज की सेना में आनन्द फैल गया तो दूसरी तरफ चारित्रधर्मराज की सेना मे शोक फैल गया, यह देख कर मुझे ऐसे निकृष्ट राजा और उसके गुणो को देखने का कुतूहल पैदा हुआ। मैंने अपने मन मे सोचा कि जिसके ऐसे गुण हैं वह निकृष्ट राजा कैसा होगा ? मुझे अवश्य ही देखना चाहिये। इन्ही विचार-तरगो में मैंने निर्णय किया कि जब वह अपना राज्य ग्रहण करने राज्य मे प्रवेश करेगा तब उसे देखूंगा। यही विचार कर मैं उसके राज्य मे जाकर उसे देखने के लिये उसके आने की प्रतीक्षा करने लगा, किन्तु निकृष्ट राजा जब अपने राज्य मे प्रवेश करने के लिये आया तो महामोह आदि तस्करों ने उसे राज्य मे प्रवेश ही नहीं करने दिया। इसके विपरीत महामोह आदि ने निकृष्ट राजा की सारी भूमि पर अधिकार कर लिया और चारित्रधर्मराज की सेना को घेरकर, नाश कर उस पर भी विजय प्राप्त कर ली तथा निकृष्ट राजा को उसके राज्य के बाहर धकेल दिया। हे देव ! इस प्रकार महामोहराज आदि तस्करो ने निकृष्ट राजा को बाहर निकाल कर, अन्तरग राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। [४१४-४१८]

बहिरंग राज्य का निरीक्षण

अन्तरंग राज्य की यह उथल-पुथल एवं दुर्दशा देखकर, हे देव ! बहिरग प्रदेश का अवलोकन करने की अभिलाषा से मैं बाह्य प्रदेश मे आ गया। हे देव ! वहाँ मैंने देखा कि अपने राज्य से भ्रष्ट निकृष्ट राजा यहाँ अत्यन्त दुःखी और दयनीय स्थिति मे है। वह नराधम पाप-कर्मो मे आसक्त, अत्यन्त दीन, अत्यन्त क्रूर, लोगो का निन्दापात्र, अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट और अन्य पर आधारित नपुंसक जैसा दिख रहा था। उसके शरीर पर फफोले और घाव दिख रहे थे, पूरा शरीर मैल से भरा हुआ था, पाप के ढेर जैसा लग रहा था और दूसरो का आज्ञापालक, परवश, दीन-दुःखी, लाचार, दयापात्र, नौकर जैसा लग रहा था। अपने राज्य से भ्रष्ट होकर वह निकृष्ट लोगों की दृष्टि मे भी दुर्भागी लग रहा था। यह तो सब ही जानते हैं कि "जो व्यक्ति अपने ही घर मे पराभव प्राप्त करता है वह बाहर तो पराभूत होता ही है।" अब वह निकृष्ट घास या लकड़ी बेचकर, हल चलाकर, पशु-पक्षियों को मारकर, पत्रवाहक बनकर और अनेक प्रकार के निन्दनीय कार्य कर तथा सैंकडो प्रकार के आक्रोश सहन कर बड़ी कठिनाई से अपना पेट भरता था। जो अत्यधिक दुःखी हो, अत्यन्त पापी हो क्रूर कर्म करने वाला हो, ढेढ-चमार जैसा हो वैसा ही वह राज्य भ्रष्ट होकर ढेढ-चमार जैसा लग रहा था। फिर भी उसे महामोह आदि

चोरो पर बहुत प्रेम था और उन्हें अपना हितेच्छु मानता था। चारित्रधर्मराज और उनके अधीनस्थ राजाओ का तो वह नाम भी नही जानता था। यह स्थिति देखकर कर्मपरिणाम राजा उस पर बहुत क्रोधित हुए और 'तुझे राज्य का पालन करना नही आता' यह कहकर बेचारे निकृष्ट को भवचक्र के पापीपिंजर नामक अति भयकर स्थान पर भेज दिया, जहाँ उसे अनेक बार अनन्त पीडाये दी गई और महादु.खी किया गया, ऐसा मैने सुना। [४१९-४३०]

निकृष्ट राज्य पर चिन्तन

अपने स्वामी अप्रबुद्ध को निकृष्ट के बारे में बतलाते हुए वितर्क ने आगे कहा—अहा ! एक तो बेचारा निकृष्ट अपने राज्य मे प्रवेश ही नही कर सका।* उसके प्रवेश के पहिले ही तस्करों ने उसके सम्पूर्ण राज्य का हरण कर लिया और उसकी अति उत्तम सेना भी घिर गई। परिणाम स्वरूप बेचारे ने यहाँ भी अनेक दु ख पाये, राज्य से भ्रष्ट हुआ और दूसरा नारकी मे जाकर वहाँ भी अनेक प्रकार के त्रास निरर्थक ही सहे। उस दुरात्मा निकृष्ट को यह सब दु खो का समूह और पीडा अज्ञान के कारण ही हुई है, क्योकि वह पापी अधमाधम जीव अपने राज्य को भी नही पहचान सका। यदि उसे पता होता कि उसका राज्य रत्नो से पूर्ण एव अति सुन्दर है और यदि उसे चारित्रधर्मराज की सेना का पता होता तो वह अपने सच्चे मित्रो को मित्र रूप मे ग्रहण करता और महामोहराज तथा उसकी सेना को अपना शत्रु समझता, जिससे उसे इतनी दुःख-परम्परा प्राप्त नही होती। यदि उसने सत्य को सम्यक् प्रकार से समझा होता तो अपनी शक्ति और नीति का भलीभाति उपयोग कर, चोर लोगो की सेना को भगा कर अपने राज्य पर निष्कटक राज्य करता। [४३१-४३६]

जो होना था वह तो हुआ ही। मुझे चिन्ता करने से क्या ? अब मुझे तो आपकी आज्ञानुसार दूसरे अधम के राज्य मे जाकर पता लगाना था, अत' वहाँ जाकर मैंने क्या अनुभव किया ? वह आपको सुनाता हूँ। [४३७]

---

* पृष्ठ ५८६.

१२. अधम-राज्य : योगिनी दृष्टिदेवी

वितर्क अपने स्वामी अप्रबुद्ध से बोला—हे देव। द्वितीय वर्ष के प्रारम्भ मे भी उसी प्रकार पटह (ढोल) बजाकर उद्घोषणा की गई कि अरे लोगो! इस वर्ष अधम का राज्य हुआ है, अतः खाओ, पिओ और मौज करो। इस बार भी मोह राजा और चारित्रधर्मराज की सेनाओ में प्रथम वर्ष की भाति अधम राजा कैसा होगा, इस सम्बन्ध मे विचार-विमर्श हुआ। मोह राजा की राज्यसभा मे महामोहराज के मंत्री विषयाभिलाष ने अधमराजा के स्वरूप और गुणों का जो विस्तार से वर्णन किया, उसे मैं बतलाता हूँ। [४३८-४४०]

मंत्री विषयाभिलाष कहने लगा—देखो, अधम के पिता ने इस अधम राजा को कैसा बनाया है? इस अधम का स्वरूप विस्तार से बतलाता हूँ :—

अधम का स्वरूप

यह अधम इस लोक (भव) मे गाढासक्त है। सर्व प्रकार के आनन्द भोगने का इच्छुक है। इस भव को ही सब प्रकार से पूर्ण मानता है। परलोक से विमुख है। धर्म और मोक्ष के प्रति इसको द्वेष है। अर्थ और काम पुरुषार्थ मे तल्लीन है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में अत्यन्त लुब्ध है। तप, दया, दान, शील, ब्रह्मचर्य आदि गुणों की हंसी उड़ाने वाला विदूषक है। अत. वह हमारा तो अत्यधिक प्रिय ही है। उसे भी हमारे प्रति प्रेम है। वह हमारा आज्ञापालक है। वह चारित्रधर्मराज और उसकी सेना का द्वेषी है, उनका एकान्ततः शत्रु है। उसे अभी तक अपने स्वराज्य का ज्ञान ही नही है। अपने बल, वीर्य और स्वरूप को भी वह नही जानता है। हम वास्तव मे चोर-लुटेरे है, यह भी वह नही जानता। इसलिये मुझे लगता है कि, हे देव! इसमें तनिक भी सदेह नही कि अधम का राज्य वस्तुतः हमारे हित के लिये ही निर्मित हुआ है। हमे केवल इतना ध्यान रखना है कि वह किसी भी प्रकार अपने राज्य में प्रवेश न कर सके, क्योकि एक बार यदि यह अपने राज्य मे प्रविष्ट हो गया तो हमारी चेष्टाओ को जानकर हमे पहचान लेगा। इस दुरात्मा अधम मे तनिक वीर्य, पराक्रम, शक्ति है, इसलिये इसे राज्य से बाहर ही रखना चाहिये। इसका राज्य मे प्रवेश हमारे लिये हितकर नही है। [४४१-४४७]

महामोह महाराजा ने पूछा—आर्य! दुरात्मा अधम * अपने राज्य में प्रवेश न कर सके और बाहर ही बाहर रहे इसके लिये कोई मार्ग हो तो विस्तारपूर्वक बतलाओ।

---

* पृष्ठ ५९०

विषयाभिलाष—देव ! मैंने अभी बताया था कि अधम अर्थ और काम मे अधिक आसक्त है, इसलिये हम सभी को मिलकर उसे बाह्य प्रदेश मे घन बटोरने और विषय सेवन मे इतना व्यस्त रखना चाहिये कि वह अपने अन्तरंग राज्य मे प्रवेश ही न कर सके।

महामोह ने आज्ञा दी कि, 'आर्य ! ऐसा ही करो। यह योजना सेना को बतला दो, जिससे अधम प्रतिपल धन और विषयों में डूबा रहे और अन्तरंग मे झांक भी न सके।' आज्ञा सुनते ही समस्त सैन्य योजना-पूर्ति में संलग्न हो गया। [४४८-४५१]

योगिनी दृष्टिदेवी की नियुक्ति

विषयाभिलाष मत्री की एक दृष्टि नामक पुत्री जो अत्यधिक चतुर, परम-योगिनी, अतिस्वरूपवान, विशालाक्षी एव आकर्षक थी और सभा मे बैठी थी, उसने महाराजा से कहा—देव। आपने तो देवता, दानवो और मनुष्यो को पहले ही जीत रखा है, फिर आपके समक्ष अधम की शक्ति भी कितनी सी है जो उस अकेले को जीतने के लिये आप सब तैयार हुए हैं। महाराज ! आप आज्ञा दे तो मैं अकेली ही उसे वश मे कर सकती हूँ, इसमे क्या बड़ी बात है। आप सब व्यर्थ में क्यो चिन्तित हो रहे है ? हे देव ! मै आपको विश्वास दिलाती हूँ कि थोड़े ही समय में मैं उसे राज्य-भ्रष्ट कर दूंगी, उसके अन्तरग राज्य से उसे दूर रखूंगी और आपका आज्ञाकारी बना दूंगी। मैं ऐसा उपाय करूंगी कि वह न केवल अपने बल और सेना से बेखबर रहे अपितु सदा अपनी सेना से रुष्ट रहे। हे देव ! मेरे इस कथन मे आप तनिक भी संशय नही करे। हे स्वामिन् ! यह तो आप मानते ही है कि मैं जहाँ जाती हूँ वहाँ स्पर्श आदि भाई-बहिन मेरे सहचारी रूप मे मेरे साथ ही रहते हैं और ये स्पर्श आदि अपने ही व्यक्ति है। मैं जिस किसी पुरुष को वशीभूत करने जाती हूँ उस समय भाव से आप सब लोगों का सामीप्य भी मुझे प्राप्त होता है। आपको स्मरण होगा कि गत वर्ष निकृष्ट राजा तो धन और विषय लोलुपता से रहित था, उसे भी मैंने आपके सान्निध्य में राज्य-भ्रष्ट कर पापीपिजर नरक मे पहुँचा दिया था। अत: इसे अपने अतरग राज्य मे जाने से रोकने मे तो कठिनता ही क्या है ? हे स्वामिन् ! अब आप विलम्ब न कर मुझे शीघ्र आज्ञा प्रदान करें ताकि मैं उस अधम राजा को उसके राज्य मे प्रवेश ही न करने दू।

महामोह राजा ने दृष्टि देवी को विश्वासपात्र और योग्य समझ कर अधम राजा को वश मे करने की आज्ञा दे दी और दृष्टि देवी तत्क्षण ही बाह्य प्रदेश मे अधम राजा के पास पहुँच गई। [४५२-४६०]

इधर चारित्रधर्मराज के मण्डल में भी अधम राजा के राज्य के समाचारो मे खलबली मच गई, समस्त मण्डल त्रस्त और भयभीत हो गया। जैसे गत वर्ष निकृष्ट के राजा बनने पर विचार-विमर्श हुआ था और सारे प्रदेश मे शोक फैल

गया था वैसे ही इस समय भी अधम राज्य के सवादो से समस्त साधु-मण्डल शोक-ग्रस्त हो गया । [४६१–४६२]

दृष्टिदेवी का प्रभाव

दृष्टिदेवी ने योगबल से सूक्ष्म रूप धारण किया और गुप्त रूप से अधम राजा की आँखो मे समा गई । दृष्टि के प्रभाव से अधम राजा स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य के निरीक्षण मे अधिक लोलुप हो गया और सौन्दर्य अवलोकन के अतिरिक्त ससार मे सुख का अन्य कोई कारण नही है, ऐसा वह मानने लगा । स्त्रियो के कटाक्ष, तिरछी नजर, इगितादि चेष्टायें, अगोपाग, हाव-भाव, लावण्य, हास्य, लीला, क्रीडा आदि को आंखे फाड-फाड़ कर देखने मे ही उसे आनन्द आने लगा । मूर्ख अधम राजा स्त्रियो के नेत्रो को नीलकमल, मुख को चन्द्रमा,* स्तनो को स्वर्णकलश और प्रत्येक अगोपाग मे सौन्दर्य की कल्पना करने लगा । वह स्त्रियो के विलास, लास्य, चपलता, नखरे, हाव-भाव देखने मे रस लेने लगा और रूपवती ललनाओ का नाटक देखकर प्रसन्न होने लगा । सुन्दर चित्र, आकर्षक वस्तुए और विशेषकर सुन्दर स्त्रियो को देखकर वह अति हर्षित होता । सौन्दर्य-दर्शन के ऐसे प्रसगो पर वह सोचता था—'अहो ! मुझे तो अतिशय सुख है, मुझे तो यहाँ स्वर्ग मिल गया है ! मैं पुण्यशाली हू कि मुझे निरन्तर आश्चर्योत्पादक रूप और सौन्दर्य के दर्शन प्राप्त होते है ।' इस प्रकार वह अधम रात-दिन सौन्दर्य-दर्शन मे इतना लुब्ध हो गया कि सोच ही न सका कि वह कौन है ? कहाँ से आया है ? और क्या कर रहा है ? [४६३-४७०]

दृष्टिदेवी के साथ ही उसके भाई-बहिन स्पर्शन आदि, स्वय महामोह राजा और उसकी सेना भी अपना-अपना काम कर रही थी । परिणामस्वरूप अधम राजा मे जो थोडा बहुत ज्ञान था वह भी नष्ट हो गया । यो अधम राजा धन और विषय सुख मे तल्लीन होकर बाह्य प्रदेश मे ही भटकता रहा । सारे समय रूप-दर्शन, धन बटोरना और इन्द्रियो के विषयों को भोगने मे ही उसने सुख और कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली । अपने राज्य, अपनी सेना, अपनी अखूट सम्पत्ति और अपने स्वय के राजा होने का तो उसे भान ही न रहा । दृष्टिदेवी, महामोह राजा और उसकी सेना को वह अपना हितेच्छु और मित्र मानने लगा और उन्ही का पूरा विश्वास करने लगा । इस प्रकार अधम को अपने विश्वास मे लेकर तस्कर सैन्य ने धीमे-धीमे उसका समस्त राज्य हडप लिया और अधम को अपना वशवद बनाकर, उसके समस्त समर्थको को मार-मार कर भगा दिया । [४७१–४७५]

इस प्रकार अधम राजा अपने राज्य से भ्रष्ट हुआ, अपने सच्चे हितैषियो से रहित हुआ और अपने शत्रुओ से घिरकर हतपराक्रम हुआ । दूसरों के अधीनस्थ रहने मे वह सुख मानने लगा । शब्दादि इन्द्रिय विषय जो दु ख रूप है और दु ख को उत्पन्न करने वाले है, उसे अज्ञानवश प्राणी सुख रूप मानता है । अर्थात् वास्तविक

* पृष्ठ ५६१

सुख क्या है और कहाँ है, इसे न जानने से विपरीतमति के कारण इन्द्रिय सुख को ही वह वास्तविक सुख मानने लगता है। वह अधम बाह्य प्रदेश मे ऐसा भटक गया कि उसकी तुलना राज्य कर्मचारी, अभिनेता, भाट, चारण या जुआरी से की जा सकती है। स्वयं राजा होते हुए भी वह ससार मे सर्वत्र अभिनेता और जुआरी के रूप मे पहचाना जाने लगा। महामोह राजा की सेना के प्रभाव मे वह दुनिया मे व्यभिचारी, महापापी, विवेकीजनो की दृष्टि में दयापात्र, नास्तिक, मर्यादाहीन और धर्मानुष्ठानों का द्वेषी बन गया। धर्म करने वालों को वह हास्य पूर्वक ढोगी, भोगहीन और भाग्यहीन कहने लगा और अर्थ तथा काम मे तल्लीन लोगो को विद्वान् मानने लगा। वह समझने लगा कि जिसकी स्त्री अपने वश में हो, जिसे नित्य नूतन सौन्दर्य दर्शन प्राप्त होता हो और जिसके पास अगणित धन हो उसे यही मोक्ष प्राप्त है, वही सच्चा सुखी है, अन्य सब तो व्यर्थ ही विडम्बना मात्र है। इस प्रकार अधम राजा ने बाह्य प्रदेश मे ही भटकते हुए अपना सर्वस्व खो दिया, अच्छे विचारो से वचित रहा और ऐसी निकृष्ट दशा में ही आनन्द मानने लगा। [४७६-४८२]

अन्यदा अधम को एक रूपवती चाण्डालिन स्त्री दिखाई दी और दृष्टिदेवी के प्रभाव से वह उस पर आसक्त हो गया। उसे अपनी कुल मर्यादा, लोकलज्जा, कलंक, अपयश, पाप या भविष्य का भी विचार न हुआ। न तो उसे लोकनिन्दा का भय हुआ और न ही उसने कार्य-अकार्य का विचार किया।* उस चाण्डालिन स्त्री के रूप-सौन्दर्य का लम्पट बनकर वह उसी की तरफ निर्निमेष दृष्टि से एकटक देखने लगा और अन्य समस्त व्यवहार भूल गया। अधम का ऐसा अति विपरीत लोकनिन्द्य तुच्छ व्यवहार देखकर सब लोग उसकी निन्दा करने लगे, तिरस्कार करने लगे और उसे फटकारने लगे। अर्थात् अन्तरग राज्य से भ्रष्ट होकर वह बाह्य प्रदेश मे भी जन-समूह से निन्दित हुआ। सब लोगो ने इकट्ठे होकर उस महान् अकार्य करने वाले अधम को राज्य से निकाल दिया; क्योकि "गुणो की ही सर्वत्र पूजा होती है।" फिर बाह्य प्रदेश मे भी अति भयकर दुःखो को सहन कर निकृष्ट की तरह अधम को भी कर्मपरिणाम राजा ने रुष्ट होकर, यह कहकर कि 'तुमने राज्य बहुत गलत ढग से किया, तुम्हे राज्य करना नही आता' पापीपिंजर नामक महा भयानक स्थान मे डाल दिया। यहाँ भी उसे अनन्तविध दुख प्रदान किये गये। [४८३-४९०]

वितर्क कहने लगा कि, उस समय मेरे मन में विचार आया कि निकृष्ट की तरह अधम राजा भी राज्य मिलने पर भी ऐसी दुरावस्था को प्राप्त हुआ, वह अपने राज्य, अपनी सेना और अपने बल-वीर्य को नही जान सका, इसका भी एकमात्र कारण उसका अज्ञान ही था अन्य कोई कारण नही। [४९१]

* पृष्ठ ५९२

१३. विमध्यम-राज्य

वितर्क तृतीय वर्ष के राजा का वर्णन करते हुए कहता है—देव ! तीसरे वर्ष मे विमध्यम को अन्तरंग राज्य सौपा गया । गत दो वर्षो मे जिस प्रकार घोषणा की गई थी उसी प्रकार इस बार भी की गई । गत वर्षो की भाति इस बार भी महामोह और चारित्रधर्मराज की सभाओ मे इस नये राजा के विषय मे विचार-विमर्श हुआ । [४६२-४६३]

महामोह राजा ने अपने मत्री विषयाभिलाष से पूछा—आर्य ! अन्तरग राज्य के इस नये राजा के गुणो के सम्बन्ध मे क्या जानते हो ? सुनाओ । [४६४]

उत्तर मे विषयाभिलाष बोला—महाराज ! यह नया राजा वैसे तो हमारे प्रति प्रेम दृष्टि रखने वाला होने से हमे प्रिय तो है, पर कभी-कभी यह चारित्रधर्म-राज की तरफ भी देख लेता है । यद्यपि वह अपने हृदय से हमे अपने भाई के समान ही मानता है तथापि चारित्रधर्मराज की सेना से भी अपेक्षा रखता है । इसका प्रेम एव पक्षपात हमारे प्रति अधिक है और चारित्रधर्मराज के प्रति आदर-सन्मान कम है । इसकी इस लोक के प्रति जैसी आसक्ति है वैसे ही वह परलोक के प्रति भी वाछा करता है, दृष्टि रखता है । इसका मन मुख्यत. धन बटोरने और काम भोगो मे आसक्त है, पर कभी-कभी सहज धर्मकार्य भी करता रहता है । यह प्रकृति से सरल, सभी देव-गुरुओ एव तपस्वीजनो की स्तुति करने वाला, दान देने वाला, शील पालन करने वाला और सत्शास्त्र पर किसी प्रकार का दूषण नही लगाने वाला है । हे देव ! यह हमारे लिये बहुत अच्छा नही है, क्योकि चारित्रधर्मराज की सेना के स्वरूप को भी सामान्यत जानता है । इस वर्ष हमे अधिक सावधान रहना पडेगा । जैसे भी हो वैसे इसे भी अन्तरग राज्य मे प्रविष्ट होने से रोकना पडेगा । यदि हमने थोडी सी भी भूल की तो अतरग राज्य मे प्रवेश करते ही यह अपनी सेना को पहचान लेगा और उसका * पालन-पोषण करेगा, तथा हमारी सेना के लिये बाधाये खडी कर देगा, यह नि.सदेह है । यह बाह्य प्रदेश मे रहकर ऊपर-ऊपर से स्वय की सेना का परिपालन करता रहे तो हमारे लिये अत्यन्त बाधक नही बन पायेगा । जैसे हमने पहले दृष्टिदेवी के सहयोग से अधम को उसके राज्य मे प्रवेश करने से रोका था, वैसे ही इसे भी रोकना पड़ेगा । अतएव हे स्वामिन् ! अब आप अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिये अविलम्ब आज्ञा प्रदान कीजिये, जिससे कि विमध्यम अपने राज्य मे प्रवेश कर अधिकार प्राप्त न कर सके ।

---

* पृष्ठ ५६३

यह सुनकर महामोह ने विमध्यम को उसके अन्तरग राज्य मे प्रवेश करने से रोकने की आज्ञा दे दी। [४९५-५०६]

विमध्यम का राज्य

आज्ञा मिलते ही मोह राजा के तस्कर सैनिको ने दृष्टिदेवी के सहयोग से विमध्यम को अपने अन्तरग राज्य मे प्रवेश करने से रोक दिया और उसके राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया। पर, इस बार चारित्रधर्मराज की सेना को अधिक पीड़ित नही किया और किंचित् उस सैन्य की अपेक्षा भी रखी। परिणाम-स्वरूप वह राज्य से वहिर्भूत होने पर भी आत्मीय राज्य और सेना का भी कभी-कभी मान-सन्मान के साथ पालन-पोषण करने लगा। विमध्यम ने रात-दिन के समय को तीन भागो मे वाट दिया था। वह समयोचित कुछ समय धर्म-कार्य करता, कुछ समय धनोपार्जन करता और कुछ समय विषय सेवन मे बिताता। वह धर्म, अर्थ और काम तीनो मे प्रवृत्ति करता था जिससे चारित्रधर्मराज आदि भी सतुष्ट थे और गत वर्षो की तरह शोक-मग्न भी नही थे। विमध्यम राजा की तुलना त्रिवर्ग (अर्थ, काम, धर्म) साधक सदाचारी ब्राह्मण या प्रजापालक राजा से की जा सकती है। इस पद्धति से वह विमध्यम लोगो मे भाग्यशाली और पुण्यवान के रूप मे प्रशसित भी हुआ। विमध्यम का पिता कर्मपरिणाम महाराजा भी अपने पुत्र की राज्यपालन पद्धति से कुछ प्रसन्न हुआ। फलस्वरूप उसने कभी विमध्यम को सुख पूर्ण संयोग वाले पशुसंस्थान मे भेजा तो कभी सुख-साधन युक्त मानवावास मे और कभी सुख से भरपूर विबुधालय (देवलोक) मे भी भेजा था, ऐसा मैने सुना। [५०७-५१६]

१४. मध्यम-राज्य

विमध्यम का राज्य समाप्त होने पर चौथे वर्ष मध्यम नामक चौथे पुत्र का राज्य प्रारम्भ हुआ। गत वर्षो की भाति इस बार भी उसकी नियुक्ति की घोषणा पटह बजाकर की गई। महामोह और उसके मंत्री के बीच भी गत वर्षो की ही तरह इस नये राजा के विषय मे विचार-विमर्श हुआ। महामोहराज द्वारा मध्यम के गुण और स्वरूप के सम्बन्ध मे पूछने पर विषयाभिलाष मत्री ने कहा :—

महाराज ! यह मध्यम राजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरुपार्थो में पूरे समय भाव-पूर्वक प्रयत्न करने वाला है। वह इन चार पुरुपार्थो

मे मोक्ष को ही सच्चा परमार्थ स्वरूप मानता है। वह यह भी जानता है कि मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने का वास्तविक साधन धर्म ही है, अत. वह अर्थ और काम मे अधिक आसक्त नही होता। यद्यपि वह धन और काम भोगो के दोषो को भली भाति जानता है, तथापि स्वयं में अत्यन्त विशाल पराक्रम के अभाव मे वह उसको परमार्थ से वन्धन/दोष स्वरूप ही समझता है! फिर भी इन बन्धनो को तोड़ने मे अभी वह अपने आपको असमर्थ पाता है। उसका चिन्तन सदा मोक्ष लक्ष्य की ओर ही रहता है, अर्थात् वस्तु स्वरूप को बराबर समझता है।* फिर भी यह नरपति आवश्यक सामर्थ्य के अभाव मे वन्धु, पुत्र, कलत्रादि इन भाव-बन्धनो को तोडने मे अक्षम है। [५१७-५२२]

वितर्क कहता है कि विषयाभिलाष मन्त्री ने महामोहराज आदि के सन्मुख मध्यम के स्वरूप गुणो का चित्रण किया वैसा ही मध्यम का स्वरूप-वर्णन मैने जनता के मुख से भी सुना।

अप्रबुद्ध—वितर्क! तुमने मध्यम के सम्बन्ध मे लोगो के मुख से और क्या-क्या सुना?

वितर्क—देव! सुनिये। सिद्धान्त गुरु ने जो बाते आपको पहले बतलाई थी उन्ही सिद्धान्त गुरु से इस मध्यम राजा की भी पहचान थी। सिद्धान्त गुरु ने एक बार मध्यम राजा को उद्देश्यपूर्वक समझा दिया था जिससे वह अपने आत्मिक अन्तरग राज्य को भी थोडा बहुत जान गया था। उनके उपदेश से वह अपनी ऋद्धि-समृद्धि और वास्तविक स्वरूप को तथा चारित्रधर्मराज के योद्धाओं को भी पहचान गया था। सिद्धान्त के वचनो से वह यह भी जान गया था कि महामोह आदि शत्रु कितने प्रबल तस्कर है। फलस्वरूप मध्यम राजा ने अपने वीर्य (वल) को थोड़ा-थोडा प्रकट कर अन्तरंग राज्य की आधी भूमि को अपने अधीन कर लिया। मध्यम राजा के सहायक चारित्रधर्मराज और उसके योद्धा भी इससे प्रसन्न हुए और मोह राजा आदि चोर-लुटेरे घबराये। महामोह आदि तस्कर भी मध्यम राजा की शक्ति को जान गये, अत अब उन्होने भी उसके राज्य को अधिकार मे करने के विचार का त्याग कर दिया और राजा के अनुचर जैसे बनकर उससे डरते हुए, भय खाते हुए उसके आस-पास ही मडराने लगे। चारित्रधर्मराज आदि राजा, सेना एव वान्धवजन भी अपने स्वामी की इतनी सामर्थ्य को देखकर मन मे किंचित् प्रसन्न हुए और दृष्टिदेवी जो पिछले राजाओ को वश करने मे समर्थ हुई थी वह भी मध्यम राजा के मार्ग मे अत्यन्त बाधक नही बन सकी, अर्थात् उसका कुछ भी नही बिगाड़ सकी। [५२३-५३२]

इस प्रकार मध्यम राजा ने अपने मण्डल को थोड़ा जीत लिया था और धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार करने की प्रतीक्षा करने लगा। वाह्य प्रदेश मे मध्यम

* पृष्ठ ५६४

राजा की बहुत प्रशसा हुई । लोग कहने लगे कि यह राजा सचमुच भाग्यवान और पुण्यवान है, इसको सत्य मार्ग प्राप्त हुआ है, यह धन्य है । [५३३-५३४]

अधिक क्या ? जैनेन्द्र-शासन मे प्रवृत्त जिन जीवो ने सत्य मार्ग प्राप्त किया है, जिनके मन मे सच्ची शुद्ध श्रद्धा जाग्रत हुई है, जो जीव, अजीव आदि तत्त्वो के जानकार है, जो अपनी शक्ति के अनुसार पाप से पीछे हटे हुए है, जो अपनी विशुद्ध लेश्या वैचारिक प्रवृत्ति से ससार के सभी प्राणियो को आह्लादित करते है, ऐसे प्राणी जिस प्रकार का आचरण करते है ठीक वैसा ही आचरण मध्यम राजा ने अपने राज्य को भोगते समय किया । तत्त्व को समझ कर परलोक और मोक्ष के लिये प्राणी जिस प्रकार का पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार का उद्यम करने वाला मध्यम राजा भी था । [५३५-५३८]

मध्यम राजा का पिता सार्वभौम नरपति कर्मपरिणाम महाराजा * अपने पुत्र की इस प्रवृत्ति से प्रसन्न हुआ और उसका राज्य-काल पूरा होने पर उसे असख्य सुखो से भरपूर विबुधालय (देवलोक) मे भेज दिया । [५३९-५४०]
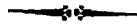
१५. उत्तम-राज्य

वितर्क अप्रबुद्ध से कह रहा है—निकृष्ट, अधम, विमध्यम और मध्यम इन चार प्रकार के राजाओ का भिन्न-भिन्न चरित्र और राजतन्त्र का अवलोकन करने के पश्चात् 'पाचवा उत्तम क्या करेगा और किस प्रकार राज्य का पालन करेगा ?' इस सम्बन्ध मे मुझे जानने की उत्सुकता जाग्रत हुई । गत वर्षो की भाति इस वर्ष भी उत्तम राजा के राज्यारभ की घोषणा देश के सभी नगरो और ग्रामो मे हुई । घोषणा सुनकर अन्तरग राज्य के अधिपति चारित्रधर्मराज और महामोहराज की सभाओ मे भी इस नये राजा के विषय मे ऊहा-पोह एव विचार-विमर्श हुआ । [५४१-५४३]

सद्बोध मत्री ने सेना मे शाति तथा धैर्य बनाये रखने के लिए चारित्रधर्म-राज के समक्ष उत्तम राजा के स्वरूप और गुणो का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा—

भाइयो ! इस नये राजा से आप लेशमात्र भी न घबराये । यह राजा बहुत अच्छा, हमारे प्रति प्रेम रखने वाला और हमारे आनन्द मे विशिष्ट वृद्धि करने

* पृष्ठ ५६५

वाला है। यह राजा जानता है कि उसका यह राज्य अनेक अमूल्य रत्नो से समृद्ध है। यह हमारी सेना के प्रत्येक नायक को उसके नाम और गुणो से जानता है और उन गुणो का स्वय उसके साथ क्या सम्बन्ध है उसे भी जानता है। पुन हमारी सेना कैसी है? कितनी है? सेनापतियों के क्या-क्या गुण है? हमारे कौन से स्थान, ग्राम, नगर, प्रदेश आदि है तथा अन्तरग राज्य मे कौन-कौन चोर है और कौन शुद्धाचरण वाले है? इसे भी वह जानता है। इस राज्य मे किस प्रकार की परिस्थिति उत्तम है? इस समस्त वस्तुस्थिति को भी उत्तम भूपति समझता है। इतना ही नही, समझी हुई बात को क्रियान्वित करने के लिए भी सर्वदा तत्पर रहता है, जिससे हमारी सेना की बल-शक्ति मे वृद्धि होती है और हमारे यश तथा तेजस्विता मे भी वृद्धि होती है। वह महामोह आदि हमारे शत्रुओ को पहचानता है तथा उनको दबाकर रखने वाला और उनका नाश करने वाला है। एक राजा के योग्य सभी गुणो से अलकृत होने के कारण यह राजा हमारे लिए श्रेष्ठ है और इसका राज्य परमार्थ से हमारा राज्य हो गया है, ऐसा आप समझे। देव! इस सम्बन्ध मे सदेह की कोई गु जाइश नही है। [५४४–५५०]

सद्बोध मंत्री के उपरोक्त वचन सुनकर चारित्रधर्म आदि राजाओ के मुख-कमल प्रफुल्लित हो गये। फिर उन्होने आनन्दित होकर आश्चर्यजनक हर्ष-महोत्सव मनाया और परस्पर अभिनन्दन किया तथा बधाईया बाटने लगे। सभी राजा आनंद रस में लीन होकर गाने लगे—

अहो! इस उत्तम राजा के प्रकर्ष-पूर्ण प्रबल राज्य मे समग्र तस्कर-समूह के बल का दलन (हनन) कर दिया जायेगा। अल्प समय मे ही यह राज्य उत्तम/श्रेष्ठ प्रकार का हो जायेगा और विशेष रूप से इसका राज्य साधुजनो को अतिशय आनन्द प्रदान करने वाला हो जायेगा। [५५१–५५३]

इधर उत्तम-राज्य की स्थापना के समाचार सुनकर महामोह राजा की सेना तो हताश हो गई। 'अरे मर गये!' कहते हुए वे सचमुच अधमरे से हो गये। वे सोचने लगे कि, अब कहाँ जाये? कहाँ भागे? जीवन-रक्षा कैसे करे? क्या करे? इन्ही विचारो मे आकुल-व्याकुल होकर वे घबराने और दु खी होने लगे। [५५४–५५५]

अपने पिता कर्मपरिणाम महाराजा से राज्य प्राप्त कर उत्तम राजा पहले सिद्धान्त गुरु के पास गया और उनसे आन्तरिक राज्य की गुप्त स्थिति के बारे मे पूछा। उत्तम ने कहा—महाराज! इस अति दुर्गम राज्य मे मुझे कैसे प्रवेश करना चाहिये?* महा प्रचण्ड चोरो का नाश कैसे करू? किस नीति से राज्य करने पर यह विशाल राज्य मेरे वश मे होगा? मेरी पौरुष-शक्ति का उपयोग मुझे कहाँ करना चाहिये? पूज्यवर! आप विधिवेत्ता है, आप सब कुछ उपाय/मार्ग जानते है,

* पृष्ठ ५९६

अत: मुझे ऐसा मार्ग बताइये जिससे मेरा राज्य निष्कंटक हो और मुझे अन्य किसी से भी त्रास प्राप्त न हो सके। [५५६–५५९]

उत्तर मे सिद्धान्त गुरु ने उत्तम से कहा— वत्स ! तू सचमुच राज्य करने के योग्य है, यह नि:सन्देह है। क्योकि, तुझे मोक्ष-प्राप्ति की प्रबल इच्छा है और उसी के लिये तू धर्म की साधना करता है। तू विरत होकर ससार से दूर होता जा रहा है। तू अर्थ और काम से पराङमुख होता जा रहा है। ये सभी योग्य लक्षण है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होने वाले को आनुषगिक रूप से जो यश और सुख प्राप्त होता है उसमे वह मोहित/लुब्ध नही होता, इसीलिए वे बन्ध के कारण नही बनते। मैं तुझे भी ऐसा ही देख रहा हूँ। इस संसार का सभी प्रपंच तुझे स्पष्टत: दिखाई दे रहा है। उसके रहस्य और विपमता को तूने समझ लिया है, इसीलिये पिता द्वारा सौंपे गये राज्य को भी तूने पहचान लिया है। हे नरोत्तम ! इस राज्य मे प्रवेश करने की विधि बतलाता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। [५६१–५६४]

राज्य-प्रवेश का उपाय

राजन् ! अन्तरग राज्य में प्रवेश करने से पहले गुरु महाराज से पूछना। गुरु महाराज जो उपदेश दे/मार्ग बतावे उस पर सम्यक् प्रकार से आचरण करना। वेद मत्रो से मत्रित अग्नि की जिस प्रकार अग्निहोत्री रक्षा करता है उसी प्रकार गुरु महाराज की सेवा/उपासना करना। धर्मशास्त्रो का मननपूर्वक अभ्यास कर तलस्पर्शी ज्ञाता बनना। उनमे वर्णित सिद्धान्तो/रहस्यो का गहन-चिन्तन करना और उन्हे समझकर हृदय को उन पर दृढ करना। धर्मशास्त्रो मे बताई हुई क्रियाओ/अनुष्ठानों का पालन करना। सत महात्माओ की पर्यु पासना/सेवा करना। दुर्जन मनुष्यों से सर्वदा दूर रहना और उनके परिचय का त्याग करना। १. सर्व प्राणी अपने समान ही है, ऐसा समझ कर उनकी रक्षा करना, उन्हे प्राणदान देना, २. सर्व प्राणियों को हितकारी, मधुर, अवसर योग्य और सोच-समझ कर सत्य वचन बोलना, ३. दूसरे के धन का तिल मात्र भी बिना स्वामी की आज्ञा के नही लेना, ४. समस्त स्त्रीवर्ग के साथ सभाषण, स्मरण, कल्पना, प्रार्थना, वार्तालाप आदि नही करना, उनके सामने एकटक नही देखना और ५. बाह्य तथा अन्तरग सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करना। आत्म-सयम मे विशेष उपकारी साधुवेष को धारण करना। नव कोटि विशुद्ध आहार, उपधि, शैय्या आदि से अपने शरीर का निर्वाह करना और ग्राम-नगर आदि मे नि.स्पृह होकर अप्रतिबद्ध विहार करना। तद्रा, ऊघ, निराशा, आलस्य और शोक को निकट आने का अवसर भी नही देना। सुकोमल स्पर्श पर मूर्छित न होना, स्वादिष्ट रस का लोलुप न बनना, सुगन्धित पदार्थों पर मोहित न होना, कमनीय रूप सौन्दर्य पर आसक्त न होना और मधुरध्वनि पर लुब्ध न बनना। कर्कश शब्दो के प्रति उद्वेग न करना, वीभत्स रूप को देखकर जुगुप्सा न करना, अमनोज्ञ रस को देख कर द्वेष न करना, दुर्गन्धित

पदार्थों की निन्दा न करना और अरुचिकर स्पर्श की गर्हा न करना। प्रत्येक क्षण अत्यन्त विशुद्ध भाव-जल से धोकर आत्मा को स्वच्छ रखना। सर्वदा मन में समस्त प्रकार से सतोष रखना, विचित्र प्रकार का* तप करना, पांच प्रकार का स्वाध्याय करना, सर्वदा अन्तः करण को परमात्मा मे स्थापित करना और पाच समिति एव तीन गुप्ति से पवित्र मार्ग पर निरन्तर चलना। क्षुधा, प्यास आदि २२ परिषहो को सहन करना, देव-मनुष्यादि कृत उपसर्गो को सहन करना, बुद्धि, धैर्य तथा स्मृति के बल मे यथाशक्य वृद्धि करना और जिन शुभ योगो की प्राप्ति न हुई हो उन्हे प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना।

उक्त मार्ग का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करने से अन्तरग राज्य मे प्रवेश हो सकता है, तुझे भी इसी मार्ग पर चलकर राज्य मे प्रवेश करना चाहिये।

उत्तम राजा बोले—जैसी भगवन् की आज्ञा।

अंतरंग राज्य का मार्ग

इसके पश्चात् सिद्धात गुरु ने अपना उपदेश आगे चलाया—वत्स! उपरोक्त पद्धति से अन्तरग राज्य मे प्रवेश करते समय तुम अभ्यास नामक व्यक्ति को अपने अगरक्षक (विशेष सहायक) के रूप मे अवश्य साथ रखना। ऐसा करने पर चारित्रधर्मराज की सेना का वैराग्य नामक योद्धा भी सहयोगी के रूप मे तेरे साथ आ जायेगा। इन दोनो अभ्यास और वैराग्य को साथ मे लेकर तुम अन्तरग राज्य मे प्रवेश करना। महामोह राजा की सेना के किसी भी व्यक्ति को बाहर मत आने देना। यदि कोई बलात्कारपूर्वक बाहर आने का प्रयत्न करे तो उसे देखते ही मार देना (मोह के उदय को निष्फल कर देना)। चारित्रधर्मराज की सारी सेना को धैर्य बधाना और चित्तवृत्ति राज्य-भूमि को स्थिर करना। मैत्री, मुदिता, करुणा, और उपेक्षा नामक चार महादेवियो को इस राज्य भूमि मे प्रवर्तित करना और उनके प्रसार को अधिकाधिक बढाकर उनसे राज्यपालन मे सहायता लेना। जब यह सब सामग्री तैयार हो जाये, तब तू पूर्व दिशा के द्वार से अन्तरग राज्य मे प्रवेश करना। इस अन्तरग भूमि के उत्तर दिशा की (बायी) ओर महामोह राजा की सेना के आधारभूत उपयोग मे आने वाले ग्राम, नगर, घाटी, नदी, पर्वत आदि है। दक्षिण की (दायी) तरफ चारित्रधर्मराज की सेना से सम्बन्धित ग्राम, नगर आदि है। इन दोनो सेनाओ की आधारभूमि तो चित्तवृत्ति महाटवी ही है। इस चित्तवृत्ति अटवी के अन्त मे पश्चिम दिशा मे निर्वृत्ति नामक नगरी है। चित्तवृत्ति अटवी को पार करने के बाद सामने ही निर्वृत्ति नगरी है। जब तू निर्वृत्ति नगरी मे पहुचेगा तब तेरे सारे मनोरथ पूर्ण होगे और तुझे अन्तरग राज्य-प्राप्ति का वास्तविक फल प्राप्त होगा, अत. इस नगरी मे पहुचने का तू यथाशक्य पूर्ण प्रयत्न करना। चित्त-वृत्ति अटवी के मध्यभाग मे होकर औदासीन्य नामक एक अतिसुगम राजमार्ग जाता

---

* पृष्ठ ५६७

है । यह मार्ग चारित्रधर्मराज की सेना को अत्यन्त प्रिय है । इस मार्ग को महामोह राजा की सेना स्पर्श भी नही कर सकती । इस मार्ग पर अनवरत चलकर तू निर्वृत्ति नगरी की ओर जाना । इस मार्ग पर तुझे पहले अध्यवसाय नामक विशाल सरोवर मिलेगा । इस सरोवर की विशेषता यह है कि जब यह गदा होता है तब स्वाभाविक रूप से महामोह राजा की सेना का पोषण करता है और चारित्रधर्मराज की सेना को उत्पीडित करता है, किन्तु जब यह स्वच्छ होता है तब प्रसन्नतापूर्वक स्वाभाविक रूप से चारित्रधर्मराज के सैन्य को पुष्ट करता है और महामोह राजा के सैन्य को * दुर्बल बनाता है । यही कारण है कि महामोह की सेना अपने हित के लिये इसे दूषित करती रहती है और चारित्रधर्मराज की सेना अपने उपकारार्थ इसे स्वच्छ करती रहती है । तू इस अध्यवसाय महासरोवर को स्वच्छ करने के लिये मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षा महादेवियों को नियुक्त कर देना, क्योकि ये चारो देविया इस सरोवर को निर्मलतम/स्वच्छतम बनाने मे अत्यन्त चतुर है । इस सरोवर को स्वच्छ करने से चारित्रधर्मराज की सेना अधिक बलवान होगी, जिससे तेरे अधीनस्थ राजा भी पुष्ट होगे और महामोह राजा की सेना बलहीन हो जायेगी, तब ही तू आगे प्रयाण कर सकेगा । आगे जाकर तुझे इसी सरोवर मे से निकली हुई धारणा नामक महानदी मिलेगी । तब तू अपने आसन को स्थिर कर, हलन-चलन को रोक कर, श्वासोच्छ्वास को बन्द कर, सकल इन्द्रियो के व्यापार को रोक कर, अति वेग से चलकर नदी मे प्रवेश कर जाना । इस समय महामोह आदि भयकर शत्रु नदी मे सकल्प-विकल्प की उत्ताल तरगे पैदा करेगे, पर तू अत्यन्त सावधानी पूर्वक इन तरगो को उठते ही शात कर देना । जब तू धारणा नदी को पार कर आगे बढ़ेगा तब तुझे धर्म-ध्यान नामक दण्डोलक (पगडण्डी) मिलेगी । इस पगडण्डी से आगे बढने पर तुझे सबीजयोग नामक बडा रास्ता मिलेगा । इस रास्ते पर चलते हुए तेरे महामोहादि समग्र शत्रुओ का प्रतिपल नाश होता जायगा और उनके निवास स्थान भी सब अस्त-व्यस्त होकर विनाश की अवस्था को प्राप्त होते जायेगे । इस मार्ग पर चारित्रधर्मादि अनुकूल मित्र अधिक बलवान होगे । तेरी सम्पूर्ण अन्तरग राज्य-भूमि अधिकाधिक स्वच्छ और विशुद्ध होती जायेगी । पहले उसमे जो राजस् और तामस् वृत्तिया थी, उनका अब नामो-निशान भी नही रहेगा । इस मार्ग से आगे बढने पर एक ओर शुक्ल ध्यान नामक दण्डोलक आयेगा । दण्डोलक से चलकर आगे बढने पर तुझे विशुद्ध केवलालोक की प्राप्ति होगी, जिससे तू सभी वस्तुओ और भावो को यथावस्थित शुद्ध आकार मे देख सकेगा । यह दण्डोलक आगे जाकर निर्बीजयोग नामक बडे मार्ग से मिल जायेगा । इस मार्ग पर चलते हुए भयकर शत्रुओ का शमन करने के लिये तुझे केवली-समुद्घात नामक कठिन प्रयत्न करना पड़ेगा । ऐसा करके तू योग नामक तीन दुष्ट वैतालो का नाश कर सकेगा ।

---

* पृष्ठ ५९८

योगो के नष्ट होने के पश्चात् शैलेशी मार्ग आयेगा, इस मार्ग पर चलना। इस पर चलकर ही तू अन्त मे निर्वृत्ति नगरी पहुँच सकेगा। यह नगरी सर्वदा स्थिर रहती है और यहाँ किसी प्रकार की रुकावट या पीड़ा नही होती, इसीलिये इसका नाम निर्वृत्ति नगरी रखा गया। यदि तू उदासीनता नामक राज्य मार्ग को छोड़कर इधर-उधर नही भटकेगा तो तुझे उपरोक्त सभी स्थान क्रमशः प्राप्त होते जायेंगे। इस मार्ग पर चलते हुए तू अपने पास समता नामक योगनलिका (दूरबीन) अवश्य रखना और इस योगनलिका के प्रयोग द्वारा तू दूर के पदार्थों की स्थिति भी बराबर देखते रहना। फिर तू स्वयं ही सभी वस्तुओ के यथावस्थित सत्य स्वरूप को देख सकेगा और प्रत्येक अवसर पर आवश्यक एवं समयोचित कदम उठा सकेगा। अर्थात् इस समता योगनली द्वारा तू स्वयं ही सब कुछ निर्णय कर सकेगा। इसलिये अब तुझे अधिक उपदेश देने की आवश्यकता नही है।

हे वत्स ! इस निर्वृत्ति नगरी मे तो सर्वदा आनन्दोत्सव चलते ही रहते हैं, अतः यहाँ पहुंचकर ही तू अन्तरंग * राज्य-प्राप्ति का वास्तविक फल और लाभ का भोक्ता बन सकेगा। उस समय तुझे किसी भी प्रकार की बाधा-पीड़ा नही रहेगी। सम्पूर्ण शत्रु-समूह के नाश से तू निर्भय हो जायगा। हे भाग्यशालिन्! वहाँ तू सर्वदा आनन्द की लहरों में मग्न रहेगा। तेरे साथ जो अन्तरंग राज्य के राजा हैं उन्हे भी समृद्धि प्राप्त होगी और तुझ मे लय होकर वे भी तेरे साथ आनन्द का भोग करेंगे। [५६५-५६७]

वत्स ! तू यह भी लक्ष्य में रखना कि अन्तरग राज्य मे प्रवेश करते ही तू पहले तेरे शत्रुओं का नाश करने वाले पराक्रमी योद्धा वैराग्य को प्रमुख बना देना और मार्गों के जानकार अभ्यास को अपने साथ रखकर उसके मार्ग-दर्शन में ही आगे बढना। हे महाभाग ! इन दोनों की सहायता से राज्य मे प्रवेश करने के पश्चात् पद-पद पर तेरी समृद्धि मे वृद्धि होगी। अधिक क्या कहूँ ? संक्षेप में तुझ से यही कहना है कि तू इस राज्य मार्ग का कभी त्याग मत करना, अपने अन्तरग शत्रुओ का नाश करते रहना, बाह्य संपत्ति या आकर्षणो के प्रति आसक्त मत होना, चारित्र-धर्म आदि तेरे हितेच्छुओं का सम्यक् प्रकार से पालन-पोषण करना और मेरे उपदेश को बारम्बार स्मरण करते रहना। हे वत्स ! यदि तू इस प्रकार करेगा तो तेरा सब प्रकार से कल्याण होगा। वत्स ! अब तू जा और निर्मल राज्य कर। तुझे सिद्धि, लाभ और राज्यफल प्राप्त होगे और मेरा परिश्रम/प्रयत्न भी सफल होगा। [५६८-५७२]

"जैसी भगवान् की आज्ञा" कहते हुए उत्तम राजा ने प्रस्थान किया।

उत्तम का उपदेशानुसार अनुष्ठान

महात्मा सिद्धान्त गुरु के उपदेश के अनुसार ही बुद्धिशाली उत्तम राजा ने अन्तरग राज्य में प्रवेश किया और उनके मार्ग-दर्शनानुसार ही अपने सभी कर्त्तव्य पूर्ण किये। [५७३-५७४]

* पृष्ठ ५९९

हे देव ! महामोह आदि शत्रुओं ने पहले की ही भांति उत्तम राजा को वश मे करने की कामना से योगिनी दृष्टिदेवी को नियुक्त किया, किन्तु वह उसे वश में करने मे असमर्थ रही, प्रत्युत उत्तम राजा ने ही उसे अपने वश मे कर लिया। इतना ही नही, अन्त मे महामोह आदि समस्त शत्रुओं पर उसने विजय प्राप्त करली । [५७५-५७६]

तदनन्तर उत्तम ने धीमे-धीमे समस्त शत्रुवर्ग का नाश कर दिया और निष्कण्टक तथा दिन-प्रतिदिन वर्धमान, प्रताप/समृद्धि सम्पन्न सुन्दर राज्य को प्राप्त कर अपनी सेना का भली प्रकार पालन करते हुए समस्त प्रजा को आह्लादित करने लगा । उसने निर्वृत्ति नगरी के मार्ग को नही छोड़ा, इधर-उधर नही भटका, इसलिये वह लोगों में श्लाघा/प्रशसा को प्राप्त हुआ । लोग बारम्बार उसका गुण-गान करने लगे कि, उत्तम राजा धन्य है, कृतकृत्य है । यह महाभाग्यवान् कर्त्तव्य-पालक नरश्रेष्ठ उत्तम पुण्यवान् महात्मा है, जिसने अपने पुण्य-कर्मो के माध्यम से राज्य का बहुत अच्छे ढंग से पालन किया । [५७७-५७९]

फिर तो देवता, दानव, मनुष्य, इन्द्र और चक्रवर्ती भी उसकी अनेक प्रकार से स्तुति करने लगे । निष्कटक मुक्ति-मार्ग की ओर प्रयाण करते हुए उसने सर्वोच्च सन्मान/पूजा प्राप्त की । अनेक सुखों से परिपूर्ण त्रिभुवन प्रसिद्ध अन्तरग राज्य का पालन करता हुआ, सिद्धान्त गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ वह निर्वृत्ति नगरी के निकटतर पहुँचने लगा । औदासीन्य मार्ग से चलता हुआ तथा वैराग्य और अभ्यास की सहायता से उपरोक्त सरोवर, रास्तो, पगडण्डियो और नदियो को पार करता हुआ, निरन्तर प्रगति करता हुआ वह आगे बढता रहा। आत्मविकास की सारी प्रक्रियाओ को क्रमश. सम्पन्न करता हुआ वह सर्वदा आनन्दोत्सव से ओत-प्रोत निर्वृत्ति नगरी मे पहुँच गया और* अन्तरग राज्य के सर्वोत्तम फल को प्राप्त कर उसको भोगने मे समर्थ हुआ । [५८०-५८३]

हे देव ! मैने तो यहाँ तक सुना है कि इस निर्वृत्ति नगरी मे न मृत्यु है, न वृद्धावस्था है, न पीडा है, न शोक है, न उद्वेग है, न भय है, न क्षुधा है, न तृषा है और न किसी प्रकार का उपद्रव ही है । वहाँ तो स्वाभाविक, बाधा-पीडारहित, स्व-स्वाधीन, अनुपम अनन्त सुख ही सुख है । मोक्ष का सुख वर्णनातीत और तर्करहित है। इस उपमातिग सुख का अनुभव तो किसी सम्पूर्ण ज्ञानी या विशिष्ट महायोगी को ही हो सकता है । [५८४-५८५]

इस प्रकार राज्य का पालन करने से उत्तम भूपति निर्वृत्ति नगरी को प्राप्त कर सका और इस नगरी मे पहुँचकर वह चिन्तारहित बन गया । तत्पश्चात् उसने उसको राज्य प्रदान करने वाले अपने पिता कर्मपरिणाम महाराजा को पराजित कर, विजयश्री प्राप्त करली । फलस्वरूप उसे ढोक (कर, चौथ) देने की भी

* पृष्ठ ६००

आवश्यकता नही रही। वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हो गया और अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन से परिपूर्ण होकर, समस्त क्रियाओं से रहित होकर निरन्तर रमण करने लगा। चित्तवृत्ति महाराज्य का सफलतापूर्वक पालन/रक्षण करने के फलस्वरूप उसे अनन्त काल तक निर्वृत्ति नगरी मे निवास करने का सुयोग मिला। [५८६-५९०]

हे देव! इस प्रकार अपने राज्य का विधिपूर्वक पालन कर वह उत्तम महीपति निर्वृत्ति नगरी मे पहुँचा। [५९१]

१६. वरिष्ठ-राज्य

कर्मपरिणाम राजा ने छठे वर्ष मे अपने छठे पुत्र वरिष्ठ को राज्य के सिंहासन पर स्थापित किया। गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी नये राजा के स्थापित किये जाने की घोषणा ढोल बजाकर की गई। महामोहराज और चारित्र-धर्मराज की राज्यसभा मे भी उनके मन्त्रियो ने नये राजा के गुणों के विषय में विस्तृत जानकारी दी। महामोहराज आदि तस्कर तो इस नये राजा के विषय मे सुनकर आनन्दहीन, निस्तेज और अभिमानरहित होकर मृतप्राय. हो गये। चारित्र-धर्मराज की सेना अत्यन्त हर्षित हुई। सम्पूर्ण साधु-मण्डल अतिशय प्रमुदित हुआ और उन्होंने पूरे देश मे बधाइयाँ भेजी। उत्तम राजा ने राज्य-साधन मे जो कुछ किया था वही इस वरिष्ठ राजा ने भी किया, अत. उसका फिर से वर्णन करना अनावश्यक है। इस राजा की विशेषता यहाँ बतला रहा हूँ। [५९२-५९६]

इस राजा का सिद्धान्त गुरु से पहले कई बार परिचय हो चुका था और वह स्वयं भी बुद्धिशाली होने से उसने सिद्धान्त गुरु के वचनों/निर्देशों का अनुसरण किया था। अतः अभी राज्य-प्राप्ति के समय उसे सिद्धान्त गुरु से पूछने की आवश्यकता नही रही थी। 'राज्य क्या है और उसे प्राप्त करने के साधन क्या हैं?' इस विषय मे भी उसे मार्ग-निर्देश/उपदेश की आवश्यकता नही रही, क्योंकि यह महाभाग्यशाली वरिष्ठ सम्पूर्ण राज्य-परिस्थिति को पहले से ही जानता था, उसके हेतु और साधनो को भी जानता था और सम्पूर्ण अन्तरंग राज्य-मार्ग को देख सकता था। वरिष्ठ महाराजा अपनी स्वयं की शक्ति से राज्य पर स्थापित हुए थे, अत. अनेक बहिरंग राज्य के महात्मा उनकी पदाति सेना मे भर्ती हो गये। वरिष्ठ की सेना मे प्रविष्ट महात्मा भिन्न-भिन्न गणो/समुदायो में बाह्य

प्रदेश में होने से * उन गणों का संचालन करने से वे गणधर कहलाये। वरिष्ठ राजा स्वयं सिद्धान्त के ज्ञाता थे, परन्तु परोपकार की दृष्टि से उन्होंने अपने गणधरो को सिद्धान्त का उपदेश दिया। राजा की आज्ञा से सिद्धान्त को आदरपूर्वक प्राप्त कर गणधर सिद्धान्त के शरीर को सुन्दर बनाते है, परिष्कार करते हैं। पश्चात् ये गण-धर सम्यक् प्रकार से निर्णय और सस्कार कर सिद्धान्त के अंग और उपांगों की स्थापना करते है। यद्यपि परमार्थ की दृष्टि से तो सिद्धान्त अजर-अमर ही हैं, फिर भी लोक में तो यही प्रसिद्ध हुआ कि इसकी रचना वरिष्ठ राजा ने की है। राज्य-साधन में वरिष्ठ का कोई उपदेष्टा नही था। उसने तो स्वय के ज्ञान-बल से ही राज्य-साधन किया था। वह वरिष्ठ भूपति किसी के सहयोग की अपेक्षा नही रखता था, महाभाग्यशाली था, स्वकीय शक्ति-पराक्रम से युक्त था, परापेक्षी नही था और स्वयं ज्ञानी था। [५९७-६०७]

वरिष्ठ राजा का स्वरूप

वरिष्ठ राजा के सम्बन्ध मे जो लोकवार्ता चल रही थी उसी को सुनकर मै जान पाया कि कर्मपरिणाम पिता ने वरिष्ठ राजा को कैसा बनाया? वही मैं आपसे निवेदन करता हूँ।

यह नरेश्वर वरिष्ठ भगवान् सर्वदा परोपकार के लिये आतुर रहते। अपने स्वार्थ को तो उन्होने तिलाजलि दे रखी थी। वे सर्वदा उचित क्रिया में तत्पर रहते, देव और गुरु का बहुमान रखते और किसी भी प्रकार की दीनता से रहित एव ओजस्वी हृदय वाले थे। वे कार्य प्रारम्भ से लेकर अन्तिम सफलता तक दीर्घ-दृष्टि से देखने वाले, कृतज्ञ, परमैश्वर्य युक्त, किसी पर पूर्व-वैर से शत्रुता न रखने वाले और धीर-गम्भीर आशय वाले थे। वे परीषहों की अवज्ञा करने वाले, उपसर्गों से निर्भय, इन्द्रियसमूह के प्रति निश्चित, महामोहादि शत्रुओ को तृणवत् समझने वाले, चारित्रधर्मराज आदि अपने सैन्यबल पर आत्मभाव रखने वाले और सम्पूर्ण लोक का उपकार करने की अत्यधिक अभिलाषा रखने वाले थे।

चोरों को हटाकर वरिष्ठ महाराजा द्वारा अपने राज्य में प्रवेश करते ही लोगों में अत्यन्त आनन्द छा गया। उसी समय उनका राज्य दिव्यराज्य में परिणत हो गया। पश्चात् निरंतर आनदोत्सव से परिपूर्ण राज्य को भोगते हुए महाराजा का बहिरंग ऐश्वर्य कैसा था? वर्णन करता हूँ, सुनो! जिनके जगमग करते मुकुट, बाजूबन्द, हार और कुण्डलों से चारों दिशाएँ प्रकाशित होती है। ऐसे इन्द्र इन महाराज के पदाति होकर रहते है। तीनों लोक के देवता, मनुष्य और असुर महा-राज के अनुचर ही हों ऐसा आचरण करते है। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल लोक की समस्त समृद्धि इनके चरणो में निवास करती है। फिर भी वे तो सर्व प्रकार से पूर्णतया निःस्पृह है। [६०९-६१३]

---

* पृष्ठ ६०१

वरिष्ठ महाराज जिस मार्ग से निर्वृत्ति नगर जाने के लिये निकले, उस मार्ग को वे गुप्त नही रखते, उसे सर्व प्राणियों के समक्ष प्रकट करते हैं और सब को उस मार्ग पर चलने का उपदेश देते है। इसीलिये देव, असुर और मनुष्य उनके प्रति भक्तिरस से झूमते हुए, अति गहन प्रेम से जिस प्रकार उनकी सेवा-भक्ति करते हैं, वह बतलाता हूँ। इन महाराजा के उपदेश देने के लिये देवता एक अति सुन्दर निर्मल समवसरण की रचना करते है* जिसके तीन प्राकार/कोट चांदी, सोने और रत्नो द्वारा बनाये जाते हैं।

[महाराजा की सर्वोत्कृष्टता प्रकट करने के लिये निम्न आठ महा प्रातिहार्यो की रचना देवताओ द्वारा की जाती है।]

१. चारो तरफ उडते भंवरो की मधुर झकार/गुजारव ध्वनि युक्त, मनोज्ञ, सुकोमल पल्लव विभूषित प्रशस्ततम अशोक वृक्ष की रचना करते है।

२. भ्रमर झंकार युक्त मनोहर पच वर्ण के अनेक प्रकार के पुष्पों की वृष्टि सुरासुर अपने हाथों से निरन्तर करते रहते है जिससे दसो दिशायें सुगन्धमय हो जाती हैं।

३. वरिष्ठ महाराज के समवसरण मे बैठकर धर्मोपदेश देने के समय देवता आनन्ददायक सुन्दर सुमधुर दिव्य निर्घोष करते हैं।

४. कमल-नाल के सुन्दर तन्तुओ जैसे स्वच्छ, उज्ज्वल और सुन्दर आकार वाले चामर जगत् प्रभु के दोनो तरफ अनवरत ढुलाते रहते है।

५. समवसरण के मध्य मे अशोकवृक्ष के नीचे चार विशाल सिंहासनों की रचना की जाती है जो अनेक प्रकार के रत्नो की शोभा से जगमगाते रहते है, जिस पर बैठकर प्रभु चार मुखों से उपदेश देते है। [भगवान् स्वयं पूर्वाभिमुख बैठते है, अन्य तीन तरफ देवता उनके प्रतिरूप/प्रतिविम्ब की रचना करते हैं।]

६. भगवान् के पीछे भामण्डल की रचना की जाती है जो आकाश मण्डल को प्रकाशित करता है और सूर्य के आकार को धारण कर भगवान् के शरीर और कान्ति को उल्लसित करता है।

७. प्रभु के आगमन और उनकी परोपकारिता को प्रदर्शित करते हुए देव किन्नर आकाश मे रहकर सुमधुर ध्वनि से देव-दुन्दुभि बजाते है, जिसकी ध्वनि कर्णप्रिय, अत्यन्त मधुर और लोगो के हृदय को उल्लसित करने वाली होती है।

८. एक के ऊपर एक ऐसे तीन छत्र प्रभु के सिर के ऊपर सुशोभित रहते हैं जो प्रभु के त्रैलोक्यपति और वरिष्ठ होने की सूचना देते है।

---

* पृष्ठ ६०२

हे देव ! इस प्रकार देव और दानव अष्ट महाप्रातिहार्यों की रचना करते है। इससे यह महाभाग्यशाली वरिष्ठ राजा अधिक सुशोभित होता है। [६१४-६२५]

देवताओ द्वारा रचित प्रातिहार्यो के अतिरिक्त स्वय वरिष्ठ राजा का शरीर अति सुगन्धित होता है, मल, स्वेद और रोगरहित होता है। इनके शरीर का मास और रक्त गाय के दूध जैसा या मोती के हार जैसा धवल होता है। इनका आहार और नीहार चर्मचक्षु से नही दिखाई देता। श्वासोच्छ्वास कमल जैसा सुगन्धित होता है। ये चारो गुण जन्म से ही इन्हे प्राप्त होते है। [६२६-६२७]

प्रभु के उपदेश प्रदान करने हेतु देवता एक योजन मात्र के समवसरण की रचना करते हैं, किन्तु प्रभु के अतिशय से उसमे करोड़ो मनुष्य और देवता बैठ सकते है, तनिक भी भीड-भाड़ नही होती। प्रभु अर्धमागधी भाषा मे उपदेश देते हैं, किन्तु सुनने वाले सभी मनुष्य, तिर्यञ्च और देवता उसे अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेते है। एक योजन मे बैठे हुए सभी प्राणियो को प्रभु की वाणी सम्यक् प्रकार से सुनाई देती है। प्रभु के विचरण-स्थानो के चारों ओर पूर्वोत्पन्न वैर-विरोध, महा-मारी, ईति आदि का उपद्रव और बीमारियां स्वत: ही शात हो जाती हैं और उनके प्रताप से भविष्य मे कुछ समय तक उत्पन्न नहीं होती। उपरोक्त भूमि मे सौ योजन तक दुर्भिक्ष (अकाल), अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चोर-डाकुओ का भय और स्वचक्र एवं परचक्र का भय नही रहता।

महामोहादि शत्रुओ का विनाश हो जाने से सद्गुण स्वत: ही वरिष्ठ राजा मे उत्पन्न हो जाते है।

प्रभु जहाँ विचरण करते है वहाँ धर्मचक्र, छत्र, ध्वज, रत्न-जड़ित चामर एव सिंहासन साथ चलते हैं। देवनिर्मित नव कमलो पर भगवान् चरण रखते हुए विचरण करते है। ये नव कमल क्रमश: पीछे से आगे आते रहते है एव उनके प्रभाव से कांटो के मुंह उल्टे हो जाते है। प्रभु के नाखून, रोमावली, सिर के केश और दाढ़ी आदि नही बढते। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श मनोहारी हो जाते है। छहो ऋतुए पुष्पादि से युक्त अनुकूल हो जाती है। विहार/विचरण भूमि सुगंधित जल-सिक्त और पुष्पाच्छादित हो जाती है* और निरन्तर पचवर्णी सुगन्धित पुष्प-वर्षा से समवसरण की भूमि जाघो तक भर जाती है। पक्षी भी भगवान् की प्रदक्षिणा करते है। सदा काल अनुकूल पवन चलता है। वृक्ष भी भक्तिरस से पूर्ण होकर प्रभु के समक्ष नत हो जाते है। कम से कम एक करोड़ देवता भगवान् की सेवा मे निरन्तर उपस्थित रहते हैं।

ये सभी अतिशय भक्ति से पूर्ण देवताओ द्वारा रचे जाते है जो वरिष्ठ राजा को अपने राज्यभोग के समय प्राप्त होते है। हे देव! वरिष्ठ राजा की

* पृष्ठ ६०३

कल्याण-संदोहमयी इन अद्भुत विभूतियो/समृद्धियो का वर्णन वाणी द्वारा करना अशक्य है। [६२८–६३९]

त्रिभुवनस्थ समग्र प्राणियो के नेत्रो को तृप्त करने वाले, सब को आनन्द देने वाले, महासुखदायी, निर्वृत्तिनगरी का मार्ग बतलाने वाले और अनेक लोगो को निर्वृत्ति नगरी पहुचाने वाले ये वरिष्ठ महाराज ही है। [६४०]

हे देव ! इस प्रकार का राज्य करते हुए अन्त मे महाप्रतापी वरिष्ठ राजा स्वय भी निर्वृत्ति नगरी मे पहुच गये। पूर्व प्रकरण मे वर्णित उत्तम राजा ने जिस प्रकार शत्रुओ का नाश किया उसी प्रकार इन्होने भी अपने समस्त शत्रुओ को नष्ट कर दिया, ऐसा निःसशय समझ लें। [६४१–६४२]

हे स्वामिन् ! परमयोगिनी दृष्टिदेवी ने भी अपनी शक्ति का भरपूर उपयोग इन वरिष्ठ राजा पर किया, पर उसका सब प्रयत्न व्यर्थ गया, वह इनका कुछ भी विगाड़ न सकी। वरिष्ठ राजा ने उसे सत्वहीन बनाकर उसको उसके साथियो से अलग कर दिया, जिससे वह मूढ और शक्तिहीन होकर अन्त मे नष्ट हो गई। इस प्रकार वरिष्ठ महाराज सर्व प्रकार से कृत-कृत्य होकर, बाधा-पीड़ा रहित होकर, नित्य शात, सम्पूर्ण आनन्द मे मग्न होकर सदाकाल के लिये निर्वृत्ति नगरी मे निजगुणो मे रमण करते हुए विराजित है। [६४३–६४५]

वितर्क अप्रतिवुद्ध से कह रहा है कि, आपने उपरोक्त छ राज्यो का सूक्ष्मता से अवलोकन कर, ब्योरेवार विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने की जो आज्ञा प्रदान की थी, वह अब पूर्ण हुई। मैंने छहो राजाओं का वर्णन आपके समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। [६४६]

१७. हरि राजा और धनशेखर

वितर्क से छ: राजाओ के विषय मे सुनकर अप्रवुद्ध अपने मन मे सोचने लगा कि, अहो ! महात्मा सिद्धान्त ने मुझे पहले जो बात बतलाई थी वह पूर्णरूपेण सत्य सिद्ध हो रही है। उनकी कथित वाणी मे तनिक भी अन्तर या विरोध दृष्टिगत नही होता। सिद्धान्त महात्मा ने पूर्व मे कहा था कि सुख और दु.ख दोनों का कारण अन्तरग राज्य है, वह ठीक ही है। राज्य तो एक ही है, पर पात्र-विशेष के कारण जैसा उसका पालन होता है वैसा ही वह सुख और दु ख का कारण होता

है । वितर्क ने स्वय अपनी आँखो से निरन्तर छः वर्ष तक इसका अनुभव करके मुझे बतलाया है । सिद्धान्त गुरु द्वारा कही हुई बात गलत भी कैसे हो सकती है ? [६४७–६५०]

वितर्क के वर्णनानुसार निकृष्ट और अधम को यह राज्य दुःख का कारण हुआ; क्योकि उन्होने राज्य का दुष्पालन किया और वे उस राज्य को पहचान भी नही सके । विमध्यम को अल्पसुख का कारण हुआ; क्योकि वह प्राय· बाह्य प्रदेश मे ही रहा और राज्य-पालन बहुत मद गति से किया । मध्यम को यह राज्य * लम्बे समय तक सुख का कारण हुआ, क्योकि उसने राज्य के अन्दर प्रवेश कर किंचित् आदरपूर्वक उसका पालन किया । उत्तम राजा और वरिष्ठ राजा को वही राज्य समस्त प्रकार के सुखो का कारण हुआ, क्योकि उन्होने उसका बहुत ही उत्तम पद्धति से पालन किया था । मैने तो इन छहो के एक-एक वर्ष के राज्य-पालन से सारी परिस्थिति को समझ लिया है । मनीषियो ने कहा है—'जिस मनुष्य ने सूक्ष्म अवलोकन द्वारा एक वर्ष देखा हो और इच्छानुसार उसको भोगा हो तो समझना चाहिये कि उसने सारी दुनिया को देख लिया है ।' कारण यह है कि ससार के भाव घूम-घूम कर, बदल-बदल कर, भिन्न-भिन्न सम्बन्धो मे इसी प्रकार घटित होते रहते है । सिद्धान्त महात्मा की कृपा से सुख-दुःख के हेतु क्या हैं ? वे कहाँ रहते है और प्राणी पर किस प्रकार घटित होते है ? यह मेरी समझ मे आ जाने से मेरी अप्रबुद्धता नष्ट हो गई, अव मै प्रबुद्ध हो गया । [६५१–६५७]

इन राज्यो का विचार बार-बार करते हुए भूपति प्रबुद्ध की अन्तरात्मा को अत्यन्त आनन्द हुआ, सतोष हुआ । उस पर पर्यालोचन करते हुए तथा पृथक्करण करते हुए निश्चिन्त हुआ और अत्यन्त हर्षित होकर, निरातुर होकर अपूर्व शाति को प्राप्त किया । [६५८]

कथा का रहस्य

उत्तमसूरि हरि राजा को उपदेश देते हुए आगे कहते है—हरिराज ! प्रसगानुसार तुझे उपरोक्त वार्ता कही । अब इस पर से तुझे इसका रहस्य समझना चाहिए । निष्कर्ष/रहस्य बतलाता हूँ—

जिस प्रकार महामोहादि शत्रु और दृष्टिदेवी निकृष्ट और अधम राजा के लिए भयकर दोष और त्रास का कारण बने और उन्हे महा अधम गति मे पहुचाया उसी प्रकार परमार्थ ज्ञानरहित प्राणियो को अन्य अन्तरग शत्रु त्रास देते है और उन्हे अवर्णनीय नीच स्थिति मे डाल देते हैं । पुन. 'रखडता हुआ धनशेखर भी अपने पापी अन्तरंग मित्रों के कारण पीडित हो रहा है', सुनकर इस विषय मे तूने प्रश्न किया था कि क्या प्राणी दूसरो के दोषो से भी पीडित हो सकता है और तदनुसार

* पृष्ठ ६०४

धनशेखर भी मित्र दोषो के कारण पीडित हो रहा है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसे अन्तरग मित्रो के कारण ही धनशेखर इस प्रकार की निकृष्ट चेष्टा करता है । [६५९-६६४]

शंका का निराकरण

हरि राजा—भगवन् ! इस विषय मे अब मेरा सशय दूर हुआ, किन्तु एक सदेह और शेष रह गया है, कृपया उसे भी दूर कीजिये । आपने कर्मपरिणाम महाराजा के छ: पुत्र बतलाये, उनके विदा होने के बाद क्या होता है ? क्या इन छ: के पश्चात् दूसरे राज्य नही होते या पुन:-पुन: यही राज्य होते है ? [६६५-६६७]

उत्तमसूरि—इस ससार मे भिन्न-भिन्न रूपो में चर-अचर जितने भी प्राणी है, वे सभी वस्तुत: कर्मपरिणाम महाराजा के ही पुत्र है और उनका समावेश नि:सन्देह उपरोक्त छ: प्रकार के पुत्रो मे हो जाता है । उनके चले जाने पर उनके जैसे अन्य पुत्रो को वह राज्य सौप दिया जाता है । नये आने वाले पुत्रो के नाम भी उपरोक्त निकृष्ट, अधम आदि छ: प्रकार के होते है और उनके नाम-गुण के अनुसार ही वे क्रमश सुखासुख के कारण उत्पन्न कर सुख-दु ख भोगते है । * राजेन्द्र ! अन्य की बात छोडिये । देखिये, मै स्वय भी कर्मपरिणाम राजा का एक पुत्र हूँ । यह आपके ध्यान मे होगा कि कर्मपरिणाम ने अपने उत्तम नामक पुत्र को एक वर्ष के लिये राज्य दिया था । उस उत्तम ने सिद्धान्त गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर वैराग्य और अभ्यास के साथ चलकर, पूर्व-वर्णित कर्त्तव्यो का पालन करते हुए अन्तरग राज्य मे प्रवेश किया था । उसने राज्य में प्रवेश कर महामोहादि शत्रुवर्ग का नाश किया था तथा चारित्रधर्मराज की सेना का पोषण/सवर्धन किया था । वह मैं ही हूँ । उत्तम प्रकार के राज्य का उपभोग करते हुए ही मै मेरे सहायक इन साधुओ के साथ यहाँ आ पहुँचा हूँ । पाँचवे भूपति उत्तम राजा की वार्ता मे उसके जिन गुणो सुखो, विभूतियो और चेष्टाओं का वर्णन किया था, हे राजन् ! वे सभी गुण, सभी सुख, विभूतियाँ और चेष्टाये इस समय मुझ में नि.सन्देह रूप से विद्यमान है, अन्त-निहित है । इस समय मैं अन्तरग राज्य कर रहा हूँ और भक्तिभाव से विनम्र देवता वारम्वार "मैं गुणगणो का भण्डार हूँ" कहते हुए धन्यतापूर्वक मेरी स्तुति कर रहे है । मुझे इस समय ऐसा स्वसवेदनसिद्ध आत्मिक सुख का अनुभव हो रहा है जो इस राज्य का पालन करते हुए ही प्राप्त होता है । उस सुख का विवेचन वर्णनातीत है । मेरे पास आत्मिक रत्नो का भण्डार है और मेरी अन्तरग चतुरगी सेना सख्यातीत (इतनी वडी) है कि उसकी गिनती भी नही हो सकती । सिद्धान्त महात्मा ने उत्तम राजा की वार्ता मे जिन चेष्टाओ/कर्त्तव्यो का वर्णन किया है, मेरी चेष्टायें, अनुष्ठान और प्रवृत्ति भी अभी वैसी ही है । जैसे मै कर्मपरिणाम का उत्तम नामक पुत्र विद्यमान हूँ वैसे ही निकृष्ट आदि पुत्र भी इस संसार मे नि:सशय रूप से जन्मे हुए

* पृष्ठ ६०५

ही है। राज्य एक प्रकार का है और प्राणी अनेक प्रकार के हैं, अत राज्य के प्रवाह को किसी भी प्रकार विभक्त किये बिना एक साथ सभी प्राणी अपनी-अपनी योग्यतानुसार राज्य भोगते है। अर्थात् नदी के प्रवाह की भाति अन्तरग राज्य का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है और प्रत्येक प्राणी एक ही समय मे एक ही साथ उसे भोगते रहते है। [६६८–६८३]

हरि राजा की दीक्षा

आचार्य के वचनो के भावार्थ को हृदयगम करते हुए हरि राजा ने पूछा— भगवन्! परमार्थ दृष्टि से ससार मे भ्रमण करने वाले सभी देहधारी प्राणी कर्मपरिणाम राजा के पुत्र है और वह सभी को चित्तवृत्ति नामक अन्तरग भूमि का राज्य सौपता है। यद्यपि यह भूमि एक ही प्रकार की है फिर भी पात्र-विशेष के कारण अनेक रूपात्मक भिन्न-भिन्न आकार धारण करती है और पात्रानुसार सुख-दु ख का अनुभव होता है। यदि ऐसा ही है तब तो मैं स्वय भी कर्मपरिणाम राजा का पुत्र हूँ और मै भी उपरोक्त छः मे से किसी एक प्रकार का राज्य इस समय भोग रहा हूँ।

उत्तमसूरि—राजन्! आपने वस्तुस्थिति को ठीक ही समझा है। यह अन्तरग राज्य सभी को प्राप्त होता है और आप भी इस समय विमध्यम नामक राज्य का पालन कर रहे है, किन्तु आप इस राज्य के स्वरूप को पहचान नही पा रहे है। आप रात-दिन धर्म, अर्थ और काम की साधना कर रहे है, पर इनकी साधना इस प्रकार कर रहे है कि जिससे परस्पर कोई विरोध नही होता। विमध्यम के सभी लक्षण आप मे घटित हो रहे है। पूर्व मे मैने विमध्यम राज्य के जो लक्षण बताये थे, क्या वे लक्षण अब आपके ध्यान मे नही आ रहे है ?*

हरि राजा—मुझे यह विमध्यम राज्य नही चाहिये। भगवन्! आपने जो आत्मीय उत्तम राज्य का वर्णन किया है, वही मुझे भी प्रदान कीजिये।

उत्तमसूरि—राजन्! आपके विचार अत्युत्तम है। हे नरोत्तम! जैसे इन साधुओ को यह राज्य प्राप्त हुआ है वैसे ही आपको भी हो सकता है। इस राज्य को प्राप्त करने का प्रव्रज्या के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है। जब इन साधुओ को पूर्व-वर्णित अत्यन्त मनोहारी स्वराज्य प्राप्त करने की आपके समान प्रबल स्पृहा/अभिलाषा हुई थी तब मैने इनके लाभ के लिये इन्हे बताया था कि भागवती दीक्षा लिये बिना अन्तरग भूमि के उत्तम राज्य की प्राप्ति नही हो सकती। तब इन्होने सर्व पापहारी दीक्षा ग्रहण की। परिणामस्वरूप इन्होने नि शेष सुख के हेतुभूत इस उत्तम महाराज्य को प्राप्त किया। राजेन्द्र! यदि आपको भी उत्तम राज्य प्राप्ति की इच्छा है तो आप भी भागवती दीक्षा ग्रहण करे। [६८४–६८८]

---

* पृष्ठ ६०६

हरि राजा—महाराज ! यदि इतने मात्र से इतना बड़ा महासुखदायी राज्य मिल जाता हो तो फिर विलम्ब क्यों किया जाये ? शुभ कार्य मे देरी क्यो की जाये ? हे भदन्त ! आप मुझे अविलम्ब भागवती दीक्षा प्रदान करने की कृपा कीजिये । [६८९–६९०]

राजा के उपरोक्त वचन सुनकर सूरि महाराज के नेत्र आनन्द से विकसित हो गये । वे बोले—राजन् ! आपने अत्युत्तम बात कही । यह महान् राज्य सर्वोच्च और महासुख-परम्परा का दाता है तथा दीक्षा लेने से प्राप्त हो सकता है । इस वास्तविकता को जानकर कौन बुद्धिमान व्यक्ति इस कार्य से पीछे हटेगा ? थोड़े के लिए अधिक को खोने की बात कौन बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार करेगा ? आप तो नि.सदेह रूप से भगवान् के मत की दीक्षा लेने के सचमुच योग्य हैं । योग्यता बिना हम इस सम्बन्ध में प्रयत्न भी नही करते । आप योग्य है, अत प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा ग्रहण कीजिये और अक्षय आनन्द को प्राप्त कीजिये । [६९१–६९३]

गुरु महाराज के वचनो को उसी प्रकार शिरोधार्य करते हुए हरि राजा ने अपने महाविवेकी मंत्री और सेनापति के साथ मंत्रणा की और अपने शार्दूल नामक पुत्र को राज्य गद्दी पर स्थापित कर दिया । पश्चात् जिनेश्वर भगवान् के मन्दिर में आठ दिन तक बड़े ठाठ-बाट से महोत्सव मनाया, अभिलाषियो को अर्थदान दिया, गुरु महाराज का पूजा-सम्मान किया, बडों को सम्मानित किया, सम्पूर्ण नगर के सभी लोगो के आनन्द मे सभी प्रकार से वृद्धि की और उस समय करने योग्य सभी क्रियाएं पूर्ण की । आवश्यक कार्य और कर्त्तव्य पूर्ण कर, अपनी प्रिय पत्नी मयूर-मंजरी, अनेक प्रमुख राजाओं और प्रधानो के साथ नगर से बाहर निकल कर, उन सब ने विधिपूर्वक उत्तमसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की । हरि राजा ने निरन्तर आनन्द देने वाले सर्वोत्कृष्ट सुन्दर राज्य को प्राप्त किया और आनन्द में लीन होकर अपने आत्मिक स्वराज्य मे वृद्धि करते हुए पृथ्वी पर विहार करने लगे ।

[६९४–६९८]

लोभ से धनशेखर की मृत्यु

संसारी जीव अपनी आत्मकथा को आगे बढाते हुए अगृहीतसंकेता से कह रहा है—हे अगृहीतसंकेता ! मेरे मित्र मैथुन और सागर मुझ से चिपटे रहे । मै उन्हे नही छोड़ सका । परिणामस्वरूप उन्होने मुझ से अनेक नाटक करवाये । धन का लोभी होने से मैं कई देशो में भटकता फिरा और अनेक प्रकार के क्लेश प्राप्त किये । अनेक नगरो और ग्रामो मे भटकते हुए मैं एक बार एक बीहड़ जगल मे आ पहुँचा । थका होने से मैं एक बेल के वृक्ष के नीचे आराम करने बैठ गया । वहाँ ऊपर दृष्टि करते ही मैंने देखा कि बेल वृक्ष की एक शाखा से* अंकुर फूट कर नीचे जमीन तक आया हुआ है । लक्षणो के अनुसार मैंने निर्णय किया कि इस वृक्ष के

* पृष्ठ ६०७

नीचे धन अवश्य छिपा हुआ होना चाहिये । हे भद्रे ! उस समय अन्दर से मेरे सागर मित्र ने उस धन को निकालने की प्रेरणा की कि, 'धनशेखर ! शीघ्र ही इस निधान को खोदकर बाहर निकाल ।' थका होने पर भी मित्र की प्रेरणा से मैंने जमीन खोदी । गहरा खोदने पर मैंने देखा कि दैदीप्यमान रत्नों से भरा एक विशाल घड़ा रखा है । ये रत्न इतने पानीदार थे कि इनकी आभा से चारो तरफ प्रकाश ही प्रकाश फैल रहा था । हे सुलोचने ! ज्यो ही मैं प्रसन्नचित्त होकर सागर की आज्ञा से रत्न-पूरित कुम्भ को ग्रहण करने के लिये बढा त्यो ही महाभीषण नाद से दिशाओ को बधिर करता हुआ जमीन मे से काल जैसा भयकर वैताल बाहर निकल आया। उसकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी और मुह से फट्-फट् की भीषण आवाज निकल रही थी, लम्बी दाढे बाहर निकली हुई थी और उसका मुह यमराज से भी अधिक भयकर था। हे भद्रे ! देखते ही देखते उसने रोते-चिल्लाते हुए मुझे बलपूर्वक अपने मुह रूपी कोटर मे ठू स लिया और कडकड करते हुए चबा गया । [६९९-७०८]

धनशेखर के भव मे आते हुए भवितव्यता ने मुझे जो गोली दी थी वह उसी समय घिस-घिस कर पूर्ण हो गई, अतः भवितव्यता ने तत्काल ही मुझे नई गुटिका प्रदान की । उस गुटिका के प्रताप से मैं फिर पापिष्ठ निवास नगरी के सातवे मोहल्ले मे चला गया । हे सुमुखि ! यहाँ अनेक प्रकार के भयकर दुःखो का अनुभव करके जब मैं वहाँ से बाहर निकला तो भवितव्यता की प्रबलता से मैं फिर अनन्त काल तक अनेक स्थानों पर भटका । हे पापरहिता ! मेरे दु:खो का क्या वर्णन करू ? संक्षेप मे ससार का कोई ऐसा स्थान नही रहा जहाँ मैं न गया हूँ और सर्व प्रकार के दुःख न भोगे हो ।

इस प्रकार अनेको दु:ख सहन करने के पश्चात् मेरे कुछ शुभ कर्मों के प्रताप से मेरी पत्नी भवितव्यता ने पुनः एक बार मुझ से कहा – नाथ ! आर्य पुत्र ! ! एक साह्लाद नामक पत्तन है जो बहुत सुन्दर है, अत्यन्त प्रसिद्ध है और बाह्य प्रदेश मे स्थित है । आप पहले जैसे अन्य नगरो मे गये है वैसे ही अब इस नगर मे जाकर रहें । [७०९-७१३]

मुझे तो मेरी पत्नी की आज्ञा माननी ही थी, क्योकि उसके समक्ष मेरा कुछ भी वश नही चलता था, अतः मैंने देवी की आज्ञा शिरोधार्य की । इस समय भी देवी ने मेरे साथ पुण्योदय नामक एक सहचर भेजा और मुझे एक नयी गोली बनाकर दी । उस गोली के प्रताप से अपने सहायक के साथ मैने साह्लाद नगर जाने के लिये प्रस्थान किया ।

उपसंहार

यदिदमसुलभ भो ! लब्धमेभिर्मनुष्यै-
र्बहुविधभवचारात्यन्तरीणैर्नरत्वम् ।
तदपि नयनलोलामैथुनेच्छापरीता,
लघुधनलवलुब्धा नाशयन्त्येव मूढाः ।।७१४।।

अनेक प्रकार के सांसारिक भ्रमणो के पश्चात् बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, जिसे मूर्ख प्राणी रूप-सौन्दर्य का लोभी बनकर, मैथुन की अभिलाषाओ में डूबकर और थोड़े से धन मे लुब्ध होकर यो ही गवा देता है, व्यर्थ ही नष्ट कर देता है । [७१४]

विगलितास्त इमे नरभावत,
प्रबलकर्ममहाभरपूरिताः ।
सततदु.खमटन्ति पुनः पुनः,
सकलकालमनन्तभवाटवीम् ।।७१५।।

इस प्रकार कठिनाई से प्राप्त मनुष्य भव से भ्रष्ट होकर प्राणी दुष्कर कर्मो का विशाल बोझ धारण कर बहुत लम्बे समय तक अनन्त ससार अटवी मे महा भयकर दु.ख भोगता हुआ भटकता रहता है । [७१५]

तदिदमत्र निवेदितमञ्जसा,
जिनवचो ननु भव्यजना ! मया ।
इदमवेत्य निराकुरुत द्रुतं,
नयनसागरमैथुनलोलताम् ।। ७१६ ।।

भव्य प्राणियो ! यहाँ मैंने सक्षेप मे जिनेश्वर भगवान् के वचनों का प्रतिपादन किया है । उसकी वास्तविकता को आप समझे तथा रूप, लोभ और मैथुन की समस्त प्रकार की आसक्ति को शीघ्र ही दूर करे ।। ७१६ ।।

**उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का लोभ,
मैथुन और चक्षुरिन्द्रिय विपाक
वर्णन का यह छठा
प्रस्ताव सम्पूर्ण हुआ ।**

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

७. सप्तम प्रस्ताव

प्रस्ताव सातवां
पात्र-स्थानादि परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
साह्लाद नगर (बहिरंग)	जीमूत	साह्लाद नगर का राजा, घनवाहन का पिता	सिद्धार्थ	ज्योतिषी
	लीलादेवी	जीमूत राजा की पटरानी, घनवाहन की माता	प्रियंकरी	बधाई देने वाली दासी
	घनवाहन	कथानायक, ससारी जीव	नीरद	जीमूत राजा का छोटा भाई, अकलक का पिता
	मदनमंजरी	घनवाहन की रानी	पद्मा	नीरद की पत्नी, अकलक की माता
	अकलंक	घनवाहन का मित्र, घनवाहन के चाचा का पुत्र		
बुधनंदन (उद्यान)	प्रथम मुनि	लोकोदर में आग देखकर वैराग्य पाने वाला		
	द्वितीय मुनि	मदिरालय देखकर वैराग्य पाने वाला		
	तृतीय मुनि	अरघट्ट यत्र देखकर वैराग्य पाने वाला		
	चतुर्थ मुनि	सन्निपात/उन्माद देखकर वैराग्य पाने वाला		
	पंचम मुनि	चार व्यापारी का कथानक सुनकर वैराग्य पाने वाला चारु, योग्य, हितज्ञ, मूढ — वसतपुर निवासी व्यापार हेतु रत्न-द्वीप गये हुए चार मित्र व्यापारी		
	छठा मुनि	ससृति नगर के बाजार को देखकर वैराग्य पाने वाला		
	कोविद	मुनिवृन्द के आचार्य	सदागम	चारित्रधर्मराज प्रेरित उपदेशक
(अतरग)	परिग्रह	रागकेसरी का ५वां पुत्र, सागर का मित्र	महामोह	चित्तवृत्ति अटवी का महाराजा

	संज्ञा	परिग्रह की पत्नी	ज्ञानसंवरण	आठ कर्मों मे से पहला कर्मराजा
			चारित्र-धर्मराज	चित्तवृत्ति मे घिरा हुआ राजा
			सद्बोध	चारित्रधर्मराज का मत्री
			सम्यग्दर्शन	चारित्रधर्म-राज का सेनापति
			गृहिधर्म	चारित्रधर्म-राज का छोटा लडका

क्षमातल नगर	स्वमल-निचय	क्षमातल नगर का राजा		
	तदनुभूति	स्वमलनिचय की रानी		
	कोविद	राजा का पुत्र (कोविद और कोविदाचार्य एक ही हैं)		
	बालिश	राजा का पुत्र		
	श्रुति	कर्मपरिणाम की कन्या		
	सग	दासी-पुत्र, श्रुति का अग्र-गामी और सयोग मेलापक	गंधर्व मिथुन	किन्नर युगल

			मकरध्वज, हास, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा	मोहराज का परिवार और उनके छोटे सेना-पति
	शोक	महामोह का अनुचर		
	सागर	महामोह का अनुचर, परिग्रह का मित्र		
	बहुलिका	माया		
	कृपणता	सागर की सहचारिणी	विद्या	चारित्रधर्मराज की मानसिक कन्या

			निरीहता	चारित्रधर्मराज और विरति की पुत्री
साकेतपुर (बहिरंग)	अमृतोदर	नन्दसेठ और धनसुन्दरी का पुत्र	सुदर्शन	उपदेशक, अमृतोदर का उपकारी
मानवावास जनमन्दिरपुर	बधु	बन्धुदत्त और प्रियदर्शना का पुत्र, द्रव्यसाधु	सुन्दर	बन्धु का उपदेशक
	विरोचन	आनन्द और नन्दी का पुत्र, ससारी जीव	धर्मघोष	विरोचन का उपदेशक गुरु
			सम्यग्दर्शन	चारित्रधर्मराज का सेनापति
मानवावास	कलंद	आभीर मदन और रेणा का पुत्र, ससारी जीव		
काम्पिल्यपुर	वासव	वसुबन्धु और धरा का पुत्र, ससारी जीव	शांतिसूरि	वासव को बोध देने वाले आचार्य
सोपारक	विभूषण	शालिभद्र और कनकप्रभा का पुत्र, ससारी जीव	सुधाभूत	विभूषण के गुरु, आचार्य
भद्रिलपुर	विशद	स्फटिकराज और विमला का पुत्र, ससारी जीव	सुप्रबुद्ध	विशद का उपदेशक, मुनि

१. घनवाहन और अकलंक

घनवाहन का जन्म

*त्रैलोक्य को आश्चर्यान्वित करने वाला, दु.खो को दूर करने वाला और सम्पूर्ण जगत् को आह्लादित करने वाला साह्लाद नामक एक विशाल नगर है। जहाँ स्त्री-पुरुषो के युगल परस्पर अन्त:करण के प्रेम से और अपने रूप एव शक्ति से काम-लीलाये करते हुए कामदेव एवं रति का भ्रम उत्पन्न करते थे। इस साह्लाद नगर मे जीमूत नामक राजा राज्य करता है, जिसने अपने समस्त शत्रुओ को समूल नष्ट कर दिया है। जो स्वय महारथी है और उसके प्रताप-तेज से अजित होकर समस्त सामन्तवर्ग मानपूर्वक नमस्कार करता है। इस राजा के लीलादेवी नामक कार्यकुशल एव रति के समान आनन्दायिनी महारानी है जिसे राजा ने अपने अन्त:-पुर की पटरानी बना रखा है। [१–४]

हे अगृहीतसकेता! भवितव्यता द्वारा दी हुई नई गोली के प्रभाव से और उसके आदेशानुसार मैंने लीलादेवी की कोख मे प्रवेश किया। नौ माह से कुछ अधिक दिन तक नारकीय पीड़ा को सहन करने के पश्चात् उचित समय पर मै उसकी कुक्षि से बाहर आया। [५–६]

मेरे जन्म से मेरी माता लीलादेवी बहुत प्रसन्न हुई। प्रेमाश्रुओ से पूरित उसके नेत्र आनन्द से चपल हो गये और पुत्ररत्न की प्राप्ति से वह अत्यन्त हर्षित हुई। मेरे साथ ही उसी समय मेरे अन्तरग मित्र पुण्योदय का भी जन्म हुआ, किन्तु वह मेरे अन्तरग (गुप्तरूप से शरीर मे समाया) होने से उसे कोई भी नही देख सका। मेरी माता की प्रियकरी नामक दासी ने मेरे जन्म की राजा को बधाई दी, जिसे सुनकर राजा भी अत्यन्त हर्षित हुआ। राजा ने सन्तुष्ट चित्त होकर उसे महादान देकर उसका दासीपन समाप्त कर दिया। नगर भर मे जन्मोत्सव मनाया गया, जेल से कैदियो को छोडा गया, स्थान-स्थान पर नौबत और शहनाई बजने लगी, घर-घर मे आनन्दोत्सव, नृत्य, गायन, खानपान और दान आदि होने लगे। चारो तरफ राज्य के सभी लोग मेरे जन्मोत्सव से आनन्दित हुए।

ज्योतिष-शास्त्र

जन्मोत्सव मनाने के पश्चात् मेरे पिताजी ने सिद्धार्थ नामक प्रसिद्ध ज्योतिषी को बुलाकर मेरे जन्म समय के ग्रह-नक्षत्रो के भावफल के सम्बन्ध मे पूछा। ज्योतिषी ने कहा कि, देव! जैसी आज्ञा। सुनिये—

---

* पृष्ठ ६०८

अभी आनन्द नामक संवत्सर (वर्ष) चल रहा है, शरद् ऋतु है, कार्तिक मास की द्वितीया तिथि है, गुरुवार है, भद्रा है, कृत्तिका नक्षत्र है, वृषभ राशि है, धृतियोग है, लग्न सौम्य घर का है, उर्ध्वमुखी होरा कुण्डली है,* सभी ग्रह उच्च स्थान में बैठे हैं, सभी पाप ग्रह ११वें घर में बैठे हैं। हे राजन्! कुमार का ऐसी सुन्दर राशि में जन्म हुआ है कि उसे समस्त प्रकार की अपार संपत्ति प्राप्त होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। [७–१३]

राजा—आर्य! राशियाँ कितने प्रकार की होती हैं और प्रत्येक के क्या-क्या गुण-दोष हैं? मैं सुनना चाहता हूँ।

सिद्धार्थ—देव! सुनिये.—राशियाँ १२ प्रकार की होती हैं। उनके नाम मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन है। प्रत्येक राशि के गुण इस प्रकार हैं:—

१. मेष—इस राशि मे जन्मे व्यक्ति की आँखें चपल होती हैं, झपकती रहती है, रोगरहित रहता है, धर्म कार्य में कृतनिश्चय होता है, जांघें विशाल होती हैं, कृतज्ञ होता है, पराक्रमी होता है, राजपूजित होता है, कामिनियों के हृदय को आनन्दित करने वाला होता है, पानी से निरन्तर डरने वाला होता है, आवेश से कार्यारम्भ करने वाला और अन्त में नरम पड़ने वाला होता है। इसका १८वें या २५वें वर्ष में दुर्घटना से कुमरण होता है। यदि इस घात से बच जाय तो वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। मंगलवार चतुर्दशी की अर्धरात्रि में कृत्तिका नक्षत्र में इसकी मृत्यु होती है। [१४–१७]

२. वृषभ—इस राशि मे जन्मा व्यक्ति निम्न गुणों से युक्त होता है:—वह भोगी होता है, दानी होता है, पवित्र होता है, दक्ष/प्रवीण होता है। इसका गण्डस्थल स्थूल होता है, महाबली होता है, तेजस्वी होता है, अधिक रागासक्त होता है, कण्ठरोगी होता है, इसके पुत्र अच्छे होते हैं, चाल में विलासिता झलकती है, सत्यवक्ता होता है, इसके कन्धे और गण्डस्थल पर चिह्न होते हैं। यदि २५ वर्ष तक कोई दुर्घटना न हो तो वह १०० वर्ष तक जीवित रहता है। बुधवार, रोहिणी नक्षत्र में किसी चौपाये पशु द्वारा इसकी मृत्यु होती है। [१८–२०]

३. मिथुन—इस राशि में जन्मे व्यक्ति का शरीर पुष्ट, आँखें चञ्चल, मन विषय भोग में अत्यन्त आसक्त, धनवान, दयावान, लोकप्रिय, कण्ठरोगी, गायन एवं नाट्यकला मे कुशल, कीर्तिमान, अधिक गुणवाला, गौरवर्ण, लम्बा और वाक्-कुशल होता है। १६वें वर्ष में पानी में डूब कर मरने का भय रहता है। इससे बच जाय तो ८० वें वर्ष में पौष माह में पानी या अग्नि से मृत्यु होती है। [२१–२३]

४. कर्क—इस राशि में जन्मा हुआ कार्यकुशल, धनवान, वीर, धर्मिष्ठ, गुरु-वत्सल. सिरदर्दवाला, बुद्धिशाली, दुबला, कृतज्ञ, यात्रा-प्रिय, क्रोधी, बचपन मे

* पृष्ठ ६०१

दु:खी, कुछ वक्र प्रकृति वाला, अच्छे मित्र और नौकर चाकरो से परिपूर्ण होता है। २०वे वर्ष में गिर पड़ने की दुर्घटना से बच जाय तो ८० वर्ष तक जीवित रहता है। इसकी मृत्यु भी मिगसर या पौष के शुक्ल पक्ष की रात मे होती है। [२४-२६]

५. सिह—इस राशि मे जन्मा हुआ क्षमावान, मनस्वी, कार्यकुशल, मांस-मद्य प्रेमी, यात्रा-प्रिय और विनयी होता है। इसे सर्दी का भय बना रहता है, बात-बात मे क्रोधित हो जाता है, पुत्र एवं परिवार बड़ा होता है, माता-पिता को प्रिय होता है और लोगो मे व्यसनी के नाम से प्रसिद्ध होता है।* इसकी मृत्यु ५०वे वर्ष में होती है, यदि बच जाय तो १०० वर्ष तक जीवित रहता है। शनिवार, मघा नक्षत्र, चैत्र माह में अच्छे पुण्य क्षेत्र मे इसकी मृत्यु होती है। [२७-२९]

६. कन्या—इस राशि वाला अधिक विलासी, वेश्यागामी, धनवान, दान-दाता, दक्ष, कवि, वृद्धावस्था मे धर्मपरायण, लोकप्रिय, नाट्य-गायन-प्रेमी और प्रवासप्रिय होता है। यह अपनी स्त्री से दु खी रहता है। ३०वे वर्ष मे शस्त्र या पानी द्वारा मृत्यु होती है, इससे बच जाय तो ८०वे वर्ष मे वैशाख माह, मूल नक्षत्र, बुधवार को इसकी मृत्यु होती है। [३०-३२]

७. तुला—इस राशि में जन्मा व्यक्ति विना कारण क्रोधित होता है, स्वयं दु:खी होता है, स्पष्ट वक्ता होता है, क्षमाशील होता है, चपल नेत्र वाला होता है, अस्थिर लक्ष्मी वाला होता है, अपने घर मे ताकत बताने वाला होता है, व्यापार-कुशल होता है, देव-पूजक होता है, मित्र-स्नेही होता है, यात्रा प्रिय होता है, सुहृदो मे प्रिय होता है। २०वे वर्ष में दीवार के नीचे दबकर मृत्यु की सभावना होती है, इससे बच जाय तो ८०वे वर्ष मे जेठ माह, अनुराधा नक्षत्र, मंगलवार को मृत्यु होती है। [३३-३५]

८. वृश्चिक—इस राशि मे जन्मा व्यक्ति छोटी उम्र मे अधिक यात्रा करता है। क्रूर प्रकृति, वीर, पीली आँखो वाला, परस्त्री मे आसक्त, अभिमानी और स्वजन-परिजनों के प्रति निष्ठुर हृदय होता है। इसे साहस करने से लक्ष्मी प्राप्त होती है। यह अपनी माता के प्रति भी दुष्ट बुद्धिवाला, धूर्त और चोर होता है। अनेक कार्य प्रारम्भ करता है, पर एक को भी पूरा कर फल प्राप्त नही कर पाता। इसकी १८वें वर्ष में या २५वें वर्ष मे चोर, शस्त्र या सर्प द्वारा मृत्यु की संभावना होती है, इससे बच जाय तो ७० वर्ष तक जीवित रह सकता है। [३६-३८]

९. धन—इस राशि वाला शूरवीर, सत्यवक्ता, बुद्धिमान, सात्त्विक प्रकृति वाला, लोकप्रिय, शिल्प-विज्ञान का ज्ञाता, धनवान, सुन्दर स्त्री वाला, अभिमानी,

* पृष्ठ ६१०.

चारित्र-सम्पन्न, मधुर-भाषी, तेजस्वी, स्थूल देहधारी और कुल-नाशक होता है। इसकी जन्म से १८ वे दिन तक मृत्यु की संभावना होती है, इससे बच जाय तो ७७ वर्ष तक जीवित रहता है। [३९-४१]

१०. मकर—इस राशि वाला व्यक्ति दुराचारियो का प्रिय, स्त्रियो के वशीभूत, पण्डित, परस्त्री आसक्त और गायक होता है। इसके गुप्ताग पर निशान होता है। अनेक पुत्रो वाला, फूलो का शौकीन, धनवान, त्यागी, स्वरूपवान, ठंड से डरने वाला, सर्दी की व्याधि से ग्रस्त, विशाल परिवार वाला, और बार-बार सुख की चिन्ता करने वाला होता है। इसकी २०वे वर्ष मे शूल व्याधि से मृत्यु की सम्भावना है, इससे बच जाय तो ७०वे वर्ष के भाद्रपद माह में शनिवार को मृत्यु होती है। [४२-४४]

११. कुम्भ—इस राशि मे जन्मा व्यक्ति दानेश्वरी, आलसी, कृतघ्न, हाथी या घोड़े जैसी आवाज वाला, मेढ़क जैसी कुक्षिवाला, निर्भीक, धनवान्, जड़-दृष्टि, चंचल हस्त, पुण्यवान, स्नेहरहित और मान तथा विद्या प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करने वाला होता है। इसकी १८वें वर्ष मे बाघ से मृत्यु की सम्भावना है, इससे बच जाय तो ८४ वर्ष तक जीवित रहता है। [४५-४७]*

१२. मीन—इस राशि वाले की सभी चेष्टाएँ और व्यवहार अति गंभीर होते हैं तथा वह शूरवीर, वाक्चतुर, उच्च पद प्राप्त और क्रोधी होता है। रण-नीति चतुर, त्याग या दान मे असमर्थ, कजूस, गायन-कला-विशारद और भाई-बन्धुओं के प्रति वात्सल्य वाला होता है। यह सेवाभावी और तेज गति से चलने वाला होता है। [४८-४९]

हे राजेन्द्र ! मैने जो मेष आदि राशियो के गुणों का वर्णन किया है, वह सर्वज्ञो द्वारा अपने शिष्यो के समक्ष वर्णित के समान ही है, क्योकि ज्योतिष, निमित्त आदि अतीन्द्रिय शास्त्र जो बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नही है उन सब का वर्णन सर्वज्ञों द्वारा पहले ही हो चुका है। यदि किसी स्थान पर कोई बात न मिले या विपरीत प्रतीत होती हो तो उसे जानने वाले की बुद्धि-अल्पज्ञता का दोष ही समझना चाहिए; क्योंकि अल्पज्ञान वाले लोग शास्त्रो की गहराई और सूक्ष्मता को नहीं समझ सकते। ऐसी स्थिति मे यदि क्रूर ग्रहों की दृष्टि न पड़ी हो और राशियाँ बलवान् हो तो उपरोक्त गुण सत्य/खरे ही उतरते है, अन्यथा नही होते, ऐसा आप समझें। [५०-५३]

राजा जीमूत ने ज्योतिर्विद् के उपरोक्त कथन को सत्य और शंकारहित होकर स्वीकार किया। फिर सिद्धार्थ ज्योतिषी का सन्मान कर, पूजन कर और उचित दान देकर उसको विदा किया। उचित समय पर आनन्द महोत्सव और भोजन एवं दानपूर्वक मेरा नाम घनवाहन रखा गया।

---

* पृष्ठ ६११

अकलंक-जन्म : मैत्री

जीमूत राजा का नीरद नामक छोटा भाई था जिसकी पत्नी का नाम पद्मा-रानी था। इस पद्मा रानी ने भी इसी समय में एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम अकलंक रखा गया। मेरा और अकलक का सुखपूर्वक पालन-पोषण अनेक प्रकार से होने लगा। हम दोनों साथ-साथ बड़े हुए, साथ-साथ धूल में खेले, धूल में लोटे और साथ-साथ बाल-क्रीड़ाएँ की। मेरा कभी काका के लडके अकलंक से विरह नही हुआ। भवितव्यता ने बालपन से ही अकलंक के साथ मेरी मित्रता नियोजित कर दी थी जो दिनोंदिन गाढ होती गई और हमारा पारस्परिक स्नेह बढता ही गया। फिर हम दोनों ने एक ही उपाध्याय के पास समस्त कलाओ का अध्ययन भी किया। हे सुन्दरी! इस प्रकार आनन्द-कल्लोल करते हुए हम दोनो कामदेव के मंदिर रूप यौवनावस्था को प्राप्त हुए। [५४-५८]

अकलंक बचपन में, कुमारावस्था मे और युवावस्था मे भी उच्च व्यवहार/आचरण वाला, लघु कर्मी, भाग्यवान्, व्यसनरहित, दुर्व्यवहार-रहित, दुश्चेष्टा-रहित, शान्तमूर्ति, पवित्रात्मा, विनयी, देवपूजक, मधुरभाषी, स्थिरचित्त, निर्मल-मन, स्वल्परागी, प्रकृति से ही विकार-रहित और साधारणतया परमार्थ का ज्ञाता न होने पर भी तत्वज्ञानी जैसा दिखाई देता था। फिर उसका सुसाधुओं से सम्पर्क/परिचय हुआ, उनके पास आने-जाने के प्रसंग बढे और * उनके व्याख्यान सुन-सुन कर जैन आगमों का भी कुशल जानकार हो गया। हे भद्रे। धर्मिष्ठ प्रकृति का होते हुए भी अकलंक का मेरे प्रति स्नेहभाव होने से हम दोनो निरन्तर आनन्दपूर्वक क्रीडा विलास करते रहते। [५९-६३]

एक दिन मैं प्रातःकाल में विचक्षण अकलंक को साथ लेकर क्रीडा करने के लिये मनोहारी बुधनन्दन उद्यान में गया। मेरी इच्छा को मान देकर दोपहर तक वह मेरे साथ खेला। तत्पश्चात् जब उसकी इच्छा घर जाने की हुई तब मैंने कहा कि इस उद्यान के मध्य मे एक बडा मन्दिर है, वहाँ चलकर थोडी देर विश्राम करें, फिर घर चलेगे। [६४-६६]

मुनि-दर्शन

अकलंक ने मेरी बात मान ली और हम दोनों उद्यान के मध्यभाग में स्थित विशाल जिन मन्दिर मे प्रविष्ट हुए। अन्दर जाकर हम दोनो ने नम्रभाव से जिनेश्वर भगवान् की स्तुति की और वापस बाहर आये। मन्दिर के बाहर अकलक ने श्रेष्ठ मुनिगणों को देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि आज अष्टमी होने से वे नगर के उपाश्रय से यहाँ देव-वन्दन के लिये आये है। यह भी ज्ञात हुआ कि सभी साधुओं ने पहले तीर्थंकर भगवान् को विधिपूर्वक वन्दन किया, फिर अलग-अलग

* पृष्ठ ६१२

स्थानों पर बैठकर सिद्धान्त-वाचन, सूत्र-पाठ और ज्ञान-ध्यान में अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। ये सभी साधु अत्यधिक निर्मल कान्ति-सम्पन्न थे और दूर-दूर बैठे हुए ऐसे लग रहे थे मानो बाह्यद्वीप समुद्र में स्थित चन्द्र हों! बाह्य दृष्टि से भी बुद्धिशाली दिखाई देते थे। अत्यन्त सुन्दर आकृति वाले और इच्छित फल को देने वाले वे साधु कल्प-वृक्षों के समान सुशोभित हो रहे थे। [६७–७२]

उस समय अकलंक ने मुझ से कहा—कुमार घनवाहन! देखो, देखो! ये मुनिपुंगव कामदेव जैसे रूपवान, सूर्य जैसे तेजस्वी, मेरु पर्वत जैसे स्थिर, समुद्र जैसे गम्भीर और महाऋद्धिवान देवताओं के समान लावण्य सम्पन्न दिखाई देते हैं। ये ऐसे अनेक गुणों के भण्डार तेजस्वी महापुरुष तो राज्य-भोग भोगने के योग्य हैं, फिर ये भाग्यशाली पुरुष ऐसे दुष्कर चारित्र का पालन क्यों करते हैं? इन्होंने ऐसे कठिन साध्वाचार को क्यों ग्रहण किया होगा? मेरे मन में ऐसे कई स्वाभाविक प्रश्न उठ रहे हैं और मन में कौतूहल पैदा हो रहा है, अतः चलो, हम इन मुनि-पुंगवों के पास चलें और प्रत्येक से वैराग्य का कारण पूछें।

मैंने भी अकलंक के प्रस्ताव को स्वीकार किया और हम दोनों उन मुनिगणों के पास प्रश्न पूछने के लिये चले गये।

२. लोकोदर में आग

सिद्धान्त का पाठ करते हुए एवं ज्ञान-ध्यान में व्यस्त अलग-अलग बैठे हुए मुनियों में से एक के पास मैं और अकलंक गये। पहले हम दोनों ने मुनिराज को वंदन किया। फिर अकलंक ने शांत स्वर से मुनिराज से पूछा—भगवन्! आपका संसार पर से वैराग्य होने का क्या कारण बना?

उत्तर में मुनि बोले—सुनिये, मैं लोकोदर नामक ग्राम का रहने वाला एक कौटुम्बिक/गृहस्थ हूँ। एक रात इस नगर में चारों तरफ भारी आग लग गई। चारों तरफ धुँए के बादल छा गये और अधिकाधिक अग्नि-ज्वाला की लपटें निकलने लगीं। बांस फूटने जैसी कड़-कड़ की आवाजें होने लगी। आवाजें सुनकर लोग जाग गये। चारों ओर कोलाहल मच गया। बच्चे चिल्लाने लगे, स्त्रियां दौड़-भाग करने लगीं, अन्धे हो-हल्ला/कोलाहल करने लगे, पंगु उच्चस्वर से रोने लगे, कुतूहली खिलखिलाने लगे,* चोर चोरी करने लगे सब वस्तुएं जलने लगीं, कंजूस लोग विलाप करने लगे और सम्पूर्ण नगर माता-पिता-रहित अनाथ जैसा हो गया।

* पृष्ठ ६१२

सम्पूर्ण नगर तथा जन-समूह को जलाने वाली इस आग को देखकर एक बुद्धिमान मंत्रवादी बाहर आया। नगर के बीच गोचन्द्रक (एक ऊंचे चबूतरे) पर खडे होकर उसने पहले स्वयं कवच धारण किया, फिर चारो तरफ मन्त्रित रेखा खींचकर चबूतरे के मध्य में एक विशाल मण्डल बना लिया, फिर उच्च स्वर मे नगर के लोगो को बुलाने लगा—'भाईयो! आप सब इस मन्त्रित मण्डल मे आ जाइये, यहाँ आपके शरीर और वस्तुएं नही जलेंगी।' उसकी आवाज सुनकर कुछ लोग उस मन्त्रित मण्डल मे चले गये।

अन्य लोग पागल, शराबी, हृदय-शून्य, आत्मशत्रु और ग्रह-ग्रसित की तरह अपने शरीर और सर्वस्व को जलते हुए देखकर भी मूर्खों की भांति आग मे घास, लकडिया और घी से भरे हुए घडे डालकर आग को बुझाने का प्रयत्न करने लगे। इस विचित्र परिस्थिति को देखकर मण्डल में प्रविष्ट लोगो मे से कुछ ने कहा—'अरे भोले लोगो! यह आग को बुझाने का उपाय नही है। या तो जल डालकर अग्नि को शात करो या मत्रवादी द्वारा मन्त्रित मण्डल मे चले आओ, जिससे हमारी भांति तुम भी आग से बच सकोगे।' परन्तु लोगो ने उनकी बात को अनसुना कर दिया। कुछ ने सुनकर भी लापरवाही की, कुछ तो हसी उडाने लगे और उलटा उपदेश देने लगे तथा कुछ तो क्रोधित होकर मारने भी दौडे। यह देखकर मण्डल के लोग चुप हो गये। कोई-कोई समझदार पुण्यशाली प्राणी मण्डल मे प्रविष्ट भी होते रहे।

कुमारों! मेरी तथाविध भवितव्यता होने से मुझे मण्डल मे रहे हुए लोगो की बात रुचिकर प्रतीत हुई अत: मै कूदकर मण्डल मे चला गया। मण्डल मे प्रविष्ट होकर मैंने देखा कि पवन के वेग से आग बढ रही है और नगर के सभी लोग रोते-चिल्लाते और चीखे मारते हुए आग मे जल रहे है। तदनन्तर मण्डल मे रहने वाले कई लोगो ने दीक्षा ग्रहण की, उस समय मैं भी उनके साथ प्रव्रजित हो गया। हे भद्र! यही मेरे वैराग्य का कारण है।

उपनय

मुनि की बात सुनकर अकलंक अत्यन्त प्रसन्न हुआ और दूसरे मुनि के पास जाने के लिये उठ खड़ा हुआ। मै तो इस कथा का कुछ भी भावार्थ नही समझ सका, अत: मैंने अकलंक से पूछा—

कुमार! मुनि ने वैराग्य का जो कारण बतलाया उसे सुनकर तुम्हें तो अत्यधिक प्रसन्नता हुई, किन्तु मुझे तो कुछ भी समझ मे नही आया, अत. तुम मुझे इसका भावार्थ ठीक से समझाओ। [७२]

अकलक बोला—भाई! मुनि ने जिसे लोकोदर ग्राम कहा है उसे इस ससार को समझो,* और इस ससार में वह रहता है ऐसा समझो। महामोह के

* पृष्ठ ६१४

अन्धकार को रात्रि समझो। राग-द्वेष रूपी अग्नि से यह नगर निरन्तर जलता ही रहता है। तामसभाव/कषाय परिणति से धूए के बादल छाये रहते हैं। राजसभाव रूपी आग के शोले भभकते रहते है। ससार के क्लेश को बांस फूटने की आवाज समझो। राग-द्वेष रूपी अग्नि से उत्तप्त होकर लोग जाग उठते है और कोलाहल करते है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषाय बालक दारुण क्रन्दन करते हैं। कृष्ण, नील, कपोत अशुद्ध लेश्या रूपी स्त्रियां हाफती हुई दौड़ने लगती है। ससार मे रागाग्नि से तप्त मूर्ख प्राणी अधो की तरह चिल्लाते है। वस्तुस्थिति को जानकर भी उस पर आचरण नही करने वाले पगु उच्च स्वर से रोते है। नास्तिक हसोडो की तरह व्यर्थ की धमाचौकड़ी करते है। इन्द्रिय रूपी चोर धर्म-सर्वस्व की चोरी करते है। राग रूप अग्नि से आत्मगृह की अच्छी-अच्छी वस्तुए जलने लगती है। कुछ लोग चिल्लाते है, 'क्या करे ?' इस भयकर आग को बुझाने मे हम असमर्थ है, इसे कजूसो का विलाप समझो। भाई ! साधु ने इस संसार मे लगी हुई भीषण आग का वर्णन किया और उसके द्वारा फैल रही अव्यवस्था को चित्रित किया। लोग परस्पर एक-दूसरे को नही बचा सकते, इसीलिये ससार रूपी नगर को अनाथ कहागया। यहाँ मन्त्रवादी को विशुद्ध परमेश्वर सर्वज्ञ महाराज समझो, जिन्होने उठकर गोचन्द्रक आकार के मध्यलोक मे आत्मकवच धारण कर सूत्र के मन्त्रो से रेखाये-खीचकर तीर्थ-मण्डल की स्थापना की और धर्मोपदेश के आकर्षण से लोगो को अपने मण्डल मे बुलाया। तीर्थंकर/मन्त्रवादी की धर्मदेशना/आह्वान से उत्साहित होकर कुछ भाग्यशाली पुरुष उनके तीर्थमण्डल मे प्रविष्ट हुए पर उनकी सख्या अत्यल्प थी; क्योकि ससार के जीवों की सख्या की अपेक्षा से वे उसके अनन्तवे भाग जितने ही थे। जो सर्वज्ञ के तीर्थ में मन्त्रवादी के मण्डल मे गये वे ससाराग्नि दावानल से बच गये। [७४–८६]

अन्य महामूर्ख लोग राग-द्वेष रूपी अग्नि से जल रहे इस ससार को विषयो से शात करने का प्रयत्न करने लगे। जो स्त्री-पुत्रादि पर आसक्ति रखकर, धन एकत्रित करते हुए पाँचो इन्द्रियो को खुली छोड कर इस ससाराग्नि को बुझाने का प्रयत्न करते है, वे तो उसमे घास के पूले और लकड़ी के गट्ठर डालकर उसको बढाते ही रहते हैं। जो लोग बार-बार कपट, लोभ, अभिमान, क्रोध आदि से इस अग्नि को शात करने का प्रयत्न करते है, वे इसमे घी के घडे डाल कर उसे बढाने का काम ही करते है।* तीर्थ-मण्डल के अन्दर प्रविष्ट लोग बार-बार उन्हें समझाते है कि घास, लकडी और घी डालने से अग्नि बुझेगी नही, वह तो और अधिक भड़केगी, पर वे नही समझते। बार-बार बताने पर भी कि ससाराग्नि तो प्रशम जल के छिडकाव से ही शांत होगी, वे उसका उपयोग नही करते और न सत्तीर्थ रूपी मण्डल मे ही प्रविष्ट होते हैं। संसाराग्नि को बुझाने की बात सुनकर उस पर आचरण करना तो दूर रहा, प्रत्युत वे ऐसा उपदेश देने वालो की हसी उड़ाते है। इन मुनि-महात्माओ की भाति कोई सा व्यक्ति ही वस्तुस्थिति को समझ पाता है।

* पृष्ठ ६१५

इन्होने सत्य को समझा और प्रबुद्ध होकर सर्वज्ञ के तीर्थ-मण्डल मे प्रविष्ट हुए। तत्पश्चात् इन्होने देखा कि ससारोदरवर्ती सभी लोग राग-द्वेष रूपी अग्नि से अत्यन्त विह्वल होकर जल रहे है और अशुद्ध अध्यवसाय रूपी पवन इस अग्नि को और अधिक बढा रहा है। ग्रामीणो के समान अज्ञानी जैसे-जैसे अधिक रोते-चिल्लाते है, वैसे-वैसे तीर्थ-मण्डल मे सुरक्षित मुनियो के आँखो के सामने यह धधकती अग्नि उन्हे अधिक जलाती है। [९०-९८]

अन्त में मुनि ने कहा कि मण्डल के भीतर रहने वाले कुछ लोगो ने दीक्षा ग्रहण की और उनके साथ मैने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। हे भद्र घनवाहन! मुनि के इस वाक्य में भी वक्रोक्ति है। मैने पूछा—कुमार! इस समस्त घटना में वक्रोक्ति कैसे है? अकलंक ने कहा—तीर्थ मण्डल मे चार प्रकार के लोग होते है—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इस वाक्य का अर्थ यह है कि तीर्थमण्डल मे रहने वाले सभी लोग दीक्षा नही ले पाते, कुछेक ही दीक्षा लेते है, उन्ही मे से एक ये मुनि भी है। हे भद्र! सारी कथा में वक्रोक्ति से मुनि ने संसाराग्नि को वैराग्य का कारण बताया है। यह कथा बहुत चमत्कारपूर्ण होने से उसे सुनकर मेरा चित्त अत्यन्त हर्षित हुआ। हे भद्र! मैने यह भी सोचा है कि मुनि महाराज ने जो बात कही है वह पूर्ण सत्य है। निरन्तर जलता हुआ यह संसार सज्जनो के लिये तो वैराग्य का कारणभूत ही होता है। यह भी सत्य है कि मूर्ख/जडबुद्धि लोग अपनी आत्मा को इस ससाराग्नि मे जलाते है, जबकि उनमे से कुछ बुद्धिशाली लोग उससे बाहर निकल जाते है। इन मुनि महाराज ने हम दोनो को प्रतिबोधित करने के लिये ही लोकोदर मे आग लगने की कथा को अपने वैराग्य का कारण बताया है। [९९-१०५]

मुझे लगता है कि वे ऐसा कह रहे है—'अरे भाइयो! इस प्रदीप्त आग से जल रहे ससार मे तुम दोनो भी जल रहे हो। तुम्हारे जैसे विवेकीजनो को तो तीर्थ-मण्डल मे प्रविष्ट हो जाना चाहिये। जो भाग्यवान प्राणी भावपूर्वक हमारे इस तीर्थ-मण्डल मे प्रवेश करते है, उन्हे राग-द्वेष की यह अग्नि कभी जला नही सकती।' ये मुनि-श्रेष्ठ इस कथा द्वारा हमे भी यह उपदेश सुना रहे है, ऐसा मुझे स्पष्ट लग रहा है। भाई घनवाहन! मुनिसत्तम के ये उत्तम विचार मुझे तो बहुत ही प्रिय लगते है, तुम्हे रुचिकर है या नही, यह मै नही जानता। [१०६-१०८]

हे भद्रे! अकलक की उपरोक्त बात सुनकर* मै तो चुप ही रहा। मैंने कोई उत्तर नही दिया, क्योकि मेरा मन अभी तक पाप से भरा हुआ था, पाप-पूर्ण ससार मे ही आसक्त था।

वहाँ से हम मन्दिर के बाहर ज्ञान-ध्यान मे रत दूसरे मुनि के पास पहुँचे और उन्हे वन्दन किया। [१०९-११०]

---

* पृष्ठ ६१६

३. मदिरालय

धनवाहन के भव में संसारी जीव अपनी आत्मकथा को आगे बढ़ाते हुए अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर कह रहा है। दूसरे मुनि के पास पहुँच कर हम दोनों ने वन्दन किया, फिर अकलंक ने पूछा—भगवन्! इतनी छोटी उम्र में आपके दीक्षा लेने का क्या कारण है?

उत्तर मे मुनि बोले—सौम्य! सुनो, शराबियों के एक बड़े समूह को मद्य पीने मे तत्पर देखकर मुझे वैराग्य हो गया। मेरे शरीर के सभी अंग मद्य के नशे में चूर हो गये थे और मैं एक बड़ा मद्यपी बन गया था। मुझ पर कृपा कर ब्राह्मण महात्माओं ने मुझे प्रतिबोधित किया, जिससे मुझे वैराग्य हो गया। [१११-११३]

मदिरा और मदिरालय

अकलंक—पूज्य! इस मद्यशाला का विस्तृत वर्णन कर यह बताने की कृपा करें कि वे मद्यपी कैसा व्यवहार करते थे और वे ब्राह्मण कौन थे?

मुनि—सुनिये, यह मद्यशाला अनेक घटित घटनाओं से युक्त और अनन्त लोगों से परिपूर्ण होने से इसका सम्यक् प्रकार से वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? तदपि हे नरोत्तम! मैं आपके समक्ष उसका संक्षेप मे वर्णन करता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनें। [११४-११६]

यह मद्यशाला अनेक प्रकार की सुवासित मदिरा से लोगों को सन्तुष्ट करती है। सुन्दर पात्रों में चित्र-विचित्र शरावें शोभायमान हैं। इसके चषक (मद्यपात्र) काले कमल के समान सुन्दर हैं। मदिरा और मद्यपान मद्यरसिकों के प्रमोदानुभूति का कारण है। [११७]

इसमें रहने वाले सभी लोग मदिरा के नशे में धुत्त रहते हैं। वे नाचते-कूदते और हंसी-मजाक करते हुए प्रफुल्लित होते हैं। बाह्य दृष्टि से देदीप्यमान तूफानी लोग मुंह से सीटियाँ बजाते हुए गीत गाते रहते हैं। परस्पर ताल देते हुए एक ही साथ सैंकड़ों रास करते रहते हैं। [११८]

यह मद्यशाला सुन्दर आकृति वाले अनेक प्रौढ़ प्राणियों से भरी है। इसमें प्रगाढ मद से उन्मत्त एवं उद्धत अनेक स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं। यह शाला इतनी लम्बी है कि इसका प्रारम्भ कहाँ से हुआ और अन्त कहाँ पर है? कुछ पता नहीं लगता। यह लोकाकाश नामक भूमि में स्थित है। [११९]

इसमें करोड़ों मृदंग और कांसे बजते रहते हैं वीणा के नाद से इसके आनन्द में वृद्धि होती रहती है। बांस (बांसुरी) आदि वाद्ययन्त्रों की ध्वनि से युवा बराती

अधिक उद्धत होते है और वे हजारो प्रकार की विचित्र आवाजे करते रहते है। [१२०]

मद्यशाला में नृत्य, गायन, विलास, मद्यपान, भोजन, दान, आभूषण और मान-अपमान की धमाल चलती ही रहती है। यहाँ अनेक विचित्र उलटी-सुलटी विचार-तरगे चलती ही रहती है, जिससे यह मद्यशाला लोगो को चमत्कार का कारण प्रतीत होती है। [१२१]

हे भद्र! अनेक विध विभ्रम चेष्टाओ वाले रसिकजनो से सर्वदा सेवित और सर्व सामग्री से परिपूर्ण इस मद्यशाला को मैने देखा। हे सौम्य! लोक मे ऐसा कोई नाटक या आश्चर्य नही जो मैंने इस मदिरालय में अनुभूत न किया हो। [१२२-१२३]

मदिरालय के मुख्यत: निम्न तेरह विभाग है :—

१. यहाँ अनन्त लोग शराब के नशे में धुत्त पडे रहते है। वे बेचारे न तो कुछ बोलते है, न कोई चेष्टा करते है और न कोई विचार करते है। वे किसी प्रकार का कोई लौकिक व्यवहार भी नही करते है, मात्र मृतप्राय: की तरह मूछित अवस्था में पड़े रहते है। [१२४-१२५]

२. यहाँ दूसरे भी अनन्त लोग है। वे भी उपरोक्त के समान ही मूछित अवस्था मे रहते है, पर वे * कभी-कभी बीच-बीच मे कुछ-कुछ लौकिक व्यवहार करते है। [१२६]

३. यहाँ पृथ्वी और पानी आदि के रूप और आकृति धारण करने वाले असख्य लोग उपरोक्त अवस्था मे नशे मे धुत्त पड़े रहते है। [१२७]

४. यहाँ असंख्य लोग ठू स-ठू स कर मात्र मदिरा का स्वाद ही लिया करते है। ये न कुछ सू घते है न कुछ देखते है और न कुछ सुनते है। शून्यचित्त वाले ये लोग जमीन पर लोटते रहते है। नशे की घेन मे जीभ से कुछ स्वाद लेते रहते है और कभी-कभी चिल्लाते रहते है। [१२८-१२९]

५. यहाँ पूर्वोक्त स्वरूप धारक असख्य लोग ऐसे भी है जो केवल सू घते है, देख-सुन नही सकते [१३०]

६. यहाँ असख्य लोग नशे मे घूरते हुए आखे खोल-खोल कर सामने पडी वस्तु को देखते तो है, पर सुनते नही। इनकी चेतना पर भी मदिरा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। [१३१]

७. यहाँ असंख्य लोग मदिरा के नशे मे चेतना-शून्य हो गये है। इनके मन मर गये है इसलिये मनरहित माने जाते है। [१३२]

८. यहाँ असख्य लोग स्पष्ट चेतना वाले तो है किन्तु सर्वदा अधिक नशे की अवस्था मे होने के कारण वे दुष्ट शत्रुओ द्वारा बार-बार छेदे, भेदे और चीरे

* पृष्ठ ६१७

जाते है। वे आपस मे भी छेदते, भेदते और काटते रहने के कारण तीव्र वेदना भोगते रहते हैं। [१३३-१३४]

९ यहाँ ऐसे असंख्य लोग है जिनके चित्त शराब की घेन में भ्रमित चित्त वाले हो गये है। कौनसा काम अकरणीय है, यह तो वे समझते ही नही। वे पशु-पक्षी की आकृति को धारण करने वाले, मुंह से चिल्लाने वाले, अपनी माँ के साथ भी सभोग करने वाले, धर्म-अधर्म को नही जानने वाले, कुछ भी कार्य करने वाले और अव्यक्त बोली बोलने वाले है। उनमें से कुछ नशे मे जमीन पर लोटते है, कुछ आकाश में उड़ते है और कुछ पानी में डुबकी लगाते है। ये लोग परस्पर लड मरते है और अत्यन्त कठोर दु.ख सहन करते है। सचमुच शराब समस्त आपत्तियो का कारण है। [१३५-१३९]

१०. इस मद्यशाला मे दो प्रकार के असंख्य मनुष्य है—मदमत्त बने हुए असख्य और दूसरे सख्यात। जो नशे मे मत्त है वे बेचारे भूमि पर लोटते है, वमन थूक, पित्त, विष्टा और मूत्र खाते-पीते है। हे भद्र! दूसरी प्रकार के ये सख्यात मनुष्य नशे मे मत्त होकर परस्पर लड़ते हैं, कूदते है, नाचते है, उच्च स्वर मे हसते है, गाते हैं, व्यर्थ का भाषण करते है, बेकार फिरते है, जमीन पर लोटते है और दौड़ा-दौड़ करते है। विलास के आनन्द-रस मे मैल, कचरा, मांस, श्लेष्म आदि तुच्छ वस्तुओ से भरी हुई स्त्रियो के मुख और नेत्रो का चुम्बन करते है* और विवेकी मनुष्य को लज्जा आने योग्य बिब्वोक आदि विचित्र आचरण करते है। माँ-बाप को भी मारने लगते है, चोरी आदि अनार्य कार्य करते है और कैसे भी भ्रष्ट कार्य हो उनमें तत्पर हो जाते है। परिणामस्वरूप राजपुरुषो द्वारा पकडे जाते है, अनेक प्रकार की भयकर तीव्र वेदना और मार सहन करते है। [१४०-१४६]

११ इस विभाग मे असख्य प्राणी ऐसे है जिन्हे चार उपविभागो मे बाट दिया गया है। ये भी मदिरा के नशे मे मस्त होकर कलवल-कलबल करते रहते है। यहाँ इनके सन्मुख अविरत रूप से बासुरी और वीणा के मधुर स्वर होते रहते है, नाटक और खेल चलते रहते है, आनन्द-विलास और वादित्रो के मधुर स्वर चलते रहते है। इस धमाल मे वे स्वय भी नाचते, कूदते, हसते, रोते और अपनी स्त्रियो के साथ अपनी आत्मा की अनेक प्रकार की विडम्बनाये करते रहते है। मदिरामत्त होने से वे एक-दूसरे से ईर्ष्या करते है, शोक करते हैं, अभिमान से फूलते है, कभी-कभी अकार्य भी कर बैठते हैं। ये चारो समुदाय वाले अपने आप को सुखी मानते हैं, पर वास्तव मे वे दु खी ही हैं। [१४७-१५०]

१२ इस मदिरालय मे सख्यात लोग ऐसे भी है जो मदिरा नही पीते और मध्यस्थ भाव से रहते हैं। मदिरा पीने वाले लोग प्रतिदिन इनकी हसी उड़ाते है और असूया से इनको ब्राह्मण के नाम से बुलाते हैं। [१५१-१५२]

---

* पृष्ठ ६१८

१३. हे सौम्य ! इस मद्यशाला के बाहर अनन्त लोग ऐसे भी हैं जो स्वयं महाबुद्धिशाली है और मदिरा सेवन से रहित है। वे इस अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित मद्यशाला से सदा के लिये दूर होकर बाधा-पीड़ाओ से रहित हो गये है और निरन्तर आनन्दोत्सव मे मग्न रहते हैं। [१५३-१५४]

हे भद्र ! इस मद्यशाला (लोक) मे अनेक विभागो मे से उपरोक्त मुख्य तेरह विभागो का स्वरूप संक्षेप में मैंने तुम्हे बताया। मै स्वय भी मदिरा के नशे मे मत्त होकर उपरोक्त वर्णित पहले विभाग मे अनन्त काल तक रहा। फिर किसी प्रकार क्रमश: दूसरे, तीसरे और चौथे विभाग मे मदघूर्णित होकर उद्दाम लीला करता हुआ बहुत काल तक रहा। उपरोक्त तेरह में से प्रथम और अन्तिम के दो विभाग अर्थात् तीन विभागो को छोड़कर शेष दसो विभागों में मद्यपी की दशा मे पापों के कारण मै अनन्त बार भटकता रहा। [१५५-१६०]

मदिरालय की भूमि जो वमन, पित्त, मूत्र, विष्टा, कफ आदि अपवित्र वस्तुओं से वीभत्स और दुर्गन्धित हो रही थी, उसमे मै मद्यपी की दशा मे लोटा, गुलाचे खायी, घुटनो के बल चला, खड़ा हुआ, गिरा, नशे में चिल्लाया, कभी हसा, नाचा, रोया, दौड़ा,* लोगो से लड़ा, बलवान लोगो से प्रतिक्षण मार खाई और प्रहारों से शरीर जर्जर हो गया। इस प्रकार लाखो दु.खो से उत्पीड़ित/त्रस्त होकर भी मै इस मद्यशाला में विचरता रहा। [१६१-१६४]

एक बार इस मद्यशाला मे स्थित मुझ पर किसी ब्राह्मण की दृष्टि पड़ी। उसको मुझ पर करुणा/दया आयी। उसने सोचा कि यह बेचारा स्वय को शराब के व्यसन से अत्यन्त दु.ख का अनुभव कर रहा है, अत· किसी उपाय द्वारा इसका व्यसन छुड़वाना चाहिये जिससे यह भी हमारी तरह से सुखी हो सके। यह सोचकर ब्राह्मण ने मुझे प्रतिबोध देने का, समझाने का प्रयत्न किया। वह पुकार-पुकार कर मुझे सच्ची बात समझाने लगा किन्तु मदिरा के नशे मे मत्त मैं उसकी बात को न सुनकर शून्य चेतन जैसा मद्यशाला के विभिन्न विभागो मे भटकता रहा। जब ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा तो मैंने थोड़ा सा हुकारा दिया, तब उसने मुझे बुलाने का बहुत प्रयत्न किया। इस अवसर पर मदिरा का नशा कुछ कम होने से मेरी चेतना प्रकट होने लगी और मैंने उत्तर दिया। तत्पश्चात् उसने विस्तार से मदिरा के दोष बताये। मुझे भी उसकी बात पर विश्वास हुआ और मैंने मदिरापान के त्याग का निश्चय किया और मै भी उसके जैसा ब्राह्मण बन गया। सभी ब्राह्मणो ने दीक्षित होकर साधु-वेष पहन रखा था अत: मैने भी साधु-वेष धारण कर लिया। यद्यपि शराब से जो अजीर्ण मुझे हुआ था वह अभी तक नहीं मिटा है तदपि मुझे आशा है कि दीक्षा के प्रभाव से मैं अपने सारे अजीर्ण को समाप्त कर दूंगा। हे भद्र ! यही मेरे वैराग्य का कारण है।

---

* पृष्ठ ६१६

हे वहिन अगृहीतसंकेता ! साधु महाराज की उक्त वार्ता सुनते हुए ही अकलंक के मन में उस सम्बन्ध मे विचार-विमर्श चलने लगा जिससे उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया । पूर्वभव में अभ्यास किये गये ज्ञान का स्मरण होने से उसे कथा का भावार्थ समझ मे आ गया जिससे वह बहुत प्रमुदित हुआ और मुनि महाराज को वन्दना कर तीसरे मुनि की ओर जाने लगा ।

कथा का उपनय

पहले की भांति ही मैंने (घनवाहन ने) अकलङ्क से कहा कि इस वार्ता का भावार्थ मैं नही समझ पाया हूँ, अत. स्पष्ट रीति से इसका रहस्य मुझे बतला दे । मेरी जिज्ञासा देखकर अकलंक बोला—भाई घनवाहन ! यह संसार ही मद्यशाला है । इस रूपक के द्वारा मुनि ने स्वयं को संसार से वैराग्य होने का कारण बतलाया है । तू इस उपनय को ध्यानपूर्वक सुन ।

यह संसार वस्तुतः मदिरालय के समान ही है, क्योकि इसमे अनन्त घटनायें घटित हो चुकी हैं, हो रही है और होती रहेगी । इसमें अनन्त जीव शराबी का चरित्र निभा रहे हैं । आठ प्रकार के कर्म और उनके भिन्न-भिन्न भेद अनेक प्रकार के मद्य हैं । इनमे से चार प्रकार के कषाय आसव है, नौ प्रकार के नोकषाय सिरके हैं, चार घाति कर्म मदिरा है, भिन्न-भिन्न गति के आयुष्य मदिरा के आधारभूत होने से चित्र-विचित्र मद्यपात्र (भाण्ड) हैं, प्राणियो के शरीर कर्मरूपी मद्य का उपयोग करने से मद्य पीने के पात्र है, इन्द्रियाँ शरीर को विभूषित करने वाली होने से और अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से उन्हे काले कमल की उपमा दी गई है । * कर्मरूपी मद्य से उन्मत्त लोट-पोट बने लोग नाचते, कूदते, हँसते रास-विलास करते और विब्वोकादि अनेक प्रकार की चेष्टाये करते हैं उन्हे कलकल ध्वनि, उनके आपसी लड़ाई-झगड़ों को मृदंग, दुष्ट लोगो द्वारा उत्पन्न क्लेश को कांसे और दु.खी प्राणियो के मंद-मंद विलाप को वीणा की उपमा दी है । लोगो की शोकपूर्ण करुण चीत्कार को वांस (बांसुरी) की आवाज, आपद्ग्रस्त प्राणियो की चेष्टाओ को मुगुन्द की आवाज, प्रिय वियोग की अवस्था मे दीनता प्रकट करने वाले विलाप को करताल की आवाज कहा गया है । अत्यन्त अज्ञान के वशीभूत मूर्ख लोग बरातियो का अनुकरण करते हैं ।

इसमे कमनीय आकार के धारक देवता पात्र का रूप धारण करते है और उनकी अप्सराये गाढ मदोद्धत युवती स्त्रियों का । यह मद्यशाला इतनी विशाल और लम्बी है कि इसके प्रवेश और अन्तिम छोर का कुछ पता ही नही लगता, अर्थात् यह अनादि अनन्त है ओर सर्वदा लोकाकाश मे स्थित है । इसमे नाच, गायन, विलास, मद्यपान, भोजन, दान, अलंकार-ग्रहण, मान-अपमान आदि चित्र-विचित्र भाव चलते ही रहते है, जो अज्ञानी प्राणियो के ससार-वर्धन और विवेकी प्राणियो के वैराग्य का कारण बनते है ।

---

* पृष्ठ ६२०

मुनि महाराज ने मद्यशाला के जो तेरह प्रकार के प्राणियो के विभाग बताये है उन्हे विभिन्न अवस्थाओ के जीव समझना। इन विभागो का भावार्थ इस प्रकार है—१. असव्यवहार वनस्पति, २. सव्यवहार वनस्पति, ३. पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि के एकेन्द्रिय, ४ बेइन्द्रिय, ५. तेइन्द्रिय, ६ चौ इन्द्रिय, ७. असज्ञी पचेन्द्रिय, ८ नारकीय, ९. पचेन्द्रिय तिर्यंच, १०. समुच्छिम और गर्भज मनुष्य, ११. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव, १२. ब्राह्मण के नाम से बतलाये गये इन्द्रियो पर सयम रखने वाले त्यागी वैरागी सयत मनुष्य और १३. ससार मद्यशाला से बाहर हुई मुक्त आत्माएं।

इन सभी प्राणियों की संख्या और इनके लक्षण भी साथ में बताये गये है। उनके सम्बन्ध में होने वाली चित्र-विचित्र घटनाओ का भी सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इसमे मुनि महाराज ने स्वय अपने आप को कर्म-मद्य का पान करने वाला बताया और किस-किस विभाग मे कितना-कितना भटकना पडा, यह भी बतलाया। ये पहले असव्यवहार जीव राशि में अनन्त काल तक रहे। वहाँ से अनन्त काल व्यतीत होने पर बड़ी कठिनाई से बाहर निकले और सव्यवहार वनस्पति जीव राशि मे बहुत समय तक रहे। तदनन्तर दशो विभागो/स्थानों मे बारबार घूमते/भटकते रहे। इनको पहले असंव्यवहार विभाग मे फिर से और अन्तिम दो ब्राह्मण एव मुक्तात्माओ के विभाग मे अभी तक प्रवेश नही मिल सका है। इन तीनो स्थानो के अतिरिक्त दस विभागो मे इन्हे कैसी-कैसी तीव्र पीडाये सहन करनी पडी यह इन्होने स्पष्ट किया।

हे सौम्य ! मुनि महाराज ने इस वार्ता द्वारा हमे भी समझाया है कि यह ससार मद्यशाला जैसी है और आत्मा के दुःख का कारण है।* अन्त मे उन्होने कहा कि 'मद्यशाला स्थित ब्राह्मणो ने उन्हे देखा और यत्नपूर्वक प्रतिबोधित किया' आदि की संघटना/योजना इस प्रकार घटित होती है। [१६५–१६६]

अनादि ससार मे तथाप्रकार के स्वभाव के योग से कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को भोग कर प्राणी मनुष्य भव मे आता है और सुसाधु-महात्माओ के सम्पर्क मे आने पर नदी मे घिसते पत्थर की तरह उसे द्रव्यश्रुत (ऊपरी ज्ञान) की प्राप्ति होती है किन्तु कर्म-मदिरा के नशे मे उसे सम्यक्त्व की तथा वास्तविक परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति नही होती, जिससे वह सत्क्रिया का आचरण नही कर पाता और श्रेष्ठ साधुओ के सम्पर्क का लाभ नही उठा पाता। यही प्राणी की कर्म-मद्य-सेवन की तीव्र इच्छा है। हे सौम्य ! यही कामना अतिभयकर और ससार-वर्धन का कारण है। इसके वशीभूत प्राणी बेभान होकर बार-बार परिभ्रमण करता है। जब काल आदि समस्त हेतु अनुकूल होते है तभी प्राणी अति दारुण कर्म की गाँठ को शुभ भाव से काटकर राधावेध की तरह अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होने वाले सद्-दर्शन को प्राप्त करता है। सुसाधु-ब्राह्मणो द्वारा प्रतिबोध के लिए बुलाने पर जब

---

* पृष्ठ ६२१

प्राणी हुकारा देता है, इसी को धर्मोपदेश के बोध की स्वीकृति समझना चाहिये। इसी को "दर्शन, मुक्ति-बीज, सम्यक्त्व, तत्त्ववेदन, दु.खान्तकृत्, सुखारम्भ" आदि नामो से जाना जाता है। ये सभी शब्द एक ही बात (हुंकार) की सूचना देते है। जब प्राणी सम्यग् दर्शन युक्त होता है तभी तत्त्वश्रद्धान से उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है, कृतकृत्य हो जाती है, फिर वह ससार समुद्र मे नही भटकता। ऐसा प्राणी सम्यग् शास्त्र के अनुसार जिसका जैसा वास्तविक स्वरूप होता है, उसे वैसा ही अपनी बुद्धिचक्षु से देखता है। जैसे किसी प्राणी का नेत्र-रोग नष्ट हो जाने पर उसे वस्तुओं का रूप ठीक-ठीक दिखाई देता है वैसे ही वह यथास्थित रूप को देखकर प्रशान्त अन्तरात्मा से परम सवेग-भाव का आश्रय लेकर वस्तुओ मे स्थित आन्तरिक भावो पर यथायोग्य विचार करता है। [१६७-१७७]

ऐसे प्राणी की विचारधारा इस प्रकार की होती है—यह भयकर ससार-समुद्र जन्म, मरण, वृद्धावस्था, व्याधि, रोग, शोक से परिपूर्ण और प्राणियो को अनेक प्रकार के क्लेश उत्पन्न कराने वाला है। जब कि जन्म-मरण-भय आदि क्लेशो से रहित और बाधा-पीड़ा-वर्जित स्थान मोक्ष ही प्राणी के लिये सुखकारी है। हिंसा आदि दु.ख ससार-वृद्धि के कारण और अहिंसा आदि बाधा-पीडा-रहित मोक्ष के कारण हैं। यो बुद्धि-चक्षु से ससार का निर्गुणत्व और मुक्ति के गुणत्व को देखकर विशुद्ध आत्मा आगम मे कथित नियमानुसार उसके लिए प्रयत्न करता है। जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रिय वल्लभा को प्राप्त करने के लिए अनेक दुष्कर कठिन कार्य करता है वैसे ही मोक्ष प्राप्त करने की दृढ इच्छा वाला प्राणी क्षुद्र प्राणियो को अति दुष्कर लगने वाले महान कार्यो और अनुष्ठानो को भी पूरा करता है। उपादेय मनोज्ञ वस्तु को प्राप्त करने के प्रयास मे जो कठिनतम अनुष्ठान आदि किये जाते है उससे उसके मन में तनिक भी पीड़ा नही होती, क्योकि साध्य को प्राप्त करने की मन मे दृढ इच्छा होती है और चित्त तथा विचार प्रतिबन्धित हो जाते है। एकबार साध्य को प्राप्त करने मे मन लग जाने के बाद उसके प्रयत्न मे किये गये परिश्रमो से उसे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती। ऐसे विचारवान व्यक्ति को तो उलटे त्याज्य वस्तु को ग्रहण करने मे कठिनाई होती है।* जैसे व्याधिग्रस्त व्यक्ति जब कटु औषधोपचार से आरोग्य प्राप्त करने लगता है तब उसे कड़वी दवा पीने मे भी बुरी नही लगती और उसे प्रीतिपूर्वक नियमित रूप से लेता है, वैसे ही उत्तम मनुष्य जब अपने को ससार-व्याधि से ग्रस्त देखता है और जब उपचार करने पर उसे समता रूपी आरोग्य प्राप्त होने लगता है तब वह साध्य को प्राप्त करने के लिए पूर्णशक्ति, प्रसन्नचित्त और दृढता से प्रयत्न करता है तथा उसमे अधिकाधिक प्रगति करता रहता है। इसी हेतु वह शुद्ध चारित्र को प्राप्त कर उसमे क्रमशः आगे बढता जाता है। तत्पश्चात् सर्वज्ञ बनकर, अन्त मे ज्ञानयोग से भवोपग्राही चार अघाती कर्मो का क्षय कर शाश्वत मोक्ष को प्राप्त

* पृष्ठ ६२२

करता है। प्राणी को ऐसी महान कल्याणकारी परम्परा अधिकांश में सत्साधु एव गुरुजनों की सेवा से ही प्राप्त होती है, इसीलिये मनीषियो ने कहा है—
[१७८-१८६]

भक्तिपूर्वक निरन्तर साधु-सेवा, भावपूर्वक प्राणियों के प्रति मैत्री और अपने आग्रह का त्याग ही धर्म हेतु के साधन है। [१९०]

साधु-सेवा से निरन्तर वास्तविक और शुभकारी उत्तम उपदेश प्राप्त होता है, धर्म का आचरण करने वाले महापुरुषो का दर्शन होता है और योग्य पात्र के प्रति विनय करने का प्रसग प्राप्त होता है। साधु-सेवा का यह कोई सामान्यफल नही अपितु महाफल है। [१९१]

मैत्री की भावना वाले प्राणी के शुभ भावो मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, शुभ भाव रूपी जल के छिडकाव से द्वेषरूपी अग्नि शान्त होती जाती है।
[१९२]

झूठे आग्रह का त्याग करने से निखिल दोषो को उत्पन्न करने और समस्त गुणो का घात करने वाली तृष्णा चली जाती है। इस प्रकार गुण समूह से युक्त होकर विशुद्ध आत्मा जब अपने आशय मे स्थिर होकर कार्य सिद्ध करती है तब तत्त्वज्ञानी उसे सम्यग् धर्म का साधक कहते है। [१९३-१९४]

भाई घनवाहन! मुनि ने जो यह बात कही, उसका रहस्य यही है कि करुणा-तत्पर ब्राह्मण का रूप धारण करने वाले ने मुनि को बोध दिया।
[१९५]

इस कथा मे मुनि ने जो अन्य बात कही वह तो प्रथम मुनि की कथा मे भी आ चुकी है, अत उसका निष्कर्ष स्पष्ट होने से मै पुनः वर्णन नही करता हूँ। यह तो स्पष्ट है कि त्याग (विरति) रहित समग्र प्राणी कर्मरूपी मद्य मे आसक्त और धुत्त रहते है, जब कि साधुगण संसार-मद्यशाला मे रहते हुए भी उससे दूर रहते है। इस मुनि को ब्राह्मण रूपी साधु ने कर्ममद्य से यत्नपूर्वक अलग किया और उसे दीक्षा दी, यही उसके वैराग्य का कारण है। दीक्षा के प्रताप से कर्मरूपी अजीर्ण के विष को समाप्त कर यह मुनि भी ससार-मद्यशाला से बाहर चले जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे।
[१९६-१९९]

भद्र घनवाहन! ऐसी दुःखद और गदी मद्यशाला मे अपने जैसो का जान-बूझ कर रहना उचित नही है। [२००]

हे अगृहीतसकेता! अकलक ने इस प्रकार इस कथा का विस्तार से विवेचन किया, पर मुझे तो उससे कुछ भी बोध प्राप्त नही हुआ। जैसे शून्य अरण्य मे मुनि मौन धारण करते हैं वैसे ही मै भी चुप रहा। फिर हम दोनो तीसरे मुनि के पास गये। [२०१-२०२]

४. अरहट-यन्त्र

बुधनन्दन उद्यान के मन्दिर के बाहर अलग-अलग बैठकर ज्ञान-ध्यान करने वाले मुनियो मे से अब हम तृतीय मुनि के पास पहुँचे। अकलक ने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक सच्चे हृदय से मुनि को वन्दन किया,* मैने भी वन्दन किया। फिर अत्यन्त विनयपूर्वक अकलंक ने मुनि से वैराग्य का कारण पूछा, तब मुनि ने कहा कि पानी निकालने के एक अरहट्ट (रहँट) यन्त्र को देखकर मुझे वैराग्य हुआ।

अकलक ने सोचा कि जिस प्रकार प्रथम मुनि को आग को देखकर और दूसरे मुनि को मद्यशाला को देखकर वैराग्य हुआ वैसे ही इस मुनि को रहँट को देखकर वैराग्य हुआ होगा। आनन्दित और स्मित हास्य से मनोहर दिखने वाले इस महात्मा से इस सम्बन्ध मे विशेष पूछने पर कुछ नवीन तथ्यो की जानकारी प्राप्त होगी, यह सोचकर प्रसन्न-वदन अकलक ने मुनि से पूछा—महाभाग! रहँट से आपको वैराग्य किस प्रकार हुआ। [२०३-२०६]

मुनि बोले—हे नरोत्तम! सुनो, मैने जिस पानी निकालने के अरहट्ट यन्त्र (रहँट) को देखा, वह पूरे वेग से चल रहा था। वह रात-दिन चलता था। वह सम्पूर्ण एक ही यन्त्र था और उसका नाम भव था। इसको खेंचने (चलाने) वाले राग, द्वेष, मनोभाव और मिथ्यादर्शन नामक चार खेडूत साथी थे। इन सब के ऊपर महामोह था, उसी महापुरुष के प्रताप से यह यन्त्र चल रहा था। इस रहँट यन्त्र को चलाने के लिये सोलह कषाय रूपी बैल लगे हुए थे जो बिना घास-पानी के भी चलते थे, फिर भी बहुत बलवान और उद्धत थे, अत्यन्त वेगवान और शीघ्रता से काम करने वाले थे। रहँट पर काम करने वाले हास्य, शोक, भय आदि कुशल सेवक थे और जुगुप्सा, रति, अरति आदि दासियां कार्य-तत्पर थी। इस यन्त्र पर दुष्टयोग और प्रमाद नामक दो बड़े तुम्बे लगे थे। विलास, उल्लास और बिब्बोक चेष्टा नामक आरे इस यन्त्र के चक्र मे लगे हुए थे। [२०७-२१२]

वहाँ असंयत-जीव नामक महाभयंकर अतिगहन कूप था जो अविरति रूपी जल से भरा था और वह इतना गहरा था कि इसका तल भी दिखाई नही देता था। उस यन्त्र मे जीवलोक नामक अत्यन्त विस्तृत और लम्बी घटमाला लगी थी जो पाप और अविरति रूपी पानी से भर-भर कर बाहर आकर खाली होती थी। इस यन्त्र को मरण नामक नौकर बार-बार चलाता था, उस समय पट्टिका-घर्षण से उत्पन्न खट-खट की तेज आवाज को विवेकी पुरुष दूर से ही सुन लेते थे।

[२१३-२१५]

* पृष्ठ ६२३

वहाँ कुए से निकले जल को ग्रहण करने वाली 'अज्ञान-मलिन आत्मा' नामक बड़ी नाली थी। पास ही जल-सचित करने के लिये मिथ्याभिमान नामक सुदृढ कुण्डी थी, जिसमे से सक्लिष्ट-चित्तता नामक छोटी नाली और भोग-लोलुपता नामक अति लम्बी पतली नाली निकल रही थी। यह नाली जन्म-सन्तान नामक खेत और अलग-अलग जन्म रूपी क्यारियो की सिंचाई करती थी, जिनमें कर्मप्रकृति नामक बीज बोया जाता था और तज्जीवपरिणाम नामक व्यक्ति यह बुआई कर रहा था। फलस्वरूप सुख-दुःख आदि धान्य-समूह उत्पन्न होता था। इस सब का कारण तो यह अरहट्ट यन्त्र ही माना जाता था। वहाँ सतत उत्साही असद्बोध नामक सिंचाई करने वाला सर्वदा तैयार ही रहता था जिसे महामोह राजा ने इसी कार्य के लिये नियुक्त कर रखा था। [२१६–२२१]

भद्र अकलंक ! ऐसी निखिल सामग्री से परिपूर्ण सतत भ्रमोत्पादक * ससार अरहट्ट यन्त्र पर मै लम्बे समय तक सोता हुआ पडा रहा। देखो, सामने ये भाग्यशाली मुनिराज जो ध्यानमग्न है, जो मेरे गुरु कहलाते है, उन्हे मुझ पर दया आई। उन्होने मुझे वहाँ सोया देखा, मेरी समस्त चेतना को गाढ मूर्छित देखा, तब बहुत प्रयत्न पूर्वक इन्होने मुझे प्रतिबोधित किया, जागृत किया। यह भव अरहट्ट कैसा है? इसके यथास्थित रूप का विस्तृत वर्णन किया और कहा— अरे मूर्ख ! इस पूरे यन्त्र का स्वामी तू ही है, इसके फल को भोगने वाला भी निःसंदेह रूप से तू ही है, फिर तू स्वय क्यो इस भव-अरहट्ट को नही जानता? भाई ! बराबर समझ, तू अनन्त दु.ख भोग रहा हे, भूतकाल मे भोगे है और भविष्य में भोगेगा। इसका कारण यह भव अरहट्ट ही है यह बात सशय रहित है, अतः तू इसका त्याग कर दे।

मार्गदर्शन कराने वाले इन परोपकारी महात्मा से मैंने पूछा—मै इस भव अरहट्ट का त्याग कैसे करूं ?

महात्मा ने बताया—हे महासत्वशाली ! तू दीक्षा ग्रहण कर। जो उत्तम प्राणी भाव से भागवती दीक्षा ग्रहण करते है, उनके सम्बन्ध मे यह भव-अरहट्ट अपने आप ही हीन और नष्ट प्राय: हो जाता है। [२२२–२२९]

मेरे गुरु के उपरोक्त वचन सुनकर मैने उन्हे भावपूर्वक स्वीकार किया और मैने दीक्षा ले ली। हे सौम्य ! मेरे वैराग्य का यही कारण है। [२३०]

मुनि महाराज के वचन सुनकर अकलक बोला—भगवन्। आपको वैराग्य का कारण तो बहुत अच्छा मिला। ऐसा कौन समझदार व्यक्ति होगा जिसे इस ससार-अरहट्ट चक्र को देख/समझ कर भी ससार से विरक्ति न हो ?

इन मुनि महाराज को भक्ति पूर्वक वन्दन कर अकलक और मै अन्य मुनि महाराज के पास चले गये। [२३१–२३३] 卐

---

५. भव-मठ

मैं अकलंक के साथ चौथे साधु के पास गया। वन्दन कर हम नीचे बैठे तब मुझे प्रतिबोधित करने के लिये अकलंक ने भाग्यशाली मुनि से वैराग्य का कारण पूछा। [२३४]

मुनि बोले—भद्र अकलंक! विभिन्न रूपो वाले हम सभी चट्टा (परिव्राजक) एक बड़े मठ में आनन्द पूर्वक रहते थे। वहाँ हमारे भक्तों का एक परिवार आया। इस परिवार में वैसे तो अनेक मनुष्य थे, पर परिवार का संचालन करने वाले मुख्य पाँच व्यक्ति थे। उन्होने हमारे साथ ऐसा व्यवहार किया जिससे वे हमें अपने हितेच्छु लगे। हे सौम्य! वास्तव में तो यह परिवार हमारा शत्रु था, पर हमे ऐसा लगने लगा मानो हमारा प्रेमी हो। इस परिवार ने विद्यार्थियो को आदरपूर्वक विविध प्रकार का भोजन कराया। नये-नये भोजन के लोलुप विद्यार्थियों ने परिवार के आन्तरिक भाव से अनभिज्ञ रहकर डटकर भोजन किया, ठूंस-ठूंस कर पेट भरा। इस परिवार ने मन्त्रित भोजन बनाया था जिससे उस अतिदारुण अन्न को खाते ही कई परिव्राजक-बटुको को तुरन्त सन्निपात हो गया और कुछ को अपच होकर उन्माद हो गया। इस भोजन से विद्यार्थियों का गला अवरुद्ध हो गया,* जीभ पर कांटे-काटे हो गये, श्वास नली गर्र-गर्र बोलने लगी, वे विह्वल हो गये और ऐसा लगने लगा मानो उनकी चेतना नष्ट हो गई हो। कुछ छात्रों का ज्वर की पीड़ा से शरीर जलने लगा, कुछ को सर्दी लगने लगी और कई चेतना-शून्य होकर जमीन पर लोटने लगे। सन्निपात की तीव्रता से पीड़ित होकर वे कभी चिल्लाते तो कभी तड़फड़ाते, कभी उनके मुख से भाग निकलते। इस प्रकार मठ के वे छात्र शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये। उस भोजन से जो मठ के परिव्राजक और बटुक उन्मादग्रस्त हो गये थे वे पापी देव, गुरु और सघ की निन्दा करने लगे, विपरीत बोलने लगे, और निकृष्ट चेष्टाये करने लगे। जिनकी चेतना ही लुप्त हो गई हो, उनकी कौनसी चेष्टा अच्छी हो सकती है? कुछ इस भोजन के दोष से पशु के समान अधर्मी बने या उसके विष से मूर्ख जैसे हो गये। [२३५–२४६]

यहाँ सामने जो स्वाध्याय-ध्यानमग्न पवित्रात्मा मनिपुंगव बैठे है, वे विशुद्ध वैद्यकशास्त्र के परम ज्ञाता है। हे भद्र। एक बार मैं मूढात्मा जब मठ के परिव्राजकों के मध्य में सन्निपात-ग्रस्त होकर भटक रहा था तब इन महापुरुष ने मुझे देखा। इनको मुझ पर करुणा आई और इन्होने अपनी औषधि के प्रयोग से मेरा सन्निपात

---

* पृष्ठ ६२५

मिटाया, फलस्वरूप मेरी चेतना अधिक स्पष्ट हुई। अन्य विद्यार्थियों की संगति से मुझ मे जो उन्माद था उसे इन महात्मा ने बहुत यत्नपूर्वक मिटाया। जब इन महाभाग्यशाली महात्मा ने देखा कि मेरा मन स्वस्थ हुआ है और मैं उनकी बात समझने योग्य हुआ हूँ तब उन्होंने मुझे बताया कि सारा मठ ही उन्माद और सन्निपात-ग्रस्त है। मैंने देखा कि सभी छात्र अव्यक्त स्वर से बोल रहे है, प्रलाप कर रहे है, ऊंघ रहे है और दुःख मे डूबे हुए है। यह दृश्य देख कर मै अत्यन्त भयभीत हुआ। [२४७–२५३]

मुनि ने कहा—भद्र! भोजन के दोष से तू भी ऐसा ही था, तेरी भी ऐसी ही दशा थी। देख, तेरे शरीर पर अभी भी अजीर्ण के विकार दिखाई देते है। देख, जैसा करने के लिये मैं तुझे कह रहा हूँ, यदि तू वैसा नही करेगा तो तू फिर से ऐसे ही दुःख मे डूब जायेगा।

मुनि महाराज के उपदेश को सुनकर, उस पर विश्वास कर और मठवास के भय से भयभीत होकर मैंने इस भोजन के अजीर्ण का शोधन करने वाली दीक्षा स्वीकार की। अब ये मुनिपुंगव मुझे जिन-जिन क्रियाओं/अनुष्ठानो को करने के लिये कहते है उन सब को मै सम्यक् प्रकार से करता हूँ। यही मेरे वैराग्य का कारण है। [२५३–२५६]

मुनिराज की बात सुनकर अकलंक ने प्रेम से नेत्र ऊपर उठाये, मुनि को वन्दन किया और अगले मुनि की तरफ जाने लगा। उस समय मैंने अकलंक से पूछा—मित्र मुझे तो मुनि की बात समझ मे नही आई, अतः उसके भावार्थ को स्पष्ट रूप से तुम समझाओ। [२५७–२५८]

कथा का रहस्य

अकलंक ने कहा—भाई घनवाहन! मुनि शिरोमणि ने * इस संसार को मठ की उपमा दी है। लोह-शलाका के समान संसार मे प्राणी भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। वे अनेक प्रकार के हैं और एक-दूसरे से सम्बन्धरहित भी है, अतः मठ निवासी साधुओ के समान है। इनके कोई माता-पिता, सगे-सम्बन्धी नही है। ये परमार्थ से धनरहित है और ये सभी जीव परस्पर सम्बन्धरहित हैं। संसार-मठ में रहने वाले जीव रूपी परिव्राजक-विद्यार्थियों के पास बन्धहेतु नामक भक्त परिवार आता है। बन्धहेतु तो विचित्र प्रकार के होते है और कई है, पर उनमे से मुख्य पाँच है। अतः बन्धहेतु परिवार के संग्राहक और संचालक मुख्य पाँच व्यक्ति कहे गये है :—प्रमाद, योग, मिथ्यात्व, कषाय और अविरति। ये पाँच जीवो के बन्धहेतु हैं। प्राणी पर अनादि काल से मोह राजा का असर इतना अधिक है कि मोहराज और उसका उपर्युक्त परिवार जो वास्तव में प्राणी के कर्म-बन्ध के हेतु होने से उसके शत्रु है, फिर भी उसे हितकारी मित्र जैसे लगते हैं। मठ

* पृष्ठ ६२६

निवासी विद्यार्थियों की तरह यह मन्दबुद्धि प्राणी भी इनके शत्रुता पूर्ण दुष्ट स्वरूप को नहीं पहचानता। [२५६–२६६]

जिस प्रकार मठ निवासियों को भक्त परिवार ने मन्त्रित भोजन कराया, उसी प्रकार मोह राजा की आज्ञा से इस प्राणी की लोलुपता को बढ़ाने के लिये चित्र-विचित्र भोजन तैयार कराये जाते हैं। इस भोजन को महामोह स्वयं मन्त्रित करते हैं, जिससे वह ज्ञान को आवृत/आच्छादित कर देता है। इस खाद्य सामग्री को पूर्ववर्णित बन्धहेतु तैयार कर खिलाता है। मोह से अत्यन्त लोलुप जीव मठ निवासियो की भांति इस स्वादिष्ट भोजन को प्राप्त कर अपनी आत्मा को उससे ठूंस-ठूंस कर भर लेता है। उस समय प्राणी को उसके दारुण परिणामो का न तो ज्ञान होता है और न वह उस पर विचार ही करता है। इस कुभोजन के परिणाम-स्वरूप उसे जो अज्ञान होता है, उसी को अनभिग्रह मिथ्यात्व नामक सन्निपात कहा गया है। [२६७–२७०]

यह प्राणी महा अन्धकार रूपी मिथ्याज्ञानमय भाव-सन्निपात के प्रभाव से एकेन्द्रिय अवस्था में लकड़ी की भाति निश्चेष्ट पड़ा रहता है। वेइन्द्रिय की अवस्था मे आवाज अव्यक्त होने से गर्र-गर्र करता सुनाई देता है। तेइन्द्रिय की अवस्था मे भूमि पर इधर-उधर लोट-पोट होता रहता है। चार इन्द्रिय की अवस्था में झणझणारव करता हुआ फड़फड़ाता है। असंज्ञी पचेन्द्रिय की अवस्था मे पीड़ित होता है। गर्भज पंचेन्द्रिय के आकार में झाग निकालता हुआ तड़फता है। अपर्याप्त अवस्था में अवरुद्ध गले वाला दिखाई देता है। नरक में अनेक प्रकार के दु.खो एव तीव्र तापो से व्यथित जीभ पर काटे हो गये हों, ऐसा लगता है। नरक में ही अधिक गर्मी और अधिक सर्दी से दु.खी होता है। पशु के रूप/आकार मे कुछ सोच-विचार नहीं कर पाता। मनुष्य का जन्म प्राप्त कर वारम्वार अधिक मोहित होता है। देव अवस्था मे महामोह की निद्रा में समय खो देता है और सभी अवस्थाओ मे धर्म-चेतनाहीन होकर ही रह जाता है। *

हे सौम्य ! मिथ्या ज्ञान का अन्धकार रूपी भयकर सन्निपात जीव को उसके कर्म-भोजन के परिणामस्वरूप ही होता है। [२७१]

नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गति में वर्तमान अधिकतर प्राणियो को इस अकल्याणकारी भोजन के परिणामस्वरूप सर्वज्ञ-शासन के विपरीत अभिनिवेश हो जाता है। इस अभिनिवेश के वशीभूत होकर वे राग, द्वेष, मोह से कलुषित को परमात्मा मानते हैं, आत्मा को एकान्त नित्य, क्षणिक, सर्वगत, पंचभूतात्मक या श्यामाक धान अथवा तण्डुल जैसा मानते हैं, सृष्टिवाद को स्वीकार करते है और अन्य तत्त्वों को भी उलटा-सुलटा कर देते हैं। इसी को अभिगृहीत मिथ्यादर्शन रूपी कर्म-भोजन के सामर्थ्य से उत्पन्न उन्माद कहा जाता है। इस उन्माद से ग्रस्त

* पृष्ठ ६२७

व्यक्ति वास्तविक विशुद्ध मार्ग को दूषित करता हुआ प्रलाप करता है। तपोमार्ग को उडाने के लिये तपस्या की हसी करता है। स्वेच्छानुसार व्यवहार करने का उपदेश देकर मानो नाचता है। आत्मा, परलोक, पुण्य, पाप आदि कुछ भी नही है, ऐसा कहते हुए मानो कूद रहा है। सर्वज्ञ मत के ज्ञाता पुरुषों से जब पराजित हो जाता है तब रोता दिखाई देता है और, अपने तर्क की डण्डी से नगारा बजाते हुए गाता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

हे सौम्य ! इसीलिये जैनेन्द्र मत से विपरीत दृष्टि वाले उन्माद-ग्रह-ग्रस्त लोग नाचते, कूदते, गाते, रोते और खिलखिला कर हंसते है, ऐसा कहा गया है। ये सभी प्राणी कर्मरूपी विष के प्रभाव को धारण करते है और उनकी धर्म-चेतना नष्ट प्राय: हो जाती है, इसमे तनिक भी सदेह नही है। [२७२–२७३]

इन मुनि ने कहा था कि 'सन्मुख विराजमान मेरे गुरुदेव मुनि-पुगव वैद्यक शास्त्र का प्रगाढ़ परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर निष्णात बने है। वे कृपा-परायण होने से उन्होने अपने औषधोपचार से मुझे दारुण सन्निपात के प्रभाव से मुक्त किया।' मुनि का उक्त कथन पूर्णतया घटित होता है। हे सौम्य ! सुन, ये मुनिगण सिद्धान्त रूपी आयुर्वेद का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर, पारगत विद्वान् बनकर ससारस्थ समस्त प्राणियों के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जान लेते है। जब किसी भी व्याधि-ग्रस्त का ये मुनिश्रेष्ठ वैद्यराज निरीक्षण/निदान करते है तब उन्हे प्रतीत होता है कि यह प्राणी कर्म-भोजन द्वारा उत्पन्न सन्निपात से ग्रस्त है। फलस्वरूप ऐसे भाग्य-शाली मुनियो के हृदय मे ऐसे प्राणी पर करुणा उत्पन्न होती है और वे सोचते हैं कि किस उपाय से इस पामर प्राणी को ससार-क्लेश से मुक्त किया जाय? इस निदान के फलस्वरूप वे प्राणी मुनिराज की निन्दा करते है, उन पर क्रोध करते हैं अथवा उन्हे मारते है, तब भी ये महासत्वशाली उस पर किंचित् भी क्रोधित नही होते। वे सोचते है कि ये बेचारे कर्म-सन्निपात से अत्यन्त पीड़ित हैं, मिथ्यात्व उन्माद से सतप्त है, पाप रूपी विष से मूर्च्छित हैं, सदा दु:ख के भार से दबे हुए है* और इनकी विशुद्ध धर्म चेतना नष्ट हो गई है। अत: परवश होकर यदि ये निन्दा, आक्रोश या मारपीट करे तो उन पर कौनसा विचक्षण व्यक्ति क्रोध करेगा? करुणारसिक प्राणी दु:ख पर डाम नही लगाते, घाव पर नमक नही लगाते/छिडकते। [२७५–२८३]

कर्म से आवृत ये बेचारे प्राणी मात्र दया के पात्र ही नही, वरन् विवेकी प्राणियो को ससार से उद्वेग कराने वाले भी हैं। सन्निपात और उन्मादग्रस्त ऐसे पागल जीवो को संसार मे भटकते हुए देखकर जिनेन्द्र कथित स्वरूप को समझने वाले व्यक्ति सोचते है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करने पर भी ये बेचारे ऐसी स्थिति मे पड़े है, यह तो बहुत ही बुरी बात है। यह दृश्य देखकर किस विचारशील को इस ससार-कारागृह पर प्रेम हो सकता है। [२८४–२८६]

---

* पृष्ठ ६२८

हे सौम्य ! ऐसी स्थिति में इन कल्याणयुक्त चित्त वाले गुरु महाराज ने स्वकीय कर्मरूपी सन्निपात-ग्रस्त इस चौथे मुनि को प्रतिबोधित किया। इन वैद्य-श्रेष्ठ ने एक मठवासी छात्र-तुल्य प्राणी को अपने वचना-मृत औषधि से साधु बना कर स्वस्थ किया, सन्निपात के असर से मुक्त किया। अतः वास्तव में इन्हें श्रेष्ठ वैद्य ही कहा जा सकता है। [२८७-२८८]

पुनः इन मुनि ने कहा था कि, 'मेरे में उस समय अन्य चट्टों (परिव्राजक-छात्रों) के सहवास से उन्माद था उसे भी इन्होंने प्रयत्नपूर्वक मिटाया।' इसका फलितार्थ यह है कि गुरु महाराज ने पहले तो बोध द्वारा अज्ञानियों के महा पाप-कारक अभिग्राहिक मिथ्यात्व का नाश किया, फिर अन्य तीर्थियों के सहवास से आये हुए उन्माद जैसे अभिनिवेश मिथ्यात्व का क्षय किया। इसके पश्चात् जब प्राणी सम्यक् भाव में आता है तब गुरु महाराज इस मठ रूपी संसार के विस्तार को समझाते हैं और बताते हैं कि यह सारा संसार कैसा है। उस समय यह प्राणी देखता है कि जैसे मठ में विद्यार्थी रहते हैं, उसी प्रकार संसार में प्राणी रहते हैं और कर्म-भोजन के दोष से वे सन्निपात और उन्माद से पीड़ित होते हैं। उन्हें दुःख से पीड़ित रहते, चिल्लाते और नशे में चूर जैसे देखकर तथा बक-बक करते देखकर यह भयभीत हो जाता है। [२८९-२९४]

फिर इन मुनि ने अपने गुरु महाराज से कहा—हे पूज्यवर ! चारों गति में संसार-भ्रमण करने वाले सभी प्राणी मुझे दुःखी दिखाई देते हैं, इन्हें देखकर मुझे बहुत उद्वेग होता है।

इस पर मुनिराज बोले—भद्र ! जैसे ये सभी प्राणी तुझे दुःख-समुद्र में डूबे हुए और रक्षणरहित दिखाई देते हैं, तू भी पहले वैसा ही था। तेरे शरीर पर अभी भी कर्म का अजीर्ण दिखाई देता है, उसे जीर्ण करने के लिए मैं तुझे जो क्रिया/अनुष्ठान बताता हूँ उसे तू कर। यदि तू इस क्रिया को नहीं करेगा तो पुनः इस संसार में दुःखग्रस्त हो जायेगा। [२९५-२९८]

गुरु महाराज के उपर्युक्त वचन सुनकर इस मुनि ने जैनेन्द्र मत की दीक्षा ग्रहण की और गुरुदेव ने जिन सत्क्रियाओं/अनुष्ठानों * को करने के लिए कहा, उन सब को इन्होंने भलीभांति पूर्ण किया। अभी भी ये मुनि कर्म-भोजन से हुए अजीर्ण को प्रतिदिन क्षीण करते रहते हैं। इस प्रकार मुनि ने अपने वैराग्य का कारण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। [२९९-३००]

भाई घनवाहन ! ऐसा मत समझ कि इस संसार में कर्म-भोजन के अजीर्ण से पीड़ित मात्र ये साधु ही हैं। हम सभी ऐसी ही पीड़ा भोग रहे हैं। मनुष्य जन्म प्राप्त कर हमारे जैसे प्राणियों को भी इस कर्म-अजीर्ण का शोधन करना चाहिए और ऐसा करने के लिए हमें भी दीक्षा-ग्रहण करनी चाहिए। [३०१-३०२]

* पृष्ठ २२९

हे अगृहीतसंकेता ! उस समय भी मै तो कर्मभार से अधिक आच्छादित और भारी हो रहा था, अतः अकलक द्वारा प्रस्तुत विचार मुझे रुचिकर नही लगे। मैने उसके विचारो की उपेक्षा ही की। [३०३]
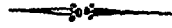
६. चार व्यापारियों की कथा

हे अगृहीतसकेता ! मै उदार चरित्र अकलंक के साथ वहाँ बैठे हुए मुनियो में से पॉचवे मुनि के पास गया। वन्दन कर हम दोनो मुनि के समक्ष बैठे, तब मुनि ने सामान्य प्रकार से उपदेश दिया। इसके पश्चात् अकलक ने मुनि से पूछा—भगवन् ! आप ससार से विरक्त क्यो हुए ? वैराग्य का क्या कारण है ? मै जानना चाहता हूँ। [३०४-३०५]

मुनि—भाई ! सामने जो आचार्यप्रवर बैठे है उन्होने मुझे एक कथा कही, जिसे सुनकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ और मैने दीक्षा ग्रहण की। [३०६]

अकलंक—महाराज ! ऐसे अनुपम वैराग्य का कारण बनने वाली कथा अवश्य ही अनुग्रह करके मुझे सुनाइये। [३०६]

चार व्यापारियों की कथा

मुनि—अच्छा सुनो। वसन्तपुर नगर मे सार्थवाहो के चार पुत्र रहते थे। ये चारो समवयस्क और समव्यसनी थे। इन चारो मे प्रगाढ मैत्री थी। अन्यदा इन चारो को अनेक आवर्तो, जलचरो और अन्य अनेक सैकडो भयो से व्याप्त समुद्र पार कर व्यापार करने के लिये रत्नद्वीप जाने की इच्छा हुई। इन मित्रो के नाम क्रमश चारु, योग्य, हितज्ञ और मूढ थे और जैसे इनके नाम थे वैसे ही उनमें गुण भी थे। चारों अपने-अपने जहाज लेकर रत्नद्वीप पहुँचे। रत्नद्वीप सब प्रकार के रत्नों की खान था। बिना पुण्य के इस द्वीप मे पहुँचना ही कठिन था। भाग्यवान व्यक्ति ही इस सुन्दर द्वीप में पहुँच सकते है। इस द्वीप मे पहुँच कर भी बिना परिश्रम के रत्न के ढेर प्राप्त नही होते। भोजन की सामग्री सामने परोसी हुई होने पर भी बिना हाथ हिलाये कौन भोजन कर पाता है ? [३०७-३१२]

रत्नद्वीप मे पहुँच कर चारु ने अन्य सब काम छोड़कर, कुछ शुद्ध मानस-पूर्वक केवल रत्न एकत्रित करने का कार्य किया। वह बहुत विचक्षण था अतः

भिन्न-भिन्न उपायों से लोगों को आकर्षित कर प्रतिदिन नये-नये रत्न एकत्रित करता रहता था। इस दक्ष निश्चयी नरोत्तम ने अल्प समय में ही अपना पूरा जहाज मूल्यवान रत्नों से भर लिया, क्योंकि वह स्वयं रत्नों के गुण-दोषों का परीक्षक था। उसे उद्यान आदि में इधर-उधर घूम-फिर कर व्यर्थ समय गंवाने में रुचि नहीं थी। हे भद्र! रत्न-परीक्षा (ज्ञान) और सदाचार पालन (चारित्र) द्वारा चारु ने रत्नद्वीप में रहकर अपने लक्ष्य को प्राप्त किया, अपना स्वार्थ सिद्ध किया।*
[३१३-३१७]

चारु का दूसरा मित्र योग्य था। इसने भी रत्नद्वीप में रत्न एकत्रित करने की इच्छा से व्यापार प्रारम्भ किया, किन्तु वह उद्यान आदि में घूम-घूम कर अपना कुतूहल भी शान्त करता था। रत्नों के गुण-दोषों के परीक्षण का ज्ञाता तो था, किन्तु घूमने आदि में उसकी शक्ति का ह्रास अधिक होता था। वह प्रतिदिन वन, उद्यान, सरोवर आदि पर घूमने जाता था जिससे उसका बहुत सा समय व्यर्थ चला जाता था। चारु के उपालम्भ के भय से वह अन्तःकरण के आदर बिना बेगार की तरह से कभी-कभी थोड़े रत्न एकत्रित करता था। वहाँ बहुत समय तक रहने पर भी उसने थोड़े से अच्छे माणक ही खरीदे थे और अधिकांश समय घूमने-फिरने में ही बिता दिया था। वह रत्नद्वीप में गया तो व्यापार करने था और इतने दिनों में बहुत सा व्यापार कर सकता था किन्तु अपने मौज-शौक के कारण उसने अपना अधिकांश समय व्यर्थ गंवा दिया। थोड़े लाभ के लिये उसने अधिक समय व्यतीत किया। [३१८-३२३]

चारु का तीसरा मित्र हितज्ञ था। इसे रत्नों की परीक्षा का ज्ञान ही नहीं था। दूसरों के संकेत निर्देश पर ही वह रत्नों को पहचानता था। फिर इसे उद्यान आदि में घूमने का, चित्रादि देखने का अत्यधिक कुतूहल था जिससे रत्न-व्यापार में बाधा आती थी। आलस्य और शौक के कारण वह मन लगाकर रत्नों का व्यापार नहीं कर पाता था। जब उसका व्यापार करने का थोड़ा मन होता तो धूर्त लोग शंख, कांच के टुकड़े, कौड़ियें आदि ऊपर से चमकीली मामूली वस्तुएं उसे रत्न के स्थान पर बेच देते। उसे रत्नों की परीक्षा न होने से वह ठगा जाता और मामूली वस्तुओं को भी रत्न समझ कर खरीद लेता। इस प्रकार हितज्ञ रत्नद्वीप आकर भी प्रमाद और कुतूहल में पड़कर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में असमर्थ रहा।
[३२४-३२८]

चारु का चौथा मूढ नामक मित्र तो रत्नों के परीक्षण ज्ञान से पूर्णतया अनभिज्ञ था। अन्य लोगों द्वारा रत्नों के गुण-दोष समझाने पर भी वह मोहग्रस्त मूर्ख उन्हें स्वीकार नहीं करता था। फिर उसे कमलों के उद्यानों में, वन-खण्डों में, बगीचों में घूमने, चित्र देखने और देवमन्दिरों की शोभा देखने में अधिक रस आता था; जिससे इन्हीं कामों में उसका अधिकांश समय व्यतीत हो जाता था और

* पृष्ठ ६३०

व्यापार के लिये उसे समय ही नही मिलता था। रत्न-परीक्षा से अनभिज्ञ वह वास्तविक अमूल्य रत्नों से तो द्वेष करता था और धूर्तों द्वारा रत्न कहकर बेंचे गये शंख, कांच के टुकड़े, कौड़िया आदि खरीद लेता था। बाग-बगीचो मे घूमने तथा कौतुक देखने में ही वह अपना समय नष्ट करता था। [३२९-३३१]

जब चारु का जहाज रत्नो से भर गया तब उसने वापस लौटने का सोचा और अपने अन्य मित्रों का हाल भी जानना चाहा। सब से पहले वह अपने मित्र योग्य के पास पहुँचा और उसे बताया कि उसका जहाज तो रत्नो से भर चुका है, अतः वह अपने देश लौटना चाहता है। उसके क्या हाल है? क्या वह भी उसके साथ देश में लौटने को तैयार है? [३३२-३३३]

योग्य ने बताया कि उसे तो अभी बहुत थोड़े ही रत्न प्राप्त हुए है, जहाज अभी तक भरा नहीं है। जब चारु ने इसका कारण पूछा तब उसने बताया कि उसका बहुत सा समय घूमने-फिरने मे बीत गया था। चारु ने समझाया—मित्र! बाग-बगीचे देखने का शौक ठीक नही है।* यहाँ आकर भी यदि रत्न एकत्रित नही किये तो अपने आपको ठगना ही हुआ। तेरे जैसे के लिये यह बात योग्य नही है। मित्र! तू जानता है कि रत्न सुख के कारण है और उन्हे प्राप्त करने के लिये ही हम यहाँ आये हैं, तदपि उस लक्ष्य की उपेक्षा करना या उस तरफ पूरा ध्यान न देना तो आत्मशत्रुता ही है। यह तो अपने हाथो अपने पाव पर कुल्हाडी मारने जैसा हुआ। तू इतने दिनो बाग-बगीचो मे घूमा उससे तेरा पेट तो नही भरा ना? तब बुद्धिमानी तो इसी मे है कि जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध हो वही कार्य पहले किया जाय, क्योंकि अपने स्वार्थ का नाश करना तो मूर्खता है। क्या तुझे लज्जा नही आती कि तू जिस काम के लिए यहाँ आया था उसे छोडकर अन्य कामो मे व्यर्थ ही अपना समय खो रहा है? भाई! अब मेरे कहने से इस मौज-शौक को छोडकर सतत प्रयत्न पूर्वक रत्न एकत्रित करने मे लग जा। यदि तू मेरा कहना नही मानेगा तो मैं तुझे यही छोडकर देश लौट जाऊंगा, क्योंकि मेरा प्रयोजन तो सिद्ध हो चुका है। जैसा तूने अभी तक समय खोया वैसा ही भविष्य मे भी खोता रहेगा तो अपने स्वार्थ से भ्रष्ट होगा और दुःखी होगा। [३३४-३४१]

चारु के उपर्युक्त वचनो से योग्य अपने मन मे बहुत लज्जित हुआ और उसने अपने मित्र को विश्वास दिलाया कि अब वह उसके कहे अनुसार ही करेगा, अन्य कोई कार्य नही करेगा। वह थोड़े दिन और रुक जाय और उसे भी अपने साथ ही लेकर देश लौटे। चारु के स्वीकार करने पर योग्य ने मौज-शौक को छोडकर अपना सारा समय रत्न एकत्रित करने मे लगा दिया। [३४२-३४४]

अब चारु अपने दूसरे मित्र हितज्ञ के पास आया। उससे भी उसने वही बात कही कि उसका जहाज तो रत्नो से भर चुका है इसलिये वह देश लौटना

* पृष्ठ ६३१

चाहता है, उसके क्या हाल है ? चारु की बात सुनकर हितज्ञ ने घबराते हुए आज तक जो कुछ एकत्रित किया था उसे चारु को बतलाया। चारु ने देखा कि हितज्ञ ने मात्र शख, काच के टुकड़े और कौड़ियें इकट्ठी कर रखी है। जब चारु ने उससे पूछा कि इतने दिनो तक वह क्या कर रहा था ? तब हितज्ञ ने आज तक किस प्रकार वह घूमने-फिरने में अपना समय व्यतीत कर रहा था, वह सब कुछ बताया। सुनकर कृपालु चारु ने समझाया—मित्र हितज्ञ ! पापी धूर्तो ने तुझे ठग लिया है। तुझे रत्नो का परीक्षण ज्ञान न होने से, तुझे मूर्ख समझ कर उन पापियों ने उसका लाभ उठाया है। तू बहुत भोला है। तू यहाँ रत्नद्वीप मे व्यापारी बनकर रत्नो का व्यापार करने आया है, मौज-शौक करने नही आया है। सच्चे व्यापारी को ऐसे खोटे शौक नही करने चाहिये। [३४५–३४६]

चारु के उपर्युक्त वचन सुनकर हितज्ञ ने विचार किया कि, अहो ! चारु की बात कितनी अच्छी है, इसका मेरे प्रति कितना स्नेह है। मेरा हित कहाँ है और अहित कहाँ है, वह सब कुछ भली प्रकार जानता है। अतः इसी से पूछ लूँ कि अब मुझे क्या करना चाहिये ? यह सोचकर उसने पूछा—मित्रवत्सल चारु ! अब मैं अपना समय बाग-बगीचे देखने, चित्र देखने और मौज-शौक मे थोड़ा भी नही बिताऊंगा। अब मुझ पर कृपा कर रत्नो के गुण-दोष अच्छी तरह बतला दो ताकि मुझे भी रत्नपरीक्षा आ जाय। फिर मैं तुम्हारे निर्देशानुसार काच, शख आदि न खरीद कर सच्चे रत्न ही खरीदूंगा और अपने जहाज को रत्नो से भर कर तुम्हारे साथ ही देश चलूंगा, अतः हे नरोत्तम ! थोड़े दिन आप और ठहर जावे। [३५०–३५४]

चारु ने* सोचा कि योग्य की भाति हितज्ञ भी सच्चे उपदेश से अपने नाम को सार्थक करेगा। यह सोचकर चारु ने हितज्ञ को रत्न-परीक्षा सिखाई और केवल सच्चे रत्न ही खरीदने के बारे मे उसे प्रयत्नपूर्वक समझाया। चारु के उपदेश से उसने मौज-शौक मे व्यर्थ समय गंवाना बन्द कर दिया। अपने पास के पहले इकट्ठे किये कॉच, शख आदि का त्याग किया और एकाग्रता से मात्र अमूल्य रत्न एकत्रित करने मे लग गया। अब हितज्ञ व्यापार-कुशल बन गया था और स्वयं रत्नो की परीक्षा कर खरीदने लग गया था। [३५५–३५८]

इसके पश्चात् चारु अपने तीसरे मित्र मूढ के पास गया और आदरपूर्वक उसे अपने स्वदेश लौटने के विचारो से अवगत किया। मूढ बोला – भाई चारु ! तू अभी देश लौटकर क्या करेगा ? इस द्वीप की रमणीयता को क्या तुम नही देख रहे हो ! इसे चारो तरफ घूम-फिर कर अच्छी तरह देखो। इसका तट कितना रमणीय है। चारो तरफ कमल वन है, ऊचे-ऊचे मकान है, सुन्दर उद्यान हैं, बड़े-बडे सरोवर हैं। ये सब इस द्वीप की शोभा को द्विगुणित करते है। यहाँ कितने आराम और क्रीडा के स्थल है जो पुष्पो से भरे हुए वनखण्डो से आवेष्टित है। यहाँ

* पृष्ठ ६३२

अधिक समय तक सुखोपभोग कर फिर जब इच्छा होगी तब स्वदेश लौट जायेंगे। मैंने भी अपना जहाज माल से भर लिया है।

फिर मूढ ने अपने जहाज मे भरा हुआ माल चारु को दिखाया। चारु ने देखा कि मूढ ने अपने जहाज मे सिर्फ कौड़ियें, शख और काच के टुकड़े भर रखे हैं। यह देखकर प्रशस्त मन वाला चारु सोचने लगा कि यह बेचारा मूढ तो सचमुच मूर्ख ही है। यहाँ आकर यह मौज-शौक मे मग्न हो गया है और इसके अज्ञान का लाभ उठाकर धूर्तो ने इसको अच्छी तरह ठग लिया है। यदि अब भी यह सावधान हो जाय तो अच्छा है, अत· व्यापार के सच्चे मार्ग की जानकारी हेतु इसको शिक्षा प्रदान करू।

यह सोचकर श्रेष्ठ बुद्धि वाले चारु ने कहा—मित्र बाग-बगीचो मे घूमना और चित्र देखना हमारे योग्य नही है। हम यहाँ रत्नो का व्यापार करने आये हैं, उसमें यह मौज-शौक तो विघ्नकारक है। यह तो अपने आप को ठगना है। मित्र! मुझे लगता है कि पापी धूर्तो ने तुझे अच्छी तरह ठगा है। जो चमकते काच के टुकड़े है, उन्हे रत्न कह कर तुझे बेच दिया है। भाई! ये सब कचरा तूने खरीद लिया है, व्यर्थ की वस्तुएं तूने खरीद ली है, इनसे तुझे कोई लाभ नही होगा। अत: अब तू इन्हें छोड़ और मूल्यवान सच्चे रत्न एकत्रित कर। रत्नो की पहचान मै तुझे बताता हूँ। [३५६–३६६]

चारु मूढ को रत्नो की परीक्षा बताने को उद्यत हुआ तभी मूढ एकाएक आवेश में आ गया और बोला—जाओ! मुझे तुम्हारे साथ नही आना है। तुम जिस काम मे लगे हो उसी को करते रहो। मित्र! तू तो वैसा का वैसा ही रहा। यहाँ आकर भी वैसी ही बाते करता है। मै यहाँ छैल-छबीला बन कर घूम रहा हूँ तो तू मेरा तिरस्कार कर रहा है और चला है मुझे रत्न परीक्षा बताने। जैसे मुझे रत्नो की परीक्षा आती ही न हो। मेरे रत्न-सचय को कचरा बता रहा है। भले ही मेरे रत्नो में चमक कम हो, पर मुझे तेरे बताये रत्न नही चाहिये। [३७०–३७३]

चारु ने मूढ के उपर्युक्त कथन का उत्तर देने के लिए जैसे ही मुह * खोला वैसे ही मूढ फिर बोलने लगा— मित्र! मुझे न तो तेरे रत्न चाहिए और न ही तेरे जैसे रत्न चाहिए। मेरा काम उनके बिना भी चल जायगा। मुझे तुम्हारी सलाह, शिक्षा या उपदेश की किंचित् भी आवश्यकता नही है। चुपचाप अपना रास्ता नापो।

यह सुनकर चारु ने अपने मन मे विचार किया कि इस मूढ को शिक्षा देने का कोई उपाय मुझे तो नही सूझता; क्योकि यह मेरी तो बात ही नही सुनता और अपनी ही ढपली बजाये जा रहा है। [३७४–३७६]

इधर योग्य और हितज्ञ ने चारु के उपदेश के अनुसार कार्य किया और अल्प समय मे उन दोनो ने भी अपने जहाज मूल्यवान् रत्नो से भर लिये। चारु

* पृष्ठ ६३३

इन दोनो के साथ स्वदेश लौटा। मूढ को इन्होने वही छोड़ दिया। तीनो मित्रों ने स्वदेश मे पहुँच कर अपने-अपने रत्न वेचे जिससे उनको अपार लक्ष्मी प्राप्त हुई और वे आनन्द से परिपूर्ण होकर सुख से रहने लगे। [३७७–३७९]

मूढ रत्नद्वीप में मौज-शौक ही करता रहा, उसने रत्न एकत्रित नहीं किये। परिणामस्वरूप वह निर्धन हो गया और अनेक प्रकार से दु.खी होने लगा। वहाँ के किसी क्रोधी राजा ने उसके दुर्व्यवहार से क्रोधित होकर उसे रत्नद्वीप से बाहर निकाल कर भयंकर जल-जन्तुओ से भरे हुए और भयानक लहरों से त्रास देने वाले आदि-अन्त-रहित अदृष्टतल वाले समुद्र में फैंक दिया। [३८०–३८१]

सौम्य अकलंक! मेरे पूज्य आचार्यदेव ने मुझे उपर्युक्त कथा कही, जिसे सुनकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ। यही मेरे वैराग्य का कारण है। [३८२]

अकलक कथा का भावार्थ/रहस्य भली प्रकार समझ गया था जिससे उसका मुख-कमल विकसित हो गया। इन मुनि को नमस्कार कर अकलक अन्य मुनि के पास जाने लगा। [३८३]

मैंने कहा—मित्र अकलंक! तुमने तो मुनिराज से वैराग्य का कारण पूछा जिसके उत्तर में मुनि ने उपर्युक्त कथा सुनाई। मुझे तो इस कथा से वैराग्य का कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नही होता। यह कथा तो असम्बद्ध-सी लगती है। मुझे तो तो इस कथा का भावार्थ कुछ भी समझ मे नही आया। [३८४]

कथा का उपनय

अकलंक बोला—भद्र घनवाहन! मुनिराज ने कोई असंबद्ध वात नही की। इस कथा में वहुत गूढ रहस्य छिपा हुआ है, ध्यानपूर्वक सुन।

कथा के वसन्तपुर नगर को असंव्यवहार जीवराशि समझना चाहिये। सुन्दरतम, सुन्दरतर, सुन्दर और निकृष्ट चार प्रकार के विकास क्रम के अनुसार संसारी जीवो को यथार्थ नामधारक चार व्यापारी चारु, योग्य, हितज्ञ और मूढ समझना चाहिये। ससार के विस्तार को समुद्र समझ। समुद्र की भांति संसार मे भी जन्म जरा, मरण रूपी पानी रहता है। जैसे अतिगम्भीर समुद्र को पार करना कठिन है वैसे ही अतिगहन मिथ्यादर्शन और अविरति के कारण ससार को पार करना कठिन है। जैसे समुद्र मे चार वड़े पाताल कलश हैं, वैसे ही संसार विस्तार मे भी चार महा भयकर कषाय रूपी पाताल कलश हैं। जैसे समुद्र की ऊंची-ऊंची दुर्लंघ्य लहरें महा भयकर लगती हैं वैसे ही संसार में महामोह की लहरें वहुत भयकर होती हैं। समुद्र मे वडे-वडे जलजन्तु रहते हैं वैसे ही यह संसार अनेक प्रकार के दु.ख रूपी जन्तुओ से भरा है। समुद्र में जैसे तीव्र गति के पवन से समुद्र क्षुब्ध होता रहता है वैसे ही संसार मे रागद्वेष रूपी तेज पवन से निरन्तर क्षोभ उत्पन्न होता रहता है। समुद्र उफनते हुए पानी से प्रत्येक क्षण चपल रहता है वैसे ही यह संसार भी सयोग-वियोग रूपी उफानो से सदा चचल रहता है। समुद्र ज्वार से आकुल रहता है वैसे ही संसार अनेक प्रकार के मनोरथ रूपी ज्वार से निरन्तर व्याकुल रहता है। जैसे

समुद्र का आदि-अन्त नही दिखाई देता वैसे ही संसार के विस्तार का भी कोई आदि-अन्त दिखाई नही देता।

इस ससार-समुद्र मे मनुष्य जन्म की प्राप्ति रत्नद्वीप मे पहुँचने के समान है। बाग-बगीचों मे घूमने का कुतूहल पाँचो इन्द्रियो के विषयो को भोगने की अभिलाषा के समान है। सर्वज्ञ प्ररूपित विशुद्ध धर्म के विपरीत प्रवृत्ति करने वाले कुधर्मो को शख, कोड़िये और काँच के टुकड़ो के समान समझना चाहिये। रत्नद्वीप के धूर्तो के समान ही ससार में कुधर्म का प्रचार करने वाले कुतीथियो को समझना चाहिये। जीव के स्वरूप को जहाज और मोक्ष को स्वदेश आगमन/स्वस्थानगमन के समान समझना चाहिये; क्योकि वही आत्मा का वास्तविक स्वस्थान है।* मूढ पर क्रोधित होने वाले राजा को स्वकर्मपरिणाम राजा समझ और उसे समुद्र मे फेकने को संसार का अनन्त भव-भ्रमण समझ।

भाई घनवाहन! यदि तू उपर्युक्त उपमाओं को ध्यान मे रखकर पुनः इस कथा पर विचार करेगा तो तुझे इसका गूढार्थ समझ मे आ जायेगा। फिर भी तुझे विशेष रूप से समझाने के लिये मै विस्तार से इसका स्पष्टीकरण करता हूँ, सुन-[३८५]

जिस प्रकार चारु वसतपुर नगर से निकल कर समुद्र को पार कर रत्नद्वीप पहुँचा। यहाँ आकर कृत्रिम और अकृत्रिम रत्नों की पहचान की। बाग-बगीचो मे जाकर मौज-शौक मे समय बर्बाद नही किया। धूर्त लोगो को पहचान गया। बनावटी रत्नों का क्रय नही किया। विशिष्ट और महर्घ्य रत्नो को क्रय करने का व्यापार किया। अल्प समय मे ही अमूल्य रत्नो का संग्रह किया। रत्नद्वीप के विशिष्ट लोगो मे अपना स्थान बनाया। अपने जहाज को रत्नो से भर लिया और अपने स्वार्थ/प्रयोजन को सिद्ध किया वैसे ही चारु की भाति इस ससार मे जो सुदरतम भव्य जीव हैं वे असव्यवहार जीव राशि मे से निकल कर इस विस्तृत अनन्त संसार-समुद्र को पार कर रत्नद्वीप जैसे मनुष्य भव को प्राप्त करते है। मनुष्य जन्म मे लघुकर्मी होकर रत्न परीक्षक के समान वे त्याज्य और ग्रहणीय को जानते हैं। ऐसे प्राणी विचार करते है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करना अति दुर्लभ है। यह मनुष्य जन्म सचमुच रत्नों की खान है। सत्य, अनन्त सुख और निर्वाण प्राप्ति का यह साधन है। मनुष्य जन्म जैसे उत्तम स्थान को प्राप्त कर विष से भी भयकर फलो को प्रदान करने वाले इन्द्रिय-विषय रूपी मौज-शौक मे उसे खोना अयोग्य है। ऐसे सुन्दरतम प्राणी सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म-मार्ग को बिना किसी के उपदेश के स्वय प्राप्त कर लेते है। वे कुतीर्थिक रूपी ठगो से नही ठगे जाते। कुधर्म ग्रहण नहीं करते और स्वय परीक्षा कर सच्चे रत्न रूपी साधु-धर्म रूपी अमूल्य रत्नो का ही व्यापार करते है। वे सर्वदा क्षमा, नम्रता, सरलता निर्लोभता, तप, सयम, सत्य, शौच, मूर्छात्याग/

* पृष्ठ ६३४

परिग्रह-त्याग, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, प्रशम आदि गुण-रत्नो को प्रतिपल एकत्रित करते रहते हैं। वे सद्गुरु, सुसाधु और स्वधर्मी भाइयों को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। वे सद्गुणों से अपनी आत्मा रूपी जहाज को परिपूर्ण करते है और वास्तव मे आत्महित साधन का कार्य निष्पादन करते हैं।

जैसे योग्य ने रत्नद्वीप मे जाकर रत्नों के गुण-दोषो का परीक्षण किया, रत्न खरीदने के लिए छोटा-सा व्यापार भी किया, किंतु उद्यानों में घूमने-फिरने के मौज-शौक के चक्कर मे अपना अधिकांश समय नष्ट किया। फलस्वरूप रत्नद्वीप में अधिक समय तक रहने पर भी वह विशिष्ट रत्नों का सञ्चय नहीं कर सका। वैसे ही हे भद्र धनवाहन ! योग्य के समान सुन्दरतर (मध्यम) जीवो मे भव्यता तो होती है, पर वे धीरे-धीरे मनुष्य भव प्राप्त करते है। वे लघुकर्मी होने से गुण-अवगुण की परीक्षा कर सकते है और सर्वज्ञ-दर्शन को प्राप्त कर श्रावक के योग्य कुछ-कुछ गुण-रत्नो (अणुव्रतो) को ग्रहण करने का व्यापार करते है। वे दुर्जेय लोभ को नही जीत सकते। उनकी इन्द्रियाँ अधिक चपल होती हैं, अतः वे धन और इन्द्रिय-विषयो मे बार-बार आकर्षित होते रहते हैं। धन और विषयों पर ममत्व होने के कारण* उनका बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है और बहुत थोड़े समय के लिए वे रत्न-व्यापार कर पाते हैं। जो रत्न एकत्रित करते हैं वे भी श्रावक के योग्य साधारण कीमत के अणुव्रत रूपी गुणव्रत इकट्ठे कर पाते है। वे साधुधर्म से प्राप्त होने वाले महामूल्यवान गुण-रत्नो (महाव्रतों) को एकत्रित नही कर पाते।

जैसे हितज्ञ रत्नद्वीप पहुँच कर भी स्वयं रत्न-परीक्षक न होने के कारण, दूसरो से शिक्षण/उपदेश प्राप्त करके भी रत्न ग्रहण करने की ओर ध्यान नही दे सका और मौज-शौक मे ही समय नष्ट करता रहा। धूर्तों को पहचान नही सका। फलस्वरूप चमकते हुए काच के टुकड़ो को अमूल्य रत्न समझ कर सग्रह करता रहा और चारु के उपदेश से पूर्व स्वय को छलता रहा। वैसे ही हे भद्र धनवाहन ! हितज्ञ के समान सुन्दर (सामान्य) जीवो मे भी भव्यता तो होती है, पर उन्हे मनुष्य जन्म की प्राप्ति बहुत कठिनाई से होती है। किंचित् गुरुकर्मी होने से उन्हे धर्म के गुण-दोषो की परीक्षा नही होती। वे दूसरो के उपदेश की अपेक्षा रखते है। इन्द्रिय-विषयों और धन में अत्यन्त लुब्ध होने से वे सर्वज्ञ-प्ररूपित विशुद्ध धर्मरत्न को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। कुतीर्थिको द्वारा बिछाये जाल और उनकी ठग-विद्या को वे नही समझ पाते। शांति, दया, इन्द्रिय-निग्रह आदि अमूल्य रत्नो को वे मूल्यहीन मानते हैं। अपने दम्भ-प्रधान अज्ञान के कारण बाहर से चमकते हुए नकली रत्न जैसे कुधर्म के अनुष्ठानो को धर्म-बुद्धि से करते हैं और उन्ही को सुन्दर तथा लाभ-दायक मानते हैं। चारु जैसे सद्गुरु के उपदेश के पहले वे सचमुच अपने आप को ठगते रहते है।

---

* पृष्ठ ६३५

जैसे मूढ रत्नद्वीप तो पहुँचा किन्तु वह स्वय रत्न-परीक्षा-ज्ञान से शून्य होने पर भी दूसरों की शिक्षा को भी अग्राह्य समझता था, मौज-मस्ती मे ही सारा समय बर्बाद करता था, अमूल्य रत्नों का तिरस्कार करता था, काच के टुकडो को महर्घ्य रत्न समझता था, धूर्तों ने उसे अच्छी तरह से छला था और वह स्वय अपने को ठगता रहता था वैसे ही हे भद्र घनवाहन ! मूढ जैसे निकृष्ट जीव किसी प्रकार रत्नद्वीप रूपी मनुष्य भव को प्राप्त करके भी स्वय अभव्य या दुर्भव्य होने से तथा गुरुतर/भारी कर्मी होने से न तो स्वय धर्म के गुण-दोष की परीक्षा कर सकते है और न ही किसी चारु जैसे सद्गुरु के उपदेश को सुनने का ही उन्हे अवकाश होता है। पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे तथा धन के सचय और रक्षण मे वे अत्यन्त लुब्धता से प्रवृत्ति करते हैं। शाति, दया आदि शुद्ध अनुष्ठान रूपी गुणरत्नो के प्रति वे द्वेप करते है और स्नान, होम, यज्ञ आदि जीवघातक तथा जीवसतापक पापकारी अनुष्ठानो के प्रति धर्म-बुद्धि रखते है। ऐसे कुअनुष्ठानो का वे स्वय तत्त्वबुद्धि से आचरण करते हैं। इस प्रकार कुतीर्थिको द्वारा ऐसे निकृष्ट प्राणियों का धर्मधन चुराया जाता है और वे स्वय को अनेक प्रकार से ठगते रहते है।

७. रत्नद्वीप कथा का गूढार्थ

अकलंक ने रत्नद्वीप कथा का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा—जैसे चारु ने अपना जहाज मूल्यवान रत्नो से भर कर स्वदेश जाने की इच्छा से अपने मित्र योग्य के पास जाकर कहा कि, मित्र ! अब मै स्वदेश जाना चाहता हूँ, क्या तुम भी साथ ही चल रहे हो ? इस पर योग्य ने कहा था कि, मेरा जहाज अभी तक भरा नही है। मै थोडे से ही रत्नो का सग्रह कर पाया हूँ। यह सुनकर जब चारु ने इसका कारण पूछा तो * उत्तर देते हुए योग्य ने कहा कि, इस व्यवसाय मे मेरी मौज-मस्ती ही बाधक बनी है। इसी प्रकार हे भद्र घनवाहन ! चारु जैसे महात्मा मुनिराज अपनी आत्मा को तप, सयम, शाति, सतोष, ज्ञान-दर्शन आदि मूल्यवान् भाव-रत्नो से भरकर जब मोक्ष रूपी स्वस्थान मे जाने की इच्छा प्रकट करते है, उस

समय योग्य जैसे देशविरतिधारक श्रावकों को मोक्ष का निमन्त्रण देते हुए उन्हें उपदेश देते हैं। उत्तर में श्रावक कहते हैं कि अभी उनमे इतने गुण-रत्न एकत्रित नही हुए हैं कि वे स्वस्थान जा सकें। योग्य जैसे गुणों के प्रति रुचि रखने वाले प्राणियो को चारु जैसे साधु पुरुष कहते हैं कि यद्यपि यह मनुष्य जन्म ऐसा है कि इसमें सद्‌गुण एकत्रित करने का कार्य सरलता से हो सकता है और ऐसा करना प्राणी के स्वाधीन है, तथापि आपने हमारी भांति सम्पूर्ण गुणरत्नो को एकत्रित नहीं किया, इसका क्या कारण है ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में श्रावक बताते है कि इन्द्रिय-विषयों का व्यसन और धन के प्रति ममत्व ही सम्पूर्ण गुण-रत्नों को एकत्रित करने में विघ्नभूत बने हैं।

जैसे चारु ने योग्य को कहा था—भद्र ! रत्नद्वीप मे आकर भी काननादि कुतूहलो मे समय गवाना उचित नहीं है। यह कुतूहल विशिष्ट रत्नों को ग्रहण करने मे न केवल महाविघ्नकारी बना है अपितु आत्मवंचना का कारण भी बना है। तुम जानते हो कि यहाँ के अमूल्य रत्न सुख के कारण है तदपि उनका अनादर करके तुम आत्म-शत्रु क्यों बनते हो ? तुम यह भी जानते हो कि लम्बे समय तक मौज-मस्ती मारने पर इसकी पूर्ति/तृप्ति कभी नही हुई, अतः तुम्हे स्व-अर्थ की साधना मे ही प्रवृत्त होना चाहिये। अन्यथा तुम्हारा रत्नद्वीप आगमन निरर्थक ही सिद्ध होगा। अतएव हे मित्र ! कौतुकों का त्याग कर मेरे सान्निध्य मे महर्घ्य रत्नों का उपार्जन कर, अन्यथा तू स्वार्थ/लक्ष्य भ्रष्ट हो जायेगा।

चारु की हितशिक्षा सुनकर योग्य अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य में मौज-शौक में समय न खोकर, रत्नद्वीप मे रहते हुए मात्र रत्न एकत्रित करने का ही कार्य करने का आश्वासन दिया और शीघ्र ही अपना जहाज सच्चे रत्नो से भर लिया। वैसे ही भद्र धनवाहन ! मुनिपुंगव भी देशविरति श्रावको को हित-शिक्षा देते है :—

सज्जनो ! तुम्हे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है तुमने जिन-वचनामृत रस का आस्वादन किया है। ससार की असारता और निरर्थकता तुम्हें ज्ञात है। शरीर मल-कीचड़ से भरा हुआ है, तारुण्य सध्याकालीन बादलो की भाति क्षण-क्षण मे नष्ट होने वाला है, जीवन ग्रीष्म-तप्त पक्षी के गले जैसा चञ्चल है और स्वजनवर्ग का स्नेह-विलास थोड़े समय मे स्वतः ही नष्ट होता अपनी आँखो से देख रहे हो। ऐसी अवस्था में धन और इन्द्रिय-विषयो पर ममत्व कैसे उचित कहा जा सकता है ? यह तो स्पष्टतः अपने आप को ठगना हुआ। ज्ञान आदि विशिष्ट रत्नों की प्राप्ति मे तो इस ममत्व से विघ्न ही होता है। भद्रों ! तुम लोग जानते हो कि इन्द्रिय विषयो के फल बहुत भयंकर और मन को उद्वेलित करने वाले है। स्त्रिया चञ्चल-हृदया होती हैं। स्त्रियाँ चिर सुख का स्थान भी नही है और वे आर्त्त-रौद्र ध्यान का कारण भी है। तुम्हे यह भी ज्ञात है कि ज्ञान सुगति मार्ग का प्रदीप है, अत्यन्त

मानसिक आह्लाद का कारण है और बुरी योनियो में गिरते हुए प्राणियो का हस्तावलम्ब है। दर्शन मन को अतिशय प्रमुदित करने वाला, महा क्षेमकारी और मोक्ष में निक्षेप/स्थापन कराने वाला है। चारित्र हृदय को प्रफुल्लित करने वाला, निरन्तर आनन्दोत्सव कराने वाला है और * जीव-वस्त्र पर अनादि-काल से लगे मैल को स्वच्छ करने वाले शुद्ध जल के समान है। तप सर्व सगरहित बनाता है और असंयुक्त (अनागत) कर्म-मैल को रोकने वाला है। संयम भवभ्रमण के भय को दूर करने वाला और भविष्य के हर्ष का कारण है। हे भव्यजनो! यह सब जानते हुए भी यह तुम्हारी कैसी अविद्या, कैसा मोह, कैसा आत्मवचन और कैसी आत्म-शत्रुता है कि विपयो मे अत्यन्त मुग्ध बनते हो, स्त्रियो पर मोहित हो, धन पर लुब्ध होते हो, सम्बन्धियो के प्रति प्रगाढ स्नेह रखते हो, तरुणाई पर फूले नही समाते हो और अपना रूप देख-देख कर हर्षित होते हो। तुम्हे अनुकूल प्रसग प्राप्त होने पर प्रसन्न होते हो, हितकारी उपदेश देने वाले पर क्रोधित होते हो, गुणों से द्वेप करते हो और हमारे जैसे सहायक के साथ होने पर भी सन्मार्ग से भागते हो। सासारिक सुखो से हृष्ट होते हो, ज्ञान का अभ्यास नही करते हो, दर्शन का आदर नही करते हो, चारित्र का पालन नहीं करते हो, सयमित नही होते हो और तप आदि के द्वारा आत्मा को गुण-पुञ्जों का पात्र नही बनाते हो।

हे भविकजनों! यह तुम्हारी कितनी बड़ी भूल है! कैसा प्रमाद और कैसी आत्म-वंचना है! तुम्हारी यह प्रवृत्ति कितनी अधिक हानिप्रद है! जब तक तुम्हारी ऐसी प्रवृत्ति रहेगी तब तक हे भद्रो! तुम्हारा मनुष्य-जन्म निरर्थक है। हमारे जैसो का सान्निध्य भी निष्फल है। तुम्हे यह अभिमान है कि तुम उपर्युक्त सभी बातो के जानकार हो, यह भी निष्प्रयोजन है। तुम्हे भगवान् के दर्शन की प्राप्ति हुई है, पर उससे भी तुम्हे कोई लाभ नही है। तुम्हारी प्रवृत्तियो से तुम्हारे अपने ही हाथों अपने स्वार्थ का नाश हो रहा है, इसका कारण तुम्हारा अज्ञान ही है। तुमने इन विपयों का लम्बे समय तक सेवन किया है, फिर भी तुम्हे न तो सन्तुष्टि/तृप्ति हुई है, न होने की है, फलतः तुम्हारे जैसों का इनमे आसक्त होकर बैठे रहना उचित नही है। अतः अब भी विपयासक्ति का त्याग करो, स्वजनो के प्रति ममता को छोड़ो, धन-सग्रह और घर-गृहस्थी की झूठी ममता/व्यसन का परिहार करो, सब ससारी कचरे को फैंक दो, भागवती दीक्षा ग्रहण करो और सत्य, ज्ञान आदि गुणो का संचय करो। हम जब तक तुम्हारे पास है तब तक अपनी आत्मा को गुणो से भर दो और अपने पारमार्थिक स्वार्थ को सिद्ध कर लो। यदि तुम ऐसा नही करोगे तो हमारी हितशिक्षाओ के अभाव मे सद्‌बुद्धि-रहित होकर तुम अपने स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाओगे।

[चारु ने योग्य को जो उपदेश दिया उसे सुसाधु के वचनामृत तुल्य समझना चाहिये।]

* पृष्ठ ६३७

सन्मुनियों के उपालम्भ पूर्ण उपदेश रूपी वचनामृत सुनकर योग्य की ही भांति देशविरतिधर श्रावक भी अपनी प्रवृत्ति के लिए लज्जित होते हैं, सच्चे-झूठे उत्तर नही देते और मन में झूठा अभिनिवेश नही रखते। परन्तु साधु के वचनो को अपने हित के लिये स्वीकार करते हैं, उनका आदर करते हैं और यथोक्त विधान के अनुसार भगवत्प्ररूपित महाव्रतों को स्वीकार कर अपने आत्मा रूपी जहाज को गुण-रत्नों से भर लेते हैं।

जैसे चारु ने हितज्ञ के पास जाकर स्वयं के साथ स्वदेश लौटने को आमन्त्रित किया, उस पर हितज्ञ ने स्वोपार्जित धन-राशि चारु को दिखाई। चारु ने जब उसके जहाज मे भरे हुए रत्नों के स्थान पर शंख, कौड़े और काच के टुकड़े देखे तब उसका कारण पूछा। हितज्ञ ने मौज-शौक को इसका कारण बताया। वैसे ही हे भद्र धन-वाहन! मिथ्यादृष्टि भव्य प्राणियों की भद्रता को देखकर सम्पूर्ण गुणोपेत सुसाधु उन्हे सद्धर्म-उपदेश * देने को तत्पर होते हैं। इस कथन को चारु हितज्ञ के पास गया—के तुल्य समझे।

तदनन्तर ये साधु उन भद्रक भव्य मिथ्यादृष्टि प्राणियों को अपने धर्मोपदेश द्वारा मोक्ष का आमन्त्रण देते हैं। उत्तर में वे भव्य मिथ्यादृष्टि कहते हैं—हम भी तो धर्मानुष्ठान करते हैं, नित्य स्नान करते है, अग्निहोत्र प्रज्वलित रखते हैं, तिल और समिधा द्वारा होम करते हैं, गाय, भूमि और सोने का दान देते है, कुंए, तालाब और बावड़ी खुदवाते है, कन्यादान करते है। ऐसा कहने वाले प्राणियों ने शख, कौड़े और काच के टुकड़े इकट्ठे कर रखे है, ऐसा समझना चाहिये।

ऐसे मिथ्यादृष्टि प्राणी सुसाधुओ से निवेदन करते है– भो—भट्टारक! हम सुख से रहते है क्योकि मांस खाते है, मद्य पीते है, सरस स्वादिष्ट बत्तीस प्रकार का भोजन करते हैं, तैतीस प्रकार की सब्जी खाते हैं, सुन्दर स्त्रियो के साथ विलास करते है, सुकोमल निर्मल मूल्यवान वस्त्र पहनते है पांच सुगन्धित युक्त पान खाते हैं, विविध पुष्पमालाये धारण करते हैं, विलेपन करते हैं, धन का ढेर इकट्ठा करते हैं और हमारी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए विचरण करते हैं। शत्रु की गन्ध भी सहन नहीं करते, स्वकीय कीर्ति को चारों दिशाओ मे फैलाते हैं, अपनी कांति और व्यवहार को मनुष्यभूमि के देवता के सदृश बनाते है और मनुष्य जन्म मे जो कुछ सार रूप है, उन सब का स्वयं अनुभव करते हैं। इस सब को हितज्ञ के बाग-बगीचों मे घूमने के समान समझना चाहिये।

हितज्ञ के मुख से स्वचेष्टित कथन सुनकर जैसे कृपापूरित हृदय से चारु ने हितज्ञ को कहा—'मित्र! तू पापी धूर्त लोगो से ठगा गया है। तू स्वयं अनभिज्ञ होने से रत्नों के गुण-दोषों का परीक्षण करने मे असमर्थ है। तू रत्नद्वीप रत्नो का व्यापार करने के लिये आया है अतः काननादि घूमने और मौज-मस्ती का व्यसन

* पृष्ठ ६३८

तो तुझे रखना ही नही चाहिये । इस व्यसन से परमार्थतः तू ठगा जाकर मुख्य लक्ष्य से भ्रष्ट ही होगा ।'

चारु का मैत्री और सौजन्य पूर्ण हितकारी कथन सुनकर और चारु को विज्ञ रत्नपरीक्षक मानकर हितज्ञ ने उसकी शिक्षा को सहर्ष स्वीकार किया । मौज-शौक का त्याग कर व्यापार करने का दृढ निश्चय किया और रत्न परीक्षा सीखने-की कामना से चारु का शिष्यत्व भाव स्वीकार करने की मनोवाछा प्रकट की । चारु भी हितज्ञ के व्यवहार से प्रसन्न हुआ और उसने हितज्ञ को रत्न-लक्षण का सम्यक् प्रकार से शिक्षण प्रदान किया । शिक्षण प्राप्त कर हितज्ञ रत्नो के गुण-दोषो का विचक्षण परीक्षक बन गया । तत्पश्चात् हितज्ञ सगृहीत कृत्रिम रत्नो का परिहार कर, विशिष्ट रत्नों का सग्रह करने में दत्तचित्त हो गया ।

हे भद्र घनवाहन ! इसी प्रकार मुनिसत्तम भी करुणापूरित मानस से भद्रक भव्य मिथ्यादृष्टि प्राणियो को इस प्रकार हितशिक्षा पूर्ण धर्मदेशना देते है—

हे भद्रो ! यह सत्य है कि तुम धार्मिक हो, अपनी बुद्धि से सच्चा समझ कर ही धर्म करते हो, पर सच्चा धर्म किसमे है, उसकी विशेषता अभी तुम्हें ज्ञात नही है क्योकि तुम बहुत भोले हो । तुम्हे कुधर्मशास्त्रकारो ने ठगा है । हिंसा के कार्यो से कभी धर्म-साधना नही होती । सब प्राणियो पर दया करने को ही भगवान् ने विशुद्ध धर्म कहा है । होम यज्ञ आदि तो इसके विरुद्ध है । इस प्रकार धर्मबुद्धि से अधर्म-सेवन उचित नही है, फिर तुम्हारा यह कहना कि तुम * मास-मदिरा का सेवन कर सुखी हो, यह भी तुम्हारे अज्ञान को ही प्रकट करता है । विवेकशील पुरुष तो तुम्हारी बात सुनकर हँसे बिना नही रह सकते । शरीर विविध पीडाओं से व्याप्त है, विभिन्न रोगो से भरा है, वृद्धावस्था शीघ्रता से आने वाली है, राज्य-दण्ड का भय है जिससे शरीर और मन संतप्त रहता है । तरुणाई टेढी-मेढी चाल से बीत जाने वाली है । सम्पत्तिया सभी प्रकार के दु.ख उत्पन्न करने वाली है । स्नेहियो का वियोग मन को दग्ध कर देता है । अप्रिय सयोगो से मन व्याकुल होता है । मृत्यु-भय प्रतिदिन निकट आ रहा है, शरीर अपवित्र पदार्थों का भण्डार है । नि:सार विषय वासनाए पुद्गलो के परिणाम को प्रकट करती है । सारा ससार असख्य दु.खो से भरा हुआ है, इसमे प्राणी को सुख कहाँ ? सुख का प्रश्न ही नहीं उठता । परमार्थ से यह सब एकान्त दु ख है, पर तुम्हे उसमे सुख का झूठा भ्रम होता है । यह भ्रम तुम्हारे कर्मों के फलस्वरूप होता है और यही ससार-भ्रमण का कारण है । अतः हे भद्रो ! अति कठिनाई से प्राप्त ऐसा सुन्दर मनुष्य जन्म तुम्हे मिला है । धर्म करने योग्य सामग्री और अनुकूलता भी तुम्हे प्राप्त हुई है । हमारा उपदेश भी तुम्हे मिलता रहता है । गुण प्राप्त करना तुम्हारे हाथ में है । ज्ञानादि मोक्ष का मार्ग स्पष्ट है । जीव का वस्तु स्वभाव अनन्त आनन्द है । जीव को अपने

* पृष्ठ ६३६

वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति बोध, श्रद्धा और अनुष्ठान (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) से होती है। यह सब कुछ जानते हुए भी तुम अपने आपको ठगते हो और महर्घ्य रत्नों की परीक्षा कर उन्हे एकत्रित नहीं करते हो तो फिर तुम्हारा इस मनुष्य जन्म रूपी रत्नद्वीप मे आना व्यर्थ नही तो और क्या है?

मुनिश्रेष्ठ के उपर्युक्त वचन सुनकर हितज्ञ जैसे भद्र भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सोचते हैं कि भगवत्स्वरूप मुनिराजो का मेरे प्रति प्रेम है, वात्सल्य है। इनका ज्ञान अतिशय अगाध है और इनका कथन हृदयवेधी/असर कारक है। उपदेश के परिणामस्वरूप उनके मन में उच्च शुभ भावना उत्पन्न होती है और अभी तक धन-प्राप्ति और विषय भोग के प्रति जो आसक्ति थी वह कम होने लगती है। फिर वे मुनियों से सच्चा धर्म-मार्ग पूछते हैं, शिष्यभाव धारण कर विनयादि से गुरु का मन प्रसन्न करते हैं। तब गुरु महाराज उन्हे गृहस्थोचित एव साधुओं के योग्य देशविरति और पूर्ण निवृत्ति का धर्म-मार्ग बताते हैं तथा उसे विशिष्ट यत्न पूर्वक प्राप्त करने का उपाय बताते हुए कहते हैं :—

भद्रों ! यदि तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हे विशुद्ध सद्धर्म/आत्म-धर्म की प्राप्ति हो तो सब से पहले तुम्हे इन कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिये—तुम्हे दयालुता का सेवन/व्यवहार करना चाहिये, किसी का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये, क्रोध का त्याग कर दुर्जनों की संगति छोड़ देनी चाहिये और झूठ बोलने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। दूसरो के गुणो का गुणानुरागी बनना, चोरी न करना, मिथ्याभिमान का त्याग करना, परस्त्री-सेवन का त्याग करना, धन, ऋद्धि अथवा ज्ञान प्राप्ति से फूलना नही चाहिये और दु:खी प्राणियो को दु:ख से मुक्त करने की इच्छा रखनी चाहिये। पूजनीय गुरुओं की पूजन-भक्ति, देवो का वन्दन, सम्बन्धियो का सम्मान और स्नेहियो की आशा-पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। मित्रो का अनुसरण करना, अन्य का दोष-दर्शन और निन्दा न करना, दूसरों के गुणों को ग्रहण करना, और अपने गुणों की प्रशसा में लज्जा का अनुभव करना चाहिये।* अपने छोटे से सुकृत्य का भी पुन:-पुन: अनुमोदन करना और परोपकार के लिये यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये। महापुरुषों से आगे होकर बातचीत करना, दूसरों के मर्म को प्रकट नहीं करना, धर्म-युक्त व्यक्तियों का अनुमोदन/समर्थन करना, सुवेष/सादी वेशभूषा धारण करना और शुद्ध आचरण का पालन करना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तुन्हें सर्वज्ञ प्ररूपित शुद्ध धर्म के अनुष्ठान की योग्यता प्राप्त होगी।

गृहस्थ-धर्म/श्रावकाचार धारक जनो को अकल्याणकारी मित्रो (मोहादि अन्तरंग शत्रुओ) का सम्बन्ध छोड़ देना चाहिये। कल्याणकारी मित्रों (चारित्र धर्मराजा आदि आन्तरिक मित्रो) से मित्रता बढ़ानी चाहिये। अपनी उचित स्थिति

* पृष्ठ २४०

और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। लोक व्यवहार की अपेक्षा रखनी चाहिये। गुरु और बड़े लोगों को मान देना और उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना चाहिये। दानादि सद्गुणों में विशेष प्रवृत्ति, भगवान् और देव की उदार पूजा, साधु महात्माओं की निरन्तर शोध और उनका संयोग मिलने पर विधिपूर्वक धर्मशास्त्र का श्रवण करना चाहिये। यत्नपूर्वक शास्त्रों की पर्यालोचना करते हुए उनके अर्थ/रहस्य को समझ कर उसे जीवन मे उतारना, धैर्य धारण करना, भविष्य का विचार करना और मृत्यु को सदा अपने सम्मुख समझना चाहिये। परलोक-साधन मे तत्परता, गुरुजनों की सेवा, योगपट्ट का दर्शन, योग के रूप को अपने मन मे स्थापित करना, धारणा को स्थिर करना, किसी भी प्रकार के आन्तरिक विक्षेप का त्याग करना, और मन वचन काया के योगों की शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये, भगवान् के मन्दिर-मूर्तियो को तैयार करवाना चाहिये। तीर्थंकरों के वचनों शास्त्रों को लिखवाना, मगल जप/नमस्कार मंत्र का जाप करना, चार शरण को स्वीकार करना और अपने दुष्कृत्यो की निन्दा करनी चाहिये। अपने सत्कृत्यों की बार-बार अनुमोदना करना, मंत्र-देवों की पूजा करना, पूर्व पुरुषों के प्रशस्त चरित्रों को पुनः-पुनः श्रवण करना, उदारता रखना और उत्तम ज्ञान मे प्रतिपल रमण करना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तुम मे साधुधर्म के अनुष्ठानों को करने की योग्यता प्राप्त होगी।

इसके पश्चात् बाह्य और अन्तरंग संग का त्याग करने से और दूसरो द्वारा प्राप्त आहार पर तुम्हारा जीवन आधारित होने से तुम भाव-मुनि बनोगे। फिर तुम्हे प्रतिदिन सूत्र और उसके अर्थ को ग्रहण करने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। मन मे वस्तु तत्त्व को समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिये। अपने और दूसरो के शास्त्रों का अध्ययन करना, परोपकार के कार्यों मे सदा तत्पर रहना, पर-पक्ष के आशय को भली प्रकार समझना, अपने नाम को सार्थक करने वाले गुरु के साथ सच्चा सम्बन्ध कैसे स्थापित हो इसकी शोध करना, गुरु का भली-भाति विनय करना और सभी अनुष्ठानों की विधियों को करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। सात मण्डलि (सूत्र, अर्थ, भोजन, कालग्रहण, आवश्यक, स्वाध्याय और संथारा) मे पूर्ण प्रयत्न करना, आसन-स्थापनाचार्य और छोटे-बड़े साधुओं का जो क्रम शास्त्रो मे बताया गया है उसका बराबर पालन करना चाहिये। साधु के योग्य उचित अशन (भोजन) क्रिया का पालन करना, विकथा आदि विक्षेपो का सर्वथा त्याग करना, सभी क्रियाओं मे भावपूर्वक उपयोग/विवेक रखना और सूत्रार्थ श्रवण की विधि को सीखना चाहिये। बोध-परिणति का आचरण करना सम्यक् ज्ञान मे स्थिरता का प्रयत्न करना और मन को स्थिर करना चाहिये। ज्ञान-प्राप्ति का अभिमान नही करना चाहिये। ज्ञानहीनो का मजाक नही उडाना, विवाद का त्याग करना, समझ रहित व्यक्ति की बुद्धि का पृथक्करण करने के प्रयास का त्याग करना अथवा अनपढ और पढे हुओ के प्रति व्यवहार मे किसी प्रकार का भेद-भाव नही करना चाहिये। कुपात्र मनुष्य को शास्त्र का अभ्यास नही कराना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तुम्हे ऐसी योग्यता प्राप्त होगी कि गुणानुरागी लोग तुम्हारा बहुमान

करेंगे, शांति रूपी लक्ष्मी स्वतः ही प्राप्त होगी और तुम भाव-सम्पत्तियों के आश्रय-स्थान बन जाओगे।

जब तुम्हारी आन्तरिक वास्तविक योग्यता उपर्युक्त प्रकार की हो जायेगी तब गुरु महाराज की तुम पर कृपा होगी और वे प्रसन्न होकर तुम्हे * सिद्धान्त का सार बतायेंगे। फिर तुम में श्रवणेच्छा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, ऊहा (सामान्य ज्ञान), अपोह (अर्थ-विज्ञान), विचारणा और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, ये आठ प्रज्ञा गुण प्रस्फुटित होगे। तत्पश्चात् तुम्हे आसेवना, प्रत्युपेक्षणा, प्रमार्जन, भिक्षाचर्या आदि की विधि भी अपनी आत्मा के साथ एकमेक करनी होगी। इर्यापथिकी दोषों का प्रतिक्रमण करना, आलोचना लेना, निर्दोष भोजन-विधि सीखना, विधिपूर्वक पात्र स्वच्छ करना, आगमानुसार मल-विसर्जन विधि तथा स्थंडिल भूमि का बराबर निरीक्षण करना होगा। तदनन्तर तुम्हे समस्त उपाधि-रहित होकर षड् आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना, आगमानुसार काल-ग्रहण, पांच प्रकार का स्वाध्याय, प्रतिदिन की क्रिया में सावधानी, पांच प्रकार के आचार का पालन, चरण-करण की सेवना और अगागीभाव से आत्मा को अप्रमादी बनाते हुए अति उग्र विहार करना चाहिये। ऐसी प्रवृत्ति से अस्खलित मोक्ष मे पहुँच जाने वाले गुण-समूहो की तुम्हें प्राप्ति होगी।

इस प्रकार भगवत्स्वरूप सन्मुनि उन्हे सद्गुणो के उपार्जन का मार्ग बताते हैं। मुनि के उपर्युक्त उपदेश से जो अभी तक मिथ्यादृष्टि किन्तु स्वय भद्र एव भविष्य मे हितसाधन की योग्यता वाले भव्य प्राणी है वे सावधान हो जाते है, भावरत्न (सच्चे धर्म) के परीक्षक बनते हैं, कुधर्मो का त्याग करते है और सद्गुणों के उपार्जन मे लग जाते है। फिर स्वय ही गुरु से कहते है :—

भट्टारक ! हम तो अभी तक महान विपत्तियों के हेतु विषयभोगो से बहुत ही अधिक ठगे गये हैं। धूर्त स्वरूप कुतीर्थिको ने हमें बहुत भ्रमित किया है, पर अब हमें ज्ञात हो गया है कि इन सबका कारण हमारा मोह दोष ही था। अब आपने वात्सल्य भाव से कृपा कर हमें विशुद्ध मार्ग बताया है, अत हे स्वामिन्! अब हम आपके पूर्वोक्त कथनानुसार ही सब कुछ करेंगे। इस प्रकार के भव्य प्राणियो पर साधुओं की मधुर वाणी का अच्छा प्रभाव होता है और वे उसके अनुसार चलने का निर्णय लेते हैं, जिससे अन्त मे वे अपने सच्चे स्व-अर्थ को सिद्ध करने मे समर्थ होते हैं। [३८६-३८८]

तत्पश्चात् जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि चारु अपने तीसरे मित्र मूढ के पास गया और प्रेमपूर्वक स्वदेश लौटने को कहा। इस पर मूढ ने उसे कहा—'मित्र ! स्वदेश जाकर क्या करेंगे ? अभी तो यहाँ दर्शनीय कई स्थान है जिन्हे अभी देखना है। यह रत्नद्वीप रमणीयतम स्थान है। देख, देख ! यह द्वीप चारों ओर से

* पृष्ठ ६४१

पद्म-खण्डों/ कमल वनो से सुशोभित है, आकर्षक उद्यान है, सरोवरो से मंडित है, कमनीय विहार स्थल है, सुगन्धित पुष्पों और वनराजियो से स्पृहणीय हो रहा है और श्रेष्ठ लोगो का अभिलषणीय स्थान है। अत: यहाँ अधिक समय तक सुख का उपभोग करने के पश्चात् स्वस्थान की ओर चलेगे। मुझे तो यहाँ से जाना ही अच्छा नही लगता। वैसे मैने भी तेरे समान माल से जहाज भर लिया है।

यह कह कर मूढ ने काच के टुकड़ो से भरा हुआ जहाज चारु को दिखाया। काच के टुकड़ो को देखकर चारु को मूढ पर दया आती है और वह उसे हित शिक्षा देते हुए कहता है—मित्र! काननादि कौतुको मे और मौजमस्ती मे समय नष्ट कर तूने अच्छा नही किया। रत्न के भ्रम से कुरत्नों/काच के टुकड़ों का तूने सग्रह किया है, अत तू इन कुरत्नों का त्याग कर और इन सुरत्नो को ग्रहण करने का प्रयत्न कर। मित्र! * सुरत्नों के लक्षण ये है। इस प्रकार चारु ज्यो ही रत्नो के लक्षण बताने लगा त्यो ही मूढ क्रोधावेश मे आकर बोला—

मैं नही जाऊंगा। तुम्हे जाना हो तो तुम जाओ। तुम्हें जो कार्य करना हो, करो। तुम जैसा चाहते हो वैसा नही होगा। तुम मेरे देदीप्यमान रत्नो को काच के टुकडे बताते हो। मुझे तुम्हारे सुरत्नो से कोई लेना देना नही। इस प्रकार मूढ ने कृपापूर्वक हितशिक्षा-दान देने को उद्यत चारु का मुह-तोड जवाब देकर उसको तिरस्कृत किया।

मूढ के इस व्यवहार से चारु ने विचारपूर्वक निश्चय किया कि यह मूढ हितशिक्षा देने योग्य नही है।

इसी प्रकार भद्र धनवाहन! चारु के तुल्य भगवत्स्वरूप मुनिगण जब मूढ जैसे दुर्भव्य या अभव्य प्राणियो को धर्मोपदेश देने के लिये तत्पर होते हैं, उनके समीप जाते है और उन्हे विशुद्ध धर्म का उपदेश देकर मोक्षगमन के लिये आमन्त्रित करते है तब ऐसे मूढ-सदृश प्राणी गुरु महाराज से कहते हैं :—

अरे साधुओं! हमें तुम्हारा मोक्ष नही चाहिये। तुम भी उस मोक्ष मे जाकर क्या करोगे? देखो, तुम्हारे मोक्ष मे न खाना है, न पीना है। न कोई भोग विलास है और न कोई ऐश्वर्य। वहाँ न तो दिव्य देवागनाओ का सयोग है और न ही कमनीय कमलाक्षियों के कटाक्ष। वहाँ किसी प्रकार का प्रेम-सभाषण, नान, गाना, हँसना, खेलना कुछ भी तो नही है। हन्त! इसे मोक्ष कहते है? यह तो बन्धन हुआ। [३८९–३९०]

देखिये, हमारा यह ससार का विस्तार तो हमारे चित्त को अत्यन्त आनन्दित करने वाला है, हमे तो अत्यन्त रमणीय लगता है। ससार मे हमे खूब खाना-पीना, धन, सम्पत्ति, विलास, आभूषण मिलते है और कमलाक्षी स्त्रियों के साथ इच्छित आनन्द भोगने को मिलते है। हम स्वेच्छानुसार आचरण करते है, नाचते

* पृष्ठ ६४२

है, गाते है, विलोपन करते है और सब प्रकार के सुख साधन हमे यहाँ प्राप्त है। हे श्रमणो! ऐसे सुख सामग्री से परिपूर्ण ससार को छोड़कर मोक्ष मे जाने का तुम्हारा विचार हमे तो ठीक नही लगता। छोड़ो मोक्ष की बात को। हमे तो ससार की तुलना में मोक्ष मे अधिक सुख नही लगता। पहले यहाँ के प्राप्त सुख को भोग ले, फिर मोक्ष जाने की सोचेंगे। [३९१-३९५]

साधुओ! जो सद्धर्म तुम्हारे मन मे स्थित है वह तो हमें भी ज्ञात है। तुम धर्म का गर्व क्यो करते हो? देखो, हम भी अनेक पाडे, बकरे और सूअरो को मारकर उनके खून से चडिका का तर्पण करते है। गोमेध, अश्वमेध और नरमेध यज्ञ करते है। अनेक बकरो की यज्ञ मे आहुति देते है। अनेक प्राणियो का मर्दन कर चारो प्रकार के यज्ञ करते है। बेचारे अनेक पशुओं को उस बुरी योनि से निकाल कर उन्हे समस्त दु खो से मुक्त करते हैं। हमारी पापऋद्धि से हम दिन-प्रतिदिन जीवों को मार-मार कर यज्ञ स्थान को मास से भर देते हैं, * फिर अपनी इच्छानुसार उसका दान कर देते है। इस प्रकार हम नित्य ही अपने धर्मकृत्य द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन कर स्वय को कृतकृत्य समझते है, अतएव तुम्हारे द्वारा बताये गये धर्म की हम बात भी नही करते। [३९६-४०१]

मूढ जैसे अभव्य प्राणियो द्वारा आचार्य महाराज को ऐसा उत्तर देने पर भी उन शान्त-मूर्ति धैर्यशाली मुनियो को इन पर अधिक दया आती है और उन्हे प्रतिबोध देकर मार्ग पर लाने के विचार से वे पुनः कहते है :—

भद्रो! संसार को बढाने वाले ऐसे झूठे भ्रम मे फँसे रहना उचित नही है। तुम विपरीत मार्ग पर आ रहे हो। तुमने जिन इन्द्रिय-भोगो की बात कही इनका परिणाम तो सर्प-दश की भांति भयकर है। इनका अन्त बहुत कटु है। वे पाप से आच्छन्न और महा भयकर क्लेश-वर्धक है। तुम स्त्रियों में आसक्त रहते हो, पर वास्तव मे तो वे प्रायः अकार्यकर्त्री होती है और स्वभाव से माया की छाव ही हैं। उनके विलास, नाच, गायन और चाल सभी विडम्बना मात्र ही है। भाइयो! मोक्ष तो अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है और वह आनन्द सर्वदा बना रहता है। जीवो की आत्म-व्यवस्था/आत्म-स्वरूप सभी प्रकार के क्लेशो से रहित है। अतः मनुष्य जन्म को प्राप्त कर खाने-पीने और विलास मे डूबे रहकर आत्म-प्रवञ्चना करना तुम्हारे जैसे व्यक्तियो के योग्य नही है। थोड़े दिनो तक टिकने वाले इन्द्रिय-भोगो मे आसक्त रहकर, मोक्ष के राजमार्ग को छोड़कर तुम अनन्त ससार के फन्दे मे मत फंसो। धर्म के अनुष्ठान करने की बुद्धि से अन्य जीवो को मारने का पाप कर रहे हो, यह तो ससार को बढाने वाला है। अतः ऐसे कुशास्त्रो के दुराग्रह मे फसकर ऐसा पाप का काम मत करो। पाप-दोषो का नाश करने वाले अहिंसा धर्म मे प्रवृत्ति करो। [४०२-४१०]

---

* पृष्ठ ६४३

मुनिराज द्वारा शान्ति से कहे गये उपर्युक्त उपदेशामृत को सुनकर मूढ जैसे पापी प्राणी क्रोधित हो जाते है और क्रोध के आवेश मे ही मुनि से कहते है—अरे साधुओं! हमे शिक्षा देने की और अपनी चतुराई बताने की कोई आवश्यकता नही है। जैसे आये हो वैसे ही उलटे पैरो वापस लौट जाओ। अरे पापिष्ठो! तुम भोगो की इतनी निन्दा करते हो और हमारे माने हुए धर्म की बुराई करते हो, अतः सचमुच तुम हमारे शत्रु हो। तुम्हे तो सीधे यम के द्वार पहुँचाना चाहिये। हमारा ऐसा सुन्दर विशुद्ध धर्म तुम्हे प्रिय नही है तो हे अधमपुरुषो! हमे भी तुम्हारे धर्म की कोई आवश्यकता नही है। हे श्रमणाधमो! तुम अपने लोगो को तुम्हारा सद्-धर्म बतलाओ, हमे तुम्हारे धर्म से कोई प्रयोजन नही है। [४११-४१५]

मूढ प्राणियो के क्रोधित होकर उपर्युक्त उत्तर देने पर साधुओ को उन पर और अधिक दया आती है। वे एक बार और उन्हे सद्धर्म के लक्षण बताने का प्रयत्न करते है। मुनिराज द्वारा पुनः धर्म के लक्षण बताने को उद्यत होने पर मूढ प्राणी आँखे लाल कर, क्रोध से होठ दबाकर लात मारने और धक्का-मुक्की करने को तैयार हो जाते है और एक दो लात तो मार ही देते है। मूढ की ऐसी चेष्टाओं को देखकर शान्त मुनि अपने मन मे निश्चय करते है कि, यह प्राणी किसी भी प्रकार सन्मार्ग पर नही आ सकता, अतः वे ऐसे प्राणी के प्रति उपेक्षा धारण करते हैं।* यह निश्चय हो जाने पर कि अमुक गाय वन्ध्या है तब फिर उससे दूध प्राप्ति का प्रयत्न व्यर्थ ही है। [४१६-४१९]

अन्तिम निष्कर्ष

जैसे पूर्व-कथित चारु के उपदेश को योग्य और हितज्ञ ने अगीकार कर तदनुसार आचरण/व्यापार किया, विशिष्ट अमूल्य रत्नो का क्रय कर सग्रह किया, रत्नो से अपने-अपने जहाजों को भरा और चारु के साथ स्वदेश/स्वस्थान को गये। स्वस्थान मे पहुँच कर ये तीनो रत्नो का व्यापार कर सततानन्द के भाजन बने। मूढ के दुर्व्यवहार से कुपित होकर रत्नद्वीप के भूपति ने उसे रत्नद्वीप से निष्कासित कर समुद्र मे फिकवा दिया जिससे वह मूढ अनन्त दु ख-पीडाओ का भाजन बना। वैसे ही भाई धनवाहन! देशविरतिधारक श्रावक (योग्य) और भद्र प्रकृति वाले भव्य मिथ्यादृष्टि (हितज्ञ) जैसे प्राणी जब मुनिराज (चारु) का उपदेश सुनते है तब उसके अनुसार आचरण करने लगते है और अन्त मे सर्वज्ञ प्ररूपित पाँच महाव्रतो को स्वीकार करते है, जिससे उनमे ज्ञानादि गुणो की वृद्धि होती है। धीरे-धीरे उनकी आत्मा ऐसे गुणरत्नो से परिपूर्ण हो जाती है और अन्त में परमपद (मोक्ष) को प्राप्त कर निरन्तर सतत अनन्त आनन्द-समूह के पात्र बनते है। क्योकि, वहाँ उन्हे आत्मा मे एकत्रित ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्नो का ही व्यापार करना होता है। मूढ जैसे प्राणी जब पाप से पूरे भर जाते है तब

* पृष्ठ ६४४

कर्मपरिणाम राजा अत्यन्त कुपित होता है और उसे मनुष्य जन्म रूपी रत्नद्वीप से निकाल कर ससारसागर मे निरन्तर दुःख सहने के लिये फेंक देता है।

हे घनवाहन ! उपर्युक्त चार व्यापारियों की कथा के गूढार्थ को समझ कर ही पाचवे मुनि ने ससार का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। कथा मे सच्ची घटना और रूपक को बहुत ही सुन्दरता से प्रतिपादित किया है। इसके रहस्य का चिन्तन कर्म को काटने वाला है। कौन सा बुद्धिमान भव्य पुरुष ऐसा होगा जो इस कथा के गूढार्थ को समझ कर मुनित्व को स्वीकार नही करेगा ? रत्नद्वीप जैसे मनुष्य भव को प्राप्त कर अपने आत्मा रूपी जहाज को गुणरत्नो से नही भरेगा और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करना नही चाहेगा ? [४२०-४२२]

[इस कथा के विचार मात्र से प्राणी संसार से भयभीत हो जाता है और धर्म मे अनुरक्त हो जाता है। अब तो तुझे मुनि द्वारा कही गई कथा का भावार्थ समझ मे आ गया होगा।]

हे अगृहीतसकेता ! उस समय मेरी कर्म-स्थिति भी कुछ जीर्ण हुई थी, जिससे मेरे मन में भी कुछ भद्र भाव जागृत हुए और अकलक की बात मुझे किंचित् सुखकारी और मधुर लगी। फिर भी मै चुप ही रहा, कुछ भी उत्तर नही दिया।

८. संसार-बाजार (प्रथम चक्र)

मेरे मित्र अकलंक के साथ मै (घनवाहन के भव मे संसारी जीव) छठे मुनिराज के पास गया। हमने मुनिराज का वन्दन किया और उन्होने हमे धर्मलाभ कहा। अकलक ने मुनिराज से वैराग्य का कारण पूछा, इस पर मुनिराज ने कहा— भाई अकलक ! आदि-अन्त रहित ससृति नामक एक नगरी है। उस नगरी में स्थित बाजार ही मेरे वैराग्य का कारण बना है। [४२३]

अकलक ने विचार किया कि जैसा तीसरे मुनि ने अपने वैराग्य का कारण अरहट चक्र को बतलाया वैसा ही यह बाजार भी होगा। फिर भी उसने मुनि से पूछ ही लिया—भगवन् ! इस बाजार से आपको कैसे वैराग्य हुआ ? स्पष्ट करें की कृपा करें। [४२४-४२५]

उत्तर मे मुनि बोले– भाग्यवान ! सामने जो ध्यानमग्न मुनि महाराज बैठे है, उन्होंने अनेक जन्मो को उत्पन्न करने वाले इस बाजार को मुझे बतलाया।* इस बाजार मे बहुत लम्बी-लम्बी भव रूपी श्रेणिया है। दुकाने सुख-दु.ख नामक किराणे से भरी हुई है। इसमे खरीद-बिक्री में व्यस्त अनेक जीव रूपी व्यापारी किराणा एकत्रित करने और अपने स्वार्थ मे तत्पर आकुल-व्याकुल दिखाई दे रहे है। वहाँ निम्न, मध्यम और उत्कृष्ट पुण्य-पाप रूपी मूल्य देकर स्वानुरूप वस्तुए खरीदी जा सकती है। अनेक पुण्यहीन गरीब जीवों से यह बाजार भरा हुआ है, सर्वदा खुला रहता है और व्यापार चलता रहता है। इस संसृति नगरी का बलाधिकृत/सेनापति महामोह है, जिसके अधीन काम क्रोध आदि अधिकारी है। वहाँ कर्म नामक रौद्र ऋण दाता और जीव कर्ज लेने वाले है। इस कर्जदाता से कोई नही बचा सकता। ये लेनदारों को ऐसी अति दारुण जेल मे डाल देते हैं जहाँ से छुटकारा ही न हो सके। वहाँ कषाय नामक दुर्दान्त मदोन्मत्त बच्चे लोगो को उद्वेलित करते हुए कलकल करते रहते है। यह बाजार अनेक आश्चर्यजनक नवीनताओ से युक्त है। निरन्तर आकुल-व्याकुल और जागृत रहने वाला इसके समान दूसरा कोई बाजार ससार मे नही है। [४२६-४३४]

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस बाजार में रहने वाले सभी प्राणी अन्दर से अत्यन्त दु खी है। हे भाग्यशाली ! सन्मुख ध्यानस्थ बैठे मेरे गुरु महाराज ने कृपापूर्वक उस समय मेरी आँखो मे ज्ञानाजन लगाया, जिससे मेरी दृष्टि अत्यन्त निर्मल हो गई और दुकानो के अन्त में एक मठ जैसा शिवालय दूर से मुझे दिखाई दिया। सद्बुद्धि-दृष्टि से इस शिवालय मे मुक्त नामक अनन्त पुरुष मुझे दृष्टिगोचर हुए। वे निरन्तर आनन्द से युक्त और समस्त प्रकार की बाधा-पीडा से रहित थे। मुझे लगा कि मैं भी इन दुकानो मे से किसी एक मे व्यापार कर रहा हूँ, पर शिवालय को देखने के पश्चात् मुझे उसी मे जाने की तीव्र इच्छा वाला निर्वेद जाग्रत हुआ। मैंने गुरु महाराज से कहा—नाथ ! चलिये हम इस बाजार को छोडकर इसके अन्त मे स्थित शिवालय मे चलकर रहे। इस कोलाहल पूर्ण बाजार में तो मुझे क्षण भर भी शान्ति नही मिलती। मेरी इच्छा आपके साथ उस मठ मे जाने की ही है।

मेरी इच्छा सुनकर गुरु महाराज बोले—'हे नरश्रेष्ठ ! यदि तुझे मठ मे जाने की ऐसी तीव्र इच्छा है तो तू मेरी दीक्षा ग्रहण कर, क्योकि यह दीक्षा ही शीघ्रता से मठ मे पहुँचाती है।' उत्तर मे मैंने कहा—'भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मुझे शीघ्र ही दीक्षा दीजिये, इसमें थोडा भी विलम्ब मत करिए।' मेरा उत्तर सुनकर उन्होने मुझे सर्वज्ञ मत की पारमेश्वरी दीक्षा प्रदान की और उस मठ मे पहुँचने के कारण रूप कर्त्तव्य/अनुष्ठान समझाये। इन कर्त्तव्यो का पालन करते हुए ही अभी मैं यहाँ रह रहा हूँ। [४३५-४४४]

* पृष्ठ ६४५

बाजार और मठ का वर्णन सुनने के पश्चात् अकलंक ने पूछा—महाराज ! आपके गुरु महाराज ने आपको किस प्रकार के कर्त्तव्य बतलाये ?* जिनके बल पर आप मठ मे पहुँचना चाहते है ? कृपा कर मुझे विस्तार से समझाइये । [४४५]

मुनिराज बोले—सौम्य अकलंक ! सुनो । मेरे गुरु महाराज ने उस समय मुझे कहा था :—

भद्र ! तेरी सम्पत्ति/अधिकार मे रहने के लिये एक सुन्दर कमरा है, जिसका नाम काया है । इसके पंचाक्ष नामक झरोखे हैं और क्षयोपशम नामक गर्भगृह है । इसके पास ही कार्मण शरीर नामक भीतरी चौक या कमरा है । इस भीतरी कमरे/चौक में एक चित्त नामक अति चपल बन्दर का बच्चा रहता है ।

यह सुनकर मैंने कहा—यह सब ठीक है ।

पुन. गुरु ने कहा—इन सब को साथ मे रखकर ही तुझे दीक्षा लेनी है, क्योकि योग्य अवसर की प्राप्ति के पहले इनका त्याग नहीं हो सकता ।

मैने कहा—जैसी आपकी आज्ञा ।

तत्पश्चात् गुरु महाराज ने मुझे दीक्षा दी और समझाया—भद्र ! इस बन्दर के बच्चे का तुझे भली प्रकार रक्षण करना चाहिये ।

मैने कहा—जैसी आपकी आज्ञा ! आप कृपा कर मुझे यह तो बतायें कि इस बन्दर के बच्चे को किससे भय है ? जिससे मैं उन भयों से उसकी रक्षा कर सकू ।

उत्तर में गुरु महाराज ने बताया—सौम्य ! यह बन्दर का बच्चा जिस चौक मे रहता है, वहाँ अनेक प्रकार के उपद्रवकारी तत्त्व है । वहाँ कषाय नामक चपल चूहे उस बेचारे को काटते रहते हैं, नोकषाय नामक डक मारने में पटु भयकर विच्छु डंक मारते रहते हैं, संज्ञा नामक क्रूर बिल्लियां खा जाती है, राग-द्वेष नामक भयकर मोटे चूहे इसे हड़प कर जाते है और महामोह नामक अतिरौद्र बड़ा बिल्ला इसे पूरा ही निगल जाता है । परिषह उपसर्ग नामक डास-मच्छर इसे बार-बार काट कर सन्तप्त करते रहते है, दुष्टाभिसन्धि और वितर्क नामक वज्र जैसी सूण्डो वाले खटमल इसका खून चूस लेते है, झूठी चिन्ता नामक गिलहरियाँ बार-बार पीड़ित करती है और रौद्राकार प्रमाद नामक तिलचट्टे बारंबार तिरस्कृत/पराजित करते है । अविरति कीचड़ नामक जूंए बार-बार डंक मारती है और मिथ्यादर्शन नामक अति घोर अन्धेरा उसे अन्धा बना देता है । हे भद्र । इस बन्दर के बच्चे को गर्भगृह/चौक में रहते हुए ही स्थायी रूप से निरन्तर ऐसे अनेक उपद्रव होते रहते हैं, जिसकी तीव्र वेदना को बेचारा चित्त/बन्दर-बालक सहन नही कर सकता और रौद्रध्यान रूपी खैर के अगारों से धधकते कुण्ड में कूद पड़ता है । किसी

* पृष्ठ ६४६

समय यह अनेक प्रकार के कुविकल्प रूपी मकड़ियों के जालों से जिसका मुंह छिप गया है ऐसी अति भीषण आर्तध्यान रूपी गहन गुफा में छिप जाता है। तुझे अप्रमत्त भाव से सर्वदा इस बन्दर के बच्चे को अग्निकुण्ड मे या गहन गुफा में जाने से रक्षण करना चाहिये।

मैने पूछा—भगवन्! इसको अग्नि-कुण्ड या गुफा मे जाने से रोकने का उपाय क्या है?

तब गुरु महाराज ने कहा—भाई! काया नामक कमरे के पाच गवाक्ष (द्वार) है, उनके बाहर ही पाच विषय नामक विषवृक्ष है जो अति भयकर हैं। इनकी गध मात्र से * बन्दर के बच्चे को मूर्छा आने लगती है। इनको देखने से वह चपल बन जाता है और श्रवण मात्र से वह मरने लगता है। फिर स्पर्श करने और खाने से तो उसका विनाश हो इसमे आश्चर्य ही क्या? पहले कहे गये चूहे आदि के उपद्रव बन्दर के बच्चे को इतना अधिक त्रस्त कर देते है कि वह व्याकुल होकर इन विषवृक्षो को आम्रवृक्ष मानने लगता है और प्रसन्नता पूर्वक इन विषवृक्षो पर आसक्त हो जाता है। पहले बताये गये पाच द्वारों से बाहर निकल कर वह अत्यन्त अभिलाषापूर्वक इन वृक्षों की तरफ दौड़ता है। वह इनके कुछ फलो को अच्छा समझ कर उन पर लुब्ध हो जाता है और कुछ फलो को खराब मानकर उनसे द्वेष करता है। इन वृक्षों पर अत्यन्त आसक्ति पूर्वक डाल-डाल पर घूमता है। वृक्षों के नीचे अर्थनिचय/विषयरज नामक सूखे पत्ते फल-फूल आदि कचरा जमा हुआ होता है, उस पर वह बार-बार लोटता है और भोग-स्नेह रूपी बरसाती जल-बिन्दुओ से गीला होकर कर्म-परमाणु-निचय अर्थात् वृक्ष के फल-फूल परागरूपी इस कर्मपरमाणु रज/धूल को अपने शरीर पर चिपका लेता है।

भावार्थ

गुरु महाराज द्वारा कही गयी उपरोक्त वार्ता का भावार्थ मेरी समझ मे आ गया था, अतः मैंने विचार किया कि सामान्यतः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाच विष वृक्ष प्रतीत होते है। अस्पष्ट दिखाई देने वाले इनके फूल और अधिक स्पष्ट दिखाई देने वाले विशेष 'आविर्भाव' इसके फल प्रतीत होते हैं। विषयों की आधारभूत वस्तुए इसकी शाखाये प्रतीत होती है। चित्तरूपी बन्दर के बच्चे का इन डालियो पर घूमना उपचार से ही समझना चाहिये, क्योकि लोग प्रायः ऐसा कहते है कि 'अभी मेरा मन अमुक स्थान पर गया।' गुरुजी की बात भली-भाति मेरी समझ मे आ रही थी, अतः आगे भी समझ मे आयेगी ही, ऐसा सोचकर मैंने वार्ता को आगे चलाने का अनुरोध किया।

गुरु महाराज ने आगे कहा—भद्र! भोग-स्नेह-जल से जब इस बन्दर के बच्चे का शरीर गीला होता है और वह कर्मपरमाणुनिचय नामक रज मे लोटता है,

* पृष्ठ ६४७

तब यह धूल उसके शरीर पर अधिक चिपक जाती है और उसका सारा शरीर धूलि-धूसरित हो जाता है। एक तो बन्दर वैसे ही चञ्चल होता है, फिर यह जहरीली धूल शरीरवेधक होने से उसके शरीर मे घाव कर देती है, शरीर क्षीण होकर शिथिल हो जाता है, उसका मध्य भाग चारों तरफ से फट जाता है। जहरीली धूल सारे शरीर मे और विशेष रूप से मध्यभाग में असर करती है जिससे सारा शरीर जलने लगता है। फलस्वरूप उसका पूरा शरीर काला हो जाता है और कही कही से लाल भी दिखाई देने लगता है। जब वह वापस अपने गर्भगृह/चौक मे जाता है तब पहले बताये गये चूहे मच्छर आदि के उपद्रव फिर होने लगते है। इन उपद्रवो का आक्रमण उस पर प्रति क्षण अधिकाधिक उग्र होते रहते है।

रक्षण के उपाय

भद्र ! इस चित्त रूपी बन्दर के बच्चे को इन उपद्रवो से बचाने का सीधा उपाय यह है कि स्ववीर्य/आत्मशक्ति नामक अपने हाथ मे अप्रमाद नामक वज्रदण्ड लेकर पाचों द्वारो के पास खड़े रहना और जब-जब वह बन्दर का बच्चा इन्द्रिय रूपी झरोखो से विषय रूपी विषवृक्ष के फलो को खाने की इच्छा से बाहर आवे तब-तब उसे वज्र दण्ड दिखा कर, फटकार कर बाहर आने से रोकना। फिर भी यह चित्त बन्दर अधिक चञ्चल होने से यदि बाहर आ जाय तो उसे जोर से डरा धमकाकर वापस लौटा देना। बाहर आने पर रोक लगी होने से उसकी विषवृक्ष रूपी आम्र फल खाने की इच्छा निवृत्त हो जायगी और भोग-स्नेह-जल से भीगकर जो सर्दी हो गई थी वह दूर हो जायगी।* शरीर सूखेगा और उसमे गर्मी आयेगी। शरीर के सूखने से उस पर लगी हुई धूल प्रति क्षण नीचे गिरने लगेगी, उसके घाव भरने लगेंगे, शरीर की क्षीणता दूर होगी, शरीर काला पड़ने से रुकेगा और झूठी लाली नष्ट होगी। फिर से उसके शरीर पर धवलता (सफेदी) आयेगी, शारीरिक स्थिरता बढेगी और दर्शनीय सुन्दर रूप बनेगा। इसके बाद गर्भगृह मे भी उसे उपर्युक्त उपद्रव अधिक तंग नही करेंगे। फिर कमरे में रहे हुए चूहे, बिल्ली, करोलिया, मच्छर आदि का भी तुझे इसी अप्रमाद वज्रदण्ड से चूरा-चूरा कर देना चाहिये। तदनन्तर चौक के रास्ते से यदि बन्दर का बच्चा बाहर निकलेगा तब भी उसको किसी प्रकार का भय नही रहेगा। हे भद्र ! यही उसकी रक्षा का उपाय है।

मैंने गुरुजी से पूछा—भदन्त ! इस बन्दर के बच्चे की रक्षा करने से मुझे क्या लाभ होगा ?

गुरुजी ने कहा—भद्र ! तुम्हे शिवालय मठ बहुत पसन्द आया था और वहाँ जाने की तुम्हारी इच्छा हुई थी। इस मठ मे पहुँचने का मुख्य उपाय चित्तरूपी इस बन्दर के बच्चे की सुरक्षा है। इसकी भली प्रकार सुरक्षा करने से यह बिना

* पृष्ठ ६४८

किसी विघ्न के शिवालय में पहुँचने का प्रबल कारण बनता है। अतएव हे भ
यदि इस मठ मे जाने की तुम्हे बुद्धि हुई है, अभिलाषा है तो तुझे इस चित्त रू
बन्दर के बच्चे की सुरक्षा करने का सुदृढ प्रयत्न करना चाहिये। यह बन्दर
बच्चा लम्बे समय से चक्र (भ्रमावर्त) मे पड़ा है, इसमे से इसका बाहर निकल
अत्यन्त कठिन है।

यह कैसे चक्र के चक्कर मे पडा, यह भी बताता हूँ :—ऊपर बताये गये चू
बिल्ली आदि के अत्यधिक उपद्रवो से पीडित होकर, मोह के वश मे यह बच्
आम्रफल की भ्राति से विषवृक्ष के फल खाने दौडता है, जिससे धूल की मोटी पर
इसके शरीर पर जम जाती हैं। फिर भोग-स्नेह-जल से भीगने पर शरीर क्षत-विक्षत
हो जाता है। फिर चूहे आदि उसको खाने की इच्छा से उस पर अधिक सख्या मे अधि
तीव्रता से आक्रमण करते है। जैसे-जैसे यह अधिक पीड़ित होता है वैसे-वैसे शान्ति
प्राप्त करने के लिये वह आम्र वृक्ष की तरफ दौडता है। फलस्वरूप और अधिक धूल
चिपकती है, अधिक भीगता है, शरीर अधिकाधिक क्षत-विक्षत और जर्जरित होता
है। हे भद्र ! यो इस चक्र (आवर्त) मे पडने के बाद बार-बार उपद्रव बढते जाते
है। ऐसे दूषित चक्र (आवर्त) मे पडने के बाद जब तक तू स्वय इसकी रक्षा नही
करेगा, तब तक यह विघ्न रहित नही हो सकता। अत हे नरश्रेष्ठ ! जैसा मैंने
ऊपर बताया है, तदनुसार निरन्तर इसकी सुरक्षा करनी चाहिये, तभी यह चित्त
रूपी बन्दर का बच्चा विघ्नरहित हो सकेगा। [४४६–४५४]

मैं गुरुजी की वार्ता का भावार्थ समझ गया। अतः उस पर चिन्तन करते
हुए मेरे मन मे निम्न सत्य प्रस्फुटित हुआ—

रागादि से उपद्रव प्राप्त चित्त इन्द्रियो के विषयो मे प्रवृत्ति करता है, जिससे
इसका कर्मसचय बढता जाता है। * भोग-स्नेह की वासना उसके साथ एकीभूत
होती रहती है, जिससे संसार सम्बन्धी सस्कार उत्पन्न होते है। ये सस्कार ही वह
क्षत-विक्षत अवस्था है। इन संस्कारो से ही चूहे बिल्ली आदि के समान ये रागादि
उपद्रव तीव्र होते है। ये उपद्रव प्रतिक्षण बढते रहते है जिससे प्रेरित यह चित्त बार-
बार विषयो की तरफ दौडता है तथा बार-बार कर्म बाधता है जो अधिक चिकने
होते जाते हैं। चिकनाहट के कारण उपद्रव अधिक बढते है। इस प्रकार यह चित्त
ऐसे चक्र (आवर्त) मे पड जाता है जिसका तल कही दिखाई नही देता। इस चक्र
मे इसको करोड़ो प्रकार के दुःख होते हैं जिससे यह छूट नही सकता। इसकी रक्षा
का उपाय स्ववीर्य रूपी हाथ द्वारा अप्रमाद दण्ड का उपयोग बताया है। अत. मुझे
अब गुरुजी के उपदेशानुसार अप्रमादी बनकर उसका पूर्णतया अनुशीलन करना
चाहिये। [४५५–४६२]

कारण यह है कि यह शरीर, सम्पत्ति, भोग, सगे-सम्बन्धी आदि सभी बाह्य
पदार्थ स्वप्न समान है, इन्द्रजाल है, गधर्व नगर है। सद्बुद्धि द्वारा ऐसा निर्णय कर,

* पृष्ठ ६४६

बार-बार ऐसी तात्त्विक भावना करता रहूँगा जिससे इस संसार के जाल से चित्त का बन्धन हटेगा। मेरे चित्त का संसार के साथ अनादि काल से सम्बन्ध होने से यह संसार की तरफ दौड़ेगा तो अवश्य, परन्तु उसकी यह दौड़ आत्मा के लिये हानिप्रद है, यह जानकर प्रयत्नपूर्वक चित्त को उधर जाने से रोकूंगा और उसे समझाऊंगा कि, हे चित्त! तुझे इस प्रकार बाहर भटकने से क्या लाभ ? तू तो अपने स्वरूप में ही स्थिर रह, जिससे आनन्द मे लीन रह सके। यह संसार बाहर भटकने के समान ही है क्योकि यह दु:खो से भरा हुआ है और अपने स्वरूप मे रहना ही मोक्ष है, जो अनेक सुखो से परिपूर्ण है। अत: सुख प्राप्त करने की इच्छा से बाहर भटकना व्यर्थ है, अयुक्त है। क्योंकि संसार तो दु.खपूर्ण ही है। आत्मा मे स्थिर रहने से तुझे इस जन्म में भी बहुत सुख मिलेगा और यदि तू बाहर भटकेगा तो इस भव में भी बहुत दु:ख प्राप्त करेगा। कहा भी है :—

पराधीनता ही पूर्ण दु.ख है और स्वाधीनता ही पूर्ण सुख है। बाह्य-भ्रमण पराधीनता है और आत्मरमण ही स्वाधीनता है। आत्मा के बाहर रही हुई कोई भी वस्तु तुझे प्रिय लग सकती है, पर तुझे यह जानना चाहिये कि वे सभी वस्तुए नाशवान है, दु खदायी है, आत्मस्वरूप से भिन्न है और मैल से भरी हुई हैं।

अत: हे चित्त! ऐसी वस्तुओ के लिये तू क्यो व्यर्थ में ही कष्ट उठाता है ? आत्मा को छोड़कर क्यो इस प्रकार बारम्बार बाहर भटकता है ? यदि आत्मा के बाहर की कोई वस्तु सुन्दर होती तो वह दु.ख निवारण में भी समर्थ होती, पर आत्मस्वरूप में तेरी स्थिरता के अतिरिक्त कोई भी बाह्य वस्तु वास्तव मे दु.ख निवारण मे समर्थ नहीं है। जब तू भोग रूपी भयंकर अंगारो से जलता है तब तुझे आनन्द स्वरूप आत्मा में ही शान्ति मिलती है, फिर तू बाह्य भ्रमण का व्यर्थ ही कष्ट क्यों उठाता है ? * अतएव हे चित्त! तू अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द से परिपूर्ण आत्मा में स्थिर होकर शीघ्र ही निराकुल बन। [४६३-४७५]

आत्मा मे स्थिर रहने से भोग रूपी चिकनाई सूख जाती है जिससे नि.सदेह चिपकी हुई कर्मरज अवश्य ही गिरती जाती है। तेरे शरीर पर जो भयकर धारिया पड़ गई हैं वे अत्यन्त दूषित वासनाओ से उत्पन्न हुई हैं। परन्तु, जब तू इन वासनाओं की पीड़ा से मुक्त होगा तब तुझे भोगो पर कोई प्रीति नहीं रहेगी। विद्वानो का कहना है कि इन धारियों मे पड़े ये भोग-पिण्ड (गांठे) जैसी है, जो थोड़ी सी देर आनन्द देती हैं, पर जब इन भोग-पिण्डों को भोगना पड़ता है तब वे अधिक पीड़ादायक होती है। भोगो को भोगने के समय थोड़ी देर आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु दूषित वासनाओ के ध्यान से ये अन्त में पीड़ा को अधिक बढ़ावा देती है। यदि तेरे शरीर से बुरी वासनाए निकल जाय तो वह निर्विघ्न निरन्तर आनन्दयुक्त बन जाय। ऐसी स्थिति के प्राप्त होने पर तुझे भोग की इच्छा ही नही रहेगी। अत: हे चित्त!

* पृष्ठ ६५०

तू बाह्य भ्रमण का त्याग कर और अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर होकर बैठ तथा निराबाध बन। [४७६–४८१]

चित्त को इस प्रकार शिक्षा देकर, समझा कर मैं भलीभाति लक्ष्य पूर्वक इसकी रक्षा में तत्पर रहूँगा। यदि यह पापी चञ्चल चित्त इतना समझाने पर भी नही मानेगा तो मैं इसे बाह्य-भ्रमण से प्रयत्न पूर्वक बार-बार रोकूंगा। फिर कषाय, नोकषाय आदि सभी उपद्रवियों का अप्रमाद रूपी शस्त्र से नाश कर दूंगा। रागादि उपद्रवियों को उनके प्रतिपक्षियों के सहयोग तथा ज्ञान के उपयोग से एव शुभध्यान के सेवन से मै शीघ्र नष्ट कर दूंगा। राग-द्वेष का नाश होने पर परिषह उपसर्ग आदि बाह्य उपद्रव मुझे पीड़ित नही कर सकेंगे। फिर मेरा चित्त आत्माराम बन जायेगा, रागादि उपद्रवों से मुक्त हो जायेगा, बाहर भटकता बन्द हो जायेगा और मोक्ष के योग्य बन जायेगा।

हे अकलंक! मन में ऐसा दृढ निश्चय कर, उसके अनुसार आचरण करने का निर्णय लेकर अभी मैं प्रमाद का त्याग कर, सावधान होकर यहाँ निवास कर रहा हूँ। ऐसा उन छठे मुनि महाराज ने अपने वैराग्य और दीक्षा का कारण बताते हुए कहा। [४८२–४८८]

---

९. संसार-बाजार (द्वितीय चक्र)

छठे मुनि के वैराग्य-हेतु की कथा सुनकर अकलक ने कहा– भगवन्! आपने बहुत अच्छा किया। आपने सद्गुरु की वाणी के रहस्य को समझ कर, योग्य प्रकार से आचरण कर आप उसे अपने जीवन में उतार रहे है। आपने जिस चित्त के चक्र की बात कथा मे कही, वैसा ही एक अन्य चक्र भी मेरे विचार से होना चाहिये। मेरा यह विचार ठीक है या नही? आप सुनकर स्पष्टीकरण करे।

मुनि ने कहा—भद्र! अपने विचार प्रकट करो।

अकलक ने कहा—चित्त/मन दो प्रकार का कहा गया है, द्रव्यचित्त और भावचित्त। मनपर्याप्ति वाली आत्मा द्वारा ग्रहण किये गये मनोवर्गणा के पुद्गलों से द्रव्यचित्त निर्मित होता है। (छः पर्याप्तियों मे से छठी मनपर्याप्ति द्वारा जो मनोवर्गणा ग्रहण की जाती है उसी को द्रव्यमन कहा जाता है।) यह द्रव्यमन जब जीवात्मा के साथ संयुक्त होता है तब उसे भावमन कहा जाता है। भावमन कार्मण-

शरीर में रहता है, इसीलिये इसे अलग जाना जाता है। * नियमानुसार तो भावमन जीव ही है, पर जीव चित्तरूप होते भी है और नही भी होते। उदाहरण के तौर पर केवली भावमन-रहित होते है। (किसी को मन से उत्तर देने के लिये वे द्रव्यमन का उपयोग करते है, किन्तु केवलज्ञान होने से भावमन की अपेक्षा नहीं रहती। अर्थात् केवलज्ञानी के द्रव्यमन तो होता है, किन्तु भावमन नही होता)। जब यह प्राणी राग-द्वेष आदि से युक्त होता है तब मिथ्याज्ञान के कारण वह विपरीत निर्णय लेता है। फलस्वरूप दु.खदायी वस्तु में सुख प्राप्त करने की कामना से उसमें प्रवर्तित होता है। अर्थात् मिथ्याज्ञान के कारण वह यह निर्णय नही कर पाता कि वास्तविक सुख और दुःख कहाँ है? झूठी प्रवृत्ति के स्नेह-तन्तु कर्म-परमाणुओ को आकर्षित करते है, जिससे जन्म-जन्मान्तर का प्रारम्भ होता है। इन जन्मातरो में प्राणी फिर से विपरीत निर्णय लेता है और रागादि संतति की वृद्धि करता है। रागादि संतति से विषयाकाक्षा होती है, विषयाकांक्षा से स्नेह-तन्तुओं का जन्म होता है, स्नेह-तन्तुओ से कर्म-ग्रहण होता है और कर्म-ग्रहण से दुबारा जन्म होता है। पुन. बुद्धि-विपर्यास से रागादि का क्रम चलता है। इस प्रकार यह जन्म-जन्मान्तर का चक्र अविच्छिन्न रूप से चलता ही रहता है। जब तक यह प्राणी विपरीत निर्णय लेता रहता है तब तक उसकी अनिष्टकारी भव-पद्धति (संसार-भ्रमण) चलती ही रहती है। भगवन्! मैंने आपके समक्ष यह द्वितीय चक्र की बात प्रस्तुत की है। मेरा उपर्युक्त कथन उपयुक्त है या नही? कृपा कर बताये। [४८६-४६७]

उत्तर मे मुनिराज ने कहा—महाभाग्यवान! तेरा कथन पूर्णरूप से युक्ति-युक्त है, इसमें कोई सन्देह नही है। तेरे जैसे तत्त्व के जानकर झूठी बात कर ही कैसे सकते हैं? ऊपर की वार्ता से मैंने भी समझा और तुम्हारी बात का गुरुजी ने भी समर्थन किया था कि विपरीत निर्णयो का यह चक्कर ही अनिष्टकारी भवचक्र का कारण है। अत. सच्ची-झूठी बात का सच्चा विवेक रखने वाले प्राणियो को यथाशक्य इन विपर्यासों/विपरीत निर्णयो का त्याग करना चाहिये। एक बार विपर्यासो का नाश होते ही इस द्वितीय चक्र की अन्य बातो का तो अपने आप ही जड़मूल से नाश हो जायगा। विपर्यास का त्याग ही सच्चा विवेक है, सच्चा तत्त्व-ज्ञान है और आस्रव-रहित धर्म है। जो अप्रमादी प्राणी विपर्यास का त्याग कर सच्चा तत्त्वज्ञ बन जाता है, उसे अपने मनोविकारो का जाल अपने से भिन्न लगता है। वह मन को अलग और अपनी आत्मा को उससे अलग देखता है, अत. उसे आत्मा निरन्तर आनन्दमय लगती है। फिर उसे न तो दु.ख पर द्वेष होता है और न उसे सुख-प्राप्ति की इच्छा ही होती है। इस प्रकार मन से अलग होने पर, मन पर आसक्ति दूर हो जाती है जिससे इन्द्रियों के विषयो पर स्नेह नहीं रहता। स्नेह (चिकनाई) जाते ही कर्म-परमाणुओ का सचय रुक जाता है। इस प्रकार निःस्पृह होने पर ससार-बीज का नाश हो जाता है और वह मुक्त जीवो के समान जन्मान्तर

* पृष्ठ ६५१

का प्रारम्भ नहीं करता तथा उसके भवचक्र का चलना बन्द हो जाता है। [४६८-५०५]

ऊपर दो प्रकार की बात कही गई है—एक कर्मबन्ध और दूसरा उससे फैलता भवचक्र। जो इन दोनों की प्रवृत्ति और निवृत्ति की वास्तविकता को जानते है, वे क्या संसार को बढ़ाने वाले शरीर, धन, इन्द्रिय-भोग या अन्य किसी भी पदार्थ पर कदापि राग कर सकते है? जिस प्राणी का चित्त सांसारिक पदार्थों पर आसक्त होता है, जिसे उनमे आनन्द और सुख की प्रतीति होती है, समझना चाहिये कि अभी तक उसने ससार-चक्र और विपर्यासचक्र को वस्तुतः तत्त्व से नहीं पहचाना है। * इसका कारण यह है कि ज्ञान और क्रिया के योग से ही फल की प्राप्ति होती है, समस्त कार्यों की सिद्धि होती है, अन्य किसी भी कारणो से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञान द्वारा साध्य को बराबर पहचान कर, फिर उस पर सम्यक् प्रकार से आचरण करने पर ही साध्य की प्राप्ति हो सकती है। महामति (उमास्वाति) ने वस्तुस्वरूप को इसी प्रकार बताया है—"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष." "सम्यक् प्रवृत्तिः साध्यस्य प्राप्त्युपायोऽभिधीयते"। सम्यक् आचरण ही साध्य प्राप्ति का उपाय है। यदि उससे साध्य की प्राप्ति न हो तो वह उपाय उपाय ही नहीं कहा जा सकता। जहाँ असाध्य का आरम्भ है, वहाँ सम्यग् ज्ञान नहीं और जहाँ सम्यग् ज्ञान नहीं, वहाँ साध्य का आरम्भ नहीं। साध्य और सम्यग् ज्ञान का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसीलिये आगम का जानकार जो भी क्रिया करता है उसे सच्ची क्रिया कहा जाता है और जो व्यक्ति योग्य क्रिया मे यथाशक्ति प्रयत्न करता है उसे आगम का जानकार कहा जाता है। जो प्राणी चिन्तामणि रत्न के स्वरूप को जानता है, जो गरीबी से पीड़ित है और जो उसकी प्राप्ति के अनेक उपाय भी जानता है, वह उसे प्राप्त करने के प्रयत्न को छोड़कर अन्य कार्यों मे कदापि प्रवृत्ति नहीं कर सकता। अतः जो साध्य से विपरीत प्रवृत्ति करता है वह साध्य के स्वरूप को भली प्रकार से जानता ही नहीं। जो भौंरा मालती पुष्प की सुगन्ध को जानता है वह घास या दूब पर बैठने की प्रवृत्ति नहीं करता। ससार का अभाव होने से सत्प्राणी मुक्ति को प्राप्त करता है। अधिक क्या कहूँ? तात्पर्य यह कि तुमने जो दूसरे चक्र की बात कही, वह सत्य है। मेरे गुरुजी ने भी इन सब बातो के परिणाम स्वरूप ही मुझे बन्दर के बच्चे की यत्नपूर्वक रक्षा करने का विशेष कर्त्तव्य बताया था। [५०६-५१७]

अकलंक—महाराज! इस बन्दर को शिवालय/मठ मे कैसे ले जाया जाय? गुरुजी ने इसके क्या-क्या उपाय बताये? [५१८]

छठे मुनि—भद्र! जैसा आचार्य भगवान् ने मुझे मार्ग बताया, वह सुनाता हूँ सुनो—सौम्य! पिछले प्रकरण मे जिस क्षयोपशम नामक गर्भगृह का वर्णन आया है, उसमें छः परिचारिकाये रहती है। उनका सामान्य नाम लेश्या है और प्रत्येक

* पृष्ठ ६५२

का नाम क्रमशः कृष्ण, नील, कपोत, तैजस्, पद्म और शुक्ल हैं। ये इसी गर्भगृह में उत्पन्न होती हैं, यहीं की समृद्धि से पलती हैं, यहाँ बढ़ती हैं और इसी स्थान को पुष्ट करती हैं। इनमें से पहले की तीन क्रूरतम क्रूरतर और क्रूर हैं। ये तीनों अनेकों अनर्थ-परम्पराओं की कारणभूत हैं और बन्दर के बच्चे की तो वास्तविक शत्रुभूत ही हैं। गर्भगृह में अनेक प्रकार के अशुभ कचरे की वृद्धि करने की हेतु हैं। तुझे भी इन अनेक दुःखों से पूर्ण बाजार में रखने और शिवालय-गमन में विघ्नदायक ये तीनों ही हैं। पुनः हे भद्र ! अन्य तीन शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम स्वरूपधारिणी हैं। वे अनेक प्रकार की आह्लाद-परम्परा को प्रदान करती हैं, बन्दर के बच्चे की सहायक बहिनों के समान हैं, गर्भगृह को शुद्ध करने वाली हैं और तुझे इस निस्सारता की परम्परा से ओत-प्रोत बाजार से निकाल कर शिवालय पहुँचाने में अनुकूलता प्रदान करने वाली हैं। इन छहों ने गर्भगृह मे ऊपर चढ़ने के लिये अपनी शक्ति से परिणाम नामक सीढ़ियां बना रखी हैं। इस पर चढ़ने के लिये प्रत्येक ने क्रमशः * एक के ऊपर एक, असंख्य-असंख्य अध्यवसाय नामक सीढियां बनाई हैं जो अध्यवसाय स्थान नाम से प्रसिद्ध है। कृष्ण लेश्या ने जो असंख्य सीढ़ियां बनाई हैं, वे काले रंग की हैं। नील लेश्या द्वारा नीले रंग की, कपोत लेश्या द्वारा कबूतरी रंग की, तैजस् लेश्या द्वारा विशुद्ध चमचमाती, पद्म लेश्या द्वारा श्वेत कमल जैसी और शुक्ल लेश्या द्वारा विशुद्ध स्फटिक जैसे निर्मल श्वेतरंग की असंख्य सीढ़ियां बनाई गई हैं। बन्दर का बच्चा जब तक पहली तीन लेश्याओं द्वारा बनाई सीढ़ियों पर घूमता है तब तक उछल-उछल कर झरोखे की तरफ दौड़ता है और आम्रवृक्ष (विष वृक्ष) पर छलांग मारता है। छलांग मारते हुए नीचे गिरता है और उसका पूरा शरीर धूलिधूसरित हो जाता है। वहाँ चिकनाई की बूंदों से उसके शरीर पर सैकड़ों धारियां पड़ जाती हैं शरीर क्षत-विक्षत और जर्जरित हो जाता है। फिर चूहे बिल्ली आदि विशेष उपद्रवों द्वारा उसे अधिकाधिक त्रास देते हैं, जिससे वह नष्टप्रायः सा/मूच्छित सा भयंकर आकृति वाला बन जाता है और निरन्तर संतप्त स्थिति में दिखाई देता है। इस स्थिति में यह बन्दर का बच्चा (चित्त) तेरे लिये भी अनन्त दुःखदायी परम्पराओं का कारण बनता है। अतः तुझे इस बच्चे को पहली तीन लेश्याओं द्वारा निर्मित सीढियों से ऊपर चौथी लेश्या द्वारा निर्मित सीढ़ियों पर चढाना चाहिये। यहाँ उसे प्रतिक्षण संताप कम होने लगेगा। बाधा-पीड़ाये कम होने लगेंगी, चूहे, बिल्ली, मच्छर आदि के उपद्रव कम होंगे और आम्रफल (विषफल) खाने की इच्छा कम हो जायगी। फिर मकरन्द की स्निग्धता के सूखने से शरीर पर चिपकी हुई धूल नीचे गिरेगी और उसे किञ्चित् सुख प्राप्त होगा तथा शरीर तेजस्वी एवं स्वरूपवान बनेगा। इसके पश्चात् तुझे पांचवीं लेश्या द्वारा निर्मित सीढ़ियो पर चढ़ाना चाहिये। यहाँ संताप और कम होंगे, उपद्रव बहुत कम होंगे, अपथ्य आम्र-फल खाने की इच्छा बहुत कम हो जायगी, शरीर सूख जायगा और उस पर लगी धूल-कचरा अधिकांश

* पृष्ठ २५३

में नीचे गिर जायगा। फिर बन्दर के बच्चे के शरीर में हुए घाव भरने लगेगें, आनन्द प्राप्त होगा, शरीर श्वेत होगा, स्वास्थ्य मे वृद्धि होगी और वह विशाल बनेगा। इसके बाद उसे छठी लेश्या द्वारा निर्मित सीढियो पर चढाना। यहाँ इसकी दु:ख भोगने की स्थिति अत्यन्त कृश हो जायगी, उपद्रव नष्ट हो जायेंगे, आम्रफल खाने की इच्छा नही के समान हो जायेगी, धूल और कचरे मे लोटने की इच्छा भी नष्टप्राय: हो जायगी और मकरन्द के स्नेह की स्निग्धता एकदम सूख जायेगी।* शरीर एकदम शुष्क हो जाने से धूल-कचरा सब गिर जायगा, शरीर स्वच्छ हो जायगा और निरन्तर आह्लाद तथा निर्मल स्फटिक जैसी शुद्धता प्राप्त हो जायगी।

पीछे की तीन परिचारिकाओ/लेश्याओं द्वारा निर्मित सीढ़ियो पर चढ़ते हुए उसे प्रतिपल धर्मध्यान रूपी मन्द-मन्द पवन लगेगा। यह पवन सताप को दूर करने वाला, सुखकारी, शीतल और सद्गुण रूप कमल वन के परागकणो से सुगन्धित होगा। इस पवन के लगने से वच्चा सतत प्रमुदित होता जायेगा। चूहे, बिल्ली, बिच्छु, मच्छर आदि के उपद्रव वाले कमरे और पहले की तीन लेश्याओ द्वारा निर्मित अंधकारमयी सीढियो को छोड़कर, वाद की तीन लेश्याओ द्वारा निर्मित भय-रहित प्रकाश पूर्ण सीढ़ियो पर वन्दरो की एक टोली छिपकर रहती है। वे तेरे इस वन्दर के वच्चे के सम्वन्धी है। इस टोली का मुखिया/विशुद्ध धर्म नामक एक विशालकाय वन्दर है। यह विशुद्धधर्म वन्दर प्रशम, दम, सतोप, संयम, सद्बोध आदि परिवार से परिवृत है। धृति, श्रद्धा, सुखप्राप्ति, जिज्ञासा, विज्ञप्ति, स्मृति, वुद्धि, धारणा, मेधा, क्षान्ति, नि.स्पृहता आदि वानरियाँ भी इस टोली मे है। धैर्य, वीर्य, औदार्य गाम्भीर्य, शौडीर्य, ज्ञान, दर्शन, तप, सत्य, वैराग्य, अकिंचन्य, मार्दव, आर्जव, ब्रह्मचर्य, शौच आदि वन्दर बच्चे भी इस टोली में है। जब तुम्हारा बन्दर का बच्चा पीछे की तीन लेश्याओ द्वारा निर्मित सीढियों पर चढना प्रारम्भ करेगा तब किसी-किसी स्थान पर महावानर, वानरिया और बन्दर-बच्चो मे से कोई-कोई प्रकट होगा, वे सव इस टोली मे से ही होगे। तेरे बन्दर के बच्चे का रूप भी इन सव के शरीररूप है, जीवनभूत है, सर्वस्व है और सच्चा हित करने वाला है। यह वन्दरो की टोली स्वरूप मे स्थिर, सूर्य जैसी तेजस्वी/प्रकाशमान और अपने दर्शनीय वर्ण से जगत् को आह्लादित करने वाली है, गवाक्षो के वाहर लगे विषवृक्षो की तरफ जाने की अभिलाषा से रहित होती है तथा कर्म-परमाणु-रज रूपी फल, फूल, धूल और कचरे में लोटने की इच्छा से रहित होती है। यह बन्दरो की टोली भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न सीढियो पर दिखाई देती है। तेरा बन्दर का बच्चा जब अपने इन विशिष्ट सम्बन्धी और हितकारी बन्दरो की टोली को प्रकाशमान, नूतन, उच्च मार्ग पर मिलेगा तब उसे वहुत आनन्द प्राप्त होगा और अत्यन्त हर्ष मे आकर ऊपर-ऊपर की सीढ़ियो पर चढता चला जायेगा तथा अन्त मे छठी लेश्या द्वारा

---

* पृष्ठ ६५४

निर्मित सीढ़ियों तक पहुँच जायेगा। वहाँ यह बन्दर टोली तेरे बच्चे के शरीर पर शुक्लध्यान नामक गोचन्दन रस का ठण्डा लेप करेगी। इन सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते जब तेरा बच्चा आधे रास्ते तक पहुँच जायगा तब वह गाढ आनन्द में ओत-प्रोत हो जायेगा। इससे ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ने में यह असमर्थ होगा। हे सौम्य ! यह बन्दर का बच्चा क्योंकि तेरा जीवन है, तेरा आन्तरिक धन है और तेरे ही साथ एकमेक है, अत: जैसे-जैसे यह ऊपर चढ़ेगा वैसे-वैसे तू भी ऊपर चढ़ता जायेगा। अब यह बच्चा आगे नहीं चढ़ सकता, अत: तुझे यहीं छोड़ देगा। आगे की सीढ़ियों पर तुझे स्वयं चढ़ना पड़ेगा। * अन्त में इन सीढ़ियों को भी छोड़कर स्व सामर्थ्य से पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण समय तक आकाश में अधर रहकर, अपने कमरे/गर्भगृह और बन्दर के बच्चे का त्याग कर, कूदकर; एक झपट्टे में बाजार को छोड़कर, तपाक से उड़कर शिवालय में प्रविष्ट हो जाना। वहाँ पहले से अवस्थित लोगों के बीच अनन्त काल तक रहकर अनन्त आनन्द का अनुभव करते रहना।

मैंने कहा—जैसी गुरुदेव की आज्ञा। भद्र अकलंक ! मेरे गुरुजी ने उस समय मुझे बताया था कि इस प्रकार यह बन्दर का बच्चा तुझे मठ/शिवालय मे ले जाने मे समर्थ है।

छठे मुनिराज के भावार्थ से पूर्ण और अत्यन्त रहस्यमय उपर्युक्त वचन सुनकर अकलंक ने मुनिराज को वन्दन किया और कहा—हे मुनिराज ! आपके श्रेष्ठतम आचार्य भगवान् ने आपको अत्यन्त सुन्दर उपदेश दिया। आप उसे आचरण में उतार रहे हैं यह अत्यन्त प्रशंसनीय है। आप जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के लिये यही उचित है। [५१९-५२०]

यों छठे मुनिराज को नमस्कार कर हम आगे बढ़े।

१०. सदागम का सान्निध्य : अकलंक की दीक्षा

हे अगृहीतसंकेता ! छठे मुनिराज के पास से जब हम आगे चले तो भाग्यशाली अकलंक को मुझे सम्यक्बोध देने की इच्छा जागृत हुई, अत: थोड़ा रुक कर उसने कहा—भाई घनवाहन ! इन मुनि महाराज ने स्पष्ट शब्दों में जो बातचीत की उसका गूढार्थ तुझे समझ में आया या नहीं ? देख, इन श्रमण भगवन्त ने महत्व की बात हमें कही है। [५२१-५२२]

* पृष्ठ ३५५

मुनिश्रेष्ठ ने हमे बताया कि क्लेशरहित मन ही ससार-समुद्र को शीघ्र पार करवाने का हेतु है। लेश्या के परिणामों से ही मन को क्लेशरहित बनाया जा सकता है। जब वह विशुद्ध लेश्या द्वारा शुद्ध अध्यवसायो की तरफ ले जाया जाता है तभी वह क्लेशरहित होता है और क्लेशरहित होकर ही ससार को पार कराने मे समर्थ होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात उन्होने यह कही कि मन ही शिवगमन (मोक्ष) का कारण है और वही ससार का भी कारण है, ऐसा मुनिगण कहते है। पूर्व प्रकरण में जिस कमरे, गर्भगृह, बन्दर के बच्चे आदि का वर्णन किया गया है, वह सभी प्राणियो के लिये समान ही है। बन्दर का बच्चा जब पूर्व-वर्णित सीढियों पर चढता है तब उसका चढना ही भव/ससार का कारण है। चढते हुए उसके आस-पास जो दुकाने आती है, उसमे वह उछलता हुआ चला जाता है और प्राणी को भी शीघ्र उस दुकान पर ले जाता है। [५२३-५२८]

मैंने पूछा—मित्र अकलक ! तुम्हारा कथन मैं नही समझ पाया, इसका आन्तरिक भावार्थ क्या है ?

अकलंक—भाई घनवाहन ! सुनो—लेश्या और उसके अध्यवसाय तो तेरी समझ मे आ गये होगे। मरने के समय प्राणी का चित्त जिस लेश्या के अध्यवसाय मे होता है, अन्य भव मे प्राणी उसी लेश्या के वैसे ही अध्यवसाय मे उत्पन्न होता है। कहा भी है "अन्त मति सो गति।" चित्त असख्य अध्यवसायो मे प्रवृत्ति करता रहता है, इसीलिये वह चित्र-विचित्र योनि रूपी ससार का कारण बनता है। यदि यह चित्त दोषपूर्ण अध्यवसाय में प्रवृत्ति करता है तो ससार का कारण बनता है और यदि वही निर्दोष/विशुद्ध अध्यवसाय मे प्रवृत्ति करता है तो मोक्ष का कारण बनता है। यह चित्त ही तेरा वास्तविक अंतरग धन है। धर्म और अधर्म, सुख और दुःख का आधार भी यही चित्त है। अतः इस चित्तरूपी अमूल्य रत्न की भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये। * भावचित्त और जीव परस्पर एक ही है, विभेद नही है। अतः जो प्राणी भावचित्त की रक्षा करता है वह अपनी आत्मा की रक्षा करता है। जब तक यह चित्त भोग की लोलुपता से वस्तुओ और धन को प्राप्त करने के लिये जहाँ-तहाँ दौड़ता रहेगा तब तक उसे सुख की गध भी कैसे प्राप्त हो सकेगी ? [५२९-५३४]

जब यह चित्त निःस्पृह होकर, सर्व प्रकार के बाह्य-भ्रमण का त्याग कर, इच्छारहित होकर अपनी आत्मा मे स्थिर होगा तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

कोई भक्ति करे या स्तुति करे, कोई क्रुद्ध हो या निन्दा करे, इन सब पर एक समान दृष्टि हो, सब पर चित्त मे समान भाव हो, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

---

* पृष्ठ ६५६

अपने सगे-सम्बन्धी हों या अपने शत्रु हो या अपने को हानि पहुँचाने वाले हो, इन सब पर जब चित्त में एक समान भाव होंगे, एक पर राग और दूसरे पर द्वेष नहीं होगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

पाँचों इन्द्रियों के विषय अच्छे हों या बुरे, सुखदायी हो या दु:खदायी, इन सब पर जब चित्त मे एक समान वृत्ति होगी, किसी विषय पर प्रेम और किसी का तिरस्कार नहीं होगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

गोशीर्ष चन्दन से शरीर पर लेप करने वाले मनुष्य पर और छुरी से घाव करने वाले मनुष्य पर जब मन मे लेशमात्र भी भेद-भाव नहीं होगा, अभिन्न चित्त-वृत्ति होगी, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

संसार के सभी पदार्थ पानी के समान है, तेरा चित्त रूपी कमल इन्हीं से उत्पन्न है। और, इन्हीं के निकट रहते हुए भी जब इनमे लिप्त नहीं होगा, जैसे कमल पानी से अलग रहता है वैसी स्थिति जब तेरे चित्त की होगी, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

उद्दाम यौवन से देदीप्यमान लावण्य और अत्यन्त सुन्दर रूपवती ललित ललनाओं को देखकर भी जब मन मे किंचित् भी विकार पैदा नहीं होगा, तेरे चित्त की स्थिति जब ऐसी निर्विकार स्वरूप होगी, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

अत्यन्त आत्म-सत्त्व को धारण कर जब चित्त, अर्थ और काम-सेवन से विरक्त होगा, पराङ्मुख होगा और धर्म में आसक्त होगा तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

जब मन राजस् और तामस् प्रकृति का त्याग कर स्थिर समुद्र के समान कल्लोल रहित शांत और सात्विक बनेगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

जब चित्त मैत्री, करुणा, मध्यस्थता और प्रमोद भावना से युक्त होकर मोक्ष प्राप्ति में एकरस होकर लगेगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

भाई धनवाहन! इस जगत में प्राणी को सुख-प्राप्त करने के लिये चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई साधन उपलब्ध नहीं है। त्रैलोक्य में सुख-प्राप्ति का एक मात्र यही साधन है। [५३५–५४५]

हे अगृहीतसकेता! अकलक के पूर्वोक्त वचनामृत को सुनकर मैं किंचित् आह्लादित हुआ। फिर मेरे मित्र अकलंक ने दृष्टान्त रूपी मुद्गर से मेरी अत्यधिक सघन कर्म-पद्धति को काट दिया, जिससे मैं लम्बे काल की कर्म-स्थिति को पार कर शेष अल्प काल की कर्मस्थिति के निकट पहुँच गया। यह अल्पकालीन कर्मस्थिति शीघ्र तोडी जा सके, ऐसी है। [५४६–५४८]

हे विशालाक्षि! वामदेव के प्रस्ताव [भव] में बुधसूरि ने जो वचन कहे थे वह तो तुझे याद ही होंगे ?*

* पृष्ठ ६५७

अगृहीतसंकेता—आचार्य की वाणी मेरी स्मृति-पटल में भलीभाति नही आ रही है अतः तू ही पूर्व-प्रसग को स्पष्ट कर।

संसारी जीव—हे चपललोचना भद्रे ! आचार्य बुधसूरि ने अपनी आत्म-कथा कहते हुए कहा था कि उनका एक पुत्र विचार देश-देशातरो का भ्रमण करने के लिये प्रवास पर गया था और वह भवचक्रपुर मे घूम कर, निरीक्षण कर, बहुत समय के पश्चात् मार्गानुसारिता को साथ लेकर वापस लौटा था। उसने एकात मे मुझे (बुधसूरि को) महाबलवान मोहराज और चारित्रधर्मराज के बीच हुए युद्ध का वर्णन सुनाया था। उसने यह भी कहा था कि इस युद्ध मे मोहराज की जीत हुई थी और दर्प के साथ चारित्रधर्मराज की सेना को चारो तरफ से घेरकर खड़ा था। इस प्रकार चारित्रधर्मराज को घिरी हुई स्थिति में देखकर और उसके चारो ओर दर्पिष्ठ मोहराज की बलवान सेना देखकर वह मेरे पास आया था।

[५४६-५५६]

इतना सुनते ही अगृहीतसकेता को पहली सब बाते याद आ गई और उसने समर्थन किया कि, हाँ घ्राण के दोष बताते समय यह वार्ता पहले आ चुकी है, अब मुझे सारी बाते भली-भाति याद आ गई है। भाई ! तत्पश्चात् इसके आगे क्या हुआ ? वह सुनाओ। [५५७-५५८]

तब ससारी जीव ने कहा—हे मृगलोचने ! अब मैं आगे की आत्मकथा (घटनाओ) का वर्णन करता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

अनन्तकाल से चित्तवृत्ति अटवी में चारित्रधर्मराज की पूरी सेना चारो तरफ से घिरी हुई थी। यह घटना तेरे लक्ष्य मे आ ही गई। मैं अकलक के समीप खड़ा-खड़ा उसकी बात सुन रहा था। उस समय जो घटना घटित हुई उसे भी सुनो।

[५५६-५६१]

अपनी सेना को शत्रुबल द्वारा घिरा हुआ और पीड़ित देखकर सद्बोध मत्री ने विषण्णवदन चारित्र धर्मराज से कहा—देव ! अब इस विषय मे अधिक चिन्ता की आवश्यकता नही है। हमारे मनोरथ वृक्ष के पुष्प आने लगे है, इससे लगता है कि अब हमारा कार्य सिद्ध होगा। वस्तुतः जब तक यह महा प्रभावशाली ससारी जीव हमको नही पहचानता तभी तक हमे शत्रुओ की पीडा है। जैसे ही यह हमको पहचानेगा, हमे सात्वना देगा और हमारा संपोषण करेगा वैसे ही हम शत्रु (मोहराज) की पूरी सेना को नष्ट करने मे समर्थ हो जायेंगे। हे देव ! यह ससारी जीव ही हमारा महाप्रभु है। चित्तवृत्ति अटवी मे पहले जो घोर अन्धकार फैला था, उसमें अब कुछ-कुछ प्रकाश किरणें दिखाई दे रही है। इससे अनुमान होता है कि अब संसारी जीव हमे विशेष रूप से पहचानने की स्थिति मे आ रहा है। उसकी चित्तवृत्ति मे रहे अन्धकार में हम ऐसे छिप गये थे कि उसने आज तक हमे देखा ही नहीं। पर, अब यह अन्धकार दूर हो रहा है और उसमे प्रकाश किरणें प्रस्फुटित हो रही है, अतः संसारी जीव हमारा दर्शन अवश्य करेगा। मेरा यह परामर्श है कि हमारे

महाराजा कर्मपरिणाम को पूछकर संसारी जीव के पास किसी विश्वस्त व्यक्ति को भेजना चाहिये जो वहाँ जाकर उसे हमारे अनुकूल बनावे * और कुछ समय बाद उसके मन में हमें देखने की लालसा उत्पन्न करे। [५६२–५७०]

सद्बोध मंत्री की सम्मति सुनकर चारित्रधर्मराज ने कहा—हे मन्त्रिन्! तुमने बहुत ही प्रशस्त और उचित परामर्श दिया। अब यह बताओ कि किसको संसारी जीव के पास भेजा जाय?

मंत्री–देव! मेरे विचार से सदागम को भेजना चाहिये। जब ससारी जीव का सदागम से अधिक परिचय होगा, तब उसमे हमारे दर्शन की इच्छा उत्पन्न होगी। फिर कर्मपरिणाम महाराजा उसका हमसे परिचय करायेंगे, तभी हम शत्रु को नष्ट करने में समर्थ होंगे। [५७१–५७४]

चारित्रधर्मराज ने मंत्री के परामर्श को मानकर और सदागम को मेरे पास आने की आज्ञा दी। फिर राजा ने मंत्री से पूछा—यदि सदागम के साथ अपने सेनापति सम्यक्दर्शन को भेजा जाय तो कैसा रहेगा?

मंत्री—स्वामिन्! संसारी जीव के पास सम्यक् दर्शन जाय यह तो निःसंदेह बहुत ही उत्तम प्रस्ताव है। सम्यक्दर्शन साथ हो तभी सदागम भी अपना वास्तविक लाभ प्रदान कर सकता है। ऐसा होने पर हम सब का परिचय उससे हो सकता है। पर, अभी उसे भेजने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, अतः अभी नहीं भेजना ही ठीक रहेगा। विचक्षण लोग बिना अवसर की प्राप्ति हुए कोई कार्य नहीं करते।

[५७५–५७६]

चारित्रधर्मराज–हे मन्त्रिन्! तब उसको भेजने का अवसर कब प्राप्त होगा?

मंत्री–देव! इस सम्बन्ध में मेरे विचार आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ, आप सुनें। अभी सदागम संसारी जीव के पास जाकर रहे और उसे भली प्रकार अपना बनाले। उसके पश्चात् अवसर देखकर सम्यक्दर्शन को भेजेंगे, क्योंकि सदागम के पास रहने से जब संसारी जीव उससे परिचित होगा और उसमें जब स्वय की शक्ति उत्पन्न होगी तभी सम्यक्दर्शन का उसके पास जाना उचित रहेगा। मंत्री की राय को मानकर राजा ने सदागम को मेरे पास भेज दिया।

[५८०–५८३]

इधर महामोह राजा ने तो पहले से ही अपने विश्वस्त अधिकारी ज्ञानसंवरण को मेरे पास भेज रखा था। इसने चारित्रधर्मराज की पूरी सेना को पर्दे के पीछे छिपा रखा था और महामोह की सेना की सहायता एवं पोषण कर रहा था। ज्ञानसंवरण के प्रभाव से महामोह की सेना भयरहित थी और सभी निश्चिन्त होकर आनन्द में बैठे थे। अब जैसे ही इस ज्ञानसंवरण ने सदागम को मेरे पास आते देखा, वह डर के मारे छिप कर बैठ गया। [५८४–५८७]

* पृष्ठ ६५८

अकलंक की दीक्षा

इधर अतरंग राज्य मे उपर्युक्त हलचल हो रही थी उधर अकलक सब मुनियों के गुरु जो ध्यानमग्न बैठे थे, उनके पास गया * और उनके चरण-स्पर्श कर वन्दन किया। मैं भी उसके साथ ही गुरुजी के पास गया। गुरु महाराज कोविदाचार्य का जब ध्यान पूर्ण हुआ तब उन्होने हमे धर्मलाभ दिया और अकलक के साथ वार्तालाप किया। अकलक ने कुछ प्रश्न पूछे जिसका कोविदाचार्य ने उत्तर दिया। फिर वे धर्मोपदेश देने लगे। उसी समय मैंने उनके पास मे बैठे महात्मा सदागम को देखा। [५८८–५९०]

मैनें अकलंक से पूछा—मित्र ! यह सदागम कौन है ?

अकलंक—घनवाहन ! ये महात्मा सदागम साधु-पुरुषों के आराध्य हैं। ये जो आज्ञा देते है उसे विनयपूर्वक सभी साधु स्वीकार करते हैं। सदागम का गुण-गौरव एवं महत्व आचार्यदेव भली प्रकार जानते हैं। हे भद्र ! ये धर्म और अधर्म का विवेचन करने वाले और अत्यन्त हितकारी हैं, अतः इनसे सदुपदेश प्राप्त करने के लिए तुझे इनसे परिचय करना चाहिए। मुझे, इन साधुओं को और आचार्य भगवान् को जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह महात्मा सदागम से ही प्राप्त हुआ है। आचार्यश्री इन हितकारी सदागम से तेरा परिचय/सम्बन्ध करा देंगे। इनसे परिचय/सम्बन्ध करने पर तुझे शीघ्र ही अपना लाभ-हानि, हित-अहित क्रमशः सब ज्ञात हो जायगा।

हे भद्रे ! मित्र के आग्रह से और कुछ अन्तरात्मा के सन्तोष से मैंने सदागम से परिचय/सम्बन्ध स्थापित किया। कोविदाचार्य ने सदागम के गुण और महत्ता बतलाई, पर मुझे उसके प्रति श्रद्धा नही हुई। केवल मित्र अकलंक को प्रसन्न करने के लिये श्रद्धाशून्य होकर मैं चैत्यवन्दन करता, साधुओं को दान आदि देता, पर मेरी अन्तरात्मा मे इनके प्रति प्रीति नही थी। भावशून्य चित्त से मै ऊपरी दिखावे के लिये सब काम करने लगा। हे भद्रे ! अकलंक के अनुरोध से मैं नमस्कार मन्त्र आदि का जप और पाठ भी करने लगा। इन सब कार्यों को करने मे मेरा मन तो नही था, पर अकलक के आग्रह से मैं सब कुछ करता रहा। [५९१–६००]

तदनन्तर माता-पिता की आज्ञा लेकर अकलक ने तुरन्त ही गुरु कोविदाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और सुसाधुओ से परिवृत आचार्यश्री के साथ मुनिचर्या के अनुसार विहार करते हुए अन्य स्थान को चला गया। [६०१–६०२]

११. महामोह और परिग्रह

इधर महामोह राजा के राज्य में जब पता लगा कि चारित्रधर्मराज द्वारा सदागम को मेरे पास भेजा गया है तो वहाँ जिस प्रकार की हलचल मची, उसे भी बतलाता हूँ।

रागकेसरी के मन्त्री विषयाभिलाष को जब मालूम हुआ कि उसका विशिष्ट अधिकारी ज्ञानसंवरण सदागम के भय से छिपकर बैठ गया है तब उसने महामोह महाराजा से कहा—महाराज! अभी तक ज्ञानसंवरण को किसी प्रकार त्रास या भय नहीं था और हम सब निश्चित बैठे थे। परन्तु, देव! अब सदागम संसारी जीव के पास जाकर रहने लगा है, जिससे ज्ञानसंवरण भयभीत हो गया है। सदागम आपका कट्टर विरोधी है, * अतः उसकी उपेक्षा करना तनिक भी उचित नहीं है। विद्वान् लोग "नाखून से उखाड़ी जाने वाली वस्तु को इतनी बढ़ने ही नहीं देते कि फिर उसे कुल्हाड़ी से उखाड़नी पड़े।" [६०३–६०७]

मन्त्री के उपर्युक्त वचन सुनकर महामोहराज की पूरी सभा क्षुब्ध और सदागम पर क्रोधित हो उठी। महायोद्धा भौंहे चढाकर हुंकार करने लगे, होंठ काटने लगे और जमीन पर पांव पछाड़ते हुए एक साथ ही महामोहराज से कहने लगे—'देव! हमें आज्ञा दीजिये, हमें जाकर पापी सदागम को मार डालना चाहिये।' प्रत्येक योद्धा की आवाज एक-साथ होने से सभा-स्थल में खलबली मच गयी।

इस परिस्थिति को देखकर महामोह राजा ने कहा—मेरे वीर सैनिको! तुम सब कथनानुसार करने वाले ही हो। किन्तु, महापापी सदागम ने संसारी जीव के पास मेरे द्वारा प्रेषित ज्ञानसंवरण का अपमान किया है, अतः उस दुरात्मा का हनन मेरे हाथों से ही हो, यह उचित है। वीरो! मैं तुम सब का सामूहिक रूप ही हूँ, अतः सदागम मेरे द्वारा मारे जाने पर भी उसका श्रेय तुम सब को ही मिलेगा। क्योंकि, तुम सब मुझ मे समाये हुए ही हो, इसलिये उसे मारने के लिये मेरा जाना वास्तव में तुम्हारे जाने के समान ही है। तुम सब यही रहो, पापी सदागम को मारने के लिये मैं स्वयं ही जाता हूँ। तुम सब स्वामीभक्त हो इसलिये सावधान रहना। तुम्हारे मे से जब कभी किसी की आवश्यकता पडेगी तब बीच-बीच में यथा-अवसर अपना कर्त्तव्य निभाते रहना।

हे वीरो! मेरे पौत्र रागकेसरी के पुत्र सागर का मित्र परिग्रह मुझे बहुत प्रिय है, उसे यहाँ छोड़कर जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। यह महाशक्तिशाली है

* पृष्ठ ६६०

और समग्र दृष्टि से मेरी सहायता करने योग्य है, अतः अकेले परिग्रह को अपने साथ लेकर मैं सदागम का नाश करने जा रहा हूँ।

महाराजा महामोह का अत्यन्त आग्रह देखकर सब ने मस्तक झुका कर उनके कथन को मान्य किया। [६०८–६१६]

हे भद्रे! तत्पश्चात् महामोह और परिग्रह अत्यन्त उत्साह पूर्वक मेरे समीप आये। मैने इन दोनो को आते हुए देखा। हे चपललोचना सुन्दरि! अनादि काल से इनके विषय में अभ्यस्त होने के कारण मेरा इनसे स्नेह-सम्बन्ध पुनः शीघ्र ही स्थापित हो गया।

उसी समय मेरे पिता श्री जीमूतराज नरेन्द्र की मृत्यु हुई। सभी सम्बन्धियो और मंत्रियो ने मुझे राजगद्दी पर बिठाया। सभी सामन्तो ने मेरी आज्ञा स्वीकार की। शत्रु मेरे दास हो गये। अनेक विभूतियो से परिपूर्ण समृद्ध राज्य मुझे प्राप्त हुआ। मेरे राज्य-प्राप्ति का आन्तरिक कारण तो मेरा पुण्योदय मित्र था किन्तु महामोह के स्नेह में मग्न मैने उस समय उसे नही पहचाना और यह सब परिग्रह मित्र का प्रभाव ही समझा। [६२०–६२४]

इधर जब मेरा मन शरीर, विषयभोग, राज्य, चित्र-विचित्र * विभूतियो और पौद्गलिक पदार्थों की तरफ आकर्षित होता रहता था उस समय सदागम मुझे परामर्श देता—भाई घनवाहन! ये सभी वस्तुएँ क्षणभगुर हैं, दु ख से पूर्ण हैं, मल से भरी हुई है, तेरे स्वभाव से विपरीत है, बाह्य-भ्रमण कराने वाली हैं, अत. हे घनवाहन! तू इन पर मूर्छा मत रख। तेरी आत्मा ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द से पूर्ण है। यह आनन्द स्थिर, शुद्ध और स्वाभाविक है और तुझे अन्तर्मुखी करने वाला है। अतः हे नरोत्तम! तुझे उसी तरफ आकर्षित होना चाहिये। जिससे तू निरंतर आनन्द और निर्वृति को प्राप्त कर सके। [६२५–६२८]

दूसरी तरफ महामोह मुझे शिक्षा देता कि मेरा राज्य, संपत्तिया, शरीर, शब्दादि इन्द्रिय-भोग और अन्य सभी जो ऐसे पदार्थ हैं वे स्थिर हैं, सुखपूर्ण है, निर्मल हैं, हितकारी है और उत्तम है। महामोह पुनः कहता कि जीव, देव, मोक्ष, पुनर्जन्म, पुण्य, पापादि कुछ भी नही है। यह संसार पंचभूत का बना हुआ है। अत. हे घनवाहन! जब तक शरीर है तब तक इच्छानुसार खाओ, पीओ, आनन्द करो, रात-दिन सुन्दर भोग भोगो और मनोहर नेत्र वाली ललित ललनाओं के साथ यथेष्ठ काम-सुख भोगो। पहला मूर्ख पुरुष तुझे जो सीख देता है उसे तू मत मान। [६२९–६३३]

इसी समय परिग्रह कहने लगा—हे घनवाहन! सोना, अनाज, रत्न, आभूषण आदि प्रयत्न पूर्वक एकत्रित कर। अर्थात् तू घर बना, जमीन खरीद और चारो तरफ अपनी समृद्धि को बढा। इसके लिये यथाशक्य प्रयत्न कर। जो प्राणी

---

* पृष्ठ ६६१

प्राप्त धन का भली प्रकार रक्षण करता है और अप्राप्त के लिये प्रयत्न करता है, जो कभी सतुष्ट होकर नही बैठता, उसी को निरन्तर सुख प्राप्त होता है।
[६३४-६३५]

हे सुलोचने ! सदागम, महामोह और परिग्रह की ऐसी भिन्न-भिन्न शिक्षा को सुनकर मेरा मन किञ्चित् डांवाडोल हो गया। मैं निर्णय नही ले सका कि मुझे क्या करना और क्या नही करना चाहिये। इसी समय ज्ञानसवरण जो छिप गया था, महामोह की उपस्थिति से उसमे पुन: शक्ति आई और भय छोड़कर वह मेरे शरीर मे पुन: प्रविष्ट हो गया। इससे सदागम द्वारा दिया गया उपदेश और उसका रहस्य मेरी समझ मे नही आया और उसकी मधुर वाणी से मेरा चित्त रजित नही हुआ। हे भद्रे ! अनादि काल से अत्यन्त अभ्यस्त होने के कारण महा-मोह और महापरिग्रह का कथन मुझे सचोट लगा और वह मेरे हृदय मे जम गया। अत: मैंने देव-पूजा, गुरु-वन्दन, नमस्कार मंत्र का जाप आदि धर्मक्रियाओं का त्याग कर दिया और भोगो मे आसक्त हो गया। मैंने साधुओ को दान देना और अन्य सत्कार्यों मे धन का उपयोग करना वन्द कर दिया तथा अधिकाधिक धन एकत्रित करने लगा। प्रजा पर नये-नये कर थोपने लगा जिससे प्रजा कर के बोझ से दब-सी गयी। फिर मुझे सभी सांसारिक कार्यो मे अत्यन्त गाढ आसक्ति होने लगी। मोहराज अपनी शक्ति का यथाशक्य उपयोग करने लगा। सदागम के प्रति मुझे तनिक भी रुचि नही रही। परिग्रह के वशीभूत मुझे सब कुछ कम ही नजर आने लगा। चाहे जितनी प्राप्ति हो फिर भी मेरी इच्छा कभी पूरी नही होती। जितना अधिक मिले उससे भी अधिक अर्थात् समस्त धन प्राप्त करने की इच्छा होती रहती। * मेरी आन्तरिक स्थिति को ऐसी देखकर सदागम मुझ से दूर चला गया। महामोह और परिग्रह मेरे आन्तरिक राज्य के स्वामी बन गये। उनकी इच्छा पूरी हुई जिससे उन्हे प्रसन्नता और संतोष हुआ। [६३६-६४४]

अकलंक मुनि और कोविदाचार्य का आगमन

अन्यदा कोविदाचार्य मेरे मित्र अकलंक और अन्य साधुओ के साथ भिन्न-भिन्न स्थानो मे विहार करते हुए मेरे नगर में आये। मैं वैसे किसी साधु को वन्दन करने नहीं जाता था, पर अकलक से मेरा पुराना गाढ स्नेह था इसलिये उसे प्रसन्न करने के लिये वहाँ गया और अकलंक तथा उसके गुरु कोविदाचार्य तथा अन्य सभी मुनियो को नमस्कार किया।

कोविदाचार्य ने अपने ज्ञान बल से मेरा पूरा इतिवृत्त (चरित्र) जान लिया था। अन्य लोगों से भी अकलक ने मेरे बारे मे बहुत कुछ सुन लिया था। अत: प्रसगानुसार मुनि अकलक ने अपने आचार्य से कहा—नाथ ! सदागम का क्या महत्त्व है और उसकी कितनी शक्ति है ? यह राजा धनवाहन को समझाने की कृपा

* पृष्ठ ६६२

करें। साथ ही दुर्जनों की सगति से प्राणियों में क्या-क्या दूषण उत्पन्न होते हैं? क्या-क्या हानि होती है? यह भी आप उसे विशेष रूप से बतलाइये, जिससे इसको सत्य मार्ग का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो सके। यदि यह सदागम की भक्ति करे और महामोह एवं परिग्रह की दुष्ट सगति छोड़ दे तो इसे इस भव तथा पर भव मे अतुल सुख प्राप्त हो। अतः हे विभो! आप कृपा कर इसे सत्य का परिचय कराइये। [६४५-६५०]

कोविदसूरि ने स्वीकृति दी, फिर मुझे ध्यानपूर्वक सुनने को कहा। अकलंक के आग्रह से मै सूरि महाराज के निकट बैठा और सूरि महाराज ने अपनी कथा हमे सुनाई।

---

१२. श्रुति, कोविद और बालिश

[अकलक मुनि के कहने से मन में आचार्य भगवान् की कथा के प्रति निरादर होते हुए भी अपने चित्त को अन्यत्र लगाकर मै कथा सुनने तो बैठ गया, पर मुझे उनकी कथा मे कोई रुचि नही थी।]

आचार्य महाराज ने कथा प्रारम्भ की :—

एक क्षमातल नामक नगर है जिसके राजा का नाम स्वमलनिचय और रानी का नाम तदनुभूति है। इनके कोविद और बालिश नामक दो पुत्र हैं। कोविद का पूर्वजन्म मे सदागम से परिचय हुआ था। जब कोविद ने इस जन्म मे फिर से सदागम को देखा तब ऊहापोह (विचार) करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिससे पूर्वकाल का परिचय स्मृति में आ गया और सदागम को देखकर उसके चित्त मे आनन्द की वृद्धि हुई। फिर यह समझ कर कि यही मेरा हितकारी गुरु है उसने सदागम को अपना गुरु स्वीकार किया। कोविद ने सदागम का स्वरूप बालिश को भी समझाया, किन्तु उसके हृदय मे पाप होने से उस दुर्बुद्धि ने उसे स्वीकार नही किया।

कोविद का श्रुति के साथ लग्न

इधर कर्मपरिणाम महाराज ने अपनी कन्या श्रुति को कोविद और बालिश के पास भेजा। यह कन्या स्वयवर द्वारा विवाह करने की इच्छुक थी। कन्या के साथ एक सग नामक दासपुत्र था। यह दासपुत्र सम्बन्ध कराने मे अतीव निपुण और चालाक था तथा सर्वदा श्रुति के आगे-आगे चलने वाला था। सग को श्रुति से पहले ही

वहाँ भेज दिया गया था। श्रुति ने कोविद और बालिश दोनों को पसंद किया और दोनों से विवाह किया।

कोविद और बालिश के स्वाधिकार में निजदेह नामक पर्वत था जिसके ऊपर मूर्धा नामक महाशिखर था। इस शिखर के दोनों तरफ श्रवण नामक कपाट युक्त दो कक्ष थे। श्रुति ने इन दोनों कक्षों को देखा और अपने निवास के लिये पसंद किया। पति की आज्ञा लेकर वह इन दोनों कमरों में रहने लगी। इस प्रकार श्रुति श्रवणप्रासाद में कोविद और बालिश के साथ विचरण करने लगी।

बालिश और श्रुति

इधर श्रुति को प्राप्त कर * बालिश प्रसन्न हुआ। अत्यन्त हर्षित होकर वह सोचने लगा कि, अहा! मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे पुण्य के प्रभाव से इतनी सुन्दर मनोहर श्रुति नामक स्त्री प्राप्त हुई है। मैं भाग्यवान हूँ, कृतकृत्य हूँ, पुण्यवान हूँ। [६५१-६५२]

उसे श्रुति के प्रति स्नेहपरायण जानकर, अवसर देखकर एक दिन संग उसके पास गया और मधुर वाणी में बोला—

हे देव! आपके अत्यन्त हितेच्छु कर्मपरिणाम महाराजा ने मेरी स्वामिनी श्रुतिदेवी का विवाह आपके साथ किया यह बहुत ही उत्तम कार्य हुआ। महाराज! रूप, वय, कुल, शील और लावण्य में समानता होने पर पति-पत्नी में परस्पर प्रेम होता है, किन्तु इन सब में समानता बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। आप पुण्यवान हैं कि आपको पुण्य-कर्मों से इन सब में समानता प्राप्त हुई है। अब इस मनोहर प्रेम-सम्बन्ध को यथाशक्य अधिकाधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। [६५३-६५६]

शठात्मा दासपुत्र संग के वाक्य सुनकर बालिश बोला—भाई संग! तेरी बात तो ठीक है, पर यह तो बता कि यह प्रेम-सम्बन्ध कैसे बढ़े?

संग—प्रिया को जो वस्तु अधिक प्रिय हो, उसका उसे बार-बार उपभोग करवाने से प्रेम-सम्बन्ध बढ़ता है।

बालिश—मेरी प्रिया को कौनसी वस्तु अधिक प्रिय है, यह तो बता?

संग—देव! इन्हें मधुर ध्वनि बहुत प्रिय है।

बालिश—यदि ऐसा ही है तो मैं ऐसा प्रबन्ध कर दूंगा कि एक क्षण के भी विश्राम बिना वह निरन्तर मधुर ध्वनि सुनती ही रहे।

संग—धन्यवाद कुमार! आपकी बड़ी कृपा।

प्रियतमा की प्रिय वस्तु को बताने वाले उसके दासपुत्र संग पर बालिश को अत्यधिक प्रेम उत्पन्न हुआ, अतः उसने उसे अपने हृदय में स्थापित कर लिया। [६५७-६६०]

* पृष्ठ २६३

इसके पश्चात् बालिश श्रुति को वीणा, वेणु, मृदंग, काकली, गीत आदि मधुर स्वर और गायन सुनाने लगा। जब श्रुति इससे प्रसन्न होती तो वह प्रमुदित होता और मन मे समझता कि वह बहुत सुखी है। इस संसार मे उसे स्वर्ग का सुख मिल गया है। वह सचमुच भाग्यवान है कि उसे सततानन्ददायी श्रुति जैसी पत्नी मिली। [६६१–६६२]

बालिश दासपुत्र सग को अपने हृदय मे स्थापित कर अत्यन्त स्नेह से उसकी चापलूसी करते हुए, सुन्दर मधुर ध्वनि, राग-रागिनियो और वादित्रो के नाद से श्रुति का पालन-पोषण करने लगा। अन्त मे वह राग-रागिनियो में इतना डूब गया कि उसने दूसरे सब काम छोड़ दिये, धर्म को दूर से ही नमस्कार किया और छैल-छबीला जैसा व्यवहार करने लगा, जिससे वह विवेकीजनों की दृष्टि में हास्यपात्र बन गया। [६६३–६६४]

कोविद और श्रुति

इधर कोविद ने सदागम से पूछा – महाराज ! श्रुति स्वय चलकर मेरे पास आई और मेरा वरण किया, अतः वह मेरी हितेच्छु है या नही ? कृपा कर बतलाइये।

सदागम—हे नरोत्तम कोविद ! जब यह तेरी पत्नी दासपुत्र संग के साथ हो तब वह तनिक भी हितेच्छु नही है। इसका कारण मे बतलाता हूँ, तू सुन।

रागकेसरी राजा के मंत्री ने पहले संसार को वश में करने के लिये पाँच अधिकारी भेजे थे उनमे से एक यह है। रागकेसरी मोहराजा का पुत्र है और कर्म-परिणाम महाराजा का भतीजा है। रागकेसरी कर्मपरिणाम महाराजा का मत्री भी है और जगत् प्रसिद्ध लुटेरा भी है। महामोह का तो सारा कार्य यही करता है। सभी लोग विश्वासपूर्वक जानते है कि कर्मपरिणाम महाराजा सब से अधिक बलवान, सर्वश्रेष्ठ * और सभी प्राणियो का बुरा-भला करने वाले है। यदि लोगो को यह मालूम हो जाय कि श्रुति इस लुटेरे रागकेसरी की पुत्री है, तो कोई उससे विवाह करने को तैयार न हो। अत. रागकेसरी ने अपने विशेष सेवक सग को श्रुति की सेवा मे नियुक्त कर दिया है तथा उसको सब गुप्त बाते बताकर पहले से ही यहाँ भेज दिया है। वह श्रुति को कर्मपरिणाम की पुत्री बतलाता है, परन्तु वस्तुत श्रुति रागकेसरी की ही पुत्री है। दुरात्मा रागकेसरी ने ससार को ठगने के लिये अपनी कन्या को सग के साथ भेजा है, तब वह तुम्हारी हितेच्छु कैसे हो सकती है ? यद्यपि तूने उसे अपनी पत्नी बनाया है, पर वह पति को ठगने वाली है, अत. हे भद्र ! तू कभी उसका विश्वास मत करना। तूने उससे विवाह कर लिया है इसलिये अभी उसका त्याग तो नही किया जा सकता, पर उसके दासपुत्र संग से सदा बचकर रहना।

* पृष्ठ ६६४

इसका विश्वास करके कभी इसके कपट जाल मे मत फसना । यदि यह पापी सग तेरे पास नही आये तो श्रुति तेरे पास रहकर भी तेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती, तेरे लिये दोषकारिणी नही बन सकती । जब श्रुति अपने सेवक सग के साथ होती है तब वह अरुचिकर शब्दो से द्वेष और मधुर ध्वनि की लोलुप बनती है, पर स्वय यह ऐसी नही है । यह सग के साथ से ही विकृत होती है । जब यह सग के सहवास से राग-द्वेष के वश होकर तुझे प्रेरित करे तब यह अनेक दुखो की परम्परा का कारण बनती है । किन्तु, सग से दूर रहकर कैसी भी वाणी सुनकर यह मध्यस्थ रहती है, राग-द्वेष रहित रहती है, इसीलिये पीड़ादायक नही होती । यह नीच संग अत्यन्त अधम व्यक्ति है, दुष्टात्मा है, दासीपुत्र है और अनेक प्रकार के दुख और त्रास का कारण है, अत वह सर्वथा त्याग करने योग्य है । [६६५–६८०]

विनम्र कोविद ने सदागम की शिक्षा/परामर्श को शाति से सुना, स्वीकार किया और श्रुति के दास सग का सर्वथा त्याग कर दिया । यद्यपि कोविद ने श्रुति का विवाह-सम्बन्ध कायम रखा, तदपि अब उसमे शब्द सम्बन्धी आतुरता या उत्सुकता जागृत नही होती । उसे बुरे शब्दो से द्वेष और मधुर शब्दो पर राग नही होता । इससे लोगो मे उसकी प्रशसा होती और वह स्वय सुखी हो गया । यो कोविद ने संग का त्याग कर पूर्ण सुख प्राप्त किया और बालिश ने सग को हृदय-स्थित कर भरपूर दुःख प्राप्त किया । [६८१–६८३]

हे भूप ! बाह्य प्रदेश मे एक तुगशिखर नामक बडा पर्वत है । एक दिन कोविद और बालिश उस पर्वत पर जाने लगे । इस अत्यन्त उच्च पर्वत पर देवताओ द्वारा निर्मित एक गुफा है जो बहुत विशाल है और इतनी लम्बी है कि मानव को उसका अन्त कही दिखाई नही देता । [६८४–६८५]

बालिश की मृत्यु

इधर एक किन्नर युगल और एक गन्धर्व युगल मे एक दिन गायन-कला की प्रतिस्पर्धा हुई । दोनो युगल अपनी-अपनी कला को श्रेष्ठतम बताने लगे । इस प्रतिस्पर्धा का निर्णय करने के लिये उन्होने तुगशिखर की विशाल गुफा का स्थान चुना । परीक्षको की उपस्थिति मे परस्पर की प्रतिस्पर्धा से वे दोनो युगल अपनी-अपनी गायन-कला का वहाँ एकान्त स्थान में प्रदर्शन करने लगे । * अत्यन्त कर्ण-प्रिय मधुर ध्वनि से राग आलाप लेने लगे । हे नृप ! उसी समय कोविद और बालिश भी शिखर पर पहुँच गये । गुफा के भीतर से आते युगलो के गायन के सुमधुर स्वर को सुनकर वे सावधान हो गये । [६८६–६८९]

इस समय दुरात्मा बालिश ने सग की प्रेरणा से श्रुति को गुफा के द्वार के पास खडा कर दिया । हृदयस्थित सग की प्रेरणा से स्वय भी गायन सुनने मे तल्लीन हो गया । बालिश ने अपना सर्वस्व श्रुति को अर्पण कर दिया था, अतः उस समय

* पृष्ठ ६६५

तो वह श्रुतिमय ही हो गया था। वह रस मे इतना लीन हो गया कि उसे कुछ भी सुध-बुध नही रही। सग ने भी उस समय अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया जिससे बालिश बेजान होकर निर्जीव पत्थर की शिला की तरह गुफा मे गिर पड़ा। बालिश के गिरने से गुफा में जोरदार धमाका हुआ। धमाके से सभी देव, गन्धर्व और किन्नर चौक गये। रग मे भग होने से वे सब बालिश पर क्रोधित हुए। सभी एक साथ बोल पड़े—'अरे! यह यहाँ कौन है? पकड़ो, इसे मारो।' इस प्रकार आवेश मे बोलते हुए उन्होने बालिश को बन्धनो में जकड़ दिया और लात-घूसो के प्रहार से इतना मारा कि वह वही मर गया। [६९०–६९४]

कोविद की दीक्षा

इधर सदागम के उपदेश से कोविद ने सग का त्याग कर दिया जिससे श्रुति के साथ होते हुए गायन सुनकर भी वह उसमें आसक्त (मूर्छित) नही हुआ। बालिश को मार खाते और जमीन पर गिरते देखकर वह अविलम्ब पर्वत के शिखर से नीचे उतर आया और धर्मघोष नामक आचार्य के पास पहुँच गया। बालिश की घटना से उसकी विवेक बुद्धि जाग्रत हुई जिससे उसने दीक्षा ग्रहण करली और साधु बन गया। अनुक्रम से उसके गुरु ने उसे अपने स्थान पर आचार्य पद प्रदान किया। हे राजन्! वही कोविद मैं स्वय हूँ। [६९५–६९८]

राजेन्द्र! मेरा भाई बालिश अपने शत्रु रूप मित्र सग की सगति से व्यथित हुआ, अनेक दुःख प्राप्त किये और अन्त मे मृत्यु को प्राप्त हुआ। हितकारी महात्मा सदागम ने मुझे ऐसे दु ख-जाल से बचाया, क्योंकि उनके उपदेश से ही मैंने सग का त्याग किया था। फिर संयम ग्रहण करने के पश्चात् तो मेरे लिये सर्वदा आनन्द ही आनन्द है। यह सब उपकारी सदागम का ही प्रताप है। अभी भी मै सदागम के प्रत्येक निर्देश/आज्ञा का पालन करता हूँ। सदागम समस्त प्राणियो का हितेच्छु है। आत्मा मे स्थित आन्तरिक शत्रुओं (मोहराज, परिग्रह) की सगति का परिणाम बहुत ही भयकर है। हे महाराज! अत जो प्राणी वास्तव मे अपनी भलाई/हित चाहते हो उन्हें दुष्ट आन्तरिक शत्रुओ की सगति का त्याग कर सदागम के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। [६९९–७०३]

घनवाहन का द्रव्य-आचार

हे अगृहीतसकेता! महात्मा कोविदाचार्य की अत्यन्त सुन्दर आत्मकथा मुझे नाममात्र भी नही रुचि। इसके विपरीत मुझे मन मे ऐसा लगने लगा कि आचार्य और अकलक ने मिलकर किसी भी प्रकार मेरा महामोह और परिग्रह से साथ छुड़ाकर सदागम से सगति कराने के लिये ही यह षड्यन्त्र रचा है। [७०४–७०५]*

---

* पृष्ठ ६६६

इस प्रकार मेरे मन मे विचार चल रहे थे और 'मुझे क्या करना चाहिये' इस चिन्ता मे पडा हुआ था। उसी समय मेरे मन के विचारों और आशय को समझने वाले मुनि अकलक ने झट से अवसरानुसार बात छेड दी। वे बोले—भाई घनवाहन! आचार्य भगवान् की वाणी तुझे बराबर समझ मे आई या नही? उत्तर मे मैंने कहा—हाँ भाई! बराबर समझ गया। बुद्धिमान् अकलक ने अवसर का लाभ उठाकर तुरन्त कहा—यदि बराबर समझ मे आ गई हो तब तो आज से ही उसी के अनुसार आचरण करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। [७०६–७०७]

अकलक पर मेरा अत्यन्त स्नेह था, भगवान् कोविदाचार्य के आस-पास का वातावरण भी अचिन्त्य रूप से प्रभावित था, मेरी कर्मग्रंथि भी नष्ट होने के निकट पहुँच गई थी और मुझ मे आचार्य के समक्ष कुछ कहने की सामर्थ्य भी नही थी, अत: मैंने अकलक की बात स्वीकार करली। उसी समय पुन सदागम फिर मेरे निकट आ पहुचा। मैंने फिर से चैत्यवदन आदि कृत्य प्रारम्भ कर दिये। पहले मैंने जो धर्म का अभ्यास किया था उसे फिर से याद किया, ताजा किया और फिर से दान आदि देना प्रारम्भ किया। इस समय महामोह और परिग्रह मेरे से थोडे दूर खिसक गये थे। इन सब का ग्रहण मैंने मात्र अकलक की लज्जा से ऊपर-ऊपर से किया था। मेरे मन मे तो इनके प्रति किंचित् भी प्रेम नही था, क्योकि मैंने इन सब को अन्तर्मन से स्वीकार नही किया था।

उस समय अकलक को तो ऐसा लगने लगा मानो मेरी सासारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति कम हुई हो, मानो धनसचय के सम्बन्ध मे अब मुझे सतोष हो गया हो और सदागम के साथ मेरा पूर्ण सम्बन्ध हो गया हो। मेरी स्थिति को सुधरा हुआ समझ कर अकलक मुनि और आचार्य महाराज वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये।

१३. शोक और द्रव्याचार

हे भद्रे! अकलक मुनि के अन्यत्र विहार करते ही महामोह और परिग्रह फिर जाग्रत हुए, प्रसन्न हुए और मेरे निकट आगये तथा सदागम फिर मुझ से दूर चला गया। मै फिर दान आदि सत्कार्यो के प्रति शिथिल हो गया। धर्मोपदेश पूर्णत: भूल गया और एकदम पशु जैसा बन गया। मुझ मे जो धर्मांकुर उगे थे वे व्यर्थ हो गये। धीरे-धीरे मैं पुन. विषय-सेवन मे मूर्छान्ध और धन एकत्रित करने मे तल्लीन हो गया। अनेक स्त्रिया और सुवर्ण एकत्रित करने मे मैं प्रजा को अनेक प्रकार से

पीड़ित करने लगा। अनेक प्रकार की भोग-तृप्ति के लिये मैंने महलो में हजारो स्त्रिया एकत्रित की, सोने से सैकड़ो कुँए भर दिये और महामोह के अधीन होकर पृथ्वी को स्वर्ण रहित बना दिया। इस ससार में ऐसा कौनसा पाप होगा जो मैंने मोह और परिग्रह के वश मे होकर न किया हो! मेरी सारी इच्छाये मेरे अन्तरग मित्र पुण्योदय की कृपा से पूरी होती थी, पर मै मोह और परिग्रह के वशीभूत इस तथ्य को न समझ सका। उसे प्रेम का प्रत्युत्तर भी नही दिया, जिससे वह मुझ पर कुछ क्रोधित हो गया। [७०८-७१३]

शोक का आगमन

उसी समय मेरी हृदयवल्लभा प्रिया मदनसुन्दरी जो मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय थी वह शूल-व्याधि से पीड़ित हुई। थोडे दिन व्याधिग्रस्त रही और अन्त मे मृत्यु को प्राप्त हुई। मेरे हृदय पर भारी आघात लगा। [७१४]

इसी समय महामोह का एक बड़ा योद्धा शोक, जो अत्यन्त विनयी सेवक था, अपने स्वामी के पास आया। आदर-पूर्वक अपने स्वामी को प्रणाम किया और अवसर देखकर अत्यन्त कपट-पूर्वक मुझ में समा गया। [७१५-७१६]

देवी मदनसुन्दरी को पुनः-पुनः याद कर मै उच्च स्वर से रोने लगा, चिल्लाने लगा, सिर पीटने लगा और आँसू गिराने लगा। मैंने अपने शरीर-सस्कार और राज्यकार्य पर ध्यान देना एकदम बन्द कर दिया और अत्यन्त दुःखित अवस्था में ऐसा बन गया मानो मुझे कोई ग्रह लगा हो। [८१७-७१८]

अकलक का उपदेश

किसी ने अकलक मुनि के पास मदनसुन्दरी की मृत्यु और मेरे शोकमग्न होने के समाचार पहुँचा दिये। यह सुनकर * मुझ पर कृपा कर वे मेरे नगर मे पधारे। उन्होने आकर देखा कि मै एकदम शोकमग्न हूँ और मैंने सभी सत्कार्य छोड दिये है, तब मुझ पर दया कर उन्होने कहा—भाई घनवाहन! यह तू क्या कर रहा है? क्या तू मेरा वचन एकदम भूल गया है? क्या तूने सदागम को छोड़ दिया है? अरे! इन दुष्टों ने तुझे सचमुच ठग लिया है। भाई! तू तो सब कुछ समझता था, आतरिक रहस्य जानता था, फिर ऐसी बच्चो जैसी चेष्टा क्या तुझे शोभा दे रही है? शोक तुझे बार-बार मदनसुन्दरी की याद दिलाकर तेरे चित्त को व्याकुल कर रहा है, क्या तू यह नही जानता? मेरी बतायी सब बातें भूल गया? अरे! तनिक सोच तो सही! सभी प्राणी यमराज के मुह मे ही है तथापि उनका एक क्षण का जीवन भी आश्चर्यजनक ही है। यमराज कब ग्रास बना लेगा यह कोई नही जानता। यमराज इतना क्रूर है कि यह प्रेम, बन्धन, अवस्था, सम्बन्ध किसी की भी अपेक्षा नही करता। मदमस्त हाथी की तरह उसके मार्ग मे जो भी आता

* पृष्ठ ६६७

है उसका कचूमर निकाल देता है। यह कृतान्त (यमराज) हिमकण जैसा व्यवहार कर सज्जन रूपी सुन्दर कमल और लोगो की आखों के तारो को क्षण भर मे सुखा देने वाला है। मनुष्य शरीरधारी को मन्त्र-तन्त्र, धन के ढेर, बडे-बडे निपुण वैद्य, रामबाण औषधिया, भाई-बन्धु और स्वय इन्द्र भी यमराज से नही छुडा सकता। मृत्यु ऐसा उपद्रव है जिसका प्रतीकार/प्रतिशोध अशक्य है। एक दिन सभी को जाना है, फिर इस सिद्ध मार्ग पर किसी को जाते देख कर कौन समझदार व्यक्ति घबरायेगा ? विह्वल होगा ? [७१९-७२८]

महाभाग्यशाली अकलक मुनि मेरे शोक को दूर करने के लिये अश्रान्त होकर प्रतिदिन मुझे धर्मोपदेश देते रहते। भिन्न-भिन्न प्रकार से जीवन-मरण के सम्बन्ध मे बताते। मृत्यु सम्बन्धी विशिष्ट तत्त्वज्ञान के झरने मेरे समक्ष बहाते, परन्तु महामोह के वशीभूत मै शोक की चाल ही चलता और महात्मा अकलक के वचनो पर ध्यान नही देता। मैं हतबुद्धि होकर बार-बार रोता। हे बाले ! प्रिये ! प्रियतमे ! सुन्दरी ! प्रेमिके ! हे सुमुखि ! हे कमलनयने ! सुन्दर भौरो वाली ! कान्ता ! मृदुभाषिणी ! पतिवत्सला ! पतिप्रेमी ! पतिव्रता ! हा देवी मदनसुन्दरी ! तेरे प्राणप्यारे घनवाहन को इस प्रकार रोता छोडकर तू कहाँ चली गई ? प्यारी ! तू मुझे शीघ्रता से एक बार अपना दर्शन देदे। इस रोते विरही से एक बार बात करले। प्रिये ! यहाँ आकर एक बार मुझ से मिल जा और मेरी इस अत्यन्त दयनीय स्थिति को अपनी उपस्थिति से दूर कर दे।

हे भद्रे ! मै तो महात्मा अकलंक के समक्ष भी निर्लज्ज होकर इस प्रकार अनर्गल प्रलाप करता रहता और वे मुझे बार-बार उपदेश दे रहे है, इस पर तनिक भी लक्ष्य नही देता। [७२९-७३४]

हे भद्रे ! महामति अकलक सब कुछ देखते, मोह के साम्राज्य पर विचार करते। स्वय महाबुद्धिशाली, दयावान, परोपकारी तथा मेरे प्रति स्नेहशील होने से मेरी दयनीय स्थिति को देखकर वे पुन. मुझे उपदेश देने लगे :—[७३५]

महाराज घनवाहन ! तेरे जैसे के लिये ऐसा बच्चो जैसा व्यवहार योग्य नही है। तू पुरुषत्वहीनता को छोड, धैर्य धारण कर, अन्त.करण से स्वस्थ बन, अपनी आत्मा को स्मरण कर, अपना एकान्त अहित करने वाले महामोह का त्याग कर, शोक को * छोड और परिग्रह का सम्पर्क शिथिल कर। सदागम का अनुसरण कर और उसके उपदेश के अनुसार आचरण कर जिससे कि मेरे चित्त को प्रसन्नता हो। भाई ! क्या तू इतने ही दिनो मे उन प्रथम मुनि की लोकोदर मे आग (ससाराग्नि) की कथा भूल गया ? क्या तू संसार मद्यशाला की कथा भी भूल गया ? क्या ससार अरहट चक्र की बात भी तुझे याद नही रही ? क्या ससार मठ मे रहने वाले लोगो के सन्निपात और उन्माद की बात तेरे लक्ष्य मे नही रही ? मनुष्य

* पृष्ठ ६६८

जन्म रूपी रत्नद्वीप की दुर्लभता का भी क्या तुझे ध्यान नही रहा ? ससार बाजार में रहने वाले लोगों की स्थिति का पर्यालोचन कर क्या तुझे वैराग्य नही होता ? अरे ! क्या तुझे तेरे चित्त रूपी बन्दर के बच्चे की चपलता भी स्मृति मे नही रही ? क्यो भूल गया कि इस चित्त की निरन्तर रक्षा की आवश्यकता है। यदि तू उसकी रक्षा करना स्वीकार करता है तो फिर तदनुसार आचरण क्यों नही करता ? भाई ! क्यो विषवृक्षो पर कूद रहा है ? क्यो लोट-पोट होकर अर्थनिचय नामक पत्र-फल-फूल रूपी कर्मरज को अपने शरीर पर चिपका रहा है ? तू मोक्षमार्ग को भली प्रकार जानकर भी अपनी आत्मा को महाघोर नरक की तरफ क्यो घसीट रहा है ? तेरे चित्त की रक्षा द्वारा तेरी आत्मा को शिवालय मठ मे पहुँचाने का जो उपाय बताया गया है, उसको उपयोग मे लेकर अपने को सततानन्दी मोक्ष मे क्यो नही ले जाता ? हे महाराज ! ससारी प्राणियो के लिये विपत्तियाँ तो हस्तगत के समान पग-पग पर है, प्रियजनो का वियोग भी सुलभ है, बडी-बड़ी बीमारियाँ दूर नही जो चलते-फिरते भी हो जाती है, दु:ख भी एकदम पास मे ही है जो क्षण-क्षण मे चिपकने वाले है और मृत्यु तो निश्चित ही है। अत: निर्मल विवेक ही प्राणी का सच्चा रक्षक है, यही वास्तविक आधार है, अन्य कोई नही।

शोक का पलायन

बहिन अगृहीतसकेता ! जैसे गहरी नीद में सोये को आवाजे देकर उठाया जाय, विष के असर मे झूमते हुए व्यक्ति को सस्फुरायमान प्रबल मत्रो द्वारा स्थिर किया जाय, मद्य के नशे मे मदमस्त बने प्राणी का आकस्मिक भय द्वारा नशा उतारा जाय, या मूर्छित प्राणी को शीतल जल और पवन के योग से सचेत किया जाय और सन्निपात-ग्रस्त व्यक्ति की उन्मत्तता निपुण चिकित्सक की नियमानुसार चिकित्सा द्वारा ठीक की जाय, वैसे ही अकलक मुनि की उपर्युक्त विस्तृत सुन्दर वचन-पद्धति से मुझ मे कुछ शुद्धि आई, मैं स्थिर हुआ और मुझ मे चेतना जाग्रत हुई।

इस स्थिति को देख शोक महामोह के पास गया और नमस्कार कर बोला—देव ! अब मै जा रहा हूँ, अकलक मुझे यहाँ रहने नही देता, बैठने नही देता। यह तो लट्ठ लेकर मेरे पीछे पडा है।

महामोह—वत्स शोक ! यह अकलक बहुत ही क्रूर है, अति विषम है। यह घनवाहन के साथ मिल कर बेचारे को ठग रहा है, उसे विपरीत मार्ग पर ले जा रहा है। अब हमारा क्या होगा ? कुछ समझ में नही आता। अभी तो तू जा, पर सावधान रहना। हमारा मिलन आगे फिर कभी होगा।

शोक—'जैसी महाराज की आज्ञा' कहकर वह वहाँ से विदा हुआ।

मैंने भी अकलक मुनि के वचन स्वीकार किये। सदागम के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया तथा महामोह और परिग्रह के प्रति किंचित् तिरस्कार जताया। पहले

सीखे हुए ज्ञान का फिर से प्रत्यावर्तन किया, नये शास्त्रो को पढने के प्रति आदर दिखाया, जिन मन्दिर बनवाये, प्रतिमाये स्थापित करवाई, तीर्थ-यात्राये की, स्नात्र महोत्सव करवाये और सुपात्रो को दान दिया। मेरी शुभ क्रियाओ को देखकर अकलक मुनि को मन मे सतोष हुआ कि उसने मुझे गुणवान बना दिया है, मुझे सुमार्ग पर ले आया है।

---

१४. सागर, बहुलिका और कृपणता

महामोह के विशेष अगरक्षक और अति समर्थ सागर (लोभ) ने जब अपने मित्र परिग्रह की दुर्दशा सुनी तब उसे अपने मन मे अत्यन्त दु ख हुआ और वह मित्र की सहायता के लिये मेरे पास आने को तत्पर हुआ।* इसके लिए उसने राग-केसरी से आज्ञा मागी, जो उसे प्राप्त हो गयी। उस समय वहाँ बहुलिका भी उप-स्थित थी, उसने अपने पिता रागकेसरी से कहा—पिताजी! जहाँ सागर जाय वहां मुझे तो अवश्य ही जाना चाहिये। आप तो जानते ही हैं कि वह मेरे बिना एक क्षण भी नही रह सकता।

बहुलिका की माग पर विचार करते हुए रागकेसरी ने उत्तर में कहा—पुत्रि! अच्छी बात है, यदि ऐसा ही है तब तू भी जा। पर, कृपणता तो सागर का शरीर और प्राण ही है। जब तू जा रही है तो उसे भी साथ लेती जा, इससे सागर को भी धैर्य रहेगा। बहुलिका और कृपणता दोनो बहिने भी साथ आ रही है यह जानकर सागर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने पिताजी की कृपा का आभार माना और दोनो बहिनो के साथ मेरे पास आ पहुँचा।

इन तीनो को मेरे पास आते देखकर महामोह और परिग्रह भी अत्यन्त प्रसन्न हुए। आते ही कृपणता ने मेरा आलिंगन किया जिससे मेरे मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि सुख के साधन उपलब्ध कराने वाले अपने धन का अदृष्ट पारलौकिक सुख के लिए व्यय करना क्या व्यर्थ नही है? पर, यह अकलक मुनि तो मुझे नित्य ही द्रव्यस्तव (पूजा, यात्रा, महोत्सवादि) करने की प्रेरणा देता है और कहता है कि महाराज घनवाहन! यदि अभी तेरी भावस्तव (त्याग, समता, आत्मरमणतादि) करने की क्षमता नही है तो द्रव्यस्तव का आदर किया कर, आचरण किया कर।

---

* पृष्ठ ६६९

धीरे-धीरे भावस्तव की क्षमता भी आजायेगी। उनके कहने से मैंने विपुल धन व्यर्थ में ही खर्च कर दिया, अब मुझे क्या करना चाहिये ?

कृपणता के प्रभाव से मै उपर्युक्त चिंता मे पड़ा ही था कि तभी बहुलिका ने भी मेरा आलिगन किया जिससे मेरे मन मे कुबुद्धि उत्पन्न हुई। मैं सोचने लगा 'यदि मै किसी युक्ति से अकलंक मुनि का यहाँ से विहार करा सकूं तो मेरा यह व्यर्थ का खर्चा बच सकता है।' यह सोचकर मै अकलक मुनि के पास आया और विनय पूर्वक निवेदन किया—'भगवन् ! आपकी बडी कृपा है कि आप मेरे उपकार के लिए यहाँ पधारे। वह कार्य अब सम्पूर्ण हुआ और आपका मासकल्प (शेषकाल) भी समाप्त हुआ। महात्मा कोविदाचार्य को मन मे बुरा लगेगा कि विहार का समय हो जाने पर भी हमने आपको रोक कर रखा। आपके अधिक रुकने से हमे भी उपालम्भ मिलेगा, अतः अब आप यहाँ से विहार कीजिये। मैं आपके आदेशो का पूर्ण रूप से पालन करूंगा। आप इस सम्बन्ध में तनिक भी चिन्ता न करें, निश्चिन्त रहे।' मेरा कथन सुनकर मुनि अकलंक वहाँ से विहार कर अपने गुरु के पास चले गये।

परिग्रह पर पुनः आसक्ति

अकलक मुनि के जाते ही सागर (लोभ) के निर्देश से मैंने धर्म कार्यो में होने वाले धन-व्यय को बन्द कर दिया और पुनः परिग्रह मे आसक्त हो गया। [७३६]

मुझे फिर से अपने में आसक्त जानकर परिग्रह ने अपने मित्र से कहा—मित्रवत्सल सागर ! मै तो प्रत्यक्षतः क्षय हो रहा था, तुमने आकर मुझे बचा लिया। मित्र ! तुझ से भी अधिक अपने भाई पर वात्सल्य रखने वाली इस कृपणता बहिन ने इस समय मुझे जीवनदान दिया है। बहुलिका भी मेरी परम उपकारिणी है, इसी ने मेरे प्रगाढ महाशत्रु अकलक को यहाँ से निर्वासित करवाया है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुमने बहुत अच्छा किया कि समय पर पहुँच कर मेरी रक्षा की और महाराजा महामोह के प्रति अपनी सच्ची भक्ति को प्रदर्शित किया। [७३७-७४०]

इन तीनो की प्रशंसा सुनकर महामोह ने कहा—वत्स परिग्रह ! * तू पूर्णरूप से सत्य ही कह रहा है। हे वत्स ! यह सागर तो मेरा प्राण ही है। मैंने अपनी सारी शक्ति इसमें स्थापित कर दी है जो इसमे पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुकी है। मेरे सैन्यबल में यह मेरा सच्चा भक्त है, मेरा सच्चा पुत्र है, राज्य के योग्य है और तेरी रक्षा करने मे सक्षम है। [७४१-७४३]

महामोह द्वारा उत्तेजित सागर मुझे अधिकाधिक वशीभूत करने मे समर्थ हुआ और सदागम के सम्पर्क में बाधक बना। सागर के वशीभूत मेरी आशा-तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी और सदागम मुझ से दूर होता गया। अन्त मे मैंने सभी

सत्कार्यों का त्याग कर दिया और अकलंक मुनि के आने के पहले जैसा था वैसा ही हो गया। सभी प्रकार का द्रव्यस्तव शिथिल हो गया और मैं संसाररसिक बनकर महापरिग्रह में मूर्छित हो गया। [७४४-७४५]

कोविदाचार्य की शिक्षा

हे भद्रे ! कृपासागर अकलंक मुनि ने जब मेरा वृत्तान्त सुना तब उनके मन मे फिर से मुझे सुमार्ग पर लाने का विचार उठा। उन्होंने अपने गुरु कोविदाचार्य को प्रणाम कर फिर से मेरे पास आने की आज्ञा मांगी।

विचक्षण आचार्य ने मुनि के हृदय के सद्भाव को समझ कर कहा—वत्स अकलक ! तेरा यह प्रयत्न व्यर्थ होगा, अतः वहाँ जाने के कष्ट का त्याग कर। क्योंकि, जब तक महामोह और परिग्रह उसके समीप डेरा डाले पड़े हैं, तब तक हे मुनि ! उस घनवाहन पर कुछ भी असर नही होगा। वह कर्मशील नहीं बन सकेगा। ये दोनो मूल नायक हैं और सागर आदि अनेकों के आश्रय स्थान हैं। वे सभी एक के बाद एक उसके पास नियम पूर्वक आते रहेंगे। वह वर्तमान में उन दुष्टों के वश में हो रहा है, अतः अभी उसे कैसा उपदेश ? कैसा धर्म ? कैसे सदागम का मिलन सम्भव हो सकता है ? अभी उसे धर्मदेशना देना तो बहरे के आगे बीन बजाना, अन्धे के समक्ष नाचना और ऊसर भूमि मे बीज बोने के समान है। [७४६-७५२]

कदाचित् मान ले कि तेरे प्रयास से उसमे कुछ परिवर्तन हो भी जाय तो वह बहुत ही थोड़ा और अल्पकालीन होगा तथा तुझे अपने ज्ञान-ध्यान की विशिष्ट हानि होगी। तेरे द्वारा बार-बार जागृत करने पर भी जब तक वह महामोह और परिग्रह के पाश मे जकड़ा रहेगा तब तक वह महामोह की भावनिद्रा में ही पड़ा रहेगा, अतः हे आर्य ! अभी तेरा घनवाहन के निकट जाना व्यर्थ है। जिससे स्व-कार्य की हानि हो ऐसे कार्य मे विचक्षण लोग नही पड़ते। [७५३-७५५]

अकलंक—भगवन् ! आपका कथन सत्य है, पर बेचारे इस घनवाहन का इन अनर्थकारी दुष्टो से कब छुटकारा होगा ?

विद्या और निरीहता

कोविदाचार्य—तुम्हारे जैसे प्राणी चारित्रधर्मराज के सेनापति सम्यग्दर्शन को तो जानते ही हैं। इस सेनापति ने चारित्रधर्मराज के साथ मिल कर अपने वीर्य से एक विद्या नामक अति मनोहर मानस-कन्या निर्मित की है। यह अत्यन्त रूपवती, विशाल आंखो वाली, जगत को आह्लादित करने वाली, विश्व के भाव और अर्थ को जानने वाली और सर्व अवयवों से सुन्दर है।* ससारातीत लावण्यवती यह कन्या सतत उद्दाम लीला से विलास करती हुई, स्त्री सम्बन्ध से दूर रहने वाले मुनियो को भी अति प्रिय है। यह सभी सम्पदाओं की मूल, सब क्लेशों को नष्ट करने वाली और

* पृष्ठ ६७१

अक्षय आनन्द को प्राप्त कराने वाली कही गई है। जब घनवाहन इस कन्या से विवाह करेगा तब मोहराज के फन्दे से छूटेगा। यह कन्या अपनी शक्ति के कारण पापी महामोह की प्रबल विरोधिनी है। इस कारण ये दोनों कदापि एक साथ नही रह सकते। [७५३-७६३]

चारित्रधर्मराज की एक दूसरी निरीहता नामक निष्पाप सर्वांगसुन्दरा मनोहर कन्या है, जो विरति देवी की कुक्षि से उत्पन्न हुई है। उसके भाई उसे अत्यधिक सन्मान देते है और चारित्रधर्म के राज्य मे वह सर्व प्रिय है। यह सम्यक्दर्शन सेनापति का अत्यन्त अभीष्ट है, सद्बोध मन्त्री की अतिवल्लभ है और स्वामीभक्त तन्त्रपाल सतोष द्वारा पाली पोपी गई है। यह स्वभाव से ही अति श्रेष्ठ है। इसकी सभी इच्छायें पूर्ण हो गई है, अतः वह वस्त्र, आभूषण, माला आदि शरीर-शोभा की इच्छा नही करती। इसे स्वर्ण, रत्न या विविध प्रकार के भोगो से आकर्षित नही किया जा सकता। यह भाग्यशालिनी कन्या समग्र जगत् वन्द्य मुनियो की प्रिय है, दुःखों का नाश करने वाली है और चित्त को आनन्द देने वाली है। जब घन-वाहन इस लावण्यवती कन्या से विवाह करेगा तब वह पापी परिग्रह के फन्दे से छूटेगा। यह कन्या दुरात्मा परिग्रह की शत्रु है, अतः उसे देखते ही वह पापी अत्यन्त भयभीत होकर भाग जायेगा। [७६४-७७१]

अकलंक—भगवन्! महामोह और परिग्रह का निर्दलन करने वाली इन दोनों कन्याओ का लग्न घनवाहन से कब होगा?

कोविदाचार्य—बहुत समय पश्चात् घनवाहन को इन कन्याओं की प्राप्ति होगी और तभी इनका विवाह भी उसके साथ होगा।

अकलक—यदि आपकी आज्ञा हो तो इन दोनो कन्याओ को प्राप्त करवाने मे मै घनवाहन की सहायता करूं?

कोविदाचार्य—हे महाभाग! अभी इन कन्याओं को प्राप्त करवाने का तेरे जैसे व्यक्ति को अधिकार नही है। इन दोनों कन्याओ को प्रदान करने का मात्र कर्म-परिणाम महाराज को ही अधिकार प्राप्त है। जब वे इन्हे देने के लिये सहमत होगे तभी तेरे जैसे भी उसमे हेतु बन सकेंगे।* जब उन्हे लगेगा कि घनवाहन इन कन्याओ को प्राप्त करने योग्य हो गया है तभी वे सुखप्रदाता भाग्यशालिनी कन्याओ का लग्न उसके साथ करेगे। अतएव अनधिकार चेष्टा होने के कारण तू इसकी चिन्ता छोड़ दे। जो वस्तु तेरे हाथ मे नही है उसके लिये आग्रह मत कर और निराकुल होकर अपने स्वाध्याय ध्यान मे तल्लीन हो जा।

हे भद्रे! गुरुजी के वचन को स्वीकार कर अकलंक मुनि ने मेरे बारे मे चिन्ता करना छोड दिया और स्वय आतुरता-रहित होकर स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान मे तल्लीन हो गये। [७७२-७८०]

---

* पृष्ठ ६७२

१५. महामोह का प्रबल आक्रमण

अकलंक मुनि से उपेक्षित और महामोह एवं परिग्रह के आश्रित होने के कारण इन दोनों के पारिवारिक लोग एक-एक करके मेरे पास आ-आ कर मुझे पीड़ित करने लगे। उनके अधीनस्थ एक व्यक्ति के जाते ही दूसरा आ जाता और कुछ न कुछ कारण निकाल कर मेरे पास रहने लगता। [७८१-७८२]

हे अगृहीतसकेता ! महामोह के परिवार द्वारा मै जिस प्रकार पीड़ित किया गया, यदि उसका विस्तृत वर्णन करने बैठूं तो वह बहुत लम्बा हो जायगा और तुम भी मुझे वाचाल कहने लगोगी, इसलिये सक्षेप मे कहता हूँ, सुनो—

महामोह के प्रत्येक सेनानियों का घनवाहन पर प्रयोग

चित्तवृत्ति महाटवी में प्रमत्तता नदी के बीच स्थित तद्विलसित द्वीप के बारे मे तो तुम्हे याद ही होगा। पूर्ववर्णित इस द्वीप में चित्तविक्षेप मण्डप, तृष्णा वेदिका और उस पर विपर्यास सिंहासन पर बैठे महामोह राजा अपने अविद्या शरीर से शोभायमान थे, यह भी तुम्हे याद होगा। विमर्श और प्रकर्ष ने प्रस्ताव ४ में इनका वर्णन किया है। हे विशालाक्षि ! यह सब वर्णन तुम्हे अच्छी तरह याद होगा। [७८३-७८७]

अगृहीतसंकेता ने कहा कि उसे यह सब याद है, अब आगे सुनाओ।

संसारी जीव ने घनवाहन के भव की अपनी कथा को आगे बढ़ाते हुये कहा—

हे सुलोचने ! इस सम्बन्ध मे विमर्श ने प्रकर्ष को जो बतलाया था वह तुझे स्मरण में होगा कि उस वेदिका पर मिथ्यादर्शन आदि बहुत से महामोह के अधीन राजा, योद्धा, माण्डलिक, सामन्त आदि जो अपनी स्त्रियो, परिवार और कर्मचारियो के साथ बैठे थे उनमें से प्रत्येक योद्धा सपरिवार मुझे कदर्थित करने के लिये मेरे पास आ पहुँचा। इसका कारण यह था कि इन सब का नायक महामोह मेरे समीपवर्ती था। फलस्वरूप उनमे से शायद ही कोई बचा हो जिसने मुझे त्रास न दिया हो। [७८८-७९१]

सब से पहले महामूढता ने मुझे उस भव के वर्तमान भावों और परिस्थितियों मे इतना गृद्ध और मूर्छित कर दिया कि मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट हो गया।

मिथ्यादर्शन ने सदागम को मुझ से दूर हटाया और मेरी बुद्धि मे इतना भ्रम उत्पन्न कर दिया कि मैं असत्य को सत्य मानने लगा।

इसकी पत्नी कुदृष्टि ने मुझ से धर्म-बुद्धि से अनेक दारुण पाप करवाये और मुझे अधोगति में धकेला।

रागकेसरी ने निःसार और साधुजनो द्वारा निन्दित शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों के प्रति मेरे मन में प्रीति उत्पन्न की और मेरे मन को दुर्बल बनाया।

इसकी जगत्प्रसिद्ध पत्नी मूढता * के वश होकर मैं ससार की अनिष्टता को कभी न समझ पाया। [७९२–७९६]

महामोह के पुत्र द्वेषगजेन्द्र ने कारण, बिना कारण जहाँ-तहाँ मुझमे अप्रीति उत्पन्न की और मुझे सन्तप्त किया।

इसकी पत्नी अविवेकिता ने तो मुझे वशवर्ती वनाकर कार्य-अकार्य का विचार करने से ही रोक दिया।

रागकेसरी के मंत्री विषयाभिलाष ने मुझे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे अत्यन्त लोलुप बनाकर अपने वश में कर लिया।

इसकी पत्नी भोगतृष्णा ने मुझे प्राप्त विषयो में गाढ मूर्छान्ध बनाया और अप्राप्त भोगो के प्रति मेरे मन में आकाक्षा उत्पन्न कर विडम्बित किया।
[७९७–८००]

हे भद्रे! गाम्भीर्यता के प्रबल विरोधी हास्य ने मुझे बिना कारण ही बहुत बार हा-हा करके मुंह फाड-फाड कर हसाया और मेरे मुख की गम्भीरता को नष्ट किया।

हे भद्रे! रति के वश विवश होकर मैने मल, मूत्र, मास, चर्बी आदि दुर्गन्धित पदार्थो से भरी हुई स्त्रियो के साथ रमण किया।

हे भद्रे! भिन्न-भिन्न प्रसगों को लेकर अरति ने मेरे मन को अनेक प्रकार से उद्वेलित और सन्तप्त किया।

भय ने मेरे मन में आतक पैदा किया कि मैं मर जाऊंगा या कोई मुझे मार देगा या मेरा राज्य छीन लेगा।

प्रिय बन्धु की मृत्यु या धन के नष्ट होने आदि कारणो से शोक ने मुझे बार-बार विडम्बित किया।

जुगुप्सा ने मुझे तत्त्वमार्ग से हटाकर मिथ्याबुद्धि मे लगाया और मुझे विवेकी-जनो के मध्य हास्य का पात्र बनाया।

पूर्ववर्णित पितामह महामोहराज की गोद मे तूफान मचाने वाले रागकेसरी के आठ पुत्र और द्वेषगजेन्द्र के आठ पुत्र, इन सोलह कषाय बच्चो ने तो मुझे इतना उद्विग्न किया कि उसका वर्णन करना भी कठिन है। [८०१–८०८]

* पृष्ठ ६७३

फिर, ज्ञानसंवरण ने मुझे अन्तरग ज्ञान-प्रकाश से रहित कर दिया, मेरे विचार वुद्धि और तर्क पर पर्दे डालकर मेरी मति को घेर लिया।

फिर दर्शनावरण ने मुझ से घुर्र-घुर्र करवाया, मुझे निद्राधीन कर दिया। मुझे काष्ठ जैसा मूढ और चेष्टा रहित वनाकर किसी भी प्रकार के दर्शन से विमुख किया।

हे सुन्दरागि ! वेदनीय ने मुझे कभी अत्यन्त आह्लादित और कभी संताप-विह्वल किया।

हे सुलोचने ! आयुष्य नृपति ने मुझे वहुत लम्वे समय तक घनवाहन के रूप मे कायम रखा।

नाम नामक राजा ने अपनी शक्ति प्रदर्शित कर मेरे शरीर मे अनेक चित्र-विचित्र रूप बनाये।

हे सुमुखि ! गोत्र ने अपने प्रभाव से मुझे कभी उच्च वर्णीय और कभी नीच वर्णीय प्रसिद्ध किया। *

अन्तराय ने मुझे लाभ, दान, भोग, उपभोग में अपनी शक्ति को प्रकट करने से रोका। [८०६-८१४]

हे विशालाक्षि ! पापात्मा दुष्टाभिसन्धि ने मुझे आर्त्त और रौद्र ध्यान में फसाकर मुझसे अनेक पाप करवाये।

इनके अतिरिक्त भी महामोह की सेना मे जितने भी महारथी महायोद्धा थे उन सबने वारी-वारी से तत्काल ही मेरे पास आकर अपनी-अपनी शक्ति से मुझे प्रभावित किया।

मुनि अकलक की उपेक्षा के कारण मैं अनाथ जैसा हो गया था, अत: मेरे इन भाव-शत्रुओ ने निर्भय होकर मुझे अनेक प्रकार से कर्दयित एव पीड़ित किया। [८१५-८१७]

एक वार मुझे त्रस्त करने के लिये मकरध्वज (कामदेव) महामोह नरेन्द्र के पास आया। वह अपने साथ अपनी पत्नी रति, विपयाभिलाष मत्री और उसके पाच कुटुम्वियों (वच्चे, पाच इन्द्रियो) को साथ लेकर आया। हे मृगलोचनि ! अपने कार्य को सिद्ध करने के लिये वह कवच-सन्नद्ध होकर हाथ मे तीर कमान लेकर आया। कामदेव को देखकर मोहराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। स्वयं कामदेव भी अपने स्वरूप को देखकर प्रमुदित हुआ। मकरध्वज के सम्मिलन से तो मोहराज मदमस्त गन्ध हस्ति की तरह अत्यन्त वाधक वनकर मुझे अनेक प्रकार की पीड़ा देने को उद्यत हो गया। [८१८-८२२]

* पृष्ठ ६७४

कामदेव के पुष्पबाण से आहत होते ही मैं शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध में अन्धे व्यक्ति के समान लुब्ध हो गया। मैं इन पाँचो भोगो मे इतना डूब गया कि मेरी सद्‌बुद्धि कब नष्ट हो गई, मुझे पता ही नही चला। कीचड़ भरे गड्ढे मे पडे सूअर के समान मैं विषयो के अपवित्र कीचड मे रात-दिन निर्लज्ज होकर निमग्न रहने लगा। अनेक प्रकार के भोगो को बहुत समय तक अनेक बार भोगने पर भी मुझे तृप्ति नही हुई। घी पिलाने से कभी दुबला बन्दर मोटा हुआ है? जितने अधिक भोग मैं भोगता उतनी ही अधिक मेरी भोग-तृष्णा बढती रहती। यह सत्य ही है कि वडवानल अग्नि मे पानी डालने से वह और भभकती है। चन्द्र-किरण के समान निर्मल अकलक के उपदेश, महामोह रूपी बादलो से आवृत हो जाने से मैं उन सब शिक्षाओ को पूर्णरूपेण भूल गया।

तब मुझे इस प्रकार भाव-शत्रुओ से घिरा हुआ देखकर सदागम ने समझ लिया कि अभी उसका अवसर नही है, अतः वह भी मेरे से दूर चला गया।
[८२३–८२८]

ऐसे विचित्र सयोगो मे भी मेरी सभी इच्छाये पूर्ण होती थी, यह मेरे अन्त-रग मित्र पुण्योदय की ही कृपा थी, पर उस समय मै मूढ इस बात को नही समझ पाया।

कामदेव के वशीभूत होकर सब राज्य-कार्यो को छोडकर मै रात-दिन अपने अन्त.पुर-स्थित स्त्रियो के साथ भोग-विलास करते हुए रहने लगा। नगर मे कोई सुन्दर स्त्री दिखाई देती या उसके सम्बन्ध मे किसी से सुनता तो उस स्त्री को चाहे वह कुलवान हो या कुलहीन, पकड़वा कर अपने महल मे मगवा लेता और बलात्कार पूर्वक उसे अपनी पत्नी बना लेता। न तो मै पाप का ही विचार करता, न कुल-कलंक की ही चिन्ता करता,* न अपने राज्यधर्म के विषय मे ही सोचता और न मंत्रियों द्वारा रोके जाने पर ही रुकता। [८२६–८३३]

राज्यभ्रष्ट घनवाहन

मेरे इस अधम आचरण से मेरी प्रजा, सामन्त, सगे-सम्बन्धी सभी मेरे से विरक्त हो गये, उद्विग्न एव रुष्ट हो गये। मेरी सेना भी मेरी निन्दा करने लगी। सभी जगह गुणो की पूजा होती है, पूजा मे सम्बन्ध कारणभूत नही होते। लोगो द्वारा हो रही मेरी निन्दा/गर्हा को जानते हुए भी मै महामोह के वशीभूत होकर निन्दनीय कार्यो मे आकण्ठ डूबा ही रहा। मुझ पापिष्ठ ने नीच कुलोत्पन्न, मनुष्यो के लिए अगम्य/अयोग्य स्त्रियो को भी अपने अन्त.पुर मे रख लिया। [८३४–८३७]

मेरे नीरदवाहन नामक एक छोटा भाई था जो लज्जालु, विनयवान, सुस्व-भावी, लोकप्रसिद्ध, पुरुषार्थी एवं महाउद्योगी था। मेरे अत्यन्त अधम व्यवहार से उद्विग्न प्रजाजन, सामन्त, मंत्री एवं सेनापति ने एक दिन एकत्रित होकर विचार

* पृष्ठ ६५७

किया और सब ने एकमत होकर नीरदवाहन से एकान्त में कहा--कुमार ! अब घनवाहन अगम्य स्त्रियों मे आसक्त, मर्यादाहीन, बुद्धिहीन, नष्टधर्म पशुतुल्य एवं कुलकलंकी हो गया है। अब यह श्वान-तुल्य नराधम इस राज्य सिंहासन के योग्य नहीं रह गया है। यह तो राज्य को खो चुका है और वंश को भी इसने लज्जित कर दिया है। अब इसका विनाश निकट ही है, अतः अब राज्य के प्रति उपेक्षा करना आपको और हमें शोभा नहीं देता। विरोधी राज्यों को हमारे राजा की इस अधोगति का पता लगे, उसके पहले ही राज्य की बागडोर आपको संभाल लेनी चाहिये। अन्यथा न आपके भाई रहेंगे, न राज्य रहेगा, न संपत्ति रहेगी, न हम रहेंगे, न मर्यादा रहेगी और न यह नगर ही बच पायेगा।

मेरे भाई नीरदवाहन ने उनकी युक्तियुक्त बात को सुना और उनकी अभिलाषा एवं चेष्टायें देख कर वह उस पर विचार करने लगा। [८३८-८४५]

हे भद्रे ! इधर मेरे अतिअधम व्यवहार से निर्बल पड़ा हुआ मेरा अन्तरंग मित्र पुण्योदय भी अत्यधिक उद्विग्न हुआ और अन्त में मेरी अत्यन्त नीचता पूर्ण वृत्ति से घबराकर मुझे छोड़कर चला गया। मेरे पापों की अधिकता से मेरे भावशत्रु बढ़ते गये, परिणामस्वरूप मेरे कर्म की स्थिति अधिक लम्बी हो गई। इन सब आन्तरिक और बाह्य कारणों से मन्त्री, सामन्त और प्रजाजनों की बात को युक्तियुक्त समझ कर विचारपूर्वक नीरदवाहन ने राजा बनना स्वीकार कर लिया। नीरदवाहन की सम्मति प्राप्त होते ही उसी समय सैनिकों ने शराब के नशे में चूर मुझ को आकर बांध लिया। मैंने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, पर मेरे कर्मचारियों या मेरे भाई-बन्धुओं आदि किसी ने मेरी कोई सहायता नहीं की। हे सुभ्रु ! उस समय नरक के परमाधामियों की तरह मेरे मन्त्रियों और सेनापति आदि ने मिलकर मुझे नरक तुल्य महाभयकर कैदखाने में डाल दिया। [८४६-८५१] *

सब ने मिलकर मेरे छोटे भाई नीरदवाहन का राज्याभिषेक बड़े हर्षोल्लास से किया। सब लोग हर्षित होकर नाचने लगे और हृदय से संतुष्ट हुए। कुस्वामी के नाश और सुस्वामी के गुणों से प्रसन्न सैनिकों और प्रजा ने खूब खुशियाँ मनाई। प्रसन्नता की उर्मियों को प्रकट करने के लिए उस समय प्रजा और सैनिकों ने क्या-क्या उत्सव नहीं मनाए ? [८५२-८५३] *

मल, मूत्र, कचरे आदि अतितुच्छ पदार्थों की दुर्गन्ध से भरा हुआ वह कैदखाना जिसमें मुझे रखा गया था बहुत संकड़ा और फिसलन भरा माता के गर्भ जैसा था। भूख-प्यास से व्याकुल और लोहे की जंजीरों से जकड़े हुए मुझ को छोटे बच्चे भी मेरे पहले के दुर्व्यवहार को याद कर मारते और तिरस्कार करते थे। यातनास्थानों में भी मेरे सम्बन्धीजन आकर मेरा तिरस्कार करते। नरक में जैसे नारकी जीवों को शारीरिक सन्ताप दिया जाता है वैसे ही अनेकविध शारीरिक सन्ताप मुझे

* पृष्ठ ६७६

उस कैदखाने मे प्राप्त हुए। महामोह के वशीभूत एव राज्यभ्रष्ट होने से मुझे कितना मानसिक एव शारीरिक सन्ताप हो रहा था इसका तो वर्णन ही नही हो सकता। मेरे इस विपुल राज्यवैभव और समृद्धि को अन्य लोग भोग रहे है, इस शोक से मै पीड़ित था। सुख में पले पोसे मेरे इस शरीर की ऐसी दुर्दशा हो, मेरे ही सेवक मेरा तिरस्कार/अपमान करे, इस प्रकार पीडित करे यह कितनी मानसिक-सन्ताप की वात थी। मेरे स्वर्ण भण्डार और रत्नो को जिन पर मेरा स्वामित्व था उसे दूसरे लोग चुरा रहे है। हाय मैं मारा गया! यो मै घन-मूर्छा से व्यथित हुआ। [८५४-८६०]

हे भद्रे! दुःखपूरित नरक जेसे कारावास मे मैं अपने पापकर्मो से बहुत समय तक रहा। हे चारुलोचने! मैंने इतनी शारीरिक और मानसिक पीडाये महामोह और उसके परिवार के दोप के कारण ही सहन की थी, फिर भी ससार पर से मेरी आसक्ति कम नही हुई। वहुत समय तक कैदखाने में बैठा-बैठा भी मैं अन्य लोगों पर क्रोध करता रहा, आर्त-रौद्र ध्यान करता रहा और बदला लेने का विचार करता रहा। [८६१-८६३]

अन्त में मुझे दी हुई उस भव की गोली जीर्ण हुई और मेरी स्त्री भवितव्यता ने मुझे नई गुटिका प्रदान की तथा उसी के प्रभाव से पापिष्ठनिवास के सातवें मोहल्ले (सातवी नरक) मे मैं पापिष्ठ (नारकी) के रूप मे उत्पन्न हुआ। [८६४-८६५]

----

१६. अनन्त भव-भ्रमण

पापिष्ठनिवास नगरी के अप्रतिष्ठान नामक स्थान पर मै ३३ सागरोपम काल तक अनेक प्रकार के वज्र के काटो से छिन्न-भिन्न होते हुए गेंद की तरह से उछलता रहा। फिर अन्य गोली देकर भवितव्यता मुझे पचाक्षपशुसस्थान मे ले गयी और वहाँ मच्छ के रूप मे उत्पन्न किया। वहाँ से मेरी गोली (आयु) समाप्त होने पर दूसरी गोली देकर भवितव्यता मुझे फिर पापिष्ठनिवास के अप्रतिष्ठान स्थान मे ले गई और वहाँ से वापस पंचाक्षपशुसस्थान में सिंह के रूप मे उत्पन्न किया। [८६६-८६८]

यहाँ से गोली समाप्त होने पर अन्य-अन्य गोलियाँ देकर पापिष्ठनिवास के चौथे मोहल्ले मे और फिर पचाक्षपशुसंस्थान मे बिलाव के रूप मे उत्पन्न किया। इस प्रकार मेरी पत्नी भवितव्यता ने विविध प्रकार के नये-नये रूप धारण करवाये

और प्रत्येक प्रसंग पर दु.ख समुद्र के विस्तार का प्रतिक्षण साक्षात्कार करवाया ।* असंव्यवहार नगर के अतिरिक्त प्रत्येक नगर में भवितव्यता मुझे बार-बार ले गई और ससार के समस्त स्थानों पर मुझे भ्रमण करवाया । हे सुन्दरि ! महामोह के परिवार से घिरा हुआ और अपनी पत्नी भवितव्यता की आज्ञा का पालन करते हुए मैंने कौन-कौन सा नाटक नहीं खेला । हे भद्रे ! मेरी पत्नी ने परिग्रह की आड़ मे प्रत्येक योनि में मुझे अनेक प्रकार से विडम्बित किया । उसने मुझे गृह-कोकिलिका (गोह) सर्प और चूहे के रूप धारण करवाये, जिसमें मै धन के भण्डार को प्राप्त कर प्रसन्न होता था और उसकी रक्षा करता था तथा किसी के द्वारा उसका हरण कर लेने पर विह्वल होकर मृत्यु प्राप्त करता था । [८६९–८७४]

भवितव्यता प्रसन्न

जैसे घर्षण-घूर्णन न्याय से नदी में घिसते-घिसते पत्थर भी गोल हो जाता है उसी प्रकार अनन्त काल तक घिसते-घिसते जब मै कुछ ठीक हुआ तब गजगामिनी भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई । अनन्त काल तक मेरे साथ भटक-भटक कर महामोह आदि भी थक जाने से अब कुछ निर्बल हो गये थे । हे सुमुखि ! मेरे पाप भी कम हुए थे, मेरी कर्मस्थिति भी कम हुई थी और मेरी कर्मग्रन्थी भी कुछ निकट आ गई थी । अत: अब भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली देकर मानवावास मे उत्पन्न किया ।

मनुजगति के भरत क्षेत्र मे साकेतपुर नगर मे नन्द नामक व्यापारी अपनी पत्नी धनसुन्दरी के साथ रहता था । भवितव्यता की गोली के प्रभाव से में धन-सुन्दरी की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ । मेरा नाम अमृतोदर रखा गया । क्रमश: बढ़ते हुए काम-मन्दिर के समान मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ । एक बार वहाँ जगल मे घूमते हुए मैंने सुदर्शन नामक साधु को देखा । उन्होंने भी कृपा कर मुझे उपदेश दिया । हे भद्रे ! उन्ही के समीप मैंने इन महात्मा सदागम को फिर देखा । मुनि के उपदेश से मेरे मन मे कुछ भद्र परिणाम उत्पन्न हुए और मैंने द्रव्यत:/वाह्यत: श्रावकपन ग्रहण किया और नमस्कार मन्त्र आदि का उच्चारण/पाठ करने लगा । [८७५–८८४]

मेरी एकभवभेदी गोली के समाप्त होने पर भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली दी जिसके प्रभाव से मैं भवचक्र मे स्थित विबुधालय में भुवनपति देव के रूप मे उत्पन्न हुआ । विबुधालय में भुवनपति, व्यतर, ज्योतिप और कल्पवासी पाटकों में देव सज्ञक कुलपुत्र देव रहते हैं । पहले तीन के क्रमश: दस, आठ और पाँच भेद हैं । कल्पवासी के कल्पस्थ और कल्पातीत दो भेद हैं । कल्पस्थ देवो के १२ और कल्पातीत के ९ एव पांच आवास है । हे भद्रे ! उपर्युक्त चार प्रकार के देवो में से प्रथम प्रकार के देवो मे मेरा जन्म होने से मैं विबुध (देव) जाति का कुलपुत्र हुआ । हे

* पृष्ठ ६७३

पद्माक्षि ! यहाँ आकर मैं फिर सदागम को भूल गया। वह भी अपने अवसर की प्रतीक्षा करते हुए मुझे छोड़ कर मेरे से दूर चला गया। * मैं यहाँ डेढ पल्योपम तक महान ऋद्धि सम्पन्न देव के रूप मे यथेष्ट सुख भोगता रहा और आनन्द मे डूब कर लीलापूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगा। [८८५-८९०]

मेरा काल समाप्त होने पर सन्तुष्ट चित्त होकर मेरी पत्नी भवितव्यता ने फिर मुझे दूसरी गोली दी जिससे मै मानवावास के बन्धुदत्त व्यापारी की पत्नी प्रियदर्शना की कुक्षि से बन्धु नामक पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। क्रमश. बढ़ते हुए मैं तरुण हो गया। तब एक बार मैं सुन्दर नामक मुनि के सम्पर्क मे आया। उनके समीप भी मैने इन सदागम महात्मा को देखा। मुनीश्वर ने मुझे सदागम के विषय मे कुछ बताया और शिक्षा देकर मेरी आँखें खोलने का प्रयत्न किया। हे भद्रे ! इनके प्रभाव से मै भावरहित जैन श्रमण (द्रव्य साधु) बन गया। [८९१-८९४]

द्रव्य श्रमणत्व के प्रभाव से मै फिर विबुधालय मे व्यंतर रूप मे उत्पन्न हुआ। यहाँ की महर्द्धि और सुख मे मै फिर सदागम को भूल गया। इसके पश्चात् मै फिर मानवावास में लाया गया जहाँ फिर मेरी भेंट सदागम से हुई। हे भद्रे ! इस प्रकार मेरी भार्या भवितव्यता के निर्देश से अनन्त भवचक्र मे भटकते हुए मैंने अनन्त बार सदागम से भेंट की और बार-बार इन्हे भूलता गया। इन महात्मा को भूल जाने से मै अधिकाधिक भवचक्र में भटकता रहा और यदा कदा सदागम के सम्पर्क मे आता रहा। इसके फलस्वरूप हे सुलोचने ! मै अनन्त बार द्रव्य श्रावक बना, अनन्त बार द्रव्य साधु बना और मुझे इन महात्मा सदागम से मिलने का सौभाग्य भी मिलता रहा। जब-जब मै महात्मा सदागम को भूलता तब-तब मुझे मेरी पत्नी भवितव्यता अनेक स्थानो पर ले जाती और भिन्न-भिन्न रूप से त्रसित करती। कई बार तो मै इन महात्मा को भूलकर कुतीर्थिक यति (संन्यासी) आदि भी बना। उस समय मैने इन सदागम महात्मा को झूठा और प्रपंची तक बतलाया। इस प्रकार की परिस्थितियां इस अन्तरहित भवचक्र मे अनन्त बार उत्पन्न हुई। इस भवचक्र में भटकते हुए कई बार मेरी कर्मस्थिति लम्बी हुई और कई बार छोटी हुई। कई बार मोहराज आदि शत्रु बलवान होते और कई बार महात्मा सदागम के प्रभाव से भावशत्रु अंकुश मे आते और निर्बल बनते। इस प्रकार बार-बार सदागम महात्मा से भेंट होते रहने से मेरा इनसे अधिकाधिक सम्पर्क/परिचय बढता गया। इस गाढ सम्पर्क से क्या हुआ ? यह भी तू सुनकर समझ ले। [८९५-९०५]

महात्मा सदागम के अधिक परिचय से मेरी चितवृत्ति अटवी कुछ निर्मल हुई। योग्य अवसर जान कर सेनापति सम्यग्दर्शन मेरे पास आने के लिये उद्यत हुआ। उसने सद्बोध मन्त्री से कहा—आर्य ! आपने पहले मुझे योग्य अवसर की प्रतीक्षा करने के लिये कहा था। मुझे लगता है कि ससारी जीव के पास मेरे जाने

* पृष्ठ ६७८

का अब उचित समय आ गया है। अतः हे नरोत्तम ! आप महाराजा से पूछे, यदि उनकी आज्ञा हो तो अब मैं ससारी जीव के पास जाऊँ। [६०६-६०८] *

सद्बोध—भाई ! तूने बहुत ठीक कहा। तुमने योग्य अवसर को बरावर ढूढा है। पश्चात् सद्बोध मंत्री ने फिर चारित्र धर्म महाराज से पूछा। महाराज ने मन्त्री के कथन को स्वीकार किया और सेनापति सम्यग्दर्शन को मेरे पास भेजने की आज्ञा प्रदान की। [६०६–६१०]

मेरे पास आने से पहले सम्यग्दर्शन ने मन्त्री से पूछा—हे देव ! यदि आपकी आज्ञा हो तो इस पापरहित निर्दोष पुत्री विद्या को भी अपने साथ ले जाकर उसे भेट स्वरूप प्रदान करू। इससे ससारी जीव को भी सतोष होगा।

सद्बोध—सेनापति ! अभी विद्या को ले जाने का समय नही आया है। क्यो ? इसका कारण भी सुनो। यह ससारी जीव अभी बहुत कच्चा है। अभी वह तुझे अच्छी तरह पहचान नही सकेगा अभी तो वह तुझे सामान्य रूप से ही स्वीकार करेगा। जब तक वह तेरे तात्त्विक स्वरूप को न समझे और समझ कर उसे भलीभाति धारण न करे तब तक विद्या कन्या उसे नही दी जा सकती। अभी हम उसके कुल और शील को नही जानते। अभी हमारा उससे गाढ परिचय भी नही है। यदि वह विद्या का पराभव/तिरस्कार करे, उसके साथ अच्छे सम्बन्ध न रखे तो मेरे जैसे को बहुत दुःख होगा। अत अभी विद्या को बिना लिये ही तुम उसके पास जाओ। योग्य समय पर वह तेरा स्वरूप अच्छी तरह से समझेगा। जब तेरा वास्तविक स्वरूप उसके ध्यान मे आ जायगा तब मैं विद्या को लेकर वहाँ आऊगा। अभी ससारी जीव को सदागम का आश्रय प्राप्त हुआ है और उसके मोहादि भावशत्रु निर्वल हुए है तथा उसके सुख के स्वाद को चखा है। यह महाराज चारित्रधर्मराज के प्रति उन्मुख भाव वाला हुआ है और उसके मानस मे महाराज के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई है। अभी तुम विद्या कन्या के बिना जाओगे तब भी बहुत लाभ प्राप्त होगा, अत. अभी तुम अकेले ही जाओ। [६११–६१६]

सम्यग्दर्शन—जैसी महाराज की आज्ञा और आपका परामर्श।

इस प्रकार महाराजा के आदेश से और मन्त्री के परामर्श से सेनापति अकेला ही मेरे पास आने के लिए निकल पडा। समय पर विद्या को अपने साथ लेकर आने के लिए उसने मन्त्री को सकेत कर दिया। [६२०]

---

* पृष्ठ ६७६

१७. प्रगति के मार्ग पर

हे भद्रे ! मानवावास के जनमदिर नगर में आनन्द गृहस्थ अपनी पत्नी नन्दिनी के साथ रहता था। भवितव्यता द्वारा दी गई गोली के प्रभाव से मैंने नन्दिनी की कुक्षि मे प्रवेश किया और उसके पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। वहाँ मेरा नाम विरोचन रखा गया। क्रमश. बढते हुए मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ।

धर्मघोष मुनीन्द्र की धर्मदेशना

एक समय मै नगर के बाहर चितनन्दन उद्यान मे घूमने गया। वहाँ मैंने धर्मघोष आचार्य को देखा। इस समय मेरी कर्मस्थिति सक्षिप्त हो गई थी और महामोहादि भावशत्रु निर्बल हो गये थे। अत: मैने महाभाग्यवान आचार्य के चरण छूए और निर्जीव स्वच्छ भूमि देखकर बैठ गया। आचार्य के दर्शन से मेरे मन मे भद्र भाव उत्पन्न हुए और मै धर्म-सन्मुख हुआ। मेरे हृदय के भावो को ज्ञान से जान कर आचार्यश्री ने कानों को पवित्र करने वाले अमृत के समान आनन्ददायक मधुर शब्दों से उपदेश देना प्रारम्भ किया :—

ससार मे मनुष्य जन्म प्राप्त करना अति कठिन है, उसमे भी जैन धर्म की प्राप्ति तो और भी कठिन है।* जिस बुद्धिमान पुरुष को इनकी प्राप्ति हो, उसे तो इनके द्वारा परमपद की प्राप्ति करनी ही चाहिये। ऐसा न करने से क्या होगा ? यह भी सुनलो। इस भयंकर ससार रूपी अन्तरहित मार्ग पर उसे यात्रा के लिये आवश्यक सामग्री एव पाथेय साथ में लिये बिना ही चलने से मार्ग मे अतुलनीय दु.ख परम्परा का भाजन बनना पडेगा। साथ ही प्राणी को यह भी समझना चाहिये कि कुशल कर्म ही ससार-समुद्र को पार करने के मुख्य साधन है, अत: उसे कर्मयोगी की तरह अच्छे कार्य ही करने चाहिये। ऐसे अमूल्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ नही खोना चाहिये। [६२१-६२८]

सन्मार्ग-दर्शन

उस समय धर्मघोष आचार्य के पास महात्मा सदागम भी पुन: दृष्टिगोचर हुए। मुनीन्द्र के वचनो को अगीकार करने की आकाक्षा जागृत हुई और मैंने आचार्यश्री से पूछा—भगवन् ! मुझे क्या करना चाहिये, यह बताने की कृपा करें।

आचार्य—भद्र ! सुनो, तुम्हे इस ससार नाटक का पूर्णरूपेण अनादर करना चाहिये। जिनके रागद्वेष और मोह नष्ट हो गये है और जो अनन्त ज्ञान, दर्शन,

* पृष्ठ ६८०

वीर्य, और आनन्द से परिपूर्ण है ऐसे परमात्मा की आराधना करनी चाहिये। उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाले साधु भगवन्तो की भक्ति करनी चाहिये और जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष रूपी नौ तत्त्वो को सच्चे तत्त्वो के रूप मे स्वीकार करना चाहिये। समस्त प्रकार से तीर्थंकर महाराज के वचनरूपी अमृत का पान करना चाहिये। उनके साथ एकात्मकता धारण करनी चाहिये अथवा उपकारी-उपकारक भाव को समझना चाहिये। आत्महितकारी अनुष्ठान करना चाहिये। पुण्यानुबन्धी पुण्य का संचय करना चाहिये। अन्त करण को निष्कलंक रखना चाहिये। कुविकल्परूपी वचन-जाल का त्याग करना चाहिये। भगवान् के वचन के सार को ढूंढ निकालना चाहिये। राग-द्वेष आदि दोषों को पहचानना चाहिये। सद्‌गुरु के उपदेशरूपी औषधि को ग्रहण करना चाहिये। निरन्तर मन को सदाचरण मे लगाना चाहिये। दुर्जनो द्वारा प्रणीत कुधर्म के वचनो का तिरस्कार करना चाहिये। महापुरुषो के मध्य में अपने को स्थापित करना चाहिये और निष्प्रकपित स्थिर चित्त से रहना चाहिये।

सम्यक्‌दर्शन का आगमन

धर्मघोष आचार्य का उपर्युक्त मधुर व्याख्यान चल ही रहा था कि सेनापति सम्यग्‌दर्शन वहाँ आ पहुँचा। अति कठिनता से भेदी जाने योग्य कर्मग्रन्थि को भेद कर मैंने उसे देखा। उसे देखते ही मुझे आचार्य के उपदेश के प्रति रुचि हुई और उनके कथन पर श्रद्धा पैदा हुई, जिससे मुझे लगा कि सेनापति मेरा वास्तविक हितकारी बन्धु है। मैंने आचार्यश्री से कहा – नाथ! आपकी आज्ञानुसार कर्त्तव्य करने के लिये मैं तत्पर हूँ। फिर आचार्य को वन्दन कर मै अपने घर गया।

अब मै सम्यग्‌दर्शन युक्त हुआ और मुझे तत्त्व पर श्रद्धा हुई, जिससे मेरी आत्मा पवित्र हो गई। किन्तु, अभी मेरी यह श्रद्धा विशिष्ट ज्ञान से रहित थी। हे सुमुखि! 'जिनेन्द्र भगवान् ने जो कुछ कहा है वही नि.शंक सत्य है' इस प्रकार की श्रद्धा से मैं उस समय प्रसन्न था। सदागम ने अपना विज्ञान मुझे थोड़ा-थोड़ा बतलाया था वही मैं जानता था, किन्तु वस्तु के सूक्ष्म भाव एव गहन भावार्थ को अभी मैं नही समझता था। मेरे गुरु बहुत ही योग्य और उपदेश-कुशल थे, फिर भी वे मुझे सूक्ष्म ज्ञान नही दे सके; क्योकि विशेष ज्ञान के लिये आवश्यक योग्यता अभी मुझे प्राप्त नही हुई थी। हे सुन्दरागि! श्रद्धा और * ज्ञान का वास्तविक कारण तो अपनी योग्यता ही है, गुरु तो सहकारी कारण निमित्त मात्र हैं। उदाहरण के तौर पर देख—घनवाहन के भव मे अकलक मुनि एवं कोविदाचार्य ने मुझे उपदेश देने का बहुत प्रयत्न किया था, पर मुझ पर कुछ भी असर नही हुआ था, मुझे श्रद्धा भी नही हुई थी। हे सुमुखि! उसके पश्चात् भी मेरा अनन्त बार सदागम से सम्पर्क हुआ पर मैं श्रद्धाशून्य होने से उसकी बात को सत्य ही नही मानता था। प्राणी मे

* पृष्ठ ६८१

जब जितनी योग्यता होती है तब उतने ही गुण उसे प्राप्त होते हैं। योग्यता बिना गुण-प्राप्ति या उसकी वृद्धि नही हो सकती। अतः आचार्य के उपदेश से मुझे मात्र सूक्ष्म ज्ञानरहित सच्ची श्रद्धा हुई, क्योंकि उस समय मुझ में इतनी ही योग्यता/पात्रता थी। [६२६-६३७]

गृहिधर्म का आगमन

कर्मग्रन्थी का भेद करते हुए मैंने कर्मस्थिति को क्षीण किया था। उस समय उसमे से भी दो से नौ पल्योपम की स्थिति को मैने और कम कर दिया, जिससे चारित्रधर्मराज का पुत्र गृहिधर्म मेरे पास आया। मैंने उसे सामान्य तौर से पहचाना, विस्तृत परिचय नही कर सका। मैने कतिचिद् सामान्य व्रत नियम भी ग्रहण किये और तदनुसार उनका पालन भी किया। मैंने जितना पालन किया वह श्रद्धा से विशुद्ध बुद्धिपूर्वक किया, परिणामस्वरूप भवितव्यता मुझे दूसरी गोली देकर कल्पवासी विबुधालय मे ले आई। [६३८-६४०]

सौधर्म देवलोक : पूर्वभव-स्मरण

सौधर्म के नाम से प्रसिद्ध प्रथम देवलोक मे देदीप्यमान देवता का रूप धारण करते हुए मै क्षणभर में सुख-शय्या से जागृत हुआ। देवता का जन्म किस प्रकार होता है और उस समय उसका शरीर कैसा होता है यह सुनने योग्य है, अतः सुन—

एक दिव्य पलग पर सुन्दर अति कोमल स्पर्श वाला बिछौना था। उस पर बहुत ही मुलायम चित्तानन्ददायक आच्छादन (चादर) बिछा था। आस-पास अति सुगन्धित फूलों और धूप की सुगन्ध फैल रही थी। आँखों को प्रिय लगने वाला दिव्य वस्त्र का अति सुन्दर चन्दोवा पलंग के ऊपर बधा हुआ था।

वहाँ मेरे सन्मुख दोनो हाथ पसार कर खडे हुए देवताओ के आनन्द स्वर से मुझे अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उस समय मेरे शरीर पर मुकुट, कडे, बाजूबन्द, हार और कुण्डल आदि आभूषण सुशोभित हो रहे थे। शरीर पर सुगन्धित लेप, मुख मे पान और कण्ठ मे सदैव ताजा रहने वाला पुष्पहार था। ऐसे सुन्दर सयोगो मे मैं शय्या से उठकर बैठा हुआ। उस समय चारो दिशाये प्रकाशमान हो रही थी।

उस समय शय्या के पास ही देवागनाए खडी थी, जिनके सुन्दर नेत्र निर्निमेष होते हुए भी अति चपल थे, जो अत्यन्त सुन्दर थी और प्रेम भरी आँखो से 'जय जय नन्दा, जय जय भद्दा' बोल रही थी। वे कह रही थी 'हे नन्द ! हे भद्र ! आपकी जय हो। आप देव है। आप हमारे स्वामी है। हम आपकी दासिया है।' इस प्रकार अद्भुत रूप सौन्दर्य वाली वे देविया मधुर एव कर्णप्रिय शब्दो से बोल रही थी। [६४१-६४७]

मेरे आस-पास ऐसी अद्‌भुत समृद्धि को देखकर मेरी आँखे विस्मय से प्रफुल्लित हो गई और मै सोचने लगा कि कौन से सत्कार्य के फलस्वरूप मुझे यह ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हुई है। हे विमललोचने! उस समय मुझे ज्ञान हुआ कि विरोचन के भव मे मैंने रुचि और समझ पूर्वक जो गृहस्थ-धर्म का पालन किया था उसी का यह फल मुझे मिला है। मैं सोच ही रहा था कि सेनापति सम्यग्दर्शन और सदागम मेरे पास आ पहुँचे। तब मुझे ध्यान आया कि यह सब इन पुण्यपुरुष महात्माओं का प्रताप है। उसी समय मैंने दोनो को अपने बन्धु के समान स्वीकार कर लिया। इस निश्चय के साथ ही मैं शय्या से उठा और देवताओ के योग्य अपने कर्त्तव्यो को पूरा करने मे लग गया। [९४८-९५१] *

देव कर्त्तव्य का पालन

देवभूमि मे रत्नकिरणो की प्रतिच्छाया से रक्तिम दिखाई देने वाले जल से पूर्ण और प्रफुल्लित कमलो से शोभायमान सरोवर मे हृष्ट-पुष्ट नितम्ब और पयोधरो वाली रूपवती देवाँगनाओं के साथ मैंने जलक्रीडा की। फिर मैं लीलापूर्वक जिन मन्दिर मे गया। यह जिन मन्दिर अति भव्य और शुद्ध स्वर्ण से निर्मित था तथा इसका आगन रत्न-जटित था। वहाँ दृढ भक्ति पूर्वक मैंने जिनेन्द्र भगवान् को वन्दन किया। फिर मैंने तीर्थंकर देव के वचनों से परिपूर्ण मणिरत्नमय निर्मल पत्रों मे सग्रहित मनोहर पुस्तक को खोला। इस पुस्तक के लिखित वर्णन को पढने से रोम-रोम विकसित होता था। ऐसी सुन्दर पुस्तक को पढा और मुझे क्या-क्या करना है, इसकी जानकारी उस ग्रन्थ से प्राप्त की। इस देवलोक में मैंने इच्छानुसार पाँचो इन्द्रियो के भोग भोगे और दो सागरोपम से कुछ कम काल तक मैं यहाँ आनन्दपूर्वक रहा। [९५२-९५५]

कलन्द आभीर

यहाँ का समय पूरा होने पर भवितव्यता ने मुझे फिर एक गोली दी जिससे मै पुन मानवावास मे मदन नामक आभीर (ग्वाले) की पत्नी रेणा की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। यहाँ मेरा नाम कलद रखा गया। हे सुन्दरागि! यहाँ आने पर मेरे प्रिय बन्धु सम्यग्दर्शन और सदागम को तो मैं भूल ही गया। वे यहाँ आये ही नही। हे भद्रे! मैंने वहाँ गृहिधर्म को भी नही देखा। क्योकि, सम्यग्दर्शन और सदागम के अभाव मे वह एकाकी दृष्टिगोचर भी नही होता। फिर भी, हे हंसगामिनि! पूर्वभव मे मेरा कुछ विकास हुआ था जिससे मैं पाप से डरता रहा और भद्र परिणाम से ही मैंने ग्वाले के भव को पूरा किया। [९५६-९५९]

विस्मृति और भ्रमण

भवितव्यता द्वारा दी गई अन्य गोली से मैं मानवावास से ज्योतिषी देवगति मे उत्पन्न हुआ। यहाँ भी मुझे अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। खूब इन्द्रियो को तृप्त

* पृष्ठ ६८२

किया और प्रचुर भोग भोगे। यहाँ महामोह और परिग्रह से कई बार भेंट हुई। मैंने उनसे सम्बन्ध बढ़ाया और उनके प्रति विशेष पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया। उन्हे मैंने अपना मित्र मान लिया। सम्यग्दर्शन और सदागम को तो मै बिलकुल भूल ही गया। [६६०-६६२]

ज्योतिषी देव का मेरा काल समाप्त होने पर भवितव्यता ने फिर मुझे दूसरी गोली देकर पचाक्षपशुसस्थान मे मेढ़क के रूप मे उत्पन्न किया। महामोहादि से सम्बन्ध बढ़ाने के कारण मेरी पत्नी भवितव्यता मुझसे रुष्ट हो गई थी और उसे मुझे नाच नचाने की आदत पडी हुई थी, इसीलिये मेढक के भव की गोली जीर्ण हो जाने पर उसने मुझे नई-नई गोलिया देकर मुझसे अनेक रूपो मे नाटक करवाये और अनेक स्थानो पर इधर-उधर भटकाया। [६६३-६६४]

वासव

नानाविध स्थानो मे भ्रमण करवाकर मेरी पत्नी भवितव्यता ने फिर मुझे मानवावास के कम्पिलपुर नगर के राजा वसुबन्ध की धरा नामक रानी की कूख से वासव नामक राजपुत्र के रूप मे उत्पन्न किया। यहाँ मेरे पास वैभव होने पर भी मै सत्कृत्य करता था जिससे सर्व प्रिय हो गया था। युवक होने पर एक बार मैं शान्तिसूरि नामक सद्धर्मोपदेशक से मिला। हे भद्रे! इनका उपदेश सुनने के बाद मुझे सम्यग्दर्शन और सदागम भी दिखाई दिये। इनके अधिक परिचय से मेरे सुहृदाभास शत्रु महामोहादि कुछ निर्बल हुए। महामोहादि भावशत्रु बाहर से मित्र जैसे लगते थे पर वास्तव मे वे मेरे आन्तरिक शत्रु ही थे, किन्तु अभी तक मैं उन्हे अच्छी तरह नही परख सका था।

हे चारुभाषिणि! सम्यग्दर्शन और सदागम के सम्पर्क एव प्रताप से यहाँ मुझे कुछ लाभ हुआ। यहाँ का काल समाप्त होने पर भवितव्यता मुझे दूसरे देव-लोक में ले गई।* यहाँ भी मेरा सम्यग्दर्शन और सदागम से परिचय हुआ। यहाँ बहुत समय तक मैंने देवताओ के दिव्य और अतुल सुखों का उपभोग किया और आनन्द मे समय व्यतीत किया। [६६५-६७०]

सम्यग्दर्शन और सदागम की जय-पराजय

देवलोक से मैं फिर मनुजगति के काचनपुर नगर मे आया। महामोह के दोष से यहाँ भी मै सम्यग्दर्शन और सदागम को भूल गया। हे भद्रे! इस प्रकार मैने असंख्य बार सम्यग्दर्शन और महात्मा सदागम से भेंट की होगी और अनेक बार ये मेरे पास से चले गये होगे। सम्यग्दर्शन तो मेरे पास से एकदम ही चले गये थे। इसका कारण यह था कि मैं सख्यातीत स्थानो पर भटका किन्तु अभी तक मैंने वास्तविक विरति (त्याग) भाव धारण नही किया था। मात्र ऊपरी श्रद्धा से

* पृष्ठ ६८३

सन्तुष्ट होकर श्रावक बना था पर सर्वविरति (पूर्ण त्याग) की भावना नही हुई थी। क्योंकि, कई बार नैसर्गिक सरलता के कारण और कई बार किसी को प्रसन्न रखने के लिए मैने श्रद्धायुत होकर श्रावक वेष धारण किया था, किन्तु हृदय से सर्व-विरति भाव कदापि धारण नही किया था। संख्यातीतवार जब-जब सम्यग्दर्शन से भेंट होती थी तब-तब मेरा सदागम से अवश्य मिलाप होता था और उसके मूल मे सामान्य रूप से गृहिधर्म अवश्य रहता था। कई बार ऐसा भी बना कि गृहस्थ धर्म के साथ मैंने सम्यग्दर्शन को नही भी देखा। सामान्यत: सम्यग्दर्शन के साथ सामान्य गृहस्थधर्म और सदागम को मैंने असंख्य बार देखा। जब-जब मैंने इन तीनो को देखा तब-तब मुझे सुख प्राप्त हुआ, पर बीच-बीच मे कई बार मैंने इन्हे छोड़ भी दिया। अकेले सदागम को तो मैंने अनन्तबार देखा, पर इसके बिना सम्यग्-दर्शन कभी दिखाई नही दिया। [९७१-९७९]

हे भद्रे ! जब-जब सम्यग्दर्शन मेरे पास होता तब-तब पुण्योदय मेरा मित्र बना रहता और मेरे अनुकूल रहता। मानवावास या विबुधालय में मुझे जो यथेष्ट भोग, सपत्ति और विलास के सुख-साधन प्राप्त होते थे वे सब पुण्योदय के ही प्रताप से प्राप्त होते थे। हे भद्रे ! सम्यग्दर्शन की उपस्थिति से अन्य लाभ यह होता था कि मेरी कर्मस्थिति लघ्वी (सक्षिप्त) होती जाती, भावशत्रु भयभीत रहते और महामोहादि चुप पडे रहते। हे सुमुखि ! जब कभी मेरे भावशत्रु प्रबल हो जाते तब मेरा पुण्योदय मित्र मुझ से दूर हो जाता जिससे मुझे बहुत त्रास होता। पुण्योदय के दूर होते ही मेरे समक्ष दु.ख के पहाड़ खडे हो जाते। इस सब के फलस्वरूप ही भवितव्यता मुझे अनन्त काल से भटका रही थी। पुण्योदय के अभाव मे कर्मस्थिति फिर लम्बी हो जाती और मन एकदम अधम तथा तत्त्व-श्रद्धा-रहित हो जाता। ऐसे समय मोहादि महाशत्रु प्रबल हो जाते और मुझ पर अपना प्रभुत्व जमाते तथा सम्यग्दर्शन और सदागम मुझ से दूर चले जाते। ऐसी घटना अनेक बार घटी।

[९८०-९८६]

एक विशेष बात तुझे और बतलादूं कि मिथ्यादर्शन द्वारा जब सेनापति सम्यग्दर्शन पराभूत होता तव ज्ञानसवरण * सदागम पर विजय प्राप्त कर उसे भी दूर कर देता। कभी सम्यग्दर्शन और सदागम भी विजय प्राप्त कर मिथ्यादर्शन और ज्ञानसवरण को दूर भगा देते।

हे भद्रे ! इस प्रकार दोनो पक्षो की जय-पराजय चलती ही रहती। देश, काल, वल और परिस्थिति के अनुसार जब जिसकी प्रबलता होती तब उसकी विजय और विपक्ष की पराजय होती। इस प्रसग मे मुख्य बात यह थी कि दोनो पक्षो में से जिस पक्ष के प्रति मैं अपना प्रेम प्रदर्शित करता प्राय. उसकी विजय होती और जिसके विरुद्ध रहता उसकी पराजय होती। दोनों पक्षो की हार-जीत अनन्त काल तक होती रही। [९८७-९९०]

* पृष्ठ ६८४

विभूषण

बहिन अगृहीतसकेता ! अन्यदा भवितव्यता ने मुझे नई गोली देकर मानवावास के मध्यवर्ती सुन्दर सोपारक नगर के व्यापारी शालिभद्र की पत्नी कनकप्रभा की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न किया । यहाँ मेरा नाम विभूषण रखा गया ।

महापुरुषों की निन्दा : आशातना

एक समय मैं शुभकानन उद्यान में गया । वहाँ मुझे सुधाभूत आचार्य के दर्शन हुए । मैंने उनका उपदेश सुना । उसी समय मेरी सेनापति सम्यग्दर्शन और इन महात्मा सदागम से भेट हुई । उपदेश सुनकर मुझे तत्त्व पर रुचि/श्रद्धा हुई, पर मन मे विरति (त्याग) भाव उत्पन्न नही हुआ । हे निष्पापे ! गुरु के आग्रह से आतरिक सच्ची इच्छा के बिना मैं साधु भी बन गया । मैंने साधु का वेष धारण किया और साधुओ के बीच रहा भी, पर कर्म-दोष से मै विभाव (विपरीत) मार्ग पर चला गया और अपने वास्तविक कर्तव्य को भूल गया । ऐसे अवसर पर महामोहादि पुनः प्रबल हो गये और सम्यग्दर्शन तथा सदागम भावतः मेरे से दूर चले गये । महामोह के वशीभूत मे परनिन्दा करने लगा, सकारण या अकारण दूसरो पर आक्षेप करने लगा । मैंने तपस्वियो की निन्दा की, आदर्श चरित्र वाले महापुरुषो की निन्दा की, सत्क्रिया मे रुचि रखने वाले प्राणियो की टीका-टिप्पणी की । ऐसे उच्चस्तरीय पुरुषों की निन्दा करते हुए मेरे मन मे किंचित् भी ग्लानि नही हुई । बात यहाँ तक पहुँची कि संघ, श्रुतज्ञान, गणधरो और स्वय तीर्थंकरो की निन्दा और आशातना करने से भी मै नही चूका । गणधर और तीर्थंकर भी अमुक विषय को बराबर नही समझ सके, ऐसे आक्षेप मैने किये । यो साधु का वेष धारण करके भी मैं पूर्णरूपेण पापात्मा, गुणो का शत्रु और महामोहाभिभूत भयकर मिथ्यादृष्टिवान बन गया ।

दु.ख-समुद्र में पतन

हे भद्रे ! ऐसी पाप चेष्टाओ के परिणाम स्वरूप मै अति कठिन दुर्भेद्य कर्मसमूह से घिर गया । परिणाम स्वरूप मेरी पत्नी भवितव्यता ने मुझे फिर से अनन्त काल तक दुःखसमुद्र मे डुबा कर लगभग सभी स्थानो पर भटकाया । इस ससार मे रही हुई समस्त द्रव्यराशि को मैंने अर्धपुद्गल-परावर्तन से कुछ कम समय में भोग लिया और चारो तरफ खूब भटका । हे पद्मपत्राक्षि ! इस ससार-चक्र के भ्रमण मे एक भी विपत्ति शेष न रही जो मुझ पर न पडी हो, अर्थात् एक भी दुःख या विडम्बना बाकी न रही । [९९१-१००४]

प्रज्ञाविशाला की विचारणा

ससारी जीव की उपर्युक्त आत्मकथा सुनकर उसके भावार्थ को थोडा-थोडा समझने वाली अगृहीतसकेता मन मे चकित हुई । इस आत्मकथा को सुनकर प्रज्ञाविशाला के मन मे* तीव्र सवेग उत्पन्न हुआ और वह सोचने लगी—

* पृष्ठ ६८५

मैं ऐसा समझती हूँ कि संसारी जीव को लगे समस्त पापो में से महामोह और परिग्रह अति भयंकर हैं। इसका कारण यह है कि जब संसारी जीव को सम्यग्दर्शन का परिचय नही हुआ था और वह किसी भी प्रकार के गुणों से रहित था तब क्रोधादि पापों ने उसे अनर्थ-परम्परा मे झोंका, उसे नचाया, इसमें तो आश्चर्य ही क्या ? किन्तु सम्यग्दर्शन का परिचय होने और गुण प्राप्त करने के पश्चात् भी महामोह और परिग्रह ने इसे दीर्घकाल तक संसार के सभी स्थानों में भटकाया, इसीलिये ये दोनों अतिप्रबल अनर्थकारी हैं।

जहाँ-जहाँ महामोह और परिग्रह होते हैं, वहाँ-वहाँ क्रोधादि तो होते ही है, क्योंकि इस समस्त समुदाय का नायक महामोह ही है। परिग्रह भी इस सब का आश्रय स्थान है, क्योंकि यह लोभ का मित्र है और लोभ महामोह की सेना में मुख्य अधिकारी है। अतः संसारी जीव के गुणों के घात के लिए ये दोनो मूलतः नायक हो तो इसमें भी क्या आश्चर्य ? वैसे क्रोधादि भी प्राणी के सद्गुणों का नाश करने मे समर्थ हैं, किन्तु ये दोनों उच्चस्तर पर पहुंचे हुए प्राणी को भी नीचे गिराने मे समक्ष है, इसीलिये ये अति दारुण कहे जाते है। महामोह के बिना क्रोधादि तो हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे तो बेचारे पैदल सैनिकों जैसे है। इन्हें आज्ञा देने वाले सेनापति तो ये दोनो ही हैं। सिद्धि-प्राप्ति के इच्छुक प्राणियों के लिये विशेष रूप से अनुक्रम से इनके दोषों का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। ससारी जीव के समस्त अनर्थों के जनक ये दोनों ही हैं। गुरु महाराज इस वास्तविकता को नित्य ही अपने उपदेश द्वारा लोगों को बताते रहते हैं, चेतावनी देते रहते हैं, फिर भी लोग इन दोनों पापियों का त्याग नहीं करते, तब क्या किया जाय ? कोविदाचार्य ने श्रुति को दुष्टा कहा था, पर मूर्ख मनुष्य बार-बार उसी में आसक्त होते हैं, उसके हाथ मे फंसकर उसके खिलौने बन जाते हैं। [१००५-१०२०]

प्रज्ञाविशाला को गाढ चिन्तन मे संलग्न देखकर भव्यपुरुष ने पूछा—कहिये माताजी ! आप क्या सोच रही हैं ?

उत्तर में प्रज्ञाविशाला ने कहा—वत्स ! पहले तू निराकुल होकर संसारी जीव की पूरी आत्मकथा सुनले, शीघ्रता न कर। मेरे मन में जो विचार उठे हैं वे मैं तुम्हे बाद मे सुना दूंगी। इसकी आत्मकथा अब लगभग समाप्त होने आ रही है, अतः तू पहले इसे ध्यान पूर्वक सुनले।

यह सुनकर राजकुमार भव्यपुरुष आदर सहित चुप हो गया। संसारी जीव * पुनः अपनी आत्मकथा का शेष भाग सुनाते हुए कहने लगा।

[१०२१-१०२४]

* पृष्ठ ६८६

विशद

बहिन अगृहीतसंकेता ! इसके पश्चात् भवितव्यता मुझे भद्रिलपुर नगर के राजा स्फटिकराज की पत्नी विमला रानी की कूख में ले गई। वहाँ मैं उनके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और मेरा नाम विशद रखा गया। राजवैभव के आनन्द का उपभोग करते हुए, क्रमशः बढ़ते हुए मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक समय मेरा सुप्रबुद्ध मुनि से मिलन हुआ। उनकी सुसंगति से मुझे जैन-शासन का बोध हुआ। हे भद्रे ! उस समय सेनापति सम्यग्दर्शन, महात्मा सदागम और राजकुमार गृहिधर्म से मेरी पुनः मित्रता हुई। वहाँ मैंने व्रतों का पालन किया और मेरी आत्मा तात्त्विक श्रद्धा से पवित्र हुई। इस स्थिति में मैं वहाँ लम्बे समय तक रहा। मात्र सूक्ष्म पदार्थों का पृथक्करण करने योग्य गहन ज्ञान मुझे नहीं हुआ था, पर मैं धीरे-धीरे प्रगति कर रहा था। परिणाम स्वरूप मेरा अन्तरंग मित्र पुण्योदय फिर से प्रकट हुआ और मेरे साथ अधिकाधिक प्रीति बढ़ाता गया।

गमनागमन

पुण्योदय के प्रताप से मैं तीसरे देवलोक में गया जो विबुधालय का एक भाग है। वहाँ मैंने शब्दादि पाँचों इन्द्रियों के सुन्दर/प्रशस्त भोगों को खूब भोगा। देवलोक में तो इन्द्रिय भोगों की विपुलता रहती ही है। सात सागरोपम काल तक मैं देवलोक में रहा, फिर मानवावास में आया, वहाँ से फिर विबुधालय में गया। हे भद्रे ! यों अनेक बार मेरा आवागमन होता रहा। संक्षेप में, मेरे तीनों मित्रों के साथ मैंने बारह ही देवलोकों को कई बार देखा। बीच-बीच में कभी-कभी मेरे मित्र मुझे छोड़ भी जाते थे, पर क्रमशः इन तीनों मित्रों के साथ मेरे सम्बन्ध धीरे-धीरे दृढ़ होते जा रहे थे। इसके पश्चात् मेरी पत्नी भवितव्यता ने बारहवें देवलोक से मुझे वापस मानवावास में भेजा, उसका वर्णन अब आगे करता हूँ।

[१०२५-१०३३]

उपसंहार

विमलमपि गुरूणां भाषितं भूरिभव्याः,
प्रबलकलिलहेतुर्यो महामोहराजः ।
स्थगयति गुरुवीर्योऽनन्तसंसारकारी,
मनुजभवमवाप्तास्तस्य मा भूत वश्याः ॥१०३४॥

अनेक प्रकार के प्रबल षड्यन्त्र खड़े करने वाला, संसार को अनन्त काल तक बढ़ाने वाला और महान् शक्तिशाली यह महामोह महाराजा है। गुरु महाराज के विशुद्ध एवं पवित्र उपदेश को, बारम्बार विवेचन पूर्वक स्पष्ट की हुई बात को भी जो दबा देता है, निर्जीव कर देता है, दूर कर देता है ऐसा प्रबल यह महामोह राजा है। अतः हे भव्य प्राणियों ! मनुष्य जन्म प्राप्त कर कभी इस मोहराजा के वशीभूत न बनें। [१०३४]

सकलदोषभवार्णवकारणं,
त्यजत लोभसखं च परिग्रहम् ।
इह परत्र च दु:खभराकरे,
सजत मा बत कर्णसुखे ध्वनौ ॥१०३५॥

परिग्रह लोभ का मित्र है, सभी दोषों का कारण है और संसार-समुद्र में डुबाने वाला है, अतः इस परिग्रह का त्याग करें। इस भव और परभव में दु:ख के भार से आप्लावित ध्वनि-सुख (श्रवणेन्द्रिय के माने हुए सुख मधुर-ध्वनि) में आसक्ति न रखें। [१०३५]

एतन्निवेदितमशेषवचोभिरत्र,
प्रस्तावने तदिदमात्मधिया विचिन्त्य ।
सत्यं हितं च यदि वो रुचितं कथञ्चि-
त्तर्णं तदस्य करणे घटनां कुरुध्वम् ॥१०३६॥

अनेक घटनाओं से इस खण्ड (प्रस्ताव) में उपर्युक्त बात को स्पष्ट किया गया है। आत्मदृष्टि से आप लोग इस विषय में विचार करें और यदि आपको इसमें से कोई भी बात सत्य एव हितकारी लगती हो और उसके प्रति आप में रुचि उत्पन्न हुई हो तो ऐसे हितकारी कथन को आप शीघ्र अपने जीवन में सक्रिय आचरण रूप से उतारने का प्रयत्न करें। [१०३६]

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का महामोह, परिग्रह,
श्रवणेन्द्रिय के फल का वर्णन करने वाला
सातवां प्रस्ताव समाप्त।

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

८. अष्टम प्रस्ताव

पात्र-परिचय

स्थान	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
मप्रमोद नगर (बहिरंग)	मधुधारण	मप्रमोद नगर का राजा		
	सुमालिनी	मधुधारण राजा की पटरानी		
	गुणधारण	संसारी जीव, मधुधारण-सुमालिनी का पुत्र		
	कुलन्धर	गुणधारण का मित्र		
[illegible] मंदिर (वन)	कनकोदर	गन्धसमृद्ध नगर का राजा		
	कामलता	राजा कनकोदर की पटरानी		
गन्धसमृद्ध नगर	मदनमंजरी	संसारी जीव गुणधारण की पत्नी, कनकोदर-कामलता की पुत्री (भविष्य में होने वाली सुललिता और अगृहीत-संकेता)	लवलिका	मदनमंजरी की सखी, नरसेन और वल्लरिका की पुत्री
			अमितप्रभ	गगनवल्लभपुर के विद्युद्गत विद्याधर का पुत्र
			भानुप्रभ	गान्धर्वपुर के नागकेसरी विद्याधर का पुत्र
			रतिविलास	रथनुपुर के रतिमित्र विद्याधर का पुत्र
			धवलिका	महारानी कामलता की दासी
			कालनिवेदक	समय-सूचक प्रहरी
			चटुल	कनकोदर विद्याधर का अनुचर
			कल्याण	गुणधारण का अनुचर

(अन्तरंग)	पुण्योदय सदागम सम्यग्दर्शन सात राजा	गुणधारण के अन्तरग मित्र
	सुखासिका	गुणधारण की अन्तरंग सखी
	कन्दमुनि	छद्मस्थ विद्वान् साधु, भविष्य मे होने वाली महाभद्रा और प्रज्ञाविशाला
	निर्मलाचार्य	केवलज्ञानी, उपदेशक

—दशकन्या परिचय—

चित्तसौन्दर्य नगर (अन्तरंग)	शुभपरिणाम	चित्तसौन्दर्य नगर का राजा
	निष्प्रकम्पता	राजा शुभपरिणाम की रानी
	चारुता	राजा शुभपरिणाम की रानी
	१. क्षान्ति	रानी निष्प्रकम्पता की पुत्री
	२. दया	रानी चारुता की पुत्री
शुभ्रमानस नगर (अन्तरंग)	शुभाभिसन्धि	शुभ्रमानस नगर का राजा
	वरता	राजा शुभाभिसन्धि की रानी
	वर्यता	राजा शुभाभिसन्धि की रानी
	३ मृदुता	रानी वरता की पुत्री
	४. सत्यता	रानी वर्यता की पुत्री
विशद मानस नगर (अन्तरंग)	शुद्धाभिसन्धि	विशदमानस नगर का राजा
	शुद्धता	राजा शुद्धाभिसन्धि की रानी
	पापभीरुता	राजा शुद्धाभिसन्धि की रानी
	५ ऋजुता	रानी शुद्धता की पुत्री
	६. अचौरता	रानी पापभीरुता की पुत्री

शुभ्रचित्तपुर (अन्तरंग)	सदाशय	शुभ्रचित्तपुर का राजा		
	वरेण्यता	राजा सदाशय की रानी		
	७. ब्रह्मरति	सदाशय-वरेण्यता की पुत्री		
	८. मुक्तता	सदाशय-वरेण्यता की पुत्री	धर्म, शुक्ल	दो अन्तरंग श्वेत पुरुष
	९. विद्या	सेनापति सम्यग्दर्शन की पुत्री		
	१०. निरीहता	चारित्रधर्मराज-विरति की पुत्री	पीता, पद्मा, शुक्ला	तीन सुन्दर परिचारिकाएँ (लेश्याएँ)
	जनतारण	गुणधारण का पुत्र		

ग्रैवेयक १:२:३:४.५	ग्रैवेयक देव	ससारी जीव देव के रूप मे

सिंहपुर (बहिरंग)	गंगाधर	संसारी जीव, महेन्द्र-वीणा का पुत्र
	सुघोषाचार्य	जैनाचार्य, गगाधर के उपदेशक

शंखनगर (बहिरंग)	महागिरि	शखनगर का राजा	ऋद्धि गौरव, रस गौरव, साता गौरव	शैलराज के अन्तरग सहयोगी
	भद्रा	राजा महागिरि की रानी		
	सिंह	ससारी जीव, महागिरि-भद्रा का पुत्र		
	धर्मबंधु	मुनि, सिंह के धर्म गुरु	आर्त्ताशय, रौद्राभिसन्धि	गौरवो के अनुयायी
			कृष्णा, नीला, कापोता	परिचारिकाएँ, लेश्याएँ, आर्त्ताशय और रौद्राभिसन्धि की सेविकाएँ

पंचाक्ष पशु संस्थान		आयुष्य	अन्तरंग का एक स्वतंत्र राजा
विबुधालय			
मानवावास		अत्यन्त अबोध	एकाक्ष निवास का राज्यपाल
		तीव्र मोहोदय	एकाक्ष निवास का सेनापति

समस्त पात्र-सम्मिलन

क्षेमपुरी	युगन्धर	क्षेमपुरी का राजा	प्रियंकरी	दासी
	नलिनी	राजा युगन्धर की रानी		
शखनगर	अनुसुन्दर	ससारी जीव, चक्रवर्ती, चोर	पुरन्दर	अनुसुन्दर चक्रवर्ती का पुत्र
चित्तरम उद्यान				
मनोनन्दन चैत्य				
हरिपुर (बहिरंग)	भीमरथ	हरिपुर का राजा		
	सुभद्रा	राजा भीमरथ की रानी		
	समन्तभद्र	भीमरथ-सुभद्रा का पुत्र, आचार्य, सदागम	सुघोष	आचार्य समन्तभद्र के गुरु
	महाभद्रा	भीमरथ-सुभद्रा की पुत्री, समन्तभद्र की बहिन, प्रज्ञाविशाला, कन्दमुनि का जीव, प्रर्वातिनी साध्वी	दिवाकर	गधपुर के रविप्रभ और पद्मावती का पुत्र, महाभद्रा का पति

			चोर-सम्बन्धी रचना	
रत्नपुर (बहिरंग)	मगधसेन	रत्नपुर का राजा	अकुशल	द्रव्य, चोरी की वस्तु
	सुमंगला	राजा मगधसेन की रानी	कर्ममल	भस्म, शरीर पर लेपन
	सुललिता	मगधसेन-सुमगला की पुत्री, मदनमञ्जरी का जीव, अगृहीतसकेता	राजस्	सोनागेरु का हृथछापा
			तामस्	मसी का चादला
			रागकल्लोल	कणेर की माला
			कुविकल्प-सन्तति	सकोरो की लम्बी माला
			पापातिरेक	टूटा हुआ मिट्टी का ठीकरा (शिर पर)

			असदाचार	गधा (बैठने के लिए)
			दुष्टाशय	राजपुरुषो से वेष्टित
			विवेकीजन	पापो की निन्दा करने वाले
			कषाय	, उद्धत बालक
			संभोग	शब्दादि विषय, फूटा ढोल
			बहिर्लोकविलास	दुर्जनो का अट्टहास्य
शंखपुर (बहिरंग)	श्रीगर्भ	शखपुर का राजा, अनु-सुन्दर चक्रवर्ती (संसारी जीव) का मामा		
	कमलिनी	राजा श्रीगर्भ की रानी, महाभद्रा की मौसी		
	पुण्डरीक	श्रीगर्भ-कमलिनी का पुत्र भव्यपुरुष, सुमति, आचार्य समन्तभद्र के पट्टधर		
	संसारी जीव	कथानायक, अनुसुन्दर चक्रवर्ती		
	अवधि	सद्बोध का मित्र		

	अमृतसार	गाधारराज-पद्मिनी का पुत्र, ससारी जीव की प्रगत आत्मा	धनेश्वर	आचार्य पुण्डरीक का पट्टधर आचार्य

१. गुणधारण और कुलन्धर

गुणधारण कुमार *

मानवावास में एक सप्रमोद नगर था। यह नगर अनेक अकल्पनीय उत्तम गुणो से विभूषित था और इसमें निरन्तर उत्सव होते रहते थे। जैसे मेघ पृथ्वी को जल का दान देकर उपजाऊ बनाते है वैसे ही यहाँ के नागरिक प्रार्थियों को दान रूपी जल से सिंचित कर हर्षित करते थे। हृष्ट-पुष्ट नागरिक अपनी मन्द गति से झूमकर चलते हुए मानो इन्द्र के ऐरावत हाथी का भ्रम उत्पन्न करते थे। यहाँ की ललनायें रूप-लावण्य और वस्त्राभूषणो से देवागनाओं जैसी लग रही थी। उनके पलक झपकने मात्र से वे देवियों से भिन्न दिखाई देती थी। इस नगर मे मधुवारण नामक राजा राज्य करता था जो शत्रु रूपी हाथियों के गण्डस्थल को छिन्न-भिन्न करने वाला, अत्यन्त पुरुषार्थी और विख्यात कीर्त्ति वाला था। यह राजा राज्यधन को प्रजा का धन मानकर उसे इस प्रकार व्यय करता था कि जिससे अधिकाधिक लोकोपयोगी कार्य हो सके। यह इतना आत्मविश्वासी था कि उसकी स्त्री अत्यन्त रूपवती होने पर भी उसने रणवास में कोई पहरेदार नही रखा था। उसकी रूप-लावण्य से परिपूर्ण, कमल जैसी आँखों वाली, उत्तम कुलोत्पन्न, अनेक गुण विभूषित सुमालिनी नामक महारानी थी। इसने राजा को अपने हृदय में बसा लिया था, फिर भी वह स्वय राजा के चित्त मे बसी हुई थी अर्थात् इनमें दो शरीर एक मन जैसा अटूट प्रेम था। [१-७]

हे भद्रे अगृहीतसकेता! मेरी स्त्री भवितव्यता की प्रेरणा से मैंने पुण्योदय के साथ इस निपुण धर्माचारिणी महादेवी सुमालिनी की कुक्षि में पुत्र रूप से प्रवेश किया। हे अनघे! योग्य समय पूर्ण होने पर मैं कूख से बाहर आया। मेरे शरीर के सब अवयव सुन्दर थे। मेरा मित्र पुण्योदय भी मेरे साथ ही बाहर आया। मेरा जन्म होते ही चारों तरफ आनन्द फैल गया, बाजे बजने लगे, संगीत होने लगा और पूरा राजभवन हर्ष मे डूब गया। उस समय जो बधाइयाँ दी गईं, उनका वर्णन अशक्य है। मेरे पिताजी को भी अत्यन्त आनन्द हुआ। मनमोहक रास, नृत्य और विलास होने लगे, बाजे बजने लगे, लोगो को पुरस्कार वितरित किये गये, भोजन प्रचुर मात्रा में वितरित किया गया, गायन की महफिलें जमने लगी, मद्य की मस्ती मे मस्त लहरी लोग इधर-उधर घूमने लगे, सुन्दर स्त्रियो के साथ वामन नृत्य करने लगे, कुबड़े और कंचुकी हास्य-विनोद करने लगे और याचको के मनोरथ पूर्ण किये गये। इस प्रकार जनमानस को आश्चर्यचकित करने वाला चमत्कारिक रूप से मेरा

* पृष्ठ ६८७

जन्मोत्सव मनाया गया जिससे सर्वत्र आनन्द और बधाइयों के शब्द गूंजने लगे। योग्य समय पर मेरे पिता ने अत्यन्त आनन्दपूर्वक मेरा नाम गुणधारण रखा। दूध पिलाने वाली, कपड़े पहनाने वाली, स्नान कराने वाली, खिलाने वाली और गोद मे लेने वाली पाँच धायों द्वारा मेरा पालन-पोषण होने लगा। जिस प्रकार स्वर्ग मे देव अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करते है* वैसे ही सुख सागर मे उन पाँच धात्रियो के द्वारा पालित मैं बड़ा होने लगा। [८-१४]

गुणधारण और कुलन्धर की मैत्री

मेरे पिता के सगोत्रीय भाई विशालाक्ष नामक राजा थे। मेरे पिताजी और उनके मध्य ऐसी गाढ मैत्री थी कि दोनो एक दूसरे पर प्राण न्यौछावर करते थे। इनके एक कुलन्धर नामक पुत्र था। मेरे पिता का कुलन्धर पर अतिशय स्नेह होने से वह सप्रमोद नगर में ही रहता था। कुलन्धर और मेरे बीच भी प्रगाढ स्नेह था। धीरे-धीरे मित्रता बढती गई और हम दोनो गाढ मित्र हो गये। कुलन्धर अतिशय विशुद्ध हृदय वाला, सुन्दर, रूपवान, भाग्यशाली, प्रवीण, सर्वगुण-सम्पन्न और वास्तव मे कुल का दीपक ही था। इस शुद्ध बुद्धि वाले सद्गुणी मित्र के साथ मैं बड़ा होने लगा और हम दोनो में परस्पर सद्भावपूर्वक प्रगाढ स्नेह बढता ही गया। फिर हमने साथ रहकर कला का अभ्यास किया, साथ-साथ खेले और साथ ही साथ कामदेव के मन्दिर स्वरूप युवावस्था को प्राप्त हुए। [१५-१९]

सुन्दरी का मोहन

हमारे नगर से थोड़ी ही दूर पर मेरुपर्वत के नन्दनवन जैसा अति मनोरम आह्लादमन्दिर नामक श्रेष्ठ उद्यान था। हम दोनो को यह उद्यान अत्यन्त प्रिय था। इसे देखते ही हमारे नेत्रों को शान्ति प्राप्त होती थी और हमारा चित्त आह्लादित होता था, अतः हम प्रायः प्रतिदिन वहाँ जाते थे। [२०-२१]

एक दिन प्रातः हम इस उद्यान मे गये तो हमने दूरवर्ती दो स्त्रियो को स्पष्टतः देखा। इनमे से एक तो विशाल नेत्रो वाली और अपने रूप-लावण्य एव विलास से कामदेव की पत्नी रति की भी परिहास करने वाली थी। दूसरी स्त्री इतनी सुन्दर नही थी। पहली सुन्दरी ने अपने भौहे रूपी धनुष से दृष्टिबाण मेरी तरफ फेंके। उसके दृष्टिपथ में आते ही मैं पूरा का पूरा इन बाणों से बिंध गया। फिर एक आम्र वृक्ष की शाखा पर विलास-पूर्वक लटक कर उस चारु अंग वाली ने झूला झूलने के बहाने अपने उन्नत उरोजों का प्रदर्शन कर मेरा मन मोह लिया। उस समय उसके बाह्य चिह्नों से मैंने उसके आन्तरिक भाव को जान लिया। उसका मन भी चकित, विस्मित, स्नेहयुक्त और विचारमग्न होकर अति लज्जित हो गया हो ऐसा मुझे लगा। मन और नेत्रो को आनन्दित करने वाली उस सुन्दर ललना के प्राकृतिक सद्भाव एवं अर्पण करने योग्य हाव-भावो को देखकर मेरा चित्त आह्लादित

* पृष्ठ ६८८

हो गया। उस समय क्षणभर में मैं सोचने लगा कि कहीं यह कामदेव की पत्नी रति तो नहीं है ? साक्षात् इन्द्राणी तो नहीं है ? या विष्णु-हृदय-स्थित लक्ष्मी ही तो कहीं शरीर धारण कर नही आ गई है ? हे सुमुखि ! विचार ही विचार में मैं कामदेव के पुष्पवाणों से विंध गया और मेरा मानस विकार-ग्रस्त हो गया। मेरे पास ही खड़े मेरे मित्र कुलन्धर ने कुछ जिज्ञासा पूर्वक मेरी तरफ देखा। मुझे लगा कि यह भी मेरे मन की वात भाप गया है। फिर मैंने अपने मुँह पर प्रकट होने वाले भावो को छिपाकर वात को उड़ाने का प्रयत्न किया। मेरे मन में उस समय यह विचार भी आया कि "विवेकी पुरुषो को परस्त्री के सामने कामुक दृष्टि से नहीं देखना चाहिये, प्रतिष्ठित लोगों के लिये यह तो वड़ी लज्जा की वात है।" ओह ! मेरे मित्र ने यदि मुझे पराई स्त्री पर कुदृष्टि से झाँकते देख लिया होगा तो वह अपने मन मे क्या सोचेगा ? मैंने लज्जित होकर* उसकी दृष्टि वचाकर बार-बार उसकी तरफ देखा और यह जानने का प्रयत्न किया कि उस पर मेरी मनोवृत्ति का क्या प्रभाव हुआ है ? कला-कुशल कुलन्धर ने मेरे हृदय के भाव जान लिये थे, अत. उसने भी वात को घुमाते हुए मुझसे कहा—कुमार ! हम वहुत समय से यहाँ खेल रहे हैं, अव मध्याह्न भी हो रहा है, अधिक रुकने से क्या लाभ ? चलो घर चले। मैंने भी तुरन्त कहा—हाँ भाई ! तुम्हारी जैसी इच्छा, चलो चलें। फिर हम दोनो अपने-अपने भवनो मे चले गये और दिवसोचित शेप कार्य सम्पन्न किये। [२२-३७]

गुणधारण की काम-विह्वलता

रात मे जव मैं अकेला अपने पलंग पर सोया तो खटाक से मेरी कल्पना में फिर वह मृगनयनी प्रमदा आ खड़ी हुई। हे भद्रे ! यदि मेरा पवित्र अन्तरंग मित्र पुण्योदय मेरे साथ नही होता और मेरी सहायता नही करता तो इस प्रमदा ने मेरे चित्त पर छाकर, न मालूम कितना वड़ा काँटा मेरे हृदय में चुभा कर घाव कर दिया होता और न जाने मेरी क्या गत वन गई होती, यह तो कहना ही असम्भव है। किन्तु, केवल निष्पाप पुण्योदय के निकट होने के कारण ही वह प्रमदा मेरे लिये अत्यधिक घातक, वाधक नही वन सकी; क्योकि निर्दोष पुण्योदय मित्र सासारिक पदार्थों पर प्राणियो के मन को दृढ एवं वन्धनरहित वना देता है। फिर भी उस कमल-नयनी की स्मृति से मुझे सहज चिन्ता हो गई कि वह कौन होगी ? किसकी पत्नी होगी ? इन्ही विचारो मे मुझे नींद आ गई और प्रात.काल हो गया।

पुनः उद्यान-गमन : कामलता-मिलाप

प्रात: कुलन्धर फिर मेरे पास आया। प्रमदा को फिर से देखने की किंचित् इच्छा से मैंने उससे पूछा— क्यो मित्र ! आज फिर आह्लाद-मन्दिर उद्यान में चलें ?

कुलन्धर ने मुस्कराते हुए कहा—क्यो, क्या कोई चावी वहाँ भूल आये हो क्या ?

* पृष्ठ ६८६

मुझे लगा कि, अरे! कुलन्धर ने मेरे मन की बात जान ली है। ऐसा सोचकर मैंने कहा—मित्र! अब परिहास छोड़ो, चलो हम फिर उद्यान मे जाकर देखें कि वह कौन है? किसकी पत्नी या पुत्री है? हमें यह परीक्षा करनी है कि वह कन्या योग्य है या नही? ऐसा मत सोच कि मैं परस्त्री को भी ग्रहण कर लूंगा। पर, यदि वह कुमारी कन्या होगी तो इन्द्र द्वारा पीछा किये जाने पर भी मैं उसे नही छोड़ूंगा।

कुलन्धर ने आश्वासन दिया—भाई! शीघ्रता मत कर। पहले उद्यान मे चलकर उसे ढूंढते है, फिर तुझे जैसा अच्छा लगेगा वैसा ही करेंगे।

तदनन्तर हम दोनो उद्यान मे गये और उस स्थान को देखा जहाँ कल उन दोनों स्त्रियो को देखा था। पर, वे वहाँ दिखाई नही दीं, जिससे मेरे मन मे उस मृगनयनी से मिलने और उसे प्राप्त करने की कामना से सहज उद्वेग भी हुआ और मन भी पीड़ित हुआ।* वन मे चारो तरफ ढूंढते हुए हम दोनो एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठे ही थे कि हमारे पीछे पत्तो की मर्मर ध्वनि से किसी के चलने का आभास हुआ। गर्दन घुमाते ही मैंने दो स्त्रियो को देखा। उनमें से एक तो मध्यम वय की सुशोभना सुन्दर स्त्री थी और दूसरी उसके साथ वाली सामान्य। [३८-५४]

हम दोनो खडे हुए और गर्दन झुकाकर नमन किया। मुझे गौर से देखकर मध्यमवय की स्त्री की आँखो मे हर्ष के आँसू आ गये और वह बोली—वत्स! तेरी उम्र मुझसे भी अधिक हो। फिर कुलन्धर से बोली—वत्स! आयुष्मान हो। मुझे आप दोनो से एक आवश्यक बात कहनी है, थोड़ी देर बैठो।

कुलन्धर ने कहा—जैसी माताजी की आज्ञा। तत्पश्चात् उस प्रौढा ने अपने हाथों से भूमि स्वच्छ की। हम सब स्वच्छ जमीन पर बैठ गये और उस स्त्री ने अपनी कथा प्रारम्भ करते हुए कहा—वत्स! सुनो—

२. मदनमंजरी

विद्याधरी का कथन

विद्याधरो के निवास स्थान वैताढ्य नामक विशाल पर्वत पर एक गन्धसमृद्ध नगर है। विद्याधरों का चक्रवर्ती कनकोदर राजा यहाँ राज्य करता है। मैं उसी की पत्नी कामलता महादेवी हूँ। दिन, माह और वर्ष बीत गये पर मुझे एक भी सतान नही हुई। मेरे वन्ध्यापन से मैं और मेरे पति दोनों ही उद्विग्न एव व्यथित थे। हमने पुत्र-

* पृष्ठ ६६०

प्राप्ति के लिये अनेक औषधियों का सेवन किया, ग्रहशान्ति करवाई, सैकड़ों मानताएँ मानी, निमित्तज्ञों से भविष्य पूछा, मन्त्रज्ञों से जाप करवाये, तन्त्रज्ञो से यन्त्र बनवाकर हाथ में बांधे, अनेक जड़ी बूटिये पीं, अनेक टोटके किये, अवश्रुतियां निकालवाई, भविष्य पूछा, मादलिये पहने, प्रश्न पूछे, प्रशस्त स्वप्नों का अर्थ पूछा, योगिनियों की प्रार्थना की। संक्षेप में ऐसा कोई उपाय शेष न रहा जो सन्तति-प्राप्ति के लिये हमने न किया हो। अन्त मे कुछ समय पश्चात् मेरी प्रौढावस्था में मुझे गर्भ रहा। महाराजा अत्यधिक प्रसन्न हुए।

मदनमंजरी का जन्म

योग्य समय पर मैंने एक पुत्री को जन्म दिया। उसके शरीर की कान्ति इतनी अधिक दीप्तिमान थी कि वह अपने तेज से चारों दिशाओ को प्रकाशित कर रही थी। इस सुसमाचार को जानकर राजा को अपार हर्ष हुआ। उसने खूब बधाईयाँ बाँटी। शुभ दिन में सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर सन्मानित कर उनके समक्ष उसका नाम मदनमंजरी रखा। मदनमंजरी सुख में पल रही थी और वह सभी को अत्यन्त प्रिय थी।

स्वयंवर मण्डप

मेरे पति को नरसेन नामक योद्धा से अत्यन्त स्नेह था। उसके भी वल्लरी के समान कोमल पुत्री थी जिसका नाम लवलिका था। मदनमंजरी और लवलिका में परस्पर प्रगाढ प्रेम था। दोनों ने एक साथ सर्व कलाओं का अभ्यास किया। अनुक्रम से मदनमंजरी ने तरुणाई प्राप्त की। वह अत्यन्त रूपवती और अधिक पढ़ी-लिखी होने से ऐसा सोचकर कि 'उसके योग्य पति का मिलन कठिन है' वह पुरुषद्वेषिणी बन गई। जब लवलिका द्वारा उसके पुरुषों के प्रति ऐसे विचार मालूम हुए, तो मुझे हार्दिक खेद हुआ। जब मैंने महाराजा को यह बात बताई* तब वे भी चिन्ताग्रस्त हो गये कि, अब इस कन्या का विवाह कैसे होगा? अन्त मे महाराजा को एक बात सूझी। उन्होंने स्वयंवर मण्डप की रचना कर सभी विद्याधर राजाओं और राजकुमारो को निमंत्रित कर दिया। सभी विद्याधर राजा आने लगे। उनका योग्य सन्मान कर एक ऊँचे मञ्च पर सभी को अलग-अलग योग्य स्थानों पर बिठाया गया। स्वयवर मण्डप के मध्य में महाराजा कनकोदर अपने परिवार के साथ बैठे। मदनमंजरी को सुन्दर वस्त्राभूषण, मेंहदी, चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों एवं पुष्पहारो से सजाकर उसकी सखी लवलिका के साथ हम सब ने स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया। देवाङ्गनाओं के सौन्दर्य का भी उपहास करने वाली मदनमंजरी के लावण्य को देखकर सभी विद्याधर राजाओं के चित्त उद्वेलित हो गये और वे निर्निमेष होकर एकटक उसे देखते हुए चित्रलिखित से स्तब्ध हो गये। मैंने मदनमंजरी को प्रत्येक

---

* पृष्ठ ६६१

राजा का परिचय देना प्रारम्भ किया। प्रत्येक के नाम, गोत्र, वैभव, निवास स्थान, सौन्दर्य, गुण, आयुष्य, राज्यचिह्न आदि का परिचय दिया। जैसे—

पुत्रि! देख, यह विद्युद्दंत राजा के पुत्र अमितप्रभ विद्याधर है। गगन-वल्लभ नगर के स्वामी है। बहुत ऋद्धिवान हैं। देवता जैसे सुन्दर है। सर्वकलाओ मे प्रवीण है। इनकी पताका मे सुन्दर मोर का चिह्न है जो बिजली जैसा चमक रहा है। [५५–५६]

वत्से! ये गान्धर्वपुर नगर के स्वामी महाराजा नागकेसरी के पुत्र भानुप्रभ है। ये बहुत शक्तिशाली, ऋद्धिवान, अत्यन्त मनोहर आकृतियुक्त, अनेक विद्याओ मे प्रवीण, गुणों के भण्डार और बहुत प्रसिद्ध है। इनके ध्वज मे गरुड़ सुशोभित है। [५७-५८]

हे मदनमजरि! देख, ये रथनुपुर-चक्रवालपुर के महाराजा रतिमित्र के पुत्र रतिविलास है। ये अढलक सम्पत्ति और ऋद्धि-सम्पन्न है। इनका शरीर स्वर्ण जैसा सुशोभित है। ये सर्व विज्ञान के सागर और गुणो की खान हैं। इनके ध्वज मे सुन्दर बन्दर का चिह्न है। [५९–६०]

स्वयंवर-भंग

जैसे-जैसे मैं प्रत्येक राजा या राजपुत्र का वर्णन करते हुए धीरे-धीरे मदन-मजरी के साथ-साथ आगे बढ़ रही थी वैसे-वैसे मदनमजरी का मुँह उतरता जा रहा था। वह विषाद को प्राप्त होती जा रही थी। [६१]

जैसे कोई निर्भागी स्त्री अपनी सौत के गुणो को सुनकर खिन्न हो जाय, आपत्ति-ग्रस्त योद्धा शत्रु-सेना की शक्ति को सुनकर उदास एव निरुत्साह हो जाय, अभिमानी वादी जैसे प्रतिवादी के अतिशय को देखकर पीला पड जाय, ईर्ष्यालु वैद्य दूसरे कुशल वैद्य को आता देखकर जैसे पीछे हट जाय या गर्विष्ठ ज्ञानी को अन्य विज्ञानी के नैपुण्य को देखकर मन की जैसी स्थिति हो जाय वैसी ही स्थिति उस समय विद्याधर नृपतियो का वर्णन सुनकर मदनमजरी की हो रही थी। उसने तो अपनी दृष्टि को भी ऊपर नही उठाया, नीचे दृष्टि किये वह अत्यन्त म्लानमुखी हो गई। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। 'अरे! इसको क्या हो गया' इस चिन्ता से मैंने कहा—पुत्रि! क्या तुझे इन विद्याधर राजाओ मे से कोई पसन्द आया? क्या बात है? क्यो कुछ भी नही बोलती? मदनमजरी ने तुरन्त उत्तर दिया—माताजी! अब हम शीघ्र* इस मण्डप से चलें। मैंने सब के दर्शन कर लिये। मुझे तो इनमे से कोई भी योग्य नही लगा। इनके बनावटी वर्णन सुन-सुन कर मेरा सिर दर्द करने लगा है।

पुत्री का उत्तर सुनकर मैं चिन्तित एवं खिन्न हो गई। सोचा कि कही यह पागल तो नही हो गई? जब मैंने महाराजा कनकोदर को सब बात बताई तब वे भी

* पृष्ठ ६६२

चिन्तातुर हो गये और बोले—'इसे शीघ्र राजमन्दिर में ले जाओ और इसकी मानसिक स्थिति से कहीं इसका शरीर भी अस्वस्थ न हो जाय इसका ध्यान रखो।' पति के आदेश से मैं शीघ्र ही पुत्री को लेकर स्वयंवर मंडप से निकली और राजभवन में आ गई।

मेरे पास बैठी हुई मदनमंजरी की सखी इस लवलिका को भी इस घटना से बहुत चिन्ता हुई। वह बोली—माताजी! अब आपने मेरी सखी के विवाह के लिये क्या उपाय सोचा है? मुझे तो कुछ नहीं सूझता।

मैंने कहा—लवलिका! हमें भी कुछ उपाय नहीं सूझता। तेरी सखी तो बहुत गर्वीली है, इसे कोई राजा भी पसंद नहीं आता। अब तू ही इससे पूछकर कोई उपाय ढूंढ़। हमारी दृष्टि में जितने भी उपाय थे, उन्हें हमने कार्यान्वित कर देख लिया है। हम मन्दभाग्यों को तो अब कोई उपाय दिखाई नहीं देता। कहते-कहते मेरे नेत्रों से मोतियों की माला के समान बड़े-बड़े आँसू टपक पड़े और मैं रोने लगी।

लवलिका ने मुझे सान्त्वना देते हुए कहा—माताजी! आप दुःखी न हों। मैं अपनी सहेली से पूछूँगी। वह स्वयं विनीत-शिरोमणि है, अतः माता-पिता को संतप्त करने वाली नहीं बनेगी। मेरे पूछने पर वह अवश्य इस विषय में कुछ न कुछ बतायेगी। ऐसा उत्तर देकर लवलिका ने मुझे तनिक आश्वस्त किया।

उस समय स्वयंवर मण्डप में एकाएक ही खलबली मची। किसी भी विद्याधर राजा का वरण किये बिना जब मदनमंजरी को वापस लौटते देखा, तब सभी राजाओं को ऐसा लगा जैसे उनका सर्वस्व अपहरण कर लिया गया हो। रत्न भण्डार के लुट जाने पर व्यक्ति की जैसी स्थिति होती है, या मुद्गर की मार से जैसे विषण्ण वदन हो जाते हैं, अथवा आकाश मार्ग में चलते हुए आकाश गामिनी विद्या के नष्ट होने पर गगन-चारियों की जैसी मनःस्थिति होती है वैसे ही वे सब शून्य, म्लानमुख, उदास और क्रोधित हो गये। कनकोदर राजा से एक शब्द भी कहे बिना वे सब स्वयंवर मण्डप से निकल कर एक दिशा में चले गये।

स्वप्न-दर्शन : फल

इस घटना से कनकोदर राजा अत्यधिक शोक-सन्तप्त हुए। वह एक दिन उन्हें एक वर्ष जैसा लगा। जैसे-तैसे रात हुई। नियमानुसार प्रतिदिन संध्या समय राज्य सभा जुड़ती थी, उसमें भी वे उपस्थित नहीं हुए। उल्टा मुँह कर पलंग पर पड़ गये। पलंग पर इधर से उधर करवट बदलते हुए बिना नींद के ही सारी रात व्यतीत हो गई। अन्त में मन अधिक भारी होने पर उषाकाल में थोड़ी आँख लगी। आँख लगते ही राजा को स्वप्न आया। स्वप्न में राजा ने दो पुरुष और दो स्त्रियों को देखा। उन्होंने महाराज से पूछा—महाराज कनकोदर! जाग रहे हैं या सो गये?

उत्तर में मानों महाराज ने कहा—वह जग रहे हैं।

उन्होने कहा —'सुनो, शोक छोडो। मदनमजरी के लिये पहले से ही व ढूँढ लिया गया है, वही उसका पति होगा। अब मदनमजरी के लिये दूसरे पति क ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नही है। हमने ही उसे विद्याधर राजाओ का द्वेष बनाया है। हम उसका विवाह अन्य के साथ नही होने देंगे।' इतना कहकर स्वप्न के चारो व्यक्ति अदृश्य हो गये।

इसी समय प्रात:कालीन नौबत बज उठी। राजा भी उठे और मन मे हर्षपूर्वक स्वप्न के अर्थ का विचार करने लगे। * ठीक इसी वक्त समय-सूचक कर्मचारी ने कथन किया—

हे लोगो! यह उदय होता सूर्य सब को शिक्षा दे रहा है कि आप कोई न सताप करे, न हर्षित हो और न घबराये ही। जैसे मैं अनादि काल से नित्य उदय होता हूँ, तेजस्वी होता हूँ और अस्त हो जाता हूँ वैसे ही प्रत्येक भव मे तुम्हारा भी उदय, प्रकर्ष और अस्त निश्चित है। [६२-६३]

समयसूचक के कथन पर राजा ने विचार किया कि, अरे! स्वप्न का जो अर्थ उसने सोचा था उसका यह कालनिवेदक समर्थन ही कर रहा है। जैसे स्वप्न मे देवरूपी चार व्यक्तियो ने उसको कहा कि मदनमजरी का पति उन्होने पहले से ही देख रखा है, जैसे सूर्य प्रतिदिन उदय, मध्य और अस्त होता है, ठीक वैसे ही मनुष्य भी प्रत्येक जन्म मे सुख-दु:ख, लाभ-हानि और गमन-आगमन प्राप्त करता है। यह सब प्रत्येक प्राणी के लिये पहले ही से निश्चित होता है, अत: इस विषय मे किसी को शोक नही करना चाहिये। मदनमंजरी के पति के विषय मे भी जब यह पहले से ही निश्चित है तब चिन्ता करने से क्या लाभ? ऐसा सोचते हुए राजा निश्चिन्त/आश्वस्त हुए और उनकी व्याकुलता दूर हुई।

वर-शोधन के लिये पर्यटन

इधर लवलिका मदनमंजरी के पास गयी और उससे सीधा प्रश्न किया कि, इस विषय मे अब क्या करना चाहिये?

उत्तर में मदनमंजरी ने कहा—यदि मुझे माता-पिता आज्ञा दे तो मैं स्वय सारी पृथ्वी का भ्रमण कर, यथेप्सित योग्य वर को ढूँढ कर उसके साथ विवाह करूँ।

लवलिका ने मदनमजरी के प्रस्ताव को मुझे बताया और मैंने महाराज से बात की। उन्होने सोचा कि 'पुत्री ने योग्य प्रस्ताव ही रखा है। स्वप्न के चार व्यक्तियो द्वारा कहे गये इसके पूर्व निर्णीत पति को ढूँढने का/प्राप्त करने का सम्भवत: यही उपाय उपयुक्त है।' इस विचार के फलस्वरूप उन्होने मदनमजरी को पृथ्वी-भ्रमण/देशाटन की आज्ञा दे दी। उनकी सम्मति मे मेरी सम्मति तो साथ ही थी।

* पृष्ठ ६६३

मदनमंजरी अपनी सहेली लवलिका को साथ लेकर वर ढूँढने और समस्त भूमण्डल का अवलोकन करने निकल पड़ी। उसे गये कुछ दिन व्यतीत हुए। हमारा पुत्री पर अत्यधिक प्रेम था, अतः हम उसकी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। हमें एक-एक दिन व्यतीत करना अत्यन्त दूभर लग रहा था।

लवलिका का संदेश

कुछ दिनों पश्चात् एक दिन अचानक यह लवलिका उतरा हुआ चेहरा लेकर हमारे पास आई। एक तो यह अकेली थी और चेहरा भी उतरा हुआ था, अतः झट से हमारा हृदय बैठ गया और हमे संदेह हुआ कि मदनमदरी का क्या हुआ ? "स्नेह सर्वदा शंका कराता है, स्नेही का अहित पहले दिखाई देता है।" हमारी भी यही गति हुई। लवलिका ने हमे प्रणाम किया तब हमने पूछा—लवलिका ! राजकुमारी का कुशल मगल तो है ?

लवलिका—हाँ, माताजी ! मदनमंजरी कुशलपूर्वक है।

मैंने पूछा—तब मदलमंजरी अभी कहाँ है ?

लवलिका—माताजी ! सुने, हम यहाँ से निकल कर अनेक ग्रामो, नगरो में घूमी, अनेक घटनाओं से पूर्ण सारी पृथ्वी का अवलोकन किया, कई स्थानो पर गयी और कई लोगो से परिचय हुआ। पृथ्वी पर कैसी-कैसी अद्भुत घटनाये घटती हैं और कैसे भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति रहते हैं, इसका अनुभव किया। घूमते-घूमते हम सप्रमोद नगर पहुँची। इस नगर के बाहर स्थित आह्लादमन्दिर उद्यान है। बाहर से यह उद्यान बहुत सुन्दर लग रहा था, अतः इसे अच्छी तरह देखने का हमें कौतूहल हुआ। हम थोड़ी देर खड़ी रहकर देखने लगी। वहाँ हमने ऊपर से ही देवता जैसी अत्यन्त सुन्दर आकृति के धारक दो आकर्षक राजकुमारो को देखा। उन दो मे से एक को देखते ही मेरी प्यारी सहेली कामदेव के बाण से घायल हो गई। मदन-ज्वर से पीडित मेरी सखी मेरे साथ बगीचे मे उतरी।* हम दोनों उनको दिखाई दे सके ऐसे आम्रवन मे एक आम्रवृक्ष के निकट रुकी। मेरी सखी तो उनमे से एक राजकुमार को अपलक/एकटक देख रही थी। मुझे ऐसा लगा कि उस राजकुमार की भी दृष्टि मेरी सखी पर पड़ गई है।

मेरी सखी उस समय ऐसे अपूर्व रस का अनुभव करने लगी कि मानो किसी ने उसे सुखसागर में तरबतर कर दिया हो, मानो उसके पूरे शरीर पर किसी ने अमृत की वृष्टि की हो। माताजी ! वर्षा ऋतु मे घन-गर्जन को सुनकर जैसे मयूरी हर्षित हो जाती है वैसा ही रोमांच उसके सारे शरीर मे हुआ। कदम्ब पुष्प की तरह उसका मुख विलास से मधुर हो गया और उसका सम्पूर्ण शरीर रस से भीगा हुआ दिखाई दिया। मानो रस-वृष्टि से नृत्य कर रही हो, बार-बार लज्जित हो

* पृष्ठ ६६४

रही हो। मानो विशाल आँखो से हस रही हो। इस प्रकार वह एकचित्त कुमार पर दृष्टि जमाये रही। [६४–६७]

मेरी सहेली को एकचित्त रस में डुबकियाँ लगाते देख मैं भी बहुत हर्षित हुई। मैंने सोचा कि, अहो ! मेरी सखी सचमुच अत्यन्त ही चतुर है और इसकी अभिरुचि भी कितनी विशिष्ट है। मुझे लगता है कि राजकुमारी उस कमनीय युवक पर आकर्षित हुई है। अहा ! कैसा सुन्दर उसका स्वरूप ! कैसी लावण्यता। अहा सचमुच इन दोनो का सम्बन्ध हो जाय तो वह कामदेव और रति के सम्बन्ध जैसा ही होगा। अहा ! यह युगल जोड़ी तो सचमुच विधाता ने ही बनाई है। मुझे लगता है कि आन्तरिक प्रेम युक्त इस मिलन से हमारी इच्छा पूर्ण हुई है। [६८–७१]

मै इस प्रकार सोच ही रही थी कि वह युवक किसी कारण से तत्काल अपने मित्र के साथ उठा और वहाँ से चल पड़ा। उनके जाते ही मेरी सहेली की आँखे तरल हो गई, मानो उसका धन-भण्डार नष्ट हो गया हो इस प्रकार अत्यन्त विह्वल हो गई। [७२–७३]

तब मैंने उससे कहा—सखि ! यदि तुझे यह तरुण पसद आया हो तो चलो हम आपके माता-पिता के पास चले। मुझे विश्वास है कि यह अवश्य ही इस नगर के राजा मधुवारण का पुत्र होगा। अन्य ऐसा आकर्षक रूपवान कौन हो सकता है ? अतः पिताजी की आज्ञा लेकर उसका वरण किया जाय। अब विलम्ब करने की क्या आवश्यकता है ?

मदनमजरी—सखी लवलिका ! मुझे तो वह पसद आया है, पर मेरे मन मे एक शका है जिससे दुःख होता है। मुझे लगता है कि उसने मुझे पसद नही किया है, अन्यथा वह इतनी शीघ्रता से उठकर क्यो चला जाता ?

लवलिका—नही सखि ! ऐसा मत कह। तू जरा सोच, क्या उसकी दृष्टि तेरी तरफ नही थी ? क्या तेरी तरफ देखते हुए उसकी आँखो मे तुझे सतोष दिखाई नही दिया था ? फिर तू ऐसी बात क्यो करती है ? मैं तो यहाँ तक कह सकती हूँ कि वसन्त ऋतु मे जैसे भ्रमरो को रसाल आम्रमञ्जरी पर रुचि होती है, उससे भी अधिक वास्तविक रुचि उसको तुझ पर हुई है, इसमे कोई सदेह नही। हे सुमुखि ! तू अपने मन से शका को निकाल दे। उसे तुझ पर प्रेम हुआ है और वह चतुराई से यहाँ से दूर चला गया है। अतः चलो हम माता-पिता के पास चले और उन्हे सारा वृत्तान्त बताये। [७४–७६]

लवलिका ने आगे बताया कि उसके उपर्युक्त कथन से मदनमजरी को कुछ सात्वना मिली, कुछ स्वस्थ हुई,* पर उसने यहाँ लौटने से इन्कार किया। वह बोली—सखि ! अभी मुझ मे यहाँ से चलने की शक्ति नही है। मेरा शरीर अस्वस्थ

* पृष्ठ ६९५

है । मैं अभी इस उद्यान को छोड़कर कही नही जा सकती । तुम शीघ्रता से जाओ और माता-पिता को सब समाचार बतला दो ।

माताजी ! मैंने सोचा कि सखी ने जो निर्णय किया है, उसमे परिवर्तन की कोई गु जाइश नही है । अतः मैने एक विशाल वृक्ष की कोटर मे ठण्डे पत्तो की शय्या बनाकर उस पर उसे सुलाया और उसको शपथ दिलवायी कि वह उस स्थान से तनिक भी इधर-उधर नही जायेगी और असमंजसकारी कोई कदम नही उठायेगी । तदनन्तर तलवार जैसे काले बादलो को चीरती हुई मैं वेगपूर्वक यहाँ आ पहुँची हूँ । अब आप जैसा उचित समझे वैसा करे ।

पिता का निर्णय

लवलिका से उपर्युक्त सारा वृत्तान्त सुनकर मेरे स्वामी महाराजा कनकोदर ने मुझ से कहा—देवि ! तुम शीघ्र मदनमजरी के पास जाओ और उसे आश्वस्त करो । मैं सब सामग्री एकत्रित कर तुम्हारे पीछे-पीछे शीघ्र ही पहुँच रहा हूँ । अपने गुप्तचर चटुल ने अभी-अभी मुझे यह गुप्त सदेश दिया है कि स्वयवर मण्डप से उठकर बिना मुझसे मिले जो विद्याधर राजा चले गये थे वे बहुत क्रोधित हैं । अतः मेरा सब प्रकार से सन्नद्ध होकर वहाँ आना ही ठीक रहेगा । मुझे कुछ भेंट भी ले जानी चाहिये । भेंट के लिये कुछ सामग्री एकत्रित करने मे भी मुझे कुछ समय लगेगा । अत. तुम शीघ्र जाकर उसे धैर्य बन्धाओ ।

महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने अपनी प्रिय दासी धवलिका को साथ लिया और लवलिका को मार्ग-दर्शन के लिये आगे कर, हम सब इस उद्यान मे आ पहुँची ।

माता का आगमन

यहाँ पहुँचते ही मैंने ठण्डे पत्तो की शय्या पर बैठी और योगिनी की भाँति किसी एक ही विषय के ध्यान में मग्न पुत्री मदनमजरी को देखा । वह इतनी एकाग्र थी कि हमारे आने का भी उसे पता नही लगा । हम सब जाकर उसके पास में बैठ गये । फिर लवलिका ने उसके ध्यान को भग करते हुए कहा—सखि ! माताजी आई हैं और तुम यों ही बैठी हो ?

लवलिका की बात सुनकर पुत्री की एकाग्रता टूटी । उसने आलस्य मोड़ा, आँखें झपकायी और सम्भ्रम पूर्वक उठकर मेरे पाव छूए । मैंने आशीष दी—पुत्रि ! चिरजीवो हो । तू मुझ से भी अधिक आयुष्यमान्, पतिव्रता और सौभाग्यवती हो । तेरा हृदयवल्लभ तुझे शीघ्र प्राप्त हो । फिर मैंने उसे ऊपर उठाया, आलिंगन किया, गोद में बिठाया, मुख चूमा, सिर सूँघा और पुन. कहा—पुत्रि ! थोड़ा धैर्य धारण कर, शोक का त्याग कर । देख, मुझे ऐसा लग रहा है कि तेरी इच्छा अब शीघ्र ही पूरी होगी । तेरे पिताजी भी शीघ्र ही यहाँ आ रहे है अब तेरी इच्छा पूर्ति मे थोड़ी घड़ियाँ ही शेष रह गई हैं ।

'मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?' धीरे से कह कर नीचा मुँह किये वह वहीं बैठी रही।

उस समय सूर्य अस्त हुआ। सर्वत्र अन्धकार फैल गया। आकाश मे तारे जगमगाने लगे। चकवे चकवी की जोड़ी का वियोग हुआ। कमल बन्द हो गये। पक्षी अपने-अपने घोसलों में चले गये.। उल्लू चारो तरफ उडने लगे।* भूत, वैताल प्रसन्न हुए। आकाश में चन्द्रमा उग आया और उसकी शुभ्र चान्दनी चारो ओर फैल गयी। हमने पुत्री के मन को प्रसन्न रखने के लिये सारी रात कहानियाँ और अन्य चुटकले आदि सुनाकर बड़ी कठिनाई से बिताई।

प्रातः सूर्य के उदय होने पर मैने लवलिका से कहा—लवलिका! थोडी देर आकाश मे खड़ी रहकर देखो, महाराजा कनकोदर आ रहे है या नही? उन्हे इतनी देरी कैसे हो गयी? अभी तक नही आये। लवलिका आकाश मे उड़ी, ऊपर जाकर थोडी देर स्थिर रही, फिर अत्यन्त हर्ष के साथ वापस भूमि पर आ गई। मैने पूछा, अरे बहुत अधिक हर्ष हो रहा है, क्या बात है? महाराजा पधार गये क्या?

लवलिका—नही, माताजी! महाराज तो अभी नही आये है, पर कल वाले दोनो राजकुमार यहाँ आ पहुँचे है। वे मेरी सखी को ढूँढते हुए पूरे उद्यान मे फिर रहे है, पर हम जिस स्थान पर बैठे है, वह अति गहन होने से हम उनकी दृष्टि-पथ मे नही आये है। उनमे से एक जो मेरी सखी के हृदयवल्लभ है, मेरी सखी को न देखकर कुछ खिन्न हो रहे थे, तब उनके मित्र ने कहा—भाई गुणधारण! कल हम जिस आम्रवृक्ष के नीचे बैठे थे और जहाँ से तुमने उस पवनचालित कमलपत्र जैसी चचल नेत्रो वाली और हृदय को चुराने वाली युवती को देखा था, उसी स्थान पर फिर चले, इधर-उधर फिरने से क्या लाभ? भाग्य अनुकूल होगा तो वहीं उससे भेंट (मुलाकात) हो जाएगी।

राजकुमार ने मित्र की बात स्वीकार की और दोनो कुमार अभी इसी आम्रवन मे आ गये है। माताजी यही मेरे हर्ष का कारण है।

मदनमजरी—माताजी! ऐसी कृत्रिम बाते बनाकर यह क्यो मुझे ठग रही है? मदनमजरी ने लवलिका की सब बात झूँठी मानी और निःश्वास छोडते हुए कहा। उसे विश्वास दिलाने के लिये लवलिका ने सैकड़ो सौगन्ध खायी, पर पुत्री मदनमजरी को उस पर विश्वास नही हुआ।

इस प्रसग को समाप्त करने के लिये मैंने कहा—लवलिका! शपथे लेने से क्या लाभ? तू मेरे साथ चल और कुमार को मुझे बता। उन्हे यहीं लाकर पुत्री को दिखादें जिससे इसे वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सके। लवलिका के हाँ कहने पर दासी धवलिका को वहाँ छोड़ हम दोनो तुम्हारे पास आयी हैं।

---

* पृष्ठ ६६६

कुमार ! मेरी पुत्री दुष्कर रुचिवाली होने से साधारणतः किसी को पसंद ही नहीं करती । अभी उसके प्राण कण्ठ तक आ गये है । कृपया उठकर चलिये, उसे देखिये और संभालिये । [७७]

मेरे और कुलन्धर के सामने इस प्रकार अपनी आप-बीती सुनाकर मदन-मंजरी की माता कामलता विद्याधरी चुप हो गई ।

---

३. गुणधारण-मदनमंजरी-विवाह

दर्शन से रसानुभूति

महारानी कामलता की आपबीती पूरी होने पर मैंने अपने मित्र कुलन्धर की ओर देखा । उसने कहा—भाई कुमार ! मैंने भी सब बात सुनी है, चलो, इसमे क्या आपत्ति है ? पश्चात् हम दोनो वहाँ से उठे और सब मिल कर वहाँ आये जहाँ मदनमंजरी थी । कामलता ने मदनमंजरी का जैसा वर्णन किया था वैसी ही स्थिति उसकी हो रही थी । उसके दर्शन कर मुझे ऐसा लगा जैसे मैं सुखसागर में डुबकियाँ लगा रहा हूँ, रति-रसपूर्ण समुद्र में उतर गया हूँ, आनन्दानुभूति मे डूब गया हूँ, मानो मेरे सर्व मनोरथ पूर्ण हो गये हों, मेरी सभी इन्द्रियाँ आनन्दित हो गई हों तथा समग्र महोत्सवो के समूह वहाँ एकत्रित हो गये हों ।*

मुझे देखते ही मदनमंजरी भी 'अरे ! यह तो सचमुच वही हैं' सोचकर हर्षित हो गई । 'बहुत लम्बे समय बाद दिखाई दिये' इस विचार से उत्कंठित हो गई (यद्यपि २४ घण्टे से अधिक नही बीते थे, पर विरही प्रेमियों के लिये तो यह भी बहुत लम्बा समय होता है) । पर, 'वे अभी यहाँ कैसे हो सकते हैं' ऐसा तर्क करने लगी । 'कही वह स्वप्न तो नही देख रही है' इस विचार से खिन्न हो गई । 'अरे ! वे तो सचमुच वही है' इस निर्णय से उसका विश्वास जमा । 'इतना लम्बा विरह सहकर वह कैसे जीवित रह सकी' इस विचार से लज्जित हुई । 'अब ये मुझे स्वीकार करेंगे या नही' इस विचार से उद्विग्न हो गई । पर, 'ये तो मेरे सामने ही देख रहे हैं' जान कर प्रमुदित हुई । मदनमंजरी को उस समय अनेक प्रकार के मिश्र रसों का अनुभव हुआ । उसका शरीर रोमांचित हो गया, पसीने से भीग गया,

---

* पृष्ठ ६९७

श्वासोच्छ्वास तेज हो गया और वह हृदयहारी मधुरलता की तरह कांपने लगी। मुझे वह ललित ललना अपने स्निग्ध कपोल और चञ्चल नेत्रो से उस समय वर्णनातीत अत्यन्त प्रीति रस में डूबती हुई नजर आई। [७८]

उस समय कामलता ने मौन तोड़ा—क्यों पुत्रि ! अब तो तुझे लवलिका की बात पर विश्वास हुआ ? प्रश्न सुनकर स्मित हास्य से मेरे हृदय को रजित करती हुई और हास्य सुधा से अपने कपोलों को उज्ज्वल (रक्ताभ) करती हुई मदनमजरी अधोमुखी होकर नीचे देखने लगी। इस दृश्य से सभी हर्षित हुए।

कनकोदर आगमन

उसी समय महाराज कनकोदर वहाँ आ पहुँचे। चारो तरफ जगमगाते रत्नों की देदीप्यमान प्रभा से आकाशमार्ग उद्योतित हो गया। राजा के साथ वाले विद्याधर मानो महान् ऋद्धिमान देव हो ऐसा प्रतीत होने लगा। उनके मध्य मे महाराज कनकोदर दूर से इन्द्र की भाँति आकाश में सुशोभित होने लगे। उन्होने अपने विमान में अनेक रत्न भर रखे थे जिनकी शोभा अवर्णनीय थी। आकाश से सप्रमोदपुर नगर को देखकर वे सभी धीरे-धीरे आह्लाद-मन्दिर उद्यान में उतरने लगे और हम सब अत्यन्त विस्मयपूर्वक उन्हे नीचे उतरते हुए देखते रहे।
[७९-८१]

कनकोदर राजा के नीचे उतरते ही हम सब खडे हो गये और मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। सभी अपने-अपने योग्य स्थान पर बैठे। महाराजा कनकोदर ने प्रेम पूर्ण दृष्टि से कुछ समय मेरी तरफ देखा। फिर 'यह वही होना चाहिये' ऐसा मन में निश्चय होने से प्रसन्नचित्त होकर उन्होने महारानी कामलता की ओर देखा। चतुर लोग आस-पास की परिस्थितियो से अनुमान द्वारा सब कुछ समझ जाते हैं। चतुर कामलता भी राजा के आन्तरिक भाव को समझ गई और उसने संक्षेप मे राजा को सब कुछ बता दिया।

अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए राजा बोले—देवि ! अभी तक हम अपनी पुत्री की अभिरुचि को अति दुर्लभ कहा करते थे। हमें यह भी सदेह था कि यह कभी किसी पुरुष को स्वीकार भी करेगी या कुंवारी ही रहेगी, पर इसने तो ऐसे पुरुषरत्न को पसद किया है कि इस पर लगे दुष्कर रुचि के आरोप को झुठला दिया है। सच ही है, इन्द्राणी इन्द्र के अतिरिक्त अन्य को कैसे स्वीकार कर सकती है ? राजा के अभिप्राय का कामलता ने समर्थन किया और कहा कि, हाँ ऐसा ही है, इसमें क्या सदेह है ?

मदनमंजरी का पाणिग्रहण

यह चर्चा चल रही थी कि महाराजा के पास अतिवेग से उनका गुप्तचर चटुल आया और उनके कान में कुछ गुप्त सदेश दिया। दूत को विसर्जित कर राजा ने कामलता से कहा—'ऐसे आवश्यक कार्य में देरी उचित नही है' यह कहकर राजा

ने पास ही बैठे कुलन्धर से परामर्श किया और उसी स्थान पर संक्षिप्त विधि से अपनी कन्या का विवाह मुझ से कर दिया।

आनन्दपूर्वक विवाह-कार्य सम्पन्न कर राजा ने वज्र, वैदूर्य, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, पद्मराग, मरकत, चूड़ामणि, पुष्पराग, चन्द्रकान्त, रुचक, मेचक आदि बहुमूल्य रत्नों से भरे अपने विमानों को * कुलन्धर को बताते हुए कहा—भद्र राजपुत्र! ये विमान मैं पुत्री को दहेज मे देने के लिये लाया हूँ। जिस प्रकार हमारी पुत्री से विवाह कर कुमार ने हमारे आनन्द में वृद्धि की है, उसी प्रकार हमारे इन विमानो मे भरी हुई वस्तुओं को भी कुमार ग्रहण करे, ऐसा हमारा अनुनय है।

चतुर कुलन्धर ने उत्तर मे कहा—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। इसमे अनुनय का अवकाश ही कहाँ है? "बडे लोगों को जब जैसी इच्छा हो वैसी आज्ञा दे सकते है, राजपुत्रो से पूछने या कहने का तो प्रश्न ही नही उठता।" उत्तर सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। उनको लगा कि वे कृत-कृत्य हो गये हैं, उनका जीवन सफल हो गया है। 'पुत्री मदनमजरी आज सचमुच सन्तुष्ट और निश्चिन्त हुई है' इस विचार से महारानी कामलता भी परम सन्तुष्ट हुई और लवलिका आदि राजा का पूरा परिवार हर्षित हुआ।

"पुत्री के जन्म पर शोक होता है, बडी होने पर चिन्ता होती है, विवाह योग्य होने पर सकल्प-विकल्प होते है और दुर्भाग्य से ससुराल मे दुःखी रहे या विधवा हो जाय तो गाढ दुःखकारी होती है। अपने अनुरूप, रुचि के अनुकूल, धर्मिष्ठ और धनवान योग्य वर को पुत्री प्रदान करने पर निश्चिन्तता प्राप्त होती है।" इसी के अनुसार रत्नराशि के साथ मदनमजरी को मुझे प्रदान कर राजा और समस्त परिजन प्रमुदित थे। [८२-८४]

युद्धातुर विद्याधर दल

इसी समय सप्रमोद नगर पर बादलो की तरह छायी विद्याधरो की एक बडी सेना आकाश मार्ग से आती हुई दिखाई दी। इन सैनिको के पास अनेक चक्र, तलवारें, भाले, बर्छे, बाण, शक्तिबाण, फरसे, धनुष, दण्ड, गदा, नेजे आदि शस्त्र-अस्त्र थे; जिनकी चमक से आकाश प्रकाशित हो रहा था। यह सेना अति विकराल, युद्धातुर, विजय-मद-गर्वित और असख्य गगनचारी योद्धाओ तथा सेनापतियो से सुसज्जित थी। इसके योद्धा अपने सिंहनाद, करतल ध्वनि और जयनाद से आकाश को गुजा रहे थे। इसके सैनिक कवच, शिरस्त्राण (टोप) आदि से सज्जित होकर क्रोधान्ध अवस्था मे लड़ने को तैयार होकर आये थे। हमने सिर उठाकर देखा तब तक तो युद्धाभिमान से स्पर्धा करती हुई यह पूरी सेना आकाश मे हमारे सिर के ऊपर आ पहुँची। [८५-८९]

---

* पृष्ठ ६९८

राजा कनकोदर ने गर्जनापूर्वक अपने सैनिकों को हाक लगाई। विद्याधर योद्धाओं ! शीघ्र तैयार हो जाओ। चटुल गुप्तचर ने मुझे अभी-अभी यह गुप्त सदेश दिया था वह स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो गया। चटुल ने बतलाया था कि पुत्री के स्वयंवर मण्डप से क्रोधित होकर मेरे से संभाषण किये विना ही गये हुये राजा मात्सर्य और द्वेष से अन्धे होकर आपस में मिल गये है। अपने गुप्तचरो द्वारा उन्हे पता लग गया है कि मदनमंजरी का विवाह गुणधारण से हो रहा है। वे समझते हैं कि विद्याधर होने के नाते वे जमीन पर चलने वाले गुणधारण से अधिक उत्तम हैं। अतः वे कैसे सहन कर सकते है कि उनकी विद्यमानता में मदनमजरी किसी साधारण पुरुष से विवाहित हो ! इसीलिये वे सब युद्धातुर होकर लड़ने के लिये आये है। मेरे वीरों ! जैसे गरुड़ कौओ पर टूट पड़ता है वैसे ही इनके इस आह्लाद-मन्दिर बगीचे में उतरने के पहले ही इन पर टूट पड़ो और इनके मिथ्याभिमान को नष्ट कर इन्हें मिट्टी मे मिला दो। मुझे तुम्हारी वीरता पर पूरा विश्वास है, अत अपनी वीरता दिखाकर स्वामी का मान रखो। [९०-९५]

राजा की रणगर्जना सुनकर वे सभी योद्धा तैयार होकर* जमीन से आकाश में चढ़ने को तत्पर हुए। यह दृश्य देखकर मैंने (गुणधारण) सोचा कि, ओह ! मेरे लिये यहाँ खून की नदियाँ बहे, इन लोगों का विनाश हो, यह तो ठीक नही है। [९६-९७]

स्तम्भन और शान्ति

उसी समय एक अप्रत्याशित घटना घटी, उसे भी सुने। किसी ने दोनो सेनाओ को स्तम्भित कर दिया। जमीन पर खड़ी कनकोदर की सेना और आकाश में खड़ी विपक्षी विद्याधरों की सेना दोनों चित्रलिखित-सी जहाँ की तहाँ स्तम्भित हो गई, पुत्तलिकाओ के समान स्थिर हो गई। उनका गर्वगर्जन, उनकी सब हलन-चलन, यहाँ तक कि आँखों की पुतलियाँ तक भी हिलनी बन्द हो गई। दोनो सेनाये एक दूसरी को निःशब्द और चित्र-लिखित-सी दशा में देखकर आश्चर्य-चकित रह गई। [९८-१००]

आकाश-स्थित सेना ने मुझे और मदनमंजरी को श्रेष्ठ आसन पर बैठे देखा। मुझे देखकर उन सब के मन में विचार आया—अहा ! इस कुमार का कैसा सुन्दर रूप है ! कैसी आकृति है ! क्या कान्ति है ! कैसे सुन्दर गुण है ! कितना धैर्य है ! कितनी स्थिरता है ! अहा ! विचारशीला मदनमजरी ने सचमुच ही इस महात्मा पुरुष को अपनी परीक्षा के बाद ही पति बनाया है। निःसदेह इसी महापुरुष ने अपने तेज से हमको स्तम्भित कर दिया है। देखो, यह मदनमंजरी और अपने मित्र के साथ स्वस्थ बैठा है और हम सब स्तम्भित है। हमने इस पुरुषरत्न को

* पृष्ठ ६९९

मार डालने की इच्छा की, यह बहुत ही बुरा किया, इसी महापाप के फलस्वरूप ही स्तम्भित हुए हैं। यह महापुरुष ही हमारा स्वामी है, हम सब उसके सेवक हैं।

क्षमा और आनन्द

इस विचार के आते ही उनकी ईर्ष्याग्नि शान्त हो गई, अतः जिसने उनको स्तम्भित किया था, उसी ने उन्हें तत्क्षण पुनः स्वतन्त्र कर दिया। स्वतन्त्र होते ही वे सब नभचारी तुरन्त नीचे आये और मेरे चरणों में गिर पड़े। उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़कर ललाट पर लगाकर कहा—'नाथ ! हमारे अपराध क्षमा करें। अब हम आपके दास हैं। हमारी जो भूल हुई उसके लिये क्षमा-प्रार्थी हैं।' हे भद्रे ! उनकी क्षमायाचना को देखकर कनकोदर राजा का अभिमान भी नष्ट हुआ जिससे उनकी सेना भी स्तम्भन से मुक्त हुई। सभी विद्याधर हाथ जोड़कर परस्पर क्षमा-याचना करने लगे। सभी की आँखो मे हर्ष के आँसू आ गये। सब परस्पर सगे भाइयो के समान गले मिले। [१०१–१११]

मधुवारण आदि को आनन्द

किसी के द्वारा मेरे पिताजी (मधुवारण राजा) को भी ये समाचार ज्ञात हुए और वे भी उस आह्लाद मन्दिर उद्यान में आ पहुँचे। दूर से उनको आता देख मैं खड़ा हो गया, मेरे साथ अन्य सभी विद्याधर उनका सन्मान करने खड़े हो गये। मैंने और मदनमंजरी ने पिताजी के चरण-कमलों में मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। मेरी माताजी आदि सभी अन्त.पुरवासी, मन्त्रि-मण्डल और बहुत से नगर निवासी भी यहाँ आ गये थे। हम सब ने सब को यथोचित नमन आदि किया। विद्याधरो ने भी उनका यथायोग्य सन्मान किया जिससे सभी हर्षित हुए। [११२–११४]*

मेरे पिताजी अत्यधिक आनन्द से रोमाचित हो गये, आनन्दाश्रुओं से उनके नेत्र भीग गये और अत्यन्त हर्ष से मुझ को आलिंगन में जकड़ लिया। [११५]

मित्र कुलन्धर ने विनयावनत होकर उस समय पिताजी को सब वृत्तान्त सक्षेप मे सुनाया जिससे उपस्थित समुदाय को पूरी घटना की जानकारी हो गई। सभी विद्याधर हाथ जोड़कर मेरे पिताजी से कहने लगे—प्रभो ! गुणधारण कुमार हमारा देव है, हमारा स्वामी है। आपके इस चिरंजीवी पुत्र ने हमें जीवन-दान दिया है। यह धन्य है। कृतार्थ है। महाभाग्यवान है। इन्होंने इस पृथ्वी को सुशोभित किया है। इनमें अकल्पनीय शक्ति-पराक्रम है। इनके जैसा अन्य गुणवान मनुष्य इस ससार मे हमारे देखने मे नही आया। [११६–११८]

विद्याधरो को मेरी स्तुति करते देख मेरे पिताजी और माता सुमालिनी अत्यन्त प्रसन्न हुए। मेरे वैभव को देखकर सम्पूर्ण राजमन्दिर निवासी परिजन,

---

* पृष्ठ ७००

सैनिक, नगरनिवासी, बालक और वृद्ध सभी अत्यन्त हर्षित हुए। 'जिन्हें हम अपना मानते है उन्हे ऋद्धि-सिद्धि या मान प्राप्त होने पर प्रसन्नता हो, इसमे क्या आश्चर्य ? हमारी कल्पना से भी अधिक ऋद्धि-सिद्धि अपने प्रेमीजन को मिलती देखकर तो अपार हर्ष होता ही है।' अत्यन्त आनन्दित लोगो ने फिर हमारा नगर प्रवेश महोत्सव किया। 'अत्यधिक प्रसन्नता होने पर मानव क्या-क्या नही करता!' [११९-१२१]

प्रवेश महोत्सव के समय विद्याधर आकाश मे चलने लगे। मैं अपने पिताजी के साथ उनके पीछे जयकुंजर नामक मुख्य हाथी की अम्बाडी पर बैठा था। मेरे पीछे दूसरे हाथी पर कुलन्धर बैठा था। हथनियो पर माताजी आदि स्त्रीवर्ग बैठा था। हमारे आगे लोगों का विशाल समूह चल रहा था। कोई नाच रहे थे, कोई विलास (हँसी ठठोली) कर रहे थे, कोई हर्ष के आवेश मे उच्च स्वर से गा रहे थे। कुछ ने पुष्पहार और कुछ ने सुन्दर वस्त्राभूषण पहने रखे थे, जिससे सभी लोग देवता जैसे सुशोभित हो रहे थे। अत्यन्त प्रमोद और मानसिक सुखभार के कारण उस समय वह उद्यान नन्दनवन और वह नगर देवलोक जैसा लग रहा था। अत्यन्त विशाल नितम्ब और सुन्दर उरोजो वाली ललित ललनाएँ हर्षपूर्वक नृत्य गान कर रही थी। ऐसे सैकडो प्रकार के विलासों सहित हमारा नगर प्रवेश हुआ। [१२२-१२५]

मेरे पिताजी ने कनकोदर राजा के सभी विद्याधरों तथा दोनो तरफ की सेनाओ के सभी योद्धाओ का उचित दान और सत्कार-सन्मान किया। हे अगृहीत-सकेता! मेरा वह पूरा दिन ऐसे बीता मानो वह दिन रत्नमय हो, अमृतरचित हो, सुखरस-पूर्ण हो। अधिक क्या कहूँ, वह दिन वर्णनातीत रूप से व्यतीत हुआ। इस दिन मुझे अत्यन्त आह्लाद हुआ। सब मनोरथो की सिद्धि हुई, कामदेव का सर्वस्व प्राप्त हुआ, मदनमंजरी जैसी अतुलनीय सुन्दरी प्राप्त हुई और महामूल्यवान रत्नो का भण्डार प्राप्त हुआ। मेरे काम और अर्थ सम्बन्धी अकल्पनीय मनोरथ सिद्ध हुए। उस दिन मेरे माता-पिता को अत्यधिक सतोष हुआ, बन्धुवर्ग हर्षित हुआ और नागरिकों ने महोत्सव मनाया। शत्रु मेरे वश मे हो गये जिससे भी मेरा मन अत्यन्त हर्षित हुआ। पूरे दिन अत्युन्नत दशा का अनुभव किया और रात्रि के प्रथम प्रहर तक पिताजी के पास रहकर हमने बहुत प्रकार से आनन्दोत्सव मनाया। [१२६-१३१]

इसके पश्चात् रात्रि का शेष भाग * मदनमजरी के साथ सर्व सामग्री से पूर्ण महल मे बिताया। देवता देवलोक मे जैसा सुख भोगते हैं वैसे ही सुख का मैंने उस रात अनुभव किया। सुरतामृत सुख के प्रेमसागर में गहरी डुबकी लगाने का अनुभव किया। पर, मेरी किसी भी विषय मे अत्यन्त लोलुपता नही थी, इससे मैं कही अत्यन्त आसक्त नही हुआ।

* पृष्ठ ७०१

सुरत-सुख का अनुभव करने के पश्चात् हम निद्राधीन हुए। प्रातः मदनमजरी के साथ उठा और उठकर उसी के साथ माता-पिता के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और फिर मैं अपने सभी प्रभातकालीन कर्त्तव्यों में लग गया। [१३२-१३४]

४. कन्दमुनि : राज्य एवं गृहिधर्म-प्राप्ति

कुलन्धर का स्वप्न

मेरा मित्र कुलन्धर दूसरे दिन प्रातः मेरे पास आया और बताया कि उसने रात में एक बहुत सुन्दर स्वप्न देखा है। स्वप्न में उसने स्पष्टरूप से पाँच व्यक्ति देखे जिसमें से तीन पुरुष और दो स्त्रियाँ थीं। उन्होंने बताया कि गुणधारण अभी जो सुखसागर में डुबकियाँ लगा रहा है, वह सब निःसंदेह हमने ही उसके लिये उपलब्ध कराया है। हे कुलन्धर! भूतकाल में उसके सम्बन्ध में जो कुछ अच्छा हुआ और भविष्य में जो कुछ होगा, वह सब हमारा ही किया हुआ था और होगा। इस प्रकार सूचित कर वे पाँचों पुरुष तुरन्त अदृश्य हो गये। हे कुमार! ये पुरुष कौन थे? उन्होंने किस प्रकार की योजना से तुझे सारे सुख उपलब्ध करवाये? यह स्वप्न से ज्ञात नहीं हो सका। [१३५-१४०]

स्वप्न-फल-विचार

मैंने कहा—भाई कुलन्धर! इस स्वप्न का वृत्तान्त पिताजी आदि को बतायें जिससे वे हमें इसके वास्तविक भावार्थ को स्पष्टतः समझा सकें। फिर कुलन्धर राज्यसभा में गया। राज्यसभा में विद्वत्समूह बैठा था। पिताजी और राज्यसभा के समक्ष बुद्धिमान कुलन्धर ने स्वप्न की बात कह सुनाई। पिताजी एवं सभी विद्वानों ने स्वप्न के अर्थ पर अलग-अलग विचार किया, फिर सभी ने एकमत होकर निम्न फलार्थ निश्चित किया। ऐसा लगता है कि अमुक देव गुणधारण के अनुकूल हुए हैं। उन्होंने ही कुमार के लिये कल्याणमाला निर्मित की है, ये सब सुख-साधन उपलब्ध कराये हैं। कुमार की सभी अनुकूलतायें उन्हीं के प्रताप से है। उन्होंने ही प्रसन्न होकर कुमार के मित्र को स्वप्न में आकर यह सब बताया है कि यह सब कल्याण-परम्परा हमारे द्वारा सर्जित है। [१४१-१४५]

विद्वानों द्वारा किये गये स्वप्न-निर्णय को मैंने भी सुना; क्योंकि उस समय मैं भी राज्यसभा में उपस्थित था। पहले महारानी कामलता ने मेरे श्वसुर

कनकोदर के स्वप्न की जो बात कही थी उसमें दो पुरुषों और दो स्त्रियो ने कहा था कि उन्होने मदनमजरी के लिये पति ढूँढ रखा है। इस स्वप्न की बात मुझे पूर्णतः याद थी। मेरे मन में शंका हुई कि श्वसुर के स्वप्न मे चार व्यक्ति थे और कुलन्धर के स्वप्न मे पाँच, तो कौन से ऐसे देव है जिन्हे मेरी अनुकूलता के लिये इतनी चिन्ता रहती है, फिर इस चिन्ता का कारण क्या है? इन स्वप्नो के पीछे कोई गहन कारण होना चाहिये, जो इस समय तो समझ मे नही आता, पर जब कभी किसी अतीन्द्रिय विषय के ज्ञाता मुनि महाराज का सयोग मिलेगा * तब ही उनसे पूछकर स्पष्ट निर्णय कर सकूँगा। इसके अतिरिक्त इसका सतोषजनक निर्णय असभव है। मेरे मन मे स्वप्न के अर्थ के प्रति सन्देह होने पर भी पिताजी एवं विद्वानों के अविनय से बचने के लिये मैंने प्रकट रूप से स्वप्नार्थ मे कोई दोष नही निकाला और उनके निर्णय को मान्य किया। [१४६-१५१]

जो विद्याधर राजा कनकोदर से लड़ने आये थे और जो आखिर मे मेरे सगे हो गये थे, उन्हे राजा कनकोदर के साथ कुछ दिन हमारे राज-मन्दिर मे ठहराया था। उनका योग्य आदर सत्कार किया गया। आनन्दामृत मे स्नान कर, मेरे प्रति सेवकत्व स्वीकार कर कुछ दिनो बाद वे सब अपने-अपने स्थानो को लौट गये। [१५२-१५३]

मर्त्यलोक में देवसुखानुभव

मदनमजरी के साथ रतिसुखसागर मे डूबकर अनेक प्रकार की लीलाओ मे मेरे दिन व्यतीत होने लगे। देवलोक मे देवता जैसे सुखो का अनुभव करते है वैसे सुखो का मैंने मर्त्यलोक मे अनुभव किया। दिन-प्रतिदिन प्रेमरस का अधिकाधिक पान करने लगा। आनन्दरसामृत प्रतिदिन बढता ही गया और सद्भावपूर्वक उसका मिलाप अधिकाधिक सुख देने लगा। हमारा प्रेमबन्ध अधिक सुदृढ होता गया। हमारे आह्लाद में निरन्तर प्रसार होता गया और हमारी प्रेम गोष्ठी विशेष दृढ होती गई। राज्यकार्य की चिन्ता पिताजी करते थे। अनेक राजा मुझे नमस्कार और प्रणाम किया करते थे। हे विशालाक्षि! ऐसे सुन्दर संयोगो मे मुझे तो चिन्ता की गन्ध भी नही आती थी। मेरे दिन सुख मे व्यतीत हो रहे थे। विद्याधर अनेक सुगन्धित फूलों के पुष्पहार ले आते थे, सुन्दर आभूषण आदि सर्व पदार्थ ले आते थे। इस प्रकार हमारी सभी इच्छाओ की तृप्ति होने से सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो रही थी। यद्यपि मेरा शरीर इस सुखसागर मे अवगाहन करता था तथापि मेरी आत्मा इसमें तनिक भी लुब्ध/आसक्त नही होती थी। हे चार्वङ्गि! इस प्रकार अपनी सुन्दर पत्नी मदनमजरी और सन्मित्र कुलन्धर के साथ आनन्द करते हुए मेरा समय व्यतीत हो रहा था। [१५४-१५८]

---

* पृष्ठ ७०२

कन्दमुनि समागम

एक दिन मै अपने मित्र और पत्नी के साथ आह्लादमन्दिर उद्यान में गया। वहाँ मैंने कन्द नामक मुनीश्वर के दर्शन किये। इन महान ओजस्वी यतीन्द्र को देखकर मैंने अत्यन्त विनयपूर्वक नम्र बनकर योग्य नमस्कार किया तथा धर्म सुनने और प्राप्त करने की बुद्धि से शुद्ध जमीन देखकर उनके सामने बैठा। कन्द मुनि ने हृदयाह्लादकारिणी कर्णप्रिय मधुर धर्मदेशना दी। मैं उनकी देशना को अत्यन्त आदरपूर्वक सुन रहा था तभी, हे भद्रे! मेरे अन्तरग मे पूर्व परिचित दो सुबन्धु आविर्भूत हुए, जिन्हें मैंने तुरन्त पहचान लिया। उनमे से एक तो ये महात्मा सदागम थे और दूसरा मेरा परम मित्र सम्यग्दर्शन था। हे सुलोचने! गुरु महाराज के उपदेश से प्रबोधित होकर मैंने इन दोनों को अपने हितेच्छु के रूप में पहचाना और गुरुवचन से जागृत होकर उन्हे उसी भाव से स्वीकार किया। [१५६–१६४]

पहले मैं जब विबुधालय में था तब वेदनीय राजा के मुख्य भाई सातावेदनीय नामक राजा से मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ था। वह मुझ पर बहुत मैत्रीभाव/स्नेह रखता था, मेरा पक्ष लेता था और मुझ पर अत्यधिक आसक्त रहता था। विबुधालय की मेरी मित्रता को याद कर वह मेरे साथ ही सप्रमोद नगर आया था। पर, अभी तक उसने छिपकर ही मुझे सुख का आस्वादन करवाया था। मेरे पुराने मित्रों सदागम और सम्यग्दर्शन का पुन: परिचय होते ही यह भी मुझ से स्पष्टत. प्रत्यक्षरूप से मिल गया और मेरी सुख-प्राप्ति की योग्यता को इसने गुरु महाराज के समक्ष ही अनन्त गुणी बढा दी। इसके पश्चात् सातावेदनीय राजा की मित्रता और सहायता से मुझे स्त्री और रत्न-प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले सुख मे अनन्तगुणी वृद्धि हो गई।* जिस प्रकार मैंने सम्यग्दर्शन और सदागम को स्वीकार किया था वैसे ही उस समय मेरी पत्नी मदनमजरी और मित्र कुलन्धर ने भी गुरु महाराज के समक्ष ही महात्मा सदागम और सेनापति सम्यग्दर्शन को अपने हितेच्छु के रूप मे स्वीकार किया। ऐसे सुन्दर परिवर्तन से अत्यधिक प्रसन्न होकर पवित्र मुनिराज ने फिर से अधिक विशुद्ध धर्मोपदेश दिया। [१६५–१७०]

चारित्रधर्मराज और सद्बोध की विचारणा

इधर चित्तवृत्ति अटवी मे महामोह आदि राजा जो घेरा डालकर पड़े थे वे कुछ शक्तिहीन हुए, कुछ नरम हुए, काँपने लगे और भय से घेराव छोडकर दूर-दूर जा बैठे। वहिन अगृहीतसकेता! उस समय चारित्रधर्मराज के मन मे कुछ सतोष हुआ और उसे प्रकट करते हुए उन्होने अपने मत्री सद्बोध से कहा—मन्त्रिवर! अभी अच्छा अवसर आ गया लगता है, बहुत सी अनुकूलताएँ वढ रही हैं, अत अभी तुम पुत्री विद्या को लेकर ससारी जीव के पास चले जाओ। अभी अधिक लाभ

* पृष्ठ ७०३

होने की सभावना है, क्योंकि चित्तवृत्ति अटवी कुछ अधिक उज्ज्वल हुई लगती है। हम पर डाला गया घेरा कुछ कम हुआ है, शत्रु भी अपने से कुछ दूर चले गये है, अतः कर्मपरिणाम महाराजा को पूछ कर यदि वे आज्ञा दे तो पुत्री विद्या को लेकर शीघ्र ससारी जीव के पास चले जाओ। हमारे गुप्तचरो से मुझे अभी-अभी संदेश मिला है कि ससारी जीव कुमार गुणधारण अभी कन्दमुनि के समक्ष बैठा है, अतः यदि तुम अभी पुत्री को लेकर पहुँच जाओगे तो वह अवश्य तुम्हे स्वीकार कर लेगा। [१७१-१७६]

सद्बोध मन्त्री ने राजा के विचार सुने, उनके विषय मे अपने मन मे विचार किया और वास्तविकता को ध्यान मे रखते हुए योग्य निर्णय सोचकर कहा—

देव ! आपका कथन ठीक है, इसमे कोई सदेह नही, पर मेरे विचार से अभी इस विषय मे थोडा कालक्षेप और करना चाहिये। योग्य अवसर की प्रतीक्षा करते हुए कुछ ढील देनी चाहिये; क्योंकि ससारी जीव के पास अभी कुछ समय उसके दो अन्तरग मित्र पुण्योदय और सातावेदनीय रहने वाले हैं। अभी कुछ समय तक उसके ये दोनों मित्र उसे भोग फल देंगे। अभी उसे पुण्य का उदय बहुत भोगना शेष है और शब्दादि सुख का पूर्ण लाभ प्राप्त करना है। इन दोनो मित्रो का कुमार पर अधिक स्नेह है, अतः वे उसे विषय सुख का आस्वादन करवाना चाहते है। इसलिये अभी वे गुणधारण कुमार को आग्रह पूर्वक घर (ससार) मे रखेंगे। फलत. जब तक ससारी जीव इन दोनो मित्रो के आग्रहानुसार आचरण करते हुए घर/संसार मे रहकर शब्दादि स्थूल विषयो को सुख का कारण समझे तब तक विद्या को उसके पास ले जाना मुझे तो किसी प्रकार योग्य नही जँचता। मेरा तो यह प्रस्ताव है कि अभी कुमार गृहिधर्म को उसकी पत्नी के साथ शीघ्र ही ससारी जीव के पास भेजना चाहिये। अभी ससारी जीव के समय और आस-पास के सयोगो को देखते हुए यदि कुमारश्री को सपरिवार वहाँ भेजा जाय तो वह अधिक समुचित होगा और जिस कार्य को सिद्ध करने की आपकी इच्छा है, उसमे साधक भी आगे जाकर वही बनेंगे। हे देव ! कुमार की पत्नी सद्गुणरक्तता तो ससारी जीव को अत्यन्त इष्ट होगी। मुझे लगता है कि कुमार के वहाँ जाने से गुणधारण भावपूर्वक उनका आदर करेगा और उन्हे अपने सम्बन्धी के रूप मे स्वीकार कर लेगा। [१७७-१८४]

पहले भी जब-जब ससारी जीव के पास सदागम था तब-तब उसने अपने कुमार गृहिधर्म को बहुत बार द्रव्य (उपचार) से देखा है। फिर सम्यग्दर्शन भी अपने कुमार गृहिधर्म को अपने साथ लेकर ससारी जीव के पास जाता रहा है, क्योंकि अपने सेनापति को गृहिधर्म कुमार पर अत्यधिक स्नेह है। सम्यग्दर्शन के ससारी जीव के पास जाने के बाद दो से नौ पल्योपम पृथकत्व काल मे भी उसने * भावपूर्वक गृहिधर्म को अपनी सगति में रखना स्वीकार किया था। पहले जब-जब

* पृष्ठ ७०४

ससारी जीव ने सदागम और सम्यग्दर्शन को पुन-पुन: देखा है, तब-तब उसने गृहिधर्म को भावत. स्वीकार किया है और ऐसी परिस्थिति असख्य बार आई है। हे देव! वर्तमान मे गुणधारण मेरे अथवा सदागम के अधिक निकट आ रहा है, अत' गृहिधर्म का उसके पास जाना विशेष अनुकूल रहेगा। अत: मेरे विचार मे अभी कुमार गृहिधर्म उसके पास जाये और उसे अपने गुणों से विशेष प्रसन्न करे। जब वह प्रसन्न हो जायगा तब मेरे और मेरे जैसे अन्य लोगो का भी उसके पास जाने का समय आ जायेगा। [१८५-१९०]

देव! दूसरी बात यह है कि अभी कुमार गृहिधर्म के वहाँ जाने से वह अपने शत्रु महामोह आदि को अधिक त्रास दे सकेगा और चित्तवृत्ति अटवी विशेष रूप से अधिक शुद्ध होगी। गृहिधर्म वहाँ होने से वह बार-बार ससारी जीव को प्रेरित करता रहेगा जिससे वह हमे देखने की इच्छा से हमारी ओर उन्मुख होगा। उसकी आत्मा को अधिकाधिक शान्ति और सुख प्राप्त होगा, उसके मन मे अधिकाधिक सतोष होगा, उसके कर्म निर्बल बनेंगे और उसके ससार-भ्रमण का भय दूर हो जायगा। गृहिधर्म के ये चार बड़े गुण हैं। अतएव इन परिस्थितियो मे अभी गृहिधर्म को वहाँ भेज देना चाहिये। फिर अवसर देखकर हम सब उसके पास चलेंगे। [१९१-१९४]

गृहिधर्म समागम

चारित्रधर्मराज को सद्बोध मत्री का परामर्श समयानुसार उचित लगा और उसके विचार नीतिसम्मत एव निर्मल लगे, अत: उन्होने शीघ्र ही व्यवस्था कर अपने छोटे पुत्र गृहिधर्म को निर्देश दिया। इस कार्य के लिये पहले कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा ली गई। तत्पश्चात् गृहिधर्म मेरे (ससारी जीव गुणधारण के) पास आने के लिये निकल पड़ा। जिस समय मैं आह्लादमन्दिर उद्यान मे कन्दमुनि के समक्ष बैठकर व्याख्यान सुन रहा था, उसी समय वह मेरे पास आ पहुँचा और मुनि ने मुझे श्रावकधर्म का उपदेश देकर उसे प्रकट किया। उसकी पत्नी सद्गुणरक्तता और उसके बारह कर्मचारी (श्रावक के १२ व्रत) भी उसके साथ थे। मैंने उन सब को बान्धव-बुद्धि से मुनि महाराज के समक्ष ही स्वीकार किया, स्वागत किया और उन सब का यथोचित आदर किया। मेरे मित्र कुलन्धर ने भी उसी समय गृहिधर्म, उसकी पत्नी और उसके १२ कर्मचारियो को अन्तरग से स्वीकार किया। इस समय हमें अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ। [१९५-१९९]

स्वप्नफल-पृच्छा

गृहिधर्म को स्वीकार करने के बाद मैंने कन्दमुनि से स्वप्न मे आये चार और पाँच व्यक्तियों के विषय मे पूछा। कनकोदर और कुलन्धर को जो स्वप्न आये थे उनके अन्तर को बताते हुए उन स्वप्नो का पूरा वृत्तान्त मुनिराज को कह सुनाया और उसके भावार्थ को जानने की जिज्ञासा उनके समक्ष प्रस्तुत की।

कन्दमुनि बोले—भाई गुणधारण! तेरे स्वप्नो का भावार्थ अतीन्द्रिय ज्ञानी गुरु के अतिरिक्त कोई नही बता सकता। मेरे गुरु निर्मलसूरि केवलज्ञान रूपी सूर्य

से उद्योतित/प्रकाशित है, पर वे अभी दूर देश में विहार कर रहे हैं। हे भद्र ! जब मैं उनके चरण-वन्दन के लिये जाऊँगा, तब तेरी शका का समाधान उनसे पूछूँगा। मुझे विश्वास है कि दोनो स्वप्नो के विषय मे तुझे जो सन्देह है उस बारे मे वे स्पष्ट निर्णय दे सकेंगे। वे महाज्ञानी है, अतः स्वप्न के भीतरी आशय/रहस्य को बराबर समझते है। [२००-२०४]

उत्तर मे मैने कहा—भगवन् ! यदि आपके गुरु महाराज निर्मलाचार्य स्वय ही यहाँ पधार सकें तो कितना अच्छा हो ! [२०५]*

कन्दमुनि—हे महाभाग ! मै तेरे कहने से गुरु महाराज के पास जाऊगा और उन्हे यहाँ पधारने की प्रार्थना करूगा। मुझे विश्वास है कि वे स्वय यहाँ पधार कर तेरे मनोरथ पूर्ण करेगे। अथवा उनकी आत्मा केवलज्ञान के प्रकाश से लोकालोक के समग्र भावो को जानती है, अतः तेरे मन के भावों को जानकर, मेरे विना बुलाये भी वे स्वय यहाँ पधार सकते है। जब तक वे यहाँ न पधारे तब तक तुम्हे सदागम और सम्यग्दर्शन के साथ गृहिधर्म का पूर्ण आदर करना चाहिये। [२०६-२०८]

गुरु महाराज के मधुर एवं कर्णप्रिय अन्तिम उपदेश को मैंने अत्यन्त आदरपूर्वक स्वीकार किया और कहा—भगवन् ! आपकी बहुत कृपा। मेरी पत्नी ने भी भगवान के वचनों को स्वीकार किया। हे भद्रे ! फिर गुरु महाराज को मुहुर्मुहुः विनयावनत होकर मस्तक झुकाकर वन्दन कर मैं अपनी पत्नी और मित्र के साथ उद्यान में से अपने राजभवन मे आ गया। तत्पश्चात् महाभाग्यवान कदमुनि भी अन्य मुनियों के साथ अपने गुरु निर्मलाचार्य के पादपद्मों का वन्दन करने वहाँ से विहार कर गये। [२०९-२११]

गुणधारण को राज्य-प्राप्ति

हे अगृहीतसकेता ! इसके कुछ दिनो बाद मेरे पिता मधुवारण धर्म का सेवन करते हुए समाधि-मरण पूर्वक परलोक पधार गये।

मेरे बान्धवजनों, मन्त्रियो और सेनापति ने अत्यन्त हर्षित होकर महान् आनन्द से मेरा राज्याभिषेक किया। उस समय सभी प्रकार के योग्य महोत्सव आदि मनाये गये। मुझे राज्य-प्राप्त होते ही सारा राज्य मण्डल मेरा अनुरागी हो गया, शत्रु मेरे वशवर्ती हो गये, विद्याधर तो पहले ही वश मे थे। देवता भी नतमस्तक होकर मेरी आज्ञा मे रहने लगे। मेरा कोष, आज्ञा और समृद्धि भी बढने लगी। धनुष-बाण चलाये बिना और क्रोध किये बिना ही मेरा राज्य निष्कटक हो गया। सुखो की प्राप्ति होने पर भी मेरा मन उनमे लवलेश भी लुब्ध नही हुआ। मैं रात-दिन सदागम और सम्यग्दर्शन की अधिक प्राप्ति का प्रयत्न करने लगा। पुण्योदय से संयुक्त होकर गृहिधर्म का आदर करने लगा। सातावेदनीय राजा मुझे निरन्तर

* पृष्ठ ७०५

आह्लादित करता रहा। हे सुन्दरांगि! इस प्रकार पत्नी मदनमंजरी और मित्र कुलन्धर के साथ उद्यम करते हुए और स्वर्गोपम लीला सुख भोगते हुए, आनन्द समुद्र में डुबकियाँ लगाते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया। [२१२-२२०]

---

५. निर्मलाचार्य : स्वप्न-विचार

निर्मलाचार्य का पदार्पण

एक दिन कल्याण नामक मेरे एक परिचारक ने मेरे पास आकर मुझे विनयपूर्वक नमस्कार किया और बोला—देव! आह्लाद मन्दिर उद्यान में देव-दानवों से पूजित अचिन्त्य महिमा वाले महाभाग्यवान् निर्मलाचार्य महाराज पधारे हैं, यही सूचना देने के लिये मैं आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ [२२१-२२२]

हे भद्रे! सेवक के उपर्युक्त वचन सुनते ही मुझे अवर्णनीय आनन्द हुआ। मानो मैं अपने शरीर, राजभवन, नगर और सम्पूर्ण त्रैलोक्य में भी न समा पाऊं इतना आनन्द हुआ।* ऐसे शुभ समाचार देने वाले सेवक को मैंने संतुष्ट चित्त होकर एक लाख मोहरें पारितोषिक में दी और उसे प्रसन्न कर विदा किया। [२२३-२२४]

हे भद्रे! फिर में अत्यन्त आदरपूर्वक अपने मित्र कुलन्धर और पत्नी मदनमंजरी को साथ लेकर सूरिमहाराज को वन्दन करने के लिये नगर से बाहर निकल पड़ा।

देवताओं द्वारा स्वर्ण-निर्मित देदीप्यमान अति सुन्दर कमल पर सूरि महाराज विराजमान थे। इनके आस-पास अनेक मुनि, देव, दानव, विद्याधर आदि मर्यादापूर्वक बैठे थे। सबके मस्तक झुके हुए थे और उन सबको केवली भगवान् सुन्दर धर्मोपदेश दे रहे थे। [२२५-२२७]

दूर से ही आचार्यश्री के दर्शन होते ही अत्यन्त आनन्द से मेरा पूरा शरीर रोमाच से विकसित हो गया। मेरे साथ अधीनस्थ राजा थे, उन्होंने और मैंने भी राज्य के पाँच चिह्न छत्र, तलवार, मुकुट, वाहन और चामर का त्याग कर दिया, उत्तरासंग धारण किया और आचार्यश्री के अवग्रह मे प्रवेश किया। (३½ हाथ दूर रहकर) हम सब ने विधिपूर्वक आचार्यश्री को द्वादशावर्त वन्दन किया और योग्य

---

* पृष्ठ ७०६

क्रमानुसार अन्य मुनियों को भी वन्दन किया। केवली भगवान् और मुनियो से आशीर्वाद प्राप्त कर, पुनः पुनः नमन कर, शुद्ध निर्जीव जमीन देखकर बैठ गये। मुझे अत्यन्त प्रमोद हुआ और मेरी अन्तरात्मा अतिशय प्रसन्न हुई। केवली भगवान् ने भव्य जीवो के कर्मविष को नष्ट करने के लिए अमृतवृष्टि के समान मधुरामृत वाणी से देशना प्रारम्भ की। [२२८-२३२]

धर्मदेशना

भव्य प्राणियो ! यह ससार-चक्र जो निरन्तर घूमता ही रहता है और जो अनेक प्रकार के भयंकर दुःखो से परिपूर्ण है, उसमें धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ऐसी नही है जिसकी शरण ली जा सके। यहाँ मृत्यु के लिये ही जन्म होता है। रोग-वहन के लिये ही शरीर प्राप्त होता है। वृद्धावस्था के हेतुभूत यौवन आता है। वियोग के लिये ही संयोग का समागम होता है। इसमे अनेक प्रकार की स्थूल सम्पत्तियों की प्राप्ति भी दुःख के लिये ही होती है। अतः शरीर, यौवन, सयोग और सम्पत्तियां जिन्हें आप बहुत ही कीमती समझते हो, हे सासारिकजनो ! वे सब दुःख की ही कारणभूत है। प्राणियों के सम्बन्ध/सम्पर्क में आने वाली ससार की एक भी वस्तु ऐसी नही है जो उसके दुःख के लिये न हो। सासारिक पदार्थों मे सुख की आशा करना मरुस्थल मे जल की आशा करना है। आप पूछेगे कि फिर सुख कहाँ है और सुखी कौन है ? जो अमूर्त्त दशा को प्राप्त हो गये है, जो सर्व भावो को जानते है, जो त्रैलोक्य से भी ऊपर (सिद्धगति) मे पहुँच गये है, जिन्होने सभी प्रकार के संग का त्याग कर दिया है, ऐसे महात्मा गण ही सुखी है। सर्व प्रकार के राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो से जो मुक्त हैं, जिनकी सब प्रकार की पीडा/बाधा नष्ट हो गई है और जिनके सभी सत्कार्य सिद्ध हो गये हैं, ऐसे महात्माओ के सुख का तो कहना ही क्या है ?

जिस प्राणी का ससार मे जन्म ही नही होगा, उसे न बुढापा सतायेगा और न मृत्यु। जब जन्म, जरा, मृत्यु का अभाव हो जाता है तब सभी दुःखो का अभाव स्वतः ही हो जाता है। सब दुःखो का नाश होने पर ही परमानन्द भाव की प्राप्ति होती है, शाश्वत सुखो की प्राप्ति होती है, अतः सिद्धो का सुख अव्याबाध होता है।

अथवा ससार मे रहने वाले भी जिन महापुरुषो ने बाह्य और आन्तरिक परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो निःस्पृह/इच्छारहित हो गये है, जो सतुष्ट हैं, जो ध्यानमग्न है, जो समता रूपी अमृत का पान करते है, जो सगरहित हैं, जो अहकार रहित हैं और जिनका चित्त निर्मल हो गया है, ऐसे सुसाधु महात्मा शरीर धारण करते हुए भी परम सुखी हैं।*

* पृष्ठ ७०७

इस संसार में सभी प्राणी सुखी होना चाहते हैं, पर सुख सुसाधुता के अतिरिक्त कहीं प्राप्त हो नही सकता है। अतः हे महासत्वों ! इस पर विचार करें और इसे आचरण मे उतारें। यदि आप लोगो को मेरी बात युक्तिसगत प्रतीत होती हो तो आप भी इस असार ससार का त्याग करें और सुसाधुता को अगीकार करें।
[२३३-२४३]

हे अगृहीतसकेता ! उस समय मेरे कर्म कुछ क्षीण हो गये थे, अत· आचार्य-प्रवर का उपदेश मुझे रुचिकर और सुखकारी प्रतीत हुआ। [२४४]

मैंने मन में सोचा कि भगवान् ने जो सुख का कारण बताया है उस पर मुझे आचरण करना चाहिये। हे भद्रे ! इस प्रकार मेरी दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा जागृत हुई। [२४५]

संशय-निवेदन

आचार्यश्री की मन को प्रमुदित करने वाली वचनामृत-वृष्टि के पूर्ण होने पर कन्दमुनि ने दोनों हाथ जोड़कर ललाट पर लगाते हुए खड़े होकर आचार्यश्री से पूछा—भगवन् ! इस ससार मे किस प्राणी को समय व्यतीत करना दुष्कर होता है ?

आचार्य—गुरु के समक्ष जिसे अपनी जिज्ञासा के बारे मे कुछ पूछना हो, उसे जब तक पूछने का अवसर न मिले तब तक समय बिताना कठिन होता है।

कन्दमुनि—भगवन् ! यदि ऐसा ही है तो गुणधारण राजा के मन के सदेह को दूर करने मे आप पूर्णरूपेण समर्थ हैं, अतः उसे दूर करने की कृपा करे।

आचार्य—बहुत अच्छा ! मैं इसका संदेह दूर करता हूँ, सुनो।

मैंने (गुणधारण) कहा—भगवान् की महान कृपा। फिर मैंने कन्दमुनि से कहा—आपने मेरे सदेह के विषय में आचार्यश्री से पूछकर बड़ी कृपा की, मैं आपका बहुत आभारी हूँ।

कन्दमुनि—राजन् ! आप केवली भगवान् की कृपा के योग्य है, अब भगवान् के वचन ध्यानपूर्वक सुने।

मैं अधिक विनयी बनकर मस्तक झुकाकर स्थिर चित्त होकर बैठ गया, तब निर्मलाचार्य ने कहा—हे गुणधारण राजन् ! तेरे मन मे यह सदेह है कि राजा कनकोदर ने स्वप्न मे जिन चार व्यक्तियों को देखा वे कौन थे ? फिर कुलन्धर ने स्वप्न मे पाँच व्यक्ति देखे वे कौन थे ? वे किस प्रकार तेरे कार्यों को सिद्ध करते हैं ? वे देव थे या और कोई ? एक ने चार और दूसरे ने पाँच क्यों देखे ? ये दोनों स्वप्न-मात्र थे या इसका कुछ गहन अर्थ भी है ?

गुणधारण—हाँ, भगवन् ! आपने जैसा फरमाया वैसा ही सदेह मेरे मन में है।

संशय-निवारण

आचार्य—राजन् ! यह तो बड़ी लम्बी कथा है। इसे आद्योपान्त कैसे कहा और सुनाया जा सकता है ?

गुणधारण—यदि ऐसा है तब भी आप कृपाकर यह समस्त वार्ता मुझे सुनाकर मेरा संदेह दूर करें।

तब भगवान् निर्मलाचार्य ने असंव्यवहार नगर से लेकर अभी तक की मेरी सारी आत्मकथा संक्षेप में सुना दी।

तत्पश्चात् आचार्य ने कहा—राजन् ! तेरी चित्तवृत्ति मे अनेक नगर-ग्रामों से व्याप्त एक बड़ा अन्तरग राज्य है। इस राज्य से तेरे हितेच्छु चारित्रधर्मराज आदि को बाहर निकाल कर महामोह आदि शत्रुओ ने दीर्घ काल से इस पर आधिपत्य कर लिया था। इसका कारण यह था कि महाराजा कर्मपरिणाम भी* अभी तक तुम्हारे प्रतिकूल होने के कारण महामोहादि के बल को पुष्ट करते रहते थे किन्तु अभी-अभी वे तेरे अनुकूल हुए है। इन्होंने ही अपनी महारानी कालपरिणति को तेरे समक्ष किया है और तेरी पत्नी भवितव्यता को प्रसन्न किया है, अपने विशेष अधिकारी स्वभाव को भी तेरे पास भेजा है और तुम्हारे मित्र पुण्योदय को प्रोत्साहित किया है। इन्होंने ही महामोहादि शत्रुओ का तिरस्कार कर उन्हे कुछ दूर भगाया है और चारित्रधर्मराज आदि को आश्वासन दिया है। इन्होंने ही आज से पूर्व तुझे अनेक सुख-परम्परा के मार्ग दिखाये है। इनकी अनुकूलता से ही तुझे सदागम से स्नेह हुआ और सम्यग्दर्शन से मित्रता हुई है। सदागम और सम्यग्दर्शन के प्रति तेरे स्नेह के फलस्वरूप ही महाराज कर्मपरिणाम तेरे प्रति अधिक से अधिक अनुकूल होते रहे हैं। यही कारण है कि तूने विबुधालय मे परिवार सहित निवास करते हुए विशिष्टतर सुख-परम्परा प्राप्त की। कर्मपरिणाम महाराजा ने तेरे मित्र पुण्योदय को प्रोत्साहित किया जिससे तूने मधुवारण राजा के यहाँ जन्म लिया और बहिरग राज्य मे तुझे मदनमजरी जैसी पत्नी प्राप्त हुई। यह पुण्योदय विशिष्ट उत्तम प्रकृति का है। इस पुण्योदय ने एक समय विचार किया कि तुझे इस प्रकार के सुख-समूह प्राप्त कराने मे उसका क्या स्थान है ? क्योंकि, समस्त कार्यों की सघटना तो पूर्ववर्णित चार महापुरुष ही करते है। इसी विचार से यथेच्छ रूप धारण करने वाले पुण्योदय ने कनकोदर राजा को स्वप्न मे उन दो पुरुषो और दो स्त्रियो के दर्शन कराये, वे थे :—कर्मपरिणाम महाराजा, कालपरिणति महारानी, स्वभाव और भवितव्यता। इन्होंने ही स्वप्न मे राजा को कहा था कि मदनमजरी के लिये पहले से ही वर ढूंढ कर रखा है, अतः अन्य वर ढूंढने की आवश्यकता नही है। इसी ने मदनमजरी को विद्याधरो से विमुख किया था। यह सब पुण्योदय के कार्य का ही दर्शन था। परन्तु, अपनी महानुभावता के कारण वह

* पृष्ठ ७०८

स्वयं स्वप्न में अदृश्य रहकर कर्मपरिणाम आदि के मुंह से ही यह बात कहलाई कि वे ही सब कुछ कर्त्ता-धर्ता हैं।

बाद मे जब कर्मपरिणाम को यह ज्ञात हुआ तो उन्होने कहा—आर्य पुण्योदय ! गुणधारण को तुमने ही सब प्रकार का सुख प्राप्त करवाया है। फिर भी तुमने स्वय को प्रच्छन्न रखकर हम को इसका कर्त्ता बतलाया यह तो उचित नही है।

पुण्योदय—देव ! आप ऐसा न कहें। मैं तो आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ। परमार्थ से तो आप ही कर्त्ता हैं। वही मैंने स्वप्न में कनकोदर को बताया, इसमें अनुचित क्या है ?

कर्मपरिणाम—आर्य ! यह सत्य है, फिर भी परम हेतु तो तुम्ही हो। तुम्हारे बिना हम भी किसी को सुख प्राप्त नही करवा सकते, अतः तुम्हे भी स्वप्न मे यह बात स्वयं कहनी चाहिये। जब तक तुम ऐसा नही करोगे तब तक हमारे चित्त को शान्ति नही मिलेगी।

पुण्योदय*—जैसी देव की आज्ञा। तत्पश्चात् कुलन्धर को स्वप्न में पाँच मनुष्य दिखाये, जिसमें चार तो पूर्वोक्त कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव और भवितव्यता ही थे और पांचवाँ स्वयं पुण्योदय था। पुण्योदय ने स्वप्न के माध्यम से यह बताया कि समस्त कार्यो की सफलता ये पाँचों ही प्रदान करते है।

हे राजन् गुणधारण ! इस विवेचन से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि ये चारो और ये पाँचो कौन थे ? वस्तुतः ये चारो और पाँचों ही आपके समस्त कार्य-कलापों की संघटना/योजना करते रहते हैं। अतः आपकी जिज्ञासा का समाधान हो गया होगा ? संशय न करे।

---

* पृष्ठ ७०६

६. कार्य-कारण-शृंखला

पुण्योदय के कार्य

स्वप्नों के विषय में मेरे मन में उठे सदेह का निराकरण होने से मैं उत्साहित हुआ और मैंने इस अपूर्व अवसर का यथाशक्य लाभ उठाने के लिये आचार्यश्री से कुछ अन्य प्रश्न पूछने का निश्चय किया। मैंने (गुणधारण) सविनय पूछा—

गुरुदेव ! मदनमजरी की प्राप्ति के बाद भी मुझे जो निरुपम सुख की प्राप्ति हुई, क्या उसे भी कर्मपरिणाम आदि चारों महापुरुषो की प्रेरणा से पुण्योदय ने ही उपलब्ध करवाई है ?

आचार्य—राजन् ! वह सब पुण्योदय ने ही किया है। यही नहीं, पहले भी उसने तुझे कई बार अनेक प्रकार से सुख प्राप्त करवाये है। नन्दीवर्धन के भव मे कनकमजरी से सम्बन्ध, रिपुदारण के भव मे नरसुन्दरी से सम्बन्ध, वामदेव के भव मे विमलकुमार जैसे सद्गुणी मित्र की प्राप्ति, धनशेखर के भव मे अनेक प्रकार के महर्घ्य रत्नो की प्राप्ति, धनवाहन के भव में कलकरहित अकलक जैसे मित्र से निश्छल गाढ स्नेह आदि सभी सुख इसी ने प्राप्त करवाये है। इसने तुझे अनेक बार राज्य प्राप्त करवाया और सभी स्थानो पर अनेक प्रकार की सुख सुविधाये प्राप्त करवाई। पर, दुःख है कि तूने कभी भी न तो इस पुण्योदय मित्र से परिचय ही किया और न कभी उसकी शक्ति को ही पहिचाना। इसके विपरीत सर्व दोषो के केन्द्रस्थान हिंसा, वैश्वानर, मृषावाद, शैलराज, स्तेय, बहुलिका, मैथुन, सागर, परिग्रह और महामोह आदि का पक्ष लिया। बिना पुण्योदय को पहचाने तूने अपने होने वाले लाभो की प्राप्ति इन दारुण दोषो के समूह हिंसा आदि से हुए ऐसा माना। हितेच्छु को न पहचान कर शत्रुओ को मित्र माना।

गुणधारण—भगवन् ! जब मित्र पुण्योदय मुझे पहले भी सुख-परम्परा प्रदान करने का हेतु रहा है, तब बीच-बीच मे इतने दुःख मुझे क्यो हुए ? अनन्त काल तक मुझे क्यो यहाँ से वहाँ भटकना पड़ा ?

आचार्य—राजन् ! तेरा प्रश्न बहुत विशाल है। यदि तुझे इसका स्पष्टीकरण जानना ही है तो मुझे प्रारम्भ से ही सब कुछ बताना पडेगा जिससे कि तेरे समस्त सदेह दूर हों।

गुणधारण—भगवन् ! मुझ पर कृपाकर सब कुछ विस्तार से समझाइये।

कर्मपरिणाम के दो सेनापति

आचार्य—भूपति ! याद करो, तुम्हे अभी मैंने बतलाया था कि जब तुम असव्यवहार नगर मे कौटुम्बिक के रूप में ससारी जीव के नाम से रहते थे तभी से तुम्हारी चित्तवृत्ति मे अनादि काल से अन्तरंग राज्य रहा ही है, जिसमें चारित्र-धर्मराज आदि की और महामोहादि नरेन्द्रो की दोनो सेनाये रहती है। ये दोनो सेनाये सर्वदा एक दूसरे के विरुद्ध रही हैं। कर्मपरिणाम महाराज को महामोह के प्रति कुछ अधिक प्रेम है; क्योकि ये दोनो एक ही जाति के है। यद्यपि ये महाराज तेरी शक्ति पर निरन्तर सूक्ष्म दृष्टि रखते है * तथापि ये दोनों पक्षो के मध्य साधारणतया निष्पक्ष जैसे रहते है। वास्तव मे तो ये महाराजा प्रज्वलित अग्नि जैसे है और जब जिस पक्ष की प्रबलता देखते है तब उस पक्ष को प्रश्रय (टेका, बढावा) देते रहते है। यह स्थिति अनादि काल से चल रही है।

कर्मपरिणाम महाराजा के दो सेनापति है, एक का नाम पापोदय है और दूसरा यही पुण्योदय है। पापोदय प्रकृति से ही अत्यन्त भयंकर और तेरे प्रतिकूल व्यवहार करने वाला है, अतएव महामोहादि तेरे शत्रुओ की सेना का एक भाग जो अत्यन्त दूषित है, रौद्र है, भयकर है, क्रूर है और नितान्त असुन्दर है उसका सेनापति यह बन बैठा है। पुण्योदय तेरे अनुकूल है इसलिये कर्मपरिणाम की सेना का दूसरा भाग जो सुन्दर और श्रेष्ठ है, तेरा बन्धुरूप है, वह उस चारित्रधर्मराज आदि की शुभ सेना का सेनापति बना हुआ है। जब तू असंव्यवहार नगर मे था तब से ही यह पापोदय स्पष्ट रूप से तेरे साथ लगा हुआ है। यह इतना स्पष्ट था कि तेरी पत्नी भवितव्यता ने भी कभी तुझे इसका विशेष परिचय कराने का प्रयत्न नही किया। नृपति गुणधारण ! तुम्हे ससार मे जहाँ-तहाँ भटकाने वाला यह पापोदय ही है। एक के बाद एक होने वाली तेरी दु ख-सन्तति का कारण भी यह पापोदय ही है। हिंसा आदि तेरे अनर्थकारी शत्रुओ को तूने मित्र माना और तुझे हितकारी पुण्योदय को पहचानने भी न दिया, इन सबका कारण यह पापोदय ही है।

राजन् ! इस पापोदय ने तेरे चित्तवृत्ति अन्तरंग महाराज्य मे से स्वय तुझे ही बाहर निकाल फेंका है, तुझे पदभ्रष्ट किया है और तेरी आज्ञा का पालन करने वाले, तेरे एकान्त हितेच्छु चारित्रधर्मराज आदि अन्तरग बल (सेना) को मार भगाया है। तेरा एकान्त अहित करने वाली महामोह आदि की सेना को तुझे सन्तोषदात्री मित्रो की सेना जैसी बताई है, उनके प्रति तेरे मानस मे आसक्ति उत्पन्न की है। स्वय भी ठगने मे कुशल और अपने को छिपाने मे समर्थ होने से पापोदय ने स्वय को तुम्हारा प्रेमी और हितेच्छु प्रकट किया है। यद्यपि उस समय पुण्योदय

---

* पृष्ठ ७१०

भी तेरे पास रहता था, पर वह तुझे पापोदय से अनुबद्ध देखकर तेरा अधिक हित नहीं कर सकता था। बीच-बीच में उसकी भलमनसाहत के अनुसार वह तुझे थोड़ा-थोड़ा सुख देता था, किन्तु कल्याण-परम्परा को प्राप्त करवाने मे वह कारणभूत नही बन पाता था। इसमें पुण्योदय का कोई दोष नही था। समस्त दोष तो पापोदय का ही था।

गुणधारण—गुरुदेव ! फिर पापोदय अभी चुपचाप कैसे बैठा है ?

आचार्य—देखो, राजन् ! यह पापोदय भी स्वतन्त्र नही है। यह भी कर्म-परिणाम, कालपरिणति, स्वभाव, भवितव्यता आदि के अधीन है। इन चारो महापुरुषों ने मिलकर अभी पापोदय को तुझ से दूर निकाल/भगा दिया है। जब से इन चारों महापुरुषों की आज्ञा लेकर सदागम तेरे पास आया है तब से उन्होने पापोदय को निर्बल बना दिया है। तभी से यह पापोदय तुझ से दूर खिसक कर बैठ गया है और तुझे दुःख पहुँचाने का हेतु नही बन सका है। परिणामस्वरूप तेरे सम्बन्ध मे पुण्योदय को अधिक अवकाश मिला है, सुअवसर मिला है। हे भूप ! बीच-बीच से जब-जब ऐसी परिस्थिति आई है तब-तब भी तुझे सदागम पर अधिक प्रीति हुई है* और सदागम के प्रताप से तुझे सुख की प्राप्ति हुई है। ये चारो महापुरुष जब भी पापोदय को तेरे निकट भेजते तभी तू फिर सदागम का साहचर्य छोड देता और पापोदय के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता। [२४६-२४८]

हे नृप ! ये चारों महापुरुष विचार-विमर्श पूर्वक एकमत होकर तेरे सम्बन्ध मे विचार करते थे और तेरे समस्त कार्यक्रम निश्चित करते थे। इस संसार मे उन्होने अनन्तबार पुण्योदय को तुझ से मिलाया, पापोदय को छिपाकर सदागम से तेरा मिलाप कराया। फिर जब उन्होने अपने तेज से गृहिधर्म के साथ सम्यग्दर्शन को तेरे पास भेजा तब उन्होंने पापोदय को तुझ से अधिक दूर कर दिया और तेरी चित्तवृत्ति मे जो उसकी सेना पड़ाव डाले हुए थी उसे भी पापोदय को दूर ले जाना पड़ा। इससे तुझे अधिक सुख प्राप्त हुआ। फिर पुण्योदय के साथ तेरा अधिक गाढ सम्बन्ध हुआ और चारों महापुरुषो ने तुझे पुण्योदय के साथ विबुधालय भेजा। वहाँ से तुझे फिर मानवावास मे लाया गया और यहाँ तुझे अनेक प्रकार की कल्याण-परम्परा प्राप्त करवाई। एक बार फिर इन चारों महापुरुषो ने पापोदय और उसकी सेना को तेरे निकट भेजा, जिससे तेरे सम्बन्धियो ने भी तेरा त्याग कर दिया और तुझे महान दुःख प्राप्त हुए। इस प्रकार तुझे असंख्य बार सुख मिला और गया, दुःख मिला और गया। सुन्दर और दूषित वस्तुओ का सयोग और वियोग भी अनेक बार हुआ।

राजन् ! इस राजमन्दिर मे (सप्रमोदनगर मे मधुवारण राजा के घर मे) तेरा जन्म होने से पूर्व तुझे अनेक बार सुन्दर-असुन्दर वस्तुओं का सयोग-वियोग प्राप्त हो चुका है। अभी इन चारों महापुरुषों की आज्ञा से पापोदय अपनी सेना को लेकर

* पृष्ठ ७११

तुझ से बहुत दूर जाकर चुपचाप बैठा है। अभी कर्मपरिणामादि चारों ने महाभाग्यशालीय सातावेदनीय राजा और पुण्योदय को तेरे निकट भेजा है और वे तुझे सुख पहुँचा रहे हैं। हे भूप! अभी उनका पापोदय पर विशेष प्रेम नही होने से पवित्र पुण्योदय तेरे प्रति जागृत हुआ है। पुण्योदय ने तुझे बहुत सुख-परम्परा प्राप्त करवाई है और उसमें भी लोलुपता-रहित शान्त एव प्रशस्त मानसिक स्थिति प्राप्त करवाई है। [२४६-२५६]

सक्षेप मे तेरे सभी सुन्दर-असुन्दर कार्यो के हेतु ये चारो महापुरुष ही है। इन्ही चारो मनुष्यो को स्वप्न मे देखा गया है, इसमे कोई सदेह नही। जब ये महापुरुष तुझ से प्रतिकूल होते हैं तब पापोदय को आगे कर तुझे अनेक प्रकार के दु.ख और त्रास प्रदान करते है और जब ये अनुकूल होते हैं तो पुण्योदय को आगे कर भिन्न-भिन्न कारणो से अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करवाते है। अभी तक तुझे जो कुछ भी शुभ या अशुभ प्राप्त हुआ है या भविष्य मे होगा उन सब के निश्चित रूप से हेतु ये चारो महापुरुष ही है। [२६०-२६३]

स्वयोग्यता

गुणधारण—गुरुदेव! सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ प्राप्त तो मुझे ही होते हैं? इनका अनुभव तो मैं ही करता हूँ, फिर क्या मैं स्वय इनके विषय मे कुछ नही कर सकता? क्या मैं निरर्थक ही हूँ?

आचार्य—नही, राजन्! ऐसा नही है। अभी मैंने जिन महापुरुषो और सेनापतियो की बात की है, वे सब तो तेरे ही पारिवारिक जन है, उन सब का नायक तो तू स्वय ही है।* ये चारो महापुरुष तेरे विकास-क्रम की योग्यता की परीक्षा करने के पश्चात् ही निर्णय लेते है। फिर उस निर्णय के अनुसार ही तेरे सुख-दु ख-प्राप्ति के कारण बनते है, अत: तेरे सभी कार्यो मे तेरी स्वय की योग्यता (विकास) ही मुख्य कारण है। अत हे नृप! अभी या भूतकाल मे तूने जो कुछ भी अच्छे-बुरे अनुभव किये है, उन सब का मुख्य कारण तेरा स्वय का विकास है, कर्मपरिणाम आदि तो सहकारी कारण हैं। अनादि काल से तेरा यह विकास-क्रम तुझ से सयुक्त है और उसी के अनुसार तेरा यह सब भव-प्रपञ्च (ससार-विस्तार) का निर्माण होता है। तेरी स्वय की योग्यता के बिना ये कर्मपरिणाम आदि बेचारे शुभाशुभ आदि कुछ भी नही कर सकते। अत अपने सभी अच्छे-बुरे कार्यो का प्रधान कारण (हेतु) तुम्हारा स्वय का विकास-क्रम ही कहा गया है। वस्तुत: तुम स्वय इनके नियोजक हो। [२६४-२७०]

कार्यों का परम कारण सुस्थितराज

गुणधारण—नाथ! आपने मेरे कार्यो की साधना हेतु जिन कारणो को बताया, उनके अतिरिक्त भी अन्य कोई कारण शेष रह गया है जिसे मैं अभी तक न जान सका हूँ?

* पृष्ठ ७१२

आचार्य—राजन् ! सुनो—निरन्तर आनन्द-सन्दोह से पूर्ण, निरामय, अति मनोहर एक निर्वृत्ति नामक नगर है। वहाँ अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द से परिपूर्ण सर्वज्ञ सर्वदर्शी सुस्थित नामक महाराजा राज्य करते हैं। यही महाराजा सपूर्ण जगत के परमेश्वर है, विश्व के प्रभु है और ससार के सभी प्राणियो के अच्छे-बुरे सभी कार्यो के परम कारण भी यही है। ऐसी सिद्ध आत्माएँ अनेक है, पर गुण की दृष्टि से वे सब एक ही है, अत: आचार्यो ने उन्हें एक ही बताया है। ये सब अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न आत्माएँ है, अत: महात्माओ ने इन्हे ही परमेश्वर कहा है। ये ही बुद्ध हैं, ये ही ब्रह्मा है, ये ही विष्णु है, ये ही महेश्वर है, ये ही अशरीरी हैं और ये ही जिन है। तत्त्वद्रष्टा महात्मा इन्हे इन्ही नामो से पहचानते है। तेरी कार्य-परम्परा के कारण ये अपनी इच्छा से नही बनते, क्योकि ये तो वीतराग है, राग-द्वेष और सर्व इच्छाओ से रहित है। कोई भी कार्य बिना इच्छा के नही होता और जहाँ इच्छा होती है वहाँ राग-द्वेष होता ही है, किन्तु वीतराग परमात्मा मे तो राग-द्वेष हो ही नही सकता। फिर वे तुम्हारी सुन्दर या असुन्दर कार्य-परम्परा किस प्रकार करते है ? तथा किस प्रकार कार्य निष्पत्ति होती है ? मैं तुझे स्पष्टत. समझाता हूँ। इन सिद्ध भगवान् ने सभी लोगो को अनुशासन मे रखने के लिये एक अपरिवर्तनीय, त्रिकाल, स्पष्ट और निश्चल विधान बना रखा है। उस विधान की आज्ञाओं का सभी लोगो को पालन करना चाहिये। ये आज्ञाएँ निम्न है :—

१. अपनी चित्तवृत्ति को अन्धकार-रहित करे और उसे गौ-दुग्ध, मुक्ताहार, ओसकण, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत, शुद्ध और प्रकाशमान करें।

२. महामोह राजा और उसकी सेना को, जो भयकर ससार के कारण है, अपने शत्रु रूप मे पहचाने और प्रति क्षण उन्हे नष्ट करने का प्रयत्न करे।

३. चारित्रधर्मराज और उनकी सेना जो महान कल्याणकारी है, उन्हे अपने हितेच्छु और मित्र रूप मे पहचाने और सर्वदा उनका पोषण करे।

विधाता की/सिद्ध प्रभु की यह हितकारिणी आज्ञा त्रिकाल सिद्ध है और* सभी लोगो के लिये समान है, अत: उनकी आज्ञा का पालन करने वाले सभी अनुयायियो का यह कर्त्तव्य है कि वे पूजा, ध्यान, स्तवन, व्रत-आचरण आदि के द्वारा इन आज्ञाओं का पालन करे और इन्हे अपने जीवन मे उतारे। जिन आचरणो का निषेध किया गया है, उन्हे करने से आज्ञा-भंग होता है। इन महाराजा ने द्वादशांगी (१२ अगों) मे बहुत-सी बातें कही है, पर उन सबका सार उपरोक्त आज्ञाओं मे आ जाता है। इन आज्ञाओ का यह माहात्म्य है कि जो व्यक्ति जितने अश में इनका पालन करता है वह उतने ही अश मे सुखी होता है। चाहे वह इन आज्ञाओ का स्वरूप जानता हो या न जानता हो। जो प्राणी इन आज्ञाओ का

* पृष्ठ ७१२

उल्लघन करता है या इनके विपरीत आचरण करता है, वह इनका स्वरूप जानने पर भी दु:खी होता है। मोह के वशीभूत प्राणी जितने अश मे इन आज्ञाओ का उल्लंघन करता है उतना ही दु खी होता है और जितने अश मे इनका पालन करता है उतना ही सुखी होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि समस्त प्राणियों को इसकी आज्ञा का उल्लघन करने से दुःख और आज्ञा-पालन से सुख प्राप्त होता है। [२७१-२९०]

त्रैलोक्य मे एक भी ऐसी अच्छी-बुरी घटना या उसका एक अंशमात्र भी ऐसा नही जो उपर्युक्त आज्ञा की अपेक्षा रखे बिना घटित होता हो, अर्थात् इस ससार मे होने वाली सभी क्रियाएँ, प्राणी की सभी प्रवृत्तियो के परिणाम, मन वचन काया की प्रवृत्ति आदि सब कुछ इस सिद्ध-आज्ञा के अप्रतिहत नियमो के अनुसार घटित होती हैं। इसीलिये ये सिद्ध प्रभु राग-द्वेष और इच्छारहित होने पर भी और हमसे इतनी दूर निर्वृत्ति नगरी मे रहने पर भी सभी कार्यों के परम कारण है, ऐसा समझे। [२९१-२९२]

हे गुणधारण! ससार के सभी भले-बुरे कार्यो के परम हेतु वे सिद्ध भगवान् ही है, इसमे कोई सशय नही है। तुझे पूर्व मे जो विविध प्रकार के दु.ख हुए वे सभी उनकी आज्ञा के उल्लघन के कारण ही हुए। अभी उनकी आज्ञा का कुछ अश मे पालन करने से तुझे थोडा-थोडा सुख प्राप्त होता जा रहा है। जब तू उनकी आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करेगा तब तुझे वास्तविक सच्चे सुखसदोह का रस ज्ञात होगा। तेरे सभी कार्यों के लिये उपर्युक्त कारणो मे से कुछ कारण मुख्य है और कुछ गौण हैं। इन सबको तुझे तेरे कार्यो के कारण रूप मे बराबर समझ लेना चाहिये। हे राजन्! उपर्युक्त कारणो मे से एक की भी अनुपस्थिति मे कार्य-सिद्धि नही हो सकती। सक्षेप मे, उपर्युक्त सभी हेतुओ को कार्य-सिद्धि के लिये कारण-समाज/हेतुसमूह के रूप मे जानना चाहिये। [२९३-२९७]

गुणधारण—भगवन्! क्या आपने कार्य के सभी कारणो को बता दिया है? क्या इतने ही कारण है? अथवा अन्य भी कारण है जो बताने मे शेष रह गये हैं?

आचार्य—राजन्! प्राय: सभी हेतुओ को मैंने बता दिया है। इन सभी कारणो के एकत्रित होने पर ही कार्य सिद्ध होता है। नियति (भाग्य) और यदृच्छा आदि एक दो कारण और भी है पर वे भवितव्यता के अन्तर्गत ही आ जाते है।

हे सुलोचनी अग्रहीतसकेता! इस प्रकार गुणधारण के भव मे मेरे स्वप्न सम्बन्धी सन्देह का आचार्यश्री निर्मलसूरि केवली ने विस्तृत रूप से स्पष्टतया निराकरण किया, जिससे मेरी शका नष्ट हुई और मैंने हाथ जोड़कर आचार्य के वचनोक्त शिरोधार्य किया। [२९८-३०१]

७. दस कन्याओं से परिणय

सैन्य-स्तम्भन का कारण

अवसर का लाभ उठाकर मैंने निर्मलाचार्य केवली से विद्याधरों की सेनाओं के स्तम्भन के विषय में मेरे मन में जो अति आश्चर्य हो रहा था उस विषय में भी प्रश्न पूछ ही लिया*—प्रभो! मेरे समक्ष जब विद्याधरों की सेना युद्ध करने आई थी तब दोनों ही सेनाओं का आकाश और भूमि पर स्तम्भन किस कारण से हुआ था और किसने कर दिया था?

आचार्य—राजन्! उसमें भी अन्तिम कारण पुण्योदय ही है। इसी ने अन्य कारणों को प्रेरित किया है। इसी की शक्ति और प्रेरणा से वनदेवता तुझ पर प्रसन्न हुए और दोनों सेनायें स्तम्भित हो गईं। तुम्हारी इच्छा थी कि तुम्हारे कारण से विद्याधरों में परस्पर खून की नदी न बहे इसीलिये उन्हें स्तम्भित किया था। फिर तेरी इच्छानुसार ही उन्हें स्तम्भन से मुक्त भी कर दिया था और उन्हें तेरे भाई जैसा बना दिया था। इस प्रसंग में वनदेवता ने जो कार्य किया वह भी वस्तुतः पुण्योदय ने ही किया था, क्योंकि वनदेवता को प्रेरित करने वाला भी यही निष्पाप पुण्योदय ही था। हे नरोत्तम! यह पुण्योदय दूसरों को प्रेरणा देकर सब प्रशस्त कार्य दूसरों से करवाता है, स्वयं कोई कार्य नहीं करता। इसका स्वभाव है कि वह काम का यश सदा अन्यों को दिलाता है। इसी प्रकार पापोदय भी अन्य द्वारा अशुभ कार्य करवाता है और अपयश का भागी अन्यों को बनाता है। हे नृप! संसार में जो भी भले-बुरे कार्य होते हैं उनके हेतु कुछ अन्य ही दिखाई देते हैं, पर वास्तव में वे हेतु गौण होते हैं, मुख्य हेतु तो पुण्योदय या पापोदय ही होते हैं। पहले भी तुझे जो अनेक प्रकार के दुःख भिन्न-भिन्न कारणों से हुए हैं, उनके पीछे भी मुख्य कारण यह पापोदय ही रहा है। हे गुणधारण! अब पुण्योदय का समय आया है तो वह भी भिन्न-भिन्न साधनों से तुझे सुख पहुँचा रहा है, पर बाह्य-वस्तुएँ तो निमित्त मात्र हैं, वास्तविक कारण तो पुण्योदय ही है। [२०२-२१०]

शुभाशुभ बाह्य निमित्त

गुणधारण—भगवन्! मेरे समस्त संदेह अब नष्ट हो गये हैं। आपके वचनों को मैंने संक्षेप में इस प्रकार समझा है—जब मैं अज्ञान से निर्वृत्ति नगर स्थित परमेश्वर सुस्थित महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ और अपनी चित्तवृत्ति को भावान्धकार से मलिन करता हूँ तथा महामोहादि की सेना का पोषण करता हूँ तब मेरे इस व्यवहार को देखकर कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव

* पृष्ठ ३१४

और भवितव्यता ये चारो महापुरुष मेरे प्रतिकूल हो जाते है तब कर्मपरिणाम का सेनापति पापोदय मेरे विरुद्ध अपनी सारी सेना लेकर आ जाता है एव अनेक अन्तरंग और वाह्यकारणों को प्रेरित कर मुझे अनेक प्रकार से पंक्तिबद्ध दुःख पहुँचाता है। जब मैं अपनी स्वयोग्यता विकास-क्रम से, भगवान् सुस्थित महाराजा की कृपा से, यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर इनकी आज्ञा का पालन करता हूँ और भावान्धकार के प्रक्षालन से अपनी चित्तवृत्ति को निर्मल बनाकर चारित्रधर्मराज की सेना को प्रसन्न करता हूँ, तभी मेरे इस व्यवहार से कर्मपरिणाम आदि चारो महापुरुष मेरे अनुकूल होते है। पश्चात् कर्मपरिणाम का सेनापति पुण्योदय अपनी सेना के साथ मेरे पास आता है* तथा बाह्य एवं अन्तरग साधनो को प्रेरित कर मुझे सुख-परम्परा प्रदान करता है। इन सभी कारणो का समूह ही कार्य को उत्पन्न करता है, इनमें से अकेला कोई भी कारण कुछ भी कार्य उत्पन्न नही कर सकता।

सम्पूर्ण सुख की जिज्ञासा

भगवन्! जैसा आपने बतलाया कि पुण्योदय ने ही मुझ इस प्रकार का किंचित् सुख प्राप्त करवाया है। आपके इन वचनो से मेरे मन मे कुतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। मैं सोचता हूँ कि जिस दिन मुझे मदनमञ्जरी की प्राप्ति हुई उसी दिन मुझे दहेज मे महामूल्यवान रत्नो की प्राप्ति हुई, चिन्तन मात्र से विद्याधरों का युद्ध रुका, दोनो सेनाओं में भ्रातृभाव हुआ और वे मेरे सेवक बने, माता-पिता को सतोष हुआ, नगर मे आनन्द महोत्सव हुआ, नगरवासी प्रमुदित हुए, विद्याधर मेरे घर आये, पिताजी ने उनका आतिथ्य सत्कार किया, मेरा यश सर्वत्र फैला, अत वह दिन सुखो से परिपूर्ण होने के कारण मुझे अमृतोपम प्रतीत हुआ। इसके पश्चात् मदनमञ्जरी से प्रेम सम्बन्ध बढ़ा, कन्दमुनि के दर्शन हुए, सातावेदनीय, सदागम, सम्यग्दर्शन और गृहिधर्म से मित्रता हुई, राज्य प्राप्ति हुई। मै यथेच्छ सुखो मे विलास करने लगा। इन यथेच्छ सुखों के सन्मुख मुझे देवलोक के सुख भी तुच्छ प्रतीत हुए। फिर आपके दर्शन हुए, सन्देह-निवारण हुआ। आपके मुखकमल के दर्शन और वचनामृत श्रवण से मुझे जो सुखातिरेक की प्राप्ति हो रही है वह वचनातीत है। इतने सारे सुख को आपने पुण्योदय द्वारा सम्पादित थोड़ा-थोड़ा सुख या सुखाश कहा, इसका क्या तात्पर्य है? यदि यह सुखांश मात्र है तो फिर सम्पूर्ण सुख क्या है? यह जानने की मेरे मन मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। कृपया समझायें कि सम्पूर्ण सुख किस प्रकार का होता है?

आचार्य—राजन्! सम्पूर्ण सुख का स्वरूप तो तुम अपने अनुभव से ही समझ सकोगे। उसे बताने से क्या लाभ?

गुणधारण—प्रभो! मुझे वह अनुभव कब और किस प्रकार होगा?

---

* पृष्ठ ७१५

सम्पूर्ण सुख का हेतु दस कन्याओं से लग्न

आचार्य—राजन् ! जब तुम्हारा विवाह दस कन्याओ से होगा, जब उनके साथ तुम्हारा अत्यन्त सद्भावपूर्वक प्रेम-सम्बन्ध होगा, जब तुम इनके साथ अत्यन्त आनन्दपूर्वक उद्दाम लीला-विलास करोगे तब तुम्हे जो सुख होगा उसकी अपेक्षा से तुम्हारा वर्तमान सुख तो सुख का अश मात्र ही है ।

गुणधारण—प्रभो ! मै तो मदनमजरी का भी त्याग कर आपके चरण-कमलों मे दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ तब फिर मेरा नयी दस कन्याओ से परिणय कैसे होगा ?

आचार्य—तुझे अवश्य ही इन कन्याओं से परिणय करना होगा । उनसे संयुक्त होने पर ही* तुम दीक्षा ले सकोगे । उनके साथ दीक्षा लेने मे कोई कठिनाई या कोई विरोध नही होगा । फिर उनके बिना दीक्षा का अर्थ भी क्या है ? उनके समान कुटुम्बियो के अभाव में तेरा दीक्षा लेना व्यर्थ है । उनके बिना तेरा विकास नही हो सकता । अत पहले तुम इन दस कन्याओ से विवाह करो, फिर नियमपूर्वक मै तुम्हे दीक्षित करूंगा ।

'भगवन् ! आप यह क्या कह रहे है ?' मैं अपने मन मे चकित हो रहा था तभी कन्दमुनि ने प्रश्न किया—गुरुदेव ! गुणधारण को जिन कन्याओ से विवाह करना है, वे कौन-सी है ?

आचार्य—यह तो बहुत प्राचीन वृत्तान्त है । मैं पहले तुम्हे सुना चुका हूँ, वे ही दस कन्यायें है, नवीन नही है ।

कन्दमुनि—गुरुदेव ! मैं तो यह बात भूल गया हूँ । मुझ पर अनुग्रह कर यह सब पुन. बताने की कृपा करें कि उन कन्याओ के क्या नाम है ? वे कहाँ रहती हैं ? कौन-कौन उनके सम्बन्धी है ?

आचार्य—सुनो ! चित्तसौन्दर्य नगर के राजा शुभपरिणाम की निष्प्रकपता और चारुता नामक दो रानियों से उत्पन्न क्रमश. क्षान्ति और दया नामक दो कन्याएँ है ।

शुभ्रमानस नगर के शुभाभिसन्धि राजा की वरता और वर्यता नामक दो रानियों से उत्पन्न मृदुता और सत्यता नामक दो कन्याएँ हैं ।

विशदमानस नगर के शुद्धाभिसन्धि राजा की शुद्धता और पापभीरुता नामक दो रानियों से उत्पन्न ऋजुता और अचौर्यता नामक दो कन्याएँ है ।

शुभ्रचित्तपुर नगर के सदाशय राजा की वरेण्यता रानी से उत्पन्न ब्रह्मरति और मुक्तता नामक दो कन्याये है ।

सम्यग्दर्शन की अपनी एक मानसी कन्या विद्या है ।

* पृष्ठ ७१६

महाराज चारित्रधर्मराज और विरति देवी की पुत्री निरीहता है ।

हे आर्य ! ये दस कन्याओ के नाम, उनके माता-पिता के नाम और उनके निवास स्थान हैं ।

कन्दमुनि—नाथ ! आपकी बडी कृपा । अब कृपया यह बताइये कि महाराजा गुणधारण को ये कन्याएँ कैसे प्राप्त होगी ?

आचार्य—महाराजा कर्मपरिणाम कालपरिणति आदि के साथ विचार कर, उनकी अनुमति प्राप्त कर, पुण्योदय को आगे कर, उन-उन नगरो मे जाकर, उन कन्याओ के माता-पिता को अनुकूल कर, उन समस्त कन्याओ को महाराज गुणधारण को दिलवायेंगे । महाराज गुणधारण को तो केवल सद्‌गुणो का अभ्यास करते हुए अपनी आत्मयोग्यता वढानी चाहिये जिससे कि कर्मपरिणाम उनके अनुकूल हों ।* कर्मपरिणाम के अनुकूल होने पर कन्याओ के माता-पिता स्वत. ही प्रसन्न होकर कन्यादान के लिये तैयार हो जायेंगे और दसो कन्याये भी स्वत ही इनकी अनुरागिणी बन जायेगी । इससे गुणधारण और दसो कन्याओ के मध्य अकृत्रिम प्रेम होगा । ऐसा स्वाभाविक प्रेम-बन्ध अत्यन्त सुदृढ होगा और किसी के तोड़ने से नही टूटेगा ।

कन्दमुनि—भगवन् ! इसमे कहने की बात ही क्या है ? आपके वचनों का यथार्थत पालन कर और सद्‌गुणो का अभ्यास कर महाराज गुणधारण नाम को सार्थक करेंगे । वे आपकी आज्ञानुसार ही करेंगे । नाथ ! आप केवल विशेषरूप से यह आदेश दें कि उन कन्याओ की प्राप्ति के लिये कौन से सद्‌गुण सतत अनुशीलन करने योग्य है ?

अनुशीलनीय गुण

आचार्य—आर्य ! सुनो—

१ क्षान्ति कन्या को प्राप्त करने के इच्छुक को सभी प्राणियो से मैत्री रखनी चाहिये । अन्यो द्वारा किये गये पराभव को सहन करना चाहिये । उसके द्वारा पर-प्रीति का अनुमोदन करना चाहिये । पर-प्रीति के सपादन से आत्मा पर अनुग्रह होता है, ऐसा समझना । आत्मा का पराभव करने से दुर्गति प्राप्त होती है, अत: ऐसी आत्मा की निन्दा करना । जो मुक्तात्मा दूसरो को कभी क्रोधित नहीं करते, वस्तुत वे धन्य है, फलत उनकी प्रशसा करना । हमारा तिरस्कार करने वाले हमारी कर्म-निर्जरा के हेतु है, अत उन्हे हितकारी समझना । ससार को असार वताने वाले को गुरु-भाव से स्वीकार करना और सदा अपने अन्त.करण को निश्चल/स्थिर बनाना ।

२. दया कन्या को प्राप्त करने के अभिलाषी को किसी भी प्राणी को लेशमात्र भी सन्ताप नही पहुँचाना चाहिये, सभी प्राणियो के प्रति वन्धु-भाव का

* पृष्ठ ७१७

व्यवहार करना चाहिये और परोपकार मे प्रवृत्ति करनी चाहिये। दुःख मे पडे प्राणियो के प्रति उपेक्षा नही रखनी चाहिये और समस्त जगत के प्राणियो के प्रति आह्लादकारी भावो को धारण करना चाहिये।

३. हे आर्य! मृदुता कन्या को प्राप्त करने के लिये जातिमद, कुलाभिमान, बलाभिमान, रूपगर्व, तपगर्व, धनगर्व, श्रुत-अहकार, लाभमद, और अन्य के प्रति प्रेम रखने के मद/अभिमान का त्याग करना चाहिये। नम्रता धारण करनी चाहिये, विनय का अभ्यास करना चाहिये तथा अपने हृदय को नवनीत-पिण्ड जैसा मृदु बना लेना चाहिये।

४. सत्यता कन्या की प्राप्ति करने के लिये दूसरो का मर्मोद्घाटन नही करना चाहिये, चुगली नही करनी चाहिये, निन्दा नही करनी चाहिये, कटु भाषण का त्याग करना चाहिये, कपटपूर्ण वक्रोक्ति छोड देनी चाहिये, परिहास (हँसी-मजाक) का त्याग करना चाहिये, असत्य या अर्धसत्य का त्याग करना चाहिये, वाचालता का त्याग करना चाहिये, अतिशयोक्ति रहित यथार्थता का उद्घाटन करना तथा सदा सत्य, प्रिय और मृदु बोलने का अभ्यास करना चाहिये। उक्त सद्गुण अनुशीलक के प्रति सत्यता स्वयमेव स्वत: ही अनुरागिणी बन जाती है।

५. ऋजुता की प्राप्ति के लिये कुटिलता का त्याग करना चाहिये, सर्वत्र सरल स्वभाव रखना चाहिये, दूसरो को ठगने की प्रवृत्ति छोडनी चाहिये, मन को विशुद्ध रखना चाहिये, अपना व्यवहार सदा स्पष्ट रखना चाहिये,* विचारो मे सदा उच्चता रखनी चाहिये और अपने अन्तःकरण को सदा दण्ड जैसा सीधा रखना चाहिये। ऐसा करने से ऋजुता स्वत. ही अनुरागिणी बन जाती है।

६. अचौर्यता कन्या की कामना करने वाले को पर-पीडन से डरना चाहिये, परद्रोह-बुद्धि का त्याग करना चाहिये, पर-धन-हरण-कामना का त्याग करना चाहिये। सदा यह लक्ष्य मे रखना चाहिये कि पर-धन के अपहरण से कितनी निन्दा होती है, कितनी त्रास/पीडा होती है, कितनी दुर्गति होती है, अत: चोरी का सर्वथा त्याग करने से अचौर्यता स्वयमेव अनुरागवती होकर वरण करती है।

७. हे आर्य! मुक्तता को प्राप्त करने के लिये विवेक को आत्ममय करना चाहिये, आत्मा को बाह्य और अन्तरग परिग्रह से अलग देखना चाहिये, परिग्रह प्राप्त करने की इच्छा का दमन करना चाहिये। जैसे पानी मे रहकर भी कमल पानी से अलग रहता है वैसे ही अपने अन्त.करण को सदा अर्थ और काम से अलग रखना चाहिये।

८. हे कन्दमुनि! ब्रह्मरति की प्राप्ति के लिये सुर-नर-तिर्यञ्च की सभी स्त्रियों को माता के समान समझना चाहिये। जहाँ वे रहती हो वहाँ नहीं रहना चाहिये, स्त्री-कथा नही करनी चाहिये, उनकी शय्या पर बैठना नही चाहिये, उनके

* पृष्ठ ७१८

शरीर के अगोपागो को अनिमेष दृष्टि से टकटकी लगाकर नही देखना चाहिये, जहाँ युगल रति-क्रिया कर रहे हो ऐसे स्थानो के निकट मे नही ठहरना चाहिये, पहले किये गये भोग-विलास का स्मरण नही करना चाहिये, गरिष्ठ और चटपटा भोजन नही करना चाहिये, प्रमाण से अधिक भोजन नही करना चाहिये, शरीर-शृ गार नही करना चाहिये और रति-अभिलाषा का सर्वथा दमन कर देना चाहिये ।

९ विद्या कन्या के अभिलाषिक को यह सोचना चाहिये कि सब पुद्गल द्रव्य, देह, धन, विषय आदि अनित्य है, शरीर अपवित्र पदार्थो से भरा है, अन्तत ये सभी दु ख-स्वरूप है और आत्मा पुद्गल से भिन्न स्वभाव वाली है । अतएव सब प्रकार के कुतर्क-जालो को तहस-नहस कर देना चाहिये और वास्तविक वस्तु-तत्त्व पर पूर्णरूपेण चिन्तन-मनन करना चाहिये । ऐसे सद्गुण-धारक को सद्बोध स्वय बुलाकर सम्यग्दर्शन की आत्मजा विद्या को प्रदान करता है ।

१०. निरीहता कन्या के इच्छुक को यह सोचना चाहिये कि इच्छाये चित्त-सताप को बढाने वाली है । भोग-अभिलाषा मन को उद्वेग देने वाली है । जन्म मृत्यु के लिये ही होता है । प्रिय का सयोग भी वियोग के लिये ही होता है । रेशम का कीडा जैसे अपने शरीर मे से रेशम के तन्तु निकाल कर स्वय ही उसमे बँध जाता है वैसे ही प्राणी अपने ससार-विस्तार मे स्वय ही निबिड बन्धनो मे बँध जाता है । वस्तुओ के सग्रह करने की प्रवृत्ति क्लेश को बढाने वाली है । सर्व प्रकार के सग एव सम्बन्ध उद्विग्नता बढाने वाले हैं, प्रवृत्ति दु ख-रूप है और निवृत्ति ही सुख-स्वरूप है । ऐसे विचार निरन्तर करते रहने चाहिये । ऐसे विचारक के प्रति निरीहता कन्या प्रगाढानुराग धारण करती है ।

हे राजन् ! उपर्युक्त सभी सद्गुणो का अभ्यास तुझे निरन्तर करना चाहिये जिससे वे दस कन्याएँ तुझे प्राप्त हो सकें । ऐसा करते हुए योग्य अवसर के प्राप्त होने पर कर्मपरिणाम महाराज जब चारित्रधर्मराज को सेना के साथ तेरे पास भेजेंगे तब उस सेना के प्रत्येक योद्धा मे जो-जो सद्गुण है उनका अभ्यास तुझे करना होगा और उन्हे अपने जीवन मे उतारना होगा, जिससे उन सब का अनुराग तुम्हारे प्रति आकर्षित हो । फिर तो वे स्वामी-भक्त सुभट महामोह की सेना को शीघ्र मार भगायेंगे ।* इस प्रकार तुझे भावराज्य की प्राप्ति होने पर तुम अपने स्वय के बल से भाव-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करोगे और इन दस कन्याओ के साथ आनन्द-सुख भोगते हुए अनन्त सुख को प्राप्त करोगे । अतएव तुम्हे उन उपर्युक्त समस्त सद्गुणो का अनुष्ठान करना चाहिये ।

लग्न सम्बन्धी उपाय-चिन्तन

कन्दमुनि--गुरुदेव ! गुणधारण राजा की यह अभिलाषा कितने समय मे पूर्ण होगी ?

* पृष्ठ ७१६

आचार्य—मात्र छः महीनो मे ।

गुणधारण—नाथ ! शीघ्रता कीजिये । मेरा मन प्रव्रज्या (दीक्षा) लेने के लिये अत्यधिक उतावला हो रहा है । मुझे तो अभी दीक्षा दीजिये । छ मास का समय तो अत्यन्त लम्बा है । मेरे लिये इतनी प्रतीक्षा करना बहुत कठिन है । कृपया अब अधिक बिलम्ब मत कीजिये ।

आचार्य—राजन् ! शीघ्रता व्यर्थ है । जिन सद्गुणो का अनुष्ठान/आचरण करने के लिये अभी मैंने कहा है, वे सद्गुण ही परमार्थ से दीक्षा है । द्रव्यलिग (साधु का वेष) तो तुमने पहले भी अनन्त बार लिया है, पर सद्गुणो का आचरण भली प्रकार नही करने से, भावलिग न होने से उस वेष से तुम्हारा कोई वास्तविक विकास न हो सका, तुम कोई विशिष्ट गुणो का सम्पादन नही कर सके । अत· पहले मेरे द्वारा उपदिष्ट इन सद्गुणो का अनुशीलन करो, फिर दीक्षा लेना ।

कन्दमुनि—गुरुदेव ! दस कन्याओ मे से पहले किससे और बाद मे किससे लग्न होगा ?

आचार्य—आर्य ! गुणधारण राजा जब मेरे द्वारा उपदिष्ट सद्गुणो का अनुशीलन और आचरण करेगा तब थोडे समय बाद सद्बोध मन्त्री अपनी कन्या विद्या को लेकर राजा के पास आयेगा और विद्या का लग्न राजा से करेगा । फिर वह राजा के पास ही रहेगा । यह मन्त्री बहुत ही कुशल, अनुभवी और अवसर का जानकार है । वह इतना विश्वसनीय है कि उसके रहते हुए हमारे जैसो को उपदेश देने की आवश्यकता ही नही रहेगी । अत. उसके आने के पश्चात् वह स्वय ही सब कुछ बता देगा । राजा गुणधारण को तो मात्र उसके परामर्श को प्रमाणीभूत मानकर उसके अनुसार कार्य करते रहना होगा ।

गुणधारण—भगवन् ! आपकी महान कृपा । अब मैं आपके निदश की प्रतीक्षा करूँगा । तत्पश्चात् अपने परिवार और सेवको सहित आचार्य भगवान् को वन्दन कर मैं वापस अपने नगर मे लौटा आया ।

८. विद्या से लग्न : अन्तरंग युद्ध

विद्या से लग्न

मैं केवली भगवान् निर्मलाचार्य के आदेशानुसार उच्च सद्‌गुणो का अभ्यास और भगवत् पर्युपासना करता हुआ अपना समय व्यतीत करने लगा। अन्यदा उच्च भावनाओ का चिन्तन करते-करते एक समय मुझे नीद आ गई। नीद से आँख खुलने पर भी वही भावना मन मे बसी हुई थी जिसका विचार करते-करते नीद लग गई थी, अतः मेरी भावना प्रबलता से बढती गई और वह गाढतर होती गई। जब थोडी रात बाकी रह गई तो मुझे अत्यन्त प्रमोद हुआ। मैं चकित होकर इधर-उधर देख ही रहा था कि इतने मे सद्‌बोध मन्त्री विद्याकुमारी को साथ लेकर मेरे समीप आ पहुँचे। मै विस्मित दृष्टि से उनको देखता रहा।

मैंने सद्‌बोध के समीप विद्या को देखा कि वह कुमारी नेत्रो को आनन्द-दायिनी, सर्व अवयवो से सुन्दर, आस्तिक्य रूपी सुन्दर मुख वाली, उज्ज्वल एवं निर्मल नेत्रो वाली, तत्त्वागम और सवेगरूपी उरोजों वाली तथा प्रशम रूपी मनोहर नितम्ब वाली थी। वह स्पृहणीय, सर्वगुण-सम्पन्न और चित्त को निर्वाण (शान्ति) प्राप्त कराने वाली थी। मैं एकाग्र दृष्टि से उस कुमारी विद्या को पर्याप्त समय तक* देखता रहा।

उसी रात्रि को उसी समय सद्‌बोध मन्त्री ने सदागम आदि की साक्षी मे पवित्र विद्या का लग्न मुझ से कर दिया। सब को अत्यन्त आनन्द हुआ। इस प्रकार वह रात्रि आनन्द से पूर्ण हुई। [३१३-३१६]

प्रात काल होते ही मै उठा और अपने परिवार के साथ आचार्यश्री के पास गया और उनको तथा अन्य सभी साधुगणो को वन्दन किया। फिर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर निर्मलाचार्य को रात्रि का पूर्ण वृत्तान्त सुनाया और आचार्यश्री से पूछा—भगवन्! रात को मुझे ऐसी कौनसी अत्यन्त सुन्दर और उच्च भावना हुई कि जिससे मेरा चित्त हर्षोल्लास से भर गया? [३१७-३१९]

आचार्य—राजन्! सुनो, कर्मपरिणाम राजा अभी तुम्हारे सद्‌गुणो से तुम पर प्रसन्न हो गया है। अत वह स्वय सद्‌बोध के पास गया और उसे प्रोत्साहित किया कि वह अपनी कन्या विद्या को लेकर तुम्हारे पास जावे और विद्या का लग्न तुम से करदे। तब मन्त्री ने चारित्रधर्मराज आदि से परामर्श किया और विद्या को लेकर तुम्हारे पास आने के लिये प्रस्थान कर दिया [३२०-३२२]

* पृष्ठ ७२०

महामोहराज की सेना में खलबली : युद्ध

इस समाचार को सुनते ही महामोह आदि शत्रुओ मे खलवली मच गई। पापोदय की अध्यक्षता मे वे इस पर विचार करने लगे।

विषयाभिलाष बोला—यदि हत्यारा सद्बोध ससारी जीव के पास पहुँच गया तो समझ लो कि हम सब बे-मौत मर गये। इसलिये हम सब को मिलकर, उसके मार्ग को रोक कर यथाशक्य उसके वहाँ पहुँचने मे बाधा डालनी चाहिये।

उत्तर मे पापोदय ने कहा—आर्य! अभी जब कि हमारे स्वामी कर्मपरिणाम महाराजा स्वय उनके पक्ष मे है तब हम क्या कर सकते है? जब तक वे हमारे पक्ष मे थे तब तक हम प्रबल थे। महाराजा के दोनों सेनाओ के प्रति तटस्थ रहने पर भी हम उनसे युद्ध करते है और वह हमारा कर्त्तव्य भी है। पर, अभी तो सद्बोध कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से ही संसारी जीव के पास शीघ्रता से जा रहा है, तब उसे रोकना कैसे उचित हो सकता है? इस समय महाराजा का मेरे पास युद्ध करने का कोई आदेश भी नही है, इसीलिये उन्होंने हमें उससे दूर विठा रखा है। ऐसी परिस्थिति में अभी सद्बोध को उसके पास जाने देना चाहिये और हमें योग्य अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिये। अवसर आने पर हम उसे समझ लेंगे। [३२३-३३१]

यह सुनकर ज्ञानसवरण राजा के होठ क्रोध से फडक उठे। वह शीघ्र युद्ध के लिए जाने को उद्यत हुआ और कडक कर बोला—यदि मेरे जीवित रहते मेरा प्रतिपक्षी सद्बोध बिना किसी रुकावट के ससारी जीव के पास चला जाता है, तो मेरा जीना व्यर्थ है। इस प्रकार भयभीत होने से तो मेरा जन्म मात्र माता को क्लेश देने वाला ही माना जायगा।* तुम लोग भय से शिथिल पड़ गये हो तो तुम्हारी इच्छा, आओ या न आओ, मै तो यह चला उसे रोकने। [३३२-३३४]

लज्जा के मारे पापोदय आदि भी ज्ञानसवरण के पीछे-पीछे चले और सब ने जाकर सद्बोध मन्त्री के मार्ग को रोक लिया, पर उनके मन मे यह शका थी कि न जाने अब क्या होगा? "अनैक्य और सशय विनाश के कारण होते हैं" यह तो जगत् प्रसिद्ध ही है। [३३५-३३६]

इधर चारित्रधर्मराज की सेना भी सद्बोध मन्त्री के साथ चलते हुए उस स्थान पर पहुँच गई जहाँ ज्ञानसंवरण और पापोदय आदि अपनी सेना के साथ उसका मार्ग रोके खडे थे। दोनो सेनायें परस्पर एक-दूसरे को ललकारने लगीं, सिंहनाद/गर्जना करने लगी, युद्ध-वाद्य बजने लगे और उनमें भीषण युद्ध छिड़ गया। एक तरफ अत्यन्त श्वेत शख के समान सुन्दर सफेद रग की सेना थी तो दूसरी तरफ काले भौरों के समान कृष्ण रंग वाली सेना थी। दोनो का परस्पर युद्ध ऐसा लग

* पृष्ठ ७२१

रहा था मानो गंगा और यमुना का संगम हो रहा हो। रथी योद्धा रथ वालों से, हाथी वाले हाथियो की घनघटा के समक्ष, घोड़े वाले घोड़े वालों से और पदाति पैदल सैनिको से लड़ रहे थे। युद्ध में सैकड़ों सैनिक जमीन पर गिर कर लोट रहे थे। प्रत्यक्ष में योगियों को भी विस्मित करने वाला, अत्यन्त उद्भट पुरुषार्थ को प्रकट करने वाला और अनेक योद्धाओं से सकीर्ण दोनों सेनाओं का तुमुल युद्ध चल रहा था। [३३७-३४१]

दोनो सेनाओं के भीषण और संशयकारक इस भयंकर युद्ध के समाचार सुनकर कर्मपरिणाम महाराजा इस विकट परिस्थिति मे मन ही मन में सोचने लगे कि, अरे इस समय मुझे प्रत्यक्षत. (खुल्लमखुल्ला) किसी एक सेना का पक्ष नही लेना चाहिये। क्योकि, इससे मनों में भेद की रेखा खिच जायेगी। मुझे तो दोनों ही सेना वाले तटस्थ मानते है, अत प्रकट रूप से एक का पक्ष लेने से दूसरे रुष्ट हो जायेंगे। मेरा प्रकट पक्षपात देखकर महामोहादि मेरे मित्र मुझ से अलग हो जायेंगे। असमय मे ऐसी विकट परिस्थिति अपने हाथो उत्पन्न करना युक्तिसगत नही है। यद्यपि अभी मुझे चारित्रधर्मराज की महाबली सेना प्रिय लग रही है और ससारी जीव के सद्गुण भी अच्छे लग रहे हैं तथापि ससारी जीव का क्या विश्वास? वह फिर दोषो की तरफ झुक सकता है और तब जिन पर मैं सदा से आश्रित हूँ उन मेरे बन्धु महामोहादि के बिना मेरी क्या गति होगी? अत: मेरे लिये अभी यही हितकारक होगा कि अभी मैं प्रच्छन्न रूप से ही चारित्रधर्मराज की सेना को पुष्ट करूँ, जिससे यदि पापोदय आदि उससे पराजित हो जाये तब भी भविष्य मे महामोहादि मेरे बन्धु मुझ से विरुद्ध नही होगे। इस प्रकार मन में सम्यक् रीत्या निश्चय कर कर्मपरिणाम ने गुप्तरूप से तुम्हारे पास आकर मदुपदिष्ट तुम्हारी भावनाओं मे वृद्धि की। [३४२-३४९]

हे गुणधारण! जब तुम इस प्रकार उच्चतर भावना पर आरूढ थे तभी सद्बोध मन्त्री की सेना प्रबल हो गई। कहा भी है कि "मणि, मन्त्र, औषधि और भावना की अचिन्त्य शक्ति * अद्भुत/आश्चर्यकारक होती है।" जैसे-जैसे तेरी विशुद्ध एव उच्च भावना बढती गई वैसे-वैसे युद्ध मे महामोहादि स्वत: ही निर्बल होते गये, हारते गये। क्षणभर मे सद्बोध की सेना का प्राबल्य बढ़ता गया और उसने पापोदय की सेना को जीत लिया। महामोहादि समस्त शत्रुओ को लहूलुहान कर दिया और ज्ञानसवरण राजा को विशेष रूप से चूर-चूर कर दिया। पापोदय आदि निस्तेज और निष्पन्द हो गये, ठण्डे पड़ गये और सद्बोध जीतकर विद्या सहित तुम्हारे निकट आने लगा। उस समय हे राजन्! युद्ध का शुभ परिणाम देखकर तू भी सद्बोध मन्त्री के निकट गया और तेरे मन मे अत्यधिक हर्षोल्लास हुआ। फिर तो सद्बोध मन्त्री ने आकर विद्या का लग्न तुझ से कर ही दिया।

---

* पृष्ठ ७२२

इसके पश्चात् की घटनायें तो राजन् ! तुम जानते ही हो। कल रात तेरी भावनाओं मे जो वृद्धि हुई और हर्षोल्लास हुआ उसका कारण अब तुम्हारी समझ मे नि सन्देह रूप से आ गया होगा। [३५०-३५८]

अन्तरंग शत्रुओं की वर्तमान और भविष्य की स्थिति

गुणधारण—भगवन् ! पापोदय, ज्ञानसवरण, महामोहादि शत्रु अब क्या कर रहे है ?

आचार्य—अभी वे मात्र समय व्यतीत कर रहे है और अवसर की ताक मे बैठे है। जो खिचकर के बाहर आये वे नष्ट हो गये (उदय मे आये वे भोग कर समाप्त हो गये), जो तेरी चित्तवृत्ति मे निर्बल होकर लुक-छिपकर बैठे है (उपशम-भाव को प्राप्त है) वे अवसर की प्रतीक्षा मे हैं और अवसर आने पर ये मात्सर्यग्रस्त सभी सगठित होकर भीषण युद्ध के लिये एकदम तैयार हो जायेंगे। हे महाराज ! ऐसा अवसर आने पर तुम्हे सद्‌बोध मन्त्री के परामर्श के अनुसार कार्य करना चाहिये। उसके सहयोग से चारित्रधर्मराज के एक-एक योद्धा को लेकर तुझे प्रतिपक्षी सेना के एक-एक योद्धा पर भिन्न-भिन्न ढग से प्रहार कर उन्हे पराजित करना चाहिये। [३५९-३६२]

गुणधारण—जैसी भगवान् की आज्ञा।

इसके बाद मासकल्प (शेषकाल) समाप्त होने पर आचार्य प्रवर अन्यत्र विहार कर गये।

---

९. नौ कन्याओं से विवाह : उत्थान

धर्म, शुक्ल पुरुष और पीतादि परिचारिकायें

आचार्यश्री के उपदेशानुसार मैं विशेष रूप से अनुष्ठान करने लगा जिससे मेरा अन्तःकरण अधिकाधिक शुद्ध होता गया। मेरा शरीर भी कसौटी पर चढ़ा और सद्‌बोध मन्त्री को मैंने अपनी चित्तवृत्ति मे प्रवेश करवाया।

फिर एक दिन मन्त्री ने मुझे समाधि नामक दो पुरुष बताये। उनका रग श्वेत था। वे अत्यन्त सुन्दर स्वरूपवान दर्शनीय और सुखदायी थे। उनका परिचय कराते हुए सद्‌बोध ने कहा—देव ! इन दोनो मे से एक का नाम धर्म और दूसरे का नाम शुक्ल है। समाधि इनका सामान्य नाम (गोत्र) है। ये दोनो तुम्हारे अन्तरग

मे प्रवेश करने वाले है, अतः इनका पूर्ण आदर-सत्कार करना चाहिये। मैंने मन्त्री के कथन को स्वीकार किया।

तत्पश्चात् मत्री ने विद्युत (तेजस्) पद्म और स्फटिक (शुक्ल) वर्ण की सुन्दर आकृति वाली सुख-स्वरूपी तीन लेश्या गोत्रीय स्त्रियो को बताया। इनके नाम पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या बताये। इनका परिचय कराते हुए मन्त्री ने कहा—

देव! ये तीनो स्त्रियाँ धर्म की सेविकाये है और शुक्ल लेश्या विशेष रूप से शुक्लध्यान की परिपोषक है। ये तीनो अत्यन्त उपयोगी, योग्य और लाभदायक है, [३६३]* अतः इनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार करे। इनके बिना तुम्हारे उपकारी धर्म और शुक्ल दोनो पुरुष तुम्हारे पास नही रह पायेंगे। तुम्हे जिस राज्य की प्राप्ति करनी है उसमे मुख्य सहायक ये दोनो पुरुष है, अतः तुम्हे इन तीनो स्त्रियो का अच्छी तरह पोषण करना चाहिये। मैंने कहा—बहुत अच्छा, मै ऐसा ही करूँगा।

वैवाहिक तैयारियाँ

अब मै चित्तवृत्ति मे प्रवेश करने लगा। उपर्युक्त तीनो लेश्याओं के निर्देशानुसार प्रवृत्ति करने लगा। विद्या के साथ विलास करने लगा। सद्बोध के साथ बार-बार मन्त्रणा करने लगा और सदागम, सम्यग्दर्शन तथा गृहिधर्म का सन्मान करने लगा। इस प्रकार करते हुए मुझे आचार्यश्री के विहार के बाद लगभग पाँच माह बीत गये। अन्त मे मेरे सद्गुणो से कर्मपरिणाम राजा मेरे अनुकूल हुए। फिर वे स्वयं चित्तसौन्दर्य आदि नगरो मे गये और शुभपरिणाम आदि राजाओ को मेरे अनुकूल कर उन्हे अपनी कन्याओ का लग्न मेरे साथ करने को प्रेरित किया। अनन्तर सेनापति पुण्योदय को आगे कर कालपरिणति आदि अपने परिवार को लेकर मेरे पास आये। कन्याओ से विवाह के लिये उन्होने मुझे मेरी चित्तवृत्ति मे प्रवेश करवाया। तदनन्तर कर्मपरिणाम महाराज ने शुभपरिणाम आदि चारो राजाओ को सन्देश भेजा कि वे सभी सात्विकमानसपुर मे आये हुए विवेक पर्वत के शिखर पर स्थित जैनपुर मे आ जाये। चारो राजा अपने परिवार सहित वहाँ आ पहुँचे। सब का आदर-सत्कार किया गया और सब ने मिलकर लग्न का दिन निश्चित किया।

महामोह की सेना मे घबराहट

इधर महामोह की सेना एकत्र हुई और सब मिलकर इस विषय पर विचार करने लगे। विषयाभिलाप मन्त्री बोला–देव! यदि संसारी जीव क्षान्ति आदि नौ कन्याओ से विवाह कर लेगा तो हम सब की तो मौत ही है, अतः अब हमे इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये। विषाद का त्याग कर साहसपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है कि :—

* पृष्ठ ७२३

"जब तक कार्य का अन्त दिखाई न दे तब तक भले ही डर लगता रहे, किन्तु प्रयोजन के प्राप्त होने पर तो निर्भय होकर प्रहार करना चाहिये।" [३६४]

महामोहराज ने मन्त्री के कथन का अनुमोदन किया, सभी योद्धाओं ने उसका समर्थन किया, युद्ध की सामग्री तैयार की गई और सेना को तैयार रहने की आज्ञा दी गई। थोड़े ही समय मे सारा सैन्य सन्नद्ध होकर आ पहुँचा। सेना मे युद्धोत्साह था, किन्तु सब के मन मे यह भय अवश्य था कि 'महाराजा कर्मपरिणाम अभी उनके विरुद्ध है' अत: वे सब व्याकुल भी हो रहे थे।

भवितव्यता से परामर्श

अन्त में विचार कर वे देवी भवितव्यता के पास आये और उससे सविनय पूछा—

हे भगवति! इस परिस्थिति मे हमे क्या करना चाहिये?

भवितव्यता ने कहा—भद्रो! अभी युद्ध का समय नही है। अभी मेरा आर्य-पुत्र (पति) सुधर गया है, आदरणीय बन गया है। कर्मपरिणाम महाराज के अभी उसके प्रति उच्च विचार है। फिर शुभपरिणाम आदि बड़े-बडे राजा भी उसके पक्ष मे है। दोहरी मदद और सहयोग से मेरे आर्यपुत्र ससारी जीव को अपने सैन्य-बल के निरीक्षण की उत्सुकता जाग्रत हुई है। ऐसे सयोगों मे महाराजा उसे उसका सैन्यबल अवश्य दिखायेंगे और वे आर्यपुत्र उसका पोषण भी अवश्य करेंगे। अत' यदि तुम अभी * युद्ध करोगे तो तुम सब का प्रलय एव नाश हो जायेगा। अत: अभी तुम सब चुपचाप छिपकर योग्य अवसर की प्रतीक्षा करो। जब अवसर आयेगा तब मैं स्वयं तुम्हें सूचित कर दूगी। तुम तो जानते ही हो कि मैं सदाकाल तुम सब के कार्यों का विशेष ध्यान रखती हूँ। फिर तुम्हे इस विषय मे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है?

भवितव्यता के परामर्श से उन्होने प्रकट-युद्ध का विचार छोड दिया, किन्तु अपनी-अपनी योगशक्ति से मेरी चित्तवृत्ति में छिप कर बैठ गये।

मोह-कल्लोल और सद्बोध

उनके प्रभाव से मेरे मन के घोडे दौड़ने लगे। आचार्यश्री ने कहा था कि "इन कन्याओं से विवाह के पश्चात् ही वे तुझे दीक्षा देंगे" पर, यह दीक्षा तो बाहुओ से स्वयम्भूरमण समुद्र को तैरने जैसी दुष्कर है। मरण पर्यन्त साधुओ की अति कठिन नैष्ठिक क्रियाओ का पालन करना होगा। शरीर मे रोगादि आतंको की भी सम्भावना है। फिर सुख से पाले पोषे गये मेरे इस शरीर से यह सब कैसे होगा? दीर्घकाल तक मे रूखा-सूखा भोजन कैसे करूगा? कातरहृदया बेचारी मदनमजरी अभी जवान है, उसे जीवन-पर्यन्त मेरा वियोग सहना अत्यधिक कष्टदायक होगा। यह सब सोचते हुए मेरा चित्त थोड़ा विचलित हुआ।

---

* पृष्ठ ७२४

पुन: मैंने सोचा—अभी इन कन्याओं का विवाह स्थगित कर दूँ । अभी क्यों न जवानी का मजा लूट लूँ ? ये कन्याये तो मेरे हाथ मे ही हैं, यौवन ढल जाने पर इनसे लग्न कर दीक्षा ले लूँगा ।

सद्बोध मन्त्री की अनुपस्थिति में मेरे मन के घोड़े दौड़ ही रहे थे कि तभी मन्त्री आ गये । मैंने अपना अभिप्राय मन्त्री को सुनाया ।

सद्बोध मन्त्री बोले—देव ! आपने यह ठीक नही सोचा । यह आत्महित का क्षतिकारक, परमसुख का बाधक और आपके अज्ञान का सूचक है । आप जैसे व्यक्ति के ऐसे विचार स्वाभाविक नही हैं । यह तो दुरात्मा महामोहादि का विलास है । गुप्त धन को हस्तगत करने के समय जैसे वैताल विघ्न डालने के लिये आकर खडे हो जाते हैं वैसे ही चित्तवृत्ति मे छुपे हुए वे दुष्ट आपकी सिद्धि मे विघ्न डालने के लिये ठीक अवसर पर आ पहुँचे हैं, पर आप अपनी आत्मा को उनसे न ठगने दे ।

मन्त्री की बात मुझे जँच गई । मैंने पूछा—आर्य ! फिर मुझे क्या करना चाहिये ?

सद्बोध—आपको अपने बल से ही उन्हे हटाना चाहिये ।

गुणधारण—मेरा कौनसा बल (सैन्यबल) है ? बतलाइये ।

सद्बोध— मैं तुम्हे तुम्हारा बल दिखलाने को तैयार हूँ किन्तु यह अधिकार कर्मपरिणाम महाराजा को ही है ।

कर्मपरिणाम महाराजा वहाँ उपस्थित ही थे । उपर्युक्त बात-चीत सुनकर उन्होने कहा—आर्य ! मेरी आज्ञा से तुम्ही इन्हें इनके बल को बतला दो । परमार्थ से वह मेरे द्वारा ही बताया गया समझा जायेगा ।

सद्बोध ने महाराजा की आज्ञा को शिरोधार्य किया ।

स्वबल-दर्शन

तब सद्बोध मन्त्री ने मुझे चित्तसमाधान मण्डप मे प्रवेश करवाया ।* वहाँ विद्यमान चारित्रधर्मराज और उसकी सेना को मुझे दिखाया । उन्होने मुझे प्रणाम किया और मैंने भी प्रत्येक का सन्मान किया । इस सैन्य-निरीक्षण के समय मै उच्चतम पद पर आसीन था और वे सब मेरे अधीनस्थ सैनिक थे । उन्होने तुरन्त चतुरग सेना को तैयार किया और शत्रुओ को मार भगाने के लिये व्यूह रचना की ।

उनके रण उल्लास को देखकर मेरे अधीनस्थ राजाओ ने भी उन सब को सन्मानित कर प्रसन्न किया । [३६५]

महामोहादि शत्रु दूर से ही इस तैयारी को देखकर भयभीत एव पागल हो गये और पापोदय को आगे कर वे सब मृत्यु के डर से भाग खड़े हुए । तब उनके

* पृष्ठ ७२५

निवास स्थान को तोड़कर, चित्तवृत्ति अटवी को स्वच्छ किया गया। शत्रुओ के नाश और विजय के उपलक्ष मे उन्हे जयध्वज प्रदान किया गया। भागे हुए शत्रुओ मे से कुछ का नाश/क्षय हुआ और कुछ बगुले की तरह चुपचाप छुपकर (उपशान्त होकर) बैठ गये। [३६६–३६८]

लग्न-समारम्भ

तदनन्तर अत्यन्त आनन्द पूर्वक मेरा अतिमनोरम विवाह-महोत्सव प्रारम्भ हुआ। मेरे इस उत्सव को देखकर मेरे अन्तरग बन्धु बहुत हर्षित हुए। पहले अष्ट मातृका की स्थापना की गई और उनकी विधिवत् पूजा की गई। हे भद्रे! तब सद्बोध मन्त्री ने उन आठ माताओं की अलग-अलग क्या शक्ति है? इसका निम्नप्रकार से वर्णन किया—

१. जब मुनि लोग जैनपुर मे चलते है तब इस माता के प्रभाव से ३½ हाथ दूर तक दृष्टि रखकर चलते है, जिससे मार्ग मे किसी प्रकार का व्याक्षेप न हो और किसी जीव की विराधना न हो (ईर्या समिति)।

२. यह माता अपने प्रभाव से मुनियो से सद्वाक्य, पवित्र वाक्य ही बुलवाती है। वे यथातथ्य, हितकारी और अत्यन्त सीमित शब्दो मे बोलते हैं (भाषा समिति)।

३. तीसरी माता भोजन का समय होने पर मुनियो से सर्वप्रकार के दोष-रहित निर्दोष भोजन की शोध करवाती है और उसे सीमित मात्रा मे ही खाने की आज्ञा देती है (एषणा समिति)।

४. चौथी माता के प्रभाव से मुनि लोग किसी पात्र आदि वस्तु को लेने या रखने के समय उसे अच्छी तरह देखकर, प्रमार्जित कर सावधानी से लेते या रखते है (आदानभाण्डमात्रनिक्षेपरण समिति)।

५ पाँचवी माता मुनियो से बचा हुआ आहार, मल, मूत्र आदि का त्याग करना हो तो पहले शुद्ध निर्जीव भूमि देखकर त्याग करवाती है, जिससे किसी जीव को त्रास न हो (परिष्ठापनिका समिति)।

६ छठी माता के प्रभाव से साधुओं का मन निरन्तर आकुल-व्याकुलता से रहित रहता है। यदि उनके मन मे कोई दोष उत्पन्न हो गये हो तो इसके प्रभाव से नष्ट हो जाते है (मनोगुप्ति)।

७. यह माता अपने प्रभाव स साधुओ से कारणो के अभाव मे सर्वदा मौन धारण करवाती है। कारणवश बोलना आवश्यक हो तो वे दोषरहित और बहुत सक्षिप्त ही बोलते हैं (वचनगुप्ति)।

८. आठवी माता के प्रभाव से साधु लोग प्रयोजन के अभाव में अपने शरीर को कछुए की तरह संकुचित कर रखते हैं। कारणवश चलना-फिरना आवश्यक हो तो यह कायिक दोषों से बचाती है (कायगुप्ति)।

प्रथम दिन जैनपुर में इन आठ मातृकाओं की स्थापना कर विधिपूर्वक पूजा की गई। [३६९-३८०]

पश्चात् चित्तसमाधान-मण्डप-स्थित निःस्पृहता वेदी को विशेष रूप से स्वच्छ कर सज्जित किया गया। चारित्रधर्मराज ने अपने तेज से वहाँ एक विस्तीर्ण अग्निकुण्ड निर्मित कर उसे प्रदीप्त किया। लग्न के समय की जाने वाली सभी यथोचित तैयारियाँ पूर्ण की गईं।* फिर तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्याओं ने वधुओं के स्नान, विलेपन, वस्त्राभूषण आदि कार्य सानन्द सम्पन्न किया। इन्हीं माताओं ने और मेरे सामन्तों तथा राजाओं ने मुझे भी स्नान, विलेपन आदि कराकर वस्त्राभूषण से सज्जित किया। [३८१-३८४]

तत्पश्चात् सानन्द लग्न विधि प्रारम्भ हुई। सद्बोध मन्त्री स्वयं पुरोहित बने। उन्होंने कर्म रूपी समिधा (लकड़ियों) को अग्नि में डालकर यज्ञ प्रारम्भ किया और इसमें सद्भावना रूपी आहुतियां देने लगे। अञ्जली भर-भर कर कुवासना रूपी लाजा को अग्निकुण्ड में डालने लगे। सदागम स्वयं ज्योतिषी बना और उसकी उपस्थिति ने वृष लग्न के अमुक अंश में मेरा क्षान्ति कन्या से पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। इस विवाह के होते ही शुभपरिणाम आदि राजा और निष्प्रकम्पता आदि रानियां अत्यन्त हर्षित और प्रमुदित हुये। फिर उसी वृष लग्न में मेरा दया आदि आठ कन्याओं से विवाह सम्पन्न हुआ। फिर मैं जीववीर्य नामक अति विस्तृत सिंहासन पर अपनी सभी पत्नियों के साथ बैठा। चारित्रधर्मराज आदि सब को इस विवाह महोत्सव से अतिशय हर्ष हुआ और वे प्रमुदित होकर अनेक प्रकार का विलास करने लगे।

वैश्वानरादि उपशान्त

मेरा जब विद्या से परिणय हुआ था तभी से परमार्थतः महामोह निर्बल हो गया था। पर, वह पूरे समुदाय की आत्मा था, सारभूत नेता था। कहावत है कि "रस्सी जल जाने पर भी उसका बट नहीं जाता" अतः जली हुई रस्सी के समान अभी भी वह मेरे समीप ही था। क्षान्ति आदि कन्याएं वैश्वानर आदि शत्रुओं की प्रबल विरोधिनी होने से वे तो सब भागे ही, पर चारित्रधर्मराज ने तो पापोदय सहित महामोह की पूरी सेना को भगा दिया। महामोह छिपकर चुपचाप बैठा था, पर अब वह त्रस्त होकर हिंसा, वैश्वानर आदि नौ लोगों के साथ मुझ से बहुत दूर जा बैठा। मेरे शत्रु अभी पूर्ण नष्ट नहीं हुए थे, पर वे शान्त हो गये थे जिससे मुझे प्रमोद हुआ।

* पृष्ठ ७२६

अपनी दस श्रेष्ठ पत्नियों से आलिंगित होकर, अपने सैन्य बल और परिवार से घिर कर अब मैं अन्तरग विलास मे उद्दाम लीला का आत्म-साक्षात्कार स्वय अनुभव करने लगा। इस आत्मिक सुख के अनुभव से अब मुझे निर्मलाचार्य के कथन की सत्यता पर पूर्ण विश्वास हुआ। [३८५-३९१]

अब शुभपरिणाम राजा और निष्प्रकपता रानी से उत्पन्न अन्य अनेक कन्याओं—धृति, श्रद्धा, मेधा, विविदिषा, सुखा, मैत्री, प्रमुदिता, उपेक्षा, विज्ञप्ति, करुणा आदि का विवाह भी मुझसे कर दिया गया।

इन सब सुभार्याओ के साथ अब मुझे जिस अत्यन्त आनन्द और अलौकिक रस का अनुभव हुआ वह अवर्णनीय था। मैंने सोचा कि निर्मलाचार्य ने पूर्व मे मुझे जिस सम्पूर्ण सुख के अनुभव की बात कही थी,* उसका साक्षात्कार अब मुझे हो रहा है। इस प्रकार मैं अब सप्रमोद नगर मे रहता हुआ प्रमोदातिरेक का अनुभव कर रहा था। इसी समय आचार्यश्री मुनिमण्डल सहित विहार करते हुए वापस सप्रमोदपुर आ पहुँचे और उसी आह्लाद मन्दिर उद्यान मे ठहरे। उनके आने के समाचार मिलते ही मैं तुरन्त अत्यन्त आदरपूर्वक उद्यान मे गया और श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक वन्दन किया। [३९२-३९७]

द्रव्यतः मुनिवेषधारण

अपने दोनो हाथ जोड़कर ललाट पर लगाते हुए, हे बहिन अगृहीतसकेता! मैंने आचार्यश्री से निवेदन किया—भगवन्! आपके आदेशानुसार अब तक मैंने समस्त कार्य पूर्ण कर लिये है, अतः हे नाथ! अब मुझे दीक्षित करने की कृपा करे।

आचार्य बोले—राजन्! तुम्हे भावदीक्षा तो स्वतः ही प्राप्त हो गई है, अब क्या दीक्षित करे? विशेषतः जो श्रमण रूप मे अनुष्ठान करने का था उसे तो तुमने घर में रहते हुए भी सम्पन्न कर ही लिया। वस्तुतः तुम भावश्रमण तो बन ही गये। फिर भी विद्वान् लोक-व्यवहार का उल्लघन नही करते, अतः हे नृपति! अब तुम्हे द्रव्यदीक्षा प्रदान करेगे। क्योकि, भावदीक्षा के साथ-साथ बाह्य वेष भी आत्मोन्नति का निमित्त कारण बनता है, अतएव तुम्हे द्रव्यदीक्षा भी प्रदान करते है। [३९८-४०३]

मैंने कहा—भगवान् की बहुत कृपा।

तत्पश्चात् आठ दिन तक जिन-पूजा, मुनिजनो की पूजा, नगरवासियो को आनन्दित और बन्धुवर्ग की सार-सभार करते हुए, याचकों को इच्छानुसार दान देते हुए, अपने पुत्र जनतारण का राज्याभिषेक कर और तत्समयोचित समस्त कार्य सम्पन्न कर मैं मदनमंजरी, कुलन्धर और प्रधान नागरिको के साथ निर्मलाचार्य के पास विधि-पूर्वक दीक्षित हुआ।

---

* पृष्ठ ७२७

शास्त्राभ्यास : अनशन

तदनन्तर मैंने समस्त साधु-क्रियाओ का अभ्यास किया, सदागम का गाढ़ प्रेमी बना और उसके द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंगशास्त्रों तथा कालिक और उत्कालिक सूत्रो का अध्ययन किया। सम्यग्दर्शन का अत्यन्त प्रेमी हुआ और चारित्रधर्मराज के प्रति मेरा प्रेम बढता ही गया। उसके सैन्य का निकटता से परिचय प्राप्त किया और संयम तथा तपयोग से उसका पोषण किया। प्रमत्तता नदी आदि शत्रुओ के क्रीडास्थलो को भग्न कर चित्तवृत्ति को निर्मल किया। इस प्रकार गुरु-चरणो की सेवा और मुनिचर्या का पालन करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। अन्त मे मैने सलेखना अगीकार कर अनशन किया। मेरी दिनचर्या को देखकर भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई और उसने मुझे दूसरी नवीन गुटिका देकर विबुधालय के कल्पातीत विभाग मे प्रथम ग्रैवेयक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न किया।

वहाँ अत्यन्त मनोहर दिव्य पलंग पर अतिसुन्दर मूल्यवान सुकोमल वस्त्र बिछा हुआ था। अत्यन्त निर्मल आकृति में मैं वहाँ बहुत सुखपूर्वक रहा।* मैं प्रथम ग्रैवेयक मे तेईस सागरोपम तक रहा। वहाँ मेरा सम्पूर्ण जीवन सर्व प्रकार की विघ्न बाधाओ से रहित, शान्त और सुखानुभव पूर्ण बीता और मैंने सुखामृत का साक्षात् अनुभव किया। [४०४-४०५]

सिंहपुर मे गंगाधर

हे भद्रे ! मेरी पत्नी भवितव्यता के प्रभाव से तेईस सागरोपम के अन्त मे मनुजगति के ऐरावत विभाग में सिंहपुर नगर मे महेन्द्र क्षत्रिय की पत्नी वीणा की कुक्षि से मैं पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। यहाँ मेरा नाम गंगाधर रखा गया। यहाँ मेरे पराक्रम की बहुत प्रसिद्धि हुई। [४०६-४०७]

योग्य उम्र के प्राप्त होने पर अच्छा यश प्राप्त करने के पश्चात् मुझ जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। मैंने सुघोष नामक आत्मानुभवी आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और उनके सान्निध्य मे पूर्ववत् साधु की सभी क्रियाओ का अनुष्ठान किया। अन्त मे सलेखना/अनशन आदि किया। भवितव्यता के प्रभाव से यहाँ से मैं दूसरे ग्रैवेयक मे गया। [४०८-००९]

इस प्रकार अनुक्रम से फिर मनुष्य हुआ, दीक्षा ली, विधिपूर्वक पालन किया, अन्त में सलेखना/अनशनादि पूर्वक तीसरे ग्रैवेयक मे गया। इस प्रकार पाँच बार मनुजगति में भावदीक्षा ग्रहण कर उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ और पाँच बार ग्रैवेयक में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ गया। हे अगृहीतसंकेता ! इस प्रकार मेरी स्थिति प्रवर्धित होती गई। अन्तिम पाँचवे ग्रैवेयक मे मैं सत्ताईस सागरोपम काल तक रहा। वहाँ मुझे चित्त को नितान्त शान्त करने वाली, सुख-समूह को प्राप्त कराने वाली अतिसुन्दर और अत्यन्त पवित्र कल्याणमाला प्राप्त हुई। [४१०-४१२]

---

* पृष्ठ ७२८

१०. गौरव से पुनः अधःपतन

सिंह की दीक्षा

भवितव्यता के प्रभाव से मै पाँचवे ग्रैवेयक से फिर छठी बार मनुज गति के धातकी-खण्ड-स्थित भरत क्षेत्र मे शखनगर मे महागिरि राजा की भद्रा रानी की कुक्षि से सुन्दर रूपवान पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। यहाँ मेरा नाम सिंह रखा गया। राजवश मे जन्म होने से मुझे भोग की सभी सुन्दर सामग्री यथेष्ट रूप मे प्राप्त हुई।

अनुक्रम से मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ। हे सुलोचने! उस समय मैंने धर्मबन्धु नामक विद्वान् मुनि के दर्शन किये। उनके उपदेश से मैंने राज्य-वैभव का त्याग कर भागवती दीक्षा ग्रहण की। हे चारुगामिनि अगृहीतसकेता! इस बार मैंने साधुओ की सर्व क्रिया-कलापो का अभ्यास किया, चरण-करण क्रिया मे अच्छी तरह उद्युक्त हुआ, उग्र विहार किया और सद्भाव-पूर्वक सूत्र और अर्थ का अभ्यास करने का प्रयत्न किया। [४१३-४१६]

आचार्यपद-प्राप्ति : यश और सन्मान

थोड़े ही समय मे मैने द्वादशागी (बारह अगो) का अभ्यास कर लिया तथा मुझे चौदह पूर्व सहित द्वादशागी प्राप्त हो गई। सदागम मेरे पास अतिशय प्रेम-पूर्वक सगे भाई के समान रहने लगा। पहले भी मैने अनेक बार बहुत ज्ञान प्राप्त किया था पर पूरे चौदह पूर्वो का ज्ञान कभी प्राप्त नही हुआ था। इस बार तो पूरे चौदह पूर्वो का विशिष्ट ज्ञान मैंने खेल ही खेल मे प्राप्त कर लिया। सदागम के सम्बन्ध से मुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ। [४१७-४१९]

मेरे गुरु धर्मबन्धु ने जब देखा कि मैंने सभी सूत्र-अर्थ का अभ्यास सम्यक् रीति से कर लिया है तब उन्होने मुझे श्री सघ के समक्ष आचार्य पद पर स्थापित कर दिया। उस समय अतिशय प्रमुदित होकर देव, दानव और मनुष्यो ने चमत्कार-पूर्ण महोत्सव किया। लोगो ने, देवताओ ने और गुरुजी ने भी मेरी श्लाघा/प्रशसा की कि 'अहा! इतनी छोटी उम्र मे इतना सारा ज्ञान ग्रहण किया, अतः तुम धन्य हो! तुम्हारा अवतार सफल है!' मेरे आचार्य-पद-महोत्सव पर लोकबन्धु जिनेश्वर

देव की वस्त्र, आभूषण, मालाओ से पूजा की गई और सम्पूर्ण सघ की भोजन से तथा वस्त्रादि की प्रभावना से सविधि पूजा की गई। [४२०–४२३]*

धीरे-धीरे मेरी ख्याति इतनी बढ गई कि सभी देव, मुनि और सज्जन पुरुष मेरे गुणो तथा मेरी ज्ञान महिमा से मेरे प्रति अधिकाधिक आकर्षित होते गये। अनेक महाविद्वान् शिष्य मेरा विनय करने लगे। अपने गच्छ के अतिरिक्त अन्य गच्छों के धुरन्धर पण्डित भी मेरे पास आने लगे। जैसे-जैसे मेरी प्रसिद्धि बढ़ती गई वैसे-वैसे मेरा काम भी बढता गया। [४२४–७२५]

मैं अनेक ग्रामो, नगरों और राजधानियो मे विहार/भ्रमण करता हुआ प्रत्येक स्थान पर विद्वत्तापूर्ण सुन्दर व्याख्यान देता, अनेक स्थानो पर सभाओं को प्रसन्न करता हुआ कीर्तिपताका फहराता रहा।

बडे-बड़े वाद-विवादो मे विपक्षी कुतीर्थियो के मत्त हस्ति-दल के कुम्भ-स्थलो को मैंने अपनी भाषा रूपी अकुशो से तोड दिया, विदीर्ण कर दिया। जब मै स्वशास्त्र और परशास्त्र के गहन/रहस्यपूर्ण ज्ञान की बाते विस्तार से समझाता तब बडे-बडे सेनापति, सामन्त और महाराजा भी उच्च स्वर मे अत्यन्त प्रशस्त शब्दो मे मेरा यशोगान करते, मेरी कीर्तिपताका फहराते और मेरे यश का पटह बजाते। वे इतने मधुर शब्दो मे प्रशसा करते कि जिसका वर्णन अशक्य है। उदाहरण स्वरूप वे कहते—हे नाथ! आप सचमुच धन्य है, भाग्यवान हैं, आपका जीवन सफल है, इस मृत्युलोक मे आकर आपने पृथ्वी को सुशोभित किया है, अलकृत किया है, आप वास्तव में परमब्रह्म रूप हैं, पृथ्वी के शृंगार है, धर्म के दीपक है, निरपवाद है, सच्चे सिंह हैं, आपने अपने नाम को सार्थक किया है। अनेक तीर्थिक, वादी और नास्तिक भी मेरी स्तुति करते थे और मेरे समक्ष सिर झुका कर चलते थे। प्रशसा के साथ-साथ लोग मेरी सेवा और पूजा भी करने लगे।

इस प्रकार मै आचार्य के रूप मे सब लोगो का प्रिय नेता और अग्रगण्य बन गया। हे अगृहीतसकेता! इसी बीच एक विशेष घटना घटित हुई, वह भी सुनो। [४२६–४३२]

भवितव्यता की सजगता

मेरी ऐसी अद्भुत ऋद्धि-सिद्धि और यश को देखकर मेरी पापिन पत्नी भवि-तव्यता ईर्ष्या के कारण मुझ से रुष्ट हो गई। उसे ध्यान आया कि पूर्व मे जब महा-मोहराजा के सैनिको ने उससे राय पूछी थी, तब उन्हे योग्य अवसर की प्रतीक्षा करने को कहा था। मुझ पर विश्वास कर आशा से वे बेचारे चुप हो गये थे। मुझे लगता है, अब उनका कार्य-सिद्धि का योग्य अवसर आ गया है। यदि मैं उन्हे सूचित कर दूगी तो वे अपनी शक्ति का प्रयोग कर प्रसन्न और सुखी हो सकेंगे।

* पृष्ठ ७२६

हे भद्र! इस प्रकार सोचकर भवितव्यता ने पापोदय आदि सभी को कह दिया कि अब तुम्हारा कार्यसिद्ध करने का समय आ गया है। 'घर की फूट से घर नष्ट' होने की कहावत मुझ पर चरितार्थ हुई। फिर उसने कर्मपरिणाम आदि जो निर्दोष बन्धुत्व से मेरे अनुकूल हो गये थे तथा जिसने अपनी शक्ति से उन्हे निर्बल, चेष्टारहित और मूढ जैसा बना दिया उन्हें पुनः प्रेरित किया। [४३३–४३८]

मोह की प्रबलता : विषयाभिलाष का परामर्श

महामोह ने पापोदय को मुख्य सेनापति बना कर फिर व्यूह रचना की और मेरे सम्मुख आने के लिये निकल पडे। मेरी पत्नी के कहने से वे लोग निकल तो पड़े, पर पूर्व की विपदाओं को स्मरण कर मन ही मन भयभीत हो रहे थे और अपनी विजय के प्रति आशकित हो रहे थे। विजय प्राप्त करने के लिये वे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे। [४३९–४४०]

मन्त्रणा के समय विषयाभिलाष मत्री बोला—भाइयो! आज के अवसर को देखकर अपनी कार्यसिद्धि के लिये ज्ञानसंवरण राजा मिथ्यादर्शन को अपने साथ लेकर ससारी जीव के पास जाय, फिर शैलराज ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव को अपने साथ लेकर उसके समीप पहुँच जाय,* उसके तुरन्त बाद आर्त्ताशय और रौद्राभिसन्धि को भेजना उपयुक्त रहेगा। इनके साथ ही तीनो परिचारिकायें कृष्ण, नील और कपोत लेश्याये भी स्वय ही जायेंगी। हम सब अप्रमत्तता नदी के तीर पर पड़ाव डाले। इस नदी की मरम्मत कर इसमे पानी का प्रवाह एकत्रित करे। इसमे मण्डप आदि जो टूट गये है उनकी मरम्मत कर सुदृढ करे। इस प्रकार हमारी सेना नदी के तीर पर शिविर में रहेगी। सभी अपना कार्य सम्भाल लेगे तो बिना परिश्रम के हमारा प्रभाव जम जायेगा और हम अवश्य ही विजयी होगे।

मत्री की बात मोहराजा और सारी सभा को रुचिकर लगी। सबने उसका समर्थन एव अनुमोदन किया और तुरन्त ही उसे कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया।

गौरव-गजारूढ

हे अगृहीतसकेता! ये सब जब मेरे निकट आये तब मेरी क्या स्थिति हुई? वह भी सुन। मेरे अत्यन्त गौरव, यश, सन्मान और पूजा को देखकर मेरे मन में इस प्रकार तरगे उठने लगी—अहा! मेरा अतुल तेज, गौरव और पाडित्य जगत मे अद्वितीय और असाधारण है। वास्तव मे मैं युगप्रधान हूँ। मेरे जैसा पुरुष न भूत काल में कोई हुआ है, न भविष्य मे होने वाला है। सम्पूर्ण विद्याओ, कलाओ और अतिशयो ने स्वर्ग एव मर्त्य आदि लोको को छोड़कर मुझ में आश्रय लिया है। जब मैं राजा था तब मनुष्यो मे श्रेष्ठ था, सुन्दर स्वरूपवान था और भोगों में पाला-पोषा गया था, अब मैं श्रेष्ठतम आचार्य हूँ, कोई साधारण व्यक्ति नहीं।

* पृष्ठ ७३०

मेरा कुल, तप, लक्ष्मी, तेज महान है और मेरी प्रज्ञा भी महान है। वास्तव मे महान व्यक्तियो का तो सब कुछ महान ही होता है। [४४१–४४७]

अधःपतन की संकलना

अहकारपूर्वक मेरे मन में विकल्प उठ रहे थे, तरंगें उछल रही थी और मन के घोड़े दौड़ लगा रहे थे। यह देखकर शैलराज पुलकित हुआ और उसने अपना अनन्तानुबन्धी स्वरूप प्रकट किया।

जहाँ शैलराज होता है वहाँ मिथ्यादर्शन तो इसके साथ रहता ही है और ज्ञानसवरण को तो शैलराज के साथ विलास-क्रीडा करना बहुत ही अच्छा लगता है। ये तीनो मेरे पास आये और मेरे से घनिष्ठ सम्पर्क बढाया। अन्त मे मै इनके वशीभूत हुआ, मेरा मन मलिन हुआ और शास्त्र के अन्दर का अर्थ/रहस्य जानते हुए भी अज्ञानी जैसा हो गया। मैं स्वयं शास्त्र पढता था, दूसरो को वाचना देता था, उन पर व्याख्यान देता था, तथापि मिथ्यादर्शन आदि के चक्कर मे इनका गूढार्थ बराबर नही समझ पाता था। परिणाम स्वरूप मै ऊपर-ऊपर के साढे चार पूर्व पूर्णरूप से भूल ही गया, शेष पूर्वों का ज्ञान भूला नही था। [४४८–४५२]

प्रमत्तता के प्रवाह में

हे पापरहित भद्रे ! मेरे शत्रुओ ने इस समय मेरी चित्तवृत्ति मे स्थित प्रमत्तता नदी मे प्रयत्नपूर्वक बाढ पैदा कर दी जिससे पूर्वोक्त तीनों गौरव संज्ञक पुरुष अपनी-अपनी शक्ति से विशेष उछल-कूद मचाने लगे–

अहा ! मेरा कितना विशाल शिष्य समुदाय है ! कितने सुन्दर वस्त्र एव* पात्रो की प्राप्ति है ! देव, दानव, मानव मेरी पूजा करते हैं। अणिमा (सूक्ष्म रूप बनाने की) आदि विभूतियाँ मेरे पास है। मैं इस प्रकार के अभिमान मे और अधिक सिद्धियाँ प्राप्त करने की कामना करता रहा। (ऋद्धि गौरव)

मुझे जो-जो रसवाले आस्वाद्य पदार्थ मिलते थे, उनके प्रति मनमे आसक्ति पैदा हो गई और उनकी प्राप्ति के प्रति अति लोलुपता उत्पन्न हो गई। रस वाले पदार्थ न मिलने पर मैं लोगो से उनकी माग भी करने लगा, जो साधुधर्म के विरुद्ध था। (रस गौरव)

कोमल शय्या, आसन, सुन्दर व सूक्ष्म रेशमी वस्त्र, नये-नये खाद्य पदार्थ मिलने पर मेरे शरीर को सुख और सतोष मिलता। इन वस्तुओ की प्राप्ति के प्रति भी मेरा लोलुपता बढती गई। (साता गौरव)

इन तीनो गौरवो के वशीभूत होकर मैंने उग्र विहार करना छोड़ दिया और शिथिलाचारी बन गया। फिर आर्त्ताशय ने मेरे चित्त की शाति का हरण कर लिया और मैं दुष्ट सकल्प करने लगा। साधुवेष मे होने से रौद्राभिसन्धि यद्यपि मुझे

* पृष्ठ ७३१

अधिक हानि नहीं पहुँचा सका, पर वह मेरे पास खड़े-खड़े देखता रहा। कृष्ण, नील और कपोत लेश्यायें भी अपने स्वामी की सहायता करने लगी, उनके कार्यों को गति देने लगी और मुझे अधम मार्ग पर धकेलने लगी।

इधर चित्तवृत्ति में चित्तविक्षेप मण्डप और तृष्णावेदी निर्मित और सज्जित करली गई। उसके ऊपर विपर्यास सिंहासन लगा दिया गया। फलस्वरूप चारित्र-धर्मराज आदि का समस्त परिवार चित्तवृत्ति महाटवी में छिप गया। इस समय मैं साधुवेष का धारक होकर भी मिथ्यादृष्टि हो गया। [४५३-४६४]

११. पुनः भव-भ्रमरा

मेरे शत्रुओं को अब पूरा अवकाश मिल गया। वे सब प्रबल हो गये और सब संगठित होकर मुझ से शत्रुता करने लगे। सब ने मेरी पत्नी भवितव्यता से विचार किया और आयुष्यराज को बुलाया।

फिर भवितव्यता ने आयुष्यराज से कहा—भद्र ! मेरे आर्यपुत्र (पति) को किसी योग्य मनोहर स्थान पर भेजना है, अतः इनके जैसे कर्म वालो के निवास योग्य रमणीय स्थान मुझे बतलावे। [४६५-४६६]

आयुष्यराज—देवि ! इनका स्थान तो पहले से ही निर्णीत है। इसमें पूछना ही क्या है ? तुम्हारे पति के वर्तमान चरित्र से अप्रसन्न होकर कर्मपरिणाम महाराजा भी अभी महामोह के पक्ष में हो गये है। इन्होने पापोदय सेनापति को अग्रेसर कर दिया है। मुझे एकाक्षनिवास नगर में नियुक्त किया हे और साथ मे तीव्रमोहोदय तथा अत्यन्त अबोध सेनापति को भी बुलाया है। किसी कारण से कर्मपरिणाम महाराजा अभी सातावेदनीय पर भी अप्रसन्न हैं, अत. उसका सर्वस्व हरण कर उसे अकिंचित्कर एव शक्तिहीन बना दिया है। अन्तिम आज्ञा यह दी है कि हम दोनो (आयु और भवितव्यता) संसारी जीव को उसके अन्तरग परिवार के साथ तीव्र मोहोदय और अत्यन्त अबोध को साथ लेकर एकाक्षनिवास नगर मे निवास करे। मैं आपको क्या बतलाऊँ ? आप स्वय तो सब-कुछ जानती हैं और मुझ से ही उनके निवास स्थान के बारे में पूछ रही है ? यह आपका प्रेम है कि आप

मुझ से ही कहलाना चाहती हैं। अन्यथा इसमें आपके लिये कुछ भी नवीन या अज्ञात नहीं है।

भवितव्यता—भद्र आयुष्क ! यद्यपि आपकी बात ठीक है, तथापि जहाँ आपके जाने का निश्चित हुआ है वहाँ * पति के साथ मुझे तो अवश्यमेव जाकर रहना है। पर, अभी मेरे पति को उसकी आयु के एक तिहाई भाग तक और यहाँ रहना है, वह पूरा होते ही खेल-मात्र में हम शीघ्र एकाक्षनिवास पहुँच जायेंगे। [४६७-४६८]

आयुष्यराज—देवि ! आप सब जानती हैं, मैं क्या कहूँ ? अब तो सिंह (संसारी जीव) शीघ्र ही वहाँ जाने के योग्य हो जायँ ऐसी सभी सामग्री तैयार करे तो अधिक अच्छा है। [४६९]

हे अगृहीतसंकेता ! इसके बाद तो सभी अति प्रबल हो गये और पूरे वेग से अपनी शक्ति का प्रयोग मुझ पर करने लगे। मुझे साधुधर्म से अत्यन्त शिथिल बना दिया और अनेक प्रकार से भ्रष्ट कर सुखलम्पट बना दिया। अब मुझे थोड़ी भी सर्दी, गर्मी, विघ्न, पीड़ा, परिषह सहन न होते और मैं सब प्रकार से अधिकाधिक स्थूल आनन्द कैसे प्राप्त हो यह सोचने लगा। सुख-प्राप्ति की आशा में मैं अपने यथार्थ मार्ग का त्याग कर विपरीत मार्ग पर चल पड़ा। मेरा जीवन-मार्ग बदल गया। [४७०-४७१]

साधुजीवन के अन्त में तो मैंने दैनिक क्रियाओं का भी त्याग कर दिया। मेरी चेतना मूढ़ हो गई और शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ और दोष पैदा हो गये। ऐसी बाह्य और आन्तरिक तुच्छ दशा में मैं अपने आत्म-लक्ष्य को भूल गया। उसी समय मेरी उस भव की गोली भी समाप्त हो गई।

भव-भ्रमण-परम्परा

तुरन्त ही मुझे दूसरी गोली दी गई जिससे मैं एकाक्षनिवास नगर पहुँचा और वहाँ मुझे पूर्व-वर्णित वनस्पति वाले मोहल्ले में रखा गया। नयी-नयी गोलियाँ देकर मुझे इसी नगर में अनेक स्थानों पर बहुत समय तक रखा गया।

फिर मुझे पंचाक्षपशुसंस्थान में ले जाया गया। वहाँ मेरी भावना कुछ विशुद्ध हुई जिससे मेरी स्थिति में सहज परिवर्तन हुआ और मेरी सुख-प्राप्ति की लालसा पूर्ण हो ऐसी योजना आगे चलाई गई तथा मुझे विबुधालय भेजा गया।

विबुधालय में जाने के बाद भी मैं कई बार पंचाक्षपशुसंस्थान में जा आया और वहाँ से फिर विबुधालय में गया। इन दोनों स्थानों के बीच मेरा बार-बार आवागमन होने लगा। पंचाक्षपशुसंस्थान से मैं कई बार व्यन्तर और दानव जाति

* पृष्ठ ७३२

में जा आया। प्रसंगवश यदा-कदा मुझे अकाम निर्जरा हो जाती जिससे शुभ भावना उत्पन्न होती और उसके बल पर मैं व्यन्तर देव बनता। [४७२-४७३]

कभी अधिक अच्छे परिणाम होने से मैं सौधर्म देवलोक भी हो आया। एक बार देव और एक बार पशु, यों मेरा भव-भ्रमण चलता ही रहा। इन १२ देवलोक के देव कल्पोपपन्न कहलाते है। ये देवगण जिनेश्वर के जन्म कल्याणक आदि अवसरो पर महोत्सव करते है। इस आवागमन मे मुझे गृहिधर्म और सम्यग्दर्शन का भी फिर से सम्पर्क हुआ, जिससे मैंने दर्शनचारित्र मे प्रगति की और १२ में से ८ देवलोकों में जा आया। [४७४-४७५]

हे सुलोचने ! मैं अनेक बार मानववास में भी गया। कर्मभूमि और अकर्मभूमि अन्तरद्वीपो मे मनुष्य बनकर बहुत समय बिताया। अकर्मभूमि मे कभी १,२ और ३ पल्योपम तक रहकर कल्पवृक्षों से अपनी मनोवाञ्छायें पूर्ण की। यहाँ जितने पल्योपम का आयुष्य होता, उतने ही कोस का शरीर भी होता। वहाँ सुख पूर्वक रह कर आनन्द भोगा, सुख से आहार किया। वहाँ रहते हुए मेरे विचारो में विशुद्धता आई। फिर मैं अपनी पत्नी के साथ विबुधालय मे गया। पूर्वोक्तविधि से नई-नई गोलिया प्राप्त कर वहाँ से अनेक बार अन्तरद्वीपो मे गया और वापस विबुधालय में लौट आया। अन्तरद्वीपो में मेरा आयुष्य असख्य वर्षों का रहा। [४७६-४८०]

जब मैं कर्मभूमि में था तब अज्ञान के वशीभूत होकर जल और अग्नि मे झपापात किया, पर्वतो पर से कूदा, विष खाया, चारो तरफ अग्नि जलाकर और सूर्य का ताप सहा (पंचाग्नि तप किया), रस्सी पर उल्टा लटका,* ऐसे-ऐसे अनेक हठयोग के कर्म धर्म-बुद्धि से किये। पर, इन सब मे मेरा भाव शुद्ध था, इसलिये फिर विबुधालय में गया। वहाँ किल्बिषिक देव बना। फिर मनुष्य और व्यन्तर बना। मनुष्यगति मे घोर बाल (अज्ञान) तप किये, पर मन मे क्रोध एव तपस्या का अधिक गौरव (अहकार) होने से भवनपति बना। देवगति की अधम जातियो मे भ्रमण करता रहा। मैं पुनः तापस के व्रत, अनुष्ठान और अज्ञानतप के प्रभाव से ज्योतिषी देवो में भी अनेक बार घूम आया। यो मेरी पत्नी अनेक बार मुझे नीच गति के देवो में और मनुष्य गति में भटकाती रही। मैने जैन द्रव्य-दीक्षा भी ली और तप से अपनी देह को तपाया, क्रिया-कलापो के साथ ध्यान और अभ्यासपरायण भी बना, पर सम्यग्दर्शन-रहित होने से मूढता के कारण सर्वज्ञ प्ररूपित एक भी पद, वाक्य अथवा अक्षर पर श्रद्धा नही की। हे भद्रे ! द्रव्य-दीक्षा के फलस्वरूप अनेक वार नौ ग्रैवेयक तक जा आया। बीच-बीच मे मानवावास भी आता रहा।

हे सुन्दरि ! मुझे इतना क्यो भटकना पड़ा ? इसका मूल कारण भी यही था कि मैं सिह आचार्य के रूप मे शिथिलाचारी बना। यदि उसी समय मैंने अपनी

* पृष्ठ ७३३

चित्तवृत्ति को निर्मल बनाकर अपने शत्रुओं का नाश कर दिया होता तो मेरी प्रगति निश्चित रूप से हुई होती और मैं अपने राज्य पर आसीन होकर कभी का निर्वृत्ति नगर पहुँच गया होता। मेरा यह भव-भ्रमण मेरी स्वय की दुश्चेष्टाओ के फलस्वरूप हुआ, अन्य किसी का इसमे कोई दोष नही। [४८१-४९१]

इतना कहकर संसारी जीव मौन हो गया।

संसारी जीव आत्मकथा सम्पूर्ण।

१२. अनुसुन्दर चक्रवर्ती

संकेत-दर्शन

संसारी जीव के सिंहाचार्य के उच्चतम पद से गिरकर वनस्पति मे उत्पन्न होने और फिर अनन्त ससार-भ्रमण को सुनकर अगृहीतसकेता ने कहा—भाई ससारी जीव! अभी तुमने भव-भ्रमण का कारण अपनी दुश्चेष्टायें बताईं, किन्तु इस विषय मे मुझे लगता है कि अन्य और भी कारण हैं। यदि तुमने महाराजाधिराज सुस्थितराज की आज्ञा का सर्वदा स्थिर-बुद्धि से पालन किया होता तो ऐसी तीव्र अनर्थ-परम्परा नही भुगतनी पड़ती। तुम्हें जो अति दारुण दु ख उठाने पड़े वे इतने भयंकर है कि उन्हे सुनकर ही त्रास होता है। मेरी दृष्टि मे महाराजा की आज्ञा का उल्लघन भी तेरे भव-भ्रमण का प्रबल कारण है। [४९२-४९४]

इस सुन्दर विचार को सुनकर संसारी जीव आश्चर्यचकित रह गया और उसके मन में अगृहीतसकेता के प्रति सन्मान पैदा हुआ। वह बोला—बहिन सुभ्रु! तुमने वास्तविक बात कह दी है; अभी तक तू बात का भावार्थ नहीं जानती थी, पर अब तो गूढार्थ बताकर सचमुच तू विचक्षणा हो गई है।

हे सुन्दरागि! अब मैं यह बताता हूँ कि मैंने चोर का रूप क्यो धारण किया। यह सुनकर अगृहीतसकेता ने प्रसन्न होकर कहा कि, भद्र! सुनाओ। मैं तो स्वय यह बात सुनना ही चाहती थी। [४९५-४९६]

अनुसुन्दर का परिचय

अगृहीतसंकेता की इच्छा को जानकर ससारी जीव ने कहा—मेरी पत्नी भवितव्यता मुझे नौवें ग्रैवेयक से मनुजगति में स्थित क्षेमपुरी नगरी में लाई। हे सुन्दरि! यह तो तुम्हारे ध्यान मे ही होगा कि इस मनुजगति मे महाविदेह नामक अति सुन्दर और विस्तृत बाजार है। इस लम्बे-चौड़े बाजार में पंक्तिबद्ध अनेक

छोटी-मोटी दुकानें है। इन्ही के मध्य मे अनेक छोटे-बडे सुन्दर नगर हैं।* इस बाजार के मध्य भाग मे क्षेमपुरी स्थित है। इस स्थान को सुकच्छविजय कहा जाता है। आप हम सभी अभी इसी क्षेत्र मे बैठे है और यह मनोरम क्षेमपुरी भी इसी विजय मे स्थित है। [४९७-५००]

इस क्षेमपुरी मे शत्रु रूपी अन्धकार का नाश करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी युगन्धर राजा राज्य करता था। वह महाप्रतापी, दिव्यकाति युक्त और कीर्तिवान था। इसके एक अत्यन्त प्रिय नलिनी नामक प्रसिद्ध पटरानी थी। राजा के दर्शन मात्र से उसका मुखकमल विकसित हो जाता था। वह बहुत भली, शात, सुशील और नम्र थी। सूर्य के दर्शन से जैसे कमलिनी प्रफुल्लित हो जाती है, वैसे ही वह राजा को देखकर विकसित हो जाती थी। हे अगृहीत-संकेता ! मेरी पत्नी भवितव्यता ने मुझे पुण्योदय के साथ इसी की कुक्षि मे प्रवेश करवाया। [५०१-५०३]

जिस रात मैंने रानी की कूख मे प्रवेश किया उसी रात उस कमलनेत्री ने सुख-शय्या मे सोते-सोते चौदह महा स्वप्न देखे। स्वप्न देखकर रानी जागृत हुई और उसने प्रहृष्ट होकर अपने पति को वे गज आदि के स्वप्न सुनाये। राजा ने शांत चित्त से ध्यानपूर्वक स्वप्न सुने। फिर बोला, देवि ! तुम्हे सर्वोत्तम स्वप्न आये है। इनके फलस्वरूप कुलदीपक पुत्र होगा जो देव-दानव का पूजनीय महान चक्रवर्ती बनेगा। पति के इस प्रकार मनोरम वाक्य सुनकर रानी अति हर्षित हुई। उसके नेत्र विकसित हो गये और उसने स्वामी के फलार्थ को स्वीकार किया। पश्चात् वह प्रेमपूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी। समय पूर्ण होने पर माता ने मुझे जन्म दिया, अन्तरग मित्र पुण्योदय भी गुप्त रूप से मेरे साथ ही था। मेरी अत्यन्त सुन्दर आकृति को देखकर रानी मन मे अति प्रसन्न हुई। [५०४-५०८]

प्रियंकरी दासी तुरन्त मेरे पिताजी के पास गई। अत्यन्त हर्षावेश मे गद्गद कंठ और हर्षोल्लसित नेत्रो से उसने पिताजी को मेरे जन्म की बधाई सुनाई। पुत्र-जन्म की बधाई सुन कर पिताजी हर्षित हुए, उनका पूरा शरीर रोमाचित हो गया और बधाई लाने वाली दासी को इच्छानुकूल पारितोषिक दिया। फिर पिताजी ने मेरा जन्म महोत्सव मनाने की आज्ञा दी। पिताजी के आदेश से उस समय चारो तरफ लोग जन्मोत्सव मनाने लगे। सुन्दर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर लोग अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करने लगे, रसपूर्वक नाचने-गाने लगे, बाजे बजाने लगे, मस्ती में आकर हसी-ठिठोली करने लगे, समूह बनाकर उद्यानों मे जाने लगे, भोजन और मुखवास साथ मे लेकर वन-विहार को निकल पडे, स्वय के सन्मान में वृद्धि हुई हो ऐसे हर्षोद्गार निकालने लगे, दान देने लगे और कामदेव का सन्मान करने लगे। सम्पूर्ण नगर और राज्य आनन्दोत्सव मे निमग्न हो गया। छः दिन तक महान उत्सव मनाया गया, लोगों ने अनेक प्रकार की उद्दाम/उत्कृष्ट लीला की और आनन्द किया। [५०९-५१३]

* पृष्ठ ७३४

छठे दिन की रात्रि को मेरे पिता और सगे-सम्बन्धी एकत्रित हुए और रात्रि-जागरण किया। जागरण महोत्सव इतना श्रेष्ठ था कि मर्त्यलोक में स्वर्ग का भ्रम होता था। महान प्रमोदपूर्वक एक माह पूर्ण होने पर शुभ दिन देखकर मेरा अनुसुन्दर नाम रखा गया। पाँच धात्रियो द्वारा मेरा पालन-पोषण होने लगा। दिन-प्रतिदिन मैं बड़ा होने लगा। माता-पिता की विशेष देखरेख मे मेरा शरीर स्वस्थ रहा और क्रमशः बढ़ने लगा। कुमारावस्था आने पर मेरे कलाभ्यास की सब व्यवस्था की गई और उसका लाभ उठाकर मैंने सकल कलाओ का अभ्यास किया तथा पुरुप के योग्य सभी कलाओ मे निष्णात बना। युवावस्था प्राप्त होने पर मुझे युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया गया। हे भद्रे! मेरे पिताजी एव नागरिको ने युवराज पद-महोत्सव अत्यन्त आनन्द और हर्षातिरेकपूर्वक मनाया। * थोड़े समय वाद सूर्याकारधारक पिताजी युगन्धर स्वर्गवासी हो गये।। सूर्यास्त के साथ नलिनी का विकास भी अस्त हो गया, अर्थात् मेरी पूजनीय माताजी नलिनी महादेवी का भी देहान्त हो गया। [५१४-५१८]

माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् मेरे राज्याभिषेक का प्रसग चल ही रहा था कि मेरी शस्त्रशाला मे अतुलनीय चक्र आदि चौदह रत्न और यक्षों द्वारा रक्षित नौ निधान प्रकट हुए। मुझे चक्रवर्ती मानकर सुकच्छविजय के सभी राजा मेरे वशीभूत हुए तथा स्वयं को अनुचर और मुझे स्वामी स्वीकार किया। प्रताप तेज से मैंने क्षेमपुरी में रहकर ही समस्त छ खण्ड पृथ्वी को जीत लिया और सम्पूर्ण विजय क्षेत्र मे मेरी जीत का यश फैल गया। वत्तीस हजार मुकुट-बध राजाओं ने एकत्रित होकर १२ वर्ष तक मेरा राज्याभिषेक महोत्सव मनाया। प्रफुल्लित कमल जैसे नेत्रो वाली ६४ हजार ललनाओं के साथ मैंने भोग भोगे। अपनी सम्पूर्ण प्रजा को अत्यन्त प्रसन्नता प्रदान करता हुआ और महान संपत्तिशाली तथा चक्रवर्तित्व युक्त होकर मैंने वहुत समय आनन्दपूर्वक व्यतीत किया। समस्त स्थूल सुखो का सीमातिरेक चक्रवर्ती को प्राप्त होता है। वह मनुष्यो मे सर्वोत्तम और राजाओ का राजाधिराज माना जाता है। मेरे सुखो और अनुकूलताओ का कितना वर्णन करूँ! हे चारुलोचने! संक्षेप मे ससार के वर्णनातीत उत्कृष्ट स्थूल सुख और सभी प्रकार के आनन्दों का मैंने अनुभव किया। इस प्रकार मैंने ८४ लाख पूर्व तक सुख भोगे, राज्य किया और आनन्द भोगा। जीवन के अन्तिम भाग मे अपने षट्-खण्ड राज्य का निरीक्षण करने मैं क्षेमपुरी से निकल पड़ा। मेरा राज्य कितना विशाल है और लोगो की स्थिति कैसी है, यह जानने के लिये मैं सुकच्छविजय के अनेक नगरों और गावो में घूमा। घूमते हुए मैं शंख नामक नगर में आ पहुँचा। तत्पश्चात् सेना को पीछे छोड़कर अपने पुत्र राजवल्लभ को साथ लेकर मे नन्दनवन जैसे चित्तरम उद्यान मे आया। [५१९-५२९]

* पृष्ठ ७३५

१३. महाभद्रा और सुललिता

महाभद्रा का परिचय

हे अगृहीतसंकेता ! तुम्हे स्मरण होगा कि जब मै गुणधारण के भव मे था तब कन्दमुनि ने मुझे उपदेश दिया था । उस भव में मेरी पत्नी मदनमंजरी थी और मेरा मित्र कुलन्धर था । इनको भी भवितव्यता ने संसार में बहुत भटकाया और अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे रूपों में उन्हें उत्पन्न किया । कन्दमुनि ने एक बार बहुलिका के सम्पर्क से छल-कपट किया था, अतः भवितव्यता कन्दमुनि के जीव को सुकच्छविजय के हरिपुर नगर में ले आयी ।

इस नगर में भीमरथ राजा और सुभद्रा रानी थी जिनके समन्तभद्र नामक एक पुत्र था । भवितव्यता ने सुभद्रा रानी की कूख में कन्दमुनि के जीव को प्रवेश कराया और छल-कपट माया के कारण उसे स्त्रीलिंग प्रदान किया । अनुक्रम से उसका जन्म पुत्री के रूप में हुआ और माता-पिता ने उसका नाम महाभद्रा रखा ।

राजकुमार समन्तभद्र को एक बार सुघोष मुनि के दर्शन हुए । उनका धर्मोपदेश सुनकर राजकुमार को वैराग्य हो गया । माता-पिता की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा ले ली, अभ्यास किया और थोड़े ही समय में द्वादशांगी का ज्ञाता महाज्ञानी गीतार्थ हो गया । योग्य समझ कर गुरु महाराज ने उसे आचार्य पद पर स्थापित किया और वह संसार में समन्तभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।*

अनुक्रम से राजपुत्री महाभद्रा भी युवती हुई । माता-पिता ने उसे गन्धपुर नगर के राजा रविप्रभ और पद्मावती रानी के पुत्र दिवाकर से विवाहित किया । कारणवश दिवाकर की मृत्यु हो गई । समन्तभद्राचार्य ने योग्य अवसर जानकर अपने संसारी रिश्ते की बहिन महाभद्रा को योग्य उपदेश दिया, संसार की अस्थिरता और आत्महितकारी मोक्ष का यथार्थ मार्ग बतलाया । प्रतिबुद्ध होकर महाभद्रा ने भागवती दीक्षा ले ली । विद्वान् भाई की बहिन भी विदुषी हुई । इसने भी गहन अध्ययन किया और थोड़े ही समय में द्वादशांगी की ज्ञाता, गीतार्थ, शक्तिशालिनी साध्वी बन गई । उसकी योग्यता को देखकर आचार्य ने उसे प्रवर्तिनी के पद पर स्थापित कर दिया ।

---

* पृष्ठ ७३६

सुललिता का परिचय

एक बार अन्य साध्वियो के साथ प्रवर्तिनी महाभद्रा विहार करती हुई रत्नपुर आ पहुँची। यहाँ मगधसेन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम सुमगला था। भवितव्यता ने मदनमजरी के जीव को सुललिता की पुत्री के रूप मे उत्पन्न किया। इसका नाम सुललिता रखा गया। क्रमश: वह तरुणी हुई, पर वह पुरुषद्वेषिणी बन गई। उसे किसी भी पुरुष का नाम, परिचय या उसकी छाया भी रुचिकर नही थी। उसे पति नाम की गन्ध से भी घृणा थी, अत· उसके माता-पिता उसके लग्न के विषय मे चिन्तातुर थे।

जब महाभद्रा प्रवर्तिनी का रत्नपुर मे पदार्पण हुआ तब मगधसेन राजा और सुमगला रानी भी उनको वन्दन करने उपाश्रय मे गये और अपनी प्रिय पुत्री सुललिता को भी साथ ले गये। प्रवर्तिनी को वन्दन कर उनसे मोक्षपदरूप कल्पवृक्ष को निश्चित रूप से उत्पन्न करने वाले बीज के समान "धर्मलाभ" का शुभाशीष प्राप्त किया। फिर उनसे अमृतप्रवाह जैसा शुद्ध धर्मोपदेश सुना।

यद्यपि भगवती का उपदेश अत्यन्त स्पष्ट था तथापि सुललिता बहुत भोली थी, अत: वह उसके अन्तरग भावार्थ को नही समझ सकी, तदपि पूर्वभव के राग के कारण वह प्रवर्तिनी के प्रति आकर्षित हुई और भगवती महाभद्रा के मुख-कमल को टकटकी लगाये देखती रही। फिर उसने पिता से कहा—हे तात! मुझे प्रवर्तिनीजी के चरण-कमलो की उपासना करनी है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी उनके साथ सर्वत्र विचरण करूँ।

पुत्री की माग सुनकर रानी तो रो पडी, किन्तु राजा ने उसे रोककर कहा—देवि! रोने से क्या लाभ? पुत्री का मन जिस कार्य से प्रसन्न हो वह उसे करने देना चाहिये। उसके मन मे विनोद पैदा करने का यही उपाय है, इसी से वह ठीक होगी। मेरे मत से वह गृहस्थ रूप मे साध्वीजी के साथ भले ही रहे और विहार करे, पर हमसे पूछे बिना दीक्षा ग्रहण नही करे।

सुललिता ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया और साध्वीजी के साथ रह गई। माता-पिता अपने घर चले गये।

प्रवर्तिनी महाभद्रा के साथ सुललिता अनेक देशो मे घूमी। उसके ज्ञानावरणीय कर्म का उदय इतना अधिक था कि उसे एक भी पाठ याद नही होता था। साधु-साध्वी के आचार या श्रावक के आवश्यक भी उस बेचारी को नही आ पाया। आगम के पाठ समझाने पर भी उसे उसका भावार्थ समझ मे नही आया।

अन्यदा विहार करते हुए महाभद्रा साध्वी सुललिता के साथ शखपुर नगर आ पहुँची और नन्द सेठ के घर की पौषधशाला मे ठहरी।

१४. पुण्डरीक और समन्तभद्र

पुण्डरीक-परिचय

इस शंखपुर नगर में मेरे मामा श्रीगर्भ का राज्य था। उनकी रानी कमलिनी मेरी मामी थी और महाभद्रा प्रवर्तिनी की मौसी थी। इनके एक भी संतान नही थी।* कमलिनी रानी ने पुत्र-प्राप्ति के लिये अनेक मनोतियाँ मनाई दान दिये, बूटियाँ खाई। गुणधारण के भव मे मेरा जो मित्र कुलन्धर था, उसने अपने अगले जन्म में अनेक प्रकार के शुभ कार्य किये, अतः भवितव्यता ने कुलन्धर के जीव को कमलिनी रानी की कूख मे प्रवेश करवाया। जिस रात को उसने रानी की कुक्षि मे प्रवेश किया, उसी रात रानी को स्वप्न आया कि एक सर्वांगसुन्दर पुरुष उसके मुंह से उसके शरीर में प्रविष्ट हुआ और बाहर निकला तथा किसी अन्य पुरुष के साथ चला गया। रानी ने अपने स्वप्न की बात राजा को कह सुनायी। स्वप्न-वृत्तान्त सुनकर राजा को परम हर्ष हुआ, पर साथ मे कुछ विषाद भी हुआ। वह बोला—देवि ! ऐसा लगता है कि तुम्हारे पुत्र होगा, पर कुछ समय बाद उसे किसी सुगुरु की प्राप्ति होगी और उनके उपदेश से प्रतिबोधित होकर वह दीक्षा ले लेगा। पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा-पूर्ति से रानी कमलिनी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई, शेष बात उसने अनसुनी करदी। तीसरे महीने रानी को शुभ कार्य करने के मनोरथ (दोहले) उत्पन्न हुए, जिन सभी को राजा ने पूर्ण किया। समय पूर्ण होने पर रानी के पुत्र-जन्म हुआ। राजा श्रीगर्भ परम सन्तुष्ट हुआ। सारे नगर और राज्य मे पुत्र का जन्म-महोत्सव मनाया गया जिससे सभी लोगो को अत्यधिक आनन्द हुआ।

समन्तभद्राचार्य का संकेत

इधर समन्तभद्राचार्य को निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हुआ और विहार करते हुए वे शंखपुर नगर आ पहुँचे तथा चित्तरम उद्यान में ठहरे। नन्द सेठ की पौषध-शाला में ठहरी हुई महाभद्रा साध्वी को जब पता लगा तो वे भी केवली महाराज को वन्दन करने उद्यान में पहुँची। सुललिता को आचार्य के पधारने के समाचार किसी कारण से नही लग सका और महाभद्रा उद्यान मे आचार्य को वन्दन करने गई है, यह भी वह नहीं जान सकी। महाभद्रा जब आचार्य के वहाँ थी तभी किसी ने कहा कि 'राजा के पुत्र हुआ है।' यह सुनकर केवली भगवान् ने कहा—इस राजपुत्र ने पूर्व भव मे अत्यधिक शुभ कार्यों का अभ्यास किया है। यद्यपि इसका जन्म राजा

---

* पृष्ठ ७३७

के यहाँ हुआ है तथापि यह अधिक समय तक राजभवन मे नही रहेगा। बड़ा होकर दीक्षा लेगा और सर्वज्ञ प्ररूपित आगम-शास्त्रो का धारक बनेगा।

यह सुनकर महाभद्रा अपने उपाश्रय में वापस लौटी।

इधर राजपुत्र का नाम पुण्डरीक रखा गया और नामकरण महोत्सव मनाया गया।

सुललिता के सन्देह का निराकरण

इधर एक बार सुललिता घूमती हुई, अनेक प्रकार के कुतूहल देखती हुई चित्तरम उद्यान मे आ पहुँची। वहाँ उसने समन्तभद्राचार्य को श्रीसघ के मध्य में नवीन उत्पन्न राजपुत्र के गुणो का वर्णन करते हुए सुना। आचार्य कह रहे थे—'इसके अनुकूल बने कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति महारानी ने पुण्डरीक को मनुजनगरी मे उत्पन्न किया है। यह सर्वोत्तम गुणो से युक्त बनेगा। भव्यपुरुष जब सुमति/प्रशस्त बुद्धि वाला बन जाता है तब वह सर्वोत्तम गुणों का भण्डार बन जाता है, इसमे सदेह क्या है?' सुललिता ने आचार्य के इस कथन को सुना। आचार्य ने यह बात बहुत से लोगो के समक्ष कही थी, जिसे सुनकर लोग अत्यन्त हर्षित हुए।

उपर्युक्त कथन सुनकर सुललिता को संदेह हुआ कि, 'इस राजकुमार के माता-पिता कालपरिणति और कर्मपरिणाम कैसे हो सकते हैं? फिर वह मनुजगति मे कैसे उत्पन्न हो सकता है? भविष्य मे होने वाले गुणो का वर्णन आचार्य अभी कैसे कर सकते हैं?' वहाँ से जाकर उसने महाभद्रा प्रवर्तिनी को अपने मन की शका कह सुनाई। महाभद्रा ने सोचा कि सुललिता बहुत भोली है। यह सोचकर कि इसे प्रतिबोधित करने का यह अच्छा अवसर है। महाभद्रा ने कहा—भद्रे! कर्मपरिणाम और कालपरिणति इसी के ही नही, ससारस्थ सभी जीवो के माता-पिता है। यह बात उन्होने उसे युक्तिपूर्वक भली प्रकार समझाई।

सदागम का परिचय

फिर उन्हे ध्यान आया कि इसकी सदागम के प्रति प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये। यह सोचकर उसे जागृत करने की शुभ भावना से वे बोली—बहिन! लोगो के मध्य मे जो बात कर रहे थे और जिनकी बात लोग ध्यान पूर्वक सुन रहे थे, उनका नाम सदागम है। तुमने उन्हे ध्यानपूर्वक देखा होगा? इस बात मे तनिक भी सन्देह नही है कि ये महात्मा महान् शक्ति-सम्पन्न, विद्वान् और भूत-भविष्य के भावो के ज्ञाता है।* मुझे भी इस विषय मे इन महात्मा की कृपा से ही मालूम हुआ है। मेरा इनसे दीर्घकाल से परिचय है। वे अत्यन्त प्रभावशाली है।

---

* पृष्ठ ७३८

इस प्रकार उन्होंने सदागम के माहात्म्य और राजपुत्र के जन्म से सदागम को होने वाले आनन्द का विस्तृत वर्णन कर सुललिता (अगृहीतसकेता) को समझाया।

यह सुनकर सुललिता ने कहा—भगवति ! जब आपका महापुरुष सदागम से इतना अधिक परिचय है तब आप मेरा भी उनसे परिचय कराइये। महाभद्रा (प्रज्ञाविशाला) ने हर्ष से इसे स्वीकार किया। तत्पश्चात् सुललिता को साथ लेकर महाभद्रा समन्तभद्राचार्य के पास आई। आचार्य को देखते ही सुललिता को अत्यधिक हर्ष हुआ। हर्षावेश मे वह बोली—भगवति ! ऐसे महात्मा पुरुष का आपने अभी तक मुझे दर्शन नही करवाया। मै बहुत भाग्यहीन रही, दर्शनो से वचित रही। अरे ! आप तो सचमुच बहुत स्वार्थिनी है। खैर, अब आप इन महात्मा के मुझे प्रतिदिन दर्शन कराने की कृपा करावे, जिससे कि मैं भी आप जैसी विदुषी बन जाऊँ। महाभद्रा ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया।

उस दिन से दोनो प्रतिदिन आचार्य के पास आकर उनकी उपासना करने लगी। एक मासकल्प (एक माह) पूर्ण होने पर आचार्य ने कहा—महाभद्रा ! तुम्हारी जाघों की शक्ति क्षीण होने से अभी तुम विहार करने मे असमर्थ हो अतः अभी शंखपुर में ही रहो। हम तो अब यहाँ से विहार कर अन्यत्र जायेगे। अन्यदा फिर कभी हम यहाँ आयेंगे। तुम्हारे विशेष हित और जागृति के लिये ही हम पूरे एक माह तक यहाँ रहे। अन्यथा जिस क्षेत्र मे साध्विया विराजित हो वहाँ शेषकाल मे साधुओं को मासकल्प करने (एक माह) भी रुकने का अधिकार नही है, किन्तु रोगी की सहायता के पुष्ट आलम्बन से ही हम यहाँ एक महीने रुके। अब तुम्हे यहाँ रहकर राजपुत्र पुण्डरीक (भव्यपुरुष) का विशेष ध्यान रखना चाहिये और उसके अनुकूल कार्य करना चाहिये। योग्य अवस्था को प्राप्त होकर वह मेरा शिष्य बनेगा।

महाभद्रा ने आचार्य के वचन को स्वीकार किया और आचार्य श्री वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये।

पुण्डरीक और समन्तभद्र का परिचय

क्रमशः पुण्डरीक बड़ा होने लगा। उसकी बाल्यावस्था समाप्त हुई और वह युवावस्था को प्राप्त हुआ। बुद्धि के साथ उसमे गुण भी प्रस्फुटित होने लगे और महाभद्रा से उसका स्नेह भी प्रतिदिन बढ़ने लगा।

अन्यदा अनेक नगरों मे विहार करते हुए एक बार समन्तभद्राचार्य पुनः शंखपुर नगर के चित्तरम उद्यान में पधारे। महाभद्रा को पता लगते ही स्वयं पुण्डरीक को आचार्य भगवान् के पास ले गई। पुण्डरीक भावी भद्रात्मा था, इसलिये आचार्य भगवान् को दूर से देखकर ही उसके मन में अत्यन्त हर्ष हुआ। वह उनके गुणसमूह को देखकर रंजित हुआ। केवली भगवान् के वचन सुनकर उसे उन पर अतिशय प्रीति हुई। उसकी बुद्धि शुद्ध थी, पर अभी उसे विशेष ज्ञान नहीं था, अभी

वह बहुत भोला था, अतः उसने महाभद्रा साध्वी से पूछा कि—भगवति ! ये महात्मा कौन हैं ? इनका नाम क्या है ?

प्रश्न सुनकर विचक्षणा महाभद्रा ने विचार किया कि राजपुत्र अत्यधिक सरल हृदय वाला है और इसकी चेष्टाओ से ऐसा लगता है कि यह आचार्य भगवान् के गुणो के प्रति आकर्षित हुआ है। अत. इस स्थिति का लाभ उठाकर इसके हृदय मे भगवान् के आगमो के प्रति प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये और इसके मन मे उनके प्रति भक्ति जागृत करनी चाहिये। इस विचार से प्रवर्तिनी ने उत्तर मे कहा—वत्स ! इनका नाम सदागम है।

उत्तर सुनकर पुण्डरीक ने पुन. पूछा—देवि ! यदि माता-पिता आज्ञा दें तो मैं इनके सान्निध्य मे आगमों का अर्थ ग्रहण करना चाहता हूँ।

महाभद्रा ने कहा—यह तो बहुत अच्छी बात है।

इसके पश्चात् महाभद्रा ने पुण्डरीक के माता-पिता कमलिनी * और श्रीगर्भ राजा को वह बात कही। इस प्रस्ताव से उन्हे भी अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होने बडे उत्साह और प्रेमपूर्वक पुत्र की इच्छा स्वीकार की और अत्यन्त प्रसन्नता-पूर्वक अपने पुत्र को अभ्यास करवाने के लिये भगवान् को अर्पित कर दिया। तब से पुण्डरीक भगवान् के पास रह कर प्रतिदिन आगमो का अध्ययन करने लगा।

१५. चक्रवर्ती चोर के रूप में

कोलाहल का कारण

इसी चित्तरम उद्यान के मनोनन्दन चैत्य मे समन्तभद्राचार्य सघ के समक्ष धर्मोपदेश दे रहे थे। उनके सामने बैठकर प्रवर्तिनी महाभद्रा और राजकुमार पुण्डरीक भी गुरु का उपदेश सुन रहे थे, तभी सुललिता भी वहाँ आ पहुँची। भव्य प्राणी केवली भगवान् के धर्मोपदेश मे तल्लीन हो रहे थे, तभी मेरी सेना का कोलाहल राजमार्ग पर होने लगा। कोलाहल और गड़गडाहट बढने लगी तो सभा मे स्थित सभी के कान चौकन्ने हो गये।

* पृष्ठ ७३९

सुललिता ने महाभद्रा से पूछा—भगवति ! यह भारी आवाज और गड़गडाहट कैसी है ?

महाभद्रा ने आचार्य की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा—मुझे तो कुछ भी ज्ञात नही है ।

आचार्य ने देखा कि सुललिता और पुण्डरीक को प्रतिबोधित करने का यह अच्छा अवसर है, अतः वे बोले—अरे महाभद्रा ! क्या तुझे पता नही कि मनुजगति नामक प्रदेश में विख्यात महाविदेह नामक बाजार मे हम सब अभी बैठे है । संसारी जीव नामक चोर आज चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है । दुष्टाशय आदि दण्ड-पाशिको (सिपाहियो) ने उसे पकड़ कर, बाधकर, चोरी के माल साथ कर्मपरिणाम महाराजा के सन्मुख प्रस्तुत किया है । कर्मपरिणाम महाराज ने कालपरिणति, स्वभाव आदि से विचार-विमर्श कर चोर को फांसी का दण्ड दे दिया है । अभी अनेक राजपुरुष संसारी जीव को जन-कोलाहल के बीच बाजार मे से होकर, नगर से बाहर निकल कर पापी-पिजर नामक वधस्थल पर ले जा रहे है । वहाँ लेजाकर उसे खूब मारा-पीटा जायगा और उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा । इसी कारण यह प्रबल कोलाहल हो रहा है ।

भगवान् की बात सुनकर सुललिता भोंचक्की हो गई । महाभद्रा की तरफ दृष्टिपात करते हुए उस भोली ने पूछ ही लिया—भगवति ! हम तो शखपुर मे बैठे हैं, यह मनुजगति तो नही ? हम इस समय चित्तरम उद्यान मे बैठे है, यह महाविदेह बाजार कैसे हो गया ? यहाँ के राजा श्रीगर्भ है, कर्मपरिणाम नही ? फिर आचार्यप्रवर यह सब क्या कह रहे है ?

यह सुनकर आचार्यश्री ने कहा—धर्मशीला सुललिता ! तुम अगृहीतसंकेता हो, तुम्हे मेरी बात का गूढ अर्थ समझ मे नही आया ।

सुललिता सोचने लगी कि केवली भगवान् ने तो मेरा नाम ही बदल दिया, दूसरा नामकरण कर दिया । फिर वह चुप होकर बैठ गई, पर उसके मुख पर भोलेपन और विस्मय के भाव स्पष्टतः झलक रहे थे, मानो भगवान् की बात का परमार्थ उसे तनिक भी समझ मे न आया हो ।

वध-मोचन का उपाय : कथा पर संप्रत्यय

विचक्षणा महाभद्रा ने भगवान् के कथन के रहस्य को समझ लिया कि भगवान् ने किसी पापी संसारी जीव के नरक गति में जाने का स्पष्ट निर्देश किया है । वह दया के तीव्र आवेग के कारण करुणा से ओत-प्रोत हो गई । वह बोली—भगवन् ! आपने कहा कि चोर को मृत्यु-दण्ड दिया गया है, पर क्या चोर इस दण्ड से किसी प्रकार मुक्त नही हो सकता ?

आचार्य—जब इसे तेरे दर्शन होंगे और जब वह हमारे समक्ष आयेगा तभी उसकी मुक्ति हो सकेगी।

महाभद्रा—क्या मैं उसके सन्मुख जाऊँ ?

आचार्य—हाँ जाओ। इसमें क्या दुविधा है ?

फिर करुणा से ओत-प्रोत महाभद्रा मेरे सन्मुख आई और बोली—*भद्र ! भगवान् सदागम की शरण स्वीकार कर। इस प्रकार कहने के साथ ही महाभद्रा मुझे भगवान् के समक्ष ले आई। समस्त परिषदों ने वधस्थल पर ले जाते हुए मुझे चोर के वेष में देखा। भगवान् को दूर से देखकर ही मुझे अवर्णनीय सुख प्राप्त हुआ। इस सुखानुभव से मुझे मूर्छा आ गई।

मूर्छा दूर होने पर मैंने भगवान् का शरण स्वीकार किया और भगवान् ने भी मुझे "मत डरो" कहकर आश्वस्त किया। भगवान् के आश्वासन से मुझे अभय-दान प्राप्त हुआ। राजपुरुष जो मुझे वधस्थल पर ले जाने आये थे वे भगवान् के प्रभाव से दूर भाग गये। पकड़ने वालों के भाग जाने और भगवान् की शान्त मुद्रा के सन्मुख होने से मैं सावधान/सजग हो गया। तत्पश्चात् जब तुमने मुझ से मेरा वृत्तान्त पूछा तब मैंने भगवान् समन्तभद्र का, महाभद्रा का, पुण्डरीक का और तुम्हारा समग्र कथानक विस्तार से कह सुनाया। यद्यपि तुमने अपना समस्त वृत्तान्त तो स्वयं अनुभव किया है, फिर भी स्वानुभव की प्रतीति अर्थात् तुम्हारा विश्वास जमाने के लिये और तुम्हे लाभान्वित करने के लिये उसे फिर से सुनाया, जिससे तुम्हें सम्प्रत्यय/विश्वास (प्रतीति) हो जाय कि ससारी जीव ने जो कुछ कहा वह स्पष्टत. निर्णीत बात ही कही है और अन्य सभी घटनाओ पर तुझे पूर्णत. सम्प्रत्यय/विश्वास हो जाय। कहो, बहिन ! अब तुम्हे मेरी आत्मकथा पर विश्वास हुआ या नही ?

शका-समाधान

सुललिता ने कहा—मेरे आत्मानुभव के वृत्तान्त का मुझे विश्वास हुआ है, किन्तु एक शंका रह गई है जिसे मैं नही समझ पाई। यदि आप स्वय अनुसुन्दर चक्रवर्ती हैं तो फिर आपने चोर का रूप किसलिये धारण किया ?

संसारी जीव—भद्रे ! तुम दोनों को प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने बाहर से चोर का रूप धारण किया है। तुझे यह बताया गया था कि ससारी जीव नामक चोर चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है और कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा से उसे वध-स्थल पर ले जाया जा रहा है। तुझे ऐसा कहकर महाभद्रा मेरे पास आई। उनके दर्शन की कृपा से मुझे प्रतिबोध हुआ। मैंने सोचा कि यद्यपि अत्यन्त विशाल बुद्धिवाली महाभद्रा (प्रज्ञाविशाला) भगवान् द्वारा कथित मेरा अन्तरग चोर और चोरी का स्वरूप भलीभाति समझ गई है तथापि सुललिता (अगृहीत-

* पृष्ठ ७४०

सकेता) इस कथन के आन्तरिक रहस्य को लेशमात्र भी नही समझ पाई है। अतः यदि मै चक्रवर्ती के रूप मे आचार्यप्रवर के सन्मुख जाऊँगा तो उस बेचारी का सदागम/गुरुवचन पर विश्वास उठ जायगा; क्योकि वह शुद्ध आगमो (सदागम) के भावार्थ को किञ्चित् भी नही जानती। उसे यह पता नही है कि इस चक्रवर्ती को ही भगवान् सदागम ने चोर कहा है। साथ ही मुझे लगा कि राजकुमार पुण्डरीक को भी मेरे चोर के रूप मे आने से ही बोध प्राप्त होगा, क्योकि यह भव्यपुरुष श्रेष्ठ मति (सुमति) वाला है और मेरा अथ से इति तक पूरा वृत्तान्त सुनकर वह उसके आन्तरिक भावार्थ को समझ जायगा। इसी के फलस्वरूप राजकुमार पुण्डरीक भी प्रतिबोध को प्राप्त होगा। इसीलिये मैने वैक्रिय लब्धि से अपने आन्तरिक व्यवहार को सूचित करने वाले चोर के समस्त आकार-प्रकार को धारण किया।

अन्तरंग चौर्य-स्वरूप

अनुसुन्दर चक्रवर्ती द्वारा उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद भी सुललिता के मन मे अनेक शकाएँ उठने लगी। सरल स्वभावी प्राणी अपने मन की शका को तुरन्त पूछ लेते है। अतः सुललिता ने पूछा—आपने जिस अतरग चोरी की बात कही, वह क्या है? इस चोरी के लिये इतनी अधिक पीड़ा और विडम्बना क्यो दी जाती है? अपनी आत्मकथा और उससे सम्बन्धित अन्य लोगो का समग्र विस्तृत* वृत्तान्त आपने कैसे जाना? कृपया इन सब के विषयो मे विस्तार से स्पष्टीकरण करिये। आपकी कथा नवीन प्रकार की और कुतूहल उत्पन्न करने वाली है, जितनी अधिक स्पष्ट होगी उतनी ही अधिक रसवर्धक होगी।

सभी प्रश्नो के उत्तर का मन मे विचार कर सुललिता (अगृहीतसकेता) को प्रतिबोधित करने के लिये अनुसुन्दर से कहा—

अन्तिम ग्रैवेयक से मै सुकच्छविजय की क्षेमपुरी नगरी के राजा युगन्धर और रानी नलिनी के पुत्र अनुसुन्दर के रूप मे उत्पन्न हुआ। जिस समय मेरा नामकरण महोत्सव हो रहा था उसी समय भवितव्यता ने महामोह आदि राजाओ को प्रोत्साहित करते हुए कहा था :—

भाइयों! यह अनुसुन्दर वर्तमान मे सम्यग्दर्शन से बहुत दूर हो गया है, अतः अभी अपने स्वार्थ-साधन के लिये तुम्हे जो भी प्रयत्न करने हो वे कर लो। यदि एक बार भी यह सम्यग्दर्शन से मिल जायगा तो वह अपने वर्ग की शक्ति बढा लेगा। फिर पहले की भाति यह सम्यग्दर्शन तुम्हारा बाधक बनेगा और यह अनुसुन्दर भी त्रासदायक बनेगा। अभी तो थोडे से प्रयत्न से वह तुम्हारे वश मे हो जायगा, पर सद्बोध आदि इसके सहायक हो गये तो फिर इसको वश मे करना अत्यधिक कठिन होगा। अतः अभी ही जैसे बने वैसे इसको अपने वश मे करलो

* पृष्ठ ७४१

और इसकी चित्तवृत्ति का साम्राज्य अभी अपने अधीन कर निराकुल हो जाओ, अन्यथा पछताओगे। [५३०-५३३]

हे भद्रे ! भवितव्यता की सूचना को महामोह की सेना ने स्वीकार किया। जब मैं छोटा बालक था तभी से इन्होंने निरंकुश होकर मुझे चारों ओर से घेर लिया और मुझे पथभ्रष्ट करने लगे। मुझे अपने वश में रखने के लिये वे अनेक प्रयत्न करने लगे। उन्होंने मेरी बुद्धि और चेतना को अन्धा कर दिया जिससे मैं पूरे समय महामोह के परिवार के मध्य रहने लगा और अपने सद्बन्धुओं के परिचय को ही भूल गया। इस प्रकार मैं महामोह के साथ तन्मय हो गया। फिर मोहराजा और उसके महामायावी योद्धाओं ने मुझ पर अपनी शक्ति का पूर्ण प्रयोग किया। परिणाम स्वरूप मैं पाप में पूर्ण रूप से रच-पच गया, पापार्जन-परायण हो गया। मैं कुमारावस्था में ही मांस खाने लगा, शराब पीने लगा, जुआ खेलने लगा और प्राणियों को अनेक प्रकार की पीड़ा देने लगा। युवावस्था आते ही मैं लोगों की स्त्रियों, कन्याओं और विधवाओं को सताने लगा और वेश्यागमन करने लगा। चक्रवर्ती बनने पर तो महा आरम्भ और महा परिग्रह में आसक्त हो गया। पापोत्पादक समस्त दोषों का निरपेक्ष होकर सेवन करने लगा। इस प्रकार चारों तरफ सभी स्थानों पर मैं धन-सम्पत्ति और इन्द्रिय विषयों में मूर्छित होता रहा। इन आसक्तियों के कारण बाह्य दृष्टि से मैं अपने को अत्यन्त सुखी अनुभव करने लगा। इस वातावरण में रहते हुए मैंने महामोहादि रूप अपने भाव-शत्रुओं को अपना बन्धु माना और अपने पूर्व वृत्तान्त को पूर्ण रूप से भूल गया। [५३४-५४१]

पापी मित्रों के प्रसार की वृद्धि के परिणाम स्वरूप मैंने अपनी चित्तवृत्ति अटवी को मलिनतम बना दिया, चारित्रधर्मराज की सेना को पराजित अवस्था में चारों तरफ से घिरी हुई और दबी हुई अवस्था में रहने दिया और अन्तरंग की क्षान्ति आदि अन्तःपुरस्थ स्त्रियों की उपेक्षा की। बाह्य दृष्टि से मैं महान प्रभावशाली राजा के रूप में प्रवर्धित होता रहा, किन्तु इधर कर्मपरिणाम राजा का राज्य भी अधिक प्रकाश में आने लगा। पापोदय बलवान होता गया, और महामोह राजा की सम्पूर्ण सेना अधिक प्रबल होकर धूम मचाने लगी। उन्होंने मेरी चित्तवृत्ति अटवी में फिर से नगर बसाये, प्रमत्तता नदी में बाढ़ पैदा कर दी, इस नदी के तद्विलसित द्वीप को विस्तृत किया और चित्तविक्षेप मण्डल को ढूंढकर अधिक स्वच्छ कर दिया। तृष्णावेदिका को फिर से सम्मार्जन कर तैयार किया, * विपर्यास सिंहासन को सुसज्जित किया और महामोह राजा ने अपनी अविद्या रूपी शरीर का पोषण कर उसे पुष्ट कर लिया। इस प्रकार उन्होंने पहले से उपस्थित सभी सामग्री का नवीनीकरण कर दिया।

सभी सामग्री के तैयार हो जाने पर परस्पर मंत्रणा होने लगी। विषयाभिलाष मंत्री ने कहा—प्रिय मित्र महीपालों! आप सब मेरे परामर्श पर विचार

* पृष्ठ ३८२

करें। यह तो आप लोगो को स्मरण होगा कि पहले आप बुरी तरह हार चुके है। दिन-दहाडे आग के शोले/लपटें देख चुके है। इसलिये इस घटना को दोहराने की क्या आवश्यकता है। इस प्रसग मे थोड़ी सी उपेक्षा के कारण ही पहले हमारा लगभग नाश हो गया था। अत: इस महत्त्व के विषय मे इस बार थोडी-सी भी उपेक्षा करना योग्य नही होगा। वीरो! अभी से ऐसे प्रयत्न मे लग जाओ जिससे कि हमारा राज्य सदा के लिये निष्कटक रूप से स्थापित हो जाय। [५४२-५४४]

महामोह की पूरी सेना को विषयाभिलाष मंत्री के ये विचार युक्तिसगत प्रतीत हुए। उन्होने पूछा कि, इस प्रसंग पर उन्हे विशेष रूप से क्या-क्या करना चाहिये? उत्तर मे मत्री ने तत्काल करने योग्य सभी कार्य बता दिये।

जब मै अधिक प्रोत्साहित हो गया तब उन्ही के उपदेश से कर्मपरिणाम राजा द्वारा उस क्षेत्र मे स्थापित कार्मण वर्गणा में से मैंने पाप नामक द्रव्य को प्रचर मात्रा मे ग्रहण किया। उन्ही लोगो ने मुझ से यह चोरी करवाई और उन्होने फिर कर्मपरिणाम राजा के समक्ष मेरी शिकायत की। कर्मपरिणाम राजा ने आज्ञा दी कि 'मुझे अनेक प्रकार से पीड़ित करते हुए पापी-पिंजर मे ले जाया जाय और वहाँ तडफा-तडफा कर मार दिया जाय।' राजा की आज्ञा से अधम कर्मचारी प्रसन्न हुए। फिर उन्होने मेरे शरीर पर कर्मरज की राख (भस्म) लगाई, राजस् सोनागेरु के छापे लगाये, तामस घास से पूरे शरीर पर काले तिल-तिलक बनाये, मेरे गले मे प्रबल रागकल्लोल-परम्परा नामक कनेर-मुण्डो की माला पहनाई, कुविकल्प-संतति रूपी कौडियो की दूसरी लम्बी माला पहनाई, मेरे सिर पर पापातिरेक नामक फूटी मटकी का ठीकरा छत्र के रूप मे रखा, मेरे गले मे अकुशल नामक पापकर्म की पोटली लटकाई, असदाचार नामक गधे पर बिठाया और यम जैसे दुष्टाशय आदि मोहराजा के कर्मचारियो ने मुझे चारो ओर से घेर लिया। विवेकी लोग मेरी निन्दा करने लगे, कषाय नामक डिम्भ (बच्चे) मेरे चारो ओर हो-हल्ला करने लगे, शब्दादि इन्द्रिय-सभोग रूपी फूटे नगारो की कर्कश आवाजें होने लगी और बाह्य प्रदेश निवासी विलास नामक उपद्रवी मनुष्य अट्टहास द्वारा मेरी हसी करने लगे। महामोहादि राजाओ ने ऐसी विकृत आकृति मे देशदर्शन के बहाने मुझे पूरे महाविदेह के बाजार मे घुमाया और वधस्थल की ओर ले चले। इसी आकृति में मुझे इस चित्तरम उद्यान के निकट लाया गया।

इसी समय तुम लोगो ने मेरी सेना की आवाज सुनी और साध्वी महाभद्रा मेरे पास आई।

इधर मैंने सेना को पीछे छोड दिया और राजवल्लभ तथा अपने विशेष पुरुषों के साथ मैं इस चित्तरम उद्यान मे आया। मेरे सुन्दर हाथी पर से मैं इस उद्यान के रक्त अशोक के वृक्ष के नीचे उतरा।*यह दिव्य उद्यान मुझे बहुत रमणीय

* पृष्ठ ७४३

लगा, अत इसे देखने के लिये, मैं आगे बढा। मेरे साथ के विनीत एवं चाटुकार राजपुत्र मुझे "देव! देव" कहते हुए मधुर भाषा मे उद्यान की शोभा दिखा रहे थे तभी मैने दूर से महाभाग्यशालिनि महाभद्रा को साध्वी मण्डल के साथ आते देखा। उन्होने गुरु महाराज से मुझे वधस्थल पर ले जाते हुए सुना था। करुणा से ओतप्रात होकर वे मेरे पास आ रही थी, अत. मै प्राकृतिक दृश्य देखना वन्द कर कीलित दृष्टि के समान निश्चल एकटक उनकी ओर देखने लगा। हे सुन्दरि! यद्यपि साध्वी जी नि स्पृह, महाभाग्यशालिनि और महासत्वशालिनि थी, तथापि पूर्व काल के अभ्यास से मेरे प्रति प्रेमालु बनी, आकर्षित हुई। मुझे देखकर, गुरुदेव के वचनो पर विचार करती हुई मेरे निकट आई और "मैं नरकगामी जीव हूँ" इस विचार से अत्यन्त करुणापूर्वक मुझे स्थिर दृष्टि से देखने लगी। [५४५-५५१]

जब मैं गुणधारण के भव मे था तब महाभद्रा का जीव कन्दमुनि के रूप मे था और मेरा उनसे अच्छा सम्पर्क/परिचय था। उनके प्रति बहुमान करने का वारम्वार अभ्यास होने से, विनम्रता का नियन्त्रण होने से, हृदय मे दृढ स्वीकृति होने से, गौरव से अत्यन्त भावित हृदय होने से तथा प्रेमभाव का अनुष्ठान होने से मेरे मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि 'अहा! ये भगवति साध्वी कौन होगी? इन्हे देखते ही मेरा हृदय आह्लादित, नेत्र शीतल और शरीर शान्त हो गया है, मानो मैं अमृत कुण्ड मे डुबकी लगा रहा हूँ।' इस विचार के साथ ही मेने साध्वीजी को शिर झुकाकर प्रणाम किया और उन्होने भी मुझे धर्मलाभ का आशीर्वाद देते हुए कहा :—

नरोत्तम! यह मनुष्य जन्म मोक्ष प्राप्त करवा सकता है। उन्मार्ग के पथ पर चल कर आप इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को व्यर्थ गवा रहे है, यह उचित नही है। आपको तो किसी अन्य मार्ग पर ही चलना चाहिये था। आपके स्वय के कर्म/अपराध के कारण आपने चोर की आकृति धारण की है और आपको वधस्थल पर ले जाया जा रहा है तथा आपको अनेक प्रकार की भाव-विडम्बनाएँ दी जा रही हैं। फिर कैसा राज्य? कैसा विलास? कैसे भोग और कैसी विभूतियाँ? इनमे शान्ति और स्वस्थता कहाँ है? महाराज! मनमे तनिक सोचिये! [५५२-५५४]

इतना कहते हुए महाभद्रा मुझे गौर से देखने लगी। देखते-देखते ही उनके मन मे भी विचार उठने लगे। विचारो के फलस्वरूप उन्हे जातिस्मरण ज्ञान हो गया जिससे कन्दमुनि के समय से लेकर आज तक के सभी सम्बन्ध और अपने सभी पूर्व-भव याद आ गये। फिर शुभ अध्यवसायो के फलस्वरूप उन्हे उसी समय अवधिज्ञान भी उत्पन्न हो गया, जिससे मेरा पूर्व-चरित्र भी उन्होने देख लिया। फिर वे प्रवर्तिनि महाभद्रा मुझे समझाने लगी।

राजन्! याद करो, जब तुम गुणधारण के भव मे थे तब मेरे समक्ष उच्च प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ/लीलायें करते थे, क्या भूल गये? फिर क्षान्ति आदि अन्तरग कन्याओ से लग्न कर सुख सुविधाओ से पूर्ण हो गये थे और अन्त मे

भावराज्य को प्राप्त कर लिया था, क्या वह भी भूल गये ? निर्मलसूरि ने आपको बहुत उपदेश दिया था, सम्पूर्ण अनन्त भवचक्र समझाया था और कार्य-कारण सम्बन्ध भी बताया था, क्या वह भी याद नहीं रहा ? * अरे भाई ! आपको ग्रैवेयक आदि में जो प्रचुरता से सुख प्राप्त हुए हैं, वह सब सदागम की शरण का ही प्रभाव था, क्या वह भी भूल गये ? अरे राजन् ! अब अधिक मोहित मत बनो, अभी भी समझो ! तुम पर करुणा कर तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिये यथार्थ बात समझाने के लिये ही मैं तुम्हारे पास आई हूँ [५५५-५५९]

महाभद्रा साध्वी जब मुझे उपयुक्त बोध दे रही थी तभी सद्बोध मंत्री सम्यग्दर्शन के साथ मेरे पास आने का प्रयत्न करने लगे। पर, उनका मार्ग अन्तरंग शत्रुओं से अवरुद्ध होने से तथा पूरा मार्ग अन्धकार से आच्छन्न होने से वे मेरे पास नहीं आ सके। उसी समय भगवती महाभद्रा के वचन रूपी सूर्य की किरणों से प्रेरित जीववीर्य नामक श्रेष्ठ सिंहासन सूर्यकान्ति के समान प्रकाशित हो गया। सिंहासन के प्रकाशित होते ही तमस् रूपी अन्धकार नष्ट हो गया और मेरी चित्तवृत्ति अटवी में दोनों सेनाओं का भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। सद्बोधमंत्री और सम्यग्दर्शन सेनापति ने जैसे ही प्रकाश देखा वे युद्ध-तत्पर हो गये और उन्हें घेर कर रखने वाली शत्रु सेना को अपने सुसज्जित बल से एक ही हमले/झटके में मार भगाया तथा वे दोनों मेरे पास आ पहुँचे। [५६०-५६४]

उपर्युक्त घटना अप्रत्याशित रूप से अत्यल्प समय में ही घटित हुई। सद्बोध और सम्यग्दर्शन के मेरे पास आते ही मेरे मन में तर्क-वितर्क उठने लगे और महाभद्रा के कथन पर मैं गहराई से विचार करने लगा कि 'भगवती महाभद्रा क्या कह रही हैं ?' ऊहापोह करते-करते मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिससे गुण-धारण के समय से सभी अवस्थायें स्मृति में आ गईं। सद्बोध मंत्री ने यद्यपि युद्ध जीत लिया था, फिर भी अन्दर ही अन्दर युद्ध चालू ही रखा। मेरे मन के उच्च प्रकार के अध्यवसाय बढ़ते जा रहे थे, तभी सद्बोध के मित्र अवधिज्ञान ने अपने शत्रु अवधिज्ञानावरण को जीत लिया और मेरे पास आ गया। इसके बल से मैं असंख्यात द्वीप-समुद्रों को और संसार के भवप्रपंच को देखने लगा। सिंहाचार्य के भव में मैंने जो पूर्वों का ज्ञानाभ्यास किया था और बाद में जिसे मैं भूल गया था वह सब स्मृति पटल पर आ गया। ज्ञान का आवरण हटते ही ज्ञान का अतिशय भी जाग्रत हो गया। निर्मलसूरि ने पहले मुझे जो आत्म संसार-विस्तार बताया था वह मेरी आँखों के सामने तैरने लगा। इस पर विचार करते-करते मुझे अपने असंख्य भव-परिभ्रमण का वृत्तान्त चलचित्र के समान दृष्टिपथ में आने लगा। इन सब को दृष्टि में रखते हुए तथा मुझे प्रतिबोधित करने के कारणों से प्रेरित होकर सुललिता को सत्य दर्शन कराने और पुण्डरीक को वस्तुज्ञान कराने के लिये मुझे

* पृष्ठ ७४४

चोर का रूप धारण कर यहाँ आना पड़ा । अन्तरंग में जो विडम्बनाये चल रही थी उन्हे ही वाह्य रूप में प्रकट करते हुए मैं महाभद्रा के साथ यहाँ आया ।

हे सुललिता ! उसके पश्चात् मेरा क्या हुआ ? यह तो तू स्वयं ही जानती है । तूने मुझे जो-जो प्रश्न पूछे उन सबका उत्तर मैंने दे दिया है ।

भद्रे सुललिता ! तुम स्वय ही मदमजरी हो जिससे मेरे मन मे स्नेहतन्तु अधिक दृढ हुआ है । तुम अभी भी परमार्थ के रहस्य को नही समझ सकी हो, अत्यन्त भोली हो, इस विचार से मेरे मन मे करुणा उत्पन्न हुई है । सदागम/सर्वज्ञ देव के आगमो के प्रति सन्मान उत्पन्न होने से तेरे कठिन कर्मो का नाश होगा और तू भी प्रतिवोधित होगी, इसी विचार से इन महात्मा सदागम के चरण-कमलो की कृपा से मैंने मेरी विस्तृत आत्मकथा को सक्षेप मे तुम्हे सुनाया । तेरे हृदय में सदागम के प्रति बहुमान उत्पन्न हो इस पद्धति से सक्षेप मे कहते हुए भी यह अनन्त कथा छ: माह में भी बड़ी कठिनाई से पूरी हो सकती है, जिसे मैंने सदागम की कृपा से तीन प्रहर में (नौ घटे में) सुनाई और पूरी कथा मे मैंने तुम्हे अगृहीतसकेता के नाम से संबोधित किया । इस प्रकार सवेग को उत्पन्न करने वाले मेरे सम्पूर्ण भव-प्रपञ्च को तेरे कुतूहल को शांत करने के लिये कहते-कहते मेरे मन में भी वैराग्य उत्पन्न हो गया है ।

हे भद्रे ! ऐसी * मेरी अन्तरग चोरी और विडम्बनाये थी । मेरा और मुझ से सम्बन्धित अन्य लोगो का जैसा वृत्तान्त मैने जाना और अनुभव किया, वैसा तुझे कह सुनाया ।

---

१६. प्रमुख पात्रों की सम्पूर्ण प्रगति

१. अनुसुन्दर चक्रवर्ती का उत्थान

सुललिता सरल स्वभावी और सहृदया थी । उसके हृदय पर ससारी जीव की आत्म-कथा का, विशेपकर अनुसुन्दर चक्रवर्ती की कथा का प्रचुर असर हुआ और उसके हृदय में प्रशस्त शुभ भावनायें उठने लगी । कुमार पुण्डरीक भी कथा के भावार्थ को थोडा- थोडा समझ गया था और वह अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था । अभी तक वह मौन था । अब उसने चोर की आकृति मे उपस्थित अनुसुन्दर चक्रवर्ती से पूछा—

* पृष्ठ ७४५

आर्य ! इस समय आपकी चित्तवृत्ति में कैसी भावना हो रही है ? आपकी चित्तवृत्ति का प्रवाह अभी किस दिशा में बह रहा है ?

अनुसुन्दर की चित्तवृत्ति : दीक्षा-ग्रहण की इच्छा

कुमार का प्रश्न और जिज्ञासा समयोचित ही थी। चक्रवर्ती की अन्तरग चित्तवृत्ति पर इन सब घटनाओं का क्या प्रभाव हो रहा था, यह जानने योग्य ही था। उत्तर मे अनुसुन्दर ने अपनी चित्तवृत्ति का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया। वह बोला :—

भद्र ! सुनो—जब अत्यन्त सवेग मे आकर मैंने तुम्हारे समक्ष अपनी कथा सुनानी प्रारम्भ की थी तब चारित्रधर्मराज ने अपने मन मे सोचा कि अब योग्य अवसर आ गया है, अत: वे अपनी सेना को लेकर मेरे निकट आये। मार्ग मे सात्विकमानस नगर आया उसे अपने पराक्रम से आनन्दित कर दिया, विवेक पर्वत को अत्युज्ज्वल बनाया, पर्वत के शिखर पर स्थित अप्रमत्तत्व क्षेत्र को देदीप्यमान बनाया और जैनपुर को फिर से बसाया। चित्तसमाधान मण्डप को फिर से स्वच्छ किया, नि:स्पृहता वेदी की मरम्मत कर सुसज्जित की और वेदी पर जाज्वल्यमान किरणो से सुशोभित जीववीर्य सिंहासन को पुन: प्रतिष्ठित किया। अपनी सेना को पूर्णरूपेण संतोष हो ऐसी व्यवस्था की। सेना को तैयार कर, दुर्गो को सुदृढ बनाकर चारित्रधर्मराज मेरे पास आये। मेरे पास आते हुए महामोह राजा की सेना से उनकी टक्कर हो गयी। [५६५-७१]

मेरी चित्तवृत्ति के एक रमणीय किनारे पर दोनो सेनाओ के बीच भयकर युद्ध हुआ। मैंने वह महायुद्ध आँखो से देखा, वह अवर्णनीय महायुद्ध था। उस समय मैंने सेनापति सम्यग्दर्शन, सद्बोध मत्री और चारित्रधर्मराज का पक्ष लिया, जिससे अन्त मे चारित्र-धर्मराज की जीत हुई। देखते ही देखते क्षणमात्र मे विपक्षी सेना के कई योद्धाओ को मार कर चारित्रधर्मराज ने जय-लक्ष्मी प्राप्त की। शत्रुसमूह का निष्पीडन कर उन्होंने मेरे चिरन्तन अन्त.पुर को अपने अधीन किया, अपना राज्य स्थापित किया और मेरे निकट आये।

महामोह राजा के सेवकों का सब कुछ लुट गया। यद्यपि वे बेचारे जैसे-तैसे जीवित थे, तदपि निर्बल और क्षीण होने पर भी वे चोरी से इधर-उधर छिप गये थे।

प्रिय पुण्डरीक ! मेरी चित्तवृत्ति की वर्तमान में यह अवस्था है। शत्रु भाग गये हैं जिससे मेरे श्रेष्ठ बन्धु हर्षित है। अब मेरी यह इच्छा हो रही है कि सर्वज्ञ प्ररूपित और त्रिजगद्-वन्द्य मुनिलिंग/मुनिवेष को ग्रहण कर महान् आत्मदान करूँ और मेरे अन्तरंग बन्धुओं का भली प्रकार पालन-पोषण करूँ। [५७२-५७८]

अनुसुन्दर का दीक्षा-महोत्सव

अपनी चित्तवृत्ति की अलौकिक आन्तरिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए चक्रवर्ती ने अपनी वैक्रिय लब्धि को वापस खींचना प्रारम्भ किया और देखते ही देखते चोर का रूप एवं उसे दण्डित करने के सब साधन विलुप्त हो गये * तथा चक्रवर्ती के सब स्वाभाविक चिह्न प्रकट हो गये। उसी समय मंत्री, सेनापति आदि भी उनके सन्मुख उपस्थित हो गये। उनके मन-मन्दिर में चारित्रधर्मराज की स्थापना हो चुकी थी और वे दीक्षा के माध्यम से उन्ही का पोषण करना चाहते थे। उसने अपने विचार अपने मन्त्री, सामन्त और सेनापति को बताये। सब को उनका कथन अवसरोचित प्रतीत हुआ।

उसी समय अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने अपने पुत्र पुरन्दर को सभी राज्य-चिह्न सौंप दिये और सभी राजाओं, सामन्तों, श्रेष्ठियो, मन्त्रियों और सेनापतियो को बता दिया कि अब से उनका राजा पुरन्दर है। सभी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। सभी ने उस समय भगवान् की अभिषेकपूजा आदि समस्त करणीय धर्म-क्रियायें की।

श्रीगर्भ राजा भी उसी समय अपने अन्तःपुर से निकले और वहाँ आ पहुँचे। उन्होने सभी का यथायोग्य विनय किया, सभी को प्रणाम किया। पुनः धर्म परिषद एकत्रित हुई और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया।

२. सुललिता को प्रतिबोध

इस अत्युत्तम घटना से मुग्धा सुललिता का चित्त चमत्कृत हुआ। उसे अत्यधिक नवीनता लगी। कुमार पुण्डरीक को भी अत्यन्त संतोष हुआ और विस्मय से उसके नेत्र आनन्द से स्फुरित होने लगे। अनुसुन्दर जैसे चक्रवर्ती सम्राट् का अपनी अतुल राज्य-ऋद्धि का त्याग कर दीक्षा ग्रहण को तत्पर होना, सुललिता और पुण्डरीक के लिये आश्चर्यजनक और संतोषकारक ही था। [५७९–५८०]

सुललिता को उद्बोधन

चक्रवर्ती अनुसुन्दर ने समन्तभद्राचार्य से दीक्षा प्रदान करने का अनुरोध किया जिससे आचार्य उन्हे दीक्षा देने को तैयार हुए। उस समय अनुसुन्दर के मन मे सहसा राजपुत्री सुललिता के प्रति करुणा उत्पन्न हुई और उसने उसे समझाने का अन्तिम प्रयत्न किया। वह बोला—मुग्धा सुललिता ! तू अभी भी आश्चर्यान्वित

* पृष्ठ ३४३

दृष्टि से इधर-उधर देख रही है, तो क्या तुझे अभी भी बोध प्राप्त नहीं हुआ ? ऐसा लगता है कि तुझे थोड़ा-थोड़ा भावार्थ तो समझ मे आया है, पर अभी भी तेरा चित्त सत्य और बाह्य दृष्टि के बीच झूल रहा है । क्या तू ने अभी भी परमार्थ तत्त्व का निर्णय नहीं किया ? तुझे प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने अपने सम्पूर्ण भव-प्रपञ्च को तुझे सुनाया । यह चरित्र ससार से प्रकर्ष वैराग्य उत्पन्न करने वाला है, यह तो तेरी समझ में आया ही होगा ? फिर भी क्या तुझे अनन्त दुःखों से परिपूर्ण इस संसार कैदखाने पर निर्वेद उत्पन्न नहीं होता ? [५८१-५८६]

तू विचार कर असव्यवहार नगर में जीवों को कैसी वेदना होती है, यह मैंने अपने अनुभव से उपमान/रूपक द्वारा तुझे विस्तारपूर्वक बताया । भोली! क्या तू अभी भी उस पीड़ा को नहीं समझी ? या तेरे हृदय में उसका महत्त्व पूर्णरूप से अंकित नहीं हुआ ! तू चिन्तारहित होकर ससार कारागृह मे क्या देखकर अनुरक्त हो रही है ? क्या यथार्थ वस्तुस्थिति और अपने वास्तविक स्वरूप का अभी भी तुझे भान नहीं हुआ ? [५८७-५८८]

मैं एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि भवो मे और तिर्यञ्च गति मे दीर्घ काल तक भटका हूँ । उस समय मुझे कैसे-कैसे दुःख उठाने पडे, उसका विशदरूप से स्पष्ट विवेचन तेरे सम्मुख किया, क्या उसका भावार्थ तेरे मानसपटल पर तनिक भी अंकित नहीं हुआ ! हे मुग्धे ! फिर क्यों निश्चिन्त होकर विलम्ब कर रही है ? तुझे दु.खो के प्रति सच्चा त्रास क्यो नहीं होता ? [५८९-५९०]

हे बाले ! मोक्ष साधन के योग्य अतुलनीय मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी मैंने हिंसा और क्रोध में आसक्त रहकर जिस दुःख-परम्परा का अनुभव किया है, क्या तूने अपने हृदय मे उसके बारे में सोचा है ? क्या तूने उसके गूढ रहस्य और भावार्थ को अपने मन में उतारा है ? या मात्र इसे कल्पित कथा ही समझी है ? तुझे कथा के भीतर रहा हुआ भाव भी कुछ समझ मे आया है या काल्पनिक वार्ता (उपन्यास) पढने जैसा आनन्दाश्चर्य ही हुआ है ? [५९१-५९२]

मुझे मान और मृषावाद से कैसी पीड़ा सहन करनी पड़ी, चोरी और माया से कितनी व्यथायें हुईं, लोभ और मैथुन मे अन्धा बनकर * मैंने जिन यातनाओ को सहन किया, उन सब को सुनकर भी क्या तेरा मन नहीं पिघला ? हे मुग्धे ! यदि ऐसा ही है तो तेरा मन वज्र का बना हुआ और कालसर्प-ग्रसित होना चाहिये । [५९३-५९४]

मैंने अपने अनुभव से तुझे बताया था कि महामोह और परिग्रह महान अनर्थ के कारण है और ये सभी दोषो के आश्रय स्थान है । अनुभव-सिद्ध अपनी इतनी विस्तृत आत्मकथा सुनाने पर भी तू मात्र विस्मित नेत्रो से देख रही है और उससे कुछ भी बोध प्राप्त नहीं करती, उसके भीतरी आशय को भी नहीं

* पृष्ठ ७४७

समझती ? इससे ऐसा लगता है कि सचमुच तू अगृहीतसकेता ही है ! तूने अपना नाम सार्थक कर दिया है । ऐसा मैंने पुन. पुन· कहा । [५९५–५९६]

हे भद्रे ! याद कर, स्पर्शन आदि इन्द्रियो का परिणाम कैसा अतिदारुण होता है ? यह मैंने क्रमश. बाल, मन्द, जड, अधम, बालिश आदि के चरित्रों मे तुझे विस्तार पूर्वक बताया है, तब भी तेरे हृदय मे यह बात नही चुभी ? यदि तू इतनी स्पष्ट बात भी नही समझ सकती तो हे सुन्दरि ! तू एकदम मूर्ख, अज्ञानी और लकड़ी की मूर्ति जैसी ही है । [५९७–५९८]

इन्द्रियो को वश मे करने के लिये मनीषी ने जैसा आचरण किया, विचक्षणाचार्य ने जैसे वचन कहे, बुधसूरि ने जो उपदेश दिया, उत्तमकुमार ने जैसा आचरण किया और कोविदाचार्य ने जो विज्ञान बताया, यह सब जान-सुनकर किसे ससार से वैराग्य नही होगा ? कौन इससे दूर भागने को तत्पर नही होगा ? [५९९–६००]

हे भद्रे ! तुझे प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने चित्तवृत्ति मे स्थित अन्तरग दोनो सेनाओ का स्वरूप बताया । एक सेना तेरी शत्रु है तो दूसरी तेरी बन्धु । इन दोनो सेनाओ मे निरन्तर लडाई होती रहती है, यह सब सुनकर भी तुझे बोध नही होता, फिर तो तुझे समझाने का कोई उपाय ही शेष नही है । [६०१-६०२]

हे बाले ! कनकशेखर और नरवाहन की सज्जनता, विमलकुमार का निर्मल शुद्ध चरित्र, हरिकुमार राजा का विस्मयकारक त्याग, अकलक का प्रशस्त विवेक और मुनियो के वैराग्योत्पादक अनेक रूप जानकर भी यदि तेरे हृदय पर असर नही होता तो वह कोरड़ा (कठोर मू ग) जैसा ही है, इसमे तनिक भी सदेह नही । अत यदि तुझे कोई मेरे जैसा पुन - पुन अगृहीतसकेता कहे तो हे मुग्धे ! तुझे रोष नही करना चाहिये, नाराज नही होना चाहिये । सचमुच तू उस नाम के योग्य ही है, ऐसा तेरे आचरण से ज्ञात हो रहा है । [६०३–६०७]

बाले ! जब तू स्वय मदनमंजरी थी तब पुण्योदय आदि तुझे मेरे पास ले आये थे । उस समय पुण्योदय ने तुझे कितना लाभ पहुँचाया, क्या तू वह भी भूल गई ? स्वय तेरे द्वारा अनुभूत और समझाये गये सभी सन्दर्भ/प्रसंग क्या तुझे याद नही ? उस समय के राज्य-सुख, मनोहर विलास और आनन्द को तू स्मरण तो कर । कन्दमुनि के सम्पर्क/प्रसग से कुलन्धर के साथ तुझे जिन-शासन के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई, तू प्रबुद्ध हुई और तेरा उत्थान प्रारम्भ हुआ । फिर केवलज्ञानी निर्मलाचार्य ने * हम दोनो के सन्मुख ससार के प्रपञ्च को स्पष्ट शब्दो मे समझाया था, क्या यह भी तू भूल गई ? क्या उस समय तुझे कुछ भी बोध नही हुआ था ? यह सब तुझे फिर से याद दिला रहा हूँ तब भी तू शून्यचित्त होकर चुपचाप कैसे बैठी है ? हे बाले ! तुझे प्रतिबोधित करने, जागृत करने और सत्य-स्वरूप को समझाने के लिये मैंने पुनः इस भव-प्रपञ्च को तुझे सुनाया है । मैंने तुझे बताया है

* पृष्ठ ७४८

कि एक यात्री जैसे अन्य-अन्य स्थानो पर भिन्न-भिन्न भवनो मे निवास करता है, वैसे ही मेरा वास्तविक स्वरूप (आत्मस्वरूप) एक रूप होने पर भी यात्री की भाति मैने विविध भव प्राप्त किये । पथिक के समान मै ससारी जीव हूँ । वस्तुत: भाव से एकरूप होने पर भी इस ससार नाट्यशाला मे मैने नये-नये रूप धारण किये और अनेक प्रकार के पात्रों का नाटक किया । यह सब सुनकर भी तुझे इस ससार-बन्दीगृह से निर्वेद नहीं होता, तब मैं क्या करूँ ? [६०८-६१६]

भद्रे ! अन्तरंग के अनेक नगर, राजा और रानियो के नाम तुझ बताये और उनकी दस कन्याओं के नाम भी बताये । प्रत्येक के गुण कितने दिव्य, अद्भुत और अन्यत्र अप्राप्त हैं यह भी बताया । इनके विवाह का वर्णन भी किया और तुझे व्युत्पन्न करने (समझाने) के लिये अष्ट मातृका का वर्णन भी किया, यह सब सुनकर भी हे बालिके ! तुझे बोध नही हुआ, तेरे हृदय मे जागृति नही आई और तुझे ससार से वैराग्य नही हुआ, तो तू पत्थर जैसी है । तुझे इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ? [६१७-६१९]

हे मुग्धे ! मेरे स्नेह से बधी हुई तूने भी निर्मलाचार्य के पास दीक्षा ली थी, तपस्या कर स्वर्ग मे गई थी और वहाँ अनेक प्रकार के सुख भोगे थे । फिर भवचक्र मे भटकती हुई यहाँ आई, क्या तुझे कुछ भी याद नही है ? [६२०-६२१]

सम्यग्दर्शन को दोषी बताकर तीर्थंकर महाराजा की आज्ञा का उल्लघन कर, उनकी आशातना कर मैंने अत्यधिक दु.ख प्राप्त किये और अर्धपुद्गल-परावर्तन से कुछ कम समय तक मैं ससार में भटका, यह सब कथा तुझ मे सवेग जागृत करने के लिये ही मैंने कही, पर क्या तू ने उस पर ध्यान दिया ?

याद कर, एक बार मैंने चौदह पूर्व तक का अध्ययन कर लिया था, पर अभिमान के दोष से पुन· अनन्तकाय आदि मे बहुत समय तक भटका । इतनी विद्वत्ता होने पर भी भटकना पड़ा, इस पर थोड़ा विचार तो कर ! ऐसी आश्चर्यजनक वार्ता सुनकर भी क्या तेरा मन चमत्कृत नही हुआ ? अरे ! ऐसी सच्ची और प्रत्यक्ष मे अनुभूत बाते तुझे सुनाईं जिनमे से कुछ का तो तूने स्वय अनुभव किया है। फिर भी यह तो अद्भुत बात है कि तू सवेग-रहित के समान ही दिखाई दे रही है। मैंने तुझे जो कुछ कहा, उस पर सूक्ष्म बोध पूर्वक विचार कर, मनन कर और उसके अन्दर के भावार्थ को पुन.-पुन समझ । हे बालिके ! तू घबरा मत, मोह मे मत पड़, सार को समझ और अब धर्माराधन में देर मत कर । जब तू ऐसा करेगी तभी मेरा सारा प्रयत्न सफल होगा और अपनी आत्मकथा सुनाने मे जो परिश्रम मैंने किया है उसका भी मुझे फल प्राप्त होगा । [६२२-६२७]

३. पुण्डरीक को बोध

इतना कहकर अनुसुन्दर चक्रवर्ती चुप हो गये । पुण्डरीक राजकुमार जो वही बैठा-बैठा अनुसुन्दर की बात सुन रहा था वह बात के समाप्त होते ही मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा । अचानक यह क्या हो गया ? इस विचार से सारी

सभा सम्भ्रान्त हो गई और कुमार के पिता श्रीगर्भ राजा तो पूर्णतः आकुल-व्याकुल हो गये। अरे पुत्र ! तुझे क्या हो गया ?* कहती हुई कुमार की माता कमलिनी कापने लगी। हवा करने पर धीरे-धीरे कुमार की मूर्छा दूर हुई और उसमे चेतना आने लगी।

चेतना प्राप्त होते ही उत्फुल्ल लोचन होकर कुमार ने श्रीगर्भ राजा से कहा—पिताजी ! आपके यहाँ आने के पहले इन अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने अपनी वास्तविक स्थिति के अत्यन्त विरुद्ध चोर का रूप धारण किया था और अपनी सम्पूर्ण आत्मकथा सुनाते हुए बताया था कि उन्हे किन-किन कारणो से ससार में भटकना पडा था। कथा सुनकर भी मुझे बोध नही हुआ था। मैने सोचा था कि विशाल प्रज्ञायुक्त (प्रज्ञाविशाला) देवी महाभद्रा से इस कथा के आन्तरिक रहस्य के सम्बन्ध मे पूछ गा। इसी बीच आप पधारे। परिषद् मे पुन. चक्रवर्ती अनुसुन्दर ने सुललिता को अनुशासित/प्रेरित/प्रतिबोधित करने के लिये कथा का कुछ भावार्थ सक्षेप मे सुनाया, जिसे सुनकर मेरा मन अकथनीय रूप से प्रमुदित हुआ। इस अवर्णनीय प्रमोद से मुझे सहिष्णुभाव प्राप्त हुआ, अन्तर में चैतन्य जागृत हुआ जिससे मुझे मूर्छा आ गई। पर, इसी समय मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। मुझे ध्यान आया कि पूर्व भव मे मै स्वय कुलन्धर था और ससारी जीव (गुणधारण) का अभिन्न मित्र था। उस समय निर्मलाचार्य ने इस अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जो विस्तृत भव-प्रपच सुनाया था वह मैने भी सुना था। चक्रवर्ती ने चोर के रूप मे अभी जो अपनी आत्मकथा सुनाई यह वही थी जो निर्मलाचार्य ने सुनाई थी। यह सब स्मृति पथ मे आते ही मेरे मन का सदेह दूर हो गया और उसी समय मुझे इस संसार-वन्दीगृह से विरक्ति पैदा हो गयी। पिताजी ! अब आप मुझे आज्ञा दें ताकि मैं भी अनुसुन्दर के साथ ही दीक्षा ग्रहण करूँ।

श्रीगर्भ और कमलिनि का दीक्षा-ग्रहण का निश्चय

पुत्र को दीक्षा की आज्ञा माँगते देखकर कमलिनि देवी तो एकदम रो पडी। श्रीगर्भ राजा ने पत्नी से कहा—देवि ! क्यो रोती हो ? याद करो :—

स्वप्न मे तुमने एक पुरुष को मुख से प्रवेश करते और फिर बाहर निकलते देखा था। वही स्वप्न वाला उत्तम पुरुष यह पुण्डरीक है। यह महान् उत्तम गुणो से सम्पन्न है, शुद्ध धर्म का प्रसाधक है और मंगल/कल्याण का भाजन है। भविष्य मे इसका उत्कृष्ट कल्याण/मगल होने वाला है, अतः इसे रोकना उचित नही है। मेरे विचार से तो अपने सत्य स्नेह/निष्काम प्रेम को प्रकट करने के लिये हमे भी इसी के साथ दीक्षा ले लेनी चाहिये। देवि ! अभी यह छोटी उम्र का है, भोग-सुख भोगने के योग्य है, फिर भी धर्म पथ पर आरूढ़ हो रहा है, तब हमारे जैसे वृद्धो का तो ससार-वदीगृह मे पड़े रहना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

* पृष्ठ ७४९

राजा का विचार सुनकर रानी कमलिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई, हर्षावेश मे गद्-गद् वाणी से बोली—आर्य-पुत्र ! आपने बहुत ठीक कहा, मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार्य है।

इस प्रकार दोनो ने पुण्डरीक को दीक्षा की आज्ञा दी और उसी समय श्रीगर्भराजा और कमलिनी रानी ने भी दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। [६२८-६३२]

सुललिता को विषाद : प्रश्न

अनुसुन्दर के हृदयवेधी भाषण से राजपुत्री सुललिता का हृदय बिन्ध गया। पुण्डरीक और उसके माता-पिता के दीक्षा-तत्पर होने पर तो वह और भी सभ्रमित हो गई। उसमे संवेग उत्पन्न हुआ और उसने महाभद्रा साध्वी से हाथ जोडकर आक्रोश और विषाद के साथ कहा—देवि ! मैने पूर्व मे ऐसा क्या कठोर पाप किया कि मै ऐसी हो गई। देखिये ! यह पुण्डरीक तो घटना के समय उपस्थित था, मात्र कथा सुन रहा था, जो न तो इसे उद्देश्य कर और न इसे बोध देने के लिये ही कही गई थी तब भी क्षणमात्र मे यह कथा के अन्तरग भावार्थ को समझ गया। सचमुच यह राजपुत्र धन्य है ! महाभाग्यशाली अनुसुन्दर ने अत्यन्त आदर पूर्वक मुझे उद्देश्य कर विस्तार पूर्वक कथा सुनाई, फिर भी मुझ भाग्यहीना को न तो कथा का भाव ही समझ मे आया और न बोध ही प्राप्त हुआ। मैं पशु की भाति गुमसुम बैठी रही।* अनुसुन्दर के एक वाक्य से इन तीनो भाग्यशालियो का संसार-सम्बन्ध भेदज्ञान पूर्वक छूट गया, पर मै तो ग्राम्यजनो के समान अन्धी जैसी शून्य बनी रही और इनके स्पष्ट बोध का वास्तविक लाभ मुझे अभी तक प्राप्त नही हुआ। हे भाग्यशालिनि ! आश्चर्य है कि जिसके लिये प्रयत्न किया गया उसे उसका लाभ नही मिला। मुझे लगता है कि इसमे कुछ गूढ रहस्य होना चाहिये। देवि ! यदि आप जानती हो तो आप बताइये, अन्यथा सदागम से पूछकर बताइये कि किस पाप के उदय से मुझे बोध नही हो रहा है ? [६३३-६४१]

सुललिता का समाधान

इतना कहते-कहते सुललिता की आँखो मे आँसू आ गये। उसके हृदय की अवस्था को देखकर अनुसुन्दर को दया आ गई। उसने कहा—(६४२)

मुग्धा सुललिता ! यदि तुझे अपने पूर्व पाप के बारे मे जानने की जिज्ञासा है तो मैं बता देता हूँ, इसके लिये देवी महाभद्रा को कष्ट देने की आवश्यकता नही है।

सुललिता—आर्य ! यदि आप ऐसा करें तो बडी कृपा होगी। आप ही बताये।

अनुसुन्दर—सुनो, जब मै गुणधारण था तब मैने दीक्षा ली थी। उस समय तू मदनमजरी थी। तुझे भी वैराग्य उत्पन्न हुआ और मेरे साथ तुमने भी

* पृष्ठ ७५०

दीक्षा ली। फिर तुमने क्रिया-कलापो का अभ्यास किया और अनेक प्रकार के तप किये। उस समय तुम्हारे चित्त मे एक दुर्बुद्धि पैदा हुई कि जो कुछ किया जाय उसके विषय मे अधिक प्रचार/कोलाहल क्यो किया जाय? इसके फलस्वरूप तुम्हे स्वाध्याय की शब्दध्वनि भी अच्छी नही लगती, नयी वाचना लेने (पाठ सीखने) की रुचि नही होती, प्रश्न पूछना अच्छा नही लगता, परावर्तना/पुनरावृत्ति करना लक्ष्य मे नही रहता, अनुप्रेक्षा/अभ्यास के विषय पर चर्चा करना भी अच्छा नही लगता और धर्मोपदेश देना या सुनना भी अच्छा नही लगता। फलत. तुम्हारा प्रचला (निद्रा) पर राग होने लगा, अभ्यास के प्रति उद्वेग होने लगा जिससे तुझे मौन रहना अच्छा लगने लगा। इतना अच्छा हुआ कि तुझे तीव्र अभिनिवेश (दुराग्रह) नही हुआ, जिससे तू ज्ञानाभ्यास करने वालो की विरोधिनी नही बनी। शास्त्राभ्यास करने वालो की बाधक या विघ्नकारक न बनी और उनके प्रति द्वेष नही रखा। धर्मशिक्षक गुरुओ के नाम को नही छिपाया और कोई बडी आशातना नही की। फिर भी कुबुद्धि के कारण ज्ञान के प्रति तुझ मे शिथिलता आई और प्रवृत्ति मे प्रमाद आने से तूने ज्ञान की थोडी आशातना की। इसके परिणामस्वरूप तूने ऐसा कर्म बाँधा कि ससार-चक्र में असख्य काल तक भटकती रही और जड़ बुद्धि वाली बनी। जैसे-जैसे कर्म किये जाते है वैसे-वैसे ही कर्म बँधते हैं। उपेक्षा का भी फल प्राप्त होता है। हे सुललिता! प्राय· प्राणी के भाव पूर्व-भव के अभ्यास से अनुसार ही बनते है। इस भव के भावो का पूर्व-भव के अभ्यास के साथ कितना गाढ सम्बन्ध होता है यह तू स्वय अपने पूर्व-भव के अभ्यास से जान सकती है। जैसे मदनमजरी के भव मे तू पुरुषद्वेषिणी थी, अत. इस भव मे भी तुम पुरुषद्वेषिणी बनी। तुम्हारी सखियो ने जब देखा कि तुम ब्रह्मचर्य पर अधिक प्रेम रखती हो तब वे तुम्हे ब्राह्मणी कहने लगी। अब इन सब बातो से तुम्हारे मन मे कुछ मेल-मिलाप हुआ या नही?

सुललिता—'आर्य! आपके वचनो मे ऐसी कौनसी बात हो सकती है जिसका मिलन मन मे न होता हो? आपका कथन सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट होता है, फिर भी मै निर्भागिनी उल्लू की तरह मूर्ख बनी खडी हूँ। आपका कथन इतना स्पष्ट होने पर भी मुझ दुर्भागिनी पर उसका कोई असर नही होता।'* कहते हुए उसके नेत्रो से स्थूल मुक्तामाल के समान अश्रुओ की झडी लग गई। उसके रुदन और पश्चात्ताप से ऐसा लगने लगा जैसे उसे धर्म के प्रति जागरणी पैदा हो गई हो।

सदागम की शरण

सुललिता की मनोदशा को समझ कर अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने कहा—राजकुमारी! अब विषाद छोडो। तुमने ज्ञान की थोडी-सी आशातना कर जो कर्म

* पृष्ठ ७५१

बाधा था, वह अब क्षीण हो चुका है। अब भगवान् सदागम की भक्ति करो, उनकी शरण मे जाओ। प्राणियो के तत्त्वज्ञान का मूल सदागम की आराधना ही है। जैसे-जैसे सदागम की आराधना अधिक होगी वैसे-वैसे तत्त्वज्ञान में अधिकाधिक वृद्धि होगी। अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने के लिये भगवान् सदागम सूर्य के समान है। तुम इनके चरण-कमलो मे आ पहुँची हो अतः तुम सचमुच भाग्यशालिनी हो।

अनुसुन्दर के वचन सुनकर, जैसे पवन लगने से अग्नि की ज्वाला भभक उठती है वैसे ही सुललिता के हृदय मे तीव्र सवेग रूपी अग्नि ज्वाला अधिक प्रज्वलित हुई। 'भगवान् समन्तभद्राचार्य स्वयं ही सदागम हैं' यह जानकर वह केवली भगवान् के चरणों मे झुकी और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक बोली—

हे जगत् के नाथ ! महात्मा सदागम ! अज्ञान रूपी कीचड़ में फसी हुई मुझे बाहर निकालने मे आप ही समर्थ है। हे महाभाग ! मुझ निर्भागिनी को शरण देने वाले आप ही है। आप ही मेरे स्वामी है, मेरे पिता हैं, मेरे सर्वस्व हैं। हे नाथ ! इस सेविका को अब कर्म-मल से रहित कर विशुद्ध कीजिये। [६४३–६४४]

सुललिता को जाति-स्मरण ज्ञान

सदागम के सन्मान का अतिशय प्रभाव होने से, सवेग अधिक गहरा होने से, हृदय सरल होने से, भगवान् का महा कल्याणकारी सामीप्य होने से और उसका मोक्ष निकट होने से उसके कर्म का विशाल जाल पश्चात्ताप के प्रवाह मे बह गया। भगवान् के चरणों को अपने अश्रुओं से सिंचित करते हुए ही उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। मदनमञ्जरी आदि के भवो में जो कुछ घटित हुआ था और जिसका वर्णन अनुसुन्दर ने अभी-अभी किया था वह सब उसे चलचित्र की भाति प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। उसके चित्त मे अधिक प्रमोद जागृत हुआ और वह उठकर अनुसुन्दर के चरणो मे गिर पडी।

अनुसुन्दर—सुललिता ! यह क्या ?

सुललिता—आर्य ! भगवत् कृपा से जो होता है वह मुझे भी अभी-अभी प्राप्त हुआ है। भगवान् की कृपा से अभी-अभी मुझे भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया है जिससे आपके कथन पर मुझे निर्णय एवं विश्वास हुआ है। परिणाम स्वरूप अब मै भी ससार-बदीगृह से छूटना चाहती हूँ, विरक्त हो गई हूँ। इस भाग्यहीन बालिका पर आपने और भगवान् सदागम ने आज बहुत उपकार किया है।

अनुसुन्दर—बालिके ! यह नि.सदेह बात है कि भगवान् सदागम अपने भक्त पर अवश्य उपकार करते है। तुझे ज्ञात ही है कि भाव-चोरी करते हुए मैं पकडा गया था और नरक की ओर जा रहा था, उससे मुझे अभी-अभी भगवान् ने ही छुडाया है। पापी प्राणी भी सदागम को प्राप्त कर उनकी भक्ति करे तो वे अवश्य ही पाप से मुक्त होते है, यह सशय-रहित है। हे भद्रे ! तुझे अति कठिनाई से बोध

हुआ, इससे घबराना नहीं चाहिये। चित्त में हीन भावना या मैं मन्दभाग्या हूँ ऐसा नहीं सोचना चाहिये। पहले मैं जब विपरीत मार्ग पर चल रहा था और अकलंक आदि मुझे सीधे मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर रहे थे तब प्रबल पापाधिक्य के कारण मुझ पर कोई प्रभाव नहीं हुआ था। जब मेरे पाप कर्म कम हुए और मैं अपनी योग्यता को प्राप्त हुआ तब जिनशासन में प्रतिबोधित हुआ। इसमें मुझे तो तुझ से भी अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी। संक्षेप में, काल आदि हेतुओं के प्राप्त होने पर जब प्राणी के पाप नष्ट होते हैं तभी उसे बोध होता है और वह सन्मार्ग पर आता है। गुरु तो मात्र * सहकारी कारण और निमित्त बनते हैं।

[६४५-६५०]

सुललिता—आर्य ! आपका कथन सत्य है। मेरे मन में जो दुर्भावना और शंका पैदा हुई थी उन सब का अब नाश हो गया है। पर, मैंने पहले ऐसा निश्चय किया था कि 'माता-पिता की आज्ञा बिना दीक्षा नहीं लूंगी' उस विषय में अब मैं क्या करूं ?

अनुसुन्दर—आर्ये ! घबराने की आवश्यकता नहीं। देख, तेरे माता-पिता भी यहाँ आ पहुँचे हैं।

---

४. सात दीक्षायें

मगधसेन-सुमंगला का आगमन

अनुसुन्दर की बात समाप्त होते-होते उद्यान के बाहर प्रबल कोलाहल होने लगा। थोड़े ही समय में मनोनन्दन जिन मन्दिर में सुललिता के पिता राजा मगधसेन और उसकी माता सुमंगला ने परिवार के साथ प्रवेश किया। सब ने जिनेश्वर भगवान्, आचार्य एवं साधुओं को नमस्कार किया। सुललिता ने भी उठकर अपने माता-पिता को नमन किया। फिर मगधसेन राजा ने अनुसुन्दर चक्रवर्ती को प्रणाम किया और सभी अनुसुन्दर के समीप बैठ गये। सुमंगला ने भी सब को प्रणाम किया अपनी पुत्री सुललिता से मिलकर उसका मस्तक चूमा और उसके पास ही बैठ गयी। फिर हर्षावेग से गद्गद् होकर पुत्री से कहा—

---

* पृष्ठ ७५२

पुत्रि ! तुझे बहुत दिनो से नही देखा, अतः तुझे देखने की इच्छा से हम राज्य छोड़कर यहाँ आये है। हे वत्से ! तेरे पिता को तो तेरे बिना चैन ही नहीं पड़ता और मेरा हृदय तो तेरे स्नेह को लेकर निरन्तर दग्ध होता रहता है। तेरा हृदय कितना कठोर और निर्दय है कि तूने इतने दिनो से अपने स्वास्थ्य और कुशल-क्षेम के सम्बन्ध मे किसी के साथ समाचार भी नही भिजवाये। [६५१-६५३]

सुललिता का दीक्षा के लिये उद्यम

सुललिता—माताजी ! अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? आपका मुझ पर कितना स्नेह और सद्भाव है यह तो अभी प्रकट हो जायेगा। आपकी आज्ञा प्राप्त कर मै अभी पारमेश्वरी जैनमत की प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ। यह दीक्षा अद्भुत लाभ प्राप्त कराने वाली और ससार-सागर से पार उतारने वाली है। इस समय न केवल आप मुझे दीक्षा लेने से रोकेगी, अपितु आप दोनो भी मेरे साथ निर्विकल्प होकर भागवती दीक्षा ग्रहण करेंगे तो आपका मुझ पर जो स्नेह, सद्भाव है वह सर्व लोगो के समक्ष प्रकट हो जायेगा। अपने सच्चे प्रेम को प्रकट करने का यह अपूर्व अवसर है और मुझे विश्वास है कि आप अपने स्नेह को अवश्य प्रकट करेंगे। [६५४-६५७]

मगधसेन और सुमंगला की उच्च भावना

भोली सुललिता के मुख से ऐसा अलौकिक उत्तर सुनकर राजा मगधसेन अति हर्षित हुए एव विचारमग्न हो गये। पर, तुरन्त निश्चय कर सुमगला से बोले—देवि ! पुत्री ने तो हमारा मुंह बन्द कर दिया है, हमे प्रारम्भ मे ही निरुत्तर कर दिया है। यह तो बहुत भोली थी, पर लगता है अब यह परमार्थ को समझने लगी है, अन्यथा ऐसा समयानुसार वचनविन्यास (वाणी) कैसे करती ? मेरा मानना है कि इसका वर्तमान निर्णय अयोग्य नही है। इसने ठीक ही कहा है, हमे भी इसके साथ दीक्षा ले लेनी चाहिये। इसी प्रकार इसके प्रति हमारा वास्तविक स्नेह प्रकट हो सकेगा। वैसे भी हम तो अब उम्र के अन्तिम छोर पर पहुँच गये है।

सुमगला—जैसी आपकी आज्ञा।

माता-पिता की बात सुनकर सुललिता अत्यन्त हर्षित हुई। माता-पिता का आभार प्रदर्शन करती हुई उसने उनके चरण छुए। फिर उनको सक्षेप मे अनुसुन्दर चक्रवर्ती आदि का वृत्तात सुनाया और यह बताया कि उसकी दीक्षा लेने की इच्छा कैसे हुई। * सुनकर माता-पिता अत्यधिक सन्तुष्ट हुए और उनके मन में भाव-दीक्षा लेने के विचार उत्पन्न हुए। वे दोनो आचार्य के पास आये और अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। आचार्य ने भी उनके विचारो का अनुमोदन किया।

* पृष्ठ ७५३

दीक्षायें

अनुसुन्दर आदि की दीक्षा के अवसर पर मनोनन्दन उद्यान क्षणमात्र मे अनेक भव्य प्राणियो और मुनि महात्माओ से खचाखच भर गया। महान् आनन्दोत्सव होने लगा। आकाश से देवता भी नीचे उतरने लगे जिससे चारों ओर प्रकाश फैल गया। शहनाइयो और वाद्यो के स्वर और नाद से भुवन का मध्यवर्ती भाग संकीर्ण हो गया, अर्थात् उद्यान और मन्दिर का कोना-कोना गूंज उठा। अनेक प्रकार की वृहत् पूजाओं और सत्कार से उद्यान सुशोभित होने लगा। इस प्रसग पर अनेक भव्य प्राणी विविध प्रकार के दान दे रहे थे, परस्पर सन्मान कर रहे थे, सद्गायन गा रहे थे और करणोचित वैधानिक कार्यों का सम्पादन कर रहे थे। [९५८–९६१]

उसी समय मगधसेन राजा ने रत्नपुर का और श्रीगर्भ राजा ने शंखपुर का राज्य भी अनुसुन्दर के पुत्र पुरन्दर को सौप दिया। राज्यकार्य चलाने की सारी व्यवस्था कर, तुरन्त अन्य अवसरोचित सभी कार्य पूर्ण किये।

पश्चात् समन्तभद्राचार्य ने अनुसुन्दर, पुण्डरीक, उसके माता-पिता, श्रीगर्भ और कमलिनी, सुललिता, उसके माता-पिता सुमंगला और मगधसेन इन सातो व्यक्तियों को विधिपूर्वक भागवती दीक्षा प्रदान की। फिर उन्होने इन सब को संयम में स्थिर करने के लिये अमृतोपम मधुर वाणी मे सवेग-वर्धक सद्धर्मदेशना दी। इसे सुनकर सभी लोग आनन्दित हुए। सब के मन में शुभ भावों की वृद्धि हुई। तत्पश्चात् सभी अपने-अपने स्थान पर और देवता स्वर्ग में चले गये। [९६२-९६५]

उपदेश समाप्त होने पर महाभद्रा आदि साध्वियाँ भी आचार्यप्रवर की आज्ञा लेकर अपने उपाश्रय में चली गईं।

यह सब महोत्सव देखकर सूर्य ने सोचा कि वह तो आचार्यश्री के उपदेशानुसार करने मे असमर्थ है, अतः लज्जा के मारे वह अन्य द्वीप मे जाकर छिप गया (सूर्यास्त हो गया)।

सभी साधु अपनी आवश्यक क्रियाये (सामायिक, प्रतिक्रमण, वन्दन आदि) करने लगे। फिर स्वाध्याय और ध्यान में मग्न हो गये। इस प्रकार रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। [९६६-९६८]

अनुसुन्दर का स्वर्गगमन

उस समय अनुसुन्दर राजर्षि को मन में अत्यन्त संतोष हुआ, अत्यन्त शान्ति हुई, कर्त्तव्यपूर्णता के मार्ग पर आने की प्रशस्त स्थिति का भान हुआ और अपना अहोभाग्य मानकर एकान्त मे ध्यान-मग्न हो गये। उनकी लेश्याये अधिक विशुद्ध होती गई और उपशम श्रेणी पर चढकर वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर आरूढ हो गये। आचार्यप्रवर द्वारा जब अन्य मुनियों को ज्ञात हुआ कि अनुसुन्दर का मरणकाल निकट आ गया है, तब सभी उनके पास आ गये और उन्हे समाधि उत्पन्न करने

और जागृत करने हेतु अन्तिम आराधना कराने लगे। उसी समय उनका आयुष्य पूरा हुआ और उनकी आत्मा इस शरीर रूपी पिंजरे को छोड़कर सर्वार्थसिद्धि विमान में पहुँच गई, जहाँ वे तेंतीस सागरोपम की आयुष्य वाले महान ऋद्धि वाले देवता बने।

दूसरे दिन इसका पता लगने पर चतुर्विध श्रमण संघ वहाँ एकत्रित हुआ। राजर्षि अनुसुन्दर के मृत शरीर का विधिपूर्वक संस्कार कर परित्याग किया और मनुष्यों तथा देवताओं ने उनकी पूजा की।

सुललिता का शोक-निवारण

सुललिता को एक ही दिन मे अनुसुन्दर पर अत्यधिक राग हो गया था। विशुद्ध धर्म का यथार्थ बोध कराने वाले इस महापुरुष के गुण अभी उसके हृदय मे स्थिर हो रहे थे और पूर्वकाल के दीर्घ अभ्यास के स्नेह-तन्तुओं का जाल अभी टूटा नहीं था। उनके उपकार के बोझ से दबी हुई और संसार से अभी-अभी विरक्त हुई सुललिता के मन मे अनुसुन्दर की अचानक मृत्यु के समाचार से * कुछ खेद हुआ और उसका मन शोकाक्रान्त हो गया। [६६९–६७१]

यह देखकर सुललिता को अधिक स्थिर करने और उसके शोक को दूर करने के लिये समन्तभद्राचार्य ने सभी के समक्ष सुललिता से कहा :—

आर्ये ! जिस नरपुंगव महापुरुष ने एक ही दिन मे अपना कार्य सिद्ध कर लिया, साध्य के मार्ग पर कूच कर कृतकृत्य हो गया, उस महात्मा के लिये शोक करना उचित नहीं है। उसने तो असाध्य कार्य सिद्ध कर लिया। यदि वह अधिक पाप कर्म के बोझ से संसार-समुद्र मे डूब गया होता और यहाँ से नरक की तरफ प्रयाण किया होता तब तो उसके लिये शोक करना योग्य समझा जा सकता था, पर जो प्राणी विशुद्ध सद्धर्म को प्राप्त कर, अपने पाप रूपी मैल को धोकर सर्वार्थ-सिद्धि विमान को जाये, उसके लिये तो शोक मनाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

जिस प्राणी को संयम धर्म अति दुर्लभ हो और जो दुःख के बोझ से संसार में भटक रहा हो, उत्तम व्यक्ति ऐसे प्राणी के लिये ही शोक करते है।

जो प्राणी संयमी होकर मृत्यु को प्राप्त करते है, उनके लिये विवेकीजन तनिक भी शोक नहीं करते। संसारचक्र मे रहते हुए भी ऐसे प्राणी जहाँ भी रहे वहाँ उन्हें आनन्द और आन्तरिक सुख ही प्राप्त होता है, अतः उनके विषय मे शोक करना उचित नहीं है।

जिस प्राणी ने परलोक मे सुख देने वाले धर्म का सम्यक् प्रकार से आचरण न किया हो, वह मृत्यु का सामना होने पर भय खाता है, पर जिस प्राणी ने सद्धर्म

* पृष्ठ ७५४

रूपी पाथेय/संवल को अपने साथ बाँध लिया है, वह तो मृत्यु की प्रतीक्षा करता है और मृत्यु के निकट आने पर तनिक भी नही डरता। उसे तो मृत्यु महोत्सव जैसी लगती है, उसके लिये तो मरण महान आनन्द का प्रसग है।

जिसने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी चार स्तम्भो से सुदृढ बनी और पाप को नाश करने वाली आराधना की हो उसे मृत्यु से क्या भय ? उसके लिये मृत्यु क्या है ? जिन मुनीश्वरो ने पाप-समूह को धोकर, आराधना कर, पण्डित मरण को प्राप्त किया है, वे तो पारमार्थिक आनन्द के जनक है, उत्पादक है और आनन्द स्वरूप हैं।

अतएव हे वाले ! अनुसुन्दर राजर्षि ने तो अनार्य कार्य से निवृत्त होकर अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, कृतकृत्य हो गया है, अत. उनकी मृत्यु पर कैसा शोक ? ऐसा शोक कैसे उचित कहा जा सकता है ? [६७२-६८२]

अनुसुन्दर का भविष्य

पुन: सुन—अनुसुन्दर राजर्षि तो यहाँ से सर्वार्थसिद्धि विमान मे गये है। जब उनकी तेतीस सागरोपम की आयुष्य पूरी होगी तब वे वहाँ से स्थिति क्षय होने पर, च्युत होकर पुष्करवर द्वीप के भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी के गगाधर राजा और पद्मिनी रानी के पुत्र अमृतसार के नाम से जन्म लेंगे। वहाँ वे देव जैसी समृद्धि को प्राप्त करेंगे और मनुष्य रूप मे देवताओं के समान दिव्यसुखो मे लालित-पालित होगे। यौवन प्राप्त होने पर वे समस्त कलाओ मे कुशलता प्राप्त करेंगे। फिर विपुलाशय आचार्य से वोध प्राप्त कर, माता-पिता को समझा कर पारमेश्वरी दीक्षा ग्रहण करेंगे। इनकी आत्मा अत्यधिक विशुद्ध होती जायेगी वे और साधु जीवन मे वहुत समय तक महान तप करेंगे। अन्त मे अपने समस्त कर्मजाल को काटकर समाधिपूर्वक आगे वढेंगे और ससार के प्रपंच को छोडकर शिवालय/मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

[६८३-६८७]

हे आर्ये ! इस प्रकार अनुसुन्दर राजर्षि तो भव्य प्राणियो के लिये अत्यन्त प्रमोद के कारण हैं। ऐसे महापुरुष के मृत्यु-प्रसग पर किसी प्रकार का शोक-सन्ताप करना ही नही चाहिये। [६८८]

आचार्य से अनुसुन्दर राजर्षि का भविष्य सुनकर मुनि पुण्डरीक ने आचार्य को प्रणाम कर पूछा—भगवन् ! राजर्षि अनुसुन्दर का भविष्य तो मैंने आपसे सुना,* किन्तु उनकी चित्तवृत्ति मे सर्वदा साथ रहने वाले जो अच्छे-वुरे लोग थे उनका क्या होगा ? वह भी वताने की कृपा करे। [६८९-६९०]

अन्तरंग वल का आविर्भाव

आचार्य—पुण्डरीक ! सर्वार्थसिद्धि विमान से जब अनुसुन्दर का जीव अमृतसार के रूप मे जन्म लेगा और सर्व सग का त्याग कर भाव-दीक्षा ग्रहण करेगा तब

* पृष्ठ ७५५

क्षान्ति, दया, मृदुता, सत्यता, ऋजुता, अचौर्यता, ब्रह्मरति, मुक्तता, विद्या और निरीहता आदि उसकी अन्तरंग पत्नियाँ जो इतने समय तक प्रच्छन्न थी, पुन: उसकी चित्तवृत्ति मे प्रकट होगी । इसके साथ ही चारित्रधर्मराज की सेना भी प्रकट होगी । तत्पश्चात् अन्तरग राज्य मे धृति, श्रद्धा, मेधा, विविदिषा, सुखा, मैत्री, प्रमुदिता, उपेक्षा, विज्ञप्ति, करुणा आदि अन्तरंग पत्नियाँ भी पहले की भाँति उसकी चित्तवृत्ति मे आविर्भूत होकर अतिशय सुख-संदोह प्रदान करेगी । इस प्रकार इस महात्मा को अत्यन्त आनन्द एव आह्लाद से परिपूर्ण अन्तरग राज्य प्राप्त होगा और इस राज्य का भोग करते हुए वह अपने अन्तरग शत्रुओं का जड-मूल से नाश कर देगा। तदनन्तर महाबली अमृतसार मुनि अन्तरग राज्य को अधिकृत करता हुआ अन्त मे क्षपक श्रेणी पर आरूढ होगा (सातवे गुणस्थान से सीधे १३वे गुणस्थान की प्राप्ति) और चार घाती कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा तथा विश्व पर अनेक प्रकार से अनुग्रह करता हुआ अन्त मे केवली समुद्घात कर, समस्त योगों का निरोध कर, आयुष्य के अन्तिम भाग मे शैलेशीकरण सत्क्रिया द्वारा शेष चार कर्मो (वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र) का भी निर्दलन कर देगा । उस समय उसके सभी कार्य सिद्ध होगे, सभी क्रियाओ का अन्त हो जायेगा, सुन्दर कार्यो का सुन्दर परिणाम प्राप्त होगा और अपने सभी अन्तरंग बन्धुओ सहित वह निर्वृत्ति नामक सुन्दर नगरी का सुराज्य प्राप्त कर उसके फलों का आस्वादन करेगा । तत्पश्चात् वह अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त दर्शन से युक्त बनेगा । उसकी सभी रुकावटो एव पीडाओ का नाश होगा और उसके ये सर्वभाव उसे सर्वकाल के लिये प्राप्त होगे । यही उसके अन्तरग सत्कुटुम्ब का भविष्य है । [६९१–७०१]

अब इसके दूसरे अन्तरंग कुटुम्ब का भविष्य भी सुनो । इधर राजर्षि अपनी कुभार्या भवितव्यता जो लम्बे समय से उसके साथ है, उसका त्याग कर देगा । महामोह राजा की शक्ति क्षीण हो जाने से वह भवितव्यता शोकमग्न हो जायगी और सोचेगी कि, अरे ! मैंने दुर्बुद्धि के कारण महामोह की सेना का पक्ष लेकर अच्छा नही किया, परिणामस्वरूप आज मेरे समस्त मनोरथ भग /छिन्न-भिन्न हो गये है । अरे रे ! मैं तो सब कुछ जानने का घमण्ड करती थी, परन्तु जो बात विश्व मे सब लोग जानते है, जिसे बालवृन्द भी बोलते रहते है उस तात्त्विक बात को मै नही जान सकी । सब लोग जानते है कि जो स्थिर पदार्थो को छोडकर अस्थिर पदार्थों के पीछे दौडता है, उसके स्थिर पदार्थ नष्ट होते है और अस्थिर पदार्थ तो नष्ट होने वाले है ही । मैने स्थिर भावों को नही पहचाना । इसमे मेरा भी क्या दोष ? यह बात तो रूढ़ हो गई है कि लोग अपने वास्तविक प्रयोजन से प्राय: घबरा जाते है, अत: मैं भी घबरा गई तो क्या हुआ ? ऐसा विचार और निश्चय करते हुए कुभार्या भवितव्यता अमृतसार को छोडकर, शोक का त्याग कर चुप हो जायगी और अन्य लोगो के कार्य मे जुट जायगी । [७०२–७०७]

हे पुण्डरीक मुनि ! अनुसुन्दर राजर्षि के अन्तरग राज्य के लोगो के भविष्य के विषय मे मैने तुझे सक्षेप में बता दिया है ।*

समन्तभद्राचार्य से विस्तृत वृत्तान्त सुनकर पुण्डरीक आदि साधु बहुत प्रसन्न हुए और सुललिता का शोक दूर हुआ । [७०८–७०९]

---

१७. द्वादशांगी का सार

इसके पश्चात् सुललिता का मन अत्यधिक सवेग रग मे रंग गया । वह सोचने लगी कि, उसे बोध होने मे बहुत कठिनाई हुई, अत वह अवश्य ही गुरुकर्मी/भारी कर्मी तो है ही । ऐसा गुरुकर्मी जीवरत्न सवेग के पवन मात्र से शुद्ध नही हो सकता, उसे शुद्ध करने के लिये तो तीव्र तप रूपी प्रचण्ड अग्नि की महती आवश्यकता है । इस विचार से वह धन्या सुललिता गुरु महाराज की आज्ञा लेकर उनके आदेशानुसार प्रयत्न पूर्वक महाकष्टदायक तप से अपने आत्मरत्न को शुद्ध करने लगी । अर्थात् जो बालिका एक समय धर्म के स्वरूप को समझती भी नही थी, वही अब अपनी आत्मा की शुद्धि का मार्ग ढूँढने लगी और प्रत्येक प्रसग पर गुरु महाराज की आज्ञा लेकर महातप करने लगी । [७१०–७१२]

सुललिता का महातप

उसने जो महान तपस्या की उसका सहज ध्यान दिलाने के लिये सक्षेप मे वर्णन करते है :—

एक, दो, चार, पाँच आदि उपवास रूपी अनेक प्रकार के रत्नो की माला वाले रत्नावली तप से वह रागमुक्त सुललिता साध्वी सुशोभित होने लगी ।

फिर अनेक प्रकार की चर्यायुक्त सुवर्ण की चार लडियो वाले हार के समान रमणीय कनकावली तप से वह विभूषित हुई ।

फिर वह महाभाग्यशालिनी उपवास, बेला, तेला, चोला, पचोला आदि तप रूपी मोतियो की लड़ियो वाले मुक्तावली तप से अलकृत हुई ।

---

* पृष्ठ ७५६

क्रीड़ा की इच्छा से निवृत्त होने पर भी सिंहिनी के समान पराक्रमी इस राजकन्या ने लीलापूर्वक लघु सिंहविक्रीडित एव बृहत् सिंहविक्रीडित तप किया।

फिर उसने शरीर के भूषण स्वरूप भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोत्तरा प्रतिमाएँ ग्रहण की।

फिर विनष्ट पाप वाली महादेवी सुललिता वर्धमान आयबिल तप द्वारा प्रतिक्षण बढती रही और अपने ज्ञान मे वृद्धि करती रही।

चन्द्रायण तप द्वारा इसने अपने कुल रूपी आकाश को चन्द्रलेखा के समान उद्योतित किया।

फिर निष्पापा सुललिता ने यवमध्य और वज्रमध्य की आसेवना की जिसकी वजह से वह देवी ससार बन्दीगृह के प्रति एकदम नि.स्पृहवृत्ति वाली हो गई। तपस्या से वह महान शक्तिशालिनी बन गई और उपर्युक्त तथा अन्य अनेक प्रकार के तपो से उसने अपने सब पाप धो डाले जिससे उसकी उत्थान-प्रगति निरन्तर बढती गई। [७१३-७२१]

द्वादशांगी का सार : ध्यानयोग

इधर पुण्डरीक मुनि भी इतने ज्ञानाभ्यास-परायण हो गये कि कुछ ही समय मे वे शास्त्र के गहन अर्थ और सूत्र को समझने वाले गीतार्थ एव जितेन्द्रिय बन गये।

अन्यदा सम्पूर्ण आगम के विशुद्ध सार/ आन्तरिक आशय को जानने की इच्छा से उन्होने विनय पूर्वक गुरु महाराज से पूछा—भगवन्! बारह अग सूत्र रूपी द्वादशागी जो भगवान् द्वारा प्ररूपित है, वह तो समुद्र के समान अत्यन्त विशाल है. संक्षेप मे इसका सार क्या है? यह बताने की कृपा करे। [७२२-७२४]

आचार्य—आर्य! सम्पूर्ण जैन आगम का सार सुनिर्मल ध्यानयोग है। सभी बातो का रहस्य इसी एक शब्द मे आ जाता है। इसका कारण यह है कि जैन शास्त्रो के नीति विभाग मे श्रावको और साधुओ के लिये जो मूल और उत्तर गुणो का एव बाह्य क्रियाओ का वर्णन है उन सब का अन्तिम लक्ष्य ध्यानयोग ही कहा गया है। इन सभी गुणो और क्रियाओ का हेतु ध्यान-योग की साधना है। शास्त्र मे कहा गया है कि मुक्ति के लिये ध्यान-सिद्धि आवश्यक है और ध्यान-सिद्धि के लिये मानसिक चचलता को दूर करना परमावश्यक है,* जो अहिसा आदि विशुद्ध अनुष्ठानो से ही साधी जा सकती है। अत. सर्व अनुष्ठानो का अन्तिम साध्य मानसिक स्थिरता है, अर्थात् चित्त-शुद्धि ही अन्तिम लक्ष्य है। विशुद्ध एकाग्र मन ही सब से उत्तम प्रकार का ध्यान है। हे मुने! द्वादशागी का सार शुद्ध ध्यानयोग है, अत जिस प्राणी की इच्छा मोक्ष प्राप्त करने की हो उसे ध्यानयोग को सिद्ध करना चाहिये। शेष सभी मूल और उत्तरगुण रूपी अनुष्ठान ध्यानयोग के अग रूप मे ही स्थित है, इसीलिये इस ध्यानयोग को सब का सार कहा है। [७२५-७३०]

* पृष्ठ ७५७

गुरु महाराज के वचनामृत से सन्तुष्ट होकर शान्तात्मा पुण्डरीक महामुनि ने पुन: हाथ जोड़कर ललाट से छूते हुए गम्भीर स्वर में कहा—भगवन् ! जब मैं बालक था तब मुझे मोक्षमार्ग के प्रति बहुत कुतूहल था, बचपन में उस मार्ग को जानने की जिज्ञासा थी, अत: मैंने कई कुतीर्थिक धर्मगुरुओं से इस विषय में प्रश्न पूछे थे कि, हे भाग्यशाली महात्माओं ! सब विषयों का गूढ़ रहस्य और नि:श्रेयस्कर/ मोक्ष-प्राप्ति का परम तत्त्व क्या है ? जो सब से महत्वपूर्ण सार हो उसे समझाइये। मेरे प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न मान्यता के गुरुओं ने मुझे भिन्न-भिन्न उत्तर दिये, जिनका सार संक्षेप में निम्न है :— [७३१–७३४[

एक ने कहा—हिंसा करो या कुछ भी करो किन्तु मुमुक्षु प्राणी को अपनी बुद्धि पर किसी प्रकार का लेप (आवरण) नहीं चढ़ने देना चाहिये। उनका कथन था कि जैसे आकाश कभी कीचड़ से नहीं भरता वैसे ही सारे संसार को मार कर भी जिसकी बुद्धि पर लेप नहीं चढ़ता, उस पर पाप का लेप भी नहीं चढ़ता।

दूसरे ने कहा—जो प्राणी समस्त पापों का आचरण करके भी यदि एक बार भी महेश्वर का स्मरण करता है तो वह क्षणमात्र में समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। प्राणियों को छिन्न-भिन्न कर या सैंकड़ों पाप करने पर भी जो विरूपाक्षदेव शिव का स्मरण करता है वह प्राणी पाप से मुक्त हो जाता है।

तीसरे ने कहा—पापों की शुद्धि के लिए विष्णु भगवान् का ध्यान करना चाहिये। विष्णु का ध्यान समस्त प्रकार के पापों का प्रक्षालन करने वाला है। उनका कथन था कि, स्वयं अपवित्र हो या पवित्र या अन्य कैसी भी अवस्था में हो पर जो पुण्डरीकाक्ष विष्णु भगवान का स्मरण करता है वह बाहर-भीतर से पवित्र हो जाता है।

कुछ लोगों ने पापाशन मंत्र को पाप-विनाशक बताया।

कुछ ने वायु जाप को मोक्ष का साधन बताया। उनका कथन था कि हृदय-स्थित पुण्डरीक कमल ध्यान से खिलता है। वह विकसित दल सुन्दर और मन-भ्रमर को सुख देने वाला होता है। इस ध्यान-मार्ग पर जाकर मन-भ्रमर परमपद में स्थापित हो जाता है। फिर मन में नाद (ध्वनि) लक्षित/ गुंजित होती है, वही परम तत्त्व है।

कुछ पूरक, कुम्भक और रेचक वायु द्वारा हृदय-कमल को विकसित करने के साधन को परम तत्त्व कहते हैं।

अन्य कहते हैं कि हृदय में जो मोगरे के फूल, चन्द्र या स्फटिक जैसा श्वेत बिन्दु है, जो ऊपर-नीचे या अगल-बगल होता रहता है वही ज्ञान का कारण है।*

* पृष्ठ ७५८

अन्य कहते हैं कि, ॐ परम अक्षर (प्रणवाक्षर) के ऊपर और नीचे लेप की हुई अग्निशिखा के जलने पर उसकी जो मात्रा होती है, वही अमृत-कला कहलाती है।

अन्य लोगों का मत है कि, नाक के अग्रभाग पर अथवा दोनों भौंहो के मध्य तुषार (वर्फ) या मोती के हार जैसा स्वच्छ विन्दु दो प्रकार का होता है, चल और स्थिर। इस विन्दु को ध्यान का विषय कहा जाता है। जब यह विन्दु आग्नेय मण्डप (कोण) मे मिलता है तब रक्तवर्णी, पूर्व में पीतवर्णी, वायव्य कोण में कृष्णवर्णी, पश्चिम दिशा में श्वेतवर्णी होता है। जब चित्त निर्मल हो तो यह पीला होता है, क्रोधित हो तो लाल होता है, शत्रु-नाश के समय काला होता है और जब श्वेत होता है तब पुष्टिकारक होता है।

अन्य कहते हैं कि, मुमुक्षु (मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वालो) को नाड़ी-मार्ग सिद्ध करना चाहिये। उन्हें जानना चाहिये कि इंड़ा और पिंगला नाड़ियों का संचालन किस प्रकार होता है और उनका क्या कार्य होता है। नाड़ियों का संचार दायें या बायें किस प्रकार होता है, इसका वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिये और उस ज्ञान के द्वारा काल और बल का बाह्य ज्ञान प्राप्त कर, पद्मासन से बैठकर उच्च घंटानाद सुनना चाहिये।

कुछ ओंकार के उच्चारण को ही परम शान्तिदायक मानते हैं। नाभि में से सरल प्राण वायु निकलती है जो कमल के तन्तु जैसा आकार धारण कर मन्थर गति से सिर के अन्तिम भाग तक जाती है। वह मस्तक में तालु स्थित ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकलती है। कुछ लोग उस प्राणवायु के संचार पर ध्यान केन्द्रित करने और उसे मन्द गति से सचालित करने का वर्णन करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि, सूर्य-मण्डल-स्थित आदिपुरुष अथवा हृदय-कमल-स्थित मूलपुरुष का ध्यान करना चाहिये और उसे ही अपने ध्येय रूप मे पहचानना चाहिये।

कुछ बुद्धिमान, हृदय-आकाश में स्थित सैकड़ों किरणों से जाज्वल्यमान अत्यन्त सुशोभित नित्य परमपुरुष का ध्यान करने और उसे ही अपना ध्येय बनाने का परामर्श देते हैं।

कुछ, आकाश को ही ध्येय बनाने को कहते हैं।

कुछ, चल-अचल सम्पूर्ण विश्व को ध्येय रूप से पहचानने को कहते हैं।

कुछ, आत्मा मे रहे हुए चित्त को ध्येय रूप से पहचानने को कहते हैं।

कुछ शाश्वत ब्रह्म को ही ध्येय रूप से जानने की सलाह देते हैं। [७५७]

हे महात्मन्! जैसे आपने ध्यान-योग को ही द्वादशांगी का सार बताया है वैसे ही भिन्न-भिन्न तीर्थिक धर्मगुरुओं ने भी भिन्न-भिन्न पद्धति से योग को सार के

रूप मे प्रतिपादित किया है। भगवन्! इन सब का अन्तिम सार तो ध्यान-योग ही हुआ। तब क्या ये सभी धर्मगुरु भी मोक्ष के साधक हैं? यदि सब का साध्य ध्यान के माध्यम से मोक्ष ही है तो फिर अलग-अलग योगियो ने ध्यान के भिन्न-भिन्न मार्ग क्यो बतलाये? मेरे मन में इस सम्बन्ध मे प्रबल संशय है। हे नाथ! मेरे इस सदेहवृक्ष को आप अपने वचन रूपी हाथी की शक्ति से मूल सहित उखाड फेकिये, मेरे संशय का सतोषजनक स्पष्टीकरण करिये। [७५८-७६०]

समन्तभद्र—आर्य! तेरा प्रश्न प्रसंगोचित है। तुम अभी जैनागम के सामान्य गीतार्थ बने हो, पर इसके गूढ रहस्य को बराबर नही समझ सके हो, इसीलिये ऐसा प्रश्न कर रहे हो। बात ऐसी है कि सभी धर्मगुरु कूटवैद्य (ऊँट वैद्य) जैसे हैं। जैन-धर्मज्ञ सद्वैद्य के शास्त्र रुपी महावृक्ष की एक-एक शाखा पकड़ने वाले है। इसीलिये तेरे मन मे प्रश्न उठा है। इसका स्पष्टीकरण कथा द्वारा करता हूँ, सुनो।

[७६१-७६२]

१८. ऊंट वैद्य कथा

एक नगर के प्राय: सभी निवासी अनेक प्रकार की महा व्याधियो से ग्रस्त थे। इस नगर मे एक महावैद्य (सच्चा वैद्य) था जो दिव्यज्ञानी,* समस्त सहिताओ का निर्माता, सर्व रोगो का नाश करने वाला और लोगो का उपकार करने की विशुद्ध भावना वाला था। पर, वहाँ के लोग पुण्यहीन थे इसलिये इस सच्चे वैद्य की बात नही मानते थे और उसके कथनानुसार कार्य नही करते थे। कुछ ही भाग्यशाली प्राणी इस वैद्य की बात मानते थे। यह वैद्य निरन्तर अपने शिष्यों को व्याख्यान देता था। वह व्याख्यान जो लोग सुनते थे उनमे से कुछ धूर्त लोग भी कतिपय बातें सीख लेते थे। इस प्रकार दूसरो से सुनकर, थोड़ा बहुत सीखकर "सौठ की गाठ से"

* पृष्ठ ७५६

वैद्य बने बहुत से धूर्त भी वैद्यक का धन्धा करने लगे थे। वहाँ के पुण्यहीन निवासियों के दुर्भाग्य से ऐसे ऊंट वैद्य अधिक प्रसिद्ध हो रहे थे। ये नये वैद्य अपने आपको पण्डित मानते थे। इन्होंने भी अपनी-अपनी नवीन संहिता बना डाली। इनमें से कुछ ने दूसरों से यथार्थ वैद्य के वचन सुनकर उनमें से कुछ को अपनी संहिता में भी जोड़ दिया। कुछ ने अपने पाण्डित्य के घमण्ड में सच्चे वैद्य के कथन से विपरीत वचनों से ही अपनी संहिता बनाई। नगर के रुग्ण नागरिक भिन्न-भिन्न रुचि वाले थे। किसी को एक वैद्य अच्छा लगता तो किसी को दूसरा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न वैद्यों को पसंद करते। यों प्रायः सभी ऊंट वैद्य प्रसिद्ध हो गये और उन्होंने अपनी-अपनी वैद्यक शिक्षा की पाठशालायें खोल ली तथा स्वकीय शिष्यों को अपनी-अपनी संहितानुसार वैद्यक सिखाने लगे। सिखाते समय ये ऊंट वैद्य अपने शिष्यों को इतना अधिक व्याख्यान पिलाने लगे कि वे संसार में महावैद्य के रूप में प्रसिद्ध हो गये। धीरे धीरे लोग वास्तविक मूल वैद्य को भूलने लगे और उनकी उपेक्षा तथा अनादर करने लगे।

सच्चा वैद्य रोगों का निदान कर जो औषधि बताता, उसका विधि पूर्वक सेवन करने से लोग निरोग हो जाते थे। सच्चे वैद्य के जीवन काल में जैसे उसने कई लोगों को रोगमुक्त किया था वैसे ही उसकी सुवैद्यशाला में सीखे हुए उसके शिष्यों ने भी उसकी संहितानुसार उपचार कर अनेक लोगों को रोगमुक्त किया था। अतएव यह चिकित्सालय सब लोगों के लिये रोगों का उच्छेद करने वाला बना। [७६३-७६५]

कुछ रोगी जो इन नये ऊंट वैद्यों के पास उपचार कराने गये, वे बेचारे अनेक व्याधियों और पीड़ाओं से घिरते गये। उन वैद्यों के जीवनकाल में जैसे उनका चिकित्सालय-लोगों का अपकार करता था वैसे ही उनकी मृत्यु के बाद भी उनकी संहिता और उनके शिष्य लोगों को क्षति/ हानि पहुँचा रहे थे। [७६६-७६७]

इन नये वैद्यों की वैद्यशालाओं में भी कभी-कभी रोगियों के रोग कम हो जाते थे या दैवयोग से कदाचित् एकदम मिट जाते थे। इसका कारण यह था कि इन्होंने भी सच्चे वैद्य के कुछ वचन अपनी संहिता में जोड़े थे और कभी-कभी उसका अनुसरण करते थे। जब-जब ये ऊंट वैद्य सच्चे वैद्य के वचनानुसार उपचार करते थे तब-तब रोग कम हो जाता था या कभी दैवयोग से रोगी स्वस्थ भी हो जाता था। [७६८-७७०]

कुछ दुर्बुद्धि वाले वैद्य अपनी दुष्ट बुद्धि से ही कार्य करते रहे और सच्चे वैद्य के वचन नहीं समझ सके, वे तो नितान्तरूप से व्याधि को बढ़ाने वाले ही बने।* [७७१]

---

* पृष्ठ ७६०

संक्षेप में कहें तो सच्चे वैद्य की वैद्यशाला ही रोग पर अंकुश रखने वाली थी और उसकी संहिता में कही गई बातों का अनुसरण करने वाली वैद्यशालायें ही व्याधि को कम करने वाली थी। [७७२]

इस अन्तर का कारण यह था कि सद्वैद्य भलीभांति जानता था कि सभी व्याधियां वात, पित्त और कफ से होती हैं। इन तीनों दोषों और उनके निवारण के सम्यक् उपाय भी वह जानता था। कूट वैद्य यह बात नहीं जानते थे। तत्त्व-विरोधी होने के कारण वे इन्हे नहीं समझ सकते थे। यदि कभी किसी भाग्यशाली रोगी को उनसे लाभ हो जाता तो वह 'घुणाक्षर न्याय' (दैवयोग) से ही होता था। वस्तुतः रोगों की चिकित्सा करने वाला तो एक वह ही सद्वैद्य था। [७७३–७७५]

कथा का उपनय : सद्वैद्य

पुण्डरीक ! तेरे समक्ष जो वैद्य की कथा संक्षेप में कही है वह तेरे संदेह को दूर करने में सक्षम है। अतः इस कथा का उपनय समझाता हूँ, सुनो—

उपर्युक्त कथा मे जिसे नगर कहा गया है, उसे संसार समझो। संसारी जीव सब प्रकार के रोगो से ग्रस्त हैं।

उस नगर में एक सद्वैद्य था उसे परमात्मा/ सर्वज्ञ सद्वैद्य समझो। सर्वज्ञ केवलज्ञानी होते हैं, आगम रूपी शुद्ध सिद्धान्त उनकी संहिता है। वे सब लोगों पर उपकार करने वाले और कर्मरूपी भयंकर रोगों को मिटाने वाले हैं। किन्तु, अधिकांश संसारी जीव गुरु-कर्मी होते हैं, अतः वे सर्वज्ञ को परमेश्वर के रूप मे स्वीकार नही करते। कुछ लघुकर्मी भाग्यशाली भव्यप्राणी सर्वज्ञ परमेश्वर को सद्वैद्य के रूप मे स्वीकार करते हैं। जगद्गुरु सर्वज्ञ जब देवताओं और मनुष्यों की सभा में अपने शिष्यों को प्रभावोत्पादक देशना द्वारा मोक्षमार्ग बतलाते हैं उस समय वहाँ कुछ अन्य मनुष्य और देव भी उपस्थित रहते हैं, उनमें से कुछ दूषित विचार वाले भी सर्वज्ञ की देशना सुनते हैं। [७७६–७८२]

वैद्यशाला

सर्वज्ञ की देशना अनेक नयों की अपेक्षा से गम्भीरार्थ वाली होती है। इस देशना को सुनकर कुछ मन्दबुद्धि जीव जिनकी चेतना मिथ्यात्व से आक्रान्त होती है, वे विपरीत कल्पनाये करते हैं और जिन-सद्वैद्य की सभा से निकलकर, सुने हुए उपदेश का कुछ अंश पकड़ कर अपने शास्त्र बना लेते हैं। ऐसे मन्द-बुद्धि प्राणियो को कूट वैद्य (ऊंट वैद्य) समझना चाहिये। [७८३–७८४]

इनमे से सांख्य आदि कुछ आस्तिक लोगों ने अपने ग्रन्थों में कुछ सुन्दर एव उपयोगी बाते जिनवाणी, जैनागम के अनुसार लिखी और कुछ अपनी कल्पना के अनुसार लिखी। किन्तु, अपने पाण्डित्य का अभिमान तो पूर्ण ग्रन्थ पर रखा। अतएव यहाँ इन्हे ऊट वैद्य समझो। इनके शास्त्र भी सर्वज्ञ के कतिपय सद्वचनों से भूषित होने से संसार में प्रसिद्ध हुए। [७८५–७८७]

अन्य बृहस्पति, सूत आदि दुष्ट नास्तिको ने जिनशास्त्र से विपरीत कल्पनायें कर बड़ी-बडी बाते की और अपनी वाचालता से ससार मे प्रसिद्ध हुए। कहावत भी है कि 'ससार में चोर भी अपनी प्रगल्भता (वाक्पटुता) से प्रसिद्ध हो जाते है।' [७८८–७८६]

भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न रुचि वाले होते है, अत· अपनी-अपनी इच्छानुसार कुछ लोगो को * आस्तिक अच्छे लगते है तो कुछ को नास्तिक और कुछ को सर्वज्ञ एव उनके शिष्य। [७६०]

पुन: वैशेषिक सूत्रकार कणभक्ष (कणाद) मुनि और न्यायसूत्र के प्रणेता अक्षपाद (गौतम) मुनि आदि धर्मगुरुओ ने अपने शास्त्र बनाये और उन्हे अपने शिष्यो को सिखाया। उन्होने अपना तीर्थ/धर्म प्रवर्तित किया और अपने शिष्यो के लिए अनुष्ठानो की भी एक लम्बी शृंखला बनायी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वैद्य-शालाये खड़ी हो गईं। [७६१–७६२]

रोगी

ऐसा होने पर भी जिन कर्म-रोगियो की चिकित्सा सर्वज्ञ की सद्वैद्यशाला मे होती थी वे तो सचमुच भाग्यशाली थे क्योकि वे निश्चित रूप से नीरोग हो जाते थे। [७६३]

जो प्राणी आस्तिक धर्म गुरुओ से उपचार कराने गये उनकी कर्म-व्याधि कुछ-कुछ कम हुई और कभी-कभी कोई-कोई रोग से पूर्णतया मुक्त भी हुआ। इस लाभ का कारण सर्वज्ञ सद्वैद्य के वचन थे, क्योकि आस्तिको ने भी सर्वज्ञ-भाषित कुछ वचन अपने शास्त्रों में गूथ दिये थे। अथवा उनमे से किसी-किसी को कभी जाति-स्मरण आदि ज्ञान भी हो जाता था जिससे सर्वज्ञ के वचन उसके हृदय मे स्थापित हो जाते थे। यही कारण है कि उनके कर्मरोग क्षीण हो जाते थे या कर्मरोगो से मुक्त हो जाते थे।

जिस प्रकार वैद्य शरीर मे रहे हुए वात, पित्त और कफ को पहचान कर रोगो की चिकित्सा करते है, उसी प्रकार सर्वज्ञ महावैद्य राग, द्वेष और महामोह रूपी त्रिदोषो को पहचान कर फिर चिकित्सा करते है। इसीलिये सर्वज्ञशाला और उनके शास्त्रो से बाहर रहने वालो के यहाँ कर्मरोग की चिकित्सा कदापि नही हो सकती। [७६७–७६८]

जो लोग स्वय नास्तिक है और जैन शास्त्र के पूर्णतया विपरीत है वे दुष्ट तो निश्चित रूप से ससार को बढाने वाले ही हैं। तदपि अर्थ और काम मे आसक्त गुरुकर्मी लोगो को जिनकी दृष्टि वर्तमान पर ही अधिक स्थिर रहती है, ये नास्तिक बहुत अच्छे लगते है। [७६६–८००]

* पृष्ठ ७६१

जैन दर्शन

हे आर्य पुण्डरीक ! अन्य तीर्थ (दर्शन) तीर्थंकर महाराज के वचन मे से ही निकले हुए है। इसी कारण जैन-दर्शन व्यापक है, सब से ऊपर है और सब मे व्याप्त है। यही कारण है कि राग, द्वेष, महामोह के प्रतिपक्षी सत्य, जीव दया, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, औदार्य, शोभन वीर्य, अकिंचनता (धनत्याग), लोभत्याग, गुरुभक्ति, तप, ज्ञान, ध्यान और अन्य इसी प्रकार के आस्तिक दर्शनो के अनुष्ठान स्वरूपत सुन्दर और अच्छे तो लगते है, पर वे माँगे हुए आभूषणो के समान होने से सुशोभित नही होते। इसका कारण यह है कि वे सत्य, प्राणीदया, ब्रह्मचर्य आदि को अपनी कल्पना से गढे हुए अन्य वचनो के साथ मिला देते है और यज्ञ, होम आदि से जोड देते है। क्योकि, वे सर्वज्ञ-वचन के अतिरिक्त अन्य वचनो से उनका मिश्रण कर देते है, इसलिये वे उन आभूषणो से सुशोभित नही होते। सर्व प्रकार की उपाधियो से रहित, मात्र गुणो का ही प्रतिपादन करने वाला सर्वज्ञ-दर्शन सभी तीर्थो/ दर्शनो मे कतिपय अशो मे विद्यमान है। इस प्रकार सद्भावयुक्त सर्व-गुणसम्पन्न जैनदर्शन सर्वत्र व्याप्त है। मात्र बाह्य लिंग (वेष) ही धर्म का कारण नही है ऐसा समझो। [८०१–८०७]

तुमने पूछा था कि भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्यान-योग के बल पर क्या ये अन्य दर्शन वाले भी मोक्ष के साधक है या नही ? इस प्रश्न का अब मै स्पष्टीकरण करता हूँ। [८०८]*

बाह्य लिंग : वेष

कुछ प्राणियो का आचरण दुष्ट होता है वे स्वय शुद्ध अनुष्ठान-रहित होते है। ऐसे लोग यदि ध्यान करते है तो वह दिखावा मात्र होता है। विवेकी लोगो को ऐसे दिखावे पर तनिक भी विश्वास नही करना चाहिये। जैसे धान का छिलका निकाले बिना चावल का मैल नही धुल सकता वैसे ही जीवन मे पहले आरम्भ-समारम्भादि छिलको को सदाचार और ध्यान के माध्यम से निकाले बिना अन्य कर्म-मल की शुद्धि नही हो सकती है। मलिन-आरम्भी लोगो की शुद्धि मात्र बाह्य ध्यान से नही हो सकती। जो तुच्छ सासारिक आरम्भ-समारम्भ करते रहते है, उनकी शुद्धि मात्र बाह्य ध्यान से नही हो सकती। आचरण और अनुष्ठानरहित लोगो को छिलके वाले चावल जैसा ही समझना चाहिये। [८०९–८११]

जो प्राणी समस्त प्रकार की उपाधियों से रहित होते हैं वे मोक्ष प्राप्ति के योग्य उच्चतम और श्रेष्ठ ध्यानयोग की साधना करते है, जिससे वे मोक्ष के साधक बनते हैं। उपाधिरहित होकर ध्यानयोग की साधना करने वाली निर्मल आत्मा चाहे किसी भी तीर्थ/दर्शन को मानने वाली हो, उसे भावत जैन शासन के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

---

* पृष्ठ ७६२

अतएव मात्र जैन शासन/ दर्शन ही वास्तव मे ससार का नाश करने वाला है, अत· जो भी दार्शनिक जैन शासन के अन्तर्गत है और समग्र उपाधियो से रहित है वे बाह्य वेष से भले ही अपने दर्शन को मानते हो, पर वे ससार का उच्छेद करने वाले होते है। [८१२–८१४]

सक्षेप मे, जैसे सर्व रोगो की उत्पत्ति का कारण वात, पित्त और कफ है, जिससे इनका शमन हो और प्राणी निरोग हो वही औषधि ससार मे उत्तम मानी जाती है वैसे ही कभी-कभी ऊट वैद्य द्वारा दी हुई औषधि भी परमार्थत 'घुणाक्षर न्याय' से सद्‌वैद्य-सम्मत औषधि के समान आरोग्यदायक हो जाती है। अत जो-जो अनुष्ठान राग, द्वेष, मोहरूपी व्याधियो को नष्ट करने वाले और कर्ममल से परिपूर्ण आत्माओ को निर्मल करने वाले है, वे जैन शासन मे हो, अन्य दर्शनो मे हों, या कही भी हो, उन्हे सर्वज्ञ-दर्शन-सम्मत और अनुकूल ही समझना चाहिये। [८१५–८१८]

यह बात सदेहरहित है कि जो अनुष्ठान चित्त को मलिन करने वाले हो और मोक्ष मे रुकावट पैदा करने वाले हो वे चाहे जैन मुनियो या श्रावको (गृहस्थों) द्वारा आचरित हो, तब भी वे जैन-मत से बाहर है। तब अन्य दर्शन वाले जो चित्त को मलिन करने वाले और बाहर से दोष युक्त दिखाई देने वाले आरम्भादि अनुष्ठान करते है, उनके विषय मे तो कहना ही क्या ? अतएव जो प्राणी भाव पूर्वक विशुद्ध भावनारूढ होकर ससारसमुद्र को पार कर लेते है, उसमे बाह्य वेप की चिन्ता का कोई कारण नही है। वस्तुत: विकास-क्रम मे मात्र बाह्य वेप को कोई स्थान नही है। [८१९–८२१]

माध्यस्थभाव

तेरी अन्य शका यह थी कि सभी को मोक्ष की साधना करनी है, पर सब के ध्येय भिन्न-भिन्न है, इसमे क्या परमार्थ है ? इसमे निहित परमार्थ भी लक्ष्य पूर्वक समझ .—

दुष्ट वैचारिक तरगो के परिणामस्वरूप आत्मा पाप का बन्ध करती है और प्रशस्त शुभ विचारो से पुण्य का बन्ध करती है। जब आत्मा दोनो के प्रति उदासीन हो जाती है, अर्थात् बुरे के प्रति द्वेष और अच्छे के प्रति राग न करे तब वह पाप और पुण्य से भी अलग हो जाती है। जीव का यह स्वभाव है कि वह कभी अच्छे विचार और कभी बुरे विचार करता रहता है, जिससे पुण्य और पाप का बन्ध होता रहता है और बाद मे उसके फल भोगने पडते है। जो इन दोनो से मध्यस्थ रहता है, उदासीन वृत्ति धारण करता है वह पाप और पुण्य से मुक्त रहता है। [८२२–८२४]

जैसे, अपथ्य भोजन से शरीर मे व्याधियाँ पैदा हो जाती है वैसे ही भ्रम पैदा करने वाले और मन को मलिन करने वाले हिंसामय अनुष्ठानो से मन मे बुरे विचारो की तरगे उठती है।

इसी प्रकार स्थिरता और निर्मलता पैदा करने वाले अहिंसात्मक अनुष्ठानो से मन मे अच्छी विचार तरगे उठती है। जैसे, पथ्यकारी थोडा भोजन स्वास्थ्य-वर्धक होता है वैसे ही अहिंसामय अनुष्ठान अच्छी विचार तरगे उत्पन्न करते है।

तीसरा, उच्च ध्यान चित्त के सभी कर्मजालो का अन्त कर देता है। इस ध्यान मे चित्त उपर्युक्त अच्छी-बुरी विचार तरगो से मुक्त रहता है। यह माध्यस्थ भाव आत्मा के साथ लगे शुभ-अशुभ कर्मो को समाप्त करने मे कर्म-निर्जरा का कारण बनता है। [८२५–८२७]

जिस प्राणी को मोक्ष प्राप्त करना हो, कर्म से मुक्त होना हो उसे चित्त के सकल्प-विकल्प रूपी जालो का निरोध करना पडेगा और उसके लिए राग, द्वेष आदि का विच्छेद करने वाले नाना प्रकार के उपायो का सतत प्रयोग करना होगा। [८२८]

ऐसे उपाय चाहे अन्य तीर्थिको/ दर्शन वालो ने बताये हो अथवा जिन शासन मे कथित हो उससे कोई अन्तर नही पडता। वैसे उपाय भावतीर्थ मे व्याप्त होने से ध्येय भाव को दूषित नही करते। अर्थात् ध्येय का कोई आग्रह नही, मात्र उपाय भावतीर्थ मे होना चाहिये। उपाय ऐसा होना चाहिये कि जिससे राग-द्वेष का विच्छेद हो और चित्त के सकल्प-विकल्प दब जाये।

ऐसा कहा जाता है कि मुमुक्षु बाहर से विशुद्ध कर्त्तव्य करते हुए नाना प्रकार के ध्येयो का आश्रय लेकर भी मोक्ष प्राप्त करते है, इसका कारण माध्यस्थ भाव ही है। इतना अवश्य है कि परमात्मा को ध्येय बनाने पर जैसा सवेग प्राणी के चित्त मे उत्पन्न होता है, वैसा बिन्दु आदि को ध्येय बनाने पर नही हो सकता। चित्त को जैसा सुन्दर या असुन्दर आलम्बन मिलता है वैसा ही उसका स्वरूप हो जाता है, यह अनुभव सिद्ध है। [८२९–८३२]

भिन्न-भिन्न जीवो की रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है, किसी के चित्त की शुद्धि किसी आलम्बन से होती है और किसी की अन्य आलम्बन से। इसीलिये अन्त करण को विशुद्ध करने वाली मौनीन्द्रमार्ग की देशना अनेक प्रकार के आशयो से परिपूर्ण अनेक प्रकार की है। अत शुद्ध माध्यस्थ भाव धारण करने वाले, विशुद्ध अन्त करण वाले किसी पुण्यात्मा प्राणी को बिन्दु आदि ध्येयो से भी चित्त की शुद्धि हो जाय तो इसमे क्या आश्चर्य ? [८३३–८३४]

कुछ मूर्ख प्राणी तत्त्व को जानकर भी विशुद्ध अन्त करण और मध्यस्थता के अभाव मे विपरीत आचरण करते है जिससे वे अर्थ और काम मे प्रवृत्ति करते है। जबकि हमारे जैसे योगी उसी तत्त्वज्ञान के परिणाम स्वरूप एकदम निर्विकल्प होकर भ्रमण करते है। अर्थात् ऐसे राग-द्वेष के वशीभूत और मलिन अन्त करण वाले प्राणियो को ज्ञान भी विपरीत फल देता है। प्रखर सूर्योदय के समय भी

* पृष्ठ ७६३

निर्भागी उल्लू वृक्ष की कोटर के अन्धकार मे छुपा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, वैराग्य का लाभ न उठाकर उल्लू जैसे प्राणी योग्य दृष्टि के अभाव मे अज्ञानान्धकार से घिर कर संसार-वृक्ष की कोटर मे छिपे रहते है। जब ज्ञान किरण से प्रदीप्त योग रूपी सूर्य हृदय मे प्रज्जवलित हो तब अर्थ और काम का इच्छा रूपी अन्धकार कैसे विद्यमान रह सकता है? अत· निर्मल चित्त वाले, वैराग्य और अभ्यास के रसिक जीवो के आलम्बन अनेक प्रकार के हो सकते है, क्योकि ये आलम्बन ही अन्त में उसे माध्यस्थ भाव की तरफ ले जाते हैं। इसीलिये अन्य कुतीर्थिको/दर्शन वालों ने जो ध्येय के अनेक भेद बताये है, वे जिन मत रूपी समुद्र से निकले बिन्दु के समान है। अन्य दर्शनो की श्रेणी ऊट वैद्य की वैद्यशालाओ के समान स्वरूप से तो कर्मरोग को बढाने वाली ही है, पर कभी-कभी जो उनका कर्मरोग घटता हुआ या नष्ट होता हुआ दिखाई देता है, उसका कारण भी वे सर्वज्ञ-वचन ही है जो कही-कही उनके शास्त्रों मे गू थे हुए है, ऐसा समझो। [८३५–८४२]

सद्वैद्य की वैद्यशाला के समान ही सर्वज्ञ-मत की शाला है और इनकी द्वादशांगी रूपी सहिता ही कर्मरोग को नष्ट करने वाली है। लोगों मे कोई-कोई सुन्दर वचन व्याधिनाशक भी प्रचलित होते हैं, पर वे समस्त गुणो की खान द्वादशागी मे व्याप्त वचनो में से ही है, ऐसा समझना चाहिये। [८४३–८४४]

कुछ बुद्धिहीन दार्शनिक हिंसा के अच्छे परिणाम बतलाते है और देव-देवी के स्मरण मात्र से पाप का नाश होना बतलाते है,* वे सब तत्त्वरहित है और उनके वचन युक्तिरहित तथा विवेकी पुरुषो के लिए हास्यास्पद हैं। [८४५–८४६]

१६. जैन दर्शन की व्यापकता

तत्त्व-जिज्ञासा

केवली समन्तभद्राचार्य के मुख से ध्यानयोग का स्वरूप सुनकर पुण्डरीक मुनि ने तत्त्व को विशेष स्पष्ट करने की अभिलाषा से आचार्यश्री से पुन प्रश्न किया :—भगवन्! जैसे आप जैन दर्शन को व्यापक बताते है वैसे ही अन्य तीर्थिक/दार्शनिक भी अपने-अपने दर्शन को व्यापक बताते है। इसका क्या उत्तर है? जैसे सभी दार्शनिक अपने दर्शन की स्थापना करने वाले को सर्वज्ञ बताते है, दूसरे दर्शन का तिरस्कार करते है और अपने दर्शन की प्रशसा करते है। स्वय जिसे देव, धर्म, तत्त्व और मोक्ष मानते है, उसके प्रति दृढ आग्रह रखते है। वे स्वप्न मे भी स्वीकार

* पृष्ठ ७६४

नही करते कि अपने अतिरिक्त अन्य दर्शन भी सत्य दर्शन हो सकता है। अत· जैसे अन्य दार्शनिक अपने दर्शन का गर्व करते है वैसे ही हम भी अपने दर्शन का गर्व करते है। फिर हममे और उनमे क्या अन्तर है? हे नाथ! कृपया इसका स्पष्टीकरण करिये, ताकि मेरा मन सुमेरु शिखर के समान उन्नत हो जाये। [८४७–८५२]

जिज्ञासा का समाधान

स्वच्छ दन्तपक्ति से प्रस्फुटित किरणो के समान शोभित अधर वाले गुरु महाराज ने पुण्डरीक का मन आश्वस्थ हो सके ऐसा सदेह-रहित निम्न स्पष्टीकरण किया .—

देव एक है

मैने अभी जो जैन दर्शन को व्यापक बताया वह सम्यक्दृष्टि का, सत्य दृष्टि से देखने वालो का और गहन विचार तथा तत्त्वचिन्तन के परिणामस्वरूप किया गया निश्चय है। भेद-बुद्धि, तुच्छ-दृष्टि का परिणाम है। वह अपवित्रता से उत्पन्न होती है और प्राणी को मोहाभिभूत कर देती है। जो प्राणी तत्त्व को जानते हैं वे इस व्यापक दर्शन के अन्तर्गत आ जाते है। उनमे से ऐसी घबराहट पैदा करने वाली भेद-बुद्धि स्वत ही चली जाती है। ऐसे भेद-बुद्धि-रहित प्राणी को एक ही देव दिखाई देता है। वह देव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, द्वेषरहित, महामोहादि का नाशक, सशरीरी होने पर सम्पूर्ण लोक का भर्ता तथा अशरीरी होने पर मोक्ष-प्राप्त परमात्मा ही हो सकता है। [८५३–८५७]

जब प्राणी अपने मन मे देव का उपर्युक्त स्वरूप निश्चित करता है तब उसके चित्त मे नाना प्रकार के शब्द कोई भेद-बुद्धि उत्पन्न नही कर सकते। वह तो स्वरूप पर ही दृष्टि रखता है, उसे नाम का मोह नही होता। फिर चाहे लोग ऐसे देव को बुद्ध, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिनेश्वर या अन्य किसी भी नाम से सम्बोधित करे। यथार्थ दृष्टि वाला इनकी कोई अपेक्षा नही करता, उसके लिए शाब्दिक-भेदो से कोई अर्थ-भेद नही होता। [८५८–८५९]

जो देव के उपर्युक्त स्वरूप को पहचान कर उसका भजन करते है, उनके लिए तेरे-मेरे का प्रश्न ही नही उठता। 'यह देव मेरे है, तेरे नही' यह सब तो मत्सर भाव/झूठा भ्रम है। जो कोई भी भाव से उसकी साधना करता है, भाव से उसकी कामना करता है, उसका वह शिव/कल्याण करता है। सीग के भय से चाडाल को पानी पीने से नही रोका जा सकता। जिसके समग्र प्रकार के क्लेश नष्ट हो गये है, वही देव है, अतः उसके लिए तो सभी प्राणी समान है। जो भी उसे पहचानता है, उसकी मुक्ति होती है। गगा किसी की बपौती है? ससारी आत्माये तो कर्मभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की ऊँच-नीच आदि भेद वाली होती है, किन्तु परमात्मा तो कर्म-प्रपच से रहित है, अत. उनमे किसी प्रकार का भेद नही हो सकता। [८६०–८६३]*

* पृष्ठ ७६५

इस प्रकार सर्वज्ञ, सवदर्शी, परमात्मा आदि विशेषणों से युक्त, शुद्ध वोध का धारक, अशरीरी होने पर भी अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से ससार से मुक्त कराने वाला एक ही देव है। जो भाग्यवान प्राणी ऐसे परमात्मा को सम्यक् प्रकार से पहचानते है और भाव से उसको स्वीकार करते है, उनके मन मे उसका सत्य-स्वरूप सुदृढ हो जाता है। ऐसी स्थिति मे उसके सम्बन्ध मे उनके मन मे किसी प्रकार के वाद-विवाद या मत-भेद का कारण ही कैसे उत्पन्न हो सकता है?
[८६४–८६५]

कुछ अल्पज्ञ लोग परमात्मा को राग-द्वेष से युक्त मानते है। ऐसे अल्पज्ञ लोगो को तत्त्व के जानकार महापुरुष करुणा-बुद्धि से वार-बार समझाते रहते हैं कि सर्वज्ञ देव राग-द्वेष रहित ही होते है। [८६६]

तात्त्विक दृष्टि से देव का स्वरूप तेरे समक्ष प्रस्तुत किया। ये देव प्रमाणो से सिद्ध हैं, अत· समस्त वादियो के मतानुसार भी एक ही है। सक्षेप मे कहा जाय तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेपरहित और महामोह को नष्ट करने वाले देव एक ही है।
[८६७]

धर्म एक है

परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो ससार मे धर्म भी एक ही है। यह कल्याण-परम्परा का हेतु, स्वयं शुद्ध और शुद्ध गुणो से परिपूर्ण है। ये शुद्ध गुण दस प्रकार के है। जैसे—क्षमा, मार्दव, शौच (पवित्रता) तप, सयम, मुक्ति, (लोभ त्याग) सत्य, ब्रह्मचर्य, सरलता और त्याग। पण्डित लोग इस दस लक्षण युक्त धर्म को पहचानते हैं और इसे स्वर्ग तथा मोक्ष का दाता मानते है। वे इसकी शक्ति के सम्बन्ध मे कभी वाद-विवाद नही करते। कुछ मूर्ख प्राणी धर्म की इससे विपरीत कल्पना करते है, किन्तु करुणार्द्र विद्वान् पुरुष उन्हे ऐसी विपरीत कल्पना करने से बार-बार टोकते है। प्रमाणों से सिद्ध होने वाला ऐसा धर्म भी एक ही है। हे पुण्डरीक! इसका प्रतिपादन भी मैंने तेरे समक्ष कर दिया। [८६८–८७२]

मोक्ष-मार्ग एक है

तत्त्व सज्ञा वाला मोक्षमार्ग भी परमार्थ से एक ही है और विद्वान् पुरुष उसे एकरूप ही पहचानते है। जैसे, कोई इसे सत्व, कोई लेश्याशुद्धि, कोई शक्ति और कोई इसे योगियो को प्राप्त करने योग्य परम वीर्य कहते है। इसमे जो भेद दिखाई देते है वे नाम मात्र के है, अर्थ भेद तो किञ्चित् मात्र भी नही है। आचरण मे भी ध्वनि-भेद सुनाई पडता है, जैसे कोई अदृष्ट, कोई कर्म-सस्कार, कोई पुण्य-पाप, कोई शुभ-अशुभ, कोई धर्म-अधर्म और कोई इसे पाश कहते हैं। ये सब पृथक्-पृथक् पर्याय मात्र है। एक ही अर्थ को बताने वाले सत्व, वीर्य आदि भिन्न-भिन्न शब्द है। इनकी हानि या वृद्धि क्रमश ससार और मोक्ष का कारण होती है। पुण्य की हानि और पाप की वृद्धि से ससार मे सर्व प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं और पुण्य की वृद्धि से सव प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती है। [८७३–८७७]

विशुद्धि की कोटिया (श्रेणियाँ) चार कही गई है—ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य और धर्म। जब सत्त्व, रजस् और तमस् से घिर जाता है तब प्रकाश अन्धकार मे बदल जाता है और उपर्युक्त ऐश्वर्य आदि चारो गुण विपरीत हो जाते है। रजस् के आवरण से वैराग्य के स्थान पर अवैराग्य हो जाता है और तमस् के आवरण से ऐश्वर्य के स्थान पर अनैश्वर्य, ज्ञान के स्थान पर अज्ञान और धर्म के स्थान पर अधर्म हो जाता है। रजस् और तमस् दोनो साथ रहते है। जहाँ एक होता है वहाँ दूसरे का होना अवश्यभावी है। रजस् और तमस् से घिरा हुआ मैल युक्त* सत्त्व सर्वथा ससार बढाने वाला और दु.खो का कारण होता है। जबकि वही निर्मल सत्त्व शक्ति से परिपूर्ण तथा सुख एव मोक्ष का कारण होता है। इस सत्त्व को निर्मल बनाने के लिये ही तप, ध्यान, व्रत आदि अनेक अनुष्ठान बताये गये है। यह शुद्ध सत्त्व ही परमदैवी / पारमेश्वरी तत्त्व भी है। सत्त्व-गोचर जो ज्ञान होता है वही यथार्थ ज्ञान है और इसके आश्रय मे जिस श्रद्धा का पालन किया जाता है वही वास्तविक श्रद्धा है। इस श्रद्धा को बढाने वाली क्रिया को ही सच्ची क्रिया कहा जाता है और उस सत्क्रिया के मार्ग पर चलने को ही सच्चा मोक्ष मार्ग। जिन महान् सत्त्वो ने शुद्ध बुद्धिपूर्वक सत् तत्त्व को पहचान लिया है, वे मेरु के समान निष्कम्प/निश्चल चित्त वाले हो जाते है, उनको किसी प्रकार की भ्राँति, शका या घबराहट नही होती। जो मूढ लोग शुद्ध-तत्त्व मार्ग से भ्रष्ट होकर जहाँ-तहाँ भ्रमण कर रहे हैं, इधर-उधर भटक रहे हैं, उन पर महान कृपा कर शुद्ध बुद्धि वाले महान सत्त्व उन्हे सत्य मार्ग बताते है, और उन्हे भटकने से बार-बार रोकते/टोकते हैं। मैंने तुम्हारे समक्ष सक्षेप मे अत्यन्त प्रशस्ततम सत्त्व का वर्णन किया। महान योगी इसी सत्तव का निर्णय कर अपने विशाल कार्यो को क्रियान्वित करते है। [८७८–८८८]

जैसे शुद्ध सत्त्व अविचल, एक और प्रमाणसिद्ध है वैसे ही मोक्ष भी अविचल, एक और प्रमाणसिद्ध है। यह अत्यन्त आह्लादकारी, सुन्दर और सुसाध्य है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य वाली, अमूर्त, एक ही रूप वाली आत्मा का निज स्वरूप मे रहना ही मोक्ष है। यही मोक्ष का लक्षण है। फिर उसे ससिद्धि, निर्वृत्ति, शान्ति, शिव, अक्षय, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण या अन्य किसी भी नाम से पुकारा जाय, पर ये सब मोक्ष को ही ध्वनित करते है [८८९–८९१]

ये सभी प्रकार के कर्त्तव्य लेश्याशुद्धि के लिए ही है, लेश्याशुद्धि मोक्ष के लिये है और मोक्ष उपर्युक्त वर्णित लक्षण वाला है। अर्थात् जिससे आत्मा निज-स्वरूप मे स्थित हो वही मोक्ष है और आत्मा को निज-स्वरूप मे स्थित करने वाली लेश्याशुद्धि मोक्ष का कारण है। लेश्याशुद्धि की विशेषता या अल्पता के कारण देवगति या मनुष्य जन्म मे आनुषगिक रूप से जिन सुखो की प्राप्ति होती है, उन्हे भी मोक्ष-प्राप्ति के लिये त्याग करने योग्य कहा गया है। [८९२–९३]

---

* पृष्ठ ७९६

सद्देव और सद्धर्म को प्रकट करने वाले सत्-शास्त्र इसी प्रकार के मोक्ष का प्रतिपादन करते है। जो शास्त्र दृष्ट (अनुमान, प्रमाण) से, इष्ट (आगम प्रमाण) से अबाधित हो और जो सर्व प्रमाणो से प्रतिष्ठित हो ऐसा एक ही शास्त्र सर्वत्र व्यापक है। ऐसे शास्त्र को ही व्यापक शास्त्र माना गया है। यह उस एक शास्त्र का भावार्थ कहा गया है जिसमे विशेष प्रकार के भाव व्याप्त है, उन्हे समझ कर अपनी इच्छानुसार विविध शब्दों मे गूंथा गया है। उसे वैष्णव, ब्राह्मण, माहेश्वर, बौद्ध या जैन किसी भी नाम से कहा जा सकता है। जब तक इसके मूल भाव का नाश न हो तब तक शब्दों के परिवर्तन से कोई अन्तर नही आता। विद्वान् पुरुष तो अर्थ देखकर ही प्रसन्न होते है, उसके आन्तरिक भावार्थ का विचार करते है, वे मात्र शब्द या नाम का आग्रह नही रखते। किसी गुणहीन मनुष्य को देव कहने मात्र से वह देव नही बन जाता, यदि देव शब्द से सम्बोधित करने मात्र से वह मनुष्य प्रसन्न होता है तो उसे मूर्ख ही समझना चाहिये। [८९४-८९९]

ऐसी अवस्था मे भी यदि अन्य दार्शनिक अपने-अपने दर्शन को व्यापक कहते है तो कहने दीजिये, इसमें झगडने की अथवा विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हे पुण्डरीक महामुने! मोह के कारण जिनकी बुद्धि पर आवरण आ जाता है उनकी दृष्टि मे विकार पैदा हो जाता है। वास्तव मे तो दर्शन एक ही है, पर ऐसे विकारग्रस्त लोग ही दर्शन के अनेक भेद करते है, जो सचमुच झूठा मोह है।* जब प्राणी की बुद्धि पर से यह व्यामोह का पर्दा हट जाता है तब उसे सभी वस्तुएँ सद्बुद्धिगोचर होती है और जब उसे सद्दर्शन का भान हो जाता है तब उसमे थोड़ी सी भी भेद-बुद्धि नही रहती। शुद्ध दर्शन में भेद-बुद्धि को कोई स्थान नहीं है। [९००-९०२]

सभी वादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। जो आत्मा मोहनीय कर्मरूपी मैल से युक्त हो वह मोक्ष-मार्ग को देख या जान नही सकती। जब आँख मे मैल होता है तब स्पष्टत. वस्तु का दर्शन नही होता। इसी प्रकार जब आत्मा के कर्म-मल का नाश होता है तभी उसे यथास्थित मोक्षमार्ग दिखाई देता है। ऐसी आत्मा चाहे जहाँ रहे, उसे स्वत. ही मोक्ष-मार्ग दिखाई दे जाता है। ऐसी स्थिति मे प्राणी परमार्थ को प्रकट करने वाले सद्दर्शन को स्पष्ट देखता है और अपने झूठे आग्रह को छोड देता है। मनीषियो ने इसी स्थिति को भटके हुए को मार्ग पर लाना कहा है। विद्वानों का मत है कि जो प्राणी मूर्ख हो, गुणदोष की परीक्षा न कर सकता हो, ज्ञान-शून्य हो, ऐसा प्राणी सिद्धान्त रूप विषम दुरूह ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकता है? वस्तुत: मैं अच्छा तू खराब, मेरा दर्शन अच्छा तेरा खराब, यह सब बोलना/ मानना और ऐसी बाते करना तो स्पष्टत. मत्सर/द्वेष का खेल है। [९०३-९०७]

* पृष्ठ ७६७

अधिक क्या कहूँ ? इस लोक में जितने भी प्राणी यथावस्थित दृष्टि वाले हैं, वे सभी इस तात्त्विक शुद्ध दर्शन के अन्तर्गत आ जाते हैं। ऐसे विशाल दर्शन मे रहने वालों का तेरा-मेरा तो नष्ट ही हो जाता है, अतः वे किसी प्रकार का वाद-विवाद करते ही नही। कभी वाद करना भी पड़े तो वे सब को समानता प्रदान करते है, सब के अन्दर गहराई मे रही हुई एकरूपता का भान कराते है। कुछ प्राणियो का कर्म-मल नष्ट नही होने से वे विपरीत दृष्टि वाले होते हैं, जिससे मात्सर्य और अभिमान मे आकर वे अपने दर्शन को ही व्यापक बताते है, उसी को सर्वव्यापक कहलवाने का दावा करते हैं। ऐसे जन्मान्ध तुल्य मनुष्यो को तो उत्तर न देना ही अच्छा है, अथवा यदि संभव हो तो ऐसे लोगो को तत्त्वमार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस ससार मे मोह को नष्ट करने के समान अन्य कोई महत्तम उपकार नही है।
[६०८-६११]

पुण्डरीक ! तूने पूछा कि अन्य दार्शनिक अपने दर्शन को व्यापक बताते है, उसका क्या उत्तर है ? उसी विषय मे मैंने तुझे ऐसा उत्तर बताया है कि जिसका कोई प्रतिघात न हो, कोई काट न कर सके। बात ऐसी है कि जैन-दर्शन मे दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग-शास्त्र है जो समुद्र के समान विशाल है, इस मे सभी नयों (दृष्टियो) का समावेश है। इस सागर में कुदृष्टि रूपी नदियां भी आकर मिल जाती हैं, यह सब तू इससे स्पष्ट समझ सकेगा। जब तू इसका अभ्यास करेगा तब तेरे समस्त सन्देहो का विलय/नाश हो जायेगा और तुझे पूर्ण विश्वास हो जायगा कि सर्वज्ञ महाराज के वचनो से अधिक श्रेष्ठ कोई वचन नही है। [६१२-६१४]

इस प्रकार समन्तभद्राचार्य ने पुण्डरीक मुनि के प्रश्नों का विस्तारपूर्वक समाधान किया।

२० मोक्ष-गमन

समन्तभद्र का मोक्ष-गमन

सैद्धान्तिक रहस्यों के ज्ञाता आचार्य समन्तभद्र की वाणी से पुण्डरीक मुनि के समस्त सदेह नष्ट हो गये। वे क्रमश. द्वादशागी के पारगामी विद्वान् बने। आचार्य समन्तभद्र की कृपा से अनन्त गम-पर्याय युक्त सभी भावो को विस्तार पूर्वक जान गये। उन्होने गहन अभ्यास एवं चिन्तन-मनन द्वारा आगम के रहस्य ज्ञान को हृदयगम किया। फिर आचार्यश्री ने इन्हे द्वादशागी सूत्र की व्याख्या करने और गच्छ सभालने की आज्ञा दे दी। अपने आचार्य पद का स्थान पुण्डरीक मुनि को देते हुए समन्तभद्राचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपने पीछे शासन के रक्षक की स्थापना कर, योग्य व्यक्ति को उसके योग्य पद पर स्थापित कर वे अपने कर्त्तव्य से उऋण हुए और मन मे संतुष्ट हुए। पुण्डरीक मुनि को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करने की प्रसन्नता मे आठ दिन तक देवो और मनुष्यो ने विधि पूर्वक एव आनन्द से देव और सघ की पूजा-भक्ति की। * अन्त मे समन्तभद्राचार्य ने अपने शरीर रूपी पिंजर को त्याग कर, कृतकृत्य होकर मोक्ष प्राप्त किया। [९१५–९२०]

पुण्डरीक का मोक्ष गमन

इसके पश्चात् पुण्डरीक आचार्य की भी प्रगति होने लगी। पहले उन्हे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ और बाद मे मन.पर्यव-ज्ञान भी प्राप्त हो गया। पुण्डरीकसूरि शासनदीपक बने। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से कमलो को विकसित करता है वैसे ही उन्होने अपने उपदेश रूपी किरणों के तेज से भव्य प्राणियो की महामोह रूपी निद्रा को उड़ा दिया और उन्हे जाग्रत कर दिया। लोगो के उपकार को ध्यान मे रखकर ही उन्होने एक देश से दूसरे देश मे विहार किया, अपनी साधुचर्या मे स्थिर रहे, निरतिचार चारित्र का पालन किया और अनेक गुण-विभूषित शिष्य समुदाय को संगठित किया। उन्होने दान, शील, तप और भाव रूपी धर्म के चारो पायो का जीवन मे क्रमश· पालन किया। जीवन के प्रथम भाग मे त्याग किया, दूसरे भाग मे शील (ब्रह्मचर्य) का पालन किया, तीसरे भाग मे उत्कृष्टतम तपस्या की और चौथे भाग मे भाव-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार धर्म-जीवन के चारो विभागो का आचरण कर, दिन की आकृति को धारण करने वाले इस जीवन को भव्य रूप से व्यतीत करते हुए जिनशासन को प्रकाशित किया। सूर्य रूप पुण्डरीकाचार्य ने जीवन के सन्ध्या काल मे अपने जीवन का अन्त निकट जान कर सलेखना (अन्तिम आराधना) अंगीकार कर ली। [९२१–९२५]

---

* पृष्ठ ७६८

अन्तिम आराधना के समय को निकट जानकर पहले उन्होने अपने शिष्य-रत्न धनेश्वर को स्वकीय स्थान पर आचार्य पद पर स्थापित किया। धनेश्वर मुनि उच्च क्रियाओ के अभ्यासी थे। योग-क्रियाओं के पालक थे और सभी आगमों के गीतार्थ/निष्णात थे। क्रिया और ज्ञान मे पारंगत शिष्यरत्न को आचार्य पद पर स्थापित कर आचार्य पुण्डरीक कृतकृत्य हुए। [९२६]

फिर आचार्य ने धनेश्वर को अनुज्ञा प्रदान कर, अपने सामने सब से आगे बिठाकर गच्छ का भार सौपा और अनुशासनात्मक निर्देश दिया—

हे महाभाग्यशालिन्! यह जिनागम संसार रूपी महापर्वतों को भेदने मे वज्र के समान है, पर वह बड़ी कठिनाई से सीखा जाता है। तुमने इसे सीखा है, अतः तुम धन्यवाद के पात्र हो। आज तुम्हें जिस पद का भार सौपा गया है वह ससार में सब से उत्तम सत्सम्पदाओं का पद है, महास्थान है। यह आत्मसपत्तियो का सर्वोच्च-तम पवित्र स्थान है और पहले भी कई महासत्त्वधारी वीर-वीर-पुरुष इसको सुशोभित कर चुके है। हे वत्स! यह पद भाग्यशाली को ही दिया जाता है। जो महासत्त्व इस पद-भार को संभालता है, वह धन्य है। ऐसे भाग्यवान प्राणी इस पद को प्राप्त कर संसार से भी पार उतर जाते है। [९२७–९३०]

यह समस्त मुनिपुंगवो का समूह ससार-अटवी से घबराकर अब से तेरी शरण मे है। तू इतना सक्षम है कि तू इन्हे ससार-अटवी से पार उतार सकता है, इसीलिये ये मुनि तेरी शरण मे आये है। [९३१]

भाग्यशाली प्राणी स्वय परमैश्वर्य युक्त निर्मल गुणपुञ्जो को प्राप्त कर संसार से त्रस्त प्राणियो की रक्षा करते है। उन्हे ससार-भय से मुक्त करते हैं। ये संसारी जीव सचमुच भाव-रोग से पीडित है और तू यथार्थ भाववैद्य/भिषग्वर है, अतः तुझे इन उत्तम ससारी जीवो को भाव-व्याधि के दु ख से प्रयत्नपूर्वक छुड़ाना चाहिये। जो गुरु स्वयं चारित्र और क्रिया मे अप्रमादी होता है, परोपकार मे उद्यमी होता है, मोक्ष पर दृढ़ लक्ष्य वाला होता है और ससार-बन्दीगृह से नि स्पृह होता है वही अन्य प्राणियो को दु.ख और व्याधि से छुड़ा सकता है।

तू इस स्थान/पद के सर्वथा योग्य है और तुझे ऐसी प्रेरणा करना कल्प है/शास्त्र की आज्ञा है। इसीलिये मैंने तुझे इतना प्रेरित किया है। संक्षेप मे तुझे अपने गच्छाधिपति पद के योग्य सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। [९३२–९३५]

आचार्य पुण्डरीक के उपर्युक्त अनुशासनात्मक निर्देश को धनेश्वरसूरि नत-मस्तक होकर विनयपूर्वक सुनते रहे। तत्पश्चात् पुण्डरीकाचार्य ने अपनी दृष्टि अपने शिष्यो की तरफ घुमाई और कहा—हे शिष्यो! तुम सब को यह ध्यान रखना चाहिये कि धनेश्वरसूरि तुम्हें ससार-सागर से पार उतारने के लिये सचमुच एक सुदृढ़ जहाज के समान है। यदि तुम्हे सागर से पार उतरना है तो इस जहाज को कभी भी मत छोडना। तुम्हे सदा इनके अनुकूल बनकर रहना चाहिये, कभी भी इनके प्रतिकूल कोई कार्य नही करना चाहिये। सदा इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये, जिससे कि तुम्हारा

गृह त्याग जैसा महान कार्य * सफलता को प्राप्त हो। यदि तुम इनकी आज्ञा का उल्लंघन करोगे, या आज्ञा के प्रतिकूल चलोगे तो वह जगत्बन्धु तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन माना जावेगा। तुम जानते ही हो कि भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन से इस भव तथा परभव में तुम्हे अनेक प्रकार की विडंबनाये प्राप्त होगी, अत: सदा इनकी आज्ञा मे और इनके अनुकूल ही रहना। 'कुलवधु न्याय' से अर्थात् जैसे कुलवधु किसी भी प्रकार की स्खलना के कारण सास, ससुर, पति आदि से तिरस्कृत होने पर भी ससुराल और पति के चरणो को नही छोडती वैसे ही तुम्हे नियंत्रण मे रखने के लिये यदि गुरु कुछ कटूक्ति भी कह दें तब भी तुम्हे जीवनपर्यन्त इनके चरण-कमलो को नही छोड़ना चाहिये, कभी इनका अनादर नही करना चाहिये।

जो भाग्यशाली गुरु-चरणों की सर्वदा सेवा करते हैं वे ही वास्तव मे सच्चे ज्ञान के पात्र हैं! ऐसे मुनियो का दर्शन निर्मल और चारित्र निष्प्रकम्प/स्थिर होता है। [९३९-९४१]

शिष्यो ने सिर झुका कर सद्धर्माचार्य के वचन स्वीकार किये और पुन:-पुन: गुरु महाराज को वन्दन किया। इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर पुण्डरीकसूरि गण का त्याग कर किसी श्रेष्ठ पर्वत की गुफा मे चले गये। [९४२-९४३]

गुफा में पहुँच कर वे स्थिर हो गये। महान् तपस्या के अनुष्ठान से उनके शरीर का रक्त-मांस सूख गया और अस्थिपंजर मात्र रह गया। फिर भी धैर्यवान मनस्वी महर्षि ने परिषह सहन करने के लिये स्वयं को एक शुद्ध शिला पर स्थिर कर दिया। फिर उन्होने भावपूर्वक पंच परमेष्ठी मंत्र का स्मरण प्रारम्भ किया। चित्त को नमस्कार मंत्र मे एकाग्र कर, हृदय मे सिद्धो की स्थापना कर, दृष्टि को इधर-उधर से हटाकर प्रणिधान धारण किया। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के हेतुभूत इस प्रणिधान को इन महान भाग्यवान आचार्य ने अत्यन्त विशुद्ध बुद्धिपूर्वक और तीव्र संवेग के साथ स्वीकार किया। इस प्रणिधान मे उन्होने निम्न चिन्तन किया:—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य को प्राप्त करने मे तत्पर मेरी अन्तरात्मा एक ही है, मात्र वही मेरी है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी का मैंने त्याग कर दिया है। राग, द्वेष, मोह और कषाय रूपी मैल को धोकर मैं विशुद्ध हो गया हूँ। अब मैं सच्चा स्नातक हो गया हूँ। सभी जीव मुझे क्षमा करे, मैं सभी जीवो को क्षमा करता हूँ। मेरी आत्मा अब वैर-विरोध रहित होकर अत्यन्त शान्त और क्षेत्रज्ञ हो गई है। अभी तक मैंने किसी भी बाह्य वस्तु को अपनी समझ कर ग्रहण करने की भूल की हो, उसका अब मैं त्याग करता हूँ। [९४४-९५०]

महान् तीर्थंकर भगवान् (अरिहन्त), पापरहित सिद्ध भगवान्, विशुद्ध सद्धर्म और साधु मेरा मंगल करे। त्रैलोक्य मे मैं इन चारो (अरिहन्त, सिद्ध, साधु और

* पृष्ठ ७६६

सद्धर्म) को ही सर्वोत्तम रूप से अंगीकार करता हूँ। भवभीरु (संसार से भयभीत) होकर मै इन चारों की शरण ग्रहण करता हूँ [९५१-९५२]

मैं सभी कामनाओं से निवृत होता हूँ। मेरे मन के विकल्पजालो का मैं निरोध करता हूँ। अब मैं सभी प्राणियो का बन्धु हूँ और सभी स्त्रियो का पुत्र हूँ। सर्व प्रकार के मन, वचन काया के योगो का निरोध करने वाली शुद्ध सामायिक को अब मैंने ग्रहण कर लिया है। मैंने मन, वचन, काया की सभी चेष्टाओ का त्याग कर दिया है। हे परमेश्वर! हे महान् उदार सिद्धो! आप अपनी कृपा-दृष्टि इधर कीजिये, अपनी करुणा-दृष्टि मुझ पर डालिये। अभी मुझ मे प्रकर्ष सवेग उत्पन्न हुआ है, अत· हे प्रभो! मेरे द्वारा इस भव मे या अन्यत्र कभी भी कोई बुरा आचरण हुआ हो तो मैं उन सब की पुन·-पुन· निन्दा करता हूँ।

मै समस्त उपाधि से विशुद्ध हो गया हूँ, ऐसा मैं इस समय मानता हूँ। आगे सत्य-तत्त्व को तो केवली भगवान् ही जानते है। [९५३-९५६]

मैं संसार-प्रपञ्च से विलग हो गया हूँ। इस समय मुझे एक मात्र मोक्ष की लगन लगी हुई है। जन्म-मरण का सर्वथा नाश करने वाले जिनेश्वर देव को मैंने मेरी आत्मा को समर्पित कर दिया है। इन महात्माओ को सद्भाव पूर्वक मेरा चित्त अर्पित है। अब वे इस समय अपनी शक्ति से मेरे समस्त शेष कर्मो का नाश करें। [९५७-९५८]

इस प्रकार प्रणिधान एव आलोचना पूर्वक पुण्डरीक महात्मा ने शरीर के ममत्व का त्याग कर, नि.संग होकर एक शिला-खण्ड पर पादपोपगम (वृक्ष की तरह निश्चल होकर) अनशन धारण किया।

पादपोपगम की स्थिति मे विराजमान पुण्डरीकाचार्य को उस समय देवो और असुरो की ओर से अनेक भीषण उपसर्ग हुए जिनको उन्होने शान्तिपूर्वक अपने आतरिक तेज से सहन किया। पशु-पक्षी और मनुष्यो के उपसर्ग भी उन्होने उसी धैर्य से सहन किये।

इसके पश्चात् धर्म-ध्यान द्वारा उन्होने अपने अनेक कर्मो का नाश किया और शुक्लध्यान धारण किया और अपने वीर्य (सत्त्व) रूपी अग्नि के बल से समग्र तथा कर्मजालो को भस्मीभूत कर दिया। शुभ ध्यान की वृद्धि होते-होते क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर चारो घाती कर्मो को नष्ट कर अनन्त वस्तुओ के दर्शक केवलज्ञान को प्राप्त किया। [९५९-९६३]

उस समय उनके गुणो से आकर्षित होकर उनकी पूजा करने के लिये चारों प्रकार के देवता वहाँ एकत्रित हुए। किन्नरगण मधुर स्वर मे गाने लगे, आकाश मे देव-दुन्दुभि बजाने लगे, देवागनाये नृत्य करने लगी, देवगणो ने चारो तरफ के रज (कचरे) को साफ कर सुगन्धित जल और मनोहर पुष्पों की वृष्टि की।

* पृष्ठ ७७०

चारों तरफ की दिव्यगन्ध से आकर्षित होकर भौंरो के झुड वहाँ गु जारव करने लगे जिससे वह प्रदेश क्षणमात्र मे अति रमणीय और सुगन्ध से महक उठा। भक्तिरस मे लीन देवो ने चन्दन का केवली के शरीर पर लेप किया, दिव्य धूप से सुवासित किया और अपने तेजस्वी देदीप्यमान मुकुट युक्त सिरो को मुनीश्वर के चरणो मे झुकाकर उनकी स्तुति करने लगे तथा पाप-शुद्धि के लिए उनकी चरण-रज को अपने मस्तक पर लगाकर अपना अहोभाग्य मानने लगे।

इस प्रकार देवगण अतिशय प्रमोदपूर्वक मुनीश्वर के समक्ष खड़े थे तभी उन्होने समुद्घात (एक साथ प्रबल वेग से कर्मो का नाश) अवस्था को प्राप्त किया। क्षणमात्र मे समुद्घात द्वारा अशेष कर्मो का समीकरण करते हुए तीनो योगो का निरोध करने लगे।

क्रमशः चौदहवे गुणस्थान पर पहुँचकर, शरीर के योग का भी निरोध कर, शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए। शैलेशीकरण कर अन्तर्मु हूर्त मे परमपद मोक्ष प्राप्त किया।

उस समय देवताओ ने उनकी विशेष रूप से महापूजा की और अपने कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन करते हुए अत्यन्त आनन्दपूर्वक अपने पापो को नष्ट कर अपने-अपने स्थान को गये। [९६४–९७३]

महाभद्रा का मोक्षगमन

देवी महाभद्रा साध्वी ने भी प्रवर्तिनी के योग्य अपने कर्त्तव्य को पूरा किया और क्रमशः प्रगति करती हुई क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर सर्व कर्मो को भस्मीभूत कर मोक्ष पधारी। इन्होने भक्तपरिज्ञा अनशन (खाने-पीने का त्याग, पर चलने-फिरने का त्याग नही) द्वारा मोक्ष प्राप्त किया। [९७४]

सुललिता का मोक्षगमन

सुललिता साध्वी ने पूर्व-वर्णित अनेक प्रकार के तप किये, परिणामस्वरूप जैसे रत्न खार से निर्मल हो जाता है वैसे ही उनका चित्तरत्न अधिक निर्मल होता गया। अन्त मे शरीर रूपी पिजरे को छोडकर कर्मो का क्षय कर इन्होने भी भक्त-परिज्ञा अनशन द्वारा मोक्ष प्राप्त किया। [९७५–९७६]*

श्रीगर्भ का देवलोक-गमन : सामान्य प्रगति

श्रीगर्भ राजा तथा अन्य तपोधन साधुओ ने भी अनेक प्रकार के तपो की आराधना की और अन्त मे देवलोक गये। सुमगला आदि साध्वियाँ भी देवलोक मे गई।

अधिक क्या? संक्षेप मे कहा जाय तो मनोनन्दन उद्यान मे जितने भी प्राणी समन्तभद्राचार्य के चरणो के निकट आये थे और जिन्होने अनुसुन्दर का

* पृष्ठ ७७१

चरित्र सुना था उन सब की अन्तरंग प्रगति हुई। जिन्होंने दूर रहकर, विस्मित होकर मात्र कुतूहल से उपदेश सुना था उनका भी कल्याण हुआ। जिन-जिन भव्य प्राणियों ने यह कथा सुनी उनका मन भी निश्चिततया भव प्रपञ्च से विरक्त हुआ, थोड़े बहुत अंश में उन्हे भी वैराग्य प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप कुछ श्रोताओं ने दीक्षा ली, कुछ ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, कुछ ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और कुछ को संवेग प्राप्त हुआ। [९७७–९८१]

२१. उपसंहार

हे भव्यपुरुषो ! मैंने आपको महान् पुरुषों का यह वृत्तान्त सुनाया जिसे आपने भावार्थ सहित सुना/समझा। यदि आप इसे सम्यक् रीति से समझ गये हैं, तो आपको भी इसके अनुसार अनुष्ठान/आचरण करना चाहिये, जिससे कि इस प्रसंग मे किया गया मेरा परिश्रम भी सफल हो। एक विशेष बात, मैंने इस ग्रन्थ मे जो वृत्तान्त प्रस्तुत किया है, वह प्रायः सभी संसारी जीवों पर समान रूप से लागू होता है, तब स्वयं के चरित्र से मिलते चरित्र को सुनकर भी यदि आप उसे जीवन मे उतारने में विलम्ब करे, उसकी उपेक्षा करे तो वह किसी प्रकार आपके लिए योग्य नही कहा जा सकता। [९८२–९८५]

उपनयो का उपसंहार

कुमार पुण्डरीक इस जम्बूद्वीप स्थित पूर्व महाविदेह क्षेत्रवती सुकच्छ-विजय के शंखपुर नगर मे श्रीगर्भ राजा और कमलिनी रानी का पुत्र हुआ। समन्त-भद्राचार्य ने जो शंखपुर के चित्तरम उद्यान में स्थित मनोनन्दन चैत्य में विराज रहे थे तब बालक की पात्रता को देखकर उन्होंने अनेक भव्य पुरुषों के समक्ष कहा था कि 'मनुजगति नगर मे अनुकूल बने कर्मपरिणाम महाराजा और काल-परिणति महारानी के सुमति या भव्यपुरुष नामक बालक का जन्म हुआ है।' साथ मे उन्होंने यह भी कहा था कि 'यह बालक बड़ा होकर समस्त गुणों का आधार सर्वगुण सम्पन्न होगा।' यह बात तो आपके ध्यान मे ही होगी।

उपर्युक्त सभी वृत्तान्त लघुकर्मी भव्य पुरुषों पर समान रूप से घटित होता है। मनुष्य चाहे किसी क्षेत्र, नगर या स्थान में जन्म ले, पर वे सब मनुजगति नगरी मे ही रहते हैं। बाह्यदृष्टि से उनके माता-पिता के भिन्न-भिन्न नाम भले ही हो, परन्तु वस्तुतः तो वे सभी कर्मपरिणाम राजा और कालपरिणति रानी के ही पुत्र हैं। फिर उनके कुछ भी नाम क्यो न रखे गये हों, पर उनका सामान्य नाम भव्यपुरुष

ही रखा जाय तो कोई वाधा नही आती, उचित ही है। और, उनकी बुद्धि अच्छी होने से उन्हें सुमति भी कहा जा सकता है।

सदागम (सर्वज्ञ-भाषित आगम का प्रतिपादक) को पुरुष के आकार मे वतलाने वाले श्री समन्तभद्राचार्य ने इसीलिये पुण्डरीक को मनुजगति निवासी लघु-कर्मी सर्वगुणसम्पन्न सुमति/भव्यपुरुष की उपमा प्रदान की है, वह उचित ही है।

जैसे महाभद्रा ने समन्तभद्राचार्य के वचन सुनकर, तुरन्त प्रतिवोधित होकर दीक्षा ग्रहण करली और प्रज्ञाविशाला वन गई, उसी प्रकार ससार मे उत्तम पुरुष सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम का उपदेश सुनकर तत्त्व का सम्यक् वोध प्राप्त करते है और उसे प्राथमिकता देते हुए शीघ्र ही साधु वन जाते है। परमार्थ से ऐसे पुरुषो को ही प्रज्ञाविशाल (विशाल बुद्धि वैभव वाले) कहा जाता है।*

सुललिता (अगृहीतसकेता) को जैसे पूर्व भव के अभ्यास के कारण महाभद्रा से गुणकारी स्नेह-सम्बन्ध हुआ, वैसे ही ससार के कुछ भारीकर्मी जीवो का जव भविष्य सुधरने वाला होता है तब ऐसे भव्य प्राणियो का किसी न किसी सुसाधु से अवश्य सम्वन्ध होता है और ऐसा सम्वन्ध उसके गुण-वृद्धि का कारण होता है। क्योकि, कल्याण-मित्र का योग सम्पत्ति को प्राप्त कराने वाला, योग्यता उत्पन्न करने वाला, गुण-रत्नों की खान भविष्य की कल्याण-परम्परा को सूचित करने वाला और जैसे अमृत का योग विप को नष्ट करता है वैसे ही कर्मरूपी महाकठिन विष को नष्ट करने वाला होता है।

जैसे महाभद्रा साध्वी ने समन्तभद्राचार्य के माध्यम से अपने उपदेश द्वारा सुललिता के हृदय मे सदागम के प्रति भक्ति उत्पन्न की और पुण्डरीक की धाय वनकर उसका सदागम/आचार्य से परिचय करवाया वैसे ही परहित मे तत्पर सुसाधु आज भी स्वभाव से ही गुरुकर्मी भव्य प्राणियो के प्रति अकृत्रिम स्नेहभाव रखते है और किसी भी प्रकार उनमे भगवान् के आगमो के प्रति भक्ति उत्पन्न करते है। क्योकि, किसी भी प्रकार यदि एक वार सर्वज्ञ के आगम पर भक्ति उत्पन्न हो जाय तो वह कर्मरूपी कचरे को धोकर साफ करने वाली, जीवरत्न को विशुद्ध वनाने वाली, भव-प्रपच से मुक्त करने वाली, तत्त्वमार्ग को वताने वाली और परमपद को प्राप्त करवाने वाली होती है।

अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने स्वय को ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् सुललिता और पुण्डरीक को सवेग उत्पन्न कराने हेतु उनके समक्ष अपने ससार-भ्रमण का सम्पूर्ण चरित्र उपमा/रूपक द्वारा विस्तार से सुनाया, वह भी प्राय. सभी जीवो पर समान रूप से घटित होता है।

जव भी कुछ जीव मोक्ष जाते है तव वे लोकस्थिति के सार्वजनिक नियोग के अनुसार और कर्मपरिणाम की आज्ञा से ही जाते हैं और उतने ही जीव

* पृष्ठ ७७२

भवितव्यता के वशीभूत होकर असंव्यावहारिक राशि से बाहर निकलते है। फिर भिन्न-भिन्न प्रकार से अनन्त भव-भ्रमण करते है। भटकते हुए बड़ी कठिनाई से उन्हे कभी मनुष्य भव प्राप्त होता है, किन्तु उसे भी वे हिंसा-क्रोध आदि दोषों के सेवन मे व्यर्थ गवा देते है और मोक्ष-साधन के दुर्लभ अवसर को खो देते हैं। कभी-कभी सद्गुण प्राप्त करने का अवसर मिलने पर नाममात्र की प्रगति करते है। यद्यपि दोष-सेवन के परिणामस्वरूप उनकी सामग्री तो नरकगामी होती है, तथापि संयोग से नदी में घिसते-घिसते गोल बने पत्थर के समान सर्वज्ञ-प्ररूपित आगमों मे कथित अनुष्ठानो को करते-करते उन्हे सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है। तब वे स्वय समझते हैं और दूसरो को भी समझाते है कि यह ससार का प्रपञ्च एक नाटक जैसा है। जैसे नाटक मे पात्र भिन्न-भिन्न वेष धारण करता है वैसे ही प्राणी नये-नये शरीर धारण करता है। जैसे नर्तक अनेक स्थानो पर जाकर नृत्य करता है वैसे ही यह प्राणी समय-समय पर अनेक योनियो मे प्रवेश करता रहता है। जैसे नाटक मे अनेक प्रकार के झोपडे, घर, बंगले, महल आदि बनाये जाते है वैसे ही ससार मे देव विमान, भवन आदि अनेक स्थान होते है। जैसे नाटक करने वालो का एक पूरा कुटुम्व होता है, टोली होती है, वैसे ही ससार मे प्राणी के भाई, बन्धु और कुटुम्बियों की पूरी टोली होती है। अत: यह सम्पूर्ण भव-प्रपञ्च नाटक जैसा लगता है। द्रव्य की अपेक्षा से परमार्थत. आत्मा एक ही है और अकेला है, पर मनुष्य आदि गति मे* उसे जो भिन्न-भिन्न नाम, पर्याय रूप से मिलते है, वे सब कृत्रिम है, झूठे है और अल्प समय के लिए है, अत. विवेकशील प्राणियो को इन पर्यायो पर विश्वास नही करना चाहिये। यह भव-प्रपञ्च लोकस्थिति के नियमानुसार होता है, कालपरिणति के सकेत से होता है और कर्मपरिणाम की सत्ता का ही यह परिणाम है। इसका स्वभाव और भवितव्यता इसी प्रकार की होती है। जीव की स्वय की भव्यता भी इसमे हेतु रूप रहती है। इस प्रकार लोकस्थिति, काल, कर्म, स्वभाव, भवितव्यता और निजभव्यता की परस्पर अपेक्षा से, इन सब कारण-समुदाय के एकत्रित होने पर भव-प्रपंच उत्पन्न होता है। जव भव-प्रपच के कारणों का परिपाक हो जाता है तव इसी प्रपच का उच्छेद करने के लिये परमेश्वर की कृपा होती है। परमेश्वर का अनुग्रह निर्मल ज्ञान का हेतु बनता है और इस विशुद्ध ज्ञान के बल से ही आत्मा को यह बोध होता है कि मुझे जो सुख-दु ख अभी प्राप्त हो रहे है, या अभी मुझे ससार मे रहना पड रहा है, अथवा मेरा मोक्ष भी हो सकता है, वह सव परमेश्वर की आज्ञा का पालन न करने और करने से ही होता है। परमेश्वर की आज्ञा का पालन, लेश्याओ (आत्मपरिणति) की विशुद्धि और उनकी आज्ञा का उल्लघन आत्मा को मलिन करना है। इस विचार के परिणाम स्वरूप वह लेश्या को शुद्ध करने वाले सद्गुणो मे प्रवृत्त होता है और लेश्या को मलिन करने वाले समस्त दोषो से दूर हटता जाता है। इस प्रकार लेश्या को शुद्ध करते-करते अन्त मे उस पर पूर्ण विजय

* पृष्ठ ७७३

प्राप्त कर अलेशी (लेश्या रहित) हो जाता है। फिर अपने स्वाभाविक स्वरूप मे स्थित होकर स्वय ही परमेश्वर/परमात्मा वन जाता है।

स्वय समन्तभद्राचार्य को अनुसुन्दर चक्रवर्ती अर्थात् ससारी जीव का चरित्र प्रत्यक्ष ज्ञात हुआ था और महाभद्रा ने उनके कहने से इसे जाना था। इसी प्रकार सभी ससारी जीवो का चरित्र सर्वज्ञ के आगम को प्रत्यक्ष होता है और सुसाधु जब इसे दूसरो को सुनाते है तब प्रज्ञाविशाल (विशाल बुद्धि वाले) इसे स्वय समझ लेते है और उसका प्रतिपादन दूसरो के समक्ष करने मे भी स्वय सक्षम हो जाते हैं।

यह सम्पूर्ण चरित्र सुललिता (अगृहीतसकेता) को उद्देश्य कर सुनाया गया था, पुण्डरीक ने तो प्रासंगिक रूप से सुना मात्र था। फिर भी वह लघुकर्मी होने से उसने शीघ्र ही इस अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जीवन-चरित सुनकर, समझकर, अवगाहन कर उसे अपने जीवन मे कार्यान्वित कर लिया।

इसी प्रकार हे भव्यो! आगम और अनुभव से सिद्ध इस ससारी जीव के चरित्र को आप भली-भाति समझे, समझ कर उसे चरित्र/आचरण मे उतारें, कषायो का त्याग करे, कर्म आने के मार्ग आस्रव के द्वार बन्द करदे, इन्द्रिय-समूह पर विजय प्राप्त करे, समग्र मानसिक मलिनता के जाल को ध्वस करदे, सद्गुणो का पोषण करे, संसार के प्रपंच/विस्तार का त्याग करे और शीघ्र ही शिवालय (मोक्ष) पहुँचे जिससे कि आप भी सुमति (सन्मति वाले) भव्यपुरुष वन जाये।

यदि आप मे भव्यपुरुष पुण्डरीक जितनी लघुकर्मिता न हो तो जैसे सुललिता को वार-वार प्रेरणा दी गई, वार-वार प्रेम पूर्वक समझाया गया, अनेक प्रकार के उपालम्भ दिये गये, पूर्व-भव की स्मृति दिला कर सचेत की गई, तब गुरुकर्मी होने पर भी वह प्रतिवोधित हुई, वैसे ही आप भी जागृत होकर बोध प्राप्त करे। अन्तर केवल इतना है कि यदि आप इस प्रकार बोध प्राप्त करेंगे तो आपकी गणना प्रज्ञाविशालो की श्रेणी मे नही होगी, किन्तु आप भी अगृहीतसकेता के नाम से पुकारे जायेंगे। यह अवश्य है कि गुरु महाराज को आपको प्रतिबोध देने मे कण्ठशोषण अधिक करना पडेगा, उन्हे बहुत कठिनाई उठानी पडेगी। पर, यह तो निश्चित है कि वे आपको प्रतिबोध देंगे और अन्त मे आप अवश्य प्रतिबोध प्राप्त करेंगे।

जिस प्रकार सुललिता को सदागम के ऊपर बहुमान हुआ और उस बहुमान के प्रभाव से सुललिता को स्वय के दुश्चरित पर पश्चात्ताप हुआ, सद्गुणो पर पक्षपात/आकर्षण हुआ, फलस्वरूप उसके सकल कर्ममल का नाश हुआ वैसे ही आपको भी सदागम/सर्वज्ञागम पर तदनुरूप अन्त.करणपूर्वक बहुमान रखना चाहिये जिसके परिणामस्वरूप आपको भी विशिष्ट सत्तत्त्व-बोध प्राप्त हो।

जिस प्रकार श्रेयास कुमार और ब्रह्मदत्त चकवर्ती को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, जिससे वे पूर्वभवो के बारे मे जान सके, उसी प्रकार ससारी जीव अनुसुन्दर चक्रवर्ती आदि को भी जातिस्मरण ज्ञान हुआ। जाति-स्मरण ज्ञान के फलस्वरूप उसने अपने पूर्वभवों की ससार-भ्रमण की सारी आत्मकथा स्वय कही। यह शास्त्र

की आज्ञानुसार और युक्तियुक्त ही है,* क्योकि आगम मे मतिज्ञान की वासना असख्य काल तक रहती है, ऐसा कहा गया है। शास्त्र मे ऐसा एक भी वचन या उदाहरण नही है जिसमे 'यह बताया गया हो कि मतिज्ञान की वासना असख्य काल तक नही रह सकती। अनेक भवो के बाद भी यह वासना रह सकती है, अत. अनुसुन्दर ने अपने भव-भ्रमण की कथा स्वय कही इसमे कोई विरोध नही है। [९८६–९८७]

ग्रन्थ का भावार्थ

प्रारम्भ से अन्त तक इस ग्रन्थ का भावार्थ निम्न है :—

इस ससार मे ऐसी एक भी दुर्लभ वस्तु नही है जो कुशल-कर्म/पुण्य के विपाक के फलस्वरूप नही मिल सकती हो। पुण्य के प्रताप से सभी प्रकार के भोग और विपुल सुख प्राप्त हो सकते है, तथापि बुद्धिमान लोग शमसुख (शान्ति के साम्राज्य) को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर समझते है। [९८८]

मनुष्य चाहे जितने उच्च पद पर पहुँच जाय, उच्चता की पराकाष्ठा प्राप्त करले, पर यदि वह पाप-कर्मो को अपना शत्रु न समझे तो वे प्रबल हो जाते है और तब वे प्राणी को इस भयकर संसार-समुद्र मे वेग से धकेल देते है। [९८९]

प्राणी ने यदि नरक मे जाने योग्य भयकर अशुभ पाप-कर्म सचित किये हो, तदपि यदि वह सदागम-बोध-परायण होकर क्षणभर भी पुण्य या शुभकर्म करे तो अन्त मे वह पाप रहित होकर मोक्ष भी जा सकता है। [९९०]

इस वस्तुस्थिति को समझकर यथाशक्य शीघ्रातिशीघ्र मन के मैल को निकाल कर दूर फेंक दीजिये। मन के मैल को निकाल कर सदागम की सेवा करिये, जिससे सद्आगम के आधार पर आप भी अनुसुन्दर चक्रवर्ती की भाति मोक्ष प्राप्त कर सके। [९९१]

एक विशेष बात यह भी है कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती कर्ममल के वशीभूत हुआ, जिससे उसे अनन्त भव-भ्रमण करना पडा। उसके वृत्तान्त को कथा मे इसलिये गूथा गया कि प्राणियो की बुद्धि विकसित हो और उन्हे अपनी वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाय। [९९२]

विशेप ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे अनुसुन्दर चक्रवर्ती को जिस पद्धति से अनेक भव करने पडे उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को भी करने पड़े, यह आवश्यक नही है। क्योंकि, बहुत से प्राणियो ने एक ही भव में एकबार ही जिनेन्द्र-मत को प्राप्त कर उसी भव मे मोक्ष प्राप्त किया है। कुछ प्राणियो ने जैनेन्द्र-मत की प्राप्ति करने के बाद तीसरे या चौथे भव मे मोक्ष प्राप्त किया है। अनुसुन्दर ने जो-जो अनुष्ठान किये वे अनुष्ठान भिन्न-भिन्न रूप मे करके भी अनेक भव्य जीव मोक्ष गये है।

---

* पृष्ठ ७७४

भिन्न-भिन्न प्राणियो की भव्यता अलग-अलग होती है और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वे अपने ससार का क्षय करते है, अत ससार से पार उतरने के लिए मूल आधार प्राणी की अपनी भव्यता ही है। [९९३-९९४]

भव्यो ! यदि आपको इस कथा के गूढार्थ/आन्तरिक भावार्थ को मन मे धारण करना हो, कथा के रहस्य को समझना हो तो सक्षेप मे इस परमाक्षर मूल-मन्त्र को अपने हृदय-पटल पर अकित करले।

इस ससार में जिनागम/जिन-मार्ग को प्राप्त कर सुमेधा वाले प्रत्येक मनुष्य को जैसे भी हो सके, जितना भी हो सके, उतना कर्ममल का विशोधन करना चाहिये, पाप को ढूंढ-ढूंढ कर निकाल फेंकना चाहिये। [९९५]

प्रस्ताव का उपसंहार

एतन्नि:शेपमत्र प्रकटितमखिलैर्यु क्तिगर्भैर्वचोभि,
प्रस्तावे भावसार तदखिलमधुना शुद्धबुद्धया विचिन्त्य।
भो भव्या ! भाति चित्ते यदि हितमनघ चेदमुच्चैस्तरा व-
स्तत्तूर्णं मेऽनुरोधाद् विदितफलमल स्वार्थसिद्धयै कुरुध्वम् ।। ९९६ ।।

इस प्रस्ताव मे मैने युक्तिपूर्ण वचनो से जो-जो वृत्तान्त/घटना कही है वह समस्त भावार्थो/निष्कर्षो से परिपूर्ण है। हे भव्य प्राणियो ! इन सब पर शुद्ध बुद्धि से विचार करे। विचार के परिणामस्वरूप यदि आपको मेरा कथन निष्पाप लगे, यदि आपको यह कथन हितकारी लगे तो मुझ पर अनुग्रह कर इन ज्ञात-फल और अच्छे परिणाम वाली बातों को अपने जीवन मे शीघ्र ही उतार लीजिये, इन्हे स्वीकार कीजिये और इन्हे अपने चारित्र मे क्रियान्वित कीजिये। इसी मे आपके स्वार्थ की परम सिद्धि है। [९९६]

उत्सूत्रमेव रचित मतिमान्द्यभाजा,
किञ्चिद्यदीदृशि मयाऽत्र कथानिबन्धे।
ससारसागरमनेन तरीतुकामै-
स्तत्साधुमि कृतकृपैर्मयि शोधनीयम् ।। ९९७ ।।

उपर्युक्त कथा की रचना मैने ससारसागर को पार करने की भावना से की है। मेरी बुद्धि की अल्पज्ञता के कारण यदि इसमे कुछ सूत्र/सिद्धात के विरुद्ध लिखा गया हो तो सज्जन पुरुष/सत्साधुगण मुझ पर कृपा कर उसका सशोधन करले, सुधार ले। [९९७]

उपमिति-भव-प्रपच कथा के पूर्वसूचित वार्तामिलक
वर्णन रूप आठवां प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

उपमिति-भव-प्रपंच-कथा सम्पूर्ण।

ग्रन्थकर्ता प्रशस्ति*

द्य तिलाखिलभावार्थः सद्भव्याब्जप्रबोधकः ।
सूराचार्योऽभवद्दीप्तः साक्षादिव दिवाकरः ॥९९८॥

निखिल भावार्थो को प्रकाशित करने वाले और भव्य प्राणी रूप कमल को विकसित करने वाले साक्षात् सूर्य के समान तेजस्वी सूराचार्य हुए । [९९८]

स निवृत्तिकुलोद्भूतो लाटदेशविभूषण: ।
आचारपञ्चकोद्युक्त: प्रसिद्धो जगतीतले ॥९९९॥

ये सूराचार्य निवृति कुल मे उत्पन्न हुए थे, लाट देश के आभूषण रूप थे, पचाचार के पालन मे सर्वदा तत्पर थे और जगतीतल मे प्रसिद्ध थे । [९९९]

अभूद् भूतहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तरः ।
ज्योतिर्निमित्तशास्त्रज्ञः प्रसिद्धो देशविस्तरे ॥१०००॥

सूराचार्य के पश्चात् देल्लमहत्तर हुए, जो प्राणियो के हितकारी थे, धीर-वीर थे, ज्योतिष व निमित्त शास्त्र के ज्ञाता थे तथा देश के अधिकाश भाग मे प्रसिद्धि-प्राप्त थे । [१०००]

ततोऽभूदुल्लसत्कीर्त्तिर्ब्रह्मगोत्रविभूषणः ।
दुर्गस्वामी महाभागः प्रख्यातः पृथिवीतले ॥१००१॥

उनके पश्चात् ब्रह्मगोत्र के विभूषण महाभाग्यशाली दुर्गस्वामी हुए । जिनकी कीर्ति उल्लसित हो रही थी और जो पृथ्वीतल पर ख्याति प्राप्त थे । [१००१]

प्रव्रज्यां गृह्णता येन गृहं सद्धनपूरितम् ।
हित्वा सद्धर्ममाहात्म्यं क्रिययैव प्रकाशितम् ॥१००२॥

दुर्गस्वामी ने दीक्षा ग्रहण करते समय प्रचुर धन-धान्य से पूरित गृह को छोडकर, सत्क्रिया के माध्यम से सद्धर्म के माहात्म्य को प्रकाशित किया । [१००२]

यस्य तच्चरितं वीक्ष्य शशांककरनिर्मलम् ।
बुद्धास्तत्प्रत्ययादेव भूयांसो जन्तवस्तदा ॥१००३॥

दुर्गस्वामी का चन्द्रकिरण के समान निर्मल चारित्र देखकर, विश्वस्त होकर अनेक प्राणियो ने बोध को प्राप्त किया, अर्थात् ससार से विरक्त हुए । [१००३]

सद्दीक्षादायकं तस्य, स्वस्य चाहं गुरूत्तमम् ।
नमस्यामि महाभागं गर्गर्षिं मुनिपुंगवम् ॥१००४॥

* पृष्ठ ७७५

श्री दुर्गस्वामी और स्वयं मुझ (सिद्धर्षि) को दीक्षा प्रदान करने वाले, महाभाग्यशाली मुनिपुंगव सर्वोत्तम गुरु श्री गर्गर्षि को मैं नमस्कार करता हूँ। [१००४]

क्लिष्टेऽपि दुष्षमाकाले, यः पूर्वमुनिचर्यया।
विजहारेह निःसङ्गो, दुर्गस्वामी धरातले ॥१००५॥

श्री दुर्गस्वामी अत्यन्त हीन दु पमकाल मे भी पूर्णरूपेण नि सग होकर पूर्वकाल अर्थात् चौथे आरे की श्रमण-चर्या का पालन करते हुए भूतल पर विचरण करते थे। [१००५]

सद्देशनांशुभिर्लोके, द्योतित्वा भास्करोपमः।
श्रीभिल्लमाले यो धीरो, गतोऽस्तं सद्विधानतः ॥१००६॥

सूर्य की उपमा के समान धैर्यशाली दुर्गस्वामी सद्देशना रूपी किरणो से लोक को उद्योतित करते हुए जीवन के साध्य काल मे सद्विधान पूर्वक श्रीभिल्लमाल नगर मे अवसान को प्राप्त हुए। [१००६]

तस्मादतुलोपशमः सिद्धर्षिरभूदनाविलमनस्कः।

परहितनिरतैकमतिः सिद्धान्तनिधिर्महाभागः ॥१००७॥

दुर्गस्वामी के सिद्धर्षि (सद्ऋषि) हुए जो अतुलनीय उपशम के धारक, स्फटिक सदृश निर्मल चित्त वाले, परहित के करने मे सदैव बुद्धि का व्यय करने वाले, सिद्धान्त के निधान और महाभाग्यशाली थे। [१००७]

विषमभवगर्तनिपतितजन्तुशतालम्बदानदुर्ललितः।
दलिताखिलदोषकुलोऽपि सततकरुणापरीतमनाः ॥१००८॥

ससार के विपम गर्त मे पडे हुए सैकड़ो प्राणियो को अवलम्बन रूपी दान देने वाले थे, स्वयं लाड-प्यार मे पले थे, जिन्होने समस्त दोष-पुञ्जों का दलन कर दिया था तथापि जिनका मन सर्वदा करुणा से ओत-प्रोत रहता था। [१००८]

यः संग्रहकरणरतः सदुपग्रहनिरतबुद्धिरनवरतम्।
आत्मन्यतुलगुणगणैर्गणधरबुद्धिं विधापयति ॥१००९॥

यह सिद्धर्षि सग्रह/सक्षेप करने की कला मे कुशल है, दूसरो पर निरन्तर सद् अनुग्रह और उपकार करता है और स्वय के अतुलनीय गुणगणो के कारण वह तीर्थंकर के गणधर ही हो, ऐसी बुद्धि अन्य प्राणियो मे उत्पन्न करता है। [१००९]

बहुविधमपि यस्य मनो निरीक्ष्य कुन्देन्दुविशदमद्यतनाः।
मन्यन्ते विमलधियः सुसाधुगुणवर्णकं सत्यम् ॥१०१०॥

जिनका विविध प्रकार का मन कुन्द पुष्प अथवा चन्द्रबिम्ब के समान निर्मल देखकर आजकल के विमल बुद्धि वाले नवयुवक भी मौलिक ग्रन्थो मे प्रति-

पादित सुसाधुओं के गुण वर्णन को सत्य मानते हैं अर्थात् आदर्श साधु का जैसा शास्त्रों में वर्णन है, उसका यह सिद्धर्षि जीता जागता उदाहरण है । [१०१०]

उपमितिभवप्रपञ्चा कथेति तच्चरणरेणुकल्पेन ।
गीर्देवतया निहिताऽभिहिता सिद्धाभिधानेन ॥१०११॥

यह उपमिति-भव-प्रपंच कथा गीर्देवता अर्थात् सरस्वती देवी ने बनाई है और सरस्वती के चरणरज-कल्प सिद्ध नामक महर्षि ने इस कथा का कथन किया है । [१०११]

आचार्यो हरिभद्रो मे, धर्मबोधकरो गुरुः ।
प्रस्तावे भावतो हन्त, स एवाद्ये निवेदितः ॥१०१२॥

आचार्य हरिभद्रसूरि मेरे धर्मबोधकारक गुरु हैं । इस बात का मैंने प्रथम प्रस्ताव मे ही निवेदन/सकेत कर दिया है । [१०१२]

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥१०१३॥

श्री हरिभद्रसूरि ने कुवासना से व्याप्त विष का प्रक्षालन कर मेरे लिये अचिन्तनीय वीर्य के प्रयोग से कृपा पूर्वक सुवासना रूप अमृत का निर्माण किया, ऐसे आचार्यश्री को नमस्कार हो । [१०१३]

अनागतं परिज्ञाय, चैत्यवन्दनसंश्रया ।
मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥१०१४॥

अनागत काल का परिज्ञान कर जिन्होंने मेरे लिए ही चैत्यवन्दन से सम्बन्धित ललितविस्तरा नामक वृत्ति की रचना की । [१०१४]

यत्रातुलरथयात्राधिकमिदमिति लब्धवरजयपताकाम् ।
निखिलसुरभवनमध्ये सततप्रमदं जिनेन्द्रगृहम् ॥१०१५॥

यत्रार्थस्टङ्कशालायां धर्मः सद्देवधामसु ।
कामो लीलावती लोके, सदाऽऽस्ते त्रिगुणो मुदा ॥१०१६॥

तत्रेयं तेन कथा कविना निःशेषगुणगणाधारे ।
श्रीभिल्लमालनगरे गदिताऽग्रिममण्डपस्थेन ॥१०१७॥

जहाँ अतुलनीय रथयात्रा महोत्सव से वर्धित, अखिल देवभवनों के मध्य में श्रेष्ठ उन्नत जयपताका से विभूषित और सतत प्रमुदित करने वाला जिनेन्द्र भगवान् का मन्दिर विद्यमान है । [१०१५]

* पृष्ठ ७७६

जहाँ टंकशालाओं में अर्थ/धन है, सद्देवों के धाम (जिनचैत्यों) मे धर्म है और लीलावती ललनाओ के लोक मे काम है। इस प्रकार जहाँ तीनो गुणों (अर्थ, काम और धर्म) का सर्वदा मोदकारी जमघट है। [१०१६]

ऐसे निखिल गुणगणो का आधारभूत श्री भिल्लमाल नामक नगर के अग्रिम मण्डप मे रहते हुए सिद्धर्षि कवि ने इस कथा की रचना की। [१०१७]

प्रथमादर्शे लिखिता साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या।
दुर्गस्वामिगुरूणां शिष्यिकयेयं गुणाभिधया ।।१०१८।।

श्रुतदेवता का अनुकरण करने वाली गुरुवर श्री दुर्गस्वामी की शिष्या गुणा नाम की साध्वी ने इस ग्रन्थ का प्रथमादर्श (प्रथम प्रति) लिखा। [१०१८]

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते (६२)ऽतिलंघिते चास्या।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ।।१०१९।।

प्राय: समाप्ति की ओर अग्रसर सवत् ९६२ संवत्सर मे ज्येष्ठ शुक्ला पचमी गुरुवार पुनर्वसु नक्षत्र में इस रचना की पूर्णाहुति हुई। [१०१९]

ग्रन्थाग्रमस्या विज्ञाय, कीर्तयन्ति मनीषिणः।
अनुष्टुभां सहस्राणि, प्रायशः सन्ति षोडश ।।१०२०।।

मनीषियों के मतानुसार इस कथा-ग्रन्थ का ग्रन्थाग्र/श्लोक परिमाण अनुष्टुव श्लोक-पद्धति से प्रायशः सोलह हजार है। [१०२०]

इति ग्रन्थकर्त्ता प्रशस्ति

महर्षि सिद्धर्षि प्रणीत उपमति-भव-प्रपञ्च कथा
का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

श्रावणी पूर्णिमा सं० २०३९
जयपुर।